L-5

तत्त्वप्रदीपिका

भाषानुवादसंवलिता

षड्दर्शनप्रकाशन
उदासीन संस्कृत विद्यालय
वाराणसी

उदासीनसंस्कृतविद्यालयग्रन्थमालायाः पञ्चमं प्रसूनम्

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्चित्सुखमुनिविरचिता

तत्त्वप्रदीपिका

(चित्सुखी)

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्प्रत्यक्स्वरूपभगवत्प्रणीतया
नयनप्रसादिनीव्याख्यया सनाथा
न्यायाचार्यमीमांसातीर्थाद्युपलक्षित-
श्रीमदुदासीनप्रवरस्वामियोगीन्द्रानन्दकृतेन
सटिप्पणभाषानुवादेन च समलंकृता

प्रकाशनस्थानम्
षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्
उदासीनसंस्कृतविद्यालयः
काशी

तृतीयावृत्तिः १०००]   १९८५   [मूल्यम् ~~६०/-~~ ८००/-

प्रकाशक—

स्वामी योगीन्द्रानन्द
उदासीन संस्कृत विद्यालय,
CK. ३६/१९ ढुण्ढिराज, वाराणसी।

[अस्य ग्रन्थस्य सर्वाधिकारः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृतः]

समर्पणम्

उदासीनप्रवराणाम्
अस्मद्गुरुवर्याणाम्
ऋषिरामस्वामिपादानां
करकमलयोः
समर्पयति
योगीन्द्रः

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण के समय यह स्फुरण तक भी नहीं था कि तत्त्वप्रदीपिका के कुछ महत्त्वपूर्ण पूरक ग्रन्थ-रत्नों के प्रथम सम्पादन का सौभाग्य मुझे ही प्राप्त होगा। आज यह कहते हुए अपार हर्ष हो रहा है कि 'न्यायभूषण' और 'मानमनोहर' का सुसज्जित एवं सानुवाद सम्पादन दार्शनिक जगत् के समक्ष गत वर्षों में प्रस्तुत कर चुका हूँ। उनके सुलभ हो जाने से तत्त्वप्रदीपिका का पूर्वाङ्ग केवल पृथुल ही नहीं हुआ, सुगठित भी हो गया है। विशेषतः न्याय-वैशेषिक के स्वर्णिम धरातल पर निकष-ग्रावा बन कर चित्सुखी के चपल चरण कला-पूर्ण नर्तन करते रहे हैं। 'न्यायभूषण' यदि आन्वीक्षिकी का भव्य आभूषण है तो 'मानमनोहर' वैशेषिक की मनोहर सुषमा। किसी का अलङ्करण बिगड़े और किसी की सुषमा लुटे, चित्सुखी को इस से क्या? वह तो मुमुक्षु के ममता-शून्य निष्ठुर हृदय की एक धधकती ज्वाला है, जिसमें द्वैत-तन्त्रों की समस्त सम्पत्ति भस्मसात् हो कर रह गई है। भस्म की बातूलिका में केवल एक चीत्कार शेष है—क्व ममत्व मुमुक्षूणाम्?

इस संस्करण का संशोधन तो पर्याप्त हो गया है किन्तु परिवर्धन यथेष्ट नहीं हो पाया। उसका कारण कागज का कृत्रिम अभाव है। इसलिए अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डखाद्य तथा भामती के सानुवाद सम्पन्न सम्पादन शीघ्र समर्पित नहीं कर पा रहा हूँ। चित्सुखी का प्रथम संस्करण कई वर्षों से समाप्त था। छात्रों एवं वेदान्त-प्रेमियों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह द्वितीय संस्करण प्रस्तुत है। १९५६ ई० के पश्चात् प्रकाशित आकर ग्रन्थों का यथास्थान समावेश एवं उनके अनुरूप विषय-वस्तु का उपपादन तथा परीक्षण इस संस्करण की अपनी मुख्य विशेषता है।

प्रेस के अप्रत्याशित उपेक्षण एवं दायित्व-हीन व्यवहार के कारण अनावश्यक विलम्ब हो गया। सम्भवतः और भी विलम्ब हो जाता यदि श्री जयनारायण जी दूबे का सहयोग प्राप्त न होता। प्रूफ-संशोधन में भी श्री दूबे जी तथा हमारे उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी के प्राचार्य योग्य विद्वान् श्री पुरुषोत्तम त्रिपाठी जी की पूर्ण सहायता प्राप्त हुई है, अतः इनका विशेष आभारी हूँ।

स्वामी योगीन्द्रानन्द

१९-९-१९७४

के० ३७/२ शोरा कुआं,
वाराणसी

तृतीय संस्करण

इस 'तत्त्वप्रदीपिका' ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९५६ तथा द्वितीय संस्करण सन् १९७४ में निकला था। प्रथम संस्करण सभी दृष्टियों से उत्तम होने के कारण उसी का प्रकाशन फोटो आफसेट (PHOTO OFFSET) के रूप में किया जा रहा है। इस पद्धति में प्रूफ-संशोधनादि की उलझन तो नहीं होती किन्तु सामयिक महार्घता अवश्य प्रगुणित हो जाती है, अतः न चाहते हुए भी विवश होकर मूल्य में वृद्धि करनी पड़ी है।

संस्कृतवाङ्मयीय उन्नत एवं विशिष्ट दर्शनों का राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत करना अपेक्षित एवं अनिवार्य है किन्तु पारिभाषिक शब्दावलि को जैसे-का-तैसा रखना पड़ता है, क्योंकि कतिपय वर्णों या पदों में उसकी भावाभिव्यक्ति नहीं होती, अतः अन्तिम परिशिष्ट में उस की विस्तृत व्याख्या देकर इस संस्करण के परिवर्धन का संकल्प था, किन्तु पृथक् वेदान्तकोश का निर्माण विचाराधीन होने के कारण प्रत्येक ग्रन्थ में वैसा करना व्यर्थ हो जाता है, फलतः यह संस्करण भी यथापूर्व ही निकाला गया है।

उदासीन संस्कृत विद्यालय
ढुण्ढिराज, वाराणसी
(उ० प्र०)

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसा तीर्थ
नागपञ्चमी
१९८५ ई०

विदुषां सम्मतयः

(१)

उदासीन संस्कृत विद्यालय के अध्यक्ष श्री स्वामी योगीन्द्रानन्द जी कृत चित्सुखाचार्य के तत्त्वप्रदीपिका नामक वेदान्त ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। चित्सुखी शाङ्कर वेदान्त प्रस्थान का एक उत्कृष्ट और दुरूह ग्रन्थ है। इसके विशुद्ध अनुवाद के लिए सूक्ष्म पाण्डित्य तथा विपुल श्रम दोनों ही अपेक्षित हैं। स्वामी जी ने नयनप्रसादिनी नामक प्रसिद्ध टीका, ऐतिहासिक तथ्य–समन्वित भूमिका तथा अपने अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर राष्ट्रभाषा की समृद्धि तथा वेदान्त तत्त्व जिज्ञासु पाठकों का प्रभूत उपकार साधन किया है। अनुवाद की भाषा प्राञ्जल, मूलानुगत तथा मधुर है। हस्त-लिखित पुस्तकों के साथ मिलान करके मूल तथा टीका की पाठ-शुद्धि भी की गई है। आशा है यह अनुवाद चित्सुखी के प्रचार में अधिक सहायता करेगा।

2/A Sigra Banaras
2. 4. 56

महामहोपाध्याय
गोपीनाथ कविराज
M. A. D. Litt.

(२)

शाङ्कर वेदान्त-प्रस्थान के प्रतिपादक उत्कृष्ट ग्रन्थों में मुनिवर चित्सुखाचार्य कृत प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका का प्रमुख स्थान चिरकाल से रहा है। इस दुरूह ग्रन्थ के श्री स्वामी योगीन्द्रानन्द जी कृत विशद हिन्दी भाषानुवाद को, और सुप्रसिद्ध प्राचीन नयन-प्रसादिनी-नामक टीका के सहित उसके नवीन संपादन को देखकर हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। भाषानुवाद में मूल-ग्रन्थ के विद्वत्ता-पूर्ण अनुवाद के साथ-साथ आवश्यक स्थलों को व्याख्या-रूप में स्पष्ट करने का भी यत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त, हस्तलिखित पोथियों के आधार पर की हुई मूल ग्रन्थ और टीका की पाठ शुद्धि, खोज-पूर्ण भूमिका, और कतिपय उपयोगी परिशिष्टों के कारण भी प्रकृत ग्रन्थ का विशेष महत्त्व बढ़ गया है। इसके द्वारा दार्शनिक संस्कृत साहित्य के साथ-साथ राष्ट्रभाषा की भी श्री-वृद्धि होगी, इसमें संदेह नहीं है। इस महत्त्व के प्रकाशन के लिए हम हृदय से विद्वद्वर्य श्री स्वामी जी का हृदय से अभिनन्दन और संवर्धन करते हैं। हमें पूर्ण आशा है कि विद्वन्मण्डली और राष्ट्रीय सरकार दोनों से इस ग्रन्थरत्न को समुचित समादर प्राप्त होगा।

Vaidika Svadhyaya Mandira
Banaras
12. 5. 56

डा० मङ्गलदेव शास्त्री
M. A. M. O. L. D. Phil. (OXON)
Retired Principal
Govt. Sanskrit College
Banaras.

(३)

आकारो ह्रस्वः कीर्तिश्च महती

श्रीमद्भिः स्वामियोगीन्द्रानन्दमहोदयैः सम्पादितं तत्वप्रदीपिकाग्रन्थरत्नं नयनप्रसादिनी-सहितं हिन्दीभाषयाऽनूदितं विशिष्टभूमिकासनाथं मयाऽऽमूलचूडमवालोकि। यद्यप्ययं ग्रन्थः नव्यन्यायभाषाजटिलो नव्यन्यायपरिचयरहितानां दुरवबोधः, तथापि स्वामिवर्य्यैः सरलया सरसया हिन्दीभाषया (राष्ट्रभाषया) अनूद्य काठिन्यं दूरीकृतम्। एतैश्च महात्मभिः "मूलार्थः कथ्यते किञ्च नानपेक्षितमुच्यते" इत्यभियुक्तोक्तिः सर्वथाऽन्वसारि। स्वल्पैरेव शब्दैः दुरवबोधस्याप्यर्थस्य व्यक्तीकरणेन स्वामिवर्याणां समस्तमध्येतृकुलमध्यापककुलञ्चा-धमर्णमित्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपि। एतैश्च महाभागैः महता परिश्रमेण विषयाणां ग्रन्था-नांस्तत्कर्तृणाञ्च परिचयो भूमिकायां संग्रहेण सन्न्यवेशि। ईदृशी सरणिः स्वामिवर्यैः प्रथमं समवालम्बि। मन्येऽनेनैव पथा संस्कृतग्रन्थसम्पादका विद्वांसः कर्म करिष्यन्ति, येन वैदेशिकशिक्षादीक्षिताः विद्वांसोऽपि चमत्कृताः भवेयुः। मूले व्याख्यायां काश्चन मुद्रणत्रुटयो दृश्यन्ते, ता द्वितीये संस्करणे संशोधयेयुः स्वामिवर्या इति।

अन्ते च भगवन्तं करुणावरुणालयं भवानीनाथं विश्वनाथं प्रार्थये यत् आरोग्यमुत्साहशक्ति सामग्रीसाकल्यञ्चैभ्यः प्रदाय, एतान् स्वामिवर्यान् वादप्रस्थानस्यानुवादकरणे नियोजयतु। एते च वादप्रस्थानस्य हिन्दीभाषयाऽनुवादकरणेन शांकरवेदान्तदर्शनं प्रचारयन्तु इति।

वै० कृ० त्रयोदशी
२०१३

मीमांसारत्नम्,
सुब्रह्मण्यशास्त्री
मीमांसावेदान्ताचार्यः,
मीमांसादर्शनाध्यापकः, हिन्दुविश्वविद्यालया-
न्तर्गतसंस्कृतमहाविद्यालयस्य

श्रीचित्सुखमुनिविनिर्मिता प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका श्रीशंकरभगवत्पादानुपृष्टौपनिषदाद्वैतपथप्रदर्शिकाऽद्वैतसिद्ध्यादीनां महाग्रन्थानामपि तत्र तत्रोपजीव्यत्वान्मूलमिति पर्याप्तमेतस्याः प्रस्तवे । अस्यां हि तत्र तत्र तार्किकान् प्रति केवलव्यतिरेकिप्रयोगे साध्यविशेषणाप्रसिद्धौ महाविद्याप्रयोगा मानमनोहरकारादिमहातार्किकसमादृतपद्धत्या व्यर्थविशेषणत्वस्य हेतोरदूषणत्वमभ्युपेत्य तत्प्रत्याख्यानाय प्रयुक्ताः । तदुक्तं नयनप्रसादिन्यां ज्ञानस्वप्रकाशत्वप्रस्तावे । अवीतपदमाचार्यैरकार्यान्वयगोचराः । महाविद्याः पुनर्दिव्या दीव्यन्त्यत्रानिवारितम् । इति । महाविद्यानुमानवत् महाविद्यारूपाणि लक्षणान्यपि तार्किकसंमतानि उल्लिख्य प्रत्याख्यातानि द्रव्यलक्षणखण्डनावसरे । प्रत्याख्याता च लक्षणानुमानभेदेन द्विविधाऽपि महाविद्यापद्धतिरग्रे समवायलक्षणखण्डनावसरे द्वितीयपरिच्छेदे—तदुक्तं तत्रैव संगृह्य नयनप्रसादिन्याम्—वादीन्द्रस्येष्टदा तावन्महाविद्या पुलोमजा । सा च सव्यभिचारादिदोषैः संदूषितात्मना । १ । तामेव दूषयन्नेष तत्पादे निपतन्नपि । कथंकारं मदोन्मत्तः श्रद्धेयवचनो भवेत् । २ । पक्षतद्भिन्नवृत्तित्वाद्युपज्ञाभिश्च रीतिभिः । आप्तासाधकतासीमा एताः पारिप्लवावहाः । ३ । नोपादेया महाविद्यामुद्रिता जातु जातयः ।' तत्त्वज्ञापि स्वीययत्नाज्जिगीषयिषुभिर्बुधैः । ४ । शक्यते च सर्वप्रकारविप्लवो महाविद्याभिः साधयितुं, ग्रन्थगौरवभयान्न प्रपञ्च्यते स इति । द्वितीयपरिच्छेदे एवानुमानलक्षणखण्डनासवरे नयनप्रसादिन्यां 'पक्षधर्मताखण्डनेन महाविद्याजीवनमपि खण्डितं वेदितव्यम्" इत्युक्त्वा महाविद्यालक्षणोपन्यासपूर्वकं महाविद्यानुमानप्रत्याख्यानमुपसंहृतम् । तथाहि—"केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकि साध्यविशेषं वाद्यभिमतं साधयन् हि महाविद्येत्युच्यते । तथा च व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानानिरुक्तौ तासामप्यनिरुक्तेः । दग्धसारं चेदं वादीन्द्रदावानलेन महाविद्याविपिनमिति नास्माभिस्तद्भस्मीभावाय संरभ्यते" । इति । तथा च महाविद्याप्रयोगकुशलैस्तार्किकैः सह महाविद्याप्रयोगैरेव कथा अस्य ग्रन्थस्य विशेषः । अत्र च समासव्यासाभ्यां पद्यगद्याभ्यां सर्वे विषया उपनिबद्धा इति समासव्यासरुचीनामुभयेषाप्युपकारकाः । एतादृशस्य ग्रन्थरत्नस्य नयनप्रसादिनीनाम्नीव्याख्या मूलार्थप्रकाशजहर्षातिरेकात्सुमनोनयनकमलानि विकाशयन्ती अन्वर्था यद्यपि विजयते सांप्रतम् । तथापि भाषाभावार्थरचनाविशेषैरनुपकारिका पेशलबुद्धीनामिति सुमनोमनोमोदाय बोधाय च सुकुमारबुद्धीनामपीत्ययं ग्रन्थः श्रीयोगीन्द्रानन्दस्वामिना महता श्रमेण हिन्दीभाषयाऽनूदितः ? सेयंप्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका भाषाद्वये व्याख्याद्वयदशा समिद्धबोधानलाऽऽन्तरतमांसि समुच्छेत्तुं प्रभविष्यतीति संमन्ये ।

४-५-५६

रघुनाथ शर्मा
प्रा० ग० सं० कालेज, काशी

अधीयतां बुद्धिधनैर्विशोध्य

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६	१	प्रकाशा प्रकाशस्य	प्रकाशाऽप्रकाश्यस्य
२४	१७	वेद्यत्वानधिकरणः	वेद्यत्वानधिकरणान्यः
५४	३४	पवन	पतन
७५	शीर्षके	दृक्दृश्य	दृग्दृश्य
७८	११	वेद्यावेद्यस्य	विद्याद् वेद्यस्य
८९	३	द्वतनिषेध	द्वैतनिषेध
१३७	४	वक्तमनर्हं	वक्तुमनर्हं
१९२	५	लक्षणासंभवोः	लक्षणासम्भवः
२२६	८	कर्म्मवन्नातः	काम्यवन्नातः
२३६	८	शक्ति,	शक्तिः
२३७	२	सर्गाद्याऽभाव	सर्गाद्या भाव
२५२	१	तत्तदर्थावबोध	तत्तदर्थान्वितस्वार्थावबोध
२६४	३	जनः'इति	जने' इति
२९७	शीर्षके	द्रव्यलक्षणक्षारणम्	भेदबम्भञ्जनम्
३७४	१५	पाराक्ष्य	पारोक्ष्य
४२३	शीर्षके	प्रमेयत्व	प्रमेय

भूमिका

सभी देशों की अपनी-अपनी विशेषता होती है। भारत की विशेषता इसके धर्म और दर्शन में प्रतिष्ठित है–यह तथ्य सभी ऊँचे विचारकों को मान्य है। धर्म और दर्शन की उद्गम है—नितान्त उन्नत तथा पवित्र वैदिक भूमि। या यूँ कह दिया जाय कि मानव के सभी सूक्ष्म विचारों को वेदों से ही प्रथम प्रकाश मिला। वेदों की निसर्ग सुन्दर देह का उत्तमाङ्ग है—वेदान्त। शाङ्खायन आरण्यक के कितने ओजस्वी शब्द हैं—

"ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं,
साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डमुण्डम्।
नाधीतेऽधीते वेदमाहुस्तमज्ञं,
शिरश्छित्वा कुरुते कबन्धम्॥"

वस्तुतः उपनिषद् ग्रन्थों का यथावत् अध्ययन किये विना रहस्याभिज्ञता नहीं आती, वेदाध्ययन अधूरा ही रह जाता है। एक कर्मठ के लिए "अहं ब्रह्मास्मि" का उपयोग क्या? इस प्रकार के सन्देहवादियों को कुरुक्षेत्र के रणप्राङ्गण की ओर ध्यान देकर देखना चाहिए कि वीरवर अर्जुन की कार्यक्षमता के मूल में कौन सा तत्त्व निहित था? हमारा तत्त्व-बोध मानव को अकर्मण्य नहीं बनाता, अपि तु अकर्मण्यों में कर्मठता भरता है, निष्प्राणों में प्राण का संचार करता है और दुःख की काली घटाओं से सुख बरसाता है। तत्त्वाभिज्ञ दुःख की विकराल ज्वालाओं का सहर्ष आलिङ्गन करता है। विद्वद्वर डाक्टर मंगलदेव के मनोरम उद्गार हैं—

"उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
दुःखानां स्वागतं कुर्वंस्तत्त्वज्ञो नावसीदति॥" (रश्मि० २।९)

यह वेदान्त तरुवर अपनी ब्रह्मसूत्र की सूक्ष्म शिराओं से उपनिषद्—भूमि का मधुर रस खींच कर गीता–जैसे अमृत फलों में भरता रहता है। इसकी अनन्त सुन्दर, सुदृढ़ शाखाएँ हैं। अद्वैत शाखा की शीतल छाया में बैठे हम आज सोच रहे हैं कि हमें अपने तत्त्वबहुल, दूरूह ग्रन्थ रत्नों को सदैव सामयिक भाषा में समझाते रहना चाहिए। इस दिशा में हमारे मान्य विद्वानों ने स्तुत्य कदम उठाये हैं। मुझे भी गुरुजनों से प्रेरणा मिली और छात्रों ने मांग की कि हिन्दी अनुवाद के साथ तत्त्वप्रदीपिका का प्रकाशन होना चाहिए। फलस्वरूप पाठकों के समक्ष हिन्दी अनुवाद एवं संशोधित नयनप्रसादिनी व्याख्या के साथ चित्सुखी उपस्थित है। नयनप्रसादिनी व्याख्या के साथ होने से हिन्दी में अधिक विस्तार नहीं किया गया, केवल मूलका अनुवाद और स्पष्टीकरण इतना कर दिया गया है कि दोनों व्याख्याओं की सहायता से ग्रन्थ का हृदय खुल जाय। ग्रन्थ का काठिन्य दूर करना हमारा ध्येय है, अतः हिन्दी को भी यथाशक्ति सरल बनाने पर दृष्टि रही है। इसमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, यह पाठकगण ही समझ सकेंगे। ग्रन्थ को पूर्णतया समझने के लिए कतिपय विषयों को पहले ही हृदयङ्गम करलेना होगा, अतः अपेक्षित विषयों पर यथासम्भव प्रकाश डाला जाता है—

तत्त्वप्रदीपिका

यह ग्रन्थ प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका, तत्त्वप्रदीपिका और चित्सुखी—इन नामों से उल्लिखित पाया जाता है। ब्रह्मसूत्र के समन्वय, अविरोध, साधन और फल नाम के चार अध्यायों की शैली पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है, अतः इसके चार परिच्छेद हैं।

विषय—१—प्रथम परिच्छेद में मोटी दृष्टि से तेरह वादों पर विचार किया गया है—(१) विज्ञान की स्वप्रकाशता, (२) आत्मा की ज्ञानरूपता, (३) अन्धकार की भावरूपता, (४) प्रपञ्च का मिथ्यात्व, (५) भ्रम-सिद्धि, (६) अज्ञान की अनादिता एवं भावरूपता, (७) अध्यास-सिद्धि, (८) वेद में सिद्धार्थविषयक प्रमा की जनकता, (९) अखण्डार्थता, (१०) स्वतः प्रमात्व, (११) अतिरिक्त शक्ति-कल्पना, (१२) अभिहितान्वय वाद तथा (१३) वेदों की अपौरुषेयता। दृग्दृश्य-सम्बन्ध-खण्डन, अध्ययन-विधि विचार तथा ख्याति—आदि के अवान्तर विषयों पर भी विचार किया गया है। प्रत्यक्स्वरूप भगवान नें इन वादों का मोटा-मोटा संकलन किया है—

> "विज्ञानं स्वप्रकाशं भवति च पुरुषस्तद्वपुर्भावरूपम्,
> ध्वान्तं मिथ्या प्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोधः।
> आरोपारोप्यसिद्धिः प्रमितिजनकताऽखण्डता स्वप्रमात्वम्,
> शक्तिर्लक्ष्यः पदार्थान्वय इति कथिताः पौरुषेयो न वेदः ॥"

प्रत्येक वाद का पूरा पूर्व पक्ष करके उत्तर पक्ष किया गया है।

२—द्वितीय परिच्छेद में विशेषतः नैयायिकों के सोलह और वैशेषिकों के सात पदार्थों का मार्मिक निराकरण करते हुए अभेद तत्त्व की सिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध हटाया गया है। इसमें प्रायः चौदह पदार्थों का खण्डन किया गया है—(१) भेद, (२) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, (३) अभाव, (४) भाव, (५) अवयवी-सहित परमाणु, (६) संयोग, (७) विभाग, (८) द्वित्वादि तथा जाति, (९) द्व्यणुकारम्भ, (१०) पाकज प्रक्रिया, (११) कारणत्व, (१२) काल, (१३) दिशा और (१४) भेदाभेद। प्रत्यक्स्वरूप भगवान् लिखते हैं—

> "भेदो द्रव्यादिषट्कं क्षणनिधनमतं षट्प्रमाणान्यभावो,
> भावः पश्चात्पराणुर्ह्यवयविसहितश्चान्ययोगो वियोगः।
> द्वित्वादिर्जातिमानं द्व्यणुकपरिमिता पाकजप्रक्रियाथो,
> हेतुत्वं कालकाष्ठे जनिदपि भिदाभेदवादो निरस्तः ॥"

३—तृतीय परिच्छेद में मुख्यतः तीन विषय बताये गये हैं—(१) शब्द में अपरोक्ष ज्ञान की हेतुता, (२) ज्ञान में मुक्ति की साधनता एवं (३) ज्ञान-कर्म-समुच्चय वाद का खण्डन। प्रत्यग्रूप भगवान् ने कहा है—

> "शब्दः साक्षात्कारहेतुर्विद्या मुक्तिफलप्रदा।
> विद्यैव न तु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम् ॥"

४—चतुर्थ परिच्छेद में प्रधानतया ये विषय निरूपित हैं—(१) बौद्धों की (विज्ञान-सन्ततिकी अत्यन्त उपरमरूप) मुक्ति का खण्डन, (२) तार्किकाभिमत मुक्ति का निरास, (३) सांख्य-मुक्ति का खण्डन, (४) एकाविद्या तथा उसके विषय का निरूपण, (५) अविद्यानिवृत्ति का स्वरूप, (६) जीवन्मुक्ति-साधन। नयनप्रसादिनीकार ने लिखा है—

स्वात्यन्तोच्छेदरूपा क्षणिकनिरतिभिस्तार्किकैः कापिलैर्या,
सोक्ता मुक्तिर्निरस्ता दृढनयनिकरैरात्मपक्षे च मुक्तिः ।
एकानेका चिदेकाश्रयविषयवती जीवभावैकहेतु—
र्याऽविद्या तन्निर्वृत्तिः परमसुखमयी जीवतश्चेति सोक्ता ॥

प्रतिपादन-शैली—विषय-प्रतिपादन-शैली नितान्त मनोरम है। किसी एक वाद को लेकर पूर्वपक्ष के सभी सम्भव विकल्पों को दिखाकर क्रमशः उनका निराकरण सुदृढ़ युक्तियों से किया गया है। तर्कबहुल ग्रन्थ में तर्क का प्राधान्य स्वाभाविक है। फिर भी "खण्डन-खण्डखाद्य"—जैसी तीखी और कठोर भाषा चित्सुखी की नहीं होने पाई है। उदयनाचार्यादि का खण्डन करते समय "उदयनः"—बस इतना एकवचन-प्रयोग ही पर्याप्त समझा गया है। हाँ, महर्षि प्रशस्तपाद के लिए (पृ० ३०० पर) अवश्य कह दिया है कि "न च प्रशस्तपादभाष्यं मनुवचनं येन निर्गुणता गुणादीनां प्रामाणिकी स्यात्।" यह आक्षेप म. म. विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी को सह्य नहीं हुआ और वे वैशेषिक दर्शन के अपने विज्ञापन में लिखते हैं—"यत्तु चित्सुखेन स्वकीयग्रन्थे लिखितं······तत्र वयं त्वेवं ब्रूमः—"न हि चित्सुखवचनं मनुवचनं येन सर्वेषां मतखण्डनं प्रामाणिकं स्यात्।"

उद्धृत ग्रन्थ—चित्सुखी में कुसुमाञ्जलि, किरणावली, लीलावती, कन्दली, भूषण, तात्पर्य टीका, सौगत वार्तिक (प्रमाणवार्तिक), अक्षपादसूत्र, ब्रह्माण्डपुराण, न्यायसुधा, मानमनोहर–आदि ग्रन्थ उद्धृत हुए हैं।

उद्धृत ग्रन्थकार—सुरेश्वराचार्य, पञ्चपादिकाचार्य, भट्टपाद, गुरु (प्रभाकर), मानमनोहरकार, उद्योतकर, शालिकनाथ, वाचस्पति, उदयन, खण्डनकार, प्रशस्तपाद, श्रीधर, भूषणकार, उम्वेक, पतञ्जलि—आदि ग्रन्थकारों का उल्लेख हुआ है।

एक आश्चर्य का विषय है—कि पतञ्जलि का उल्लेख करते हुए चित्सुखी में (पृ० ५६२ पर) कहा गया है कि "भगवता पतञ्जलिना नियमाभावाभिधानात्—"यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राकारं दग्धक्लेशबीजं भवति, तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा"—इति। यह उद्धरण पातञ्जल सूत्रों के व्यास-भाष्य का है। नयनप्रसादिनी में भी (पृ० ३२८, ५६९ पर) इसी प्रकार का उल्लेख देखकर आश्चर्य और बढ़ जाता है। म० म० गोपीनाथ कविराज ने इस प्रसंग में कहा कि इससे हमारी यह धारणा हो सकती है कि महर्षि पतञ्जलि ने अपने सूत्रों पर सम्भव है कोई सोपज्ञ भाष्य बनाया हो, उसी के उक्त उद्धरण हों और व्यास-भाष्य में भी वही वाक्यानुपूर्वी आ गई हो। किन्तु इतनी लम्बी कल्पना बुद्धि को सहसा मान्य नहीं? यह भूल लेखकों के शिर ही मँढनी होगी या संस्कृत में कह दें—सम्पातायातम्। आश्चर्य अवश्य है।

व्याख्याएँ—तत्त्वप्रदीपिका पर एक व्याख्या चित्सुखाचार्य के शिष्य सुखप्रकाश की है—भावद्योतनिका। इसका उल्लेख ऑफ्रेख्ट महाशय ने अपनी सूची में किया है। उन्होंने बताया है कि सुखप्रकाश ने भावद्योतनिका से अतिरिक्त और भी ग्रन्थ बनाये हैं। जैसे—न्यायदीपावलीतात्पर्यटीका (आनन्दबोध की न्यायदीपावली की व्याख्या), न्यायमकरन्दविवेचनी (आनन्दबोध के न्यायमकरन्द की व्याख्या), वेदान्त सिद्धान्तकारिकामञ्जरी आदि। ये सब ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। इनके प्रकाशित हो जाने पर वेदान्त के कुछ रहस्यों पर अवश्य प्रकाश पड़ेगा।

दूसरी व्याख्या है—नयनप्रसादिनी, जो इस ग्रन्थ में मुद्रित है। सरस्वती भवन, बनारस की हस्तलिखित प्रतियों में इस व्याख्या का नाम "नयनमोदिनी" "मानसनयनप्रसादिनी","भावप्रदीपिका" भी मिलते हैं। नयन प्रसादिनी–जैसी सफल एवं प्रौढ़ व्याख्याएँ अति विरला हैं। इसका साहित्यिक प्राञ्जल लेख कहीं-कहीं इतना वैदुष्यपूर्ण है कि हृदय सहसा सुझाव रखने लग जाता है कि व्याख्याता मूलकार से भी कहीं अधिक निपुण विद्वान् था।

आदर्श पुस्तकें—नयनप्रसादिनी के साथ तत्त्वप्रदीपिका सबसे पहले काशी के दाऊजी अग्निहोत्री के छापाखाना में शिलाक्षरों में छापी गई थी। सन् १९१५ में हमारे इस "उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी"के प्रथम प्रधानाध्यापक सर्वशास्त्र-पारङ्गत पूज्य पण्डित काशीनाथ जी शास्त्री से सम्पादन कराकर निर्णयसागर प्रेस ने मुद्रित तथा प्रकाशित की। यह संस्करण सर्वाङ्ग सुन्दर है। उसीका द्वितीय संस्करण निर्णयसागर ने निकाला, जिसे पूज्य पण्डित काशीनाथ के सुपुत्र अप्रतिमप्रतिभा-मण्डित पण्डितप्रवर रघुनाथ शास्त्री ने वैदुष्यपूर्ण पाद टिप्पणियों से विभूषित किया है। उक्त दोनों मुद्रित पुस्तकें तथा दो हस्त-लिखित प्रतियाँ हमारी आदर्श हैं। हस्तलिखित प्रतियों से मुद्रित पुस्तक का खूब संशोधन कर लिया गया है। कहीं-कहीं पूरी पंक्तियाँ ही प्रायः नयनप्रसादिनी में छूटी थीं।

नयनप्रसादिनी व्याख्याकार का स्वभाव है कि प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में एक संग्रह-श्लोक देता है। किन्तु चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में वह श्लोक न देखकर मुझे वहाँ कुछ पाठ छूट जाने का सन्देह होता था। दुर्भाग्य से हमारी हस्तलिखित प्रतियों में वह अन्त का पत्र हीं नहीं था। एक दिन सरस्वती भवन में जाकर अतिप्राचीन हस्तलिखित प्रति निकलवाकर देखी तो वह छूटा हुआ पाठ मिल गया, मुझे इतनी प्रसन्नता हुई कि खोया हुआ साम्राज्य मिल गया हो। पाठ भी बड़े महत्त्व का है। मुद्रित पुस्तकों में नयनप्रसादिनी की समाप्ति केवल "फलितमाह—तदेवमिति।" लिख कर हो जाती है। किन्तु वहाँ का पूरा पाठ इस प्रकार है—

"वादार्थमुपसंहरति—तदेवमिति। श्रुतिः—"तस्य तावदेव चिरम्", "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति", "विमुक्तश्च विमुच्यते", "सचक्षुरचक्षुरिव" "तद्यथाऽहिर्निर्ल्वयनीत्यादिका। स्मृतिः स्थितप्रज्ञगुणातीतलक्षणाद्या। इतिहासपुराणानि वसिष्ठवामदेवजनकभरतशुकदेवमुनिप्रभृतीनां सञ्जातसाक्षात्काराणामेव व्यवहाराभासप्रतिपादकानीत्यशेषमतिपुष्कलम्।

स्वात्यन्तोच्छेदरूपा क्षणिकनिरतिभिस्तार्किकैः कापिलैर्या,
सोक्ता मुक्तिर्निरस्ता दृढ़नयनिकरैरात्मपक्षे च मुक्तिः।
एकानेका चिदेकाश्रयविषयवती जीवभावैकहेतु—
र्योऽविद्या तन्निवृत्तिः परमसुखमयी जीवतश्चेति सोक्ता॥ १॥

चिरं मया मानसतीर्थसेवया,
चिरं च विद्यागिरिपादसेवया।
चिरं च दिव्यामलतीर्थसेवयाऽऽ—
जितानि दिव्यानि मयौषधानि॥ २॥

उद्भ्रतर्कद्युतितिग्मतत्त्वप्रदीपिकालोकनकातराणाम्।
अनाद्यविद्यातिमिरावृतानां नेत्राञ्जनं चारु कृते त्वकारि॥ ३॥

श्रुतमनु मननं यद्युक्तिभिस्तत्त्वविद्ये,
विहितमिति मया यत्नलेशो व्यधायि।
न पुनरपरहेतुः कल्पते यज्जनः स्याद्,
विविधरुचिजनेभ्यः ख्यातिकामः सचेताः॥ ४ ॥
निर्मायं नित्यबोधं निरवधिविपुलानन्दमुत्खातदुःखं,
कुर्वद्भिश्वं विवृद्धं हरदनवरतं दिव्यमायासहायम्।
प्रत्यक्तत्त्वं विदित्वा करबदरकवद्यद्गुरोर्वेदवाक्याद्,
ध्वस्तध्वान्तो विमुक्तो भवति परपदं तत्प्रपद्ये मुरारेः॥ ५ ॥
जयतु स गजवक्त्रस्त्रातलोकत्रयो यः,
करधृतनिजदन्तः शोभते विघ्नकन्दम्।
भुवनविवरवर्ति त्यक्तुमत्तुं गृहीत्वा,
सुरसुररिपुहेतोः सन्दिहानः स देवः॥ ६ ॥
अवितथविमथितभयदाबोधतमो बोधदीधितौ यस्मिन्।
सत्यप्रकाशशब्दः सत्यस्तं नौमि परं गुरुम्॥ ७ ॥
यत्सङ्गतः सकलसंगविमुक्तिरासीद्,
यत्संस्मृते विषयविस्मृतिरेव जाता।
यत्पादपांसुभिरपांसुलता ममासीत्,
प्रत्यक्तमं कमपि नौमि गुरुं प्रकाशम्॥ ८ ॥
विबुधगणशिरोभिः सन्ततोत्तंसितो य—
त्पदकमलसुलक्ष्मीलक्ष्मनैजानुभावम्।
सहितपरमहंसैः सादरं सेव्यविद्या—
कमलसलिलपूरं मानसं नौमि तीर्थम्॥ ९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाश-
पूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यग्रूपभगवतः कृतौ
तत्त्वप्रदीपिकाटीकाभावप्रदीपिकायां
नयनप्रसादिन्यां चतुर्थः परिच्छेदः

सं० १५५१ समये भादौ सुदि १० बुधवासरे परमहंस-परिव्राजकाचार्यश्रीज्ञानानन्द-पूज्यपादशिष्यश्रीगोविन्दानन्दमुनीश्वरेण लिखायितं तत्त्वप्रदीपिका······

यह एक ही प्राचीन प्रति है। अक्षर अस्पष्ट होने के कारण कहीं-कहीं पढ़े नहीं गये। आशा है कि किसी और प्राचीन प्रति से मिलाकर पाठ शुद्ध कर लिया जायगा।

चित्सुखाचार्य

(तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग)

स्थितिकाल—मिथिलालङ्कार उद्भट नैयायिक श्री उदयनाचार्य ने अपनी लक्षणावली के निर्माण का समय ९०६ शकाब्द[1] (९८४ ई०) बताया है। न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य

---

[1] तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

अपनी न्यायकन्दली के अन्त में निर्माण-काल ९१३ शकाब्द[1] (९९१ ई०) बताते हैं। इन दोनों का खण्डनखण्डखाद्य में महाकवि श्रीहर्ष (१२ वें शतक का अन्तिम भाग) ने खण्डन किया है। श्रीहर्ष का स्पष्ट उल्लेख[2] ही चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वप्रदीपिका (पृ० २९७ पर) नहीं किया, अपितु खण्डनखण्डखाद्य पर व्याख्या भी की है। जयतीर्थ (१३६५–१३८८ ई०) ने अपनी वादावली में चित्सुखाचार्य का उल्लेख[3] किया है। एवं चौदहवीं शताब्दी के विद्यारण्य स्वामी (१३१३ शक० या १३९१ ई०) ने भी अपने सर्वदर्शन संग्रह में चित्सुखाचार्य का उल्लेख किया है। अतः चित्सुखाचार्य का स्थितिकाल तेरहवीं शताब्दी स्थिर होता है। आनन्द बोध भट्टारक (१२०० ई०) के न्यायमकरन्दादि ग्रन्थों पर चित्सुखाचार्य ने व्याख्याएँ लिखी हैं। श्रीयोगेन्द्रनाथ तर्कतीर्थ आनन्द बोध भट्टारक का समय १२२८ ई० मानते हैं। इस प्रकार भी चित्सुखाचार्य तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ठहरते हैं।

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका (पृ० १२४ पर) एक आधुनिक मत का उल्लेख किया है। प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने 'आधुनिक' शब्द से 'न्यायकल्पतरु-कार' को लिया है। 'न्याय कल्पतरु' नाम का ग्रन्थ किसी सूची में मिलता नहीं। यदि वेदान्त कल्पतरु को ही न्यायकल्पतरु शब्द से लिया जाय; तब तो वेदान्तकल्पतरुकार अमलानन्द (१२६०–१२९० ई०) के समसामयिक चित्सुखाचार्य ठहरते हैं। किन्तु अमलानन्द अपने कल्पतरु के आरम्भ (दसवें श्लोक) में "सुखप्रकाश" नाम के विद्या गुरु को नमस्कार करते हैं एवं चित्सुखाचार्य के "स्तम्भाभ्यन्तर"—इस मङ्गल श्लोक की "प्रह्लादोक्तगिरः प्रमाणनविधौ"—इस (तृतीय) श्लोक से व्याख्या करते प्रतीत होते हैं। अमलानन्द के विद्यागुरु सुखप्रकाश यदि चित्सुखाचार्य के शिष्य सुखप्रकाश से अभिन्न हैं; तब तो चित्सुखाचार्य निश्चितरूप से अमलानन्द के पूर्ववर्ती ही मानने पड़ेंगे। इस प्रकार १२२५–१२८४ ई० ही इनका समय प्रतीत होता है।

देश—वंगला भाषा के "वेदान्तदर्शनेर इतिहास" में लिखा है कि चित्सुखाचार्य के जन्मस्थानादि के विषय में ठीक निश्चय नहीं होता। तब भी उत्तर भारत में होने की सम्भावना समधिक है; क्योंकि जिन आचार्यों ने न्याय-मत का खण्डन किया है, वे सभी उत्तर भारत के अधिवासी थे। जैसे—आचार्य श्रीहर्ष, मधुसूदन सरस्वती आदि। दक्षिण भारत में मीमांसा तथा वैष्णव मत का प्राधान्य रहा है, न्याय का खण्डन-मण्डन नहीं हुआ। न्याय के प्रचार का क्षेत्र उत्तर भारत ही रहा है। श्री योगेन्द्रनाथ तर्क तीर्थ अद्वैत सिद्धि के अपने बंगानुवाद की भूमिका में लिखते हैं कि चित्सुखमुनि ने दक्षिण भारत में 'कामकोटि' मठ के अध्यक्ष के रूप में शेष जीवन अतिवाहित किया। अधिक सम्भावना यही है कि आचार्य चित्सुख मुनि दक्षिण भारत के थे।

गुरुवर—इनके गुरुवर का नाम गौड़ेश्वराचार्य ज्ञानोत्तम था। जैसा कि ग्रन्थ की समाप्ति में निर्देश किया है और ग्रन्थारम्भ में "ज्ञानोत्तमाख्यं तं वन्दे" कहकर वन्दना भी की है। चित्सुखाचार्य ने चित्सुखी (पृ० ६०६) पर लिखा है—एवं हि न्यायसुधाया-

---

[1] अधिकदशोत्तरनवशतकशकाब्दे न्यायकन्दली रचिता।
श्रीपाण्डुदासयाचितभट्टश्रीश्रीधरेणेयम् ॥

[2] तथा चाहुः खण्डनकाराः……

[3] चित्सुखेनापरीक्षव्यवहारयोग्या विशेषणकृत्याभिधानप्रस्तावेऽभिहितम्…(वादा० पृ० १३९)

माराध्यपादैरुपपादितम्"। इसकी व्याख्या करते हुए प्रत्यक्स्वरूप भगवान् लिखते हैं—"आराध्यपादाः स्वगुरवः ज्ञानसिद्धिकाराः।" इससे पता चलता है कि ज्ञानोत्तमाचार्य ने भी न्यायसुधा और ज्ञानसिद्धि–आदि मौलिक ग्रन्थों की रचना की थी। ये ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। सिद्धान्तलेश संग्रह में भी ज्ञानसिद्धि का उल्लेख है। इष्टसिद्धि तथा नैष्कर्म्यसिद्धि के व्याख्याता ज्ञानोत्तम दूसरे थे। वे चोल[1] देश के मंगल नामक ग्राम के रहनेवाले थे, किन्तु आचार्य चित्सुखमुनि के गुरुवर ज्ञानोत्तमाचार्य गौड़(बङ्ग[2]) देश के रहनेवाले थे। नैष्कर्म्य सिद्धि के व्याख्याता का नाम ज्ञानोत्तम मिश्र था, अतः वे सन्यासी भी प्रतीत नहीं होते।

गुरुभाई तथा शिष्य—चित्सुखाचार्य के एक विज्ञानात्म भगवान नाम के गुरुभाई थे। उन्होंने भी श्वेताश्वतर एवं तैत्तिरीयादि उपनिषदों पर व्याख्याएँ लिखी थीं। चित्सुखाचार्य के प्रधान शिष्य थे सुखप्रकाश भगवान्। उन्होंने अपने गुरु की तत्त्वप्रदीपिका पर "भावद्योतनिका" व्याख्या के अतिरिक्त "तत्त्वप्रक्रिया-व्याख्या","न्यायदीपावली-तात्पर्य टीका", "न्याय मकरन्द-विवेचिनी","वेदान्त सिद्धान्तकारिकावली" आदि ग्रन्थ बनाये थे। भामती-व्याख्या "कल्पतरु" तथा ब्रह्मसूत्र-वृत्ति "शास्त्र दर्पण" के रचयिता व्यासाश्रम (नामान्तर अमलानन्द) के सुखप्रकाश भगवान् गुरु थे।

रचनाएँ—चित्सुखाचार्य की मौलिक तथा टीकात्मक रचनाएँ एक दर्जन से अधिक हैं–

१–[3]न्यायमकरन्द की व्याख्या—चित्सुखाचार्य ने आनन्द बोध भट्टारक के न्यायमकरन्द पर एक सुन्दर व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या तत्त्वप्रदीपिका से पहले लिखी प्रतीत होती है; क्योंकि तत्त्वप्रदीपिका में यत्र-तत्र न्यायमकरन्द के साथ-साथ व्याख्या भी ज्यों-की-त्यों उतारी हुई है। पादटिप्पणी में उसका सङ्केत कर दिया गया है।

२–खण्डनखण्डखाद्य-व्याख्या—चित्सुखाचार्य की खण्डन पर भी एक उत्कृष्ट व्याख्या है। इसका कुछ अंश बनारस में मुद्रित हुआ है।

३–शारीरक भाष्य-व्याख्या—ब्रह्म सूत्र-शाङ्कर भाष्य पर 'भावप्रकाशिका' नाम की संक्षिप्त व्याख्या उपलब्ध है। उसका कुछ अंश कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है।

४—शङ्कर दिग्विजय—चित्सुखाचार्य ने एक शङ्कर दिग्विजय भी बनाया था। इसका कुछ अंश यत्र-तत्र पाया जाता है।

५—ब्रह्मसिद्धि-व्याख्या—चित्सुखमुनि ने आचार्य मण्डल की ब्रह्मसिद्धि पर एक अभिप्रायप्रकाशिका नाम की व्याख्या बनाई थी।

---

[1] चोलेषु मङ्गलमिति प्रथितार्थनाम्नि,
ग्रामे वसन् पितृगुरोरभिधां दधानः।
ज्ञानोत्तमः सकलदर्शन — पारदृश्वा,
व्याख्यामिमां वितनुते स्फुटमिष्टसिद्धेः॥

[2] शक्ति संगम तन्त्र में लिखा है—
बङ्गदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगं शिवे।
गौड़देशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः॥

[3] न्यायमकरन्द, प्रमाणमाला तथा न्यायदीप–इन तीनों ग्रन्थों का सम्पादन निखिल शास्त्रनिष्णात स्वामी बालराम उदासीन से कराकर चौखम्बा संस्कृत विद्याभवन ने १९०१ ई० में प्रकाशन किया है।

६—नैष्कर्म्य सिद्धि—सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि पर भी "भावतत्त्वप्रकाशिका" नाम की व्याख्या का पता चलता है।

७—प्रमाणरत्नमाला-व्याख्या—आनन्दबोध भट्टारक की प्रमाणरत्नमाला पर भी चित्सुखाचार्य की व्याख्या मिलती है।

८—विवरण-व्याख्या—आचार्य प्रकाशात्मा के पञ्चपादिका-विवरण पर भी चित्सुखाचार्य की एक व्याख्या है। उसका नाम भावद्योतिनी है।

९—विष्णुपुराण-व्याख्या—आचार्य चित्सुख मुनि ने विष्णुपुराण पर भी एक व्याख्या की थी। जिसका उल्लेख श्रीधरस्वामी ने अपनी व्याख्या में किया है[1]।

१०—अधिकरणसंगति—ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों का संगमनात्मक यह एक छोटा-सा निवन्ध है। मद्रास से जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च के पांचवे खण्ड में प्रकाशित हुआ है।

११—अधिकरणमणिमञ्जरी—काशी सरस्वतीभवन में सं० १५३५ की लिखी एक प्रति है। मद्रास के जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च के पाँचवे खण्ड में इसका भी प्रकाशन हुआ है। वहाँ इसका नाम केवल अधिकरणमञ्जरी दिया है।

१२—भागवत व्याख्या—श्रीमद्भागवत पर भी चित्सुखाचार्य की एक मनोरम व्याख्या सुनी जाती है।

१३—षड्दर्शन संग्रह-वृत्ति—यह भी एक पुस्तक चित्सुखाचार्य के नाम से ऑफ्रेख्ट की सूची में पाई जाती है।

१४—ब्रह्मस्तुति—इनकी ब्रह्मस्तुति का उद्धरण काशि खण्ड में रामानन्द ने किया है।

१५—तत्त्वप्रदीपिका—यह एक ही ग्रन्थ रत्न चित्सुख मुनि की विश्व में स्थायी कीर्ति स्थापित रखने के लिए पर्याप्त है। तत्त्वोपप्लव, खण्डनखण्डखाद्य तथा न्यायमकरन्द की शैली पर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। खण्डनखण्डखाद्य को नैयायिक गण वितण्डा कह कर निरादर की दृष्टि से देखने लगे थे और अद्वैत वाद पर विविध विप्रतिपत्तियाँ करते थे। उनका मुँह तोड़ उत्तर देने तथा खण्डन की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तत्त्वप्रदीपिका की रचना हुई। चित्सुखाचार्य ने स्वयं कहा है—

"विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्त—ध्वंसप्रगल्भवाचाला ।
क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका विदुषा ॥"

पहले-पहल वेदान्त का प्रबल संघर्ष बौद्धों से था। बौद्धों को परास्त करने के लिए नैयायिक दल को सुदृढ़ बनाया गया। उसने बौद्धों के पैर उखेड़ दिये। वह मोर्चा मार कर यह लड़ाका दल वेदान्त पर टूट पड़ा। उससे लोहा लेने के लिए महापण्डित श्रीहर्ष ने चिन्तामणिमन्त्र की कृपा से नैयायिकों और वैशेषिकों का एक-एक तत्त्व गिन-गिन कर खण्डन किया। खण्डन पर आये आघातों का उपचार करने के लिए चित्सुखी का निर्माण हुआ। नैयायिकों का खण्डन होने से द्वैत का खण्डन होना अनिवार्य था। इस पर

---

[1] श्रीमच्चित्सुखयोगिमुख्यरचितव्याख्यां निरीक्ष्य स्फुटम्,
तन्मार्गेण सुबोधसंग्रहवतीमात्मप्रकाशाभिधाम् ।
श्रीमद्विष्णुपुराणसारविवृतिं कर्त्ता यतिः श्रीधर—
स्वामी सद्गुरुपादपद्ममधुपः साधुः स्वधीशुद्धये ॥

वैष्णववर्ग असन्तुष्ट हो उठा और मध्व सम्प्रदाय के विद्वान् व्यासराज ने अपने न्यायामृत में, जयतीर्थ ने अपनी वादावली में, रामानुज सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ ने अपने शतदूषणी आदि ग्रन्थों में अद्वैत का भयङ्कर खण्डन किया। उसका उत्तर देने के लिए आचार्य मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि ने जन्म लिया। अद्वैतसिद्धि का भी खण्डन न्यायामृत की व्याख्या तरङ्गिणी में तरङ्गिणी का अद्वैतसिद्धि-व्याख्या गौड़ब्रह्मानन्दी में, गौड़ब्रह्मानन्दीका तरङ्गिणी की व्याख्या तरङ्गिणीसौरभ में खण्ड किया गया है।

प्रतिपादन-शैली—चित्सुखाचार्य की प्रतिपादन-परिपाटी नितान्त ग्राह्य है। इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। किसी वाद पर जितने आक्षेप हुए या हो सकते हैं, सभी विकल्पों को उठाकर सिद्धान्त के आरम्भ में एक श्लोक कहते गये हैं। उस श्लोक की व्याख्या में ही सभी आक्षेपों का क्रमशः समाधान कर दिया करते हैं। जैसे मिथ्यात्व-निरूपण-प्रसङ्ग में दश विकल्प उठाकर सिद्धान्त श्लोक कह दिया—

सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन सम्मते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता॥

इस मिथ्यात्व-लक्षण का समर्थन आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपनी अद्वैत सिद्धि में किया है। खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी और अद्वैत सिद्धि—ये तीनों अद्वैत जगत के भूः, भुवः, स्वः" हैं।

प्रत्यक्स्वरूप भगवान्

(१५ शतक)

प्रत्यग्रूप भगवान् तथा प्रत्यक्स्वरूप भगवान् दोनों नामों से तत्त्वप्रदीपिका के व्याख्याता नयनप्रसादिनीकार का उल्लेख पाया जाता है। इनके गुरुवर का नाम प्रत्यक्प्रकाश, परमगुरु का नाम सत्यप्रकाश[1] तथा विद्यागुरु का नाम मानसतीर्थ[2] था। १९३७ ई० में निर्णयसागर से प्रकाशित प्रमाणमञ्जरी की प्रस्तावना में म० रा० तैलङ्ग महाशय लिखते हैं—"श्रीप्रत्यग्रूप भगवतः समयस्तु ख्रिस्ताब्दीयपञ्चदशशतकम्[2] १५०० इति केचिदाधुनिका इतिहासज्ञाः।" अर्थात् आधुनिक इतिहासकारों ने प्रत्यग्रूपभगवान् का समय १५०० ई० बताया है। किन्तु दूसरे विद्वानों का कहना है कि प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने चित्सुखाचार्य के परवर्ती किसी ग्रन्थाकार का उल्लेख नहीं किया, अतः इनका समय १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। नयनप्रसादिनी की एक हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस में सं० १५४६ (१४९०ई०) की लिखी हुई मिलती है। अतः पन्द्रवीं शताब्दो के अनन्तर के प्रत्यक्स्वरूप भगवान् कभी भी नहीं हो सकते।

---

[1] आरम्भिक मङ्गल के पञ्चम पद्य में प्रत्यक्प्रकाश का "सत्यप्रकाशपरिशुद्धनिजानुभावम्"—यह विशेषण देकर परमगुरु के नाम की सूचना ही दी, किन्तु ग्रन्थ-समाप्ति के सातवें श्लोक में बिलकुल स्पष्ट कर दिया है—

आवंतथविमथितभयदाबोधतमो बोधदीधितौ यस्मिन्।
सत्यप्रकाशशब्दः सत्यस्तं नौमि परं गुरुम्॥

[2] आरम्भ के छठे श्लोक में स्पष्ट किया है—

वन्दे विद्यागुरुमनिशं मानसं तीर्थमार्यम्।

[3] अन्त के द्वितीय और नवम् श्लोकों में भी मानसतीर्थ को नमस्कार किया है।

प्रत्यक्स्वरूप भगवान् अपनी व्याख्या में उद्योतकर, वाचस्पति, भासर्वज्ञ, उदयनाचार्य, वल्लभाचार्य, श्रीहर्ष, शालिकनाथ, भवनाथादि का उल्लेख करते हैं। वे सभी तत्त्वप्रदीपिका में भी साक्षात् या परम्परया उल्लिखित ही हैं। उससे अधिक पार्थसारथि मिश्र वादीन्द्र, भट्टशम्भु आदि का निर्देश किया है। सुखप्रकाशादि का नामतः उल्लेख नयनप्रसादिनीकार ने तो नहीं किया, किन्तु यत्र-तत्र केचित्[1] पद से चित्सुखी के किसी दूसरे व्याख्याता की ओर संकेत अवश्य किया है। बहुत सम्भव है कि वे 'केचित्' सुखप्रकाश ही हों।

प्रत्यक्स्वरूप भगवान् कोरे दार्शनिक ही नहीं थे, उच्च कक्षा के छायावादी कवि भी थे। उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि (प्रथम स्तबक के अन्त) का श्लोक है—

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीततो,
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः,
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम॥

इसकी छाया प्रत्यक्स्वरूप भगवान् के शब्दों में (चि० पृ० २५०) देखिए—

इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुन्नीततो,
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्या सहायोहिता।
शक्तिर्विश्वमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोदधे—
निर्धूताखिलभेदगन्धममलं वन्दे भवानीपतिम्॥

यहाँ रहस्य यह है कि नैयायिकों का खण्डन उन्हीं के शब्दों में दिखा दिया है। आपने अपनी व्याख्या को अनुपयुक्त विस्तार से बचाया है। स्वयं कहते हैं—

यथानयैव व्यवहारसिद्धिरद्धा भवेत् कल्पनान्यथा न।
तथोदितं तत्तदगाधधीभिरतो वयं विस्तरतो विभीताः॥ (चि० पृ० १८)

मैं भी उसी विस्तार से भय खाता हूँ। नहीं तो प्रत्यक्स्वरूप भगवान् की सजीव भव्य भाषा के विषय में बहुत कुछ कहना था। केवल इतना ही कहकर सन्तोष करता हूँ कि, यदि प्रत्यक्स्वरूप भगवान् काव्यक्षेत्र में उतरे होते, तो कालिदासादि महाकवियों की कीर्ति आपके भी चरण अवश्य चूमती महाविद्या का जहाँ भी प्रसङ्ग आया है, वहाँ प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने नरसिंहावतार धारण कर लिया है। अतः महाविद्याके प्रसङ्ग में कुछ कह कर ग्रन्थ में आये अन्य ग्रन्थकारों का स्वल्प परिचय दिया जायगा।

महाविद्या अनुमान

मिथिला के लोकोत्तरप्रज्ञ न्यायाम्भोजपतङ्ग श्रीगङ्गेश उपाध्याय (१३ शतक) की नितान्त वक्रप्रवाहा सरस्वती में स्नान करने से जिस जरन्न्याय की काया बिल्कुल पलट गई, उसका काया-कल्प ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। इसका साक्षी है—महाविद्या अनुमान। महाविद्या का श्रीगणेश कुलार्क पण्डित से माना जाता है। कुलार्क पण्डित (११ शतक) ने दशश्लोकी महाविद्यासूत्र (जो गायकवाड़-नरेश के

---

[1] मंगलश्लोकों में "विप्रतिपत्तिव्रात"—इस तृतीय श्लोक की व्याख्या में कहते हैं—केचिद् विप्रतिपत्तीत्यादिना अवान्तर प्रयोजनस्य निर्देशः प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकेति प्रधानस्येति।

पुस्तकालय से प्रकाशित महाविद्याविडम्बन में जुड़ा है) में सोलह प्रकार के महाविद्या प्रयोगों का निर्देश किया है। उसी के आधार पर परम पण्डित महादेव सर्वज्ञ वादीन्द्र ने अपने नितान्त प्रसिद्ध ग्रन्थ महाविद्याविडम्बन की रचना की है।

नामकरण—महाविद्या के नामकरण के लिए विद्वानों में दो प्रकार की धारणाएँ पाई जाती हैं—(१) तान्त्रिक सङ्केत तथा (२) यौगिक-व्युत्पत्ति। (१) तन्त्रशास्त्र में दश महाविद्याएँ गिनाई गई हैं—

"काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः॥"

कुलार्क पण्डित ने दश श्लोकों में महाविद्या का स्वरूप रखकर अपनी तान्त्रिकता का परिचय दिया है। (२) नामकरण का दूसरा आधार 'महाविद्या' शब्द का अर्थ (महती विद्या) है। पुरुषदेवता वाले मन्त्र को मन्त्र और स्त्रीदेवता वाले मन्त्र को विद्या[1] कहा जाता है। अभीष्टप्रद स्त्रीदेवता के साधक मन्त्र के समान ही अभीष्ट साधिका अनुमति के साधक हेतु का 'विद्या' नाम उचित ही है। इतना ही नहीं ऐसे हेतु को महाविद्या कहना चाहिए; क्योंकि उसमें असिद्धत्वादि दोष नहीं होते। भट्ट वादीन्द्र ने लिखा है—"[2]केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकिसाध्यविशेषं वाद्यभिमतं साधयन् महाविद्येत्युच्यते। तस्य च महाविद्यात्वमसिद्धत्वादिसकलदोषविरहः" (महा० वि० पृ० २)। अर्थात् उस हेतु का नाम महाविद्या है, जो केवलान्वयी व्यापक में प्रवृत्त हो। पक्ष में व्यापक की प्रतीति की अनुपपत्ति के कारण अन्वयव्यतिरेकी हेतु के साध्यविशेष को वाद्यभिमत रूप दे दे।

महाविद्याका आविर्भाव बताते हुए भुवनसुन्दर (महाविद्याविडम्बन के व्याख्याकार) कहते हैं—

"भाट्टा नित्यं शब्दं यौगाद्या वादिनस्त्वनित्यं च।
प्रतिजानते ततोऽयं जातस्तेषां विवादोऽत्र॥
तत्तस्यानित्यत्वं प्रतिपादयितुं तु भाट्टवादीन्द्रान्।
यौगाचार्यो वर्यः कृतवानेतां महाविद्याम्॥"

अर्थात् भाट्टगण शब्द को नित्य तथा यौग[3] (नैयायिक) अनित्य मानते हैं। उन दोनों में महान् विवाद खड़ा हो गया। तब भाट्टगणों के प्रति शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए नैयायिक धुरन्धरों ने महाविद्या नामके ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। इस भयङ्कर अस्त्र का प्रयोग-क्षेत्र भी भुवनसुन्दर ने बताया है—

"अन्वयव्यातिरेकित्वोपेतमूलानुमानविधौ।
महाविद्यानुमानं प्रयोज्यं केवलान्वयि॥"

---

[1] पुंदैवत्या मन्त्राः स्त्रीदैवत्या विद्या इति मन्त्रविद्ययोर्लक्षणभेदेऽपि अस्याः शिवशक्तिसामरस्यरूपत्वादुभयात्मतेति द्योतनाय मन्त्राणां मध्ये विद्येत्युक्तम्। (ललितासहस्रनाम पृ० ९)।

[2] यही लक्षण नयनप्रसादिनी पृ० ३९५ में उद्धृत है।

[3] षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति में गुणरत्न ने कहा है कि नैयायिकों को यौग और वैशेषिकों को पाशुपत कहा जाता है।

अर्थात् जहाँ मूलानुमान अन्वयव्यतिरेकी हो, वहाँ केवलान्वयी महाविद्या का प्रयोग करना चाहिए। जैसे—"शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वाद्, घटवत्"—इस अन्वयव्यतिरेकी मूलानुमान में महाविद्या-प्रयोग ऐसे होता है—"अयं शब्दः स्वस्वेतरवृत्तित्वानाक्रान्तानित्यनिष्ठाधिकरणं मेयत्वाद् घटवत्।" अर्थात् यह शब्द; स्व (पक्षभूत शब्द) और स्वेतरों (पक्षभिन्न घटादि) में वृत्ति (अभिधेयत्वादि) धर्मों में रहनेवाली वृत्तिता का अनधिकरण एवं अनित्यवृत्ति धर्म का आश्रय है; मेय होने से; जैसे घट। यहाँ "शब्दोऽधिकरणम्"—इतना ही कहने से शब्दत्व, नित्यत्वादि धर्मों को लेकर अर्थान्तरता होती है, अतः अनित्यनिष्ठधर्माधिकरण कहा। शब्दत्वादि धर्म उभय मत से अनित्यवृत्ति नहीं। "अनित्यनिष्ठाधिकरणम्" इतना ही साध्य रखने पर मेयत्वादि को लेकर अर्थान्तरता होती है। उसे हटाने के लिए अनित्यनिष्ठ धर्म का विशेषण दिया—स्वेतरवृत्तित्वानाक्रान्त। मेयत्वादि धर्म वैसे नहीं, अपितु स्वेतरवृत्तित्वाक्रान्त ही है, अतः उनकी व्यावृत्ति हो जाती है। इतना कहने पर भी अप्रसिद्धविशेषणता होती है; क्योंकि पक्षमात्रवृत्ति अनित्यत्व की सिद्धि के पूर्व उक्त धर्म की पक्ष से भिन्न घटादि दृष्टान्त में प्रसिद्धि नहीं हो सकती; अतः वृत्तित्व का एक विशेषण और लगाया—'स्व'। पक्ष-भिन्न घटादि में पक्ष तथा पक्षेतर की वृत्तिता से रहित धर्म 'पक्षान्योन्याभाव' प्रसिद्ध है, अतः अप्रसिद्ध विशेषणता नहीं। किन्तु वह पक्षान्योन्याभाव पक्ष में तो रहता नहीं, अतः अनित्यनिष्ठ धर्म एतच्छब्दत्वादि की अधिकरणता रहने से ही पक्ष में साध्य की उपपत्ति होगी। 'एतच्छब्दत्व' अनित्यनिष्ठ तभी होगा, जबकि इस शब्द को अनित्य माना जाय। इस प्रकार किसी एक शब्द में अनित्यत्व सिद्ध करके सभी शब्दों में अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है।

शब्द में केवल अनित्यत्व ही नहीं इस महाविद्या चिन्तामणि से सभी कहीं सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है। भुवन सुन्दर के ही कितने सुन्दर उद्गार हैं—

"शब्दस्यास्थिरतरतोपलक्षणमिदं साध्यं तु चित्तेप्सितं,
दृष्टान्ताय च केवलान्वयितया स्थाप्याः पदार्थाः समे।
सर्वत्रैव यथार्थसिद्धियुगलावृत्तिर्विचार्या त्रिधे—
त्याद्यं सर्वमवेक्षणीयमखिलप्रौढानुमानेष्विह ॥"

अर्थात् शब्द में अस्थिरता-साधन तो दिग्दर्शन मात्र है। आप जो भी चाहें नित्यत्व-अनित्यत्व, पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्वादि; सभी कुछ इसी से सिद्ध कर सकते हैं। श्रुति में पौरुषेयत्व सिद्ध कीजिए—"श्रुतिः स्वस्वेतरवृत्तित्वरहितपौरुषेयनिष्ठाधिकरणं मेयत्वाद घटादिवत्।" महाविद्या हेतु केवलान्वयी होता है, अतः सभी पदार्थों को दृष्टान्त (सपक्ष) बनाया जा सकता है। सभी महाविद्या अनुमानों में युगलावृत्तित्व (उभयावृत्तित्व) का विचार तीन प्रकार से कर लेना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक में अवृत्ति पदार्थ उभयावृत्ति और उभय में अवृत्ति पदार्थ भी उभयावृत्ति होता है।

महाविद्या प्रयोग सदुत्तर नहीं माना गया है; क्योंकि इससे स्वपक्ष और परपक्ष सभी सिद्ध हो जाते हैं। इसीलिए वेदान्ताचार्य श्रीमद्वेङ्कटनाथ ने कहा है—"महाविद्यादि स्वव्याघातकमुत्तरं तु जात्युत्तरम्" (न्या० परि० पृ० २२५)। श्री निवासाचार्य तो चित्सुखाचार्य के अज्ञान में भावत्व के साधक महाविद्याप्रयोग को स्वव्याघातक बताते हुए कहते हैं कि—"यानि महाविद्यानुमानानि परैः परिभाषितानि भावपदस्थानऽभावपदप्रक्षेपेण विवक्षितसाध्यविपर्ययसाधनक्षमाणि" (न्या० परि० व्या० पृ० १२६)।

कुलार्क पण्डित (११ शतक)

महाविद्यासूत्र के सूत्रधार हैं—कुलार्क पडित । कुछ विद्वानों की धारणा है कि आचार्य शिवादित्य का ही दूसरा नाम कुलार्क था; क्योंकि महाविद्या-नामकरण के प्रसंग में कहा जा चुका है कि यह नाम तान्त्रिक है और कौल-मर्यादा के अनुसार शिव का नाम कुल है, आदित्य तथा अर्क पर्याय शब्द हैं ही, अतः शिवादित्य तथा कुलार्क दोनों का एक ही अर्थ होता है। भट्टवादीन्द्र भी महाविद्या का खण्डन शिवादित्य का ही खण्डन समझते हैं, इसलिए भी शिवादित्य ही कुलार्क पण्डित प्रतीत होते हैं। कुछ भी हो, कुलार्क पण्डित का दशश्लोकी महाविद्यासूत्र एक बार तो तार्किकों की शिखा में खुजली पैदा कर चुका है। केवल दश श्लोकों में कितने रहस्यमय १६ प्रयोग रखे हैं—

१—अपक्षसाध्यवद्वृत्ति विपक्षान्वयि यन्न तत् ।
साध्यवद्वृत्तितायुक्तं साध्यते साध्यवर्जिते ॥१॥

पक्ष-भिन्न साध्यवाले (सपक्ष) में वृत्ति और विपक्ष में वृत्ति जो धर्म नहीं होता, वह धर्म; साध्य-वर्जित (विपक्ष) में साध्यवद्वृत्तितायुक्त (सपक्षवृत्तिता-युक्त) सिद्ध किया जाता है। जैसे—"आत्मा शब्देतरानित्यनित्यवृत्तित्वानधिकरणानित्यवृत्तिधर्मवान् मेयत्वात् घटवत् ।"

२—अपक्षसाध्यवद्वृत्ति विपक्षे पक्षिते न यत् ।
साध्यवद्वृत्तितायुक्तं साध्यते तद्विपक्षगम् ॥२॥

सपक्ष में वृत्ति जो नहीं होता एवं पक्षभूत विपक्ष में जो वृत्ति नहीं होता, उसे विपक्ष में सपक्षवृत्तिता-युक्त सिद्ध किया जाता है। जैसे—"आकाशः आकाशशब्देतरानित्यवृत्तित्वानधिकरणानित्यवृत्तिधर्मवान् मेयत्वात् घटवत् ।"

३—अपक्षसाध्यवद्वृत्तिविपक्षान्वयवर्जितः ।
नानाविपक्षवृत्यन्यभिन्नधर्मोऽस्ति पक्षिते ॥३॥

जो सपक्ष और विपक्ष में वृत्ति नहीं होता एवं नाना विपक्षों में वृत्ति न होकर जो भिन्न (पक्ष से भिन्न) का धर्म होता है, वह पक्ष में सिद्ध किया जाता है। जैसे—"शब्दः अशब्दानित्यनित्यवृत्त्यन्यनानानित्यावृत्त्यशब्दधर्मवान् मेयत्वाद् घटवत् ।"

४—पक्षापक्षगतादन्यत्साध्यवद्द्वैधवर्जितम् ।

पक्ष और विपक्ष में वृत्ति धर्म से भिन्न एवं साध्यवाले (पक्ष) में वृत्ति तथा अवृत्ति—दोनों से भिन्न धर्म को पक्ष में सिद्ध किया जाता है। जैसे—"गन्धवन्तो गन्धवदगन्धावृत्तिगन्धवद्वृत्त्यन्यवन्तः मेयत्वाद् घटवत् ।"

५—पक्षापक्षगतादन्यत्साध्यवद्वृत्ति पक्षगम् ॥४॥

पक्ष तथा पक्षेतर में वृत्ति धर्म से अन्य धर्म को सपक्ष और पक्ष में वृत्ति सिद्ध किया जाता है। जैसे—शब्दः शब्दाशब्दवृत्त्यनित्यवृत्तिधर्मवान् मेयत्वाद् धटवत् ।"

६—तत्तादात्म्यनिषेधान्यतत्स्थाभावविरोधिता ।

पक्ष के अन्योन्याभाव से भिन्न जो शब्दादि अभीष्ट में रहनेवाला संसर्गाभाव, उसकी विरोधिता (प्रतियोगिता) सिद्ध की जाती है। जैसे—"नित्यत्वं स्वप्रतियोगिकान्योन्याभावातिरिक्तशब्दगताभावप्रतियोगि, मेयत्वाद घटवत् ।"

७—स्वीकृतानन्यवृत्तित्वसम्पन्नान्यत्वसाधनम् ॥५॥

जिस शब्दादि की अनन्यवृत्तिता (एकमात्र-वृत्तिता) वादि ने मानी है, उस शब्दादि

के अधिकरण में उसी का भेद सिद्ध किया जाता है। जैसे—"शब्दाधिकरणं शब्दाधिकरणादन्यत् मेयत्वाद् घटवत्।"

८—पक्षापक्षविपक्षान्यवर्गादेकैकमुद्धृतम्।
भिन्नं साध्यवतस्तद्वद्धुद्धृतावधिभेदिनः ॥६॥

पक्ष, सपक्ष और विपक्ष से भिन्न जो समूह उससे भिन्न प्रत्येक (पक्ष) को साध्यवत्पक्षावधिक भेदवाले सपक्ष से भिन्न सिद्ध किया जाता है। जैसे—"अयं घटः एतद्घटाङ्कुरान्यान्यसकर्तृकान्यः मेयत्वाद् आकाशादिवत।"

९—तस्यैव तदवृत्तित्वेन योगो वात्र प्रसाध्यते।

पूर्वोक्त (एतद्घटादि) पक्ष में ही सपक्षावृत्ति धर्म का सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है। जैसे—"अयं घटः एतद्घटाङ्कुरान्यान्यसकर्तृकावृत्तिधर्मवान् मेयत्वाद् आकाशादिवत्।"

१०—तद्वृत्यवृत्तिरथवा प्रोद्धृतेऽत्र प्रसाध्यते ॥७॥

अथवा पूर्वोक्त पक्ष में सपक्ष-वृत्ति धर्म की अवृत्तिता सिद्ध की जाती है। जैसे—अयं घटः एतद्घटांकुरान्यान्यसकर्तृकधर्मविरही मेयत्वाद् आकाशादिवत्।"

११—असाध्यान्यवियुक्तान्यव्यावृत्तिर्वा प्रसाध्यते।

असाध्य (विपक्षभूत नित्य) से अन्य जो पक्षवियुक्त (पक्ष-भिन्न) विश्व, उससे अन्य (विपक्ष तथा पक्ष) की अवृत्तिता सिद्ध की जाती है। जैसे—"शब्दः साध्याभावान्यैतद्वियुक्तान्यव्यावृत्तिमान् मेयत्वाद् घटवत्।"

१२—असाध्यतद्वियुक्तान्यव्यावृत्तिर्वा प्रसाध्यते ॥८॥

असाध्य और पक्ष—दोनों से भिन्न विश्व, उससे अन्य इन दोनों से व्यावृत्ति सिद्ध की जाती है। जैसे—"शब्दः साध्याभावतद्वियुक्तान्यव्यावृत्तिमान्।"

१३—पक्षेषु ये सन्ति विवादहीनाः,
विहाय तानन्यतरः प्रसाध्यः।

शब्दादिरूप पक्षों में जो उभय-सम्मत धर्म (शब्दत्वादि) हैं, उनको छोड़कर अन्य (विवादास्पद) धर्म सिद्ध करना चाहिए। जैसे—"शब्दः सम्प्रतिपन्नैतन्निष्ठान्यधर्मवान्।"

१४—पक्षेऽथवा साध्यविनाकृतेन,

अथवा पक्ष, साध्य-भिन्न पक्षनिष्ठ धर्मों से भिन्न धर्म की सिद्धि पक्ष में करनी चाहिए। जैसे—"शब्दः साध्यव्यतिरिक्तैतद्धर्मवान्।"

१५—विच्छिद्य वाऽभाववदन्वितेन ॥ ९ ॥

अथवा पक्ष का साध्य-कोटि में विच्छेद (निक्षेप) करके साध्याभावाश्रय से अन्वित पक्ष में अवृत्ति धर्म की सिद्धि करनी चाहिए। जैसे—"शब्दः शब्दनित्यावृत्तिधर्मवान् मेयत्वाद् घटाकाशादिवत्।"

१६—अपक्षसाध्यवद्वृत्तिविपक्षान्वयि यन्न तत्।
साध्याश्रयविपक्षान्यविपक्षे व्यतिरेकभाक् ॥१०॥

पक्षातिरिक्त साध्यवान् (सपक्ष) तथा विपक्ष में वृत्ति न हो और जो साध्य (पक्षभूत शब्द) के आश्रय विपक्ष (आकाश) से भिन्न विपक्ष (आत्मादि) में वृत्ति न हो; उस धर्म की सिद्धि करनी चाहिए। जैसे—"शब्दः शब्देतरानित्यनित्यावृत्त्याकाशान्यनित्यमात्रवृत्तित्वानधिकरणाकाशधर्मवान् मेयत्वाद् घटाकाशादिवत्।"

भट्ट वादीन्द्र (१२२७ ई०)

महाविद्याविडम्बन की भूमिका में श्री म० रा० तैलङ्ग महोदय लिखते हैं कि भट्ट वादीन्द्र का असली नाम महादेव था; क्योंकि भासर्वज्ञ-प्रणीत "न्यायसार" की व्याख्या "न्यायसार-विचार" के रचयिता भट्ट राघव, भट्ट वादीन्द्र के शिष्य थे। भट्ट राघव ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में लिखा है—

"महादेवमहं वन्दे गुरुं सर्वज्ञमादरात्।
ग्रन्थग्रन्थिषु शैथिल्ये शक्तिर्यस्मादभून्मम ॥"

अतः निश्चय होता है कि भट्ट वादीन्द्र का नाम भट्ट महादेव तथा वादीन्द्र उनकी सार्थक उपाधि थी। बनारस के सरस्वती-भवन-पुस्तकालय में न्यायसार-विचार की इस समय दो हस्त-लिखित प्रतियाँ हैं। दुर्भाग्य से दोनों का आरम्भ पृष्ठ नहीं है। एक प्रति शक० १४२८ तथा दूसरी १४४८ की लिखी हुई है। एक के अन्त में लिखा हुआ है—"इति श्रीसारङ्गसुतभट्टवादीन्द्रशिष्यन्यायनिपुणतर्कविचारचतुर–भट्टराघवविरचिते न्यायसारविचारे" इस लेख के आधार पर कुछ विद्वानों ने माना है कि भट्ट वादीन्द्र के पिता का नाम भट्ट सारङ्ग था। किन्तु ऑफ्रेख्ट महाशय की सूची में सर्वत्र भट्ट राघव के पिता का नाम सारङ्ग बताया है। "सारङ्गसुत" का अन्वय भट्ट राघव से ही करना चाहिए, वादीन्द्र से नहीं; क्योंकि ग्रन्थकार प्रायः अपने पिता का नाम दिया करते हैं।

भट्ट राघव ने अपने न्यायसार-विचार के पूर्ण होने का समय दिया है—शक०[१] ११७४ (सन् १२५२)। एक पीढ़ी के २५ वर्ष निकाल देने से १२२७ रहते हैं। यही समय भट्ट वादीन्द्र का निश्चित होता है। दूसरी बात यह भी है कि वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ (१२७०–१३७० ई०) ने अपने तत्त्वमुक्ताकलाप एवं न्यायपरिशुद्धि में वादीन्द्र तथा उनके "महाविद्याविडम्बन" का उल्लेख किया है। यदि ५० वर्ष की आयु अर्थात् १३२० ई० में वेङ्कटाचार्य "महाविद्याविडम्बन" का उल्लेख करते हैं, तब उसके पूर्व ही वादीन्द्र का समय होना चाहिए। वादीन्द्र ने देवगिरी के महाराज श्रीसिंह का अपने को धर्माध्यक्ष बताया है। श्रीसिंह का शासन काल विचारकों ने १२१०–१२४७ ई० स्थिर किया है। इस प्रकार भी वादीन्द्र का समय १२२७ ई० के लगभग ही निकलता है।

वादीन्द्र ने महाविद्याविडम्बन की रचना से सचमुच तार्किक जगत् में भूकम्प ला दिया था। इसके प्रथम परिच्छेद में महाविद्या के विविध प्रयोग दिखाये हैं, द्वितीय परिच्छेद में केवलान्वयित्व-निर्वचन-निरास और तृतीय परिच्छेद में महाविद्या का निराकरण किया है। स्वयं कहते हैं—

उपाधिव्याधिनिर्धूतमन्वयव्यतिरेकिणम् ।
सत्वोद्भिन्नमहाविद्याः शिवादित्यादितार्किकाः ॥
तेषामेष विशेषेण निराकरणसंभ्रमः ।
श्रीसिंहधर्माध्यक्षेण वादीन्द्रेण विधीयते ॥

महाविद्याविडम्बन से अतिरिक्त भट्ट वादीन्द्र ने कणादसूत्र-निबन्ध तथा उदयनाचार्य की गुण किरणावली पर रससार नाम की व्याख्या लिखी है, जो सरस्वती-भवन बनारस से

---

[१] शके चतुःसप्ततिसंख्यके शतैः शताधिकैरभ्यधिके च पञ्चभिः ।
द्विघातितैस्तत्र बभूव वत्सरैर्ध्रुवं विचारः परिभावि...वा ॥

सन् १९२२ में प्रकाशित हुई है। सरसार में वादीन्द्र ने महाविद्याप्रयोगों से काम भी लिया है। इसी लिये हमारे प्रत्यक्स्वरूप भगवान् को कबीर गाने का अवसर मिल गया—

> "वादीन्द्रस्येष्टदा तावन्महाविद्या पुलोमजा।
> सा च सव्यभिचारादिदोषैः सन्दूषितात्मना॥
> तामेव दूषयन्नेष तत्पादे निपतन्नपि।
> कथंकारं मदोन्मत्तः श्रद्धेयवचनो भवेत्॥"
> (चि० पृ० ३४१)

वादिवागीश्वर

कतिपय मान्य विद्वान् वादिवागीश्वर को वादीन्द्र से अभिन्न[1] समझते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं जँचता; क्योंकि ऑफ्रेख्ट महाशय की सूची से ज्ञात होता है कि "मानमनोहर" नामका मीमांसाग्रन्थ वादिवागीश्वर ने बनाया था। "मानमनोहर" ग्रन्थ मीमांसा का है? या नहीं? इतना अवश्य निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस ग्रन्थ के रचयिता वादिवागीश्वर ही थे; क्योंकि प्रत्यक्स्वरूप भगवान् अपनी नयनप्रसादिनी में स्पष्ट लिखते हैं—"मानमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेण" (चि० पृ० ३७)। इसी प्रकार आगे चलकर भी (चि० पृ० ४७४ पर) नयनप्रसादिनीकार ने सर्वदेव तथा वादिवागीश्वर के ग्रन्थों का क्रमशः निर्देश[2] कर के भी यही स्पष्ट किया है। सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० २७८) में आचार्य माधव के लेख[3] से भी सिद्ध होता है कि "मानमनोहर" के रचयिता का नाम वादिवागीश्वर था। "मानमनोहर" के प्रणेता वादीन्द्र हैं—ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। भट्ट वादीन्द्र को कहीं-कहीं "वादीश"[4] अवश्य लिखा गया है, वागीश या वागीश्वराचार्य नहीं, अतः यह सर्वथा मान्य है कि वादिवागीश्वर, वादीन्द्र से भिन्न व्यक्ति थे एवं "मानमनोहर" ग्रन्थ के निर्माता थे।

---

[1] श्री योगेन्द्रनाथ तर्कतीर्थ अद्वैतसिद्धि के बङ्गानुवाद की भूमिका में लिखते हैं—"वादीन्द्र वा वागीश्वराचार्य वा सर्वज्ञ वा महादेव—एई समय (१३—१४ शताब्दी) नव्यन्याये एकजन अति धुरन्धर पण्डित हईया।"

[2]
"संयोगित्वनिरासे तद्गर्भलक्षणभाषिणौ।
वित्रासितौ सर्वदेववादिवागीश्वरावपि॥

गुणत्वावान्तरजात्या द्रव्यासमवायिकारणजातीयः संयोग इति प्रमाणमञ्जरीकारः। घटजनकतदवयवनिष्टगुणत्वावान्तरजातीयः संयोग इति च मानमनोहरकारः"।

[3] "एतेनेदमपास्तं यदवादि वागीश्वरेण मानमनोहरे"।

[4] उदयनाचार्य की लक्षणावली के व्याख्याता शेष शार्ङ्गधर ने अपनी न्यायमुक्तावली नामकी व्याख्या में लिखा है—"वादीशस्तु साधनशब्दस्य कारणवाचित्वमभ्युपगम्य निर्विकल्पकजनकशरीरसंयोगाधिकरणत्वे सति योगजधर्माजन्यजन्यसाक्षात्काराविषयत्वे सति शरीरत्वानधिकरणमिन्द्रियमिति यथाश्रुतमेवैतद् व्याचक्षते।" यहाँ विद्वानों की सम्मति है कि लक्षणावली पर वादीन्द्र की भी कोई व्याख्या थी। उसी का उल्लेख वादीश के नाम से किया गया है।

मानमनोहर

(न्याय-वैशेषिक-ग्रन्थ है)

वादिवागीश्वर ही "मानमनोहर" ग्रन्थ के रचयिता हैं—यह निश्चय हो चुका है। अब देखना यह है कि मानमनोहर किस विषय का ग्रन्थ है ?

१—चि० पृ० ३४ पर नयनप्रसादिनीकार कहते हैं—"यदाह मानमनोहरकारः—"ज्ञानं प्रत्यक्षवेद्यं वस्तुत्वाद् घटवद्" इति।" अर्थात् मानमनोहरकार ने सिद्ध किया है कि ज्ञान प्रत्यक्षगम्य है।

२—पृ०—चि० पृ० ३७ पर प्रत्यक्स्वरूप भगवान् लिखते हैं—"इयमपि काचन रीतिस्तार्किकैरुररीकृतेति प्रदर्शनार्थम्। तथाहि—मानमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेणात्मप्रकरणे विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं कार्यत्वात्।"

३—चि० पृ० ३९ पर "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"—इस मूल की अवतरणिका में नयनप्रसादिनीकार कहते हैं—ननु मानमनोहरकारेण "स च ज्ञानाश्रयः न हि द्रष्टुर्दृष्टिरिति ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः समर्थितः" इससे नितान्त स्पष्ट है मानमनोहरकार आत्मा को ज्ञान का आश्रय मानते थे।

४—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"—आदि श्रुतियों में मानमनोहरकार ज्ञान का अर्थ करते हैं—"ज्ञानशब्दश्च ज्ञायतेऽस्मिन्नित्यधिकरणवचनः" (नयनप्र० पृ० ४३) अर्थात उक्त श्रुतियों में ज्ञान का अर्थ है—ज्ञानाधिकरण न तु ज्ञानस्वरूप, अतः ब्रह्म, ज्ञान का अधिकरण सिद्ध होता है, ज्ञानस्वरूप नहीं।

५—चि० पृ० २७९ पर नयनप्रसादिनी व्याख्या में लिखा है—"एतेनेदमपास्तं यदाह मानमनोहरकारः—"अनित्यः शब्दः इन्द्रियविशेषगुणत्वात्।" अर्थात् मानमनोहरकार के मत से शब्द अनित्य है; क्योंकि वह इन्द्रिय का विशेष गुण है।

६—मानमनोहरकार के मत से गुण का लक्षण है—"केवलनिमित्तकारणे वर्तमानापरजातीयत्वं वा समवाय्यसमवायिकारणतारहिते वर्तमानापरजातीयत्वं वेति" (नयनप्र०पृ०३०६)

७—मानमनोहरकार समवाय सम्बन्ध की सिद्धि कर रहे हैं—"विवादाध्यासितं नित्यसम्बन्धेन सम्बद्धं द्रव्यत्वाद् आकाशवत्" (नयनप्र० पृ० ३३९)।

८—विभाग का लक्षण मानमनोहर के शब्दों में सुनें—"संयोगसमानाश्रयत्वे सति संयोगनाशको विभागः" (नयनप्र० पृ० ४७४)।

९—शिवादित्य और मानमनोहर–दोनों ही परिमाण का लक्षण करते हैं—"द्वित्वासमवायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयम्।" (द्र० नयनप्र० पृ० ४९३)

उक्त उद्धरणों का क्रमशः सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि "निराकारा च नो बुद्धिः" का सिद्धान्त माननेवाले मीमांसक ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे कहेंगे ? यह तो नैयायिक और वैशेषिकों का काम है। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान की अधिकरणता, शब्द में नित्यता, गुण में निमित्तकारणता, समवाय सम्बन्ध की सिद्धि, विभागादि का लक्षण तथा शिवादित्यादि तार्किकों की[1] पंक्ति में पाठ–ये सब एकान्तरूप से सिद्ध करते हैं कि मानमनोहर न्यांय-वैशेषिक ग्रन्थ है। हो सकता है कि इसी नाम का कोई मीमांसा-ग्रन्थ

---

[1] श्रीवल्लभवादिवागीश्वरसर्वदेवानां सम्मतं लक्षणम् (नय० पृ० ३३३) शिवादित्यमनोहरयोरभिमतलक्षणं दूषयति।

भी हो जिसका उल्लेख ऑफ्रेख्ट महाशय की सूची में आया है। किन्तु चित्सुखाचार्य तथा नयनप्रसादिनीकार ने जिस मानमनोहर का उद्धरण दिया है, वह न्याय-वैशेषिक मत का ही प्रतीत होता है।

भूषणकार भासर्वज्ञ (९६० ई०)

समय—भासर्वज्ञ ने अपने "न्यायसार" तथा उसकी व्याख्या "न्यायभूषण" में दिङ्नाग (३४५-४२५ ई०), धर्मकीर्ति (६ शतक) तथा प्रमाणवार्तिकालङ्कारादि के रचयिता प्रज्ञाकर गुप्त (९४० ई०) का निराकरण किया है। "अपोहसिद्ध" के रचयिता रत्नकीर्ति (९८३ ई०) ने न्यायभूषण को अपने ग्रन्थ में उद्धृत[1] किया है, अतः आचार्य भासर्वज्ञ का समय दशमशतका का उत्तरार्ध निकलता है।

वास्तविक नाम—उपाधि अंश (सर्वज्ञ) को निकाल देने से नाम केवल 'भा' बच जाता है, जो कि संस्कृत ग्रन्थकारों का नाम सा नहीं लगता। दूसरी बात यह भी है कि भासर्वज्ञ परम शैव थे, भव के अनन्य भक्त थे, अतः पूरा नाम भाव सर्वज्ञ प्रतीत होता है। ऐसी ही सी० डी० दलाल महाशय की सम्मति है।

रचनाएँ—काश्मीरिक पण्डितों में भासर्वज्ञ का नितान्त उन्नत स्थान था। उनकी बहुत-सी कृतियाँ होंगी, किन्तु इस समय उनके दो ग्रन्थ मुद्रित हैं—(१) गणकारिका और (२) न्यायसार। (१) गणकारिका—लकुलीश पाशुपत-मत का मान्य ग्रन्थ है; इसमें कुल आठ श्लोक हैं। आचार्य की स्वोपज्ञ व्याख्या (रत्नटीका) के साथ यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरिज़ से १९२० ई० में प्रकाशित हुआ है।

(२) न्यायसार[2]—गौतम-न्याय का एक प्रख्यात-तम मौलिक ग्रन्थ है। इस पर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों की अठारह टीकाएँ[3] थीं। उनमें प्रधान स्थान न्यायभूषण टीका का है।

न्यायभूषण—यह न्याभूषण वही है, जिसका उल्लेख उदयनाचार्य की किरणावली[4], श्रीवल्लभ की न्यायलीलावती[5], चित्सुखाचार्य की तत्त्वप्रदीपिका तथा नयनप्रसादिनी आदि प्रबन्धों में हुआ है। भूषणकार के नाम से उद्धृत मौलिक सिद्धान्त, न्यायसार में पाये जाते हैं। जैसे—चि० पृ० ३६८ पर कहा है—"मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः" इति भूषणकारभाषितं लक्षणम्। यह लक्षण न्यायसार (पृ० २ पं० ८) में मिलता है। इसी प्रकार चि० पृ० ३६४ पर संशय-लक्षणों में "अनवधारणज्ञानं संशयः"—इस लक्षण का खण्डन कर देने पर प्रसादिनीकार वहीं (चि० पृ० ३६४ पर) न्यायभूषणकार के मुखकमल पर

---

[1] "यच्चात्र न्यायभूषणेन सूर्यादिग्रहणे तदुपकार्यंशेषवस्तुराशिग्रहणप्रसञ्जनमुक्तम्, तदभिप्रायानवगाहनफलम्। तथा हि—तन्मते धर्मधर्मिणोर्भेदः उपकारलक्षणैव च प्रत्यासत्तिः" (अपोहसिद्धि पृ० २)

[2] न्यायसार के तीन प्रकाशन इस समय उपलब्ध होते हैं—(१) जयसिंह सूरि की व्याख्या "तात्पर्यदीपिका" इसका सम्पादन सतीश्चन्द्र विद्याभूषण ने १९१० में किया है। (२) श्री महादेव पण्डित-रचित पदपञ्चिका व्याख्या के साथ और (३) म. म. वासुदेव अभ्यङ्कर तथा प्रो० देवधर की अंग्रेजी व्याख्या।

[3] जैन ग्रन्थकार गुणरत्न (१४०९ ई०) ने षड्दर्शनवृत्ति में लिखा है—"भासर्वज्ञप्रणीते न्यायसारेऽष्टादशटीकाः। तासु मुख्या टीका न्याभूषणाख्या।"

[4]. पृ० १६०

[5]. पृ० २८३

हिस-पात कर रहे हैं—"तथा चानवधारणज्ञानं संशयः" इति वदतो न्यायभूषणकारस्य वदनसरोरुहं व्याहतिहिमाहितम् ।" यह लक्षण भी न्यायसार (पृ० १) में मिलता है। नयनप्रसादिनी (पृ० ३९९) में कहा है—"सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्" इति भूषणप्रभृतयो बभाषिरे। यह लक्षण भी न्यायसार (पृ० १२) में मिलता है। अतः यह निश्चित है कि यहाँ के न्यायभूषणकार न्यायसार-प्रणेता भासर्वज्ञ ही हैं। फिर तो न्यायभूषण नाम की व्याख्या के रचयिता भी भासर्वज्ञ ही सिद्ध होते हैं। म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी ने जो किरणावली की (पृ० १६० पर) पाद टिप्पणी में लिखा है—"भूषणो न्याभूषणाख्यन्यायसूत्रवृत्तिकारस्तार्किकरक्षायामपि सुस्पष्टतया समुद्धृतोऽयम् ।" अर्थात् भूषण नाम है—न्यायसूत्रों के किसी वृत्तिकार का। उसका उल्लेख तार्किक रक्षा में बहुत स्पष्ट है। तार्किक रक्षा में भी निग्रहस्थान के प्रसङ्ग में भूषण का उल्लेख किया गया है। निग्रहस्थान का भी पूर्णतया निरूपण न्यायसार में उपलब्ध होता है। उसकी व्याख्या न्यायभूषण में तो अधिक ही होगा। मेरा यह आग्रह नहीं कि न्यायसूत्रों पर न्यायभूषण नाम की कोई वृत्ति नहीं थी। हो सकती है, किन्तु तत्त्वप्रदीपिकादि ग्रन्थों में उद्धृत न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ ही हैं और न्याभूषण, उन्हीं के न्यायसार की अपनी व्याख्या है।

प्रशस्तपाद (४५० ई०)

महर्षि कणाद ने योगाचार-विभूति से भगवान् शङ्कर को प्रसन्न किया। भगवान् शङ्कर ने उलूक के रूप में महर्षि कणाद को पदार्थ-तत्त्व का उपदेश दिया। महर्षि कणाद ने उस उपदेश को ३७० सूत्रों में लिख कर दश अध्यायों में विभाजित किया। वही शास्त्र आज औलूक्य दर्शन या वैशेषिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। सूत्रों का क्रम आचार्य प्रशस्तपाद को कम रुचा, अतः उन्होंने सूत्रार्थों को अपने क्रम से रखते हुए, एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा, जिसका नाम उन्होंने "पदार्थधर्मसंग्रह"[1] रखा। यही "पदार्थसंग्रह" आज वैशेषिक भाष्य या प्रशस्तपाद-भाष्य कहलाता है। इसमें भाष्यकार ने कुछ सूत्रानुक्त पदार्थों का भी निरूपण कर दिया है एवं सूत्रोक्त अभावादि प्रपञ्च को छोड़ भी दिया है। इस समय इसकी आठ टीकाएँ मिलती हैं—

(१) व्योमवती—परमशैव व्योम शिवाचार्य (९८० ई०) की व्याख्या (व्योमवती) सबमें प्राचीन मानी जाती है। व्योमशिवाचार्य वीरशैव सम्प्रदाय के प्रतीत होते हैं।

(२) किरणावली—इस व्याख्या के प्रणेता हैं उदयनाचार्य (९८४ ई०)। इनका परिचय आगे दिया जा रहा है।

चित्सुखाचार्य तथा प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने किरणावली को बहुशः उद्धृत किया है। वैशेषिक दर्शन के विषय में उदयदाचार्य का कहना है—

अतिविरसमसारं मानवार्ताविहीनं,
प्रविततबहुवेलं प्रक्रियाजालदुःस्थम् ।

---

[1] स्वयं प्रशस्तपाद आरम्भ में लिखते हैं—

प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः ।
प्रवक्ष्यते महोदयः पदार्थधर्मसंग्रहः ॥

उद्धिसममतन्त्रं · तन्त्रमेतद्वदन्ति,
प्रखलजड़धियो ये तेऽनुकम्प्यन्त एते ।।

अर्थात् जो नितान्त बुद्धि-शून्य प्राणी हैं, इस वैशेषिक शास्त्र को पाकादि विविध प्रक्रिया जाल-परिपूर्ण, प्रमाणादि·विचार-रहित, एक लम्बा चौड़ा नीरस महासागर मानने लगे हैं। उनपर अनुकम्पा करने के लिए किरणावली का निर्माण किया जाता है। वस्तुतः इतनी सरस प्रामाणिक तथा प्राञ्जल व्याख्या दूसरी नहीं। बुद्धिनिरूपण-पर्यन्त ही किरणावली लिखी मिलती है, अतः विद्वानों का कहना है कि उदयनाचार्य किरणावली की समाप्ति न कर सके और परलोकगामी हो गये।

(३) न्यायकन्दली—बङ्गदेश की प्रसिद्ध राढ़ा पुरी के दक्षिण किसी "भूरिसृष्टि" ग्राम के अधिवासी श्रीधराचार्य (९१३ शक या ९९१ ई० में) ने न्यायकन्दली की रचना की। तत्त्वप्रदीपिका में न्यायकन्दली का भी खण्डन किया गया है। न्यायकन्दली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने अन्धकार को भावरूप सिद्ध किया है। सूत्रकार से विरोध का परिहार करने के लिए कह दिया है कि—"भाभावे सति तमसः प्रतीतेर्भाभावस्तम इत्युक्तम्।" अर्थात् तेज का अभाव, तम का व्यञ्जक है, अतः तम को तेजोऽभाव कह दिया गया।

(४) लीलावती—श्रीवत्साचार्य (१०२५ ई०) की बनाई हुई। ये चार व्याख्याएँ प्राचीन हैं और शेष चार नवीन हैं, अर्थात् ये चित्सुखाचार्य के परवर्ती विद्वानों की रचनाएँ हैं—(५) सूक्ति—जगदीश तर्कालङ्कार (१५९० ई०) की, (६) सेतु—पद्मनाभ (१६ वें शतक-उत्तरार्ध) की, (७) भाष्यनिकष—कोलाचल मल्लिनाथ (१३५० ई०) तथा (८) कणादरहस्य—शङ्कर मिश्र (१४२५ ई०) की रचना है।

शिवादित्य मिश्र (९७५–१०२५ ई०)

शिवादित्य मिश्र, जिन्हें कुछ विद्वानों ने कुलार्क पण्डित से अभिन्न बताया है, एक ऐसे विशिष्ट प्राथमिक तार्किक थे, जिन्होंने न्याय और वैशेषिक को मिश्रित किया। उनके नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) सप्तपदार्थी, (२) लक्षणमाला तथा (३) हेतुखण्डन। इनमें केवल सप्तपदार्थी मुद्रित है। वैशेषिक सूत्रों के आधार पर इसकी रचना होने पर भी कहीं-कहीं सूत्रकार तथा भाष्यकार का उल्लंघन करके इसमें सिद्धान्त स्थिर किया गया है। जैसे—वैशेषिक सूत्रकार ने तीन तथा न्यायसूत्रकार ने पांच हेत्वाभास कहे हैं। किन्तु शिवादित्य मिश्र ने छह बताये हैं। भाष्यकार ने दश दिशाएँ कहीं हैं, किन्तु इन्होंने "रौद्री" नाम की एक ग्यारहवीं दिशा भी खोज निकाली है। इसी प्रकार न्यायसूत्रकार ने प्रथम सूत्र में अभाव पदार्थ की गणना नहीं की, किन्तु इन्होंने उद्देश्य कक्षा में रखा है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि इनकी लक्षणमाला के आधार पर उदयनाचार्य (९८४ई०) ने अपनी लक्षणावली का निर्माण किया है। अतः उदयनाचार्य से पूर्व दसवीं शताब्दी के मध्य में इनकी स्थिति थी। दूसरे विचारकों का मत है कि शिवादित्य मिश्र ने अपनी सप्तपदार्थी में उदयनाचार्य की किरणावली का पर्याप्त उपयोग किया है। जैसे (सप्त० पृ० ८४५) "निर्बाधकं सामान्यं जातिः"— यह जाति का लक्षण, किरणावली में (पृ० ३३ पर) कथित "व्यक्तेरभेदः"—आदि बाधकों को दृष्टि में रखकर ही किया है। इस प्रकार वे उदयनाचार्य के परवर्ती होते हैं। हाँ, खण्डनकार ने प्रमा-खण्डन के अवसर पर—"न तावत् तत्त्वानुभूतिः प्रमा"—इस प्रकार तत्त्वानुभूतित्व लक्षण का निराकरण किया है।

शङ्कर मिश्र ने उसकी व्याख्या में कहा है—न्यायाचार्यकृतलक्षणमालाग्रन्थे प्राथमिकं प्रमालक्षणं खण्डयति।" इसकी टिप्पणी करते हुए उदासीनवर पण्डित मोहनलालाजी लिखते हैं—न्यायाचार्यः=शिवादित्यमिश्रः। इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि शिवादित्य मिश्र, खण्डनकार श्रीहर्ष (११५०) से पूर्व हुए हैं। इनके लक्षणों का खण्डन चित्सुखाचार्य ने भी किया है।

उदयनाचार्य (९८४ ई०)

उदयनाचार्य का खण्डन करने के लिए ही खण्डन-खण्डखाद्यकार श्री हर्ष ने अवतार लिया था। जिस समय बौद्धों का भाग्य सूर्य शिखर पर था, उस समय मिथिला ने एक उद्भट नैयायिक उत्पन्न किया, इसने बौद्धों का प्रबल खण्डन तथा वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार किया। भविष्यपुराण-परिशिष्ट में भगवद्भक्त-माहात्म्य के ३० वें अध्याय में इनका पूर्ण परिचय, बौद्धों के साथ संघर्ष तथा जगन्नाथ मन्दिर का चमत्कार वर्णित है। मन्दिर के चारों द्वार बन्द हो जाने पर इसी बौद्ध-विजयी ब्राह्मण ने भगवान् को भी ललकारा था—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

दूसरे आचार्यों का स्थिति-काल जैसे अन्धकार के गर्भ में है, वैसा आचार्य का नहीं।। दयालु आचार्य ने अपनी लक्षणावली के निर्माण का (९०६ शब्द[1] या ९८४ ई०) समय देकर अपना तथा अपने समीप का इतिहास नितान्त भास्वरित कर दिया है।

इनके छह ग्रन्थ प्रसिद्ध है—(१) न्यायकुसुमाञ्जलि, (२) आत्मतत्त्वविवेक, (३) न्याय-तात्पर्य-परिशुद्धि, (४) किरणावली, (५) न्याय-परिशिष्ट और (६) लक्षणावली। ये सभी ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि तो सब ग्रन्थों का मुकुट है। इस पर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों की आठ टीकाएँ हैं, इसी से पता चलता है कि नैयायिकों के हृदय में इसका कितना सम्मान है। अन्तिम दो ग्रन्थों को छोड़कर शेष सभी की चर्चा तत्त्वप्रदीपिका तथा नयनप्रसादिनी में की गई है।

न्यायलीलावती

मिथिला ने ग्यारहवीं शताब्दी में एक ऐसे वैशेषिकाचार्य श्रीवल्लभ को जन्म दिया कि जिससे अद्वैत साम्राज्य को बहुत बड़ा भय खड़ा हो गया था। इनका न्यायलीलावती ग्रन्थ, नितान्त प्रौढ़ तथा प्रमेयबहुल है। इसका प्रचुर प्रचार देखकर श्रीचित्सुखाचार्य ने पूरी शक्ति से खण्डन किया है। सच तो यह है कि यदि तत्त्वप्रदीपिका से न्यायलीलावती का खण्डन भाग पृथक् कर दिया जाय, तब शेष भाग आनन्दबोध भट्टारक के न्यायमकरन्द की प्रतिलिपिमात्र रह जायगा। न्यायलीलावती की व्याख्या-सम्पत्ति बताती है कि कितना प्रचार उसका किसी समय था। इस पर सात प्राचीन टीकाएँ हैं—

(१) न्यायलीलावतीप्रकाश—गङ्गेश उपाध्याय के सुपुत्र वर्धमानोपाध्याय (१२५० ई०) की रचना है।

(२) न्यायलीलावतीविवेक—पक्षधर मिश्र (१२७५ ई०) की कृति है।

---

[1] तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

(३) न्यायलीलावतीकण्ठाभरण—इसके रचयिता हैं—शङ्कर मिश्र (१४५० ई०)

(४) न्यायलीलावतीवर्धमानेन्दु—अभिनव वाचस्पति (१४५० ई०) की बनाई हुई है।

(५) न्यायलीलावती-विभूति—इसके प्रणेता हैं—प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि (१५४७ ई०)

(६) न्यायलीलावती-रहस्य—इसके निर्माता श्री मथुरानाथ तर्कवागीश (१५८० ई०) हैं

(७) न्यायलीलावतीप्रकाश—रामकृष्ण भट्टाचार्य (१५७०-ई०) की रचना है।

न्याय-वैशेषिक के कथित ग्रन्थकारों के अतिरिक्त न्यायवार्तिककार उद्योतकर (६३५ ई०) एवं न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) आदि नितान्त प्रसिद्ध आचार्यों का उल्लेख तत्त्वप्रदीपिका में हुआ है। हाँ, एक वैशेषिकाचार्य सर्वदेव के मत का निराकरण भी नयनप्रसादिनीकार ने किया है। तार्किकचक्रचूड़ामणि सर्वदेव की प्रमाण-मञ्जरी निर्णयसागर (बम्बई) से १९३७ ई० में प्रकाशित हुई हैं। डबल क्राउन साइज़ के सोलह पृष्ठों में यह ग्रन्थ रत्न पूरा हो गया है। इसकी भूमिका में श्री म. रा. तैलङ्ग ने लिखा[1] है कि ग्रन्थकार के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह प्रत्यक्स्वरूप भगवान (१५ वीं शताब्दी) से पूर्व का है। किन्तु इतना ही नहीं सर्वदेव का अनुमानप्रयोग तत्त्वप्रदीपिका (पृ० ४५५) में भी उद्धृत है—"पृथिवीत्वं नित्यवृत्ति घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातिमत्वात् सत्तावत्।" इसकी पातनिका में नयनप्रसादिनीकार ने कहा है—"सर्वदेवीयमनुमानमाह—पृथिवीत्वमिति।" उक्त अनुमान प्रयोग सर्वदेव-प्रणीत प्रमाणमञ्जरी के पृ० १ पर मिलता है। अतः यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि तार्किकचक्रचूड़ामणि सर्वदेव का समय तत्त्वप्रदीपिकाकार (१३ श०) से भी पूर्व का है।

मीमांसकाचार्य

तत्त्वप्रदीपिका और नयनप्रसादिनी में पूर्वमीमांसा के आचार्यों में महर्षि जैमिनि, वृत्तिकार (उपवर्ष ५०० पूर्व० ई०), भाष्यकार (शबरस्वामी १०० पूर्व० ई०) तथा कुमारिल भट्ट (७६० ई०) का स्मरण बड़े ही आदर से किया गया है।

तौतातिक—कौमारिलों (कुमारिलानुयायियों) के लिए चित्सुखाचार्य ने (चि० पृ० ४०६ पर) तौतान्तिक और प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने (चि० पृ० ३६ पर) तौतातिक शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु तौतातिक या तौतातित शब्द और भी बहुत ग्रन्थों में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, तौतान्तिक नहीं। सर मॉनियर मॉनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष में सबसे पुराना प्रबोध चन्द्रोदय नाटक (अंक २ श्लोक ३[2]) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि "तुतात"—कुमारिल भट्ट का नाम था। निर्णयसागर-मुद्रित प्रबोधचन्द्रोदय में पाठान्तर दिया है—तौतातितम्। भवदेव-रचित "तौतातित-मततिलकम्"[3] की भूमिका में म० म० श्री चिन्नस्वामिशास्त्री लिखते हैं—"तुतातित इति

---

[1] प्रत्यग्रूपभगवतः समयस्तु खिस्ताब्दीयपञ्चदशशतकम् १५०० इति केचिदाधुनिका इतिहासज्ञाः। अतः प्रकृतग्रन्थकारः सर्वदेवः खिस्तवर्षीयपञ्चदशशतकात् प्राक्तन इत्येव वक्तुं शक्यते नाधिकम्।

[2] नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं तौतातिकं दर्शनम्,
तत्त्वज्ञानमहो न शारिकगिरां वाचस्पतेः का कथा।
सूक्तं नापि महोदधेरधिगतं माहाव्रती नेक्षिता,
सूक्ष्मा वस्तुविचारणा नृपशुभिः स्वस्थैः कथं स्थीयते॥

[3] गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस से १९३९ में प्रकाशित।

कुमारिलस्य नामान्तरमिति प्राचीना प्रथा।" प्रस्तुत शब्द की तह में पहुँच कर शाब्दिक एक मूल की कल्पना कर लिया करता है। वस्तुतत्त्व क्या है? अभी इसकी खोज करनी है। हाँ, कुमारिल-मत और उस मत के पोषकों के लिए तौतातिक और तौतातित दोनों शब्द प्रचलित हैं। सर्वदर्शन संग्रह[1] में भी तौतातित शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ तौतातित शब्दार्थ के लिए म० म० अभ्यङ्करोपाह्व वासुदेशशास्त्री अपनी (दर्शन० ३ पंक्ति ७५ के तौतातितैः शब्द की) व्याख्या में एक नया सुझाव उपस्थित कर रहे हैं—"तौतातितैः = बौद्धैः।" उस शब्द के अनन्तर दिये गये श्लोकों[2] में सर्वज्ञत्व का निराकरण देखकर वहाँ किसी को भी भ्रम हो सकता है कि वे श्लोक बौद्धों के हैं, अतः तौतातितैः का अर्थ बौद्धैः होगा। किन्तु वस्तुतः वे श्लोक कुमारिल भट्ट की श्लोकवार्तिक (चोदनासूत्र) के हैं, अतः तौतातितैः का कौमारिलैः ही अर्थ होता है। हाँ, वहाँ के कतिपय श्लोकों की आनुपूर्वी इस समय प्राप्त श्लोक वातिक से नहीं मिलती। कहना होगा कि या तो वे श्लोक बृहत् श्लोकवार्तिक के होंगे या ग्रन्थकार ने अर्थानुवाद किया है।

उम्बेक (भवभूति)

तत्त्वप्रदीपिकाकार ने (चि० पृ० ४२ पर) उम्बेक का उल्लेख किया है। नयनप्रसादिनीकार ने यह रहस्य उद्घाटित किया कि "भवभूतिरुम्वेकः" अर्थात् उत्तररामचरित आदि नाटकत्रयी के निर्माता महाकवि भवभूति और कुमारिल भट्ट के शिष्य उम्वेक—दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका में कहा है—

उम्बेकः क्रमारिकां वेत्ति चम्पूं वेत्ति प्रभाकरः।
मण्डनस्तूभयं वेत्ति नोभयं वेत्ति रैवणः॥

इससे प्रतीत होता है कि उम्बेक श्लोकवार्तिक के मर्मज्ञ थे। श्लोकवार्तिक पर इनकी व्याख्या (तात्पर्यटीका) है। उसमें कुमारिल भट्ट की भी कहीं-कहीं आलोचना कर गये हैं। मण्डन मिश्र के भावना विवेक पर भी इनकी एक व्याख्या[3] है। इनका तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित ने 'उवेयक' नाम दिया है। नयनप्रसादिनी की हस्तलिखित प्रतियों में 'उम्बक' पाठ भी मिलता है।

मद्रास युनिवर्सिटी से प्रकाशित (स्फोटनिरूपणपर्यन्त उम्बेक-व्याख्या-सहित) श्लोक वार्तिक की भूमिका में सी० कुन्हन राजा ने नौ समस्याओं पर काफी विचार किया है—

१—उम्बेक, मण्डन से अभिन्न हैं।
२—मण्डन, विश्वरूप से अभिन्न हैं।
३—विश्वरूप, सुरेश्वर से अभिन्न हैं।
४—उम्बेक, भवभूति से अभिन्न हैं।
५—उम्बेक, कुमारिल भट्ट के शिष्य हैं।
६—मण्डन, कुमारिल भट्ट के शिष्य हैं।

---

[1] तथा चोक्तं तौतातितैः (दर्शन ३ पंक्ति ७५), तदुक्तं तौतातितैः (दर्शन १३ पंक्ति १६४), तौतातितमतमवलम्ब्य (दर्शन १६ पंक्ति ५७८)

[2] सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत्॥ आदि।

[3] इस व्याख्या के साथ भावनाविवेक बनारस संस्कृत कालेज से प्रकाशित हुआ है।

७—सुरेश्वर, शंकराचार्य के शिष्य हैं।
८—प्रभाकर भी कुमारिल भट्ट के शिष्य हैं।
९—शालिकनाथ, प्रभाकर के शिष्य हैं।
किन्तु इनमें कुछ रहस्यों की खोज अभी अवशिष्ट है।

भट्ट शम्भु (?)

हमारे नयनप्रसादिनीकार ने हमारे सामने भट्ट शम्भु की एक नई समस्या खड़ी कर दी है। नयनप्रसादिनी (चि० पृ० १२१ पर) लिखा है—"यथा चैतत्तथा भट्टशम्भुना तत्तदभ्युक्तवचान्युदाहरता अस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः"—इत्यत्रोपपादितम्।" अर्थात् विज्ञानवाद और शून्यवाद के सूक्ष्म अन्तर पर भट्ट शम्भु ने उन-उन वादियों के वचन उद्धृत करके विशेष प्रकाश डाला है। भट्ट शम्भु ने यह कहाँ कहा है? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्यक्स्वरूप भगवान् देते हैं—"अस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिन इत्यत्र।" यह स्थल कुमारिल भट्ट की श्लोकवार्तिक[1] का है। सन्देह होता है कि क्या भट्ट शम्भु ने श्लोकवार्तिक पर कोई व्याख्या लिखी थी? यदि लिखी थी, तो ये भट्ट शम्भु कौन थे? कहाँ के थे? कब थे? आदि प्रश्न उठते हैं! ऑफ्रेख्टादि की सूची से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। भट्ट शम्भु पर टिप्पणी में मुझसे भयङ्कर भूल हो गई है। मैंने लिख दिया है कि भाट्टदीपिका के व्याख्याता शम्भु भट्ट। किन्तु भाट्टदीपिका के व्याख्याकार भट्ट शम्भु नहीं, शम्भुभट्ट हैं और प्रत्यक्स्वरूप भगवान् के बहुत परवर्ती हैं। प्रत्यक्स्वरूप भगवान् के भट्ट शम्भु की खोज अपेक्षित है।

पार्थसारथि मिश्र (९०० ई०)

पाथसारथि मिश्र का उल्लेख एक स्थान (चि० पृ० १७८) पर प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने किया है। भाट्ट पक्ष के और आचार्यों का तत्त्वप्रदीपिका में अधिक उल्लेख नहीं किया गया है।

प्राभाकर

प्राभाकर पक्ष में शालिकनाथ (७८० ई०) का बहुत अधिक उल्लेख स्वयं चित्सुखाचार्य ने किया है। स्थान-स्थान पर शालिकनाथ की प्रकरणपञ्चिका के वचन उद्धृत हैं। एक स्थान पर लिखा गया है—"शालिकायामुक्तम्"। शालिका का अर्थ विद्वानों ने किया है पञ्चिका[2]। प्रबोधचन्द्रोदय (द्वितीयाङ्क के तृतीय श्लोक) में "शारिकगिरा" पद आया है। उसकी वहाँ व्याख्या की गई है—"शारिका नाम गुरुकृतस्य निबन्धनविवरणाख्यस्य शाबरभाष्यटीकाद्वयस्यं पञ्चिकाद्वितयं ऋजुविमलादीपशिखाख्यं तद्गिराम्।" अर्थात् शाबर भाष्य पर प्रभाकर की दो व्याख्याएँ हैं—(१) "निबन्धन" और (२) "विवरण"। दोनों पर क्रमशः शालिकनाथ की दो व्याख्याएँ हैं—निबन्धन पर ऋजुविमला तथा

---

[1]
तत्रार्थशून्यं विज्ञानं योगाचाराः समाश्रिताः।
तस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः॥
(निरालम्बन० १४)

[2] इमं शालिका पञ्चिका स्यात् (द्र० मद्रास से १९३७ ई० में मुद्रित नयविवेक की भूमिका)

विवरण पर दीपशिखा। ऋजुविमला और दीपशिखा—दोनों का नाम है—शारिका या शालिका। प्रभाकर पक्ष के शालिकनाथ और भवनाथ—दो[1] ही प्रसिद्ध आचार्य हैं—

(१) शालिकनाथ मिश्र—गौड़ (बंगाल) देश के रहनेवाले थे। इनके दो व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं, जिनकी ऊपर चर्चा हो चुकी है, किन्तु वे पूरे अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। ऋजुविमला के साथ बृहती (निबन्धन) का थोड़ा-सा भाग प्रकाशित हुआ है। तीसरा महत्त्व का ग्रन्थ है—"प्रकरणपञ्चिका"। जैसा मौलिक, प्रमेयबहुल यह ग्रन्थरत्न है, वैसा इसका सम्पादन अभी नहीं हुआ है।

(२) भवनाथ—इन्होंने नयविवेक की अपनी असाधारण कृति से पुष्कल कीर्ति समुपार्जित की है। चित्सुखाचार्य ने (चि० पृ० १७२ पर) एक श्लोक उद्धृत किया है—

कृतितत्साध्यमध्यस्थो यागादिर्विषयो मतः।
कार्येऽसंघटिताकारे करणत्वेन सम्मतः॥

प्रत्यक्स्वरूप भगवान् का यह कहना है कि यह श्लोक भवनाथ का है। इसलिए भवनाथ का समय चित्सुखाचार्य (१३ शतक) से पूर्व ठहरता है। मुद्रित (तर्क पाद) नयविवेक की भूमिका में एस० के० रामनाथ शास्त्री लिखते हैं कि भवनाथ ने (नयवि० पृ० २७५ पर) वाचस्पति (८५० ई०) के मत का उल्लेख किया है और भवनाथ का उल्लेख शाब्दनिर्णय-व्याख्या न्यायदीपिका में आनन्दबोध भट्टारक (११ शतक) करते हैं। अतः उन दोनों के मध्य का (१०. शतक) समय भवनाथ का निश्चित होता है। सर्वदर्शनसंग्रह के परिशिष्ट में म. म. अभ्यङ्कर शास्त्री भवनाथ का समय १२६० ई० किस आधार पर लिखते हैं, ज्ञात नहीं।

मण्डन मिश्र (८ शतक)

तत्त्वप्रदीपिका और नयनप्रसादिनी में मण्डन मिश्र का मीमांसक तथा वेदान्ती—दोनों रूपों में स्मरण किया गया है। मीमांसा तथा वेदान्त के इतिहास में मण्डन मिश्र का स्थान भी बहुत ऊँचा है। मीमांसानिष्णात तथा वेदरहस्यवित् पदों से ये उद्धृत किये जाते हैं। इन्होंने पूर्वमीमांसा में तीन ग्रन्थ लिखे हैं—(१) मीमांसानुक्रमणिका[2] (२) भावनाविवेक[3] और विधिविवेक[4]। चौथा ग्रन्थ व्याकरण विषय का स्फोटसिद्धि[5]। पांचवाँ ग्रन्थ ख्याति-विचार पर विभ्रमविवेक[6]। छठा ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त में महत्वपूर्ण है—ब्रह्मसिद्धि[7]। ब्रह्मसिद्धि पर चित्सुखाचार्य ने भी व्याख्या[8] लिखी है, यह कहा जा चुका

---

[1] नाथद्वयात्तसारेऽस्मिन् शास्त्रे मम परिश्रमः।
शुक्तिश्रमायते सिन्धौ हरिणोद्धृतकौस्तुभे॥ (प्रभाकरविजय)

[2] डा० गंगानाथ झा-द्वारा सम्पादित, चौ० सं० सी० बनारस से प्रकाशित

[3] ग० सं० कालेज, सरस्वती भवन, बनारस से प्रकाशित

[4] वाचस्पति मिश्र-रचित न्यायकणिका के साथ तैलङ्ग राम शास्त्री-द्वारा सम्पादित लाजरस प्रेस, बनारस से प्रकाशित

[5] मद्रास युनिवर्सिटी से प्रकाशित

[6] मद्रास ओरिएण्टल सीरिज में प्रकाशित

[7] मद्रास ,, ,, प्रकाशित

[8] ग० ओरिएण्टल मै० लायब्रेरी मद्रास में इसकी मातृका मिली है

है। ब्रह्मसिद्धि पर आचार्य वाचस्पति मिश्र ने "तत्त्वसमीक्षा" नाम की व्याख्या लिखी है, जिसे स्वयं मिश्र जी ने अपनी भामती में उद्धृत किया है। इसकी अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) की लिखी व्याख्या भी है। इसकी हस्त-लिखित प्रति ग० सं० मै० लायब्रेरी, मद्रास में सुरक्षित है। चौथी व्याख्या शङ्खपाणि की है, जो कि मद्रास से प्रकाशित ब्रह्मसिद्धि के साथ मुद्रित है। मण्डन मिश्र यदि कुमारिल भट्ट के शिष्य हैं, तब इनका भी समय अष्टम शतक मानना होगा।

गौड़पादाचार्य (७ शतक[1])

भगवान् शङ्कराचार्य (८ शतक) के परम गुरु थे—आचार्य गौड़पाद। नयनप्रसादिनीकारने इनका सम्प्रदायवित्[2] पद से स्मरण किया है। यद्यपि मायावाद अनादिसिद्ध मत है, तथापि इस युग में उसके प्रथम आविर्भावक गौड़पाद ही माने जाते हैं।

ईश्वरकृष्ण की सांख्य कारिका पर भी एक गौड़पाद-रचित भाष्य है। इसी प्रकार नृसिंहउत्तरतापिनी उपनिषत् की व्याख्या, दुर्गासप्तशती की व्याख्या, सुभगोदय, श्रीविद्यारत्नसूत्र-आदि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ भी गौड़पादाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ यह निश्चय करना कठिन है कि इन सभी रचनाओं के रचयिता एक ही गौड़पाद हैं या विभिन्न। कुछ भी हो यहाँ हमारा तात्पर्य माण्डूक्य कारिका के निर्माता गौड़पादाचार्य से है। उन्हें ही नयनप्रसादिनीकार ने सम्प्रदायवित् कहा है। यह सम्प्रदायवित् शब्द भी बड़े महत्त्व का है। विद्वान् इस पर सोचेंगे

तत्त्वप्रदीपिका तथा नयनप्रसादिनी में शाङ्कर मतके आचार्यों में शङ्कराचार्य (८ श०) शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्य वार्तिककार सुरेश्वराचार्य, पञ्चपादीकार पद्मपादाचार्य का उल्लेख हुआ है, किन्तु बहुत कम। वाचस्पति मिश्र (९ श०) को खण्डन-मण्डन-दोनों पक्षों में रखा गया है। इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा (१० श०) का मत भी उद्धृत हुआ है। प्रकाशात्मयति (११ श०) के विवरण तथा शाब्दरत्न—दोनों ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। विचित्र तार्किक तथा महान् कवि श्रीहर्ष (१२ श०) तो चित्सुखाचार्य के परमादर्श हैं। शास्त्रार्थ के पूर्वाङ्ग खण्डन अंश में चित्सुखाचार्य ने इन्हीं की शैली से इन्हीं के रणक्षेत्र में विशेषतः संग्राम किया और सफलता प्राप्त की है। तत्त्वप्रदीपिका में खण्डनकाराः कह कर इनका स्मरण किया गया है, किन्तु प्रत्यक्स्वरूप भगवान् अपनी साहित्यिक तथा सरस भाषा में श्रीहर्षकवयः, श्रीहीरतनयाः—आदि शब्दों से इनका उल्लेख करते हैं। जिन धुरन्धर तार्किकों को श्रीहर्ष ने अपनी कसौटी पर कस कर खोटा ठहराया था, बाजार में उन्हीं का भाव गिराने के लिए चित्सुखाचार्य मैदान में उतरे थे-यह निश्चित है। परन्तु पूर्व के सेनानी में जो अपने पक्ष की स्थापना और सुरक्षा की एक बहुत बड़ी कमी थी, उसे भी चित्सुखाचार्य ने पूरा कर लिया था। शास्त्रार्थ के इस उत्तराङ्ग की पूर्ति में चित्सुखाचार्य

---

[1] द्र० ब्रह्मसिद्धि-भूमिका पृ० ५८। इसी प्रकार आगमशास्त्र (१९५० ई० में कलकत्ता से प्रकाशित) की भूमिका में भट्टाचार्य विधुशेखर लिखते हैं—"गौड़पादस्य कालः षष्ठाच्छकोत्तरशतकात् पूर्व इति नूनमयं निरुणद्धि परम्परागतं कालं शङ्करस्य तच्छिष्यपरम्परायाश्च। न चायमद्यापि सिद्धान्तितः केनापि निःसंशयम्।"

[2] चि० पृ० ५८८ पर व्याख्या में लिखा है—"तदाहुः सम्प्रदायविदः—

न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।"

ने जिस रणबाँकुरे को आदर्श बनाया, वह महापुरुष है—आनन्द बोध भट्टारक। इनका जीवन आज वेदान्तजगत् में उतना प्रकाश में नहीं, अतः इनके विषय में कुछ कहना अनिवार्य है—

आनन्दबोध भट्टारक (१२ शतक)

गुरुवर— इनके गुरुवर का नाम आत्मवास[1] था। यद्यपि इन्होंने अपनी प्रमाणमाला (चौखम्बासे प्रकाशित पृ० ४ पर) लिखा है—"एतदेवोक्तं गुरुभिः—

नान्यत्र कारणात् कार्यं न चेत्तत्र क तद्भवेत्।"

यह श्लोक इष्टसिद्धि (९।३६) में उपलब्ध होता है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा ही इनके गुरु थे। तथापि इस सामान्य लेख की अपेक्षा न्यायदीपिका के अन्त का विशेष लेख यह सिद्ध करता है कि इनके साक्षात् गुरु आत्मवास ही थे।

समय—आत्मबोधाचार्य ने अपनी न्यायदीपिका में भवनाथ (११ श०) का उल्लेख किया है और नैषधचरित के टीकाकार चण्डूपण्डित (१२८७ ई०) तथा चित्सुखाचार्य (१३ श०) के द्वारा स्वयं उद्धृत हुए हैं, अतः इनका समय बारहवीं शताब्दी का मध्य (११५० ई०) निश्चित होता है।

रचनाएँ—(१) न्यायदीपिका—प्रकाशात्मयति के शाब्दनिर्णय पर एक महत्त्व की व्याख्या है। यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है। इसकी हस्तलिखित प्रति ओरिएण्टल मैनिस्क्रिप्ट लायब्रेरी, मद्रास में सुरक्षित है।

(२) प्रमाणमाला—मोक्ष-स्वरूप का निरूपण इस छोटे-से निबन्ध में बड़ी सफलता से किया गया है। चौ० सं० सी० बनारस से इसका प्रकाशन हुआ है।

(३) न्यायदीपावली—प्रपञ्च-मिथ्यात्व का निरूपण अतिसंक्षिप्त शब्दों में कैसे होता है, यह इस निबन्ध में देखना चाहिए। यह भी चौ० सं० सी० से प्रकाशित हुआ है।

(४) न्यायमकरन्द—यह संग्रहात्मक एक छोटा-सा किन्तु बहुत व्युत्पादक ग्रन्थ है। स्वयं आनन्दबोध कहते हैं—

निबन्धपुष्पजालानि समालोड्य प्रयत्नतः।
सन्न्यायमकरन्दानां संग्रहः क्रियते मया॥

यह एक ही ग्रन्थ आनन्दबोध की कीर्ति स्थायी बनाये रखने में पर्याप्त है। तत्त्वप्रदीपिका की रचना में सबसे अधिक इस ग्रन्थ की सहायता ली गई है। न्यायमकरन्द पर चित्सुखाचार्य ने व्याख्या लिखी है। उस व्याख्या का महत्त्व का अंश भी तत्त्वप्रदीपिका के मूल में समाविष्ट कर लिया गया है। कहीं-कहीं आनन्दबोधाचार्य का समाधान नहीं रुचा है, उसका तत्त्वप्रदीपिका में खण्डन भी किया गया है। आनन्दबोध की लेखनशैली विशद और मनोरम है। उन्हें स्वयं अपने लेख पर पूरा विश्वास है, कहते हैं—

---

[1] न्यायदीपिका (प्रकाशात्मायति के शाब्दनिर्णय की व्याख्या) के अन्त में स्वयं आनन्दबोधाचार्य ने लिखा है—

नमो निखिलवेदान्तकमलाकरभानवे,
आत्मवासाभिधानाय गुरवे गुणवेश्मने।
दुस्तर्क — ध्वान्तपटलप्रपाटन — पटीयसी,
इयमानन्दबोधेन रचिता न्यायदीपिका॥

सेवन्तां मतिमन्तः सरस्वतीं चान्द्रकां विशदाम् ।
आनन्दबोधकृतिनः शमयन्तीमान्तरं तिमिरम् ॥
आनन्दबोधसुकवेः सूक्तिं के नाभिनन्दन्ति ।
नो चेदरुचिनिदानं मत्सरसंज्ञकं पित्तम् ॥

भीमसेन (१२—१३ शतक)

वैयाकरणों में भर्तृहरि का ब्रह्मवित्प्रकाण्ड पद से उल्लेख तो हुआ ही है, नयनप्रसादिनीकारने (पृ० ६०७ पद) लिख दिया है—इति भैमसेनिः स्मृतिः। डा० एस० के० वेलवलकर ने माधवीय धातुवृत्ति का उपष्टम्भक भीमसेन के धातु-पाठ को माना है। अतः भीमसेन का समय वेद-भाष्यकार सायण माधव (१३५० ई०) से पूर्व स्थिर होता है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री रॉयल एसियाटिक सोसायटी, बङ्गाल में भीमसेन-धातुपाठ (हस्तलेख) के विषय में लिखते हैं कि पाणिनीय सूत्रों में जो १९८४ धातुएँ उपलब्ध हैं, वे ही कुछ न्यूनाधिकरूप में भीमसेन के धातुपाठ में संगृहीत हैं। भीमसेन, मैत्रेयरक्षित की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। मैत्रेय का समय ११०० ई० माना जाता है। इसलिए भीमसेन का समय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी निश्चित होता है। वैयाकरणों में यह प्रसिद्धि है कि पाणिनीय की धातुओं का अर्थ-निर्देश भीमसेन ने किया है।

विचारणीय उद्धरण

१—न्यायरत्नदीपावली—नयनप्र० पृ० १० पर उद्धृत न्यायरत्नदीपावली सम्भवतः शाब्दनिर्णय की आनन्दबोध-प्रणीत व्याख्या न्यायदीपिका ही है। किन्तु उसके प्रकाशित होने या स्वयं देखने से पूर्व दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता।

२—न्यायकल्पतरु—नयनप्र० पृ० १२४ पर उल्लिखित न्यायकल्पतरु की शीतल छाया से अभीतक मैं वञ्चित ही हूँ।

३—न्यास—नयनप्र० पृ० ९५ पर उद्धृत न्यास यह ग्रन्थरत्न शाङ्कर मत का नहीं, रामानुजादि के मतका प्रतीत होता है।

४—बल वर्मा—नयनप्रसादिनीकार "सिंहो माणवकः" आदि गौण प्रयोगों के स्थान पर सर्वत्र "सिंहो बल वर्मा" प्रयोग करते हैं। क्या बल बर्मा कोई प्रसादिनीकार के समय के नरेश थे ? इस विषय में मैं पूर्णतया खोज न कर सका।

५—श्रीसुन्दर—नयनप्रसादिनीकार ने तृतीय परिच्छेद के आरम्भ में मंगल किया है—

किं त्रैलोक्यसरोवरस्य नचिरादुन्निद्रमेकाम्बुजं,
किं वा योगिमनः सरोरुहवनप्रोद्बोधको भानुमान् ।
किं वा संसृतिसूरतप्तजनतामोदे सुधादीधितिः,
देवोऽसौ विविधं विभावितवपुः श्रीसुन्दरः पातु वः ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यक्स्वरूप भगवान् के स्थान, ग्राम या शहर में श्रीसुन्दर (विष्णु) भगवान् का भव्य धवल मन्दिर है, जिस पर कवि हृदय ने सुन्दर-सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ की हैं। श्रीसुन्दर के मन्दिर की पुष्टि नयनप्रसादिनी (पृ० ४१८ पर) के इस लेख से भी होती है—"अस्ति हि मयूराधिकरणं श्रीसुन्दरदेवमन्दिरम्।" श्रीसुन्दरदेव मन्दिर का पता लग जाने से सहज में प्रत्यक्स्वरूप भगवान् की विहारभूमि का पता लग जायगा।

६—धातुसमीक्षा—चि० पृ० १०२ पर नयनप्रसादिनीकारने लिखा है—"अत एव धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम्—

शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तित:
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी तत: ॥"

इस लेख से प्रतीत होता है कि वाक्यपदीय के समान ही धातुसमीक्षा भी भर्तृहरि की कोई पद्यमयी रचना थी।

आभार

सर्वप्रथम स्थविरवरिष्ठ, सदाचारनिष्ठ, उदासीनप्रवर श्री स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज, शोरा कुआँ, बनारस की अपार उदारता का कृतज्ञ हूँ, जिनकी आर्थिक सहायता से ही यह पुस्तक प्रकाश में आ सकी। शुभ कार्यों में आपका अद्भुत साहस और असीम उत्साह सदैव से प्रशंसनीय रहा है। मुझपर तो आपकी विशेष कृपा रहती है। आपकी सत्प्रेरणा ने मुझे काशी का स्थायी निवासी बनाया—इतना ही नहीं, आपने एक सुन्दर वास-स्थान भी प्रदान किया है। इस वार्धक्य अवस्था में भी आप एक बलिष्ट युवक का दम रखते हैं। आपका बड़ा सहारा है। भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि आप-जैसे महापुरुषों की छत्रछाया सदैव हमारे सम्प्रदाय पर बनाये रखें।

पण्डितप्रवर स्वामी सच्चिदानन्द जी, केवलानन्दजी, अस्सी (बनारस) के पुस्तकालय से सटीक चित्सुखी की एक अत्यन्त शुद्ध प्रति (लगभग २०० वर्ष पूर्व की लिखी हुई) पंडित-प्रवर स्वामी सच्चिदानन्द जी (द्वितीय) की कृपा से प्राप्त हुई। इसी से पूरी पुस्तक की पाठ-शुद्धि की गई है। मैं श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी, तथा उस स्थान के महन्त श्री देवानन्द जी महाराज का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मिथिला के नवानीत्थ संस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष एवं हमारे इस विद्यालय के उद्भावक, अखिलशास्त्र-पारङ्गत, श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (गुजरांवाला, पञ्जाब) का मैं आभारी हूँ। आपने प्रूफ संशोधन तथा सत्परामर्श-प्रदान में मेरी बड़ी सहायता की है। हमारे इस विद्यालय के स्नातक व्याकरणाचार्य स्वामी द्वारिकादास जी कलानौरी ने पुस्तक एवं प्रूफ़ के संशोधन में मेरी पूरी सहायता की है। इसके लिए आपको अनन्त धन्यवाद हैं।

उदासीन संस्कृत विद्यालय
सी. के. ३६/५६, दुण्ढिराज, बनारस
२-४-१९५६

स्वामी योगीन्द्रानन्द

संक्षिप्तसङ्केतविवृत्तितालिका

सङ्केतः	विवरणम्	प्रकाशकः
आत्म० वि० आ० त० वि०	आत्मतत्त्वविवेकः	रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल
आत्म० वि० शां०	आत्मतत्त्वविवेकस्य शाङ्करी व्याख्या	” ”
अभि० सं०	अभिधम्मत्थसंगहो (पाली)	महाबो० सो० सारनाथ
इ० सि० इष्ट०	इष्टसिद्धिः	गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, बरोडा
ईशा०	ईशावास्योपनिषत्	आनन्दाश्रमः, पूना
ऋ०	ऋग्वेदः	पूना
ऋ० वि०	ऋजुविमला पञ्चिका	चौ० सं० सी० बनारस
कठो०	कठोपनिषत्	आनन्दाश्रमः
काव्यादर्श०	काव्यादर्शः	कमलमणि ग्रन्थमाला, काशी सं० १९८८
किर०	किरणावली व्याख्या	व्रजभूषण दास ऐण्ड कम्पनी, बनारस १८९७ ई०
कु०	न्यायकुसुमाञ्जलिः	विद्याविलास प्रेस, बनारस १९१२ ई०
खं० खण्डन०	खण्डनखण्डखाद्यम्	विद्यासागरीयुतं चौ० बनारस
चि०	चित्सुखी	इदमेव प्रकाशनम्
छां० उ० छान्दो०	छान्दोग्योपनिषत्	आनन्दाश्रमः
जा० द० उ०	जाबालदर्शनोपनिषत्	
जै० सू०	जैमिनीयसूत्रम्	
जै० सू० वृत्ति०	जैमिनीयसूत्रवृत्तिः (सुबोधिनी)	लाजरस ऐण्ड कम्पनी, बनारस
तं० वा०	तन्त्रवार्तिकम्	आनन्दाश्रमः १९३४
तत्त्व० तत्त्व सं०	तत्त्वसंग्रहः	गायकवाड़० बरोडा
तत्त्वोप०	तत्त्वोपप्लवसिंहः	” ”
ता० टी०	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	चौखम्बा, बनारस १९२५ ई०
ता० परि०	तात्पर्यपरिशुद्धिः	एसियाटिक सो० कलकत्ता १९११ ई०

सङ्केतः	विवरणम्	प्रकाशकः
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्	आनन्दाश्रमः
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता	" "
द्र०	द्रष्टव्यम्	
नयनप्र०	नयनप्रसादिनी व्याख्या	इदमेव संकरणम्
न० वि० नय० वि०	नयविवेकः	मद्रास युनिवर्सिटी १९३७ ई०
न्या० कु०	न्यायकुसुमाञ्जलिः	विद्याविलास प्रेस, बनारस
न्या० द०	न्यायदर्शनम्	
न्या० परि०	न्यायपरिशुद्धिः	चौखम्बा, बनारस १९२३
न्या० म०	न्यायमकरन्दः	चौखम्बा, बनारस, १९०१ ई०
न्या० म० चि०	न्यायमकरन्दस्य चित्सुखी व्याख्या	" " "
न्या० ली०	न्यायलीलावती	चौखम्बा, बनारस, १९३४ ई०
न्या० वा०	न्यायवार्तिकम्	विद्याविलास प्रेस, बनारस १९१५ ई०
न्या० वा० तात्पर्य	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	चौखम्बा बनारस, १९२५ ई०
न्या० सू०	न्यायसूत्रम्	
पा० सू०	पाणिनीयसूत्रम्	
पू० मी० द०	पूर्वमीमांसादर्शनम्	आनन्दाश्रमः
प्र० वा० प्रमा० वा०	प्रमाणवार्तिकम्	जायसवाल रि० इन्स्टीच्यूट, पटना १९५३ ई०
प्र० पं०	प्रकरणपञ्चिका	विद्याविलास प्रेस, बनारस १९०४ ई०
प्रश्नो०	प्रश्नोपदिषत्	आनन्दाश्रमः
बृ० उ० बृह०	बृहदारण्यकोपनिषत्	आनन्दाश्रमः
बृ० वा०	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिकम्	
ब्र० वै	ब्रह्मवैवर्तपुराणम्	
ब्र० सि०	ब्रह्मसिद्धिः	ग० ओ० मै० लायब्रेरी, मद्रास १९३७ ई०
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्रम्	निर्णयसागर बम्बई
गी० भ० गी०	भगवद्गीता	
भा०	भाष्यम्	

सङ्केतः	विवरणम्	प्रकाशकः
म० भा०	महाभारतम्	
म० वि०	महाविद्याविडम्बनम्	गायकवाड़, बड़ोदा
मनु०	मनुस्मृतिः	
महाना०	महानारायणोपनिषत्	
मुं० उ० मुण्ड उ०	मुण्डकोपनिषत्	आनन्दाश्रमः
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृतिः	
यो० भा०	योगसूत्रभाष्यम्	चौ० बनारस, १९११ ई०
यो० सू०	योगसूत्रम्	चौखम्बा, बनारस
रससार०	रससारः	गं० सं० लायब्रेरी, बनारस, १९२२ ई०
रश्मि०	रश्मिमाला	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० २०१०
लक्षणा०	लक्षणावली	व्रजभूषण दास ऐण्ड कम्पनी, बनारस १८९७
वादा०	वादावली	अडियार लायब्रेरी, मद्रास
वि०	पञ्चपादिकाविवरणम्	विजयनगरम्
वि० पु०	विष्णुपुराणम्	
वे० सू०	वेदान्तसूत्रम्	
वै० भा०	वैशेषिकभाष्यम्	चौखम्बा, बनारस,
वै० सू० उ०	वैशेषिकसूत्रोपस्कारः	” ”
व्यु० वा०	व्युत्पत्तिवादः	
श० प०	शतपथब्राह्मणम्	
शा० दी०	शास्त्रदीपिका	निर्णयसागरः
शा० भा०	शाबरभाष्यम्	आनन्दाश्रमः
शाङ्खा० उ०	शाङ्खायनोपनिषत्	
श्लो० वा०	श्लोकवार्तिकम्	चौखम्बा, बनारस, १८९९ ई०
श्वे० श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषत्	
सप्त०	सप्तपदार्थी	
सां० का०	सांख्यकारिका	चौखम्बा, बनारस
सां० तत्त्व०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	चौखम्बा, बनारस
सामान्यल०	सामान्यलक्षणा (जा०)	चौखम्बा, बनारस

विषयानुक्रमणिका

प्रथमपरिच्छेदे

मङ्गलाचरणम्	१
स्वप्रकाशत्वनिरूपणे पूर्वपक्षः	२
स्वप्रकाशत्वनिरूपणे उत्तर पक्षः	१६
स्वप्रकाशत्वानुमाने हेतुदोषनिरासः	२५
स्वप्रकाशत्वानुमाने विपक्षबाधकस्तर्कः	२९
स्वप्रकाशत्वानुमाने हेतुदोषनिरासः	३३
आत्मनः स्वप्रकाशत्वनिरूपणम्	३८
तमसो भावत्वे पूर्वपक्षः	४७
तमसो भावत्वे उत्तरपक्षः	४९
मिथ्यात्वनिरूपणे पूर्वपक्षः	५६
मिथ्यात्वनिरूपणे उत्तरपक्षः	६७
दृग्दृश्यसम्बन्धविधूननम्	७५
विषयविषयिभावप्रत्यादेशः	७६
अध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वोत्थापनन्	८१
अध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वनिरासः	८४
प्रपञ्चमिथ्यात्वे श्रुतिप्रमाणम्	८६
अनिर्वचनीयाविद्यानिरूपणे पूर्वपक्षः	९१
अनिर्वचनीयाविद्यानिरूपणे उत्तरपक्षः	९७
अख्यातिवादोत्थापनम्	१०३
अख्यातिवादनिरासः	१०६
भ्रमज्ञानसाधनम्	११३
असत्ख्यातिमतनिरासः	११९
आत्मख्यातिमतोत्थापनम्	१२७
आत्मख्यातिमतखण्डनम्	१२८
अनिर्वचनीयत्वनिरूपणे पूर्वपक्षः	१२९
अनिर्वचनीयत्वनिरूपणे उत्तरपक्षः	१३६
सिद्धार्थशक्तिग्रहनिरूपणे पूर्वपक्षः	१४७
सिद्धार्थशक्तिग्रहनिरूपणे उत्तरपक्षः	१५३
कार्यज्ञानस्य प्रवर्तकत्वोत्थापनम्	१६३
कार्यज्ञानस्य प्रवर्तकत्वनिराकरणम्	१६६
नियोगगमकभञ्जनम्	१६७
नियोज्यभञ्जनम्	१७५
नियोज्यस्य कृत्युद्देश्यत्वनिराकरणन्	१७६
यागादेः फलकरणत्वनिराकरणम्	१७८
धर्माधर्मादिवैषम्यानुपपत्तिः	१८३
सिद्धार्थबोधकत्वोपसंहारः	१८५
अखण्डार्थत्वनिरूपणे पूर्वपक्षः	१८६
अखण्डार्थनिरूपणे उत्तरपक्षः	१९२
प्रामाण्यवादे पूर्वपक्षः	२०२
प्रामाण्यवादे उत्तरपक्षः	२१५
अतिरिक्तशक्तिवादे पूर्वपक्षः	२२८
अतिरिक्तशक्तिवादे उत्तरपक्षः	२३६
अन्विताभिधानवादः	२५१
अभिहितान्वयवादः	२५७
वेदान्तानामपौरुषेयत्वे पूर्वपक्षः	२६७
वेदान्तानामपौरुषेयत्वे उत्तरपक्षः	२७३

द्वितीयपरिच्छेदे

भेदोज्जीवनम्	२८१
भेददम्भभञ्जनम्	२८५
द्रव्यलक्षणक्षारणम्	२९८
द्रव्यत्वे प्रमाणनिराकरणम्	३०३
गुणलक्षणप्रत्यादेशः	३०५
कर्मलक्षणप्रतिक्षेपणम्	३०९
कर्मलक्षणादिदूषणम्	३१३
जातिलक्षणादिखण्डनम्	३१८
विशेषलक्षणादिनिरासः	३२४
समवायलक्षणनिराकरणम्	३३०
समवायप्रमाणनिराकरणम्	३३७
विरुद्धधर्मसंसर्गाद्भेदसाधनम्	३४२
धर्मभेदनिरासः	३४६
क्षणिकत्वनिराक्रिया	३५३
प्रत्यक्षलक्षणनिराकरणम्	३५६
प्रमात्वव्यञ्जकनिरासः	३६२
संशयलक्षणापाकरणम्	३६४
विपर्ययलक्षणनिराकरणम्	३६८
स्मृतिलक्षणनिराकरणम्	३७१
प्रत्यक्षलक्षणान्तरनिराकरणम्	३७६

अनुमानलक्षणापाकरणम् ३७८
लिङ्गलक्षणनिराकरणम् ३८०
व्याप्तिलक्षणनिराकरणम् ३८०
व्याप्तिग्राहकनिरासः ३८८
पक्षधर्मत्वनिरुक्तिनिरासः ३९३
प्रतिज्ञालक्षणनिराकरणम् ३९७
हेतुलक्षणनिराकरणम् ३९८
उदाहरणलक्षणनिराकरणम् ३९९
पञ्चावयवप्रयोगायोगः ४०१
कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेऽन्तर्भावनम् ४०३
उपमानलक्षणनिराकरणम् ४०५
शब्दलक्षणनिराकरणम् ४१४
विशेषणनिरुक्तिखण्डनम् ४१७
पदलक्षणनिराकरणम् ४२०
शब्दप्रमेयनिरासः ४२३
शब्दवाच्यत्वनिरासः ४२५
शब्दार्थसम्बन्धनिरासः ४२७
अर्थापत्तिलक्षणनिरासः ४२९
अनुपलब्धिलक्षणनिरसनम् ४३४
अभावलक्षणनिराकरणम् ४३८
प्रागभावलक्षणनिराकरणम् ४४१
अन्योन्याभावलक्षणनिराकरणम् ४४४
अभावखण्डनम् ४४६
करणलक्षणनिराकरणम् ४४८
आरम्भवादोत्थापनम् ४५४
आरम्भवादविमर्दनम् ४६२
अवयविखण्डनम् ४६५
संयोगलक्षणनिरसनम् ४७०
विभागखण्डनम् ४७४
द्वित्वनिराकरणम् ४७९
जातिखण्डनम् ४८४
द्व्यणुकारम्भनिराकरणम् ४८९
परिमाणलक्षणनिराकरणम् ४९२
परिमाणप्रमाणनिराकरणम् ४९४
गुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनिरसनम् ४९६
कारणत्वनिर्वचननिरासः ४९९
कार्यलक्षणखण्डनम् ५०८
कालकवलीकरणम् ५१०
दिक्खण्डनम् ५१४
दिक्कालखण्डनम् ५१९
भेदाभेदनिराकरणम् ५२०
परिच्छेदार्थसंग्रहः ५२७

तृतीयपरिच्छेदे

शब्दस्यापरोक्षहेतुत्वे पूर्वपक्षः ५२८
शब्दस्यापरोक्षहेतुत्वे सिद्धान्तः ५३०
ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वे पूर्वपक्षः ५३५
ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वे सिद्धान्तः ४३७
समुच्चयवादनिराकरणम् ४३९
समुच्चयवादोज्जीवनम् ५४०
समुच्चयवादखण्डनम् ५४६

चतुर्थपरिच्छेदे

सौगतमुक्तिनिरासः ५५१
तार्किकमोक्षस्वरूपोपवर्णनम् ५५३
तार्किकसम्मतमोक्षप्रतिक्षेपः ५५९
आत्मनः सुखस्वरूपत्वप्रसाधनम् ५६५
सांख्यसम्मतमोक्षप्रत्याख्यानम् ५६८
अविद्याश्रयनिरूपणे पूर्वपक्षः ५७०
अविद्याश्रयनिरूपणे उत्तरपक्षः ५७८
एकजीववादसमर्थनम् ५८१
साक्षिप्रसाधनम् ५८७
नानाजीववादः ५९०
अविद्यानिवृत्तिस्वरूपनिरूपणे पूर्वपक्षः ५९८
अविद्यानिवृत्तिस्वरूपनिरूपणे उत्तरपक्षः ६०२
अविद्यालेशविमर्शः ६०४
अविद्याया विविधाकारत्वम् ६०६
जीवन्मुक्तिसाधनोपसंहारः ६०९
परिशिष्टम्–१ (श्लोकावलिः) ६११
परिशिष्टम्–२ (मूलोद्धृतग्रन्थादि)
परिशिष्टम्–३ (व्याख्योद्धृतग्रन्थादि)
परिशिष्टम्–४ (मूलोद्धरणवाक्यानि)
परिशिष्टम्–५ (व्याख्योद्धरणवाक्यानि)

ॐ

श्रीमच्चित्सुखाचार्यमुनिवरविरचिता

तत्त्वप्रदीपिका

प्रथमः परिच्छेदः ।

परमहंसप्रत्यग्रूपभगवत्प्रणीता

तत्त्वप्रदीपिका–व्याख्या

नयनप्रसादिनी

यन्नित्यं [१]निरवग्रहस्वमहिमाऽमेयस्वभावं महामायावेशवशाद्व्यवर्तत वियद्वाय्वग्न्यबुर्वीमुखैः ।
भावैस्तत्तदनन्तविभ्रममयैर्विध्वस्तभेदोद्भवं, [२]निर्धूतावधिबोधमोदजलधिं वन्दे महीयो महः ॥ १ ॥

[३]उन्निद्रशुभ्रसरसीरुहसंनिषण्णां निर्गच्छदच्छरुचिनिर्जितचन्द्रकान्तिम् ।
हारोज्ज्वलां लिपितनुं [४]स्फटिकाक्षकुम्भमुद्राक्षपुस्तककरां प्रणमामि वाणीम् ॥ २ ॥

[५]अविरलविगलितमदजलविलुलितमत्तालिमाल्यमनुलम्बः ।
सुविपुलकपोलफलको दलयतु लम्बोदरो दुरितम् ॥ ३ ॥

[६]यद्विद्याधवलैर्बिभर्ति विबुधैः सर्वा दिवापीन्दुमुन्मीलत्कैरवकोरकाकुलरुचिं विश्वंभरेयं भृता ।
घोराज्ञानदुरन्तपङ्कनिकरप्रोत्सारिविद्यानदीमूलं नौमि मुनीन्द्रमन्वहमहं विद्यागिरिं तं गुरुम् ॥ ४ ॥

तत्त्वप्रदीपिका–भाषानुवाद

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः ।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥
आचार्यरचितप्रोच्च—गिरिगह्वरगाहिनी ।
प्राग्भारे सैव भाषायां वहेत् स्वैरं सरस्वती ॥ २ ॥

---

१. निर्गतोऽवग्रहो (प्रतिबन्धः परिच्छेदो वा) यस्य स तथा । निरवग्रहः स्वमहिमा यस्य तत् निरवग्रहस्वमहिम (महः) २. निर्धूता (निवृत्ता) अवधिः (परिच्छेदो) ययोः तौ बोधमोदौ तयोर्जलधिं निरतिशयज्ञानानन्दरूपमित्यर्थः । ३. प्रफुल्लधवलकमलस्थितामित्यर्थः । ४. स्फटिकमाला–कुम्भमुद्रा–रुद्राक्ष–पुस्तककराम् । कुम्भमुद्रा = मध्यनिविष्टाङ्गुष्ठा मुष्टिः । ५. अविरलं (निरन्तरं) विगलितं (प्रस्रुतं) यन्मदरूपं जलं, तस्मिन् विलुलिता ये मत्तालयः, तेषां माल्यं (मालां) अनुलम्बते (धारयति) इति तथा । ६. येषां (गुरूणां) विद्यया धवलैः (यशस्विभिः) विबुधैः सर्वा (पूर्णा) इयं विश्वम्भरा (धरणी) भृता (सम्पूरिता) सती दिवा (दिवसेऽपि) इन्दुं बिभर्तीव । कथंभूतमिन्दुम् ? उन्मीलत्कैरवाणां (विकसत्कुमुदानां) कोरकेषु (कलिकासु) आकुला (व्याप्ता) रुचिः (दीप्तिः) यस्य, तं । तादृक्सौम्यशाप्यसोमविशिष्टेयं विश्वम्भरेति केचित् । अन्ये तु मामित्यध्याहृतेनेन्दुं सङ्गमयन्तः—'अन्ये शिष्याः कैरवाः अहं (ग्रन्थकृत्) चन्द्र' इति ध्वनिमाविष्कुर्वते ।

स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो,
यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मतः ।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः,
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः ॥ १ ॥

यत्पादपावनसरोजरजःपरागैरेते विनेयनिवहा विरजस्त्वमापुः ।
सत्यप्रकाशपरिशुद्धनिजानुभावं प्रत्यक्प्रकाशमभिनौमि गुरुं यतीन्द्रम् ॥ ५ ॥
उद्यद्विद्यासुरसरिदियं निःसृता यत्सकाशाद्,
यत्पादाब्जं [1]सकलविबुधोत्तंसलीलां बिभर्ति ।
हंसानां [2]यद्विमलबहुवाग्जीवनं जीवनं तं,
वन्दे विद्यागुरुमविरतं मानसं तीर्थमार्यम् ॥ ६ ॥
[3]अविनश्वररुचितत्त्वप्रदीपिकालोकनार्थिना क्रियते ।
अज्ञानतिमिरभेत्री मानसनयनप्रसादिनी टीका ॥ ७ ॥
दोषत्वमुज्ज्वलगुणा अपि यान्ति येषु तैरुन्नतैः किमथवेह तिरस्कृतैः किम् ।
दोषोऽपि येषु गुणतामुपयाति भूयांस्तेभ्यो नमोऽस्तु सततं भुवि सज्जनेभ्यः ॥ ८ ॥

प्रारिप्सितस्य प्रकरणस्य निरन्तरायपरिसमाप्तिपरिपन्थिदुरितपरम्परानिवारणाय शिष्योपशिष्यद्वारा प्रचयप्रचाराय शिष्टानुष्ठानप्रतिष्ठापनेन शिष्टपरिग्रहाय च प्रवरगुणगणोपवर्णनपूर्वकं परमेश्वरं परिपूजयन् आशीर्लक्षणमङ्गलमविगीतशिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिप्रमाणकमाचरितं शिष्यशिक्षार्थं ग्रन्थतो निबध्नाति—**स्तम्भाभ्यन्तरेति** । स हरिरज्ञानतत्कार्यहर्ता वः युष्मानव्याद्रक्षतात् । तस्यैव हरेर्विशेषणानि स्तम्भाभ्यन्तरेत्यादीनि । स्तम्भस्याभ्यन्तरं स्तम्भाभ्यन्तरं तत्र गर्भभावः स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावः । गर्भत्वं चेदमनभिव्यक्ततया वृत्तित्वं, नतु गृहान्तरावस्थितदेवदत्तवत्प्रकटतया । सर्वान्तरभावोऽनेन विवक्ष्यते [4]मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीनामितिवत् । तेन न पौनरुक्त्यम् । तेन निगदव्याख्यातं निगदमात्रेण व्याख्यातम्; उपायान्तरनिरपेक्षतया स्पष्टीकृतमिति यावत् । तद्वैभवं तस्य स्वरूपस्य, तत्तादृगनुपममिति वा वैभवं विभुत्वं येन, यस्येति वा । असौ स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवः । तदनेन सर्वगतत्वमुक्तं भवति । सर्वगतमपि नैयायिकादेरिव वस्तुतः परिच्छिन्नं स्यादिति तन्निवृत्तये सर्वात्मतामाह—**यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मत इति** । पञ्चाननसंबन्धि पाञ्चाननं पञ्चाननः सिंहः पञ्चसु दिक्ष्वाननमस्य विपरिवर्तत इति व्युत्पत्त्या विस्तृतास्यत्वाद्वा 'पचि विस्तार' इत्यस्मात्पञ्चशब्दव्युत्पत्तेः 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्य' इत्यमरसिंहोक्तेश्च । पञ्चजना मनुष्याः, 'स्युः पुमांसः पञ्चजना' इति तेनैवोक्तत्वात्, 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति समासाभिधानाच्च । तत्संबन्धि पाञ्चजन्यम् । पाञ्चाननं च तत्पाञ्चजन्यं चेति पाञ्चाननपाञ्चजन्यं तादृशं वपुः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुः नरसिंहात्मकमित्यर्थः । तेन वपुषा व्यादिष्टा

जिसने खम्भे के मध्य निवास कर अपनी व्यापकता, नरसिंह-शरीर-धारण कर अपनी विश्वरूपता सुव्यक्त कर दी, वह प्रह्लाद-वचन की सार्थकता में प्रत्यक्ष प्रमाणभूत, शारद चन्द्र-जैसे निर्मल कलेवरवाला, सिंह-गिरिभूषण भगवान् हरि आप सब की रक्षा करे ॥ १ ॥

---

१. अशेषविदुषां शिरोभूषणशोभां बिभर्ति । २. येषां विमलं बहुवाग्रूपं जीवनं (जलं) हंसानां (मुमुक्षूणां) जीवनम्, तं मानसं (मानसरोवरम्) इति सम्बन्धः । ३. अविनश्वरा रुचिर्यस्यां सा तथा, तस्याः अवलोकनार्थिना मया । अवलोकनार्थिनामित्यपि पाठस्तत्पक्षे तेषां मानसनयनप्रसादिनीति योजना । ४. मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीनामित्यत्र यथा पर्यायकल्पानां कुटीकोटरक्रोडपदानामन्तर्भावमात्रे तात्पर्यं, तथा प्रकृत आभ्यन्तर-गर्भभावपदयोरपीति न पौनरुक्त्यमिति भावः । मुकुलेति सूर्यशतकद्वितीयश्लोकांशः ।

ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्तिव्यासशंकरशब्दितम् ।
ज्ञानोत्तमाख्यं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥ २ ॥

विशेषेणोक्ता विश्वात्मता विश्वस्वरूपता येन, यस्येति वा स तथोक्तः । न च सर्वात्मकत्वकथनेनैव सर्वगतत्वसिद्धेर्वृथा पृथक्कथनमिति वाच्यं; अतत्परत्वात्, यदेतद्वादिश्रुत्यादिप्रसिद्धं सर्वगतत्वं, सर्वात्मकत्वं तन्नूनं मया प्रकटितमित्युत्प्रेक्षाया विवक्षितत्वात् । तदेवं सर्वगतत्वं सर्वात्मकत्वं चोक्त्वा परमकारुणिकस्य भक्तानुग्रहीतृतामाह—**प्रह्लादेति** । प्रह्लादेनाभिहितोऽर्थः प्रह्लादाभिहितार्थस्तस्मिंस्तत्क्षणं समसमयमेव मिलद्घटमानं दृष्टं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवत्साक्षात्कारसाधकत्वात्प्रमाणं यः स तथोक्तः । प्रमाणशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वात्प्रतिपिपादयिषिततया तत्पुरुषसमासतया स्वप्रधानत्वाच्च संगच्छत एव प्रमाणं हरिरिति सामानाधिकरण्यम् । सर्वात्मकस्य परमेश्वरस्य स्तम्भादिसर्ववस्तुगतत्वं हि प्रह्लादेन प्रत्यज्ञायि । तत्र चागमोऽनुमानं वा यत्तेन वक्तव्यं प्रमाणं तत्परोक्षमेवाहं तु साक्षात्कारयिष्यामीत्यभिमानेन स्तम्भोदरान्निरगादित्यर्थः । **शरदिन्दुसुन्दरतनुः** शरदिन्दुवत्सुन्दरा धवला तनुर्यस्य स तथोक्तः सिंहाद्रेश्चूडामणिः सिंहाद्रिचूडामणिः सिंहगिर्यलंकारः सिंहगिरिनिवासीत्यर्थः । य एवंविधः स हरिरित्यन्वयः । यद्यप्यत्र वैभवस्यार्थात्मकतया निगदव्याख्यातत्वं न संभवति तस्य ग्रन्थधर्मत्वात्तथापि समाधिप्रदर्शनार्थमयमन्यधर्मोऽन्यत्र निवेदितः । समाधिर्नाम काव्यविशेषस्य प्राणविशेषः । काव्यविशेषस्य हि दश प्राणाः कविभिः परिगणिताः; यथाहुः—

'[1]श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृता' इति । तथा—
'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥
कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च ॥' (काव्यादर्शः परि० १)

इत्यत्र हि नेत्रक्रियारूपयोर्निमीलनोन्मीलनयोः कुमुदकमलयोरनेत्रयोरध्यारोपणं समाधिस्तथेहापि ग्रन्थधर्मस्यार्थे निवेदनात्समाध्यलंकारो दर्शितो भवति । पाञ्चालीवैदर्भीरीत्योश्चाङ्गसैव वैषम्यात् । अस्य च वेदान्तशास्त्रप्रकरणत्वात्तद्विषयादिभिस्तद्वत्त्वमस्तीति दर्शयितुं लेशतस्तदपि सूचितम् । तथाहि—हरिरित्यनेनाज्ञानतत्कार्यहारित्वदर्शनान्निर्धूतोपाधिव्याधिपरिशुद्धं प्रत्यग्रूपं ब्रह्म प्रयोजनं सूचितम् । व्यादिष्टविश्वात्मतइत्यनेनारोपितमायतयाऽज्ञातं प्रत्यग्भूतं च ब्रह्म विषयो दर्शितः । प्रह्लादशब्देन तादृगधिकार्यशब्दसूचितोऽपि सूचितः । अर्थाच्च शास्त्रफलयोर्हेतुहेतुमद्भावरूपः शास्त्रतत्त्वज्ञानयोस्तत्त्वज्ञानफलयोश्च कार्यकारणभावरूपौ तत्फलज्ञानतत्त्वयोश्च विषयविषयिभावरूपः शास्त्रतत्त्वयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप इति पञ्चविधः संबन्धो दर्शित इत्यनेनैव प्रकरणारम्भोऽपि समर्थितः ॥ १ ॥

तदेवमाशीर्वादेन परदेवता पूजिता । गुरुपूजयापि भवितव्यम्—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

इति देवताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्यावगतावन्तरङ्गतावगमात्तदर्थं गुरुं नमस्करोति—**ज्योतिर्य-**

जो ज्योति दक्षिणामूर्ति (शङ्कर), व्यास, शङ्कराचार्य तथा ज्ञानोत्तमाचार्य (गुरुवर)—इन नामों से प्रख्यात हुई, उस सत्य, आनन्द-पदास्पद ज्योति की मैं वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

---

[1] श्लेषः (मसृणत्वम्, यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते यथा—अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मेति), प्रसादः (शैथिल्यं पदरचनायाः), समता (उपक्रमात्यागः) माधुर्यं (पृथक्पदत्वम् = समासदैर्घ्याभावः), सुकुमारता (अपरुषत्वम्), अर्थव्यक्तिः (झटित्यर्थप्रतिपत्तिनिदानत्वम्), उदारत्वं (लीलायमानत्वम्), ओजः (गाढबन्धत्वम्) कान्तिः (औज्ज्वल्यम्), समाधिः (अन्यधर्मस्यान्यत्र समारोपः)

विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्तध्वंसप्रगल्भवाचाला ।
क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका विदुषा ॥ ३ ॥
प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये ।
नमस्कुर्मो नृसिंहाय स्वप्रकाशचिदात्मने ॥ ४ ॥

अथ कोऽयं स्वप्रकाशशब्दार्थः ? किं (१) स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः ? (२) स्वस्य

दित्यादिना । सत्यानन्देति । सत्यानन्दपदाभ्यां प्रकाशितं, अथवा सत्यानन्दात्मकं यत्पदं पद्यते इति पदं तेनोदितं स्फुरितम् । इत्थंभावे तृतीया, अनेन च गुरुदेवतयोरैक्यमुक्तम् । वेदान्तवेद्यवस्तुस्वरूपप्रतिपादकवेदान्तापेक्षितन्यायसूत्रणाय व्यासपदवीमवाप । पुनस्तदर्थाविष्करणाय शंकराचार्यतां तद्भाष्यार्थविवरणाय च ज्ञानोत्तमतामुपागमदिति भावः ॥ २ ॥

यद्यपि शारीरकविषयादिनास्यापि परमविषयादिमत्त्वं सिद्ध्यति तथाप्यसाधारणान्यपराण्यपि वक्तव्यान्येव, अन्यथा पृथगारम्भवैयर्थ्यादित्यसाधारणान्याह—विप्रतिपत्तिव्रातेति । विप्रतिपत्तीनां व्रातः समूहस्तदेव ध्वान्तं तस्य ध्वंसे प्रगल्भा दृढतरन्यायोपेता वाचाला बहुभाषिणी "आलजाटचौ बहुभाषिणी"ति पाणिनिस्मरणात्, "स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाग्" इत्यभिधानाच्च । अनेनासंपूर्णोक्तिः परिहृता । प्रतीचो जीवस्य तत्त्वं पारमार्थिकं रूपं निरतिशयानन्दनिरस्तानर्थव्रातं ब्रह्म तस्य प्रदीपिकेव प्रदीपिका प्रकाशकत्वात् । एतदुक्तं भवति—यद्यपि शारीरिकादितत्तद्ग्रन्थैः प्रत्यक्तत्त्वप्रकाशने करणभूतवेदान्तानां विप्रतिपत्तिनिरसनरूपोपकरणेतिकर्तव्यताकृत्यमपि कृतं तथापि तत्तदभिनवविप्रतिपत्तिव्रातनिवारणे तदेवास्यापि प्रयोजनं भवति । विप्रतिपत्तितिरोहितं तु विषयः । तत्काम्यधिकारी । तथाविधश्च संबन्ध इत्यस्त्येवासाधारणमस्य विषयादि, अतएव चारम्भणीयमिति । केचिद्विप्रतिपत्तीत्यादिना अवान्तरप्रयोजनस्य निर्देशः प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकेति [1]प्रधानस्यैवेति वदन्ति ॥ ३ ॥

अनन्तरवर्तिष्यमाणवा[2]दार्थं नरसिंहनमस्कारच्छलेन दर्शयति—प्रमाणेति । प्रमाणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिता जीवब्रह्मैक्याकारा चित्प्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिवृत्तिस्तत्प्रतिबिम्बितं वा चैतन्यम् । वाक्यापेक्षया च बहुत्वम् । प्रमाणमयैर्नखैर्निर्भिन्नो महामोहाह्वयोऽमरारिरसुरो येन तस्मै । अथ किमिति तत्कर्मकानुभवाजनकत्वं प्रमाणानामिति तत्राह—स्वप्रकाशेति । स्वप्रकाशा चित्सैवात्मा यस्य । अथवा स्वप्रकाशश्चिद्रूपश्चासावात्मा चेति विग्रहः । एतेन स्वप्रकाशरूपेऽतिशयानाधायकत्वेऽपि मोहनिवृत्तिलक्षणातिशयाधायकतया वेदान्तानां स्वप्रकाशे ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रमाणकृत्यं चोपपादितं भवति । तदनेन संविदात्मनोः स्वप्रकाशत्वं प्रतिज्ञातं तदेतद्द्वयमुत्तरत्र यथाक्रमं समर्थयिष्यते ॥ ४ ॥

अथ कोऽयमिति । अथशब्दोऽयमानन्तर्यार्थे । विषयादिसिद्ध्यनन्तरमित्यर्थः । अधिकारार्थो वा । स्व[3]प्रकाशत्वस्य स्वयमनङ्गीकारादङ्गीकृतशब्दद्वारा विप्रतिपत्त्यधिकरणनिर्देशः कोऽयमिति । किंलक्षणक इत्यर्थः । स्वश्चेति । स्वत्वे सति प्रकाशत्वमित्यर्थः । घटादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै प्रकाशग्रहणम् । स्वस्येति । स्वविषयत्वे सति प्रकाशत्वं वेत्यर्थः । अर्थान्तरतानिवृत्त्यै प्रथमं विशेषणम् । शब्दशब्दा-

---

विद्वान् चित्सुखमुनि विविध विवादान्धकारों के छिन्न-भिन्न करने में नितान्त प्रौढ़ 'प्रत्यक्तत्वप्रकाशिका' (प्रत्यक् = जीवके तत्त्व = पारमार्थिक रूप की प्रकाशिका) पुस्तक की रचना करते हैं ॥ ३ ॥ प्रमाणरूपी नखों से महामोहरूपी असुर का संहार करने वाले, स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप भगवान् नरसिंह को नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

पूर्व पक्ष—यहाँ 'स्वप्रकाश' शब्द का अर्थ (स्वप्रकाशता) क्या है ? क्या (१)

---

१. परमानन्दाविर्भावात्मकस्य प्रधानफलस्येत्यर्थः । २. स्वप्रकाशवादार्थमित्यर्थः । ३. ननु किं स्वप्रकाशत्वम् ? इति प्रश्नं विहायान्यथा प्रश्नः कुत इत्यतआह—स्वप्रकाशत्वस्येति । आत्मनि स्वप्रकाशत्वं

स्वयमेव प्रकाश इति वा ? (३) सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं वा ? (४) स्वसत्तायां प्रकाश-व्यतिरेकविरहितत्वं वा ? (५) स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं वा ? (६) ज्ञानाविषयत्वं वा ? (७) ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्वं वा ? (८) व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं वा ? (९) स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा ? (१०) अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविपयत्वं वा ? (११) तद्योग्यत्वं वा ? नाद्यः; वेद्यस्यापि ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभ्युपगमात्। न द्वितीयः;

दावनतिव्याप्त्यै प्रकाशग्रहणम्। इदमिहोक्तं भवति स्वस्य स्वस्मिन्प्रकाशत्वविधानं, अर्थात्प्रकाशान्तर-व्यावृत्तिश्चेति। इदानीमुत्तरे विशेषं शङ्कते—**सजातीयेति**। अर्थान्तरतानिवृत्त्यै सजातीयग्रहणम्। एतच्च प्रदीपादेरपि स्वप्रकाशत्वं वाञ्छतो लक्षणम्। **स्वसत्तायामिति**। यावदस्य सत्ता तावत्प्रकाशेना-वियोगः। वेद्यत्वे हि निलीनताया अपि संभवात्प्रकाशव्यतिरेकोऽनवस्था वा स्यादित्यर्थः। **स्वव्यव-हारेति**। अविज्ञाते व्यवहारायोगादवश्यं ज्ञानेन स्वव्यवहारहेतुभूतेन भवितव्यम्। तद्रूपत्वम् च तस्य स्वप्रकाशत्वं विवक्षितमित्यर्थः। यद्यपि न पूर्वपूर्वपक्षदोषपरिजिहीर्षया सर्वत्रोत्तरोत्तरपक्षपरिग्रहस्तथापि संभाव्यमानत्वाद्विभिन्नदूषणत्वाच्च विनेयमतिविकासायोपन्यस्यन्ते। ज्ञानाविषयत्वं शशविषाणादेरप्यस्ति तच्छब्दजनितबुद्धेर्विकल्पमात्रतयार्थासंस्पर्शात्, यथाहुः पतञ्जलयः—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इतीत्यपरितोषात्पक्षान्तरं शङ्कते—**ज्ञानाविषयत्वे सतीति**। नच तृतीयषष्ठयोः संकरः; तथाभूतस्यापि प्रदीपस्य ज्ञानविषयत्वात्। अथ ब्रूयात्किमिदमपरोक्षत्वं ? किमपरोक्षज्ञानविषयत्वं ? किंवाऽपरोक्षज्ञानत्वम् ? नाद्यः; ज्ञानाविषयत्वज्ञानविषयत्वयोर्व्याघातात्। न द्वितीयः; सर्वस्यैव ज्ञानस्य स्वप्रकाशताश्रयणेन व्यर्थविशेषणत्वापातात्, अनपरोक्षज्ञानाभावाच्च। भवन्मते 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मे'ति श्रुतेः, वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य च ज्ञानत्वं नेष्यते भवतेत्यतः पक्षान्तरं शङ्कते—**व्यवहारेति**। अख्याति-वादिनां व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽप्यस्तीत्यतिव्याप्तिमालक्ष्य पक्षान्तरं कक्षीकरोति—**स्वप्रतिबद्धेति**। असंभवनिवृत्त्यै सजातीयग्रहणम्। ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्वं पूर्वमुक्तमिह तु तद्व्यवहारविषयत्वमिति न सप्तमदशमसंकरावसरः। मुक्तिदशायां व्यवहारानङ्गीकरणा-दव्याप्तिः स्यादत उक्तं **तद्योग्यत्वं वेति**। अथवार्थान्तरतानिवृत्त्यै द्वितीयोत्थानं, विरोधपरिहाराय तृतीयोत्थानं, घटादावतिव्याप्तिपरिहाराय चतुर्थः, सुखादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पञ्चमः, प्रदीपेऽतिव्याप्ति-परिहाराय षष्ठः, सप्तमाष्टमनवमेषु चोक्तमेव। प्रदीपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै दशमः, एकादशेऽप्युक्तमिति संभवत्येव सर्वत्र पूर्वपूर्वानुपपत्तिपरिहारायोत्तरोत्तरोपन्यासः। **वेद्यस्यापीति**। नहि तदस्वं नाप्यप्रकाशः

'स्वत्व–विशिष्ट प्रकाशता'? अथवा (२) स्वविषयकता-विशिष्ट प्रकाशता'? अथवा (३) 'सजातीय-(समान जातिवाले) प्रकाश से अप्रकाशितता'? अथवा (४) 'स्व-सत्ता में प्रकाश-नियतता'? अथवा (५) '-स्व-व्यवहार-हेतुता-विशिष्ट प्रकाशता'? अथवा (६) 'ज्ञानाविषयता'? अथवा (७) ज्ञाना-विषयता-विशिष्ट अपरोक्षता'? अथवा (८) 'व्यवहारविषयता-विशिष्ट ज्ञानाविषयता'? अथवा (९) 'स्व-सम्बन्धी व्यवहार में सजातीय पर (अन्य) की अनपेक्षता'? अथवा (१०) अ-वेद्यता-विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार-विषयता'? अथवा (११) अ-वेद्यता-विशिष्ट, अपरोक्ष व्यवहार-योग्यता'?

(१) प्रथम लक्षण (स्वत्व-विशिष्ट प्रकाशता) युक्त नहीं; क्योंकि वेद्य (अ-स्वप्रकाश) ज्ञान (वृत्ति) में भी स्वत्व तथा प्रकाशता मानी जाती है। अतः अलक्ष्य (अ-स्वप्रकाश ज्ञान) में जाने से यह लक्षण अतिव्याप्त है। (२) द्वितीय लक्षण (स्वविषयकता-विशिष्ट प्रकाशता) भी ठीक

वादिभ्यां नाभ्युपेतं स्वप्रकाशशब्दार्थस्तूपगत एवेति प्रसिद्धधर्मिका विप्रतिपत्तिरेवं लभ्यते इत्याशयः।

१. उत्तरपक्षा इतिशेषः।

कर्मकर्तृभावविरोधेन लक्षणस्यासंभवात्। न तृतीयः; प्रदीपादेः सजातीयप्रकाशाप्रकाशस्यास्वयंप्रकाशत्वेन लक्षणस्यातिव्याप्तेः; घटादेरपि सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यस्य स्वप्रकाशत्वप्रसङ्गाच्च। न हि प्रदीपादौ ज्ञाने वा घटत्वादिजातिरस्ति, येन घटादयः सजातीयप्रकाशप्रकाश्या भवेयुः। सत्तया सजातीयत्वं तत्राप्यस्तीति चेत्, न; विशेषणवैयर्थ्यात्सत्ताविरहिणः प्रकाशस्यैवासंभवात्प्रकाशाप्रकाश्यत्वमित्येतावतैव चरितार्थत्वात्। नापि

ज्ञानताङ्गीकारादित्यर्थः। कर्मकर्तृभावेति। यद्यपीयं स्वस्येति षष्ठी संबन्धमात्रेपि संभवति तथाप्यविवक्षितविशेषे व्यवहारायोगाद्विशेषस्य च [1]संनिहितप्रकाशनक्रियानुरोधेन कर्मणि व्यवस्थापनात्प्रसज्येतैव कर्मकर्तृभाव इत्यर्थः। प्रदीपादेरिति। नहि तदालोकान्तरेण प्रकाश्यते। यच्च ज्ञानं प्रकाशकं तद्विजातीयमित्यर्थः। नच प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशत्वादनतिव्याप्तिरिति शङ्कनीयं, भौतिकस्य स्वप्रकाशताव्याघातादिति। न, विशेषणवैयर्थ्यादिति। एवं हि विशेषणस्य सार्थक्यं यदि कयापि जात्या साजात्यहीनः कश्चित्प्रकाशः स्यात्। न चैवमस्ति; जातिमतः सर्वस्यापि अन्ततः सत्तया साजात्यादित्यर्थः। प्रकाशाव्यभिचारात्। साक्षिणेश्वरज्ञानेन वा मानसप्रत्यक्षेण वेत्यर्थः। घटादावपि

नहीं; क्योंकि कर्मकर्तृभाव-विरोध के कारण लक्षण ही असम्भव है। [भाव यह है कि जिस क्रिया का कर्तृभाव = कर्तृत्व जिस वस्तुमें रहता है, उस क्रिया का कर्मभाव = कर्मत्व उसी वस्तु में नहीं रहता। जैसेः—'देवदत्तो ग्रामं गच्छति'—यहाँ गमन क्रिया का कर्तृत्व देवदत्तमें और कर्मत्व ग्राम है। यदि कर्तृत्व, कर्मत्व—दोनों एकत्र हो जाँय, तो 'देवदत्तः स्वं गच्छति,—ऐसा भी प्रयोग होने लगेगा; किन्तु होता नहीं। अतः नैयायिकों ने कर्मत्व का लक्षण किया है—"परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वम्" (व्यु० वाद) अर्थात् कर्म वह है, 'जो अपने से भिन्न में रहनेवाली क्रिया से जन्य फल का आधार हो।' जैसेः—ग्राम, अपने से भिन्न देवदत्तमें रहनेवाली गमन क्रिया से जन्य उत्तरदेश-संयोग रूप फल का आधार होने से कर्म है। अब यदि कोई प्रकाश अपना ही प्रकाशक होगा, तो प्रकाश क्रिया का वही कर्ता और वही कर्म होगा। इस प्रकार दो विरोधी धर्मों (कर्तृत्व-कर्मत्व) का एकत्र होना मर्यादा-विरुद्ध है]

(३) तृतीय लक्षण (सजातीय प्रकाश से अप्रकाशितता) भी निर्दुष्ट नहीं; क्यों कि प्रदीप-आदि भी सजातीय प्रकाशसे प्रकाशित नहीं, और हैं अ-स्वप्रकाश (अलक्ष्य); अतः यह लक्षण उनमें अतिव्याप्त है। प्रदीप—आदि में ही नहीं, घट-आदि में भी अतिव्याप्त है—घट-आदि भी सजातीय प्रकाशसे प्रकाशित नहीं। फिर वे भी स्वप्रकाश हो जाँयगे। (घट के प्रकाशक) प्रदीप-आदि तथा ज्ञानमें कोई घटत्व जाति तो रहती नहीं, कि प्रदीप-आदि भी घटके सजातीय हो जाते और घट-आदि सजातीय प्रकाश से ही प्रकाशित हो जाते। 'सत्ता' जाति के द्वारा प्रदीप-आदि भी घट-आदि के सजातीय ही हैं; क्यों कि एक ही 'सत्ता' जाति दोनों में रहती है—यह शङ्का ठीक नहीं; क्योंकि इस प्रकार साजात्य बनाने पर 'सजातीय' विशेषण ही व्यर्थ हो जाता है। विजातीय प्रकाश को हटाने के लिए ही 'सजातीय' विशेषण लगाया गया है। किन्तु सत्ता जाति-शून्य (विजातीय) प्रकाश ही सम्भव नहीं, किसे हटाने के लिए यह विशेषण सार्थक होगा? फिर तो (व्यर्थ 'सजातीय' पद छोड़कर) प्रकाशाप्रकाश्यता (प्रकाश से अप्रकाशितता) इतना ही लक्षण शेष रह जाता है।

(४) चतुर्थ लक्षण (स्वसत्ता में प्रकाश-नियतता) भी समीचीन नहीं; क्योंकि सुख-आदि में अतिव्याप्त है। सुख-आदि भी अपनी सत्ता में प्रकाश-नियत ही हैं। [अर्थात् सुख-आदि की अज्ञात सत्ता नहीं होती। किसी को सुख हो और उसे उसका ज्ञान न हो—ऐसा कभी नहीं

---

१. क्रियावाचकपदसमभिव्याहारेणेत्यर्थः।

चतुर्थः; सुखादावतिव्याप्तेः सुखादेरपि स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारात्। न पञ्चमः; प्रदीपादावतिव्याप्तिः;प्रदीपादेरपि स्वव्यवहारे हेतुत्वात्प्रकाशत्वाच्च। अथ ज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं विवक्षितं, तदपि न; अनुव्यवसायेऽतिव्याप्तेः। तस्य वेद्यत्वेऽपि व्यवसायज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्वात्, प्रदीपज्ञानमिदमिति व्यवहारहेतौ प्रदीपप्रकाशेऽतिव्याप्तेश्च। किंच व्यवहारहेतुत्वं विशेषणम् ? उपलक्षणं वा ? नाद्यः; मुक्तिप्रलयादावव्याप्तेः। न द्वितीयः; उपलक्षितत्वस्यापि विशेषणत्वे प्रागुक्तदोषानुषङ्गात्, स्वरूपमात्रत्वे तु ज्ञानं प्रकाश इत्येव

तुल्यमेतत्। स्वव्यवहारे हेतुत्वादिति। व्यवहारो ह्येतद्विषयोऽभिज्ञाभिवदनं वा हानादिर्वा कर्मकारकप्रदीपजन्य इत्यर्थः। अथ ज्ञानेति। स्वव्यवहारेत्यत्र प्रस्तुतं ज्ञानमेव स्वशब्देनाभिधीयते न विषयमात्रम्। तद्व्यवहारहेतुत्वं च न दीपादेरस्ति, प्रदीपादेर्ज्ञानाप्रकाशत्वात्। अतो नातिव्याप्तिरिति भावः। अनुव्यवसायेतीश्वरज्ञानस्याप्युपलक्षणम्। अथानुव्यवसायज्ञानमेव स्वप्रकाशवादे न संप्रतिपन्नं, यत्रातिव्याप्तिरुच्येत संप्रतिपन्नत्वे वा तस्यापि व्यवसायवदेव पक्षतेति तत्राह—प्रदीपज्ञानमिति। विशिष्टवेदनस्य विशेषणालम्बनत्वनियमात् विषयजन्यत्वाच्च तज्ज्ञानस्य प्रदीपज्ञानमिदमित्यनुव्यवसायस्याभिज्ञारूपव्यवहारस्य स्वविषयज्ञानविशेषणीभूतप्रदीपजन्यत्वमस्तीति ज्ञानव्यवहारहेतौ प्रदीपेऽतिव्याप्तिः स्यादेवेत्यर्थः। अभिवदनं वा व्यवहारस्तस्यापि परम्परया व्यावर्तकप्रदीपजन्यत्वाद्व्यवहारहेतुत्वमिति। व्यवहारहेतुत्वमिति। स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमित्यत्र व्यवहारहेतुत्वं प्रकाशस्य विशेषणमुपलक्षणं वेत्यर्थः। उपलक्षितत्वमप्युपलक्षितं नाम तस्य धर्मः ? स्वरूपं वा ? आद्ये, तदप्युपलक्षणं ? विशेषणं वा ? नाद्यः, अनवस्थापातात्। द्वितीयं

हो सकता। अतः सुख–आदि की सत्ता सदैव ज्ञान-नियत होती हैं।]

(५) पञ्चम लक्षण (स्वव्यवहार–हेतुता–विशिष्ट प्रकाशता) भी समुचित नहीं; क्योंकि प्रदीप-आदि में अतिव्याप्त है–प्रदीप–आदि में भी अपने व्यवहार की हेतुता है और प्रकाशता भी है। यदि कहें कि ज्ञानरूप व्यवहार की हेतुता लक्षण-गत व्यवहार-हेतुता से विवक्षित है, तो वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि व्यवसायरूप ज्ञान-व्यवहार के हेतु अनुव्यवसाय में अतिव्याप्ति होगी। वह (अनुव्यवसाय) वेद्य (अस्वप्रकाश) है। फिर भी व्यवसाय रूप ज्ञानके व्यवहार का हेतु प्रकाश है ही। ‘यह प्रदीपका ज्ञान हैं’—इस प्रकारके व्यवहारके हेतु प्रदीप प्रकाश में भी अतिव्याप्ति होती है। और भी जिज्ञासा होती है कि व्यवहार-हेतुत्व–यह प्रकाश का विशेषण है ? अथवा उपलक्षण ? प्रथम (विशेषण) पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि मुक्ति तथा प्रलय–आदि अवस्थाओं में व्यवहार–हेतुत्वरूप विशेषण आत्मामें न रहने से अव्याप्ति होती है। द्वितीय (उपलक्षण) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि [उपलक्षणत्व धर्म के विषय में वही जिज्ञासा होगी कि वह विशेषण हैं ? या उपलक्षण ?] ‘उपलक्षणत्व’ को विशेषण मानने पर वही पहले का (मुक्ति तथा प्रलयकालीन आत्मा में अव्याप्ति) दोष प्राप्त होगा। (उपलक्षण पक्ष में अनवस्था दोष स्पष्ट ही है)। यदि ‘उपलक्षितत्व’ को उपलक्षित का विशेषण या उपलक्षण न मानकर स्वरूप मानें; तो “ज्ञानं प्रकाशः” (ज्ञान रूप प्रकाश) इतना ही लक्षण रह जाता है। फिर तो लक्षण ही सिद्ध न होगा (क्योंकि लक्ष्य भी वही है। लक्ष्य से अभिन्न लक्षण नहीं होता। घट का लक्षण ‘घट’—यह कैसे होगा ? और दूसरी बात यह है कि जड़ ज्ञान में भी ज्ञानत्व, प्रकाशत्व हैं ही। अतः उसमें “ज्ञानं

---

१. दृष्टिसृष्टरूपघटादावित्येके, स्वाप्नघटादावित्यन्ये; तत्रैव साक्षिप्रकाशाव्यभिचारात्। मानसोपनीते घटादावित्यपरे, तथैव मानसप्रत्यक्षाव्यभिचारात्। ईश्वरज्ञानाव्यभिचरितत्वपक्ष एवेदं तुल्यताभिधानमिति ऋजवः। २. वेदान्तशास्त्र इति भावः।

स्यात्, तथा सति न लक्षणसिद्धिः। नापि षष्ठः; स्वयंप्रकाशत्वसाधकानुमानागमादिजन्यज्ञानविषयत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वात्तस्याप्यविषयत्वे कथाप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि सप्तमः; अविषयत्वस्यैवासंभवेन निरस्तत्वाद्विषयत्वशब्देन कर्मत्वविवक्षायां गुरुमतानुसारिणामात्मन्यतिव्याप्तेश्च तस्य ग्राहकतया सिद्धस्याविषयत्वेऽप्यपरोक्षतायास्तैरङ्गीकारात्। नाप्यष्टमः; प्राचीनदोषानुषङ्गात्; शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽख्यातिवादिनामतिव्याप्तेश्च। तस्य व्यहारविषयत्वे-

निरस्य द्वितीयद्वितीयं शङ्कते—**स्वरूपमात्रत्वे त्विति**। **न लक्षणसिद्धिरिति**। लक्ष्यस्वरूपमात्रत्वात्तस्य, जडज्ञानवादिभिरपि[1] तावन्मात्राङ्गीकाराच्चेत्यर्थः। ज्ञानाविषयत्वे सतीत्यत्र यदिदं ज्ञानविषत्वं प्रतिषिध्यते तत्किं वेद्यत्वं[2]? ज्ञानकर्मत्वं वा? नाद्यः, तन्निषेधासंभवस्य दर्शितत्वादित्याह—**अविषयत्वस्येति**। द्वितीयं निषेधति—**विषयत्वेति**। प्राभाकराणां मते संविदाश्रयतया सिद्धस्यात्मनो ज्ञानाकर्मत्वेनापरोक्षतास्तीत्यङ्गीकारादतिव्याप्तिरित्यर्थः। ईश्वरवादिनां तज्ज्ञानाकर्मतयाऽपरोक्षे जगति भ्रमविषयसंसर्गे च वेदान्तिनां च साक्षिवेद्यसुखादावतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। **प्राचीनदोषानुषङ्गादिति**। व्यवहारविषयत्वस्य मुक्तिदशायामसंभवाज्ज्ञानाविषयत्वनिरासाच्चेत्यर्थः। अतिव्याप्तिं चाह—**शुक्तीति**। शुक्तिरूप्यसंसर्गस्य ज्ञानविषयत्वं तेषामनभिमतं तथा सत्ययथार्थज्ञानाङ्गीकारापातादिति भावः। साजात्यं किमत्यन्तं? यथाकथंचन वा? आद्ये, प्रदीपे प्रसक्तिरुक्ता, द्वितीयेऽप्यनपेक्षामात्रं घटादेरप्यस्ति। अपेक्षावत्त्वानधिकरणत्वविवक्षायामाह—

प्रकाशः”—इतने लक्षण की अव्याप्ति भी होती है)।

(६) षष्ठ लक्षण (ज्ञानाविषयत्व) भी सम्भव नहीं; क्योंकि स्वयं प्रकाशत्व-साधक अनुमान, आगम—आदि प्रमाणों से जन्य ज्ञान की विषयता ही (स्वयं प्रकाश ब्रह्म में) रहती है, अविषयता नहीं। अतः इस लक्षणमें असम्भव दोष है। यदि (ब्रह्ममें) प्रमाण-जन्य ज्ञान की विषयता न मानें, तो उस विषय पर कथा-प्रवृत्ति (विचार करना) ही सम्भव नहीं रह जाती।

(७) सप्तम लक्षण (ज्ञानाविषयता-विशिष्ट अप्रोक्षता) भी निर्दोष नहीं; क्योंकि ‘अविषयत्व’ का तो असम्भव के कारण निराकरण हो ही चुका है। ‘विषयता’ शब्द का अर्थ यदि ‘कर्मत्व’ करना चाहें; तो प्रभाकर-पन्थियों के आत्मा में अतिव्याप्ति भी है; क्योंकि वे आत्मा में ज्ञान की कर्मता नहीं मानते, फिर भी ज्ञान की आश्रयता रहने के कारण अपरोक्षता मानते हैं। (अतः ज्ञानाविषयत्व = ज्ञानाकर्मत्व-विशिष्ट अपरोक्षता उनके आत्मा में रह गई। किन्तु उनका आत्मा जड़ है, ज्ञानस्वरूप नहीं फिर तो लक्ष्य स्वयं प्रकाश होगा ही कैसे? अलक्ष्य ही है। उसमें लक्षण जाता है।)

(८) अष्टम लक्षण (व्यवहार-विषयता-विशिष्ट ज्ञानाविषयता) भी समुचित नहीं; क्योंकि इसमें वही पूर्व के दोष (मोक्षादि-कालीन आत्मा में अव्याप्ति तथा ज्ञानाविषयता का असम्भव) हैं। अख्याति—वादी (प्रभाकर) के मतसे शुक्ति-रजतादि-संसर्ग में अतिव्याप्ति भी है; क्योंकि उस (शुक्ति-रजतादि-ससंर्ग) में व्यवहार—विषयता होने पर भी प्रभाकर ज्ञानविषयता नहीं मानते। [आशय यह है कि प्रभाकर के मतमें शुक्ति सामने है और रजत सामने नहीं, अपितु दूकान पर है। शुक्ति और रजत का सम्बन्ध असत् है = है ही नहीं। अब यदि “इदं रजतं”—यह ज्ञान उस ससंर्ग को विषय करे, तब यह ज्ञान असत्-विषयक या मिथ्या कहा जायगा। किन्तु प्रभाकर मिथ्या ज्ञान मानते ही नहीं। अतः वे कहते हैं कि “इदं रजतं”—इस ज्ञान का विषय शुक्ति रजतसंसर्ग नहीं है।]

---

१. तार्किकैरित्यर्थः। ज्ञानवान् आत्मा चेतनस्तद्भिन्नं सर्वं ज्ञानादि जडमिति हि तेषां दर्शनम्।

२. परोक्षज्ञानविषयत्वम्।

ऽपि तैर्ज्ञानविषयतानङ्गीकारात् । नापि नवमः; स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वस्य प्रदीपादौ घटादौ च भावेनातिव्याप्तेः । सत्तया सजातीयत्वविवक्षायां तु त[1]द्व्यवहारस्यापि सत्तया सजातीयादृष्टादिजन्यतया तदपेक्षत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात् । नापि दशमः; अवेद्यत्वेऽनुमानाद्यगोचरतया कथानवतारप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात्; अपरोक्षव्यवहारविषयत्वमिति[2] शब्देन प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् तद्विपरीतावेद्यत्वाभिधाने मे माता वन्ध्येतिवद्व्याघाताच्च सुषुप्तिप्रलयमोक्षेष्वव्याप्तेश्च तदा व्यवहारस्यैवासंभवेन तद्विषयताभावात् । नाप्येकादशः; उक्तव्यवहारयोग्यताया धर्मत्वे मोक्षदशायामव्याप्तेरद्वैतवादिनामपसिद्धान्तापातात्, स्वरूपत्वे च ज्ञानस्वभावस्यात्मनो व्यं[3]वहारनिरूपणीयत्वात्सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गात् । तदेवं न स्वप्रकाशलक्षणं पश्यामः ।

सत्तयेति । अदृष्टादेः सर्वोत्पत्तिमन्निमित्ततया सत्तावत्तया च तज्जन्यव्यवहारस्य सजातीयपरसापेक्षतया लक्षणासंभवादित्यर्थः । पूर्वोक्तव्यर्थविशेषणत्वमपि द्रष्टव्यम् । अपरोक्षेति । अपरोक्षज्ञानमन्यपरोक्षव्यवहारो भवत्येवाभिज्ञारूपत्वात्ततश्च व्याघात इत्यर्थः । अभिवदनविवक्षायां तु तस्य स्वविषयज्ञानप्रयोज्यत्वाद्व्याघातः ।

---

(९) नवम लक्षण (स्व-सम्बन्धी व्यवहार में सजातीय अन्य की अनपेक्षता) भी युक्त नहीं, क्योंकि सजातीय पर की अपेक्षा प्रदीप–आदि और घट–आदि में भी नहीं। अतः उनमें अतिव्याप्ति है । यदि कहा जाय कि प्रदीप आदि को स्व-विषयक व्यवहार में ज्ञान–आदि की अपेक्षा है और ज्ञान–आदि प्रदीप–आदि के सजातीय भी हैं, क्यों कि एक ही सत्ता जाति दोनों में रहती है । तब तो यह लक्षण असम्भव ही हो जायगा; क्यों कि जन्यमात्र में अदृष्ट-आदि निमित्त हैं । स्वयं प्रकाश आत्मा को भी अपने व्यवहार में अदृष्ट–आदि की अपेक्षा है और वे (अदृष्ट–आदि) सत्ता के द्वारा सजातीय हैं ।

(१०) दशम लक्षण (अवेद्यता–विशिष्ट–अपरोक्ष–व्यवहार–विषयता) भी संगत नहीं; क्यों कि स्वयंप्रकाश वस्तु के अवेद्य होने पर उसके विषयमें विचार-विनिमय की असंभावना दिखाई जा चुकी है । दूसरी बात यह है कि 'अपरोक्ष-व्यवहार-विषयता'—इस शब्द से नितान्त स्पष्ट कह दिया गया कि स्वयंप्रकाश आत्मा में अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान की विषयता है । अब उसके विपरीत अ-वेद्यत्व (विषयताभाव) कहना उतना ही विरुद्ध है, जितना कि "मेरी माता बन्ध्या है"—ऐसा कहना । सुषुप्ति, प्रलय और मोक्ष-कालीन आत्मा में इस लक्षण की अव्याप्ति भी है; क्योंकि वहाँ (सुषुप्ति–आदि अवस्थाओं में) कोई व्यवहार ही सम्भव नहीं, अतः उसकी विषयता का अभाव होता ही है ।

(११) एकादश लक्षण (अ-वेद्यता-विशिष्ट अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता) भी समीचीन नहीं; क्योंकि (उक्त योग्यता स्वयंप्रकाश का धर्म है ? अथवा स्वरुप ?) यदि उक्त योग्यता स्वयं–प्रकाश का धर्म है; तब तो मोक्ष-दशामें अव्याप्ति होगी, क्योंकि उस दशामें आत्मा में कोई धर्म नहीं माना जाता । यदि कोई धर्म माना जायगा, तो अद्वैतवादियों के लिए यह अपसिद्धान्त होगा; क्योंकि अद्वैत-वाद में किसी प्रकार का धर्म आत्मवस्तु में वास्तविक नहीं माना जाता । यदि उक्त योग्यता को स्वयंप्रकाश का स्वरूप मानें, तब ज्ञानस्वरूप आत्मा में भी व्यवहार-निरूपणीयता आ जाने से ह्रस्वत्व–आदि की भांति नित्य सापेक्षता आजायगी । इस प्रकार स्वयंप्रकाश-लक्षण बनता नहीं दिखाई देता ।

---

[1] ज्ञानविषयकव्यवहारस्येत्यर्थः ।

[2] इत्याकारकशब्दाभिन्ना या कण्ठद्वारा निःसृतोक्तिस्तद्विषयत्वादित्ययंः ।

[3] व्यवहारनिष्ठनिरूपकतानिरूपितनिरूप्यतावत्वादित्यर्थः ।

नापि प्रमाणम् । अथानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशोऽनुभूतित्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानं प्रमाणम् । नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः; अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशः परेषामपि हि प्रसिद्धस्ततोऽनुभूतेस्तत्स्वरूपत्वप्रतिज्ञोपपद्यते । न चानुव्यवसायज्ञाने साध्यस्य सिद्धत्वाद्भागे सिद्धसाधनता; तत्स्वरूपस्यैवासंमतत्वेन तस्य धर्मिभागतानङ्गीकारादिति चेत्, मैवम्; अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूतः प्रकाशो यत्र सिद्धस्तत्र हेतोर्वृत्तौ, केवल-

---

ननु प्रमाणबलात्स्वप्रकाशत्वे सिद्धे तदनुगुणं यत्किंचिल्लक्षणमपि भविष्यति यतो लक्षणमपि प्रमाणान्तरसिद्धस्येतरेभ्यो व्यावर्तकं व्यवहारहेतुर्वा भवेदित्यत आह—**नापि प्रमाणमिति** । न्यायरत्नदीपावलीकृतमनुमानमुपन्यस्यति—**अथानुभूतिरित्यादिना** । प्रकाशत्वस्य यत्किंचिद्व्यवहारहेतुत्वस्य च परैरप्यङ्गीकारात्सिद्धसाधनता स्यादित्यनुभूतिग्रहणम् । नचाप्रसिद्धविशेषणता; अनुभूतिव्यवहारस्योभयसिद्धतया तद्धेतुभूतप्रकाशस्यापि संमतत्वात्केवलं व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्विप्रतिपत्तेः, तथाचानुभूतिव्यवहारहेतुत्वाप्रसिद्धिरलंकार एव । वह्निमत्त्वादीनामपि महीधरादिसंबन्धस्यानुमानगम्यत्वादितरथा सिद्धसाधनतापातादिति—तदिदमाह—**नचाप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्यादिना** । तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । अयमभिसंधिः—न तावदनुभूतिव्यवहारहेतुरविवक्षितस्थलविशेषः प्रकाशः सिद्ध्यतीति शक्याङ्गीकारं; नह्यस्ति संभवः, संप्रतिपन्नमुभयोः क्वेति न ज्ञायत इति । कस्य चायमविवक्षितस्थलविशेषः सिद्ध्यतीति विवेचनीयम् ? न तावत्त्वत्पक्षे, तस्य संविद्रूपतया निर्णीतत्वादपरथा परं प्रति प्रसाधनायोगात् । यदाह 'निश्चितौ हि वादं कुरुत' इति । नापि परस्य; तस्याप्यनुव्यवसायेन निर्णीतत्वात् । अतएव नोभयोः । तस्मादविवक्षितस्थलविशेषः सिद्ध्यतीत्यस्य न कंचनार्थं पश्यामः । न च केवलव्यतिरेकिण्यप्रसिद्धविशेषणता नाम न दूषणमिति मन्तव्यं, तथा सति वसुधा शशविषाणोल्लिखिता वसुधात्वादित्यादिना शशविषाणादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । अथ तत्र प्रमाणान्तरबाध्यतया दुष्टता नाप्रसिद्धविशेषणतयेति ब्रूषे, तन्न; बाधकासिद्धेः । नहि शशविषाणादीनामभावावेदकं प्रमाणमस्ति । तस्य प्रमाणान्तरयोग्यताऽयोग्यतयोरभावासिद्धेः । अथ नियमेन

स्वप्रकाशत्व में प्रमाण भी कोई नहीं है । शङ्का—"अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वाद् यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः" [अनुभूति अनुभूति-व्यवहार का हेतुभूत प्रकाश है, क्यों कि अनुभूतित्व-युक्त है, जो वैसा (अनुभूतिव्यवहार का हेतु प्रकाश) नहीं होता, वह ऐसा (अनुभूतित्व-युक्त) नहीं होता जैसे घट]—यह अनुमान प्रमाण हो सकता है । इस अनुमान में अप्रसिद्धविशेषणता (पक्षके साध्य रूप विशेषण की अप्रसिद्धि) दोष है—यह सन्देह नहीं किया जा सकता; क्योंकि अनुभूति-व्यवहार का हेतुभूत प्रकाशत्व दूसरों के मत में भी प्रसिद्ध है । अतः अनुभूति में तत्स्वरूपत्व (अनुभूति-व्यवहार–हेतु प्रकाशत्व) की प्रतिज्ञा युक्त ही है । अनुव्यवसाय ज्ञान में साध्य निश्चित होने के कारण अनुभूति के उस (अनुव्यवसाय) भाग में सिद्धसाधनता दोष है–ऐसा भी सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि वेदान्त-मत में अनुव्यवसाय माना नहीं जाता, तब वह (अनुव्यवसाय) धर्मी (पक्ष) का एकदेश कैसे बनेगा ?

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं; क्योंकि अनुभूति-व्यवहार-हेतुभूत प्रकाशत्वरूप साध्य जहाँ (ज्ञान में) प्रसिद्ध (निश्चित) है, वहाँ यदि हेतु रहता है; तब केवलव्यतिरेकिता भङ्ग हो जाती है । [आशय यह है कि "अनुभूतिः अनुभूतिहेतुप्रकाशः"—यह अनुमान केवल व्यतिरेकी मानकर प्रयुक्त हुआ है । केवलव्यतिरेकी वही अनुमान होता है, जिस के साध्य और हेतुका का सहचार कहीं निश्चित न हो । किन्तु यहां साध्य (अनुभूति-व्यवहार-हेतुभूत प्रकाशत्व) के अधिकरण में हेतु की सत्ता निश्चित हो जाती है । तब तो केवलव्यतिरेकिता नहीं रही; अन्वयव्यतिरेकी प्रयोग हो गया] । यदि वहाँ हेतु नहीं रहता, तब अनुभूतित्व हेतु असाधारणरूप अनैकान्तिक (सव्यभिचार) हो जाता है । [साध्य का जहाँ निश्चय होता है, वह सपक्ष कहलाता है । वहाँ यदि हेतु नहीं रहता

व्यतिरेकित्वव्याकोपात्, अवृत्तौ सपक्षाप्रवेशिनोऽसाधारणानैकान्तिकत्वापातात्। वृत्तावपि भागे सिद्धसाधनताया दुष्परिहरत्वात्। न च स्वस्यासिद्धतामात्रेण परसिद्धे साध्यवति धर्मिणि सिद्धसाधनतायाः परिहारः। अन्यथाऽन्यथाख्यातिवादिभिः केनचिद्धेतुना रजतज्ञानस्य पुरोवर्तिविषयत्वे साधिते वेदान्तिना चानिर्वचनीयपुरोवर्तिरजतविषयत्वेन सिद्धसाधनत्वेऽभिहिते नास्माकं तत्सिद्धमिति वचनमात्रेणान्यथाख्यातिवादिनश्चरितार्था भवेयुः। अथ नानिर्वचनीयवादिनं प्रति अयं प्रयोगस्तस्य सिद्धसाधनतापत्तेः; तर्ह्यनुव्यवसायवादिनं प्रत्यप्ययं प्रयोगो न स्याद्भागे सिद्धसाधनत्वप्रसङ्गात्, स्वप्रकाशवादिनं प्रति सिद्धसाधन-

प्रमाणानुपलम्भो बाधकः; ततोऽतिरिक्ता तर्हि का नामाप्रसिद्धविशेषणतेति [1]घट्टकुटीप्रभातायितम्। अथ विपक्षे बाधकतर्काभावात्स किं विपक्षे बाधकस्तर्कः प्रमाणानुज्ञाद्वारोपयोगी ? स्वातन्त्र्येण वा ? नान्त्यः; तर्कस्य प्रमाणानुज्ञाव्यापारमन्तरेणोपयोगाभावात्। प्रथमे तु तर्काभावात्प्रमाणाभाव एव सिद्ध्यति सैव चाप्रसिद्धविशेषणतेति सिद्धं नः समीहितम्। किंच केवलव्यतिरेकित्वादेव केवलव्यतिरेकिणि न दूषणमप्रसिद्धविशेषणता केवलान्वयिन्यन्वयव्यतिरेकिणि च सपक्षवत्यप्रसिद्धविशेषणताशङ्कैव नास्तीति हता बतेयमप्रसिद्धविशेषणताकथा तपस्विनी। तस्माद्यत्रायं प्रसिद्धः स सपक्षः स्वीकर्तव्यस्तथाचोच्यमानदूषणगणग्रासो दुर्निरसन इति। सपक्षवृत्त्यवृत्त्योः केवलव्यतिरेकिताहानिरसाधारणाऽनैकान्तिकता चेति दूषणद्वयमुक्तम्, तत्र मा नामायं भूत्केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेक्येव भवत्विति शङ्कमानं प्रत्याह—वृत्तावपीति। यत्तूक्तं स्वप्रकाशवादिनो नानुव्यवसायो नाम ज्ञानग्राहकं ज्ञानमस्ति तत्कथं तस्य धर्मिता कथंतरां तत्र सिद्धता कथंतमां सिद्धसाधनतेति तत्राह—नच स्वस्यासिद्धतामात्रेणेति। विपक्षे बाधिकां प्रतिबन्दीं गृह्णाति—अन्यथान्यथेति। केनचिद्धेतुनेति। रजतार्थिनो नियमेन पुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्रजतेच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्वेत्यादिनेत्यर्थः। अस्त्वनुव्यवसायवादिनं प्रत्यप्रयोगः यस्य तु तन्नास्ति तं प्रति [2]निरुपसर्गः प्रयोग इत्यत आह—स्वप्रकाशवादिनमिति। ननु विवादपद-

तब वह सपक्षावृत्ति कहा जाता है। साध्याभाव के आधार (विपक्ष) में हेतु का रहना अनुमान-प्रयोक्ता को ही मान्य नहीं; नहीं तो हेतु साधारण (विपक्ष-वृत्ति) हो जायगा। अतः सपक्ष और विपक्ष—दोनों में यह हेतु नहीं रहता—यही स्थिर हुआ। बस यही असाधारणता है—सपक्ष-विपक्ष में न रहना, केवल पक्ष में रहना]। सपक्ष में हेतु के रहने पर भाग (पक्ष के एक देश) में सिद्ध साधनता दोष भी है। जब कि दूसरे (प्रतिवादी) के मत में साध्यवाला धर्मी (अनुव्यवसाय) प्रसिद्ध है, तब यह कह देने मात्र से कि हमारे (वेदान्ती के) मत में अनुव्यवसाय सिद्ध (मान्य) नहीं, सिद्ध साधनता का परिहार नहीं हो सकता। नहीं तो जहाँ अन्यथाख्यातिवादी किसी (रजत-लिप्सा-जन्य पुरोवर्तिप्रवृत्तित्वादि) हेतु के बल पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि "इदं रजतं"—यह ज्ञान पुरोवर्ति वस्तु-विषयक है। वहाँ वेदान्ती सिद्धसाधनता दोष का उद्भावन करता है कि वह ज्ञान पुरोवर्ति अनिर्वचनीय रजत-विषयक है ही (रजतज्ञानं पुरोवर्तिविषयकं रजतेच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्)। तब अन्यथा-ख्याति-वादी केवल यह कहकर कि 'अनिर्वचनीय रजत हमारे मत में सिद्ध ही नहीं' कृतकृत्य (सिद्ध साधनता के परिहार में सफल) हो जाँयगे। यदि कहा जाय कि अन्यथाख्याति-वादी का वह प्रयोग (रजतज्ञानमित्यादि) अनिर्वचनीय-वादी के प्रति है ही नहीं, क्योंकि उसके मत से सिद्धसाधनता दोष आ जाता है; तब तो उन्हें मौन ही धारण करना होगा, क्योंकि अनुव्यवसाय-वादी के प्रति यह प्रयोग (अनुभूतिः अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः अनुभूति-

---

१. घट्टे नदीतीरस्थलविशेषे (अवतारे) या कुटी (शुल्कग्रहणार्था) तस्यां प्रभातम्, तत्तथा तदिवाचरितमितिभावः। २. निराबाध इत्यर्थः।

त्वादप्रयोग इति मूकीभाव एव स्यात्। अथ विवादपदेनानुव्यवसायस्य व्यवच्छेदान्नास्य धर्मिभागतेति मतिः; तथापि तस्य साध्यविशेषणप्रसिद्धस्थलत्वेनाभ्युपगमाद्धेतोः केवलव्यतिरेकित्वाभावस्तदवस्थः, तदनङ्गीकारे च न विशेषणप्रसिद्ध्युपपत्तिः। अथ परं प्रत्येव तस्य प्रसिद्धिस्थलता; तर्हि तं प्रति केवलव्यतिरेकिप्रयोगायोगः। किं च व्यवहारहेतुत्वस्य प्रकाशविशेषणतायां, कैवल्ये तदभावात्स्वयंप्रकाशताभावः; व्यवहारहेतुत्वयोग्यतायां च स्वरूपातिरिक्तायां स एव दोषः। अथ तदुपलक्षितप्रकाशात्मत्वमेव साध्यं; तथाप्युपलक्षितत्वस्य

मित्यनुभूतेर्विशेषणं प्रक्षिप्यते तथानुव्यवसायस्य परसंप्रतिपन्नसाध्यस्य व्यावर्तनमिति तदाह—अथेति। तत्रेदं वक्तव्यं—किमनुव्यवसायज्ञानं स्वमतसंमतं ? न वा ? न यदि; तदा व्यर्थविशेषणता। अथ संमतं, तदा कथं स्वप्रकाशता; कथं वा केवलव्यतिरेकितेति। तदेतदपिना सूचयन्भङ्ग्यन्तरेण पुरोदितं केवलव्यतिरेकिताकोपमाह—तथापीति। साध्यविशेषणेति। साध्यमेव विशेषणं, पक्षं प्रति विशेषणत्वात्तस्य। नच व्यवसायं पक्षीकृत्यानुव्यवसायवदनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्वसाधनादन्वयव्यतिरेकितास्तु। अनुव्यवसायाङ्गीकारानङ्गीकारयोर्व्याहतिदृष्टान्ताभावयोः प्रसङ्गात्। यानि च स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमिति पञ्चमेपक्षे व्यवहारहेतुत्वस्य विशेषणोपलक्षणपक्षविकल्पेन दूषणान्युक्तानि तान्यत्र प्रसरन्तीत्याह—किंच व्यवहारहेतुत्वस्येति। ननु व्यवहारहेतुत्वयोग्यता विवक्षिता। सा च तदानीमप्यस्ति योग्यताया यावद्वस्तुभावित्वादित्याशङ्क्य, तर्हि सा स्वरूपातिरिक्ता ? तदनतिरिक्ता वा ? अतिरिक्तापि विशेषणम् ? उपलक्षणं वेति विकल्प्य, विशेषणपक्षं दूषयति—व्यवहारेति। स्वरूपातिरिक्तायां विशेषणतायां चेत्यध्याहर्तव्यम्। उपलक्षणत्वे पक्षद्वयं शङ्कते—अथेति। तया योग्यतया, तेन व्यवहारहेतुत्वेन

स्वाद्) हो ही नहीं सकता; क्योंकि एक देश में उक्त सिद्धसाधनता प्राप्त होगी और स्वप्रकाश-वादी के प्रति तो यह प्रयोग निरर्थक ही है, क्योंकि वह पहले से ही स्वप्रकाशता मानता है, फिर प्रयोग किसके लिए ? यद्यपि यहाँ यह कह सकते हैं कि ('अनुभूति' रूप पक्ष का विशेषण लगायेंगे—विवादपद। विवादपद का अर्थ होता है—विवादग्रस्त। अर्थात् जहाँ साध्य की सत्ता निश्चित न हो, अपितु विवाद का विषय हो। अनुव्यवसाय में तो साध्य का निश्चय ही है। अतः) विवादपद से अनुव्यवसाय का व्यवच्छेद हो जायगा, पक्ष-कोटि में समावेश ही नहीं होगा कि वह धर्मीका भाग बने। तथापि उस (अनुव्यवसाय) को साध्य-प्रसिद्धि का स्थल मानने पर केवल व्यतिरेकिता की हानि और न मानने पर साध्याप्रसिद्धि जैसी-की-तैसी बनी रहती है। यदि कहें कि दूसरे (नैयायिक) के प्रति ही अनुव्यवसाय साध्य-प्रसिद्धि का स्थल है; तब तो उसके प्रति केवल व्यतिरेकी प्रयोग क्योंकर हो सकेगा ?

और भी जिज्ञासा होती है कि 'व्यवहारहेतुत्व' प्रकाश का विशेषण है ? या उपलक्षण ? विशेषण मानने पर मोक्षावस्थापन्न आत्मा में उसका (व्यवहारहेतुत्वरूप विशेषण) का अभाव होने से स्वयंप्रकाशता का अभाव हो जायगा। ('व्यवहार-हेतुत्व' का अर्थ 'व्यवहार-हेतुत्व योग्यता' करने पर भी जिज्ञासा होती है कि उक्त योग्यता स्वयंप्रकाश वस्तु का स्वरूप है ? अथवा अतिरिक्त ? स्वरूप पक्ष में सप्रतियोगिकत्व = नित्य सापेक्षतापत्ति दोष कहा ही जा चुका है) स्वरूपातिरिक्त उक्त योग्यता को विशेषण माननेपर वही (मोक्ष-कालीन आत्मामें स्वयंप्रकाशताभाव) दोष होता है। व्यवहार-हेतुत्व अथवा व्यवहार-हेतुत्व–योग्यता को उपलक्षण मानकर

---

१. अनुव्यवसायाङ्गीकारे सति व्यवसायस्य स्वप्रकाशत्वव्याघातो व्यवसायप्रकाशज्ञानस्यैवानुव्यवसायत्वाङ्गीकारादिति भावः। २. यो व्यवहारहेतुत्वनिष्ठोपलक्षणत्वपक्षो यश्च योग्यतानिष्ठोपलक्षणत्वपक्षः तद्द्वयम्। वस्तुत उपलक्षणपक्षमित्येव पाठः सुश्लिष्टः।

साध्यान्तर्भावे स एव दोषः। अनन्तर्भावे च प्रकाशस्वरूपताया एव साध्यत्वात् तस्याश्चान्यत्रापि सिद्धत्वान्न केवलव्यतिरेक्यनुमानावकाशः। एतेनानुभूतिरनुभाव्या न भवत्यनुभूतित्वादित्यादिप्रयोगोऽपि परास्तः; तत्राप्यप्रसिद्धविशेषणताया दुष्परिहरत्वात्; ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद्घटवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च। नच हेत्वसिद्धिः; सत्ताधिकरणत्वलक्षणवस्तुत्वस्यावधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वादिवद्धेतुत्वोपपत्तेः।

ननु किमिदं साध्यमानं वेद्यत्वं—वास्तवम् ? उतावास्तवम् ? आहोस्विद्व्यावहारिकम् ?

वोपलक्षितं यत्प्रकाशात्मकत्वं तदेव साध्यमित्यर्थः। तदापि वक्तव्यं यत्तदुपलक्षितत्वं तद्विशेषणम् ? उपक्षलणं वा ? आद्यं दूषयति—तथापीति। स एव दोष इति। कैवल्यावस्थायां तदभावादस्वयंप्रकाशत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। उपलक्षितत्वस्योपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—अनन्तर्भावे चेति। तस्याश्चान्यत्रापीति। अनुव्यवसायादिष्वपीत्यर्थः। एतेनानतिरिक्तपक्षोऽपि निरस्तो वेदितव्यः। उक्तदूषणजातं प्राचीनाचार्योदीरितानुमानेऽप्यतिदिशति—एतेनेति। एतेनेत्येतदेव विवृणोति—तत्रापीति। तदेवं स्वप्रकाशत्वे संभाव्यमानानुमानानि दूषयित्वा वेद्यत्वेऽप्यनुमानमाह—ज्ञानमित्यादिना। प्रतिप्रयोगेति। प्रतिपक्षसाधकेत्यर्थः, सत्प्रतिपक्षता वा। ननु किमिदं वस्तुत्वं हेतूक्तं किं काल्पनिकसत्त्वम् ? आहोस्विद्वास्तवसत्त्वमिति ? नाद्यः, उभयासिद्धेः। नोत्तरः; अद्वैतवादिनः साधनविकलत्वादित्यत आह—नचहेत्वसिद्धिरिति। साधनवैकल्यस्याप्युपलक्षणमेतत्। अथवा किं वस्तुत्वं नाम काल्पनिको धर्मः ? उताकाल्पनिकः ? नाद्यः; तवासिद्धेः। नोत्तरः; ममासिद्धेरित्याशङ्क्याविवक्षितविशेषमादायायं परिहारः। सत्ताधिकारणत्वेति। स्वरूपसत्ता विवक्षिता। अनुभूतित्वादिवदिति। यथाह्यनुभूतित्वादिति स्वप्रकाशत्वादिहेतौ कोऽयमनुभूतित्वं नाम धर्मः किं कल्पितः ? उताकल्पितः ? नाद्यः, परस्यासिद्धेः। न द्वितीयः स्वस्यासिद्धेरिति विकल्पिते साधारण्येनैव परिहारस्तद्वदित्यर्थः।

अत्र गङ्गापुरी[1]भट्टारकोदीरितदूषणमनुवदति–ननु किमिदमित्यादिना। मैवम्। घटादेरिवेति।

तदुपलक्षित प्रकाशात्मत्व को ही साध्य बनायें, तो भी तदुपलक्षितत्व को साध्यके अन्तर्गत अर्थात् विशेषण मानें तो वही (मोक्ष-कालीन आत्मा में स्वयंप्रकाशत्वाभाव) दोष है। यदि तदुपलक्षितत्व को साध्य के बहिर्गत अर्थात् उपलक्षण मानें, तो कहना होगा कि प्रकाशरूपतामात्र ही साध्य है। वह अन्यत्र (अनुव्यवसाय में) भी सिद्ध है; अतः केवलव्यतिरेकी अनुमान को अवकाश नहीं मिलता।

इन्हीं दोषों के कारण "अनुभूतिः अनुभाव्या न भवति, अनुभूतित्वात्" (अनुभूति, अनुभाव्य नहीं होती, क्योंकि अनुभूतित्व-युक्त है)—आदि प्रयोग भी खण्डित हो जाते हैं। यहाँ पर भी अप्रसिद्धविशेषणता दुष्परिहार्य है। "ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वाद् घटवद्" (ज्ञान वेद्य = अनुभाव्य है, क्योंकि वस्तुत्वविशिष्ट है, जैसे घट)—इस प्रकार के विरोधी प्रयोगों के द्वारा सत्प्रतिपक्षितत्व दोष भी संभावित है। यहाँ यह सन्देह नहीं करना चाहिए कि वस्तुत्वरूप हेतु ही पक्ष में असिद्ध है; क्योंकि सत्ताधिकरणत्वरूप वस्तुत्व वैसे ही पक्ष में सिद्ध है जैसे कि अनुभूतित्व। ['वस्तुत्व' हेतु के विषय में यह कुछ नहीं पूछना चाहिए कि कल्पित है या अकल्पित; नहीं तो अनुभूतित्व के विषय में भी वही प्रश्न और वही दोष होगा। अतः] कल्पिताकल्पित-कोटि-निरपेक्ष अनुभूतित्व के समान वस्तुत्व भी हेतु है।

शङ्का—"ज्ञानं वेद्यं—यहाँ पर साध्यमान 'वेद्यत्व' कैसा है ? क्या वास्तविक है ? अथवा

---

१. तपोधनेत्यर्थः, "भट्टारको नृपे नाट्यवाचा, देवे तपोधने" इति मेदनी।

अथवा साधारणम् ? आद्ये, साध्यविकलं निदर्शनमितरेषु सिद्धसाधनत्वमिति चेत्, मैवम्; घटादेरिव व्यावहारिकप्रमाणसिद्धवेद्यतापादनेऽपि स्वप्रकाशत्वासिद्धेः। किं चानुभूतिपदं स्वगोचरगोचरज्ञानजन्यं पदत्वात्कुम्भपदवत्। ननु किमत्र गोचरशब्देन विषयमात्रमुच्यते ? किंवा वाच्योऽर्थः ? अथ लक्ष्यो वा ? न तावत्प्रथमद्वितीयौ; सिद्धसाधनतापत्तेः। अभ्युपेयते हि अनुभूतिशब्दवाच्यस्यान्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य ज्ञानस्य ज्ञानगोचरता। तृतीये, तु मुख्या-

नहि घटादेरिवानुभूतेरपि वेद्यत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धमिति मन्तुमुचितम्। तथा सति नैयायिकादेरिव जडयापि संविदाऽर्थप्रथनसिद्धौ घटादिप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्युपन्यासानवसरात्तद्दूषणानां स्वमतेऽप्यनुषङ्गप्रसङ्गाच्च। न च नैयायिकाद्युपगतजडतायाः समारोपितत्वाङ्गीकारादस्त्येवानुभूतेरपि व्यावहारिकवेद्यतेति सांप्रतं; तस्याः शुक्तिरजतादेरिव व्यवहाराक्षमत्वात्। अतो व्यावहारिकवेद्यत्वसाधनमपि विरुणद्धेयव राद्धान्तमिति भावः। वेद्यत्वेऽनुमानान्तरमाह—**किंचानुभूतिपदमित्यादिना**। स्वगोचर एव गोचरो यस्य तज्ज्ञानं स्वगोचरगोचरज्ञानं तज्जन्यः, शब्दनित्यत्ववादिनां प्रयोगस्य तज्जन्यत्वाच्छब्दोऽपि तज्जन्य इत्युच्यते। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै[१] स्वगोचरग्रहणम् अत्रापि तैरुद्भावितदूषणमनुवदति–ननु किमत्रेति। सिद्धसाधनतामेव विवृणोति––अभ्युपेयते हीति। अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्येति हेतुगर्भं विशेषणम्। यस्मादन्तःकरणवृत्तिविशिष्टमतो ज्ञानगोचरतेत्यर्थः। मुख्यार्थविवक्षयेति। एवं हि तदा प्रयोगः स्यात्–विवादपदं स्वलक्ष्यविषयज्ञानजन्यं पदत्वात्संप्रतिपन्नवदिति। एतच्चानैकान्तिकं, मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्त-

व्यावहारिक ? अथवा साधारण (वास्तविक, व्यावहारिक-उभय-समान) ? प्रथम पक्षमें दृष्टान्त (घट-आदि) साध्य-शून्य होंगे; क्योंकि पारमार्थिक वेद्यत्व वहाँ मायावादी नहीं मानते। अन्य पक्षों में सिद्धसाधनता दोष होगा; क्योंकि अपारमार्थिक (व्यावहारिक) अथवा साधारण वेद्यत्व अनुभूति में मानते ही हैं। वह पारमार्थिक वेद्यत्वाभाव का विरोधी नहीं कि हम स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध न कर सकें।

समाधान—घट-आदि में जैसा व्यावहारिक प्रमाण-सिद्ध वेद्यत्व है, वैसा ही अनुभूति में आपादन करने पर भी स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं हो सकता। (यदि व्यावहारिक वेद्यत्व रहने पर भी अनुभूति में स्वप्रकाशत्व मानेंगे, तो, घट-आदि भी स्वप्रकाश क्यों नहीं होंगे ? अतः व्यवहारिक वेद्यत्व को भी स्वप्रकाशत्व का विरोधी मानना ही होगा। फिर तो अनुभूति में व्यावहारिक वेद्यत्व रहने पर स्वप्रकाशत्व कैसे सिद्ध होगा ?)। दूसरे अनुमान-प्रयोग से भी अनुभूति में वेद्यत्व सिद्ध किया जा सकता है—"अनुभूतिपदं, स्वगोचरगोचरज्ञानजन्यं, पदत्वात्, कुम्भपदवत्" ('अनुभूति' पद स्व-वाच्य-विषयक ज्ञान से जन्य है; क्योंकि पदत्व-युक्त है, जैसे–कुम्भपद)

शङ्का—उक्त अनुमान में प्रथम 'गोचर' शब्द से विषय मात्र विवक्षित है ? अथवा वाच्य अर्थ ? या लक्ष्य ? प्रथम (विषयमात्र) एवं द्वितीय (वाच्य अर्थ) पक्ष ठीक नहीं; नहीं तो सिद्धसाधनता की आपत्ति होगी, क्योंकि 'अनुभूति, शब्द के विषय या वाच्य अन्तः करण-वृत्ति-विशिष्ट ज्ञान में ज्ञान-गोचरता मानी ही जाती है। तृतीय (लक्ष्य) पक्ष लेने पर मुख्य अर्थ की विवक्षा से प्रयुक्त (बोले गये) गङ्गा-आदि पदों में व्यभिचार होगा। [भाव यह है कि इस तृतीय पक्ष में अनुमान का आकार यह होगा—"अनुभूतिपदं, स्वलक्ष्यविषयकज्ञानजन्यं पदत्वाद् गंगापदवत्"। यहाँ 'पदत्व' हेतु व्यभिचारी है; क्योंकि मुख्यार्थ (प्रवाह) की बोधेच्छा

---

[१] स्वगोचरपदानुपादाने गोचरज्ञानजन्यत्वं साध्यमवशिष्टम्। तथा च गोचरः = श्रावणज्ञानविषयीभूतोऽनुभूतिशब्दस्तद्विषयकज्ञानजन्यत्वं चालोच्चरितानुभूतिपदेऽभ्युपेयत एवेति सिद्धसाधनम्। यद्वा चक्षुरादिप्रमाणबोधेच्छयोच्चरितेऽनुभूतिपदे गोचरज्ञानजन्यत्वमस्त्येवेति सिद्धसाधनता।

र्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदैर्व्यभिचार इति चेत्, मैवम्; लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वेन लक्षकगङ्गादिपदवल्लक्ष्यज्ञानजन्यत्वानुमानात्। किंचानुभूतिपदाभिधेयस्य स्वप्रकाशत्वमभिधीयते भवद्भिः? उत लक्ष्यस्य? नाद्यः; अपसिद्धान्तापातात्। न द्वितीयः; प्रतिवादिनं प्रत्याश्रयासिद्धेः। सकलधर्मातीतस्याद्वितीयस्यानुभूतिपदलक्ष्यस्य परैरनङ्गीकारात्। किं च स्वप्रकाशतायां सति प्रमाणे तद्वेद्यत्वमसति च साधकाभावादेव न तत्सिद्धिरिति सैषौपनिषदानामुभयतःपाशा रज्जुरित्यलमतिविस्तरेण।

गङ्गादिपदानां तल्लक्ष्यतीरादिज्ञानजन्यत्वाभावात्तेषां मुख्यार्थज्ञानमात्रजन्यत्वादित्यर्थः। तदेतद्दूषयति—मैवमिति। लक्षकपदत्वं हेतुस्तथाच नानैकान्तिकमित्यर्थः। पदमात्रं पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वादित्युक्ते भागासिद्धिबाधौ स्यातामिति लक्षकपदमित्युक्तम्। उभयवादिसंप्रतिपन्नानुभाव्यवाचकानुभूतिलक्षकपदं चात्र विवक्षितं, तेन नाश्रयासिद्धिसिद्धसाधने। किंच यावत्किंचित्स्वप्रकाशत्वानुमानमुपन्यस्यते तस्य सर्वस्य धर्म्येव तावन्न निरूपणपद्धतिमध्यास्ते इत्याह—किंचानुभूतीति। अपसिद्धान्तेति। अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य स्वप्रकाशत्वानाश्रयणादित्यर्थः। प्रतिवादिनं प्रतीति। न तावदनुभूतिपदलक्ष्यस्य यस्य कस्यचित्प्रमातुर्वा प्रमेयस्य वा स्वप्रकाशता सिसाधयिषिता, येनाश्रयासिद्धिर्न भवेत्, किंत्वद्वितीयानादिनिधनात्मभूतज्ञानस्य, तस्य परं प्रत्यसिद्धेराविशत्येवाश्रयासिद्धिपिशाचिकेति भावः। किंच स्वप्रकाशतायां प्रमाणसद्भावासद्भावयोः प्रमेयासिद्धिरिति व्याघातलक्षणतर्कयुगलविरोध इत्याह—किंच स्वप्रकाशतायामिति।

से उच्चारित "गंगायां नावः सन्ति" इत्यादि वाक्यों के गंगापद में पदत्व हेतु तो है; किन्तु लक्ष्यविषयक ज्ञान की जन्यता रूप साध्य नहीं। यहाँ का गंगापद मुख्य अर्थ (प्रवाह) विषयक ज्ञान से जन्य है; न कि लक्ष्य अर्थ (तीर) विषयक ज्ञान से]

समाधान—तृतीय पक्ष (गोचर शब्द का लक्ष्य अर्थ मानने) में कोई दोष नहीं; क्योंकि लक्षक पद को पक्ष बनाकर लक्षकपदत्वरूप हेतु से लक्षक गंगादि पद के दृष्टान्त से लक्ष्यविषयक ज्ञान-जन्यत्व का अनुमान किया जाता है। ["लक्षकमनुभूतिपदं, स्वलक्ष्यविषयकज्ञानजन्यं, लक्षकपदत्वात् लक्षकगंगादिपदवत्" इस अनुमान में उक्त व्यभिचार नहीं; क्योंकि जब पदत्व मात्र हेतु करते थे तब लक्षक गंगा पद को छोड़कर मुख्यार्थक गंगापद भी ऐसा ले लिया जाता था, जिसमें पदत्व हेतु रहता था, साध्य नहीं; अतः व्यभिचार होता था। किन्तु लक्षक पदत्व रूप हेतु मुख्यार्थक गंगा पद में नहीं रहता; इसलिए व्यभिचार नहीं।]

एक और जिज्ञासा यह उठती है कि स्वप्रकाशत्वानुमान (अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वाद्) में पक्षभूत अनुभूति का अर्थ क्या है? 'अनुभूति' पद का वाच्य अर्थ? अथवा 'अनुभूति' पद का लक्ष्य अर्थ? यदि 'अनुभूति' पद के वाच्य अर्थ में स्वप्रकाशत्व सिद्ध करना चाहते हैं; तब तो आप 'अपसिद्धान्त' नाम के निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाते हैं। [आशय यह है कि 'अनुभूति' पद का वाच्य अर्थ है—अन्तःकरण-वृत्ति-विशिष्ट चेतन। यह वेदान्तियों के मत में स्वप्रकाश नहीं। किन्तु शुद्ध चेतन ही स्वप्रकाश है। अब यदि अन्तःकरणवृत्ति विशिष्ट में स्वप्रकाशता सिद्ध करना चाहते हैं; तो अपसिद्धान्त होगा; क्योंकि सिद्धान्त-विरुद्ध कथा-प्रसंग का ही नाम अपसिद्धान्त है—"स्वसिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथा-प्रसंगोऽपसिद्धान्तः" (न्या० सू० ५।२।२३)] द्वितीय (लक्ष्य) अर्थ भी पक्ष नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि दूसरों के मत से वह प्रसिद्ध नहीं; अतः आश्रयासिद्धि दोष होगा। अर्थात् प्रमातृत्व-आदि सकल धर्म-शून्य कोई अद्वितीय वस्तु ही आपके मत में 'अनुभूति' पद का लक्ष्य है; उसे दूसरे मानते नहीं।

अत्रोच्यते—'अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य नः ।
संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः ॥ १ ॥

न तावत्स्वयंप्रकाशे लक्षणासंभवः; अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणत्वात् । नच योग्यतालक्षणधर्माङ्गीकारेऽव्याप्तिर्मोक्षदशायां तदसंभवादपसिद्धांतापत्तिश्चेति शङ्कनीयं; योग्यत्वात्यान्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात्, गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकारणस्य

एवं स्वप्रकाशत्वे प्रमाणलक्षणे समाक्षिप्य समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यत इत्यादिना । तत्र लक्षणं तावच्छ्लोकेन गृह्णाति—अपरोक्षेत्यादिना । नः अस्माकं पक्षे अपरोक्षव्यवहृतेर्व्यवहारस्य योग्यस्य । व्यधिकरणे षष्ठ्यौ । तथाऽधीपदस्य संविदविषयस्य स्वप्रकाशस्य संभवे सति, स्वप्रकाशस्येति पदमुपर्यपि संबध्यते द्वारमध्यस्थमणिवत् । अतस्तस्य स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः ? न कुतोपीति योजना । संगृहीतलक्षणं विवृणोति—न तावदित्यादिना । अपसिद्धान्तापत्तिश्चाद्वैतवादिन इतरदशायामपीति शेषः । नच शङ्कनीयमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—योग्यत्वात्यन्तेति । कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेव । अनुत्पत्तिविनाशवन्तं[2] हि संसर्गाभावविशेषमत्यन्ताभावमुपगच्छन्ति तार्किकाः । तथा च यदि कदाचिदपि तत्प्रतियोगी स्यात्तदा तत्पूर्वं वा तदुत्तरकालं वा तदभावो मन्तव्यः न समसमयं विरोधात् । नचान्योन्याभावतत्प्रतियोगिघटयोश्च समसमयं वर्तमानत्वान्न विरोध इति वचनीयम्; तस्य तादात्म्यप्रतियोगित्वात्तस्य कदाचिदप्यभावात् । इतरथा घटसंसर्गाभावघटान्योन्याभावयोः संकरप्रसङ्गात् । अथ घटप्रतियोगित्वे समानेऽपि संसर्गतादात्म्यरूपविशेषणभेदादसंकरस्तयोरेवं तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन संसर्गतादात्म्ययोरेवोभयत्र प्रतियोगित्वं न घटस्येति मूकीभावः, तदितराभावेषु वायं नियमः । विस्तरेण चैतदुपरिष्टादुपपादयिष्यते । ततश्च प्रतियोगिपूर्वकालीनत्वे विनाशित्वमुत्तरकालीनत्वे तूत्पत्तिमत्त्वं स्यात्ततश्च प्रागभावप्रध्वंसयोरन्यतरत्वं प्रसज्येत । तस्मात्कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेवेति सिद्धम् । ततश्चैतदङ्गीकर्तव्यम् । इतरथा गुणवद् द्रव्यमिति कणादोक्तगुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वभङ्गप्रसङ्गात् । प्रथमक्षणे हि गुणवत्त्वाभावेनाव्याप्तेः । यथा चैतत्तथा द्वितीयपरिच्छेदे द्रव्यलक्षणखण्डनप्रस्तावे विस्तरेण निवेदयिष्यते । तस्मात्तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव तत्र शरणं, तदत्रापि समानमभिनिवेशमपहायेत्यभिसंधेराह—गुणवत्त्वात्यन्तेति । यद्यप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्यन्ताभावानधिकरण-

यह भी पूछा जा सकता है कि स्वप्रकाशता में कोई प्रमाण है ? कि नहीं ? यदि है, तो उस प्रमाण की वेद्यता (प्रकाश्यता) आ जाने से स्वप्रकाशता भंग हो गई । यदि परप्रकाशता के भय से यह कहा जाय कि स्वप्रकाशता में कोई प्रमाण नहीं; तब तो बिना प्रमाण के उसकी सिद्धि ही कैसे होगी ?—इस प्रकार वेदान्तिगण उभयतःपाशा रज्जु में बंध जाते हैं । इससे अधिक उनपर और संकट क्या होगा ?

उत्तरपक्ष—'हमारे (वेदान्ती के) मत में अपरोक्ष-व्यवहार-योग्य अधीपद (अवेद्य) स्वप्रकाश के सम्भव होने पर लक्षण का असम्भव क्यों होगा ?' अर्थात् स्वयंप्रकाश का लक्षण असम्भव नहीं; क्योंकि अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता ही उसका लक्षण है । यह जो शङ्का की थी कि उक्त व्यवहार-योग्यता को (लक्ष्यका) धर्म मानने पर अव्याप्ति होगी, क्योंकि मोक्षावस्था पन्न आत्मा में वह सम्भव नहीं और (उक्त योग्यता को वहाँ मान लिया जाय, तब) अपसिद्धान्त होगा—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उक्त योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता ही उक्त योग्यतावत्ता है, जैसे कि गुणत्वात्यन्ताभाव की अनधिकरणता द्रव्यत्ववत्ता होती है । [आशय यह है कि न्यायलीलावतीकार ने द्रव्य का लक्षण किया—"गुणाश्रयो द्रव्यम्"

---

१. धियः पदं (विषयः) धीपदं, न धीपदमित्यधीपदं तस्य । २. उत्पत्तिविनाशरहितमित्यर्थः ।

द्रव्यत्ववत्, तेन नाव्याप्तिः। नाप्यपसिद्धान्तः, काल्पनिकधर्माणां संसारदशायामभ्युपगमात्।

"अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्"

इति सुरेश्वराचार्यवचनात्। "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा" इति पञ्चपादिकाचार्यवचनाच्च। मोक्षदशायां च विवक्षितधर्माभावेऽपि कदाचित्सत्त्वेन तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य गुणाश्रयो द्रव्यमितिवत्सिद्धेः।

अपरोक्षव्यवहारयोग्यघटादावतिव्याप्तिपरिहारार्थमवेद्यत्वे सतीति विशेषणम्। नचैतावदस्तु लक्षणमिति वाच्यम्; तथा सत्यतीतानागतयोर्नित्यानुमेयेषु च धर्मादिष्वतिव्याप्तेः। ननु तेषामप्यागमवेद्यत्वान्नावेद्यत्वमिति चेत्, मैवम्; फलव्याप्यतालक्षणवेद्यत्वस्य तत्रा-

---

त्वमेव लक्षणं संभवति तथाप्यामुक्तेर्विद्यमानयोग्यताऽत्यागायेदमुक्तम्। भवत्वेवमव्याप्तिपरिहारोऽपसिद्धान्तव्याधेः किमौषधमित्यत आह—**नाप्यपसिद्धान्त इति**। कः खल्वेवं वदेत्संसारदशायामपि काल्पनिकधर्मा न सन्तीति किं परः? किं वा स्वयूथ्यः कश्चित्? परश्चेद्द्वियदाद्यारोपसमर्थनेन समर्थनीयः उत्तरमाप्तवाक्येन संमतयति—**अक्षमा भवत इत्यादिना**। अद्वितीयात्मनः साधकत्वकल्पनायां केयमक्षमा असहिष्णुता भवतः किं तत्रैव समस्तप्रपञ्चं कल्पितं न पश्यसि ततोऽत्यल्पमिदमित्यर्थः। "विषयिणस्तद्धर्माणां चे"त्यध्यासभाष्यावयवं व्याचक्षाणैः पञ्चपादिकाकृद्भिः—ननु विषयिणश्चिदेकरसस्य कुतो धर्मा ये विषयेऽध्यस्येरन्नित्याक्षिप्य समाहितं—

'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेतिसन्ति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्त'॥ इति।

ननु संसारदशायां कल्पनासंभवः मोक्षदशायां तु तदभावादव्याप्तिरित्यत आह—**मोक्षदशायामिति**। यद्यप्ययमपि कश्चन धर्मस्तथापि परैस्तदभावरूपत्वेनाङ्गीकृतत्वाद् अभावभावयोरेवंविधस्थलेष्वनतिरेकस्वीकाराच्च न दोषः। एतच्च पूर्वोक्तस्यैव विवरणम्।

इदानीं लक्षणविशेषणानां कृत्यमाह—**अपरोक्षेत्यादिना**। अवेद्यत्वशब्देन ज्ञानाविषयत्वमभिमतमिति भ्रान्तः शङ्कते—**नन्विति**। **फलव्याप्यतेति**। विषयावच्छिन्नं चैतन्यमभिव्यक्तं फलमिति वेदान्त-

---

किन्तु उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य में गुणाश्रयता वैशेषिक सिद्धान्त से है नहीं; अतः उस द्रव्य में अव्याप्ति देखकर 'गुणाश्रयता' का अर्थ किया गया—"गुणात्यन्तायोगव्यवच्छेदः" अर्थात् गुण के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता। यह उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य में भी है। ठीक उसी प्रकार वेदान्ती भी उक्त योग्यता का अर्थ उक्त योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता करके अपने लक्षण की अव्याप्ति हटा सकते हैं।] (दूसरा दोष) अपसिद्धान्त भी नहीं; क्योंकि काल्पनिक धर्मों को संसारी आत्मा में मानते हैं; जैसाकि सुरेश्वराचार्य ने (बृह० वा० १।४।१२१९ में) कहा है—'अद्वितीय आत्मा में साधकत्व की कल्पना आपको असह्य क्यों हो रही है? क्या आप यह नहीं देखते कि आत्मा में ही समस्त संसार अज्ञान-कल्पित है।' पञ्चपादिकाचार्य ने भी कहा है—'आनन्द, विषयानुभव तथा नित्यत्व—ये सब धर्म आत्मा में हैं।' मोक्षावस्था में यद्यपि आत्मा में विवक्षित धर्म नहीं रहते; तथापि किसी (संसार) अवस्था में रहने के कारण उनके अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता की सिद्धि आत्मा में वैसे ही है, जैसे गुणाश्रयता द्रव्य में।

अपरोक्ष-व्यवहार के योग्य घटादि में अतिव्याप्ति हटाने के लिए उक्त योग्यता का 'अवेद्यत्वे सति' यह विशेषण दिया। 'अवेद्यत्व'—इतना ही लक्षण क्यों न रखा जाय—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि अतीत तथा भावी (घटादि) पदार्थों एवं नित्य अनुमेय धर्मादि में अतिव्याप्ति होगी। यदि

भावात्। तत्र विशिष्टशब्दप्रमाणबलात्तदाकारधीवृत्तिसमुल्लासमात्रादेव तद्व्यवहार इति वेदवादिनां प्रक्रिया। न च योगिप्रत्यक्षगम्यतया अपरोक्षत्वं धर्मादीनां; चोदनैकप्रमाणवेद्यत्वात्तेषाम्। न चैतावता सर्वदर्शित्वाभावो योगिनाम्; सर्वदर्शित्वशब्देन योग्यसर्वद्रष्टृत्वस्य विवक्षितत्वात्—

वादिनां मतम्। अभिव्यक्तिश्चेन्द्रियद्वारा अर्थसंनिकृष्टमनःपरिणामविशेषः। नचैवंविधः परिणामविशेषोऽदृष्टादिषु संभवति; तेषामिन्द्रियायोग्यत्वात्। एतेनातीतादि व्याख्यातम्। तस्मान्न धर्मादीनां फलावच्छेदकतया वेद्यत्वमित्यर्थः।

‘यथानयैव[1] [2]व्यवहारसिद्धिरद्धा भवेत्कल्पनयान्यथा न।
तथोदितं तत्तदगाधधीभिरतो वयं विस्तरतो विभीताः॥’

ननु यदि न वेद्यत्वं तेषां[3] कथं तर्हि तेषु विज्ञानमनुष्ठानमित्यादिव्यवहार इत्यत आह—तत्रेति। विशिष्टशब्दप्रमाणं विधिवाक्यादि। धीवृत्तिरन्तःकरणपरिणामस्तस्य समुल्लास उदयस्तन्मात्रादित्यर्थः। ननु यद्यपि धर्मादीनां नास्मदादिप्रत्यक्षगम्यत्वं तथापि योगिनां भवति तत्प्रत्यक्षमतएव वेद्यत्वमित्यत आह—नचेति। अयमभिसंधिः—न तावद्धर्मादीनां बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं, रूपादिहीनतया तदुपहितमर्यादविषयाणामिन्द्रियाणां तत्राप्रवृत्तेः। मानसत्वं तु तेषामात्मगुणत्वेऽपि संस्कारवदयोग्यत्वेन दूरनिरस्तम्। अथ [4]विशिष्टादृष्टसामर्थ्यात्तेषां[5] तेषु विषयेषु सामर्थ्यमिति मतं, तर्हि तदेव हि विशिष्टादृष्टज्ञानं कथंकारमेषामुदेति? अज्ञातेषु तेषामनुष्ठानायोगात्। अथ योग्यन्तरवचनात्तदाऽन्धपरम्परा। अथ नित्यसिद्धेश्वरवचनात्; स्यादेवं यदि नित्यसिद्ध ईश्वरः सिद्ध्येत। आगमबलादीश्वरसिद्धिरितिचेत्स किमीश्वरवचनतया प्रमाणमपौरुषेतया वा। प्रथमे त्वितरेतराश्रयं तद्विरचनात्तत्प्रामाण्यं तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धिरिति। उत्तरे

कहें कि उन (धर्मादि) में आगम की वेद्यता ही रहती है, अवेद्यता नहीं; तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि फलव्याप्यतारूप वेद्यता का उनमें भी अभाव है। उनमें विशिष्ट शब्द प्रमाण (विधि वाक्यादि) के बल से तदाकार परोक्ष बुद्धि-वृत्ति के हो जाने मात्र से ही उनका (धर्मादि का अनुष्ठानादि) व्यवहार निभ जाता है—यह वेदवादियों की प्रक्रिया है। [भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने ‘अवेद्यता’ का अर्थ समझा था—अविषयता सामान्य। तभी तो उसने सन्देह कर दिया कि धर्मादि में शब्द-जन्य ज्ञान की विषयता ही है, अविषयता कैसे? फिर तो ‘अवेद्यता’—इतने लक्षण की भी धर्मादि में अतिव्याप्ति नहीं। सिद्धान्ती ने उसे समझाया कि ‘अवेद्यता’ का अर्थ है फलव्याप्यता का अभाव। धर्मादि में शब्द-जन्य वृत्ति की विषयता रहने पर भी फलव्याप्यता नहीं रहती, अतः ‘अवेद्यत्व’ मात्र की उनमें अतिव्याप्ति होती ही है। धर्मादि में फलव्याप्यता न रहने का कारण यह है कि अभिव्यक्त विषयावच्छिन्न चैतन्य ही कहलाता है—फल। विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति वहीं होगी, जहाँ इन्द्रियका अपने योग्य विषय से सन्निकर्ष हो। धर्मादि तो इन्द्रिय के योग्य ही नहीं, अतः उनमें फल-विषयता रूप वेद्यत्व का अभाव है।]

धर्मादि का योगिगण प्रत्यक्ष कर लेते हैं, अतः उनमें अपरोक्षता (फलव्याप्यता) भी रह जाती है—यह सन्देह नहीं करना; क्योंकि धर्मादि केवल वेद प्रमाण से ही जाने जा सकते हैं, योगी उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। [“चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः”—इस (जै० सू० १।१।२) में स्पष्ट कर दिया गया है कि ‘चोदनैव लक्षणं = प्रमाणं यस्य’ अर्थात् धर्म में एक वेद ही प्रमाण है।

---

[1] फलव्याप्यतालक्षणवेद्यत्वकल्पनयेत्यर्थः। [2] आत्मनि स्वप्रकाशत्वव्यवहारसिद्धिरित्यर्थः। [3] धर्मादीनामित्यर्थः। [4] योगजधर्मरूपाशुक्लकृष्णादृष्टेत्यर्थः। [5] योगीन्द्रियाणामित्यर्थः।

‘[1]यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥’

इति न्यायात् । अतो धर्मादिव्यवच्छेदार्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीति विशेषणम् । नन्वज्ञानान्तःकरणतद्धर्मेच्छादिषु शुक्तिरजतादिषु च लक्षणातिव्याप्तिस्तदवस्था, तेषामपि फलव्याप्यत्वाभावेनावेद्यत्वात्, अहमज्ञ इत्याद्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाच्चेति चेत्, सत्यम्; अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्षव्यवहारयोग्यता तेषाम्, अध्यस्ततयैव तेषां सिद्धेः । ननु तथाप्यपरोक्षमिति व्यवहारदर्शनात्तद्योग्यता तत्र कल्पनीयेति चेत्, मैवम्; रजतादिव्यवहारयोग्येऽपि शुक्ति-

त्वपराद्धान्तः । यथा चानुमानजातमपि न पराभिमतेश्वरे वर्तते, यथा चापौरुषेयत्वं वेदस्य, तत्सर्वमव्यग्रमग्रे निवेदयिष्यते । अथागमाज्ज्ञातेष्वनुष्ठानमिति । अस्तु तर्हि स एवागमस्तत्र प्रमाणम्, अवश्यापेक्षणीयत्वात्कृतं तदुपजीविभिर्योगिभिरिति । ननु यदि न योगिनामयोग्यविषयेषु सामर्थ्यं, कृतं तर्हि तेषां सर्वदर्शित्वप्रदर्शकशास्त्रराशिना । अत आह—नचैतावतेति । [1]प्रमाणान्तरबलात्सर्वशब्दः संकोचनीय इत्यर्थः । यत्रापि विषयेऽतिशयो दृष्टः पार्थसंपातिप्रभृतीनां विश्वरूपाशोकवनिकानिहितसीतादिषु, सोऽतिशयः स्वार्थानतिलङ्घनाद् द्रष्टव्यः । अनतिलङ्घनमेवाह—दूरसूक्ष्मादीति । योग्य एव विषये दूरवर्तिनि सूक्ष्मे वा दर्शनं तत्र, न पुना रूपादौ श्रोत्रादेर्वृत्तिरिति भट्टोक्तेरर्थः । फलव्याप्यत्वाभावेनेति । प्रमाणाविषयत्वेन केवलसाक्षिवेद्यत्वादित्यर्थः । परिहरति—सत्यम् । अवेद्यत्वेऽपीति । नाज्ञानादीनां [2]साक्षादपरोक्षतासाक्षिवेद्यतया तेषां साक्ष्यापरोक्ष्याध्यासादेवापरोक्ष्यादित्यर्थः । उत्तरौ चोद्यपरिहारौ स्पष्टार्थौ ।

प्रत्यक्षादि धर्म में प्रमाण नहीं—यह बात भी सू० १।१।४ में कह दी गई है ।]। यदि योगी धर्मादि को नहीं देख सकेंगे, फिर उनमें सर्वदर्शिता कैसे रहेगी—यह भी सन्देह नहीं करना; क्योंकि उनमें जो सर्वदर्शित्व प्रसिद्ध है, उसका अर्थ है—सर्वयोग्य पदार्थों का द्रष्टृत्व । [यह बात मानी जा सकती है कि साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा योगी विशेष सामर्थ्य रखता है; जैसे योग-प्रभाव से अर्जुन ने विश्व रूप का दर्शन किया, सम्पाति ने चार सौ योजन पर सीताजी को देख लिया । किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि योगी के इन्द्रिय नितान्त अयोग्य पदार्थ को विषय कर लेंगे]। कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट कहा है—‘जहाँ कहीं किसी की इन्द्रियों में कुछ उत्कर्ष देखा जाता है, वहाँ भी इन्द्रियों में अपने विषय का उल्लंघन नहीं हो सकता, हो सकता है कि कुछ लोग दूर या सूक्ष्म दृश्य को देख लें । किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि योगी के श्रोत्र नीलादि रूप को देख लें ।’ अतः (फलव्याप्यता न रहने से) धर्मादि में ‘अवेद्यत्व’ मात्र लक्षण अतिव्याप्त होता है, उनकी व्यावृत्ति के लिए लक्षण में ‘अपरोक्षव्यवहार-योग्यत्व’—यह विशेष्य भाग आवश्यक है ।

पूर्वपक्षी—अज्ञान, अन्तःकरण, अन्तःकरण के धर्म इच्छादि एवं शुक्ति-रजतादि में पूरे लक्षण की अतिव्याप्ति जैसी-की-तैसी रह गई, क्योंकि उनमें भी फल-व्याप्यता न रहने के कारण अवेद्यता है और ‘मैं अज्ञानी हूँ’—इस प्रकार के अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता भी है ।

सिद्धान्ती—आपका कहना ठीक है, कि उनमें अवेद्यता है; किन्तु अपरोक्ष-व्यवहार योग्यता नहीं; क्योंकि अपरोक्ष साक्षी में अध्यस्त होने के कारण ही उनकी सिद्धि होती है । [आशय यह है कि “यः साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म”—इस श्रुति से निश्चय होता है कि साक्षाद् अपरोक्षता तो ब्रह्म में ही है और उसमें अध्यस्त होने के कारण अज्ञानादि में अपरोक्षता की प्रतीति होती है । “मैं अज्ञानी हूँ”—इस प्रतीति के आधार पर उनमें अपरोक्षता मानने की कोई आवश्यकता नहीं ।] यदि कोई शंका करे कि अज्ञानादि में अपरोक्ष-व्यवहार देखकर अपरोक्ष-व्यवहार की योग्यता भी उनमें कल्प-

---

१. श्लो० वा० २।११४ । २. प्रकृते चोक्तभाट्टवचोरूपं प्रमाणान्तरमूह्येयम् । ३. अध्यासमन्तरा ।

शकलादौ रजतादिव्यवहारदर्शनात्। नन्वेवं सत्यवेद्यत्वविशेषणस्य न व्यवच्छेद्यमस्ति, त्वन्मते घटादेरप्यध्यस्ततया अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावात्, मैवम्; व्यवहारदशायां तेषां प्रत्यक्षप्रमाणविषयाणामपरोक्षव्यवहारयोग्यताङ्गीकरात्। तथाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वमेव लक्षणमस्तु व्यभिचाराभावादिति चेत्, सत्यम्; अपरोक्षज्ञानविषयत्वेनैव घटादेरपरोक्षत्वाङ्गीकाराद्, अत्रापि तथात्वाद्व्याघात इति विभ्रमो माभूदिति तद्व्यवहारेणैव प्रतिवादिनामपि

ननु यदि स्वतोऽपरोक्षत्वं चैतन्यस्यैवाज्ञानादीनां तु तदध्यासादापरोक्ष्यमध्यस्तमिति नापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति ब्रूषे; तर्हि तद्घटादावपि तुल्यमिति न तेषामप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वप्राप्तिरतस्तद्व्यवच्छेदार्थमवेद्यत्वविशेषणं व्यर्थमिति शङ्कते—**नन्वेवमिति**। **व्यवहारदशायामिति**। यद्यपि वास्तवापारोक्ष्याभावो घटादेरज्ञानादेश्च समानस्तथाप्यर्थ[1]क्रियाक्षममापरोक्ष्यं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं सत्वमिव घटादेरस्ति अज्ञानादेस्तु तन्नास्ति प्रत्यक्षादिविषयताया अप्यभावात्। अतः शुक्तिरजतादिसत्तावत्प्रातीतिकमित्यर्थः। ननु तथापि व्यवहारयोग्यतापदस्य कृत्यं न पश्यामः, अवेद्यतापदेन घटादिव्यावृत्तेरपरोक्षतापदेनाज्ञानादिव्यावृत्तेरिति शङ्कते—**तथापीति**। परिहरति—**सत्यमिति**। अयमर्थः—अपरोक्षज्ञानविषयेष्वपि तावदपरोक्षशब्दः प्रयुज्यते। तत्रापरोक्षमित्युक्ते व्याहतिशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमवेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानं व्यवहारयोग्यतापदग्रहणमिति। वस्तुतस्तु न प्रसरत्येव घटादिष्वपरोक्षत्वं, तस्य प्रमात्वावान्तरजातितयाऽप्रमायां घटादावभावात्। नच मिथ्याज्ञानेऽपि भावात्प्रमात्वेन [2]परापरभावाभावान्न जातिरिति वाच्यम्; तत्रारोपाङ्गीकाराच्छब्दप्रयोगस्यापि तन्मार्गत्वात्। अन्यथा [3]घटत्वादेरप्यपलापप्रसङ्गात्सुवर्णनिर्मितेऽपि घटशब्दप्रयोगेण पृथिवीत्वादिना परापरभावाभावस्यापि शक्यवचनत्वात्। यद्यपि व्यवहारो ज्ञानमपि भवति तथाप्यवेद्यत्वविशेषणानुरोधेन शब्दप्रयोग एव स्वीक्रियते। तेन न पूर्वपक्षावसरोक्तदूषणप्रसरः। यद्यपि योग्यताव्यतिरेकेणापि लक्षणं शक्यसमर्थनं तथापि सुषुप्तौ तदभावेऽपि योग्यत्वस्य सतोऽत्यागाय तद्ग्रहणम्।

नीय है। तो उसकी यह शंका उचित न होगी; क्योंकि रजतादि-व्यवहार के अयोग्य शुक्ति-खण्डों में भी रजतादि-व्यवहार देखा जाता है [अतः व्यवहार-योग्यता के बिना भी जो व्यवहार सिद्ध हो जाता है, उससे योग्यता की कल्पना नहीं हो सकती]।

पूर्वपक्षी—इस प्रकार आप (वेदान्ती) के मत में 'अवेद्यत्व' विशेषण की सार्थकता नहीं रह जाती; क्योंकि (घटादि की व्यावृत्ति तो 'अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता' पद से ही हो जाती है) घटादि में अध्यस्तता होने के कारण अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता का अभाव है।

सिद्धान्ती—व्यवहार दशा में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषयीभूत घटादि में अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता मानी जाती है। फिर भी 'अवेद्यत्व-विशिष्ट अपरोक्षत्व'—इतना ही लक्षण क्यों न रखा जाय? इतने का भी तो कहीं व्यभिचार (अतिव्याप्ति दोष) नहीं है—यह सन्देह भी बहुत उचित नहीं; क्योंकि जैसे अपरोक्ष ज्ञान की विषयता रहने के कारण ही घटादि में अपरोक्षता मानी जाती है, वैसे ही इस (स्वप्रकाश वस्तु) में भी अपरोक्ष-विषयता के कारण ही अपरोक्षता होगी; फिर तो उसमें अवेद्यता कैसे रहेगी?—इस प्रकार का विरोध-भ्रम किसी को न हो, इसलिए केवल अपरोक्षत्व न कहकर अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता कही। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि प्रतिवादी-सम्मत अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता रहने के कारण ही ब्रह्म में अपरोक्षत्व है; न कि अपरोक्ष ज्ञान-विषयता के कारण।

पूर्वपक्षी—तब तो आपके अवेद्य (ब्रह्म) में व्यवहार-योग्यता भी भला कैसे रहेगी?

---

[1] व्यावहारिकमित्यर्थः। [2] प्रमात्वं विहायापरोक्षत्वं रजतभ्रमे, अपरोक्षत्वं विहाय प्रमात्वमनुमित्यादौ। उभयोः समावेश इति साङ्कर्यस्य विद्यमानत्वेन न तस्य प्रमात्वावान्तरजातित्वमितिभावः। [3] घटत्वनिष्ठजातित्वापलापेत्यर्थः। [4] अस्माकं सौवर्णघटे घटत्वारोपाङ्गीकारान्नदोष इतिशेषः।

संप्रतिपन्नेन तदेव स्फुटीक्रियत इति न कश्चिद्दोषः। कथं तर्हि अवेद्यस्य व्यवहारयोग्यत्वमिति चेत्; किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वं न स्यादित्यनिष्टप्रसञ्जनम्? उत व्यवहारविषयत्वाद्वेद्यत्वानुमानम्? नाद्यः; आपाद्यापादकयोरुभयोरपि परेपामप्रसिद्धेः। नेतरः; तस्य सप्रतिसाधननिराससमये निराकरिष्यमाणत्वात्। तस्मादनाविलं स्वप्रकाशलक्षणम्।

प्रमाणमपि—अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानम्। न चाप्रसिद्धविशेपणत्वम्; यतः—

सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे।
कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ॥ २ ॥

तथा हि—वेद्यत्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात् शौक्ल्यवदिति सामा-

---

व्यवहारविषयत्वादेव ज्ञानविषयत्वमपि सिद्ध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**कथं तर्हीति**। तदेतत्प्रसङ्गो वा? प्रसाधनं वेति विकल्प्य दूषयति—**किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वमित्यादिना**। **आपाद्यापादकयोरिति**। क्वचित्प्रमितेन पक्षे चाहार्यारोपितेन क्वचिद्व्यापकतया प्रमितं पक्षे चानभिमतमापाद्यत इति हि स्थितिस्तदिहावेद्यत्वेनापादकेन प्रमितेन भवितव्यम्। नचैतत्सर्वं प्रत्यक्षमिति मन्यमानस्य संभवति। नापि व्यवहाराविषयत्वस्य प्रमितिरिति केन किमापाद्यत इत्यर्थः। **तस्य सप्रतिसाधननिराससमय इति**। लक्षणदूषणसमये प्रत्यनुमानप्रयोगोऽनवसरनिरस्त इत्यर्थः ॥

तदेवं लक्षणं समर्थयित्वा प्रमाणं समर्थयितुमुपक्रमते—**प्रमाणमपीति**। स्वप्रकाशलक्षणसंभवेऽपि तादृग्रूपं साध्यं प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा। आद्ये सिद्धसाधनता केवलव्यतिरेकिताव्याकोपश्च। द्वितीयेऽप्रसिद्धविशेषणता इत्यत आह—**नचेति**। हेतुमवतारयति—**यत इति**। श्लोकेन हेतुमाह—**सामान्यत इति**। सामान्यतोऽनुमानेन सामान्यतोदृष्टेन। प्रसिद्धेऽपि विशेषण इत्यत्रापि सामान्यत इत्यनुषञ्जनीयम्। अनिर्धारितधर्मिविशेषतयेत्यर्थः। अतएव सामान्यतोदृष्टानुमाने नानिर्धारितधर्मिविशेषनिष्ठस्येति विवरणम्। अपरिभिन्नक्रमः। सामान्यतोऽपि प्रसिद्धे विशेषणे अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः कथमिति कथय? न कथमपीति योजना। अत्र च सामान्यत इति सिद्धसाधनतापि परिहृता वेदितव्या। सामान्यतोदृष्टमेवाह—**तथाहि वेद्यत्वमित्यादिना**। अभावप्रतियोगीत्युक्ते अन्योन्याभावेन वेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानेनार्था-

---

सिद्धान्ती—आपका आशय क्या है? क्या वेद्यत्व न होने के कारण व्यवहार-विषयता नहीं रहेगी—यह अनिष्ट-प्रसक्ति दे रहे हैं? या अपरोक्ष-व्यवहार-विषयता से वेद्यत्व का अनुमान करना चाहते हैं? अनिष्टापत्ति तो दे नहीं सकते; क्योंकि आपाद्य और आपादक दोनों ही तार्किकों के मत में प्रसिद्ध नहीं। [तात्पर्य यह है कि 'यदि आत्मा में वेद्यत्व का अभाव होगा, तब अपरोक्ष-व्यवहार-विषयता का अभाव भी होगा—इस प्रकार के अनिष्ट-प्रसञ्जन में आपादक है—वेद्यत्व का अभाव और आपाद्य है—अपरोक्ष-विषयता का अभाव। तार्किकों के मत में वेद्य और अपरोक्ष-व्यवहार-विषयत्व—दोनों ही केवलान्वयी धर्म हैं, उनका अभाव कहीं प्रसिद्ध (प्रमित) ही नहीं। फिर किससे किसका आपादन होगा?] दूसरा विकल्प (अपरोक्ष-व्यवहार-विषयत्व से वेद्यत्व का अनुमान करना) भी ठीक नहीं, क्योंकि सत्प्रतिपक्ष-निराकरण के अवसर पर उसका निराकरण होनेवाला है। अतः उक्त स्वप्रकाश-लक्षण नितान्त निर्दुष्ट है।

प्रमाण भी है—'अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः"—यह अनुमान। इस अनुमान में अप्रसिद्ध विशेषणता (साध्याप्रसिद्धि) नहीं; क्योंकि—'सामान्यतोदृष्टानुमान के द्वारा विशेषणं की सिद्धि हो जाने पर, बताइए यह पक्ष (अनुभूति) अप्रसिद्धविशेषणक कैसे रहेगा? अनुमान का आकार यह है—'वेद्यत्व, किसी-न-किसी धर्मी में रहनेवाले अत्यन्ताभाव

न्यतो दृष्टानुमानेनानिर्धारितधर्मीविशेषनिष्ठस्यावेद्यत्वधर्मस्य प्रद्धित्वात्, केवलव्यतिरेकिणश्चोभयवादिसंप्रतिन्नापरोक्षव्यवहारयोग्यानुभूतिविशेषावलम्बनताया एव समर्प्यमाणत्वात् नाप्रसिद्धविशेषणता। यद्वा यद्विपर्यये असमीहितप्रसक्तिस्तत्कचिन्मानयोग्यमिति सामान्यव्याप्तिः। इह चानुभूतिरनुभाव्या भवति नवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशये सत्यनुभाव्यत्वे

न्तरता स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावग्रहणम्। नचास्तित्वेन व्यभिचारः, तस्य पक्षत्वात् पक्षतुल्यत्वाद्वा। अभिधेयत्वादिष्वपीयमेव गतिः। अन्ततः स्वस्मिन्नेवाभावादात्माश्रयप्रसङ्गात्, उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव दोषत्वमिति प्रक्रियामात्रं[1], नियमेन प्रमाणानुपलब्धेरविशेषादिति। अत्र च वेद्यत्वप्रसिद्धैयव यद्यपि तदनधिकरणत्वमपि प्रसिद्धं, प्रतियोगिप्रसिद्धैयवाभावप्रसिद्धेः तथापि सुहृद्भूत्वेदमाहेति द्रष्टव्यम्। अनिर्धारितेति। अनिर्धारितो यो धर्मिविशेषस्तन्निष्ठस्येत्यर्थः। ननु भवत्ववेद्यत्वसिद्धिरपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वस्य कुतः सिद्धिरित्यत आह—**केवलव्यतिरेकिणश्चेति**। अथवा मानान्तरेण[2]वेद्यत्वसिद्धौ किमनेनानुमानेनेत्यत आह—**केवलेति**। केवलव्यतिरेकिण इति पञ्चमी। प्रथमपक्षे त्वयमर्थः। अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तावदनुभूतावेव तत्रापि संप्रतिपन्नं तादृगनुभूतौ चावेद्यत्वमन्यतः स्वरूपेण सिद्धं यदा साध्यते तदा किमपरमत्राप्रसिद्धं येनाप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति। द्वितीये तु सामान्यतः सिद्धस्यानुमनेन धर्मिविशेषे साधनान्नानर्थक्यमित्यर्थः। एतेन केवलव्यतिरेकितापि रक्षिता अन्यत्र प्रसिद्ध्यनभ्युपगमात्। एवमुदयनरीत्या केवलव्यतिरेकिणः प्रामाण्यं समर्थितम्, संप्रति लीलावतीकाररीत्याप्याह—**यद्वेति**। यस्य वैपरीत्याङ्गीकारे प्रमाणान्तरबाधादिप्रसक्तिस्तत्प्रमाणयोग्यमिति सामान्यकारेण व्याप्तिः। व्याप्तहेतोः पक्षधर्मतामाह—**इह चेति**। तत्[3]किं सर्वत्र विपक्षबाधात्प्रमाणोन्नयनम्[4]? तथाच गतं घटादिप्रत्यक्षेणाविमर्शपूर्वकेणेत्यत आह—**संशये सतीति**। कोटिद्वयाप्रसिद्ध्या साधारणधर्मदर्शनाभावान्न संशयोऽत उक्तम्—**विप्रतिपत्तेरिति**। इदं च प्रयोगशरीरं—वेद्यत्वमनुभवनिष्ठप्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगि तर्कादिबाधितत्वात् यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरजतादि यथा वा घटत्वादीति। तर्कमात्रं चेदिमित्याशङ्क्य प्रस्तुतानुमानो-

का प्रतियोगी है; क्योंकि धर्म है, जैसे शुक्लत्व।’ (जिस धर्मी में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी वेद्यत्व है, वह अवश्य वेद्यत्वात्यन्ताभाव (अवेद्यत्व) वाला होगा) उस धर्मी का विशेष रूप से भले ही निर्देश न किया जा सके, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अवेद्यत्व कहीं-न-कहीं प्रसिद्ध है। उस अवेद्यत्व में “अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा”—इस केवलव्यतिरेकी अनुमान से ऐसे अनुभूति (पक्ष) विशेष की आश्रितता सिद्ध की जाती है, जिसमें अपरोक्ष-व्यवहार-विषयता सर्वसम्मत है। [आशय यह है कि उक्त अनुमान में अप्रसिद्ध-विशेषणता दूर करने के लिए सिद्धान्ती ने ‘वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठ’—इत्यादि अनुमान का सहारा लिया। पूर्वपक्षी का कहना है कि इस अनुमान से भी केवल ‘अवेद्यत्व’ साध्यका विशेषण भाग ही प्रसिद्ध होगा, पूरा साध्य (अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहार योग्यता) नहीं। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अनुभूति रूप पक्ष में अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यता के रहने में विवाद ही नहीं, वह तो उभय-सम्मत है। विवाद है केवल अवेद्यत्व रूप विशेषण भाग में, उसकी तो प्रसिद्धि सामान्यतः कर ही दी गई है] अतः अप्रसिद्ध विशेषणता नहीं।

अथवा “यद्विपर्ययेऽसमीहितप्रसक्तिः तत् किञ्चिन्मानयोग्यम्” (न्यायलीलावती पृ० ७३९) अर्थात् ‘जिस पदार्थ का अभाव मानने पर अनवस्थादि अनिष्ट दोषों की प्राप्ति हो, वह पदार्थ अवश्य किसी प्रमाण का विषय है’—यह एक सामान्य नियम है। प्रकृत में ‘अनुभूति अनुभव का विषय है ? कि नहीं ?—इस प्रकार का वादि-विप्रतिपत्ति वाक्यों से संशय होनेपर यदि अनुभूति में किसी

---

१. परिभाषामात्रमित्यर्थः। २. धर्मत्वादित्यनुमानेनेत्यर्थः। ३. तत् = तर्हि (सामान्याकारेण व्याप्तिस्वीकारे)। ४. घटादिविषयकानुमानादिकल्पनम्।

सत्यसमीहितप्रसक्तेस्तद्विपर्ययस्य सामान्यतो मानयोग्यत्वाधिगमात्, विशेषप्रमाणापेक्षायां व्यतिरेकिण उपन्यासात् नाप्रसिद्धविशेषणता। अन्यथा कथमिच्छादीनामष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं नैयायिकादयोऽपि साधयेयुरष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यस्याप्रसिद्धावप्रसिद्धविशेषणता, प्रसिद्धौ च हेतोस्तत्र वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वासंभवः, अवृत्तौ चासाधारणानैकान्तिकतापत्तिः। न चैवं सत्यप्रसिद्धविशेषणताया अदूषणतापत्तिः; उक्तसामान्यतोदृष्टानुमानगोचरत्वासंभवे शशविषाणोल्लिखिता भूरित्यादौ तस्याः सावकाशत्वात्।

पयोगमाह—विशेषप्रमाणापेक्षायामिति। अत्र सामान्यतोऽनुमानेनेति सामान्येन प्रमाणोन्नयनेनेति योजनीयम्[1]। एतदेव प्रतिबन्द्या साधयति—**अन्यथेति**। अनुपपत्तिसाम्यं तावदाह—**अष्टद्रव्यव्यतिरिक्तेति**। **तत्र वृत्ताविति**। अत्र ह्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यप्रसिद्धौ तदाश्रितगुणादीनां सपक्षत्वम्। तथाच तत्र हेतुवृत्त्यवृत्त्योर्दूषणद्वयं स्यादित्यर्थः। एवमनुपपत्तौ समानायामस्मदुक्तविधामन्तरेण नापरा विधास्तीति भावः। तथाहि इच्छादयो गुणाः अनित्यत्वे[2] सत्यस्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् गन्धवदित्यादिना गुणत्वे स्थिते गुणत्वापरजातिमत्तया नियतैकद्रव्यव्यवच्छेदकतया विशेषगुणत्वे च सिद्धे सतीच्छादयः क्वचिदाश्रिताः गुणत्वाद्रूपवदिति सामान्यतोदृष्टानुमानेनानिर्धारिते कस्मिंश्चिदाश्रये सिद्धे न तावत्स्पर्शवद्विशेषगुणाः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, प्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वाद्वा। नाप्याकाशविशेषगुणाः बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात्। नापि दिक्कालमनसां विशेषगुणत्वादित्यादिनाऽष्टद्रव्याश्रयत्वानुपपत्तौ सिद्धायामिच्छादयोऽष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रयाः, तेष्वनुपपद्यमानत्वे सति गुणत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा गन्धादीति केवलव्यतिरेकिणैव सिद्धिरिति। नन्वेवंविधपरिहारज्ञानस्य सर्वत्र सुलभत्वाद्गता बताप्रसिद्धविशेषणतातपस्विनीत्यत आह—**नचैवं सतीति**। एतदुक्तं भवति—न सर्वत्रैवंविधः परिहारः सुलभः असमाधेयाप्रसिद्धविशेषणत्वानामपि 'भूमिः शशविषाणोल्लिखिता' इत्यादीनां संभवात् तेषु चास्याः साम्राज्यमिति। तदेवमृजुरीत्याऽप्रसिद्धविशेषणतां परिजहार। येतु वक्ररीतिं रोचयन्ते तान्प्रति महाविद्याभिरपि[3] साध्यप्रसिद्धिंसुलभयति—

दूसरे अनुभव की विषयता मान लें, तब अनवस्थादि दोषों की प्राप्ति होती है, अतः उस (अनुभव विषयता) का अभाव (अवेद्यता) किसी प्रमाण का विषय अवश्य है—ऐसा सामान्य रूप से ज्ञान होने पर विशेष प्रमाण की जिज्ञासा होती है। तब "अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा"—इस केवलव्यतिरेकी अनुमान का उल्लेख किया गया है; अतः अप्रसिद्धविशेषणता नहीं। अन्यथा (उक्त सामान्य व्याप्ति न मानने पर) नैयायिकादि भी "इच्छादयोऽष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिता अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वाद्"—इस अनुमान के द्वारा इच्छादि में आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य की आश्रितता कैसे सिद्ध करेंगे? क्योंकि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य के अप्रसिद्ध होनेपर अप्रसिद्धविशेषणता और प्रसिद्ध होने पर भी यदि वहाँ हेतु रहता है, तब तो अन्वयव्यतिरेकिता आ जाने से केवल व्यतिरेकिता असम्भव हो जाती है। यदि हेतु वहाँ नहीं रहता, तब असाधारण अनैकान्तिकता की प्राप्ति होती है। यदि शंका हो कि (उक्त सामान्य व्याप्ति के आधार पर तो सब कहीं विशेष प्रसिद्ध किया जा सकता है) फिर तो अप्रसिद्ध विशेषणता दोष ही कहाँ लगेगा। तो शंका उचित नहीं; क्योंकि उक्त सामान्यतोदृष्टानुमान की सामर्थ्य के बाहर 'शशविषाणोल्लिखिता भूः' (यह खेत खरगोश के सींगों से जोता गया है) इत्यादि स्थलों पर उक्त दोष को पूरा अवकाश है।

---

१. व्याख्येयमित्यर्थः। २. अनित्यत्वविशिष्टोयोऽस्मदादिचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाभावस्तद्वत्त्वादित्यर्थः। परमाण्वादौ व्यभिचारवारणायानित्यत्वविशिष्टेति। ईश्वरस्य चक्षुरिन्द्रियाभावेनेश्वरीयचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाभाववति द्रव्यादौ व्यभिचारनिरासायास्मदादीति चाक्षुषत्वविशेषणम्। द्व्यणुके परमाणुक्रियायां व्यभिचारवारणाय तद्भिन्नत्वेसतीत्यादि देयम् ३. महती विद्या-महाविद्या, तदुपयोग्यनुमानं महाविद्यानुमानम्। विद्यायां

अथवा अयं घट एतद्धटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः पदार्थत्वात्पटवदित्यादिमहाविद्याप्रयोगैरप्यवेद्यत्वप्रसिद्धिरप्यूहनीया ।

नाप्रसिद्धविशेष्यतापि; अनुभूतेः प्रसिद्धत्वात् । अतएव नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः ।

अथवेति । अयं घटः वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्ववेद्यत्ववादिनोऽनुमानात्पुरस्तात्तदनधिकरणासिद्धेरत उक्तं—**घटान्यत्वे सतीति** । घटत्वानधिकरणत्व इति यावत् । तथाच सर्वघटेषु सिद्धसाधनं, तत उक्तं—**एतदिति** । एतस्य च घटस्य वेद्यत्वाधिकरणत्वेऽपि स्वान्यत्वं प्रत्यनधिकरणत्वात्तथाविधघटान्यत्वस्य च पटादावेव प्रसिद्धेर्नाप्रसिद्धविशेषणतासिद्धसाधनते इत्यर्थः । घटमात्रं पक्षीकृत्यैतद्धटान्यत्वेसति । वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते घटान्तरमादायार्थान्तरता, घटान्तरस्याप्येतद्धटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणादेतस्मादन्यत्वात्तद्व्यवच्छेदार्थमयमितिपदम् । एतस्यैव घटस्य एतद्धटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वे साध्यमाने घटान्तरमादायार्थान्तरताया अनवकाशात् । एतद्धटान्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते व्याहतिः[1] स्यादेतद्धटस्यैतद्धटान्यत्वायोगात् तदर्थं[2] वेद्यत्वपदम् । अत्र चैतद्धटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणमयं घटस्तदन्यत्वमादाय पटादौ साध्यप्रसिद्धिः । पक्षे त्वेतद्धटस्यैतद्धटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वमेतद्धटान्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा ? वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा स्यात् ? आद्ये, व्याहतिः । एतस्यैव घटस्यैतद्धटान्यत्वायोगात् । अत एतद्धटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणमन्यत्किंचिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यवेद्यत्वसिद्धिः । आदिग्रहणेन 'वेद्यत्वं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्तिधर्माधिकरणं[3] मेयत्वादि'त्यादि संगृहीतम् । एतदपि सामान्यतोऽनुमानेनेति संगृहीतमेव । **नाप्रसिद्धविशेष्यतापीति** । विशेष्यं धर्मि ।

अथवा "अयं घट, एतद्धटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणः, पदार्थत्वात्, पटवत्" (यह घट, इस घट से अन्य में रहनेवाले वेद्यत्व के अधिकरण से अन्य है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे पट) इस प्रकार के महाविद्या प्रयोग द्वारा भी अवेद्यत्व की प्रसिद्धि कर लेनी चाहिए । [महाविद्या प्रयोग, उस अनुमान को कहते हैं, जिसके साध्य का समन्वय दृष्टान्त में और रीति से हो और पक्ष में और रीति से । जैसे कि प्रकृत अनुमान में साध्य है—एतद्धटान्यत्वविशिष्ट वेद्यत्व के अनधिकरण का भेद । शुद्ध वेद्यत्व सब कहीं रहता है, किन्तु एतद्धटान्यत्वविशिष्ट वेद्यत्व इस घट से भिन्न पटादि में ही रहेगा; अतः विशिष्ट वेद्यत्व का अधिकरण होता है—पटादि और अनधिकरण—एतद्धट । उस अनधिकरण का भेद पट रूप दृष्टान्त में है ही । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पट में साध्य प्रसिद्ध क्यों हुआ ? उसमें एतद्धटान्यत्व था इसलिए । किन्पु पक्षरूप एतद्धट में एतद्धटान्यत्व है नहीं, अतः पक्ष में साध्य का समन्वय करने के लिए हमें बाध्य होकर पक्ष से भिन्न कोई वेद्यत्व का अनधिकरण अवश्य मानना होगा जो एतद्धटान्यत्वशिष्टवेद्यत्व का अनधिकरण हो (उसमें यद्यपि एतद्धटान्यत्वरूप विशेषण है, किन्तु वेद्यत्व रूप विशेष्य न रहने से ही विशिष्ट का अनधिकरण होगा) और उससे अन्य होगा पक्ष । इस प्रकार बाध्य होकर हमें जो वेद्यत्व का अनधिकरण मानना पड़ा उस अवेद्य में अवेद्यता प्रसिद्ध हो गई] प्रकृत स्वयंप्रकाशत्व अनुमान में अप्रसिद्ध विशेष्यता भी नहीं; क्योंकि अनुभूति रूप विशेष्य प्रसिद्ध है ।

महत्त्वं च द्वाराल्पत्वरूपलाघवशालित्वे सति सिषाधयिषितार्थसाधकत्वम् । वक्ष्यति हि टीकाकृद् द्वितीयपरिच्छेदे—केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकि साध्यविशेषं साधयन् हि महाविद्येति । १. बाध इत्यर्थः । २. तदर्थं = तद्वारणार्थमित्यर्थः । ३. वेद्यत्वादि धर्ममादायार्थान्तरं तद्वारणाय—अत्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्तीति धर्मविशेषणाप्रमेयत्वाद्यादाय पुनःस एवदोषस्तं वारयितुं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणेति धर्मविशेषणम् । तथा च स्ववृत्तित्वविशिष्टस्य स्वेतरवृत्तित्वस्याधिकरणं प्रमेयत्वादि तद्भिन्नो योऽत्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्तिधर्मो घटत्वादिस्तदधिकरणं घटादीतिदृष्टान्ते

नापि स्वरूपासिद्धिः; कल्पितव्यक्तिभेदनिष्ठस्य चन्द्रत्वसामान्यस्येवानुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमे सिद्धान्ताविरोधात्। कल्पितस्यापि प्रतिबिम्बादिवत्साधकत्वसंभवात्। न च प्रतिवाद्यसिद्धिस्तेनाप्यनुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमात्। नच कल्पिताकल्पितत्ववैषम्याद्धेतोरन्यतरासिद्धिराशङ्कनीया, अवधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वमात्रस्योभयवादिसिद्धत्वात्। अन्यथा धूमवत्त्वादावपि तदेतद्देशनिष्ठत्वादिविकल्पेनासिद्ध्यादेर्दुष्परिहरत्वात्। न च

तदेवं पक्षदूषणान्यपाकृत्य हेतुदूषणान्यपाकरोति—**अतएवेत्यादि**। यत एवं विशेष्यरूपस्य धर्मिणः प्रसिद्धिस्तत एवेत्यर्थः। ननु किमिदमनुभूतित्वं नाम ? न तावज्जातिः, अनुभूतेरेकत्वाङ्गीकारेण व्यक्त्यभेदस्य जातिबाधकत्वात्। यथाह—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह' इति।

अतएव नोपाधिरपि। अनुगतो ह्युपाधिर्भवति अद्वैतविरोधश्चोभयत्रापि तुल्य इत्यसिद्धिरेव हेतोरित्यत आह—**नापीति**। यथाच कल्पितस्यापिसाधकत्वं तथा मिथ्यात्ववादे व्युत्पादयिष्यते। ननु प्रतिवादिना पारमार्थिकी जातिराद्रियते, भवता तु काल्पनिकीत्यन्यतरासिद्धिरित्यत आह—**नच कल्पितेति**। अवधीरितः कल्पिताकल्पितरूपो विशेषो येनानुभूतित्वमात्रेण तत्तथोक्तम्। उक्तपरिहारानङ्गीकारे स्वव्याहतिं बाधकमाह—**अन्यथेति**। **तदेतद्देशेति**। धूमवत्त्वं किं महानसनिष्ठं

इसीलिए हेतु में आश्रयासिद्धि दोष भी नहीं। स्वरूपासिद्धि भी नहीं; क्योंकि कल्पित अनेक व्यक्तियों में रहनेवाली 'चन्द्रत्व' जाति के समान 'अनुभूतित्व' जाति के मान लेने पर किसी प्रकार का सिद्धान्त-विरोध उपस्थित नहीं होता [आशय यह है कि उदयनाचार्य ने किरणावली में छह धर्मों को जातित्व-बाधक कहा है, जिनका निरूपण इसी परिच्छेद में आनेवाला है। उनमें 'एक-व्यक्ति-वृत्तित्व' भी एक है। जैसे आकाश एक ही व्यक्ति है अतः उसमें रहनेवाले आकाशत्व धर्म को जाति नहीं माना जा सकता। यद्यपि इसी प्रकार अनुभूति (चैतन्य) एक ही है; अतः 'अनुभूतित्व' जाति भी नहीं मानी जा सकती; तथापि औपाधिक भेद से अनुभूति व्यक्तियों को अनेक मानकर अनुभूतित्व जाति का वैसे ही समर्थन किया जा सकता है; जैसे कल्पभेद से अनेक चन्द्र-व्यक्तियों की कल्पना करके 'चन्द्रत्व' जाति का समर्थन किया जाता है]। काल्पनिक अनुभूतित्वरूप हेतु भी वैसे ही (अपने साध्य का) साधक होता है; जैसे काल्पनिक प्रतिबिम्ब अपने बिम्बका।

प्रतिवादी के मत में भी हेतु की असिद्धि नहीं; क्योंकि वह भी अनुभूतित्व जाति मानता है। यदि कहें कि वेदान्ती 'अनुभूतित्व' को कल्पित मानते हैं और प्रतिवादी पारमार्थिक—इस विषमता के कारण अन्यतरासिद्धि (वेदान्ती की कल्पित अनुभूतित्व जाति की प्रतिवादी के मत में और प्रतिवादी की पारमार्थिक जाति की वेदान्ती के मत में असिद्धि) है। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अनुभूतित्व मात्र को हेतु बनाया गया है। उसमें कल्पितत्व एवं अकल्पितत्व की विशेषता विवक्षित नहीं। वैसा अनुभूतित्व मात्र तो दोनों वादियों को मान्य है। नहीं तो धूमवत्त्वादि हेतु के विषय में भी यही पूछा जा सकता है कि महानसवृत्ति धूम पर्वत में हेतु है ? कि पर्वतवृत्ति ? प्रथम कल्प में स्वरूपासिद्धि; क्योंकि महानसीयधूम पर्वत में नहीं रहता और दूसरे कल्प में दृष्टांत में साधनाभाव; क्योंकि पर्वतीय धूम महानसरूप दृष्टान्त में नहीं रहता। [अतः कहना होगा कि 'धूमवत्ता' मात्र हेतु है। उसमें महानसीयत्व या पर्वतीयत्व कुछ भी विवक्षित नहीं।

साध्यसमन्वयः; घटत्वादेः स्वेतरघटादिनिरूपितवृत्तित्वाधिकरणत्वेऽपि स्वनिरूपितवृत्तित्वानधिकरणत्वात्।

व्याप्यत्वासिद्धिः; सोपाधिकस्यैव तथात्वात्, केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेरसंभवात्। उपाधिर्हि—साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः, स चान्वयव्यतिरेकी कश्चिद्धर्मः। स कथं केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्येनान्वयी स्यात्। न च पक्षे साध्येनान्वयः; तत्र साध्यस्याद्यापि संदिग्धत्वात्। निश्चये च सिद्धं नः समीहितमिति किमुपाधिः करिष्यति।

हेतुरुत पर्वतनिष्ठम्। आद्येऽसिद्धिः, द्वितीये साधनविकलं निदर्शनमिति दूषणे नोदीरितपदवीव्यतिरेकेण परित्राणमस्तीत्यर्थः। अन्यथाऽसिद्धिं परिहरति—नच व्याप्यत्वासिद्धिरिति। एषा हि हेत्वाभासानां स्थितिर्व्याप्यत्वेसति पक्षधर्मतया प्रमितत्वं सिद्धत्वं तद्विपरीतमसिद्धत्वम्। तत्र व्याप्तेरसिद्धौ व्याप्यत्वासिद्धिरित्यभिधीयते। पक्षधर्मत्वाऽसिद्धिस्तु त्रिधा। तत्राश्रयस्वरूपासिद्धावाश्रयासिद्धिस्तद्विशेषणपक्षसत्त्वाप्रतीत्या तु सिद्धसाधनमिति। इमामपिद्विविधां केचिदभिदधति साध्याकाराप्रसिद्ध्या साध्यस्वरूपासिद्ध्या चेति, प्रथमाऽसिद्धसाधनताभिधाना द्वितीया त्वप्रसिद्धविशेषणमिति। एतत्तु केवलपक्षदूषणतयैव वृद्धव्यवहारे प्रसिद्धं, हेतुस्वरूपासिद्धौ तु स्वरूपासिद्धिरिति। तत्र व्याप्यत्वासिद्धिर्नाम सोपाधिकः सम्बन्धः, निरुपाधिकसंबन्धस्य व्याप्तित्वात्सोपाधिकत्वे च निरुपाधिकसम्बन्धवैधुर्यादिति। तदेतत्सर्वमभिसंधायाह—सोपाधिकस्यैव तथात्वादिति। भवतु तर्ह्युपाधिरपि किमेतावता ? इत्यत आह—केवलव्यतिरेकिणि चेति। केवलव्यतिरेकिण्युपाध्यभावं वक्तुमुपाधिलक्षणमनुवदति – उपाधिर्हीति। साधनाव्यापक उपाधिरित्युक्ते शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्रहणार्हत्वमुपाधिः स्यात्तदर्थं साध्यव्यापक इत्युक्तम्, तथेत्युक्ते सामान्यवत्त्वादिनाऽनित्यत्वसाधने कृतकत्वमुपाधिः स्यात्तदर्थं साधनाव्यापक इत्युक्तम्। एतेन पक्षेतरत्वमपि व्याख्यातं, तस्यापि साध्यव्यापकत्वे उपाधित्वादितरथाऽनुपाधित्वादिति। भवत्वेवं ततः किमायातमित्यत आह—सचान्वयव्यतिरेकीति। साध्यव्यापकत्वमन्वयः, साधनाव्यापकत्वं व्यतिरेकः, तदुभयवान्धर्मः कश्चिदुपाधिरित्यर्थः। अस्त्वेतावतापि प्रस्तुते किमित्यत आह—स कथमिति। तत्र वक्तव्यं किं पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यव्यापकत्वं किंवा पक्ष एवाभिप्रेतमिति। नाद्य इत्याह—स कथमिति। केवलव्यतिरेकिणि प्रवर्तमानः स उपाधिः पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्येन कथमन्वियान्न कथमपीति योजना। केवलव्यतिरेकिणीति हेतुगर्भं विशेषणम्। नहि केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यं संभवति अविद्यमानसपक्षत्वादित्यर्थः। न द्वितीय इत्याह—नच पक्ष इति। तत्र साध्यानिर्णयादित्याह—तत्र साध्येति। विपक्षे दण्डमाह—निश्चये चेति। साध्यापहारो ह्युपाधेः कृत्यं, तत्र साध्यमेव चेन्निर्णीतं किं कुर्वन्नयमुपाधिः स्यादित्यर्थः। दूषणान्तरमाह—

फिर तो वैसा ही उत्तर अनुभूतित्व के विषय में भी है।]

व्याप्यत्वासिद्धि भी 'अनुभूतित्व' हेतु में नहीं; क्योंकि सोपाधिक हेतु में ही व्याप्यत्वासिद्धि दोष लगा करता है। किन्तु प्रकृत केवल व्यतिरेकी हेतु में उपाधि की सम्भावना ही नहीं। कारण यह है कि उपाधि कहते हैं—साध्य के व्यापक और साधन के अव्यापक किसी एक धर्म को। ऐसा धर्म अन्वयव्यतिरेकी ही होगा। वह धर्म प्रकृत केवलव्यतिरेकी हेतु के साध्य के साथ पक्ष से बाहर कहीं अन्वयी कैसे होगा ? [क्योंकि जिसके साध्य की सत्ता अन्यत्र कहीं निश्चित न हो उस हेतु को ही केवलव्यतिरेकी कहते हैं। वैसे साध्य का सहकार पक्ष से भिन्न स्थल पर हो ही नहीं सकता।] पक्ष में साध्य के साथ अन्वयी होगा—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि पक्ष में साध्य का संदेह ही है; निश्चय नहीं। यदि पक्ष में साध्य का निश्चय मान लें, तब हमारा अभीष्ट (अनुभूति में स्वयंप्रकाशता सिद्ध करना) सिद्ध ही हो गया; अब उपाधि हमारा क्या बिगाड़ लेगी ? दूसरी बात यह भी है कि पक्ष में उपाधिके रहने पर उसमें साधन की भी व्यापकता अनिवार्य हो जायगी।

---

१. सतीति शेषः। २. प्रकारान्तरेणाशङ्कितामित्यर्थः।

पक्षे चोपाधिवृत्तौ, साधनव्यापकता च दुर्वारा । न च साध्यसद्भावे मा भूदुपाधिः, साध्याभावे पुनरुपाधिः कश्चिद्भविष्यतीति वाच्यम्; तथाहि—यत्रोपाधिरस्ति तत्र साध्यं नास्तीति साध्याभावस्य गमकत्वेनोपाधिरेष्टव्यः । अन्यथोपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो व्यापकतया न वर्तते चेत्, उपाधिसद्भावे साध्यं स्यात् । तच्च न पक्षे; तत्रोपाधिसद्भावे तस्य साधनव्यापकत्वप्रसङ्गात् । तस्मादन्यत्रोपाधिसत्त्वे साध्यस्य सत्त्वं स्यादिति वाच्यम् । तथा च केवलव्यतिरेकित्वभङ्गप्रसङ्गः । प्रकृते चानुभूतिर्वेद्या वस्तुत्वाद्घटवदिति केवलान्वयिनानुमानेन हि स्वयंप्रकाशत्वव्यतिरेको वक्तव्यः । तत्र च नोपाधिः संभवति; साधनाव्यापकत्वस्य वक्तुमशक्य-

---

पक्षे चेति । साधनवन्निष्ठात्यन्ताभाववत्त्वं ह्युपाधेः साधनाव्यापकत्वम् । तत्र पक्षेऽपि चेदुपाधिर्वर्तते कथं तत्रैव तस्यात्यन्ताभावः स्यात् । नचान्यत्र, केवलव्यतिरेकिसाधनस्यान्यत्राभावादिति भावः । ननु न वयं साध्यसद्भावे उपाधिं ब्रूमः, येन साध्यव्यापकता दुःसाध्या अपितु साध्याभाव इत्यत आह—**नच साध्यसद्भाव इति** । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**तथाहि यत्रोपाधिरिति** । तथाहि तथासतीत्यर्थः । उपाधिना हि साध्याभावप्रमितिं वाञ्छता साध्याभावं प्रति गमकत्वेन व्याप्यत्वेनोपाधिरेष्टव्य इत्युक्तम् । व्यापकत्वे दोषमाह—**अन्यथेति** । अन्यथा व्यापकत्वेनाङ्गीक्रियमाणे, व्यापकतयोपाधेरिति संबन्धः । व्यापकस्य चोपाधेरधिकवृत्तित्वसंभवात्, उपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो यदि न वर्तेत, संभवति ह्यवर्तनं न्यूनवृत्तेः साध्याभावस्य । तत उपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भावः स्यात्साध्याभावाभावस्य साध्यरूपत्वात्तन्नान्तरीयकत्वाद्वेत्यर्थः । अव्यापकतयेति वा पदच्छेदः । साध्याभावस्य व्यापकत्वाभावेनेत्यर्थः । भवतूपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भावः किमतः ? तत्र वक्तव्यं किं पक्षे ? उत तद्व्यतिरिक्तस्थले ? आद्यं प्रत्याह—**न पक्ष इति** । तत्र हेतुमाह—**तत्रोपाधिसद्भाव इति** । यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । द्वितीयं परिशेषयति—**तस्मादिति** । भवत्वेवं ततः किमिति । केवलव्यतिरेकिताकोपमपहाय न किंचिदित्याह—**तथाचेति** । ननु मा भूदुक्तदोषराशिक्लेशानुकर्षितया[1] साध्याभावं प्रति व्यापकत्वमुपाधेः, व्याप्यत्वे का नामानुपपत्तिरिति तत्राह—**प्रकृते चेति** । **अनुमानेनेति** । हेतुनेत्यर्थः । अत्रहि स्वप्रकाशत्वलक्षणसाध्याभावो वेद्यत्वम् । यत्रच वस्तुत्वं तत्र च वेद्यत्वं गमकत्वेनाभिमतामति तदेवोपाधिस्तस्य च केवलान्वयित्वेनाभिमततया सर्वनिष्ठस्य साधनवत्यपि विद्यमानत्वात्साधनाव्यापकत्वं दुर्लभमित्यर्थः । अत्र च प्रकृतग्रहणं केवलान्वयिग्रहणं

यदि शङ्का हो कि यदि साध्य के सद्भाव में (साध्यसमानाधिकरणक) कोई उपाधि नहीं बनती; तो साध्य के अभाव में ही वस्तुत्व–आदि कोई उपाधि बन जायगी । तो यह शङ्का भी ठीक नहीं; क्योंकि उस (वस्तुत्वादि) उपाधि को भी साध्याभाव का साधक बनाने के लिए व्याप्य मानना होगा । अर्थात् 'जहाँ-जहाँ उपाधि है, वहाँ-वहाँ साध्याभाव है'—इस प्रकार की व्याप्ति बनानी होगी । अन्यथा (उपाधि को व्याप्य और साध्याभाव को व्यापक न मानने पर) उपाधि के रहने पर भी (अव्यापक होने के कारण) साध्याभाव नहीं रहेगा; अपितु साध्य ही रह जायगा । (यदि उपाधि के आधार में साध्य माना जाय, तो कहाँ ? पक्ष में ? या बाहर ?) पक्ष में तो वह माना नहीं जा सकता; क्योंकि वहाँ उपाधि के रहने पर उसमें साधन-व्यापकता की प्राप्ति होगी । अतः अन्यत्र ही उपाधि के रहने पर साध्य का सद्भाव कहना होगा; फिर तो केवलव्यतिरेकिता का भङ्ग हो जायगा । (इन दोषों से बचने के लिए उपाधि को साध्याभाव का व्याप्य मानना भी उचित नहीं जँचता; क्योंकि)"अनुभूतिः वेद्या वस्तुत्वाद् घटवत्"–इस केवलान्वयी अनुमान के द्वारा प्रकृत पक्ष में स्वयं प्रकाशत्वरूप साध्य का अभाव ही सिद्ध करना होगा । किन्तु (तत्र) वस्तुत्व में उपाधित्व सम्भव नहीं; क्यों कि वस्तुत्व तो केवलान्वयी धर्म है, उसमें साधन की व्यापकता ही

---

[1] क्लेशकृशानुकर्षिततयेत्यपि पाठः तत्र कृशानुः = वह्निः कर्षिततया = दग्धतयेत्यर्थः ।

त्वात। तदेवं नासिद्धो हेतुः। नापि विरुद्धः; वेद्येषु विपक्षेष्वनुभूतित्वहेतोरवृत्तेः। नाप्यनैकान्तिकः; विपक्षाद्व्यावृत्तेरेव। नाप्यसाधारणः; सपक्षाभावात्। विपक्षे बाधकतर्काभावात्सन्दिग्धानैकान्तिकतेति चेत्, मैवम्, अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात्। न च वाच्यमवश्यवेद्यत्वाभावान्नानवस्था व्यवहारस्य तत्स्वरूपसत्तामात्रेणाप्युपपत्तेरिति; तद्विषयप्रमाणानुदये तत्सत्ताया अप्यनिश्चयात् तत एव व्यवहार इत्यप्यसिद्धेः। अथ यदा कदाचित्तत्सत्ताजिज्ञासोदये

च्चोपलक्षणम्। सर्वकेवलव्यतिरेकिणि पक्षनिष्ठतयाशङ्क्यमानसर्वोपाधेः साधनव्यापकत्वात्। एतेन साध्याभावसमव्याप्तः कश्चिदुपाधिरस्तीति पक्षोऽपि निरस्तः। किंच यदा साध्याभावं प्रति व्याप्य उपाधिरिष्यते, तदा साध्याभावव्यावृत्तावुपाधिव्यावृत्तिरप्येष्टव्या, व्यापकात्यन्ताभाववन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनो व्याप्यत्वात्, संभवद्व्यतिरेकयोश्च व्यतिरेकव्याप्तेरप्येष्टव्यत्वात्। तथाच साध्याभावव्यावृत्तावुपाधेरपि व्यावृत्तिः किं पक्षे? उतान्यत्र? नाद्यः, पक्षे साध्याभावाभावरूपसाध्यस्याद्याप्यनिर्णयात्। नाप्यन्यत्र; केवलव्यतिरेकिताकोपादिति। अत्र कश्चित्—साध्याभावसाधनाभावसंबन्धभञ्जकतया विपक्षे एवोपाधिं निदध्यादिति, तत्तु साध्यशब्दार्थानवबोधविजृम्भितमिति न तदपराधः कश्चित्। एवं हि साध्याभावाव्यापकत्वे सति साधनाभावव्यापक उपाधिरित्युक्तं स्यात्तथा च कथं साध्यव्यापकत्वम्? न हि साधनाभावः साध्यम्। अविप्रतिपन्नत्वात्। कुत्र च साध्याभावाव्यापकत्वमवसेयम्? न तावत्पक्षे; तत्र साध्याभावानिर्णयात्। नाप्यन्यत्र, तथासति साधनाभावाव्यापकतया तत्पक्षव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य केवलव्यतिरेकिसाधनाभाववत्त्वात्। बहु चात्र वक्तव्यमस्ति विस्तरभयात्तु नोच्यते। ननु भवतु विपक्षवृत्त्यभावात्सपक्षेऽसति सपक्षाप्रवेशाभावाच्च विरुद्धानैकान्तिकतानामध्यवसितानामभावः। विपक्षे बाधकतर्काभावात्तु संदिग्धानैकान्तिकताकिंवदन्त्याः का नु प्रतिक्रियेति शङ्कते—**विपक्षे बाधकेति**। नन्वनुभूतिरनुभाव्यैवेति यदि नियमः स्यात्, स्यादनवस्था। नत्वयं नियम इति मतमाशङ्क्य निषेधति—**नच वाच्यमित्यादिना**। ननु यदि नानुभाव्यतानियमः, अननुभूततया तर्हि कथमर्थे व्यवहार इति शङ्कां स एव परिहरति—**व्यवहारस्येति**। तत्स्वरूपसत्तामात्रेण। अज्ञातेनेत्यर्थः। नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**तद्विषयेति**। स्यादेवं, यदि तज्ज्ञानमन्तरेण तत्सत्ता निर्धार्येत, नत्वेतदस्ति प्रमाणाभावे दुरवधारणसत्तावत्त्वादितरथाऽसत्त्वमेव कथं नाध्यवसीयते। यथोक्तं "को ब्रूते सती सा वित्तिरिति"। तस्मात्सत्त्वमपि तस्य प्रमाणादेवावगन्तव्यमित्यर्थः। यदत्र तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्तं तदाशङ्कते—**अथेति**। अयमर्थः—नास्माभिः सत्तायां प्रमाणमेव नास्तीत्युच्यते,

---

रहेंगी; अव्यापकता नहीं। अतः अनुभूतित्व हेतु किसी प्रकार से भी असिद्ध नहीं।

'अनुभूतित्व' हेतु विरुद्ध भी नहीं; क्योंकि वेद्यरूप (घटादि) विपक्षों में वह नहीं रहता। विपक्ष में अवृत्ति होने से ही अनैकान्तिक (साधारण) भी नहीं। असाधारण भी नहीं; क्योंकि उसका सपक्ष ही नहीं। [भाव यह है कि जिस हेतु में सपक्षवृत्तित्व और विपक्षवृत्तित्व—दोनों का अभाव हो, उसे ही आसाधाण कहते हैं, किन्तु जिसका विपक्ष ही प्रसिद्ध नहीं, उसका विपक्षवृत्तित्व रूप प्रतियोगी अप्रसिद्ध होने से विपक्षवृत्तित्वाभाव भी हेतु में नहीं कहा जा सकेगा]। विपक्ष-बाधक तर्क का अभाव होने के कारण सन्दिग्ध अनैकान्तिकता अवश्य होगी—यह भी सन्देह नहीं करना; क्योंकि विपक्ष-बाधक तर्क है—'अनुभूति यदि वेद्य होगी, तो अनवस्था होगी'। यह भी कहना न होगा कि (सभी अनुभूतियों में) वेद्यता आवश्यक न होने से अनवस्था नहीं होगी, व्यवहार तो अनुभूति की स्वरूपसत्ता (अज्ञात सत्ता) से भी चल सकता है; क्योंकि जिस अनुभूति में कोई प्रमाण प्रवृत्त न हुआ, उसकी अज्ञात सत्ता का निश्चय नहीं हो सकता। इसीलिए (निष्प्रमाण होने से ही) उससे व्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता।

जब कभी अज्ञात सत्ता की जिज्ञासा पैदा होगी, तब किसी व्यवहारादि हेतु के द्वारा उसका

व्यवहारादिना केनचिल्लिङ्गेन सापि प्रमीयत इति मतं, तन्न; घट इति घटमनुभवामीति चानुभूतिद्वयातिरिक्तायास्तत्तदनुभूतिपरम्परावगाहिकायाः कस्याश्चिदनुभूतेरनुभवागोचरत्वात्। अन्तरेण तदनुभवं तत्सत्ताभ्युपगमे, प्रमेयसत्ताया अपि तथाभ्युपगमोपपत्तौ प्रमाणगवेषणावैयर्थ्यापातात् तत्रापि च प्रमाणगवेषणायां पूर्वोक्तानवस्था तदवस्थैव स्यात्। अथ सा स्वविषयप्रमाणमन्तरेण स्वभावभेदादेव स्वविषयभेदव्यवहारं जनयेत्; जनयेत् सैव तर्हि तथा स्वव्यवहारमिति व्यर्थाऽनुभूतिपरम्पराभ्युपगतिः। तदेवमनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनुभूतिस्वरूपासिद्धिप्रसङ्गस्यैव विपक्षे बाधकतर्कत्वात्, न संदिग्धानैकान्तिकता। किञ्चानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये

अपितु जिज्ञासायां सत्यां, नतु पुनः स्वोदयसमसमयमेवेति। तस्याश्चातीतायाः प्रत्यक्षाविषयत्वात् व्यवहारादिना लिङ्गेनेत्युक्तम्। आदिशब्देन च स्मरणं गृह्यते। परिहरति—**तन्नेति**। अयं भावः—भवेदेवं यदि काचिदेवंविधा वित्तिः स्यात्सैव त्वनुपलब्धिविरुद्धा। न हि संसारमण्डले कस्यचिदर्वाग्दृशो व्यवसायानुव्यवसायातिरिक्ता तत्तद्वित्तिपरम्पराग्राहिका काचिदपि वित्तिरनुभूयते। किन्तु तेनोपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभाव एवावसीयते। योगिप्रभृतीनां तु तदस्तित्वे न ते प्रमाणमस्तीति। अथ माभूदनुभवस्तथापि तत्कल्पयाम इत्यत आह—**अन्तरेणेति**। तदनुभवं तादृशवित्त्यनुभवमित्यर्थः। न वयमेवमेव कल्पयामः अपितु प्रमाणबलादिति चेत्तत्राह—**तत्रापीति**। तृतीयज्ञान इत्यर्थः। ननु तादृशी संवित् स्वज्ञापकप्रमाणमन्तरेणैव स्वरूपविशेषात्स्वविषये व्यवहारं प्रवर्तयतु, नह्येकस्य यादृगेव स्वभावस्तादृगेव सर्वस्येति शक्यनियमनं, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गादिति शङ्कते—**अथ सेति**। **स्वभावभेदात्**। स्वभावविशेषादित्यर्थः। **स्वविषयभेदव्यवहारमिति**। स्वविषयविशेषव्यवहारमित्यर्थः। परिहरति—**सैव तर्हीति**। **स्वव्यवहारमिति**। स्वविषयव्यवहारमिति यावत्। अन्तिमायां यो न्यायः स प्रथमायामेवास्तु, "प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धन" इति न्यायादित्यर्थः। तृतीयज्ञानमेव वा तच्छब्दावमृष्टं तदा स्वविषयवत्स्वस्मिन्नपि तथाव्यवहारं प्रवर्तयेत्तन्न्यायेन चाद्यस्य स्वप्रकाशता सिद्ध्यतीति द्रष्टव्यम्। किंचानुभूतित्वं भवतु स्वप्रकाशत्वं च माभवत्विति वदन्प्रष्टव्यः किं अर्थप्रकाशनसमयेऽनुभूतिर्न प्रकाशतएव ? प्रकाशमाना वा परत ? इति। नाद्य इत्याह—**किंचानुभूतिरिति**। अप्रकाशमानेपि सर्वत्र संदेहादिर्नास्ति जिज्ञासाभावादपि तदभावोपपत्तेः। नहि हिमगिरिदरिविहारिकेसरिसटासंख्यासु संदिहते जनाः, असंदिहाना वा विपर्यस्यन्ति, अविपर्यस्यन्तो वाऽभावं प्रमिण्वन्ति, अप्रमिण्वन्तो वा तत्त्वं विनिश्चिन्वन्तीत्यत उक्तं—जिज्ञा-

---

अनुमान कर लिया जायगा—यह मत भी ठीक नहीं; क्योंकि "यह घट है", "मैं घट का अनुभव करता हूँ"—इस प्रकार की दो अनुभूतियों (व्यवसाय और अनुव्यसाय) से अतिरिक्त अनुभूति-परम्परा अनुभव में नहीं आती। बिना अनुभव के उस (अनुभूति परम्परा) की सत्ता यदि मान ली जाय, तब तो उसी प्रकार प्रमेय की सत्ता भी मानी जा सकेगी; फिर तो (प्रमेय सत्ता के लिए) प्रमाणों की गवेषणा (खोज) व्यर्थ ही होगी। प्रमाणान्तर के आधार पर अनुभूति-परम्परा यदि मानी जाय, तब तो वही पुरानी अनवस्था जैसी-की-तैसी होगी। यदि कोई शङ्का करे कि द्वितीय अनुभूति (स्वविषयक) प्रमाण के बिना ही अपने स्वभाव विशेष से अपने विषय (प्रथम अनुभूति) का व्यवहार सम्पन्न कर देगी, तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि फिर तो प्रथम अनुभूति ही किसी प्रमाण के बिना ही अपना व्यवहार चला लेगी; अतः अनुभूति-परम्परा का मानना व्यर्थ ही हो जायगा। (इस प्रकार यही सिद्ध हुआ कि अनुभूति को वेद्य मानने पर अनवस्था होगी और यदि आगे चल कर किसी अनुभूति में प्रमाण नहीं दे सकें, तो उसकी असिद्धि हो जाने से पूर्व-पूर्व की) सभी अनुभूतियों का स्वरूप असिद्ध हो जायगा—यही विपक्ष-बाधक प्रबल तर्क है; अतः सन्दिग्ध अनैकान्तिकता नहीं लग सकती।

→ दूसरी बात है यह कि विषय-प्रकाश के समय में यदि अनुभूति भी प्रकाशित न हो, तब तो

अनुभूति उ०-(स्वप्रकाशत्व प्रतिपादन

यदि न प्रकाशेत, तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र संदेहो विपर्ययो वा विपरीतप्रमा वोदियात्। न च कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति पृष्टोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति संविदभावं वा प्रमिणोति, किन्तु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थे व्यवहारं जनयतीति युक्तम्। न च सुखादिवदन्याधीनप्रकाशत्वेऽपि संशयाद्यविषयत्वोपपत्तिः, सति धर्मिणि तद्वदेवावश्यवेद्यत्वेऽनवस्थादौस्थ्यात्। किञ्च येन मनःसंयोगेन घटानुभूतिर्जनिता तेनैवानुव्यवसायस्यापि जन्म ? उत संयोगान्तरेण ? नाद्यः; अनुव्यवसायं प्रति कर्मकारकतया जनकस्य व्यवसायस्य तज्जन्यानुव्यवसायस्य च यौगपद्यायोगात्, करणस्य प्रत्यय-

सोरिति। जिज्ञासायां सत्यामपि संदेहादिर्नोदेति अभावनिर्णयादपि तेषामभावोपपत्तेरत उक्तं—विपरीतप्रमा वोदियादिति। एतदुक्तं भवति—यत्र विषये प्रमितिरपि नास्ति जिज्ञासा च चकास्ति तस्याः स्फुरणदशायां संदेहादिर्भवेदेवेति। नचैतदत्रास्तीत्याह—नच कश्चिदिति। निश्चयमेवाभिनयति—इदमहमद्राक्षमिति। इदानीं द्वितीयं निषेधति—नच सुखादिवदिति। हेतुमाह—सति धर्मिणीति। धर्मी अनुभवः। तद्वदेवेति सुखादिवदेवेत्यर्थः। अथवा सति धर्मिणीति। द्वितीयज्ञाने सतीत्यर्थः। तद्वदेवेति प्रथमज्ञानवदित्यर्थः। तथासत्यनवस्था प्रसरत्येवेति भावः। नच सुखादिप्रतिबन्दी, तत्राप्यस्मन्मते तत्साधकसाक्षिणः स्वप्रकाशत्वेनानवस्थानवतारात्, भवतामेव तत्रापि दौस्थ्यात्। तदेवमर्थप्रतीतिसमये संविदः स्फुरणमनवस्थाभयादन्यनिबन्धनं न भवतीत्युक्तम्। इदानीं तात्कालिकं[2] तद्विषयं ज्ञानमेव निरूपयितुं न शक्यते कारणाभावादित्याह—किंच येनेति। व्यवसाजनकसंयोगेनैवानुव्यवसायजन्मेत्याद्यं पक्षं निराचष्टे—नाद्य इति। तत्र किं युगपदेव ज्ञानद्वयं जनयति स मनःसंयोगः ? उत पर्यायेण ? नाद्यः, जन्यंजनकयोः समसमयमेव जन्माभावादित्याह—अनुव्यवसायं प्रतीति। न द्वितीय इत्याह—करण-

विषय प्रकाश के अनन्तर जिज्ञासु को अपनी अनुभूति में सन्देह (मुझे घट का ज्ञान हुआ? कि नहीं ?) या विपर्यय (मुझे घटाभाव का ज्ञान हुआ) अथवा विपरीत-निश्चय (मुझे ज्ञान ही नहीं हुआ) होना चाहिए। किन्तु 'क्या आपने अमुक वस्तु देखी ? कि नहीं ?—इस प्रकार पूछे जाने पर दर्शक न तो सन्देह प्रकट करता है; न विपर्य और न विपरीत-प्रथा; अपितु दृढ़ता-पूर्वक अपना निश्चय ही प्रकट करता है कि "मैंने अमुक वस्तु देखी है।" अतः मानना होगा कि अनुभूति स्वयं प्रकाशित होती हुई अपने विषय का व्यवहार पैदा करती है। यदि शङ्का हो कि जैसे सुखादि स्वयं प्रकाश नहीं, दूसरे ज्ञान से ही प्रकाशित होते हैं, फिर भी उनके विषय में किसी प्रकार का संशय नहीं होता। वैसे ही विषय-प्रकाश के साथ-साथ प्रथम अनुभूति भी किसी दूसरी अनुभूति से प्रकाशित हो जायगी; उसमें संशयादि का न होना उचित ही है। तो यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि दूसरी अनुभूति (धर्मी) में भी वेद्यत्व अवश्य ही रखना होगा। उसमें वेद्यत्व तीसरी अनुभूति से; तीसरी में चौथी से—इस प्रकार अनवस्था के पञ्जे से छुटकारा सम्भव न होगा।

अनुव्यवसाय खण्डनं

→ और भी जिज्ञासा होती है कि जिस मनःसंयोग (असमवायिकारण) से घट की अनुभूति पैदा हुई, क्या उसी (मनःसंयोग) से अनुव्यवसाय (दूसरी अनुभूति) का जन्म होता है ? अथवा दूसरे मनःसंयोग से ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि (अनुव्यवसाय और व्यवसाय—दोनों का यदि एक ही मनःसंयोग कारण है, तब तो उन दोनों की उत्पत्ति एक काल में होनी चाहिए। किन्तु यह सम्भव नहीं; कारण यह है कि) अनुव्यवसाय का कर्मकारक होने से व्यवसाय जनक है और अनुव्यवसाय उससे जन्य होता है; जन्य और जनक—दोनों एक काल में उत्पन्न हो ही नहीं सकते। एक ही मनःसंयोग अपने दोनों कार्यों (व्यवसाय तथा अनुव्यवसाय ज्ञानों) को क्रमशः जन्म

---

१. द्र० न्यायमकरन्दः (पृ०१३८)। २. व्यवसायकालिकमित्यर्थः।

पर्याये सामर्थ्यानङ्गीकाराच्च यतोऽसमवायिकारणभेद एव ज्ञानभेदहेतुरभ्युपेयते । अन्यथापेक्षणीयान्तरासंभवेन युगपदेव घटानुभवस्मरणयोरनुभवान्तरस्य च तद्विषयस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अक्रमाच्च कारणात्कार्यभेदक्रमायोगात् , बाह्यसामग्र्यवच्छेदकक्रमभेदेन कार्यक्रमाभ्युपगमे युगपदेव संप्रयुक्तेषु घटपटादिषु युगपदेवानेकज्ञानजन्मप्रसङ्गात् । न द्वितीयः; घटज्ञानोदयसमये मनसि क्रिया ततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगविनाशस्तत उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरमित्यनेकक्षणविलम्बेनोत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यापरोक्षतया पूर्वज्ञानग्राहकत्वानुपपत्तेः । किञ्च चक्षुरादिवदप्रकाशमानस्यैव ज्ञानस्य स्वातिरिक्तज्ञानजननेनार्थव्यवहारहेतुत्वाभावात् जडानां

स्येति । प्रत्ययपर्यायः प्रत्ययपरम्परा । प्रत्ययपर्याये सामर्थ्याभावं विवृणोति—यत इति । अस्यैव भेदकत्वानङ्गीकारे दण्डमाह—अन्यथेति । यत्र संस्कारसहितमिन्द्रियं प्रत्यभिज्ञां जनयति तत्र घटविषययोरनुभवस्मरणयोस्तद्द्वयविषयानुभवान्तरस्य चेति ज्ञानत्रयस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । तत्र हेतुः—अपेक्षणीयांतरासंभवेनेति । संयोगभेदस्यानङ्गीकारात् , विषयस्य चैकत्वादेव संपन्नत्वात्संस्कारस्य संप्रयोगस्य च विद्यमानत्वादिति भावः । तदेवं कार्यभेदो दृश्यमानस्तदुपपादकासमवायिकारणभेदं कल्पयतीत्युक्तम् । इदानीं कार्यक्रमोऽपि क्रमवत्कारणमन्तरेणानुपपद्यमानोऽसमवायिकारणक्रमं कल्पयति, ततश्च तस्यानेकत्वमित्याह—अक्रमाच्चेति । ननु भवतु कारणक्रमः, स त्वसमवायिकारणस्य न भवति; अपि तु बाह्यसामग्री या विषयेन्द्रियसंप्रयोगादिस्तदीय इत्याशङ्क्य तर्हि यत्र युगपदेव विषयेन्द्रियसंप्रयोगस्तत्र युगपदेवानेकानि ज्ञानानि जायेरन् न तु तदस्ति, तस्मात्तत्रापि कार्यक्रमप्रयोजनको बाह्यसामग्र्यतिरिक्तस्यान्तरस्य कारणस्य क्रमो वक्तव्यस्तत्र चात्ममनसोरेकत्वेन क्रमायोगात्परिशेषात्तयोः संयोगलक्षणासमवायिकारणक्रमएव प्रयोजक इत्याह—बाह्यसामग्रीति । न चादृष्टमात्रभेदाद्, अतिप्रसङ्गात् । तदेवं प्रथमज्ञानजनकसंयोगादेव द्वितीयज्ञानजन्मेत्ययं पक्षो निरस्तो वेदितव्यः । इदानीं संयोगान्तरादनुव्यवसायजन्मेति द्वितीयं पक्षं निरस्यति—न द्वितीय इति । अवर्तमानग्राहकप्रत्यक्षाभावादित्यर्थः । पूर्वं संवित्स्फुरणानुपपत्तिर्बाधिकेत्युक्तमिदानीं सर्वस्फुरणानुपपत्तिरूपं बाधकमाह—किंचेति । एवं हि तेषामभ्युपगमः, ज्ञायमानमेव

देगा—ऐसा सामर्थ्य उसमें माना नहीं जा सकता; क्योंकि असमवायिकारण का भेद ही ज्ञानों के भेद का नियामक माना जाता है । अन्यथा दूसरा कोई (संयोग) अपेक्षणीय है नहीं, फिर तो एक ही समय में घटानुभव, घटस्मरण और उन दोनों को विषय करनेवाला (प्रतिभिज्ञा) अनुभव—ये तीनों एक काल में उत्पन्न होने लग जायेंगे । (किन्तु वे एक काल में होते नहीं; अपितु क्रमशः । अतः मानना होगा कि उन तीनों ज्ञानों के असमवायिकरण (मनःसंयोग) भिन्न-भिन्न हैं और क्रमिक हैं अक्रमिक (क्रम-शून्य) कारण से कभी कार्यों की क्रमशः उत्पत्ति न बन सकेगी । विषय—इन्द्रिय—सन्निकर्षादि बाह्यसामग्री के क्रम-भेद से कार्य का क्रम मानने पर एक साथ इन्द्रिय-संयुक्त घट, पटादि अनेक विषयों के अनेक ज्ञान एक काल में ही पैदा होंगे ।

दूसरा पक्ष भी (दूसरे मनःसंयोग से अनुव्यवसाय की उत्पत्ति) भी समीचीन नहीं; क्योंकि घट-व्यवसाय के क्षण में संयोगान्तर पैदा करने के लिए मन में क्रिया, दूसरे क्षण में (उक्त क्रिया-जन्य) विभाग, तीसरे क्षण में (विभाग-जन्य) पूर्व-संयोग का नाश, चौथे क्षण में उत्तर-संयोग उत्पन्न होगा, तब कहीं पाँचवें क्षण में दूसरा (अनुव्यवसाय) ज्ञान होगा—इस प्रकार अनेक क्षणों के विलम्ब से (व्यवसाय के नष्ट हो जाने पर) उत्पन्न होनेवाला अनुव्यवसाय अपरोक्षत्वरूप से पूर्व (व्यवसाय) ज्ञान का ग्राहक नहीं बन सकेगा; क्योंकि अविद्यमान विषयक प्रत्यक्ष नहीं होता । (अप्रकाशित ज्ञान को व्यवहार-साधक मानने पर एक और दोष होगा कि) जैसे अर्थ स्वयं-प्रकाश स्वरूप नहीं, अपितु अर्थ-प्रकाश का जनक है, वैसे ही ज्ञान भी

च स्वतः परस्परतो वा प्रकाशमानत्वायोगात् ज्ञानमपि न प्रकाशते चेत्, किमपि न प्रकाशेतेति जगदान्ध्यप्रसङ्ग इत्यादिविपक्षबाधकस्तर्क उन्नेयः। ननु घटज्ञानवानहमस्मि ज्ञातो घट इति प्रत्यक्षेणैवानुभूतेर्वेद्यत्वप्रतीतेः कालात्ययापदिष्टतेतिचेत्, न; वेद्यत्वव्यतिरेकेण तस्याः स्वतःस्फुरणेनापि तादृग्व्यवहारोपपत्तेः। किञ्च विदितो घट इत्यत्रानुव्यवसायेन घटस्यैव विदित्वमवसीयते न तु वित्तेः, विदितत्वस्य घटविशेषणत्वात्। अपि चानुभूतेः प्रत्यक्षतायामपि तत्प्रत्यक्षेणैव तदनुभाव्यत्वस्याप्रत्यक्षीकरणान्न प्रत्यक्षविरुद्धता। अन्यथानुव्यवसायेन व्यवसायस्य स्वविशेषितवेद्यत्वग्रहणे विशेषणतया स्वस्यापि स्वेन वेद्यत्वापातात् सौगतमतानुमति-

ज्ञानमर्थव्यवहारहेतुरिति न नियमो निलीनस्यापि तस्य चक्षुरादिवद्व्यवहारेतुत्वसंभवादिति। नचैषोऽपि युक्तः। तथा सति चक्षुरादिवदेवार्थप्रकाशकत्वं स्यान्नतु प्रकाशत्वं, प्रकाशत्वं च सिद्धमतो न चक्षुरादिसाम्यमित्यर्थः। किंच तदपि ज्ञानं पूर्वज्ञानवदेवेति न किंचिदपि ज्ञानमर्थप्रकाशं स्यात्। जडानां च जडत्वादेव न स्वयं परस्परेण वा प्रकाशसंभव इति 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इत्याभाणकभागितयैव जगत एव घोरान्धकारनिकरकूपोदरनिपातापात इत्याह—जडानां चेत्यादिना। प्रत्यक्षविरुद्धकालातीततामाशङ्कते—नन्विति। घटविशेषितज्ञानावग्राहि वा ज्ञानविशेषितघटावग्राहि वोभयथापि ज्ञानग्राह्यमेवेदमित्यर्थः। अत्र तावदेवंविधशब्दप्रयोगस्य विषयस्फुरणेन भवितव्यं, तत्तु यथायथं ज्ञानस्य स्वरूपस्फुरणेन घटस्य तु तेनैव स्फुरणेनेत्येवं स्फुरणेऽपि संभवत्येवायं व्यवहार इति नायं ज्ञानस्य वेद्यत्वापादनक्षम इत्याह—न। वेद्यत्वव्यतिरेकेणेति। विदितो घट इत्यत्राधिकमाह—किंचेति। अथवा व्यवहारस्यानुभूतिविषयत्वमङ्गीकृत्यान्यथासिद्धिरभिहिता। इदानीं तु तदेव नास्तीत्याह—किंचेति। एवं हि वेदनस्यापि विदितत्वं व्यवहारविषयत्वं वा स्यात्। यदि विदित इति पदं वेदनेन समन्वियान्नत्वेतत्, घटेनैव तस्यान्वयादित्यर्थः। किंच भवतु वानेन ज्ञानेन स्फुरणं तथाप्येतज्ज्ञानवेद्यत्वमनेनैव गृह्यते ? अन्येन वा ? न तावदन्येन; तदानीं प्रथमस्यातीततया तन्निष्ठवेद्यताया अप्रत्यक्षत्वात्। न द्वितीयः, अपराद्धान्तापातादित्याह— अपिचानुभूतेरिति। सौगतमतानुप्रवेशो ज्ञानस्यैव स्वग्राहकत्वेन क्रियाकर्मभावस्वीकारः। सत्प्रतिपक्षतां परिहरति—नचेति। येयं व्याप्तिग्रहिणी संवित्समस्तं वस्तु तद्गतवेद्यत्वं च गृह्णाति, सापि स्फुरति ? न वा ? यदि स्फुरति ? तदा स्वेनान्येन वा ? स्वेनेति तावन्न घटत इत्याह—स्वेनेति। न वयं

दूसरे ज्ञानमात्र का जनक ही होगा, स्वयं अर्थ-प्रकाश स्वरूप न होने से अर्थ-व्यवहार-हेतु न बन सकेगा। घट, पटादि जड़ पदार्थ न तो स्वयं प्रकाशमान हैं और न परस्पर (घट से पट, पट से घट) प्रकाशित हैं, अब यदि ज्ञान भी प्रकाशमान नहीं; तब तो कुछ भी प्रकाशित न होगा, जगत अन्धकार मय हो जायगा—इस प्रकार की विपक्ष-बाधक तर्कों की कल्पना कर लेनी चाहिए।

'मैं घट-ज्ञानवाला हूँ,' 'घट ज्ञात है'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष से ही अनुभूति में वेद्यत्व प्रतीत होता है, अतः (उक्त अनुभूतित्व हेतु) बाधित है—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वेद्यत्व के बिना भी अनुभूति की स्वयंप्रकाशता से उक्त व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है। दूसरी बात यह भी है कि "घट विदित है"—इस अनुव्यवसाय से घट में वेद्यत्व का भान होता है, न कि अनुभूति में; क्योंकि विदितत्व घट का विशेषण है। मान भी लें कि अनुभूति का (उक्त अनुव्यवसाय से) प्रत्यक्ष होता है, फिर भी उसके प्रत्यक्ष (अनुव्यवसाय) से ही अनुभूतिगत वेद्यत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता; अतः प्रत्यक्ष से (अवेद्यत्व का) बाध नहीं। यदि अनुव्यवसाय से ही व्यवसाय में रहनेवाले अनुव्यवसाय के वेद्यत्व का ग्रहण हो जाय, तब तो अनुव्यवसाय में भी अनुव्यवसाय की वेद्यता आ

---

१. अज्ञायमानस्येत्यर्थः। २. प्रत्यक्षविरुद्धार्थविषयकानुमितिजनकतां बाधिततामित्यर्थः। ३. विषयस्फुरणन्तु।

प्रसङ्गः । न च वेद्यत्वापादकवस्तुत्वाद्यनुमानविरोधः; व्याप्तिग्रहणासिद्धेः । तथाहि—वस्तुत्वाद्वेद्यत्वं साधयता यद्यद्वस्तु तत्तद्वेद्यमिति व्याप्तिरभ्युपेया । तथासत्यस्या व्याप्तेर्ग्राहिका संविद्व्याप्तिग्रहणसमये स्फुरति ? न वा ? आद्ये, स्वेनैव स्फुरणे सौगतमतानुमतस्वप्रकाशतापत्तिः । तत्स्फुरणस्य स्वहेतुताया अप्यनङ्गीकारे वेदान्तसिद्धान्ताभिमतं स्वयंप्रकाशत्वं त्वयाभ्युपगतं स्यात् । द्वितीये तु संविल्लक्षणवस्तुविशेषस्यास्फुरणादेव सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेवास्तमियात्तत्र कुतोऽनुमानप्रसरः कुतस्तरां च प्रकृतस्य हेतोः सप्रतिसाधनता । अपि च भाट्टानां ज्ञाततायां व्यभिचारात् नैयायिकादेश्च वेद्यत्वस्यापि धर्मतयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादवेद्यस्यापि कस्यचित्संभवेन वस्तुत्वादेः केवलान्वयित्वेनाभिमतस्यापि हेतोः संभावितविपक्षतया

क्रियाकर्मभावं ब्रूमो येन तथागतमतापातः स्यात्किंतु संविद्रूपत्वमित्यत आह—तत्स्फुरणस्येति । अन्येनेति त्वनवस्थया दूषितप्रायमित्युपेक्षितम् । अस्फुरणं दूषयति—द्वितीये त्विति । सर्वोपसंहारवती सर्वक्रोडिका । सर्वव्यक्तिनिष्ठा इति यावत् । तदेवं साधारण्येन व्याप्त्यसिद्धिमभिधाय प्रतिदर्शनमपि दर्शयति—अपिचेति । भाट्टानां प्राकट्यं स्वप्रकाशमित्यर्थः । यस्य तु नैयायिकस्य स्वप्रकाशं न किंचिदप्यस्ति तस्य पूर्वोदितानुमानेन वेद्यत्वरहितं किंचित्साधयित्वा तत्र हेतोरवृत्त्यनिश्चयात्संदिग्धानैकान्तिकता वक्तव्या इत्याह—नैयायिकादेश्चेति । नन्वेतदेव विपक्षे बाधकं यद्वस्तुत्वहानिरित्यत आह—नहीति । वस्तुत्वं

जायगी; क्योंकि अनुव्यवसाय वेद्यत्व का विशेषण है । [अभिप्राय यह है कि वेद्यत्व एक सापेक्ष धर्म है, जैसे सादृश्यादि । केवल सादृश्यका ग्रहण कभी नहीं होता, अपितु चन्द्रादि-विशेषित सादृश्य का ही ग्रहण होता है । इसी प्रकार यहाँ अकेले वेद्यत्व का ग्रहण न होकर अनुव्यवसाय-विशेषित (अनुव्यवसाय-निरुपित या निरूपितत्व सम्बन्धेन अनुव्यवसाय-विशिष्ट) वेद्यत्व का अनुव्यवसाय से ग्रहण करना होगा । अतः अनुव्यवसाय का वेद्यत्व (ग्राह्यत्व) अनुव्यवसाय-विशिष्ट वेद्यत्व में होने के कारण विशेषण भूत अनुव्यवसाय में भी वेद्यत्व मानना होगा] फिर तो बौद्ध-सिद्धान्त (वही ग्राहक, वही ग्राह्य) गले पड़ जायगा ।

वेद्यत्व-साधक वस्तुत्व हेतुवाले अनुमान का विरोध (सत्प्रतिपक्ष) जो दिया था, वह भी नहीं लगता; क्योंकि व्याप्ति-ग्रहण ही सम्भव नहीं—वस्तुत्व से वेद्यत्व सिद्ध करनेवाले को 'जो जो वस्तु है वह-वह वेद्य है,—यह व्याप्ति माननी होगी । तब प्रश्न उठेगा कि इस व्याप्ति का ग्राहक ज्ञान व्याप्ति-ग्रहण-काल में प्रकाशित होता है ? कि नहीं ? पहले पक्ष में तो उसी से उसी का ग्रहण—यह बौद्धों की स्वप्रकाशता प्राप्त होती है । उसके ग्रहण में उसकी हेतुता न मानने पर वेदान्तिसिद्धान्त-सिद्ध स्वयं प्रकाशता आपको माननी पड़ जायगी । द्वितीय पक्ष में (व्याप्ति-ग्रहण-काल में व्याप्ति-ग्राहक ज्ञान का भान न मानने पर) ज्ञान-स्वरूप वस्तु का प्रकाश न होने से सर्वोपसंहारवती व्याप्ति ही समाप्त हो जायगी [अर्थात् जहाँ-जहाँ वस्तुत्व है, वहाँ-वहाँ वेद्यत्व हैं—इस प्रकार वस्तुत्व के सभी आधारों में वेद्यत्व का समन्वय होना चाहिए । किन्तु उक्त व्याप्ति-ग्राहक ज्ञान का प्रकाश न होने से उस ज्ञान में वेद्यत्व नहीं और वस्तुत्व है । अतः वस्तुत्व हेतु वेद्यत्व का व्यभिचारी है; उसमें वेद्यत्व की व्याप्ति नहीं रह सकती] । जब व्याप्ति ही भंग हो गई, तब कैसे अनुमान का उदय होगा और कैसे प्रकृत (अनुभूतित्व) हेतु में सत्प्रतिपक्षता लगेगी ? वस्तुत्व हेतु भाट्ट-मत में भी व्यभिचरित है; क्योंकि भाट्ट अपनी स्वयंप्रकाश ज्ञातता में वेद्यत्व नहीं मानते और वस्तुत्व हेतु वहाँ भी है । नैयायिकादि के मत में भी वेद्यत्व, धर्म होने के कारण किसी-न-किसी में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होगा, फिर तो कोई-न-कोई अवेद्य पदार्थ भी सम्भव होगा । वस्तुत्व हेतु तो केवलान्वयी माना जाता है, उसका भी विपक्ष (कोई अवेद्य पदार्थ) संभा-

विपक्षवाधकतर्कमन्तरेणाप्रयोजकत्वात् । नह्यनुभूतेरवेद्यत्वे वस्तुत्वानुपपत्तिः; स्वतःसिद्धतायामपि तदुपपत्तेः । लक्ष्यत्वन्यायविषयत्वहेत्वोरपि यथोक्तमूहनीयम् ।

नच लक्षकपदत्वेन लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमेयं; हेतोरसिद्धत्वात् । न ह्यनुभूतिपदमनुभूतिं लक्षयतीति तवाभिमतं, तद्वाचकत्वेनैव स्वीकारात् । किंच लक्ष्यज्ञानशब्देन लक्ष्यकर्मकं स्फुरणं ? किंवा तद्विपयम् ? उत स्फुरणमात्रं ? किंवा तद्विषयान्तः करणवृत्तिर्विवक्ष्यते ? नाद्यः; अतीताद्यर्थलक्षकपदेषु व्यभिचारात् । नेतरे; सिद्धसाधनत्वात् । अस्ति हि तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकत्वेन तद्विषयत्वम् । अस्ति च स्फुरणमात्रमनुभूतेः स्फुरणरूपत्वात्तदाकाराया वृत्तेः स्वीकाराच्च । अनुभूतिपदवाच्यस्य लक्ष्यस्य वा स्वप्रकाशत्व-

---

हि स्फुरणाभावे निवर्तेत अवेद्यस्यापि स्वतःस्फुरणोपपत्तेः । नान्तरेण वेद्यत्वमनुपपत्तिर्वस्तुत्वस्येत्यर्थः । एतेनेदमप्यपास्तं यदाह मानमनोहरकारः "ज्ञानं प्रत्यक्षवेद्यं वस्तुत्वाद्घटव" दिति । यच्च तार्किकैरुत्प्रेक्ष्यते वेद्यत्वसाधानाय लक्ष्यत्वान्न्यायविषयत्वादिति च, तत्रापि यल्लक्ष्यं यच्च न्यायविषयं तद्वेद्यमिति व्याप्तिग्राहिणि ज्ञाने लक्ष्ये न्यायविषये च स्फुरत्यस्फुरति च पूर्वोक्तविकल्पदोषाः समाना इत्याह—लक्ष्यत्वेति ।

यत्तूक्तं लक्षकपदत्वादेव लक्षकपदं पक्षीकृत्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमीयत इति तत्राह—नचेति । हेतुमाह—नहीति । अयमर्थः—नहि यस्य कस्यचिल्लक्षकमनुभूतिपदं पक्षः । तथा सति प्रमात्रादिलक्षकानुभूतिपदस्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनताप्रसङ्गात् । तस्मादनुभूतिलक्षकमनुभूतिपदं पक्ष इति वक्तव्यम् । तथाच तादृशानङ्गीकाराङ्गीकारयोराश्रयासिद्ध्यपसिद्धान्तयोरन्यतरापात इति । अथानुभाव्यवाचकानुभूतिलक्षकपदं पक्षीकुर्यात्तं प्रति साध्यं विकल्पयति—किंचेति । लक्ष्यकर्मकस्फुरणजन्यत्वमतीतादिवस्तुलक्षकपदस्यनास्ति । अतीतादीनामिदानीमभावेनानुभवावच्छेदकत्वाभावात् । अतोऽनैकान्तिकमित्याह—अतीताद्यर्थेति । तद्विषयस्फुरणजन्यत्वसाधने सिद्धसाधनतामुपपादयति—अस्ति हीति । येन हि यस्य व्यवहारःप्रवर्तते तस्य हि स विषयभेदः स्वतन्त्र इत्यभिप्रायः । तत्स्फुरणमात्रेण जन्यत्वसाधने तृतीयपक्षे सिद्धसाधनतामाह—अस्तिचेति । लक्ष्यस्वभावभूतस्फुरणस्यापि लक्ष्यस्फुरणत्वादित्यर्थः । चतुर्थे पक्षे सिद्धसाधनतां

वित हो गया । उस विपक्ष में हेतु की अवृत्तिता विपक्ष-तर्क के बिना निश्चित नहीं हो सकती, अतः हेतु में सन्दिग्ध अनैकान्तिकता रहने से साध्य-साधकता नहीं रह सकती । यदि कहा जाय कि 'वेद्य के न मानने पर वस्तुत्व की उपपत्ति ही नहीं होगी'—यही विपक्ष-बाधक तर्क है; तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि वेद्यत्व के बिना भी (स्वयंप्रकाश) अनुभूति में वस्तुत्व उपपन्न है । इसी प्रकार वेद्यत्व-साधक लक्ष्यत्व, न्याय-विषयत्वादि हेतुओं में भी उक्त दोष समझ लेने चाहिएँ ।

यह जो आक्षेप किया था कि लक्षकपदत्व हेतु से लक्ष्यविषयकज्ञान-जन्यत्व का अनुमान करना चाहिए, वह भी ठीक नहीं; क्यों कि हेतु असिद्ध है । कारण यह कि आप के मत में 'अनुभूति' पद में अनुभूति रूप अर्थ की वाचकता ही है, लक्षकता नहीं । दूसरी बात यह है कि 'लक्ष्य-ज्ञान' शब्द से लक्ष्यकर्मक स्फुरण ? अथवा लक्ष्यविषयक स्फुरण ? अथवा स्फुरणमात्र ? अथवा लक्ष्यविषयक अन्तःकरण-वृत्ति विवक्षित है ? प्रथम कल्प ठीक नहीं; क्योंकि अतीतादि पदार्थों के लक्षक पदों में व्यभिचार है । द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ कल्प में तो सिद्ध-साधन दोष आ जाता है; क्योंकि अनुभूतिस्वरूप स्फुरण में भी अनुभूति-विषयकत्व है (अतः अनुभूति विषयक स्फुरण की जन्यता 'अनुभूति' पद में सिद्ध ही है)। स्फुरण मात्र भी है; क्योंकि अनुभूति स्फुरण स्वरूप ही है (अतः स्फुरण मात्र-जन्यता भी 'अनुभूति' पद में सिद्ध है)। तदाकार (अनुभूत्याकार) अन्तःकरण की वृत्ति भी मानी जाती है (इसलिए लक्ष्यविषयक अन्तःकरण-वृत्ति जन्यता 'अनुभूति' पद में सिद्ध है)। 'अनुभूति' पद के वाच्य में ? या लक्ष्य में स्वयं प्रकाशता सिद्ध करते हैं ?—यह आपका

मित्यपि विकल्पोऽनुपपन्नः, उभयवादिसंप्रतिपन्नस्फुरणमात्रस्य स्वकाशत्वप्रतिपादनात् । अन्यथा वेद्यत्बसाधनेऽपि तवास्य विकल्पस्य दुष्परिहरत्वात । नन्वेवमपि घटः स्वयंप्रकाशो घटत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा पट इत्याभाससमानयोगक्षेमता हेतोरितिचेत् , मैवम् ; पृथुबुध्नोदराकारस्य घटशब्दवाच्यस्य स्पर्शरूपादिमतश्चक्षुःस्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वेन संमतस्य स्वप्रकाशत्वसाधने प्रत्यक्षविरोधादतद्विषयस्य चाप्रसिद्धत्वेन धर्म्यसिद्धिः । न चात्राप्यवेद्यस्यानुभूतित्वमप्रसिद्धमिति वाच्यम् ; तथा सति तस्या वेद्यत्वावेद्यत्वयोर्वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । न चैवमुभयतः पाशा रज्जुः; अनुभूतेः प्रमाणजन्यस्फुरणाश्रयतया स्फुरणकर्मतया वा घटादिवद्विषयभावाभावेऽपि प्रमाणजनितान्तःकरणवृत्तिव्याप्यत्वेन विषयताङ्गीकारेऽपि स्वप्रकाशत्वाव्याघातात् । उक्तवृत्तिव्याप्यत्वेऽपि स्फुरणव्याप्यत्वाभावापराधेन नाप्रामाणिकतापि, केवलव्यतिरेकाभावात्,

दर्शयति - तदाकाराया इति । अन्यथेति । अनुभूतिपदवाच्यस्य चेत्सिद्धसाधनं, लक्ष्यस्य चेत्तवासिद्धिरिति विकल्प्य दूषणे साधारणांशग्रहणमेव शरणमित्यर्थः । उक्तानुमानस्य यद्यपि विशेषतो दूषणं न स्फुरति तथापि अस्त्याभाससमानयोगक्षेमत्वं, तथाच यदितरस्य दूषणं तदस्यापि समानमिति शङ्कते—नन्वेवमिति । अत्र किं रूपादिमान्घटः पक्षीक्रियते ? उतालौकिकः कश्चित् ? नाद्यः; धर्मिग्राहकप्रमाणबाधादित्याह—मैवमिति । चक्षुःस्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वे हेतुः—स्पर्शरूपादिमत इति । द्वितीयं दूषयति—अतदिति । नचात्रापीति । रूपादिहीनस्य यथा घटत्वमप्रसिद्धमेवमित्यर्थः । हेतुमाह—तथा सतीति । विप्रतिपत्तिरेव वेद्यावेद्यसाधारणानुभूतिप्रसिद्धौ प्रमाणमित्यर्थः । यच्च प्रमाणसद्भावे वेद्यत्वादस्वप्रकाशत्वमभावे च प्रमाणाभावादसिद्धिरित्युभयतःपाशा रज्जुरित्युक्तं तदपि नास्तीत्याह—नचैवमिति । स्फुरणाश्रयतयेति भाट्टाभिप्रायेणोक्तं, स्फुरणकर्मतयेतीतराभिप्रायेण । एतदुक्तं भवति—न प्रमाणप्रवृत्तिमात्रादनुभवकर्मत्वं येनास्वप्रकाशता स्यादपि तु तदाकारान्तःकरणवृत्तिरेव प्रमाणैर्जन्यते । नच वृत्तिविषयतामात्रादस्वप्रकाशता स्यात्प्रकाशप्रकाश्यत्वाभावात्स्वरूपप्रकाशाभिव्यञ्जकमात्रत्वाद्वृत्तेः । तेन न वेद्यत्वप्रसक्तिर्नाप्यप्रामाणिकमिति । ननु वृत्तिव्याप्यत्वमात्रान्न प्रामाणिकत्वमपितु स्फुरणव्याप्यतया, घटादौ तथा दर्शनादित्यत आह—उक्तेति । कुतः ? केवलव्यतिरेकाभावात् । नहि संभवद्व्यतिरेकयोरन्वयमात्राद्धेतुहेतु-

विकल्प भी असंगत है; क्योंकि उभय-वादि-स्वीकृत स्फुरणमात्र में हम स्वयं प्रकाशता सिद्ध करते हैं। नहीं तो आपके वेद्यत्व-साधन में भी यह विकल्प अपरिहार्य रूप से उपस्थित होगा।

पूर्वपक्षी—"घट स्वयं प्रकाश है, क्योंकि घटत्ववाला है, जो वैसा नहीं, वह ऐसा नहीं, जैसे-पट"—इस अनुमानाभास के ही समान आपका स्वयं प्रकाशत्व-अनुमान भी है।

सिद्धांती—ऐसा मत कहिए; क्योंकि बड़े, गोल-मटोल पेट के आकारवाले, लोक में 'घट' नाम से प्रसिद्ध, स्पर्श रूपादि गुणों वाले पदार्थ में स्वयं प्रकाशत्व तो आप सिद्ध नहीं कर सकते; कारण कि उसकी सिद्धि ही चक्षु और त्वक् प्रमाणों से होती है फिर तो उसकी स्वयं प्रकाशता के साधन में धर्मिसाधक प्रत्यक्ष प्रमाण ही बाधक है और चाक्षुषादि प्रत्यक्ष के अविषय (किसी लोकोत्तर) घट में भी स्वयं प्रकाशता सिद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि इस प्रकार के धर्मी की ही असिद्धि है। यदि आप कहें कि वेदान्ती के स्वयं प्रकाशत्व-अनुमान में भी अवेद्य अनुभूति रूप धर्मी भी अप्रसिद्ध ही है ; तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि वह धर्मी ही प्रसिद्ध नहीं, फिर तो वेद्यत्व और अवेद्यत्व का यह वादियों का विवाद किसमें होगा ? उभयतः पाशा रज्जु भी वेदान्त-मत में नहीं; क्योंकि प्रमाण-जन्य स्फुरण (ज्ञातता) की आश्रयता अथवा स्फुरण (ज्ञान) की कर्मता होने के कारण घटादि में जैसी विषयता है, वैसी विषयता का अनुभूति में अभाव होने पर भी प्रमाण-जन्य अन्तःकरण वृत्ति की विषयता मान लेने पर भी स्वयं प्रकाशता का बाध नहीं होता। उक्त वृत्ति की

अतीतानागतयोः स्फुरणविरहिणोरुक्तवृत्तिव्याप्ययोर्भाट्टैः प्रामाणिकत्वाभ्युपगमात्, चेष्टादिलिङ्गकानुमानविषयस्यापि परज्ञानस्य स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने ज्ञानान्तरनिरपेक्षतया स्वप्रकाशत्वोपपत्तेश्च । किंच त्वज्ज्ञानं तवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यं न भवति ज्ञानत्वान्मदीयज्ञानवत् । न च मदसमवेतत्वं मदन्यसमवेतत्वं वोपाधिः; साध्याव्याप्तेः, त्वदी-

---

मद्भावनिश्चयः, अतिप्रसङ्गात् । माभूत्तुरगखरवर्णयोर्हेतुहेतुमद्भावः, संभवति ह्यन्वय इति भावः । किंच तौतातितैस्तावदेवं वक्तुमयुक्तं, प्राकट्यानाधारयोरप्यतीतानागतयोः ज्ञानमात्रविषयतया प्रामाणिकत्वाङ्गीकारादित्याह—अतीतेति । तार्किकाणां वृत्तिफलविभाग एव नास्तीति न पर्यनुयोगावकाशः । तदेवं वृत्तिविषयत्वमात्रेणापि प्रामाणिकत्वमस्तीत्युपपादितम् । इदानीं वृत्तिविषयत्वेऽपि स्वप्रकाशत्वक्षतिर्नास्तीत्युपपादयति—चेष्टादीति । स्वाश्रये स्वाधारे । नहि प्रमाणावेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वं किंतु स्वविषयापरोक्षव्यवहाजनने प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वम् । तच्च स्वप्रकाशत्वसाधकप्रमाणगम्यत्वेपि न विरुद्ध्यते प्रमाणान्तरनिरपेक्षतयैव स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनकत्वादित्यर्थः । एवं व्यतिरेक्यनुमानेन स्वप्रकाशत्वं समर्थितम् । ये तु वक्रनयवर्त्मानुसारिणस्तान्प्रत्यभिनवरीतिसुरभिमन्वयव्यतिरेकिप्रयोगमाह—किंच त्वज्ज्ञानमिति । त्वज्ज्ञानं वेद्यं न भवतीत्युक्ते अप्रसिद्धविशेषणता । तन्निवृत्त्यर्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीत्युक्तम् । वेद्यत्वाभावस्याप्रसिद्धत्वेऽप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितस्य परमाण्वदृष्टादेः प्रसिद्धत्वेन नाप्रसिद्धविशेषणता । तावत्युक्तेऽर्थान्तरता तदीयज्ञानस्य परं प्रत्युक्तरूपत्वात्, तदर्थं तवेत्युक्तम् । एवमपि परकीयज्ञानमादायार्थान्तरता तस्यैतं प्रति तथात्वादत उक्तं—त्वदिति । एतदीयस्य च ज्ञानस्यैतं प्रत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वाद्वा ? वेद्यत्वानधिकरणत्वाद्वा ? नाद्यः; व्याघातात् । उत्तरं तु सिद्धयदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेसत्यवेद्यत्वलक्षणं स्वप्रकाशत्व-

---

विषयता रह जाने के कारण ही स्फुरण (फल) विषयता न होने मात्र से अनुभूति में अप्रामाणिकता भी न आई; क्योंकि व्यतिरेकव्यभिचार है [आशय यह है कि फल-व्याप्यता और प्रामाणिकता का यदि कार्यकारण भाव निश्चित होता, तब अनुभूति में फलव्याप्यता न होने से प्रामाणिकता भी न रहती। किन्तु उनका कार्यकारण भाव बन नहीं सकता; क्योंकि कार्यकारण भाव के निश्चायक होते हैं—अन्वय और व्यतिरेक । प्रकृत में 'यत्र फलव्याप्यत्वमस्ति तत्र प्रामाणिकत्वमस्ति'—इस प्रकार का अन्वय होने पर भी 'यत्र फलव्याप्यत्वं नास्ति तत्र प्रामणिकत्वमपि नास्ति'—इस प्रकार का व्यतिरेक नहीं घटता क्योंकि] अतीतादि पदार्थों में फलव्याप्यता न होने पर भी (वृत्तिव्याप्यता के कारण) प्रामाणिकता है—ऐसा भाट्ट मानते हैं। चेष्टादिलिङ्गक अनुमान का विषय भी पर पुरुष का ज्ञान अपने आधार में स्वविषयक अपरोक्ष व्यवहार के उत्पन्न करने में ज्ञानान्तर-निरपेक्ष होने के कारण स्वयंप्रकाश ही रहता है [भाव यह है—किसी प्रमाण का विषय न होना स्वयंप्रकाशता नहीं, अपितु अपने अपरोक्ष व्यवहार में दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न रखना ही स्वयंप्रकाशता है। इस प्रकार की स्वयंप्रकाशता अनुभूति में अक्षुण्ण है]।

(अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से भी स्वयंप्रकाशता की सिद्धि हो सकती है–) 'त्वज्ज्ञानं तवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वविशिष्टवेद्यत्ववत् न भवति, ज्ञानत्वात् मदीयज्ञानवत्' (आप का ज्ञान आप के अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता के सहित वेद्यत्ववाला नहीं, क्योंकि ज्ञानत्ववाला है, जैसा हमारा ज्ञान) । यहाँ मदसमवेतत्व या मदन्यसमवेतत्व उपाधि है—ऐसी आशंका नहीं करनी; क्योंकि उसमें साध्य की व्यापकता नहीं—आपके आत्मा में समवेत आपके धर्मादि में तथा आप के आत्मा में

१° कौमारिलैः । तुतात इति कुमारिलस्य नाम ।

यधर्मादिषु त्वत्समवेतेष्वसमवेतेषु च परमाणुषूक्तसाध्यसद्भावेऽप्युपाधेरभावात्। न च ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमुपाधिः; ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादिदं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे

मादाय सिद्ध्यतीति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, अन्यज्ञाने चैतदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वात् तद्धर्मवेद्यत्वानधिकरणत्वमिति साध्यप्रसिद्धिः। अन्यदीयज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे मदसमवेतत्वं मदन्यसमवेतत्वं वोपाधिरित्याशङ्क्य निरस्यति—**नचेति**। कुतः? साध्याव्यापकत्वात्। तदेव विवृणोति—**त्वदीयेति**। त्वददृष्टसंस्कारयोस्त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितयोस्त्वदसमवेतत्वत्वदन्यसमवेतत्वयोरुपाध्योरभावेन साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः। उत्तरस्योपाधेः साध्याव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—**असमवेतेष्विति**। परमाण्वाकाशादीनांनित्यत्वादसमवेतत्वेनान्यसमवेतत्वस्य सुतरामभावादित्यर्थः। उपाध्यन्तरमाशङ्क्य निराकरोति—**नचेति**.। प्रतिवादिज्ञानस्य तदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वे तदपरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमुपाधिस्तथाच वादिज्ञानेऽयमुपाधिर्व्यावर्तमानः साध्यमपहरतीत्युपाधिवादिनोऽभिमतं तद्दूषयितुं हेतुमाह—**ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यादिनोपाधित्वादित्यन्तेन**। उपाधिं वदतोपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेकोऽनुमातव्यः, सर्वोपाधीनामेवंस्वाभाव्यात्। युक्तं चैतत्साध्योपाध्योर्व्याप्यव्यापकभावार्थं तदभावयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमात्। तत उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि निरुपाधिसंबन्धो वक्तव्यः। तस्मादभावयोरप्युपाधिर्निविशमानो दूषयेदेव प्रथमोपाधिमित्यभिसंधाय तद्व्यतिरेकयोरयमुपाधिरुपन्यस्तस्तत्र ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्युपाधिव्यतिरेकनिर्देशः। शेषः साध्यव्यतिरेकनिर्देशः। अनयो संबन्धे ज्ञानेतरत्वमुपाधिरित्यर्थः। तदेवं व्यतिरेकानुन्नायकत्वात्साध्याव्यापकत्वाच्चानुपाधित्वे सिद्धे पूर्वोक्तहेतुरप्रत्यूह इत्यभिप्रायः। ननु यथाज्ञानत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं ब्रूषे एवं ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यस्य हेतोर्व्यतिरेकस्य ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्योपाधित्वं परेणापि सुवचमपि षण्ढमैथुनायितं चक्रकापत्तिश्च—ज्ञानेतरत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानत्वस्य प्रतिवादिसाध्यव्यतिरेकरूपत्वदीयसाध्योन्नायकत्वे सिद्धे ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं, तस्योपाधित्वे व्यतिरेकानुन्नायकत्वान्ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्यानुपाधित्वं, तस्यानुपाधित्वे च ज्ञानत्वस्य प्रथमसाध्यं प्रति हेतुत्वमिति। तस्मान्नेयं रीतिश्चतुरश्रेणीरीतिसरणिमधिरोहतीति। आकर्ण्यतां तावदवहितहृदा ग्रन्थकारहृदयं, ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वस्य प्रथमसाध्यव्यतिरेकोन्नायकत्वं तावदसंगतम्। वेद्यत्वं ह्यनेन साधनीयम्। नच तदप्रसिद्धं, येन ममापरोक्षेति विशेषणान्तरसार्थक्यं स्यात्। तस्मान्मद्वेद्यमिदं मद्व्यवहारयोग्यत्वादित्येवालमिति व्यर्थविशेषणत्वादहेतुरेवायम्। अत एव न तद्व्यतिरेकस्योपाधितेति। ननु एतदेवोच्यतां किमनेनाजागलस्तनायमानेन, सत्यम्; इयमपि काचन रीतिस्तार्किकैरुररीकृतेति प्रदर्शनार्थम्। तथाहि मानमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेणात्मप्रकरणे—विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं कार्यत्वात् चेष्टादिवदित्यनुमानम्, व्यर्थविशेषणेनापि शरीरिजन्यत्वव्यतिरेकेण 'विवादाध्यासितं बोधाधारजन्यं न भवति। शरीर्यजन्यत्वाद्', इति सत्प्रतिपक्ष्यते स्म। तथा, विवादाध्यासितमूर्तं प्रयत्नजं परमाणुव्यतिरिक्तत्वे सति मूर्तत्वात्, गन्धः प्रयत्नजः गन्धत्वात्पटवत्तद्गन्धवच्चेति, ईश्वरानुमाने च, न शरीरिणाऽजन्यत्वादित्यनेन प्रकरणसमत्वम्। नापि तज्जन्यत्वमुपाधिरकार्यत्वस्योपाधेर्व्यतिरेकस्य व्यर्थविशेषणत्वाच्चेतिवत्। तस्मान्न

असमवेत परमाणुओं में उक्त साध्य का सद्भाव होने पर भी उक्त उपाधियों का अभाव है। 'ममापरोक्षव्यवहारायोग्यता'—यह भी उपाधि नहीं कही जा सकती; क्योंकि ममापरोक्षव्यवहारयोग्यता के कारण यह (ज्ञान) ममापरोक्षव्यवहार योग्यत्वविशिष्टवेद्यत्ववाला है, जैसे पट—इस प्रकार के व्यतिरेक में ज्ञानेतरत्व उपाधि है।] तात्पर्य यह है कि उपाधि का फल होता है—पक्ष में उपाधि के अभाव से साध्य के अभाव की अनुमिति। साध्याभाव रूप हेतु में उपाधि लग जाने से उपाध्यभाव रूप हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है, अतः वह साध्याभाव का अनुमापक नहीं बन सकता, फिर तो प्रथम उपाधि निरर्थक है]।

सत्यवेद्यं न भवति घटवदिति व्यतिरेके ज्ञानेतरत्वस्यैवोपाधिस्वात्। विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वाद्घटज्ञानवत्। नच घटज्ञानत्वमुपाधिः, शरीरिजन्यत्वोपाधाविव व्यर्थविशेषणत्वात् तस्माद्विगलितसकलकलङ्कमनुभूतेः स्वप्रकाशत्वानुमानमिति सिद्धम्।

एतेनात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं व्याख्यातम्। तथाहि—

'चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः' ॥ ३ ॥

कश्चिदपि कलङ्कशङ्कावकाशः। तयैव रीत्यानुमानान्तरमाह—**विवादपदानीति**। ज्ञानमात्रपक्षीकरणे घटज्ञानांशे सिद्धसाधनता, तदर्थं विवादपदानीति ग्रहणं, वेद्यत्वानधिकरणमित्युक्तेऽसिद्ध विशेषणता, तन्निवृत्त्यर्थं घटज्ञानान्यत्वे सतीति विशेषणं वेद्यत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेऽपि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञाने प्रसिद्धं घटज्ञानस्य घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वादेव, अन्यत्वं चात्र तत्त्वानधिकरणत्वं, घटज्ञानान्यत्वानधिकरणानीत्युक्ते व्याहतिस्तेषां घटज्ञानान्यत्वादेव, तदर्थं वेद्यत्वग्रहणं, घटज्ञानान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, व्याघातात्। तस्माद्वेद्यत्वानधिकरणत्वसिद्धिः। पूर्वानुमानं समग्रलक्षणवतः सद्भावे, इदं त्ववेद्यत्वमात्र इति विशेषः। घटज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे घटज्ञानत्वमुपाधिमाशङ्क्य निषेधति—**नचेति**। यथाहि—विवादपदं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवदित्यत्र शरीरिजन्यत्वं व्यर्थविशेषणत्वादनुपाधिः, जन्यत्वमात्रेण साध्यव्याप्तिसिद्धेरितरस्य पक्षमात्रव्यावर्तकत्वात्, एवं ज्ञानत्वमित्येनैव ज्ञानव्यतिरिक्तव्यावृत्तौ सिद्धायां घटपदस्य पक्षीकृतघटज्ञानव्यतिरिक्तज्ञानव्यवच्छेदकत्वात्पक्षेतरतयाऽयमनुपाधिरित्याह—**शरीरीति**।

अवीतपदमाचार्यैरकार्यन्वयगोचराः।
महाविद्याः पुनर्दिव्या दीव्यन्त्यत्रानिवारितम् ॥

तथाहि—विमतं ज्ञानमेतज्ज्ञानविज्ञानविषयत्वे सति वेद्यत्वरहितज्ञानविषयः पदविषयत्वात् घटवदित्यादिमहाविद्याभिरपि समर्थनीयं स्वप्रकाशत्वं, फलाविषयत्वादिसाधनान्न व्याहतिः। स्वप्रकाशसमर्थनमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

विज्ञानस्वप्रकाशत्वमात्मस्वप्रकाशत्वेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति**। यद्यपि विज्ञानस्वप्रकाशतयैव तद्रूपस्यात्मनः स्वप्रकाशता सिद्धा, तथापि तद्रूपतायामेव विवादात्तत्समर्थनार्थमधिकयुक्तिप्रदर्शनार्थं च वादान्तरारम्भः। हेतून्प्रमाणानि संगृह्णाति श्लोकेन—**चिद्रूपत्वादित्यादिना**। प्रथमं समर्थयते—

विवादास्पद ज्ञान, घटज्ञान-भेद-विशिष्ट वेद्यत्व के अनधिकरण हैं, ज्ञानत्वयुक्त होने से, जैसे—घट ज्ञान—(इस प्रकार के अनुमानों के द्वारा भी स्वयंप्रकाशत्व की सिद्धि होती है)। यहाँ 'घटज्ञानत्व' उपाधि है—यह शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि 'शरीरिजन्यत्व' उपाधि के समान इस उपाधि में भी व्यर्थविशेषणता है [भाव यह है कि ईश्वर की सिद्धि के लिए नैयायिक अनुमान करते है—"क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्।" इस अनुमान में शङ्कावादी 'शरीरिजन्यत्व' उपाधि देता है। तब नैयायिक कहते हैं कि इस उपाधि में व्यर्थ विशेषणता है। अर्थात् केवल 'जन्यत्व' ही साध्य का व्यापक है, शरीरिजन्यत्व नहीं; क्योंकि 'शरीरी' विशेषण व्यर्थ है। इसी प्रकार 'घट' विशेषण व्यर्थ होने के कारण 'घटज्ञानत्व' साध्य का व्यापक नहीं अतः उपाधि कैसे होगा ?]। अतः अनुभूति में स्वयंप्रकाशत्व का अनुमान सर्वथा निर्दोष है।

इससे ही यद्यपि आत्मा में भी स्वप्रकाशत्व सिद्ध हो गया, तथापि (१) 'चिद्रूपत्व', (२) 'अकर्मत्व' तथा (३) स्वयंज्योतिश्रुति—इन तीन हेतुओं से आत्मा में ऐसा स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध किया जाता है, जिसे कोई हटा ही नहीं सकता—

आत्मा संविद्रूपः संवित्कर्मतामन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्राभाकरं प्रत्यनुमानान्; घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः आत्मनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्पदविषयत्ववदिति नैयायिकादीन्प्रत्यनुमानादात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः। विपक्षे चात्मनः संशयविपर्यासगोचरत्वापत्तिर्बाधिका — नह्यात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्संदिग्धे, नैवाहमिति वा विपर्यस्यति। न चैतत्स्वप्रकाशज्ञानरूपतामन्तरेणावकल्प्यते। न चान्तरेणापि ज्ञानरूपतां दुःखादिवदेतदुपपद्यत इति शङ्कनीयम्; तेषां स्वसत्तायां ज्ञानाव्यभिचारात्तदुपपत्तेः। न चात्मन्येवमभ्युपगम्यते; सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात्। न च ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मवृत्तिर्ज्ञानवृत्तित्वात् सत्तावदिति शङ्कनीयम्; ज्ञानमेवात्मेत्यभ्युपगच्छतां ज्ञानात्मनोः संवन्धस्यैवाभावादाश्रयासिद्धेः। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'

आत्मा संविद्रूप इति। अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं चापरोक्षत्वं, नापरोक्षज्ञानविषयत्वमपरोक्षज्ञानत्वं वा। तेन न साधनवैकल्यासिद्धी, घटादेरतीतादेश्च व्यवच्छेदाय विशेषणद्वयम्। घटतज्ज्ञानेति। यद्यपि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावो नाम न भावरूपः कश्चित्संबन्धस्तथाप्यभावरूपत्वादस्त्येवाश्रितत्वं, सिद्धान्ते त्वाध्यासिकः संबन्धोऽत्र, संबन्धस्य संबन्धिमात्रनिष्ठत्वात्, संबन्धिभूतज्ञानघटयोरन्यतरस्यात्मत्वमादायात्मनिष्ठत्वं पर्यवस्यति, तत्रापि घटस्यात्मत्वमुभयवाद्यनभिमतमिति विप्रतिपन्नज्ञानस्यात्मतामापादयति। पदस्य विषयत्वं पदविषयत्वम्। ज्ञानरूपत्वाभावे बाधकमाह—विपक्षे चेति। संशयाद्यविषयत्वं स्वप्रकाशत्वव्याप्तं न भवति, दुःखादावदर्शनादित्याशङ्क्य निषेधति—न चान्तरेणेति। सुषुप्त्यभावप्रसङ्गादिति। एतन्निष्ठजन्यज्ञानेनैतस्य प्रकाशाव्यभिचारेऽस्य न सुषुप्तिः स्यात्। एतन्निष्ठकार्यज्ञानोपरमस्यैतत्सुषुप्तित्वादित्यर्थः। सत्प्रतिपक्षतामाशङ्क्य निषेधति—नचेति। अत्रापि संबन्धस्यानात्मवृत्तित्वमन्यतरस्यानात्मतामादाय पर्यवस्यति। तत्राप्यात्मनोऽनात्मता व्याहतेति ज्ञानस्यानात्मत्वसिद्धिः। ननु मानमनोहरकारेण, स च ज्ञानाश्रयः 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतौ द्रष्टृदृष्ट्योः संबन्धप्रतीतेरिति ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः समर्थितः,

---

(१) 'आत्मा संविद्रूप है, संवित् की कर्मता के बिना ही अपरोक्ष होने से, जैसे—संवेदन'—प्राभाकर के प्रतिप्रयुक्त इस अनुमान से तथा 'घट और उसके ज्ञान का सम्बन्ध आत्मवृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से, जैसे 'ज्ञानादि' पद की विषयता'—इस प्रकार के नैयायिकादि के प्रति प्रयुक्त अनुमान से आत्मा में चिद्रूपत्व की सिद्धि होती है। विपक्ष (ज्ञानरूपत्वाभाव) में बाधक है—आत्मा में संशयादि की विषयता का अभाव। अर्थात् यदि आत्मा को ज्ञान रूप न मानें, तब तो आत्मा के विषय में संशयादि होना चाहिए; किन्तु) 'अहं वाऽनहं वा'—इस प्रकार का सन्देह और 'नैवाहम्'—इस प्रकार का विपर्यय अपने आत्मा में किसी को होता नहीं। यह (संशयादि का न होना) आत्मा में स्वप्रकाश ज्ञान रूपता के बिना बन नहीं सकता।

जैसे दुःखादि ज्ञानस्वरूप नहीं, फिर भी उनके होने पर उनके विषय में किसी को संदेहादि नहीं होते—मुझे दुःख है ? कि नहीं ? वैसे ही ज्ञान स्वरूपता के बिना भी आत्मा में संशयादि का अभाव बन जायगा - ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि (दुःखादि के होने पर उनका ज्ञान नियमपूर्वक होता ही है, अतः) दुःखादि अपनी सत्ता में जन्यज्ञान से अव्यभिचरित हैं, अतः उनके विषय में संशयादि नहीं होते। किन्तु आत्मा में जन्यज्ञान का अव्यभिचार नहीं माना जा सकता; नहीं तो सुषुप्ति ही नहीं होगी [भाव यह है कि जन्यज्ञान का उपरम ही न्यायमत में सुषुप्ति माना जाता है। यदि आत्मा सदैव उससे युक्त ही होगा, फिर सुषुप्ति कब होगी ?]। 'ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध आत्मवृत्ति नहीं ज्ञानवृत्ति होने से, जैसे सत्ता—इस प्रकार के सत्प्रतिपक्ष की शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि 'ज्ञान ही आत्मा है'—यह मानने वालों के मत में ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध न होने से आश्रयासिद्धि दोष है। यदि शङ्का हो कि "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"

इति द्रष्टृदृष्ट्योः संबन्ध श्रुतित एवाधिगत इति मानमनोहरकारः प्रातिष्ठिपदितिचेत्, मैवम्; श्रुतेर्लोकप्रसिद्धसंबधानुवादेन दृष्टेर्विनाशित्वाभावमात्रप्रतिपादनपरत्वात्, "अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थव"दिति न्यायात्, मुख्यार्थेऽद्वैतश्रुतिविरोधात्, राहोः शिर इतिवदुपचारेणापि संबन्धश्रुतेर्वृत्त्युपपत्तेश्च।

न चानयोस्तुल्यबलतया विपर्ययः, तत्परत्वातत्परत्वविशेषोपपत्ते[1]रुपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिः कथं लोकप्रवादोपजीविनीं संबन्धश्रुतिं न बाधेत। देवदत्तस्य गन्तुरितिवद्द्रष्टुर्दृष्टेरिति द्रष्टृरूपाया दृष्टेः, दृष्टिलक्षणो वा यो द्रष्टा तस्य, विपरिलोपो नास्तीति सामानाधिकरण्येन षष्ठ्योः संबन्धसंभवे वैयधिकरण्यस्य कल्पनायोगात्।

तत्कथमाश्रयासिद्धिरिति शङ्कते—नहि द्रष्टुरिति। नेयं श्रुतिः सम्बन्धप्रतिपादिका अन्यपरत्वादिति परिहरति—मैवमिति। तत्परत्वाभावे च कारणमाह—अप्राप्त इति। अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्। "अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण" मिति तत्र तत्र जैमिनिनोक्तत्वादित्यर्थः। एवमनुवादकतया परिहारमुक्त्वा प्रकारान्तरेण परिहरति—मुख्यार्थ इति। एतेन देवताधिकरणन्यायोऽप्यनवकाशीकृतः।

नन्वद्वैतश्रुतिविरोधादन्यथाभावोऽस्याः किमिति कल्प्यते विपरीतमेव वा किं न स्यात् श्रुत्योस्तुल्यबलत्वात् 'तुल्यं हि सांप्रदायिक'मिति न्यायादित्याशङ्क्य तत्परत्वातत्परत्वविशेषान्नेत्याह—नचेति। तत्परत्वमेव तस्याः कथमवगम्यतेऽतत्परत्वं चास्या इत्यत आह—उपक्रमेति। 'आत्मा वाऽरे' 'यत्र त्वस्ये'ति चाद्वैतेनोपक्रमोपसंहारौ। 'इदं सर्वं सलिल एक' इति चाभ्यासः। जीवब्रह्मैक्यं च प्रमाणान्तरागोचरम्। 'एतावदरे' इति फलश्रवणम्। 'अस्य महत एतेभ्य' इति सृष्ट्यादिरर्थवादः। दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरुपपादितं तदेतदादिशब्देन गृहीतम्। लोकप्रवाद इत्यनेनानुवादकतया संबन्धश्रुतेरतत्परत्वमुक्तं, कथं न बाधेत? बाधेतैवेत्यर्थं। एवंच यदत्र तेनैव गर्जितं "नचानाम्नायप्रतीत आम्नातो भवितुमर्हतीत्यादि" "तत्राप्युपचारप्रवृत्तेः सुलभत्वा" दित्यन्तं तत्सर्वं प्रमत्तप्रलपितायितम्। यत्तु नच प्रत्यक्षं, तस्य भेदग्राहकत्वादित्युक्तं तदपि भेदनिर्भर्त्सनसमये सम्यगुपरिष्टाद्वस्मसाद्भावयिष्यामः। तदेवं वैयधिकरण्यं षष्ठ्योरङ्गीकृत्य पर्यहार्षीत्, संप्रति वैयधिकरण्यमेव नास्ति सामानाधिकरण्येनाप्युपपत्तेरिति सनिदर्शनमाह—देवदत्तस्येति। ननु

द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता—बृह० ४।३।२३) इस श्रुति से द्रष्टा (आत्मा) और दृष्टि (ज्ञान) का सम्बन्ध प्रतीत होता है—इस प्रकार मानमनोहरकार ने सम्बन्ध सिद्ध किया है; तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उक्त श्रुति केवल लोक-प्रसिद्ध सम्बन्ध का अनुवाद कर रही है, उसका तात्पर्य "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" (अज्ञात अर्थ में शास्त्र प्रमाण होता है) इस न्याय के आधार पर दृष्टि के विनाशित्वाभाव के प्रतिपादन मात्र में है; न कि सम्बन्ध-विधान में। वास्तविक सम्बन्धरूप मुख्य अर्थ के साथ अद्वैत-श्रुति का विरोध आ जाने से "राहोः शिरः" के समान आध्यासिक सम्बन्ध मानकर गौण वृत्ति से भी सम्बन्ध-बोधक श्रुतिकी प्रवृत्ति हो सकती है।

सम्बन्ध-श्रुति और अद्वैत-श्रुति—इन दोनों की समानबलता होने से विपरीत बाध्य-बाधक भाव क्यों न हो जाय—ऐसी शङ्का नहीं करनी; क्योंकि अद्वैतपरक होने से अद्वैत-श्रुति प्रबल है और सम्बन्धपरक न होने से सम्बन्ध-श्रुति दुर्बल है; अतः उपक्रमोपसंहारादि छह प्रकार के तात्पर्यग्राहक लिङ्गों से युक्त अद्वैत-श्रुति लोकप्रवाद मात्र पर टिकी सम्बन्ध-श्रुति को क्यों न बाधेगी? "देवदत्तस्य गन्तुः"—के समान "द्रष्टुः दृष्टे"—यहाँ पर भी द्रष्टारूप जो दृष्टि अथवा दृष्टिरूप जो द्रष्टा, उसका विपरिलोप नहीं होता—इस प्रकार समानाधिकरणरूप से दोनों षष्ठियों का अन्वय हो जानेपर 'द्रष्टा की दृष्टि'—इस प्रकार व्यधिकरणत्व की कल्पना ही असंगत है। "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः"

---

[1] उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।

न, दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्यादाविव वैयधिकरण्येऽप्यन्तःकरणपरिणामरूपाया दृष्टेर्यो द्रष्टेति वा परिणामिनोऽन्तःकरणस्य द्रष्टुः साक्षिभूता या दृष्टिस्तस्या विपरिलोपो नास्तीति वाऽद्वैतश्रुत्यनुगुणे संभवति संबन्धे गुणगुणिभावेन संबन्धकल्पना अविदितमीमांसावृत्तान्तस्यैव परं शोभते।

किंच जीवेश्वरयोर्भेदमभ्युपगच्छता नित्यदृष्टिसंबन्धः कस्योच्यत इति विवेचनीयम्। न तावज्जीवस्य; तस्यानित्यज्ञानाभ्युपगमात्। नापीश्वरस्य; मैत्रेयीब्राह्मणे 'नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवती'त्यादिना पतिजायादिप्रियसंसूचितं जीवमुपक्रम्य तस्यैव 'चैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती'त्यवस्थान्तरप्रतिपादनावसरे विनाशमाशङ्क्य 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति।

'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्ये'रित्यत्र यथा वैयधिकरण्यमेवमत्रापि किं न स्यादित्यत आह—न दृष्टेरिति। अन्तःकरणवृत्तिसाक्षिणौ वान्तःकरणसाक्षिणौ वा भिन्नौ संबन्धितया निर्दिश्येते न तु ज्ञानात्मानावित्यर्थः। अद्वैतश्रुत्यनुगुणे संबन्धे संभवतीत्यन्वयः। अद्वैतश्रुत्यविरुद्धानेकप्रकारे परिस्फुरत्यपि यत्तस्य विरुद्ध एव प्रकारः पर्यस्फुरत्तत्र तद्दौर्भाग्यमेव परं कारणमित्यभिप्रायः।

इयं श्रुतिरेव तावत्त्वत्पक्षे नार्थवती दूरेतरां त्वभिमतसंबन्धे प्रामाण्यमित्याह—किंचेति। नापीश्वरस्येति। यद्यपीदं मैत्रेयीब्राह्मणं जीवानुवादेन तस्य ब्रह्मात्मताप्रतिपादनपरं नतु जीवपरं जीवब्रह्मभेदपरं वेति 'वाक्यान्वयाद्' इत्यत्र प्रतिपादितं, तथापि शोधितस्य ब्रह्मताप्रतिपादनमिति शोधनसमये जीवस्याप्येवंस्वभावता वक्तव्येत्यभिप्रेत्य प्रियादिसंसूचितस्याविनाशितोपपादनादित्युक्तं, तेनात्रेश्वरज्ञानस्य कारणरहिततायामिमां श्रुतिं प्रमाणयन् वादिवागीश्वरोऽप्युपहसितः। एतेभ्य इत्यादिश्रुतेरयमर्थः—यान्येतानि का[१]र्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि पञ्चभूतानि, एतेभ्यो भूतेभ्यः। हेतौ पञ्चमी। समुत्थाय सम्यगुत्थाय पृथ[२]ग्भूत्वा यथोदकेभ्यो हेतुभ्यश्चन्द्रात्प्रतिबिम्बचन्द्राणां पृथग्भावस्तद्वत्तान्येवानुविनश्यति तानि भूतानि ब्रह्मविद्यया समूलं विनश्यन्त्यनुविनश्यति, उपाधिप्रलयात्तत्प्रयुक्तावच्छेदोऽपि निवर्तत इत्यर्थः। न प्रेत्येति। शरीरद्वयं परित्यज्य संज्ञा विशेषविज्ञानं नास्ति तदापादकानामुपाधीनामभावादित्यर्थः। अवस्थान्तरेति। मोक्षावस्थाप्रतिपादनावसर इत्यर्थः। विनाशमिति। संज्ञा नास्तीति ज्ञाननाशाभिधानादित्यर्थः। प्रतिवचनमिदम्। अरे मैत्रेयि! अयमात्मा अविनाशीति। विनाशशब्देन विक्रिया विवक्ष्यते सास्य नास्तीत्यर्थः। तथानुच्छित्तिधर्मा, उच्छित्तिः स्वरूपनाशः स धर्मोऽस्य नास्तीत्यनुच्छित्तिधर्मा।

दृष्टि के द्रष्टा को तुम नहीं देख सकते–बृह० ३।४।२—इस श्रुति में आये हुए व्यधिकरण अन्वय के समान प्रकृत में भी यदि व्यधिकारण अन्वय करना ही हो, तो भी अन्तःकरण-परिणामरूप दृष्टि का जो द्रष्टा, अथवा परिणामी अन्तःकरण रूप द्रष्टा की साक्षिरूप जो दृष्टि, उसका विपरिलोप नहीं होता—इस प्रकार अद्वैत-श्रुति के अनुकूल सम्बन्ध के सम्भव होते गुण-गुणिभाव सम्बन्ध की कल्पना करनी मीमांसामर्यादा की अनभिज्ञता का परिचय देना है।

दूसरी बात यह है कि जीव और ईश्वर का भेद माननेवाला किसका नित्यदृष्टिरूप सम्बन्ध कहता है? यह विवेचनीय है। जीव का तो सम्बन्ध हो नहीं सकता; क्योंकि उसका ज्ञान अनित्य माना जाता है। ईश्वर का भी नहीं बन सकता; क्योंकि ईश्वर का प्रकरण ही नहीं। अपि तु (बृह० उ० अ० ४ के) मैत्रेयी ब्राह्मण में "नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति"–(अरे मैत्रेयि! पति के लिये पति प्रिय नहीं होता–बृह २।४।५) इत्यादि से पति, जायादि के प्रिय-प्रतिपादन से सूचित जीवका आरम्भ करके "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" (यह इन भूतों से उत्थित हो कर उन्हीं के नष्ट होते नष्ट हो जाता है। मरने पर उसे विशेष ज्ञान नहीं रहता–बृह० ४।५।१३) इस प्रकार अवस्था विशेष के प्रतिपादन के अवसर पर उसी (जीव) के विनाश

---

१. कार्यम् = स्थूलशरीरं, करणम् = सूक्ष्मशरीरं, विषयः = शब्दादयः। २. जीवभावमनुभूयेतियावत्।

'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वा' दित्येवमविनाशितोपपादनात्, ज्योतिर्ब्राह्मणे च जागराद्यवस्थोपन्यासपुरःसरम् 'अथ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यती'ति संप्रसादावस्थानमवतार्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यत' इति विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनात्, ईश्वरपक्षे च विशेषविज्ञानाभावस्य वक्तुमयुक्तत्वात्तस्य सर्वदा सर्वज्ञत्वात् सुषुप्त्याद्यवस्थाभावाच्च। तस्माज्ज्ञानात्मनोः संबन्धोऽनात्मनिष्ठ इत्यनुमानमाश्रयासिद्धमिति सिद्धम्। यत्तु गुणत्वादनित्यत्वाज्ज्ञानमात्मा न भवति रूपादिवदित्यनुमानं तत्सर्वमन्यतरासिद्धतयापास्तम्। अथ घटतज्ज्ञानयोः संबन्धः गुणनिष्ठः

कस्तर्हि संज्ञा नास्तीत्यस्यार्थ इत्यत आह—मात्रेति। मात्राभिर्विषयेन्द्रियाद्याकारपरिणतैर्भूतैरसंसर्गः परमस्य भवति न स्वरूविनाशः। यद्वै तन्न पश्यतीति। वै इत्यवधारणे। यत्तन्न पश्यत्येवेति मन्यस इत्यर्थः। पश्यन्वै तन्न पश्यति। तत्र हेतुः—नहीति। हि यस्माद् द्रष्टुरात्मनो दृष्टेः स्वरूपभूताया इति वा पूर्वोक्तप्रकारेण वा विपरिलोपो विघातो न विद्यत इत्यन्वयः। तत्रापि हेतुः—अविनाशित्वादिति। स्वरूपविनाशाभावात्, अथवा अविनाशित्वमपक्षयरहितत्वमित्येवं विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनादित्यर्थः। जागरादीति। स वा एष इत्यादिना जागराद्यवस्थोपन्यासपूर्वकमित्यर्थः। यत्रेति। यत्र यस्मिन्ननन्ते सुप्तो जीवः न कंचन कामं जाग्रत्स्वप्नयोर्ये कामास्तेषु न कमपि कामं कामयते तथा न कंचन स्वप्नम्। स्वप्नशब्देन तद्विषयाणि ज्ञानान्यभिधीयन्ते। जाग्रद्दर्शनमपि मिथ्याविषयत्वात्स्वप्नशब्देन निर्दिश्यते। न कंचनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः। कमपि स्वप्नं न पश्यतीत्यर्थः। संप्रसादावस्थानमिति। संप्रसादः सुषुप्त्यवस्था, सम्यक्प्रसीदत्यस्यां जीवस्वरूपमिति व्युत्पत्त्या, तस्यामवस्थानं संप्रसादावस्थानं तदवतार्योत्तरत्रेति वाक्यशेषः। भवत्वेवं ततः किमित्यत आह—ईश्वरपक्ष इति। अनुपपत्त्यन्तरं चाह—सुषुप्त्यादीति। ननु ज्ञानमात्मा न भवति गुणत्वाद्रूपवत्तथा ज्ञानमात्मा न भवत्यनित्यत्वादित्यादिप्रयोगविरोधात्कथमात्मनो ज्ञानात्मकत्वमित्यत आह—यत्त्विति। यस्य हि नित्यात्मस्वरूपताभिमता विज्ञानस्य, तस्य कथं गुणत्वमनित्यत्वं वाभिमतमित्यर्थः। गुणत्वसाधकानुमानं शङ्कते—अथेति। अत्रापि संबन्धिमात्रनिष्ठस्य संबन्धस्य गुणनिष्ठत्वमन्यतरसंबन्धिनि गुणत्वमन्तरेण न घटते घटस्य च गुणत्वमुभयानभिमतमिति ज्ञानस्य गुणत्वसिद्धिः, यदि च ज्ञानस्य गुणत्वं न स्यात्तदा

की आशङ्का करके "अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति। यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टे विंपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वाद्"—इत्यादि से अविनाशिता का उपपादन किया गया। ज्योतिर्ब्राह्मण में जाग्रत आदि अवस्थाओं का उपन्यास करते हुए "अथ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति"—इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था की भूमिका रचकर "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"—इस से विशेष विज्ञान का अभाव होने पर भी स्वरूपविज्ञान की नित्यता कही गई है। ईश्वरपक्ष में विशेष विज्ञान का अभाव कहा नहीं जा सकता; क्योंकि वह सदा सर्वज्ञ है और उसमें सुषुप्त्यादि अवस्थाओं का भी अभाव है। अतः ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध अनात्मनिष्ठ है—यह अनुमान आश्रयासिद्धि-ग्रस्त है, यही निश्चित हुआ। यह जो अनुमान कि 'गुणत्व और अनित्यत्ववाला होने से ज्ञान, आत्मा नहीं है।' वह अन्यतरमत (वेदान्तिमत) में असिद्धि होने के कारण निरस्त हो जाता है।

यदि कोई शङ्का करे कि 'घट और उसके ज्ञान का सम्बन्ध गुणनिष्ठ है, ज्ञाननिष्ठ होने से,

---

१. ईशस्य मोक्षसुषुप्त्याद्यभावात्, तत्र ईश्वरज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनमसंगतमित्याकारमित्यर्थः।

ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावद्विपक्षे च जानामीति प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वप्रसंगो बाधक इति चेत्, मैवम्; रूपतज्ज्ञानयोः संबन्धो द्रव्यनिष्ठो ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावदिति प्रतिप्रयोगसंभवात्, जानामीति चानुभवस्यान्तःकरणवृत्त्याश्रयप्रमातृविषयतयाप्युपपत्तेः। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'ज्ञानघन एवे'त्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः। नचाधिकरणपरतया ज्ञानशब्दो योज्यः; अद्वैतश्रुतिविरोधात्। तस्मात्साधूक्तं चिद्रूपत्वादिति।

अकर्मत्वाच्चात्मनः स्वप्रकाशत्वम्, वेद्यत्वे स्वाश्रयज्ञानविषयतया कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात्। न च सुखादिविशिष्टस्याहं सुखीत्यादिज्ञानकर्मत्वं, केवलस्य च कर्तृत्वमित्याकारभेदादविरोधो; गमनादिक्रियास्वपि केवलस्य कर्तृत्वं गमनविशिष्टाकारेण च कर्मत्वमित्याकारभेदेनाविरोधात्कर्मकर्तृभावविरोधस्य सर्वत्रोच्छेदप्रसङ्गात्।

जानामीति ज्ञानाश्रयं विषयीकुर्वतः प्रत्ययस्य निर्विषयताऽपतेत्, तत्स्वरूपत्वे तत्प्रत्याधारतायोगादिति बाधकमाह—विपक्षे चेति। इदंच प्रतिप्रयोगेण निरुन्धे—मैवम्। रूपेति। अत्रापि रूपस्य द्रव्यत्वमुभयवादिविप्रतिषिद्धमिति ज्ञानस्य द्रव्यत्वसिद्धिः। यत्तु बाधकमुक्तं तदन्तःकरणवृत्तिमादाय शाम्यतीत्याह—जानामीति। तदेवमनुमानाच्चिद्रूपत्वमुक्त्वा तदनुग्राह्यमागममप्याह—विज्ञानमिति। यत्तु मानमनोहरकृतोक्तं "ज्ञानशब्दश्च ज्ञायते अस्मिन्नित्यधिकरणवचन" इति तद्दूषयति—नचेति। 'करणाधिकरणयोश्चे'त्यधिकरणेऽपि ल्युड्विधानादित्यर्थः।

द्वितीयं हेतुं विवृणोति—अकर्मत्वाच्चेति। नन्वकर्मत्वमेव कथं यावता मानसप्रत्यक्षोऽयमिष्यत इत्यत आह—वेद्यत्व इति। स्वाश्रयं यज्ज्ञानं तद्विषयतयेत्यर्थः। स्यादेतदुपाधिवशात्किमित्यनेकाकारता न स्यात्। दृश्यते ह्येकस्यापि देवदत्तस्यानेकाकारता पिता भ्राता मातुलः श्याल इत्यादिः। संभवति चात्रापि सुखादिविशिष्टाकारेणाहं सुखीति ज्ञेयत्वं, केवलस्य तु ज्ञातृत्वमित्युपाधिभेदस्तत्राह—नच सुखादीति। पित्रादीनां स्वरूपेणैकत्वेऽपि प्रतियोगिनानात्वात्संभवति तदपेक्षयानेककल्पनाविषयत्वमिह तूपाधि-

---

जैसे—सत्ता, विपक्ष में 'मैं जानता हूँ'—इस ज्ञानाश्रयता-विषयिणी प्रतीति की निरालम्बनता का प्रसंग ही बाधक है। तो यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वहाँ 'रूप और उसके ज्ञान का सम्बन्ध द्रव्यनिष्ठ है, ज्ञाननिष्ठ होने से जैसे—सत्ता'—यह सत्प्रतिपक्ष दिया जा सकता है। और 'मैं जानता हूँ'—इस अनुभव की उपपत्ति, अन्तःकरण-वृत्ति रूप ज्ञान की प्रमातृनिष्ठ आश्रयता को विषय कर लेने से, हो जाती है। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "ज्ञानघन"—इत्यादि श्रुतियों से भी आत्मा में चिद्रूपत्व की सिद्धि होती है। 'ज्ञान' शब्द (ज्ञायतेऽस्मिन्निति) अधिकरणार्थक मानकर "विज्ञानं ब्रह्म" का अर्थ ज्ञानाधिकरण ब्रह्म यह तात्पर्य नहीं बताया जा सकता; क्योंकि अद्वैत श्रुतियों का विरोध होगा। अतः आत्म-स्वप्रकाशत्व-साधन में सर्वथा निर्दुष्ट हेतु है—चिद्रूपत्व।

(२) 'अकर्मत्व' हेतु से भी आत्मा में स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध होता है। आत्मा में अकर्मत्व न मानकर यदि वेद्यत्व (ज्ञान की कर्मता) मानें, तब तो स्वाश्रित ज्ञान की विषयता रहने के कारण कर्मत्व और कर्तृत्व—इन दो विरोधी धर्मों की वहाँ प्राप्ति होगी [अर्थात् ज्ञानरूप क्रिया का आश्रय होने से आत्मा कर्ता और उसी क्रिया से जन्य विषयता रूप फल का आश्रय होने से कर्म होगा]। यदि शङ्का हो कि "मैं सुखी हूँ"—इस प्रकार के ज्ञान की कर्मता रहती है—सुखविशिष्ट आत्मा में, और उस ज्ञान की कर्तृता रहती है—शुद्ध आत्मा में, इस प्रकार आकार भिन्न हो जाने से कोई विरोध नहीं रह जाता। तो यह शङ्का उचित न होगी; क्योंकि गमनादि क्रियाओं में भी केवल (आत्मा) में कर्तृत्व तथा गमनविशिष्ट में कर्मत्व मानकर आकार में भेद डालकर विरोध हटाया जा सकता है। फिर तो कर्मत्व और कर्तृत्व का विरोध ही संसार से उठ जायगा।

तथापि नात्मनः स्वप्रकाशत्वं, तत्तदर्थसंवेदनाश्रयतयापि स्फुरणोपपत्तेः। न चास्य क्रियाफलभाजोऽपि कर्मत्वं; परसमवेतक्रियाफलशालित्वाभावात्। न चैतन्मानसप्रत्यक्षेऽपि समानं; जानातेः सदा सकर्मकतया कर्मणा व्याप्तस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेरिति चेत्, मैवम्; संविद्व्यतिरिक्तस्य संवित्कर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमादात्मनः कर्मत्वाभावे तदनुपपत्तेः। संवेदिता संविदाश्रयतयाऽपरोक्षो न भवति अपरोक्षत्वात्संवेदनवदिति। न च विपक्षे बाधकतर्काभावः; स्वसत्तायां प्रकाशव्यभिचारवतः प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे कदाचित्संशयादिगोचरत्वविशिष्टस्यैव तं[1] प्रति कर्तृत्वं कर्मत्वं चेति विप्रतिषिद्धं नियमेनानुपलब्धेर्गमनादावप्येवंविधोपाधिभेदेनाविरोधप्रसङ्गादित्यर्थः।

अत्र प्राभाकरः शङ्कते—**तथापीति**। यद्यप्यकर्मत्वं तथापि तत्तदर्थविषयाणि यानि संवेदनानि तदाश्रयतया स्फुरणरूपतामन्तरेणापि स्फुरणोपपत्तेरिति योजना। पूर्वं चिद्रूपता त प्रति साधिता। अत्र त्वकर्मत्वस्यान्यथोपपत्तिः परिह्रियत इति न जामिता[2]। ननु कर्मतैवास्य किमिति नास्ति ज्ञानक्रियाफलभाक्त्वात्क्रियाफलभाजश्च कर्मत्वादिति नैयायिकमतमाशङ्क्य स एव निषेधति—**नचास्येति**। न क्रियाफलभाक्त्वमात्रं कर्मत्वम्, नगरं गच्छति चैत्र इत्यत्र चैत्रस्यापि कर्मत्वप्रसङ्गात्। तस्मात्परसमवेतक्रियाफलशालित्वं कर्मत्वं, तच्चास्य नास्ति स्वसमवेतत्वाज्ज्ञानक्रियाया इति भावः। ननु तर्हि संविदाश्रयतयेति किमित्ययमाग्रहः, मानसप्रत्यक्षत्वेऽपि परसमवेतक्रियाफलविकलतया कर्मताऽभावेन कर्मकर्तृविरोधाभावादित्यत आह—**नचैतदिति**। तथा सति ज्ञानतामेव जह्यात् आत्मनः कर्मत्वाभावादन्यस्य च कर्मणोऽनङ्गीकारादित्यर्थः। तदेतन्निरस्यति—**मैवमिति**। यदि संविद्व्यतिरिक्तः स्यात्तर्हि कर्मतयैवापरोक्षव्यवहारविषयः स्याद्विषयेयु तथाव्याप्तेस्तेन कर्मत्वं व्यावर्तमानं संविद्व्यतिरिक्तत्वे सत्यपरोक्षत्व व्यावर्तयतीत्याह—**संविदिति**। संविदाश्रयतयाऽपरोक्षत्वे चानुमानविरोधमाह—**संवेदितेति**। बाधनिवृत्त्यै प्रथमविशेषणं, परप्रसिद्ध्यापि प्रतियोगिप्रसिद्धिः। एवं च सति संविदधीनप्रकाशत्वतदप्रकाशत्वविकल्पेन यदत्र कैश्चिद्दूषणमुक्तं तदप्यनवकाशीकृतम्। यत्तु तैरेवोक्तं विपक्षबाधकतर्काभावादिति तत्र विपक्षबाधकतर्कमाह—**स्वसत्तायामिति**। प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे नित्यज्ञानत्वानङ्गीकारात्स्वसत्तायां प्रकाशव्यभि-

शङ्का—प्रभाकर का मत है कि यद्यपि आत्मा में अकर्मत्व है, तथापि स्वप्रकाशत्व नहीं; क्योंकि तत्तदर्थविषयक ज्ञान का आश्रय होने से (अस्वप्रकाश आत्मा का) स्फुरण बन जाता है। ज्ञान-क्रिया-जन्य फल की आश्रयता रहने पर भी उसमें कर्मत्व नहीं आता; क्योंकि उसमें अन्य-समवेत क्रिया-जन्य फल की आश्रयता नहीं (किन्तु स्व-समवेत क्रिया-जन्य फल की ही आश्रयता है)। 'इस प्रकार अकर्मत्व का समर्थन तो आत्मा की मानस-प्रत्यक्षता में भी समान है'—यह सन्देह नहीं करना; क्योंकि मानस ज्ञान की विषयता मानने पर आत्मा में कर्मत्व मानना ही पड़ेगा; कारण यह कि 'ज्ञान' क्रिया के सदा सकर्मक होने से ज्ञानत्व, कर्म से व्याप्त होता है। कर्म रूप व्यापक की निवृत्ति से ज्ञानत्व रूप व्याप्य की भी (मानस ज्ञान में से) निवृत्ति हो जायगी।

समाधान—प्रभाकर मत युक्त नहीं, क्योंकि यह नियम है कि ज्ञान से भिन्न पदार्थ का अपरोक्ष तभी होगा, जब उसमें ज्ञान का कर्मत्व रहे। (प्रभाकर-मतमें आत्मा भी ज्ञान से भिन्न है) उसमें कर्मत्व न होने पर अपरोक्षता ही न बन सकेगी। 'ज्ञाता ज्ञानाश्रयता के द्वारा कभी अपरोक्ष नहीं हो सकता, अपरोक्ष होने से जैसे—ज्ञान' इस अनुमान से भी प्रभाकर-मत कट जाता है। 'इस अनुमान में विपक्ष-वाधक तर्क नहीं,—यह सन्देह नहीं कर सकते; क्योंकि यदि आत्मा का व्यवहार (स्फुरणादि) किसी दूसरे ज्ञान के अधीन होगा, तब उस ज्ञान से वियुक्त भी कभी आत्मा होगा। फिर तो कदाचित् आत्मा के विषय में संशय भी होना चाहिए—अहं वा ? अनहं वा ?—यह

---

[1] तं प्रति—प्रकाशं प्रति। सम्प्रतीति पाठेतु एकस्मिन्नेव क्षणे इत्यर्थः [2] सदृशचिन्तनप्रयुक्तमालस्यम्—जामिता

प्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्, आत्मनो घटादिज्ञाने भासमानत्वाङ्गीकाराच्च घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत, तज्जनितज्ञाने भासमानताया एव तत्त्वात्, नीरूपस्य च द्रव्यस्य चाक्षुषत्वायोगात्, आत्मा चाक्षुषज्ञाने न प्रकाशते अरूपिद्रव्यत्वादाकाशवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च।

‘अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति’रिति श्रुतेश्चात्मा स्वप्रकाशः। ननु स्वप्नावस्थामधिकृत्येदमाम्नायते, तत्र मनसोऽनुपरमान्न स्वयंज्योतिष्ट्वम्। न च मनसो गजाद्याकारपरिणतस्यावभासकर्मतयैवावस्थानात्करणान्तराभावाच्चात्मैव स्वयंज्योतिः स्यादिति शङ्कनीयम्; मनसश्चक्षुरा-

चारवत इति योजना। तेन च सुखादिव्यावृत्तिः। यत्तु तैरेवाद्रष्टृत्वोपाधिहतत्वाच्चेत्युक्तं तदसत्पक्षेतरत्वा[1]त्पर्वतेतरत्वादिवद्व्यतिरेकानिर्णयेन[2] साध्याव्यापकत्वात्, तर्कान्तरविरोधमाह—**आत्मन इति**। आत्मनो घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत घटादिज्ञानेषु भासमानताङ्गीकारादिति योजना। ननु चक्षुरसंयुक्तस्य कथं चाक्षुषत्वमित्यत आह—**तज्जनितज्ञान इति**। अन्यथा चक्षुःसंयुक्ततया परमाण्वादेरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्सोयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाने तत्ताया अचाक्षुषत्वापत्तेश्च, सर्वगतात्मवादिनां तस्यापि[3] भावादिति भावः। भवतु तर्हि चाक्षुषत्वमपि, नच नीरूपस्य चाक्षुषत्वाभावः; रूपादौ व्यभिचाराद् द्रव्यत्वविशेषणेऽपि वियदादौ भाट्टानां[4] व्यभिचारादित्यत आह—**नीरूपस्य चेति**। किमयं समयबलादिति, न; प्रमाणबलादित्याह—**आत्मा चाक्षुषज्ञान इति**। रूपतत्सामान्यादिषु व्यभिचारनिवारणाय द्रव्यग्रहणम्। घटादिव्यभिचारविघटनायारूपिग्रहणम्। नच भाट्टानां साध्यविकलता दृष्टान्तस्य, तत्प्रत्यक्षत्वे प्रमाणाभावात्प्रत्युताकाशमचाक्षुषमरूपिद्रव्यत्वात्सर्वदाऽस्पर्शवद्द्रव्यत्वान्मनोवत्सर्वगतत्वादात्मवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। नचान्तरत्व[5]मुपाधिर्गुरुत्वादौ साध्याव्याप्तेः।

तृतीयं हेतुं विवृणोति—**अत्रायमिति**। शङ्कते—**नन्विति**। अयमर्थः—न तावत्स्वप्नावस्थायां स्वप्रकाशत्वं श्रुत्या दर्शयितुं शक्यम्; इन्द्रियस्य मनसो विद्यमानतया व्यतिरेक[6]निर्णयाभावादन्यथा जागरेऽपि तद्व्युत्पादनसंभवेन स्वप्नावस्थाश्रयणवैफल्यादिति सिद्धान्तिमतमाशङ्क्य दूषयति—**नच मनस इत्यादिना शङ्कनीयमित्यन्तेन**। तत्र हेतुमाह—**मनस इति**। यदि हि मनसो दृश्यतयावस्थानं

यह विपक्ष-बाधक तर्क है। दूसरा तर्क भी है कि प्रभाकर घटादि के ज्ञान में आत्मा का भान मानते हैं; फिर तो घटादि के ही समान आत्मा में चाक्षुषत्व भी प्राप्त होगा; क्योंकि चक्षु-जनित ज्ञान की भासमानता ही चाक्षुषत्व है। किन्तु नीरूप द्रव्य में चाक्षुषत्व होता नहीं। “आत्मा चाक्षुष ज्ञान में प्रकाशित नहीं हो सकता, अरूपी द्रव्य होने के कारण, जैसे—आकाश”—यह विरोधी प्रयोग भी हो सकता है।

(३) “अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः” (इस अवस्था में यह आत्मा स्वयंप्रकाश होता है। बृह० २।३।९।)—इस श्रुति से भी आत्मा स्वप्रकाश सिद्ध होता है।

शङ्का—स्वप्न अवस्था के प्रकरण में उक्त श्रुति आई है वहाँ (भी आत्मा का प्रकाशक) मन बरावर विद्यमान है; फिर आत्मा में स्वयंप्रकाशता नहीं रहो। यदि कहा जाय कि स्वप्न में मन गजादि आकार से परिणत होकर स्वाप्नज्ञान का कर्म ही बना होता है, करण नहीं और दूसरा भी कोई (ज्ञान का) करण वहाँ है नहीं; अतः आत्मा स्वयंप्रकाश ही होता है। तो ऐसा नहीं कह

---

१. वाधानुन्नीतपक्षेतरत्वादित्यर्थः। अस्योपाधित्वं कुतो नेत्यत आह—व्यतिरेकानिर्णयेनेति। साध्याभावोपाध्यभावयोरेकत्रानिश्चयेनेत्यर्थः। २. साध्याव्यावर्त्तकत्वादित्यपि पाठः। ३. तस्यापि = आत्मनि चक्षुःसंयोगस्यापि। ४. भाट्टैः परकीयप्रभादिरूपेण गगनादौ चाक्षुषत्वोपगमादित्यादिः। ५. शरीरान्तरत्वमित्यर्थः। ६. मनोरूपप्रकाशाभावनिश्चयाभावादित्यर्थः।

दिवदिन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। तस्मान्मनःसंयोगजन्यज्ञानाधारत्वेन स्वयंशब्दवाच्यः आत्मा ज्योतिरित्यभिधीयते, ज्योतिःसाधनत्वाद्वा 'वाचैवायं ज्योतिषा', 'अग्निनैवायं ज्योतिषे' त्येतत्प्रकरणपठितवागग्न्यादिवत्, नत्वात्मा स्वयंज्योतिरिति, द्रव्यस्य गुणत्वानुपपत्तेरिति चेन्मैवम्; यतः—

'संबन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानासमवायिनः।
इन्द्रियत्वाविघाताच्च मनः प्रत्यक्षमात्मवत् ॥४॥

मनः प्रत्यक्षं ज्ञानासमवायिकारणाधारत्वात् आत्मवदित्यनुमानान्मनसोऽपि प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः। न च प्रत्यक्षत्वे सति इन्द्रियत्वव्याकोपः, तस्य साक्षिवेद्यस्याप्यैन्द्रियकज्ञानाविषयत्वेनेन्द्रियत्वाव्याकोपात्। तस्मान्निरस्तसमस्तकलङ्कावकाशमात्मनः स्वप्रकाशत्वम्। तच्चात्मरूपमवि-

स्यान्न स्यात्तर्हि करणत्वं नत्वेतदस्ति। मनस इन्द्रियत्वेनायोगिनः प्रत्यतीन्द्रियत्वात्। शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं साक्षात्प्रतीतिसाधनमितीन्द्रियलक्षणान्मनोऽतीन्द्रियमिन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदिति प्रयोगसंभवाच्चेत्यर्थः। कस्तर्हि श्रुतेरर्थः? इत्यत आह—**तस्मादिति**। ज्योतिर्लक्षणप्रकाशाधिकरणत्वाज्ज्योतिरित्यभिधीयते। ज्योतिःसाधनतया वा ज्योतिःशब्दः, वागादिवदित्यर्थः। उपपत्तिविरुद्धश्चायमर्थ इत्याह—**द्रव्यस्येति**। ज्ञानस्य गुणत्वादात्मनो द्रव्यत्वाच्चेत्यर्थः। तदेतदप्यपाकरोति—**मैवमिति**। हेतुमवतारयति—**यत इति**। श्लोकेनानुमानमाह—**संबन्धस्येति**। मनः प्रत्यक्षं विज्ञानासमवायिनो विज्ञानं प्रत्यसमवायिकारणस्य संबन्धस्याश्रयत्वेन हेतुनात्मवदित्यनुमानं संगृहीतम्। यत्तु प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियत्वव्याघात इति तत्राह—**इन्द्रियत्वाविघाताच्चेति**। नचेन्द्रियाजन्यायोगिसाक्षात्काराविषयो मन इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदिति प्रयोगः। नैयायिकादेरप्रसिद्धविशेषणत्वादुक्तहेतुर्व्यतिरेकस्योपाधित्वाच्च। संगृहीतमनुमानं विवृणोति—**मन इत्यादिना**। ज्ञानासमवायिकारणमात्ममनःसंयोगः। ज्ञानाधारत्वादित्युक्ते असिद्धिस्तथाऽसमवायिकारणाधारत्वादित्युक्ते परमाण्वादिषु व्यभिचारस्ततो विशेषणद्वयमिदं, इन्द्रियत्वाविघाताच्चेति विवृणोति—**नचेति**। ननु कथं ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो ज्योतिःशब्दवाच्यता यावता भूतविशेष एवायं ज्योतिःशब्दो व्युत्पन्न[1] इत्यत आह—**तच्चेति**। तमोनिवर्तनेनावभासके हि ज्योतिःशब्दः प्रयुज्यते तदिहापि[2] समानमित्यर्थः।

सकते; क्योंकि मन भी चक्षु-आदि के समान (अतीन्द्रिय) इन्द्रिय है, अतः (गजादि रूप से) चाक्षुष प्रत्यक्ष की विषयता उसमें नहीं रह सकती। इसलिए मनः संयोग से जन्य ज्ञान का आधार होने से ही 'स्वयं' शब्द का वाच्य आत्मा 'ज्योति' कहा जाता है। अथवा ज्योति का साधन होने से। जैसे कि उसी प्रकरण में "वाचैवायं ज्योतिषा" (वाग्रूप ज्योति के द्वारा—बृह० ४।३।५) "अग्निनैवायं ज्योतिषा" (अग्निरूप ज्योति के द्वारा—बृह० ४।३।४)—इन श्रुतियों में ज्योति के साधनभूत वाग् आदि को ज्योति कहा गया है। आत्मा को स्वयं ज्योति नहीं कहा गया; क्योंकि द्रव्य (आत्मा) गुण (ज्योति = ज्ञान) रूप नहीं बन सकता।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहिए; क्योंकि विज्ञान के असमवायिकारण सम्बन्ध का आश्रय होने से मन प्रत्यक्ष ही है और उसमें इन्द्रियत्व भी अक्षुण्ण है। यहाँ 'मन प्रत्यक्ष है, ज्ञान के असमवायिकरण का आधार होने से, जैसे—आत्मा'—इस अनुमान से मन में प्रत्यक्षता उपपन्न है। मन के प्रत्यक्ष होने पर भी इंद्रियत्व का वाध नहीं होता; क्योंकि मन साक्षिवेद्य होने पर भी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का विषय न होने से अतीन्द्रिय है। अतः उक्त स्वप्रकाशत्वानुमान समस्त कलङ्कों से विमुक्त है। आत्मस्वरूप वह ज्ञान अविद्या-कल्पित प्रपञ्च का भासक और अविद्यारूप

---

१. गृहीतशक्तिक इत्यर्थः। २. आत्मन्यपीत्यर्थः।

द्यापरिकल्पितप्रपञ्चावभासकत्वादविद्यातमोनिवर्तकत्वाच्च ज्योतिःशब्दाभिधेयं, यथा भावरूपशार्वरादितमोनिवतनेन जगदवभासकमादित्यादि ज्योतिरिति सिद्धम् ।

ननु तमो न भावरूपं, भावेष्वनन्तर्भावात् । तद्धि पृथिव्यादिद्रव्याणामन्यतमत्तद् ? अन्यद्वा स्यात् ? नाद्यः । क्षितिसलिलात्मसु चतुर्दशगुणेषु, तेजसि एकादशगुणे, मातरिश्वनि नवगुणे, मनसि चाष्टगुणे, नभसि षड्गुणे, दिक्कालयोः पञ्चगुणयोरविनाशिनोरनन्तर्भावात् । अन्तर्भावे तु तावद्गुणवत्त्वप्रसङ्गात्, आत्मादावन्तर्भावे नित्यत्वापत्तेश्च ।

नापि द्वितीयो, निर्गुणस्य द्रव्यत्वानुपपत्तौ द्रव्यान्तरत्वस्य सुतरामनुपपत्तेः । नीलोत्प-

---

'[३]भावाभावातिगाऽविद्यातत्त्वे दृष्टान्तितं तमः ।
वृद्धैस्तदस्य भावत्वं वादेनानेन साध्यते ॥'

भावरूपतमोनिवर्तनेनेत्युक्तं तदिदममृष्यमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तमो न भावरूपमिति** । हेतुमाह—**भावेष्विति** । षट्पदार्थान्यतमत्वं हि भावत्वम् । तदिह तदन्यतमत्वं व्यावर्तमानं भावत्वमपि व्यावर्तयतीत्यर्थः । तत्र किं द्रव्यान्तर्भूतमुत्तरपञ्चकान्तर्भूतं वा द्रव्यान्तर्भावे पृथिव्यादिनवान्यतमदन्यद्वेति विकल्प्य नवान्तर्भावं निषेधति—**नाद्यः । क्षितीति** । तत्र रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंकाराश्चतुर्दश क्षितिगुणाः, गन्धरहिताः स्नेहसहितास्ते एव चतुर्दश सलिलगुणाः, संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यसंस्काराश्चतुर्दशात्मगुणाः, आत्मा चात्रापरः । रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारा इत्येकादशगुणास्तेजसः, रूपद्रवत्वहीनास्ते एव नव गुणा वायोः । स्पर्शरहितास्ते एवाष्ट मनसो गुणाः । एतेनेश्वरोऽपि गृहीतः । शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः षड् गगनगुणाः । शब्दवर्जितास्ते एव पञ्च दिक्कालयोः, एतेष्वनन्तर्भावादित्यर्थं । ननु किमित्यनन्तर्भाव इत्यत आह—**अन्तर्भावेत्विति** । यस्मिन्यस्यान्तर्भावोऽभिमतस्तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । नित्यद्रव्यान्तर्भावेऽधिकं दूषणमाह—**आत्मादाविति** । तथाचालोकानिवर्त्यत्वमिति शेषः । नवत्वहिष्टं दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । तत्र वक्तव्यं किं गुणवद् ? उत निर्गुणमिति ? निर्गुणपक्षं दूषयति—**निर्गुणस्येति** । गुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वेन तद्रहितस्य द्रव्यत्वव्याघातादित्यर्थः । प्रथमं शङ्कते—**नीलेति** । रूपपरिमाणगुणवत्त्वोपलम्भादित्यर्थः । परिहरति—**नेति** । पृथिव्यां हि नीलरूपं गन्धादिभिर्व्यासमतस्तन्निवृत्तौ तमसि नील-

---

अन्धकार का निवर्तक होने से 'ज्योति' शब्द से पुकारा जाता है । जैसे रात के भावरूप अन्धकार के निवर्तक एवम् जगद् के भासक सूर्यादि ज्योति कहे जाते हैं ।

पूर्वपक्ष—अन्धकार भावरूप नहीं हो सकता; क्योंकि परिगणित भावपदार्थों के अन्तर्गत नहीं आता— उसका द्रव्य में अन्तर्भाव यदि मानें, तो पृथिवीआदि नव द्रव्यों में अन्यतम है ? या कि उनसे भिन्न ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि चौदह गुणों वाले पृथिवी जल और आत्मा में, ग्यारह गुणों वाले तेज में, नव गुणवाली वायु में, आठ गुणोंवाले मन में, छह गुणोंवाले आकाश में, पाँच गुणों वाले अविनाशी दिशा और काल में, अन्तर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें अन्तर्भाव मानने पर उनके उतने ही गुणों की (अन्धकार में) आपत्ति होगी, एवं आत्मादि नित्य द्रव्यों के अन्तर्गत मानने पर नित्यता की आपत्ति होगी । द्वितीय (परिगणित भावों से भिन्न) पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि निर्गुण पदार्थ में द्रव्यता ही नहीं होती, फिर तो भिन्न द्रव्य हो ही कैसे सकता है ? यदि कहें कि नीलकमलदल—जैसा श्याम और महान् (महत्व गुणवाला) प्रतीत होनेवाला

---

[३] सद्रूपत्वासद्रूपत्वधर्मविधुरे अविद्यास्वरूपे निवर्तनीयत्वे पंचपादिकाकृदादिभिस्तमोऽस्य दृष्टान्तत्वेनोपात्तं तस्मात्तस्य भावत्वमनेन प्रकरणेन साध्यते इतिभावः ।

लदलश्यामं महच्चोपलक्ष्यमाणं तमः कथं निर्गुणमिति चेन्न। नीलरूपस्य गन्धाद्येकार्थसमवायिनस्तद्व्याप्तस्य तदभावे भावायोगात्। अपि च द्रव्यान्तरत्वे न तावन्निरवयवत्वं, नित्यत्वेनालोकानिवर्त्यत्वापत्तः। सावयवत्वे च तदारम्भकाणां स्पर्शवत्त्वे तस्मिन्नपि स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गादस्पशवत्त्वे च तेषां मनोवद्द्रव्यारम्भकत्वायोगात्। नापि गुणाः; रूपान्तर्भावे पृथिव्यादित्रितयगुणत्वे च तत्सहचारिणां गुणान्तराणामप्युपलब्धिप्रसङ्गात्। नापि नभोनभस्वतोगुणः; तयोररूपत्वात्। नापि दिक्कालमनसाम्; एतेषां विशेषगुणरहितत्वात्। नाप्यात्मनः; तस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षगुणानधिकरणत्वात्। नापि कर्म; संयोगविभागयोरकाणत्वात्। नापि सामान्य-

---

रूपमपि निवर्ततेत्यर्थः। भावायोगादिति पदच्छेदः। भङ्ग्यन्तरेणापि द्रव्यान्तरत्वं दूषयति—**अपि चेति**। तत्किं निरवयवमुतावयवारभ्यम्? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। निरवयवद्रव्यस्यात्मवन्नित्यत्वादित्यर्थः। द्वितीयेऽपि किं स्पर्शवदारभ्यं? तद्रहितारभ्यं वा? प्रथमे प्राह—**तदारम्भकाणामिति**। समवायिकारणगतविशेषगुणस्य कार्ये सजातीयगुणारम्भकत्वनियमादिति भावः। द्वितीयं दूषयति—**अस्पर्शवत्त्वे चेति**। यत्स्पर्शरहितं न तद्द्रव्यारम्भकं यथा मन इत्यर्थः। उत्तरपञ्चकान्तर्भाव क्रमेण दूषयति—**नापीति**। गुणपक्षेऽपि किं रूपान्तर्भूतमितरान्तर्भूतं वा? आद्येऽपि किं पृथिव्यादित्रयवृत्तीतरवृत्ति वा? आद्यं निराचष्टे—**रूपान्तर्भाव इति**। इतरवृत्तितामपि क्रमेण दूषयति—**नापीति**। नभस्वान्वायुः। **विशेषगुणरहितत्वादिति**। दिक्कालमनसां विशेषगुणशून्यत्वमिति सिद्धान्तादित्यर्थः। चक्षुर्मात्रग्राह्यस्येतरगुणान्तर्भावस्त्वसंभवनिरस्तः। कर्मान्तर्भावं निराकरोति—**नापीति**। संयोगविभागयोरसवायिकारणत्वस्य कर्मलक्ष-

---

अन्धकार निर्गुण कैसे होगा? तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि गन्धादि का सहवर्ति श्यामरूप गन्धादि का व्याप्य है फिर व्यापक गन्धादि के न होने से अन्धकार में श्यामरूप कभी रह नहीं सकता। दूसरी बात यह भी है कि (नव से) भिन्न द्रव्य माने जाने पर (अन्धकार को निरवयव मानेंगे? कि सावयव?) निरवयव तो बन नहीं सकेगा; क्योंकि तब तो नित्य हो जायगा, फिर प्रकाश से मिटाया नहीं जा सकेगा। सावयव माने जाने पर भी (उसके आरम्भक) अवयवों को (सस्पर्श मानेंगे? कि निःस्पर्श) सस्पर्श मानने पर उस (अन्धकार) में भी स्पर्शकी उपलब्धि प्रसक्त होगी और (आरम्भक अवयवों को) निःस्पर्श मानने पर उन (निःस्पर्श अवयवों) को वैसे ही द्रव्य का आरम्भक नहीं माना जा सकेगा, जैसे मन को।

अन्धकार को गुण भी नहीं माना जा सकता—यदि उसे गुण मानें तो रूप में उसका अन्तर्भाव होगा? या कि दूसरे गुणों में? रूप में अन्तर्भाव मानने पर वह किसका गुण होगा? पृथिवी, जल, तेज—इन तीनों का हो नहीं सकता; क्योंकि फिर तो उनके सहचारी गन्धादि गुणों की भी उपलब्धि होनी चाहिए। आकाश और वायु का गुण भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि वे दोनों ही नीरूप हैं। दिशा, काल तथा मन का भी गुण नहीं हो सकेगा; क्योंकि उनमें कोई भी विशेष गुण नहीं रहता ["रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा वैशेषिकगुणाः"—इस प्रकार प्रशस्तपादने रूपादि विशेष गुण गिनाए हैं। इनमें से कोई भी दिशा और काल में नहीं रहता]। आत्मा का भी वह गुण न बन सकेगा; क्योंकि आत्मा के गुणों का वाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। [किन्तु अन्धकारात्मक रूप का प्रत्यक्ष चक्षु से माना जाता है अतः वह आत्मा का गुण कैसे होगा?]

अन्धकार को कर्म भी नहीं कह सकते; क्योंकि संयोग और विभाग का कारण नहीं [आशय यह है कि संयोग और विभाग के असमवायिकारण को ही वैशेषिकों ने कर्म माना है। किन्तु अन्धकार से किसी प्रकार का संयोग या विभाग उत्पन्न नहीं होता, अतः वह कर्म कैसे होगा?]।

विशेषसमवायाः; तेषां व्यक्त्याश्रयसंबन्धिनामुपलब्धिमन्तरेणानुपलम्भनियमात् । न हि सामान्यस्येव व्यक्तिर्विशेषाणामिव चाश्रयः समवायस्येव संबन्धी तमसः कश्चिदुपलभ्यते । न चास्य तमस उपलम्भसंभवः; तदुपलम्भकाभावात् । न च लोचनमुपलम्भकं; तदव्यापारे तदनुपलम्भापातात् । अस्ति च निमीलितनयनस्यापि तमः पश्यामीत्यभिमानः । अपि च रूपत्वे रूपवत्त्वे वाऽऽलोकाजन्यचक्षुर्जन्यसाक्षात्कारविषयत्वं न स्यादालोकसहकृतस्यैव चक्षुषस्तत्र सामर्थ्यात् । नापि मनस्तदुपलम्भकं; बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तस्य बहिरप्रवृत्तेः । तस्मात्षट्स्वपि भावेष्वनन्तर्भावात्तद्भावे वोपलम्भकाभावाच्च, प्रभाभावस्तम इति ।

अत्रोच्यते—'तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥५॥

णत्वात्तमसश्च तदभावादित्यर्थः । सामान्यादित्रयधर्माणामभावं तमसि दर्शयति—**नहीति** । सामान्यत्वे व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वं, विशेषत्वे चाश्रयप्रतीत्यपेक्षा, समवायत्वे च संबन्धिप्रतीत्यपेक्षा स्यादित्यर्थः । एवं भावत्वे निःस्वभावापत्तिमुक्त्वा प्रतीत्यनुपपत्तिमाह—**नचेति** । प्रत्यक्षं तावदनुभूयते । तत् किं चाक्षुषम्? उत मानसं? स्पार्शनादिकं त्वनुपलम्भपराहतम् । नाद्य इत्याह—**नचेति** । अस्मत्पक्षे निमीलितलोचनस्यापि संतमसालोचनं संभवति, आलोकाभावस्यान्तरस्य चक्षुषा ग्रहणसंभवादालोकानपेक्षत्वाद्भावपक्षे त्वालोकापेक्षाया वक्ष्यमाणत्वात्; पदार्थान्तरस्याप्यान्तरस्य ग्रहणप्रसङ्गाच्चेति भावः । रूपगुणत्वे रूपवद्द्रव्यत्वे चानुपपत्त्यन्तरमाह—**अपिचेति** । आलोकेनाजन्यश्चक्षुर्जन्यश्च यः साक्षात्कारस्तद्विषयत्वं न स्यादस्ति च तदित्यर्थः । रूपघटादिष्वव्यभिचारायाद्यविशेषणम्, ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यस्यास्मदादिस्पार्शनप्रत्यक्षवेद्यस्य च घटादेर्निवृत्त्यै चक्षुर्जन्यग्रहणम् । अस्मत्पक्षे त्वालोकाभावस्यालोकानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षप्रतियोगिकतया च प्रत्यक्षत्वान्नानुपपत्तिरिति भावः । मानसत्वं निषेधति—**नापि मन इति** । तमसश्च बहिरुपलब्धेरिति शेषः । उपसंहरति—**तस्मादिति** । तद्भाव इत्यन्तर्भूतत्वेऽपीत्यर्थः । अयमत्र प्रयोगः—तमःपदमालोकाभाववाचकमालोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचकत्वादालोकाभावपदवदिति ।

समाधातुमुपक्रमते—**अत्रोच्यत इति** । श्लोकेन प्रमाणमुपदर्शयति—**तमालेति** । तमालवच्छ्या-

---

सामान्य (जाति) विशेष और समवाय के अन्तर्गत भी अन्धकार नहीं हो सकता; क्योंकि व्यक्ति की उपलब्धि के बिना जाति की, आश्रय की उपलब्धि के बिना विशेष की, और सम्बन्धी की उपलब्धि के बिना समवाय की प्रतीति नियमतः नहीं होती (किन्तु अन्धकार की प्रतीति व्यक्तिआदि की प्रतीति के बिना हो होती है, क्योंकि) जैसे सामान्य का व्यक्ति, विशेष का आश्रय और समवाय के सम्बन्धी आधार प्रतीत होते हैं, वैसा अन्धकार का कोई आधार प्रतीत नहीं होता ।

भावरूप मानकर अन्धकार की प्रतीति भी सम्भव नहीं; क्योंकि उसका उपलम्भक (प्रत्यायक) ही कोई नहीं । यदि कहें कि नेत्र उसका उपलम्भक है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि फिर तो नेत्र के अव्यापृत (बन्द) होने पर उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए । किन्तु नेत्र बन्द करने वाले को भी यह भान होता है कि मैं अन्दर अन्धकार देख रहा हूँ । दूसरी बात यह भी है कि अन्धकार को रूप या रूपवान् मानने पर वह आलोक-निरपेक्ष चक्षु-जन्य साक्षात्कार का विषय न हो सकेगा; क्योंकि आलोक-सहकृत चक्षु का ही सामर्थ्य रूप या रूपवान् के प्रत्यक्ष में होता है । मन भी उसका उपलम्भक नहीं हो सकता; क्योंकि बाह्य इन्द्रियों की सहायता के बिना वह बाहर के पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता । अतः द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—इन छह भाव पदार्थों में अन्धकार अन्तर्भूत नहों हो सकता और अन्तर्भूत होने पर भी उसका कोई उपलम्भक नहीं मिलता । इसलिए प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है ।

सिद्धान्त—'तमाल-पत्र-जैसा श्यामल वह है' इस प्रकार का स्फुट, अबाध प्रत्यक्ष रहते हुए

अस्ति हि तमस्तमालमालाश्यामलमिति प्रतीतिः। न चाप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रमः; तद्व्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः। न चायमौपचारिक आलोकाभावे, शौक्ल्याभावे पटादौ नीलव्यवहार इवेति युक्तम्; मुख्ये बाधकाभावात्। रूपत्वे रूपवत्त्वे वा आलोकानपेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वासंभवो बाधक इति चेत्, मैवम्; आलोकविरोधिनस्तमसश्चालोकाभावव्यञ्जनीयतया तन्निरपेक्षचक्षुर्विषयत्वोपपत्तेः, सामर्थ्यस्य कार्यगम्यत्वात्। न चेद्, आलोकाभाव-

मलमिति ज्ञानं तमालश्यामलज्ञानं तस्मिन्निर्बाधे स्फुटे जाग्रति स्फुरति सति अकस्मान्निष्कारणं द्रव्यान्तरं तमः [1]विशेषणैरुदयत् कस्मादपलप्यते। अयुक्तो ह्यकस्मादपलापोऽतिप्रसङ्गादिति योजना। अत्र जाग्रतीत्यनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यं[2] परिहृतम्। स्फुट इति संशयः परिहृतः। निर्बाध इति विपर्ययपर्युदासः। श्लोकं विवृणोति—अस्ति हीति। अत्र प्राभाकरावलम्बिनः प्राहुः—प्रतीतिरेव तावन्नोदेति। यस्तु प्रतीतिव्यवहारः स तु प्रतीत्यभाव एव प्रतीतिभ्रमः। यथाहुरदृष्टौ ध्वान्तदृष्टिवदिति, तन्निराचष्टे—नचेति। तत्र हेतुः—तद्व्यवहारस्येति। अस्ति तावदेवंविधः संसर्गव्यवहारः। स च तादृशज्ञानमन्तरेणानुपपन्नः। चेतनव्यवहारस्य ज्ञानपूर्वकत्वनियमादित्यर्थः। यथा चैतत्तथोदर्केऽख्यातिप्रत्याख्याने प्रख्याप्यते। नचालोकादर्शनविषयज्ञानमेव तमः पश्यामीति व्यवहारहेतुस्तस्याचाक्षुषतया इदमिति व्यवहाराद्यनुपपादकत्वादिति भावः। एतेनैतदपि परास्तम्। यदाह मानमनोहरस्तमसि प्रमाणाभावमुपन्यस्य, नीलं तम इति प्रतीतिः प्रमाणमिति चेन्न, नीलबुद्ध्यसिद्धेः, उक्तं नाथेनापि[3]—"अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रमो मन्दानामिति"। यत्तु तेनैवोक्तं—"कथं तर्हि पदप्रयोग इति चेत्सिताभावे उपचारादसितं नीलमिति हि लौकिकः प्रयोग" इति। तदेतदनुवादपूर्वकं दूषयति—**नचायमित्यादियुक्तमित्यन्तेन**। पटादौ शौक्ल्याभावे नीलस्य व्यवहार इवालोकाभावेऽयमौपचारिक इति न युक्तमित्यन्वयः। मुख्ये बाधकाभावादिति तत्र हेतुः। यत्त्वत्रापि तेनोक्तं "मुख्ये किं बाधकमिति चेदालोकनिरपेक्षस्य चक्षुषो रूपप्रत्ययजनकत्वानुपपत्तेः, कारणाभावे कार्यं जायत इति दुर्घट" मिति। तदेतदर्थतः शङ्कते—**रूपत्व इत्यादिना**। परिहरति—**मैवमिति**। रूपवत्त्वेऽपीतररूपवद्वैलक्षण्यमस्तीत्यन्यथासिद्धमित्यर्थः। नन्वितरत्रालोकसापेक्षस्य चक्षुषः कथं तमन्तरेण तमसि[4] सामर्थ्यमित्यत आह—**सामर्थ्यस्येति**। एतदेव प्रतिबन्द्या समर्थयते—**नचेदित्यादिना**। यदि

अकस्मात् यह कैसे कहा जा सकता है कि अन्धकार द्रव्यान्तर (दशम द्रव्य) नहीं ?' तमाल के समान श्यामल यह है—ऐसी प्रतीति सभी को होती है। यदि कोई शङ्का करे कि वस्तुतः वैसी प्रतीति के अभाव में ही प्रतीति का व्यवहार (भ्रम) होता है तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उस प्रतीति के बिना उसका व्यवहार कदापि नहीं हो सकता। यदि शङ्का हो कि श्यामल है—यह शब्द व्यवहार वैसे ही औपचारिक (गौणीवृत्ति से प्रवृत्त) है, जैसे कि वस्त्र में शुक्लता के अभाव को 'काला है'—ऐसा कह दिया करते हैं। तो यह शङ्का भी उचित नहीं; क्योंकि मुख्य व्यवहार का कोई बाधक नहीं। [अर्थात् किसी शब्द का गौण व्यवहार तभी माना जाता है, जब कि उस शब्द की मुख्य अर्थ में प्रवृत्ति का कोई बाधक हो। यहाँ मुख्यार्थता में कोई बाधक नहीं, फिर 'श्यामल' औपचारिक क्यों होगा ?]। रूप या रूपवान् में आलोक-निरपेक्ष चक्षु-जन्य ज्ञान की विषयता का सम्भव न होना ही बाधक है—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि आलोक के विरोधी अन्धकार की अभिव्यक्ति आलोकाभाव से ही होती है। अतः आलोक निरपेक्ष चक्षु-जन्य ज्ञान की विषयता वहाँ सम्भव है। चक्षु में ऐसा सामर्थ्य कैसे आया—यह फल से निश्चय होता है। यदि ऐसा न माना जाय, तब आलोकाभावरूप माना जाय, तब अलोकाभावरूप मानकर भी आलोक-निर-

---

१. विशेषेण तु सुहृद्येनेति पाठान्तरम्। २. अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः। इति भाट्टोक्ताज्ञानपदोदितं तात्त्विकज्ञानस्यानुत्पत्तिलक्षणमित्यर्थः। ३. शालिकनाथेनेत्यर्थः। ४. तमःप्रत्यक्षे इत्यर्थः।

स्यापि रूपवदभावतया घटाभाववदालोकनिरपेक्षचक्षुर्विषयत्वं न स्यात्, तद्विरोधितया तदनपेक्षत्वं तु प्रकृतेऽपि समानमन्यत्राभिनिवेशात्। न च निमीलितनयनस्य लोचनव्यापाराभावेऽपि तमस उपलम्भादचाक्षुषत्वं; तत्रापि पक्ष्मपटलान्तर्वर्तितमसश्चक्षुर्व्यापारादेवोपलब्धेः, पिहितकर्णपुटस्य श्रोत्रव्यापारादेवान्तरशब्दोपलब्धिवत्। यत्तु गन्धाभावे तद्व्याप्तं नीलरूपमपि न स्यादिति, तदपि न; अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यां गन्धादिव्याप्तस्य तदभावेऽपि मरुति प्रतीतेरेवाङ्गीकारवदिहापि प्रतीतेरेव नीलरूपस्य गन्धाभावेऽप्यभ्युपेयत्वात्। अथ पाकजस्यैवानुष्णाशीतस्पर्शस्य गन्धादिना व्याप्तिस्तर्हीहापि पाकजस्यैव कालिमगुणस्य गन्धादिना

हि रूपवत्त्वमात्रेणालोकसापेक्षताप्राप्तिस्तदा रूपवदभावत्वादालोकाभावेऽपि घटाद्यभाववदालोकं किमिति नापेक्षते चक्षुरित्यर्थः। प्रसङ्गसाम्यमुक्त्वा परिहारं समीकरोति—**तद्विरोधितयेति**। न चाभिव्यञ्जकतयाप्यवश्यापेक्षणीये सत्यालोकाभावे तावतैव तमःशब्दसार्थक्यात् कृतमधिकान्धकारकल्पनयेति वाच्यम्; यतः कल्पयन्तं प्रति अयं पर्यनुयोगः, न प्रत्यक्षं प्रमाणयन्तं प्रति आभासतोद्भावनीयेति चेदुद्भाव्यतां, सैव तु केनेति विवेचनीयम्? नहि न नीलं तम इति प्रत्यक्षमस्ति बाधकम्, अनुमानमितिचेत्तस्यैव तावदध्यक्षविध्वस्तविषयस्य बाधव्याधिं समाधत्स्व। तदेवमालोकानिरपेक्षचक्षुःप्रवृत्त्यनुपपत्तिः परिहृता। यत्तु चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्युपलम्भादचाक्षुषत्वमिति तदनूद्यासिद्धिमाह—**नच निमीलितेति**। नच रूपवदन्तरग्रहप्रसङ्गः; तत्रालोकसापेक्षत्वात्। नचेन्द्रियाणामन्तःप्रवृत्तिर्न दृष्टचरी येनायमलौकिकः कॢप्तः स्यादित्याह—**पिहितेति**। तत्र शब्द इत्यादिप्रतीतेः श्रोत्रमपि गत्वा ग्राहीति भावः। इत्थमुपलम्भकसिद्धिरुक्ता। अथ यदुक्तं नीलरूपमस्य न संभवति, तद्व्यापकगन्धवैधुर्यादिति तदनूद्याभाससमानयोगक्षेमतां दर्शयन्बाधकमाह—**अनुष्णाशीतस्पर्शस्येत्यादिना**। अत्र हि गन्धव्यावृत्त्या नीलरूपव्यावृत्तिरनुमित्सिता। साचायुक्ता; रूपोपलब्धिविरोधात्। यदिचैवमपि नानुमन्यसे, तर्हि गन्धव्यावृत्त्यानुष्णाशीतस्पर्शमपि पवनाद्व्यावर्तयेत्यर्थः। अथ नानुष्णाशीतस्पर्शमात्रस्य गन्धेन व्याप्तिरपि तु तद्विशेषस्य पाकजन्मनस्तर्हीहापि न नीलरूपमात्रस्य गन्धेन व्याप्तिः, किंतु पाकजस्यैवेत्याह— **अथ पाकजस्यैवेति**। नन्वपाकजस्पर्शवदपाक-

---

पेक्ष चक्षु-जन्य ज्ञान का विषय अन्धकार न हो सकेगा; क्योंकि रूपवत्प्रतियोगिक यह अभाव है और रूपयुक्त घटादि प्रतियोगिक अभाव आलोक-निरपेक्ष चक्षु-जन्य ज्ञान का विषय नहीं होता। आलोक का विरोधी होने से आलोकाभाव के ग्रहण में आलोक की अपेक्षा नहीं—यह समाधान भाव रूप अन्धकार के प्रत्यक्ष में भी किया जा सकता है। हाँ, दुराग्रह की कोई औषध नहीं।

यदि कहा जाय कि जिसने नेत्र बन्द कर रक्खे हैं नेत्र का व्यापार न होने पर भी उसको अन्धकार का प्रत्यक्ष होता है, अतः अन्धकार चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय कैसे होगा? तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि उस व्यक्ति को चक्षु के व्यापार से ही पलकों के अन्दर होनेवाले अन्धकार का वैसे ही प्रत्यक्ष होता है जैसे कि अपने कान बन्द करनेवाला व्यक्ति क्षेत्र के व्यापार से ही आन्तरिक शब्द का प्रत्यक्ष होता है। यह जो आपत्ति दी थी कि गन्ध के न होने पर गन्ध-व्याप्य नीलरूप भी नहीं रहेगा; वह आपत्ति भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे अनुष्णाशीतस्पर्श पृथिवी में गन्ध का व्याप्य है, किन्तु वायु में (व्यापक) गन्ध के होने पर भी अनुष्णाशीतस्पर्श प्रतीति के बल पर माना जाता है; वैसे ही गन्ध के न होने पर भी प्रतीति के बल पर अन्धकार में नीलरूप क्यों न माना जायगा? यदि कहा जाय कि पाकज अनुष्णाशीतस्पर्श ही गन्धादि का व्याप्य है, अनुष्णाशीत स्पर्श सामान्य नहीं। (अतः वायु में गन्ध के न रहने पर पाकजअनुष्णाशीतस्पर्श की ही निवृत्ति होगी, अपाकजअनुष्णाशीत स्पर्श वहाँ रहेगा ही); तो प्रकृत में भी कहा जा सकता है कि गन्धादि का व्याप्य पाकज नीलरूप ही है। (अन्धकार में गन्ध की निवृत्ति से पाकज नीलरूप

व्याप्तिरिति तुल्यम्। सद्भावग्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयत्र समानत्वात्। न च स्पर्शाभावात्तमसो रूपवत्त्वाभावः; रूपग्राहकप्रत्यक्षविरोधे हेतोः कालात्ययापदिष्टतया तदभावानुमानानुदयात्। अन्यथा रूपाभावेन पवनेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य दुर्निवारत्वात्, अन्यत्र रूपवतामेव स्पर्शवत्त्वनियमात्। न चास्पर्शवत्त्वादेव तमःपरमाणूनां मनोवदनारम्भकत्वमनुमातुं युक्तम्; तत्र वैयर्थ्यस्योपाधेः सद्भावात्। न हि शरीरतया विषयतयेन्द्रियतया वा मनआरब्धद्रव्यस्य भोगसाधनता संभावनीया; पार्थिवादिचतुर्विधशरीरानन्तर्भूतस्येन्द्रियानाश्रयस्य शरीरतया

जनीलरूपसिद्धावेतत्स्यात्तदेव तु कुतः प्रमाणादित्यत आह—**सद्भावग्राहिण** इति। ननु तमो रूपरहितं स्पर्शरहितत्वादाकाशवदित्यनुमानविरोधाद्रूपवत्त्वमेव नास्तीति कुतस्तद्विशेषनीलरूपवत्ता ? इत्यत आह—**नच स्पर्शेति**। एतदपि पवनस्पर्शप्रतिबन्द्या समर्थयते—**अन्यथा रूपाभावेनेति**। वायुः स्पर्शरहितः रूपरहितत्वादाकाशवदित्यस्यापि सुवचत्वात्, प्रतीतेराभासतयानुमानोदयस्य सुवचत्वादित्यर्थः। अस्यैव व्याप्तिमाह—**अन्यत्रेति**। यत्तु यत्स्पर्शरहितं न तद्द्रव्यारम्भकं यथा मन इति व्याप्त्या स्पर्शरहिततयाङ्गीकृततमःपरमाणूनां द्रव्यारम्भकताभ्युपगमव्याघात इति कन्दलीकारोक्तदूषणं तदनूद्य निकरोति—**नचास्पर्शवत्त्वादेवेति**। तत्रेति। मनसि द्रव्यानारम्भकत्वे तदारब्धकार्यवैयर्थ्यमुपाधिः अतो नास्पर्शवत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थः। वैयर्थ्यमेव विवृणोति—**नहीति**। शरीरतया भोगसाधनताभावमाह—**पार्थिवादीति**। अयमर्थः—पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानि चतुर्विधानि हि शरीराणि प्रमाणवन्ति। तत्र पार्थिवानि कानि ? यानीमान्यनुभूयन्ते। आप्यादीनि तु तत्तच्छास्त्रगम्यानीति ते स्थितिः। न पुनश्चातुर्विध्यानवरुद्धशरीरसद्भावे प्रमाणमस्तीति तदारब्धस्य न शरीरता। अत्र च मृतशरीरवदभोगसाधन-

---

की ही निवृत्ति होगी; अपाकज नीलरूप बना ही रहेगा)। (यदि कहें कि अपाकज नीलरूप के सद्भाव का ग्राहक प्रत्यक्ष यदि हो तब अन्धकार में वह माना जा सकेगा; किन्तु उसके सद्भाव का ग्राहक प्रत्यक्ष है ही नहीं। तो प्रकृत में भी कहा जा सकता है कि) अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श का ग्राहक प्रत्यक्ष और अपाकज नीलरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष—इन दोनों की एक-सी ही कथा है।

यदि शङ्का हो कि स्पर्श के अभाव से अन्धकार में रूप सामान्याभाव का अनुमान होता है (अतः नीलरूप वहाँ कैसे रहेगा ?)। तो यह शङ्का उचित नहीं क्योंकि ('अन्धकार रूपाभाववाला है, स्पर्शाभाववाला होने से; जैसे कि आकाश'—इस अनुम्गन से ही अन्धकार में रूपाभाव का अनुमान करना होगा, किन्तु) उक्त अनुमान बाधित है, क्योंकि उसके साध्य 'रूपभाव' का रूप ग्राहक प्रत्यक्ष से बाध है। अतः वहाँ रूपाभाव का अनुमान नहीं हो सकता। अन्यथा 'रूपाभाव' हेतु से वायु में भी स्पर्शाभाव का अनुमान हो जायगा। (यदि जिज्ञासा हो कि व्यापक के अभाव से व्याप्य के अभाव का अनुमान होता है। रूपके अभाव से स्पर्श के अभाव का अनुमान तभी हो सकेगा; जब कि रूप व्यापक और स्पर्श व्याप्य हो। किन्तु रूपाभाव के अधिकरण वायु में रहने से स्पर्श कभी रूप का व्याप्य नहीं। फिर रूपाभाव से वायु में स्पर्शाभाव का अनुमान कैसे होगा ? तो उसका उत्तर यह है कि वायु रूपाभाव का पक्ष है। पक्ष में साध्य का सन्देह होने के कारण व्याप्ति सदैव पक्ष से अन्यत्र घटाई जाती है।) पवन से अन्यत्र तो स्पर्श का व्यभिचार नहीं, अतः स्पर्श व्याप्य और रूप व्यापक है रूपाभाव से वायु में स्पर्शाभाव का अनुमान क्यों न होगा ?

यह जो अनुमान किया था—'अन्धकार के परमाणु द्रव्य के आरम्भक नहीं हो सकते, स्पर्श रहित होने से, जैसे कि मन।' वह भी युक्त नहीं; क्योंकि उसमें तदारब्ध द्रव्य 'व्यर्थकत्व' उपाधि है—मन से आरब्ध द्रव्य या तो शरीर होगा, या विषय या इन्द्रिय। किसी में भोगसाधनता (सार्थकता) नहीं बन सकती; क्योंकि पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय—ऐसा चार प्रकार के

भोगसाधनतानुपपत्तेः। न च विषयतया; रूपस्पर्शशून्यारब्धस्य तद्रहितत्वेन विषयत्वायोगाच्छरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी विषय इत्यङ्गीकारात्। नापीन्द्रियतया; मनस एवेन्द्रियत्वात्तदारब्धेन्द्रियान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात्। न च शरीरेन्द्रियविषयानन्तर्भूतस्य कार्यद्रव्यस्य भोगसाधनत्वं परैरङ्गीक्रियते। आत्मादीनामपि पुनरस्पर्शवतां शरीरेन्द्रियविषयारम्भासंभवात्समानमेव द्रव्यान्तरारम्भवैयर्थ्यम्। इह पुनस्तमसो महतो रूपवतः संभवति भोगसाधनत्वमिति नारम्भवैयर्थ्यम्। किंचास्मन्मते न तमस्तमोवयवैरारब्धं, तस्य मूलकारणान्मेघमण्डलान्महा-

---

तायामिन्द्रियानाश्रयत्वं हेतुः। तत्र[1] च हेतुरनन्तर्भूतत्वं, विषयताऽभावमाह—नच विषयतयेति। रूपस्पर्शशून्यान्तःकरणारब्धमपि रूपस्पर्शशून्यमत एव विषयत्वरहितं, द्रव्येषु रूपवत्सु स्पर्शवत्सु वा बाह्येन्द्रियप्रवृत्तेरित्यर्थः। तमःपवनयोर्व्यवच्छेदाय रूपस्पर्शग्रहणम्। उक्तं च मानमनोहरकारेण—शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी हि विषय इति। नच रूपस्पर्शरहितस्यावयवित्वं, कार्यत्वे सति रूपस्पर्शवतोऽवयवित्वादिति भावः। मनआरब्धस्येन्द्रियतां निषेधति—मनसएवेन्द्रियत्वादिति। ननु मास्तु त्रिविधान्तर्भावः, अनन्तर्भूतस्यैव किमिति भोगसाधनत्वं न स्याद्गुणादिवदित्यत आह—नचशरीरेति। कार्यद्रव्यस्येत्यत्र हृदयं—तत्र कालादीनां सर्वोत्पत्तिनिमित्ततया भोगसाधनतास्तीति। तत्र बाधपरिहाराय कार्यग्रहणम्। उक्तोपाधेरात्मादिष्वपि साध्यव्याप्तिमाह—आत्मादीनामिति। प्रकृतस्य तु पुनस्तमसो विषतया भोगसाधनतयोपाधेः साधनाव्यापकत्वमाह—इह पुनरिति। उपलक्षणं चैतत्स्पर्शवत्त्वस्यापि। सुखस्पर्शा चूतच्छाया, उष्णस्पर्शा वटच्छायेति प्रतीतेः। न चेदं परमाण्वादिवदणु; येन विषयतयापि न भोगाय स्यादित्याह—महत इति। तत्प्रतीत्या चायमारम्भवादः समर्थितः; नास्माकमयं समर्थनीयः। नह्यस्माकमनिर्वचनीयाचिन्त्यसामर्थ्याविद्यासचिवब्रह्मविवर्तवादिनामेतादृशानुपपत्त्याभासपांशुभिः परिभव इत्याह—किंचास्मन्मत इति। भाट्टरीत्या वा पुरोक्तं, मूलकारणमखण्डमायावद्ब्रह्म।

शरीर ही प्रामाणसिद्ध हैं। इनसे अतिरिक्त कोई शरीर इन्द्रियों का आश्रय हो नहीं सकता; फिर वह भोग का साधन कैसे बनेगा? मन से आरब्ध द्रव्य विषयता रूप से भी भोग साधन नहीं हो सकता; क्योंकि स्पर्श शून्य द्रव्य से जन्य द्रव्य भी स्पर्श-शून्य होगा; इसलिए वह न तो अवयवी होगा, और न बाह्य इन्द्रियों का विषय ही होगा। क्योंकि शरीर और इन्द्रियों से भिन्न अवयवी को विषय माना गया है। मन से जन्य-द्रव्य का इन्द्रियत्वरूप से भी उपभोग नहीं; क्योंकि मन ही इन्द्रिय पर्याप्त है, उससे आरब्ध इन्द्रियान्तर को मानना व्यर्थ है। शरीर, इन्द्रिय और विषय इनसे भिन्न किसी जन्य-द्रव्य को भोग-साधन तार्किकादि मानते नहीं। स्पर्श-रहित आत्मादि द्रव्यों में भी तदारब्ध द्रव्यव्यर्थकत्व है; क्योंकि उनसे शरीर, इन्द्रिय या विषय का आरम्भ ही सम्भव नहीं। किन्तु प्रकृत में स्पर्श-रहित परमाणुओं से आरब्ध रूपवाले महान् अन्धकार में भोग-साधनता सम्भव है, अतः यहाँ आरम्भ की व्यर्थता नहीं। [यहाँ तक का आशय यह है कि जो स्पर्श-रहित है, वह द्रव्यान्तर का आरम्भक नहीं हो सकता'—इस व्याप्ति में 'तदारब्धद्रव्यव्यर्थकत्व' उपाधि लगाई गई। उपाधि में साध्यव्यापकता घटाई गई मन और आत्मा में, क्योंकि मन और आत्मा में 'द्रव्यानारम्भकत्व' साध्य भी है और 'तदारब्धकार्यव्यर्थकत्व' उपाधि भी। उपाधि में साधन की अव्यापकता भी घटा दी कि अन्धकार के परमाणुओं में 'स्पर्श-रहितत्व' हेतु तो है किन्तु 'तदारब्धद्रव्यव्यर्थकत्व' उपाधि नहीं]।

दूसरी बात यह भी है कि हमारे (वेदान्ती के) मत में अन्धकार अपने अवयोंव (परमाणुओं) से जन्य नहीं माना जाता; अपितु मूलकारण (मायाविशिष्ट ब्रह्म) से अन्धकार का जन्म वैसे ही माना जाता है, जैसे कि मेघ मण्डल से महाविद्युत् का, जैसा कि विवरणकार ने लिखा है—

---

[1] इन्द्रियताश्रयत्वे।

विद्युदादिजन्मवज्जन्माभ्युपगमात् । न च मनसोऽनारम्भकत्वं, तस्यापि सावयवद्रव्यत्वेन परिणामित्वाभ्युपगमात्, आत्मनश्च स्पर्शरहितस्य सर्वजगदुपादानकारणत्वाभ्युपगमाच्च ।

चलत्वाच्चालोकवत्तमो द्रव्यान्तरम् । अन्यानुविधाननियमान्न स्वाभाविकं चलनमस्य घटरूपादिवदिति चेत्, न; द्रव्यस्यापि सुवर्णादिवद्द्रव्यान्तरानुविधानेऽपि स्वाभाविकचलनोपपत्तेः । तथाहि—आकरजस्य तेजसः सुवर्णादेः पार्थिवद्रव्योपष्टम्भात्पतनादिप्रतिभासेऽपि न स्वाभाविकं चलनमुपरुध्यते । किञ्चेदमनुविधानम्—किमालोकावरकातपत्राद्यनुविधानम्? किंवा निवर्तकप्रदीपाद्यनुविधानम्? नाद्यः; निश्चलेऽप्यचलादौ तच्छायायाश्चलनोपलम्भात् ।

महाविद्युदादीति । द्व्यणुकादिपरम्पराविलम्बो निरस्तः । पुनरपि सिंहावलोकितेन आरम्भमेव निर्वाहयति—तत्र यन्मनसोऽनारम्भकत्वं दृष्टान्तितम्, तदभ्युपगम्य वैयर्थ्यमुपाधिरुक्तस्तदेव तु नास्त्यस्मत्पक्षे तस्यापि सावयवतया परिणामित्वेनारम्भकत्वादित्याह—**नच मनस इति** । अन्यत्रानैकान्तिकतां चाह—**आत्मनश्चेति**। तमो द्रव्यं रूपवत्त्वाद्घटवदित्युक्तमिदानीं क्रियावत्त्वादपि द्रव्यत्वमाह—**चलत्वाच्चेति**। असिद्धिं शङ्कते—**अन्येति** । **घटरूपादिवदिति** । घटगतगुणानां क्रियारहितानां यथा घटगमनानुविधानेऽपि न स्वाभाविकं गमनमेवमित्यर्थः । तत्किं तमः स्वाभाविकचलनहीनमन्यचलनानुविधायित्वाद्रूपादिवदित्यनुमिनोषि ? तथाच सुवर्णेऽनैकान्तिकं तत्र ह्यनुच्छिन्नद्रवत्वस्याकरजतेजसः सुवर्णस्य कठिनपार्थिवद्रव्येण नित्यमवष्टम्भात् तच्चलनाद्यनुविधाननियमोऽस्ति । नचैतावता स्वाभाविकत्वहानिश्चलनस्येति परिहरति—**न । द्रव्यस्यापीति** । आकरजं तेजोविशेष आकरेषु जायत इति व्युत्पत्त्या । चतुर्विधं हि तेजो वैशेषिकैः परिगणितम्—भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजं चेति । ननु न वयमनुमिमीमहे अपितर्हि[1] प्रमाणमेव नास्ति चलनवत्त्वे, प्रतीतिस्त्वन्यानुविधानेनान्यथासिद्धेति ब्रूम इति, तर्ह्यनुविधानमेव नास्त्यनिरूपणादित्याह—**किञ्चेदमनुविधानमिति** । न किमपीत्यर्थः । किं यन्निमित्तं छायाद्यात्मकं तमस्तदनुविधत्ते ? किंवा यन्निवर्त्यं तदनुविधत्त ? इति विकल्पयति—**किमालोकेत्यादिना** । नाद्यः; नियमाभावादित्याह—**निश्चलेऽपीति** ।

आलोकविनाशितस्य च तमसः पुनर्मूलकारणादेव झटिति महाविद्युदादिजन्मवज्जन्म सिद्ध्यति । (वि० पृ० ८) इस प्रकार अन्धकार में स्पर्श-रहित परमाणु-जन्यत्व का अभाव हमारे मत में सिद्ध ही है। अतः उक्त अनुमान में सिद्ध साधन दोष है । उक्त अनुमान में दृष्टान्तासिद्धि दोष भी है—) मनमें; अनारम्भकत्व भी नहीं मानते, अपितु मन सावयव होने से परिणाम (द्रव्यारम्भक) ही माना जाता है । और स्पर्श-रहित आत्मा को तो समस्त जगत् का उपादान कारण माना जाता है । (इन सब दोषों के कारण स्पर्श-रहितत्व हेतु से अन्धकार के अवयवों में तदनारम्भकत्व सिद्ध नहीं हो सकता, अतः हम अन्धकार को सावयव द्रव्य मान सकते है)।

तम में द्रव्यत्व 'श्याम रूप' हेतु से सिद्ध किया जा चुका है । 'क्रिया' हेतु से भी सिद्ध होता है; 'चलत्व' हेतु से भी सिद्ध होता है कि आलोक के समान अन्धकार द्रव्यान्तर है । यदि कोई शंका करे कि अन्धकार में चलन क्रिया स्वाभाविक नहीं अपितु दीपकादि के हिलने-चलने से अन्धकार में क्रिया वैसे ही प्रतीत होती है, जैसे कि घट के लाने-ले जाने से घट गत रूप में क्रिया प्रतीत होती है । तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए;क्योंकि एक द्रव्य के अनुविधान (अनुकरण) करने वाले द्रव्यान्तर में भी स्वाभाविक चलन होता है, जैसे सुवर्ण में। अर्थात् पार्थिव द्रव्य के सम्मिश्रण से ही खनिज ,तेज, सुवर्ण में पवन की प्रतीति होने पर भी उसके स्वाभाविक चलन का उपरोध नहीं होता । यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि अन्धकार में किस द्रव्य का अनुकरण होता है ? क्या आलोक के अवरोधक छत्रादि का ? अथवा अन्धकार निवर्तक दीपादि का ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं;

---

[1] अपि तु ।

नापि द्वितीयः; वैपरीत्यादालोकागमने गच्छति छायेति प्रतीतेर्गमने चागच्छतीति प्रतीतेः, तद्विरोधित्वाच्च तदनुविधानानुपपत्तेः । किञ्च—

'चक्षुःप्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम् ।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

चक्षुरालोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकं रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्त्वगिन्द्रियवत् । न च रूप-

---

द्वितीयोऽप्ययुक्तः; विपरीतभानादित्याह—नापि द्वितीय इति । आगमन इति पदच्छेदः ! यदि हि तदनुविदध्यात्तदा तस्मिन्गच्छति गच्छतीति, आगच्छत्यागच्छतीति प्रतीतिः स्यान्नतु तदस्तीत्यर्थः । तद्विरोधित्वाच्चेति । यस्य हि यदुदयसमसमयमेव विनाशस्तस्य कथं तदुदयानन्तरं स्थितिः ? तत्क्रियानुकरणं वा ? अस्थितस्याननुकरणादिति भावः ।

तदनेन भावत्वविभावनेनोत्पत्तिसमर्थनेन गुणवत्तया द्रव्यत्वदीपनेनच गतेरनागन्तुकत्वनिरूपणेन चोपलम्भकोन्मीलनेन च गुणवत्त्वाद्यनुगुणप्रमाणगवेषणपरिश्रमपरिदूयमानमानसोदयनदैन्यमप्यपनोदितं मन्तव्यम् । पूर्वमालोकाभावप्रतिबन्धा रूपवत्यपि तमस्यालोकनिरपेक्षचक्षुषः प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तमिदानीं तत्रैवानुमानमप्याह—किंच चक्षुरित्यादिना श्लोकेन । प्रकाशनमालोकस्तेनाजन्यं यद्रूपवद्वीक्षणं रूपद्रव्यसाक्षात्कारस्तत्क्षमं तत्समर्थमिति प्रतिज्ञा । तत्र हेतुमाह—रूपीति । रूपवद्द्रव्यग्राहकत्वात् यथा त्वगिन्द्रियमित्यर्थः । संगृहीतमनुमानं विवृणोति—चक्षुरित्यादिना । आलोकाजन्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्ते आलोकाभावतयाऽर्थान्तरता, तदर्थं द्रव्यग्रहणम् । आलोकाजन्यद्रव्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्तेऽर्थान्तरता, भाट्टनय कालादीनामपि तथात्वात् । यथाह मानमनोहरः—विवक्षितासाधनं चेति, तदर्थं रूपिग्रहणम् । घटादिप्रतीतिजनकत्वेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमालोकाजन्येत्युक्तम् । अनुमानादेर्व्यावृत्त्यर्थं हेताविन्द्रियग्रहणम् । इन्द्रियत्वादित्युक्ते घ्राणानैकान्तिकता तस्य द्रव्यग्राहकत्वाभावात् । तदर्थं द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वादित्युक्तम् । तावत्युक्ते प्रतिवादिनो मनस्यनैकान्तिकता, तस्यात्मद्रव्यग्राहकत्वेऽपि रूपिद्रव्ये स्वातन्त्र्येण ग्राहकत्वाभावात्, तदर्थंरूपीत्युक्तम् । साध्यहेत्वोर्द्रव्यपदं स्पष्टार्थमित्येके । एवं च सति मानमनोहरसंभ्रमोऽप्यनवसरनिरस्तः । त्वगिन्द्रियस्योक्तसाध्यवत्तायां रूपरहितेन्द्रियत्वं नोपाधिस्तस्य व्यतिरेकव्याप्त्यभावेन साध्याव्यापकत्वादित्याह—यद्रूपवदित्यादिना । व्यतिरेकासिद्ध्यैवचादृष्टादौ चेन्द्रियसन्निकर्षे चोलूकादिदृष्टौ च साध्याव्याप्तिनिवृत्त्यै मनुष्येन्द्रियत्वविशेषितोक्तसाध्यस्योपाधेर्विधानमपि निरस्तं मन्तव्यम् । एवंच सति यदनुमानं तमःपदमित्यादि, तदुक्तप्रमाणबलाद्भावरूपत्वे निर्णीते कालातीतं, विपक्षे बाधकाभावात् शङ्कितोपाधिता च । नचालोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वहानिस्तस्यालोकविरोधितया तदभावव्यङ्ग्यत्वेनाप्युपपत्तेः, तमःपदस्य नानार्थवाचकत्वसिद्धावप्यस्य चरितार्थत्वेन तमसोऽभावत्वासिद्धेश्च । आलोकसंसर्गाभावस्तमःपद-

---

क्योंकि आलोक के अवरोधक पर्वतादि में किसी प्रकार का चलन न होने पर भी उसकी छाया में चलन प्रतीत होता है । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि प्रदीपका अनुकरण अन्धकार में नहीं, अपितु विपरीत क्रिया देखी जाती है; अर्थात् दीपक के आने पर अन्धकार में जाना और दीपक के ज़ाने पर अन्धकार में आना प्रतीत होता है । और जो आलोक अन्कार का नितान्त विरोधी है, उसका अनुकरण अन्धकार कैसे करेगा ?

आलोक-निरपेक्ष चक्षु अन्धकार का ग्राहक है—इसमें अनुमान प्रमाण भी है—'चक्षु, रूपवाले द्रव्य के आलोकाजन्य साक्षात्कार का जनक है, रूपीद्रव्य का ग्राहक होने से, जैसे कि त्वग इन्द्रिय ।' यहाँ 'रूप-रहित इन्द्रियत्व' उपाधि है—यह शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि उस उपाधि में साध्य की व्यापकता नहीं—इसका कारण यह है कि उपाधि और साध्य की 'जो रूपवाली इन्द्रिय है (जो रूप-रहित इन्द्रिय नहीं), वह आलोकाजन्य रूपिद्रव्य-साक्षात्कार का जनक नहीं जैसे—घ्राण'—

रहितेन्द्रियत्वमुपाधिः; यद्रूपवदिन्द्रियं तदालोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं न भवति घ्राणवदिति व्यतिरेकव्याप्तौ, रूपवदग्राहकत्वस्यैवोपाधित्वात् । तत्सिद्धमेतत्तमो द्रव्यान्तरमिति । इत्थमालोकवदेव भावरूपाज्ञानतमोविरोधिन आत्मनो जगदवभासकस्य ज्योतिःशब्दवाच्यत्वात ।

तस्य त्वसङ्गस्य दृश्यसङ्गानिरूपणात् दृश्यप्रपञ्चस्य स्वतः परतश्चासिद्धेर्दृगात्मन्यध्यस्ततयैव सिद्धिरिति सिद्धं मिथ्यात्वम् । किं पुनरिदं मिथ्यात्वं ? (१) प्रमाणागम्यत्वं वा ? (२) अप्रमाणज्ञानगम्यत्वं वा ? (३) अयथार्थज्ञानगम्यत्वं वा ? (४) सद्विलक्षणत्वं वा ? (५) सदसद्विलक्षणत्वं वा ? (६) अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा ? (७) ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ? (८) प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा ? (९) बाध्यत्वं वा ? (१०) स्वात्य-

---

वाच्यो न भवति अभावत्वाद्घटाभाववदित्यादिना सत्प्रतिपक्षं चाभावप्रमाणगम्याभाववादिनः साधनवैकल्यं च दृष्टान्तस्येत्यादिदोषादुपेक्ष्यम् । मनस्त्वं स्पर्शवदवृत्तिवेगवद्वृत्तिजात्यन्यन्मेयत्वाद्घटवदिति तमसो द्रव्यान्तरत्वसिद्धिरित्यप्येके ।

साक्षिवेद्यं स्वराद्धान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुषं पुनः ।
आचार्योऽसाधयद्युक्तिवैभवं स्वं विभावयन् ॥

वादार्थमुपसंहृत्य प्रयोजनमाह—**इत्थमित्यादिना** । अभावविलक्षणाविद्यासिद्धिः फलमित्यर्थः । **ज्योतिःशब्दवाच्यत्वाद्** । युज्यते श्रुतिः 'अत्रायं पुरुष'इत्यादिकेति शेषः ।

वक्ष्यमाणवादार्थं प्रस्तावयति—**दृश्यप्रपञ्चस्येत्यादिना** ।

कार्यं वाचारम्भणं भेदलोढं सत्यं तत्त्वंत्वेकमेवाद्वितीयम् ।
इत्यद्वैते श्रौत एवाह युक्तीर्युक्त्याभासोद्भूतविभ्रान्तिभित्त्यै ॥

दृगात्मन्यध्यस्ततया दृश्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमित्युक्तं, तदिदमसहमानः प्रपञ्चसत्यत्ववादी मिथ्यात्वलक्षणमाक्षिपति—**किं पुनरिति** । आक्षेपमेव संभवत्सर्वप्रकारनिरसनेन निर्वाहयितुं संभवत्प्रकारान्विकल्पयति—**प्रमाणेत्यादिना** । प्रमाणविषयत्वाभावादप्रमाणविषयत्वमन्यदेवं, अप्रमाणमपि द्वेधा यथार्थमयथार्थं च, यथास्मृतिर्विपर्ययश्च, तेन प्रथमद्वितीयतृतीयकल्पसंकरकलङ्काभावः । **अविद्यातत्कार्ययोरिति** । अव्याप्तिनिवृत्त्यै अन्यतरग्रहणम् । वाधकज्ञानविषयशुक्त्यादेस्तन्निवर्त्यपूर्वज्ञानादेश्च प्रतिपन्नोपाधौ बाधाभावान्न

इस व्यतिरेक व्याप्ति में 'रूपिद्रव्याग्राहकत्व' उपाधि है—(घ्राणादि इन्द्रियों में आलोकाजन्य रूपि-द्रव्य के साक्षात्कार की जनकता का अभाव है, वहाँ रूपिद्रव्याग्राहकत्व भी है; अतः यह उपाधि आलोकाजन्य रूपिद्रव्य-साक्षात्कार—जनकत्वाभावरूप व्यापक का व्यापक है और 'रूपयुक्त इन्द्रियत्व रूप व्याप्य का अव्यापक है, क्योंकि रूपयुक्त इन्द्रियत्व चक्षु में भी है, वहाँ रूपिद्रव्याग्राहकत्व नहीं)। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि अन्धकार द्रव्यान्तर है, अतः आलोक के समान ही भावरूप अज्ञानान्धकार का विरोधी तथा जगत् का भासक आत्मा 'ज्योति' शब्द का वाच्य होने से उसके विषय में "अत्रायं पुरुषः स्वयज्योतिः"—यह श्रुति युक्त ही है ।

उस असङ्ग आत्मा का दृश्य के साथ असङ्ग हो नहीं सकता और दृश्य प्रपञ्च की स्वतः तथा परतः सिद्दि हो नहीं सकती; अतः दृगात्मा में अध्यस्त होकर ही प्रपञ्च सिद्ध होता है; इस प्रकार प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है ।

पूर्वपक्ष—यहाँ मिथ्यात्व का लक्षण क्या है—क्या (१) प्रमाणाविषयत्व ? या (२) अप्रमाणज्ञानविषयत्व ? या (३) अयथार्थ ज्ञानविषयत्व ? (४) सद्विलक्षत्व ? (५) सत् और असत्—उभय से विलक्षणत्व ? या (६) अविद्या और उसके कार्य में से अन्यतरत्व ? या (७) ज्ञान-निवर्त्यत्व ? (८) ज्ञायमान आश्रय में होनेवाले निषध का प्रतियोगित्व ? या (९) बाध्यत्व ?

न्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा? । नाद्यः; ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वप्रसङ्गात, तस्य स्वप्रकाशत्वेन त्वया सर्वप्रमाणगोचरतानङ्गीकारात् । नापि द्वितीयः; सद्वादिभिरपि तस्याङ्गीकृतत्वेनार्थान्तरत्वात्, तस्य तस्य शुक्तिशकलादेस्तेन तेन रजताद्याकारेण प्रतीयमानतयाऽप्रमाणज्ञानविषयत्वात्, सर्वस्य प्रपञ्चस्य क्षणिकमिदं ब्रह्मकार्यमिदमनिर्वचनीयमिदमिति च मिथ्याज्ञानगोचरतायाः परैरभ्युपगमात्, स्मृतेरप्रमाणतया तद्विषयस्य[1] तथात्वाङ्गीकाराच्च[2] । न तृतीयः; उक्तदोषानुषक्तेरेव । न चतुर्थः; सद्विलक्षणस्यापि शशविषाणादेरमिथ्यात्वात् । न पञ्चमः; एकतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकतया तदसंभवात् । न षष्ठः; अनिर्वचनी-

सप्तमाष्टमनवमसंकरः । प्रतिपन्नोपाधिः प्रतीतमधिष्ठानम् । **स्वात्यन्तेति** । पूर्वं[3] स्वाधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावमात्रप्रतियोगित्वं विवक्षितम्, इह तु स्वात्यन्ताभावस्य स्वस्य चैकत्र वर्तमानतया प्रतीतिरिति नाष्टमदशमसंकरः शङ्कनीयः । **सर्वप्रमाणेति** । गोचरता चात्र वेद्यता न पुनर्विषयत्वमेव । तद्विवक्षायां च नैयायिकादेरसिद्धिः, सर्वस्यापि यथाकथंचन प्रमाणविषयत्वात् । **सद्वादिभिरपीति** । ये हि प्रपञ्चसत्यत्ववादिनस्तैरपि सत्यस्यैव शुक्तिकादेरधिष्ठानतयाऽप्रमाणज्ञानगम्यत्वस्वीकारात्सत्यत्वेऽप्युपपद्यमानमर्थान्तरमेवेत्यर्थः । तदेव विवृणोति—**तस्य तस्येति** । अत्यल्पं चेदं शुक्तिकादावङ्गीकृतमिति सर्वस्यैव प्रपञ्चस्यैवंविधत्वमेवाङ्गीकृतमिति स्फुटतरमर्थान्तरमित्यर्थः । अर्थान्तरोदाहरणान्तरमाह—**स्मृतेरिति** । **उक्तदोषेति** । तत्तदारोपाधिष्ठानतया सर्वस्यायथार्थज्ञानगम्यत्वाङ्गीकारादित्यर्थः । **सद्विलक्षणस्येति** । नच शशविषाणस्यापि मिथ्यात्वादनतिव्याप्तिरिति वचनीयम् । मिथ्याभूतप्रपञ्चस्यापरोक्षज्ञानयोग्यत्वमर्थक्रियासामर्थ्यं च स्वीकुर्वद्भिः शशविषाणवैषम्येष्टेरमिथ्यात्वं स्वीकृतमेव शशविषाणस्य । नचैवं सत्यद्वैतविरोधः; सदद्वैताभ्युपगमादप्युपपत्तेरतोऽतिव्याप्तिरनतिलङ्घनीयेति भावः । **एकतरेति** । सत्त्वनिषेधेऽसत्त्वं नान्तरीयकमसत्त्व-

या (१०) अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व? (१) प्रथम (प्रमाणाविषयत्व) लक्षण ठीक नहीं; क्योंकि ब्रह्म में अतिव्याप्त है—ब्रह्म स्वप्रकाश है, अतः उसमें किसी प्रमाण की विषयता नहीं मानी जाती। (२) द्वितीय (अप्रमाणज्ञान-विषयत्व) लक्षण भी युक्तियुक्त नहीं; क्यों क प्रपञ्च को सत्य माननेवाले भी सत्य पदार्थ में अप्रमाण ज्ञान की विषयता मानते हैं, अतः अर्थान्तरता है। [प्रकृतासम्बद्ध अर्थ की सिद्धि ही अर्थान्तर नामका निग्रहस्थान है—'-प्रकृतार्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्" (न्या० सू० ५।२।७) प्रकृत में सत्यत्व-विरोधी मिथ्यात्व सिद्ध करना वाञ्छनीय था और सिद्ध हुआ सत्यत्व-अविरोधी मिथ्यात्व;] क्योंकि तार्किकादि के मत से शुक्ति में सत्यत्व भी है और रजताकार से प्रतीयमान होने के कारण अप्रमाण (इदं रजतमिति) ज्ञान की विषयता भी है। केवल शुक्ति में ही नहीं, अपितु समस्त सत्य प्रपञ्च में 'यह क्षणिक है', 'यह ब्रह्म का कार्य है,' 'यह अनिर्वचनीय है'—इस प्रकार के मिथ्या (अप्रमाण) ज्ञान की विषयता दूसरे मानते हैं, एवं स्मृति भी अप्रमाण ज्ञान है किन्तु उसके विषय को सत्य ही मानते हैं।

(३) तृतीय (अयथार्थज्ञान-विषयत्व) लक्षण में भी उक्त दोषों की भरमार है। (४) चतुर्थ (सद्विलक्षणत्व) लक्षण भी अतिव्याप्त है; क्योंकि शश-विषाणादि में सद्विलक्षणत्व रहने पर भी मिथ्यात्व नहीं माना जाता। [शश-विषाण यदि मिथ्या नहीं, तब क्या सत्य हैं? नहीं; क्योंकि सप्रयोजन, प्रत्यक्ष तथा वाधित प्रपञ्च में मिथ्यात्वमाननेवाले न तो निष्प्रयोजन, अप्रत्यक्ष शश-विषाणादि में मिथ्यात्व मानते हैं और न अबाधित ब्रह्म में; अतः मिथ्या से भिन्न सत्य ही नहीं, अपि तु असत् भी; अतः अलक्ष्य असत् में मिथ्यात्व-लक्षण जाने से अतिव्याप्ति अवश्य है]।

(५) पञ्चम (सत् और असत्—दोनों से विलक्षणत्व) लक्षण भी सम्भव नहीं; क्योंकि (दो

---

१. स्मृतिविषयस्य । २. सत्यत्वाङ्गीकारात् । ३. अष्टमनिरुक्तौ ।

याविद्याया अप्रसिद्धत्वात्। अग्रहणमिथ्याज्ञानलक्षणाविद्यायास्तत्कार्यस्य च प्रवृत्तिसंस्कारादेः सत्यत्वात्। न सप्तमः; ज्ञाननिवर्त्यस्यापि ज्ञानसुखादेः सत्यत्वात्, सर्वस्य सत्यत्वेऽपि परैरीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारात्। नाष्टमः; प्रमाणेन यदुपाधौ यः प्रतिपन्नस्तत्र तस्य निषेधासंभवाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। भ्रान्तिप्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि संभवेनार्थान्तरत्वाद्, अन्यथाख्यातिवादिभिरपि क्वचिन्निषिद्धस्यान्यत्र सत्तास्वीकारात्। न नवमः; बाधकज्ञानविषयत्वं तन्निवर्त्यत्वं वा बाध्यत्वमित्यभ्युपगमेऽप्यर्थान्तरतायास्तादवस्थ्यात्, शुक्त्या-

---

निषेधे च सत्त्वं नान्तरीयकम्। "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थिति"रिति न्यायात्। अतोऽसंभवीदं लक्षणमित्यर्थः। **न षष्ठ इति।** अविद्यातत्कार्ययोरित्यत्र केयमविद्या विवक्षिता? किमनिर्वचनीयदण्डायमानाऽविद्या? किंवाऽग्रहणमिथ्याज्ञानात्मिका? प्रथमेऽसिद्धिर्लक्षणस्येत्याह—**अनिर्वचनीयेति।** उत्तरस्मिन्नर्थान्तरतेत्याह—**अग्रहणेति।** **ज्ञाननिवर्त्यस्येति।** आत्मविशेषगुणानामपर्यायमुत्पत्तिमनिच्छतामुत्तरेणोत्तरेण पूर्वपूर्वनिवृत्तिस्वीकारेष्टेरर्थान्तरत्वमित्यर्थः। न केवलं सुखादेरेव; सर्वस्यैव संहरणीयस्य प्रपञ्चस्येश्वरज्ञानेन निमित्तभूतेन निवृत्तिस्वीकाराद्भवतितरामर्थान्तरत्वमित्याह—**सर्वस्येति।** परिणामवाद्यभिप्रायेण वा। **नाष्टम इति।** प्रतिपन्नोपाधावित्यत्र प्रतिपत्तिशब्दस्य कोऽर्थः? किं प्रमाणज्ञानमुत भ्रान्तिज्ञानमाहो साधारणम्? आद्यं प्रत्याह—**प्रमाणेनेति।** द्वितीयं प्रत्याह—**भ्रान्तीति।** न केवलं संभवः, स्वीकृतं चान्यथाख्यातिवादिभिरित्याह—**अन्यथाख्यातीति।** एतेन साधारणपक्षोऽपि निरस्तः। किमिदं बाध्यत्वमभिमतं? किं बाधकज्ञानविषयत्वमुत तन्निवर्त्यत्वम्? उभयथाप्यर्थान्तरतेत्यभिप्रेत्याह—न

विरोधी धर्मों में से) एक का निषेध करने पर; दूसरे का विधान अनिवार्य हो जाता है [अर्थात् सत् से विलक्षण असत् और असत् से विलक्षण सत् होगा। सत् तथा असत्—दोनों से विलक्षण कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता; जहाँ लक्षण घटे]। (६) षष्ठ (अविद्या तथा अविद्या के कार्य—दोनों में से अन्यतरत्व) लक्षण भी उचित नहीं; क्योंकि (यहाँ 'अविद्या' पद से क्या विवक्षित है? अनिर्वचनीय अविद्या? या अग्रहण? या मिथ्याज्ञान?) अनिर्वचनीय अविद्या तो दूसरों के मतों में प्रसिद्ध ही नहीं। अग्रहण और मिथ्याज्ञानरूप अविद्या में एवं उसके कार्य प्रवृत्ति, संस्कारादि में सत्यत्व ही है (फिर तो सत्य के अविरोधी मिथ्यात्व का लक्षण होने से अर्थान्तरता दोष है)।

(७) सप्तम (ज्ञान-निवर्त्यत्व) लक्षण में भी वही अर्थान्तरता दोष है; क्योंकि ज्ञान-निवर्त्य ज्ञान, सुखादि में सत्यत्व ही है। [नैयायिकादि मानते हैं कि आत्मादि विभु द्रव्य के ज्ञानादि विशेष गुण, अपने उत्तरभावी ज्ञानादि से निवर्त्य होते हैं। इस प्रकार ज्ञान से निवर्त्य होते हैं—उससे पूर्वके ज्ञान, सुखादि गुण। किन्तु वे सत्य भी होते हैं। यदि कहें–नित्यज्ञान से निवर्त्य को मिथ्या कहते हैं; फिर भी अर्थान्तरता होगी, क्योंकि ईश्वर-ज्ञान कार्यमात्र में कारण होने से प्रपञ्च-निवृत्ति में भी कारण होगा; अतः] समस्त प्रपञ्च में सत्यत्व रहने पर भी परमेश्वरज्ञान-निवर्त्यता मानी जाती है। (८) अष्टम (ज्ञायमान आश्रय में होनेवाले निषेध का प्रतियोगित्व) भी संगत नहीं, क्योंकि (यहाँ आश्रय, प्रमाण ज्ञान से ज्ञायमान अभीष्ट है? अथवा भ्रान्ति से ज्ञायमान?) प्रमाण ज्ञान से जो जिस कार्यका आश्रय ज्ञात होता है, उसमें तो उसके कार्य का निषेध हो ही नहीं सकता। अन्यथा ब्रह्मादि में प्रमाणसिद्ध ज्ञानरूपतादि का भी निषेध होने लग जायगा। भ्रान्ति से ज्ञायमान आश्रय में होनेवाले निषेध की प्रतियोगिता तो सत्य वस्तु में भी सम्भव होने से अर्थान्तरता दोष है ही, क्योंकि अन्यथाख्यातिवादी तार्किक किसी जगह निषिद्ध पदार्थ की अन्यत्र सत्ता मानते हैं।

(९) नवम (बाध्यत्व) भी युक्त नहीं; क्योंकि बाध्यत्व क्या है? बाधक ज्ञान-विषयत्व? अथवा बाधक ज्ञान-निवर्त्यत्व? दोनों पक्षों में अर्थान्तरता जैसी-की-तैसी है—शुक्ति आदि सत्यपदार्थों

देरपि बाधकज्ञानविषयत्वाङ्गीकारात्, बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमाच्च । न दशमः ; संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तीनां स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानानामपि परैः सत्यत्वाङ्गीकारादर्थान्तरताया दुरतिक्रमत्वात् । तदेवं न प्रपञ्चमिथ्यात्वनिरुक्तिः ।

नापि तत्र प्रमाणम् । तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षं तत्र क्रमते; उक्तप्रकाराणामन्यतमस्यापि मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वे तत्र वादिनां विवादाभावप्रसङ्गात् । न च विवादपदं, मिथ्या, दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्यनुमानम् ; प्रमाणागम्यत्वस्य सदसद्वैलक्षण्यस्याविद्यातत्कार्ययोरन्य-

नवम इति । प्रथमोदाहरणमाह—शुक्त्यादेरपीति । द्वितीयमाह—बाधकज्ञानेनेति । संयोगविभागेति । अयमर्थः—संयोगविभागयोरव्याप्यवृत्तितां स्वीकुर्वद्भिस्तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमङ्गीक्रियते । नच तत्रापि घटावयवानादाय संयोगविभागयोर्भिन्नाधिकरणता शक्योपपादना । तथा सति त[१]दवयवसंयोगस्यापि तद[२]वयववृत्तितापरम्परया परमाणावेव प[३]रिनिष्ठेति नाध्यक्षपथमवतरेदयं संयोगयोगीति तदनिच्छताप्यच्छमतिना यत्रैव संयोगस्तत्रैव तदत्यन्ताभावोऽप्यभ्युपेयः । नच प्रमाणविनिवेशितयोर्विरोधशङ्कावकाशोऽतिप्रसङ्गात्, शब्दस्य चाकाशे वर्तमानस्य प्रदेशभेदमादायाप्येकस्मिन्नेव नभसि भावाभावौ समानाधिकृतौ स्वीकृतौ । एवं सर्वगतात्मवादिनामात्मविशेषगुणानां, तत्राप्यतिपीडने साक्षादेवैकाधिकरण्यं, प्रदेशवृत्तीनामिति तु तदनुमतिमनुरुन्धानेनोक्तम् । अत्र ब्रह्मण्यनतिव्याप्त्यै द्वितीयस्योत्थानम्, अर्थान्तरतानिवृत्त्यै तृतीयचतुर्थयोः, असत्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पञ्चमः, असंभवनिवृत्त्यै षष्ठः, असंभवातिव्याप्तिनिवृत्त्यै सप्तमः, अष्टमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेव, असंभवार्थान्तरयोर्निवृत्त्यै नवमः, दशमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेवेति ॥

नापि तत्र प्रमाणमिति । यद्यपि लक्षणमपि प्रमाणविशेष एव, तथापि न तत्स्वरूपसिद्धिपरम्, अपित्वितरव्यावृत्तिं व्यवहारं चोपहरति । प्रमाणं तु लक्षितमेव स्वरूपं साधयतीति सर्वत्रान[४]योः पृथगाक्षेपसमर्थने द्रष्टव्ये । प्रत्यक्षं न प्रमाणमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—उक्तप्रकाराणामिति । अयमर्थः—भवदुक्तप्रकाराणामन्यतमं मिथ्यात्वम्, तस्य तु न कस्यचिदप्यत्र प्रत्यक्षसिद्धिः । यदि हि प्रत्यक्षतः सिद्ध्येन्न कोऽपि विप्रतिपद्येत । नहि प्रत्यक्षसिद्धे घटादौ विवदन्ते, विवदन्ते चाद्यापि वादिनो मिथ्यात्व इत्यर्थः । ननु मा भूत्प्रत्यक्षम्, अनुमानं भवत्वित्यत आह—नच विवादपदमिति । दशधा हि मिथ्यात्वसंभवः । तत्र

में भी बाधक ज्ञान की विषयता एवं बाधक ज्ञान से उसके पूर्व के ज्ञानादि की निवृत्ति मानी ही जाती है । (१०) दशम (अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व) लक्षण भी नहीं बनता; क्योंकि संयोग, विभाग, शब्द एवं आत्मा के विशेष गुणों को तार्किकादि अव्याप्यवृत्ति मानते हैं । वे अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान हैं, फिर भी उनमें सत्यता ही मानी जाती है । अतः अर्थान्तरता दोष का वारण किसी प्रकार नहीं होता । इस प्रकार प्रपञ्च-मिथ्यात्व का कोई लक्षण नहीं बनता ।

प्रपञ्च-मिथ्यात्व में कोई प्रमाण भी नहीं—उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं; क्योंकि ऊपर कहे दश प्रकारों में से कोई एक प्रकार का मिथ्यात्व यदि प्रत्यक्ष-सिद्ध होता, फिर मिथ्यात्व के विषय में वादियों का विवाद ही नहीं होता । 'विवादास्पद (प्रपञ्च) मिथ्या है, दृश्य होने के कारण जैसे शुक्ति-रजत'—यह अनुमान भी नहीं हो सकता; क्योंकि उक्त दश भेदों में (प्रथम) 'प्रमाणाविषयत्व,' (पञ्चम) 'सत् और असत्—उभय से विलक्षणत्व,' अथवा (षष्ठ) 'अविद्या और उसके कार्य—दोनों में से अन्यतरत्व' रूप मिथ्यात्व की सिद्धि करने पर अप्रसिद्धविशेषणता है । 'अयथार्थ ज्ञान-विषयत्व' तृतीय मिथ्यात्व गुरुमत में अप्रसिद्ध है । शेष पक्षों में सिद्ध साधनता दोष है ।

---

१. घटावयवेत्यर्थः । २. घटावयवावयवावयवेत्यर्थः । ३. परिनिष्ठा = विश्रान्तिः । ४. लक्षणप्रमाणयोः ।

तरत्वस्य वा साधनेऽप्रसिद्धविशेषणत्वादयथार्थज्ञानगम्यत्वस्य गुरुमतेऽप्रसिद्धत्वात्, इतरेषु च सिद्धसाधनत्वात्। किंच दृश्यत्वं नाम फलव्याप्यत्वं वा? वृत्तिव्याप्यत्वं वा? साधारणं वा? नाद्यः; अतीन्द्रियेषु तदभावेन भागासिद्धत्वात्। न द्वितीयः; ब्रह्मणोऽपि वेदान्तिभिर्वृत्तिव्याप्यत्वाभ्युपगमादनैकान्तिकत्वात्। न तृतीयः; ब्रह्मण्यनैकान्तिकत्वादेव। एतेन जडत्वाद्यन्तवत्त्वपरिच्छिन्नत्वादयो हेतवो निरस्ताः; तत्रापि साध्यानिरुक्तेः।

अथायं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी दृश्यत्वाद्घटवदितिचेत्, न; तन्तुनिष्ठा-

प्रमाणागम्यत्वादिरूपसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणता, अविद्येहाप्यनिर्वचनीया विवक्षिता। [1]इतरयोस्तस्यामसंप्रतिपन्नत्वात्। नन्वयथार्थज्ञानगम्यत्वात्मकं साध्यं, तथाच नाप्रसिद्धविशेषणताऽत आह—अयथार्थेति। यद्यप्यस्माकमिदं प्रसिद्धं तथाप्यख्यातिवादिनामप्रसिद्धविशेषणता, सोऽपि हि तावदेवंमिथ्यात्वे विप्रतिपन्न इत्यर्थः। भवतु तं प्रति, त्वां प्रति तु को दोष इत्यत आह—इतरेषु चेति। पक्षत्रयातिरिक्तेष्वित्यर्थः। तथाच यथाचैतत्तथा तत्तल्लक्षदूषणसमयेऽर्थान्तरं दर्शयतोपपादितम्। उपलक्षणं चैतत्। तेन यथासंभवं सद्वैलक्षण्यादिप्रयुक्तदूषणमूहनीयम्। तदेवं साध्यानिरूपणमुक्त्वा हेतोरप्यनिरुक्तिमाह—किंचेति। अतीन्द्रियेष्विति। कृतापपादनमिदं स्वप्रकाशलक्षणसमये ऽदृष्टादेरवेद्यतामावेदयद्भिरस्माभिस्तेन भागासिद्धो हेतुः। शुक्तिरूप्यादिव्यतिरिक्तमखिलं जडं पक्षः। अतोऽतीतादेरपि पक्षतया तत्रावृत्तेरित्यर्थः। नन्वविवाक्षतविशेषे तृतीये पक्षे का क्षतिरित्यत आह—न तृतीय इति। ब्रह्मणीति। अविवक्षितविशेषसाधारणस्य यं कंचन विशेषमादायापि पर्यवसानादित्यर्थः। ननु विवादपदं मिथ्या जडत्वादाद्यन्तवत्त्वात्परिच्छिन्नत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदिति प्रयोगो मिथ्यात्वे प्रमाणमित्यत आह—एतेनेति। अतिदिश्यमानमेव विशदयति—तत्रापीति। अनुमानान्तरं शङ्कते—अयं पट इति। एतत्तन्तवः, एतत्पटसमवायिकारणतन्तवस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति योजना। अभावप्रतियोगीत्युक्ते कार्यकारणभेदवादिनां तार्किकाणामेतत्तन्तुष्वेतत्पटान्योन्याभावप्रागभावप्रध्वंसाभावस्वीकारेणार्थान्तरता, तदर्थमत्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्तं, तावत्युक्ते यत्किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थं तन्तुनिष्ठेत्युक्तम्। एतत्पटस्यैतत्पटाजनकत्वेनाभिमततन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन पुनरपि सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थमेतदिति तन्तुविशेषणम्। एतत्तन्तुशब्देन च वादिनो जनकत्वेनाभिमततन्तव उच्यन्ते। पटान्तरापेक्षया सिद्धसाधनतापरिहारायायमिति पटविशेषणम्। घटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावः प्रसिद्ध इति साध्यप्रसिद्धिस्तदेतद्दूषयति—नेति। एवं ह्यनुमिन्वता यद्यद्दृश्यं तत्तदेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति व्याप्तिरेष्टव्या। नचेयमस्ति। एतत्तन्तुषु योऽयमस्य पटस्यात्यन्ताभावः साध्यते, न तस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमस्ति। तत्स्वीकारे च तत्साध्यस्यैवाभावादनुमानं व्याहतं स्यादथच तत्र दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्तः। इदं च वादिनं प्रत्येव, ताद-

दूसरी बात यह है कि उक्त अनुमान में 'दृश्यत्व' रूप हेतु का अर्थ क्या है? फल-व्याप्यत्व? या वृत्ति-व्याप्यत्व? या उभय-साधारण? प्रथम (फल-विषयत्व) तो अतीन्द्रिय धर्मादि में रहता नहीं, अतः वह भागासिद्ध (पक्ष के अतीन्द्रिय भाग में असिद्ध) है द्वितीय (वृत्ति-विषयत्व) तो अनैकान्तिक है; क्योंकि ब्रह्म (मिथ्यात्व के विपक्ष) में भी वेदान्ती वृत्ति-विषयता मानते हैं। तृतीय भी ब्रह्म में व्यभिचारी है। इसी प्रकार 'जडत्व,' 'उत्पत्तिनाशवत्त्व,' परिच्छिन्नत्वादि हेतु भी खण्डित हो जाते हैं; क्योंकि वहाँ भी साध्य की प्रसिद्धि नहीं हो सकती।

'यह पट इन तन्तुओं में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, दृश्य होने कारण जैसे घट'—यह अनुमान भी प्रपञ्च-मिथ्यात्व में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि तन्तु-वृत्ति अत्यन्ताभाव

---

१. इतरयोः = नैयायिकमीमांसकयोः, तस्याम् = अनिर्वचनीयाविद्यायाम्। इतरयोः = प्रमाणागम्यत्वसदसद्वैलक्षण्ययोरितिकश्चित्। अग्रहणत्वमिथ्याज्ञानत्वलक्षणयोः प्रकारयोरिति मान्याः।

त्यन्ताभावे दृश्यत्वहेतौ चानैकान्तिकत्वात्, तयोर्दृश्यत्वेऽपि तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्। प्रतियोगित्वे वा तन्निष्ठात्यन्ताभावाभावात्पटस्य तत्प्रतियोगित्वलक्षणसाध्यासिद्धिस्तन्तूनामदृश्यता च स्यात्। किं च प्रपञ्चस्य प्रामाणिकत्वे, मिथ्यात्वानुमानानां धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधः। अप्रामाणिकत्वे, चाश्रयासिद्धिः। प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे च दूषणदूषणादेरपि प्रतीतिमात्रसिद्धस्य सर्वत्र संभवात्सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गः। एवं साध्यहेतुदृष्टान्तानामपि प्रामाणिकत्वे, दृश्यत्वहेतोस्तत्रानैकान्तिकता, अप्रामाणिकत्वे वा साध्यसाधनाद्यभावादनुमानासिद्धिः।

नाप्यागमः प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानम्। तथाहि—न तावत् ‘एकमेवाद्वितीयं’ ‘सत्यं ज्ञान-

ग्विधविपक्षस्य सत्यत्ववादिनोऽसिद्धेस्तथा दृश्यत्वहेतावप्युक्तसाध्यं नास्त्येतत्तन्तुषु दृश्यत्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे तन्तूनामदृश्यतया साध्यासिद्धिप्रसङ्गादथ च दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्तः। इदं तूभयानुमतं तदेतदाह—तन्निष्ठेत्यादिना अदृश्यता च स्यादित्यन्तेन। मिथ्यात्वसाधकानुमानजातस्य च साधारणदूषणमाह—किंचेत्यादिना। बाध इति। प्रमाणगम्यत्वस्यैव सत्त्वादिति भावः। ननु न वयं प्रमितमप्रमितं वाश्रयमाश्रयामहे, नापि शशविषाणायमानम्, अपि तु प्रतीतिमात्रसिद्धं, प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ तदतिरिक्तप्रमितत्वस्याप्याश्रयकोटिनिवेशने न किंचन मानं पश्याम इत्यत आह—प्रतीतिमात्रेति। अयमर्थः—न प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनदूषणते। तथा सति सर्वदर्शनानामपि साधनबाधनप्रसङ्गात्तत्त्वोपप्लवप्रसङ्गात्, क्व नाम तादृशानि साधनानि दूषणानि वा न सन्ति यानि प्रतीतिपथमपि नावतरेयुः ? शब्देनापि तत्प्रतीतीनां शक्यजननत्वादिति। आश्रयोक्तं विकल्पं साध्यादिष्वतिदिशति—एवमिति। तथाहि तेषां प्रामाणिकत्वे सत्यत्वेन विपक्षतया तत्र वर्तमानो हेतुरनैकान्तिकः स्यादप्रामाणिकत्वे च यथायथमप्रसिद्धविशेषणतास्वरूपासिद्ध्याश्रयहीनताः प्रसज्येरन्निति भावः।

ननु मा भूदनुमानान्मिथ्यात्वम्, आगमोदागमिष्यतीत्यत आह—नाप्यागम इति। तत्र वक्तव्यं किम्

तथा दृश्यत्व हेतु में उक्त (दृश्यत्व) हेतु व्यभिचारी है, कारण कि उनमें दृश्यत्व हेतु तो है किंतु तन्तु-वृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व (साध्य) नहीं। उन (साध्य तथा हेतु—दोनों) में उक्त प्रतियोगित्व यदि मान लिया जाय, तब तो दृष्टान्त में साध्य-विकलता हो जायगी; क्योंकि उन तन्तुओं में पट का अत्यन्ताभाव न होने से, उन तन्तुओं में रहनेवाले घटादि के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता पट में कैसे रहेगी ? तन्तुओं में अदृश्यता भी आजायगी [भाव यह है कि ‘दृश्यत्व’ हेतु में भी यदि उन तन्तुओं में रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता मान ली, तब तो उन तन्तुओं में दृश्यत्व का अत्यन्ताभाव मानना होगा। दृश्यत्व न रहने से तन्तु अदृश्य हो जायगे]।

यह भी जिज्ञासा होती है कि प्रपञ्च प्रामाणिक है ? या नहीं ? यदि प्रामाणिक है; तो जिस प्रमाण से वह सिद्ध होता है; उसी प्रमाण से मिथ्यात्वानुमान का बाध होगा। प्रपञ्च यदि प्रामाणिक नहीं; तब आश्रयासिद्धि दोष है। यदि कहा जाय कि प्रपञ्चरूप आश्रय प्रतीतिमात्र से तो सिद्ध है ही; तब तो सभी मतों में प्रतीतिमात्र-सिद्ध दूषण, समाधान सुलभ है; अतः सभी मतों की सिद्धि और सभी का बाध हो जाने से सब व्यवहार ही अव्यवस्थित हो जायगा। इसी प्रकार साध्य, हेतु और दृष्टान्त के विषय में वही प्रश्न हो सकता है कि वे प्रमाण-सिद्ध हैं ? या नहीं ? प्रमाण सिद्ध होने पर ‘दृश्यत्व’ हेतु उनमें व्यभिचारी होगा और उनके प्रमाणसिद्ध न होने पर उनमें साध्य, साधन, दृष्टान्त–भाव न होने से अनुमान ही कैसे सम्भव हो सकेगा ?

प्रपञ्च-मिथ्यात्व में आगम प्रमाण भी नहीं। यदि है, तो कौन आगम प्रमाण है ? “एकमे-

---

१. हेतौ साध्ये च तादृशाभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः। हेतावनैकान्तिकत्वमित्यर्थं इत्यपि केचित्।

मनन्तं ब्रह्मे' त्यत्र ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वानन्तत्वप्रतिपादनाद् द्वितीयवस्तुनोऽभावः प्रतीयत इति युक्तं वक्तुम् ; अद्वितीयशब्दस्य तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरत्वात्, अस्मिन्ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीयः पुरुष इतिवत् । अनन्तपदस्य च प्रागुत्तरकालीनान्ताभावपरत्वात्तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरन्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेन तत्र व्युत्पत्त्ययोगात् । 'नेहनानास्ति किंचने' त्यादेश्चागमस्य कारणे ब्रह्मणि नानात्वनिषेधपरत्वात् । 'इन्द्रो मायाभि' रित्यादेश्च

'एकमेवाद्वितीय' मित्यद्वितीयशब्दाद्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वसिद्धिरिति मन्यसे ? किंवा 'सत्यं ज्ञानमनन्त' मित्यनन्तश्रुत्या ? किंवा 'नेह नानास्ती'ति ब्रह्मणि नानात्वनिषेधात् ? आहोस्वित् 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इति मायाभिर्बहुभवनाभिधानात् ? उत 'मृत्योः स मृत्यु'मिति द्वैतदर्शननिन्दया ? तत्र नाद्यद्वितीयावित्याह—**न तावदित्यादिना** । न युक्तं वक्तुमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**अद्वितीयशब्दस्येति** । यथा खल्वस्मिन्ग्रामे अयमेक एवाद्वितीयः पुरुषः इत्यत्र शौर्यौदार्यातिशयादिना सजातीयः पुरुषः प्रतिषिध्यते, न तु तद्व्यतिरिक्तं समस्तं वस्तु, तत्कस्य हेतोस्तस्यतस्य वस्तुनस्तत्तत्प्रमाणोपनीततयाऽशक्यनिषेधत्वात्, तद्वदिहापि समस्तं मानोपनीतं वस्तु निषेद्धुमशक्नुवानाऽद्वैतश्रुतिस्तत्सजातीयं ब्रह्मान्तरं निषेधतीत्यर्थः । भवत्वद्वितीयश्रुतेरियं गतिः, अनन्तशब्दस्य को निवारक ? इत्यत आह—**अनन्तपदस्य चेत्यादि** । वस्तुपरिच्छेदाभावस्य परस्पराभावाधिकरणत्वराहित्यरूपस्य लोकेऽप्रसिद्धतया तत्रागृहीतसंगतिकत्वात्कालपरिच्छेदाभावमाकाशादौ प्रसिद्धमभिधत्त इति भावः । प्रागुत्तरकालीनान्तौ, प्रागभावप्रध्वंसौ, अनेकान्योन्याभावपक्षे एकानधिकरणस्यापि [१]तत्सिद्धेर्नाद्वैतसिद्धिरिति तदधिकरणत्वानधिकरणेत्युक्तं, तृतीयं पक्षं निषेधति—**नेह नानास्तीति** । इदं हि वाक्यमिह पदावमृष्टे प्रस्तुते कारणे ब्रह्मणि नानात्वं निषेधति । तथाच न नाना ब्रह्म किंत्वेकमिति स्यात् । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तु किमायातमित्यर्थः । चतुर्थं निषेधति—**इन्द्रो मायाभिरिति** । अत्र हि मायाशब्देन बुद्धिवृत्तयोऽभिधीयन्ते । 'चेतश्चित्तं क्रतुर्माये'ति चित्ताभिधायकतावगमान्मायाशब्दस्य । तत्रच चित्तस्यैकत्वात्कथं मायाभिरिति बहुवचनोपपत्तिरित्यत उक्तं—**तत्तदिन्द्रियेति** । स्वत एकस्यैव सतश्चित्तस्यानेकेन्द्रियोपाधिकवृत्तिभेदादिदं बहुवचनम् । अतस्तैरुपाधिभिः परमेश्वरो बहुधोपास्यत इत्यर्थः । अथ वा याः परमेश्वरस्येच्छाज्ञानक्रियाशक्तयो मायाशब्दाभिधेयास्तासामपि श्रुत्यादिषु मायाशब्दाभिधानदर्शनात्ताभिश्च परमेश्वरः प्रत्युपासकं बहुरूपमाविर्भवति । अवतारभेदैर्वा बहुधा व्यवह्रियते इत्यर्थः । ननु 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' संसारात्संसारं प्रतिपद्यत इति भेददर्शनात्संसाराविमोक-

वाद्वितीयम्" (एक ही अद्वितीय है—छान्दो० ६।२।१) "सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म" सत्य, ज्ञान एवं अनन्तरूप ब्रह्म है—तै० उ० २।१।१)—इन श्रुतियों में तो ब्रह्म में अद्वितीयत्व एवं अनन्तत्व का प्रतिपादन होने से द्वितीय वस्तु का अभाव (प्रपञ्च-मिथ्यात्व) प्रतीत होता है—ऐसा कहना युक्त नहीं; क्योंकि 'अद्वितीय' शब्द केवल सजातीय द्वितीय वस्तु का निषेध करता है, न कि समस्त प्रपञ्च का; जैसे—'इस ग्राम में यह एक ही अद्वितीय पुरुष है'—इस वाक्य में । 'अनन्त' पद भी केवल पूर्वकालीन अन्त (प्रागभाव) तथा उत्तरकालीन अन्त (ध्वंस) के अभाव का प्रतिपादन करता है, क्योंकि लोक-प्रसिद्ध प्रागभाव और ध्वंस के अभाव में ही 'अनन्त' पद की शक्ति गृहीत होती है । अन्योऽन्याभावाधिकरणत्व की अनधिकरणंता लोक-प्रसिद्ध नहीं, अतः उसमें 'अनन्त' पद का शक्ति-ग्रह सम्भव नहीं । "नेह नानास्ति किंचन" (इस ब्रह्म में नानात्व नहीं—बृह०उ०४।४।१९) यह आगम तो कारण ब्रह्म में नानात्व का निषेधमात्र करता है । "इन्द्रो मायाभिः" (परमेश्वर अपनी माया से अनन्त रूप धारण करता है—ऋ० मं० ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८)—इस प्रकार के मन्त्र तो अन्तःकरण की तत्तन्द्रियद्वारक अनेक वृत्ति रूप 'माया' शब्द-वाच्य उपाधियों से परमे-

---

१. भेदानधिकरणत्वरूपानन्तत्वसिद्धेः ।

तत्तदिन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधिभिर्मायाशब्दाभिधेयैः स्वशक्तिविशेषैर्वा भेदेन परमेश्वरप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात्। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती'त्येवंविधायाश्च श्रुतेर्भेददर्शननिन्दयाऽभेदप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात्।

आगमस्य च स्वरूपावगतौ पदपदार्थविभागप्रतिपत्तौ च प्रत्यक्षादिसाकाङ्क्षत्वात्प्रत्यक्षस्य चागमानपेक्षत्वात्। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि', 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोती'ति च परस्परं व्याकुलत्वात्; प्रत्यक्षादेश्च तदभावात्। आगमस्य

कथनादतत्त्वज्ञानत्वमवगम्यते, अतएव तद्विषयस्य भेदस्यातत्त्वतेति भेदस्य मिथ्यात्वमियमेव श्रुतिर्गमयतीति पञ्चमं पक्षं निरस्यति—**मृत्योरिति**। नास्याः श्रुतेरत्र तात्पर्यमपुरुषार्थत्वात्, अपित्वभेदध्यानविधौ, तत्स्तुत्यर्थं च भेददर्शननिन्दा। यथोदिते जुहोतीति विहितोदितहोमस्तुतयेऽनुदितहोमनिन्दा 'प्रातःप्रातरनृतं ते वदन्तीति। यथा चानुदितहोमस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमुदितहोमस्य निन्दा 'यथाऽतिथये प्रद्रुताये' ति। ततोऽन्यपरादस्मात्प्रत्यक्षविरुद्धोऽयमर्थो न लभ्यत इत्यर्थः।

ननु प्रत्यक्षागमयोरुभयोः प्रमाणत्वाविशेषे केन वैषम्येणेदमवधार्यते यत्प्रत्यक्षादिविरोधे श्रुतिरेव तदनुरोधेन व्याख्येया न विपरीतमित्यत आह—**आगमस्य चेति**। अथवा आगमस्वभावपर्यालोचनया नात्रतात्पर्यमित्युक्तं, इदानीं भवतु वागमस्तत्परस्यापि प्रत्यक्षादिभिर्विरोधे बाध्यत एवेत्यभिप्रेत्यागमस्य दौर्बल्ये कारणान्याह—**आगमस्य चेति**। एषां हेतूनां तद्विरोधे तेषामेव बाधादित्युत्तरप्रतिज्ञायां संबन्धः। यथाहि शब्दः स्वरूपग्रहणे संगतिग्रहणे वाऽबाधितं प्रत्यक्षादिकमपेक्षते न तथा प्रत्यक्षादि स्वरूपादिप्रतिपत्तौ शब्दप्रमाणमपेक्षते, तेन सापेक्षनिरपेक्षयोर्विरोधे सापेक्षागमबाध इत्यर्थः। किंच परस्परविगीततयाऽतिकलहेनैव तावदुपहता आगमाः किमु वक्तव्यमविगीतानुपहतप्रत्यक्षादिविरोध इत्याह—**न हिंस्यादित्यादिना**। ब्रह्मणे, ब्राह्मणत्वाय। आलभतिर्विशसनपरः। यस्मिन्गृह्यमाणे षोडश शस्त्राणि शस्यन्ते स ग्रहविशेषः षोडशी। यथा ह्येकस्यैव हिंसाहिंसे, ग्रहस्यैकस्मिन्नेव ग्रहणाग्रहणे, होमस्य चैकस्यैकस्मिन्नेव प्रयोगेऽनुदितोदितकालसंबन्ध इति परस्परविरुद्धानधिगमयत्यागमो, न तथा प्रत्यक्षादीत्याह—**प्रत्यक्षादेश्चेति**। सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलवदिति न्यायः, सावकाशाश्चागमा इत्याह—**आगमस्य**

श्वर की उपासना का विधान करते हैं, प्रपञ्च-निषेध में उनका तात्पर्य कदापि नहीं। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" मृत्यु से मृत्युको वह प्राप्त होता है—कठो० ४।१०)—इस प्रकार की श्रुति का तात्पर्य भेद-दर्शन-निन्दा के द्वारा अभेदोपासना के विधान में ही है, न कि प्रपञ्च-निषेध में।

यदि कोई आगम-प्रपञ्च-निषेध का भी प्रतिपादन करता भी हो, तब भी उसका प्रत्यक्ष से बाध हो जायगा; क्योंकि आगम अपने स्वरूप-ग्रहण तथा पद-पदार्थ-विभाग-ग्रहण (शक्ति-ग्रह) में प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा करता है और प्रत्यक्ष को आगम की अपेक्षा बिल्कुल नहीं। अतः प्रत्यक्ष प्रबल और आगम दुर्बल है। दूसरी बात यह भी है कि "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" (कोई किसी प्राणी की हिंसा न करे)—"अग्निषोमीयं पशुमालभेत" (अग्निषोम देवतासम्बन्धी छाग की हिंसा करे—तै० सं० ६।१।११)। 'न ब्राह्मणो हन्तव्यः" (ब्राह्मण हन्तव्य नहीं–) "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत" (ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए ब्राह्मण का हनन करे–)। "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (अतिरात्र संस्थापक ज्योतिष्टोम में षोडशि पात्र में सोम-रस ग्रहण करे–) "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (अतिरात्र में षोडशि में सोम-रस का ग्रहण न करे–)। "उदिते जुहोति" (सूर्य उदय होने पर होम करे–) "अनुदिते जुहोति" सूर्य-उदय से पहले ही होम करे–)–इस प्रकार आगम परस्पर विरुद्धार्थ का प्रतिपादन मिलता है, प्रत्यक्ष में यह बात नहीं, इसलिए भी प्रत्यक्ष प्रबल और आगम दुर्बल है।

चोपचरितार्थत्वेनापि तत्र सावकाशत्वादनवकाशत्वाच्च भेदग्राहिणः प्रत्यक्षादेः। पूर्वसिद्धतया चागमेभ्यस्तस्य प्रतिष्ठितत्वात्तद्विरोधे तेषामेव बाधात्। 'मृत्तिकेत्येव सत्यं', 'त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यं', 'सच्च त्यच्चाभवदि'ति च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिपादनात्।

विवादास्पदीभूतः प्रपञ्चः, सत्यः, प्रमाणसिद्धत्वादात्मवदिति, अयं घट एत[1]न्निष्ठबाध्य-

चोपचरितार्थत्वेनेति। यथा ह्यागमस्य मुख्यलक्षणागुणात्मकानेकवृत्तिमत्तया अन्यतमानुपपत्तावन्यतमामादायापि प्रामाण्यनिर्वाहो, न तथा प्रत्यक्षादेर्वृत्त्यन्तरमस्ति शब्दधर्मत्वात्तासामित्यर्थः। संजातासंजातविरोधिनोः संजातविरोधि दुर्बलं, संजातविरोधिनश्चागमाः प्रथमोपजातपदभेदावबोधकाध्यक्षादीननुवर्तमाना इत्याह—**पूर्वसिद्धतयेति**। किंचाभ्युपगम्य विरोधमिदं प्राबल्यमभिहितम्। वस्तुतस्तु विरोध एव नास्ति आगमेभ्य एव प्रपञ्चसत्यतावगमादित्याह—**मृत्तिकेत्यादिना**। त्रीणि रूपाणीति—लोहितशुक्लकृष्णानीत्यर्थः। सदिति भूतत्रयम्। त्यदिति वाय्वाकाशौ द्वौ। अत्र च सदिति खुररवश्रवणेनोपन्यस्तम्। भेदग्राहिप्रत्यक्षादीति येयमागमबिभीषिकोक्ता, तत्र प्रत्यक्षं सार्वजनीनमिति न तत्र किंचिद्वक्तव्यमस्ति।

अनुमानं दर्शयति—**विवादेति**। प्रपञ्चमात्रस्य सत्यत्वसाधने शुक्तिरूप्यसंसर्गादौ बाधः स्यात्, तेषामपरोक्षतया बाध्यतया च सदसद्विलक्षणतया मिथ्यात्वात्, तथा घटाद्यनुगतसत्तांशे सिद्धसाधनता, तन्निवृत्त्यर्थं विवादास्पदग्रहणम्। नचासिद्धो हेतुः, प्रत्यक्षे प्रदर्शितागमे चाविवादादिति। भिन्नवस्तुसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं, भेदस्यापि सत्यत्वेऽनुमानमाह—**अयं घट इति**। अथवा व्यावहारिकतात्त्विकत्वादिस्वकपोलकल्पितविकल्पमादाय यद्ययं विवदिषुरद्वैतवादी; तर्हीयमेव नीरन्ध्रा रीतिर्भवत्वित्याह—**अयं घट इति**। भेदाश्रय इत्युक्ते कल्पितभेदमादाय सिद्धसाधनम्, तदर्थं बाध्यभेदातिरिक्तग्रहणं, तावति वाऽप्रसिद्धविशेषणता, अद्वैतवादिनः सर्वभेदानां बाध्यत्वादत उक्तं—**एतन्निष्ठेति**। पदार्थान्तरनिष्ठभेदस्यैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदत्वेन नाऽप्रसिद्धविशेषणता, पक्षे चैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तत्वं भेदस्यैतन्निष्ठातिरिक्तत्वान्न संभवति एतन्निष्ठत्वादेव। अतो बाध्यभेदातिरिक्तसत्यभेदसिद्धिः। अतिरिक्तत्वं चात्राभेदानधिकरणत्वं तेन नार्थान्तरता। **इत्यनुमानतोऽपीति**। एवंप्रकारानुमानत इत्यर्थः। ननु प्रतिकूलतर्कपराहतत्वात् शङ्कितोपाधिदुष्टमिदमनुमानद्वयम्। तथाहि—भेदस्य भेदिनो वा दृश्यवर्गस्य सत्यत्वे, तस्य तज्ज्ञानस्य च कः संबन्धः? इति विवेचनीयम्। न तावत्संयोगः; तस्य गुणत्वेन द्रव्यमात्रवृत्तित्वात्, ज्ञानस्य गुणत्वात् द्रव्यत्वाभावात्। नापि सम-

भेद-निषेध आगम का यदि अपने मुख्य अर्थ में बोध हो, तो भी वह अपने गौण अर्थ में प्रमाण हो सकता है; अतः आगम सावकाश है। किन्तु भेद-ग्राहक प्रत्यक्ष यदि अपने अर्थ में बाधित होगा, तो कहीं भी प्रमाण न हो सकेगा; अतः निरवकाश है—इस नीति से भी प्रत्यक्ष प्रबल है। आगम की अपेक्षा पूर्व सिद्ध होने के कारण अपने अर्थ में प्रतिष्ठित (असंजातविरोधी) है, अतः उसके विरोध से आगम का ही बाध होगा। वस्तुतः प्रत्यक्ष के अनुरूप आगम भी प्रपञ्च को सत्य ही बताता है—"मृत्तिकेत्येवसत्यम्" (मृत्तिका सत्य ही है छां० उ० ६।१।४)', त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम्"(सत्व, रज, तम—ये तीन रूप सत्य ही हैं)—"प्राणा वै सत्यम्" (प्राण सत्य ही हैं—बृह० उ० २।१।२०) "सच्च त्यच्चाभवत्" (सत् = पृथी, जल, तेज। त्यत् = वायु और आकाश पैदा हुए—तै० उ० २।६)।

'विवादास्पद प्रपञ्च सत्य है, प्रमाण-सिद्ध होने से जैसे—आत्मा।' 'यह घट एतद्घटवृत्तित्व-

---

१. एतद्घटवृत्तित्वविशिष्टा बाध्यभेदाः = घटेतरनिखिलवस्तूनां भेदास्तदतिरिक्तो भेदो = घटप्रतियोगिको भेदस्तदाश्रयत्वं पटस्येत्यर्थः। २. खुररवश्रवणेनेव सदित्युपन्यस्तमित्यन्वयः। यथा खुरध्वनिश्रवणमात्रेणाश्वनिश्चयोऽविचारमूलको, गवादेरपि खुरध्वनिसंभवात्; तद्वदेव पूर्वपक्षिणः सदिति पदश्रवणमात्रेणाबाध्यत्वरूपसत्त्वनिश्चयोऽप्यविचारमूलक एव, तुच्छविलक्षे व्यावहारिकेऽपि सच्छब्दप्रयोगसम्भवादिति कटाक्षः।

भेदातिरिक्तभेदाश्रयः द्रव्यत्वात्पटवदित्यनुमानतोऽपि वियदादेरात्मनां च सत्यभेदसिद्धिः। नच भेदस्य सत्यत्वे दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिर्बाधिका, तत्तत्प्रतिपत्तिहेतुभूतेन्द्रियलिङ्गादेस्तत्तद्विषयसंबन्धादेव तदुत्पन्नज्ञानानां तत्तद्विषयं प्रति नियमसिद्धावन्तरेणापि संबन्धान्तरमतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात्। शब्दान्तराभ्याससंख्यादेश्च कर्मभेदप्रतिपादकप्रमाणस्य भेदमिथ्यात्वेऽप्रा-

---

वायः; आत्मसमवेतत्वाज्ज्ञानस्य। नाप्यन्यः कश्चित्षट्पदार्थनियमानुगुणः संभवति। नाप्यभावः; अभावतज्ज्ञानयोः संबन्धाभावप्रसङ्गात्। किंच यत्र यत्रास्यान्तर्भावस्तस्य तस्य तज्ज्ञानेन संबन्धो न स्यात्स्ववृत्तिविरोधादिति। तदेतद्दूषयति—नचेति। हेतुमाह— तत्तदिति। नियामको हि संबन्धः। संभवति च तत्र नियमः, तत्तज्ज्ञानानां तत्तदर्थैः स्वतन्त्रसंबन्धाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानजनकेन्द्रियलिङ्गशब्दादीनां तत्तदर्थैः सह संबन्धेनेत्यर्थः। एवं प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य स्वानुमानस्य विपक्षे बाधकतर्कमाह—शब्दान्तरेति। अयमर्थः—शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणप्रकरणान्तरैः कर्मभेदो निरूपितो द्वादशलक्षण्यां द्वितीयाध्याये। (१) तत्र यजति ददाति जुहोतीत्यादौ धातुभेदेन धात्वर्थभेदेऽपि भावना भिद्यते न वा? इति संदेहे धातूनां भेदेऽपि भावनावाचकलिङादेः सर्वत्र प्रत्यभिज्ञयाऽभेदावगमात् धात्वर्थस्य च भावनां प्रति गुणभूतत्वाद्गुणभेदेन प्रधानभेदस्यान्याय्यत्वात् अभेद एवेति पूर्वपक्षय्य धातोरिति विवक्षितैकवचनेन सूत्रेणैकधातोरुपरि प्रत्ययविधानात्सर्वत्र धात्वर्थानुरञ्जिताया भावनायाः प्रतीतेरेकानुरञ्जितायाश्चान्यानुरञ्जनायोगात्प्रतिधात्वर्थं भिद्यत एव भावनेति राद्धान्तितं ‘शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादि’ त्यत्र, अयमर्थः—शब्दान्तरे धात्वन्तरे सति कर्मभेदः, भावनाभेदो भवितुमर्हति। कुतः? कृतानुबन्धत्वात् तेनैव कृतावच्छेदत्वात् भावनाया इति। सोयं शब्दान्तरात्कर्मभेदः। (२) तथा ‘समिधो यजति’ ‘तनूनपातं यजती’ त्यादिषु पञ्चकृत्वो यजतिश्रुतौ किं प्रथमविहितस्यैव यागस्य पुनःपुनरभ्यासः? उत पञ्चापि विधयः? इति संदेहे शब्दान्तरे सति कर्मभेदस्य पूर्वाधिकरणे वर्णनात् इहैकस्यैव यजतेः पुनःपुनःश्रवणात् तस्यैवायमभ्यास आदरार्थ इति पूर्वपक्षय्याप्रवृत्तप्रवर्तकत्वाद्विधेः सर्वेषां च प्राथम्यार्हतया विध्यनुवादविनिगमाभावादानर्थक्यपरिहाराय भिन्नविधितया कर्मभेद इति सिद्धान्तितम्, ‘एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्या’ दित्यत्र। अयमर्थः—एकस्य विधेः पुनःश्रवणमपि एवं कर्मभेदकं, कुतः? अविशेषात् विध्यनुवादविशेषाभावात्। इतरथा पुनःश्रवणं हि यस्मादनर्थकं स्यादिति। आनर्थक्ये वा हेतुरविशेषादिति। सोयमभ्यासात्कर्मभेदः। (३) तथा ‘सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभते’ इत्यत्र किं सप्तदशपशुकमेकं कर्म? उत सप्तदश कर्माणि विधीयन्ते? इति संशये प्राजापत्यानित्यत्र कृतैकशेषाणां पशूनां तद्धितेनैकप्रजापतिदेवताकत्वबोधनादेककर्मत्वमिति प्रापय्य राद्धान्तितम्, एककर्मत्वे हि एक एवातिदेशः स्यात्। ततश्चैकपशुनिष्ठमेकादशावदानमतिदेश-

---

विशिष्ट बाध्य भेद से अतिरिक्त भेद का आश्रय है, द्रव्य होने से, जैसे—पट’ इस प्रकार के अनुमानों से भी आकाशादि और आत्मा का सत्यभेद सिद्ध होता है। भेद को सत्य मानने पर दृग् (ज्ञान) और दृश्य (विषय) के सम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि (ज्ञान और विषय का साक्षात् कोई सम्बन्ध न होने पर भी) घटादिविषयक ज्ञान के जनक इन्द्रिय, लिङ्ग और शब्दादि का घटादि के साथ सम्बन्ध ही घटादि विषय के प्रति घटादि विषयक ज्ञानों का नियामक हो जायगा। [आशय यह है कि ज्ञान का अपने विषय से कोई सम्बन्ध न रहने पर यह व्यवस्था कैसे होगी कि अमुक ज्ञान का अमुक विषय है? इस शङ्का का समाधान किया गया—जिस विषय से सम्बद्ध इन्द्रियादि के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान का वही विषय होता है। जैसे—घट संयुक्त इन्द्रिय से जन्य ज्ञान का विषय है—घट]। अतः ज्ञान और विषय का अतिरिक्त सम्बन्ध न होने पर भी किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग या अप्रसङ्ग नहीं होता। भेद को मिथ्या मानने पर शब्दान्तरादि कर्म-भेद-प्रतिपादक प्रामाणों में अप्रामाण्य आ जायगा [भाव यह है कि पूर्व मीमां-

प्राप्तमेकपशौ निष्पन्नमितीतरेषामदृष्टार्थता स्यात्। सप्तदशकर्मत्वे तु प्रतिपशु एकादशावदानसिद्धिरिति दृष्टार्थताऽतः कृततद्धितदेवतासंबन्धतया देवतासम्बद्धानामेकशेषइति सप्तदशकर्माणीति। इदं भाष्यकारीयं मतम्। वार्तिककारीयं तु 'तिस्र आहुतीर्जुहोती'त्यत्रैकस्य जुहोतेः श्रवणादेकहोमत्वम्। त्रित्वं तु एकादशप्रयाजादिवदावृत्त्येति प्राप्ते राद्धान्तः—त्रित्वस्य तावज्जुहोतिसामानाधिकरण्यमुत्सर्गतो होमभेदकमेकातिरिक्तसंख्यायाः पृथक्त्वसामानाधिकरण्यस्वरसत्वात्। क्वचित्त्वगत्याऽपवादः। एकादशप्रयाजादौ प्रकृतौ पञ्चत्वावधारणात्। नचेह तथा बाधकमस्तीति होमभेद इति। तदुक्तं 'पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्या' दिति। संख्ययापि हेतुना कर्मभेदः स्यात्। कुतः? कर्मपृथक्त्वनिवेशात्, कर्मपृथक्त्वेनैव तस्या निवेशात्। एकातिरिक्तसंख्यायाः कर्मपृथक्त्वसामानाधिकरण्यादित्यर्थः। सोयं संख्ययां कर्मभेदः। (४) तथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेते' त्यत्र ज्योतिर्विश्वज्योतिःशब्दयोः प्रकृतज्योतिष्टोमानुवादकत्वं कर्मान्तरविधायकत्वं वा? इति संशये सत्येषशब्दस्य सर्वनाम्नः प्रकृतावमर्शित्वात् ज्योतिरादिशब्दस्य तत्समानाधिकरणत्वात्पूर्वकर्मैवानूद्य सहस्रदक्षिणालक्षणगुणान्तरं विधीयते इति प्राप्ते ज्योतिष्टोमशब्दस्य ज्योतिरादिशब्दानां च स्वरूपविलक्षणत्वात् भिन्नार्थत्वे संभवत्येकदेशलक्षणयैकार्थत्वकल्पनाया अगतिकगतित्वात् सर्वनाम्नश्च प्रस्तोष्यमाणपरामर्शितयापि संभवात् नामान्तरं कर्मान्तरं गमयतीति साधितं 'संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगा'दित्यत्र। अयमर्थः—संज्ञा च पूर्वविलक्षणा कर्मभेदिका। कुतः? उत्पत्तिसंयोगात्। कर्मस्वरूपज्ञापनसमय एव तस्य नाम्नः संयोगादिति। (५) तथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन'मित्यत्र द्रव्यदेवतासंबन्धानुमितयागके किं पूर्वकर्मानुवादेनोत्तरत्र वाजिनगुणविधानम्? उत कर्मान्तरं तद्गुणकम्? इति विशये वाजिभ्य इत्यत्र वाजमन्नमेषामिति व्युत्पत्त्याऽमिक्षान्नयुक्तविश्वदेवदेवताककर्मानुवादेन वाजिनगुणविधानादेककर्मत्वमिति प्राप्ते वैश्वदेवीत्यत्र विश्वे देवा देवता अस्या इत्यर्थेऽण्प्रत्ययविधानादन्तर्णीतेदमा परामृष्टामिक्षायास्तद्धितनिर्दिष्टविश्वदेवसंबन्धेन श्रौततया प्रबलेन सह 'वाजिभ्यो वाजिन'मिति पदद्वयात्मकवाक्यावगतवाजिनसंबन्धस्य विकल्पसमुच्चययोरभावाद्वाजिनगुणविशिष्टकर्मान्तरविधानमिति सिद्धान्तितं 'गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वा'दित्यत्र। गुणश्च कर्मभेदकः, अपूर्वकर्मसंयोगे पूर्वकर्मसंबन्धाभावे सति। कुतः? वाक्ययोः समत्वात्। समे हि तदा वाक्ये भवतः ततोऽविघातमनेकं कर्मेत्यर्थः। सोयं गुणान्तरात्कर्मभेदः। (६) तथाऽसन्निहितदेशकालनिमित्तफलसंस्कार्यसंबन्धकर्मवाक्येषु 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यादिषु किं प्रकृताऽग्निहोत्रादौ मासादिगुणविधानम्? उत तद्गुणकं कर्मान्तरविधानम्? इति संदेहे कर्मान्तरविधाने गौरवप्रसङ्गादग्निहोत्रशब्देन तदनूद्य गुणमात्रविधानमिति पूर्वपक्षिते मासादेरनुपादेयतया साक्षाद्विधानायोगादग्निहोत्रादेश्च विच्छिन्नप्रकरणतया प्रत्यभिज्ञाभावाच्च मासादिगुणविशिष्टं कर्मान्तरमेव विधीयते, अग्निहोत्रादिधर्मातिदेशार्थं चाग्निहोत्रादिनामोपदेश इति प्रकरणान्तरात् कर्मान्तरत्वं निरधारि 'प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्व'मित्यत्र। अयमर्थः—प्रकरणान्तरे सति प्रयोजनान्यत्वं विधेयभावनान्यत्वं स्यान्नतु पुनः पूर्वकर्मानुवादेन तत्र गुणविधानमिति। तत्र—

'शब्दान्तरं धातुभेदोऽभ्यासो विधेः पुनःश्रुतिः।
उत्पत्तिस्था द्व्यादिसंख्या संज्ञा चाङ्गमपूर्वगम्।

सादर्शन के द्वितीय अध्याय में महर्षि जैमिनि ने (१) शब्दान्तर, (२) अभ्यास, (३) संख्या, (४) संज्ञा, (५) गुणान्तर तथा (६) प्रकरणान्तर इन छह हेतुओं से कर्मों में भेद सिद्ध किया है। इनका विस्तृत वर्णन नयनप्रसादिनीकार ने किया ही है। यदि भेद मिथ्या या बाधित होगा, तब भेद रूप बाधितार्थ के प्रतिपादक प्रमाणों में प्रामाण्य कैसे रहेगा ?]। यदि कहा जाय कि

१, पञ्चसु प्रयाजेष्वावृत्त्या यथैकादशत्वं भवति तथेत्यर्थः।

माण्यप्रसङ्गः। नच तस्य लोकसिद्धभेदानुवादकत्वसंभवः; तादृक्कर्मापूर्वभेदस्य लोकतोऽसिद्धेः, सिद्धत्वे च शब्दान्तराद्यधिकरणानारम्भप्रसङ्गात्। तदेवं मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरसंभवादनुमानागमाभ्यां प्रपञ्चस्य सत्यत्वापादनान्न मिथ्यात्वमिति।

अत्रोच्यते—न तावल्लक्षणासंभवः; यतः—

सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥७॥

तथाहि—पटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितैव तेषां मिथ्यात्वम्। न हि तेषामन्यत्र सत्ता संभविनी। तत्रापि चेत्सा न स्यात्तदा गलेपादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत। न च निराश्रयेषु नित्येषु भावेषु सा नास्तीति लक्षणस्या-

सानुपादेयसंबन्धोऽसंनिधिः प्रक्रियान्तरम्।
इति शब्दान्तरादीनामुक्तं लक्ष्म विचक्षणैः।'

तदेतदखिलमम्भोनिधावेव निधीयेत भेदमिथ्यात्व इति। ननु शब्दान्तरादीनां न भेदे प्रामाण्यं तस्य लोकसिद्धतयाऽप्रतिपाद्यत्वादित्यत आह—**नच तस्येति**। भेदमात्रस्य लोकसिद्धत्वेऽप्यलौकिककर्मभेदोऽप्यलौकिक इत्यर्थः। सिद्धत्वे च बाधकमाह—**सिद्धत्वे चेति**। उपसंहरति—**तदेवमिति**।

तत्र लक्षणं श्लोकेन संगृह्णाति—**सर्वेषामिति**। सर्वेषां भावानां मृषात्मता मिथ्यात्वमिदं यत्स्वाश्रयत्वेन संमतेऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं नित्यमविद्यमानत्वमिति योजना। श्लोकं विवृणोति—**तथाहीति**। **अभिमता इति**। प्रमितव्यावृत्तिस्तेन च बाधः परिहृतः। नन्वेतावतापि किमिति मिथ्यात्वमिति चेत्तत्र वक्तव्यं किमन्यत्र सन्त्विति? उत स्वतन्त्रा एव सन्त्विति? नाद्यः; प्रमाणाभावादित्याह—**नहीति**। द्वितीयं प्रतिषेधति—**तत्रापीति**। अयमर्थः—न तावदात्मवदेषामनाश्रितत्वं कार्यत्वेन समवायिकारणाश्रितत्वात् सामान्यादीनामपि धर्मत्वात्समानमाश्रितत्वं तस्मादाश्रितानामन्यत्र प्राप्त्यभावात्प्राप्तदेशेऽपि चेदसत्त्वमापद्यत एव तदा बलान्मिथ्यात्वमिति। ननु भवत्वाश्रितानामेवं मिथ्यात्वमनाश्रितानां परमाण्वाकाशादीनामाश्रयाभावेनोक्तलक्षणाभावात् मिथ्यात्वेष्टेश्चाव्याप्तिरित्यत आह—**नच निराश्रयेष्विति**। लक्षणपदं तु मध्यस्थमणिवन्नेयम्। तेन सत्ताभावाल्लक्षणस्येत्यपि पर्यवस्यति। वियदधिकरणाद्युक्तन्यायेन तेषामप्यस्त्येव कार्यत्वमित्यर्थः। कार्यत्वं चेदं कल्पितत्वं, तेन नाविद्यायामव्याप्तिः। यथा चैतत्तथा द्वितीयपरिच्छेदे प्रसाधयिष्यते। अद्वितीया-

लोक-सिद्ध (व्यावहारिक) भेद के अनुवादक मात्र शब्दान्तरादि है, तो नहीं कह सकते, क्योंकि लोक में वैसा अलौकिक कर्म-भेद सिद्ध नहीं। यदि वह भी सिद्ध मान लिया जाय, तब तो शब्दान्तरादि—अधिकरणों का आरम्भ ही नहीं हो सकेगा। इस प्रकार प्रपञ्च-मिथ्यात्व का न तो लक्षण बनता है और न उसमें कोई प्रमाण ही है। प्रत्युत अनुमान तथा आगम प्रमाणों से प्रपञ्च में सत्यत्व ही सिद्ध होता है, अतः प्रपञ्च मिथ्या कभी नहीं; अपितु सत्य है।

उत्तरपक्ष—मिथ्यात्व का लक्षण असम्भव नहीं; क्योंकि 'सभी भावों में मिथ्यात्व है—स्वाश्रय में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व।' अर्थात् परादिभाव पदार्थों में जो अपने आश्रय तन्तु-आदि में वृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता है, वही मिथ्यात्व उनका मिथ्यात्व है; क्योंकि उन (पटादि) की तन्तुओं से अन्यत्र तो सत्ता सम्भव नहीं, अब यदि तन्तुओं में भी उनकी सत्ता न हो, फिर तो उनमें 'गलेपादुका' न्याय से मिथ्यात्व पर्यवसित होगा। यदि कोई शङ्का करे कि यह आश्रय घटित लक्षण निराश्रय नित्य (परमाणु आकाशादि) में नहीं जाता, अतः अव्याप्त है। तो

---

१. कश्चित्कुतश्चित्स्वेच्छया न गच्छति, स राजपुरुषैर्गले सपादुकं पदं दत्वा बलान्निसार्यते, इति न्यायार्थः।

२. "देशः कालो निमित्तञ्च फलं संस्कार्यमेव च। मीमांसानिपुणाः प्राहुरनुपादेयपञ्चकम् ॥"

व्याप्तिः ; ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यतया कारणाश्रितत्वस्य व्यवहारदशायां रजतादेरिव शुक्त्याद्याश्रिततायाः स्वीकारात् । नाप्यतिव्याप्तिः ; सत्यस्य ब्रह्मणो निराश्रयत्वात्तस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितायाः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् । न च परैः प्रदेशवृत्तितयाभ्युपगतेषु संयोगशब्दादिषु सत्येष्वपि लक्षणस्य सद्भावादर्थान्तरता ; भावाभावयोरेकाधिकरणत्वाभ्युपगमे सर्वत्रैव तथाभावापत्तेर्विरोधस्य जगति दत्तजलाञ्जलिताप्रसङ्गात् । भावाभावयोर्हि साक्षाद्विरोधस्तन्मुखेनैवान्यत्रेति परीक्षकपरिषदां संमतत्वात्, प्रदेशोपाधिभेदेन वा तत्र विरोधसमाधाने भावात्यन्ताभावयोर्भिन्नाधिकरणत्वेन लक्षणस्य तत्र सत्ये कुतः संभवः ? कुतस्तरां चातिव्याप्तिः ? कुतस्तमां चार्थान्तरता ? तदेवं न मिथ्यात्वानिरुक्तिः ।

सङ्गस्य ब्रह्मणः कथं मिथ्याभूतवियदाद्याश्रयत्वमिति मतिमपाकर्तुं व्यवहारदशायामित्युक्तम् । ननु सन्मात्रं ब्रह्म सत्ता च घटपटाद्याश्रिताऽतस्तत्राप्युक्तलक्षणस्य शक्यसमर्थत्वाल्लक्षणस्यातिव्याप्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—**नाप्यतिव्याप्तिरिति** । सत्यं सन्मात्रं ब्रह्म, तस्य तु घटादिसमवायोऽसिद्धः, घटादीनामेव तत्र कल्पितत्वादिति भावः । यत्तु पूर्वपक्षिणोक्तं संयोगादिभिः स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणैरर्थान्तरतेति तदनूद्य दूषयति—**नच परैरिति** । नच वस्तुसतां संयोगादीनामत्यन्ताभावसामानाधिकरण्ये प्रमाणमस्ति व्यवहारस्तु विभ्रममात्रशरीरैरनिर्वचनीयैरपि सेत्स्यतीति न सोऽस्य साधक इति भावः । ननु किमिति जलाञ्जलिर्दीयते, यावता भावाभावावपहाय भावभेदेष्वेव गोत्वाश्वत्वघटत्वप्रभृतिष्वयं प्राणान्धारयतीत्यत आह—**भावाभावयोरिति** । परीक्षकाणां परिषत्सभा । नहि गोत्वाश्वत्वयोस्तत्त्वं विरोधः, अपितु परस्परात्यन्ताभावाविनाभूतत्वम् । तद्यदि भावाभावयोर्न विरोधः का नु नाम तदा तदाघ्रातयोर्विरोधवार्तेति भावः । नन्वेकस्मिन्नपि प्रदेशभेदमादाय संयोगादेर्वर्तनम्, अतो न विरोधोच्छेद इति निरुद्धगतेः पूर्वपक्षिणो मतमाशङ्क्यातिव्याप्तिं परिहरति—**प्रदेशेति** । **कुतः संभव** इति तदङ्गीकाराभिप्रायम् । अङ्गीकारप्रयुक्तत्वादर्थान्तरतायाः । स्यादेतत्, यद्यपि लक्षणमिदमक्षीणं तथापि तल्लक्षणलक्षितस्य मिथ्यात्वस्यात्र सद्भावे किं प्रमाणम् ? नहि लक्षणमस्तीति सर्वत्र तत्सत्ता सिध्यत्यतिप्रसङ्गादित्यत आह—**नापीति** । अंशिनोऽवयविनः स्वावय-

ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि ब्रह्म से भिन्न (निखिल परमाणु-आदि) प्रपञ्च कार्य होने से अपने करण के आश्रित व्यवहार दशामें वैसे ही माना जाता है, जैसे कि रजतादि शुक्ति के आश्रित । अतिव्याप्ति भी नहीं, क्योंकि सत्य ब्रह्म है अतः उसमें स्वाश्रय-वृत्ति अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता की शङ्का तक नहीं हो सकती । यहाँ नैयायिकादि के द्वारा स्वीकृत अव्याप्यवृत्ति संयोग, शब्दादि सत्य पदार्थों में भी उक्त लक्षण घटता है, अतः अर्थान्तरता दोष है—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि संयोगादि भावपदार्थ और उनके अभाव का एक अधिकरण कदापि नहीं बन सकता । यदि मान लिया जाय, तब तो सब कहीं भाव और अभाव एकत्र रह जायंगे, यदि भाव और अभाव का विरोध न रहा फिर तो संसार से विरोध नामकी वस्तु ही समाप्त हो जायगी; क्योंकि भाव और अभाव का साक्षात् विरोध हुआ करता है तथा उसके द्वारा अन्य पदार्थों में विरोध होता है—यही विद्वत्समाज मानता है । यदि कहा जाय कि एकदेशावच्छेदेन भाव और अभाव का विरोध है, किन्तु भिन्नदेशावच्छेदेन भाव तथा अभाव दोनों एकत्र रह जाते हैं । (जैसे—एक ही वृक्ष में कपि-संयोग रहता है—शाखावच्छेदेन और उसका अभाव रहता है—मूलावच्छेदेन । हाँ ! एकदेशावच्छेदेन उनका विरोध ही है) । तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि तब तो यही कहना होगा कि संयोगादिभाव का अधिकरण है—शाखा और उसके अत्यन्ताभाव का अधिकरण है—मूल । इस प्रकार जो भाव अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहता ही नहीं, उस सत्य पदार्थ में कैसे लक्षण जाता है ? क्यों वहाँ अतिव्याप्ति होगी ? और कहाँ अर्थान्तरता ? इस प्रकार मिथ्यात्व के लक्षण का अभाव नहीं ।

नापि मानासत्त्वम्; अनुमानसद्भावात्। तथाहि—

अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः।
अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥८॥

विमतः पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अवयवित्वात्पटान्तरवत्। एवमेतद्गुणकर्मजात्यादयोऽपि तत्तत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनः तत्तद्रूपत्वादितरतत्तद्रूपवदित्येवमादिप्रयोगः सर्वत्रैवोहनीयः।

ननु किं प्रामाणिकैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यं ? किं वा प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ? नाद्यः; अभावानां प्रामाणिकत्वे तैरेव द्वैतापत्तेः, प्रामाणिकाभावप्रतियोगित्वे च भावानामपि प्रामाणिकतया न मिथ्यात्वसिद्धिः। न द्वितीयः; रजते सीसविभ्रमे

वनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिन इति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—**अंशित्वादिति**। इतरावयवीवेति दृष्टान्तः। अनवयविरूपगुणादिष्वतिदिशति—**दिगेषैवेति**। दिङ्मार्गः। श्लोकोक्तमनुमानं विवृणोति—**विमत इत्यादिना**। पटमात्रं पक्षीकृत्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे साधितेऽर्थान्तरता, पटान्तरस्यैतत्तन्तुनिष्ठत्वाभावात्तन्निवृत्त्यर्थं विमत इत्युक्तम्। पटविशेष इत्यर्थः। सर्वत्र चैवं विशेष एव पक्षीकर्तव्यः। अत्रैतत्पटारम्भकास्तन्तव एतत्तन्तवः। अन्योन्याभावादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावग्रहणम्। तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्ते तन्त्वन्तरमादायार्थान्तरता तदर्थमेतत्तन्तुनिष्ठेत्युक्तम्। पटान्तरे त्वेतत्तन्तुभिरनारब्धे सुप्रसिद्धं साध्यम्। **अवयवित्वात्** अवयवित्वेन संमतत्वात्। तेन न प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः। दिगेषैवेत्येतद्विवृणोति—**एवमिति**। एतद्रूपमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि रूपत्वादितररूपवत्। एवं स्पर्शादिष्वपि। एतच्चलनमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि चलनत्वादन्यचलनवत्। तथा तन्तुत्वं तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि जातित्वाद्घटत्ववत्। एवं सत्तादयोऽप्यनुमेयाः। एवं समवायेऽपि द्रष्टव्यम्। अयमन्त्यविशेष एतदात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी विशेषत्वादात्मान्तरगतविशेषवदिति विशेषेषु।

स्यादेतत्, पटादीनां तन्त्वादिषु यदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यते स किं प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा स्यात् ? इति विकल्प्य दूषयति पूर्ववादी—**किं प्रामाणिकेत्यादिना**। प्रामाणिको यस्तन्निष्ठात्यन्ताभाव इति विग्रहः। **तैरेवेति**। यानत्यन्ताभावान्प्रति प्रतियोगित्वं तन्तुब्रह्मादौ पटप्रपञ्चादेः साध्यते तैरेव प्रामाणिकैरित्यर्थः। किञ्च एष ह्यभावानां स्वभावो यत्प्रतियोगिनिरूपणीयत्वम्। तथा च यद्यभावाः प्रामाणिकाः, सुतरां तन्निरूपका भावाः; तथा चाद्वैतान्नैव नोदेतीत्याह—**प्रामाणिकाभावेति**। एतेन² सदद्वैतमेवाद्रियते इति वेदान्तिनां किंवदन्त्यपोदिता। अप्रामाणिकपक्षं दूषयति—**नेति**। अप्रमाणिकात्यन्ताभावप्रति-

और न उसमें प्रमाण का अभाव है; क्योंकि अनुमान प्रमाण है—'अवयवी अपने अवयवों में रहनेवाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, अवयवी होने के कारण; जैसे कि इतर अवयवी'—इसी प्रकार गुणादि में मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है। अर्थात् 'विवादास्पद पट अपने तन्तुओं में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अवयवी होने से जैसे दूसरा पट।' इसी प्रकार 'इन तत्तत्तन्तु के गुण, कर्म, जाति-आदि भी तत्तत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, तत्तद्रूप होने से, जैसे तत्तद्रूप'—इस प्रकार के प्रयोगों की ऊहा सर्वत्र कर लेनी चाहिए।

शङ्का—प्रामाणिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता साध्य है ? अथवा प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि अभाव यदि प्रामाणिक हुए तब उन्हीं को लेकर द्वैतापत्ति होगी। एवं प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी घटादि भावों में प्रामाणिकता आ जाने से मिथ्यात्व की सिद्धि न हो सकेगी। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं; क्योंकि रजत में सीसे का भ्रम हो

---

१. यस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगित्वं साध्यते, स (अत्यन्ताभावः) इत्यन्वयः। २. प्रामाणिकाभाव-

सीसमेवैतन्न रजतमिति रजते रजतत्वप्रतिषेधे प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि रजतत्वस्यामिथ्यात्वेनार्थान्तरत्वापातादिति चेत्, मैवम् ; अभावानां प्रामाणिकत्वेऽपि सदद्वैताव्याकोपात् । कथं च व्यावहारिकप्रमाणोपस्थापितस्वभावैर्भावैरभावैर्वा तत्त्वावेदकप्रमाणोपनीतस्याद्वैतस्य व्याकोपाशङ्कावकाशः ? नापि प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनोऽपि शुक्तीदमंशरजताकारद्वयालिङ्गितस्य, संसर्गस्य, 'इदं रजतम्'—इत्येकज्ञानोपनीतस्य, केवलतद्व्यवहारोपनीतस्य, वा धीरूपरजताकारोपारोहिणो बहिष्ठस्य वा कुत्रचिद्देशे काले वा केनचिदपि वादिना सत्ता स्वीक्रियते ; येन प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनः सत्तां भावाः प्रतिपद्येरन् । द्वितीयस्तु विकल्पोऽनङ्गीकारपरास्तः । न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः ; धर्मिणस्तत्त्वावेदकप्रमाणसिद्धत्वानभ्यु-

योगित्वं न मिथ्यात्वं, सत्यस्यैव रजतत्वस्य सीसविभ्रमविषये रजते भ्रान्तिप्राप्तात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य परैर्मिथ्यात्वास्वीकारादित्याह—**रजत इति** । तमाक्षेपं परिहरति—**मैवमिति** । तत्र प्रमाणगम्यत्वं सत्त्वमित्यभ्युपेत्य परिहरति—**अभावानामिति** । इममभ्युपगमं त्यजन् राद्धान्तरहस्यमादाय परिहरति—**कथं च व्यावहारिकेति** । न प्रमाणमात्रगम्यत्वात् सत्त्वमायाति । देहात्मत्वादौ तथाभावाभावात्, अपि तु तात्त्विकप्रमाणगम्यत्वात् । नचैतत् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याभावस्य भावस्य वास्ति, येनाद्वैतसंकोचावकाशः स्यादिति भावः । यत्तु प्रामाणिकाभावपक्षे प्रतियोगिभूतैर्भावैरद्वैतविरोध इति तत्परिहरति—**नापि प्रामाणिकेति** । अयमर्थः—नैवं व्याप्तिरस्ति यत्प्रामाणिकाभावप्रतियोगि तत्प्रामाणिकमिति । यतः शुक्तीदमंशरजताकारयोरेकज्ञानोपनीतस्य संसर्गस्य प्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि क्वचिदपि देशे कदाचिदपि काले सत्त्वमन्यथाख्यातिवादिभिर्नेष्यते । तथाऽख्यातिवादिभिः संसर्गज्ञानाभावेऽपि संसृष्टव्यवहारोपनीतस्य संसर्गस्य । तथा विज्ञानवादिभिरपि धीरूपं यद्रजतं तत्रारोपितस्य बहिष्ठस्येत्येवं यथादर्शनं व्यभिचारादिति । यत्त्वप्रामाणिकाभावप्रयुक्तदूषणमुक्तं तदभावस्य प्रामाणिकतास्वीकारात् निरनुयोज्यानुयोगमित्याह—**द्वितीयस्त्विति** । यत्त्वाश्रयस्य प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पेन दूषणमुक्तं तत्परिहरति—**न चेति** । प्रमाणमात्रगम्यस्यात्यन्तिकसत्त्वाभावादिति भावः । सत्त्वं चेन्नास्ति तर्हि अस-

जाने पर प्रतीति होती है कि 'यह सीसा है, रजत नहीं ।' यहाँ रजत में रजतत्व का निषेध प्रातिभासिक है । प्रातिभासिक निषेध का प्रतियोगी भी रजतत्व मिथ्या नहीं; अतः अर्थान्तरता दोष है ।

समाधान—उक्त शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि अभाव पदार्थों के प्रामाणिक होने पर भी द्वैतापत्ति नहीं होती, कारण कि भावरूप द्वितीय न होने से ब्रह्म की अद्वितीयता अक्षुण्ण रह जाती है । वस्तुतः जो भाव या अभाव केवल व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध है, उन व्यावहारिक भावों या अभावों से तात्त्विक प्रमाण सिद्ध पारमार्थिक ब्रह्म की अद्वितीयता पर आँच कैसे आ सकती है ? (यह जो कहा था कि प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी भी प्रामाणिक हो जाने से मिथ्या सिद्ध न होंगे, यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी सत्य ही होते हैं—ऐसा कोई नियम नहीं)। प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी सत्य माने जा सकते थे यदि प्रामाणिक निषेध के प्रतियोगी शुक्ति-रजत-संसर्ग (जो कि अन्यथाख्याति-मत में 'यह रजत है'—इस प्रकार के एक ज्ञान से एवं अख्याति-मत में केवल संसृष्ट-व्यवहार से सिद्ध हैं) की सत्ता नैयायिक तथा प्राभाकर एवं बौद्ध बुद्धिरूप रजताकार में प्रतीत बहिष्ठ की सत्ता कहीं भी, कभी भी मानते; किन्तु मानते नहीं, अतः प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी सत्य नहीं हो सकते । द्वितीय विकल्प (प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता) अङ्गीकार न होने से ही खण्डित है ।

धर्मिग्राहक प्रमाण से (मिथ्यात्वानुमान का) बाध भी नहीं ; क्योंकि धर्मी (प्रपञ्च) को

प्रतियोगित्वेन भावानां प्रामाणिकसत्वापादनेनेत्यर्थः ।

पगमात्। तर्ह्याश्रयासिद्धिरितिचेत्, न; सांव्यावहारिकप्रमाणोपनीतस्याप्याश्रयत्वोपपत्तेः। प्रपञ्चस्तत्त्वावेदकप्रमाणविषयः धर्मित्वादात्मवदिति चेत्, न; आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात्। नच व्यतिरेकासिद्धिः; अनात्मनः शुक्तिरजतसंसर्गादेस्तत्त्वावेदकप्रमाणाविषयस्योभयवादिसिद्धस्य व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य सद्भावात्, धर्मित्वहेतोः शुक्तिरजतादिसंसर्गधर्मिणि व्यभिचाराच्च। नासौ धर्मी मिथ्यात्वादिति चेत्, न; एतमेव हेतुं प्रति धर्मित्वाधर्मित्वयोस्तदयोगात्। एतेन प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे दूषणभूषणादेरपि तथाभूतस्य सुलभत्वात् सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्ग इत्यपास्तम्; वादिप्रतिवादिमध्यस्थानां प्रमाणसिद्धमेतदिति संमत्यालम्बन-

---

देव। तथा च शशविषाणवदेवानर्थक्रियाक्षमर्मिति शङ्कते—**तर्हीति**। देहात्मभावादिवद्व्यावहारिकसत्त्वमादाय परिहरति—**न**। **सांव्यावहारिकेति**। यथाच सदसद्विलक्षणाप्यपरा कोटिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे निर्वक्ष्यते। तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वाभावेन धर्मिग्राहकबाधः परिहृतस्तत्र बाधसिद्ध्यर्थे तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमप्यनुमिनोति पूर्ववादी—**प्रपञ्च इति**। ननु कथमात्मत्वमुपाधिः? साध्यव्यापकत्वानिर्णयात्। तथा हिं यत्रात्मत्वं नास्ति तत्र तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमपि नास्तीति साध्याभावेनोपाध्यभावव्याप्तिरेष्टव्या। न चैषा शक्यनिर्णया। आत्मत्वरहिते प्रपञ्चे साध्याभावानिर्णयात्। तस्मात्पर्वतेतरत्वादिवत्पक्षेतरोयमित्यत आह—**न च व्यतिरेकेति**। शुक्तिरूप्यसंसर्गादौ सर्वथा प्रमाणायोग्ये शक्य उभयाभावो निर्णेतुमित्यर्थः। अनैकान्तिकतां चाह—**धर्मित्वेति**। **संसर्गधर्मिणीति**। संसर्ग एव धर्मी। हेतोस्तत्रावृत्तिमाशङ्कते—**नासाविति**। परिहरति—**नेति**। अयमर्थः—मिथ्यात्वादितीममेव हेतुं प्रति संसर्गो धर्मी? नवा? आद्ये धर्मित्वमशक्यनिषेधम्। द्वितीयेप्यशक्यनिषेधमेव, निषेधकहेतोराश्रयासिद्धत्वादिति। यत्तु प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनादित्वेऽतिप्रसक्तिरित्युक्तं तदप्येवं सति परिहृतमित्याह—**एतेनेति**। व्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्य साधनदूषणत्वाभ्युपगमेनेत्यर्थः। एतेनेत्येतदेव विवृण्वन्सांव्यावहारिकप्रमाणशरीरमेव दर्शयति—**वादिप्रतिवादीत्यादिना**। **त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्येति**। त्रिचतुरपर्वस्वबाधित-

---

तात्त्विक प्रमाण से सिद्ध नहीं माना जाता। आश्रयासिद्धि भी नहीं; क्योंकि व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध आश्रय बन जाता है। 'प्रपञ्च तात्त्विक प्रमाण से सिद्ध है, धर्मी होने से, जैसे—आत्मा'—इस अनुमान से धर्मी में तात्त्विक प्रमाण-सिद्धता की सिद्धि नहीं की जा सकती; क्योंकि वहाँ 'आत्मत्व' उपाधि है—(तात्त्विक प्रमाण-सिद्धता का निश्चय है—आत्मा में, वहाँ आत्मत्व है ही; अतः आत्मत्व साध्यका का व्यापक है और धर्मित्व हेतु तो प्रपञ्च में भी है, किन्तु वहाँ आत्मत्व नहीं अतः साधन का अव्यापक है)। यदि शङ्का हो कि आत्मत्व की व्यतिरेक व्याप्ति साध्य में सिद्ध नहीं; अतः 'आत्मत्व' उपाधि में साध्यव्यापकता कैसे? तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि शुक्ति-रजत-संसर्ग में आत्मत्वाभाव भी है और तात्त्विक प्रमाण-विषयत्वाभाव भी, अतः वह एक ऐसा उभयवादि-सम्मत स्थल है, जहाँ व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय हो जाता है। उक्त संसर्ग में 'धर्मित्व' हेतु तो है; किन्तु उपाधि नहीं अतः साधन का व्यभिचार (अव्यापकत्व) भी उपाधि में है। यदि कहा जाय कि उक्त संसर्ग में मिथ्यात्व होने से धर्मित्व हेतु नहीं रहता; तो यह कहना उचित न होगा; क्योंकि इसी 'मिथ्यात्व' हेतु का उक्त संसर्ग धर्मी है? कि नहीं? यदि है, तब धर्मित्व का निषेध अयुक्त है और यदि वह मिथ्यात्व का धर्मी नहीं, तब भी धर्मित्व का निषेध न हो सकेगा; कारण कि वहां मिथ्यात्व रहने के कारण ही धर्मित्व का निषेध करते थे। किन्तु मिथ्यात्व वहां रहता नहीं।

इसी (व्यावहारिक प्रमाण-सिद्ध साधनादि मान लेने) से ही 'प्रतीति मात्र-सिद्ध (प्रपञ्च) को आश्रय मानने से उसी प्रकार दूषण-भूषण सब कहीं सुलभ होने के कारण सभी वादों का विधान तथा सभी का निषेध होने लगेगा'—यह आक्षेप निरस्त हो जाता है; क्योंकि ऐसे आक्षेप तथा दूषण भूषण ही कथा के अंग माने जाते हैं, जिनके विषय में वादी, प्रतिवादी एवं मध्यस्थ एकमत होकर

तया त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्याश्रयस्य दूषणभूषणादेश्च तत्र तत्र कथाङ्गताङ्गीकारात् ; तादृशव्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्यैव च व्यावहारिकसत्यत्वेन स्वीकारात्, सर्वथा बाधवैधुर्यस्यागमेतरप्रमाणैरसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात् । एतेनेदमपास्तम्, यदाहुर्भट्टाचार्याः—

"संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम् ।
सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत्सत्यता कथम् ॥
सत्यत्वं नच सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः ।
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः ॥" इति । (श्लो० वा० ५।६,७)

वस्तुतोऽसत्यस्यैव यावद्बाधं देहात्मभाववल्लौकिकवैदिकाव्यवहाराङ्गतया सत्यत्वेन व्यवहारात् ।

स्येत्यर्थः । स्यादेतत् ; कतिपयपुरुषस्य कतिपयकालं बाधविधुरमित्यवबोधविषयस्य साधनादिभावश्चेदभ्युपेयते तर्हि सिद्धान्तविरोधः, यतो व्यावहारिकसत्त्वयुक्तस्य वेदान्तिभिः साधनादित्वमङ्गीक्रियत इत्यत आह—**तादृशेति** । ननु किमत्ययं संकोचः ? आत्यन्तिकमेव सत्त्वं किं न स्वीक्रियते ? इत्यत आह—**सर्वथेति** । सर्वपुरुषसर्वदेशकालापेक्षयेत्यर्थः । तत्किं ब्रह्मणोऽपि तादृशं सत्त्वमशक्यज्ञानमित्यत उक्तम्—**आगमेतरेति** । नन्वागमेतरैरपि प्रमाणैः सर्वज्ञेन केनचित्तादृशं सत्त्वं ज्ञायतामित्यत उक्तम्—**असर्वज्ञेनेति** । सर्वज्ञस्य तु कस्यचित्तादृशं प्रमाणमस्ति प्रपञ्चविषयमित्यत्र नार्वाग्दृशां प्रमाणमस्ति, प्रत्युतागमविरोधादभावनिर्णय इति भावः । व्यावहारिकसत्त्वं नाम न सत्त्वविशेषः, अपित्वेवंविधज्ञानविषयत्वमित्यनेनैव भट्टपादोक्तदूषणमप्यपास्तमित्याह—**एतेनेदमिति** । संवृतिसत्यमिति यद्बौद्धैरुच्यते तद्दूष्यते—**संवृतेर्न तु सत्यत्वमिति** । अत्र च संवृणोति तत्त्वमिति संवृतिरविद्या तस्याः सत्यत्वमयुक्तं तत्र हेतुमाह—**सत्यभेद इति** । 'इदं संवृतिसद् ; इदं परमार्थसदिति' वदता किं सत्यविशेषः कश्चित्संवृतिसत्यं नाम स्वीक्रियते ? उतासदेव ? द्वितीये सत्यशब्दो नार्थवान् । प्रथमे प्राह—**सत्यभेद इति** ? कुतोयं सत्यभेदः ? न कुतोपि प्रमाणादित्यर्थः । किमिति प्रमाणाभाव इति ? विरुद्धत्वादित्याह—**सत्या चेदिति** । विरुद्धत्वाज्जातिव्यक्तिभावो नास्तीत्युक्तम्, इदानीं सदसतोः परस्परविरुद्धयोः सत्यत्वजातिसंबन्धोपि न घटत इत्याह—**सत्यत्वमिति** । तत्र दृष्टान्तः—**नहि वृक्षत्वमिति** । एतेनेत्यस्यैव विवरणं—**वस्तुत इति** । नचात्रानेतन्निष्ठत्वमुपाधिः ; आकाशादौ साध्याव्यापकत्वात् । नाप्येतदनिष्ठत्वम् ; तस्यैव साध्यत्वात् । नाप्येतन्निष्ठत्वरहिततया प्रतीयमानत्वम्; संयोगादौ तव साध्याव्याप्तेः । एतेनैतदवयवानारब्धत्वमपि निरस्तम् । न च द्रव्यत्वविशेषितम् ; गुणादौ साध्याव्याप्तेः । नच द्रव्यत्वविशेषिते साध्ये द्रव्यत्वविशेषितोयमुपाधिः ; व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या

कह दें कि 'ये प्रमाण-सिद्ध हैं', जिनका तीन-चार कक्षा तक बाध न हो और जो तत्तत् आभासलक्षण के लक्ष्य न हों । इसी प्रकार के ही व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध पदार्थों में व्यावहारिक सत्यत्व माना जाता है । पारमार्थिक सत्यत्व वहाँ कदापि नहीं मान सकते; क्योंकि सर्वथा बाध-रहित तत्त्व को असर्वज्ञ व्यक्ति आगम-भिन्न प्रमाणों से नहीं जान सकता । (व्यावहारिक सत्यत्व को हम-सत्य का भेद नहीं मानते; अपितु व्यावहारिक प्रमाण की विषयता ही व्यावहारिकसत्यत्व है)—इसी से यह भी निरस्त हो जाता है, जो कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—'संवृत्ति (अविद्या) में सत्यत्व नहीं रह सकता; क्योंकि संवृत्ति-सत्य, सत्य-विशेष है—यह किस प्रमाण से सिद्ध होगा ? यदि संवृति सत्य है, तब उसमें संवृतित्व (मिथ्यात्व) कैसे रहेगा ? और यदि वह मिथ्या है, तब उसमें सत्यत्व कैसे रहेगा ? मिथ्या अर्थ तथा परमार्थ में 'सत्यत्व' जाति नहीं रह सकती; क्योंकि विरोध है, जैसे कि वृक्ष तथा सिंह में 'वृक्षत्व' जाति नहीं रहती ।' वेदान्त सिद्धान्त यह है कि वस्तुतः असत्य प्रपञ्च में ही लौकिक, वैदिक-व्यवहार की अंगता होने से देह में आत्मत्व के समान सत्यत्व का तभी तक व्यवहार मात्र होता है, जब तक बाध न हो ।

नायमसिद्धो हेतुः; पटस्यांशित्वे वादिनोरविवादात्। नापि विरुद्धः; एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनि विपक्षे आत्मनि अंशित्वस्यावृत्तेः। नानैकान्तिकोऽपि; विपक्षाद्व्यावृत्तेरेव। इह तन्तुषु पट इत्यादिनैव प्रत्यक्षेण तन्तुनिष्ठतया पटस्यावगमात्तदपहृतविषयतया कालात्ययापदिष्टतेति चेत्, मैवम्; पटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वता तस्य प्रामाण्यानङ्गीकारादिह नभसि नीलिमेति प्रत्यक्षाभिमतप्रत्ययबाधेनारूपित्वानुमानप्रवृत्तिवदत्राप्यनुमानप्रवृत्त्युपपत्तेः। नचैवं सति दहनशैत्यानुमानादेरप्यप्रतिबद्धप्रसरतया कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रास्तमियादिति वाच्यम्; तत्र तत्रोभयवादिसंमतप्रबलप्रमाणे परिपन्थिनि जाग्रति तस्या निरंकुशप्रसरत्वात्, प्रकृते च तथाभावाभावात्। एतेन प्रमाणसिद्धत्वादिति प्रत्यनुमानविरोधोऽपास्तः; प्रमाणसिद्धत्वस्यैवासिद्धेः। यत्र प्रत्यक्षमपि न तत्त्वावेदकं प्रमाणं,

---

पक्षेतरत्वादिति। स्वरूपासिद्धिं परिहृत्य विरुद्धत्वं परिहरति—नापि विरुद्ध इति। अत्र ह्यात्मा विपक्षस्तस्य सर्ववस्तुस्वरूपतया तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाभावात्। नच तस्मिन्निरवयवेंऽशित्वं वर्तते इत्यर्थः। एतेनैतन्निष्ठगुणादि व्याख्यातम्। एवमेतदत्यन्ताभावस्यैतत्तन्तुनिष्ठतास्वीकारे तस्याप्येतदनिष्ठत्वाङ्गीकारें तु तदभावादेव बाधं शङ्कते—इह तन्तुष्विति। परिहरति—मैवमिति। यत्तदवोचामाभिमतग्रहणेन बाधपरिहार इति तस्यैतदुत्थानम्। यथा ह्याकाशनीलिमग्राहिप्रत्यक्षविरोधेऽप्याकाशमरूपि विभुत्वादात्मवदित्याद्यनुमानमुदेति, तत्कस्य हेतोः? दृढतरन्यायादर्थाभावेऽवगते क्लृप्तकारणाभावेऽप्युत्पद्यमानत्वात्, तथेहाप्यद्वैतपरसकलश्रुतिस्मृतिबलादर्थाभावेऽवगते जायमानं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षाभास इति नानुमानानुदय इत्यर्थः। नन्वनुमानबाध्यभिप्रायेण प्रत्यक्षाभासीकरणं सर्वत्र सुलभमिति दहनानुष्णतानुमानेपि न प्रत्यक्षबाधः स्यादिति गतं कालात्ययापदिष्टकथयेत्यत आह—न चैवं सतीति। हेतुमाह—तत्र तत्रेति। अयमभिसंधिः—अग्निरनुष्ण इत्यत्र निषेध्यमुष्णत्वं क्वचित्प्रमितं? न वा? न यदि; तदा प्रतियोग्यप्रमित्याऽभावप्रमित्यभावाद् अप्रसिद्धविशेषणता। नच भ्रान्तिसिद्धस्य निषेधः, अर्थक्रियायां बाधाभावात्। तस्मात्प्रमितमिति वक्तव्यम्। नच तदग्निव्यतिरिक्तस्थलेऽस्तीत्युभयवादिसंप्रतिपन्नमस्ति तत्र प्रमाणम्। अतस्तद्विरोधादनुमितिर्नोदेतीत्यनिरुद्धैव बाधप्रवृत्तिरिति। प्रकृते तु न तथोपजीव्यमस्ति किंचित्प्रमाणं येन बाधः स्यादित्याह—प्रकृते चेति। प्रत्यक्षविरोधं परिहृत्य यदुक्तं पूर्ववादिना प्रपञ्चः सत्यः प्रामाणिकत्वादिति तद्विरोधं परिहरति—एतेनेति। तस्यैव विवरणं—प्रमाणेति।

'अवयवित्व' हेतु असिद्ध भी नहीं; क्योंकि पट-गत अवयवित्व में किसी का विवाद नहीं। और न विरुद्ध ही है; क्योंकि एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी आत्मा (विपक्ष) में अवयवित्व अवृत्ति है। विपक्षावृत्ति होने से ही अनैकान्तिक भी नहीं। यदि कहा जाय कि 'उक्त अनुमान में बाध अवश्य है, क्योंकि 'इन तन्तुओं में पट है'—इस प्रत्यक्ष प्रमाण से तन्तु में पट की सिद्धि होती है और पट की सिद्धि से पटाभावरूप साध्य का बाध निश्चित है।' तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पट में एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता माननेवाला उस (इन तन्तुओं में पट है) प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं मानता अतः 'इस आकाश में नीलिमा हैं'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष का विरोध होने पर भी अरूपित्वानुमान (आकाश रूप-रहित है, विभु होने से, आत्मा के समान) जैसे उदित हो जाता है; वैसे ही प्रकृत में मिथ्यात्त्वानुमान की प्रवृत्ति बन जायगी। 'इस प्रकार तो अग्नि में शीतलता-विषयक अनुमानादि भी अप्रतिहतगति से प्रवृत्त हो जाँयगे; फिर तो 'बाध' नाम का हेत्वाभास ही विलुप्त हो जायगा'—यह सन्देह नहीं करना क्योंकि तत्र-तत्र उभयवादि सम्मत प्रबल विरोधी प्रमाण की छत्रच्छाया में बाध निःसन्तप्त प्रवृत्त हो सकेगा। प्रकृत में तो वैसा कोई प्रबल विरोध नहीं; अतः बाध प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणसिद्धत्वाद्'—यह सत्प्रतिपक्ष भी निरस्त हो जाता है; क्योंकि 'प्रमाणसिद्धत्त्व' हेतु ही असिद्ध है। दूसरी बात यह

तत्र का कथा तत्पादोपजीविनो वराकस्यानुमानादेः प्रमाणतायाम् ?

यत्पुनरेतस्य घटस्य द्रव्यत्वादेतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदवत्त्वानुमानं, तदप्यद्वैतागमविरोधात्कालात्ययापदिष्टमित्युपेक्षणीयम्। 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मित्याद्यागमेन प्रपञ्चस्य सत्यतावगमादद्वैतागम एवोपचरितार्थः किं न स्यादिति चेत्, न; तस्यान्यपरत्वात्। तथाहि—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय ब्रह्मणः सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेन तां प्रतिज्ञामुपपादयितुं लोकेऽपि घटरुचकादिकार्याणां मृल्लोहादिकारणादनन्यत्वं दर्शयति—'मृत्तिकेत्येव सत्यं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्य' मित्यादिना। न तु तेषां वास्तवत्वमभिप्रैति; 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे'त्यन्तेन ब्रह्मण एव सत्यत्वप्रतिपादनविरोधात्। एतेन मिथ्या-

नन्वेतदेव किं न स्यात्प्रमाणमिति तत्राह—**यत्रेति**। अथवा प्रत्यक्षविध्वंसनन्यायं कैमुतिकन्यायेन संभाव्यमानसर्वानुमानेष्वतिदिशति—**यत्रेति**। असिद्धेरेव वा विवरणमिदम्। अनुभवविरोधपरिहाराय तत्त्वावेदकमित्युक्तम्।

यत्तु भेदसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं तदनूद्य निराकरोति—**यत्पुनरिति**। अयं घट एतद्घटत्वे सति एतन्निष्ठबाध्यभेदत्वानधिकरणभेदाधिकरणं न भवति द्रव्यत्वात्पटवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षतापि द्रष्टव्या। न चैतन्मृदनारब्धत्वमुपाधिः; व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धेः। परसिद्ध्या च साध्यप्रसिद्धिः। ननु कथमद्वैतागमविरोधस्तस्यागमान्तरविरोधेनातत्परत्वादिति शङ्कते—**मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिना**। पौर्वापर्यपर्यालोचनया अद्वैतश्रुतिशेषत्वमितरश्रुतेरवसीयते, तद्यदि मृदादिसत्यत्वमपीयं श्रुतिः प्रतिपादयेत् शेषिविरोधः स्यात्। अतः कारणव्यतिरेकेण कार्यमनिर्वचनीयमित्येतावन्मात्रपरा सा श्रुतिः, अद्वैतश्रुतिस्तु स्वप्रधानत्वादनन्यपरेत्यभिप्रेत्याह—**न**। **तस्यान्यपरत्वादिति**। **एकविज्ञानेनेति**। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवती' त्यनेनेति शेषः। तथा—**सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेनेति**। 'सदेव सोम्येद'मित्यादिनेति शेषः। अथ कुतो वास्तवसत्त्वमेव न प्रतिपाद्यत इति चेन्नोपसंहारविरोधादित्याह—**ऐतदात्म्यमिति**। एते-

है कि जहाँ प्रत्यक्षप्रमाण भी तत्त्वावेदक न हो सका, वहाँ प्रत्यक्ष-पादोपजीवी वेचारे अनुमानादि कैसे प्रमाण होंगे ?

यह जो घट में 'द्रव्यत्व' हेतु से घटनिष्ठ बाध्यभेद से अतिरिक्त भेदवत्ता का अनुमान किया था, वह अद्वैत-श्रुति से वाधित होने से उपेक्षणीय है। यदि कहा जाय कि "मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—आदि श्रुतियों से प्रपञ्च में सत्यता प्रमाणित होती है, अतः अद्वैत-श्रुति अन्यार्थपरक क्यों न मानी जाय ? तो नहीं कह सकते; क्योंकि "मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—यह श्रुति ही प्रपञ्च सत्यत्व-प्रतिपादक नहीं; अपि तु अन्यार्थपरक है—एक के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म सबका कारण होने से कार्यमात्र से अभिन्न है—यह दिखाते हुए उक्त प्रतिज्ञा का उपपादन करने के लिए लोक-प्रसिद्ध घटादि कार्यों का मृत्तिकादि से अभेद बताया—"मृत्तिकेत्येव सत्यम्"—इत्यादि से। मृत्तिकादि की सत्यता-प्रतिपादन में उक्त श्रुति का तात्पर्य नहीं। नहीं तो "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" (एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है। वह आत्मा है—छां० ६।८।७)—

---

१. एतद्घटनिष्ठबाध्यभेद एतद्घटप्रतियोगिताको भेदस्तन्निष्ठं यद्भेदत्वं तदनधिकरणं पटादिनिष्ठ एतद्घटप्रतियोगिको भेदः, तदधिकरणत्वादेव पटादीनामित्यप्रसिद्धविशेषणतेत्यत आह—घटत्वे सतीति। तथा च घटत्वसमानाधिकरणो य एतद्घटनिष्ठबाध्यभेदत्वानधिकरणभेदः पटादिप्रतियोगिक एतद्घटनिष्ठभेदस्तदनधिकरणत्वं पटस्येति नाप्रसिद्धविशेषणता। घटान्तरे एतद्घटप्रतियोगिकभेदमादाय सिद्धसाधनतेत्यत आह—एतदिति। तथा चैतद्घटत्वसमानाधिकरणकस्यैतन्निष्ठबाध्यभेदत्वानधिकरणभेदस्य विवक्षितत्वे न घटान्तरे एतद्घटप्रतियोगिको भेदो ग्रहीतुं शक्य इति भावः।

त्वानुमानस्यागमविरोधोऽप्यपास्तः।

दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिश्च सत्यत्वानुमानस्य बाधिका। न च करणसंबन्धादेव संबन्धोपपत्तिः; ईश्वरज्ञानेऽकरणजन्येऽपि विषयाणां स्फुरणात्, करणजन्येष्वपि योगिज्ञानेषु युक्तावस्थायामन्तःकरणासंबद्धानामतीतानागतानां बाह्यार्थानां च स्फुरणात्। न च मनसो बहिरर्थैः संबन्धः; परतन्त्रं बहिर्मन इति न्यायात्, अस्मदादीनां चैन्द्रियिकविभ्रमेष्विन्द्रियासंबद्धानामेव स्फुरणाङ्गीकारात्, अस्मदादिप्रमाणजन्येऽपि ज्ञाने सोयं देवदत्त इत्यादौ तत्तांशस्य करणासंबद्धस्यापि प्रत्यक्षताभ्युपगमात्। नच तत्तायामपीन्द्रियेण सह संयुक्तविशेषणतालक्षणः संनिकर्षः समवायेतरभावस्येन्द्रियसंप्रयोगमन्तरेणापि प्रत्यक्षतायामयं पर्वतोऽग्निमानिनेति। अन्यारत्वादित्यर्थः।

बाधकतर्कसंभवाच्च शङ्किताऽप्रयोजकत्वं सत्यत्वानुमानमित्याह—**दृग्दृश्ययोरिति**। पूर्ववाद्युक्तामन्यथोपपत्तिमनूद्य दूषयति—**नचेति**। नायं सार्वत्रिकः, ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य तद्विषयाणां च नियमाभावप्रसङ्गादित्यर्थः। अथ जन्येष्वयं नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह—**करणजन्येष्वपीति**। युक्तावस्थायां ह्यात्ममनोयोगमात्रादेवाशेषार्थज्ञानमिति तार्किकाणां मतम्। अतीतादीनां चाविद्यमानत्वादेव संबन्धानर्हत्वम्। अथ च विषयास्तत्र परिस्फुरन्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः। ननु युक्तावस्थायां कथमव्याप्तिर्यावता मनोलक्षणेन्द्रियसंबन्धादेव तत्रापि नियमोपपत्तिरिति तत्राह—**न च मनस इति**। अथ विशिष्टादृष्टसामर्थ्यसचिवमनोयोगियोगिज्ञानं विहायायं नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह—**अस्मदादीनां चेति**। अधिष्ठानस्येन्द्रियसंबद्धत्वेऽप्यारोप्यतत्संसर्गयोस्तदभावात्संस्कारद्वारा प्रत्यासत्तेश्चातिप्रसङ्गित्वादिति भावः। अथ विभ्रमत्वात्तत्र यथा तथा भवतु, प्रमाणेष्वयं नियम इति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अस्मदादिप्रमाणजन्येपीति**। **तत्तांशस्येति**। तद्देशकालविशिष्टांशस्येत्यर्थः। एतच्च प्रत्यभिज्ञानस्यानुभवैकत्ववादे। ननु चक्षुषा संप्रयुक्तस्तावद्देवदत्तः तस्य च विशेषणं तत्ताऽतः संप्रयुक्तविशेषणताप्रत्यासत्त्या भूतलविशेषणघटाभाव इवेन्द्रियेण किमिति न गृह्यते इति तत्राह—**नच तत्तायामिति**। आत्मद्वारा चायं संबन्धः शङ्कनीयः। हेतुमाह—**समवायेतरभावस्येति**। भावस्येत्यभावव्यावृत्तिः। समवायस्येन्द्रियासंप्रयुक्तस्यापि ग्रहणं परैरङ्गीक्रियत इत्यत उक्तं—**समवायेतरेति**। गुणादीनां तु संयुक्तसमवायादि नास्मत्समतं तेषां द्रव्यतादात्म्येन समवायासिद्धेः, संबन्धान्तरताभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। विद्यमानेतिविशेषणाच्च

इस अग्रिम श्रुति से ब्रह्म मात्र की सत्यता का प्रतिपादन विरुद्ध पड़ जायगा। इसीसे ही मिथ्यात्वानुमान में आगम-विरोध भी निरस्त हो गया।

दृग्-दृश्य के सम्बन्ध की अनुपपत्ति भी प्रपञ्च सत्यत्वानुमान की बाधक है। यह जो कहा था कि इन्द्रियों के सम्बन्ध से ही दृग्-दृश्य-सम्बन्ध बन जायगा। वह ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के ज्ञान का भी विषय के साथ-सम्बन्ध प्रतीत होता है। वहाँ इन्द्रिय–सम्बन्ध सम्भव नहीं; क्योंकि ईश्वर-ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं होता। इन्द्रिय जन्य योगि-ज्ञान का युक्तावस्था में अन्तः करणासम्बद्ध अतीतादि बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। बाहर के पदार्थों से मन का साक्षात् सन्बन्ध हो नहीं सकता; क्योंकि बाह्य विषय का ग्रहण करने के लिए मन परतन्त्र (बाह्य इन्द्रियों के अधीन) होता है। हम लोगों के इन्द्रिय-जन्य भ्रमों में भी इन्द्रियासम्बद्ध पदार्थ का ही स्फुरण माना जाता है। हम लोगों के प्रमाण-जन्य 'यह वही देवदत्त है'—इत्यादि ज्ञानों में भी इन्द्रियासम्बद्ध 'तत्ता' अंश का भान माना जाता है। यदि कहा जाय कि 'तत्ता' के के साथ भी इन्द्रिय का स्वसंयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष है, तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि यदि समवाय से भिन्न भाव पदार्थों का साक्षात् इन्द्रिय-सम्बन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष माना जाय; तब तो

त्यत्राग्निमत्त्वस्यापि संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वापत्तेः प्रत्यक्षधर्मिकानुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गः।

अस्तु तर्हि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावः संबन्ध इतिचेत्, न; तदनिरूपणात्। तथा हि-न तावज्ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वं, विषयनिष्ठफलजनकत्वं च विषयित्वमिति युक्तम्; विकल्पासहत्वात्। तत्फलं ज्ञातता ? व्यवहारो वा ? नाद्यः; अतीतादौ तदभावेनाविषयत्वप्रसङ्गात्। तत्रैव फलजननेऽप्यनुगतनियामकायोगात्, तद्योगे वा तस्यैव विषयत्वनियामकतोपपत्तेः। न द्वितीयः; कराकर्षणादेर्व्यवहारस्यात्मादावभावात्, कलधौतमलादेरपि नान्तरीयकतया

प्रत्यभिज्ञायां तत्ताव्यवच्छेदः। **संयुक्तविशेषणतयेति**। चक्षुषा संयुक्तः पर्वतस्तस्य विशेषणमग्निरित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—समवायाभावातिरिक्तस्यापि चेत्संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वं तर्हि प्रत्यक्षे धर्मिणि न क्वाप्यनुमानं प्रवर्तेत सर्वत्र प्रत्यक्षत्वसंभवादिति। संबन्धान्तरमाशङ्कते—**अस्तु तर्हीति**।

ज्ञानजन्येति। ज्ञानेन जन्यं यत्फलं तत्प्रत्याधारत्वं विषयत्वं तादृशफलजनकत्वं च विषयित्वमिति न च युक्तमित्यर्थः। **विकल्पासहत्वादिति**। विकल्पे सति दूषणासहत्वादित्यर्थः। ज्ञातता प्राकट्यम्, एतच्च भाट्टाभिप्रायेण। **अतीतादाविति**। फलजननसमयेऽतीतादेरविद्यमानत्वादेव फलाधारत्वानुपपत्तेः, अत एव तज्जनकत्वं ज्ञानस्य न संभवति, अतस्तत्राव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः। दूषणान्तरमाह—**तत्रैव फलजनन इति**। अयमर्थः—यत्फलं प्रत्याधारत्वं विषयस्योच्यते, तत्फलं तत्रैव नान्यत्र जनयति विज्ञानमित्यत्रापि किञ्चिन्नियामकमस्ति ? न वा ? यदि नास्ति, तर्हि नियतकार्यायोगः। यदाह—

'भवेत्सर्वत्र सत्ता चानियमेऽन्यानपेक्षया।
नियामकाद्धि भावानां क्वाचित्कत्वस्य सभवः ॥' इति।

असति ज्ञानज्ञेययोः संबन्धे नियमायोगाच्च। द्वितीये दूषणमाह—**तद्योगे वेति**। यदि यत्किञ्चिन्नियामकं स्वभावोऽन्यद्वा समाश्रीयते तर्हि तदेव विषयत्वनियामकमस्तु कृतं तदुपजीविना प्राक्तनेनेत्यर्थः। तदुक्तं कुसुमाञ्जलौ—

'स्वभावनियमाभावादुपकारोऽपि दुर्घटः।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥' इति।

न द्वितीय इति। कोऽयं व्यवहारोऽभिमतः ? किं कराकर्षणादिः ? उतेच्छादिः ? आद्यं प्रत्याह—**कराकर्षणा-**

'यह पर्वत अग्निमान् है'—यहाँ भी अग्निमत्त्व का संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ही हो जायगा। फिर तो प्रत्यक्षपक्षक अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा।

ज्ञान और ज्ञेय का विषयविषयिभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसका निरूपण ही सम्भव नहीं :—'ज्ञात्-जन्य फलाधारत्व' विषयत्व एवं विषय-निष्ठ ज्ञान-जनकत्व ही विषयित्व है—यह युक्त नहीं; क्योंकि यहाँ पर जिज्ञासा होती है कि ज्ञान-जन्य फल क्या है ? ज्ञातता ? या व्यवहार ? ज्ञातता को फल मानने पर अतीतादि पदार्थों में विषयत्व का अभाव हो जायगा। [अर्थात् जहाँ अतीतविषयक ज्ञान वर्तमान में हो रहा है, वहाँ इस ज्ञान की विषयता अतीतादि पदार्थों में तभी होगी, जब इस ज्ञान से जन्य ज्ञातता रूप फल की आधारता उनमें हो। किन्तु जो पदार्थ विद्यमान ही नहीं, वह किसी फल का आधार कैसे होगा ? अतः अतीतादि में ज्ञान-जन्य ज्ञाततारूप फल की आधारता न होने से विषयत्व नहीं बन सकेगा]। दूसरी बात यह भी है कि कोई ज्ञान अपना ज्ञाततारूप फल उसी विषय पर पैदा करेगा—इसमें कोई नियामक भी नहीं। यदि नियामक मानें, तो विषयता का भी नियामक हो जायगा; (ज्ञान-जन्य फल की कल्पना व्यर्थ है)। द्वितीय

---

१. द्र० खण्डन० चतुर्थपरिच्छेदे पृ० ११२४।

तद्व्यवहारविषयस्य तज्ज्ञानविषयतापत्तेः। नापीच्छादिः; आत्मन एव तदाधारतया तदन्यस्याविषयत्वप्रसङ्गात्। अथ ज्ञानप्रतिबद्धहानादिलक्षणज्ञानगोचरत्वं तद्योग्यत्वं वा विषयत्वम्, न; ज्ञानगोचरत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। हानादिज्ञानानां च हानादिज्ञानान्तराजनकतया निर्विषयत्वप्रसङ्गात्, जनकत्वे वा हानादिज्ञानानुपरमाद्विषयान्तरसंचाराभावः सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयाताम्। व्यवहारयोग्यत्वं विषयत्वमित्यङ्गीकारे च योग्यतायां योग्यतान्तराभ्युपगमेऽनवस्था, तदनभ्युपगमे योग्यताया विषयत्वाभावः।

देरिति। आदिशब्देन भक्षणादि विवक्षितं, तस्य च विभौ स्पर्शरहिते चात्मादावसंभवादव्याप्तिरित्यर्थः। अतिव्याप्तिं चाह—**कलधौतेति**। कलधौतं रजतं, रजतमलस्यापि नान्तरीयकतया रजतज्ञानप्रयुक्तादानादिभाक्त्वमस्तीति तदपि रजतज्ञानविषयः स्यादित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**नापीति**। इच्छाधारः आत्मैवेति अनात्मवर्गे लक्षणमव्यापकमित्यर्थः। नचेच्छादिविषयत्वं, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। विषयत्वस्य लक्षणान्तरं शङ्कते—**अथ ज्ञानेति**। घट इति ज्ञानाद्यद्धानादिज्ञानं जायते तत्प्रति विषयत्वं हानादियोग्यत्वमेव वा यत्तत्पूर्वज्ञानं प्रति विषयत्वमित्यर्थः। एतेनातीतादि संगृहीतं, तदेतदात्माश्रयेण दूषयति—**न। ज्ञानगोचरत्वस्यैवेति**। किंच हानादिज्ञानानां हानादिज्ञानान्तरजनकत्वमस्ति ? न वा ? यदि नास्ति; तदा हानादिज्ञानानां निर्विषयत्वप्रसङ्गः। अस्ति च तदतोऽव्याप्तिरित्याह—**हानादिज्ञानानामिति**। प्रथमं दूषयति—**जनकत्वे वेति**। ज्ञानान्तरजनकत्वेन तज्ज्ञानानामपि सविषयत्वसिद्ध्यर्थं ज्ञानान्तरजनकत्वे घटादिज्ञानानुत्पादः सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयातामित्यर्थः। द्वितीये दूषणमाह—**व्यवहारयोग्यत्वमिति**। उपलक्षणं चैतत्प्रथमपक्षस्यापि। तेन हानादिज्ञानगोचरत्वेपि गोचरत्वान्तरमस्ति ? न वा ? यद्यस्ति; तदानवस्था। अथ नास्ति; तर्हि तस्या निर्विषयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम्।

(व्यवहार) पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि (यहाँ कैसा व्यवहार विवक्षित है ? आकर्षणादि ? अथवा इच्छादि ?) आकर्षणादि व्यवहार आत्मादि विभु पदार्थों में है नहीं (अतः वहाँ विषयता कैसे बनेगी ?) 'रजत' हिलाने-चलाने से रजत-गत मल में भी हल-चल अनिवार्य रूप से होती है, इस प्रकार रजत-ज्ञान-जन्य आकर्षणादि व्यवहार का आश्रय रजत-गत मल भी हैं, अतः उसमें भी रजत-ज्ञान की विषयता प्राप्त होगी। इच्छादि व्यवहार भी नहीं ले सकते; क्योंकि इच्छारूप व्यवहार का आधार तो केवल आत्मा है, उससे भिन्न पदार्थों में विषयता की उपपत्ति न हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि विषय-ज्ञान से जन्य त्यागादि-ज्ञान की विषयता अथवा त्यागादि-ज्ञान की योग्यता ही प्रथम ज्ञान का विषयत्व है। [स्पष्टार्थ यह है कि जिस ज्ञान से जन्य हानादि-ज्ञान का जो विषय होता है, वही उस प्रथम ज्ञान का भी विषय होता है]। तो यह कहना भी युक्त न होगा; क्योंकि ज्ञान-विषयता ही निरूपणीय है [अर्थात् हानादि-ज्ञान की विषयता का निर्णय होने पर प्रथम ज्ञान की विषयता का निश्चय होगा। इस प्रकार ज्ञान-विषयता के निरूपण में ज्ञान-विषयता की अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय दोष होता है]। एक और जिज्ञासा वहाँ होती है कि हानादि-ज्ञान अपनी विषयता बनाने के लिए दूसरे हानादि-ज्ञानों के जनक (है ? कि नहीं ?) यदि नहीं; तब तो हानादि-ज्ञानों की विषयता कहीं नहीं, अतः वे निर्विषयक हो जायँगे। यदि हानादि-ज्ञानों को उत्पन्न करते हैं, तब (द्वितीय हानादि-ज्ञान अपनी विषयता के लिए तृतीय हानादि-ज्ञान को, तृतीय चतुर्थ को, इस प्रकार) किसी एक विषय के हानादि-ज्ञानों की ही धारा चलती रहेगी, न तो विषयान्तर के ज्ञान को अवसर मिलेगा और न कभी सुषुप्ति ही बन सकेगी। हानादि व्यवहार योग्यत्व ही विषयत्व है—यह मानने पर उक्त व्यवहार-योग्यता में (दूसरी योग्यता है ? या नहीं ?) यदि दूसरी योग्यता है, तब अनवस्था और यदि नहीं है, तब योग्यता में विषयत्वाभाव प्राप्त होगा।

अलमिह लक्षणान्तरगवेषणापरिश्रमेण यस्यां संविदि योऽर्थोऽभासते स तद्विषय इति लक्षणनिरुक्त्युपपत्तेरिति चेत्, मैवं; विकल्पासहत्वात्। संविदीति सप्तम्या किमधिकरणं विवक्ष्यते ? अथ विषयः ? किं वा संबन्धिमात्रं ? सति सप्तमी वा ? नाद्यः ; घटादिद्रव्याणां बाह्यानामान्तरसंविल्लक्षणगुणाधिकरणतानुपपत्तेः। न द्वितीयः; तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, संविदो विषयत्वं घटादीनां च विषयित्वमिति वैपरीत्यापत्तेश्च। न तृतीयः; संविज्जनकतया तत्संबन्धिनो नयनादृष्टादेरपि तद्विषयत्वप्रसङ्गात्। संविदि भासत इति भासमानताया विशेषणत्वान्न नयनादावतिप्रसङ्ग इति चेत्, न ; भासमानताया एवाद्याप्यनिरूपितत्वात्। न चतुर्थः; भास-

शालिकनाथोक्तलक्षणमवतारयति—**अलमिह लक्षणान्तरेति**। यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते सोऽर्थस्तस्याः संविदो विषय इत्यर्थः। उक्तं च पञ्चिकाप्रकरणे—

'अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यस्य लक्षणम् ॥' इति (प्र० पं० नय० २३)

तदेतद्दूषयति—**मैवमिति**। **घटादिद्रव्याणां संविल्लक्षणगुणाधिकरणतानुपपत्तेरिति**। उपलक्षणं चैतद्गुणकर्मसामान्यविशेषाणामिदमनिष्टं न भवतीत्यत उक्तं—**बाह्यानामान्तरत्वेति**। ततश्च तेषु लक्षणस्याव्याप्तिरिति भावः। विषयसप्तमीपक्षं निराचष्टे—**न द्वितीय इति**। विषयत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वादात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः। किंच संविदीति सप्तम्या संविदो विषयत्वाभिधाने वैपरीत्यमपि स्यादित्याह—**संविद इति**। संबन्धिमात्रमिति तृतीयपक्षं निराचष्टे—**न तृतीय इति**। संविदीति कोऽर्थः, संवित्संबन्धीति, तथाच नयनाद्यपि तथेति घटज्ञानस्य नयनाद्यपि विषयः स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। नच तस्यापि विषयत्वादनतिव्याप्तिर्विशेषपरत्वात्। इतरथा वस्तुमात्राभिधानापातात्। ननु यद्यपि संबन्धिमात्रं सप्तम्या प्रतीयते तथापि भासत इति विशेषणात् भासमानतया संबन्धि विवक्षितम्। तथाचाप्रकाशमाननयनादिव्यावृत्तिरिति शङ्कते—**संविदीति**। भानविषयत्वं हि भासमानत्वं तथाचात्माश्रयत्वमिति परिहरति—**न। भासमानताया इति**। सतिसप्तमीपक्षं निराचष्टे—**न चतुर्थ इति**। अत्रापि संविदि सत्यां यद्भासते स

शालिकनाथ का कहना है कि लक्षणान्तर की खोज में श्रम करने की आवश्यकता क्या ? विषयताका लक्षण यह है—'जिस (संविदि =) ज्ञान में जो अर्थ अवभासित होता है, वही उस ज्ञान का विषय है।' किन्तु यह कहना सम्भव नहीं; क्योंकि 'संविदि'—यहाँ सप्तमी विभक्ति से क्या अधिकरण विवक्षित है ? अथवा विषय ? या सम्बन्धिमात्र ? या सतिसप्तमी है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि (उस पक्षमें 'संविदि' का अर्थ होगा—संविद्रूप अधिकरण में। किन्तु यह संभव नहीं; कारण कि) घटादि-पदार्थ तो द्रव्य तथा बाह्य हैं, किन्तु संवित् आन्तरिक है; तथा गुण है। अतः घटादि की अधिकरणता संवित् में नहीं बन सकती। द्वितीय (विषयता) पक्ष में आत्माश्रयता दोष है; क्योंकि विषयता ही निरूप्यमाण है। इस पक्ष में एक दूसरा दोष 'विपरीतरूपापत्ति' और होगा अर्थात् संवित् में विषयता और घटादि में विषयिता की प्राप्ति होगी [आशय यह है कि जैसे विषय-सप्तमी पक्ष में होता है 'मुक्तौ कामना' का अर्थ—'मुक्तिविषयिणी कामना', वैसे 'संविदि घट' का अर्थ होगा—'सविद्विषयक घट'। तब तो उलटा सम्बन्ध हो ही जायगा]। तृतीय (सम्बन्धिमात्र) पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि ज्ञान के जनक होने से नयनादि भी सम्बन्धी हैं, अतः घट-ज्ञान के नयनादि भी विषय होने लग जाँयगे। यदि कहा जाय कि 'संविदि भासते'—इस प्रकार भासमानता भी विषय का विशेषण है। [अर्थात् सप्तमी का अर्थ तो सम्बन्धिमात्र ही है किन्तु केवल सम्बन्धी विषय नहीं, अपितु भासमान सम्बन्धी को विषय मानेंगे। घट के सम्बन्धी होने पर भी नयनादि घट-ज्ञान में भासमान नहीं, अतः उनमें विषयतापत्ति न होगी]। तो ऐसा कहना संगत नहीं; क्योंकि भासमनता का ही तो अभी तक निरूपण नहीं हो सका है। (चतुर्थ सतिसप्तमी) पक्ष भी

मानत्वानिरुक्तेरेव ।

ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषय इति चेत्, न; ज्ञानतदाकारयोर्भेदाभावेन सर्वेषामपि ज्ञानहेतूनां तदाकारसमर्पकतया विषयत्वप्रसङ्गात्। दृश्यमानतया तदाकारसमर्पको विषय इति-चेत्, न; दृश्यमानताया एवाद्याप्यनिरूपणात्। न च ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्; अतीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेनाविषयत्वप्रसङ्गात्। संबन्धान्तरमन्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषणं स तद्विषयो, विशेष्यं च तेन विषयीति चेत्, न; मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र

विषय इति वक्तव्यम् । तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थः । नच ज्ञाने सति व्यवहारयोग्यत्वमेवार्थस्य भासमानत्वमिति वाच्यम्; योग्यतायां पूर्वोक्तदूषणापातात् ।

सौगताभिमतं लक्षणं शङ्कते— **ज्ञानेति** । घटज्ञानं पटज्ञानमिति योयं ज्ञानोकारस्तदर्पको यो हेतुः स विषय इत्यर्थः । तेन च नयनादिव्यावृत्तिः । उक्तं हि—

'भिन्नकाले कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥' इति

दूषयति—**नेति** । ननु यद्यपि नयनादीनां ज्ञानस्वभावभूताकारहेतुत्वमस्ति तथापि दृश्यमानतयाऽऽकारहेतुत्वं नास्ति तादृशं च लक्षणं विवक्षितमिति शङ्कते—**दृश्यमानतया इति** । लक्षणान्तरं दूषयति—**नचेति** । तत्र हेतुः—**अतीतादीति** । कर्म नाम कारकविशेषः । कारकं च कारणविशेषः । कारणं च कार्ये संभवति, तेन नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तद्विषयस्य च विषयविषयिभावं न व्याप्नोतीदं लक्षणम् । अतीतादेस्त्वविद्यमानत्वादेव नियतप्राक्क्षणसत्त्वलक्षणकारणत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । उपलक्षणं चैतदनुमानादेः, कर्मत्वं च तत्फलभाक्त्वं तच्च दूषितं पुरस्तात् । लक्षणान्तरं शङ्कते—**संवन्धान्तरमिति** । ज्ञानस्य विशेषणं विषय इत्युक्ते ज्ञानगतसत्तादिजातिष्वात्मनि चक्षुरादिषु च समवायकार्यकारणभावसंबन्धाभ्यां यथायथं ज्ञानं प्रति विशेषणेष्वतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं संबन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्तम् । यद्यपि घटतज्ज्ञानयोः कार्यकारणभावोऽस्ति तथापि स नेश्वरज्ञानेऽतीतादौ च संभवत्यनतिरिक्तश्चेत्यभिप्रायः । **विशेष्यं चेति** । तेन विशेषणेनेत्यर्थः । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**न** । **मत्समवेतमिति** । मत्समवेतमित्यत्र हि समवायो ज्ञानं प्रति

समीचीन नहीं; क्योंकि वहाँ भी भासमानत्व का निर्वचन कैसे होगा ?

बौद्धों का कहना है कि 'ज्ञान-गत आकार के समर्पक हेतु' को विषय कहा जाता है । किन्तु यह भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि ज्ञान तथा ज्ञान-गत आकार—दोनों का भेद न होने के कारण ज्ञान के सभी नयनादि हेतुओं में ज्ञान-गत आकार की समर्पकता रहने से विषयता प्राप्त होगी । यदि कहा जाय कि दृश्यमान होकर जो आकार समर्पक हो, उसे विषय कहते हैं; तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि दृश्यमानता का ही तो अभी तक निरूपण नहीं हो सका है । 'ज्ञान-कर्मत्व ही विषयत्व है'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अतीतादि-विषयक ज्ञान तथा ईश्वर-ज्ञान, कर्म कारक से जन्य नहीं, अतः निर्विषयक हो जायँगे । [आशय यह है कि कर्म नाम है—एक कारक विशेष का और कारक होता है कारण विशेष । यह लक्षण उसी विषय पर जायगा, जो कि अपने ज्ञान का कारण हो । किन्तु अतीतादि विषय अपने ज्ञान के अव्यवहित पूर्ववृत्ति न होने से कारण नहीं, अतः उनमें लक्षण की अव्याप्ति है; एवं ईश्वर-ज्ञान नित्य होने से कोई विषय उसका जनक नहीं, अतः ईश्वर-ज्ञान के विषय में भी लक्षण अव्याप्त है ।] ।

'सम्बन्धान्तर के विना ही जो पदार्थ, जिस ज्ञान का विशेषण है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय और विशेष्य (ज्ञान) उसका विषयी है'—यह लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि उसका "मत्समवेतं रूपज्ञानम्" (मुझमें समवेत रूपज्ञान)—यहाँ समवाय में व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है । कारण कि—किसी अन्य सम्बन्ध के बिना ही मत्समवाय और रूपज्ञान का विशेषण—विशेष्य-

व्यभिचारात्। संबन्धान्तरमन्तरेणैव मत्समवायस्य रूपज्ञानस्य च विशेषणविशेष्यभावेऽपि मत्समवायरूपज्ञानयोर्विषयविषयित्वाभावात्, तत्र समवायस्यानुव्यवसायज्ञानविषयत्वेऽपि रूपज्ञानाविषयत्वात्। तदेवं विषयविषयिभावानिरूपणात्, आत्मन्यध्यस्ततया चासिद्धौ, प्रपञ्चस्य सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तिर्बाधिकेति स्थितम्। न च भेदस्य मिथ्यात्वे शब्दान्तरादेः कर्मभेदप्रतिपादकस्याप्रामाण्यप्रसङ्ग; घटपटादेरिव व्यावहारिकस्यैव भेदमात्रस्य कर्मगोचरस्य तत्र तत्र शब्दान्तरादिभिः प्रतिपाद्यमानत्वात्तद्गतबाधायोग्यतालक्षणस्य सत्यत्वस्य प्रतिपादने तेषामौदासीन्यात्। तदेवं निरस्तसमस्तप्रत्यनीकमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानमिति सिद्धम्।

नन्वस्यानुमानस्य मिथ्यात्वं किमनुमानान्तरेण सिद्ध्यति ? किं वा स्वेनैव ? आद्येऽन-

---

विशेषणं, नचानयोः संयोगसमवायादिसंबन्धान्तरमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अस्यैव प्रपञ्चः संबन्धान्तरमित्यादिः। ननु मत्समवेतं ज्ञानमित्यस्यानुव्यवसायस्य समवायस्य च विषयविषयिभावाल्लक्ष्यमेव समवायः, तत्र च तल्लक्षणगमनमनुगुणमेवेत्यत आह—**तत्र समवायस्येति**। अनुव्यवसायं प्रति विषयत्वेऽपि यत्प्रति विशेषणं, तत्प्रति विषयत्वमित्यर्थः। एवं नास्ति घटज्ञानमित्यादावभावस्यापि घटज्ञानादिविषयत्वप्रसङ्गः। प्रतिपादितं बाधकतर्कमुपसंहरति—**तदेवमिति**। यत्तु शब्दान्तराद्यप्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यादिना मिथ्यात्वे बाधकमुक्तं तदपि भेद्यकर्मसमानस्वभावव्यावहारिकमेव सन्तं भेदं प्रतिपादयति, नतु ब्रह्मवत्पारमार्थिकमित्यन्यथाप्युपपन्नमित्याह—**नच भेदस्येति**। निरूपितमनुमानमुपसंहरति—**तदेवमिति**। तथा विमतः संसर्गः[१] एतद्द्वैतत्संसर्गान्यतरान्याबाध्यान्यः प्रमेयत्वादित्यादयोऽप्यत्र महाविद्या द्रष्टव्याः।

यद्यपीदमनुमानं घटादिमिथ्यात्वं साधयति तथापि न स्वस्य तत्साधयितुमलम्, आत्माश्रयात्। नाप्यन्येन, अनवस्थापातात्। तथाच नाद्वैतसिद्धिः। धर्मित्वादीनां च कियतां हेतूनामस्मिन्ननुमानेऽनैकान्तिकत्वमित्यभिप्रेत्य प्रत्यवतिष्ठते—**नन्वस्यानुमानस्येत्यादिना**। शङ्कते—**जिज्ञासायामिति**। यदि

भाव है; किन्तु मत्समवाय और रूपज्ञान में विषय-विषयिभाव है नहीं, (अतः अलक्ष्य में लक्षण जाता है)। वहाँ समवाय यद्यपि अनुव्यवसाय ज्ञान का विषय है, परन्तु रूपज्ञान का विषय नहीं। इस प्रकार विषय-विषयिभाव का निरूपण हो नहीं सकता। आत्मा में अध्यस्त रूप से प्रपञ्च की सिद्धि प्रपञ्च-सत्यत्ववादियों के मत में है नहीं। फिर तो प्रपञ्च की सत्यता में, प्रपञ्चमें दृश्यत्व की अनुपपत्ति प्रबल वाधक तर्क है—यही स्थिर रहा। यह जो शंका की थी कि भेद के मिथ्या होने पर कर्म-भेद-प्रतिपादक शब्दान्तरादि प्रमाणों में अप्रामाण्य आ जायगा; वह शंका ठीक नहीं; क्योंकि घट-पटादि के समान कार्यों के व्यावहारिक भेद का ही तन्त्र-तन्त्र शब्दान्तरादि के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। कर्मों में सर्वथा अबाध्य (पारमार्थिक) भेद का निरूपण शब्दान्तरादि नहीं करते, अपितु उस अंश में उदासीन है। अतः समस्त विरोधों से रहित उक्त अनुमान प्रपञ्च मिथ्यात्व में प्रमाण है—यह सिद्ध हो गया।

शंका—उक्त अनुमान में मिथ्यात्व क्या दूसरे अनुमान से सिद्ध होता है ? या उसी से ? प्रथम पक्ष में तो अनवस्था होती है, क्योंकि पूर्व-पूर्व अनुमानों में मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए उत्तर-उत्तर अनुमानों की अपेक्षा होगी। यदि सन्देह हो कि 'जिज्ञासा होने पर उत्तर-उत्तर अनुमान

---

१. विमतः संसर्गः एतद्द्वैतत्संसर्गान्यतरत्वविशिष्टस्यान्याबाध्यत्वस्याभाववान् प्रमेयत्वात्पटसंसर्गवदिति स्पष्टमनुमानम्। अन्याबाध्यत्वाभावाप्रसिद्धावपि तद्विशेषणमेतद्द्वैतत्संसर्गान्यतरत्वं नास्तीति विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावस्तत्रप्रसिद्ध्यति। पक्षे च विशेषणस्यैतद्द्वैतत्संसर्गान्यतरत्वस्य विद्यमानत्वात्स; विशिष्टाभावः पक्षधर्मताबलात् सिद्ध्यन् न विशेषणाभावप्रयुक्तोऽपितु विशेष्याभावप्रयुक्त एव मन्तव्यः। एवं च पक्षेऽन्याबाध्यत्वाभावात्मकस्यान्यबाध्यत्वस्य सिद्धिरितिसिद्धमभिलषितं मिथ्यात्वमिति संक्षेपः।

वस्था—तस्य तस्यानुमानस्य मिथ्यात्वसाधनेऽनुमानान्तरापेक्षणात् । जिज्ञासायां सत्यां तत्तदनुमानप्रवृत्तेर्नानवस्था मूलक्षयकरीति चेत्, न; यद्यदुक्तसाधनं तत्तदुक्तसाध्यमिति व्याप्तिग्रहणसमये तस्य तस्यानुमानस्य मिथ्यात्वानधिगमे सर्वोपसंहारवती व्याप्तिर्न सिद्धयेत्। अधिगमे च तदधिगमाय तत्तदनुमानान्तरं तदैवापेक्षणीयमिति कथय कथं न मूलक्षतिः ? द्वितीये तु स्वात्मनि वृत्तिविरोधः, स्वगतमिथ्यात्वस्य स्वेनैव ग्रहणादिति चेत्, मैवम्; शब्दशब्दवत्प्रपञ्चसत्यत्वानुमानवदध्ययनविधिवच्चाविरोधात् ।

ननु नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनम्; तस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वात् । तथाहि—अध्ययनविधिर्न स्वविषयाध्ययनस्यानुष्ठापनक्षमः; निर्नियोज्यत्वात् । नह्यत्र कामी जीवनादिनिमित्त-

---

हि प्रथमानुमानसमसमय एवानन्तानुमानस्फुरणापत्तिः स्यात्तदानुपलब्धिपराहततया मूलक्षयकरी, नात्र तदस्तीत्यर्थः । दूषयति—यद्यदुक्तसाधनमित्यादिना । तत्तदनुमानजातस्य मिथ्यात्वेन साध्यवद्व्यक्तित्वात् व्याप्तिग्रहणकाले सर्वेषामेव स्फुरणापत्त्या मूलक्षतेरित्यर्थः । स्वेनैव स्वमिथ्यात्वसाधने दूषणमाह—द्वितीये त्विति । तमिममाक्षेपं परिहरति—मैवम् । शब्दशब्दवदित्यादिना । यथाहि—शब्दशब्दः शब्दत्वाक्रान्तं शब्दजातं विषयीकुर्वन्स्वमपि विषयीकरोति, यथा वा सर्वप्रपञ्चसत्यत्वानुमानं स्वात्मन्यपि सत्यतां साधयतीति भवद्भिरभिमन्यते, यथा वा 'स्वाध्यायोऽध्येऽतव्य' इत्यध्ययनविधिः स्वाध्यायशब्दवाच्यसमस्तवेदराशेरध्ययनं विदधानस्तदन्तर्वर्तिनः स्वात्मनोऽपि विधत्ते तेषु यः परिहारोद्धारभेदादिः सोऽत्रापि समान इत्यर्थः ।

अध्ययनविधेर्विधायकत्वमुक्तममृष्यमाणः प्राभाकरः प्राह—ननु नाध्ययनेति । नन्वविहितस्य कथमनुष्ठानमित्यत आह—तस्येति । ननु श्रूयमाणे विधौ कथमेतत्प्रयुक्तत्वं तत्राह—तथाहीति । स्वविषयरूपमध्ययनं स्वविषयाध्ययनम् । ननु यद्यप्यत्र स्वर्गादिवत्काम्यं, नित्यं वा जीवनादिवत्किंचिन्निमित्तं न

की प्रवृत्ति होगी; बिना जिज्ञासा के प्रथम अनुमान के समय उत्तर-उत्तर अनन्त अनुमानों की अपेक्षा नहीं, कि अनवस्था मूल-क्षयकरी हो । तो वह सन्देह उचित नहीं; क्योंकि—'जो-जो उक्त साधनवाला है, वह-वह उक्त साध्यवाला है'—इस प्रकार की व्याप्ति के ग्रहण-समय तत्तत् अनुमान में मिथ्यात्व का निश्चय न होने पर सर्वव्यक्तियों में घटने वाली व्याप्ति सिद्ध न होगी । यदि उक्त व्याप्ति-ग्रहण समय सभी अनुमानों में मिथ्यात्व निश्चित है, तब तो मिथ्यात्व के लिए अनुमानान्तर वहीं समाप्त हो गये—अतः कहिए मूल-क्षति क्यों नहीं ? द्वितीय (अनुमान में मिथ्यात्व उसी अनुमान से ही सिद्ध होता है) पक्ष मानने पर स्व में स्व-वृत्तिता रूप विरोध उपस्थित होता है; क्योंकि स्व-गत मिथ्यात्व का ग्रहण स्व से होता है ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं क्योंकि जैसे 'शब्द'—यह पद सभी घट, पटादि शब्दों को विषय करता हुआ अपने को भी विषय करता है; समस्त प्रपञ्च-गत सत्यत्व का अनुमान अपने में भी सत्यत्व सिद्ध करता है; "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (अपनी शाखा का अध्ययन करना चाहिए—तै० आ० २।१५)—यह अध्ययन-विधि समस्त वेदराशि के अध्ययन का विधान करती हुई अपने अध्ययन का भी विधान करती है । ठीक वैसे ही सर्वप्रपञ्च गत मिथ्यात्व का अनुमान अपने में भी मिथ्यात्व सिद्ध कर लेगा; किसी प्रकार का विरोध नहीं ।

शङ्का—प्रभाकर का कहना है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस अध्ययन-विधि के द्वारा अध्ययन का विधान नहीं होता; अपितु अध्यापन-विधि के द्वारा । उक्त अध्ययन-विधि में यह सामर्थ्य ही नहीं कि वह स्वविषय रूप अध्ययन में प्रवृत्त कर सके; क्योंकि उसमें किसी नियोज्य (अधिकारी) का उल्लेख नहीं । न तो वहाँ (स्वर्गकामो यजेत के समान) कोई कामनावाला या

वान्यः कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयते। नापि विश्वजिदादिवत्कल्पयितुं शक्यः, अध्यापनविधिप्रयुक्तित एव तद्विषयस्याध्ययनस्य सिद्धौ नियोगसिद्धेः कल्पकाभावात्। नचाध्यापनविधेरपि निर्नियोज्यतयाननुष्ठापकत्वम्, आचार्यकरणकामस्य नियोज्यस्य प्रतीतेः। तथा हि—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीते'ति श्रूयते। तत्र 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणे'ति सूत्रेणा-

---

श्रूयते, तथापि यथा 'विश्वजिता यजेत,' 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ती'त्यत्र वाऽश्रूयमाणोऽपिस्वर्गकाम्यधिकारी कल्पितः। तथा हि 'विश्वजिता यजेते' त्यत्राश्रूयमाणोऽधिकारी कल्प्य ? उत न ? इति संदेहे द्वारमित्यत्र क्रियान्वयं विना कारकाणामिव विषयेण पर्यवसितान्विताभिधानस्य कार्यस्याधिकारिणा विनानुपपत्त्यभावात् अनध्याहार इति प्रापय्य राद्धान्तितम्। कर्तृव्यापारकृतेः कर्त्रा विनानुपपत्तेस्तन्निरूप्यकार्यस्याप्यनुपपत्तिरिति सोऽध्याहर्तव्यः। स चासंबद्धकार्यसंबन्धो न संबद्धयत इति स्वसंबन्धित्वेन कार्यंबोद्धा नियोज्यो भवति। तत्रापि सर्वकल्पनायां नैरर्थक्यात् यस्य कस्यचित्कल्पनायां विनिगमनाभावात्सर्वाभिलषितस्वर्गकामोऽधिकारी कल्पितः 'चोदनायां फलाश्रुते'रित्युपक्रम्याधिकरणत्रयेण, 'सः स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वा'दित्यन्तेन। एवं पिण्डपितृयज्ञेऽमावास्यायामिति कालपर ? उत कर्मपर ? इति संशय्य कर्मपरत्वात्तदङ्गत्वमिति पूर्वपक्षय्य कर्मपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गात् कालपरत्वमादाय स्वतन्त्राधिकारत्वेन स्वर्गकामाधिकार्यध्याहृतः—'पिण्डपितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्या'दित्यत्र, तद्वदत्र किं न स्यादित्यत आह—**नापि विश्वजिदादिवदिति**। ननु 'तमध्यापयीते' त्यत्रापि न कश्चिन्नियोज्यः प्रतीयतेऽतो निर्नियोज्यत्वमुभयोः समानमिति कथमेतत्प्रयुक्तविषयत्वमितरस्य, तत्राह—**न चाध्यापनेति**। हेतुमाह—**आचार्यकरणकामस्येति**। आत्मनो यदाचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादनं तत्कामस्येत्यर्थः। नन्वाचार्यकरणकाम इत्यपि न श्रूयते इति तत्राह—**तथा ह्यष्टवर्षमिति**। श्रूयतां नाम, तावतापि किमायातमाचार्यकरण इति तत्राह—**तत्र संमाननेति**। 'संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः'। अयमर्थः—यद्यपि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इति कर्तृगामिफलाभिधायिनो नयतेरात्मनेपदं सिद्धं तथाप्यकर्त्रभिप्रायार्थोयमारम्भः, संमाननादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु नयतेर्धातोरात्मनेपदं स्यात्। तत्र संमाननं पूजनं, यथा नयते चार्वी लोकायते, चार्वी बुद्धिमानाचार्यो लोकायते मते शिष्यान्नयते। ते हि सद्युक्तिभिराचार्येण प्रतिष्ठापितबुद्धयः सन्तः पूजिता भविष्यन्ति इत्यात्मनेपदार्थः। उत्सञ्जनमुत्क्षेपणं, यथा माणवक-

---

("यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" के समान) जीवनादि निमित्तवाला व्यक्ति अधिकारी श्रुत है और न (विश्वजिता यजेत् के समान) कल्प्य ही है; क्योंकि अध्यापन-विधि के बलसे ही अध्ययन-विधि के विषयभूत अध्ययन की सिद्धि हो जाती है। फिर तो वहाँ नियोग का कोई कल्पक नहीं। 'अध्यापन-विधि में भी कोई नियोज्य न होने से अध्यापन-विधि भी अनुष्ठापक नहीं होगी'—यह सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि 'आचार्यत्व-कामनावान्' वहाँ नियोज्य श्रुत है—श्रुति कहती है कि 'अष्टवर्ष के ब्राह्मण-बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे वेदाध्ययन करावे'।

उस श्रुति में "सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः" (सम्पूजन, उत्क्षेपण, आचार्यत्व-सम्पादन, ज्ञान, भृति, विगणन और व्यय—इन अर्थों में 'णीञ्' धातु से आत्मनेपद होता है—पा० सू० १।३।३६)—इस सूत्र से 'आचार्य-करण' अर्थ में 'णीञ्' धातु से आत्मने पद

---

१. "चार्वी = बुद्धिस्तत्सम्बन्धादाचार्योऽपिचार्वीति" काशिकावृत्तिः। २—"ते युक्तिभिः स्थाप्यमाना सम्मानिताः पूजिता भवन्ति"—इति काशिकाविष्कृतार्थस्यच्छायायामस्यामपि 'भवन्ति' इत्येव भाव्यम्; यतोऽत्र शास्त्रस्थसिद्धान्तप्रापणमेव पूजनमभिमतम्। उक्तं हि न्यासे—"अभिलषितार्थसम्पादनमेव तेषां पूजा। अभिलषितार्थस्तु लोकायते शास्त्रे पदार्थानां सम्यगवबोध" इति। तादृशं पूजनं तु वर्तत एवाध्यापनसमये। अतएवात्र शाब्दिकाः—लोकायतमताधिकरणकशिष्यंकर्मकपूजनानुकूलप्राप्त्यनुकूल-

चार्यकरणे नयतेरात्मनेपदविधानात्, 'उपनयीत, तमध्यापयीते'ति चोपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतावगमात्, उपनयनपूर्वकाध्यापनसाध्याचार्यत्वप्रतीतौ तत्कामिनो नियोज्यत्वावगमात् न निर्नियोज्यताध्यापनविधेः। तथा च स्वविषयस्याध्यापनस्यानुष्ठानं प्रयुञ्जानोऽध्यापनविधिस्तन्निष्पादकमध्ययनमपि प्रयुंक्ते, तेन विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणेनान्यत एवाध्ययनसिद्धेर्नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति।

मुन्नयते उत्क्षिपतीत्यर्थः। आचार्यकरणमाचार्यत्वसंपादनं, यथामाणवकमुपनयते आत्मानमाचार्यीकर्तुं माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः। ज्ञानं प्रमेयनिश्चयः, यथा नयते चार्वी लोकायते तन्मते प्रमेयत्वं[1] निश्चिनोतीत्यर्थः। भृतिर्वेतना[2], यथा कर्मकरानुपनयते, भृतिदानेन समीपीकरोतीत्यर्थः। विगणनमृणादेर्निर्यातनं, यथा मद्राः करं विनयन्ते, करदानेन निवर्तयन्तीत्यर्थः। व्ययो धर्मादिषु विनियोगः, यथा शतं विनयते सहस्रं विनयते, धमार्थे विनियङ्क्ते इत्यर्थः। अथ कथमेतेष्वित्युक्तम्, अजां ग्रामं नयंतीत्यादिषु विनिवृत्तये इति। तस्मादुपनयीतेति श्रौतमेवाचार्यकरणमित्यर्थः। ननु भवतूपनयनस्याचार्यकरणं फलं तत्र श्रूयत इति, किमायातमध्यापनस्य सनियोज्यत्व इति तत्राह—**उपनयीत तमध्यापयीतेति चेति**। **एकप्रयोगतेति**। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत उपनीय च तमध्यापयीते'ति क्त्वाश्रुतेरेक[3]प्रयोगतावगम्यते वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेतेतिवदित्यर्थः। तथा चैकदेशस्यैवानुष्ठानात्फलासिद्धिरिति सोपनयनाध्यापनादाचार्यत्वसिद्धिरिति भावः। तथा च स्मृतिः—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं[4] सरहस्यं[5] च तमाचार्यं प्रचक्षते' ॥ इति। (मनु० २।१४०)

ननु भवतूपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतयाङ्गाङ्गिभावावगमादङ्गे श्रुतस्याङ्गिनि उपसंहारस्तस्य त्वनित्यस्याचार्यकरणस्य कथं नियोज्यविशेषणत्वं, नह्यत्र स्वर्गादिवत्कामिशिरस्कत्वं प्रतीयते इत्यत आह—**तत्कामिन इति**। रात्रिसत्र[6]न्यायेन फलत्वं विपरिणम्यते इति भावः। नन्वध्यापनविधिः स्वविषयमध्यापनं विहाय कथमध्ययनं प्रयुञ्जीतेत्याशङ्क्याह—**तथा च स्वविषयस्येति**। ननु विधिर्हि सर्वत्र स्वविषये तदङ्गे वा पुरुषमनुष्ठापयति, नचाध्यनस्याध्यापनाङ्गत्वे किंचन श्रुत्यादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति, नचोपकारमात्रादङ्गत्वं, गोदोहनधनार्जनादेरप्यङ्गत्वप्रसङ्गात्। नचैतद्युक्तम्, उक्तं हि 'यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वाद'ति तत्राह—**तेन विध्याक्षेपेति**। तार्तीयप्रमाणाभावेपि चातुर्थिकमस्ति प्रमाणमित्यर्थः।

का विधान किया गया है, एवं 'उपनयीत', 'तमध्यापयीत'—इस प्रकार उपनयन और अध्यापन की एकप्रयोगता प्रतीत होती है; अतः उक्त श्रुति से उपनयनपूर्वक अध्यापन से साध्य आचार्यत्व की प्रतीति होने से उस (आचार्यत्व) का इच्छुक अधिकारी निश्चित हो रहा है। अतः अध्यापन-विधि में अधिकारी का अभाव नहीं। इस प्रकार अध्यापन-विधि ही स्वविषय (अध्यापन) का अनुष्ठापक होती हुई अध्यापन के निष्पादक अध्ययन में भी प्रवर्तक है। फलतः अध्यापनान्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही अध्ययन में माणवक-प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है, "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह वाक्य न अध्ययन-विधि है और न इससे प्रयुक्त अध्ययन है।

वर्तमानकालीनकृत्याश्रय एकत्वावलीढश्चार्वीति प्राहुः। १. तत्र प्रमेयं निश्चिनोतीति काशिकानुरूपं 'प्रमेयम्'—इत्येव युज्यते। २. वेतनमिति पाठं मन्ये। ३. एकपुरुषकर्तृकानुष्ठानविषयता। ४. यज्ञविद्या। ५. उपनिषद्। वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्रधानविवक्षया पृथग्निर्देशः। ६. रात्रिसत्रे यथार्थवादिकस्य फलस्य विध्यन्यथानुपपत्त्याऽधिकारिविशेषणत्वेन प्रतिष्ठाकाम इत्येवं विपरिणम्य बोध्यते तथाऽध्यापनाङ्गे उपनयने श्रुतस्याचार्यत्वकरणलक्षणफलस्याचार्यत्वकाम इत्येवमधिकारिविशेषणत्वेन विपरिणामो बोध्यः।

अत्रोच्यते—भवतु नाम सनियोज्यताऽध्यापनविधेः, तथापि नाध्यापनविधिप्रयुक्तताऽध्ययनस्य सिद्धयेत्; कामाधिकारे करणांशे रागस्यैव प्रवर्तकत्वात्, अध्यापनस्यापि काम्यत्वात्, तद्विषयरागेणैव तन्निष्पादकेऽप्यध्ययनेऽनुष्ठानलाभात् अध्यापनविधेरनुष्ठापकत्वकल्पनानुपपत्तेः। नचाध्यापनाङ्गत्वादध्ययने विधितः प्रवृत्तिराशङ्कनीया ; तत्र श्रुत्यादीनामन्यतमप्रमाणस्यादर्शनात् । नचाध्यापनविधिप्रयुक्तत्वादध्ययनस्य तदङ्गत्वं ; प्रयुक्तेर्व्यभिचारात्। न हि 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति' इत्यादौ भेदनादिना प्रयुज्यमानो होमस्तदङ्गमङ्गीक्रियते। तत्प्रयुक्तेरध्ययनस्याद्याप्यसिद्धेः, अङ्गत्वेन प्रयुक्तिः प्रयुक्तौ च तदङ्गत्वमिति

समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यते इति। अत्र तावदध्यापनविधेरपि समानमेव निर्नियोज्यत्वमुपनयनस्याङ्गत्वेन तत्र श्रूयमाणस्यापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वादुपसंहारायोगादङ्गीकृत्यापि तावदुपादानमन्यथैवोपपत्त्या दूषयति—भवतु नामेति। हेतुमाह—कामाधिकार इति। अधिकारो नियोगः एष हि प्राभाकरराद्धान्तः। अन्यतोऽप्रवृत्तः खलु पुरुषः शास्त्रेण प्रवर्तनीयस्तथा च काम्यनियोगेषु फलवदेव करणांशेपि रागतः एव प्रवृत्तः, इतिकर्तव्यतासु तु शास्त्रेण प्रवृत्त इति। अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह—अध्यापनस्यापीति। ननु भवतु करणांशेऽध्यापने कामतः प्रवृत्तिस्तदङ्गेऽध्ययने किमिति विधिर्न प्रवर्तयति ज्योतिऽष्टोमाङ्गेष्विव दीक्षणीयादिसु, न च दृष्टार्थत्वादविधेयत्वं ; तत्तन्नियमोपेताध्ययनजन्यादृष्टस्यावघातादिष्विवान्यतोऽप्राप्तस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—न चाध्यापनेति। ननु श्रुत्यादिप्रमाणाभावेपि तत्प्रयुक्तत्वलक्षणोपादानप्रमाणात्तदङ्गत्वमुक्तमिति तत्राह—न चाध्यापनविधीति। भिन्ने जुहोतीत्यादौ भेदनादीनां निमित्तत्वेन नैमित्तिकहोमं प्रति प्रयोजकत्वमस्ति, अथ च नाङ्गित्वं; भेदनादीनां निमितत्वेनाननुष्ठेयतयाङ्गित्वानुपपत्तेः। अतः प्रयुक्तिर्व्यभिचारणीत्यर्थः। अङ्गीकृत्य प्रयुक्तिमेतदुक्तं सैव तु नास्तीत्याह—तत्प्रयुक्तेरिति। रागस्यैवोभयत्र प्रयोजकत्वादिति भावः। नन्वङ्गत्वात्प्रयुक्तिरित्यत आह—अङ्गत्वेन प्रयुक्तिरिति। किंच नोपादानात्मकं किंचिन्मानं; मेयानिरूपणात्। तस्माच्छ्रुत्यादिषट्केण विनियोगो, नचात्र ते, यत्तु प्रोक्षणादेः क्रत्वर्थत्वमुपादानलभ्यमिति तन्न; श्रुत्यैवापूर्वसाधनत्वे व्रीह्यादिगते विनियोगात्। तथापि कथमपूर्वार्थत्वम् ? उच्यते—व्रीहीणां तण्डुलपिष्टपुरोडाशयागप्रणालिकयाऽपूर्वसाधनत्वमस्ति तथाविधांश्चोद्दिश्य विधीयमानं सर्वस्य द्वारद्वारिभावव्यवस्थितस्याङ्गं भवतीति,

---

समाधान—यदि मान भी लें अध्यापन-विधि में सनियोज्यता; फिर भी अध्यापन-विधि से अध्ययन सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रभाकर का मत है कि काम्यकर्मों में तो राग ही प्रवर्तक माना जाता है; विधि वाक्य नहीं। अध्यापन भी काम्य है, अतः अध्यापन-विषयक राग से ही उसके निष्पादक अध्ययन के अनुष्ठान का लाभ हो जाता है, इसलिए अध्यापन-विधि में अनुष्ठापकत्व की कल्पना ही अनुपपन्न है। 'अध्यापन की अङ्गता होने के कारण अध्ययन में विधि से ही प्रवृत्ति होगी'—यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि अध्ययन अध्यापन का अङ्ग है—इसमें कोई भी प्रमाण नहीं। [भाव यह है अङ्गत्व-बोधक छह प्रमाण होते हैं—(१) श्रुति, (२) लिंग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण, (५) स्थान और (६) समाख्या। इनमें से उक्त स्थल पर कोई भी नहीं, अतः अध्ययन में अङ्गता का निर्णय कैसे होगा ?] अध्यापन-विधि से प्रयुक्त होने के कारण अध्ययन में अङ्गत्व हैं—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि (जहाँ-जहाँ जिसका प्रयुक्तत्व है, वहाँ-वहाँ उसका अङ्गत्व है—यह व्याप्ति यदि होती, तो अध्यापन-विधि-प्रयुक्त होने से अध्ययन में अध्यापन का अङ्गत्व मान लेते किन्तु) प्रयुक्तत्व व्यभिचरित है; क्योंकि "भिन्ने जुहोति", स्कन्ने जुहोति" (कपालों के टूट-फूट जाने पर होम करना चाहिए)—यहाँ कपाल-भेदन से प्रयुक्त होम तो है, परन्तु उसका अङ्ग नहीं माना जाता। दूसरी बात यह भी है कि अध्ययन में अध्यापन-विधि-प्रयुक्तत्व

परस्पराश्रयता च। किं चाध्ययनविधावधिकारिणमङ्गीकुर्वता नियोज्यः कस्मान्न स्वीक्रियते इति वाच्यम्? अनुष्ठानसिद्धये नियोज्योऽपेक्षितव्यः तच्चान्यत एव सिद्धमिति नासावङ्गीक्रियत इति चेत्; तर्हि अधिकार्यपि नापेक्षणीयः, अनुष्ठानस्यान्यत एव सिद्धेः। अधिकारी विधिपर्यवसानायापेक्ष्यत इति चेत्; नियोज्येपि तुल्यं, तेनापि विना नियोगापर्यवसानात्। अन्यतोपि विषयानुष्ठानसिद्ध्या च नियोगसिद्धौ का नाम विधेरपर्यवसानवाचोयुक्तिः? किं च तमध्यापयीतेति च नायमध्यापने विधिः; वृत्त्यर्थत्वेनाध्यापनस्य याजनवत्प्राप्तत्वात्। उक्तं हि—

'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने दै[illegible] विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः' ॥ इति। (मनु. १०।७६.)

पश्वेकत्वादीनामपि श्रुत्यैव विनियोगसिद्धिः, ज्योतिष्टोमादेश्च फलार्थत्वं वाक्यादिभिरिति। यच्च निर्नियोज्यत्वमध्ययनविधेरुक्तं तदपि दूषयति—**किं चाध्ययनविधाविति**। पूर्ववादी नियोज्यानङ्गीकारे कारणमाह—**अनुष्ठानसिद्धय इति**। दूषयति—**अधिकार्यपीति**। अनुष्ठानार्थमधिकार्यपेक्षा तच्चेदन्यतः सिद्धं किमर्थमधिकार्यपेक्ष्यत इत्यर्थः। शङ्कते—**अधिकारीति**। अयमभिसंधिः—यद्यपि कार्यमेव नियोगापरपर्यायं वाक्यार्थस्तथापि तदेवेष्टसाधनतानिबन्धनं यथाहुः—'फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यते'ति। तच्चेष्टसाधनत्वं कस्येति भोक्तारमधिकारिणमाकाङ्क्षमाणं न तावत्पर्यवस्यति यावन्नाधिकारिविशेषप्रतीतिरिति, तदेतन्नियोज्येपि तुल्यं नियोगस्यापि नियोज्यव्यतिरेकेणापर्यवसानादिति परिहरति—**नियोज्येपीति**। आपाद्यदूषणमिदम्, आधानादिनियोगेषु तैरनङ्गीकारात्। किं च विषयसिद्धिद्वारा स्वसिद्धिर्हि विधेः पर्यवसानं सा चेदन्यतोपि सिद्धा पर्यवसित एव विधिरित्यधिकार्यपेक्षापि निर्निबन्धनेत्याह—**अन्यतोपीति**। अध्यापनस्य विधेयत्वमङ्गीकृत्यैतदुक्तं तदेव नास्तीत्याह—**किं चेति**। तत्र किं वृत्त्यर्थं यदध्यापनं तदेव विधेयम्? उतालौकिकनियोगार्थः कश्चित्? नाद्य इत्याह—**वृत्त्यर्थत्वेनेति**। अध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहात्मकानां षण्णां कर्मणां मध्ये त्रीणि जाविका जीवनसाधनम्। तान्येवाह—**याजनेत्यादिना**। ननु यदि न विधानं कथं तर्हि उपनयीताध्यापयीतेति विधीयत इत्यत आह—

अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ। अङ्गत्व होने से प्रयुक्तत्व एवं प्रयुक्तत्व होने से अङ्गत्व—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयता भी है। यह भी प्रश्न उठता है कि अध्ययन-विधि में जब आप अधिकारी मान लेते हैं, तब नियोज्य क्यों नहीं मानते? (कारण कि अधिकारी ही तो नियोज्य होता है। नियोज्य का अर्थ यही तो है—कर्म-जन्य नियोग या अपूर्व पर जो अपना अधिकार समझता हो)। यदि कहा जाय कि अनुष्ठान-सिद्धि के लिए ही नियोज्य की अपेक्षा होती है, वह (अनुष्ठान) तो अन्यतः (अध्यापन-विधि से) ही सिद्ध हो जाता है, अतः नियोज्य मानने की आवश्यकता ही नहीं। तो यह कहना युक्त न होगा; क्योंकि तब तो अधिकारी भी अपेक्षणीय नहीं होगा, कारण कि अनुष्ठान की सिद्धि अन्यतः ही हो जाती है। यदि शङ्का हो कि अधिकारी नाम है भोक्ता का, बिना उसके विधि का स्वरूप ही नहीं बनता अतः अधिकारी की अपेक्षा है। तो यह शङ्का भी उचित नहीं, क्योंकि नियोज्य के विषय में भी वही कहा जा सकेगा कि उसके बिना भी नियोग की आकांक्षा पूर्ण नहीं होती। जबकि अध्ययन का अनुमान अन्य-विधिसे सिद्ध होने के कारण नियोग सिद्ध हो गया, तब बिना अधिकारी के विधि पर्यवसित नहीं—इसका क्या अर्थ?

और भी जिज्ञासा होती है कि "तमध्यापयीत"—इस वाक्य से जीविकार्थ लोक प्रसिद्ध अध्यापन का विधान मानते हैं? या किसी अलौकिक नियोगार्थ का? जीविकार्थ अध्यापन तो याजन के समान प्राप्त ही है—"अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह–इन छह कर्मों में अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह–ये तीन कर्म ब्राह्मण की जीविका हैं।" इस लिए जैसे "एतयाऽन्नाद्यकामं

'तस्माद्यथैतयाऽन्नाद्यकामं याजये'दित्यादिषु याजनं न विधीयते, किंतु एतयान्नाद्यकामो यजेतेति वाक्यार्थः। तथेहाप्य'ष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्सोधीयाते'ति वाक्यार्थः स्वीकार्यः। नचालौकिकनियोगार्थत्वेनाध्यापने विधिः; याजनेति तथाप्रसङ्गात्। अपि चाध्ययनं नित्यं—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥'

इत्यादिनाऽकरणे प्रत्यवायस्मरणात्। अध्यापनं चानित्यं; काम्यत्वात्। तथाच कथं नित्यमनित्येन प्रयुज्येत, विरोधात्। तस्मादध्ययनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमिति न दृष्टान्तासिद्धिः। अस्तु वाध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनं तथाप्यध्यापनविधिरखिलवेदवाक्याध्यापनं विदधानः स्ववाक्याध्यापनमपि विधत्त इति स एव दृष्टान्तो भविष्यतीत्यलमतिविस्तरेण।

तथैकमेवाद्वितीयमित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम्। नचाद्वितीयशब्दस्तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरः; संकोचे कारणाभावात्, एकत्वविशेषणेनैव सजातीयस्य निषिद्धत्वात्, सजा-

---

तस्माद्यथैतयेति एतयाऽवेष्ट्या, यथाहि न तावद्यथाश्रुति याजनं विधातुं शक्यं वृत्त्यर्थत्वेन तत्र स्वत एव प्रवृत्तत्वादतोऽप्राप्तप्रयोज्यरूपसाक्षात्कर्तृव्यापारयागपरो विधिस्तथेहाप्यन्यतोऽप्राप्तप्रयोज्यमाणवकव्यापारानुपगमनाध्ययने विधीयेते इत्यर्थः। न द्वितीय इत्याह—**नचालौकिकेति**। सिंहावलोकितेन अध्यापनविधेयत्वपक्ष एव दूषणान्तरमाह—**अपिचाध्ययनमिति**। सान्वयः सद्वंशः। **विरोधादिति**। काम्यं हि कामनाधीनं कामना हि कादाचित्की उपायान्तरादपि तत्फलप्राप्तौ यदा स्वविषयं नानुष्ठापयति तदा नित्यमध्ययनं कथं प्रयुञ्जीत; अविद्यमानस्याप्रयोजकत्वात्। अथ स्वयमपि यावत्प्रयोज्यं विद्यमानं तदा काम्यत्वविरोध इति। अलं वा गुरुभिर्विवादेन। भवत्वध्ययनमध्यापनविधिप्रयुक्तं तथापि स एवाध्यापनविधिर्दृष्टान्त इत्याह—**अस्तु वेति**।

तदेवमनुमानं प्रपञ्चमिथ्यात्वे प्रमाणमभिहितम्। अथागममपि प्रमाणयति—**तथैकमेवेति**। पूर्वपक्षोक्तदूषणमनूद्य दूषयति—**नचेति**। **संकोच इति**। अद्वितीयमित्यत्र द्वितीयमात्रवाचिनो द्वितीय-

---

याजयेत्" (इस इष्टिका यजन अन्न-भक्षण की कामना-वाले से कराये)—यहाँ याजन का विधान नहीं किन्तु 'इस इष्टि से अन्नाद्य-कामनावान् यजन करे'—यही वाक्यार्थ माना जाता है। वैसे ही यहाँ भी 'अष्टवर्ष का ब्राह्मण आचार्य के समीप पहुँचे और अध्ययन करे'—यही वाक्यार्थ मानना होगा। अलौकिक नियोगार्थत्व रूपसे भी अध्यापन में विधि नहीं मान सकते; नहीं तो याजन में भी विधि माननी पड़ जायगी। एक और भी बात याद आती है कि अध्ययन नित्य कर्म है; क्योंकि जो द्विज वेदों का अध्ययन न करके अन्यत्र श्रम करता है, वह जीवन काल में ही तुरन्त शुद्र हो जाता है (मनु० २।१६८)'—इस प्रकार स्मृति ने प्रत्यवाय बताया है और अध्यापन है अनित्य कर्म; क्योंकि वहाँ कामना श्रुत है। फिर तो नित्य कर्म अनित्य कर्म से कैसे प्रयुक्त होगा? क्योंकि दोनों का विरोध है। अतः यही सिद्ध हुआ कि अध्ययन-विधि से ही अध्ययन विहित है, उक्त दृष्टान्त (जैसे अध्ययन-विधि स्वयं अपने को विषय करती है, वैसे मिथ्यात्व अनुमान भी अपने में मिथ्यात्व सिद्ध कर देगा) असिद्ध नहीं; अस्तु, मान भी लें कि अध्यापन-विधि से ही अध्ययन प्रयुक्त है। तथापि अध्यापन-विधि जैसे निखिल वेद-वाक्यों के अध्यापन का विधान करती हुई अपने अध्यापन का भी विधान करती है; वैसे ही हमारा मिथ्यात्वानुमान अपने में मिथ्यात्व सिद्ध करता है—इस प्रकार दृष्टान्त बन जायगा।

उसी प्रकार "एकमेवाद्वितीयम्"—इत्यादि श्रुतियाँ भी प्रपञ्च-मिथ्यात्व में प्रमाण हैं। 'अद्वितीय शब्द केवल सजातीय द्वितीय का ही निषेध करता है'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि 'द्वितीय' शब्द केवल सजातीय द्वितीय अर्थ में संकुचित क्यों होगा? दूसरी बात यह भी है कि सजातीय

तीयमात्रनिषेधपरत्वे चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानस्य वाचारम्भणशब्दस्य चैतदात्म्यमिदं सर्वमित्याद्युपसंहारस्य च बाधप्रसङ्गात्। नचैकमित्येकत्वसंख्याविधानपरं तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरिति वाच्यम्; एकं रूपमेका संख्या एकोऽभाव इत्यादावपि प्रयोगात्। आनन्त्यमप्युभयान्ताभाव एव, तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरित्यपि न; पूर्वापरकालानवच्छेदस्यैवेहानन्तपदेन विवक्षायां नित्यमाकाशमनन्तं चेति प्रयोगानुपपत्तिप्रसङ्गात्। न चान्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणे व्युत्पत्त्यभावो दोषः; अन्तशब्दस्य देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्ने व्युत्पन्नत्वात्तस्य नञ्समासे त्रिविधस्याप्यन्तस्य निषेधकतोपपत्तौ पृथग्व्युत्पत्त्यनपेक्षत्वात्। "नेह नानास्ति

शब्दस्य द्वितीयविशेषे तन्निष्ठनिषेधकनञस्तद्विशेषनिषेधे वा संकोचे प्रमाणाभावादित्यर्थः। अन्यतः सिद्धत्वाच्च नानेन तन्निषेध्यमित्याह— **एकत्वविशेषणेति**। किंच सजातीयमात्रनिषेधपरत्वे समस्तद्वैतनिषेधपरताप्रतिपादकोपक्रमपरामर्शोपसंहाराश्च विरुद्ध्येरन्नित्याह—**सजातीयेति**। नन्वेकशब्दो न सजातीयनिषेधपरोऽपितु एकत्वसंख्याभिधानपरः। यथाह मानमनोहरकारः—'एकत्वसंख्यामाचष्टे तत्रैव लोके व्युत्पत्तेः लोकशक्तेश्च वेदे बोधकत्वा'दिति। तत्राह—**नचैकमिति**। संख्यारहितेष्वपि रूपसंख्याभावेषु प्रयोगाद्बाधकाभावाच्च नोपचारिकत्वशङ्कापीति भावः। यत्तु तेनैवोक्तम् 'आनन्त्यं पुनरुभयान्ताभाव एव तत्रैव लोके व्युत्पत्तेरि'ति तदप्यनूद्य दूषयति—**आनन्त्यमपीति**। तत्र हेतुः—**पूर्वापरेति**। अस्ति तावन्नित्यमाकाशमनन्तं चेति प्रयोगः, तत्र यद्यन्तपदेनैव पूर्वापरकालावच्छेदरूपोभयान्तोऽभिधीयते तन्निषेधश्चानन्तपदेनोच्यते तदा नित्यशब्दः पुनरुक्तः स्यादित्यर्थः। अथ देशकालकृतोऽन्तः उभयान्तस्तथापि पुनरुक्तिरिति भावः। यस्तु पूर्वपक्षिणा व्युत्पत्त्यभावोऽभिहितस्तं दूषयति—**न चान्योन्याभावेति**। सर्वत्र ह्यभाववाचकशब्दानां प्रतियोगिवाचकशब्दव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्तिस्तत्कुतो हेतोः ? यौगिकत्वाद्यौगिकानां चावयवव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्तेः समुदायव्युत्पत्त्यनपेक्षणात्। तदिहान्तपदस्यावच्छेदत्रये व्युत्पत्तेर्नञस्तन्निषेधव्युत्पन्नत्वान्न पृथक् समुदायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षेत्याह—**अन्तशब्दस्येति**। यत्तु नेह नानेत्यत्र ब्रह्मणि नानात्वनिषेधादेकं ब्रह्मेति सिद्धयति न तु द्वैतनिषेध इत्युक्तं तन्निषेधति—**नेह नानेति**। अयमभिसन्धिः—

द्वितीय का निषेध तो 'एकत्व' विशेषण से ही हो जाता है। फिर भी यदि केवल सजातीय द्वितीय निषेध-परक ही 'अद्वितीय' शब्द मानेंगे, तो सर्वनिषेधपरक 'एक विज्ञान से सर्व-विज्ञान' की प्रतिज्ञा (उपक्रम), वाचारम्भण शब्द (उपपत्ति), तथा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'.—यह उपसंहार विरुद्ध पड़ जायँगे। "एकम्"—यह शब्द एकत्व संख्या का विधान करता है, उसी में उसकी शक्ति है ऐसी शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि 'एकं रुपम्,' 'एका संख्या', 'एकोऽभावः'—इत्यादि स्थलों पर भी 'एक' शब्द का प्रयोग होता है। (किन्तु वहाँ संख्या-प्रतिपादन सम्भव नहीं; क्योंकि रूप, संख्या, अभाव–आदि पदार्थों में संख्या का अन्वय न होगा, संख्या केवल द्रव्य में रहती है)। 'आनन्त्य—शब्द भी उभय अन्त (प्रागभाव तथा ध्वंस) को कहता है; क्योंकि उसीमें उसकी शक्ति है'—यह भी कहना उचित नहीं है क्योंकि पूर्वकालानवच्छेद और उत्तर कालानवच्छेद में ही यहाँ अनन्त पद का तात्पर्य मानने पर "नित्यमाकाशमनन्तंच"—यह प्रयोग अनुपपन्न हो जायगा। [अभिप्राय यह है कि यदि 'अनन्त' पद से पूर्व तथा उत्तर कालावच्छेद का निषेध होता है–तो यही नित्यत्व है। फिर नित्यत्व-बोधक 'नित्यं' यह पुनरुक्त हो जायगा]। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि अन्योऽन्याभावाधिकारणत्व के अनधिकरण में अनन्त शब्द की व्युत्पत्ति नहीं; वह कहना भी समुचित नहीं ; क्योंकि 'अन्त' शब्द देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न अर्थ में व्युत्पन्न (गृहीतशक्ति) है। नञ् समास से उक्त त्रिविध अन्त का निषेध हो जायगा; 'अनन्त' शब्द की पृथक् शक्ति की आवश्यकता ही नहीं। "नेह नानास्ति किंचन"—यह श्रुति ब्रह्म में नानात्व का निषेध करती है––यह

किंचने"ति च न ब्रह्मणि नानात्वं निषिध्यते ; अप्रसक्तत्वात् । नहि लोकतः श्रुतितो वा वादिप्रसिद्धितो वा ब्रह्मणि नानात्वं प्रसक्तं येन प्रतिषिद्ध्येत । नानाशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततांभावाच्च न नानात्वनिषेधः । तन्निषेधे वा संकोचे कारणाभावात् सजातीयविजातीयस्वगतनानात्वनिषेधाद्ब्रह्माद्वैतमेव पर्यवस्येदिति स एव घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तः प्रसज्येत ।

न चेन्द्रो मायाभिरितीन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधावीश्वरस्य भेदोऽवभासत इत्येतावत्परमिदं वाक्यं नतु द्वैतनिषेधपरमिति युक्तम्; ईश्वरस्य नित्यानुमेयस्यैन्द्रियकबुद्धिवृत्तिविषयत्वानङ्गीकारात् । मायाशक्तिविशेषाभिधाने च 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशे'ति वाक्यशेषो न संगच्छेत । इन्द्रियबाहुल्याभिधानस्य मायाशक्तिविशेषाभिधानं प्रत्यनुपयुक्तत्वात् । 'अयं वै

प्रसक्तं हि सर्वत्र निषेध्यं, नाप्रसक्तम् । यत्र तु क्वचिदप्रसक्तस्यापि निषेधो यथा "नान्तरिक्षे न दिवि" इत्यत्र, तत्र गत्यन्तरं नास्ति । नच तत्रापि निषेधपरत्वं, अर्थवादो ह्ययं रुक्मोपधानस्य, रुक्ममुपदधातीत्यनेनैकवाक्यत्वात्, तस्माद्यथाकथंचन तत्स्तुतावेव तात्पर्यम् । अत्र तु द्वैतनिषेधपरत्वमिति वैषम्यं, तदिहापि प्रसक्तद्वैतप्रपञ्चनिषेधपरत्वं युक्तं नाप्रसक्तेश्वरनानात्वनिषेधपरत्वमिति । किंच नानात्वनिषेधपरत्वे नानाशब्देन द्व्येकयोरित्यत्र द्वित्वैकत्ववत् नानात्वं लक्षणीयं, न च विना कारणं सा युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षादिविरोधस्तु कारणं हृदि विपरिवर्तमानं पुरस्तादेव निरस्तं तदनेनाभिसन्धिनाह—नानाशब्दस्येति । भवतु नानाशब्देन नानात्वाभिधानं गोशब्देन गोत्वस्येव तथापि सङ्कोचे कारणाभावात् समस्तप्रतियोगिकनानात्वनिषेधादद्वैतसिद्धिरित्याह—तन्निषेधे वेति । नानाशब्दस्य च नानात्ववाचकत्वेपि तवोक्तिवैयर्थ्यं तदुपलक्षितव्यक्तिवचनत्वे चेह गौर्नास्तीतिवत्तज्जातीयनिषेधसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

या तु श्रुत्यन्तरस्यान्यथासिद्धिरुक्ता पूर्वपक्षिणा तामनुवादपूर्वकं दूषयति—न चेन्द्र इत्यादिना । प्रत्यक्षयोग्यं खल्वैन्द्रियकबुद्धिवृत्तौ प्रतीयते, ईश्वरस्त्वतीन्द्रियो न तथेति न बुद्धिवृत्त्यभिप्रायेणायं मायाशब्द इत्यर्थः । नीरूपत्वादग्राह्यत्वादनवतारप्रकरणत्वाच्च न योगीन्द्रियापेक्षयेति भावः । यत्त्वीश्वरशक्तयो वेत्युक्तं तत्राह—मायाशक्तिति । असङ्गतिमेवाह—इन्द्रियेति । तत्र हि दशशतहरयोऽस्य युक्ता इतीन्द्रियाणि हरिशब्देनोच्यन्ते । तद्बाहुल्याभिधानं नेश्वरशक्तिप्रतिपादनोपयोगीत्यर्थः । उत्तरत्र तेषां हरीणामीश्वरमात्रतया बोधनमपि त्वत्पक्षे विरुद्ध्यते तेषां भिन्नत्वाभ्युपगमादित्याह—अयं वै हरय इति । नच निमित्तत्वाभिप्रायेण, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेरिति भावः । यत्तु मृत्योः स मृत्युरित्यभेददर्शनस्य विधित्सितस्य स्तुति-

---

कहना भी नितान्त असंगत है; क्योंकि ब्रह्म में नानात्व न तो लोक से, न श्रुति से और न वादिप्रसिद्धि से ही प्राप्त है कि जिसका निषेध किया जाता । दूसरी बात यह भी है कि 'नाना' शब्द के अन्त में कोई भाव (त्व-आदि) प्रत्यय भी नहीं; अतः यहाँ नानात्व का निषेध नहीं हो सकता । यदि नानात्व का निषेध मान भी लिया जाय, फिर भी संकुचित वृत्ति में कोई प्रमाण नहीं, अतः सजातीय, विजातीय तथा स्वगत नानात्व का निषेध मानना होगा । फिर तो ब्रह्माद्वैत में ही पर्यवसान होता है । इस प्रकार घट्टकुटीप्रभात की कहावत लागू होती है ।

यह जो कहा था कि "इन्द्रो मायाभिः"—इस श्रुति का 'इन्द्रिय-द्वारक बुद्धि-वृत्ति रूप उपाधियों से ईश्वर में भेद प्रतीत होता है'—इस अर्थ में ही तात्पर्य है, न कि द्वैत-निषेध में । वह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि ईश्वर तो नित्य अनुमेय है, उसमें इन्द्रिय-द्वारक बुद्धि-वृत्ति की विषयता मानी ही नहीं जा सकती । उक्त श्रुति में 'माया' शब्द से माया-शक्ति-विशेष का अभिधान मानने पर ही "युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश" (इस ईश्वर की शक्तियाँ अनन्त हैं)—इस वाक्य-शेष की संगति होती है । किन्तु इन्द्रिय-बहुलता का अभिधान (वाक्य शेष-गत) माया-शक्ति-विशेष के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है । अनन्तर वाक्य में 'यही ईश्वर माया शक्ति रूप है । यही अनन्त है—

हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि चे'ति वाक्यशेषे सर्वस्येश्वरात्मकत्वप्रतिपादनविरोधाच्च । मृत्योः स मृत्युमिति च नाभेदप्रतिपत्तिविधिः; नेह नानास्ति किंच नेति द्वतनिषेधवैयर्थ्यात्, अनुपासनप्रकरणत्वाच्च । पूर्वापरालोचनायां चास्य प्रकरणस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ तात्पर्याधिगमात् । ननु पूर्वापरवाक्यानामुपासनपरतापि दृश्यते 'आयुर्होपासतेऽमृतं, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेदे'त्यादिश्रवणादिति चेत्; मैवं, प्रसङ्गागतत्वादुपासनानुवादस्य । तमेव धीरो विज्ञायेति च "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना" इति पूर्वोदिताकाशादितत्त्वाधारतया सप्रपञ्चताप्रसक्तावधारणस्य तन्निवारणपरत्वात् । प्रज्ञां कुर्वीतेति च प्रज्ञाशब्देन विज्ञानशब्दाभिधेयपरोक्षज्ञानातिरिक्तसाक्षात्काराभिधानाङ्गीकारे तस्यानवधिसुखरूपात्मसाक्षात्कारतया फलत्वेन

नंतु द्वैतनिषेधपरमिति तत्राह—मृत्योरिति । यदि ह्यभेदप्रतिपत्तिमात्रं विधित्सितं तदा द्वैतनिषेधो व्यर्थः । प्रत्युतानर्थकरश्चाद्वैततत्त्वभ्रान्तिप्रसक्तेरिति भावः । किंच निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मज्ञानप्रकरणोत्कर्षश्चोपासनापरत्वे इत्याह—अनुपासनेति । अस्यैव प्रपञ्चः—पूर्वापरेति । ननु 'तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृत'मिति विज्ञाय शास्त्रतः प्रज्ञां साक्षात्कारलक्षणां संपादयेदिति च, तथा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, अन्नादोऽन्नमा समन्ताद्ददद् वसुदानो धनप्रद इति यो वेद स वसु धनं विन्दते लभते इति, तत्रैव पूर्वोत्तरभागयोरुपासनाश्रवणादुपासनाप्रकरणमेतदिति चोदयति—ननु पूर्वापरेति । प्रसङ्गागतत्वादिति । निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रकरण एव स्तुत्यर्थमुपासनानुवादः स न तु विधिर्वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यर्थः । किंच तमेव धीर इति, तमेव मन्य इति चैवकाराभ्यां यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः पञ्चप्राणादयः आकाशश्च प्रतिष्ठित इति पूर्ववाक्यारोपिताकाशादिप्रपञ्चव्यावर्तनान्निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वमेवेत्याह—तमेव धीर इति । निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वेऽपि तत्साक्षात्कारविधिपरत्वं भवत्विति नेत्याह—प्रज्ञामिति । यत्तु सर्वस्य वशीत्यादि-

---

इस प्रकार सर्व-ईश्वर रूपता का प्रतिपादन भी विरुद्ध हो जायगा । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति"—यह श्रुति भी अभेदोपासनापरक नहीं; क्योंकि तब तो "नेह नानास्ति किंचन"—इस से द्वैत का निषेध करना व्यर्थ ही हो जायगा और वहाँ उपासना का प्रकरण भी नहीं है; क्योंकि पूर्व-पर की आलोचना से उस प्रकरण का तात्पर्य निष्प्रपञ्च ब्रह्म की आत्मरूपता के प्रतिपादन में ही निश्चित होता है ।

शङ्का—पूर्व-पर के वाक्यों में उपासना विधान भी तो देखा जाता है—"आयुर्होपासते" (अमृत की आयुरूप से उपासना करते हैं—वृह० ४।४।१६), "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" (उस को शास्त्र से जानकर उसका साक्षात्कार सम्पादन करे—वृह०-४।४।२१), "सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः" (वह सबको वश में रखने वाला, सबका शासक है—वृह० ४।४।२२), "अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद" (वह अन्न-भक्षक और कर्म-फल-दाता है, वह पूर्व कर्म-फल पाता है, जो ऐसी उपासना करता है—वृह० ४।४।२४)।

समाधान—उक्त श्रुतियों में प्रसङ्गतः उपासना का अनुवादमात्र कर दिया गया है । वस्तुतः वहाँ "तमेव धीरो विज्ञाय" (धीर पुरुष उसको ही जानकर—वृह० ४।४।२१)—आदि श्रुतियों में एवकार से उस सप्रपञ्चता का निवारण किया जा रहा है, जो कि "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च" (जिसमें पांच पञ्चजन तथा आकाश प्रतिष्ठित है—वृह० ४।४।१७)—इस श्रुति में प्रतिपादित आकाशादि की ब्रह्म में आधारता से प्रसक्त था । "प्रज्ञां कुर्वीत"—यहाँ प्रज्ञा शब्द से विज्ञान शब्द-वाच्य परोक्ष ज्ञान से अतिरिक्त साक्षात्कार का अभिधान मानने पर उसका वहाँ विधान नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह साक्षात्कार तो निरतिशय सुख स्वरूप होने से फल है, [फल का विधान नहीं होता; स्वर्गादि फल के उद्देश्य से यागादि रूप करण का ही विधान होता है । अतः विधि

विधेयत्वानुपपत्तेः सर्वस्य वशीत्यादेः स्तुतिपरतया गुणविधानार्थत्वाभावात् ।

आगमस्य च स्वरूपप्रतीतौ पदपदार्थसंबन्धावगमे च प्रत्यक्षादिसापेक्षत्वेऽपि तस्य तद्विषयस्य च पारमार्थिकत्वांशस्यानुपजीव्यत्वात्तद्बाधनेऽपि विरोधाभावात्, सांव्यवहारिकभेदाभावस्य ज्ञानोदयनान्तरीयकतया श्रुतिबाध्यत्वाभावात् न व्यावहारिकभेदसापेक्षतया श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः। नच न हिंस्यादित्यादिवाक्येषु परस्परपराहतिः; सामान्यविशेषभावेनेच्छाविकल्पेन वा व्यवस्थितविकल्पेन वाऽविरोधोपपत्तेः। नच कर्मज्ञानकाण्डयोर्भेदाभेद-

---

गुणकं य एवं वेदेत्युपासनं विधत्ते इति तत्राह—**सर्वस्य वशीत्यादेरिति**। प्रतिपादितं खल्विदं 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इत्यत्र ।

उपजीव्यविरोधं परिहरति—**आगमस्येति**। **तस्येति**। प्रत्यक्षस्य। एतदुक्तं भवति, निषिध्यमानं तदीयपारमार्थिकत्वं नापेक्ष्यते यच्चापेक्ष्यते सांव्यवहारिकं रूपं न तद्बाध्यत इति। ननु सांव्यवहारिकमपि रूपमागमेन बाध्यमेवेतरथाऽद्वैतानुपपत्तेरतस्तत्रैवोपजीव्यविरोधो दुर्निवारण इति तत्राह—**सांव्यवहारिकेति**। यथा तेषां वास्तवत्वज्ञानं तत्त्वप्रतिपत्तिविरोधि न तथा सांव्यवहारिकाकारज्ञानमिति भावः। तदेतदखिलमद्वैतश्रुतीनामन्यथासिद्धिपथपरिधावनव्यथितचेतसे शालिकनाथायाकथयत। यत्तु कृत्स्नस्यैव च वेदस्य परस्परपराहत्योपहतत्वमुक्तं तत्परिहरति—**नचेति**। **सामान्यविशेषभावेनेति**। भिन्नविषयत्वस्योपलक्षणमिदं, मुख्यसामान्यविशेषभावाभावात्। यथाहवनीये जुहोतीति होममात्राधिकरणतया प्राप्तस्याहवनीयस्य पदे जुहोतीति विशेषविधानात् तदितरहोमाविषयतया सङ्कोचः। नहि तथेह हिंसामात्रविषयतया निषेधः प्रवर्तते येन विशेषे सङ्कोचमर्हेदपितु रागप्राप्तहिंसायां, तावतापि निषेधोपपत्तौ न क्रतुप्रकरणेऽपि निषेधपदप्रक्षेपकल्पना तस्यां प्रमाणाभावात्। प्रत्युत यदर्था प्रवृत्तिस्तदर्थः प्रतिषेध इति न्यायेनानृतवदनाज्यभागादिप्रतिषेधस्येवास्यापि क्रत्वर्थत्वं स्यात्। तथाच विधिप्रतिषेधयोरनयोर्ग्रहणाग्रहणवद्विकल्पः स्यादित्यनर्थपरंपरैव स्यात्तस्माद्वर्णितविभिन्नविषयत्वस्य केवलमुपलक्षणमिदं, ग्रहणाग्रहणयोरिच्छया विकल्पः, उदितानुदितहोमयोः शाखाभेदेन व्यवस्थितविकल्पः। कर्मकाण्डज्ञान-

---

वाक्य में पठित होने पर भी फल अनुपादेय माना जाता है]। "सर्वस्य वशी"—इत्यादि वाक्य स्तुतिमात्र परक हैं; सर्ववशित्वादि गुणों का विधान नहीं करते।

आगम अपनी स्वरूप-प्रतीत तथा पद–पदार्थों के सम्बन्ध-ज्ञान के लिए प्रत्यक्षादि की अपेक्षा अवश्य करता है, किन्तु प्रत्यक्ष एवं उसके विषय घटादि में पारमार्थिकत्व की अपेक्षा कभी नहीं करता। अतः प्रत्यक्षादि में पारमार्थिकत्व का बाधं होने पर भी किसी प्रकार का उपजीव्य-विरोध उपस्थित नहीं होता। [भाव यह है कि आगम अपने अपेक्षित आधार का खण्डन यदि करता, तब उपजीव्य-विरोध दोष लगता। किन्तु आगम प्रत्यक्षादि की व्यावहारिकत्व शाखा पर खड़ा होकर प्रत्यक्षादि की दूसरी पारमार्थिकत्व–शाखा काट रहा है अतः कोई विरोध नहीं। व्यावहारिक भेद का बाध तो ज्ञान के उदय होते ही अनिवार्य होता है, अतः अद्वैत–श्रुति से उसका बाध करने की कोई आवश्यकता नहीं। अतः व्यावहारिक भेद मात्र की अपेक्षा होने से अद्वैत-श्रुति में अप्रामाण्य-प्रसङ्ग भी नहीं। हिंसादि–श्रुतियों में परस्पर विरोध भी किसी प्रकार का नहीं; क्योंकि सामान्य-विशेष भाव, इच्छा-विकल्प एवं व्यवस्थित विकल्पों के द्वारा सभी प्रकार के विरोधों का परिहार हो जाता है। [स्पष्टार्थ यह है कि "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—यह निषेध प्रथमतः वैध अग्निषोमीयादि हिंसा में प्रवृत्त ही नहीं होता। यदि प्रवृत्त भी हो, तब भी "न हिंस्यात्"—यह सामान्य शास्त्र है और "अग्निषोमीयँ पशुमालभेत"—यह विशेष। अतः विशेष शास्त्र अपने विषय में सामान्य शास्त्र को प्रवृत्त नहीं होने देगा कि विरोध हो। "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति", "नाति रात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—इन दोनों शास्त्रों का ऐच्छिक विकल्प होने से विरोध नहीं। अर्थात् जिसकी

विषयतया कर्मानुष्ठानतत्त्यागप्रतिपादकतया च विरोधः; विद्याविद्यावस्थाभेदेन विद्वदविद्वत्पुरुषविषतया चाविरोधात्। तदेवं मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादनिर्वचनीयानाद्यविद्याविलसित एवायमात्मनि द्वैतप्रपञ्च इत्यलमतिप्रपञ्चेन।

ननु भोः! केयमनिर्वचनीयाविद्या नाम? नहि ज्ञानाभावव्यतिरेकेण काचिदविद्या प्रसिद्धा उपपन्ना वा। ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसयोरेव न जानामीत्यविद्यात्वेन लोके व्यावहारिकव्यवहारोपलम्भात्। अविद्येति च विद्यापदेन समस्यमानस्य च नञस्तदभावस्तद्विरोधी तदन्यो वार्थोऽभ्युपेयः। आद्ये विद्याभावस्यापि वेद्याभाववन्नानिर्वचनीयता। द्वितीये तु संशयविपर्यासादेर्विद्याविरोधिनो गुणान्तरस्य वा नानिर्वचनीयतोपपत्तिः; प्रसिद्धभावस्वभाव-

---

काण्डयोविरोधं परिहरति—नचेत्यादिना। विद्याऽविद्यावस्थाभेदेनाभिन्नभिन्नवस्तुप्रतिपादनयोरविरोधः, कर्मतत्त्यागविधानयोस्तु विद्वदविद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छुद्धान्तःकरणः परोक्षज्ञानवान्वा विद्वान्। यथाहि न हिंस्यात्सर्वाभूतानीति फलांशे निषिद्धस्य श्येनेनाभिचरन्यजेतेत्यस्यानवबुद्धप्रतिषेधवाक्यार्थं पुरुषं प्रति प्रवृत्तिरितरस्य त्वितरं प्रतीति विभागस्तद्वदिति भावः। वादार्थमुपसंहरति—तदेवमिति।

अनिर्वचनीयाद्यविद्येत्युक्तमुपश्रुत्य प्रत्यवतिष्ठते—नन्विति। ननु सर्वेषामेव मोक्षवादिनामनित्याशुचिदुःखरूपसंसारे नित्यशुचिसुखख्यात्यभिरतिनिदानमविद्या प्रसिद्धैव किमत्र वक्तव्यमित्यत आह—नहि ज्ञानाभावेति। ननु सामान्येन प्रसिद्धविद्याया उपपत्तिबलादनाद्यनिर्वचनीयत्वमायातीत्यत आह—उपपन्ना वेति। अभाव एव प्रसिद्धिं निदर्शयति—ज्ञानेति। प्रागभावप्रध्वंसयोरिति सप्तमी। व्यावहारिका व्यवहारकर्तारः तेषां व्यवहारोपलम्भादित्यर्थः। एवं प्रसिद्ध्यभावमेवाभिधायोपपत्त्यभावमाह—अविद्येति। अविद्येत्यत्र नञस्तावदर्थत्रयं संभवति तच्च निर्वचनीयभावाभावयोरेवान्तर्भवति नानिर्वचनीयः कश्चिदविद्याशब्दार्थ इत्यर्थः। विद्याभावस्यापीति। यथा वेद्यस्य घटादेरभावो नानिर्वचनीयः, भावाभावविलक्षणत्वाङ्गीकारादनिर्वचनीयस्य, तथा ज्ञानाभावस्यापि नानिर्वचनीयत्वमित्यर्थः। विद्याविरोध्यविद्येति द्वितीयपक्षं निषेधति—द्वितीये त्विति। एवमविद्याशब्दात्तावदनिर्वचनीयानाद्यविद्याप्रतीत्यभावमुक्त्वा लक्षण-

---

इच्छा हो षोडशिपात्र का ग्रहण करे, जिसकी इच्छा न हो, वह ग्रहण न करे। "उदिते जुहोति", "अनुदितेजुहोति"—इन दोनों में व्यवस्थित विकल्प है। अर्थात् जिसकी शाखा में उदित होम विहित है, वह उदित होम और जिसकी शाखा में अनुदित होम है, वह अनुदित होम ही करेगा]। कर्म काण्ड भेदविषयक है एवं कर्मानुष्ठान का प्रतिपादक है तथा ज्ञान काण्ड अभेद विषयक है एवं कर्म-त्याग का प्रतिपादक है; अतः उन दोनों का विरोध है—ऐसा भी सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि कर्मकाण्ड अज्ञानी के लिए कर्म का विधान करता है, ज्ञानी के लिए नहीं और ज्ञानकाण्ड ज्ञानी के लिए कर्म-त्याग का प्रतिपादन करता है, अज्ञानी के लिए नहीं। अतः दोनों का कोई विरोध नहीं। इस प्रकार मिथ्यात्व में लक्षण और प्रमाण की उपपत्ति हो जाने से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा में यह सब द्वैत प्रपञ्च अनिर्वचनीय अविद्या का विलासमात्र है।

पूर्वपक्ष—यह अनिर्वचनीय अविद्या क्या वस्तु है? ज्ञानाभाव से भिन्न अविद्या न तो प्रसिद्ध है और न उपपन्न ही है। ज्ञान के प्रागभाव या ध्वंस में ही अविद्या-व्यवहार लोक-प्रसिद्ध है। 'अविद्या'—यहाँ 'विद्या' पद से समस्यमान नञ् का (१) विद्याभाव, या (२) विद्याविरोधी, या (३) विद्यान्य अर्थ मानना होगा। प्रथम (विद्याभाव) पक्ष में विद्याभाव में वैसे ही अनिर्वचनीयता की उपपत्ति न होगी, जैसे—वेद्याभाव में। [क्योंकि भाव और अभाव—दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय होता है। विद्याभाव तो घटाभाव के समान अभाव है; अतः वह अनिर्वचनीय न होगा]। द्वितीय (विद्याविरोधी) पक्ष में विद्या के विरोधी होते हैं—संशय, विपर्यय अथवा दूसरे आत्म-विशेष गुण। उनमें भी अनिर्वचनीयता नहीं बन सकती; क्योंकि उनमें अनिर्वचनीयता मानने पर

त्वस्य व्याकोपात्। न तृतीयोपि; विद्यातिरिक्तस्य समस्तस्याविद्यात्वप्रसङ्गात्। नचास्या लक्षणं प्रमाणं वा पश्यामः। न तावज्ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं; पूर्वज्ञानस्यापि तन्निवर्त्यस्याज्ञानत्वप्राप्तेः। अनादित्वविशेषणाददोष इति चेत्, न; ज्ञानप्रागभावे व्यभिचारात्। अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानमिति चेत्, न; अनादेर्भावस्यात्मवन्नित्यत्वेन निवर्त्यत्वानुपपत्तेः। अथ चिरन्तनमतानुसारेणानादेरेव भावस्य परमाणुगतश्यामत्वादेरिव निवर्त्यत्वमुच्येत; तर्हि तस्मिन्नेवेश्वरज्ञाननिवर्त्येऽतिव्याप्तिः, त्वदुक्तलक्षणस्यापि तस्याज्ञानत्वाभावात्। अथानाद्यनिर्वचनीयमज्ञानं, तदपि न; निर्वचनागोचरताया भावाभावविलक्षणतायाश्चासंभवित्वात्। भ्रमोपादानमज्ञानमित्यपि न; आत्मन्यतिव्याप्तेः। सत्योपादानत्वे भ्रमस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् नात्मोपादानमिति चेत्, न; भ्रमस्यापि स्वरूपसत्यत्वात्। विषयापहाराद्धि तत्र

प्रमाणानिरूपणादपि तदभावमाह—**नचास्या** इति। तत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तल्लक्षणं? अनादित्वे सति ज्ञाननिर्त्यत्वं वा? अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा? अनादित्वे सत्यनिर्वचनीयत्वं वा? भ्रमोपादानत्वं वा? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। निर्वचनीयतयाङ्गीकृतपूर्वज्ञानादिष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीये तु प्रागभावेऽतिव्याप्तिमाह—**अनादित्वेति**। तृतीयेऽसंभवमाह—**अनादीति**। आधुनिकैः पार्थिवपरमाणुविशेषगुणानां पाकजत्वाङ्गीकाराच्चिरंतनग्रहणम् **तर्हि तस्मिन्निति**। तैरेव चिरंतनैस्तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तकविनाशाङ्गीकारादतिव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः। **त्वदुक्तलक्षणस्यापीति**। त्वदुक्तं लक्षणं यस्य श्यामत्वादेः स तथोक्तः। चतुर्थं शङ्कते—**अथेति**। किमिदमनिर्वचनीयत्वं नाम? न तावन्निर्वचनाविषयत्वम्; अनेनैव प्रकारेण निरुच्यमानत्वान्नापि सदसद्विलक्षणत्वं; परस्परविरुद्धयोर्भावाभाववदुभयवैलक्षण्यस्याप्यसंभवात्। असंभवीदं लक्षणमित्याह—**निर्वचनेति**। **भ्रमोपादानमज्ञानमिति**। आत्मनोपि हि जगद्विभ्रमाधिष्ठानत्वमङ्गीक्रियते भवद्भिरन्यथा जन्माद्यधिकरणाद्यनारम्भप्रसङ्गात्। अङ्गीकृतमस्माभिश्चात्मनो विभ्रमसमवायिकारणत्वमिति भावः। आत्मनि लक्षणावृत्तिं शङ्कते—**सत्योपादानत्व इति**। नायमनिष्टप्रसङ्ग इति परिहरति—**न**। **भ्रमस्यापीति**। ननु स्वरूपमात्रसत्यत्वे कथं मिथ्याज्ञानत्वप्रसिद्धिरित्यत आह—**विषयेति**। स्वरूपस्याप्यपहारे प्रत्यभिज्ञाविरोध-

---

भावरूपता का विरोध होगा। तृतीय (विद्यान्य) पक्ष में तो विद्या से अन्य समस्त ब्रह्मादि पदार्थों में अविद्यात्व की आपत्ति होगी।

इस प्रकार की अविद्या में कोई लक्षण और प्रमाण भी दिखाई नहीं देते। 'ज्ञान-निवर्त्यत्व'—यह लक्षण युक्त नहीं; क्योंकि उत्तर ज्ञान से निवर्त्य तो पूर्व ज्ञान भी है, उसमें अज्ञानत्व की आपत्ति होगी। यदि 'अनादित्व' विशेषण लगाकर वह दोष हटाना चाहें, तब भी ज्ञान के प्रागभाव में व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगी; क्योंकि वह अनादि भी है और ज्ञानरूप कार्य से निवर्त्य भी। यदि 'भावत्व' भी विशेषण लगायें, तब तो अनादि भाव वस्तु तो आत्मा के समान नित्य होगी, उसमें ज्ञान-निवर्त्यत्व ही न रहेगा। यदि कहें कि प्राचीन आचार्यों के मत से अनादि भावात्मक परमाणु-गत श्याम रूप में निवर्त्यता रह जाती है; तब तो ईश्वर-ज्ञान-निवर्त्य उसी परमाणु-गत श्यामता में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि आपका कहा लक्षण तो उसमें जाता है, किन्तु वह अज्ञान नहीं। यदि 'अनाद्यनिर्वचनीयत्व' लक्षण करें, तो वह भी नहीं कर सकते; क्योंकि अनिर्वचनीयता का क्या अर्थ करेंगे? निर्वचन-विषयताभाव? या भावाभावविलक्षणत्व? दोनों ही असम्भवी हैं। 'भ्रमोपादानत्व'—यह लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि भ्रम का उपादान तो आत्मा भी है, उसमें अतिव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि आत्मा को भ्रम का उपादान नहीं मानेंगे, नहीं तो सत्योपादानक हो जाने से भ्रम भी सत्य हो जायगा। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि भ्रम में स्वरूपसत्यत्व तो रहता ही है। उसमें मिथ्यात्व का व्यवहार तो इस लिए हो जाता है कि उसके विषय

मिथ्येति व्यवहारो न स्वरूपापहारात्। तथात्वे चैतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः। अस्तु वा यत्किंचिदविचारितरमणीयं लक्षणं तथापि तत्र किं प्रमाणम् ? अज्ञोऽहमित्यनुभव इति चेत्, न ; तस्य ज्ञानाभावविषयत्वेनाप्युपपत्तेः, अनादित्वभावत्वयोस्त्वदभिमतयोरस्यानुभवस्यौदासीन्याच्च । नापि सुप्तोत्थितस्य 'न किंचिद्वेदिषं', 'गाढं मूढोऽहमासमि'तिपरामर्शानुपपत्तिसिद्धः सुषुप्तिकालीनोऽनुभवः प्रमाणं ; त्वन्मते ज्ञानाभावस्यापि साक्षिसिद्धस्य परामर्शोपपत्तेः। अस्मन्मते चेदानीमेव ज्ञानाभावस्यानुमीयमानतया परामर्शासंप्रतिपत्तेः। ननु कथं ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकचैतन्यगोचरतया सिद्धिः ? तत्सिद्धेर्धर्मिप्रतियोगिज्ञानपराधीनत्वात्, सुषुप्तौ च तदसंभवादिति चेत्, न; ज्ञानाभावस्यापि स्वरूपेण भेदादिवन्निर्विकल्पकसिद्धस्य सविकल्पकदशायां धर्मिप्रतियोगिज्ञानपराधीनतया स्फुटतरव्यवहारविषयत्वोपपत्तेः। नचासिद्धे तत्कालीने धर्मिण्यात्मनि, ज्ञानाभावस्येदानीमेवानुमीय-

---

माह—तथात्वे चेति। अनादित्वेति। अज्ञोऽहमिति ज्ञानराहित्यमेव प्रतीयते नतु तस्याज्ञानस्यानादित्वभावत्वे। अतो नेदमभिमतसाधकमित्यर्थः। स्यादेतत्—अस्ति तावत्सुप्तोत्थितस्य एतावन्तं कालं न किंचिदवेदिषमिति परामर्शः, सच सुषुप्तिकालीनमज्ञानानुभवं गमयति, अननुभूते परामर्शायोगात्। स चानुभवस्तत्र प्रमाणमिति तदेतद्दूषयति—नापीति। सुषुप्तिकालीनज्ञानाभावगमकतया त्वन्मते तावदन्यथासिद्धमस्मन्मते तूत्थानानन्तरकालीनमनुमानं पूर्वकालीनज्ञानाभावविषयमित्युभयथापि विवक्षितासिद्धिरित्याह—त्वन्मत इति। या तु वेदान्तपक्षेऽन्यथासिद्धिरुक्ता, सा न युक्ता ; धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधानज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ निर्विशेषचिन्मात्रादप्रतीतेरिति शङ्कते—ननु कथमिति। प्रथमं निर्विकल्पकानुभूतस्यापि पश्चात् सविकल्पकविषयतया विशिष्टव्यवहारहेतुत्वं भवति। नच नित्यसापेक्षतया निर्विकल्पकाविषयत्वं, भेदसादृश्यादिभिर्व्यभिचारादिति परिहरति—न। ज्ञानाभावस्यापीति। ननु भवत्वस्मत्पक्षेऽन्यथासिद्धिस्त्वत्पक्षे तु कथमनुमानत्वमस्य सौषुप्तिकात्मनस्तदानीमननुभवात् तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानायोगात्। यथाहि प्रातश्चत्वरे गजो नासीदित्यत्र प्रातःकालीनचत्वरानधिगमे गजाभावानुमानाभाव इति

बाधित है। उसका स्वरूप तो अबाधित ही है। यदि भ्रम के स्वरूप का भी बाध मान लिया जाय, तब 'इतने समय तक यह रजत ही दीखता रहा'—इस प्रत्यभिज्ञा का बिरोध होगा। अच्छा, कोई जैसा-तैसा लक्षण मान लेते हैं।

तथापि उसमें प्रमाण क्या है ? "मैं अज्ञानी हूँ"—यह अनुभव तो ज्ञानाभाव को विषय करता है; आपके माने हुए किसी अनादि भावरूप अज्ञान को नहीं, कि उसमें प्रमाण हो जाय। यदि कहा जाय कि सुषुप्ति से उठकर यह स्मरण होता है कि 'मुझे कुछ भान नहीं रहा, खूब गाढ़ मूढ होकर पड़ा रहा।' उस स्मृति की अन्यथानुपपत्ति से कल्पना करेंगे कि सुषुप्ति—काल में अज्ञान का अनुभव अवश्य हुआ होगा। वही अनुभव प्रमाण है। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वहाँ ज्ञानाभाव था। आपके मत में वह साक्षि-भाष्य वहाँ है उसी का स्मरण आपको होता है और हम तार्किकों के मतमें जागरण-समय उस ज्ञानाभाव का अनुमान होता है; स्मरण नहीं माना जाता। यदि शङ्का हो कि ज्ञानाभाव के ग्रहण में तो अनुयोगी और प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा है, सुषुप्ति में वह सम्भव नहीं, अतः वहाँ वह अभाव निर्विकल्प चेतन (साक्षी) का विषय कैसे होगा ? तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि भेदादि के समान ज्ञानाभाव भी स्वरूपेण निर्विकल्पक से ही सिद्ध होता है। हाँ, सविकल्पक अवस्था में अनुयोगी, प्रतियोगी के ज्ञान से स्फुटतर व्यवहार की विषयता उस ज्ञानाभाव में आ जाती है।

शङ्का—यह नियम है कि प्रत्यक्ष धर्मी (पक्ष) में ही किसी साध्य का अनुमान होता है, जैसे कि प्रातः समय हम किसी प्राङ्गण में खड़े हैं, उस प्रत्यक्ष प्राङ्गण में हम यह अनुमान

मानत्वासिद्धिः; प्रतिपन्ने हि प्रातश्चत्वरादौ धर्मिणि सायंसमये तत्र गजाभावानुमानमुपलभ्यत इति वाच्यम्; संप्रतिपन्नोदयास्तमयवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमययोरन्तरालकालमनुमाय कालाख्येन लिङ्गेनानुमिते धर्मिण्यात्मनि ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः। भवत्वेवं धर्मिसिद्धिस्तथापि न ज्ञानाभावानुमाने लिङ्गमस्ति, अस्मर्यमाणत्वस्य नियमेनास्मर्यमाणत्वस्य वा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादौ निर्विकल्पकानुभूते चानैकान्तिकत्वादिति चेत्, न; ज्ञानसामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गाज्ज्ञानाभावानुमानोपपत्तेः। तदेव कुतः सिद्धमिति न वाच्यम्; तत्सिद्धेरुभयवादिसिद्धत्वात्। अन्यथा वेदान्तिनामपि सुषुप्तिकाले घटपटादिविशेज्ञानाभावानुमानं

शङ्कां निराकरोति—नचासिद्ध इति। नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—संप्रतिपन्नेति। यद्यपि सुषुप्तिसमये तत्कालीनात्मनो न ज्ञानमस्ति तथाप्युत्तरकाले संभवत्येवानुमानेन तस्य ज्ञानं, तथाह्यनिद्राणस्य संप्रतिपन्नोदयास्तमययोरन्तरालकालानुभवान्निद्राकालात्पूर्वोत्तरास्तमयोदयकालयोस्तत्कालत्वेन हेतुनान्तरालकालवत्त्वमनुमाय तस्याप्यात्मवत्त्वं कालत्वेनेतरकालवदनुमाय तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानमप्रत्यूहमित्यर्थः। उक्तंच तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनाचार्यैरपवर्गप्रकरणे—'पूर्वापरावस्थयोरेकत्वप्रत्यभिज्ञानेन मध्यावस्थायामपि तत्सामान्येनोपनया'दिति। अभ्युपगम्य धर्मिसिद्धिं, हेत्वसिद्धिं शङ्कते—भवत्वित्यादिना। अन्तरालकालीनात्मा दुःखादिज्ञानाभाववानस्मर्यमाणतदानींतनदुःखादित्वादिति हेतुः। पथि गच्छतस्तृणादिस्पर्शेष्वनन्तरमस्मर्यमाणेष्वनैकान्तः। नियमेनेति विशेषणेपि निर्विकल्पकानुभूतेऽनुदितसविकल्पकेऽनैकान्त इत्यर्थः। उभयवादिसिद्धत्वादिति। विशेषविज्ञानोपरमस्य त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थः। अतश्चैवमङ्गीकर्तव्यमित्याह—अन्यथेति। ननु नास्माकं सामाग्र्यभावात्तदनुमेयमपितु साक्षिसिद्धमिति

कर सकते हैं कि कल सायंकाल यहाँ हस्ती नहीं आये थे। किन्तु सुषुप्ति कालीन आत्मा इस समय हमारे प्रत्यक्ष में नहीं, अतः उसमें सुषुप्ति कालीन ज्ञानाभाव का अनुमान इस समय कैसे होगा ?

समाधान—यह नियम नहीं कि प्रत्यक्ष धर्मी में ही अनुमान होता है, अनुमित पक्ष में भी अनुमान होता है। सुषुप्ति कालीन आत्मा यद्यपि इस समय प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी अनुमित हो सकता है। अनुमान का प्रकार यह है कि वर्तमान उदय और अस्तमय के दृष्टान्त से विवादास्पद (सुषुप्तिकालघटित) उदयास्तमय के मध्यकाल का पहले अनुमान करेंगे (सुषुप्तिपूर्वोत्तरकालिकं उदयास्तमयौ, अन्तरालकालविशिष्टौ, उदयास्तमयत्वात्, अनुभूतान्तरालकालोदयास्तमयवत्)। उस काल में काल हेतु से आत्मा का अनुमान करेंगे। (स कालः, आत्मविशिष्टः, कालत्वाद्, उत्तरकालवत्)। उस अनुमित आत्मा में ज्ञानाभाव का अनुमान बन जायगा।

शङ्का—अस्तु, किसी प्रकार आत्मरूपी पक्ष की सिद्धि मान भी ली जाय, फिर भी ज्ञानाभाव के अनुमान में कोई लिङ्ग नहीं। 'अस्मर्यमाणत्व' या 'नियमेन अस्मर्यमाणत्व'—दोनों ही हेतु, चलते-चलते तृण-स्पर्श तथा निर्विकल्पक-गृहीत पदार्थ में व्यभिचरित हैं; क्योंकि अस्मर्यमाणत्व उनमें भी है, किन्तु वहाँ ज्ञानाभाव नहीं। [आशय यह है कि अस्मर्यमाणत्व हेतु से इस प्रकार अनुमान कर सकते थे—सुषुप्तिकालीन आत्मा ज्ञानाभाववान् अस्मर्यमाणतदानीन्तनज्ञानकत्वात् संप्रतिपन्नवत्। किन्तु आत्मा में बहुत से पदार्थों का ऐसा भी ज्ञान होता है, जिनका स्मरण उत्तर काल में नहीं होता जैसे उपेक्षा दृष्टि से देखे-सुने पदार्थ। वहाँ अस्मर्यमाणत्व ज्ञानाभाव से व्यभिचरित है, अतः उसका अनुमापक नहीं हो सकता]।

समाधान—ज्ञान-सामग्री-विरहरूप हेतु से ज्ञानाभाव का अनुमान बन जायगा। ज्ञान-सामग्री का विरह ही क्योंकर सिद्ध होगा ? यह सन्देह नहीं करना; क्योंकि वह तो सबको मानना पड़ेगा। अन्यथा वेदान्ती भी सुषुप्ति-काल में घटपटादि विशेष ज्ञानाभाव का अनुमान कैसे करेंगे ?

न स्यात्। ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकसाक्षिवेद्यतानङ्गीकरात्। नचावस्थाभेदसंभिन्नभावरूपाज्ञानपरामर्शसामर्थ्यसिद्धतदनुभवादेव तद्विरोधिनो ज्ञानस्याभावानुमानम्; भावरूपाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च परं प्रत्यद्याप्यसिद्धत्वात्।

यत्तु कैश्चिदनुमानं रचितम्—न तावदज्ञानं ज्ञानाभावः अभावमानागम्यत्वात्, संप्रतिपन्नवत्। अभावो ह्यभावस्य प्रत्यक्षस्य वा विषयः परेणेष्यते; अज्ञानं च न मानगम्यं माननिवर्त्यत्वात्संप्रतिप्रन्नवदिति। तदन्ये नानुमन्यन्ते; अज्ञानस्य मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगायोगात्। एतन्मानगम्यत्वे वा मानगम्यं न भवतीति स्ववचनव्याघातात्। नचात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधन इव न स्ववचनव्याघातादिदोषापत्तिः; तत्र वृत्तिव्याप्यत्वेपि फलाव्याप्यत्वेनाविरोधात्, इह च वृत्तिव्याप्यत्वानङ्गीकरात्। नच प्रमाणनिवर्त्त्यस्य प्रमाणागम्यत्वनियमः; प्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यस्य तद्धेतोस्संस्कारस्य नित्यपरोक्षतया साक्षि-

---

तत्राह—ज्ञानाभावस्येति। तत्काले निर्विकल्पकवेद्यत्वेऽपि न तावतोत्तरकालं विशिष्टव्यवहार इत्यनुमानमेव शरणमित्यर्थः। तेन च न पूर्वोत्तरयोर्व्याघातः। ननु परामर्शबलाद्भावरूपाज्ञानसिद्धौ तद्बलात्तद्विरोधिघटादिज्ञानाभावानुमानमस्मन्मते न सामग्र्यभावादिति वैषम्यमिति तत्राह—नचावस्थेति। अवस्थाभेदः सुषुप्तिरूपावस्थाविशेषस्तेन यद्विशेषितं भावरूपमज्ञानं तत्परामर्शसामर्थ्येन सिद्धो यस्तदवस्थाऽज्ञानानुभवो न किञ्चिदेतावन्तं कालमवेदिषमित्येवंविधस्तस्मादिति योजना।

न्यासकारकृतमनुमानमुद्भावयति—यत्तु कैश्चिदिति। हेतुमेव समर्थयते—अभावोहीत्यादिना। अभावस्येति भाट्टाभिप्रायेण, प्रत्यक्षस्येति तार्किकाभिप्रायेण। सम्प्रतिपन्नवदिति। शुक्तिरूप्यसंसर्गवदित्यर्थः। मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगो व्याहतोऽनुमानप्रयोगे च मानागम्यत्वं व्याहतमिति दूषयति—तदन्य इत्यादिना। ननु यथात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधनेपि न वेद्यत्वप्रसक्तिस्तद्वत्प्रमाणेनैवाप्रामाणिकत्वसाधनेपि न प्रामाणिकत्वप्रसक्तिरिति तत्राह—नचात्मन इति। प्रमाणनिवर्त्यत्वादिति हेतोरनैकान्तिकतां चाह—नच प्रमाणेति। संस्कारस्य हि कार्यापवर्गित्वात् तत्कार्यप्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यत्वं, अथच

क्योंकि ज्ञानाभाव को निर्विकल्पक साक्षि-वेद्य तो मानते नहीं। यदि कहा जाय कि सुषुप्तिकालावच्छिन्न भावरूप अज्ञान के स्मरण के बल पर वहाँ उसका अनुभव सिद्ध होता है और उस अनुभव से उसके विरोधी ज्ञान के अभाव का अनुमान होता है तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि भावरूप अज्ञान और उसका स्मरण दूसरों के मत में सिद्ध ही नहीं।

यह जो अनुमान कुछ विद्वान् रचते हैं—'अज्ञान ज्ञानाभावरूप नहीं; अभावग्राहक प्रमाणगम्य न होने से, जैसे घटादि।' अभाव का ग्रहण तार्किकादि मत में प्रत्यक्ष प्रमाण से और भाट्ट मत में अनुपलब्धि प्रमाण से ही हुआ करता है, किन्तु अज्ञान उनसे गृहीत नहीं होता। अज्ञान में प्रमाणागम्यत्व इस अनुमान से भी निश्चित होता है—'अज्ञान किसी मान का विषय नहीं, मान से निवर्त्य होने के कारण, जैसे शुक्ति-रजत-संसर्गादि। किन्तु उस अनुमान से दूसरे विद्वान् सहमत नहीं; क्योंकि अज्ञान यदि किसी मान का विषय नहीं, फिर उसकी सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग असंगत होगा। और "अज्ञानं मानगम्यं न भवति"—इस मान का विषय होने पर स्ववचन-विरोध होगा। यदि कहा जाय कि आत्मा में अनुमान के द्वारा अवेद्यत्व-साधन में जैसे स्ववचन-विरोधादि दोष नहीं होते, वैसे ही यहाँ भी वे दोष नहीं होंगे। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि वहाँ वृत्तिव्याप्यत्व रहने पर भी फलव्याप्यत्वाभावरूप अवेद्यत्व के साधन में कोई विरोध नहीं होता। किन्तु यहाँ (अज्ञान में) तो वृत्तिव्याप्यंत्व मानते नहीं। और प्रमाणनिवर्त्य में प्रमाणागम्यत्व का नियम भी नहीं; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण-निवर्त्य उसके हेतु संस्कारों में नित्य परोक्षता के कारण साक्षिसिद्धत्व न रहने से अनुमान-गम्यत्व माना जाता है।

सिद्धत्वाभावेनानुमानगम्यत्वाङ्गीकारात्। नच त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादिव्यवहारोऽत्यन्तसुषुप्ते ज्ञायमाने वाऽसंभाव्यमानोऽतिरिक्तमेव ज्ञानाभावादज्ञानं गमयति। अवगतेंऽशेऽवगतत्वादेव न जानामीतिव्यवहारायोगादनवगतेंशे चानवगतत्वादेव प्रश्नानुपपत्तेरिति युक्तम्; त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तेः, प्रतिवादिवाक्यादवगतार्थस्यानुवादपुरःसरं प्रमाणासंभवेन सर्वैर्वादिभिर्निराकरणाङ्गीकारात्। नापि 'नासदासीन्नो सदासी'दित्युपक्रम्य 'तम आसीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्', 'इन्द्रो मायाभि'रित्याद्या-

---

साध्यं नास्तीत्यर्थः। अनुव्यवसायनिवर्त्येन च तद्गम्येन परसंमतेन व्यवसायेनानैकान्तं द्रष्टव्यम्, विवरणकारोक्तार्थापत्तिमाशङ्क्य निषेधति—**नचेत्यादिना युक्तमित्यन्तेन**। ननु सामान्यांशं ज्ञातमनूद्य विशेषांशेऽज्ञाते प्रश्न इति तत्राह—**अवगतेंऽश इति**। ततश्च स एवार्थो ज्ञातश्चाज्ञातश्च वक्तव्यः, नचैतज्ज्ञानाभावपक्षे घटते, ज्ञानेन विरोधात्। अस्मत्पक्षे तु नित्यचैतन्यस्याज्ञानसाधकत्वादविरोध इति भावः। न युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**त्वदुक्तमर्थमिति**। नांशतो ज्ञानाज्ञानविषयत्वमर्थस्यापि तु तत्रैव प्रमाणज्ञानाभावतदितरज्ञानयोः सह वर्तनं ब्रूमः। नचैवं सति विरोधः नापि प्रश्नानुपपत्तिरिति भावः। न केवलमत्रैवेयं गतिरपि तु सर्वत्रैव दूष्यस्थल इत्याह—**प्रतिवादीति**। प्रमाणानवगतस्य कथमनुवाद इत्याशङ्कायां वायं ग्रन्थः। आगमं निषेधति—**नापीति**। तदानीं प्रलयकालेऽऽसन्नासीत्सदपि नासीदिति प्रतिषेधे किं तर्हि तम आसीदि-

---

शङ्का—'आपके कहे अर्थ को मैं नहीं जानता'—इस प्रकार का व्यवहार ही ज्ञानाभाव से अतिरिक्त अज्ञान का साधक है:—उक्त व्यवहार अत्यन्त अज्ञात या अत्यन्त ज्ञात वस्तु में संभव नहीं; क्योंकि ज्ञात घटादि के विषय में 'मैं नहीं जानता'—यह व्यवहार नहीं हो सकता और अत्यन्त अज्ञात विषय में प्रश्न नहीं बनता। [अभिप्राय यह है कि कोई शिष्य अपने आचार्य से प्रार्थना करता है—'गुरो! इस मन्त्र का अर्थ, जो आपने बताया था मैं भूल गया; फिर बता दीजिए'—यहाँ विचारणीय यह है कि शिष्य जिस अर्थ को गुरु से पूछ रहा है, वह शिष्य को ज्ञात है? कि नहीं? यदि ज्ञात है, तब वह 'भूल गया' कैसे कहता है और यदि ज्ञात नहीं, तब उसके विषय में 'वह अर्थ बताइए'—यह शब्द-प्रयोग ही नहीं कर सकता; क्योंकि किसी अर्थ को जानकर ही उसके विषय में शब्द-रचना होती है। अतः कहना होगा कि उस अर्थ का शिष्य को ज्ञान भी है और अज्ञान भी। अब यहाँ अज्ञान यदि ज्ञानाभाव है, तब उसी अर्थ के विषय में ज्ञान और ज्ञानाभाव—दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, एकत्र हो नहीं सकते। जब अज्ञान को भावरूप मान लें तब दोनों एकत्र सम्भव हो जाते हैं, क्योंकि ज्ञान हैं ब्रह्म चैतन्य, जो उक्त अर्थ के सामान्य अंश को विषय करता है, जिससे उक्त शब्द-रचना सम्भव हुई और अज्ञान है विशेषविषयक; जिसके होने से 'मैं भूल गया' कहा गया। सामान्यविषयक ब्रह्मचैतन्य इस अज्ञान का विरोधी नहीं; अपितु साधक है। अतः उक्त व्यवहार के बलपर भावरूपता ही अज्ञान सिद्ध होती है]।

समाधान—उक्त व्यवहार प्रमाण-जन्य ज्ञान के अभाव को लेकर ही निभ जाता है। अर्थात् उक्त व्यवहार का पूरा अर्थ है—आपके कहे हुए अर्थ का प्रमाण से मुझे ज्ञान नहीं हुआ। उससे भावरूप अज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता। सभी कहीं इसी प्रकार व्यवहार होता है-प्रतिवादी के वाक्य से अर्थ का अनुवाद करके प्रमाणासम्भव दिखाकर ही वादिगण उसका निराकरण किया करते हैं।

नासदीय सूक्त में "नासदासीन्नोसदासीत्" (वहाँ असत् भी नहीं था, सत् भी नहीं था—ऋ० ८।७।१७)—इस प्रकार आरम्भ करके जो कहा गया—"तम आसीत्" (माया थी)—यह आगम भी उसमें प्रमाण नहीं और न "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (प्रकृति को माया समझिए—श्वेता० ४।१०), "इन्द्रो मायाभिः"—इत्यादि आगम ही; क्योंकि ऊपर की श्रुतियों में 'तम' शब्द

गमस्तत्र प्रमाणम् ; तमःशब्देन सांसारिकपुरुषाणां प्रलयकालीनज्ञानाभावस्यैवोच्यमानत्वात्, मायाशब्देन च परमेश्वरज्ञानशक्तेरेव तत्स्वरूपभूतायाः संकीर्तनात्। तदेवमनिर्वचनीयाज्ञाने लक्षणप्रमाणयोरसंभवात्तादृगज्ञानमस्तीत्येतदेवाज्ञानमिति सिद्धम्।

अत्रोच्यते। न तावल्लक्षणासंभवस्तथाहि—

अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥ ९ ॥

अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरस्यमज्ञानमिति लक्षणमिह विवक्षितम्। न तावदिहाव्याप्तिः ; सर्वेषामप्यज्ञानानामुक्तरूपत्रयानुगमात्। नाप्यतिव्याप्तिः ; अनादेर्भावस्यात्मनो निवर्त्यत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्याप्यभावात्, तदन्यस्य च परमाणोस्तद्गतश्यामत्वादेश्च स्वरूपतोऽनङ्गीकृतस्य दूरत एवानादित्वानङ्गीकारात्। नचासंभवित्वं ; भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारादात्मवदनादिभावत्वेनानिवर्त्यत्वानुमानानुपपत्तेः।

नचैवंविधे मानासंभवः, यतः—

त्येका श्रुतिः, मायां त्वित्यपरा, इन्द्रो मायाभिरित्यप्यन्या। प्रलयकाले ये संसारिणां ज्ञानाभावास्तेऽत्र तमःशब्दाभिधेयाः न त्वदभिमतमज्ञानमित्यर्थः। इतरश्रुत्योरन्यथासिद्धिमाह—**मायाशब्देन चेति**। **तत्स्वरूपभूतेति**। प्रकृतिः स्वभावभूतेत्यर्थः। उपसंहरति—**तदेवमिति**। एतदेवाज्ञानं मौढ्यमित्यर्थः।

लक्षणं श्लोकेन संगृह्णाति—**अनादीति**। पूर्वज्ञानादेः प्रागभावस्यात्मनश्च यथायथं विशेषणैर्व्यावृत्तिः। संगृहीतं लक्षणं विवृणोति—**अनादित्वे सतीत्यादिना**। ननु चिरंतनमतानुसारेण पार्थिवपरमाणुविशेषगुणेष्वतिव्याप्तिरुक्तेति तत्राह—**तदन्यस्य चेति**। एतच्च द्वितीयपरिच्छेदे विवरिष्यते। यच्चानादित्वे सति भावरूपं तदनिवर्त्यं यथात्मेत्यनुमानविरोधादसंभवीदं लक्षणमिति तद्दूषयति—**नचासंभवित्वमिति**। अयं भावः—किमिदं भावत्वं हेतूकृतं ? किं वस्तुत्वं ? उताभावविलक्षणत्वम् ? नाद्यः; असिद्धेः। न द्वितीयः, वस्तुत्वस्यैवोपाधित्वादिति।

प्रमाणाक्षेपं परिहरति—**न चैवंविध इति**। श्लोकेनानुमानं संगृह्णाति—**देवदत्तेत्यादिना**।

से सांसारिक पुरुषों का प्रलयकालीन 'ज्ञानाभाव' ही कहा गया है और 'माया' शब्द से परमेश्वर की ज्ञान शक्ति, जो प्रकृतिस्वरूप है, कही गई है। इस प्रकार अनिर्वचनीय अज्ञान में लक्षण, प्रमाण की सम्भावना न होने के कारण वैसा अज्ञान मानना एक मूढ़ता है।

उत्तर पक्ष—अनिर्वचनीय अविद्या में लक्षणासंभव नहीं—'जो अनादि भावरूप, विज्ञान से विलीन हो जाता है, वही अज्ञान है—यह लक्षण विज्ञ किया करते हैं।' अर्थात् 'अनादित्वविशिष्ट विज्ञाननिरस्यभावरूपत्व'—यह लक्षण यहाँ विवक्षित है। इसकी अव्याप्ति किसी अज्ञान में नहीं; क्योंकि सभी अज्ञानों में उक्त (अनादित्व, भावत्व, विज्ञाननिरस्यत्व) तीन रूपों का समन्वय है। अतिव्याप्ति भी नहीं; क्योंकि अनादि भावरूप आत्मा में निवर्त्यत्व (नाश्यत्व) ही नहीं, ज्ञाननिवर्त्यत्व कैसे रहेगा ? अनादि भावरूप आत्मा से भिन्न परमाणु तथा परमाणुगत श्यामत्वादि तो (वेदान्त सिद्धान्त में) स्वरूपतः ही असिद्ध हैं, उनमें अनादित्व का न मानना तो दूर रहा। उक्त लक्षण असम्भवी भी नहीं, क्योंकि भावाभाव-विलक्षण अज्ञान में केवल अभाव-विलक्षणता के कारण भावत्व का उपचार मात्र होता है, वस्तुतः उसमें भावत्व नहीं रहता; अतः आत्मा के दृष्टान्त से 'भावत्व' हेतु के द्वारा उसमें अनिवर्त्यत्व का अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

अनिर्वचनीय अविद्या में प्रमाणासम्भव भी नहीं—'देवदत्त-प्रमा, तद्गत प्रमाभाव से अतिरिक्त

---

१. अनादित्वविशेषणेन पूर्वज्ञानादेः,भावत्वविशेषणेन प्रागभावस्य,विलीयते-इत्यनेनात्मनश्च व्यावृत्तिरितिविभागः

देवदत्तप्रमा तत्स्थप्रमाभावातिरेकिणः ।
अनादेर्ध्वंसिनी मात्वादविगीतप्रमा यथा ॥१८॥

विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठप्रमाऽभावातिरिक्तानादेर्निवर्तकं प्रमाणत्वाद्यज्ञदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम् । ये तु प्रमा प्रमाप्रागभावनिवृत्तिरेव न तु निवर्तिकेति मन्यन्ते, तान्प्रति—देवदत्तप्रमा तन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवृत्तिरिति प्रयोक्तव्यम् । नचैतदसमवेतत्वमेतदन्यसमवेतत्वं वा तत्रोपाधिः ; साध्याव्याप्तेः—एतत्समवेतसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानामेतन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादेः स्वप्रागभावस्य निवर्तकत्वेन साध्ये विद्यमानेऽपि त्वदुक्तोपाधेरभावात् । नच विवादपदमनादेर्भावस्य निवर्तकं न भवति पदार्थत्वात्संप्रतिपन्नवदिति प्रत्यनुमानविरोधः ; सत्ताद्रव्यत्वाद्यनिवर्तकत्वेन सिद्धसाधनत्वात् । ननु संप्रतिपन्नात्मादिपदार्थो-

---

देवदत्तप्रमेति धर्मिनिर्देशः, तत्स्थेत्यादिः साध्यनिर्देशः, मात्वादिति हेतुनिर्देशः । अविगीता अविप्रतिपन्ना । यज्ञदत्तप्रमेति दृष्टान्तः । संग्रहं विवृणोति—विगीतमित्यादिना । इत्थमत्र प्रयोगः—देवदत्तप्रमाणज्ञानमेतन्निष्ठप्रमाणाभावत्वानधिकरणानादिनिवर्तकं प्रमाणत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणवदिति । अत्र चाभावत्वानधिकरणेत्येवालम् । अनादिनिवर्तकमित्युक्ते प्रागभावमादायार्थान्तरता तदर्थं प्रमाणाभावत्वानधिकरणेत्युक्तम् । तावति चाप्रसिद्धविशेषणता प्रमाणाभावत्वानधिकरणस्यानादेर्ज्ञाननिवर्त्यस्य तेनानङ्गीकारादात्मनश्च तन्निवर्त्यत्वानङ्गीकारात् तदर्थं देवदत्तनिष्ठेत्युक्तम् । यज्ञदत्तनिष्ठप्रमाणे हि देवदत्तनिष्ठत्वे सति प्रमाणाभावत्वानधिकरणानादेस्तत्प्रागभावस्य निवर्तके सुप्रसिद्धमेव साध्यमिति नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये । पूर्वज्ञानसुखादिव्यवच्छेदायानादिग्रहणम् । पक्षे चैतन्निष्ठप्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणत्वमेतन्निवर्त्यस्यानादेरेतन्निष्ठत्वानधिकरणत्वेन न संभवति । अन्यनिष्ठप्रागभावं प्रत्यन्यनिष्ठस्यानिवर्तकत्वात् । तस्मादेतन्निष्ठत्वे सति यत्प्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणमनादि ज्ञाननिवर्त्यं च, तदभिमताज्ञानमेवेति तत्सिद्धिः । नन्वभावनिवृत्तिरेव भावः, नहि भावव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिर्नाम संभवतीति केषांचिन्मतम् । तथा च यज्ञदत्तप्रमाणस्य स्वप्रागभावनिवृत्तित्वात्, निवर्तकत्वलक्षणसाध्याभावात्साध्यविकलो दृष्टान्त इति तत्राह—ये त्विति । व्याप्यत्वासिद्धिं परिहरति—नचैतदिति । सत्प्रतिपक्षमाशङ्क्य परिहरति—नच विवादपदमिति । संप्रतिपन्नवदिति । घटवदित्यर्थः । अत्र किमनादिभावस्य यस्य कस्यचिदनिवर्तकत्वं साध्यते ? किं वोभयसंप्रतिपन्नानादिभावव्यतिरिक्तस्यानादेर्भावस्याभावविलक्षणस्य ? आद्यं प्रत्याह—सत्तेति । द्वितीयं

किसी अनादि पदार्थ की नाशिका है, प्रमा होने से, जैसे अविगीत प्रमा ।' अर्थात् 'विवादास्पद देवदत्तनिष्ठ प्रमाणज्ञान, देवदत्तनिष्ठ प्रमाभाव से भिन्न किसी अनादि पदार्थ का निवर्तक है, प्रमाण होने से यज्ञदत्तादिनिष्ठ प्रमाणज्ञानवत्'—यह अनुमान प्रमाण है । जो लोग प्रमा को प्रमा-प्रागभाव की निवृत्तिरूप ही मानते हैं, निवर्तक नहीं । उनके प्रति 'देवदत्त-प्रमा देवदत्तगत प्रमाभाव से भिन्न अनादि पदार्थ की निवृत्तिरूप है'—ऐसा प्रयोग करना चाहिए । यहाँ 'देवदत्तासमवेत्व' या 'देवदत्तान्यसमवेतत्व' उपाधि है—ऐसा सन्देह नहीं करना; क्योंकि देवदत्तसमवेत सुखादि में (देवदत्त-निष्ठ प्रमाभाव से भिन्न सुखादि-प्रागभाव रूप अनादि-पदार्थ का निवर्तकत्वरूप) साध्य तो है, किन्तु देवदत्तासमवेतत्व नहीं; अतः वह साध्य-व्यापकता न होने से उपाधि नहीं । यदि कहें कि 'विवादास्पद (देवदत्तप्रमा) अनादि भाव का निवर्तक नहीं, पदार्थ होने से, घटादि के समान'—यह प्रत्यनुमान (सत्प्रतिपक्ष) है । तो वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अनादि भाव, सत्ता द्रव्यत्वादि भी हैं, उनकी निवर्तकता देवदत्तनिष्ठ प्रमाण ज्ञान में न होने से सिद्धसाधनता दोष आपके इस अनुमान में है । यदि कहें कि उक्त अनुमान में 'उभय-सम्मत आत्मादि अनादि पदार्थों

तिरिक्तस्य भावस्याभावातिरिक्तस्य चानादेर्न निवर्तकमिति विशेषणादिदमदूषणमिति चेत्, न; तस्य तवाप्रसिद्धतयाऽप्रसिद्धविशेषणत्वापत्तेः। किंच 'न किंचिदवेदिषमि' ति परामर्शसिद्धसौषुप्तिकानुभवोऽप्यत्र प्रमाणम्। नच ज्ञानाभावविषयोऽयमनुभवः; अभावप्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगिबोधपराधीनतया तदभावे तस्यानुभवितुमयोग्यत्वात्। नच भेदसादृश्यादिवत्स्वरूपेणाभावस्यापि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यता; तथात्वे सादृश्यादिवदेव भावत्वापत्तेः, निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यो भाव इति परैर्लक्षणाङ्गीकारात्। नायं सुषुप्तिकालीनानुभवजपरामर्शः, किंतूत्थितस्येदानीमेव सौषुप्तिकज्ञानाभावानुमानमिति च न वाच्यम्; तदनुमापकलिङ्गासिद्धेः।

शङ्कते—नन्विति। नच विगीता प्रमा प्रमाऽभावातिरिक्तैतन्निष्ठानादिनिवर्तकत्वानधिकरणं प्रमात्वात् यज्ञदत्तप्रमावत् इति प्रसाधनादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावाद्भवति प्रतिप्रयोग इति वाच्यम्। देवदत्तनिष्ठं प्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठानाद्यभावानिवर्तकत्वात्यन्ताभावानधिकरणं प्रमाणज्ञानत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणज्ञानवदित्याभाससमानयोगक्षेमत्वात्। नच देवदत्तप्रमा देवदत्तनिष्ठत्वे सति देवदत्तप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवर्तकत्वानधिकरणं प्रमात्वात् यज्ञदत्तप्रमावदिति सत्प्रतिपक्षता। एतन्निष्ठनिवर्तकत्वानधिकरणत्वस्योपाधेः, एतत्सुखादौ च व्यतिरेकसिद्धिः। अभावविलक्षणाज्ञाने प्रत्यक्षमपि प्रमाणमाह—किं चेति। उत्थितस्य न किंचिदवेदिषमिति परामर्शदुन्नीतो यः सौषुप्तिकानुभवः सोपि प्रमाणमित्यर्थः। ननु किमिति निर्विकल्पकानुभवायोग्यत्वं यावता भेदसादृश्यादिवत्संभव उक्तस्तत्राह—न च भेदसादृश्येति। ननु किमिति भावत्वापत्तिः? नहि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यत्वसाम्यात्सादृश्यभेदयोरैक्यमिति तत्राह—निर्विकल्पकेति। यत्तु तेनोक्तमस्मत्पक्षे तु नायं परामर्श इत्यादि तदनूद्य दूषयति—नायमित्यादिना। ननु किमिति

से भिन्न अनादि भाव का निवर्तक नहीं'—इतना साध्य मानेंगे अतः सिद्धसाधन दोष नहीं। तो वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वैसा अनादि भाव आपके मतमें अप्रसिद्ध होने से अप्रसिद्धविशेषणता होगी।

दूसरा प्रमाण 'कुछ भान नहीं रहा'—इस प्रकार के जाग्रतकालीन स्मरण से अनुमित सुषुप्तिकालीन अनुभव भी है। वह अनुभव ज्ञानाभाव को ही विषय करता है—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अभाव की प्रतीति अनुयोगी एवं प्रतियोगी के ज्ञान के अधीन होती है। वह ज्ञान वहाँ होता नहीं अतः अभाव का प्रत्यक्ष सुषुप्ति में नहीं हो सकता। [यहाँ रहस्य यह है कि सुषुप्ति में वेदान्ती अज्ञानविषयक निर्विकल्पक अनुभव मानते हैं। अभाव के विषय में नैयायिकों का कहना है—"प्रतियोगिविशेषिततज्ज्ञानं तु विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादां नातिशेते"—(सामा० ल० दीधितिः) अर्थात् प्रतियोगिविशिष्ट अभाव का ज्ञान सविकल्पकरूपता का उल्लंघन नहीं कर सकता। अतः अभाव में सुषुप्तिकालीन निर्विकल्पक ज्ञान की विषयता नहीं रह सकती]। यदि शङ्का हो कि भेद, सादृश्यादि पदार्थों के समान अभाव भी स्वरूपेण निर्विकल्पकज्ञान का विषय क्यों नहीं होगा? तो वह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि तब तो सादृश्यादि के ही समान उसको भाव भी मानना पड़ेगा, कारण यह कि 'निर्विकल्पक बुद्धि-बोध्य भाव होता है'—ऐसा भाव का लक्षण दूसरे मानते हैं। यह जो कहा कि "न किञ्चिदवेदिषम्"—यह सुषुप्तिकालीन अनुभव-जन्य परामर्श (स्मरण) नहीं, अपितु सुषुप्ति से

---

१. प्रमाभावातिरिक्तस्यैतन्निष्ठस्यानादेर्निवर्तकत्वानधिकरणमित्यन्वयः। बाधं वारयितुं प्रमाभावातिरिक्तेति, न च लघुतरेणैव भावत्वाङ्कुशेन बाधवारणवारणे शक्ष्याम इति वाच्यम्; भावतोऽपि विलक्षणत्वेन विभ्रमस्य, सिद्धसाधनतापातात्। तर्ह्यभावातिरिक्तत्वमेवास्तु लघु विशेषणमित्यपि न वक्तव्यम्; अप्रसिद्धविशेषणताप्रसक्तेः। तथा हि—प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेरेतन्निष्ठस्य सुखादिप्रागभावस्य निवर्तकत्वानधिकरणत्वं यज्ञदत्तप्रमाया इति सुखादिप्रागभावमुपादायैव साध्यं प्रसिद्ध्यति। अभावातिरिक्तत्वविशेषणेन स नोपादातुं शक्येत। न चैवमपि जीवेशादिसम्बन्धमादाय साध्यप्रसिद्धिःस्यादितिवाच्यम्; अखण्डाभावघटकतया प्रमाघटितस्यापि सार्थक्यात्।

नच सामग्र्यभावो लिङ्गम् ; तस्याप्यसिद्धेः । नच ज्ञानाभावेन तस्यानुमानम् ; अन्योन्याश्रयतापत्तेः, सामग्र्यभावाज्ज्ञानाभावानुमानं तदभावाच्च सामग्र्यभावानुमानमिति । नचैवं सति वेदान्तिनामपि ज्ञानाभावानुमानासंभवः ; अवस्थाभेदसंभिन्नभावरूपाज्ञानसंवेदनादेव सुषुप्त्यवस्थायां तद्विरुद्धस्य ज्ञानस्य तत्सामग्र्याश्चाभावानुमानात्, त्वयापि गत्यन्तराभावादेवमेव ज्ञानाभावानुमानस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । नचैवंविधमज्ञानमद्याप्यसिद्धमिति वाच्यम् ; तत्प्रमाणस्य दर्शितत्वात् ।

त्वदुक्तमर्थं न जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्तिरपि भावरूपाज्ञानसद्भावे मानम् । नच प्रमाणतो न जानामीत्येवंपरतयापि व्यवहारोपपत्तिः ; त्वदुक्तेर्थे प्रमाणज्ञानं मम नास्तीत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्, तद्विशेषणतयार्थस्यापि प्रमाणेनाधिगतत्वात्, स्ववचनव्याघातापत्तेः । एतदतिरिक्तप्रमाणज्ञानं त्वदुक्तेऽर्थे मम नास्तीति वदतो वचनव्याघात-

सामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गासिद्धिः ? यावता ज्ञानाभावेनैव शक्यानुमानं[1] तद्वैकल्यमिति तत्राह—नच ज्ञानाभावेनेति । यच्च तेनोक्तमन्यथा भवतामपि घटपटादिज्ञानाभावानुमानं न स्यादिति तदनूद्य परिहरति—नचैवं सतीति । मम तु भावरूपाज्ञानबलादुभयाभावः शक्यानुमान इत्यर्थः । तवापीयमेव गतिर्नान्येत्याह—त्वयापीति । यत्त्वेवंविधाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च मां प्रत्यसिद्धिरिति तत्राह—नचैवंविधमिति । परामर्शस्याप्युपलक्षणमिदं तस्यापि समर्थनात् ।

अर्थापत्तिमपि प्रमाणयति—त्वदुक्तमर्थमित्यादिना । पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य निषेधति—नचेत्यादिना । त्वदुक्तमर्थं प्रमाणतो न जानामीति यदिदं ज्ञानं तत्तावत्प्रमाणमेव, यथार्थानुभवत्वात् । तथा चैतज्ज्ञानविषयान्तर्गततयैतद्विषयभूतस्यार्थस्यापि प्रमाणतो ज्ञातत्वात्तन्निषेधवचनविरोध इत्याह—त्वदुक्तेऽर्थे इति । ननु प्रमाणतो न जानामीत्यस्यायमर्थः—एतदज्ञातत्वग्राहिप्रमाणव्यतिरिक्तं प्रमाणज्ञानं नास्तीति । तत्राह—एतदतिरिक्तेति । अत्राप्येवंविधज्ञानस्य पूर्वनिर्दिष्टादतिरिक्तप्रमाणत्वादेव तदविषयत्ववचनं

उठने पर जाग्रतकालीन (ज्ञानाभावविषयक) अनुमान है । वह कहना उचित नहीं; क्योंकि उस अभाव के अनुमापक लिङ्ग की असिद्धि है । सामग्र्यभावरूप लिङ्ग की भी सिद्धि नहीं । ज्ञानाभाव से सुषुप्ति में सामग्र्यभाव का अनुमान यदि करना चाहें, तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा—'सामग्र्यभाव से ज्ञानाभाव का और ज्ञानाभाव से सामग्र्यभाव का अनुमान सामग्र्यभाव को हेतु न मानकर वेदान्ती भी वहाँ ज्ञानाभाव का अनुमान कैसे करेंगे'—यह सन्देह उचित नहीं; क्योंकि अवस्था विशेष-विशिष्ट भावरूप अज्ञान के अनुभव से ही सुषुप्ति दशा में ज्ञान तथा उसकी सामग्री के अभाव का अनुमान हो जाता है । आपको भी अगत्या यही मार्ग ज्ञानाभाव के अनुमान में अपनाना होगा । यह तो कह सकते नहीं कि 'वैसा अज्ञान अभी तक सिद्ध नहीं हुआ'; क्योंकि उसमें प्रमाण दिखाए जा चुके हैं ।

'आप के कहे अर्थ को नहीं जानता'—इस व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति भी उक्त अर्थ में प्रमाण है । 'प्रमाण से आपके कहे अर्थ को नहीं जानता हूँ'—इस अर्थ में उक्त व्यवहार का तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि 'त्वदर्थविषयक प्रमाणज्ञान मुझे नहीं'—यह अनुभव ही विशिष्टविषयक होनें से प्रमाण है ही । इसी प्रमाण ज्ञान का परम्परया उक्तार्थ भी विषय हो गया । अब यह कहना कि उक्तार्थ प्रमाणज्ञान का विषय नहीं—वदतो व्याघात है । यदि कहें 'त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाणज्ञान मुझे नहीं'—इस प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाणज्ञान मुझे त्वदुक्तार्थ में नहीं—यह हमारा तात्पर्य है । तो यह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि यह द्वितीय प्रमाण, जो कि उक्त प्रथम प्रमाण से अतिरिक्त है, उक्त अर्थ को परम्परया विषय करता है; अतः यहाँ भी वही स्ववचन-व्याघात दोष

---

[1] सुषुप्तिकालीन आत्मा, ज्ञानतत्सामग्र्यभाववान्, तद्विरुद्धाज्ञानानुभवितृत्वात्, प्रलयकाली-

दोषानुषङ्ग एवास्यापि ज्ञानस्य पूर्ववदेव प्रमाणजन्यत्वात्। नच सामान्यतः प्रमाणेनार्थस्याधिगमेपि विशेषानधिगमाददोषः; विशेषस्याप्यधिगमानधिगमयोः पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। ननु भावरूपमप्यज्ञानं ज्ञाननिरस्यमभ्युपगम्यते भवद्भिस्तत्कथं ज्ञायमानेर्थे न जानामीति व्यवहारः, मैवम्; अस्मन्मतेऽज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणाबोध्यत्वात्, प्रमाणज्ञानोदयात्प्राक्कालेऽज्ञानं तद्विशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्धोऽज्ञात इत्यनुवादगोचरो भवति, भवति च प्रश्नार्ह इत्यविरोधात्। उक्तं च सम्प्रदायविद्भिः—"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवे"ति।

किंच 'तम आसीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्या'दित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम्। नच तमःशब्देन ज्ञानाभावः कथ्यते; नासदासीदित्यभावं व्यावर्त्य तम आसीदिति प्रतिपादनात्। नच परमेश्वरज्ञानशक्तिर्माया; 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'मायामेतां तरन्ति ते', 'तरत्य-

---

व्याहतमित्यर्थः। ननु सामान्यतः प्रमितस्य विशेषतोऽनधिगमोद्भावनान्न व्याहतिरिति तत्राह—नच समान्यत इति। पूर्वोक्तेति। पूर्वपक्षसमयोक्तेत्यर्थः। ननु त्वन्मतेपि कथं ज्ञायमानेऽर्थे न जानामीति व्यवहारः यावता ज्ञानाभाववदज्ञानमपि ज्ञाननिवर्त्यमेवेति चोदयति—नन्विति। न तत्राज्ञाननिवर्तकं प्रमाणज्ञानं तद्बोधकमपि तु साक्षिचैतन्यम्। नच तदज्ञाननिवर्तकं तत्साधकत्वादिति परिहरति—मैवमिति। प्रमाणाबोध्यत्वादिति। अभावव्यावृत्तेरेवानुमानादिप्रमाणैर्बोध्यमानत्वादिति भावः। यत एव पूर्वं प्रमाणज्ञानं नोत्पन्नं साक्षिणैवाज्ञानविशिष्टतयैवार्थो निर्ज्ञात इत्यत एवानुवादप्रश्नौ घटेते इत्याह—प्रमाणज्ञानोदयादिति।

आगममपि प्रमाणयति—किंच तम आसीदित्यादिना। यत्तु जीवानां तात्कालिकज्ञानाभावस्तमश्शब्दाभिधेय इति तन्न। नासदासीदित्यभावस्यापि प्रतिषेधादित्याह—नच तम इति। नच प्रागभावप्रध्वंसवर्गस्यानाद्यनन्तस्य सद्भावादशक्यनिषेधतेति वाच्यम्। तयोरप्युत्पत्तिविनाशवत्तायाः साधयिष्यमाणत्वात्। मायाशब्दस्यान्यथासिद्धिमुक्तां निराचष्टे—नच परमेश्वरेति। ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य ज्ञान-

---

है। यदि कहा जाय कि सामान्यतः उक्तार्थ प्रमाण से अधिगत है, किन्तु विशेषतः नहीं—यह मानने पर; उक्त दोष नहीं। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि यहाँ भी उक्तदोष है। (अर्थात् विशेष के विषय में वही प्रश्न उठेगा कि ज्ञात है? या अज्ञात? ज्ञात होने पर 'न जानामि' नहीं कह सकते और अज्ञात होने पर प्रश्न ही अनुपपन्न हो जाता है)। पूर्वपक्षी शङ्का कर सकता है कि भावरूप अज्ञान को भी तो आप ज्ञान-निरसनीय ही मानते हैं, फिर आप भी ज्ञायमान अर्थ के विषय में कैसे कह सकते हैं—'मैं नहीं जानता'। किन्तु उसकी शङ्का युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि हमारे मत में अज्ञान-निवर्तक है—प्रमाणज्ञान और अज्ञान-साधक है—साक्षिचैतन्य। (निवर्तक साधक नहीं और साधक निवर्तक नहीं)। वस्तुस्थिति यह है कि प्रमाणज्ञान के उदय होने से पूर्व ही अज्ञान और उसका विषय अर्थ साक्षिसिद्ध है, और प्रमाण से अज्ञात है; अतः वह अनुवाद का विषय भी होता है और प्रष्टव्य भी। सम्प्रदाय विज्ञों ने कहा भी है—'सभी पदार्थ ज्ञात या अज्ञात रूप से साक्षिचैतन्य के विषय हैं।'

"तम आसीत्," "मायां तु प्रकृतिं विद्याद्"—इत्यादि आगम भी उसमें प्रमाण हैं। पूर्वपक्षी ने 'तम' शब्द का जो ज्ञानाभाव अर्थ किया था, वह ठीक नहीं; क्योंकि उक्त श्रुति में 'नासदासीद्'—इस प्रकार अभाव का खण्डन, करके तम का विधान किया गया है, (अतः तम का अभाव अर्थ कैसे कर सकते हैं?) दूसरी श्रुति में 'माया' शब्द का अर्थ किया था—ईश्वर की शक्ति। वह भी संगत

नात्मवादित्यनुमानमत्र बोध्यम्। २. ननु प्रमाणाबोध्यं चेदज्ञानं, तर्हि तद्बोधार्थे देवदत्तप्रमेत्याद्यनुमानं किमित्यु-

विद्यां विततां योगी माया’मित्यादिना ज्ञाननिवर्त्ये मायाशब्दप्रयोगदर्शनात्। तदेवं लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादनादिभावरूपाज्ञानमस्तीति सिद्धम्।

किंच भ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणेऽपि न दोषः। नचात्मन्यतिव्याप्तिः; तस्य केवलस्य कूटस्थस्य कस्याप्यनुपादानत्वात्। सत्योपादानत्वे च विभ्रमस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात्। नच विभ्रमोऽपि स्वरूपतः सत्यः; तथात्वे प्रमाणज्ञानवदेव विषयापहारलक्षणवाधस्याप्यसंभवप्रसङ्गात्। नचैतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादित्यनुभवविरोधः; अनिर्वचनीयस्यापि विभ्रमस्याभावविलक्षणतया तथात्वेनानुसन्धानोपपत्तेः। नच स्वरूपसत एवासीदिति प्रतिसन्धानम्; एतावन्तं कालमिहादर्शे मुखमासीत्स्फटिकश्च लोहित आसीदित्याद्यनुसन्धानदर्शनात्।

निवर्त्यत्वानङ्गीकारादिति भावः। उपसंहरति—तदेवमिति।

पञ्चममपि मतं शक्यसमर्थनमित्याह—भ्रमोपादानमिति। नचात्मनीति। कूटस्थस्य तस्य वियदादिविकाराभावादविद्यावेशवशाद्विकारे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन तस्या एव विकारः। नचैवं सांख्यसिद्धान्तसङ्गतेरिह गन्धिता, परमेश्वराध्यस्तानिर्वचनीयाविद्यापरिणामस्य विवर्तापरनाम्नः स्वीकारादीदृशमेव हेतुत्वमभिप्रेत्य ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत’ इत्यादिसृष्टिश्रुतयस्तथा ‘जन्माद्यस्य यतः, प्रकृतिश्चे’त्याद्यधिकरणान्यपि। अत एव धातुसमीक्षायां ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम्—

‘शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तितः।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी ततः॥’ इति

परिणामित्वमात्रं चात्रोपादानत्वमभिप्रेतं, यत्तु विभ्रमस्यापि स्वरूपेण सत्यत्वान्नेदमनिष्टमिति तत्राह—नच विभ्रमोऽपीति। यदि हि घटादिज्ञानवत्स्वरूपेण सत्यो विभ्रमः स्यात्ततस्तद्वदेव यथार्थोऽपि स्यादित्यर्थः। अत एवाहुराचार्याः—‘सदसद्भ्यामनिर्वाच्याविद्या वेद्यैः सह भ्रम’ इति। प्रत्यभिज्ञाविरोधमुक्तं परिहरति—नचैतावन्तमिति। ननु सद्विलक्षणस्यासतः कथमासीदिति प्रतिसंधानविषयत्वमिति तत्राह—नच स्वरूपसत एवेति। भ्रमोपादानाज्ञाने प्रमाणमाह—विगीत इति। अत्राप्यतिरिक्त-

---

नहीं; क्योंकि—“भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः” (फिर अन्त में विश्वमाया की निवृत्ति हो जाती है—श्वे० १।१०), “मायामेतां तरन्तिते” (वे इस माया को तर जाते हैं—भ. गी. ७।१४), “तरत्यविद्यां विततां योगी मायाम्” (योगी विस्तृत अविद्या और माया को तर जाता है—वि. पु. ५।१७।१४)—इत्यादि वाक्यों में ‘माया’ शब्द का प्रयोग किया गया है—ज्ञान-निवर्त्य वस्तु में। (ईश्वर की शक्ति तो नित्य होने से ज्ञान-निवर्त्य नहीं; अतः माया शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय अविद्या ही है)। इस प्रकार लक्षण और प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि अनादि भावरूप अज्ञान है।

अज्ञान के ‘भ्रमोपादनत्व’- इस लक्षण में भी कोई दोष नहीं। आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं दे सकते; क्योंकि वह असङ्ग कूटस्थ है, किसी का भी उपादान नहीं। यदि सत्य को विभ्रम का उपादान मानेंगे, तो विभ्रम भी सत्य हो जायगा। विभ्रम भी स्वरूपतः सत्य है—यह कहना उचित नहीं; अन्यथा उसी प्रकार उसके विषय का भी बाध नहीं हो सकेगा, जैसे प्रमाण ज्ञानके विषय का। ‘यदि विभ्रम को स्वरूपतः सत्य न मानें, तब ‘इतने समय तक यह रजत प्रतीत होता रहा’—इस अनुभव का विरोध भी नहीं, क्योंकि ‘विभ्रम यद्यपि अनिर्वचनीय (भावाभाव-विलक्षण) है, तथापि भाव-विलक्षणता के कारण उसकी भावरूप से प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। स्वरूपतः सत् का ही ‘आसीत्’—इस रूप से प्रतिसन्धान नहीं होता; अपितु ‘इतने समय तक इस दर्पण में मुख था,’ ‘स्फटिक लोहित था’—इस प्रकार स्वरूपतः असत् प्रतिबिम्बादि के विषय में भी ‘आसीत्’—

पन्यस्तम्? इत्यत आह—अभावव्यावृत्तेरिति। प्रमाप्रागभावादिभेदस्यैवानाद्यज्ञानधर्मस्य बोध्यमानत्वादित्यर्थः।

प्रयोगश्च, विगीतो विभ्रमः [1]एतज्ज्ञानकारणाबाध्यातिरिक्तोपादानः विभ्रमत्वात् देवदत्तादिविभ्रमवत्। दर्शित एव च सत्योपादानत्वे सत्यत्वप्रसङ्गो विपक्षे बाधकस्तर्कः। तस्माद्यदुपादानो विभ्रमस्तदज्ञानमिति सिद्धम्।

ननु तथाप्यसंभवि लक्षणं, [2]सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेन विभ्रमाणामेवाभावात्, विगीताः प्रत्यया यथार्थाः प्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानात्, अन्यथान्याकारस्य प्रत्ययस्यान्या-

कारणस्य द्रव्यस्य परैरबाध्यत्वाङ्गीकारात् तदर्थमेतज्ज्ञानकारणेत्युक्तम्। एतज्ज्ञानकारणत्वानधिकरणोपादान इत्युक्ते व्याहतिस्तदर्थमबाध्यत्वानधिकरणेत्युक्तम्। ततश्चाबाध्यत्वानधिकरणबाध्याज्ञानोपादानकत्वसिद्धिर्विभ्रमस्य। दृष्टान्ते त्वेतज्ज्ञानकारणातिरेकमादाय साध्यप्रसिद्धिः। अन्तिमसमर्थनमुपसंहरति—तस्मादिति।

'इत्यध्यक्षानुमानार्थापत्तिशब्दैः प्रसाधिता।
अविभक्ते परेऽविद्या भावाभावविभागदा॥
एषा साक्षात्साक्षिचैतन्यवेद्याऽविद्यानादिः स्वीकृता स्वे कृतान्ते।
वादिभ्रान्त्यापादिताभावभावादेभिर्मानैः केवलं भेदितात्र॥
शास्त्रैकगम्येऽपि यथा ह्यपूर्वेपरप्रमाणान्निरणायि भेदः।
यथाच रज्जूरगयोर्विभागं परे प्रमिण्वन्ति परानुबन्धात्॥'

विभ्रमोपादानमज्ञानमित्युक्तं तत्र विभ्रमाणामेवाभावादुपादानत्वमसंभवीत्यख्यातिवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु तथाप्यसंभवीति। किमिदं विभ्रमत्वेन विवक्षितं ? किं यथार्थज्ञानविशेषः यथास्माकं ? उतायथार्थज्ञानम् ? नाद्य। तदुपादानस्यात्मनोन्तःकरणस्य वा अविद्यात्वाभावात्। न द्वितीय इत्याह—सर्वप्रत्ययानामिति। विभ्रमाणामेवाभावादिति। ज्ञानानामयथार्थत्वाभावादित्यर्थः। ननु कुतः सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वसिद्धिरित्यनुमानादित्याह—विगीता इति। अंशतः सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विगीतग्रहणम्। अयथार्थव्यवहारहेतुभूतज्ञानानां पक्षीकरणाच्च नाश्रयासिद्धिः। विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति। भासमानतया हि विषयत्वं नतु सत्तया, नापि कारणतयाऽतिप्रसङ्गात्। नच रजतज्ञाने शुक्तिका चकास्ति। तथाचाचेत्यमानशुक्तिकालम्बनत्वकल्पनायां विरुध्यत्येव रजतानुभव इति भावः। तथाच नयवीथ्यां—'[3]अत्र भ्रमो य एवार्थे' इत्यादिना विषयलक्षणमुक्त्वोक्तं तेन—

'[4]अन्यस्य चान्यथाभानं प्रतीत्यैव पराहतम्।
परस्मिन्भासमानेपि न परं भासते यतः'॥ इति।

स्थाने तत्त्वानधिकरणपदं प्रक्षेप्तव्यम्। अबाध्यत्वानधिकरणोपादान इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्वत्रोपादान-

ऐसा प्रयोग होता है। अनुमान-प्रयोग भी कर सकते हैं—'विवादास्पद विभ्रम, एतज्ज्ञानकारणीभूत अबाध्य से अतिरिक्तोपादानक है, विभ्रम होने से, जैसे देवदत्तादि के विभ्रम।' विपक्षबाधक तर्क तो दिखाया ही जा चुका है—सत्योपादान मानने पर विभ्रम में सत्यत्वापत्ति। इसलिए विभ्रम का जो उपादान है, वही अज्ञान है—यह सिद्ध हो गया।

अख्याति-वादोत्थापन—अख्यातिवादी प्रभाकर का कहना है कि उक्त लक्षण असम्भवी है; क्योंकि सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं, विभ्रम कोई होता ही नहीं; कि उसका उपादान अज्ञान सिद्ध हो। 'विवादास्पद ज्ञान, यथार्थ हैं, ज्ञान होने से, उभय-सम्मत यथार्थज्ञान के समान'—इस अनुमान प्रमाण से सब ज्ञानों में यथार्थत्व सिद्ध होता है। अन्यथा रजताकार ज्ञान का आलम्बन शुक्तिकादि

---

[1] एतज्ज्ञानकारणीभूतादबाध्यादतिरिक्तमुपादानं यस्येति विग्रहः। एतज्ज्ञानकारणीभूतोऽबाध्य एष आत्मा, तदतिरिक्तो देवदत्तात्मा तदुपादानकत्वं देवदत्तविभ्रमस्येति साध्यप्रसिद्धिः। [2] द्र० न्या० म० पृ० ६५। [3] प्र. पं. नय. २३। [4] प्र. पं. नय. २५।

लम्बनतायामनुभवविरोधात्, संविदां स्वविषयव्यभिचारे चानाश्वासप्रसङ्गात्, असतोऽपि संसर्गादेरवभासमानतायामसत्ख्यातेरपिं दत्तावसरतया सौगतमतानुप्रवेशप्रसङ्गात्, असतश्च संसर्गादेः स्फुरणकारणानिरूपणात्, चक्षुरादेश्च संप्रयुक्तमात्रग्राहित्वात्, देशान्तरनिवेशिनः स्वरूपासतश्च संप्रयोगायोग्यत्वात्, दोषाणां च स्वारसिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिरोधमात्रहेतुत्वात् मूषिकाघ्रातशालिबीजादौ तथादृष्टत्वात्, दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मनो दग्धस्यावेत्रबीजत्वेन दोषाणां विपरीतकार्यकारणतां प्रत्यनुदाहरणत्वात्। सर्वत्र च प्रतीयमानयोः

बाधकान्तरमाह—**संविदामिति**। तदप्युक्तं—

'यदि स्वार्थे परित्यज्य काचिद्बुद्धिः प्रवर्तते।
व्यभिचारवती स्वार्थे कथं विश्वासकारणम्' ॥ इति।

अपसिद्धान्तापत्तिरपि बाधिकेत्याह—**असतोपीति**। यदि च बहिरसदिदं प्रतीयेत साकारतापि विज्ञानस्य स्यात्। तदप्युक्तं '[2]अयथार्थत्वपक्षे च ज्ञानं साकारमापत'दिति। तदेवं संविद्विरोधानाश्वासासत्ख्यातिप्रसङ्गान्बाधकानुक्त्वा कारणानिरूपणं दर्शयन्नकारणककार्यप्रसङ्गमपि बाधकं बध्नाति—**असतश्चेति**। तदप्युक्तं '[3]अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारण' मिति। नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरवसीयते कारणमिति तत्राह—**चक्षुरादेरिति**। अस्तु तर्ह्यारोप्येणापि संप्रयोग इति तत्राह—**देशान्तरेति**। देशान्तरनिवेशिनो रजतादेः स्वरूपेणासतश्च नष्टपुत्रादेरिति योजना। ननु दोषदूषिताक्षादेरस्ति मिथ्याप्रत्ययजननसामर्थ्यमिति तत्राह—**दोषाणां चेति**। स्वाभाविकशक्तिप्रतिबन्धमात्रं दोषकृत्यं नत्वतिशयाधानमित्यर्थः। ननु दावदाहोपहतवेत्रबीजानां हरिद्राजलावसिक्तहरिद्राङ्गारपरिप्लुष्टहारीतमांसस्य च दशरात्रं कांस्यपात्रोषितस्य सर्पिषश्च दृष्टं विपरीतं रम्भाकाण्डारम्भकत्वं मरणकारणत्वं चेति तत्राह—**दावदहनेति**। दोषाणां विपरीतकार्यकारणतां प्रति दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मनोऽनुदाहरणत्वात्, कुतः ? दग्धस्यावेत्रबीजत्वेनेति योजना। उक्तं हि '[4]भस्मकादिषु कार्यस्य विघातादेव दोषते'ति। ननु संसृष्टव्यवहारदर्शनात्संसर्गज्ञानपूर्वकत्वमितरत्रेवानुमीयत इत्यत आह—**सर्वत्रेति**। सुषुप्त्यादौ सर्वत्र संसृष्टव्यवहारप्रसक्तिवारणाय प्रतीयमानयोरित्युक्तम्। नन्विदं विपर्ययस्थलमात्रलोभेन सकलसमीचीनव्यवहारवर्तिसंसर्गज्ञानत्रातहेतुपरिहरणम् '[5]अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्व'मिति

मानना होगा, जो कि अनुभव-विरुद्ध है। दूसरी बात यह भी है कि यदि किसी एक ज्ञान का अपने विषय से व्यभिचार माना जायगा, तब सभी ज्ञानों पर से विश्वास ही उठ जायगा। संसर्गादि असत् पदार्थों का भान मानने पर असत्ख्याति के लिए द्वार खुल जायगा, फिर तो बौद्धों का प्रवेश हो जायगा। असत् संसर्गादि के भान का कारण भी कोई नहीं। चक्षु-आदि तो केवल सन्निकृष्ट के ग्राहक होते हैं। किन्तु जो पदार्थ देशान्तर में है या जिसका स्वरूप ही नहीं, उसके साथ चक्षु-आदि का सम्बन्ध ही नहीं बन सकता। दोष भी असत् पदार्थ-विषयक ज्ञान के जनक नहीं हो सकते; क्योंकि दोषों से स्वाभाविक, कार्य-जनक शक्ति का प्रतिबन्ध मात्र हुआ करता है, जैसा कि चूहे के खाए धानों में देखा गया है। दावानल से जले हुए नरकट के बीज, जिनसे केला पैदा होता है, नरकट के बीज ही नहीं रहते अतः वे विपरीत कार्य की कारणता में उदाहरण नहीं बन सकते। [अर्थात् 'दोष विपरीत कार्य के जनक होते हैं'—इसमें दृष्टान्त नरकट के जले बीज तब होते यदि जलने पर भी उनमें नरकट-बीजत्व का व्यवहार होता और वे नरकट से भिन्न केला पैदा करते किन्तु जले बीजों को नरकट का बीज ही नहीं कहा जाता]। सभी कहीं प्रतीयमान सम्बन्धियों

---

१. प्र. पं. नय. ६६ । २. प्र. पं. नय. ७२ । ३. प्र. पं. नय. ७३ । ४. प्र. पं. नय. ७४ । ५. रघु० २।४७ ।

संसर्गिणोः संसर्गव्यवहारस्यासंसर्गाग्रहनिबन्धनत्वात्, संसर्गज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनायां गौरवात् । असंसर्गाग्रहप्रसञ्जितसंसर्गव्यवहारमात्रबाधनादेव बाधकस्य बाधकतोपपत्तेः। इदमितिप्रत्ययस्य च दोषदूषितचक्षुर्जन्यतयानाकलितविशेषस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वात्; रजतमिति चासंनिहितविशेषविषयस्य संप्रयोगलिङ्गाद्यजन्यतया संस्कारमात्रकारणत्वेन स्मरणत्वात्, तस्य च दोषहेतुकत्वेन तत्तांशागोचरतया स्वविषयाविवेचकत्वात् । तयोश्चान्योन्यसंसर्गसाकांक्षसामान्यविशेषालम्बनयोः स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतासंसर्गयोर्निरन्तरोत्पन्नयोः

न्यायमनुसरतीत्यत आह—संसर्गज्ञानस्यापीति । नन्वयथार्थज्ञानानङ्गीकारे नेदं रजतमिति बाधकत्वेन किं [2]बाधितव्यमिति तत्राह—असंसर्गाग्रहेति । ननु सर्वमेतदिदं रजतमिति संसर्गग्राहिप्रत्ययविरुद्धमित्याशङ्क्य नेदमेकं ज्ञानमपितु ग्रहणस्मरणात्मकमगृहीतविवेकं ज्ञानद्वयमित्याह—इदमितिप्रत्ययस्य चेत्यादिना । इदमितिप्रत्ययस्य ग्रहणरूपत्वादित्युत्तरत्रान्वयः । अस्य च ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्यापि स्वस्य स्वविषयस्य चेतरस्मादविवेचकत्वस्य वक्ष्यमाणस्यानाकलितविशेषत्वस्य च सिद्ध्यर्थं दोषदूषितेत्युक्तम् । भवत्वेवमेतद्रजतमित्यत्र का वार्तेति ? परिशेषात्स्मृतिरित्याह—रजतमिति । असंनिहितत्वेनासंप्रयोगादप्रत्यक्षत्वम्, अगृहीतव्याप्तिकत्वादनुमेयत्वमस्यासंभवि । अननुभूतरजतस्य च प्रत्ययो नोत्पद्यते, तस्मात्सदृशदर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारस्य संजायमानैषा स्मृतिरेवेति भावः । तदुक्तं 'परिशेषात्स्मृतिरेषेति निश्चयो जायतेऽन्ततः' इति । ननु स्मृतेर्गृहीतग्रहणस्वभावायास्तद्विपरीतात् ग्रहणाद्गृह्यमाणाच्च गवयादिस्मृतिवत्स्वार्थस्य स्वस्य च किमिति न विवेचकत्वमिति तत्राह—तस्य चेति । दुष्टमनोयोगित्वात् तद्देशकालवैशिष्ट्यं न गृह्णातीत्यविवेचकत्वमित्यर्थः । तथापि कथं स्वरूपतो विषयतश्च विभिन्नाभ्यामाभ्यां संसृष्टप्रवृत्तिरित्यत आह—तयोश्चेति । सामान्यविशेषेति । इदमिति सामान्यमात्रं, रजताकारो विशेषः । नन्विदंज्ञानमिदमि प्रवर्तयतु रजतज्ञानं च रजते, किमिति रजतार्थिनः पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिस्तत्राह—स्वरूपतो विषयतश्चेति । स्यादेतत्-किमिदमेकैकं व्यवहारहेतुः ? उत मिलितम् ? नाद्यः ; पृथक्प्रदेशे प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; क्षणिकज्ञानयोर्मेलनायोगादित्यत आह—निरन्तरोत्पन्नयोरिति । यद्यपि मेलनं न संभवति तथापि नैरन्तर्येणोत्पत्तिरेव तथाविधप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । विनश्यदविनश्यतोः सहावस्थानं वा नैरन्तर्येण विवक्षितम् । ननु यथार्थज्ञानानामपि विभ्रमत्वे सर्वेषामेव किमिति न विभ्रमत्वसिद्धिरिति तदनुपपत्तिरेव विपर्यये प्रमाणमित्यत

के सम्बन्ध-व्यवहार के असंसर्ग का अज्ञान ही हेतु होता है; संसर्ग-ज्ञान को भी उसका हेतु मानने में महान् गौरव होगा। असंसर्ग के अज्ञान से जन्य संसर्ग-व्यवहार मात्र का बाध कर देने से ही बाधक ज्ञान में बाधकता बन जाती है। ("इदं रजतम्"—इस व्यवहार में) 'इदम्'—यह ज्ञान दोष-दूषित नेत्र से जन्य होने के कारण शुक्ति के विशेष अंश को विषय न कर, केवल सामान्य अंश को ही विषय करने वाला प्रत्यक्ष है एवं 'रजतम्'—यह ज्ञान असन्निकृष्ट विशेष विषय (रजत) को विषय करने वाला स्मरण रूप है, क्योंकि वह इन्द्रिय-संयोग या लिङ्गादि से जन्य नहीं, अपितु संस्कार मात्र से जन्य है। यह स्मरण दोषहेतु के होने से तत्तांश को विषय नहीं कर पाता, इसीलिए वह न तो अपना विवेचक होता है और न अपने विषय का। [आशय यह है कि 'सा गौः'—की भाँति यदि यहाँ भी 'तद् रजतम्'—ऐसा स्मरण होता, तब वह न तो स्वयं पूर्व प्रत्यक्ष से मिलता और न अपने विषय को मिलने देता। किन्तु दोष से जन्य होने के कारण 'तत्ता' अंश को विषय नहीं करता]। उन दोनों (प्रत्यक्ष और स्मरण) ज्ञानों का (जिनके विषय इदंरूप सामान्य और रजतरूप विशेष—दोनों में संसर्ग की आकांक्षा है) न तो स्वरूप से ही असंसर्ग (भेद) गृहीत होता है और न विषय के द्वारा। और वे दोनों निरन्तर (अव्यवहित) उत्पन्न होते हैं। इन्हीं

---

[1] स्वस्य विषयस्य चाविवेचकत्वादित्यर्थः। [2] क्वचिद्बोद्धव्यं क्वचिच्चबाद्धव्यमित्यपि पाठः। [3] प्र० पं० नय० ३२

स्वरूपेण यथार्थयोरप्ययथार्थव्यवहारप्रवर्तकयोर्विभ्रमत्वप्रसिद्धेरप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्ययानां यथार्थत्वेन स्वरूपतो विभ्रमत्वाभावात् विभ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणमलक्षणमेवेति ।

अत्रोच्यते ; नैतत्सारं यतः—

स्वीकारे विभ्रमाणां स्यात्स्वीयसिद्धान्तबाधना ।
अनभ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥ ११ ॥

विगीतविभ्रमाभ्युपगमे सिद्धान्तविरोधात्, अनभ्युपगमे हेतोराश्रयासिद्धेरनुमानानुदयात्। अयथार्थव्यवहारहेतोर्ज्ञानस्य पक्षीकरणाददोष इति चेत्, न ; यथार्थस्यापीश्वरज्ञानस्य सर्वव्यवहारहेतोरयथार्थव्यवहारं प्रत्यपि हेतुतया तत्र तार्किकाणां सिद्धसाधनत्वात्। इदं रजतमित्यत्रापीदमंशविषयस्य वृत्तिज्ञानस्यायथार्थव्यवहारहेतोरप्यधिष्ठानविषयस्य वेदान्तिभिर्य-

आह—स्वरूपेणेति। तदुक्तं नयवीथ्यां—

‘संनिहितरजतशकले[1] रजतमतिर्भवति यादृशी सत्या ;
भेदानध्यवसायादियमपि तादृक्परिस्फुरति ॥
साधारणं हि रूपं तस्याश्चास्याश्च विद्यते तेन ।
तन्मात्रप्रतिभानात्समानतामेव मन्यन्ते ॥
तत्तुल्यव्यवहारप्रवृत्तिरपि युज्यते भ्रातः ।
तद्विनिवारणकारणबाधकभावोऽयं बाधकस्यापि ॥’

इति वृत्तवादसंगतिगर्भं पूर्वपक्षमुपसंहरति—प्रत्ययानामित्यादिना। एतेन पीतः शङ्ख इत्यादिप्रत्यया अपि व्याख्याताः, तेषु ग्रहणाविवेकसमाश्रयणात्। स्वप्नसंशययोश्च स्मरणाविवेकत्वमिति । सिद्धान्तयति—नैतत्सारमित्यादिना । श्लोकं विवृणोति—विगीतेति । ननूभयसंमतायथार्थव्यवहारे हेतुज्ञानमात्रपक्षीकरणादुभय[2]परिहार इति गङ्गापुरीयं मतं शङ्कते—अयथार्थेति । अयथार्थव्यवहारहेतोर्यथार्थत्वसाधने तार्किकाणां तावदीश्वरज्ञानमादायार्थान्तरमिति दूषयति—न। यथार्थस्यापीति । भवतु तान्प्रति, त्वां प्रति तु किमायातमिति तत्राह—इदंरजतमित्यत्रेति । अयमर्थः—इदं रजतमित्यत्रेदमित्यन्तःकरणपरिणामः प्रत्यक्षः, रजतमिति तु रजतरूपसंस्कारानुरञ्जितेदमंशावच्छिन्नात्माविद्यापरिणामः ; तयोरेकसाक्षिवेद्यत्वेनैकफलत्वादेकज्ञानत्वमिति हि सिद्धान्तः। ततश्चेदमंशज्ञाने सिद्धसाधनमिति । अन्यथाख्या-

कारणों से वे दोनों स्वरूपतः यथार्थ होने पर भी अयथार्थ-व्यवहार के प्रवर्तक हो जाते हैं, इसीलिए उनमें भ्रमत्व की प्रसिद्धि बन जाती है। इस प्रकार यही सिद्ध हुआ कि सभी प्रत्यय (ज्ञान) स्वरूपतः यथार्थ हैं, कोई भ्रम ज्ञान नहीं, अतः ‘विभ्रमोपादानकत्व’ यह लक्षण असम्भव ही है।

अख्यातिवाद-निरास—उक्त मत निःसार है; क्योंकि प्रभाकर से पूछा जा सकता है—आप भ्रमज्ञान मानते हैं ? कि नहीं ? यदि भ्रम मानते हैं, तब आपके सिद्धान्त का बाध और यदि नहीं मानते, तब आश्रयासिद्धि प्रबल दोष होगा। अर्थात् विवाद-ग्रस्त विभ्रम मानने पर आपके सिद्धान्त का विरोध (क्योंकि विभ्रम न मानना ही आपका सिद्धान्त है)। विभ्रम न मानने पर आपका (प्रत्ययत्व) हेतु आश्रयासिद्धि दोष-दूषित हो जाता है। ‘भ्रमज्ञान’ को पक्ष न बना, अयथार्थव्यवहार-हेतु ज्ञान को पक्ष बनाकर उक्त दोष यदि हटाते हैं, तब सिद्धसाधन दोष होता है, क्योंकि न्याय-मत से सर्व व्यवहार का हेतु ईश्वर-ज्ञान अयथार्थ व्यवहार का भी हेतु है। उस ईश्वर-ज्ञान में यथार्थत्व सिद्ध ही है। वेदान्त-मत से भी ‘इदं रजतम्’—यहाँ पर अयथार्थ व्यवहार के जनक इदमंशविषयक वृत्तिज्ञान में यथार्थत्व सिद्ध होने से सिद्धसाधनता है। यदि कहें कि ‘ज्ञानत्व

---

[1] प्र. पं. नय. ४१–४३, सन्निहितेति, हट्टस्थरजते इत्यर्थः। [2] सिद्धान्तविरोधाश्रयासिद्ध्योःपरिहार इत्यर्थः।

थार्थत्वाङ्गीकारात्। ज्ञानत्वं यथार्थमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वात्प्रमात्ववदिति विवक्षितमिति चेत्, मैवम्; मात्रशब्देनायथार्थवृत्तिव्यावृत्तिविवक्षायामयथार्थव्यवहारे ज्ञानत्वस्य वृत्त्यभावेन सिद्धसाधनत्वात्। अयथार्थवृत्तित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेत्, न; दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वस्य तत्रोपाधेः।

यथार्थशब्देन च सदर्थविवक्षायां नायं सर्प इत्यादिबाधविरोधात्, तुच्छव्यावृत्तार्थविवक्षायां चास्मान्प्रति सिद्धसाधनत्वात्। किं चायथार्थप्रत्ययोस्तीत्यस्य प्रत्ययस्य यथार्थत्वे तस्य सालम्बनत्वाय कश्चिदप्ययथार्थप्रत्ययोऽभ्युपेयः; तथा सति तत्रैव हेतोरनैकान्तिकता।

तिवादिनामपीदमंशज्ञाने समानमेतत्। 'सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय' इति न्यायात्। धर्मिप्रयुक्तदूषणपरिहाराय रीत्यन्तरमाह—**ज्ञानत्वमिति**। यथार्थवृत्तित्वमात्रसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मात्रग्रहणम्। तथा ज्ञानवृत्तित्वादित्युक्ते सत्तायामनैकान्तिकत्वं, अयथार्थव्यवहारेऽपि तस्याः वृत्तेस्तन्निवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम्। अत्र मात्रशब्देन किमयथार्थवृत्तित्वाभावमात्रं विवक्षितं? किं वाऽयथार्थवृत्तित्वानधिकरणत्वम्? प्रथमं प्रत्याह—**मैवम्। मात्रशब्देनेति**। अयथार्थो हि व्यवहारस्तवापि संमतस्तत्र च ज्ञानत्वस्यावृत्तिरस्तीत्यर्थान्तरमित्यर्थः। ज्ञानत्वमनुभवमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वादित्याभाससमानयोगक्षेमता च द्रष्टव्या। द्वितीयं शङ्कते—**अयथार्थेति**। अत्र दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वमुपाधिः। नच साधनव्यापकता; दुष्टसामग्रीप्रसूतग्रहणस्मरणयोरपि ज्ञानत्वस्य वृत्तेः। व्यवहारत्वसत्त्वादिना व्यतिरेकसिद्धिः। मात्रग्रहणं तु व्यर्थमेव [1]विषमव्याप्तेरप्युपाधित्वात्।

किंचोभयोरप्यनुमानयोः साध्यगतयथार्थशब्दस्य कोऽर्थः? किं सत्त्वम्? उतासद्व्यावृत्तत्वम्? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—**यथार्थशब्देनेत्यादिना**। ननु भवतूत्तरपक्षे त्वां प्रति सिद्धसाधनत्वमन्यथाख्यातिवादिनं प्रति किं दूषणमिति तदर्थं सर्वसाधारणं दूषणं वक्तुमुपक्रमते—**किंचेत्यादिना**। अयथार्थः प्रत्य-

यथार्थमात्र में वृत्ति है, ज्ञानमात्र में वृत्ति होने से, जैसे प्रमात्व'—यह अनुमान विवक्षित है। तो वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि यहाँ 'मात्र' शब्द से ('अयथार्थ-वृत्तित्वाभाव विवक्षित है ? या अयथार्थ-वृत्तित्वानधिकरणत्व ?) अयथार्थ-वृत्तित्वाभाव लेने पर सिद्ध-साधन है, कारण कि अयथार्थ व्यवहार-निरूपित वृत्तित्वाभाव ज्ञानत्व में सिद्ध ही है। अयथार्थ-वृत्तित्वानधिकरणत्व लेने पर 'दुष्टसामग्र्यजन्यमात्र-वृत्तित्व' उपाधि है (द्रष्टव्य न्या० ली० पृ. ४३९)।

(उक्त दोनों अनुमानों में साध्यगत) 'यथार्थ' शब्द से (सदर्थत्व विवक्षित है ? या असद्भिन्नार्थत्व ?) सदर्थत्व की विवक्षा में "सर्वे प्रत्यया यथार्थाः" का अर्थ होगा—"सर्वे प्रत्ययाः सदर्थाः।" रज्जु में सर्प का ज्ञान भी यदि सदर्थक है, तब "नाय सर्पः"—इस बाधकज्ञान से उसका बाध नहीं होगा। असद्भिन्नार्थत्व की विवक्षा में हमारे मत में सिद्ध-साधन होगा; क्योंकि हम मिथ्यार्थ को भी असत् से भिन्न ही मानते हैं। दूसरी बात यह है कि—"अयथार्थप्रत्ययोऽस्ति" (अयथार्थ ज्ञान है)—यह ज्ञान (यथार्थ है ? या नहीं ?) यदि यथार्थ है, तो इस ज्ञान को सविषयक बनाने के लिए यह मानना होगा कि इसका विषय 'अयथार्थ ज्ञान' है, तब तो

---

[1] १. विषमा व्याप्तिर्यस्य स तथा, तादृशस्य धर्मस्याप्युपाधित्वादित्यर्थः। उक्तं हि शङ्करमिश्रेण (वै० सू० उप० ३।१।१४)—"सत्यम्, समव्याप्त एव उपाधिपदप्रयोगः; अन्यत्र तु गौणस्तदुक्तम्—

वाद्युक्तसाध्यनियमच्युतोऽपि कथकैरुपाधिरुद्भाव्यः।
पर्यवसितं नियमयन्. दूषकताबीजसाम्यात्॥" इति।

यस्मिन्नुपाधौ साध्यस्यव्यापकत्वं व्याप्यत्वं चोभे वर्तेते स समव्याप्तिकः; यस्मिंश्च साध्यस्य

अयथार्थत्वे तस्य प्रत्ययस्य कण्ठोक्त एव व्यभिचारः । अयथार्थप्रत्ययोऽस्तीत्येतादृशः प्रत्ययो नास्ति किंतु व्यवहारमात्रं पदार्थानामसंसर्गाग्रहनिबन्धनमिति चेत्, मैवम्; सर्वत्र संसर्गव्यवहारस्य व्यवह्रियमाणपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्वनियमात् । अन्यथा मध्यमवृद्धव्यवहारेऽप्यसंसर्गाग्रहादेव तदुपपत्तेर्व्युत्पित्सोः संसर्गज्ञानानुमानाभावाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गः । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेऽप्यसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः,

---

योऽस्तीति वाक्यजन्या तत्प्रयोगमूलभूता वा प्रतीतिरुत्पद्यते न वा ? आद्ये यथार्थाऽयथार्था वा ? उभयथाप्येतत्प्रत्ययविषयेणैतत्प्रत्ययेन वानैकान्तिकत्वमुक्त्वाऽनुत्पत्तिपक्षं शङ्कते—**अयथार्थेति**। असंसर्गाग्रहमात्रात् संसृष्टव्यवहारो न युक्तः संसर्गज्ञानमन्तरेण संसृष्टव्यवहारानुत्पत्तिनियमादिति परिहरति—**मैवमिति**। एवं नियमानङ्गीकारे बाधकमाह—**अन्यथेति**। गामानयेति हि उत्तमवृद्धेनोक्ते मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिं दृष्ट्वा बाल इत्थमाकलयति—नूनमनेन पदकदम्बेनैतावदर्थविषयं ज्ञानं संसृष्टप्रवृत्तिहेतुभूतमुत्पादितमिति, पश्चादावापोद्धाराभ्यां पदार्थविशेषेषु पदविशेषसामर्थ्यं गृह्णातीति व्युत्पत्तिपरिपाटी । तदत्रापि संसृष्टव्यवहारस्यसंसर्गाग्रहादेवोपपत्तौ संसृष्टपदार्थविषयप्राथमिकज्ञानानुदयात्तन्मार्गसङ्गतिग्रहायोगाद्धतं शब्दप्रामाण्येनेत्यर्थः । न केवलं शब्दप्रामाण्यस्यैवायं वियोगोऽपि त्वनुमानस्यापीत्याह—**एवमिति**। यथा हि शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वाद् घटवदित्यनुमानाभासे संसृष्टव्यवहारोऽसंसर्गाग्रहमात्रात्, तद्वन्नित्यः शब्दो ध्वनि[1]तद्धर्मव्यति-

---

आपका प्रत्ययत्व हेतु इस विषयभूत ज्ञान में व्यभिचरित हो गया; क्योंकि उसमें यथार्थत्व रूप साध्य के न रहने पर भी 'प्रत्ययत्व' हेतु रह गया । यदि वह ('अयथार्थप्रत्ययोऽस्ति') ज्ञान यथार्थ नहीं, तब तो उसमें नितान्त स्पष्ट व्यभिचार है; क्योंकि उसमें यथार्थत्व न रहने पर भी 'प्रत्ययत्व' हेतु रहता है । यदि आप कहें कि "अयथार्थ ज्ञान है"—ऐसा ज्ञान तो कोई नहीं होता, केवल वैसा व्यवहार मात्र पदार्थों का भेद-ज्ञान न होने के कारण हो जाता है । तो वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि यह नियम है कि सर्वत्र संसर्ग-व्यवहार, व्यवहर्तव्य संसर्ग के ज्ञान से जन्य होता है (न्यायलीलावतीकारने भी यही उत्तर दिया है—"व्यवहारो हि व्यवहर्तव्योपलम्भनिबन्धनः" पृ. ४२१) अन्यथा गवानयनादि में मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति (व्यवहार) भी असंसर्ग के अग्रह (ज्ञानाभाव) से ही हो जायगी । वहाँ व्युत्पत्ति का इच्छुक बालक संसर्ग-ज्ञान का अनुमान न कर सकेगा, तब तो शब्द की प्रमाणता ही भङ्ग हो जायगी । [तात्पर्य यह है कि प्राभाकर शब्द की शक्ति का निश्चय व्यवहार से किया करते हैं । जैसे कि किसी आचार्य ने अपने व्युत्पन्न शिष्य को कहा—'गौ ले आओ' । वह गौ लाने के लिए चल दिया और गौ ले आया । पास में बैठा अव्युत्पन्न बालक आचार्य के शब्दों का अर्थ न समझने पर भी यह अनुमान अवश्य करता है कि आचार्य के शब्दों ने उस शिष्य को ऐसा ज्ञान दिया है, जिससे वह गौ लाने में प्रवृत्त हो गया । वह ज्ञान 'गो और लाना रूप' पदार्थों के सम्बन्ध को विषय करने वाला होगा, नहीं तो 'गो और लाना'—का मेल क्यों हुआ, अर्थात् गो को ही क्यों लाया । अतः प्रथम बार वह बालक पूरे वाक्य का पूरे अर्थ से सम्बन्ध स्थापित करता है । अनन्तर 'गो ले जा'—आदि दूसरे मिलते-जुलते वाक्यों से वैसी प्रवृत्ति देख-देख अपनी ऊहापोह से प्रत्येक पद का प्रत्येक अर्थ से ठीक जोड़ बिठाकर व्यवहार करने लग जाता है—इस प्रकार शब्दप्रमाण में प्रमाणता आती है । अब यदि बिना सम्बन्ध-ज्ञान के ही प्रवृत्ति होगी, तो बालक सम्बन्ध का अनुमान न कर सकेगा और शब्दों का सामर्थ्य न पकड़ सकेगा । अतः शब्द प्रमाण ही बिगड़ जायगा]। इसी प्रकार अनुमानाभास के समान सदनुमानों में भी असम्बन्ध के अज्ञान मात्र से सम्बन्ध-व्यवहार बन जायेगा, अतः अनुमान मात्र का उच्छेद एवं प्रत्यभिज्ञा-

---

व्यापकत्वमात्रं, स विषमव्याप्तिक इति भावः । १. तारत्वमन्दत्वादीत्यर्थः ।

प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च ; ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेः ।

यत्र दोषशङ्का नास्ति तत्र संसर्गज्ञानानुमानादुपपद्यत एव शब्दप्रामाण्यं, अन्यथान्यथाख्यातिवादिनोऽपि विपर्ययाशङ्कया व्युत्पत्तिविरहाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गो दुर्वार इति चेत्, मैवम् ; तव संसर्गज्ञानानुमानलिङ्गानिरूपणात् । तथाहि—किं दोषाभावः संसर्गज्ञानानुमापकः ? किं वा व्यवहारमात्रं ? उताविसंवादिव्यवहारः ? नाद्यः ; दोषाभावस्य संसर्गज्ञानस्य च व्यभिचारित्वात्, सत्यपि दोषाभावे सामग्रीवैकल्ये संसर्गज्ञानानुदयात् । नच दोषाभावविशिष्टसामग्रीसद्भावेन संसर्गज्ञानानुमानम् ; सामग्र्याः कार्यैकसमधिगम्यत्वात् । सति संसर्गज्ञाने सामग्र्यनुमानं तदनुमाने च संसर्गज्ञानमिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नापि

रिक्तत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्यत्रापीत्यर्थः । प्रत्यक्षेऽप्याह—प्रत्यभिज्ञेति । तत्र हेतुः—ज्वालैकत्वेति ।

दोषशङ्कासदसत्त्वाभ्यां नियममन्यथाख्यातिवादिप्रतिबन्द्या शङ्कते—यत्र दोषेत्यादिना । अन्यथाख्यातिवादिनामपि उत्तमवृद्धप्रयुक्तशब्दात्संसृष्टज्ञानमनुमाय तत्र बालस्य व्युत्पत्तिरित्यभिमतं, तथा सति यथा क्वचिदविपर्ययेऽपि विपर्ययशङ्का तथा तत्रापि विपर्ययशङ्का सावकाशेति तन्मार्गव्युत्पत्तेरभावात् शब्दप्रामाण्यभङ्ग एव । विपर्ययशङ्कोपशमश्च तत्र दोषशङ्कोपशमात्तदस्मन्मतेऽपि समानमित्यर्थः । दूषयति—मैवमिति । अस्यायं व्यवहारः संसर्गज्ञानपूर्वकः न पुनरसंसर्गाग्रहादित्यत्र न किंचिल्लिङ्गमस्तीत्यर्थः । संभवन्ति लिङ्गानि विकल्प्य दूषयंल्लिङ्गाभावमेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना । यत्र दोषाभावस्तत्र संसर्गज्ञानमिति व्याप्तिर्नास्तीत्युक्तं तदेव विवृणोति—सत्यपि दोषाभाव इति । ननु न दोषाभावमात्रात्संसर्गज्ञानमनुमिनुमः किंतु तद्युक्तसामग्रीसद्भावात्तथाच न व्यभिचारः, यस्मिन् सति भवत्येव कार्यमिति सामग्रीलक्षणादिति तत्राह—नच दोषाभावेति । भवेदेवं यदि सामग्र्येव ज्ञायेत, नत्वेतत् ; तस्याः कार्यैकगम्यतया संसर्गज्ञानलक्षणकार्यज्ञानतत्सामग्रीज्ञानयोः परस्पराश्रयप्रसङ्गादित्याह—सामग्र्या इति ।

प्रामाण्य का भी उच्छेद हो जायगा; क्योंकि दीपक की अनन्त ज्वालाओं में एकत्व न रहने पर भी एकत्व-व्यवहार जैसे हो जाता है; वैसे ही संसर्ग के अग्रह मात्र से संसर्ग-व्यवहार बन जायगा ।

शङ्का—जहाँ दोषों की सम्भावना कदापि नहीं, वहाँ तो सम्बन्ध-ज्ञान का अनुमान हो जायगा और शब्द में प्रामाण्य उसी प्रकार बन जायगा । अन्यथा अन्यथाख्याति-मत में सर्वत्र बाध की आशङ्का से शब्द-शक्ति का निर्णय न हो सकेगा, अतः शब्द-प्रामाण्य भंग हो जायगा । [आशय यह है कि अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकादि भी संसर्ग-ज्ञानानुमान-परिपाटी से ही शब्द को प्रमाण मानते हैं । उनके यहाँ भी जहाँ विपर्यय है, वहाँ संसर्ग-ज्ञान का अनुमान न हो सकेगा । विपर्यय-आशङ्का तो ·सब कहीं होगी, तब संसर्गानुमान कैसे होगा ? यदि वे कहें कि जहाँ विपर्यय की सम्भावना नहीं वहाँ संसर्ग-ज्ञानानुमान हो जायगा, तब हमारे (प्राभाकर) मत में भी जहाँ दोष-आशङ्का नहीं, वहाँ संसर्ग ज्ञानानुमान हो जायगा और शब्द प्रमाण में प्रामाण्य सुरक्षित रह जायगा] ।

समाधान—आप (प्राभाकर) के मत में संसर्ग-ज्ञान का अनुमापक लिङ्ग क्या है ? क्या (१) दोषाभाव ? या (२) व्यवहारमात्र ? या (३) अविसंवादी व्यवहार ? प्रथम दोषाभाव लिंग संसर्ग का अनुमापक नहीं हो सकता; क्योंकि व्यभिचारी है—दोषाभाव के रहने पर भी संसर्ग-ज्ञान नहीं होता, यदि उसकी सामग्री न हो । दोषाभावविशिष्ट सामग्री की सत्ता से संसर्गज्ञान का अनुमान करने में अन्योऽन्याश्रय दोष होगा; क्योंकि सामग्री का ज्ञान तो कार्य से ही हो सकता है, फिर तो संसर्ग-ज्ञान होने पर सामग्री का अनुमान और सामग्री का अनुमान हो जाने पर संसर्ग-ज्ञान

द्वितीयः ; इदं रजतमित्याद्ययथार्थव्यवहारे व्यभिचारात् । नापि तृतीयः ; विनापि संसर्गग्रहं संसृष्टयोरसंसर्गाग्रहादेव तदुपपत्तेः, त्वन्मते घटत्वतद्व्यक्त्योः समवायस्याप्रत्यक्षतया संसर्गाग्रहेऽपि संवादिव्यवहारदर्शनेनानैकान्त्याच्च । व्यवहाराविसंवादस्य च देशान्तरकालान्तराधीनाधिगमतया व्यवहाराधिगमसमयेऽनधिगतत्वेनातल्लिङ्गत्वात् बालस्य मध्यमवृद्धसमवायिसंसर्गज्ञानानुमानानुदये व्युत्पत्तिविरहप्रसङ्गात् । नच प्रतीतिविरोधः ; रजताकारायाः प्रतीतेः शुक्तिकालम्बनतानभ्युपगमात् । नहि रजतं शुक्तिरिति परैरपि प्रतीतिरुपेयते । इदमाकारस्य तु रजतज्ञानालम्बनतामनभ्युपगच्छतस्तवैव प्रतीतिविरोधः । इदं रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपुरःसरमादानादिव्यवहारदर्शनात् ।

इदं रजतमिति । नहि तत्र संसर्गज्ञानं तवाभिमतमिति भावः । विनापीति । अविसंवादिव्यवहारस्यापि संसृष्टयोरर्थयोरसंसर्गाग्रहादेवोत्पत्तिसंभवात् न संसर्गज्ञानं विना काचिदनुपपत्तिर्येन तदनुमापयेदित्यर्थः । अत्र च विसंवादिव्यवहाराद्वैषम्यार्थं संसृष्टयोरित्युक्तम् । तेनैतदुक्तं भवति—असति संसर्गेऽसंसर्गाग्रहादुत्पद्यमानो व्यवहारो विसंवादीतरस्त्वविसंवादीति । न केवलमस्योक्तवर्त्मना शङ्कितानैकान्त्यमपितु स्पष्टमेव त्वन्मत इत्याह—त्वन्मत इति । घटत्वेति । घटत्वतद्व्यक्तिसंसृष्टव्यवहारस्तावदविसंवादी । नचात्र व्यवहारसमये संसर्गज्ञानमस्ति, तत्संसर्गस्य समवायस्य त्वन्मते प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात्, अनुमानस्य चाविसंवादिव्यवहारलिङ्गतया प्रागसिद्धेः । ततस्तत्राविसंवादिव्यवहारस्य संसर्गज्ञानपूर्वकत्वं व्यभिचरतीत्यर्थः । स्वरूपासिद्धिं चाह—व्यवहारेति । अविसंवादित्वस्य कालान्तराधिगम्यत्वात् मध्यमवृद्धवर्तिज्ञानानुमानसमये दुरधिगमतया लिङ्गत्वाभावेन सङ्गतिग्रहणायोगात् पुनरपि स एव दुरात्मा शब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग आगत इत्यर्थः । एवमनुमानं दूषितम् । यस्तु रजतज्ञानस्यान्यालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति बाधकतर्कोऽभिहितस्तं परिहरति—नचेति । तत्र किं रजताकारप्रतीतिं प्रति शुक्तेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोधः ? इदम्मात्रस्य वा ? आद्योऽनङ्गीकारपरास्त इत्याह—रजतेति । द्वितीयं दूषयति—इदमाकारस्यत्विति । प्रतीतिमेवाभिनयति—इदं रजतमिति ।

होगा । द्वितीय (व्यवहारमात्र) लिंग भी संसर्ग-ज्ञान का अनुमापक नहीं हो सकता; क्योंकि 'यह रजत है'—इत्यादि अयथार्थ-व्यवहार में व्यभिचारी है, कारण कि प्रभाकर के मतसे वहाँ संसर्ग-ज्ञान नहीं, किन्तु व्यवहारमात्र है । तृतीय (अविसंवादी व्यवहार) लिंग भी संसर्गज्ञान का अनुमापक नहीं हो सकता; क्योंकि संसर्ग-ज्ञान के बिना भी संसृष्ट (सम्बद्ध) पदार्थों में असंसर्ग के अग्रह से ही अविसंवादी व्यवहार बन जाता है । आपके मत में घटत्व और घट का समवाय प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, अतः वहाँ संसर्ग का ज्ञान न होने पर भी संवादी व्यवहार देखा जाता है; अतः व्यभिचारी भी है । वस्तुतः व्यवहारगत अविसंवादित्व का ज्ञान देशान्तर और कालान्तर के अधीन है, अभी (मध्यम वृद्ध के व्यवहार के ज्ञान-समय) है नहीं; अतः अविसंवादी व्यवहार, संसर्गज्ञानानुमान में लिङ्ग नहीं बन सकता । अतः बालक को मध्यमवृद्ध-समवेत संसर्ग-ज्ञान का अनुमान न होने से शक्तिग्रह न हो सकेगा । प्रतीति-विरोध भी नहीं ; क्योंकि (अन्याकार प्रतीति का यदि अन्य विषय मानते, तब अनुभव-विरोध होता, किन्तु) रजताकार प्रतीतिका शुक्ति आलम्बन नहीं मानते—'यह रजत शुक्ति है'—यह प्रतीति दूसरे कहाँ मानते हैं ? बल्कि आपके यहाँ ही अनुभव-विरोध है कि आप रजत-ज्ञान का विषय इदमाकार को नहीं मानते । किन्तु इदमाकार में रजत-ज्ञान की विषयता नितान्त स्पष्ट है ; क्योंकि "इदं रजतं" (इदं वस्तु ही रजत है)—यह सामानाधिकरण्येन प्रतीति होती है और इदं वस्तु की ओर अङ्गुलि-निर्देश करते हुए उसी को उठाने के लिए प्रवृत्ति भी देखी जाती है ।

नच संविदां विषयव्यभिचारादनाश्वासप्रसङ्गः ; विसंवादिव्यवहारजनकत्वपक्ष इवास्मन्मतेऽप्याश्वासोपपत्तेः । नचासतः संसर्गादेरवभासाभ्युपगमादसत्ख्यातिप्रसङ्गः ; भासमानस्य संसर्गादेः सद्विलक्षणतावदसद्विलक्षणताया अप्यङ्गीकारात् । नचायथार्थज्ञानजन्मनि करणाभावः; दोषदूषितचक्षुरादेस्तत्करणत्वोपपत्तेः ज्ञानानामाजानतो यथार्थव्यवहारजनकत्वेऽपि दोषवशादयथार्थव्यवहारहेतुत्ववदेव दुष्टानां करणानां विपरीतज्ञानहेतुताया अपि संभवात् । यथाच दवदाहस्य वेत्रबीजविनाशकत्वं रूपान्तरजनकत्वं च तथा दोषाणामपि यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वमयथार्थज्ञानजनकत्वं च किं न स्यात् ? सर्वत्र चासंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहार-

अनाश्वासप्रसङ्गं पूर्वोक्तं परिहरति—नचेति । येन हि नियामकेन क्वचिद्विसंवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि संविदां न सर्वत्र तच्छङ्कया प्रवृत्त्युच्छेदः, स नास्मन्मतेऽपि दण्डवारित इत्याह—विसंवादीति । किंच बोधकतया स्वतःप्रमाणत्वात् ज्ञानानामव्यभिचारस्य चानुमानमात्राङ्कतया प्रमाणमात्राननुप्रवेशित्वात् सितासितव्यभिचारेऽपि चक्षुषः प्रामाण्याङ्गीकाराच्च नाऽनाश्वासशङ्कापि । तृतीयं बाधकं परिहरति—नचासत इति । नानिर्वचनीयवादिनामयं दोष इत्यर्थः । एतेन साकारताप्रसङ्गोऽपि परिहृतः । अन्यथाख्यातिवादिनां तु त्वदीयव्यवहारेण समानयोगक्षेमत्वमिति द्रष्टव्यम् । यस्तु कारणाभावाद्विपर्यासापलापस्तं परिहरति—नचायथार्थेति । ननु समीचीनज्ञानहेतुभ्यो नयनादिभ्यः कथमसमीचीनज्ञानजन्म ? नहि जातु कुटजबीजाद्वटाङ्कुरप्ररोह इत्याशङ्क्य तत्र प्रतिबन्द्या परिहारमाह—ज्ञानानामिति । आजानतः, स्वभावतः । यत्तु दोषोपहतेभ्योऽपि न मिथ्याज्ञानजन्म प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकमात्रत्वाद् दोषाणामित्युक्तं तत्परिहरति—यथाच दवदाहस्येति । दवो वनवह्निः तेन यो दाहस्तस्येत्यर्थः । मा भूद्वनवह्निदग्धवेत्रबीजान्युदाहरणं, मा च भूत्तेषां वेत्रबीजता, दाहस्यैव तावदुभयकारकत्वमनुमतं तदेव भवतूदाहरणमित्यर्थः । यत्तु संसर्गज्ञानस्यापि संसृष्टव्यवहारहेतुत्वे कल्पनागौरवादसंसर्गाग्रह एव सर्वत्र संसृष्टव्यवहारहेतुरित्युक्तं तत्राह—सर्वत्रचेति । प्रमाणबलात्प्राप्तगौरवं न दोषः ।

यह जो दोष दिया था कि कोई ज्ञान यदि अपने विषय से व्यभिचरित होगा, तो सभी ज्ञानों पर से विश्वास उठ जायगा । वह दोष भी निराधार है ; क्योंकि आपके यहाँ किसी-किसी ज्ञान में विसंवादी (निष्फल) प्रवृत्ति की जनकता रहने पर भी दूसरे ज्ञानों में जैसे विश्वास बना रह जाता है, वैसे ही हमारा विश्वास भी और ज्ञानों पर अडिग रहेगा, जिससे निष्कम्प प्रवृत्ति होती रहेगी (इस विषय का विशद विवेचन ब्र० सि० पृ. १४४, न्या० म० पृ. ७५, न्या० ली० पृ. ४३२ पर किया गया है) । यह जो भय प्रकट किया था कि असत् संसर्ग का भान मानने पर असत्ख्याति के लिए द्वार खुल जायगा, जिससे बौद्ध घुस आयेंगे ; वह भय भी निर्मूल है । क्योंकि भासमान संसर्ग में सद्विलक्षणता के समान असद्विलक्षणता भी हम मानते हैं । 'अयथार्थ ज्ञान पैदा करने में कोई कारण नहीं'—यह भी आपका कहना असंगत है; क्योंकि दोष-युक्त नेत्रादि ही उसके कारण हैं । आपके यहाँ स्वाभाविक यथार्थ-व्यवहार के जनक ज्ञान, दोष-वश जैसे अयथार्थ व्यवहार के हेतु बन जाते हैं; वैसे ही हमारे यहाँ भी दोष-वशात् नेत्रादि करणों में भी अयथार्थ ज्ञान की हेतुता सम्भव हो जायगी । जैसे वनाग्नि-जन्य दाह में नरकट-बीजों की नाशकता और कदली-बीजों को जनकता होती है; वैसे ही दोषों में भी यथार्थ ज्ञान की प्रतिबन्धकता और अयथार्थ ज्ञान की जनकता क्यों न होगी ? (द्रष्टव्य न्या० वा० तात्पर्य टीका पृ. ९० तथा न्यायलीलावती पृ. ४३२) सब कहीं असंसर्ग के अग्रह के व्यवहार चलाने पर शब्द, लिङ्गादि प्रमाण भङ्ग हो जायँगे—यह

---

१. "व्यभिचारवतोऽपि च सितासितादिषु चक्षुषः सति तस्मिन् प्रामाण्यादि" त्यादेः मण्डनमिश्रैः (ब्र० सि० पृ० १४४) कृतस्य समाधानराशेर्दिग्दर्शनमात्रमेतत् ।

मभ्युपगच्छतः शब्दलिङ्गादिप्रामाण्यभङ्गस्य दर्शितत्वादेव कल्पनागौरवस्यादूषणत्वात्। असंसर्गाग्रहमात्रस्य व्यवहाराप्रसञ्जकत्वादेव तत्प्रसञ्जितायथार्थव्यवहारबाधकत्वेन बाधकस्य बाधकत्वोपपादनासंभवात्। नच व्यवहारव्यवच्छेदो बाधः; अतदर्थिनां तत्र व्यवहारानुदये नेदं रजतमित्यादिज्ञानस्याबाधकत्वप्रसङ्गात्। तदर्थिनां च व्यवहारविच्छेदकस्य बाधकत्वे चोरादिज्ञानस्यापि तद्विच्छेदकस्य बाधकतापत्तेः।

नच तद्योग्यताविच्छेदो बाधः; तद्विच्छेदे, समयान्तरे पुनस्तत्र व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। योग्यताप्रतिबन्धो बाध इत्यपि न; विवेकज्ञानवेलायां हेत्वभावादेव फलासिद्धौ प्रतिबन्धकल्पनानवकाशात्। नचाग्रहणनिवृत्तिर्बाधः; सर्वग्रहणानां तथात्वेन बाधरूपत्वप्रसङ्गात्।

'[1]प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।
बालाग्रशतभागोपि न कल्प्यो निष्प्रमाणकः॥'

इति न्यायादिति भावः। तदेवं संसर्गज्ञाने संसृष्टव्यवहारान्यथानुपपत्तिं प्रमाणमभिधाय बाधान्यथानुपपत्तिमपि प्रमाणयति—असंसर्गेति। उपपादनासंभवादिति। [2]तदनुपपत्तिरपि संसर्गज्ञानसाधिकेतिशेषः। अङ्गीकृत्य तदीयं [3]बाधं तद्धेतुत्वं ज्ञानस्य निरस्तम्, इदानीं स एव तु न घटतेऽव्याप्तेरित्याह—नच व्यवहारेति। अस्ति हि विरक्तस्यापि कस्यचित्पुरोवर्तिनीदं रजतमिति भ्रान्तिर्नेदं रजतमिति बाधश्च। नच तत्र व्यवहारोऽतदर्थित्वाद् अतोऽव्याप्तिरित्यर्थः। लक्षणान्तरं शङ्कते—तदर्थिनामिति। चोरादीति। यदा हि कश्चित्क्वचिद्देशे यागे चोरादिज्ञानाद्विच्छिन्नोद्योगो भवति तत्र चोरादिज्ञानस्य यागादिबाधकत्वं स्यादित्यर्थः।

ननु येयं व्यवहारयोग्यता पुरोवर्तिनो रजताद्यात्मना, तद्विच्छेदो बाधस्तथाच नाव्याप्तिरपि, विरक्तस्यापि योग्यतानपायादिति तत्राह—नच तद्योग्यतेति। तर्हि योग्यताप्रतिबन्धमात्रं बाधस्तथाच प्रतिबन्धापाये पुनरपि तत्रैव भ्रमिष्यतीति तत्राह—योग्यतेति। सति पुष्कलकारणे कार्यानुत्पत्तिर्हि शक्तिप्रतिबन्धकल्पिका सा चात्र नास्ति विवेकग्रहणेन विवेकाग्रहस्य निरासादित्यर्थः। लक्षणान्तरं दूषयति—नचाग्रहणेति। सर्वाणि हि ज्ञानानि स्वप्रागभावनिवर्तकानि निवृत्तिर्वेति बाधकत्वं बाधत्वं वा स्यात्,

दिखाया जा चुका है। यह जो कहा था कि संसर्ग-ज्ञान को भी व्यवहार के प्रति हेतु मानने में गौरव होगा। वह भी उचित नहीं; क्योंकि प्रामाणिक गौरव दोष नहीं माना जाता। जब असंसर्ग का अग्रह मात्र व्यवहार का निर्वाहक नहीं, तब उससे निर्वाह्य व्यवहार का बाध कर देने से बाधक में बाधकता भी असम्भव है। 'व्यवहार-व्यवच्छेद बाध है'—यह कह भी नहीं सकते; क्योंकि जो रजतार्थी नहीं, ऐसे विरक्त पुरुष को "इदं रजतम्"—यह भ्रम भी होता है और "नेदं रजतम्"—यह बाधक ज्ञान भी। किन्तु उसकी प्रवृति वहाँ किसी प्रकार की होती नहीं, फिर उसके बाधक ज्ञान में बाधकता कैसे बनेगी? रजतार्थी के व्यवहार-विच्छेदक को भी बाधक नहीं कह सकते; क्योंकि कोई रजतार्थी सामने देखता है कि रजत है, साथ-साथ यह भी देखता है सामने चोर खड़ा है, अतः वह रजत लेने के लिए प्रवृत्त न हो सका। वहाँ चोर-ज्ञान को भी रजत-ज्ञान का बाधक कहना होगा; क्योंकि वह व्यवहार का विच्छेदक है।

व्यवहार-योग्यता का विच्छेद, बाध है—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि योग्यता के नष्ट हो जाने से कालान्तर में वहाँ पुनः व्यवहार न हो सकेगा। योग्यता का प्रतिबन्ध बाध है—यह भी उचित नहीं; क्योंकि विवेक-ज्ञान (शुक्ति-रजत के भेद-ज्ञान) के समय विवेकाग्रह रूप हेतु के अभाव से ही व्यवहाररूप फल की असिद्धि बन जाती है, वहाँ प्रतिबन्ध की कल्पना नहीं हो सकती। अग्रहण (अज्ञान) की निवृत्ति बाध है—यह कहना भी सम्भव नहीं; क्योंकि संसार के

---

[1] तं० वा०. २।१।२। [2] बाधकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। [3] अयथार्थव्यवहारविच्छेदरूपमित्यर्थः।

अतो न व्यवहारनिवारणेन बाधकस्य बाधकतोपपत्तिः । रजतगोचरविज्ञानस्य च दोषदूषितलोचनजन्यतया परिशेषासिद्धौ संस्कारमात्रजन्यतया स्मृतित्वकल्पनायोगात् । नन्वसंयुक्तत्वेन रजतज्ञानं प्रत्यकारणस्य रजतस्य न तद्गोचरत्वं , सर्वत्र साक्षात्कारिज्ञाने तज्जनकस्यैव विषयत्वादिति चेत् , न ; प्रत्यभिज्ञायां तत्ताया अपि गोचरत्वात् । तत्र संस्कारसचिवमिन्द्रियं तत्तां गोचरयति संस्कारोपस्थापितत्वात्तत्ताया इति चेत् ; प्रकृतेऽपि तर्हि संस्कारोपनीतं रजतं दोषकलुषितेन्द्रियेण विषयीक्रियत इति न दोषः ।

तथापि समारोपे किं प्रमाणमिति चेद्, उच्यते—

नयनं नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिणः ।
ज्ञानस्य कारणं तत्त्वाद्यथैव नयनान्तरम् ॥ १२ ॥

एतच्चक्षुरेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकं चक्षुष्ट्वादिन्द्रियत्वाद्वा चक्षुरन्तरवदि-

---

तथाच सर्वेऽप्यभ्रान्ताः स्युरित्यर्थः । नच विवेकाग्रहनिवृत्तिर्बाधः, सर्वभेदज्ञानानां[1] बाधकत्वप्रसिद्ध्यभावादित्यपि द्रष्टव्यम् । अन्यथोपपत्तिनिराकरणमुपसंहरति—**अत इति** । परिणताज्ञाननिवृत्तिर्बाधस्तथाच तत्परिणामरूपमिथ्याज्ञानतदर्थौ विना न बाधसिद्धिरितिखण्डलकार्थः[2] । यत्तु परिशेषात्स्मृतिरित्युक्तं तद्दूषयति—**रजतगोचरेत्यादिना** । असंप्रयुक्तविषयत्वं साक्षात्कारित्वेऽनुपपन्नमिति शङ्कते—**नन्विति** । दूषयति—**न प्रत्यभिज्ञायामिति** । येषां हि प्रत्यभिज्ञानमेकं ज्ञानं तेषां तत्तापि चाक्षुष्येवेत्यर्थः । तत्र चक्षुषा संस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या चाक्षुषत्वेऽत्रापि सा समेत्याह—**तत्र संस्कारेत्यादिना** । प्रत्यभिज्ञावदेव तत्तोल्लेख[3]यथार्थत्वप्रसङ्गवारणाय दोषकलुषितेत्युक्तम् ।

यद्यपि सर्वप्रत्यययाथार्थ्यमप्रामाणिकं नापि विपक्षे कश्चिद्बाधकस्तर्कस्तथापि समारोपसद्भावे किं प्रमाणं ? नहि परपक्षप्रतिषेधमात्रात्स्वपक्षसिद्धिरित्यधिकविवक्षयाशङ्कयति—**तथापीति** । श्लोकेनानुमानं संगृह्णाति—**नयनमिति** । अत्र नयनविशेषः पक्षसाध्ययोर्निधातव्यः । कारणमित्यन्ता प्रतिज्ञा । तत्त्वादिति । नयनत्वादिन्द्रियत्वाद्वेति हेतुः । यथैव नयनान्तरमिन्द्रियान्तरं वेति दृष्टान्तः । एतदेव विवृणोति—**एतच्चक्षुरित्यादिना** । एतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणज्ञानजनकमिति च साधनीयम् । अन्यथा पूर्वकालैतज्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकत्वस्योत्तरकाले संभवेन सिद्धसाधनत्वात् ।

सभी ज्ञान अज्ञान-निवृत्तिरूप ही होते हैं, फिर तो सभी ज्ञानों में बाधरूपता होनी चाहिए । अतः यही सिद्ध हुआ कि व्यवहार-निवृत्ति मात्र से बाधक में बाधकता नहीं बन सकती; अपितु पूर्व संसर्ग-ज्ञान की निवृत्ति करने से ही उसमें बाधकता होती है । यह जा कहा था कि रजत-ज्ञान का दूसरा कोई जनक न होने से पारिशेष्यात् संस्कार ही जनक हैं, अतः रजत-ज्ञान स्मृतिरूप ही है; वह कहना भी युक्त नहीं । क्योंकि दोष-युक्त नेत्रों को रजत-ज्ञान का जनक माना जाता है । यदि सन्देह हो कि प्रत्यक्षभूत रजत-ज्ञान की विषयता इन्द्रियासम्बद्ध रजत में कैसे हो सकती है ? तो वह सन्देह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष की विषयता तत्ता में भी रहती है, किन्तु तत्ता इन्द्रिय-सम्बद्ध नहीं । यदि कहा जाय कि 'तत्ता' अपने संस्कारों से उपस्थापित है, अतः संस्कार सहित इन्द्रिय 'तत्ता' को विषय कर लेंगे, तब तो प्रकृत में भी ऐसा कहा जा सकता है कि रजत अपने संस्कारों से उपस्थापित है, अतः दूषित नेत्र उसको विषय कर लेंगे । तथापि यदि कोई पूछे कि समारोप (भ्रमज्ञान) में क्या प्रमाण है ? तो उसका उत्तर—'नयन, नयन-जन्य सम्यग्ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान का कारण है, नयन होने से, जैसे कि नयनान्तर ।' अर्थात् यह नेत्र, स्वजन्य

---

[1] घटो न घट इत्यादिरूपाणां विवेकापरपर्यायस्य भेदस्याग्रहणनिवर्तकानामित्यर्थः । [2] ककुद, खण्डल, तोमरेत्यर्धर्चादिपाठात् साधुः, कतिपयवाक्यसमूहार्थकः । [3] तत्तोल्लेखस्य यथार्थत्वस्य च प्रसङ्गवारणायेत्यर्थः

न्द्रियान्तरवच्च । नच चक्षुश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकं न भवति इन्द्रियत्वात् घ्राणवदिति प्रकरणसमता ; मनस्यनैकान्तिकत्वात्, तस्य साधारणकारणस्य चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तरसादिज्ञानजनकत्वात्। चक्षुषश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तरसादिज्ञानाजनकतया सिद्धसाधनत्वाच्च । नच बहिरिन्द्रियत्वादिति विशेषणान्नानैकान्तिकता; तत्रापि सिद्धसाधनतायास्तादवस्थ्यात् । नच यथोक्तयथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणतया साध्यस्य विविक्षितत्वाददोषः ; घ्राणादिषु

तत्र चक्षुर्मात्रपक्षीकरणे चक्षुरन्तरजन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणेनैतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानेनार्थान्तरता तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्ग्रहणम् । एवं साध्येपि द्रष्टव्यम् । यथार्थज्ञानत्वानधिकरणज्ञानजनकमित्युक्ते प्राभाकराणामप्रसिद्धविशेषणता विरुद्धता च, तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्जन्येत्युक्तम् । चक्षुरन्तरजन्यज्ञानस्य यथार्थत्वेनाङ्गीकारेऽप्येतच्चक्षुर्जन्यत्वाभावादेवैतच्चक्षुर्जन्यत्वे सति यथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमस्तीति नाप्रसिद्धविशेषणत्वसाध्यवैकल्ये । व्याहतिनिवृत्त्यै यथार्थपदम् । पक्षे त्वेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतच्चक्षुर्जन्यत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, व्याघातात् । तस्माद्यथार्थज्ञानत्वानधिकरणं किंचिच्चक्षुर्जन्यं ज्ञानं सिद्ध्यतीति चाक्षुषायथार्थज्ञानसिद्धिः । एवं लिङ्गाभासादिकमपि पक्षीकृत्य साधनीयम् । सत्प्रतिपक्षतामाशङ्क्य दूषयति—नच चक्षुरित्यादिना । यथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकं न भवतीत्युक्ते व्याप्त्यसिद्ध्या बाधानैकान्तिकते स्यातां तन्निवृत्त्यर्थं चक्षुर्जन्येत्युक्तम् । चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वेसत्यतिरिक्तज्ञानाजनकत्वं, चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वाभावाद्वा व्यतिरिक्तज्ञानाजनकत्वाद्वा । आद्यः पक्षो व्याहतः । द्वितीयस्तु सिद्ध्यन्नयथार्थज्ञानजनननिवारणेन सिद्ध्यतीत्यर्थः । अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—तस्येति । सिद्धसाधनतां चाह—चक्षुष इति । मनस्यनैकान्तिकतापरिहाराय विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—नचेति । प्रकारान्तरेण सिद्धसाधनतापरिहारमाशङ्क्य निषेधति—नच यथोक्तेति । अतिरिक्तज्ञानजनकत्वाभावमात्रं न साध्यं किंतु तदत्यन्ताभावस्तथाच न सिद्धसाधनम्, अयथार्थज्ञानजनकत्ववादिनामतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावासिद्धेः । अत्र च बहिरिन्द्रियत्वादित्येव हेतुः, अन्यथा मनस्यनैकान्तः । तत्र हेतुः—घ्राणादिष्विति । ननु यत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानाजनकत्वं नास्ति

यथार्थ ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान का जनक है, नेत्र होने से या इन्द्रिय होने से, जैसे नेत्रान्तर या इन्द्रियान्तर—यह अनुमान प्रमाण है। यहाँ 'नेत्र स्वजन्य यथार्थ ज्ञान का जनक होता हुआ अतिरिक्त ज्ञान का जनक नहीं हो सकता, इन्द्रिय होने से, घ्राण के समान'—इस प्रकार के सत्प्रतिपक्ष का सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस अनुमान का 'इन्द्रियत्व' हेतु मन में अनैकान्तिक है, कारण यह कि मन साधारण कारण होने से नेत्र-जन्य यथार्थ ज्ञान का भी जनक है और अतिरिक्त रसादि-ज्ञान का भी, अतः वहाँ साध्य न रहने पर भी 'इन्द्रियत्व' हेतु रहता है। सिद्धसाधन भी यहाँ दोष है; क्योंकि नेत्र स्वजन्य यथार्थ ज्ञान का जनक तो है, किन्तु अतिरिक्त रसादि-ज्ञान का जनक नहीं। यद्यपि 'इन्द्रियत्व' हेतु में बाह्यत्व विशेषण लगाकर 'बाह्येन्द्रियत्व'—इतना हेतु करने पर मन में व्यभिचार नहीं; क्योंकि वहाँ साध्य भी नहीं और 'बाह्येन्द्रियत्व' रूप हेतु भी नहीं। तथापि उक्त सिद्धसाधनता जैसी-की-तैसी है। यदि शङ्का हो कि उक्त साध्य से विवक्षित है—नेत्र-जन्य यथार्थ ज्ञान-जनकत्व विशिष्ट अतिरिक्तज्ञानाजनकत्व के अत्यन्ताभाव की अधिकरणता। अब सिद्धसाधनता दोष नहीं; क्योंकि अयथार्थ ज्ञान की जनकता मानने वाले की दृष्टि से अतिरिक्त ज्ञान-जनकत्व का अत्यन्ताभाव सिद्ध नहीं। तो यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि वहाँ 'नेत्र-जन्य यथार्थज्ञान का जनकत्व' उपाधि है—[घ्राणादि दृष्टान्त में साध्य (नेत्र-जन्य यथार्थ ज्ञान जनकत्व विशिष्ट अतिरिक्त ज्ञान से अजनकत्व के अत्यन्ताभाव की अधिकरणता) भी है और नेत्र-जन्य यथार्थ ज्ञान का अजनकत्व भी, अतः यह उपाधि साध्य-व्यापक है और पक्ष (नेत्र) में हेतु के रहने पर भी

चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वस्यैवोपाधेः सत्त्वात् । नच व्यतिरेकोपसंहारस्थलाभावः, मनसश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकस्यातिरिक्तज्ञानजनकतया व्यतिरेकोपसंहारभूमित्वात् ।

विवादपदानि पदानि स्वस्मारितपदार्थान्वयप्रतिपादकानि आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदकदम्बकत्वाद्गामानयेत्यादिपदकदम्बवत् । नच योग्यतावत्त्वमुपाधिः, साध्येन समव्याप्त्यभावात् । आकाङ्क्षासन्निधिरहितपदेषु योग्यतावत्त्वेऽपि साध्याभावात् । नचाकाङ्क्षादिमत्त्वे सति

तत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकः क्व निश्चितः ? इत्यत आह–नच व्यतिरेकेति । नच तत्राप्यान्तरेन्द्रियत्वमुपाधिः; आन्तरपदस्य पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वात् । तथा प्रमाणत्वमनुभवाद्व्यावृत्तं[1] अनुभवत्वातिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वावान्तरजातित्वात् स्मृतित्ववत् । प्रमानुभूत्योश्च[2] लक्ष्यलक्षणभावाङ्गीकाराद्भेदसिद्धिः । पूर्वं चाक्षुषविभ्रमसद्भावे प्रमाणमुक्तम् ।

इदानीं शब्दविभ्रमं साधयति—विवादपदानीति । पदमात्रपक्षीकरणे गामानयेत्यादिषु यथार्थज्ञानजनकेषु सिद्धसाधनता तदर्थं विवादपदग्रहणम् । आकाङ्क्षासन्निधिमात्रवन्ति पदानीत्यर्थः । पदानां देवदत्तोऽयमधीत इति वक्तृविशेषानुमापकतयाप्यन्वयप्रतिपत्तिजनकत्वेन सिद्धसाधनताऽत उक्तं—स्वस्मारितेति । पदकदम्बकत्वात्पदसमूहत्वादित्युक्ते उरगस्तुरगः खदिर इत्यादिपदसमूहेष्वनैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । तावत्युक्ते 'गामानय प्रासादं पश्ये'त्यत्र साकाङ्क्षयोरप्यसन्निहिततया परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोर्गां पश्येत्यनयोरनैकान्तिकता तन्निवृत्त्यर्थं सन्निधिमदिति । तावत्युक्ते च, 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामि'ति वाक्ये राज्ञ इति पुरुष इति च पदयोः सन्निधिमत्त्वेऽपि नैराकांक्ष्येण परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोरनैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । किं समव्याप्तिवादिनायमुपाधिर्दीयते ? विषमव्याप्तिवादिना वा ? नाद्य इत्याह—साध्येनेति । तदेव विवृणोति—आकांक्षेति । ननु न वयमन्वयप्रतीतिजनकत्वे योग्यतावत्त्वमात्रमुपाधिं ब्रूमः, किंतर्ह्याकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वविशेषितं तथाच समव्याप्तिरस्त्येवेत्यत आह—नचाकांक्षेति । हेतुमाह—व्यर्थविशेष्येति । आकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेऽपि यदि क्वचिद्योग्य-

नेत्र-जन्य यथार्थ ज्ञान का अजनकत्व नहीं, अपितु जनकत्व ही है, अतः यह उपाधि साधन का अव्यापक है]। यदि सन्देह हो कि (उपाधि और साध्य की अन्वय और व्याप्ति दोनों व्याप्तियों में अन्वय व्याप्ति तो घ्राणादि में घटाई गई, किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति 'जहाँ उक्त उपाधि नहीं, वहाँ उक्त साध्य नहीं' भी घटानी आवश्यक है, परन्तु) व्यतिरेक व्याप्ति घटने का कोई स्थल उपलब्ध नहीं अतः उपाधि में साध्यव्यापकता का निश्चय कैसे होगा ? तो वह सन्देह युक्त नहीं; क्योंकि मन रूप स्थल में नेत्र-जन्य यथार्थ ज्ञान का अजनकत्व और अतिरिक्तज्ञानजनकत्व के न होने से व्यतिरेक व्याप्ति घट जाती है ।

भ्रमज्ञान का साधक दूसरा अनुमान भी है—'विवादग्रस्त (इदं रजतमित्यादि)पद, स्वस्मारित पदार्थान्वय बोधक हैं, आकांक्षा सन्निधि-युक्त पद-समूह होने से, जैसे—'गाम् आनय'—आदि पद—समूह' । यहाँ 'योग्यतावत्व' उपाधि है (क्योंकि 'गाम् आनय'—आदि पद-समूह में साध्य भी है और अर्थाबाधरूप. योग्यता भी अतः साध्य का व्यापक है किन्तु पक्ष में हेतु रहने पर भी इदम्पदार्थ में रजतपदार्थ भेद का बाध होने से योग्यता नहीं अतः हेतु का अव्यापक है ।)—यह सन्देह नहीं करना; क्योंकि साध्य में उपाधि की ('व्यापकत्वे सति व्याप्यत्वरूप' समव्याप्ति है ? या केवल 'व्याप्यत्व रूप' विषमव्याप्ति ?) समव्याप्ति नहीं, अर्थात् साध्य में उपाधि की व्याप्यता रहने पर व्यापकता नहीं, कारण यह कि आकांक्षादि रहित (ये आते हैं पुत्र राजा के

---

१. अनुभूतिनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयताशून्यमित्यर्थः । २. भेदसिद्धिरित्यनेनान्वयः । तत्र हेतुमाह—लक्ष्येति । प्राभाकरैः स्मृतिनिष्ठप्रमात्वव्यावृत्त्यर्थम् "अनुभूतिः प्रमाणम्" (प्र०पं० अमृत० २) इत्येवं

योग्यतावत्त्वमुपाधिः ; व्यर्थविशेष्यापातात् । नह्याकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेसति योग्यताभावेनान्वयज्ञानाजनकत्वमुभयवादिसंप्रतिपन्नस्थले दृष्टमस्ति । अयोग्यार्थविषयाणामाकाङ्क्षासंनिधिमत्पदानां सर्वेषां पक्षीकरणात् । नच योग्यतावत्त्वस्य विषमव्यापकत्वेनोपाधिता ; यदयोग्यार्थं तदन्वितप्रतिपत्तिजनकं न भवतीति व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य पूर्वोक्तन्यायेन दर्शयितुमशक्यत्वात् । नच विवादपदानि पदानि स्वस्मारितार्थान्वयप्रमितिजनकानि, आकाङ्क्षासंनिधिमत्पदत्वात्, गामानयेति पदवदित्याभाससमानयोगक्षेमता; तत्र बाधकप्रमाणविरोधेन कालात्ययापदिष्टत्वात् । प्रतीतिमात्रसाधने तु बाधाभावात् । उक्तं चैतद्भट्टाचार्य्यैः—'अत्यन्ता-

ताभावापराधेनान्वयप्रतीतिर्न स्यात्ततः साध्यव्याप्तिसिद्ध्यर्थं योग्यतावत्त्वमुपादेयम्, नचैतदस्ति तादृशां सर्वेषां पक्षत्वादेव साध्याभावनिर्णयस्थलत्वाभावात्, अतः पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वमित्यर्थः । तदेव विवृणोति—नह्याकांक्षासन्निधीत्यादिना । द्वितीयं दूषयति—नचेति । अत्रापि पक्षेतरत्वमेवोपाधिव्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकेण व्याप्त्यनिर्णयात् । जरद्गवादिवाक्यानां पक्षतुल्यत्वात्, 'खदिरस्तुरग' इत्यादिपदानामाकाङ्क्षाद्यभावादेवान्वयप्रतीत्यजनकत्वादित्यभिप्रेत्याह—यदयोग्यार्थमिति । आभाससमानयोगक्षेमतामाशङ्क्य निषेधति—नचेति । नेदं रजतमिति समनन्तरबाधकप्रमाणविरोधात् प्रमितिजनकत्वानुमानं कालातीतम्, नैवम् प्रतीतिमात्रजनकत्वानुमाने किंचिद्बाधकमस्ति, उक्तानां संविद्विरोधादीनां प्रागेव परिहृतत्वादित्यभिप्रेत्याह—तत्र बाधकेति । शशविषाणं खपुष्पमित्याद्यसत्यर्थेऽत्यन्तायोग्येऽप्याकां-

पुरुषों को हटाओ आदि) पदों में योग्यता रूप उपाधि के रहने पर भी उक्त साध्य नहीं । यदि आकांक्षादि-विशिष्ट योग्यतावत्त्व को उपाधि मानेंगे; तब व्यर्थ विशेष्यापत्ति होगी; क्योंकि योग्यतावत्त्वरूप विशेष्य भाग की सार्थकता तब होती, जब कि उभय-सम्मत कोई ऐसा स्थल होता, जहाँ आकांक्षादि के रहने पर भी योग्यता के न रहने मात्र से अन्वय की प्रतीति न होती । किन्तु वैसे सभी अयोग्यार्थविषयक आकांक्षादिविशिष्ट पद-समूह पक्ष-कोटि में ही पड़ गये हैं । विषमव्याप्तिक योग्यतावत्त्व को भी उपाधि नहीं बना सकते; क्योंकि यहाँ भी उपाधि की व्यतिरेक व्याप्ति का निर्णय साध्य में न हो सकेगा, अर्थात् जो पद अयोग्यार्थक है, वह अन्वितार्थ-ज्ञान-जनक नहीं है—इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति का उपसंहारस्थल (दृष्टान्त) पूर्वोक्त रीति से (वैसे सभी स्थल पक्ष-कोटि में आ जाने से) प्रसिद्ध नहीं । यदि कोई शङ्का करें कि उक्त अनुमान 'विवादग्रस्त (इदं रजतमित्यादि) पदसमूह स्व-स्मारित पदार्थों की अन्वय-प्रमा के जनक हैं, आकाक्षांदि-विशिष्ट पद होने से, 'गाम आनय'—आदि पदों के समान'—इस प्रकार के अनुमानाभास के समान है (अर्थात् इस आभास में जो दोष हैं, वही दोष आपके अनुमान में हैं)। तो वह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि दोनों में यह महान् अन्तर है कि यह अनुमानाभास 'नेदं रजतम्'—इस बाधक प्रमाण के विरोधी होने से बाधित है (अर्थात् 'नेदं रजतम्'—से रजत का बाध होता है । बाधित रजत-विषयक होने के कारण 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान अप्रमा हो जाता है । इस अप्रमा ज्ञान की जनकता सिद्ध हुई 'इदं रजतम्'—इन पदों में; अतः इनमें प्रमाजनकत्व का बाध निश्चित है)। किन्तु हमारे 'प्रतीतिमात्र-जनकत्व' साधन का बाध नहीं; क्योंकि प्रतीतिमात्र-जनकता 'इदं रजतम्'—इन पदों में क्या शश-विषाणादि पदों तक में है ? जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—'अत्यन्त-असदर्थ-विषयक ज्ञान की भी उत्पत्ति शब्द कर देता है'—(श्लो० वा० २।६)। योग्यता-रहित

प्रमाया लक्ष्यत्वेनानुभूतित्वस्य च लक्षणत्वेनाङ्गीकारादित्यर्थः ।

२. "जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति भद्रकाणि ।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः ॥" (जै० सू० वृ० १।१।३२)

सत्यपि ज्ञानसर्थं शब्दः करोति ही' ति। विपक्षे च प्रतिपक्षाप्रतिपत्तौ तन्निराकरणाय कथारम्भासंभवो बाधकः। तथाहि—शब्दोऽनित्य इति शब्दस्यानित्यत्वे वादिना प्रतिपादिते यदि न तत्प्रतिवादी प्रतिपद्येत तदा वादिना परिषदा च विज्ञातस्यापि स्वयमविज्ञातेऽविज्ञानं नाम निग्रहस्थानमापद्येत। प्रतिपत्तौ वा विपर्ययाभ्युपगमप्रसङ्गः; नहि शब्दस्यानित्यत्वज्ञानं तन्नित्यत्ववादिनो यथार्थम्।

किंचैकाधिकरणविरुद्धधर्मद्वयप्रतिपत्तिलक्षणा विप्रतिपत्तिरेव भवन्मते न भवेत् तत्र कुतस्तरां कथाप्रवृत्तिः? कुतस्तमां च विप्रतिपत्तिनिरासः? अपि च सर्वस्य वाक्यस्य

क्षासन्निधिमाञ्छब्दो ज्ञानं करोतीति भट्टवार्तिकार्थः। योग्यतारहितस्याप्याकांक्षादिमतः प्रतीतिजनकत्वानङ्गीकारे प्रतिवादिवाक्याच्छब्दोऽनित्य इत्यादेरयोग्ययोः शब्दानित्यत्वयोः संसृष्टप्रतीत्यनुपपत्तौ तदनुवादाभावेन तन्निराकरणाय ग्रन्थकरणादिरूपकथानारम्भप्रसङ्गो बाध इत्याह—**विपक्षे चेति**। एतदेव विकल्पपूर्वकं विवृणोति—**तथा हीति**। यदि न बुद्धयेत? बुध्येत वा? इत्यपि द्रष्टव्यम्। आद्ये तन्निराकरणमशक्यमित्यपि द्रष्टव्यम्। न केवलमप्रतिबुद्धस्य निराकरणमशक्यं निग्रहस्थानापत्तिश्चेत्याह—**तदा वादिनेति**। इदं च विशेषणं "अविज्ञातं चाज्ञानमिति" सूत्रस्थचकारानुकृष्टोऽर्थोऽविज्ञातार्थातिव्याप्तिपरिहारः प्रयोजनम्। 'परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थमि'ति सूत्रम्। त्रिरभिहितमपीति। वादिनेतिशेषः। द्वितीये आह—**प्रतिपत्तौ वेति**। तस्यैव प्रपञ्चः **नहि शब्दस्येति**।

दूषणान्तरमाह—**किं चेति**। एकं शब्दादिकमधिकृत्य विरुद्धधर्मविषायण्यौ प्रतिपत्ती हि विप्रतिपत्तिर्न पुनर्भिन्नाधिकरणे नाप्यविबुद्धार्थविषयिण्यौ। नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरित्यनयोर्नित्य आत्मा विभुश्चेत्यनयोर्वा विप्रतिपत्तित्वाभावात्। सेयं विपर्यासानङ्गीकारे न भवेत्, नापि [1]व्यवहारद्वयमात्रम्। अप्रतिपत्तौ विरुद्धधर्मप्रतिपत्तित्वाभावात्। प्रतिपत्तित्वेच विरुद्धधर्माध्यासेनार्थस्यैव भेदापत्तिरित्यर्थः। ननु तादृशधर्मद्वयस्य प्रस्तुतधर्मिव्यतिरिक्तानिष्ठतयाऽग्रहणात्तथा[2]व्यवहार इति चेन्न। एकनिष्ठत्वाप्रतिपत्तौ व्याप्तिग्रहाभावादनुमानानुदयादिति। बाधकान्तरमाह—**अपि चेति**। **सर्वस्येति**। वाक्यमात्रस्येति

आकांक्षादि युक्त पदों को प्रतीतिमात्र जनकता न मानने पर नैयायिकादि प्रतिपक्षी के "शब्दोऽनित्यः" जैसे अयोग्य पदों से मीमांसक को कुछ बोध न होगा, तब उस प्रतिपक्ष का निराकरण करने के लिए ग्रन्थों का निर्माण सम्भव न होगा—यह विपक्ष-बाधक तर्क है (अर्थात् 'शब्दोऽनित्यः'—इस प्रकार वादी के शब्दानित्यत्व का प्रतिपादन करने पर यदि प्रतिवादी (प्राभाकर) को कुछ ज्ञान नहीं होता, तब वादी तथा मध्यस्थ के ज्ञान होने पर भी स्वयं (प्रतिवादी) को ज्ञान न होने से 'अविज्ञान' नाम का निग्रह स्थान होगा (न्यायदर्शन ५।२।१७ में अज्ञान नाम का निग्रहथान कहा गया है—"अविज्ञातं चाज्ञानम्" वादी के तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी जब नहीं समझता, तब वह अज्ञान से निगृहीत हो जाता है) और यदि वादी के उक्त पदों से प्रतिवादी को भी बोध होता है, तब मिथ्याज्ञान मानना पड़ेगा। क्योंकि वादी के वाक्य से जन्य है—शब्द में अनित्य का ज्ञान। यह ज्ञान प्राभाकर के मत में (शब्द नित्य होने के कारण) कदापि यथार्थ नहीं हो सकता; अपितु मिथ्या है।

दूसरी बात यह है कि एक अधिकरण में दो विरुद्ध धर्मों को विषय करने वाली विप्रतिपत्ति आपके मत में न हो सकेगी, तब शास्त्रार्थ-निर्णय में आपकी प्रवृत्ति कैसे होगी? और विप्रतिपत्ति का निराकरण कैसे करेंगे? संसार में यदि कोई भी वाक्य संसर्ग-प्रतीति का जनक नहीं, तब

---

१. शब्दात्मकव्यवहारद्वयमेव, किन्तूक्तलक्षणज्ञानमेवेतिशेषः। २. विप्रतिपत्तिव्यवहार इत्यर्थः।

संसर्गप्रतीत्यजनकत्वेऽनृतापार्थकनिरर्थकभेदो न स्यात्, समुदायार्थप्रतीतौ सत्यामपि यदर्थो वाधितो भवति तद्वाक्यमनृतमुच्यते, यथा नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीति विप्रलम्भकवचनम्, यत्रावयवार्थप्रतीतौ सत्यामपि समुदायार्थाप्रतीतिस्तदपार्थकम्, यथा 'दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिन' मित्यादि। अवयवार्थप्रतीतेरपि यत्राभावस्तन्निरर्थकं यथा 'नित्यः शब्दः कचटतपानां गजडदवत्वात् खछठथव'दिति। स चायमनृतापाथकादिभेदः क्वचिदपि शब्दस्य संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे न संभवतीत्यलमतिविस्तरेण। यदसत्तन्न प्रकाशते यथा गगनकुसुमम्, असच्च शुक्तिरजततादात्म्यमितिचेत्, मैवं; गगनकुसुमस्यापि तच्छब्दात्प्रतीयमानत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तादात्म्यस्य च प्रतीतावन्यथाख्यातिस्वीकारात्,

यावत्। अनृतादीनां प्रसिद्धं विवेकं दर्शयति तदभावापादनाय समुदायार्थेत्यादिना। अत्र चानृतशब्देन प्रतिज्ञासंन्यासो[1] निरनुयोज्यानुगोऽसिद्धिविशेषश्च विवक्ष्यते। अपार्थकमाह—यत्रेति। "पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकं" "वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थक" मित्यक्षपादसूत्रादित्यर्थः। क्वचिदपीति। एतेषु मध्ये क्वचिदपीत्यर्थः। संसर्गप्रतीतिमनुमानेनापलपन्सत्प्रतिपक्षयति—यदसदिति। दूषयति—मैवमिति। नच यदसत्तदपरोक्षतया न प्रकाशते इति साध्यं, तव[2] व्यर्थविशेषणत्वात्। किंच तादात्म्यं प्रतीतं न वा यस्यायमप्रकाशः साध्यते, उभयथापि दूषणमाह—तादात्म्यस्य चेत्यादिना। ननु तादात्म्यं तावत्प्रतीयते अन्यत्र, शुक्तिरजते च प्रतीयेते, तेषां चासंसर्गाग्रहादप्रतीतेऽपि विशिष्टतादात्म्ये तद्व्यवहार इति तत्राह—

अनृत अपार्थक और निरर्थक नामक निग्रहस्थानों का भेद कैसे होगा? क्योंकि समुदायार्थ की प्रतीति होने पर भी जिस वाक्य का अर्थ बाधित होता है, उसे अनृत (प्रतिज्ञा-संन्यासादि) कहते हैं; जैसे—किसी वञ्चक का वाक्य—नदी के किनारे पाँच फल हैं। जहाँ अवयवार्थ (खण्ड वाक्यार्थ) की प्रतीति होने पर भी समुदायार्थ (महावाक्यार्थ) प्रतीत नहीं होता, वह अपार्थक (न्या० द० ५।२।१०) कहा गया है; जैसे—दश अनार, छह मालपूआ, कूँडा, छाग-चर्म आदि। जहाँ अवयवार्थ भी प्रतीत नहीं होता उसे (न्या० द० ५।२।८) निरर्थक कहा गया है; जैसे—नित्य शब्द, क च ट त प के ग ज ड द व होने से, ख छ ठ थ व के समान। इस प्रकार का अनृतादि का भेद नहीं बन सकता, यदि कोई भी शब्द संसर्ग-प्रतीति का जनक न हो [भाव यह कि प्राभाकर मत में कोई भी शब्द पदार्थ-सम्बन्ध का प्रत्यायक तो है नहीं, अतः 'निग्रहस्थानों में कोई सम्बन्ध का प्रत्यायक है, कोई नहीं—यह भेद क्योंकर हागा? सभी एक जैसे हो जायँगे]।

शङ्का—यह नियम है कि जो असत् है, वह ज्ञान का विषय नहीं होता, जैसे—गगनकुसुम, शुक्ति-रजत—तादात्म्य भी असत् है, अतः यह भी प्रकाशित कैसे होगा? (देखिए न्या० ली० पृ. ४३७) [अर्थात् यह जो अनुमान किया था—"विवादपदानि पदानि स्वस्मारितपदार्थान्वयप्रतिपादकानि, आकांक्षासन्निधिमत्पदकम्बकत्वाद् गामानयेत्यादिपदकदम्ववत्।" वह इस सत्प्रतिपक्ष से दूषित है—"विवादपदानि पदानि न स्वस्मारितपदार्थान्वयप्रतिपादकानि, असदन्वयार्थकपदार्थप्रतिपादकत्वाद् गगनकुसुमवत्।"]।

समाधान—इस अनुमान में दृष्टान्त (गगन-कुसुम) साध्य-रहित है; क्योंकि 'गगन-कुसुम'—इस शब्द से भी आकाश और कुसुम का सम्बन्ध प्रतीत होता है। यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि शुक्ति-रजत-तादात्म्य की प्रतीति (अख्यातिवादी को) होती है? कि नहीं? प्रतीति होने पर अन्यथाख्याति माननी पड़ेगी (क्योंकि तादात्म्याभाव के आधार शुक्ति, रजत में तादात्म्य प्रतीत हो

---

१. परेण पक्षप्रतिषेधे कृते सति प्रतिज्ञातार्थस्य परित्यागः। (न्या. सू. ५।२।५) २. अपरोक्षतयेति विशेषणस्य भवन्मते व्यर्थत्वात्, ज्ञानव्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावेन तस्य परोक्षतया प्रकाशाभावादित्यर्थः।

अप्रतीतावाश्रयासिद्धेः, असंसर्गाग्रहबलेन च तद्व्यवहारे तत्रासत्त्वाप्रतीतौ हेतोरपक्षधर्मत्वात्। तस्माद्रजतादिविभ्रमे पुरोवर्तिशुक्तिशकलादि रजताद्यात्मनावभासत इति सिद्धम्।

भवत्वेवं विभ्रमसद्भावः, विभ्रमालम्बनं तु किमसत्? सदेव वा? किं वोभयात्मकम्? उतोभयविलक्षणम्? इति विवेचनीयम्। न तावदसत्; असतोऽपरोक्षावभासानर्हत्वात्, तदादित्सया प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च। क्वचिदसद्विशेषेऽपि प्रतिभासप्रवृत्ती किं न स्यातामिति चेत्, न; विशेषाधिकरणत्वे तुच्छत्वानुपपत्तेस्तस्य निःस्वभावत्वात्। सद्वैलक्षण्यमात्रेणासत्त्वा-

असंसर्गाग्रहेति। आश्रयाप्रतीतौ तन्निष्ठतया हेतोरप्यप्रतीतावसिद्धिः स्यात्। तथोक्तम्[1] 'एकदेशदर्शनं खल्वनुमापक'मिति। भाष्यकारैरप्येकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धिरिति। एतेन शुक्ती रजताकारेण न प्रकाशते तद्रूपेणासत्त्वात् यथा घटः पटरूपेणेति मुरारिरप्यपास्तः; [2]प्रमाणस्मृतिविवक्षायां सिद्धसाधनत्वात्, भ्रान्तिविवक्षायां तवाप्रसिद्धविशेषणता साध्यविकलश्च[3] दृष्टान्त इत्यादेश्च। वादार्थमुपसंहरति–**तस्मादिति**।

आरोपं निरूप्यारोप्यं निरूपयति—**भवत्वेवमित्यादिना**। सदेवेत्यन्यथाख्यात्यात्मख्यात्योर्निर्देशः। उभयात्मकमिति तु भेदाभेदवादिनोऽन्यथाख्यातिविशेषस्य, उभयविलक्षणमिति तु सिद्धान्तस्य। प्रथममसत्ख्यातिं निराचष्टे—**न तावदिति**। **अपरोक्षेति**। शाब्दप्रतीतिव्यावृत्त्यै। ननु यद्यपि शशविषाणादौ प्रवृत्तिप्रतीती न दृष्टे तथाप्यसद्विशेषे रूप्यादौ किं न स्यातामिति शङ्कते—**क्वचिदिति**। सतः खल्वयं सामान्यविशेषभावो न त्वसत इति परिहरति—**नेति**। अथासत्त्वं नाम न निःस्वभावत्वं येनेदं दूषणं स्यात् अपितु सद्वैलक्षण्यं तत्राह–**सद्वैलक्षण्येति**। असतोऽप्यापरोक्ष्यं संपादयत्यसद्वादी।

गया)। यदि तादात्म्य की प्रतीति नहीं होती तो आश्रयासिद्धि दोष है, क्योंकि 'शुक्ति-रजत तादात्म्य, प्रकाशित नहीं हो सकता, असत् होने से, जैसे—गगनकुसुम'—इस अनुमान से ही तो तादात्म्य में प्रतीति-विषयताभाव का अनुमान किया जाता है। प्रतीति न होने पर तादात्म्यरूप आश्रय ही सिद्ध नहीं होता, किसमें अप्रकाशितत्व सिद्ध किया जायगा?)। यदि कहा जाय कि तादात्म्य प्रतीत तो नहीं होता, असंसर्ग-अग्रह के कारण केवल तादात्म्य-व्यवहार मात्र होता है; (व्यवहार-सिद्ध आश्रय है, अतः आश्रयासिद्धि नहीं)। तो वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि आश्रय ही जब प्रतीत नहीं होता, तब उसमें असत्त्वरूप हेतु भी कारक प्रतीत न हो सकेगा; अतः स्वरूपासिद्धि दोष होता है। अतः यह सिद्ध हो गया कि रजतादि विभ्रमों में पुरोवर्ति शुक्तिखण्डादि, रजतादि रूप से प्रतीत होते हैं।

मान लेते हैं—विभ्रमज्ञान का सद्भाव, किन्तु उस का विषय (रजत) क्या असत् है? या सत् है? या सत् असत्—उभयरूप? या उभय-विलक्षण?—यह विचारणीय है। असत् नहीं हो सकता; क्योंकि असत् होने पर रजत का प्रत्यक्ष न हो सकेगा और उसको लेने के लिए प्रवृत्ति भी न हो सकेगी। 'यद्यपि गगन-कुसुमादि असत् पदार्थों का न तो प्रत्यक्ष होता है और न उनमें प्रवृत्ति; किन्तु सब असत् एक से नहीं होते रजतरूप असत् विशेष में प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति–दोनों मान लेने में क्या हानि?'—यह सन्देह उचित नहीं; क्योंकि सत् पदार्थों के ही सामान्य और विशेष स्वभाव हुआ करते हैं, यदि रजत में विशेष स्वभाव मान लिया जायगा, तब वह तुच्छ (असत्) न रह सकेगा; क्योंकि असत् होता है निःस्वभाव। यदि कहा जाय कि रजत में निःस्वभावत्वरूप असत्व

---

१. भामतीकृद्भिरितिशेषः। भाष्यकारैरिति, शबरस्वामिभिरित्यर्थः। आश्रयनिष्ठहेतुरूपस्यैकदेशस्य दर्शनाद्, आश्रयनिष्ठसाध्यरूपे एकदेशान्तरे बुद्धिरिति तदर्थः। २. प्रमाणस्मृतिविवक्षायामिति, प्रकाशते इत्यनेन प्रमाणज्ञानस्य स्मरणज्ञानस्य च विवक्षायां सिद्धसाधनाद्, अस्माभिरुभयज्ञानविषयत्वानङ्गीकारादित्यर्थः। ३. भ्रान्त्या घटादेरपि कदाचित् पटादिरूपेण प्रकाशमानत्वादितिशेषः।

भिधाने मायावादिमतप्रवेशात् । अन्तरेणापि ज्ञेयसामर्थ्यं निःस्वभावेऽप्यसति स्वकारणविशेषसमासादितस्वभावविशेषज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिमदिति चेत्; तर्हि वक्तव्यं किमस्याः शक्तेः शक्यमिति ? यद्यसदेव, किमेतस्याः कार्यम् ? उतैतज्ज्ञाप्यम् ? नाद्यः; असतोऽकार्यत्वात् प्रकाशनशक्तित्वव्याघाताच्च । न द्वितीयः; प्रकाशान्तराभावात्, अनवस्थानाच्च । तदेव विज्ञानमसतः प्रकाश इति चेत्, न; विज्ञानाश्रयां शक्तिं प्रति विज्ञानस्यैव

अन्तरेणापीति । यद्यपि निःस्वभावमसज्ज्ञेयं तथापि तस्य ज्ञेयस्य सामर्थ्यमन्तरेण स्वकारणविशेषात्समनन्तरप्रत्ययादासादितः प्राप्तः स्वभावविशेषो येन विज्ञानेन तत्तथा । तादृशविज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिलक्षणया असत्प्रकाशनशक्तिमदिति योजना । एतदुक्तं भवति—यद्यप्यधिपतिसहकार्यालम्बनसमनन्तरात्मकेभ्यः [2]प्रत्ययेभ्यश्चतुर्भ्यश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते इति स्थितिस्तथापि भ्रान्तिस्थलेष्वालम्बनप्रत्ययस्यासत्त्वात् अनर्थक्रियाक्षमत्वादत एव तत्संयुक्तस्याधिपतेश्चक्षुरादेस्तत्सहकारिणश्चालोकस्य सहकारिप्रत्ययस्याभावेऽपि समनन्तरप्रत्ययलक्षणपूर्वज्ञानमात्रात्स्वभाववैचित्र्यवशाद्विज्ञानमुत्पद्यते, स्मृतिज्ञानमिव विषयमन्तरेण सामग्रीमात्रप्रयोज्यमिति, तदेतद्दूषयति—तर्हि वक्तव्यमित्यादिना । प्रकाशनशक्तित्वेति । व्यञ्जकत्वात्प्रमाणस्य प्रमेयोत्पादकत्वमयुक्तमित्यर्थः । प्रकाशान्तरेति । एतज्ज्ञाप्यमिति कोऽर्थः ? एतज्जनितज्ञानस्य विषय इति । तथाच यदनया शक्त्या जन्यं ज्ञानं तत्किं ज्ञानान्तरम् ? आश्रयभूतमेव वा ? नाद्यः । असज्ज्ञानमन्तरेण द्वितीयज्ञानानुपलब्धेरुपलब्धो वाऽनवस्थानाच्चेत्यर्थः । द्वितीयं शङ्कते—तदेवेति । दूषयति—न; विज्ञ.

नहीं मानते, अपितु भाव-विलक्षणता के कारण असत्व का व्यवहार होता है; तब तो वादी (वेदान्ती) के मत में आ जाने से अपसिद्धान्त होगा। असद्वादी यदि शङ्का करे कि यद्यपि ज्ञेय (भ्रम के विषय) में किसी प्रकार का सामर्थ्य नहीं, वह निःस्वभाव है, असत् है; तथापि विज्ञान का ही यह स्वभाव विशेष है कि अविद्यारूप असत्प्रकाशन-शक्ति से समन्वित है। विज्ञान का यह स्वभाव विशेष अपने कारणभूत पूर्व के विशेष विज्ञान क्षण से प्राप्त किया है। तो असद्वादी की यह शङ्का युक्त न होगी; क्योंकि यहाँ प्रश्न उठता है कि उस शक्ति का शक्य क्या है ? यदि असत् है, तो असत् क्या उस शक्ति का कार्य है ? या ज्ञाप्य ? कार्य नहीं बन सकता; क्योंकि एक तो असत्, कार्य नहीं हुआ करता, दूसरे इस प्रकाशन-शक्ति में उत्पादन-शक्तित्व आ जाने से प्रकाशन-शक्तित्व का ही बाध हो जायगा, (अर्थात् प्रमाण गत शक्ति से सदा प्रमेय का प्रकाश ही हुआ करता है, उत्पादन नहीं)। द्वितीय (ज्ञाप्य) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि (विज्ञानाश्रित शक्ति का ज्ञाप्य असत् है; यहाँ ज्ञाप्य का अर्थ होता है—जन्य ज्ञान का विषय। इस प्रकार पूरा अर्थ हुआ—विज्ञानाश्रित शक्ति से जन्य ज्ञान का विषय है असत् प्रमेय। यहाँ 'जन्य ज्ञान' पद से क्या ज्ञानान्तर विवक्षित है ? अथवा आश्रयभूत ज्ञान ?) ज्ञानान्तर वहाँ प्रतीत नहीं होता। फिर भी मानने पर अनवस्था होगी—(प्रथम ज्ञानगत शक्ति में ज्ञाप्यत्व बनाने के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा, दूसरे ज्ञान की शक्ति में ज्ञाप्यत्व बनाने के लिए तीसरे ज्ञान की अपेक्षा—इसी प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञानापेक्षा होगी)। यदि कहा जाय कि—'जन्य ज्ञान' पद से शक्ति का आश्रयभूत प्रथम ज्ञान ही विविक्षित है; अतः अनवस्था नहीं।' तो यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि वही विज्ञान

---

१. द्र० न्या० म० पृ० १०४, तथा भा० पृ० २२ । २. कार्यं प्रति अयते = जनकत्वेन गच्छतीति प्रत्ययः = कारणम् । अधिपतिप्रत्ययः = इन्द्रियाणि, सहकारिप्रत्ययः = आलोकादिः, आलम्बनप्रत्ययः = शब्दादिविषयः, समनन्तरप्रत्ययः = पूर्वविज्ञानक्षणः, चित्तम् = विज्ञानम् । चैत्ताः = चित्तसहगतावस्थाविशेषाः स्पर्शवेदनादयस्तथाचोक्तम्—

एकोत्पादनिरोधाश्च, ह्येकालम्बनवस्तुकाः ।
चित्तयुक्ता द्विपञ्चाशद्, धर्माश्चैतसिका मताः ॥ (अभि० सं० २।१)

शक्तशक्यतया विषयत्वानुपपत्तेः। नह्येकस्यैकदैव सिद्धतया शक्त्याश्रयत्वमसिद्धतया च तद्विषयत्वं संभवति, युगपदेव सिद्धसाध्यत्वविरोधात्। शक्यमेव तर्हि शक्तेर्माभूदिति चेत्, न; शक्तेः कस्य कुत्रेति शक्तशक्यनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्। अस्तु तर्हि स्वकारणविशेषासादितस्वभावभेदं विज्ञानमेवासतः प्रकाश इति चेत्, न; सदसतोः संबन्धानिरूपणात्। असदधीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्संबन्ध इतिचेत्, न; तदधीननिरूपणत्वस्यापि संबन्धान्तराधीनत्वादसतश्च निरुपाख्यत्वात्संबन्धाधारतानुपपत्तेः। ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वाच्च घटादिनाश्रयामिति।

स्यादेतत्–सत्यमाश्रयविषयसापेक्षा शक्तिर्विषयाभावे न भवेत्, शक्तिरेव तु न स्वीक्रियते किं तर्हि विज्ञानमात्रमेव, तस्य च तथाविधमेव रूपं कारणविशेषादाहितं येन परित्यक्तशक्तिकमपि तदसत्प्रकाशो भवतीति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। दूषयति—**नसदसतोरिति**। ननु शून्यवादिना कथं विज्ञानसत्त्वमभिमतं येन सदसतोरिति शक्यवचनं स्यात्, सत्यं, शून्यवादिविशेषोयम्, का तर्हि शून्यवादिता? विज्ञेयस्य सर्वथा शून्यत्वाङ्गीकारात्। योगाचारेण हि बहिःशून्यता देद्यस्याङ्गीकृता। अनेन[1] त्वन्तरेऽपीति ततो विशेषः। यथाचैतत्तथा भट्टशंभुना तत्तदभियुक्तवचनान्युदाहरता[2] "अस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिन" इत्यत्रोपपादितम्। **सम्बन्धानिरूपणादिति**। यदि हि अविद्यात्मिका शक्तिः स्वीकृता स्यात्तदा सांवृतः कोऽपि संबन्धः, तामपि परिहरतः को नु नामानयोः संबन्धः स्यादित्यभिप्रायः। असत्प्रकाशोऽयमिति यदिदमसदधीननिरूपणत्वं ज्ञानस्य तत्तेनासता तस्य संबन्ध इति शङ्कते—**असदधीनेति**। दूषयति–**न तदधीनेति**। संबद्धयोर्हि निरूप्यनिरूपकभावो दृष्टः, न हि जातु धौतकलधौतकलशधवलिम्ना तालफलकालिमा निरूप्यमाणो दृष्टचर इत्यर्थः। भवतु संबन्धान्तरमपि संयोगादिलक्षणमिति नेत्याह—**असतश्चेति**। अथ घटस्य प्रकाश इतिवत् किं न स्यादिति तत्राह— **ज्ञानजन्येति**। असत्त्वाद्धेतोर्ज्ञानजन्या-

शक्ति का आश्रय होने से शक्त फिर शक्य बनकर शक्ति का विषय कैसे बनेगा ? क्योंकि एक ही पदार्थ एक समय में ही सिद्ध होकर शक्ति का आश्रय और असिद्ध होकर शक्ति का विषय बने—यह सम्भव नहीं हो सकता। सिद्धत्व और साध्यत्व—जैसे विरोधी धर्म एक समय में ही एक वस्तु में नहीं रहा करते। 'यदि शक्य का निरूपण नहीं हो सकता, तब शक्य ही नहीं मानेंगे इस शक्ति का'—यह कहना उचित नहीं; क्योंकि शक्ति के विषय में यही आकांक्षा हुआ करती है कि 'किसकी शक्ति ? किसमें ?' इस प्रकार शक्त और शक्य के द्वारा ही शक्ति का निरूपण हुआ करता है। शक्त, शक्य–दोनों में से एक को न मान कर शक्ति का निरूपण ही न हो सकेगा। 'तब तो शक्ति भी न मानकर केवल विज्ञान को ही असत् का प्रकाश मानेंगे; हाँ, विज्ञान को इस प्रकार का स्वभाव-विशेष अपने कारण पूर्व विज्ञान से प्राप्त है'—यह मनाना भी उचित नहीं; क्योंकि ("असतः प्रकाशः"—यहाँ 'असत्' शब्द के उत्तर सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग करने वाले असद्वादी से पूछा जा संकता है कि असत् का प्रकाश से क्या सम्बन्ध है ?) प्रकाश सत् है, इसका असत् से कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि 'असदधीननिरूपणकत्व' ही ज्ञान से असत् का सम्बन्ध है, [अर्थात् ज्ञान का निरूपण सदा विषय के अधीन रहता है। जैसे 'घट का ज्ञान' यहाँ घट निरुपक है और ज्ञान निरूपित। 'घटाधीननिरूपणकत्व' ज्ञान में घट का सम्बन्ध है। वैसे ही 'असत् का ज्ञान'—यहाँ भी असन्निरूप्यत्व या असदधीन निरूपणकत्व सम्बन्ध क्यों न होगा ?]। तो यह भी कहना युक्त नहीं; क्योंकि सम्बद्ध पदार्थों में ही निरूप्य निरूपक भाव होता है। अतः असदधीननिरूपणत्व ज्ञान में तभी बनेगा, जब कि किसी सम्बन्धान्तर से ज्ञान असत् से सम्बद्ध हो। किन्तु असत् पदार्थ किसी भी सम्बन्ध का आधार बन

---

१. शून्यवादिविशेषेणेत्यर्थः। २. भाट्टदीपिकाव्याख्यायामितिशेषः।

वदसतो ज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः। अयमसदनुभव इत्यसता विना नानुभवो निरूप्यत इति तेनाविनाभावः संबन्ध इति चेत्, मैवम्; अतदुत्पत्तेरतदात्मनश्चानुभवस्य तदविनाभावासंभवात्। तस्मात्स्वप्रत्ययासादितस्वभावभेदं विज्ञानमेवासत्प्रकाश इत्यसत्ख्यातिवादिनामसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाणं नासत्।

तिशयानाधारत्वात् अपरोक्षज्ञानविषयभावानुपपत्तेः, घटादिवदिति दृष्टान्तो व्यतिरेके। शङ्कते—**अयममसदनुभव इति**। अयमर्थः—अस्ति तावदयं निरूप्यनिरूपकभावनियमः, तेन हेतुना तेनासता तस्य ज्ञानस्याविनाभावः कश्चिदस्ति मूलभूत इति विकल्प्यते इति। परिहरति—**मैवमतदुत्पत्तेरिति**। अयमभिसन्धिः—त्रिविधोह्यविनाभावः सौगतसमये, स्वभावः कार्यमनुपलब्धिश्च। यदाह कीर्तिर्न्यायबिन्दौ—'त्रिरूपाणि च त्रीण्येव च लिङ्गान्यनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेती'ति। तत्रानुपलब्धिरर्थाभावावेदिका, यथा यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः, यथान्यत्र क्वचिद्दृष्टः क्वचिद्देशविशेष उपलब्धिलक्षणं प्राप्तो घटपटादिर्नोपलभ्यते, नोपलभ्यते च शशविषाणादिरर्थ इति साधर्म्यवत्प्रयोगः। स्वभावकार्याख्यौ तु भावबोधकौ यथा वृक्षशिंशपात्वयोः यथा वह्निधूमयोरिति। तदप्युक्तं कीर्तिना—

'कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥ इति।

[1]अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न भवतीत्यर्थः। [2]तदिह ज्ञानस्यासल्लक्षणार्थबोधकस्वाभाव्यादनुपलब्धिता दूरापेता, सदसतोः स्वभावस्वभावित्वाभावाच्च, न स्वभावाविनाभावः। उक्तं हि न्यायबिन्दौ—'स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः स्वभाव' इति, विज्ञानस्यासदुत्पत्त्यभावाच्च न कार्यकारणभाव इति। असत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

नहीं सकता, क्योंकि वह नितान्त अबोध्य शून्य है। जैसे घट ज्ञान-जन्य-ज्ञाततादि का आधार होने से ज्ञान का विषय कहा जाता है, वैसे ज्ञान का विषय असत् न हो सकेगा; क्योंकि ज्ञान-जन्य-फल का आधार होने के योग्य वह नहीं। यदि कहा जाय कि ज्ञान और असत् का 'अविनाभाव' सम्बन्ध है; क्योंकि 'यह असत् का ज्ञान है'—इस प्रकार ज्ञान का निरूपण असत् के बिना नहीं हो सकता। तो यह कहना भी संगत नहीं; क्योंकि ज्ञान न तो असत् से उत्पन्न हुआ है और न असत् स्वरूप ही है, अतः अविनाभाव सम्बन्ध नहीं बन सकता। [आशय यह है कि धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (३।३०) में कहा है—

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥"

अर्थात् सपक्ष में दर्शनमात्र से अविनाभाव नियम सिद्ध नहीं होता और न विपक्ष में अदर्शन मात्र से ही, किन्तु अविनाभाव के दो ही नियामक हैं—कार्यकारणभाव या स्वभाव (तादात्म्य)। अतः जो जिससे उत्पन्न है उसका उससे अविनाभाव सम्बन्ध होता है या जिसका जिसमें तादात्म्य है, जैसे धूम का अग्नि से या वृक्षत्व का शिंशिपात्व से। प्रकृत में असत् और ज्ञान का कार्यकारण भाव भी नहीं और तादात्म्य भी नहीं, अतः इनका अविनाभाव कैसे होगा?]। अतः अपने कारण से 'स्वभाव विशेष प्राप्त कर विज्ञान ही असत् का प्रकाश बना हुआ है'—यह असत्ख्यातिवादियों का कहना निरा प्रलापमात्र है। इस लिए यह सिद्ध हुआ कि भ्रम का विषय असत् नहीं।

---

१. अदर्शनान्न = व्यतिरेकात्न, नदर्शनात् = अन्वयात्नेत्येव समासेनाह—अन्वयेत्यादि।

२. तस्मादिह = असतः प्रकाशे न स्वभावाविनाभाव इत्यन्वयः।

नापि सत्; नेदं रजतमित्यादिबाधविरोधात्। यत्र बाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेत्, न; तत्र प्रमाणानिरूपणात्। तथाहि—भ्रान्त्यनुभवस्तत्र प्रमाणम्? उत बाधानुभवः? किंवा भ्रमानुपपत्तिः? बाधानुपपत्तिर्वा? असत्ख्यात्यनुपपत्तिर्वा? नाद्यः; तस्य पुरोवर्तिरजतसत्तामात्रगोचरतयाऽसंनिहिततत्सत्तायामौदासीन्यात्। न द्वितीयः; बाधानुभवस्यापि पुरोवर्तिन्यारोपिताभावविषयस्य देशान्तरतत्सत्तानावेदकत्वात्। न तृतीयः; रजतावभासस्य यथाप्रतीतपुरोवर्तिरजतसत्तां विनानुपपत्तावपि देशान्तरे तदीयसत्तामन्तरेणानुपपत्त्यभावात्। न चतुर्थः; बाधस्य प्रसक्तप्रतिषेधात्मनस्तत्रैव तत्सत्ताक्षेपकतयाऽन्यत्र तत्सत्तानाक्षेपकत्वात्। नच वाच्यमन्यत्रापि तस्यासत्त्वे तत्रापि कुतो न तस्य बाधः स्यादिति; तत्र तस्याप्रसक्तेरेव बाधाभावोपपत्तौ तत्सत्ताध्यवसायायोगात्। नेदं रजतमिति पुरोवर्तिनि रजततादात्म्यनिषेधात्मबा-

---

सत्ख्यातिं निराकरोति—नापीति। न वयमत्रैव सत्त्वं ब्रूमः येन बाधविरोधः स्यादपित्वन्यत्रेति शङ्कते—यत्रेति। भवेदेवं यद्यन्यत्र सत्त्वे प्रमाणं स्यान्नतु तदिति परिहरति—न तत्रेति। संभावितप्रमाणानि विकल्प्य दूषयति—भ्रान्त्यनुभवेत्यादिना। प्रत्यक्षमर्थापत्तिर्वा इत्यर्थः। भ्रमानुपपत्तिं दूषयति—न तृतीय इति। अत्यन्तासतः संसर्गस्याप्यपरोक्षप्रतीतिमङ्गीकुर्वतो रजतस्यापि तथाप्रतीतिसम्भवान्न सत्तापेक्षेति सूचितम्—अनुपपत्तावपीत्यपिना। तत्रैव तत्सत्तेति। सन्निधिरित्यर्थः। ननु यद्यन्यत्राप्यसदत्रैव तत्रापि बाधः स्यान्नत्वेतदस्ति ततो नूनमवगच्छामोऽन्यत्र सदिति तत्राह—नच वाच्यमित्यादिना। हेतुमाह—तत्र तस्येति। बाधाभावस्त्वन्यथासिद्धः इत्यर्थः। ननु न वयं रजतबाधान्यथानुपपत्त्या रजतसत्त्वं ब्रूमः, अपि तु तादात्म्यमात्रबाधो धर्मिभूतं रजतं क्वापि परिशिनष्टीत्याशङ्क्य निषेधति—नेद-

---

सत् भी नहीं; क्योंकि यदि रजत सत् होता है, तब "नेदं रजतम्"—इस प्रकार उसका बाधित होना विरुद्ध पड़ जाता है। 'जहाँ रजत का बाध होता है, वहाँ नहीं, अपितु अन्यत्र वह सत् है'—यह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि 'अन्यत्र रजत सत् है'—इसमें कोई प्रमाण नहीं। यदि है, तो कौन प्रमाण है—भ्रमानुभव? या बाधानुभव? या भ्रमानुपपति? या बाधानुपपत्ति? या असत्ख्याति की अनुपपत्ति? प्रथम (भ्रमानुभव) अन्यत्र रजत के सत् होने में प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि वह (इदं रजतम्—यह भ्रमानुभव) तो केवल पुरोवर्ति रजत की सत्ता मात्र को ही विषय करता है, अन्यत्र रजत की सत्ता बताने में उदासीन है। द्वितीय (बाधानुभव) भी उसमें प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि वह (नेदं रजतम्—यह बाधानुभव) केवल पुरोवर्ति वस्तु में आरोपित रजत के अभाव को ही विषय करता है; असन्निहित देश में रजत-सत्ता का बोधक नहीं। तृतीय (भ्रमानुपपत्ति) भी उसमें प्रमाण नहीं; क्योंकि रजत-प्रतीति पुरोवति रजत की प्रातीतिक सत्ता के बिना अनुपपन्न होने पर भी अन्यत्र रजत-सत्ता के बिना अनुपपन्न नहीं। [अर्थात् यदि अन्यत्र रजत-सत्ता के बिना भ्रमानुभव न बन सकता, तब उसका आक्षेपक होता, किन्तु वह पुरोवर्ति देश में रजत की प्रातीतिक सत्ता से ही बन जाता है, देशान्तरस्थ रजतसत्ता में अर्थापत्ति प्रमाण नहीं बन सकता]। चतुर्थ (बाधानुपपत्ति) भी देशान्तरस्थ रजत-सत्ता में प्रमाण नहीं; क्योंकि बाध जहाँ पर जिसका निषेध करता है, वहाँ उस (निषेध्य) की प्राप्ति की अपेक्षा करता है; क्योंकि अप्रसक्त (अप्राप्त) का निषेध बनता नहीं। 'नेदं रजतम्' यह बाध भी पुरोवर्ति वस्तु में रजत का निषेध करता है, अतः इसके बल पर पुरोवर्ति देश में ही रजत-सत्ता सिद्ध होगी, न कि देशान्तर में। यदि कोई प्रश्न करे कि यदि देशान्तर में रजत की सत्ता नहीं, तब देशान्तर में उसका बाध क्यों नहीं होता? तो उसका उत्तर यह है कि देशान्तर में रजत प्राप्त ही नहीं तब उसका बाध कैसे होगा? अर्थात् देशान्तर में बाध नहीं होता, अतः वहाँ रजत है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि देशान्तर में रजत-

धानुभवो रजतमर्थात् क्वापि परिशिनष्टीति चेत्, न; तथासति वनस्पत्योरिव विविक्तयोर्द्वयोरप्यत्रैवान्तरं प्रतीतिप्रसक्तेः। नापि पञ्चमः; असतः संसर्गस्येव रजतस्याप्यसतः ख्यात्युपपत्तेः।

अथाधुनिकस्य कस्यचिन्मतानुसारेणेदं रजतमिति ज्ञानमिदमाकाररजताकारयोर्न संसर्गग्राहकमपितु तयोरेकज्ञानसंसर्गिणोर्भेदाग्रहादयथार्थव्यवहारो गृह्यमाणयोर्भेदाग्राहि सविकल्पकमेकं विज्ञानं विभ्रम इति भ्रमलक्षणाभ्युपगमात्। तथा च नासतः कस्यचित्ख्या-

---

सिति। अयमर्थः—कथमिदमवधार्यते तादात्म्यनिषेधोऽयम्? न धर्मिनिषेध इति। यदि हि धर्मिणो रजतस्य मानान्तरात्सत्त्वमवसीयेत तदा प्रसक्तस्यापीदमंशस्येवाबाध इत्यवधार्येत, नत्वेतदस्ति, नहि दूरस्थस्थावरयोर्भेदाग्रहात्परस्परात्मत्वारोपे नेदिष्ठं तिष्ठतश्च विवेकग्रहात्तादात्म्यांशनिषेधे तत्रैवानन्तरप्रतीतिवदनयोरस्ति प्रतीतिः। एतदुक्तं भवति—प्रसक्तयोस्तादात्म्यांशनिषेधो धर्मिणोस्तत्रैव समनन्तरप्रतीत्या व्याप्तस्तन्निवृत्तौ निवर्तत इति। नच तत्र संनिहितयोस्तादात्म्यारोप इह तु सन्निहितासन्निहितयोरिति वैषम्यम्; एतादृशेषु तादात्म्यारोपासंप्रतिपत्तेः, द्वावेतौ नैक इतिवद्बाधनाच्च। असतः ख्यात्यनुपपत्तिरिति पञ्चमं पक्षं निषेधति—नापि पञ्चम इति। असत एव संसर्गस्यापरोक्षतया ख्यातिरिति यस्य मतं तस्य का नु नामानुपपत्तिरसतो रजतस्य प्रतीतावित्यर्थः।

न्यायकल्पतरावुदीरितमाशङ्कते—अथाधुनिकस्येति। न संसर्गोऽत्र प्रतीयते येनासतः प्रकाशमानता स्यात्। तद्दृष्टान्तेन च रजतस्य सत्त्वं निषेधेताऽपितु शुक्तिरजतयोः स्वरूपमात्रग्राहीदमेकं विज्ञानमित्यर्थः। तर्हि किं तत्संसृष्टव्यवहारो निर्निबन्धनः? न, भेदाग्रहनिबन्धन इत्याह—अपि त्विति। कथं तर्ह्यख्यातेर्भेदस्तत्राह—गृह्यमाणयोरिति। एकं विज्ञानमित्यख्यातेर्भेदः, सविकल्पकमिति च वस्तुमात्रग्राहिणो निर्विकल्पकाद्विवेचितः, नेदं रजतमित्यादिभ्यश्च भेदाग्राहीति व्यावृत्तिः, घट इत्याद्येकैकवस्तुग्राहिविज्ञानमितरस्माद्भेदं न गृह्णाति, उक्तरूपं[2] चार्त[3]स्तन्निवृत्त्यर्थं गृह्यमाणयोरित्युक्तम्। एकैकेन ज्ञानेन तु भेदवत्पटादेरप्यग्रहणाद्व्यावृत्तिः। फलितमाह—तथा चेति। तदेतद्दूषयति—तं प्रति ब्रूयादिति। एकज्ञानो-

---

बाध न होने का कारण है उसकी वहाँ अप्राप्ति। यदि कोई सन्देह करे कि 'नेदं रजतम्'—यह बाध पुरोवर्ति वस्तु में रजत के तादात्म्य मात्र का निषेध करता है; रजत का नहीं। अतः यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि रजत अन्यत्र कहीं है। तो यह सन्देह भी संगत नहीं; क्योंकि रजत का निषेध न मानकर यदि तादात्म्य मात्र का निषेध मानें, तब बाध के उत्तर काल में रजत और शुक्ति—दोनों ही पृथक्-पृथक् वैसे ही उपलब्ध होने चाहिए, जैसे कि दो वृक्षों को दूर से एक समझा गया, पास पहुँच कर उनके तादात्म्य मात्र का निषेध होता है और दोनों वृक्ष पृथक्-पृथक् प्रतीत होते रहते हैं। पंचम (असत्-ख्याति की अनुपपत्ति) पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि यदि असत् की ख्याति (प्रतीति) न हो सकती, तब रजत को कहीं सत् माना जाता। किन्तु असत् संसर्ग (शुक्ति-रजत-तादात्म्य) की जैसे ख्याति होती है, वैसे ही असत् रजत की भी प्रतीति हो जायगी, उस प्रतीति के आधार पर उसे सत् मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

शङ्का—किसी आधुनिक व्यक्ति का कहना है कि 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान इदमाकार और रजताकार के सम्बन्ध का ग्राहक नहीं, अपितु अपने दोनों विषय शुक्ति और रजत के भेद का भासक न होने से उसे अयथार्थ (भ्रम) ज्ञान कहा जाता है; क्योंकि 'जो ज्ञान अपने गृह्यमाण पदार्थों में भेद का अग्राहक हो, सविकल्पक हो और एक हो, उसे भ्रम कहा जाता है'—यही भ्रम का लक्षण माना है। तब तो किसी भी असत् की प्रतीति नहीं होती। [तात्पर्य यह है कि प्राभाकर को यह

---

१. अख्यातेरिति पञ्चमी। २. उक्तरूपं च = सविकल्पकं चास्तीतिशेषः। ३. तन्निवृत्त्यर्थम् = तत्रातिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः।

तिरिति कश्चिद्ब्रूयात्, तं प्रति ब्रूयात्—मध्यमवृद्धव्यवहारेऽप्येकज्ञानोपारोहिणोः संसर्गिणोरसंसर्गाग्रहादेव व्यवहारोपपत्तौ बालस्य संसर्गज्ञानानुमानानुदयाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात्। एवमनुमानाभास इव सदनुमानेऽप्यसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेदः, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च ; ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामसंसर्गाग्रहादेव संसर्गव्यवहारोपपत्तेरिति गुरुमतनिरसनेनैव गुरुमतपरिपोषणनिपुणमतेर्मतं निरस्तमिति। किं च कणभक्षाक्षचरणमतमवलम्ब्यैवमन्यथाख्यातिमन्यथावर्णयतो द्वितीयसूत्रे मिथ्याज्ञानविवेचनवेलायाम्—'इहात्मनि मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारं वर्तते, तद्यथाऽनित्ये नित्यमिति सभये

पारोहस्वीकारेऽपि संसर्गज्ञानापलापसाम्याद् अख्यातिवादिनि संसर्गज्ञानापलापिन्युक्तं शब्दानुमानप्रत्यक्षाप्रामाण्यप्रसङ्गं दोषमत्राप्याह—मध्यमवृद्धेत्यादिना। किं चैकस्मिन्नेव घटे स एवायं घटो न भवतीति विभ्रमे लक्षणमव्यापकम्। विद्यमानभेदयोरिति विशेषणेऽपि दूरगिरिशिखरतरुनिकरमात्रग्राहिप्रत्ययेऽतिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम्। एतन्मतदूषणमुपसंहरति—इति गुरुमतेति। किं च कणादाक्षपादमतावलम्बिना तावदिदं वक्तुं न युक्तम्, भाष्यवार्तिकविरोधेनापसिद्धान्तापातादित्याह— किंच कणभक्षेत्यादिना। द्वितीयसूत्रे—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग' इति। आत्मनीत्यधिकरणे सप्तमी।

मानने पर बाध्य किया गया कि जैसे आप शुक्ति-रजत के असत् संसर्ग का भान 'इदं रजतम्' में मानते हैं, वैसे ही असत् रजत का भान भी मानना पड़ेगा। इस पर प्राभाकर के एक हितैषी ने कहा कि 'इदं रजतम्' में हम असत् संसर्ग का भान नहीं मानते कि जिसे दृष्टान्त बनाकर असत् का भान मानने पर विवश किया जा सके। हाँ, 'असत् पदार्थ का भासक ज्ञान'—यह भ्रम का लक्षण नहीं, अपितु 'जो एक सविकल्पक ज्ञान अपने विषय का विश्लेषक न हो, उसे भ्रम कहा जाता है। 'इदं रजतम्' भी इसी प्रकार है, अतः उसमें भ्रम का व्यवहार होता है]।

समाधान—उस आधुनिक विद्वान् को यह समझाना चाहिए यदि बिना संसर्ग के पदार्थों का स्वरूपतः भान किसी ज्ञान में मानेगा, तब तो मध्यम वृद्ध का व्यवहार भी वैसे ही एक ज्ञान के विषयीभूत पदार्थों के भेद के अग्राहक ज्ञान से ही निभ जायगा। फिर तो पास में बैठा बालक संसर्ग-ज्ञान का अनुमान न कर सकेगा, तब तो पूरा शब्द-प्रामाण्य ही भंग हो जायगा। इसी प्रकार अनुमानाभास के ही समान सदनुमान में भी असंसर्गाग्रह से संसर्ग-व्यवहार बन जाने पर अनुमान मात्र का उच्छेद और प्रत्यभिज्ञा-प्रामाण्य का उच्छेद हो जायगा; क्योंकि जैसे दीपक की विभिन्न ज्वालाओं में 'सेयं दीपज्वाला'—इस प्रकार एकत्व-व्यवहार हो जाता है, वैसे ही सभी प्रत्यभिज्ञाओं में असंसर्गाग्रह से ही संसर्ग-व्यवहार बन जायगा। इस प्रकार प्राभाकर मत के निराकरण से ही इस प्राभाकर-मत के पोषक विद्वान् का मत निराकृत हो जाता है, पृथक् निराकरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। दूसरी बात यह भी है कि कणाद और गोतम के मत में दीक्षित होकर यदि ऐसा व्यक्ति अन्यथाख्याति का ऐसा विकृत रूप वर्णन करता है, तब भाष्य तथा वार्तिक से विरोध होता है; क्योंकि न्याय-दर्शन के द्वितीय सूत्र में मिथ्या ज्ञान का विवेचन करते हुए भाष्यकार (महामुनि वात्स्यायन) कहते हैं—"तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्ते प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते—आत्मनि तावत् नास्तीति, अनात्मन्यात्मेति, दुःखे सुखमिति, अनित्ये नित्यमिति, अत्राणे त्राणमिति, सभये निर्भयमिति" (नवम सूत्र में कहे आत्मादि बारह प्रमेयों में मिथ्या ज्ञान अनेक प्रकार का होता है, जैसे—आत्मा के विषय में 'नहीं है' अनात्मा के विषय में 'यह आत्मा है,' दुःख के विषय में 'यह सुख है,' अनित्य के विषय में 'यह नित्य है,' अरक्षक के विषय में 'यह रक्षक है,' सभय के विषय में 'यह निर्भय है'—इत्यादि)। यहाँ भाष्यकार ने 'अनित्यनित्यविषयकम्'—ऐसा न कह

निर्भय'मित्यादिभाष्यविरोधः । 'कः पुनर्विपर्ययः ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्यय'इत्युद्द्योतकरवार्तिकविरोधश्च प्रसज्येतेति ।

'बध्यतां बध्यतां बालो नानेनार्थोऽस्ति जीवता ।
स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद् यः कुलाङ्गारतां गतः ॥'

इति न्यायविषयतामयं नातिवर्तते। तस्मादसत्ख्यात्यनुपपत्तिरपि नान्यत्र सत्तावेदिकारोपितस्य ।

कुत्रचेदमारोपितमन्यत्र भवद्भवेत् ? न तावद्देशान्तरादौ, तस्यासन्निहितस्य द्रष्टुमयोग्यत्वात् । दुष्टं करणं विप्रकृष्टमपि द्रष्टुं शक्नोतीतिचेन्न; दुष्टकरणस्य पुंसः सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात् । अतो दोषोऽप्यसदनिर्वचनीयं वा दर्शयति, दृष्टानुसारात् । तदेवं न देशान्तरादावारोप्यसद्भावः ।

अस्तु तर्हि बुद्धौ, स्वरूपेणासतो गगनारविन्दादिवदप्रतिभासात्, नेदं रजतमिति बाधस्ये-

अत्र ह्यनित्ये इत्यादिसप्तम्या आधाराधेयरूपसंबन्धग्राहित्वं विभ्रमस्य कण्ठोक्तमिति भावः । स्वपक्षहानीति । प्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपुवचनम् । अन्तिमपक्षोक्तदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति ।

तदेवं साधारण्येनारोपितस्यान्यत्र सत्त्वं नास्तीत्युक्तमिदानीं विशेषतो दूषयितुमुपक्रमते—कुत्र चेदमिति । अन्यथाख्यातिं निराकरोति—न तावदिति । ननु यदि न दुष्टाक्षस्य विप्रकृष्टद्रष्टृत्वं कुतस्तर्हि दोषस्य दोषत्वमिति तत्राह— अतो दोषोऽपीति । प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकत्वे सति विपरीतकार्यनिष्पादको दोषः, तदिहाप्यसदनिर्वचनीयं वा सत्त्वेन भासयतोऽस्तीत्यर्थः । दृष्टानुसारादिति । अ[2]सत्संसर्गावभासकत्वस्य ज्ञाने त्वयैव स्वीकारादित्यर्थः ।

आत्मख्यातिमवतारयति—अस्तु तर्हीति । तत्र युक्तिमाह—स्वरूपेणासत इत्यादिना । नन्वस्य सत्त्वंकल्पनं नेदं रजतमिति बाधविरुद्धमिति नेत्याह—नेदं रजतमिति । अथ किमिति न[3] द्वयं निषेध-

कर जो 'अनित्ये नित्यम्'—इस प्रकार कहा, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्या ज्ञान में सम्बन्ध का भान होता है, सम्बन्ध-रहित केवल पदार्थों का नहीं । इसी प्रकार वार्तिककार (उद्योतकराचार्य) ने भी कहा है—"कः पुनरयं विपर्ययः ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः" (क्या है यह विपर्यय ? अतद् में तत्—इस प्रकार (का ज्ञान) । यहाँ भी मिथ्या ज्ञान की पदार्थों के सम्बन्ध में विषयता प्रतीत होती है । ऐसे महापुरुषों के कुल में ऐसा व्यक्ति, जो मिथ्या ज्ञान में सम्बन्ध का भान नहीं मानता, वह निश्चित ही कुलाङ्गार है । ऐसे व्यक्ति को हिरण्यकशिपु की गर्जना के अनुसार यह घोर दण्ड मिलना चाहिए—'मार दो, मार दो इस बालक को, इसे जीने का अधिकार नहीं, जो अपने ही पक्ष का भक्षक और अपने ही कुल को स्वाहा करनेवाला है ।' अतः असत्ख्याति की अन्यथानुपपत्ति से भी आरोप्यमाण की अन्यत्र सत्ता सिद्ध नहीं होती ।

यदि आरोपित (रजतादि) अन्यत्र हो भी, तो कहाँ ? देशान्तर में वह हो नहीं सकता; क्योंकि असन्निकृष्ट देश की वस्तु देखी नहीं जा सकती । यदि कहें कि विकृत नेत्र उसे भी देख लेगा; तब तो विकृत नेत्र वाला पुरुष सर्वदर्शी हो जायगा । अतः यह मानना होगा कि दोष भी असत् या अनिवर्चनीय (रजतादि) का भासक है, जैसे कि 'इदं रजतम्' में असत् संसर्ग का भान देखा जाता है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि देशान्तर में आरोप्य का सद्भाव नहीं ।

आत्मख्यातिवादी—बाहर यदि रजत की सत्ता नहीं तब अन्दर बुद्धि में मानी जा सकती है; क्योंकि रजत यदि अन्दर-बाहर कहीं नहीं अर्थात् गगन-कमल की भाँति स्वरूपतः असत् है, तब

---

१. तद् = प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकत्वे सति विपरीतकार्यनिष्पादकत्वम् , भासयतश्चक्षुरादेरस्तीत्यन्वयः ।
२. असदवभासकत्वस्य संसर्गे इति पाठान्तरम् । तत्र संसर्गपदोत्तरसप्तम्या निरूपितत्वमर्थः । अथवा संसर्गविषयके ज्ञाने इत्यर्थः । ३. न द्वयमित्यस्य स्थाने तद्द्वयमित्यपि पाठस्तत्र तदेदन्तामात्रं परामृशति ।

दंतामात्रगोचरत्वात्, द्वयोर्बाधकल्पनायां कल्पनागौरवात्, नेदं रजतमिति च रजते बाधादर्शनात्। नचेदंतानिषेधे सत्यनिदंतया बहिरपि व्यवस्थोपपत्तौ कुतः संविदाकारतेति सांप्रतम् ; व्यवहितस्यापरोक्षसंविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तेः, संविदाकारो रजतं संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्संवेदनवदिति प्रयोगोपपत्तेः। ननु संप्रयोगो नाम किमिन्द्रियसंयोगादिविशेषः ? किं वा संबन्धमात्रम् ? नाद्यः ; रूपादिनाऽनैकान्त्यात्। द्वितीये तु विशेषणासिद्धिः। दृष्टान्ते साधनविकलता च। नह्याध्यासिकसंबन्धं विनास्माकं रूप्यं तद्धीश्चापरोक्षा, धीरूपत्वे च रज-

तीत्यत आह—द्वयोर्बाधकल्पनायामिति। अनुभवमपि प्रमाणयति—नेदं रजतमिति। नन्विदंतानिषेधे सत्यनिदंतया विप्रकृष्टं भवत्वत्यन्तसन्निधानं त्वात्मरूपप्रत्ययात्मकं कुतस्त्यमिति तत्राह—न चेदंतानिषेधे सतीति। हेतुमाह—व्यवहितस्येति। संप्रयोगरहितस्येति यावत्। संविदाकारतायामनुमानमपि प्रमाणमाह—संविदाकारो रजतमित्यादिना। घटादेरनुमेयस्य च व्यवच्छेदार्थं संप्रयोगमन्तरेणेत्याद्युक्तम्। यदत्र न्यायदीपावल्यां दूषणमुक्तं तदनुवदति—नन्वित्यादिना। रूपादिनेति। संयोगमन्तरेणापरोक्षता रूपादेः, समवायमन्तरेण च शब्दव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य, तथापि संविद्रूपता नास्तीत्यनैकान्त्यम्। न च तत्रापि संविद्रूपत्वमेव सर्वस्य संविद्रूपताङ्गीकारादिति वाच्यम् ; तथा सति विपक्षासंभवेन संप्रयोगमन्तरेणेति विशेषणवैयर्थ्यात्। संबन्धमात्रविवक्षायां तद्राहित्यविशेषणमसिद्धम्, चैतन्येनाध्यासिकसंबन्धस्वीकाराद्रजतसंवेदनयोः। अत एव दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यं चेत्याह—द्वितीये त्विति। तर्कंबाधमप्याह—धीरूपत्वे चेति। तदेतत्परिहरति पूर्ववादी—मैवमित्यादिना। न संबन्धमात्राराहित्यं विवक्षितं, किंत्वि-

उसका भान ही नहीं होगा। 'नेदं रजतम्'—यह बाध रजत में इदन्ता मात्र का निषेध करता है, रजत तथा इदन्ता—दोनों का निषेध करने में कल्पना-गौरव होगा; अतः 'इदं रजतम्'—यह रजत का निषेध नहीं करता। [आत्मख्यातिवादी बौद्ध भ्रमस्थल पर विज्ञात्मा रजत की ही प्रतीति बाहर मानता है। उसका कहना है कि जैसे 'नायं पीतः शङ्खः'—इस बाध से पीतिमा में आरोपित इदन्ता मात्र का निषेध होता है, पीतिमा का नहीं क्योंकि वह नेत्र-गत पित्त द्रव्य में स्थित है ही, वैसे ही 'नेदं रजतम्'—यह निषेध भी रजत में आरोपित इदन्ता (बाह्यता) मात्र का निषेध करता है, रजत का नहीं; क्योंकि वह आन्तर विज्ञान में स्थित ही है। जो लोग रजत रूप धर्मी और इदन्ता रूप धर्म–दोनों का निषेध मानते हैं उनके मत में गौरव है]। यदि सन्देह हो कि इदन्ता (सन्निहित बाह्यता) का निषेध हो जाने पर अनिदन्ता (विप्रकृष्ट बाह्यता) मान लेने से व्यवस्था बन जाती है, रजत में ज्ञानरूपता क्यों सिद्ध होगी ? तो वह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि रजत को व्यवहित देश में मानने से उसका प्रत्यक्ष न बन सकेगा, कारण कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जब तक बाह्य वस्तु का ऐक्य स्थापित न हो, तब तक उसका प्रत्यक्ष नहीं होता और व्यवहित देश के पदार्थों से इन्द्रिय-सम्बन्ध न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान का ऐक्य हो नहीं सकता। अतः रजत, विज्ञान का आकार ही मानना होगा। उसकी विज्ञानाकारता में अनुमान प्रमाण भी है—'रजत, विज्ञान का आकार है, सम्प्रयोग (सम्बन्ध) के बिना ही प्रत्यक्ष होने से, विज्ञान के समान।'

शङ्का—इस अनुमान में सम्प्रयोग से क्या विवक्षित है ? इन्द्रिय का संयोगादि सम्बन्ध विशेष ? अथवा सम्बन्ध मात्र ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि संयोग के बिना प्रत्यक्षता है समवेत रूपादि में, इसी प्रकार समवाय के बिना घटादि संयुक्त पदार्थों में प्रत्यक्षतारूप हेतु है कि रूपादि और घटादि में विज्ञानरूपता साध्य है नहीं, अतः हेतु व्यभिचरित हो जाता है। द्वितीय (सम्बन्ध मात्र) पक्ष में विशेषणासिद्धि दोष है, क्योंकि बिना आध्यासिक सम्बन्ध के हम (वेदान्ती) ज्ञान का या रजतादि का प्रत्यक्ष नहीं मानते। इसी लिए दृष्टान्त में साध्य-विकलता भी है। फिर भी यदि रजत

तादेर्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्ग इति चेत् , मैवम् ; इन्द्रियसन्निकर्षानधीनापरोक्षत्वस्य विवक्षितत्वात् । संवेदनस्य चेन्द्रियसंबन्धमन्तरेणैव स्वतःसिद्धतया साक्षिसिद्धत्वेन वा साधनवैकल्याभावात् । न च धीरूपत्वे रजतादेर्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्गः ; धियोऽन्यत्वेऽपि पटादिवद्भ्रान्तिं विनापि दर्शनप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । ततो धीरूपमेव रूप्यमिति चेत् ,

तदयुक्तम् ; अत्यन्तालीकाया अपि बाह्यतायाः प्रतिभासवदत्यन्तासतोपि रजतादेः प्रतिभासोपपत्तेः । नच नेदं रजतमितीदन्तामात्रमेव बाध्यते, कल्पनालाघवादिति न्याय्यम् ; इदं रजतमिति प्रतिपन्नविशिष्टरजतस्य नेदं रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनीयत्वाभावात् । अतएव कल्पनालाघवन्यायानवतारात् । नच संविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्तिः ; बाह्यतावत्तदुपपत्तेः । किंचारोपितं बुद्धौ चेत् ; गुञ्जापुञ्जादौ दहनसमारोपे देहदाहप्रसङ्गः ।

न्द्रियसंबन्धराहित्यम्, तेन नानैकान्तिकताऽसिद्धी इत्यर्थः । साधनवैकल्यं परिहरति—संवेदनस्य चेति । रूप्यज्ञानस्येत्यर्थः । स्वतःसिद्धतयेति बौद्धाभिप्रायेण । साक्षिसिद्धतयेति स्वाभिप्रायेण । तर्कविरोधं परिहरति—न चेति । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तत इति । न तावदसतः ख्यात्यनुपपत्तिः, वहिष्ट्वे तदभावादित्याह—अत्यन्तालीकाया इति । नच न्याय्यमित्युक्तं तत्र हेतुः—इदं रजतमिति । कल्पनायां हि लाघवमनुसरणीयम्, नचात्र कल्पना, प्रमाणमार्गागतत्वादितरथाऽतिप्रसङ्गादहं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति भावः । अनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—नच संविदैक्यमिति । तदेवमप्रामाणिकत्वमुक्त्वा प्रमाणबाधं चाह—किंचारोपितमित्यादिना । स यदि ब्रूयादान्तरं न वस्तु सदतो न दाहादिरिति तं प्रत्याह—तर्हीति ।

को विज्ञान रूप मान लें, तो भ्रान्ति के बिना ही रजतादि का दर्शन होना चाहिए ।

समाधान—उक्त 'सम्प्रयोग' पद से इन्द्रिय-सन्निकर्ष विवक्षित है, अर्थात् इन्द्रिय-सम्बन्ध के अनधीन अपरोक्षत्व—यह साध्य का पूरा स्वरूप है । इन्द्रिय-सम्बन्ध के बिना ही विज्ञान हमारे (बौद्ध मत में) स्वतः अपरोक्ष और आप (वेदान्ती) के मत में साक्षिसिद्ध है; अतः दृष्टान्त (विज्ञान) में साध्य-विकलता दोष नहीं । यह जो कहा था कि विज्ञानस्वरूप मानने पर भ्रान्ति के बिना ही रजतादि का दर्शन होना चाहिए;–वह कहना उचित नहीं; क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त मानने में भी तो यह शङ्का बनी रहती है कि भ्रान्ति के बिना ही पटादि के समान रजतादि दर्शन होना चाहिए । अतः ऐसा दोष किसी पर नहीं देना चाहिए, जो कि अपने पक्ष में भी लगता हो । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि रजत, विज्ञान का स्वरूप है ।

सिद्धान्ती—आत्म-ख्याति-वादी का यह कहना नितान्त असङ्गत है, (कि अत्यन्त अलीक रजत का भान नहीं हो सकता, अतः बुद्धि में रजत को सत् मानना चाहिए); क्योंकि जिस प्रकार अत्यन्त अलीक वाह्यता (इदन्ता) का भान रजत में हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त असत् रजत का भी प्रतिभास बन जायगा । यह जो कहा था हमारे (आत्मख्याति-वादी के) मत में इदन्तामात्र का वाध होने से लाघव और आप (वेदान्ती) के मत में रजत तथा इदन्ता—दोनों का बाध होने से कल्पना–गौरव है, वह कहना भी सङ्गत नहीं; क्योंकि जहाँ कल्पना करनी हो, वहाँ लघु मार्ग का ही अनुसरण किया जाता है, किन्तु यहाँ 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान से विशिष्ट रजत की प्रसक्ति और 'नेदं रजतम्'—इस अनुभव से उसका वाध अनुभव प्रमाण से सिद्ध है, कल्पनीय नहीं । इसलिए 'कल्पना-लाघव' का न्याय यहाँ लागू नहीं होता । 'विज्ञान से अभेद न मानने पर रजत में अपरोक्षता नहीं बन सकेगी'—यह भी कहना संगत नहीं; क्योंकि जैसे बाह्यता विज्ञानरूप नहीं, फिर भी उसमें अपरोक्षता होती है; वैसे ही रजत में अपरोक्षता क्यों न बनेगी ? दूसरी बात यह है कि यदि आरोपित रजतादि की सत्ता बुद्धि में मानी जायगी; तब तो गुञ्जासमूह (घुँघची के ढेर)

बुद्धावपि तस्यातात्त्विकत्वादप्रसङ्ग इतिच्चेत्; तर्हि न तद्बहिः सन्नान्तरित्यत्यन्तासदनिर्वचनीयं वा स्यात्, गत्यन्तराभावात्। संप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वादिति हेतुर्बहिष्ट्वेऽप्यबुद्ध्याकारे वर्तत इति सव्यभिचारः। तस्मान्नासत्। नापि सत्समारोपितम्। नापि सदसद्रूपम्; विरोधात्। अविरोधे वा न भ्रान्तिबाधौ; द्वयोरपि परमार्थविषयत्वात्। उभयाकारस्यैकाकारप्रतिभासो भ्रम इतिचेत्; तर्हि बाधस्यापि भ्रमत्वप्रसङ्गः। तस्याप्येकाकारचिपयत्वात्। सर्वज्ञानानां च सर्वात्मनाऽनवभासकत्वाद्भ्रान्तित्वप्रसङ्गो दुर्वारः स्यात्। तस्माद् गत्यन्तराभावादनिर्वचनीयमारोपितमिति सिद्धम्।

ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वम्—किं निरुक्तिविरहः? किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरहः? नाद्यः; इदं रजतमित्यादिनिरुक्तेरङ्गीकारात्। न द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। तथाहि निरुक्ते-

अपसिद्धान्तापत्तिरित्यर्थः। यत्त्वनुमानमुक्तं तद्बहिष्ट्वेऽनैकान्तिकमित्याह—**संप्रयोगमित्यादिना**। सत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—**तस्मादिति**। अस्तु तर्हि सदसदात्मकमारोपितम्। यथाहुः—

[2]'स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किंचिद्रूपं कैश्चित्कदाचन॥' इति

तत्राह—**नापिसदसद्रूपमिति**। ननु यद्यपि परमार्थविषयत्वमुभयोस्तथाप्युभयाकारस्य सतोऽर्थस्यैकाकारग्राहित्वात् पूर्वज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्कते—**उभयाकारस्येति**। तर्ह्यसदाकारमात्रग्राहिणो बाधकस्यापि स्याद्भ्रान्तित्वमित्याह-**तर्हीति**। अत्यल्पंचेदम्, सर्वज्ञानानामेवैवंभावाद् भ्रान्तित्वप्रसक्तिरित्याह—**सर्वज्ञानानां चेति**।

आरोपितमनिर्वचनीयमित्युपसंहृतं तदाक्षिपति—**नन्विति**। किं निरुक्तिविरहोऽनिर्वचनीयत्वं? किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरहः? किं वा ज्ञानबाध्यत्वम्? अथ वा प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमिति? तत्र

में आरोपित अग्नि को बुद्धि में सत्त मानने पर देह जलने लगेगी। यदि कहा जाय कि वह अग्नि बुद्धि में वस्तुतः सत् नहीं अतात्त्विक है, फिर दाह-प्रसङ्ग क्यों होगा? तब तो रजत न तो बाहर सत् है और न अन्दर, अतः अत्यन्त असत् या अनिर्वचनीय मानना पड़ेगा, और कोई मार्ग नहीं। 'सम्प्रयोग के बिना अपरोक्षत्व'—यह हेतु बाह्यता (इदन्ता) पर भी है, किन्तु वहाँ विज्ञानाकारतारूप साध्य नहीं; अतः व्यभिचारी है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि समारोपित (रजतादि) न असत् है और न सत्। सदसत्—उभयरूप भी नहीं मान सकते; क्योंकि सद्रूपता और असद्रूपता—दोनों नितान्त विरुद्ध धर्म है, एकत्र नहीं रह सकते। यदि विरोध नहीं और वे दोनों धर्म एकत्र रहते हैं, तब तो 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान न तो भ्रान्ति होगा और न उसका बाध ही हो सकेगा; क्योंकि दोनों ज्ञान ('इदं रजतम्' और नेदं रजतम्) परमार्थ विपयक होंगे। यदि कहा जाय कि रजत वस्तुतः उभयाकार है किन्तु 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान उसके केवल एक (सत्) आकार को ग्रहण करता है, अतः वह भ्रान्ति है। तब तो बाध (नेदं रजतम्) ज्ञान को भी भ्रम ही मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी रजत के केवल एक (असत्) आकार को ही विषय करता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु सभी ज्ञानों में उभयाकार—ग्राहकता न होने से भ्रान्तित्व दुर्वार हो जायगा। अतः और कोई मार्ग न रहने के कारण आरोपित (रजतादि) अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते हैं।

पूर्वपक्ष—यह अनिर्वचनीयत्व क्या है? क्या निरुक्ति (निर्वचन) का विरह? या निरुक्ति के निमित्त का विरह? प्रथम पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि रजत के विषय में निरुक्ति का विरह कहाँ? 'इदं रजतम्'—यह निरुक्ति तो मानी ही जाती है। द्वितीय (निरुक्त के निमित्त का विरह) पक्ष में

---

१. द्र० ता० परि० पृ० ४१४, तथा न्या० म० पृ० १११। २. श्लो० वा० अभाव० १२ सर्ववस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपम्। यथा घटो घटरूपेण सन् पटरूपेण चासन्नित्यर्थः।

र्निमित्तं ज्ञानम ? अर्थो वा ? .नाद्यः; रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायावादिभिरभ्युपगमात्। न द्वितीयः; अर्थस्यापि सतो विरहेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गात्, असतोपि विरहे सत्त्वप्रसङ्गात् । उभयविरहस्य च परस्परविरुद्धयोर्लोकसिद्धयोरन्यतरनिषेधस्येतरविधिनान्तरीयकत्वनियमदर्शनादेवानुपपत्तेः । भावाभावयोरलौकिकयोः स्वकपोलपरिकल्पितयोर्निषेधसमुच्चयाङ्गीकरणे तु लौकिकसदसतोरनिषेधात् न निरुक्तिनिमित्तार्थासंभवः । अतो न सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयम्, नापि ज्ञानबाध्यत्वम्; बाध्यत्वशब्देन निवर्त्यत्वाङ्गीकारे पूर्वज्ञानस्य संस्कारस्य चोत्तरविज्ञाननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्वापातः । विश्वस्य चेश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्वं स्यात् इति लक्षणस्यातिव्याप्तिः । अथ बाध्यत्वं नाम बाधकज्ञानविषयत्वम्; तदा शुक्त्यादेर्ब्रह्म-

---

प्रथमं निषेधति—नाद्य इत्यादिना । निरुक्तेर्निमित्तमिति । निर्वचनसंबन्धि हि निर्वचनीयं, तच्च निमित्तं ज्ञानमपि भवति, कारणतया संबन्धित्वात् । तथा विषयतयाऽर्थोऽपि । तयोर्विरहश्चेदनिर्वचनीयत्वं विवक्षितमित्यर्थः । ज्ञाननिमित्तविरहं दूषयति—नाद्य इति । विषयज्ञानं हि शब्दप्रयोगे निमित्तं तच्च त्वयाप्यभ्युपेयते इत्यर्थः । अर्थविरहपक्षं दूषयति–न द्वितीय इति । अर्थविरह इति कोऽर्थः ? किं सन्नर्थो नास्तीति ? तर्ह्यसन्नेवार्थ इत्यसत्ख्यातित्वमेव न पुनरनिर्वचनीयत्वमित्याह—अर्थस्यापीति । अथासन्नर्थो नास्तीति ? तर्हि सन्नेवार्थ इति सत्ख्यातित्वमेवेत्याह—असतोऽपि विरह इति । ननूभयोरप्यर्थयोर्विरहोऽर्थविरहस्तथा च नार्थान्तरतेति तत्राह—उभयविरहस्य चेति । तत्र किं लोकप्रसिद्धसदसतोर्विरहोऽनिर्वचनीयत्वम् ? उत स्वमतसङ्केतितयोः ? नाद्यः; असंभवादित्याह—लोकसिद्धयोरिति । द्वितीये आह—भावाभावयोरिति । निषेधयोः समुच्चयः निषेधसमुच्चयः । तृतीयं निषेधति—नापि ज्ञानबाध्यत्वमिति । तत्र वक्तव्यं किं बाधकज्ञाननिवर्त्यत्वम् ? किंवा बाधकज्ञानविषयत्वम् ? किंवा कालत्रयनिषेधप्रतियोगित्वम् ? तत्र प्रथमं निषेधति—बाध्यत्वशब्देनेति । द्वितीयं दूषयति–अथ बाध्यत्वं नामेति । अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानं हि त्वन्मते बाधकं तथाच स्पष्टैवातिव्याप्तिः । अस्मन्मतेऽपि नेदं रजतमित्यत्राधि-

---

जिज्ञासा होती है कि निरुक्ति का निमित्त क्या माना जाता है ? ज्ञान ? या अर्थ ? (क्योंकि किसी वस्तु का ज्ञान होकर ही निर्वचन होता है, अतः उसके निर्वचन में दोनों निमित्त होते हैं—वस्तु और उसका ज्ञान)। निरुक्ति के प्रथम निमित्त (ज्ञान) का विरह तो वहाँ है नहीं; क्योंकि रजतादि का ज्ञान तो मायावादी मानते ही हैं । निरुक्ति का द्वितीय निमित्त (अर्थ) भी सत् विवक्षित है ? या असत् ? रजतादि रूप सत् अर्थ का अभाव मानने पर असत्ख्याति और असत् अर्थ का विरह मानने पर सत्ख्याति माननी पड़ जायगी । यदि 'अर्थ-विरह' पद से सदर्थ और असदर्थ—दोनों का विरह लिया जाय, तो इस पक्ष में भी प्रश्न उठता है कि लोक-प्रसिद्ध सत् और असत् का विरह अभिमत है ? या कोई अलौकिक सत् और असत् का विरह ? लोक-प्रसिद्ध सत् और असत्—उभय का निषेध सम्भव ही नहीं, क्योंकि लोक में सत् का निषेध करने से असत् का विधान समझा जाता है और असत का निषेध करने से सत् का । अपने कपोल-कल्पित किसी अलौकिक सत् और असत् के निषेधों का समुच्चय मानं लेने से लौकिक सत् और असत् का निषेध तो होता नहीं, अतः निरुक्ति के निमित्त अर्थ का अभाव नहीं होता, इस लिए अनिर्वचनीय सदसद्विलक्षण सिद्ध नहीं होता । ज्ञानबाध्यत्व भी अनिर्वचनीयत्व का लक्षण नहीं बन सकता; क्योंकि 'बाध्यत्व' शब्द से (क्या विवक्षित है ? बाधक ज्ञान-निवर्त्यत्व ? या बाधक ज्ञान-विषयत्व ? या कालत्रय-निषेध-प्रतियोगित्व ?) निवर्त्यत्व लेने पर उत्तर ज्ञान से पूर्व ज्ञान भी निवर्त्य है और उत्तर ज्ञान के संस्कार भी, ऐसे सत् पदार्थों में भी अनिर्वचनीयत्व की आपत्ति होगी । केवल इतना ही नहीं, अपितु ईश्वर ज्ञान से निवर्त्य पूरा विश्व है, उसमें निवर्त्यत्व रहने से अनिर्वचनीयत्व प्राप्त होता है, अतः निवर्त्यत्व लक्षण अतिव्याप्त है । यदि बाध्यत्व का अर्थ बाधक ज्ञान-विषयत्व करें; तब तो शुक्त्यादि तथा ब्रह्म में अनिर्वचनीयत्व

णश्चानिर्वाच्यत्वं स्यात्. तयोरधिष्ठानतया बाधकज्ञानविषयत्वात्। अथ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च बाध्यत्वमिति, मैवम्; मायाविवर्तस्य पुरोवर्तिरजतस्य तथाविधनिषेधविषयत्वानङ्गीकाराल्लक्षणस्याव्याप्तेः, लौकिकपरमार्थरजतस्यात्र तथाविधनिषेधविषयत्वाङ्गीकारादनिर्वाच्यत्वापत्तिरिति लक्षणस्यातिव्याप्तेश्च। एतेन प्रतिपन्नोपाधौ निषेध्यत्वमनिर्वचनीयत्वमित्यपास्तम्। पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्याधिष्ठानज्ञानेन मायायां विलीयमानायां तत्परिणामतया स्वयमेव विलीयमानस्य नेदं रजतमिति निषेधाविषयत्वात्।

किं चात्र प्रमाणम्? ख्यातत्वे सति बाध्यत्वानुपपत्तिः—असतो नरशृङ्गादेरख्यानात्सतश्च चिदात्मनो बाधाभावाद् उभयस्य चेह दर्शनादितिचेत्, न; देशान्तरे सत्त्वात्ख्यातेरिहासत्त्वाद्बाधस्यापि संभवाद् अन्यथाप्युपपत्तेः। किं चासतो भानमनुपपन्नमित्यसत्; असतोपि

ष्ठानमपि स्फुरतीत्यर्थः। तृतीयं दूषयति—मैवमिति। त्वन्मतेऽनिर्वचनीयरजतस्य तत्रैवाविद्ययोत्पन्नत्वात्प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च न कालत्रयेऽप्यभावः शक्याङ्गीकारोऽतोऽव्याप्तिः[2]; कस्मिंश्चिदपि लक्ष्येऽवर्तमानत्वादित्यर्थः। अतिव्याप्तिं चाह—लौकिकेति[1]। तृतीयपक्षोक्तं दूषणं[3] चतुर्थेऽप्यतिदिशति—एतेनेति। अतिदिश्यमानामव्याप्तिमेव विवृणोति—पुरोवर्त्तिनीति। अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनाधिष्ठानाज्ञानमेव बाध्यते। तत्परिणामरूपयोस्तु ज्ञानज्ञेययोः स्वयमेव विलय इति हि तव समयः। तथाच रूप्यादेर्निषेध्यत्वाभावादव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थः।

एवं लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणं प्रतिक्षिपति—किंचात्र प्रमाणमित्यादिना। अर्थापत्तिं शङ्कते—ख्यातत्वे सतीत्यादिना। अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—असतो नरशृङ्गादेरित्यादिना। इमामर्थापत्तिं मानमनोहरकारोक्तान्यथाप्युपपत्त्या दूषयति—न। देशान्तरेत्यादिना। अनुदयमप्याह[4]—किं चेति। यद्यसतो न भानं कथमसत्पदं बोधकं स्यात्? यदि चाबोधकमसत्पदं कथमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं न भवेत्?

प्राप्त होगा, क्योंकि वे भी अधिष्ठान होने के कारण बाधक ज्ञान के विषय हैं। यदि कहें तीनों कालों में होने वाले (न था, न है और न होगा—इस प्रकार के) निषेध को बाध और उसके विषय में बाध्यत्व मानेंगे, तो वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि भ्रान्ति काल में प्रतीयमान शुक्त्यज्ञान का परिणामभूत प्रातीतिक रजत का त्रैकालिक निषेध नहीं होता, अतः उसमें यह (त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्व) लक्षण की अव्याप्ति (असम्भव) है और शुक्ति में त्रैकालिक निषेध होता है—लौकिक पारमार्थिक (व्यावहारिक) रजत का, अतः उसमें लक्षण अतिव्याप्त होता है। इसीलिए 'ज्ञायमान आश्रय में निषेध का प्रतियोगित्व ही अनिर्वचनीयत्व है'—यह लक्षण भी खण्डित हो जाता है; वेदान्त-सिद्धान्त में (इयं शुक्तिः—इस प्रकार के) अधिष्ठान-ज्ञान से शुक्त्यज्ञान नष्ट हो जाता है, उसके नष्ट हो जाने से ही उसके कार्य रजतादि स्वयं ही विलीन हो जाते हैं, ऐसे रजतादि का 'नेदं रजतम्'—इससे न निषेध होता है और न निषेध करने की कोई आवश्यकता ही रह जाती है; अतः उक्त लक्षण असम्भव-ग्रस्त है।

अनिर्वचनीयत्व में प्रमाण भी क्या? यदि कहें कि 'ख्यातत्वे सति वाध्यत्वानुपपत्ति' रूप अर्थापत्ति प्रमाण है, क्योंकि जो असत् पदार्थ हैं—नर-शृङ्गादि, उनकी ख्याति (प्रतीति) नहीं होती और जो सत् है—ब्रह्म, उसमें बाध्यत्व नहीं रहता; किन्तु शुक्ति रजत में दोनों (ख्यातत्व और बाध्यत्व) अनुभव में आते हैं, अतः उसमें अनिर्वचनीयत्व (सदसद्विलक्षणत्व) मानना होगा। तो वह कहना युक्त नहीं; क्योंकि देशान्तर में सत्ता मान लेने से रजत की ख्याति और शुक्ति में न होने से बाध—दोनों की ही अन्यथा (अनिर्वचनीय न मानकर देशान्तर में सत् मान लेने पर) भी उपपत्ति हो सकती है। 'असत् का भान नहीं होता'—यह आपका कहना असत्य भी है; क्योंकि असत् का भी 'असत्' शब्द

---

१. द्र० न्या० म० पृ० ११३ तथा इ० सि० १।४२। २. लक्षणस्यासम्भव इत्यर्थः ३. असम्भवरूपम्। ४. अर्था

तच्छब्दाद्भानात् । अन्यथा त्वपार्थकत्वं वाक्यस्य, प्रयुक्तपदानां संभूयकारित्वनियमात् । किं चेदं सद्विवक्षितम् ? किं सत्तायुक्तम् ? अथाबाध्यम् ? उत ब्रह्मस्वरूपम ? नाद्यः ; सत्तायुक्तस्य प्रपञ्चस्य भवन्मते बाध्यतया यत्सत्तदबाध्यमिति व्याप्तेरसिद्धेः । न द्वितीयः ; यदबाध्यं तदबाध्यमिति साध्याविशिष्टत्वापत्तेः । न तृतीयः ; सिद्धसाधनत्वात् , अर्थान्तरत्वाच्च । किंचान्यथैवोपपत्तिरभ्यूहनीया ; सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत्ख्यात्यनुपपत्तेः, असद्विलक्षणत्वे चात्मवद्बा

इति भावः । निरर्थकं चात्रापार्थकत्वेन विवक्षितम् । नन्वसतोऽभानादित्यत्रासत्पदस्याबोधकत्वेऽपीतरपदानां बोधकत्वात्कथमपार्थकता ? तत्राह–प्रयुक्तपदानामिति । इदमपि तेनैवोक्तं, यदाह 'असतो भासनायोगा'-दित्यादिना[1]शङ्क्य प्रथमे त्वसत्पदस्य बोधकत्वेऽसतो भासनायोगादित्यनेन व्याघातः । अन्यथा[2]नर्थकत्वं प्रयुक्तपदानां संभूयकारित्वनियमादिति । यत्तु तेनैव द्वितीये सत इति कोऽर्थ इत्यादिदूषणमुक्तं तदाह—**किं चेदं सद्विवक्षितमित्यादिना** । प्रथमं दूषयति—**नाद्य इति** । यत्सत्तायुक्तं तदबाध्यमिति व्याप्तिः क्व दृष्टा ? न तावत्प्रपञ्चे, तस्य सत्तायुक्तत्वेऽपि बाध्यत्वेन व्यभिचारभूमित्वात् । नापि ब्रह्मणि, तस्याबाध्यत्वेऽपि निर्धर्मकत्वेन सत्तायुक्तत्वाभावादिति भावः । द्वितीये तु सतो बाधाभावादिति कोऽर्थः ? योऽयमबाध्यस्तस्य बाधाभावादिति, तथाच साध्याविशिष्टत्वमित्याह—**न द्वितीय इति** । यद्ब्रह्मस्वरूपं तदबाध्यमिति हि तृतीयः पक्षः । तथाचास्यार्थस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्सिद्धसाधनं प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वापर्यवसानादर्थान्तरं वेत्यर्थः । त्रीणि हि दूषणानि अर्थापत्तेः–अन्यथैवोपपत्तिरन्यथाप्युपपत्तिरनुदयश्चेति । तत्रान्यथाप्युपपत्तिमनुदयं चोक्त्वाऽन्यथैवोपपत्तिमाह–**किं चेति** । सद्वैलक्षण्येऽसद्वैलक्षण्ये उभयवैलक्षण्ये चानुपपद्यमानाभ्यां ख्यातिबाधाभ्यां सदसदात्मकत्वमेव रजतादेः सिद्धयतीत्यर्थः । स्यादेतत्—सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत् ख्यात्यनुपपत्तिरित्युक्तमयुक्तम् ; सद्वैलक्षण्यस्य सप्रतियोगिकतयाऽनेकज्ञानापेक्षस्य कल्पनागौरवेण भानाभावं प्रति प्रयोजकत्वायोगात्, एवमसद्वैलक्षण्येऽपि, तस्मादसत्त्वमेवाभाने प्रयोजकं तद्धि निरपेक्षं लघ्विति, तथा बाधाभावेऽपि सत्त्वमेव प्रयोजकं लघुत्वादेव, तदिह बाधो दृश्यमानः सद्वैलक्षण्यं गमयति ख्यातिश्चासद्वैलक्षण्य-

---

से भान होता है । यदि असत् शब्द से असदर्थ का भान नहीं होता है, तब आपका असत् पद-घटित वाक्य (असतो भावं न भवति) निरर्थक हो जायगा ; क्योंकि वाक्य के घटक सभी पद नियमतः मिलकर वाक्यार्थ-बोध पैदा किया करते हैं, अतः एक पद के भी निरर्थक हो जाने से पूरा वाक्य ही निरर्थक हो जायगा । अर्थापत्ति प्रमाण का उपपादन करते समय आपने यह जो कहा कि "सतश्च चिदात्मनो बाधाभावेन"—इस से आपका तात्पर्य 'यत् सत्; तदबाध्यम्'—इस व्याप्ति में है । यहाँ पर 'सत्' पद से क्या विवक्षित है ? सत्तायुक्त ? या अबाध्य ? या ब्रह्मस्वरूप ? प्रथम (सत्तायुक्त) पक्ष उचित नहीं; क्योंकि सत्तायुक्त प्रपञ्च भी आपके मत में बाध्य है, अतः प्रपञ्च में अबाध्यत्व रूप साध्य न रहने पर भी सत्ता रूप हेतु रहता है ; इस लिए व्यभिचार हो जाने से आप की व्याप्ति ही सिद्ध नहीं हो सकती । द्वितीय (अबाध्य) पक्ष में व्याप्ति का स्वरूप होगा—'यदबाध्यम्, तदबाध्यम्'—यहाँ हेतु भी साध्यरूप हो गया, अर्थात् साध्य पक्ष में सिद्ध नहीं, हेतु भी साध्य हो जाने से सिद्ध नहीं रहा, असिद्ध हो गया । तृतीय (ब्रह्मस्वरूप) पक्ष में सिद्ध-साधन दोष है, क्योंकि इस पक्ष में व्याप्ति का स्वरूप बनेगा—'यद् ब्रह्मस्वरूपम्, तदबाध्यम्'—यह तो हम भी मानते हैं और इस व्याप्ति से भी प्रपञ्च में अनिर्वचनीयत्व सिद्ध न होकर दूसरे धर्मों की सिद्धि होने से अर्थान्तरता दोष भी है । आपकी इसी अर्थापत्ति के द्वारा अन्यथा (सदसद्–उभय रूप होने से) ही ख्याति और बाध की उपपत्ति होती है; क्योंकि सद्विलक्षण होने पर नर-शृङ्ग के समान ख्याति नहीं बनेगी और असद्विलक्षण मानने पर बाध नहीं बनेगा । इसी प्रकार सत् एवं असत्—उभय

पत्तेरित्यादिः [1]. आदिना सतो बाधनायोगादिति बोध्यम् [2]. अबोधकत्वे ।

धायोगादुभयविलक्षणस्योभयानुपपत्तेः। नच वाच्यं सदसत्त्वे बाधाभावाभानप्रयोजके न तु तद्वैलक्षण्ये गौरवादिति; असतोपि तत्पदात्प्रतिभानेन सतोपि प्रपञ्चस्य वाध्यत्वदर्शनेनोक्तोत्तरत्वात्। तदेवं नार्थापत्तिरनिर्वचनीये प्रमाणम्।

अस्तु तर्ह्यनुमानम्—विवादपदमनिर्वाच्यं, भ्रमविपयत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथात्मा। नचाप्रसिद्धविशेपणः पक्षः; इच्छादीनामष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रितत्वानुमानवत्सामान्यतः प्रसिद्धिविशेषपरिशेषाभ्यां तत्प्रसिद्ध्युपपत्तेरितिचेत्, न; शुक्त्यादावात्मनि च विपक्षे वर्तमानतया विरुद्धत्वात्। गुणत्वलिङ्गेन क्वचिदाश्रितत्वप्रसाधनवदनिर्वाच्यत्वसाधने लिङ्गाभावात्।

मिति, तदेतदाशङ्क्य निषेधति—नच वाच्यमित्यादिना। उक्तान्यथोपपत्तिमेव दूषणमाह—असतोऽपीति।

एवमर्थापत्तिं दूषयित्वाऽनुमानं शङ्कते—अस्तु तर्हीति। तत्र हि भ्रमविषयत्वं हेतुरधिष्ठानतया भ्रमे प्रतिभासमाने शुक्त्यात्मादौ वर्तत इति विरुद्ध इत्याह—न शुक्त्यादाविति। किं च यथा तत्र गुणत्वेन सामान्यतः क्वचिदाश्रितत्वसाधनम्, नैवमनिर्वाच्यत्वस्य सामान्येन साधने लिङ्गमस्ति किंचित्, ततो वैलक्षण्यमित्याह—गुणत्वेति। अप्रसिद्धविशेषणतापरिहारायान्वयव्यतिरेक्यनुमानं न्यायरत्नदीपावलीस्थं

विलक्षण मानने पर ख्याति तथा बाध—दोनों ही उपपन्न नहीं होंगे, अतः रजतादि में सदसद्—उभयरूपता ही सिद्ध होती है। यदि शंका हो कि बाधाभाव और भानाभाव के प्रयोजक सत्त्व और असत्त्व ही होते हैं सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व नहीं; क्योंकि इसमें गौरव होगा। [आशय यह है कि अर्थापत्ति दिखाने वाले ने कहा था कि सत् मानने पर रजतादि का बाध नहीं होगा और असत् मानने पर भान नहीं होगा—यहाँ बाधाभाव को सत्त्व और भानाभाव को असत्त्व प्रयोजक माना गया है। किन्तु अर्थापत्ति के खण्डन करने वाले का कहना है कि सद्विलक्षण मानने पर रजतादि का भान नहीं होगा और असद्विलक्षण मानने पर बाध नहीं होगा—यहाँ पर भानाभाव का प्रयोजक सद्विलक्षणत्व को और बाधाभाव का प्रयोजक असद्विलक्षणत्व को माना गया। सत्त्वादि की अपेक्षा सद्विलक्षणत्वादि धर्मों में शरीरकृत गौरव स्पष्ट ही है और प्रतियोग्यादि ज्ञान की अपेक्षा होने से सद्विलक्षणत्वादि में आर्थिक गौरव भी है; अतः लघुभूत सत्त्व और असत्त्व को ही बाधाभाव और भानाभाव में प्रयोजक मानना चाहिए]। तो वह शङ्का उचित न होगी; क्योंकि असत्त्व को भानाभाव का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, कारण कि असत् का भी 'असत्' शब्द से भान होता है; इसी प्रकार सत्त्व को बाधाभाव का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, कारण कि सत् प्रपञ्च का भी बाध होता है—यह उत्तर दिया जा चुका है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अनिर्वचनीयत्व में अर्थापत्ति प्रमाण नहीं।

शङ्का—अर्थापत्ति यदि नहीं, तो यह अनुमान प्रमाण मान लीजिए—'विवादग्रस्त (रजतादि) अनिर्वाच्य हैं, भ्रमके विषय होने से, जो वैसा नहीं, वह ऐसा नहीं, जैसे—आत्मा।' यहाँ अनिर्वाच्यत्वरूप साध्य की अपसिद्धि नहीं; क्योंकि साध्य की यहाँ वैसे ही सामान्यतः सिद्धि होगी जैसे कि नैयायिक इच्छादि में अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्व के अनुमान में (जिसका निरूपण पूर्व पृ० २३ पर आ चुका है) साध्य प्रसिद्ध किया करते हैं।

समाधान—उक्त अनुमान में हेतु विरुद्ध है, क्योंकि शुक्त्यादि तथा आत्मा में अनिर्वाच्यत्व रूप साध्य नहीं माना जाता, अतः वे विपक्ष हैं; उनमें भी भ्रम-विषयत्व रूप हेतु रहता है। साध्याप्रसिद्धि रूप दोष का भी परिहार नहीं होता; क्योंकि दृष्टान्त (इच्छादि में अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्वानुमान) में तो गुणत्व रूप हेतु से इच्छादि में सामान्यतः आश्रितत्वरूप साध्य सिद्ध किया जा सकता है—(इच्छादयः क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वाद्रूपादिवत्) किन्तु प्रकृत अनुमान के साध्य अनिर्वा-

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया विमतं सदसद्विलक्षणं दोषप्रयुक्तभानत्वात् भ्रान्तिसिद्धतानात्म्यवदिति प्रयुञ्जीत, तदप्यसत्; दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। नहि शुक्तिरजततादात्म्यस्य सदसद्वैलक्षण्यं परीक्षकैरभ्युपगम्यते, येनोभयवादिसिद्धतया तस्य दृष्टान्तता स्यात्। अथ भावरूपतयाऽपरोक्षत्वेन भानाद्बाधाच्च तस्य सदसद्वैलण्यं युक्त्या साध्येत, तदा रजतस्यापि तथा तत्साधयितुं शक्यमिति व्यर्थोऽयं बकबन्धविधिप्रयासः। किंचेदं दोषप्रयुक्तभानत्वम्? किं दोषजन्यज्ञानविषयत्वम्? उत दोषजन्यप्राकट्याश्रयत्वम्? नाद्यः; ज्ञानस्यैकत्वेन तज्ज्ञानविषयाधिष्ठाने व्यभिचारात्। न द्वितीयः; प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्—नहि देशकालव्यवहितस्य रजतादेर्दोषजन्यभानाश्रयत्वमुपपद्यतेऽभ्युपेयते वा परैः। किं चेदमनिर्वचनीयत्वं न भ्रान्तिज्ञानानुकूलम्, नापि बाधकज्ञानानुसारि; भ्रान्तौ सदिदं रजतमिति सत्त्वेन बाधे च

शङ्कते—अथैतद्दोषेति। साध्यवैकल्यमेव विशदयति—नहि शुक्तीति। अथ तादात्म्यस्य प्रथमं युक्त्या सदसद्वैलक्षण्यं प्रसाध्य तद्दृष्टान्तेन प्रपञ्चस्य तत्साध्यते, तर्हि सैव युक्तिरत्रैवोपन्यस्यतामलमनेन [1]दण्डसर्पमारणन्यायेनेत्याह—अथ भावरूपतयेत्यादिना। भवतु वा यथाकथंचित्[2]परं तथापि हेतुरेवायं न घटत इत्याह—किं चेत्यादिना। भानशब्देन ज्ञानमभिधीयते ? प्राकट्यं वेत्यर्थः। प्रथमेऽनैकान्तिकतामाह—नाद्यो ज्ञानस्येति। अधिष्ठानज्ञानस्यादोषजन्यत्वादितरस्य च ज्ञानत्वानङ्गीकारादसिद्धिरित्यप्येके। द्वितीये स्वरूपासिद्धिरित्याह—न द्वितीय इत्यादिना। यद्यपि त्वत्पक्षे भ्रमस्य साक्षिवेद्यतास्वीकारादस्त्येवापरोक्ष्यं तथापि विषयावच्छिन्नाभिव्यक्तचैतन्यरूपप्राकट्यं नास्तीत्यपि द्रष्टव्यम्। किं च यदुपपादनायेदमनिर्वचनीयत्वमाद्रियते ताभ्यामेव भ्रान्तिबाधाभ्यां विरोधादयुक्तमेतदित्याह—किं चेदमिति।

च्यत्व की सामान्यतः सिद्धि में भी कोई लिङ्ग नहीं। इस (अप्रसिद्ध विशेषणता) दोष का परिहार करने के लिए कुछ लोग जो यह अनुमान बनाया करते हैं—'विवादास्पद (रजतादि) सदसद्विलक्षण है, दोष-प्रयुक्त भान का विषय होने से, जैसे—भ्रान्ति-सिद्ध (शुक्ति रजत का) तादात्म्य।' उनका यह अनुमान-प्रयोग युक्त नहीं; क्योंकि दृष्टान्त (तादात्म्य) साध्य-विकल है, कारण यह कि शुक्ति-रजत-तादात्म्य में परीक्षकों की दृष्टि से अभी तक अनिर्वाच्यत्व सिद्ध नहीं हुआ, कि उसे उभय मत-सिद्ध दृष्टान्त बनाया जा सके। यदि कहा जाय कि शुक्ति-रजत-तादात्म्य भावरूप है, अपरोक्ष है और बाधित होता है—इन युक्तियों से उसमें अनिर्वचनीयत्व सिद्ध कर लेंगे; तब तो उन्हीं युक्तियों से सीधे रजत में भी अनिर्वाच्यत्व सिद्ध किया जा सकता है, यह बक-बन्ध-प्रयास व्यर्थ है। (साध्य की प्रसिद्धि, किसी तरह मान भी लें फिर भी हेतु ठीक नहीं जँचता; क्योंकि) 'दोष-प्रयुक्त भानत्व' का क्या अर्थ? दोष-जन्य ज्ञान-विषयत्व? या दोष-जन्य प्राकट्य (अपरोक्षता) का आश्रयत्व? प्रथम (दोष-जन्य ज्ञान-विषयत्व) हेतु तो व्यभिचारी है; क्योंकि अधिष्ठान और आरोप्य—दोनों को विषय करने वाला ज्ञान तो एक ही है; अतः उस ज्ञान की विषयता सद्रूप अधिष्ठान में भी है। दूसरा (प्राकट्य-आश्रयत्व) प्रतिवादी के प्रति सिद्ध है नहीं; क्योंकि देश, काल-व्यवहित रजत में दोष-जन्य ऐन्द्रियक भानाश्रयत्व न तो उपपन्न ही है और न दूसरे मानते ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि (जिस भ्रान्ति और बाध की उपपत्ति के लिए रजतादि में अनिर्वाच्यत्व की कल्पना करना चाहते हैं) वह अनिर्वाच्यत्व न तो भ्रान्ति ज्ञान के ही अनुकूल है और न बाधक-

---

[1] यत्रायासं विना साक्षात् सिद्ध्यन्तमर्थमुपेक्ष्यायासेन परम्परया स एवार्थः साध्यते तत्रायं न्यायः प्रवर्तते। कश्चित् सर्पं दृष्ट्वा तन्मारणाय दण्डमिच्छंस्तमलभमानश्च कुठारं गृहीत्वा तच्छेदाय प्रवर्तते। तस्य स आयासो वृथैव, कुठारेणैव सर्पस्य शक्यवधत्वात्। अत्रैव बकबन्धन्यायोऽपि प्रवर्तते—बकं जिघृक्षुः कश्चित् सूर्यरश्मिसन्तप्ते तच्छिरसि नवनीतं निधाय विलीनेन तेन बकनेत्रयोः पूर्णयोरन्धीभूतं तं जिघृक्षति। [2] साध्यम्।

नेदं रजतमित्यसत्त्वेन स्फुरणात्।

अपि चानिर्वचनीये रजतशब्दो न जातिनिबन्धनस्तत्र जातेरभावात्, भावे वा सत्यरजतवदेवाबाध्यत्वप्रसङ्गात्। नाप्यौपाधिकः; पाचकादिशब्दवदखण्डशब्दत्वात्, उपाधेरनिरूपणाच्च। नाप्यक्षादिशब्दवद्रूढः; स्वभ्रान्तिमात्रसिद्धस्यान्यत्रादृष्टचरत्वेन रजतस्य तेनागृहीतसंबन्धत्वात्। किं चानिर्वचनीयं चेद्रजतम्, न प्रतीयेत। तथा हि किं दुष्टेन्द्रियेण तत्प्रतीतिः? उत संस्कारात्? अथवा साक्षिचैतन्यात्? नाद्यः; तस्य प्रतिभासमात्रशरीरतया संप्रयोगा-

---

रजतशब्दप्रयोगानुपपत्तिरप्यनिर्वचनीयत्वबाधिकेत्याह—**अपि चानिर्वचनीयेति**। तत्र वक्तव्यं किमयमनिर्वचनीये रजते रजतशब्दो जातिनिबन्धनः? किंवोपाधिनिबन्धनः? किंवाक्षादिशब्दवद्रूढः? इति विकल्प्याद्यं निषेधति—**न जातिनिबन्धन इति**। अङ्गीकारे बाधकमाह—**भावे वेति**। रजतत्वाधिकरणं हि रजतं नाम तदिदमपि चेत्तथाविधं तद्वदेवाबाध्यमपि स्यादित्यर्थः। द्वितीयं निषेधति—**नापीति**। हेतुमाह—**अखण्डशब्दत्वादिति**। अयौगिकत्वात्। यथाहि पाचक इत्यत्रावयवशक्त्या पचिक्रियासंबन्धाभिधानेन तद्युक्ते वर्तनं नैवं रजतशब्दस्यास्ति, ण्वुलादिवत्कर्त्रादिविहितप्रत्ययाभावादित्यर्थः। अथ यथाऽखण्डत्वेऽपि जातिशब्दस्योपाधिवाचकत्वं तद्वत्किं न स्यादित्यत आह—**उपाधेरिति**। तृतीयं निषेधति—**नाप्यक्षादीति**। यद्यप्यक्षादौ न सर्वत्रानुगतः कश्चिज्जातिरुपाधिर्वार्थोऽस्ति येन साधारणशब्दत्वं तथापि विद्योतकत्व[१]विदेवनत्वादिभिरवान्तरधर्मैः शक्यः सङ्गतिग्रहः, आकाशादेश्चानादिवृद्धव्यवहारप्रसिद्धतया, इह तु न तथाविधमपि किंचिदस्ति, भ्रान्तिसिद्धस्य प्रतीतिमात्रजीवनत्वात्। प्रतीतेश्च प्रत्यात्मवृत्तित्वादतोऽगृहीतसङ्गतिकत्वादप्रयोग एवात्र रजतशब्दस्य प्रसज्येतेत्यर्थः। अनिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिरपि बाधिकेत्याह—**किं चानिर्वचनीयंचेदिति**। इन्द्रियेण प्रतीतिरिति प्रथमं पक्षं निराचष्टे—**नाद्य इति**। इन्द्रियव्यापारात्पूर्वमेव निर्वृत्तं पश्चादिन्द्रियसंप्रयोगाज्ज्ञायमानं ह्यैन्द्रियकम्, न चैवं

ज्ञान के; क्योंकि भ्रान्ति में (सदिदं रजतम्—इस प्रकार) सद्रूप से और बाध में (नेदं रजतम्—इस प्रकार) असद्रूप से रजत का भान होता है, सदसद्विलक्षणत्वरूप से कहीं नहीं प्रतीत होता।

दूसरी बात यह भी है कि अनिर्वचनीय वस्तु में 'रजत' शब्द जाति-निबन्धन प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ 'रजत्व' जाति नहीं रहती। यदि 'रजत्व' जाति वहाँ मानी जायगी, तब वह भी सत्य रजत हो जाने से बाध्य नहीं होगी। आरोप्य में 'रजत' शब्द औपाधिक भी नहीं; क्योंकि 'पाचक' आदि यौगिक शब्दों के समान 'रजत' शब्द, खण्ड (यौगिक) शब्द नहीं। [भाव यह है कि जैसे 'पाचक' शब्द यौगिक होने से, पाककर्तृत्व रूप उपाधि के निमित्त से प्रवृत्त हो जाता है; वैसा 'रजत' शब्द यौगिक नहीं कि किसी उपाधि के निमित्त से आरोपित में प्रवृत्त हो जाय]। उपाधि का निरूपण भी यहाँ नहीं हो सकता। 'रजत' शब्द अक्षादि शब्दों की तरह रूढ़ भी नहीं; क्योंकि (जैसे 'अक्ष' शब्द लोक में प्रसिद्ध इन्द्रिय, पासा आदि अर्थों में प्रचलित है, उनमें शक्ति-ग्रह सहज है, वैसे) 'रजत' शब्द का अर्थ लोक-प्रसिद्ध नहीं, अपितु व्यक्तिगत भ्रान्ति मात्र से सिद्ध है, जो कि अन्यत्र कहीं देखा नहीं जाता (क्योंकि एक व्यक्ति की भ्रान्ति का विषय दूसरा कैसे देखेगा?) अतः उस (आरोपित) अर्थ में शक्ति-ग्रह नहीं होगा, बिना शक्ति-ग्रह के 'रजत' पद का प्रयोग ही नहीं हो सकता। अनिर्वचनीय माने जाने पर रजत की प्रतीति भी नहीं होगी; क्योंकि यदि उसकी प्रतीति होगी, तब किससे? दूषित इन्द्रिय से? या संस्कार से? या साक्षिचैतन्य से? दूषित इन्द्रिय से तो उसकी प्रतीति हो नहीं सकती; क्योंकि वह केवल भ्रान्ति-कल्पित है, उसके साथ

---

[१] विद्योतकत्वम् = अर्थविषयकबोधजनकत्वरूपधर्म इन्द्रियपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। विभीतकत्वमित्यपि पाठः।

योग्यत्वात्। न द्वितीयः; अननुभूतेः संस्काराभावात्। न तृतीयः; इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिनः केवलसाक्षिवेद्यत्वासंभवात्। नचाधिष्ठानविषयतयान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिः; तथासति ज्ञानद्वयस्वीकारेणाख्यातिमतानुमतिप्रसङ्गः। नच संसर्गप्रतीतेरभ्युपगमान्नाख्यातिप्रसङ्गः; तथापि विज्ञानद्वयाभ्युपगमेनाख्यातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्, इदमाकारविषयमिन्द्रियजन्यं ग्रहणं रजततत्संसर्गविषयं साक्षिचैतन्यमित्यभ्युपगमात्। तदित्थं लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणान्नानिर्वचनोयावभासो विभ्रम इति।

अत्रोच्यते—प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥ १३ ॥

सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन च यद्विचारं न सहते तदनिर्वाच्यम्।

प्रतीतिमात्रशरीरं रजतमित्यर्थः। **अननुभूत इति**। प्रतीतिसमसमयशरीरस्य पूर्वानुभवाभावात्संस्काराभावे न ततः प्रतीतिरित्यर्थः। साक्षिवेद्यतां निराचष्टे—**न तृतीय इति**। यत्र हीन्द्रियादिव्यापाराभावेऽप्यापरोक्ष्यं यथाऽज्ञानादौ तत्साक्षिवेद्यं नाम इतरथातिप्रसङ्गात्, नचेह तथाभाव इत्याह—**इन्द्रियान्वयेति**। ननु यद्यप्यधिष्ठानविषयतया अन्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धत्वान्न रजतज्ञानमिन्द्रियजम्, अपि त्वविद्यापरिणाम इति ज्ञानद्वित्वमङ्गीक्रियते, तथापि संसर्गज्ञानस्वीकारान्नाख्यातिप्रसक्तिरिति तत्राह—**नच संसर्गेति**। किं चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिष्ठानोपक्षये स्पर्शनेनापि तद्ग्रहे तादृशभ्रमप्रसङ्गः। नच तेन सादृश्याग्रहादप्रसङ्गः, विसदृशेऽपि तद्दृष्टेरिति। ज्ञानद्वित्वाभ्युपगममेव प्रकटयति—**इदमाकारेत्यादिना**। **रजततत्संसर्गेति**। तज्ज्ञानाकाराविद्यापरिणामस्याप्युपलक्षणम्। पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तदित्थमिति**। तत्र लक्षणं श्लोकेन संगृह्णाति—**प्रत्येकमिति**। यत्प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन च विचारपदवीं विचारमार्गं न गाहते न प्रविशति तदनिर्वचनीयमिति वेदान्तवेदिन आहुरिति योजना। अत्र सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न गाहते यत्तदनिर्वाच्यमित्युक्ते सदसतोरतिव्याप्तिः, तयोरप्युभयप्रकाराभ्यामनिर्वाच्यत्वादत उक्तम्—**प्रत्येकमिति**। तयोः प्रत्येकं विचारसहत्वात्। तावत्युक्ते समुदितयोः सदसतोरतिव्याप्तिः, तदर्थं—**सदसत्त्वाभ्यामित्युक्तम्**। संगृहीतं लक्षणं विवृणोति—**सत्त्वेनासत्त्वेनेत्यादिना**। एतदुक्तं भवति—

इन्द्रिय-सम्बन्ध सम्भव नहीं। दूसरा (संस्कार) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि उसका जब कभी अनुभव ही नहीं हुआ, तब उसका संस्कार कहाँ से आएगा? तृतीय (साक्षिचैतन्य) पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि (जिन पदार्थों का इन्द्रिय-व्यापार के बिना ही अपरोक्ष हो, उन्हें साक्षि-भास्य कहा करते हैं किन्तु) रजत का भान इन्द्रि-व्यापार के बिना होता नहीं, अपितु इन्द्रिय की सहायता से ही हुआ करता है, अतः केवल साक्षि-भास्य नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय का अन्वय-व्यतिरेक अधिष्ठान (शुक्ति) के ज्ञान में चरितार्थ है अर्थात् इन्द्रिय की अपेक्षा केवल शुक्ति-ज्ञान में है, रजत-ज्ञान में नहीं। तब तो दो ज्ञान (एक इन्द्रिय-जन्य अधिष्ठान-ज्ञान और दूसरा इन्द्रिय-सहायता के बिना आरोपित रजतादि का ज्ञान) मानने से अख्याति-मत (प्राभाकर-सिद्धान्त) मानना पड़ जायगा। यदि कहें कि अख्याति-वादी 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में संसर्ग (शुक्ति-रजत-तादात्म्य) का भान नहीं मानते, किन्तु हम मानते हैं, अतः अख्याति-मत की आपत्ति क्यों होगी? तो वह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि फिर भी दो ज्ञान आप मान लेते हैं, अतः अख्याति-मत-प्रसङ्ग दुर्वार है; अर्थात् दो ज्ञान तो आप मानते ही हैं—एक इदमाकार विषयक ज्ञान, जो इन्द्रिय-जन्य है और दूसरा रजत एवं रजत-संसर्ग को विषय करने वाला साक्षिचैतन्य रूप ज्ञान। इस प्रकार लक्षण और प्रमाण न बन सकने के कारण अनिर्वचनीयत्व सिद्ध नहीं होता।

उत्तरपक्ष—अनिर्वचनीयत्व का लक्षण सुसम्पन्न है—'प्रत्येक तथा सदसत्-उभय रूप से विचार की कक्षा में नहीं आता, उसे ही वेदान्त-वेत्ता अनिर्वाच्य कहा करते हैं।' अर्थात् जिसका सत्स्वरूप

न चैवंसत्यव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा ; सर्वभ्रमगोचराणां तथाभावनियमात्, सदादीनां च तत्तद्विचारसहत्वेन परैरभ्युपगमाच्च । एवं च सति निरुक्तिविरहः, किं वा निरुक्तिनिमित्तस्य च विरह इत्यादिविकल्पोऽकाण्डताण्डवितम् ; निरुक्तेर्निमित्तभूतायाः प्रतीतेस्तदालम्बनस्य चार्थस्य व्यवहारगोचरत्वेऽपि सदसदादिप्रकारैर्निश्चित्य वक्तुमनर्हत्वांगीकारात् । न च परस्परविरुद्धयोः सदसत्त्वयोर्निषेधसमुच्चयोऽनुपपन्नोऽन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकत्वादिति युक्तम् ; निषेधसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वानङ्गीकारात् । तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्रप्रकटनाय तद्विलक्षणत्वाभिलापः । न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं वास्तवं संभवति ; तथा सति तस्यापि तात्त्विकत्वप्रसङ्गात् । न चैकतरनिषेधोऽन्यतरविधिनान्तरीयकः ; अनिर्वचनीयवादिनं प्रति व्याप्त्यसिद्धेः ।

न प्रकारत्रितयप्रतियोगिकाभाववत्त्वमनिर्वचनीयत्वं किंतु प्रकारत्रयप्रतियोगिकाभावत्रयवत्त्वमनिर्वचनीयत्वमिति । अव्याप्त्यभावमाह—**सर्वभ्रमेति**। अतिव्याप्त्यभावमाह—**सदादीनामिति** । एवं च सति यदुदयनेन तात्पर्यपरिशुद्धौ हि द्वितीयसूत्रे विपर्ययविचारावसरे गर्जितं 'किमिदमनिर्वचनीयत्वम् ? किं निरुक्तिविरह एव ?' इत्यादि, तदस्थाने एवानाकलितपराभिसंन्धिना संभ्रान्तमित्याह—**एवं च सतीति** । अकाण्डताण्डवितमनवसरनर्तनम् । तत्र हेतुः—**निरुक्तेरिति** । न निरुक्तिमात्रस्य तन्निमित्तस्य वाऽभावोऽनिर्वचनीयत्वं किंतु सदादिप्रकारैर्निश्चित्य वक्तुमनर्हत्वमित्यर्थः । यत्त्वत्रापि तेनोक्तं तदनूद्य निराकरोति—**न च परस्परेति** । समुच्चयानुपपत्तौ हेतुः—**अन्यतरनिषेधस्येति** । न च युक्तमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**निषेधसमुच्चयस्येति** । अनुपपन्न इति कोऽर्थः, यदि प्रमाणयुक्त्याघातं न सहत इति सिद्धमेवेदमस्माकमद्वैतवादिनामिति भावः। कस्तर्हि सदसद्विलक्षणशब्दार्थस्तत्राह—**तत्तत्प्रतियोगीति** । प्रतियोगी सत्त्वादिः । किमुत्तरकातरतयेयमाश्रीयते विधा ? न, अपरथाऽसंभवादित्याह—**न हि स्वरूपत इति** । स्वरूपेण सदसत्त्वादिभिर्दुर्निरूपस्य प्रपञ्चस्य योऽयं सदसद्वैलक्षण्यं धर्मः तस्य कथं सदादित्वेन निरूपणसंभवः, तथात्वे वा तदाश्रयस्यापि तथात्वप्रसङ्गादित्यर्थः । किं चाङ्गीकृत्य व्याप्तिमिदमुक्तं सैव नास्तीत्याह—**न चैकतरेतिं** ।

से, असत्स्वरूप से तथा सदसत्–उभयरूप से निरूपण नहीं हो सकता, वही अनिर्वाच्य है । इस लक्षण की कहीं अव्याप्ति नहीं ; क्योंकि सभी विभ्रम-विषय इसी प्रकार के माने जाते हैं । अतिव्याप्ति भी कहीं नहीं ; क्योंकि सत् आत्मादि का सद्रूप से और असत् नर-विषाणादि का असद् रूप से निरूपण दूसरे भी मानते हैं । इस प्रकार आरम्भ में दिखाये गये उदयनाचार्य के 'अनिर्वाच्यत्व क्या निरुक्ति-विरह है ? या निरुक्ति-निमित्त का विरह'—ये विकल्प अकाण्ड-ताण्डव मात्र रह जाते हैं ; क्योंकि निरुक्ति के निमित्तभूत ज्ञान और रजतादि विषय का विरह हम नहीं कहते, वे दोनों व्यवहार के विषय हैं ; अपितु 'सदसदादि तीन प्रकारों से निश्चय-पूर्वक निर्वचन न हो सकना'—यह अनिर्वाच्यत्व हम मानते हैं । यह जो कहा था कि परस्पर विरुद्ध सत्व और असत्व के निषेधों का समुच्चय नहीं बन सकता ; क्योंकि दोनों में से अन्यतर का निषेध करने पर दूसरे का विधान अनिवार्य हो जाता है । वह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि उन दो निषेधों का तात्त्विक समुच्चय हम नहीं मानते । सत्त्वादि रूप प्रतियोगी से उस (सदसद्विलक्षणत्व) की दुर्निरूपता व्यक्त करने के लिए केवल 'सदसद्विलक्षणत्व' शब्द का प्रयोग किया जाता है । सदसद्विलक्षणत्व उसमें पारमार्थिक नहीं ; क्योंकि जो रजतादि प्रपञ्च स्वरूपतः अनिरूप्य है, उसमें कोई (सदसद्विलक्षणत्वादि) रूप धर्म वास्तविक कैसे सम्भव होगा ? यदि सम्भव हो तो वह भी तात्त्विक हो जायगा । 'जहाँ-जहाँ विरोधी धर्मों में से एक का निषेध होता है, वहाँ-वहाँ दूसरे धर्म की अनिवार्य विधि होती है'—यह व्याप्ति अनिर्वचनीय-वादी के प्रति असिद्ध है ।

ज्ञानबाध्यत्वं वाऽनिर्वचनीयत्वम्। न च पूर्वज्ञानसंस्कारयोरतिव्याप्तिः; तयोर्ज्ञाननाश्यत्वेऽपि ज्ञानबाध्यत्वाभावात्। बाधो हि नाम प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम्। न च पूर्वज्ञानस्य तत्संस्कारस्य वा प्रतिपन्नोपाधावात्मनि नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेत्यभावो बोध्यते। ईश्वरस्य ज्ञानेन च मुद्गरप्रहारेणेव घटादेः प्रपञ्चस्य प्रध्वंस एव क्रियते नाभावबोधनमतो नातिव्याप्तिः। एतेन वाधकज्ञानविषयत्वाच्छुक्त्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्वप्रसङ्ग इत्यपास्तम्; धर्मितया बाधकज्ञानप्रतिपन्नत्वेऽपि बोध्यमानाभावप्रतियोगित्वाभावात्। अत एव प्रतिपन्नोपाधौ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्वं च बाध्यत्वमिति केचिदाचार्याः। न चाव्याप्त्यतिव्याप्ती; शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्य रजतस्य कालत्रयेऽपि तत्र सत्ताभावस्य नेदं रजतमिति बाधेन बोध्यमानत्वात्, लौकिकपरमार्थरजतस्य देशान्तरादौ सत्त्वेन प्रमितस्य तत्रासत्त्वबोधनस्याशक्यत्वात्। तस्य शुक्तिकाशकले कालत्रयासत्त्वं बोध्यत इतिचेत्, न; तस्यात्राप्रसक्तेः। रजताभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिरितिचेत्, मैवम्; रजताभास इत्य-

---

तृतीयमपि लक्षणं समर्थयते—ज्ञानबाध्यत्वं वेति। पूर्वज्ञानादौ ज्ञानबाध्यत्वलक्षणाभावं दर्शयितुं बाधस्वरूपमाह—बाधो हि नामेति। अभावबोधनप्रकारमेवानुकरोति—नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेति। यत्त्वीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वस्वीकारादतिव्याप्तिरिति तत्राह—ईश्वरज्ञानेन चेति। अत्यन्ताभावबोधनं हि बाधः, नतु ध्वंसकरणमित्यर्थः। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्–धर्मितयेति। यत्तु बाधलक्षणमनूद्याव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्यां दूषयाम्बभूव, तदपि परिहर्तुमुपक्रमते—अतएवेति। यत एव निषेधोऽभावबोधनमत एवेत्यर्थः। अव्याप्तिं निराकर्तुमाह—शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्येति। नहि नेदं रजतमित्यस्यायमर्थः, यदिदानीं रजतं न भवतीति भावः। नन्वयं निषेधो लौकिकपरमार्थरजतविषयस्तथा च तत्रैव तावदतिव्याप्तिः अत्रचासिद्धिरिति तत्राह—लौकिकपरमार्थेति। तत्रेदं वक्तव्यम्—किं यत्रेदं सत्त्वेन प्रमितं हट्टादौ तत्रैव निषेधः? किंवा शुक्तौ? न तावद्देशान्तरे, तत्र सत्ताग्राहकप्रमाणविरोधादित्यभिधाय द्वितीयं शङ्कते–तस्य शुक्तिकाशकलेति। अत्राप्रतीतस्य न निषेधः संभवतीति परिहरति–न; तस्येति।

अथवा 'ज्ञान-बाध्यत्व'—यह अनिर्वचनीयत्व का लक्षण करते हैं। उत्तर ज्ञान से निवर्त्यं पूर्व ज्ञान तथा उत्तर ज्ञान के संस्कारों में जो अतिव्याप्ति दी थी, वह युक्त नहीं; क्योंकि वे पूर्वज्ञान तथा संस्कार ज्ञान-नाश्य होने पर भी ज्ञान-बाध्य नहीं माने जाते, कारण यह कि बाध नाम है—प्रतीयमान आश्रय में अत्यन्ताभाव-बोधन। किन्तु उत्तर ज्ञान, पूर्वज्ञान तथा अपने संस्कारों के ('आत्मा में ज्ञान और संस्कार कभी नहीं थे'—इस प्रकार) अत्यन्ताभाव का बोधन नहीं करता। ईश्वर-ज्ञान-निवर्त्यं घटादि में जो अतिव्याप्ति दी थी, वह भी नहीं लगती; क्योंकि ईश्वर-ज्ञान भी मुद्गर-प्रहार की भाँति घटादि का ध्वंसक ही है, उनके आश्रय में अत्यन्ताभाव का बोधन नहीं करता। इसी से बाधक ज्ञान-विषयता रहने के कारण शुक्त्यादि तथा ब्रह्म में दी गई अनिर्वाच्यत्वापत्ति का भी वारण हो जाता है; क्योंकि शुक्त्यादि, अधिष्ठान होने के कारण बाधक ज्ञान के विषय तो हैं, किन्तु आश्रय में बोध्यमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी नहीं। इसीलिए 'ज्ञायमान आश्रय में (न था, न है और न होगा—इस प्रकार) कालत्रय में सत्ता का निषेध, बाध है और उसका विषयत्व ही बाध्यत्व है'—यह बाध्यत्व का लक्षण कुछ आचार्यों ने किया है। इस लक्षण की भी कहीं अव्याप्ति नहीं; क्योंकि शुक्ति-शकल में प्रतीयमान रजत की त्रैकालिक सत्ता का निषेध 'नेदं रजतम्'—इस बाध से बोधित है। लौकिक पारमार्थिक (व्यावहारिक) रजत (जिसकी देशान्तर में सत्ता प्रमाणित है) की वहाँ (देशान्तर में) असत्ता का बोधन सम्भव नहीं और उस (व्यावहारिक) का शुक्ति-खण्डों में भी त्रैकालिक निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि वहाँ वह प्रसक्त ही नहीं। यदि कहें कि रजताभास की प्राप्ति ही शुक्ति-खण्डों में व्यवहारिक रजत की प्राप्ति

प्रतीतेरिदं रजतमित्येव प्रतीतेश्च। प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्तदाभासता पश्चान्निश्चीयते इतिचेत्; एवं तर्हि नाव्याप्तिः, प्रतिपन्नोपाधौ तस्य निषेधस्य त्वयाङ्गीकारात्। अत एव न देशान्तरादौ प्रमितस्य लौकिकपरमार्थरजतस्यैतन्निषेधप्रतियोगित्वम्; आभासविषयत्वात्तस्य। अन्यथा जगति रजतमेव न स्यात्। तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनाल्लौकिकरजतात्मत्वेनापरोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्या। न चैवं सत्यन्यथाख्यातेः प्रसक्तिः; संसर्गवत्संसर्गिणोऽपि ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या

ननु यद्यपि तस्यात्र न साक्षात्प्रसक्तिस्तथापि रजताभासः प्रतीतस्तद्द्वारा रजतत्वसाम्यात् तदपि प्रसक्तमिति शङ्कते—**रजताभासेति**। तत्र किं भ्रमकाले रजताभासतयावभासस्तत्प्रसक्तिः ? उत दैवगत्या तथाभूतस्य स्वरूपेण ? नाद्य इत्याह—**मैवं रजताभासेति**। द्वितीयं शङ्कते—**प्रतिपन्नेति**। तत्किं प्रतिपन्नशुक्तिकाद्युपाधौ रजतादेः कालत्रयसत्तानिषेधरूपबाधविषयत्वमङ्गीकृतं रजतादेराभासतासिद्धये ? तथाचायुष्मतैवाव्याप्तिः परिहृतेत्याह—**एवं तर्हीति**। ननु तथापि तद्द्वारा लौकिकरजतप्रसक्तिरप्यस्तीति नेत्याह—**अत एवेति। आभासविषयत्वादिति**। आभासविषयत्वेन त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थः। न केवलं तवाङ्गीकारः, अनुपपन्नश्च लौकिकरजतनिषेध इत्याह—**अन्यथेति**। रजततदाभासयोरैक्यायोगाद्रजताभाससम्यग्रजतविषयकप्रतीतिद्वयाभावाच्चाप्रसक्तस्यैव सम्यग्रजतस्य निषेध इति वक्तव्यम्, तथा च यत्र यत्र प्रमितं तत्र सर्वत्र निषेधः स्यादित्यर्थः। नन्वेवं सति विवरणकाराचार्यवचनविरोध इत्यत आह—**तस्मादिति**। ननु लौकिकपरमार्थरजतात्मत्वेन चेत्प्रतीतं निषिध्यते, तर्ह्यन्यथाख्यात्यापातः, देशान्तरस्थरजतस्यात्र प्रतीतस्य निषेध इति हि तषामपि मतमित्यत आह—**नचैवं सतीति। संसर्गवदिति**। संसर्गस्य सदसद्वै-

---

है, तो वह नहीं कह सकते ; क्योंकि शुक्ति-खण्डों में रजताभास भी कहाँ प्राप्त है ? वहाँ 'इदं रजतम्'—इस प्रकार रजत की प्रसक्ति प्रतीत हो रही है, रजताभास की नहीं। यदि कहें कि रजतरूप से वहाँ प्रसक्त तो रजताभास ही है, किन्तु उसमें आभासता का निश्चय पश्चात् होता है, तब तो अव्याप्ति भी नहीं रही ; क्योंकि प्रतीयमान आश्रय शुक्ति-खण्डों में उसका त्रैकालिक निषेध आपने मान लिया। [आशय यह है कि पूर्वपक्षी का कहना था कि शुक्ति-शकलों में त्रैकालिक निषेध होता है व्यावहारिक रजत का। प्रातीतिक रजत का वहाँ त्रैकालिक निषेध हो नहीं सकता ; क्योंकि प्रतीति काल में उसकी वहाँ सत्ता मान ली गई है। अतः प्रातीतिक रजत में त्रैकालिक निषेध प्रतियोगिता न होने से लक्षण की अव्याप्ति है। सिद्धान्ती के क्षोद-क्षेम करने पर उसे मानना पड़ा कि शुक्ति-खण्डों में रजताभास की प्रसक्ति है, हाँ ! आभासता का निश्चय पश्चात् होगा। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि शुक्ति-रजत में आभासता क्या है ? तीनों कालों में वहाँ रजत की सत्ता न होने पर भी रजत की प्रतीयमानता—यही मानना होगा। तब तो पूर्वपक्षी ने अपने आप ही मान लिया कि शुक्ति-खण्डों में प्रतीयमान रजत का वहाँ त्रैकालिक अभाव है, फिर अव्याप्ति कहाँ रही ?]। इसीलिए देशान्तरस्थ व्यावहारिक रजत में शुक्तिनिष्ठ निषेध की प्रतियोगिता न होने से वहाँ अतिव्याप्ति भी नहीं ; क्योंकि 'नेदं रजतम्'—यह निषेध रजताभास को ही विषय करता है, व्यावहारिक रजत को नहीं। अन्यथा जगत में रजत ही न रहेगा। अतः विवरणाचार्य के "लौकिक पारमार्थिक रजत ही 'नेदं रजतम्;—इस निषेध का प्रतियोगी है"—ऐसा कहने का आशय यह है कि पुरोवर्ति वस्तु में प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए लौकिक रजतरूपत्वेन अपरोक्ष प्रतीत रजत में 'तीनों कालों में यह व्यावहारिक रजत नहीं हो सकता'—इस प्रकार के निषेध की प्रतियोगिता है। व्यावहारिक रजत रूप से प्रतीत रजत का यदि निषेध मानेंगे, तब तो अन्यथाख्याति

सदसद्विलक्षणताङ्गीकारात् । एवं च सति कुतोऽतिव्याप्तिः ?

प्रमाणं च तत्र ख्यातत्वे सति बाध्यत्वान्यथानुपपत्तिः । न च देशान्तरे सत्त्वादत्रासत्त्वाच्च ख्यातिबाधयोरन्यथाप्युपपत्तिः ; अन्यत्र सत्ताया इह प्रतीत्यहेतुत्वात् । न हि भूमावम्भोरुहं सदिति दुष्टाक्षस्यापि नभसि तदवभासते । अप्रतीतत्वादेव च बाधायोगात् । न चासतोऽभाने शब्दस्यापार्थकत्वप्रसङ्गः ; अपरोक्षभानाभावस्येह विवक्षितत्वात्, परोक्षभानस्य चानिराकरणात् । न च सच्छब्दार्थानिरुक्तेर्यत्सत्तदबाध्यमिति व्याप्त्यसिद्धिः ; त्वयापि द्वे तत्त्वे सदसती इति तत्त्वं व्यवस्थापयता यदेव सत्त्वेन व्यवस्थापितं तस्यैव मयापि व्यवहारदशायामबाध्यत्वोक्तेः । न चान्यथैवोपपत्तिः ; सदसत्त्वयोरेवाबाधाभानप्रयोजकत्वोपपत्तौ तदितरवैलक्षण्यस्य

लक्षण्याङ्गीकारादेव तावदन्यथाख्यात्यादिवादिभ्यः सिद्ध एव भेदः, संसर्गिणस्तु लौकिकपरमार्थरजततया प्रतीतस्यापि सदसद्वैलक्षण्यस्वीकारात् प्रसिध्यतितरां भेद इत्यर्थः । लौकिकपरमार्थरजतप्रतिषेधादेवातिव्याप्तिः परिहृतेत्याह—**एवंच सतीति** ।

लक्षणं समर्थयित्वार्थापत्तिं तावत्प्रमाणमाह—**प्रमाणं चेति** । अन्यथाप्युपपत्तिमुक्तां परिहरति—**न च देशान्तरेत्यादिना** । ननु दुष्टाक्षस्यान्यत्र सदन्यत्र प्रतीयत इति, नेत्याह—**न हि भूमाविति** । एवं प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्तिं परिहृत्य बाधस्यापि तां परिहरति—**अप्रतीतत्वादेव चेति** । यत्त्वमतो भानाभावेऽसत्पदप्रयोगस्यापार्थकत्वप्रसङ्ग इति तत्परिहरति—**न चासत इति** । नासतो भानमात्रं प्रतिषिध्यतेऽपित्वपरोक्षभानम् । तथा च नान्यथोपपत्तिरपार्थकत्वं चेत्यर्थः । यत्तु सच्छब्दार्थं त्रिधा विकल्प्य दूषणमुक्तं तत्परिहरति—**न च सच्छब्दार्थेति** । शुक्तिरूप्याद्यपेक्षयाऽबाध्यत्वं च घटादौ व्याप्तमित्यर्थः । दूषणान्तरं परिहरति—**न चेति** ।

की प्राप्ति होगी'—यह सन्देह नहीं करना ; क्योंकि संसर्ग (शुक्ति-रजत-तादात्म्य) को सदसद्विलक्षण मानने से ही अन्यथाख्यातिवादी से हमारा भेद हो जाता है। इतना ही नहीं, हम तो संसर्गी (रजत) को भी सदसद्विलक्षण मानते हैं ; अन्यथा उसकी प्रतीति और बाध का सामञ्जस्य हो नहीं सकता । इस प्रकार व्यावहारिक रजत का जब शुक्ति में निषेध ही नहीं माना जाता, तब उसमें अतिव्याप्ति क्यों होगी ?

अनिर्वचनीयत्व में प्रमाण है—ख्यातत्व और बाध्यत्व की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति। 'रजत को शुक्ति में न मानकर देशान्तर में मान लेने पर भी ख्याति और बाध की अन्यथा भी उपपत्ति हो सकती है'—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते ; क्योंकि अन्यदेश की रजत का यहाँ (शुक्तिशकलों) में प्रत्यक्ष कैसे होगा ? दूषित नेत्र में भी इतना सामर्थ्य नहीं हो सकता कि भूमि में कमल की सत्ता है और आकाश में वह उसे देखे । देशान्तरस्थ रजत की जब यहाँ प्रतीति ही नहीं, तब उसका यहाँ बाध भी नहीं हो सकेगा । यह जो कहा था कि असत् की प्रतीति न मानने पर "असतो भानं न"—यह वाक्य ही अनर्थक हो जायगा, वह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि हम असत् की अपरोक्ष प्रतीति का ही निराकरण करते हैं ; प्रतीति मात्र का नहीं, (अतः परोक्ष-प्रतीति के आधार पर शब्द-प्रयोग बन जायगा, अनर्थक नामक निग्रहस्थान की प्राप्ति नहीं) । यह जो दोष दिया था कि 'सत्' शब्द का सत्तायुक्त अर्थ करने पर 'यत्सत्, तदबाध्यम्'—यह व्याप्ति नहीं बनेगी, वह दोष भी निराधार है ; क्योंकि आपके मत में भी दो प्रकार के तत्त्वों की व्यवस्था की जाती है (न्याय भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने प्रथम सूत्र की पातनिका में लिखा है—"किं पुनस्तत्वम् ? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः"—इस प्रकार दो 'सत् और असत्' तत्वों की व्यवस्था देकर आगे चलकर "तासां खल्वासां सद्विधानाम्" कह कर प्रमाणादि सोलह पदार्थों को सत् का भेद बताया) वहाँ आप जिसे सत् मानते हैं, उसे ही हम व्यवहार काल में अबाध्य मानते हैं, वहाँ (प्रमाणादि प्रपञ्च में) उक्त व्याप्ति घट जायगी । अन्यथैवोपपत्ति जो कही थी कि सद्विलक्षण

तत्प्रयोजकत्वकल्पनायां गौरवात् । न चासतोऽपि तत्पदात्प्रतिभासनात्सत्तायुक्तस्यापि प्रपञ्चस्य बाधाभ्युपगमात्तयोरप्रयोजकत्वम् ; अपरोक्षतयाऽभानस्य व्यवहारदशायां चाबाध्यत्वस्येह विवक्षितत्वात् । ननु सत्त्वासत्त्वयोरेवाबाध्यत्वाभानप्रयोजकत्वे यत्सद्विलक्षणं तद्बाध्यं यदसद्विलक्षणं तत्ख्यातीति व्यतिरेके गौरवं स्यात् । सत्त्वासत्त्वयोस्तु ख्यातिबाधप्रयोजकतायां लाघवमिति चेत्, मैवम् ; तवापि व्यतिरेके गौरवस्य तुल्यत्वात् अख्यात्यबाध्यत्वयोः सदसद्वैलक्षण्यस्य प्रयोजकत्वाङ्गीकारात् । एवमपि प्रयोजकत्वविनिगमनायां को हेतुरितिचेत्; पक्षान्तरे ख्यात्यसंभवः । तथाहि—न तावत्सत्त्वादध्यस्तस्य ख्यातिः, तस्येहासत्त्वात्; सतश्च ख्यातौ भ्रान्तिबाधयोरनुपपत्तेश्च । असत्त्वे चापरोक्षतया भानत्वानुपपत्तेः ।

नन्वसत्त्वमभाने न प्रयोजकम्, असतोऽपि तच्छब्दाद्भानात् । नापि सत्त्वमबाधायाम्, सतोऽपि प्रपञ्चस्य बाधाङ्गीकारादित्युक्तमिति तत्राह—**न चासतोऽपीत्यादिना** । पूर्वोक्तमेव परिहारमत्राप्याह—**अपरोक्षतयेति** । नन्वबाध्यत्वे सत्त्वं प्रयोजकमङ्गीकुर्वता सद्वैलक्षण्यं बाध्यत्वे प्रयोजकं स्वीकर्तव्यम्, तथा च प्रयोजकगौरवं स्यात्, एवमितरत्रापि । मत्पक्षे त्वसत्त्वं बाध्यत्वे प्रयोजकं सत्त्वं च प्रतीताविति लाघवमिति न्यायरत्नदीपावलीयमाशङ्क्य तत्रापि व्यतिरेकेऽसद्वैलक्षण्यमबाधे प्रयोजकं सद्वैलक्षण्यं चाभाने प्रयोजकमिति गौरवं समानमित्याह—**मैवं तवापीति** । नन्वेवं समानगुणदोषत्वे किमित्यन्यतरपक्षे पक्षपात इति शङ्कते—**एवमपीति** । विनिगमना निर्णयः । सत्त्वं भाने प्रयोजकमिति पक्षे बाध्यस्य किं सत्त्वात् स्फुरणम् ? उतासत्त्वात् ? नाद्य इत्याह—**न तावत्सत्त्वादिति** । दूषणान्तरमाह—**सतश्चेति** । असत इति

मानने पर नर-विषाण की भाँति अभान और असद्विलक्षण मानने पर आत्मा के समान अबाध होगा, वह भी युक्त नहीं ; क्योंकि अबाध और अभान में सत्त्व और असत्त्व ही प्रयोजक हैं, सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व को प्रयोजक मानने में महान् गौरव होगा (जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है)। यह जो कहा था कि असत् की भी प्रतीति 'असत्' शब्द से होती है और सत्तायुक्त प्रपञ्च का भी बाध होता है, अतः असत्त्व अभान का और सत्त्व अबाध का प्रयोजक नहीं । वह कहना भी संगत नहीं ; क्योंकि हमारा कहना है कि रजत को असत् मानने पर अपरोक्षतया भान नहीं होगा। (अर्थात् असत्त्व को सामान्यतः भानाभाव का प्रयोजक नहीं मानते ; अपि तु अपरोक्षभान के अभाव का)। इसी प्रकार सत्त्व को सामान्यतः बाधाभाव का प्रयोजक नहीं मानते ; अपितु व्यावहारकालिक बाध के अभाव का । (अर्थात् रजत को सत् मानने पर व्यवहार-काल में उसका बोध नहीं होगा)। यदि यह शङ्का हो कि सत्त्व और असत्त्व को ही अबाध्यत्व तथा अभान का प्रयोजक मानने पर 'जो सद्विलक्षण है, वह बाध्य है एवं जो असद्विलक्षण है, वह प्रतीत होता है'—इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति में गौरव होगा (क्योंकि यहाँ बाध तथा ख्याति के प्रति सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व को प्रयोजक माना गया है)। किन्तु सत्त्व और असत्त्व को ख्याति तथा बाध का प्रयोजक मानने पर लाघव होता है, तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि आप के भी व्यतिरेक में गौरव वैसा ही है, कारण यह कि आप अख्याति और अबाध्यत्व में सद्विलक्षणता तथा असद्विलक्षणता को प्रयोजक मानते हैं । इस प्रकार दोनों पक्षों में तुल्य दोष रहने पर यदि कोई पूछे कि यहाँ अन्यतर पक्ष के उत्कर्ष का निर्णायक हेतु क्या है ? तो उसका उत्तर यह है कि अनिर्वचनीय-भिन्न पक्ष में ख्याति की अनुपपत्ति ही निर्णायक है ; क्योंकि सत् होने के कारण अध्यस्त (रजतादि) की प्रतीति होती है—ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि यहाँ (शुक्त्यादि में) रजतादि सत् है नहीं । यदि रजतादि को वहाँ सत् मानकर ख्याति मानेंगे, तब शुक्ति में रजत-ज्ञान भ्रान्ति

---

१. ख्याति—इति क्रियापदम् ।

अनुमानमप्यत्र प्रमाणम्—विमतमनिर्वचनीयं वाध्यत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथात्मेति। संसर्गस्यैव बाध्यत्वाद्रजतस्य बाध्यत्वं सिद्धमितिचेत्, न; द्वयोरपरोक्षतया प्रतिभासमानयोः संसर्गमात्रनिषेधे वनस्पत्योरिव विविक्तयोः बाधोत्तरकालमुभयोरपि इहावभासप्रसङ्गात्। न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः। यस्मात्—

एकालम्बनसंसर्गनिषेधं सदसत्त्वयोः।
धर्मत्वाद्रूपरसवत्सिद्धानिर्वचनीयता ॥१४॥

विवादाध्यासिते सदसत्त्वे एकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनी धर्मत्वाद् रूपरसवदिति अनि-

पाठे द्वितीयपक्षनिषेधः। चस्त्वर्थः। स च दूषितपक्षात्पक्षान्तरपरिग्रहसूचकः। द्वितीयं निषेधति—असत्त्व इति। द्वितीययोजनायां तत्रैव हेतुः।

तदेवमर्थापत्तिमुक्त्वानुमानमपि प्रमाणयति—**अनुमानमपीति**। **विमतमिति**। शुक्तिरूप्यादीत्यर्थः। अत्र च सदसद्विलक्षणत्वमनिर्वचनीयत्वं साध्यमिति न साध्याविशिष्टता। असिद्धिमन्यथाख्यातिवादी शङ्कते—**संसर्गस्येति**। परिहरति—**नेति**। असंनिहितबाधनिवारणायापरोक्षतयेत्युक्तम्। सामान्यतो दृष्टानुमानेनानिर्वचनीयतां साधयन्नप्रसिद्धविशेषणतां परिहरति—**एकालम्बनेति**। धर्मत्वाद्धेतोः सदसत्त्वयोरेकालम्बनसंसर्गनिषेधे. एकनिष्ठसंसर्गाभावे एकाधिकरणात्यन्ताभाव इति यावत्। तस्मिन्साधिते रूपरसवदनिर्वचनीयता सिद्धा भवति इति योजना। संग्रहं विवृणोति—**विवादाध्यासिते इति**। अत्र च भावत्वाभावत्वे सत्त्वासत्त्वे एकधर्मिनिष्ठौ यावत्यन्ताभावौ तत्प्रतियोगिनी धर्मत्वात्, यौ धर्मौ तावेकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनौ, यथा रूपरसौ तथाचामू, ततस्तथेति प्रयोगः। भिन्नाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितयार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थम्-**एकधर्मी**त्युक्तम्। सत्त्वमसत्त्वानधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि धर्मत्वात् रूपादिवदिति तु प्रयोगशरीरम्। नचार्थान्तरता; सतोऽसतो वोभयात्यन्ताभावद्वयाधिकरणत्वाभावात्, मिलितयोश्चैकत्वाभावादेकत्वे वा सदसदन्तर्भूततायामुभयाभावाधिकरणत्वायोगात्, अनन्तर्भूतत्वे च सिद्धं नः समीहितमिति क्वार्थान्तरता। नच प्रमेयत्वादौ व्यभिचारः, तेषामपि वेदान्तिमते पूर्वोदितन्यायेनैवात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्[1]। नच वैपरीत्यानुमानम्; धर्मत्वहेतो रूपादावनैकान्तिकत्वात्। अपरे त्वेवमेतदनुमानं समर्थयामासुः—सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि अना-

न बन सकेगा और भ्रान्ति न होने से उसका बाध न होगा। रजतादि को असत् मानें, तब उसकी अपरोक्ष प्रतीति न बन सकेगी।

अनिर्वचनीयत्व में अनुमान भी प्रमाण है—विवाद-ग्रस्त (रजतादि) अनिर्वचनीय हैं, बाध्य होने से, जो अनिर्वचनीय नहीं होता, वह बाध्य भी नहीं होता, जैसे—आत्मा। यदि शङ्का की जाय कि उक्त अनुमान में 'बाध्यत्व' हेतु असिद्ध है; क्योंकि 'नेदं रजतम्'—इस निषेध से रजत का बाध नहीं होता, अपितु संसर्ग का होता है। तो यह शङ्का युक्त न होगी; क्योंकि जब दोनों (रजत तथा संसर्ग) की अपरोक्ष प्रतीति होती है, उन दोनों में यदि एक (संसर्ग मात्र) का निषेध हो, तब बाध के अनन्तर दूसरे (रजत) की वैसे ही प्रतीति होनी चाहिए, जैसे दूर से दो वृक्ष मिले हुए एक रूप प्रतीत होते हैं, समीप जाने पर एकरूपता का बाध होता है और दोनों वृक्ष पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। उक्त अनुमान में साध्याप्रसिद्धि भी नहीं; क्योंकि धर्मत्व हेतु से रूप, रस के समान किसी एक आधार में सत्त्व तथा असत्त्व—दोनों का निषेध कर देने पर सामान्यतः अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है, अर्थात् विवादास्पद सत्त्वासत्त्व, किसी एक धर्मी में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, धर्म होने से, रूप, रसवत् [भाव यह है कि जैसे रूप और रस—दोनों धर्मों का

---

[1] प्रमेयत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि धर्मत्वाद्रूपवदितिन्यायेनेत्यर्थः।

धारितधर्मिनिष्ठतया सामान्यतः सिद्धस्य सदसद्वैलक्षण्यस्य केवलव्यतिरेकिणो रजतधर्मिनिष्ठतयोपसंहारादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावात् । न चानिर्वचनीयत्वे सदिदं रजतमिति भ्रमानुभवविरोधः; अधिष्ठानेदंतासंसर्गवत्तत्सत्तासंसर्गस्यापि अनिर्वचनीयस्यैव भ्रमेऽनुभवात् । अपि च ब्रह्मणीव पारमार्थिकसत्तायाः प्रपञ्च इव च व्यावहारिकसत्ताया अभावेऽपि प्रातिभा-

त्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाद्रूपादिवदित्यत्र विवक्षितम् । तेन चैतत्परिहृतं भवति—धर्मत्वहेतोर्वाच्यत्वादिना व्यभिचारः । अथ तस्यापि निर्धर्मके ब्रह्मण्यभावेनाव्यभिचारः; तर्हि तस्मिन्नेव ब्रह्मणि निर्धर्मकतयोक्तसाध्यसिद्धेः, न जडानिर्वाच्यतासिद्धिरित्यर्थान्तरता स्यादिति । नच व्याघातः; परस्परविरुद्धयोरपि नित्यत्वानित्यत्वयोरिव शुक्तिरजतादिसंसर्गेषु व्यावृत्तिसंभवात् । अतएव विवादाध्यासिते सत्त्वासत्त्वे एकानात्मनिष्ठसंसर्गाभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्पराभावरूपत्वात्, नित्यत्वानित्यत्ववदिति न सत्प्रतिपक्षतापि; आरोपितसंसर्गे एवोभयव्यावृत्त्या साध्यविकलत्वादिति । तदेतदसमीचीनमिव, मेयत्वादेरपि सर्वधर्मविधुरे ब्रह्मण्यवृत्तेरव्यभिचारभूमित्वात् । न चार्थान्तरता; निर्धर्मके ब्रह्मण्यत्यन्ताभावस्याप्यवृत्तेः, वृत्तौ वा सत्त्वस्यापि वृत्तेरनर्थान्तरत्वात् । कथं तर्हि सत्त्वासत्त्वयोस्तत्तदत्यन्ताभावरूपयोर्ब्रह्मण्येव वर्तनम्? किमत्र चित्रं प्रत्यायकश्रुतौ सत्यां, परस्परप्रतिक्षेपरूपभावाभावयोः संयोगादेरेकवृत्तितंष्टेश्च, स्वस्मिन्नेव च मेयत्वाद्यवृत्तेर्वृत्तौ चात्माश्रयात् । प्रसाधयिष्यते चायमर्थः । व्याघातस्तु नियमानङ्गीकारेणात्रैव[1] परिहृतः । न च नित्यत्वानित्यत्वव्यावृत्तेरारोप्यसंसर्ग उदाहरणम् । अत्यन्ताभावरूपस्य तस्य नित्यतायाः परैरङ्गीकृतत्वात् । न हि सत्ता तत्र जातिरूपिणि स्वरूपसत्त्वाङ्गीकारात् । अस्तित्वात्मकस्य[2] च तस्या[3]भावेऽपीष्टेरिति, एतेन[4] सामान्यादीनां नित्यत्वं व्याख्यातम् । तद्यथान्यासमेवास्त्वनुमानम्, अलमतिवैदग्धीप्रकटनेन । केवलव्यतिरेकिण इति पञ्चमी । ननु सदिदं रजतमिति सत्त्वानुभवबाधितमिदंसद्वैलक्षण्यानुमानमिति तत्राह—न चानिर्वचनीयत्व इति । यथा ह्यपुरोवर्तिनो रजतस्य पुरोवर्त्यधिष्ठानारोपात्पुरोवर्तित्वप्रतिभासः । तथासद्विलक्षणरजतस्य सदधिष्ठानेसमारोपितत्वात्सद्बुद्धिबोध्यत्वम्, न पुनः सत्त्वादिति परिहरति—अधिष्ठानेति । अथवा सदिदं रजतमिति प्रातीतिकसत्त्वमनुभूयते, पारमार्थिकव्यावहारिकसद्वैलक्षण्यं चानिर्वचनीयत्वं साध्यत इति नानुभवविरोध इत्याह—अपि चेत्यादिना । सदसद्विलक्षणतायां भ्रान्तिबाधानुभवविरोधो ह्यधस्ताद-

अत्यन्ताभाव एक ही आकाश में रहता है, वैसे ही सत्त्व, असत्त्व—दोनों ही धर्म हैं, अतः इन दोनों का भी कहीं-न-कहीं अत्यन्ताभाव अवश्य होगा । जहाँ होगा, वही अनिर्वचनीय होगा—और उसमें रहने वाला सदसद्वैलक्षण्य ही अनिर्वचनीयत्व है]—इस प्रकार किसी अनिश्चित धर्मी में सामान्यतः प्रसिद्ध सदसद्वैलक्षण्यरूप अनिर्वचनीयत्व में "विमतमनिर्वचनीयम्"—इस केवलव्यतिरेकी प्रयोग से रजतरूप धर्मी की वृत्तिता सिद्ध की जाती है । यदि रजत को अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) मानें, तब 'यह रजत सत् है'—इस प्रकार रजत-गत सत्त्व का अनुभव विरुद्ध पड़ जायगा—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जैसे शुक्ति-गत इदन्ता का अनिर्वचनीय संसर्ग रजत में होने से रजत में इदन्ता की प्रतीतिमात्र होती है, वैसे ही शुक्ति की सत्ता का अनिर्वचनीय संसर्ग रजत से हो जाने के कारण, उसमें सत्त्व प्रतीत होता है, वस्तुतः उसमें सत्त्व नहीं रहता । विवरणाचार्य का तो कहना है कि ब्रह्म में पारमार्थिक सत्ता और प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है, उन दो सत्ताओं का अभाव रहने पर भी रजत में प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है; अतः "सदिदं रजतम्"—इस अनुभव का कोई विरोध नहीं रह जाता (देखिए न्या. म. पृ. ११८) । [अर्थात् अनिर्वचनीयत्व के स्वरूप में सामान्यतः सत्त्व की विलक्षणता का निवेश नहीं, अपितु पारमार्थिक और व्यावा-

---

१. एकतरनिषेधस्यैकतरविधिनान्तरीयकत्वरूपनियमानङ्गीकारेणेत्यर्थः । २. अत्यन्तभावात्मकस्येतिपाठान्तरम् । ३. नित्यत्वस्येत्यर्थः । ४. ध्वंसप्रागभावानुपलक्षितस्वरूपत्वं नित्यत्वम्, तदुपलक्षितत्वमनित्यत्व-

सिकसत्तास्वीकारेण सदिदं रजतमित्यनुभवो न विरुद्ध्यते। न च नेदं रजतमित्यसत्त्वानुभवविरोधः, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव तत्र निषिध्यमानत्वात्। न चानिर्वाच्ये रजतशब्दप्रयोगायोगः; सविकल्पकरजतानुभवसंस्कारजन्यतया रजतभ्रमस्य तद्वाचकशब्दोल्लेखोपपत्तेः। न चानिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिः; शुक्त्यवच्छिन्नात्मचैतन्यस्थाविद्याविवर्ततया

भिदधे। तत्र भ्रान्तिविरोधं परिहृत्य बाधविरोधं परिहरति—**न च नेदमिति**। नेदं रजतमिति कोऽर्थः? नेदं मदभिमतरजतमिति। तथाचार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव निषेधान्न तद्वैलक्षण्यानुमानं विरुणद्धीत्यर्थः। सदसद्वैलक्षण्यमनिर्वचनीयत्वं मतं तन्निर्वाहावसरतया च पूर्वोदितलौकिकपरमार्थरजतविषयत्वनिषेधेन[1] न विप्रतिषेधशङ्कापीति भावः। दोषान्तरमुक्तं परिहरति—**न चानिर्वाच्य इति**। रजतानुभवसंस्काररञ्जिता ह्यविद्या रजतज्ञानाकारेण विवर्तते। अननुभूतरजतस्य भ्रान्त्यनुपपत्तेः। स चानुभवः सविकल्पक इति शब्दोल्लेखवान्। तथा च तत्संस्काररञ्जिताविद्या तद्बुद्धिवत्तच्छब्दप्रयोगेऽपि हेतुः। एतदुक्तं भवति—रजतबुद्धिवद्रजतजातीयबुद्धिरप्युदेति। ततश्च तच्छब्दप्रयोग इति परस्यापि शुक्त्यादौ रजतत्वजात्याद्यसंभवात्तत्संस्कार एव शरणमिति भावः। या तु प्रत्यायकानुपपत्त्या प्रतीत्यनुपपत्तिरुक्ता तां परिहरति—**न चानिर्वच-**

हिरक सत्त्व की विलक्षणता का। इस प्रकार रजत में प्रातिभासिक सत्त्व भी है और इतर द्विविध सत्त्व की विलक्षणता भी, अतः कोई विरोध नहीं]। रजत को अनिर्वचनीय मानने पर 'यह रजत नहीं'—इस प्रकार के असत्त्वानुभव का विरोध है—ऐसा भी सन्देह नहीं कर सकते; क्योंकि "नेदं रजतम्"—इस अनुभव में व्यावहारिक रजत-गत अर्थक्रिया-सामर्थ्य रूप (अर्थ (भूषणादि प्रयोजन) की क्रिया (निष्पत्ति) का सामर्थ्य) सत्त्व का ही निषेध किया जाता है, सामान्य सत्त्व का नहीं [आशय यह है कि अनिर्वचनीयत्व में दो अंश हैं—सत्त्व-विलक्षणत्व और असत्त्व–विलक्षणत्व, इनमें किस अंश के साथ 'नेदं रजतम्'—इस अनुभव का विरोध है? प्रथम (सत्त्व-विलक्षणत्व) अंश का विरोधी नहीं, अपितु साधक है; क्योंकि 'नेदं रजतम्'—इस अनुभव के आधार पर ही सत्त्व-विलक्षणत्व की कल्पना की गई है। दूसरे (असत्त्व-विलक्षणत्व) अंश का भी विरोधी नहीं; क्योंकि इस अंश में यह विरोधी तब होता, जब कि रजत में असत्त्व का विधान करता। किन्तु असत्त्व का विधान कर नहीं सकता; क्योंकि निषेधार्थक नकार से घटित है। नकार को पर्युदासार्थक मानकर किसी प्रकार "नेक्षेदुद्यन्तमादित्यम्" की भाँति विधिरूप में यदि परिणत करें, तब भी इसके असत्त्वविधान को रजत का प्रत्यक्षानुभव नहीं सहन करेगा। अतः यही कहना होगा कि 'नेदं रजतम्'—यह अनुभव केवल यही कहता है कि यह रजत हमारे काम का नहीं; अर्थात् व्यावहारिक रजतरूपता का निषेध ही करता है, अतः किसी प्रकार विरुद्ध नहीं। आनन्दबोधाचार्य के भी यही शब्द हैं—"नेदं रजतमित्ययं कालत्रयेऽपि लौकिकपरमार्थरजतप्रतियोगिनीमत्रासत्तां प्रतिभासोऽवलम्बते"—न्या. म. पृ. ११९]। यह जो आक्षेप किया था कि अनिर्वचनीय में 'रजत' शब्द का प्रयोग जाति या उपाधि के द्वारा या रूढ़रूपसे किसी प्रकार हो नहीं सकता। वह आक्षेप संगत नहीं; क्योंकि हट्टस्थ रजत-विषयक सविकल्पक अनुभव के संस्कार से जन्य होता है—रजत-भ्रम; अतः व्यावहारिक रजत के वाचक शब्द का अनिर्वचनीय रजत में भी प्रयोग होता है। [अर्थात् यह नियम है कि जिस वस्तु के अनुभव-जन्य संस्कार के द्वारा जो भ्रम उत्पन्न होता है, उस भ्रम के विषय को उस वस्तु के नाम से पुकारा करते हैं, जैसे सर्पानुभव-जन्य संस्कार से पैदा हुए भ्रम के विषय को 'सर्प' शब्द से ही कहा जाता है। अतः प्रकृत में भी भ्रम-विषय में 'रजत' शब्द का प्रयोग क्यों न होगा?] यह जो कहा था अनिर्वचनीय रजत की प्रतीति किसी इन्द्रियादि साधन से न हो सकेगी। वह

मितिव्यवस्थापनेनेत्यर्थः। [1]. निषेधेनेत्यस्य स्थाने निषेधे इत्यपि पाठस्तस्य निषेधितवानित्यर्थः।

चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तेन प्रतीत्युपपत्तेः । न च संप्रयोगाभावादपरोक्षत्वानुपपत्तिः ; अध्यस्तस्यापरोक्षतायां संप्रयोगानपेक्षत्वात् । अन्यथा भवतोऽपि रजततत्संसर्गयोरपरोक्षत्वाभावापातात् । अधिष्ठानसंप्रयोगादेवापरोक्षत्वमस्मन्मतेऽपि तुल्यम् , अन्यत्र[1] स्वपक्षपातात् । न चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं रजतस्य ; तयोरधिष्ठानग्रहणेनान्यथासिद्धत्वात् । न चैवं सति स्पर्शनेनाधिष्ठाने गृहीतेऽपि चाक्षुषो रजतविभ्रमः स्यादिति वाच्यम् ; सादृश्यदर्शनजन्ये विभ्रमे तेनैवेन्द्रियेण सादृश्यस्य ग्रहणनियमात् । अन्यथा तवापि तिक्तो गुड इति विभ्रमो न भवेत् । आरोप्यस्य रसस्य रसनेन्द्रियग्राह्यतया द्रव्यग्राहकस्पर्शनेन्द्रियागोचरत्वात् । तस्मात्तत्राधिष्ठानीयेति । शुक्त्यवच्छिन्नं यच्चैतन्यं तदविद्यापरिणामो हि रजतम् , न तु केवलशुक्त्यविद्यापरिणामः ; शुक्तेरविद्याकार्यस्य स्वकारणाविद्यां प्रत्याश्रयत्वायोगात् । तदुक्तमाचार्यैरिष्टसिद्धिकारैः—

‘शुक्त्यवस्थात्ममोहोत्था[2] रूप्यधीः शुक्तिमं हृजा ।
कथ्यते मृदवस्थात्मजातो मृज्जो यथा घटः ॥’ इति ।

ततस्तेनैव चैतन्येन रजतमपि वेद्यमित्यर्थः । रजतस्य शुक्तिसामानाधिकरण्योपपादनाय शुक्त्यवच्छिन्नेत्युक्तम् । नन्विन्द्रियसंप्रयोगाभावे कथमपरोक्षता ? तत्राह—**न च संप्रयोगेति** । न केवलमस्माकमयं नियमभङ्गोऽपितु भवतोऽपीत्याह—**अन्यथेति** । ननु न देशान्तरस्थं रजतं रजतज्ञानविषयोऽपितु पुरोवर्ति वस्तु, तच्चेन्द्रियसंयुक्तमितीन्द्रियसंप्रयोगादेवापरोक्षं तर्हीदमस्मन्मतेऽपि समानमिति प्रौढिमारूढः[3] प्राह—**अधिष्ठानेति** । नन्विन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः सतोः कथं तदभावो येनैवं परिह्रियत इति तत्राह—**तयोरिति** । अधिष्ठानग्राहकेन्द्रियग्राह्यतामन्तरेणारोप्यस्यापरोक्षतायां बाधकमाशङ्क्य परिहरति—**न चैवं सतीति** । न तत्रारोप्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमाद्भ्रमानुदयः, अपि तु सादृश्यजन्यभ्रमेषु सादृश्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यतानियमात् तदभावापराधादित्याह—**सादृश्येति** । यदि च कस्मैचित्समानेन्द्रियग्राह्यत्वनियमदुराग्रहादुक्तरीतिर्न रोचेत, तं प्रति बाधकमाह—**अन्यथा तवापीति** । विभिन्नेन्द्रियग्राह्यतामेव हेतुमाह—**आरो-**

कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित अविद्या का परिणाम होने से रजत अपने अधिष्ठान चैतन्य से प्रकाशित होता है । ‘प्रतिभास मात्र स्वरूप होने के कारण रजत से सम्प्रयोग होगा नहीं, बिना सम्प्रयोग के उसका अपरोक्ष कैसे होगा’—यह सन्देह भी उचित नहीं ; क्योंकि रजतादि-जैसे अध्यस्त पदार्थों का अपरोक्ष बिना सम्प्रयोग के ही होता है । अन्यथा आपके यहां भी देशान्तरस्थ रजतादि के साथ सम्प्रयोग है नहीं, अतः उनका प्रत्यक्ष न हो सकेगा । यदि कहें कि शुक्ति के साथ इन्द्रिय-सम्प्रयोग हो जाने से ही रजत का प्रत्यक्ष हो जायगा ; तब तो पक्षपात-रहित दृष्टि से देखने पर वही समाधान हमारे पक्ष में भी आप को मिलेगा । यदि कहें रजत कभी साक्षि-भास्य नहीं हो सकता ; क्योंकि इन्द्रिय का उसके ज्ञान से अन्वय-व्यतिरेक होता है । तो यह कहना भी उचित न होगा ; क्योंकि इन्द्रिय का अन्वय-व्यतिरेक शुक्ति-ग्रहण में उपक्षीण हो जाता है । ‘यदि रजत-ग्रहण में इन्द्रिय का उपयोग नहीं, अपितु केवल अधिष्ठान-ग्रहण में है ; तब तो त्वगिन्द्रिय से शुक्ति का ग्रहण कर लेने पर अन्धे को भी रजत भ्रम होना चाहिए’—यह शङ्का नहीं करनी ; क्योंकि सादृश्य-दर्शन-जन्य भ्रम में सादृश्य-ग्राहक इन्द्रिय से ही अधिष्ठान का ग्रहण होना चाहिए । नहीं तो आप (तार्किक) के मत में भी ‘गुड़ कड़ुआ है’—यह भ्रम कैसे होगा ? क्योंकि आरोप्य कटु रस, रसनेन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण गुड-ग्राहक त्वगिन्द्रिय का अविषय है । अतः कहना होगा कि त्वगिन्द्रिय का उपयोग केवल गुड़-ग्रहण में ही होता है, रस-ग्रहण में उसकी

---

[1] अनिर्वचनीयख्यातौ । [2] इ० सि० १।१२९, शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यमोहजन्येत्यर्थः । [3] ननु सिद्धान्ते रजतस्येन्द्रियसम्प्रयोगजन्यज्ञानविषयत्वं नास्ति, केवलसाक्षिवेद्यत्वाङ्गीकारादित्यत आह—प्रौढिमारूढ इति ।

नग्रहण एवेन्द्रियस्योपयोग इति त्वयापि वक्तव्यम् । तथा च न तत्प्रकृतेऽपि दण्डवारितम् । न च ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यातिप्रसङ्गः ; इदमंशावच्छिन्नसाक्षिचैतन्यस्यैवाधिष्ठानज्ञानफलभूतस्य स्वमायाविवर्तरजतादिसिद्धित्वात्, अन्तःकरणवृत्तिलक्षणज्ञानद्वयानङ्गीकारात् । तदेवं लक्षणप्रमाणयोरनिर्वचनीये रजतादिविभ्रमे संभवात् तद्वद् द्वैतप्रपञ्चविभ्रमोऽपि वेदान्तवाक्यप्रमाणजन्यादधिष्ठानाद्वितीयात्मविज्ञानाद्विलीयत इति सिद्धम् ।

ननु कथं वेदान्तवाक्यानां सिद्धार्थबोधकत्वम् ? सकलपदानां लोके कार्ये एव सङ्गतिग्रहणात्, लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इति न्यायात् । लोके च प्रवर्तकवचनंश्र-

प्यस्येति । तदेवमधिष्ठान एवेन्द्रियोपयोगमुपपाद्य ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यात्यापत्तिमुक्तां परिहरति—**न चज्ञानेति** । कोऽयं ज्ञानभेदः ? किं ज्ञप्तिभेदः ? उतान्तःकरणवृत्तिभेदः ? नाद्य इत्याह—**इदमंशेति** । उभयोरपीदमंशावच्छिन्नैकसाक्षिवेद्यत्वेन फलभेदाभावादित्यर्थः । द्वितीये प्राह—**अन्तःकरणेति** । न चैकत्रान्तःकरणपरिणामोऽपरत्राविद्यापरिणाम इति ज्ञानभेदः ; अविद्यापरिणामस्य ज्ञानाभासत्वेन ज्ञानताऽसिद्धेः । उक्तंहि—'अविद्या वेद्यैः सह भ्रमः' इति । वादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** । भेदप्रपञ्चस्याविद्यापरिणामतया शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयारोपितत्वात् तदधिष्ठानाद्वैततत्त्वसिद्धिः फलमित्यर्थः ।

[२]इत्यनिष्टविपरीतबुद्धितत्तुच्छसद्विषयवाददूषणात् ।
व्यक्तमुक्तमिह तत्तदुक्तिभिः शक्यनिर्वचनतानिवारणम् ॥

वेदान्तवाक्यजन्यादद्वितीयात्मविज्ञानादित्युक्तम् । तदसङ्गतम् ; सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्याभावादिति कार्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**ननु कथमिति** । ननु भवतु लौकिकानां कार्ये शक्तिग्रहो वैदिकानां तु किमायातमित्यत आह—**लोकावगतेति** । निर्णीतं खल्विदं प्रमाणलक्षणे आकृत्यधिकरणे[३] तदर्थचिन्तया । तथाहि—

अपेक्षा नहीं, तब तो रजत-भ्रम में भी उस नियम को कौन हटाएगा ? [आशय यह है कि रजत-भ्रम शुक्ति में रजत-सादृश्य चाकचक्यादि के संदर्शन से होता है, अतः रजत-ग्रहण में नेत्र का उपयोग न होने पर भी नेत्र के बिना रजत-भ्रम नहीं होता, कारण यह है कि सादृश्य-ग्राहक नेत्र से ही शुक्ति का सम्बन्ध वहाँ नियमतः अपेक्षित है । गुड़ में तिक्तता का भ्रम सादृश्य-दर्शन से जन्य नहीं, अतः वहाँ अधिष्ठान-ग्रहण में उपयुक्त त्वगिन्द्रिय की कोई भी अपेक्षा तिक्त-भ्रम में नहीं । यदि सब कहीं आरोप्य-ग्रहण में अधिष्ठान-ग्राहक इन्द्रिय की अपेक्षा करेंगे, तब गुण में तिक्तता का भ्रम न बन सकेगा ; क्योंकि यहाँ अधिष्ठान गुड़ रूप द्रव्य के ग्राहक त्वगिन्द्रिय की रस-ग्रहण में योग्यता ही नहीं । अतः यह मानना होगा कि इन्द्रिय का उपयोग आरोप्य-ग्रहण में नहीं, फिर तो आरोप्य रजत का इन्द्रिय-सम्प्रयोग के बिना साक्षी से ग्रहण होना उचित ही है] । यह आपत्ति जो दी थी कि शुक्ति का इन्द्रिय-जन्य ज्ञान और रजत का साक्षि ज्ञान मानने पर प्रभाकर-मत आ जायगा । वह आपत्ति भी उचित नहीं ; क्योंकि हमारे यहाँ दो ज्ञान नहीं, अपितु एक ही ज्ञान है—इदमंशावच्छिन्न साक्षिचैतन्य ही फलचैतन्य के रूप में शुक्ति का भासक है और वही स्वाश्रिताविद्या के परिणाम रजतादि का भासक है । अन्तःकरण-वृत्तिरूप दो ज्ञान हम नहीं मानते । इस प्रकार अनिर्वचनीय रजतादि-भ्रम में लक्षण और प्रमाण की सिद्धि हो जाती है । उसी प्रकार का द्वैत प्रपञ्च-भ्रम भी है वह वेदान्त वाक्य-जन्य अधिष्ठनरूप अद्वितीयात्मा के ज्ञान से विलीन होता है—यह सिद्ध हो गया ।

पूर्वपक्ष—वेदान्त वाक्यों में सिद्धार्थ की बोधकता कैसे होगी ? क्योंकि लोक में सभी पदों की शक्ति कार्य (साध्य) अर्थ में ही निश्चित होती है । यह नियम है कि जिस शब्द का सामर्थ्य

---

१. ब्र० सि० नि० २३ । २. उक्तप्रकारेण अनिष्टाया स्वानभिमतायाः सत्ख्यातिरूपाया विपरीतबुद्धेर्दूषणात्, तथा तस्यास्तुच्छसद्विषयवादादेर्दूषणाच्चेति विश्लेषः । ३. पू० मी० द० १।३।९।

वणसमनन्तरं श्रोतुः प्रवृत्तिमुपलभ्य प्रवृत्तिलिङ्गेन प्रवर्तकप्रत्यये पदसमुदायस्य सामान्यतः सामर्थ्यमधिगम्य पुनरावपोद्धाराभ्यां च प्रत्येकं कार्यान्विते पदानां सङ्गतिग्रहणात्, आनयनादिलक्षणकार्यविशेषे व्यभिचारेऽपि कार्यमात्रस्य सर्वत्राव्यभिचारात्तदन्वितस्वार्थेषु पदानां

स्वरवर्णलोपागमादिवैलक्षण्यात् अनध्यायादिधर्मभेदाल्लौकिकवैदिकव्यपदेशाच्च स्पष्टभेदयूपादिशब्दसाहचर्याच्च गोशब्दादेरपि लोकवेदयोर्भेदस्तद्भेदादश्ववालादिशब्देष्वर्थान्तरदर्शनात् 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति, तेजो वै घृत'मित्यादिषूत्तानवहनादिविपरीतलिङ्गाच्चार्थभेद इति प्रापय्य प्रतिविदधे, प्रत्यभिज्ञया तावदेकत्वं गवादिपदानामवगम्यते। न च स्वरवर्णलोपागमादिवैषम्यमात्रात् प्रत्यभिज्ञायमानशब्दस्वरूपभेदः, तथार्थोऽपि स एव, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उत्तानवहनादि तु स्तुतिर्न गवादिभेदप्रतिपादकम्, तस्माद्भेदकाभावादभेदावगमाच्च शब्दार्थयोरैक्यमेव लोकवेदयोरिति लोकवेदाधिकरणे स्थितम्। नन्वस्तु लोकगृहीतसङ्गतिशब्दानां वेदेऽपि बोधकत्वं कथमेतावता सिद्धार्थबोधकत्वाभावः? तत्राह—लोके चेति। अयमर्थः—गामानयेत्युत्तमवृद्धवचनश्रवणसमनन्तरं मध्यमवृद्धस्य गवानयन दृष्ट्वा व्युत्पित्सुरित्थमाकलयति बालः, ज्ञानपूर्विकेयमस्य प्रवृत्तिः स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात् मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिवदिति। तथैव स्वात्मदृष्टान्तेन प्रवर्तकप्रत्यये शब्दपूर्वकत्वं चानुमाय तस्मिञ्छब्दानन्तरभाविनि शब्दस्य शक्तिं गृह्णाति, तदनु च प्रयोगान्तरेषु गां बधानाश्वमानयेत्यादिष्वानयनगोशब्दयोरुद्धारे तदर्थयोरप्युद्धारात् प्रक्षेपे च प्रक्षेपदर्शनाद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवादिविशेषेषु पदविशेषस्य सामर्थ्यं गृह्णाति। सर्वत्र च कार्यान्वयाव्यभिचारात्तदन्वितपदार्थेषु सामर्थ्यं गृह्णाति, न पुनः पदार्थमात्रे, नाप्यन्यमात्रान्वितेषु; प्रथमावगताव्यभिचारिकार्यान्वयपरित्यागे प्रमाणाभावादिति। ननु कथं कार्यान्विते सामर्थ्यग्रहः, यावता पश्यानय बधानेत्यादावन्यदन्यत्कार्यं प्रतीयते अतो व्यभिचाराद्गवादिवदेव शब्दविशेषाभिधेयत्वमेव न सर्वशब्दसामर्थ्यप्रतियोगित्वमिति तत्राह—आनयनादिलक्षणेति। प्रकृत्यभिधेय-

---

लोक-व्यवहार से गृहीत हो जाता है, वही शब्द वेद में बोधक होता है। लोक में शक्तिग्रहण की परिपाटी यह है कि आज्ञाकारी उत्तम वृद्ध के शब्दों को सुनने के अनन्तर ही मध्यम वृद्ध की कार्य करण में प्रवृत्ति देखकर पास में बैठा अव्युत्पन्न बालक 'प्रवृत्ति' हेतु से प्रवर्तक ज्ञान का अनुमान कर लेता है—(यह प्रवृत्ति, ज्ञान-जन्य है, स्वतन्त्र प्रवृत्ति होने से, जैसे कि मेरी प्रवृत्ति)। उस ज्ञान में पूर्वोक्त पद-समूह का सामन्यतः सामर्थ्य जानकर पुनः उसी से मिलते-जुलते दूसरे प्रयोगों की सहायता से प्रत्येक पद की कार्यान्वित अर्थ में शक्ति का निर्णय कर लेता है। आनयनादि कार्य-विशेष का व्यभिचार होने पर भी सामान्य कार्य का व्यभिचार कहीं नहीं होता, अतः सामान्य कार्य से अन्वित इतर अर्थों में पदों की शक्ति का निश्चय हो जाता है। [अभिप्राय यह है कि प्राभाकर का यह सिद्धान्त है कि कोई भी पद, द्रव्य गुणादि रूप सिद्ध पदार्थ का बोधक तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसमें किसी प्रकार की 'लाना, ले जाना'—आदि क्रिया का समन्वय न हो; क्योंकि पिता की गोद में बैठा शिशु कोई भाषा कैसे सीखता है—इस ओर जब हम ध्यान दें, तो ज्ञात होगा कि पिता ने नौकर को आज्ञा दी–'गौ लाओ।' नौकर गौ लाता है। नौकर की इस क्रिया और पिता की उस आज्ञा को बार-बार देखते-सुनते शिशु की बुद्धि यह पकड़ लेती है कि 'गौ लाओ'—इस पूरे वाक्य का अर्थ है 'गौ लाना'। फिर 'गौ ले जाओ'—इस दूसरी आज्ञा को सुन कर और नौकर की गौ ले जाने की क्रिया देख कर इस दूसरे पूरे वाक्य का अर्थ 'गौ ले जाना, समझ लेता है। शिशु की नवाङ्कुरित विचार-शक्ति उसे यह सुझाती है कि दोनों आज्ञाओं में 'गौ' पद एक ही है और नौकर की 'लाना, ले जाना'—दोनों क्रियाएँ भी एक ही गौ में होती है, अतः केवल 'गौ' का अर्थ है—सींग-पूँछ-धारी यह पशु। अब यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पिता पूछता था–गौ है? नौकर उत्तर देता था—है या नहीं। इस प्रकार की प्रश्नोत्तरी को कई बार सुनने

सामर्थ्याधिगमात् । न चान्तरेणापि व्यवहारं पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं श्रोतुर्मुखविकासादिना लिङ्गेन हर्षमनुमाय, तद्धेतुप्रत्यये वाक्यस्य सामर्थ्यं सामान्यतोऽधिगम्यावापोद्धाराभ्यां पुनः पुत्रादिपदानां तनयाद्यर्थविशेषेषु सङ्गतिग्रहो दृश्यते इति वाच्यम्; परिशेषावधारणानुपपत्तेः, प्रियासुखप्रसवादेरपि हर्षहेतोः संभवात् । यत्र च प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीति प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्प्रसिद्धेतरपदार्थोऽप्रसिद्धमधुकरपदार्थः समधिगतविभक्त्यर्थश्च यं मधुपाने कर्तारं पश्यति, तं मधुकरशब्दवाच्यत्वेन प्रत्येति । तत्रापि

बन्धनादिव्यभिचारेऽपि प्रत्ययाभिधेयानुगतकार्यमात्रं न व्यभिचरतीत्यर्थः । ननु यत्र प्रवृत्तिलिङ्गमवलम्ब्य सङ्गतिग्रहः, तत्रैवं भवतु ; यत्र तु मुखविकासादिलिङ्गाद्धर्षहेतुसिद्धार्थमनुमाय शब्दस्य सङ्गतिग्रहः, यथा पुत्रस्ते जात इत्यादिषु तत्रावश्यं कार्यमन्तरेणैव सिद्धार्थे शब्दशक्तिराश्रयणीयेति तत्राह—**नचान्तरेणापीति** । न च वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**परिशेषेति** । अयमभिसन्धिः—न तावत्प्रवर्तकवाक्येष्विव सिद्धार्थवाक्येषु [2]प्रवर्तकविशेषानुमापकानयनादिप्रवृत्तिवदस्ति हर्षहेतुविशेषानुमापकं प्रत्यक्षलिङ्गम्, मुखविकासादि तु हर्षहेतुमात्रमनुमापयति । तद्विशेषस्तु परिशेषात्प्रार्थनीयः । न चैवं संभवति, पुत्रजन्मवदेव सुखप्रसवादेरनेकस्योपप्लवमानत्वात् विनिगमनाभावादतः पुत्रशब्दस्य सङ्गतिग्रहो दूरोत्सारित इति । यथाहुः नाथाः [3]प्रमाणपारायणे—'न च पारिशेष्येण [4]तत्प्रतिपादकताध्यवसायः ; भूतभविष्यद्वर्तमानानां सन्निहितव्यवहितानां संभवात् पारिशेष्यावधारणाया अत्यन्तदुष्करत्वा'दिति । स्यादेतत्—अस्ति प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यादिवाक्यं श्रुतवतः पुरुषस्य मधुकरप्रातिपदिकार्थमात्रमजानतः समयान्तरे सरसीरुहोदरविपरिवर्तिमधुकरमधुपानमवलोकयतः प्रसिद्धपदसमभिव्याहारबलान्मधुकरशब्दस्य मधुकरशब्दार्थे सिद्धे सङ्गतिग्रह इति तत्राह–**यत्र चेति** । किमिति न कार्यपरताव्याकोप इति तत्राह—

पर भी बालक कुछ समझ नहीं सका था, किन्तु उक्त आज्ञा और नौकर की क्रिया से ही वह समझ पाया । अतः यह निश्चित है कि किसी पद का सामर्थ्य क्रियान्वित वस्तु में ही हुआ करता है; क्रिया-शून्य केवल सिद्ध अर्थ में नहीं । क्रिया दो प्रकार की होती है—लौकिकी और वैदिकी । 'लाना ले जाना–आदि लौकिकी क्रिया प्रसिद्ध है । वैदिकी क्रिया भी दो प्रकार की होती है—(१) याग–होमादि रूप और (२) अपूर्व या अदृष्ट रूप । यजति-आदि धातुओं की शक्ति यागादि में और लिङादि प्रत्यय की शक्ति अपूर्व में । इन्हीं क्रियाओं से अन्वित दूसरे अर्थों में दूसरे शब्दों की शक्ति होती है । ऐसे ही वेदान्त गत ब्रह्मादि पदों की शक्ति केवल ब्रह्मरूप सिद्ध अर्थ में नहीं हो सकती; अपितु यागोपासनादि क्रियाओं से अन्वित ब्रह्म में ही]। यदि शङ्का हो कि किसी प्रकार के व्यवहार के बिना भी 'पुत्रस्ते जात;' (आप के पुत्र उत्पन्न हुआ)—आदि वाक्य सुनने के बाद पिता के मुख की प्रफुल्लता से उसके अन्दर के हर्ष का अनुमान करके हर्ष के हेतुभूत पुत्रोत्पत्ति विषयक ज्ञान में "आप के पुत्र उत्पन्न हुआ"—इस वाक्य की शक्ति समझ कर ऊहापोह से पुत्रादि पदों की शक्ति का ग्रहण पुत्रादि अर्थ में कर लिया करते हैं ! तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि वहाँ हर्ष का हेतु और कोई नहीं, परिशेषतः पुत्र जन्म ही है —यह परिशेषावधारण नहीं कर सकते, कारण यह है कि हर्ष का हेतु एक मात्र पुत्र-जन्म ही तो है नहीं, किन्तु पत्नी का सुख-पूर्वक प्रसवादि भी हर्ष के हेतु सम्भव हैं; (अतः "पुत्रस्ते जातः" का सामर्थ्य पुत्र-जन्म में ही कैसे निश्चित होगा ?) । जो लोग कहा करते हैं कि "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति" (खिले कमल के उदर में मधुकर करता है मधुपान)—इस वाक्य के दूसरे पदों का एवं मधुकर पद के उत्तर प्रथमा विभक्ति का

---

[1] द्र० प्र० पं० पृ० ९२ । [2] कार्यताज्ञानलक्षणेत्यर्थः । [3] प्रकरणपञ्चिकास्थे प्रमाणपारायणाख्ये प्रकरणे ९३ पुटे इति यावत् । [4] पुत्रजन्मलक्षणविशेषार्थप्रतिपादकतेत्यर्थः ।

न कार्यपरताव्याकोपः, तादृश्या अपि व्युत्पत्तेर्व्यवहारनिबन्धनप्रथमकार्यव्युत्पत्तिनिबन्धनतया तदानुगुण्येन व्यवस्थानात्, पुत्रस्ते जात इत्यादेश्च सिद्धार्थप्रयोगस्य लाक्षणिकत्वेनाप्युपपत्तेः। परस्परान्वयस्य कार्यान्वयाव्यभिचारात्। पुत्रस्ते जातस्तं पश्येति वक्तव्येऽपि कार्ये, विव्रियतामिति पदावधीरणेन द्वारमिति प्रयोगवत्प्रयोगोपपत्तेः। ननु न कार्यान्विते पदानां

तादृश्या अपीति। सोऽपि हीतरपदानां सङ्गतिं गृहीत्वा तत्समभिव्याहारादस्य सङ्गतिं गृह्णाति। इतरपदानां च व्यवहारबलात्प्रवर्तककार्यान्विते प्रथममेव सङ्गतिर्ग्रहीतव्या। न हि तत्रापि प्रसिद्धपदार्थसमभिव्याहारः शक्यपरिग्रहः; अनवस्थादौस्थ्यात्। तथा चोप[1]जीव्यैकप्रयोजकानुगुण्येनात्राप्यध्याहृतकार्यान्विते शक्तिर्ग्राह्येत्यर्थः। कथं तर्ह्यगृहीतसङ्गतिकानां सिद्धार्थे प्रयोगः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिपदानाम्? तत्राह—पुत्र इति। ननु '[2]अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते' इति लक्षणालक्षणात् अभिधेयकार्यान्वयसंबन्धः सिद्धार्थान्वयस्य लिलक्षयिषितस्य वक्तव्यस्तत्राह—परस्परान्वयस्येति। कार्यान्वयस्य परस्परान्वयविशेषत्वादित्यर्थः। उक्तं च नाथेन—"[3]कार्यान्वयो हि परस्परान्वयाव्यभिचारीत्यविवक्षित्वा कार्यान्वयं परस्परपदार्थान्वयविवक्षयापि लक्षणया लोकः शब्दं प्रयुङ्क्ते" इति। अर्थलक्षणया परिहृत्य वाक्यैकदेश[4]लक्षणया च परिहरति—पुत्रस्ते जात इति। यथा हि द्वारं विव्रियतामिति प्रयोक्तव्ये द्वारमिति वाक्यैकदेशं प्रयुङ्क्ते, न चैतावता विव्रियतामिति नाध्याहरन्ति व्यवहर्तारः, तद्वत्तं पश्येति वक्तव्ये कार्ये, तद्व्यतिरेकेण पुत्रस्ते जात इत्येवं प्रयुङ्क्ते। अध्याहाराच्च वाक्यं पूर्णमित्यर्थः। [5]उक्तप्रयोजकस्य कार्यपदे व्यभिचारं शङ्कते—नन्विति। ननु त[6]स्य योग्येतरान्विताभिधायित्वं भवत्वित्यत आह—योग्येतरेति।

अर्थ जो व्यक्ति जानता है, केवल 'मधुकर' पद का अर्थ नहीं जानता; वह व्यक्ति भी कमलादि प्रसिद्ध पदों के सहयोग से 'मधुकर' शब्द की शक्ति का ग्रहण उस कीट विशेष में कर लेता है, जिसे कमल में रस-पान करते वह देखता है। अतः कार्यानन्वित सिद्ध अर्थ में भी शक्ति-ग्रह होता है। वे लोग यह भूल जाते हैं कि इस दृष्टांत से भी कार्यपरता का विरोध नहीं होता; क्योंकि वहाँ 'मधुकर' पद का शक्ति-ग्रह होता है कमलादि प्रसिद्ध पदों की सहायता से। किन्तु 'कमलादि' पदों का शक्ति-ग्रह तो व्यवहार से ही होगा। प्राथमिक शक्ति-ग्रह के लिए कार्य का अन्वय अनिवार्य है; अतः उसके अनुसार सब कहीं कार्यान्वित में ही शक्ति की व्यवस्था करनी होगी। जहाँ पर कार्य श्रुत नहीं, वहाँ उसका अध्याहार कर लेना होगा। 'पुत्रस्ते जातः'— इस प्रकार के सिद्धार्थ-प्रयोगों की कार्यार्थ में लक्षणा मान लेने पर भी उपपत्ति हो जाती है। (यदि कोई प्रश्न करे कि गङ्गादि पदों की लक्षणा सदैव अपने वाच्यार्थ के अव्यभिचारी तीरादि में हुआ करती है, यहाँ कार्यार्थ में लक्षणा कैसे होगी? तो उसका उत्तर यह है कि) कार्यान्वय भी परस्परपदार्थान्वय का अव्यभिचारी है (अर्थात् यत्र-यत्र कार्यान्वयः, तत्र-तत्र परस्परपदार्थान्वयः; एवं यत्र-यत्र परस्परपदार्थान्वयः, तत्र-तत्र कार्यान्वयः— इस प्रकार कार्यान्वय समव्याप्त है)। अथवा "पुत्रस्ते जातस्तं पश्य"—ऐसा प्रयोग करना चाहिए, किन्तु उसी अर्थ में लोग "पुत्रस्ते जातः"—इतना वैसे ही बोल देते हैं। जैसे कि द्वार खोलिए—इस अर्थ के लिए "द्वारं विव्रियताम्"—यह पूरा प्रयोग न कर के 'द्वारम्'—इतना ही लोग बोल देते हैं। (अर्थात् जैसे—'द्वारम्'–इस पद से आगे 'विव्रियताम्' पद का अध्याहार करके कार्यार्थ का ज्ञान किया जाता है; वैसे ही प्रकृत में 'तं पश्य'–इतना अध्याहार करके कार्यार्थ-बोध करना चाहिए)।

शङ्का—'गामानय यहाँ पर आनयन रूप कार्य से अन्वित है–गौ, अतः उसमें 'गो' पद का

---

[1] कार्यान्वितत्वरूपेत्यर्थः। [2] तं० वा० १।४।१२। [3] प्र० पं० पृ० ९३। [4] द्विविधा हि लक्षणा—अर्थे पदस्यलक्षणा अर्थलक्षणा; वाक्ये वाक्यैकदेशलक्षणा वाक्यलक्षणा। [5] शक्तिमत्त्वस्योक्तं यत्प्रयोजकं कार्यान्वितस्वार्थाभिधायित्वलक्षणं तस्येत्यर्थः। [6] कार्यपदस्येत्यर्थः।

सामर्थ्यमध्यवसातुं शक्यम् कार्यस्य कार्यान्तराभावेन कार्यपदस्य कार्यान्वितस्वार्थाभिधायित्वानुपपत्तेः, योग्येतरान्विताभिधाने च प्रयोजकद्वैविध्यापातादिति चेत्, न; कार्यान्वयान्वयिनि कार्यपरपदार्थान्विते वा पदशक्तिग्रहणाभ्युपगमे प्रयोजकद्वैविध्याप्रसक्तेः।

यत्तु कैश्चिदुच्यते कार्यान्वयान्वयिनि इत्यत्र किं कार्यं बिशेषणमन्वयस्य? किं वोपलक्षणम्? नाद्यः; अन्वयस्य कार्यविशिष्टस्य सम्बन्धद्वयप्रसङ्गात्। युगपच्च कार्यान्वययोर्विशेषणता विशेष्यता चापद्येत। न चैतत्सर्वमुपपन्नम्, अलौकिकत्वात्। नापि द्वितीयः; कार्यस्य शब्दशक्त्य-

---

अनुगतं प्रयोजकं दर्शयन् परिहरति—न कार्येति। कार्यान्वयः कार्यरूपोऽन्वयःस्तदन्वयि तदाधारः, स एव कार्यमितरच्च भवति संबन्धस्य द्वयाधारत्वात्। तत्र सामर्थ्यं सर्वपदानामस्ति च कार्यपदस्येत्यर्थः। नयविवेककारोक्तं प्रयोजकमाह—कार्यपरेति। कार्यपरं यत्पदं तस्य योऽर्थः तेनान्विते सामर्थ्यमिति। तथा च न प्रयोजकभेदः, कार्यपदस्यापि कार्यपरगवादिपदार्थान्वितकार्यशक्तित्वादितरेषामपि कार्यपरलिङादिपदाभिधेयकार्यान्वितगवादिनिष्ठशक्तित्वादित्यर्थः।

अत्र रत्नदीपावलीकृतः प्रथमं प्रयोजकं दूषयांबभूवुः, तदनुवदति—यत्त्वित्यादिना। संबन्धद्वयप्रसङ्गादिति। कार्यान्वयेत्यत्रैकः संबन्धस्तदन्वयीत्यत्रापर इत्यर्थः। किं च कार्यान्वयेत्यत्र कार्यस्य विशेषणत्वमन्वयस्य च विशेष्यत्वम्, अन्वयीत्यत्र चान्वयस्य विशेषणत्वं कार्यस्य विशेष्यत्वमिति युगपदेव विशेषणत्वविशेष्यत्वे प्रत्येकमनयोरन्योन्यापेक्षया स्यातामित्याह—युगपच्चेति। उभयमप्यस्तु, को दोषः? इत्यत आह—न चेति। शक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति। विशेषणस्यैव क्रियान्वयित्वनियमात्कार्यस्य च विशेषण-

---

शक्ति-ग्रह हो जायगा; किन्तु आनयनरूप कार्यार्थ, अन्य किसी कार्य से अन्वित है नहीं, अतः उसकी वाचकता 'आनय' पद में कैसे रहेगी? यदि अन्य कार्यानन्वित आनयन की ही 'आनय' पद में वाचकता मान लें, तब तो सभी पदों में कार्यान्वित स्वार्थ की वाचकता का नियम भंग हो जाता है। यदि कहा जाय कि आनयनरूप कार्यार्थ यद्यपि अन्य कार्य से अन्वित नहीं; तथापि योग्य इतर गोरूप-अर्थ से अन्वित होने के कारण उसकी वाचकता 'आनय' पद में मान लेंगे। तो यह कहना युक्त न होगा; क्योंकि तब तो किसी पद में कार्यान्वित स्वार्थ की वाचकता और किसी पद में योग्य इतर अर्थ से अन्वित स्वार्थ की वाचकता—इस प्रकार दो प्रयोजक मानने पड़ेंगे।

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं; क्योंकि कार्य-निरूपित अन्वय के सम्बन्धी, अथवा कार्यपरक पद के अर्थ से अन्वित, स्वार्थ में सभी पदों की शक्ति मानने पर दो प्रकार का प्रयोजक नहीं मानना पड़ता। [वस्तुतः प्राभाकर-सिद्धान्त में लिङादि कार्यार्थ के ही वाचक हैं कार्यान्वित के नहीं और दूसरे पद कार्यान्वित के वाचक हैं। शालिकनाथ ने ऐसा ही कहा है—"तत्रापि कश्चिच्छब्दः साक्षादेव कार्यप्रतिपादकतया व्युत्पद्यते, कश्चिच्च कार्यान्वितस्वार्थपरतया" (प्र० पं० पृ० ९२) इसी का समर्थन भवनाथ ने भी किया है—"कार्यान्वितस्वार्थाभिधानेऽन्येषाम्, लिङादिस्तु कार्याभिधाने व्युत्पद्यते"—न० वि० पृ० ४४]

शङ्का—कुछ लोग जो ऐसा कहा करते हैं कि 'कार्यान्वयान्वयी'—यहाँ पर कार्य, अन्वय का विशेषण है? कि उपलक्षण? प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि कार्य को विशेषण मानने पर कार्य-विशिष्ट अन्वय का अन्वय कार्यार्थ के साथ करना होगा (अर्थात् गौ को कार्यान्वयान्वयी नाने के लिए उसके साथ कार्य-विशिष्ट अन्वय का अन्वय करना होता है। वैसे ही आनयन रूप कार्यार्थ को भी कार्यान्वयान्वयी बनाने के लिये उसके साथ कार्य-विशिष्ट अन्वय का अन्वय करना होगा) तब तो दो सम्बन्ध (एक कार्य का अन्वय और दूसरा उस अन्वय का अन्वय) मानने पड़ेंगे। एवं वही कार्य, अन्वय का विशेषण भी और वही अन्वय का विशेष्य भी मानना होगा। इस प्रकार के दो-दो सम्बन्धादि बन नहीं सकते, क्योंकि लोक में ऐसा कहीं देखा नहीं जाता। द्वितीय (उपलक्षण) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि

गोचरत्वप्रसङ्गादिति, तदसत् ; कार्यान्वयान्वयिनीति कार्यस्य संबन्धव्यावर्तकमात्रतया विवक्षितत्वात् । तत्र यथा गवादिपदार्थानामकार्यरूपाणां तत्संबन्धनिरूपकता तथैव कार्यस्यापि, संबन्धस्योभयनिष्ठत्वात् । इतरथा[1] योग्येतरान्वयपक्षेऽप्यन्वययोग्येनेतरेणान्वयस्य विवक्षितत्वात्, अन्वयस्य विशेषणोपलक्षणपक्षयोरुक्तदोषानुषङ्गस्तुल्य एव स्यात् । उपलक्षणपक्षेऽपि कार्यस्य शब्दशक्तिविषयत्वं न व्याहन्यते, कार्योपलक्षितत्वस्यान्वयविशेषणतया कार्यस्यापि परम्परया शब्दशक्तिप्रतियोगित्वोपपत्तेः । एवमनभ्युपगच्छतः स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्येवमादिलक्षणमपि न निर्वहति ; प्रच्युतेः कार्यानन्वये[2] सत्तायोगित्वमात्रस्यैव लक्षणत्वादात्मादेरप्यनित्यत्वापत्तेः । स्वयमेव[3] चानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाश इति प्रतिज्ञाय

त्वाभावात् अन्वयवत एव शक्तिगोचरत्वं न तु कार्यस्येत्यर्थः । तदेतत्परिहरति—तदसदिति । नात्र कार्यस्यान्वयं प्रति विशेषणत्वोपलक्षणत्वे विवक्षिते अपितूभयानुगतव्यावर्तकत्वमात्रं विवक्षितम् । नचैतदसिद्धमित्याह—**तत्र यथेति** । कार्यतदितरसंबन्धस्योभयनिष्ठत्वादितरवदेव कार्यमपि निरूपकमित्यर्थः । एतदेव प्रतिबन्द्या साधयति--**इतरथेति** । योग्येतर इत्यत्रान्वयं प्रतीति वक्तव्यम्, यत्किंचिद्योग्यताया अन्वयानुपपादकत्वात् । तथा चान्वययोग्येनेतरेणान्वित इत्यत्राप्यन्वययोग्यान्वययोरुक्तदूषणानतिवृत्तिः, अन्वयविशेषितयोग्यविशेषितत्वात् । अन्वयस्योपलक्षणत्वे त्वभिहितान्वयवादत्वापात इत्यर्थः । एतेन व्यावर्तकत्वप्रयुक्तदोषोऽपि परिहृत इत्यभिप्रायः ।

विशेषविवक्षायामप्युपलक्षणपक्षे न दोष. इत्याह—**उपलक्षणपक्षेऽपीति** । कार्योपलक्षितोऽन्वय इति कोऽर्थः ? कार्यविशेषितोपलक्षितत्वविशेषितोऽन्वय इति । न चोपलक्षितत्वमप्युपलक्षणमेव ; अनवस्थानात् । ततश्च परम्परया कार्यस्याप्यन्वयशरीरविनिवेशितया शब्दशक्तिगोचरत्वमित्यर्थः । यदि चोपलक्षणत्वापराधादेवात्यन्तमननुप्रवेश इत्याशयः ; तर्ह्यनित्यत्वलक्षणमपि न सिद्ध्येत् । तत्र हि स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति लक्षणे प्रच्युतेर्विनाशस्योपलक्षणतया सत्तानन्वयात् केवलसत्तायोगित्वमनित्यत्वमपि स्यात् । तथा चात्मादेरनित्यत्वमित्यतिव्याप्तिस्तदेतदाह—**एवमनभ्युपगच्छत इति** । कार्ये लक्षणम् । इष्टप्रसङ्गतां परिहरति—**स्वयमेवेति** । सिद्धे व्युत्पत्तिदूषणेन कार्यव्युत्पत्तिसमर्थनेन च तर्कबाधविपक्ष-

---

तब तो कार्योपलक्षित अन्वय के अन्वयी में शब्द की शक्ति माननी होगी । उपलक्षण होने से कार्यार्थ शक्यकोटि से बाहर ही पड़ा है; अतः वह शब्द-शक्ति की विषयता से वञ्चित रह जायगा ।

समाधान—उन लोगों का यह कहना नितान्त असंगत है; क्योंकि हम कार्य को न तो विशेषण ही मानते हैं और न उपलक्षण ; अपितु सम्बन्ध (अन्वय) का व्यावर्तक मात्र मानते हैं । अर्थात् वहाँ जैसे अकार्य रूप गो-आदि पदार्थों को सम्बन्ध (अन्वय) का निरूपक (व्यावर्तक) मानते हैं, वैसे ही कार्य को भी ; क्योंकि सम्बन्ध सदैव उभय-निष्ठ होता है, अतः दोनों उसके निरूपक माने जाते हैं । अन्यथा योग्येतरान्वय-पक्ष में भी अन्वय के योग्य इतर (अन्य) के साथ अन्वय करने में भी वही दोषारोपण होगा, जो कि विशेषण और उपलक्षण पक्षों में किया गया है । उपलक्षण पक्ष में भी कार्य, शब्द-शक्ति-विषयता से वञ्चित नहीं रहता ; क्योंकि कार्योपलक्षितत्व को अन्वय का विशेषण मानते हैं, अतः कार्य में भी परम्परया शब्द-शक्ति-विषयता बन जायगी । अन्यथा (उपलक्षण हो जाने से ही कार्य को शब्द-शक्ति से बाहर निकाल देने पर) 'स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वम्' (स्वनाशोपलक्षितसत्ता-योगित्व)—यह अनित्यत्व का लक्षण भी नहीं बनेगा; क्योंकि उपलक्षण होने के कारण प्रच्युति (नाश) को लक्षण-कोटि से निकाल देने पर 'सत्ता-योगित्व'—इतना ही अनित्यत्व का लक्षण रह जाता है, फिर तो आत्मादि में भी अनित्यत्व की प्राप्ति होगी । स्वयं आपने

---

१. सम्बन्धव्यावर्तकतामात्रानङ्गीकारे । २. अनित्यत्वरूपविधेयानन्वये । ३. स्वकीयग्रन्थे निबद्धत्वादित्यन्वयः

मोक्षदशायां व्यवहारहेतुत्वाभावात् लक्षणस्याव्याप्तिमाशङ्क्य व्यवहारहेतुत्वमुपलक्षणमित्यङ्गीकृत्योपलक्षितत्वमपि क्वचित्साध्यं यथा विनाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति स्वकीयग्रन्थे निवद्धत्वात्। एतेन विवादपदानि पदानि न कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमन्ति पदत्वात् कार्यपदवदित्यनुमानमपास्तम्; विशेषणोपलक्षणपक्षयोरुक्तदूषणोद्धरणात् कार्यवदस्यापि कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमत्त्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादपदानि पदानि कार्यपराणि पदत्वात्कार्यपदवदिति प्रयोगसंभवाच्च। न च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिपदेषु व्यभिचारः; तेषामपि द्रष्टव्य इत्यादिविधिशेषतया कार्यपरत्वात्। तदेवं सकलपदानां कार्यपरत्वान्न सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां प्रामाण्यमिति।

बाधकतर्काभावाभ्यामनुमानमपि दूषितमित्याह—**एतेनेति**। यजेतेत्यादौ लिङादिव्यवच्छेदाय विवादपदग्रहणम्; इतरथा दृष्टान्तासिद्धेः। दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं चाह—**कार्यपदस्यापीति**। विशेषणोपलक्षणेत्येतदादिर्वायं ग्रन्थः। स्वपक्षेऽनुमानं दर्शयन् बाधमप्याह—**विवादपदानीति**। [2]कार्यभावार्थपदयोः सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विवादपदग्रहणम्। ननु 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादीनि पदानि सिद्धब्रह्मस्वरूपपर्यवसितानि, विध्यश्रवणात्, विधिसन्निधिश्रवणाभावाच्च। द्रष्टव्य इत्यादेश्च विधित्वं न संभवति। उपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा संस्कारार्हम्, यथाहुः—'[3]भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हती'ति। न चात्र प्रोक्षितव्रीहीणामिव विज्ञानसंस्कृतस्यात्मनः क्वचित्क्रतौ विनियोक्ष्यमाणत्वम्। शुद्धबुद्धब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानस्य समस्तप्रवृत्तिविरोधित्वात्। नापि कृष्णविषाणादिवद्विनियुक्तत्वम्, येन चात्वालप्रासनेनेव ज्ञानेनात्मा संस्क्रियते। नापि सुवर्णं भार्यमित्यत्र सुवर्णेन बिभृयादितिवदात्मना पश्येदिति विनियोगभङ्गः; दर्शनस्य प्रमाणपराधीनतयाऽविधेयत्वात्। साक्षात्कारस्य फलतया विधानानर्हत्वात्। विधिपरत्वे च ब्रह्मासिद्धेः, अतिस्पष्टो व्यभिचार इति तत्राह—**न च विज्ञानमिति**। अयमभिसन्धिः—यद्यपि यथाश्रुते संस्कारपक्षोऽनुपपन्नस्तथापि सुवर्णभरणसक्तुहोमादिवद्विनियोगभङ्गे न किंचिदस्ति बाधकम्। न च दर्शनाविधेयत्वं बाधकम्; ध्यानत्वात्तस्य विधेयत्वमायुष्मताप्यनुमन्यते। यथाह श्रुतिः—'निदिध्यासितव्यः' इति। न च ब्रह्मासिद्धिः; यूपादिवत्तत्सिद्धेरपि संभवात्। ततस्तद्विधिविषयापेक्षितमात्मानं सत्यज्ञानादिरूपं समर्थयन्ति सन्त्यमूनि पदानि न कार्यपरतामतिवर्तन्ते। सर्ववेदान्तप्रत्ययतया चाश्रूयमाणस्थलेष्वपि समर्थयन्त्येव विधिमिति। उपसंहरति—**तदेवमिति**।

अनुभूति, अनुभूति-व्यवहार का हेतुभूत प्रकाश है–ऐसी स्वयंप्रकाशत्व की प्रतिज्ञा की, पश्चात् मोक्षदशा में व्यवहार हेतुत्व न रहने से लक्षण की अव्याप्ति की आशंका करके व्यवहार-हेतुत्व को उपलक्षण मानकर, उपलक्षितत्व भी कहीं-कहीं साध्य रहा करता है, जैसे—विनाशोपलक्षितसत्ता-योगित्व—इस प्रकार अपने ग्रंथ में लिख रखा है। इसी से 'विवादास्पद पद, कार्यान्वय के अन्वयी में शक्तिमान् नहीं, पद होने से, जैसे कार्यपद'–यह अनुमान भी निरस्त हो जाता है; क्योंकि विशेषण और उपलक्षण पक्ष के दोषों का निराकरण कर दिया गया है। 'कार्य' पद भी कार्यान्वय के अन्वयी में शक्तिमान् होने से दृष्टान्त साध्यविकल भी है। एवं 'विवादास्पद पद, कार्यपरक हैं, पद होने से, जैसे–'कार्य'पद'—यह सत्प्रतिक्ष दिया जा सकता है। 'पदत्व' हेतु "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"–आदि सिद्धार्थक पदों में व्यभिचारी है–ऐसी शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि उक्त पद भी "द्रष्टव्यः"–इस विधि के अङ्ग होने से कार्यपरक ही हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि समस्त पद कार्यपरक हैं, अतः सिद्ध ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य नहीं बन सकता।

---

१. विधेयमित्यर्थः। २. नियोगशक्तधात्वर्थशक्तपदयोरित्यर्थः। ३. तं० वा० २।१।१२। ४. यथाऽत्रसुवर्णस्य कारणत्वेन भरणसम्पादकत्वम्, तथाऽत्मनोऽपि दर्शनसम्पादकदर्शनसम्पादकत्वमित्यर्थः। ५. प्रथमास्थाने

अत्रोच्यते—न तावत्सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्त्यसंभवः। प्रागुन्नीतन्यायेन पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यादपि व्युत्पत्तिसंभवान्। न च तत्र पारिशेष्यावधारणानुपपत्तिः ; यतः—

दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा।
वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः ॥ १६ ॥

यो हि परिदृष्टचैत्रप्रहर्षहेतुपुत्रजन्मा पुत्रपदालिप्तकुङ्कमाङ्कितपटप्रदर्शकेन वार्ताहारेण सह चैत्रसकाशं गतः, तस्य दिष्ट्या वर्धसे चैत्र ! पुत्रस्ते जात इति वार्ताहारव्याहारश्रवणसमनन्तरं समुन्मीलत्पुलकसकलकलेवरमुत्फुल्लगण्डयुगलमुल्लसितनयनयुगलं चैत्रमवलोकयतस्तत्प्रमोदलिङ्गेन स एव नूनमनेन मदवलोकितः सुतसंभवः प्रमोदहेतुरेतस्माद्वाक्यादधिगत इति परिशेषावधारणोपपत्तेः। न च प्रियासुखप्रसवस्यापि संभवात्परिशेषावधारणानुपपत्तिः; पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियासुखप्रसवसूचकाभावात्। न च विद्यमानतामात्रेण तत्रापि शङ्कावकाशः;

प्राथमिकव्युत्पत्तौ सिद्धे सिद्धायां प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात् व्युत्पत्तिः स्वत एव सिध्यतीति तां समर्थयते—न तावदित्यादिना। परिशेषोपपत्तिं श्लोकेनोपनिबध्नाति—दृष्टेत्यादिना। दृष्टा चैत्रसुतोत्पत्तिर्येन तस्य दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदेन तस्य पुत्रस्य पदेनाङ्कितं चिह्नितं वासो वस्त्रं यस्य हस्तेऽसौ तत्पदाङ्कितवासास्तेन तत्पदाङ्कितवाससा वार्ताहारेण सह यातस्याविदितार्थभाषस्य च पुंसः परिशेषविनिश्चितेः संभवादित्यर्थः। अत्र च विज्ञातपुत्रजन्म विहायाविज्ञातहर्षहेतुकल्पनमयुक्तमिति दर्शयितुं दृष्टेत्यादिविशेषणम्, विज्ञातादपि प्रियासुखप्रसवाद्विशेषदर्शनार्थं तत्पदाङ्कितेति। अस्यैव श्लोकस्यार्थं विवृणोति—यो हीत्यादिना। यत्तु तत्पदाङ्कितवाससेति विशेषणस्य प्रयोजनमुक्तं तद्दर्शयति शङ्कानिरासपूर्वकम्—न च प्रियेति। तत्र किं पुत्रजन्मैव तत्सूचकम्? किं वान्यत्? आहो संभावनामात्रात्तच्छङ्का? आद्ये प्रथमप्रतीतपुत्रजन्मपरित्यागे कारणाभावात् तत्रैव सङ्गतिग्रहो युक्तः। द्वितीयं निषेधति—पुत्रपदाङ्कितेति। तृतीयं निषेधति—न च विद्यमानतेति। विशेषनिर्णयकारणाभावेऽपि संभावनामात्रेण चेद्विपरीतशङ्कोदयस्तर्हि गवानयनवदेव छत्राद्यानयनमपि तेन क्रियते इति तेषामपि शब्दार्थताशङ्क्या अनिर्णयः स्यादित्यर्थः। एतेन तदपि निरस्तम्। यदाह भवनाथः—'नच स्वाधिगततत्प्रिये तद्धीरिंति क्लृप्तत्वादवधृतिस्तत्रैवानेकस्य संभवात् सुतो जातः, सूता ते सुखं प्रियेत्यादेरिति, एवं सिद्धे प्राथ-

---

उत्तरपक्ष—सिद्धार्थ में प्राथमिक संगतिग्रह असम्भव नहीं ; क्योंकि पूर्वोक्त न्याय से "पुत्रस्ते जातः"–आदि वाक्यों से भी शक्तिग्रहण हो सकता है। यह जो कहा था कि वहाँ पुत्र-जन्म रूप हर्ष-हेतु का परिशेषावधारण नहीं हो सकता, वह कहना उचित नहीं; क्योंकि 'जो व्यक्ति चैत्र के पुत्र की उत्पति देख, पुत्र-पद-चिह्नित वस्त्र लिये आते हुए सन्देश-वाहक के साथ-साथ चैत्र के समीप आया है, वह व्यक्ति चैत्र की प्रसन्नता के एकमात्र हर्ष-हेतु (पुत्र-जन्म) का निश्चय क्यों न कर लेगा ? क्योंकि जब वह देखेगा कि संदेश-वाहक के "दिष्ट्या वर्धसे चैत्र ! पुत्रस्ते जातः"–इन शब्दों को सुनते ही चैत्र का पूर्ण कलेवर पुलकित हो गया, दोनों गालों पर हर्ष की लहरियाँ थिरक उठीं और नेत्र कमल विकसित हो गये हैं। तब चैत्र के इस प्रमोद-चिन्हों से तुरंत अनुमान कर लेगा कि निश्चित ही वही पुत्र-जन्म इसके हर्ष का कारण है, जिसे मैं देख कर आया हूँ। यदि कहें कि स्त्री के सुखपूर्वक प्रसवादि भी इसके हर्ष के हेतु सम्भव हैं, अतः पारिशेष्यावधारण न हो सकेगा; तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि जैसे पुत्र-पद-चिन्हित वस्त्र देखता है वैसे सुख-प्रसव का चिन्ह कोई नहीं देख रहा है। यदि कहें कि सुख प्रसव की भी उपस्थिति है–एतावता शङ्का हो सकती

तृतीयाकल्पनमितियावत्—द्र० पू० मी० ३।४।८। १. नय० वि० ४४ पुटे, स्वेन (व्युत्पित्सुना) अधिगतं यत् देवदत्तस्य प्रियम् (पुत्रजन्म) तस्मिन् (पुत्रजन्मनि) तस्य (पितुः, तस्माद्वाक्यात् ?

कार्येऽप्युपानच्छत्रदण्डाद्याहरणलक्षणावान्तरकार्यदर्शनेन शङ्काप्रसरस्य दुर्निवारत्वात् । एवमुक्तरीत्या सिद्धेऽपि प्राथमिकव्युत्पत्तेः संभवात्प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारनिबन्धनव्युत्पत्तावपि सिद्धार्थपरता न व्याहन्यते, मुख्यार्थविषयतया सिद्धेऽपि प्रयोगयोगे लाक्षणिकत्वकल्पनानुपपत्तेः ।

नच प्रथमावगतकार्यान्वयानुरोधेन लक्षणाश्रयणम् ; प्रथममपि 'पुत्रस्ते देशान्तरादागतः' 'पुत्रस्ते गच्छति,' 'पुत्रस्ते सुखी,' 'पुत्रस्ते निरामयः' इत्यादिप्रयोगेष्वावापोद्धाराभ्यां पुत्रादिपदानां स्वस्वार्थे व्युत्पत्तेरुपपत्तेः । प्रथमव्युत्पत्त्यनुसारेण च लक्षणाश्रयणे लोके भावार्थकार्ये व्युत्पत्तेर्वेदे तदसंभवात्, यजेतेत्यादिशब्दानामबोधकताप्रसङ्गः । कामाधिकारे च प्रथमं

मिकव्युत्पत्तिसमर्थनेन तत्पूर्वकप्रसिद्धार्थसमभिव्याहारनिबन्धनव्युत्पत्तिरपि समर्थितेत्याह—एवमुक्तरीत्येति । यत्तु सिद्धार्थपरपदप्रयोगो लाक्षणिक इत्युक्तम्, तत्राह—मुख्यार्थेति ।

ननु प्रथमं प्रयोक्तुः व्युत्पत्तिकाले पुत्रादिपदानामावापोद्धारेण कार्यान्वितस्वार्थे सङ्गतिग्रहः पुत्रं पश्येत्यादिकार्यवाक्येषु कृतस्तदनुरोधात्स्वप्रयोगसमयेऽपि सिद्धार्थप्रयोगो लाक्षणिक इति तत्राह–न च प्रथमेति । इत्यादिप्रयोगेष्विति । सिद्धार्थप्रयोगेष्वित्यर्थः । किंच प्रथमं योग्येतरविशेषकार्यान्विते व्युत्पन्नस्यान्यत्र योग्येतरमात्रान्विते प्रयोगो लाक्षणिक इति यदि ब्रूषे, तर्हि लोके धात्वर्थात्मककार्ये व्युत्पन्नस्य वेदे तस्य लाक्षणिकतया कार्यतानङ्गीकारात् लिङादेर्लाक्षणिकत्वं प्रसज्येत । तथा काम्यनियोगे फलदातृनियोगे व्युत्पन्नस्य नित्येषु लाक्षणिकतापातः । तथा नित्यनैमित्तिकविधिषु स्वतन्त्रकार्ये गृहीतसङ्गतिकस्य तदङ्गप्रया-

---

है ; तब तो कार्य-स्थल पर भी नौकर जैसे गौ ला रहा है, वैसे ही जूता, छत्र, दण्डादि भी ला रहा है, अतः उसमें भी शब्द-शक्यता की शङ्का होने लगेगी । इस प्रकार सिद्धार्थ में भी प्राथमिक व्युत्पत्ति ही सम्भव है । "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति"—आदि वाक्यों में प्रसिद्धपद के सन्निध्य से भी व्युत्पत्ति होने पर सिद्धार्थ-बोधकता अव्याहत है । (यह जो कहा था कि ऐसे वाक्यों को लाक्षणिक माना जाता है; वह कहना भी अनुचित है ; क्योंकि) जब मुख्य अर्थ में प्रयोग बाधित हो, तब लक्षणा मानी जाती है । यहाँ सिद्ध रूप मुख्यार्थ में किसी प्रकार का बाधादि नहीं, अतः लाक्षणिकत्व की कल्पना नहीं बन सकती ।

पुत्रादि पदों की प्राथमिक शक्ति कार्यान्वित स्वार्थ में हुई है—इसके अनुरोध से भी सदैव लक्षणा मानते रहना भी उचित नहीं ; क्योंकि प्रथम-समय भी "पुत्रस्ते देशान्तरादागतः" (आपका पुत्र विदेश से आया),—"पुत्रस्ते गच्छति" (आपका पुत्र जाता है), "पुत्रस्ते सुखी" (आपका पुत्र सुखी है), "पुत्रस्ते निरामयः" (आपका पुत्र नीरोग है)—आदि प्रयोगों में आवाप-उद्धार (कुछ पदों के बढ़ाव-घटाव) के द्वारा पुत्रादि पदों का अपने-अपने अर्थ में शक्ति-ग्रह बन जाता है (अर्थात् जिस पद के बढ़ जाने से जो अर्थ बढ़ जाता है और घट जाने से घट जाता है, उसमें उसकी शक्ति का निश्चय हो जाता है) । प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार सब लक्षणा करने पर यजेतादि वैदिक शब्दों में अबोधकता आ जायगी ; क्योंकि उनकी प्रथम व्युत्पत्ति लोक-प्रसिद्ध धात्वर्थ रूप कार्य में ही होती है ; (नियोगरूप वैदिक कार्य में हो नहीं सकती, कारण यह है कि नियोग या अपूर्व लोक में प्रसिद्ध नहीं, अतः नियोगरूप कार्य में लिङादि की लक्षणा भी नहीं हो सकती, फिर तो वैदिक यजेतादि किसके बोधक होंगे ? जिस लौकिक कार्य में उनकी शक्ति है) उसे वेद में कार्य नहीं माना जाता । एवं काम्य नियोग में यदि लिङादि की प्राथमिक व्युत्पत्ति हुई, तब नित्यादि

धीरिति विशेषावधृतिः सम्भवति पुत्रजन्मनः वत्सत्वादिति न वाच्यमित्यन्वयः । कुतः ? इत्यत आह—तत्रैव चेति । अनेकसम्भवमेव दर्शयति–सुत इति (न्या०म० १६३ पुटे चित्सुखव्याख्या) । १. काम्यनियोगे

कामसाधने नियोगे लिङादिपदानां व्युत्पत्तेः, नित्यनैमित्तिकाधिकारे लाक्षणिको लिङादिप्रयोगः स्यात्। एवं नित्यनैमित्तिकयोः स्वतन्त्रकार्ये पदशक्त्यधिगतेरङ्गवाक्ये परार्थकार्ये लिङादिपदप्रयोगो मुख्यो न स्यात्।

जादिषु परतन्त्रकार्ये लाक्षणिकतापातः। यद्यप्यनुवादाशङ्कया न झटिति नियोगान्तरबोधकत्वमङ्गवाक्यगतलिङादेरिति प्राभाकरराद्धान्तस्तथाप्यङ्गनियोगाभिधायित्वमिष्यत एवारादुपकारकाङ्गवाक्येषु, इतरथा तदुपकारासंभवाद्, अनन्यविषयत्वाच्च। सन्निपत्योपकारकेषु[1] तदुभयाभावादनुवादकत्वमेवेति तदेतदाह—प्रथमव्युत्पत्तीत्यादिना। अबोधकतेति। अपूर्वस्य वाच्यभावार्थसंबन्धादृष्टेर्लक्ष्यत्वस्याप्यभावादित्यर्थः।

कर्म-जन्य नियोग में लिङादि लाक्षणिक हो जायँगे, तथा नित्य कर्म-जन्य स्वतन्त्र नियोग में यदि लिङादि व्युत्पन्न हुए, तब प्रयाजादि अङ्ग-वाक्यों में परतन्त्र नियोग में लाक्षणिक ही होंगे।

[प्रभाकर का कहना है कि "व्यवहारार्थत्वात् प्रयोगस्य, विशेषात्मकत्वाच्च व्यवहारस्य, अन्विताबगतिरेव तदर्थानाम्" (बृ० १।१।२५) अर्थात् लोक-व्यवहार के लिए शब्द प्रयोग हुआ करता है, व्यवहार सदा अन्वितार्थ में ही होता है, अतः प्रयोग के बल पर यही सिद्ध होता है कि 'पद' अन्वितार्थ के ही वाचक होते हैं। घटादि पद सुनने के अनन्तर जो केवल (अनन्वित) घट, बुद्धि में उतरता है; वह स्मरण होता है, शब्द-जन्य नहीं। वस्तुतः स्मरण भी केवल पदार्थ का नहीं होता, अपितु "शुक्लो गुणो, गुण्यन्वितः, शुक्लपदाभिधेयोऽयम्" (यह शुक्ल गुण, गुणी से अन्वित एवं शुक्ल पद-वाच्य है—ऋ. वि. वाक्याधि०) इस प्रकार अन्वित का ही स्मरण होता है। अन्वित में शक्ति मानने से क्या लाभ होगा ? स्वयं प्रभाकर ने कहा है—"किमेवं भविष्यति ? कार्याभिधायिता नियोगस्यावगता।" अर्थात् स्वर्ग-कामना वाले नियोज्य के साथ अन्वय-योग्य कार्य, क्षणिक यागादि क्रिया नहीं हो सकती, अतः कुछ स्थायी नियोग में ही नियोज्य की कार्यता का ज्ञान लिङादि से होगा। इत्थम्—

"कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम्। प्रवृत्त्यव्यभिचारित्वाल्लिङाद्यर्थोऽवधार्यते॥" (प्र. पं. वाक्यार्थ०)

सकल प्रवर्तक वाक्यों में लिङादि का प्रयोग और सकल प्रवृत्तियों में कार्यार्थ का अव्यभिचार देखकर कार्यार्थ में लिङादि की शक्ति का निर्णय हो ही जाता है। कार्य क्या है ? इसका उत्तर आचार्य शालिकनाथ के शब्दों में यह है—

"कृतिसाध्यं प्रधानं यत् तत्कार्यमवसीयते। तच्च मानान्तरेणापि वेद्यमोदनपाकवत्।" (प्र.पं.वाक्यार्थ०)

अर्थात् जिसके उद्देश्य से प्रयत्न किया जाय और जो प्रयत्न के प्रति प्रधान हो, उसे कार्य कहते हैं, जैसे—ओदन-पाक। इसी कार्यार्थ का वेद में नाम-करण किया जाता है 'अपूर्व'—

"तस्माल्लोकानुसारेण व्युत्पत्तिः कार्यमात्रके। तस्य त्वपूर्वरूपत्वं वेदवाक्यानुसारतः॥" (प्र.पं.वाक्यार्थ०)

अपूर्व ही पुरुष का नियोजक होने से नियोग कहलाता है—

"कार्यत्वेन नियोज्यं च स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ। नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते॥"(प्र.पं.वाक्यार्थ०)

इसी नियोग में वैदिक लिङादि का मुख्य प्रयोग होता है और दानादि क्रियारूप कार्य में लक्षणा; क्योंकि अपूर्व निष्ठ कार्यता की अव्यभिचारिणी है क्रिया-निष्ठ कार्यता। अर्थात् क्रिया जब तक असिद्ध है, तब तक वह कार्य (कृतिसाध्य) है और जब वह सिद्ध होगी, तभी अपूर्व का साधक बनेगी—

"अपूर्वं हि क्रियासाध्यं साधिता साधनं क्रिया। तस्मादपूर्वसाध्यत्वं क्रियासाध्यत्वसङ्गतम्॥

इत्यस्यैव विवरणमेतत्। फलजनकनियोगाख्यकार्ये इत्यर्थः। १. सन्निपत्योपकारकविधायकवाक्येष्वित्यर्थः। कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म, सन्निपत्योपकारकम्; यथा—अवघातप्रोक्षणादयः। द्रव्यादिसंस्कारमन्तरा साक्षादुपकारकं कर्म, आरादुपकारकम्; यथा—प्रयाजादयः। (जै. सू, २।१।७,८)

अथावधीरितभावार्थकामसाधनस्वतन्त्रविशेषं कार्यमात्रं व्युत्पत्तिगोचरः, सर्वत्र तस्याव्यभिचारात् लाघवाच्चेति मतम्, तर्हीहापि योग्येतरान्विते पदशक्तेरव्यभिचाराल्लाघवाच्चेति समः समाधिः। एवं च सति कार्यान्वयान्वयिनि पदशक्तिरित्यपास्तम्; अन्वितमात्रस्यप्रयोजकत्वे संभवति कार्यान्वयान्वयिनीति कल्पनायां गौरवात्। न च कार्यपरपदार्थान्वितस्वार्थे शक्तिः; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—कार्यपरत्वं पदधर्मः? किं वा पदार्थधर्मः? नाद्यः; सर्वपदानां लिङादिपदवत्कार्यपरत्वे पर्यायतापत्तेः। अथ पर्यायतापरिहाराय मुख्यगौणसाक्षात्प-

---

अथ तेषां संग्रहायानुगतरूपे व्युत्पत्तिरिति ब्रूषे? तर्हि सर्वसंग्रहार्थं योग्येतरान्विते व्युत्पत्तिरित्येव स्वीकुरु, सर्वानुगतप्रयोजकलाभात् लाघवाच्चेत्याह—**अथावधीरितेति**। अवधीरितः परित्यक्तः भावार्थरूपकामसाधनादिविशेषो येन तत्तथोक्तम्। एवं सतीत्यस्यैव विवरणमन्वितमात्रस्येति। द्वितीयं प्रयोजकं दूषयति—**न चेति**। किं कार्यपरं यत्पदं तदर्थेनान्वित इति विवक्षितम्? उत कार्यपरो यः पदार्थस्तदन्वित इति विवक्षितम्? इति विकल्प्य आद्यं दूषयति—**सर्वपदानामिति**। ननु कार्यपरत्वेऽपि न

प्रमाणान्तरगम्यं हि लोकः शब्दैर्विवक्षति।
क्रियाकार्यत्व एवातः प्रयोगो लक्षणान्वितः॥" (प्र. पं. वाक्यार्थ०)

प्रभाकर के इस सिद्धान्त पर आचार्य चित्सुखाचार्य का कहना है कि प्रथम व्युत्पत्ति व्यवहाराधीन आप मानते हैं। लिङादि का व्यवहार तो अपूर्वरूप कार्य में न होकर क्रियारूप कार्य में ही होता है। उस क्रियारूप कार्य को वेद में मुख्य कार्य नहीं कहा जाता, अतः वैदिक लिङादि किसी अर्थ के वाचक ही न होंगे। जब वाचक ही नहीं, तब लक्षक भी कैसे होंगे? यदि अपूर्व में किसी प्रकार शक्ति मान भी ली जाय, तब किस अपूर्व में? काम्यापूर्व में? या नित्यापूर्व में? या अङ्गापूर्व में? सभी अपूर्वों का स्वभाव विलक्षण है, अतः किसी एक अपूर्व लिङादि की शक्ति है—इसमें विनिगमक कोई नहीं। किसी एक में शक्ति मानें, तब दूसरों में लक्षणा माननी होगी, किन्तु आप सभी अपूर्वों में वाच्यता ही मानते हैं]।

यदि कहा जाय कि भावार्थ (धात्वर्थ रूप क्रिया) स्वरूप कार्य, काम्यापूर्वरूप कार्य, स्वतन्त्रापूर्व (नित्यापूर्व) रूप कार्य—इन कार्यों की विशेषताओं को छोड़कर सर्वानुगतरूप कार्यरूपता मात्र में शक्ति मानेंगे; क्योंकि वह सभी कार्यों भी अव्यभिचरित है और इस पक्ष में लाघव भी है। तो यहाँ भी योग्येतर पदार्थ से अन्वित स्वार्थ में पद की शक्ति मानने वाला भी वही समाधान कर सकता था कि अव्यभिचार तथा लाघव होने से यही पक्ष उचित है। इस प्रकार कार्य-अन्वय के अन्वयी में शक्ति-पक्ष भी निरस्त हो जाता है; क्योंकि अन्वित मात्र को जब शक्ति की प्रयोजकता बन जाती है, तब कार्यान्वयान्वित में प्रयोजकत्व की कल्पना गौरव-ग्रस्त है। यह जो कहा था कि कार्यपरक पदार्थ से अन्वित स्वार्थ में पदों की शक्ति माननी चाहिए, वह में युक्त नहीं; क्योंकि कार्यपरत्व किसका विशेषण है? पद का? या पदार्थ का? प्रथम पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि यदि सभी पद लिङादि पद के समान कार्यपरक होंगे, तब तो सभी पद पर्याय (एकार्थक) हो जायँगे। यदि एकार्थकता हटाने के लिए कहा जाय कि लिङादि मुख्य वृत्ति से कार्यपरक हैं और अन्य पद गौण वृत्ति से अथवा लिङादि पद साक्षात् कार्यार्थ के बोधक हैं और अन्य पद परम्परा से, जैसा कि शालिकनाथ ने कहा है—

"प्रधानगुणभावेन लब्धान्योऽन्यसमन्वयान्।
पदार्थानेव वाक्यार्थं सङ्गिरन्ते विपश्चितः॥
एवं कार्यात्मकेऽप्यर्थे व्युत्पद्यन्ते लिङादयः।
तदन्वितेषु स्वार्थेषु तथा शब्दान्तराण्यपि॥" (प्र. पं. वाक्यार्थ०)

रम्परादिभेदेन कार्यपरतां विशिंष्यात्, न तर्ह्यैकप्रयोजकत्वलाभः, मुख्यादिविशेषणानां सर्वपदेष्वेकरूपताभावात्। न हि सिंहो देवदत्त इत्यादौ सिंहादिशब्दानां मुख्यगौणयोस्तत्परत्वमेकरूपम, तथा सति देवदत्तादेरपि केसरादिमत्त्वप्रसंगात्। नापि द्वितीयः; पदार्थानां कार्याबोधकत्वेन तत्परत्वाभावात्। अथ कार्यशेषत्वं कार्यपरत्वं पदार्थानाम्; तर्हि कार्यशेषत्वं कार्यपदार्थस्य नास्तीति तदन्विताभिधायिकारकपदानां कार्यपरपदार्थान्विताभिधायित्वं न स्यादिति न किंचिदेतत्। यत्पुनरनुमानं कार्यपराणि पदानि पदत्वात्कार्यपदवदिति, तदपि 'न पिवेन्न हन्यादि' त्यादिनिषेधवाक्यस्थपदैरनैकान्तम्। न हि तत्र प्राप्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण किंचिदनुष्ठेयमवबोध्यते, हननप्रागभावस्यानादित्वेनाननुष्ठेयत्वात्। न[1] हन्यामिति

कार्यपर्यायतया कार्यपदं मुख्यवृत्त्या तत्परमितरद् गौण्या, अथवा कार्यपदमव्यवधानेन तत्परमितरद्व्यवधानेनेत्यवान्तरविशेषादित्याशङ्क्य परिहरति—**न तर्हीति**। न हि मुख्यवृत्त्या तत्परत्वमेव जघन्यवृत्त्यातत्परत्वमेवमितरदपीत्यर्थः। तदेव निदर्शयति—**न हीति**। किमिति तथा न स्यादित्यत आह—**तथा सतीति**। मुख्यवृत्त्या तत्परत्वं हि केसरादिमत्त्वमादाय तदेव चेत्तत्परत्वं गौणेऽपि स्यात्, स्यादेव केसरादिमत्त्वमपीत्यर्थः। द्वितीये किं पदार्थानां कार्यपरत्वं कार्यबोधकतया? उत साधकतया? नाद्यः; पदार्थानां बोधकत्वाभावात्। बोधकत्वे वा धूमादिवत् लिङ्गतयाऽनुमेयत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह—**पदार्थानामिति**। द्वितीयं शङ्कते—**अथेति**। दूषयति—**तर्हीति**। अयमर्थः—न कार्यस्य कार्यशेषत्वं भेदाभावादतस्तदन्वितार्थाभिधायिनां गवादिपदानां नोक्तरूपवत्तेति। निषेधवाक्येषु साध्याभावं दर्शयन्ननैकान्तिकतां स्फोरयति—**न हि तत्रेति**। प्राप्ता या हननक्रिया तन्निषेधादनिष्टसाधनतावबोधाद्यत्पुरुषस्यौदासीन्यं तद्व्यतिरेकेणेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—सर्वत्र भावार्थनिष्ठो विधिर्दध्यादावपि[2] भावार्थनिष्ठस्यैव सतो विधेरन्यतः प्राप्तत्वात्तस्याप्राप्ते शक्तिमात्रमुपसंक्रामति। 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति'इत्यादावपि द्रव्यदेवतासंबन्धानुमितयागविषयत्वमेव, तदिहाभावो न भावार्थः ततस्तद्व्यावृत्तौ तद्व्याप्तविधिरपि व्यावर्तत इति। तदिदमाह—**अनुष्ठेयमिति**। किं च प्रागभावो ह्यत्र नञाभिधेयः प्रध्वंसे वैयर्थ्यम्, क्षणिकत्वा-

तब तो एक अनुगत प्रयोजकता का लाभ न हो सकेगा; क्योंकि मुख्यार्थत्वादि विशेष धर्मों की सभी पदों में एकरूपता नहीं। जैसे कि "सिंहो देवदत्तः"—इस वाक्य में 'सिंह' पद और 'देवदत्त' पद—दोनों सिंहपरक होने पर भी उन दोनों में सिंहार्थपरता एकरूप की नहीं। उन दोनों पदों में यदि एक रूप का सिंहार्थकत्व मान लिया जाय, तब तो देवदत्त की गर्दन पर भी सटा तथा पीछे पूँछ उग जायगी। द्वितीय (कार्यपरत्व पदार्थ-विशेषण है—यह) पक्ष भी समुचित नहीं; क्योंकि 'कार्यपरत्व' का अर्थ है—कार्यबोधकता। पदार्थ किसी अर्थ के बोधक नहीं होते, अतः उनमें कार्यबोधकता कैसे रहेगी? यदि कहा जाय कि कार्यपरत्व का अर्थ है—कार्य-शेषत्व (कार्याङ्गत्व)। पदार्थों में कार्य-शेषत्व तो है ही; तब तो शेषी होने से कार्यपदार्थ में कार्यशेषत्व है नहीं, अतः तादृश कार्यान्वितार्थ के वाचक कारक (गामादि) पदों में कार्यपरपदार्थान्वित अर्थ की वाचकता न रहेगी, अतः यह द्वितीय पक्ष निस्तत्त्व है। यह जो अनुमान किया था कि 'विवादास्पद पद कार्यपरक हैं, पद होने से, कार्यपद के समान।' वह भी निर्दुष्ट नहीं; क्योंकि 'कार्यत्व' हेतु "न पिबेत्", "न हन्याद्"—आदि वाक्यों के पदों में व्यभिचारी है, कारण यह कि इन वाक्यों में प्रसक्त पान, हनन क्रिया में उदासीन हो जाने से अतिरिक्त कोई अनुष्ठेय अर्थ (कार्य) बोधित नहीं होता। वस्तुतः जो पुरुष सुरा पान या प्राणि-हनन करने जा रहा है, उसके लिए उक्त निषेध-

---

१. द्र० भा० पृ० १४५। २. दध्याश्रितभावार्थनिष्ठो यो विधिस्तस्याऽन्यतः"अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यनेन प्राप्तत्वात्तस्य दध्यादेरप्राप्तसम्बन्धमात्रमेवोपसंक्रामति (बोधयति) 'दध्ना जुहोति' इतिवाक्यमित्यर्थः।

संकल्पस्य विधारकप्रयत्नस्य वा विधानाभ्युपगमे तस्याप्रतीयमानतया लक्षणाप्रसङ्गात् । प्राप्तक्रियायाश्चेष्टसाधनत्वाभावबोधादेव निवृत्तेर्वाक्यस्य चरितार्थत्वोपपत्तेश्च ।

न च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिवचसां प्रतिपत्तिशेषत्वम्, विकल्पासहत्वात् । तथा हि किं शाब्दी प्रतिपत्तिर्विधेया ? उत भावनात्मिका ? अथ साक्षात्कारलक्षणा ? नाद्यः ; तस्याः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशब्दादिवद्विदितपदपदार्थसंगतेः स्वयमेवोत्पत्तेः । न द्वितीयः ; ज्ञानप्रकर्षहेतुत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेन भावनाया अविधेयत्वात् । न तृतीयः ; साक्षात्कारस्य

क्रियायाः स्वत एव निवृत्तेः, स चानादिरननुष्ठेय इत्याह—हननेति । ननु यथा 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य' मित्यत्र नेक्षिष्य इति सङ्कल्पविधिपरत्वं व्यवसितं "[2]तदुत्सर्गे कर्मणीत्यधिकरणे" तद्वदिह पर्युदासवृत्त्या हननविरोध्यहननसंकल्पो विधीयताम् ; अथवा हननोद्यतदेहेन्द्रियादेर्विधारकसामग्रीघटकं कंचन प्रयत्नमन्तरेण नाकस्मादौदासीन्यं भवितुमर्हतीति स एवात्र विधीयतामिति, तत्राह—नेति । न तावदत्र संकल्पः श्रौतः । किमिति न श्रौतः ? यावता तदन्यद्विरोधितदभावा यथायथं नञोऽर्थाः स्मर्यन्ते तद्विरोधी च संकल्प इति चेन्न; अभावस्यैव मुख्यार्थत्वात् । इतरयोस्तु तदनुषङ्गादेव लक्षणादिवृत्त्यन्तरेण प्रयोगोपपत्तेः । इतरथाऽनेकत्र शक्तिकल्पनाप्रसङ्गात् । एवं प्रयत्नोऽपि न श्रौतः, श्रौतसंभवे च लक्षणा न युक्ता । एतेन नञः प्रकृत्यर्थसंबन्धेनाहननं कुर्यादिति कल्पनमपि प्रत्युक्तम् । नेक्षेतेत्यत्र तु तस्य व्रतमित्युपक्रमादनुष्ठेयार्थविधिपरतावगमात् लक्षणयापि पर्युदासवृत्तिराश्रितेति वैषम्यादित्यर्थः । तत्किमिदानीमकस्मादेव हननोन्मुखानां देहेन्द्रियाणां तत उपरम इति ? नेत्याह—प्राप्तेति । अयं भावः—इष्टसाधनत्वज्ञानात्प्रवृत्तिरनिष्टसाधनत्वज्ञानाच्च निवृत्तिरित्यनन्तरमेव समर्थयिष्यते । तदिह यद्धन्यादिति प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां रागतः प्राप्तहनने इष्टसाधनतामनूद्य तन्नेति निषिध्यतेऽनर्थसाधनता च बोध्यते, तत्रापि प्रत्यक्षविरोधात् सहसेष्टसाधनताऽभावं बोधयितुमशक्नुवानः प्रतिषेधस्तदधिगमाय तामनर्थसाधनतामेवावेदयति, ततश्च विरलरागस्यानिष्टसाधनताज्ञानादौदासीन्यमिति निर्वृत्तं निषेधवाक्यमतो न विधिनात्र किंचित्कृत्यमिति ।

यत्तु विज्ञानादिपदेष्वेव विधिनिष्ठतोपपादनेन व्यभिचारवारणम् , तद्दूषयति—न चेति । न च वचनीयं स्वर्गकामादिवाक्येष्वप्यध्ययनविधित एव बोधनमिति यतोऽत्रापि स एव शक्नोतीति ; पृथग्विध्यपेक्षानवकाशादिति, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रविश्रान्तत्वाच्च । अन्वयव्यतिरेकेति । गान्धर्वशास्त्रादौ षड्जा-

---

वाक्य पान, हनन के प्रागभाव का ही प्रतिपादन करते हैं। प्रागभाव अनादि होने से अनुष्ठेय (कृतिसाध्य) कदापि नहीं हो सकता । यदि 'न हन्यात्'—आदि वाक्यों में 'मैं नहीं मारूँगा'—इस प्रकार के हनन-रोधक सङ्कल्प का विधान माना जाय, तब तो इस अर्थ में उस निषेध वाक्य की लक्षणा माननी होगी ; क्योंकि इस प्रकार के संकल्प का वाचक कोई पद वहाँ नहीं । निषेध वाक्य प्राप्त हननादि क्रिया में इष्ट-साधनता का अभाव-बोधन करके कृतकार्य हो जाते हैं, उन्हें किसी कार्य का विधान करने की आवश्यकता ही नहीं ।

वह जो कहा था कि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"—आदि वाक्य दर्शन-विधि के अङ्ग हैं, वह कहना भी अनुचित है ; क्योंकि दर्शन-विधि से किस प्रकार के दर्शन का विधान करना चाहते हैं ? क्या शाब्द (परोक्ष दर्शन) ? या ध्यानरूप दर्शन ? या साक्षात्कारात्मक दर्शन ? प्रथम (शाब्द ज्ञान) पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि यहाँ शाब्द ज्ञान के विधान की वैसे ही आवश्यकता नहीं, जैसे "स्वर्गकामो यजेत्"—आदि वाक्यों में ; कारण यह है कि जिस पुरुष को पद-पदार्थों का शक्ति-ग्रह हो गया है, उसे शब्द सुनते ही स्वयं शाब्द ज्ञान हो ही जाता है । द्वितीय (ध्यान-विधि) पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि किसी वस्तु के ध्यान या मनन से उसका साक्षात्कार हो जाता है—यह लौकिक अन्वय-

---

(द्र० भा० पृ० १४१) । १. द्र० ब्र० सि० पृ० ७४ तथा न्या० म० पृ० १७१ । २. जै० सू० ४।१।२ ।

ब्रह्मरूपत्वेन नित्यत्वेनाविधेयत्वात्। अन्तःकरणपरिणतिरूपत्वे चानन्दसाक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः। 'द्रष्टव्यः' इत्यादिपदानां चार्हार्थतयाप्युपपत्तेः।

अथापि सिद्धार्थव्युत्पत्तौ किं मानमिति चेत्, उच्यते—

विवादाध्यासितः सिद्धः शब्दव्युत्पत्तिगोचरः।
मेयत्वान्न्यायगम्यत्वात् तवाभिमतकार्यवत्॥१६॥

न च कार्यत्वमुपाधिः; व्यतिरेकासिद्धेः। यत्कार्यं न भवति नासौ शब्दव्युत्पत्तिगोचरो तथा संप्रतिपन्नमिति व्यतिरेकव्याप्तेः परं प्रति दर्शयितुमशक्यत्वात्। नन्वाकृतेरेव शब्दार्थत्वा-

दिस्वरग्राममूर्छनासाक्षात्कार इत्यर्थः। तृतीयेऽपि साक्षात्कारः किं ब्रह्मस्वभावभूतः? किंवान्तःकरणपरिणामरूपः? नाद्यः, इत्याह—**साक्षात्कारस्येति**। द्वितीयं दूषयति—**अन्तःकरणेति**। नहि फलं विधेयं यथाहुः—'तस्य लिप्सार्थलक्षणे'तीति भावः। तत्किं प्रमत्तप्रगीतमिदं "द्रष्टव्यः" इत्यादिवाक्यमित्यत आह—**'द्रष्टव्यः' इत्यादिपदानामिति**। 'अर्हे कृत्यतृचश्चे'ति कृत्यप्रत्ययानामर्हार्थेऽपि विधानात्। "कृत्याः प्राङ् ण्वुलः" इति तव्यादीनां कृत्यसंज्ञत्वाच्चेत्यर्थः। एवं च सति सिद्धेऽर्थे व्युत्पत्त्यसंभवेन वेदान्तानामपि आत्मा ज्ञातव्य इति विधिनैकवाक्यतया कार्यपरत्वं शालिकनाथोक्तं थूत्कृतम्। यच्च तेन परमानन्दादित्वस्यानुभवपराहतत्वात् अभिभवकल्पनायाश्चायुक्तेर्निर्विकारत्वस्य च विज्ञानादिविकारवत्तया अयुक्तेर्नानन्दादिपरत्वमित्युक्तं तत्सर्वं चतुर्थपरिच्छेदे एवाचार्येण तुच्छीकरिष्यते।

ननु युक्तिरियम् यदेतावदभिहितम्, प्रमाणमभिधीयतामिति शङ्कते—**अथापीति**। तत्र तावत्कार्यस्यापि पदशक्तिगोचरतामङ्गीकृत्यानुमानमाह—**विवादेति श्लोकेन**। कार्यान्विते सिद्धसाधनताव्यवच्छेदाय विवादाध्यासितग्रहणम्। कार्यान्वयरहित इत्यर्थः। व्यतिरेकासिद्धिमेव विवृणोति—**यत्कार्यमिति**। ततश्च पक्षेतरत्वमिति भावः। केचित्त्विदमेवानुमानमुद्भाव्य दूषयांबभूवुः—"तद[1]सत्। कार्यान्वयोपाधिहतत्वात् गवादिव्यक्त्याऽनैकान्त्याच्च आकृतिः शब्दार्थ इति हि स्थिताः[2] शब्दार्थविदः" इत्यादिना। तत्रोपाधिः परिहृतः, अनैकान्त्यं परिहर्तुमुद्भावयति—**नन्वाकृतेरिति**। किं नैयायिकादिसाधारणमिदमनै-

व्यतिरेक से ही सिद्ध है, अतः साक्षात्कार के लिए भावना (ध्यान) का विधान करना भी व्यर्थ है। तृतीय (साक्षात्कार-विधि) पक्ष भी संगत नहीं; क्योंकि यह साक्षात्कार तो ब्रह्मस्वरूप होने से नित्य है, इसका विधान सम्भव ही नहीं। यदि अन्तःकरण-वृत्तिरूप साक्षात्कार लिया जाय; तब भी अखण्डाकार वृत्ति स्वयं फल है, उसका भी विधान नहीं हो सकता। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"— यहाँ 'तव्य' प्रत्यय "अर्हे कृत्यतृचश्च"—इस सूत्र के अनुसार अर्ह (योग्य) अर्थ में भी माना जा सकता है, विधि में ही मानना कोई आवश्यक नहीं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि सिद्धार्थ की व्युत्पत्ति में प्रमाण क्या? उसके उत्तर में कहा जाता है—'विवाद-ग्रस्त (ब्रह्मादि) सिद्धार्थ, शब्द—शक्ति-ग्रह का विषय है, मेय या न्यायगम्य होने से, जैसे प्रभाकराभिमत कार्य'—यह अनुमान प्रमाण। इस अनुमान में 'कार्यत्व' उपाधि है— यह सन्देह नहीं हो सकता; क्योंकि कार्यत्व और प्रकृत साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति सिद्ध नहीं, अर्थात् "जो कार्य नहीं होता, वह शब्द-शक्ति का विषय नहीं होता"—इस प्रकार की व्याप्ति दूसरे (प्राभाकरेतर) को कहीं दिखाई नहीं जा सकती। यदि शंका की जाय कि आकृत्यधिकरण (पू० मी० १।३।९) में यह निर्णय कर दिया गया है कि आकृति (जाति) में ही शब्द की शक्ति हुआ करती है, व्यक्ति में नहीं। व्यक्ति में शब्द-शक्ति-विषयता रूप साध्य न रहने पर भी 'मेयत्व' हेतु रहता है,

---

१. तत् = शब्दगोचरत्वानुमानम्। २. निश्चितवन्त इत्यर्थः।

द्व्यक्तेस्तदभावात्तत्रानैकान्तिकमिति चेत् , मैवम् ; आकृतेः शब्दार्थत्वेऽपि तस्या एव शब्दार्थत्वमिति नियमानङ्गीकारात् , "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" इत्यक्षचरणपक्षपातिभिरङ्गीकारात् , आकाशादिपदानां च व्यक्तिवचनतया मीमांसकैरप्यभ्युपगमात् , व्यक्तिशब्दस्य च व्यक्तिवाचकत्वात् । ननु तत्रापि व्यक्तित्वोपाधेरेव वाच्यत्वं न व्यक्तेस्तस्या लक्ष्यत्वादितिचेत् , मैवम् ; क्वचिच्छब्दान्तरवाच्यस्यैव शब्दान्तरलक्ष्यत्वाभ्युपगमात् , व्यक्तिः शब्दवाच्या न भवतीति स्ववचनव्याघाताच्च । तस्मात्सिद्धं सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमिति ।

अङ्गीकृत्यैतदवोचाम—कार्ये प्रामाण्यमेव शब्दस्यानुपपन्नम् , तत्र सङ्गतिग्रहणायोगात् ।

कान्तिकत्वम् ? किंवा मीमांसकं प्रत्येव ? नाद्य इत्याह—आकृतेरिति । आकृतिराकारः सास्नादिमत्त्वं सूत्रे विवक्षितम् । द्वितीयेऽपि सकलशब्दानां जातिवाचकत्वं तेषा[1]मप्यसिद्धं जातिरहितेष्वपि [2]भावादित्याह—आकाशादीति । ननु तथापि गवादिव्यक्तिष्वनैकान्तिकत्वस्य कः परिहारः ? तत्राह—व्यक्तिशब्दस्येति । व्यक्तिशब्देनापि न व्यक्तिरभिधीयते किंतु सर्वव्यक्तिष्वनुस्यूतव्यक्तित्वोपाधिरेवेति शङ्कित्वा परिहरति—मैवं क्वचिदिति । अस्ति मीमांसकानामभ्युपगमः शब्दान्तरवाच्यमेव शब्दान्तरलक्ष्यमिति । तथा च व्यक्तेरपि यत्किंचिच्छब्दवाच्यत्वं मंतव्यमितरथा लक्षणानुपपत्तेरित्यर्थः । नन्विमं नियममभ्युपगच्छद्भ्यः किमुत्तरं देयमिति तत्राह—व्यक्तिरिति । व्यक्तिः शब्दवाच्या न भवतीत्यत्र यस्या व्यक्तेः शब्दवाच्यत्वं निषिध्यते सा तावद्व्यक्तिशब्देनाभिधेया, इतरथा कस्यायं निषेधः स्यात्ततश्च परस्परं व्याघात इत्यर्थः । न च तत्रापि व्यक्तिशब्दलक्षितस्य शब्दवाच्यत्वनिषेध इति वाच्यम् । यतः किं नाम तल्लक्षितमिति पर्यनुयोगे लक्षणापरंपराश्रयणमन्तरेण निरुत्तरताऽऽपातादिति ।

यत्तदवोचाम कार्यस्य शक्तिगोचरत्वमङ्गीकृत्येति, तदुद्घाटयति—अङ्गीकृत्यैतदिति । तत्र कार्ये सङ्ग-

अतः व्यभिचारी है । तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि आकृति (जाति) में शब्द की शक्ति हम भी मानते हैं, किन्तु आकृति में ही शक्ति है—यह नियम नहीं माना जा सकता ; क्योंकि "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" (व्यक्ति, आकृति और जाति—तीनों ही पद के शक्य हैं—न्या० द० २।२।६७)—इस प्रकार महर्षि गौतम ने माना है । आकाशादि पदों की शक्ति व्यक्ति में ही मीमांसकों ने स्वीकार की है, एवं 'व्यक्ति' शब्द की शक्ति व्यक्ति में भी माननी ही पड़ेगी । यदि कहें कि 'व्यक्ति' शब्द की भी शक्ति (सर्व व्यक्तियों में अनुगत) व्यक्तिस्वरूप उपाधि में ही मानेंगे, व्यक्ति में लक्षणा मानी जा सकती है ; तो ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि किसी शब्द का वाच्य ही शब्दान्तर का लक्ष्य हुआ करता है (जैसे 'तीर' शब्द का वाच्यार्थ ही 'गंगा' पद का लक्ष्य होता है), अतः व्यक्ति यदि किसी शब्द की वाच्य नहीं, तब लक्ष्य कैसे होगी ? 'व्यक्ति किसी शब्द की वाच्य नहीं'—ऐसा कहने में वदतोव्याघात भी है (क्योंकि व्यक्ति यदि 'व्यक्ति' शब्द की वाच्य नहीं, तव शब्द-वाच्यता का निषेध किस में करेंगे ? और यदि व्यक्ति 'व्यक्ति' शब्द की वाच्य है, तब उसमें सभी शब्दों की वाच्यता का निषेध नहीं हो सकता) । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सिद्धार्थ ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का परम तात्पर्य है । (इस विषय का विशद विवेचन ब्र. सि. पृ. २३, भा० १।२।४ न्या. म. पृ. १५६ में देखें) । कार्य में शक्ति-विषयता मानकर भी यह कह सकते हैं कि कार्यार्थ में शब्द का प्रामाण्य ही नहीं बन सकता ; क्योंकि उसे संगतिग्रहण (शक्ति-ग्रह) हो नहीं सकता ।

प्राभाकर—कार्य में शक्ति-ग्रह असम्भव कैसे ? प्रवृत्ति देखकर प्रवर्तक ज्ञान का अनुमान होता है—(येयं स्वाधीनस्य प्रवृत्तिः, सा बुद्धिपूर्विका, स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात्, मदीयप्रवृत्तिवत्—प्र० पं०

---

१. मीमांसकानाम् । शब्दशक्तिगोचरत्वरूपसाध्यसत्त्वादित्यर्थः ।

ननु कथं तत्र सङ्गतिग्रहणायोगः ; प्रवृत्तिदर्शनात् प्रवर्त्तकज्ञानमनुमाय तस्य च प्रवर्त्तकज्ञानत्वादेवात्मीयप्रवर्त्तकज्ञानवत्कार्यविषयकतामध्यवस्यानन्तरं शब्दान्वव्यतिरेकानुविधायितया तस्य शब्दजन्यत्वावगमेन तत्रैव शब्दशक्तेर्ग्रहणात् । न[२] च स्वात्मनि प्रवर्त्तकबोधस्येष्टसाधनविषयत्वात्परप्रवृत्तावपि तदेव प्रवर्तकतयानुमीयते न कार्यमिति वाच्यम् ; अतीतानागतविषयेष्विष्टसाधनज्ञानेषु प्रवर्तकत्वव्यभिचारात् । अथ कृतिसाध्येष्टसाधनत्वज्ञानं प्रवर्त्तकम्, तर्हि कार्यमेव नामान्तरेण प्रवर्तकं त्वयाप्यङ्गीकृतम् , तस्यैव कृतसाध्यत्वात् 'कृतिसाध्यं प्रधानं

तिग्रहणपरिपाटीं दर्शयति पूर्ववादी—नन्विति । प्रवृत्तिदर्शनादिति । स्वतन्त्रस्य प्रवृत्तिदर्शनादिति यावत् । इतरथा बलवदनिसलिलौघेन नुद्यमानप्रवृत्तावनैकान्तिकता स्यादिति । नन्विष्टसाधनत्वज्ञानादेवात्मनि प्रवृत्तिर्दृष्टा न कार्यज्ञानादतस्तदेव परत्राप्यनुमीयतेऽतो विरुद्धो हेतुः, साध्यविकलश्च दृष्टान्त इतीमां शङ्कां निषेधति—न चेति । तदेवेति । ज्ञायमानतया विवक्षितम्, तेन न पूर्वापरव्याघातः । तत्र किमिष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्त्तकम् ? किंवा कृतियोग्यताविशेषणविशिष्टतज्ज्ञानम् ? आद्ये प्राह—अतीतानागतेति । द्वितीयं शङ्कते—अथेति । कृतिः पुरुषप्रयत्नस्तेन साध्यं यदिष्टसाधनं तज्ज्ञानमिति योजना । तर्ह्यविप्रतिपत्तिः कार्यस्य चैवं रूपत्वादित्याह—तर्हीति । यद्यपि भावार्थस्य कृतिसाध्यत्वमस्ति, तथापि कार्योपाधि[३]त्वान्न प्राधान्येन तदस्तीति भावः । एतदेव शालिकनाथवचनेन द्रढयति—कृतिसाध्यमिति । कृतिसाध्यं कार्यमित्युक्ते भावार्थेऽतिप्रसक्तिस्तदर्थं प्रधानमित्युक्तम्, प्राधान्यं चेदं कृत्युद्देश्यत्वम्, तावति चोक्ते फलेऽपि स्यात्तदर्थं कृतिसाध्यमित्युक्तम्, तत्र कृतिसाध्यत्वं कृत्यन्वयव्यतिरेकरूपानुमानगम्यम्, कृतिप्राधान्यं च मानसप्रत्यक्षमिति. प्रत्यक्षानुमानगम्यं बालस्य स्वात्मनि कार्यम्, यथौदनः पाकश्चेत्यर्थः ।

वाक्यार्थ० परि० पृ० २६) प्रवर्तक ज्ञान में प्रवर्तकज्ञानत्व रूप हेतु से अपने प्रवर्तक ज्ञान को दृष्टान्त बनाकर कार्यविषयकता का अनुमान होता है—(अस्य प्रवृत्तिहेतुभूता बुद्धिः, कार्यविषया, प्रवृत्तिहेतुभूतबुद्धित्वात् , मदीयप्रवृत्तिहेतुभूतबुद्धिवत्—प्र० पं० वाक्यार्थ० परि० पृ० २६) । तदनन्तर 'गामानय'—आदि शब्दों के साथ उक्त कार्य-ज्ञान का अन्वयव्यतिरेक देख (अर्थात् 'गामानय'—आदि शब्दों के होने से ही उसे कार्य-ज्ञान होता है और न होने से वह ज्ञान नहीं होता—यह जानकर) कार्यविषयक ज्ञान में तादृश शब्दों की जन्यता निश्चित हो जाती है, अतः उसी (कार्य) में शब्द का शक्ति-ग्रह हो जाता है । आचार्य मण्डन मिश्र का कहना है कि बालक अपने में प्रवर्तक ज्ञान को इष्ट-साधन-विषयक अनुभव करता है, अतः मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति में उसी (इष्ट-साधन-विषयक ज्ञान) को ही प्रवर्तकत्वरूप से अनुमान करता है ; न कि कार्यविषयक ज्ञान को । (अतः प्रवर्तक ज्ञानत्वरूप हेतु से कार्यविषयकत्व का अनुमान नहीं हो सकता) । किन्तु मण्डन मिश्र का वह कहना उचित नहीं क्योंकि इष्टसाधनविषयक ज्ञान को प्रवर्तक नहीं माना जा सकता ; कारण यह है कि अतीत धनादि एवं भविष्य-वक्ता के बताये राज्यादि में इष्ट-साधनता रहने पर भी उनका ज्ञान प्रवर्तक नहीं होता । यदि कहा जाय कि कृति (प्रयत्न) से साध्य जो इष्ट-साधन धनादि, उनके ज्ञान को प्रवर्तक मानते हैं, केवल इष्ट-साधन-विषयक ज्ञान को नहीं । अतीत और भावी इष्ट-साधन, कृतिसाध्य नहीं, अतः उनका ज्ञान भी प्रवर्तक नहीं होता । तब तो कार्य-ज्ञान को ही आपने दूसरे शब्दों में प्रवर्तक मान लिया ; क्योंकि वही तो कृति-साध्य होता है—"कृतिसाध्यं प्रधानं यत् तत्कार्यमभिधीयते" (कृति से जो साध्य हो और जो कृति के प्रति

---

१. द्र० प्र० पं० पृ० १७८ । २. स्वात्मनीष्टसाधनविषयकं ज्ञानं प्रवर्तकमिति नचेत्यारभ्योक्तम्, इदानीं तदेव = इष्टसाधनमेव परात्मनि प्रवर्तकमुच्यत इति विरोध आसीत् । ३. ननु च प्रेषणादयोऽवगम्यन्ते लोके ; उपाधयो हि ते, न शब्दार्थाः । केन पुनरमी उपाधयो नाम ? उपाधयो हि तटस्थाः प्रयोगदर्शन—

यत्तत्कार्यमभिधीयते' इत्यभिधानात्। तथापि कृतिसाध्येष्टसाधनज्ञानमेव प्रवर्तकं न केवलं कार्यज्ञानमिति चेत्, मैवम्; इष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोधं प्रति हेतुतयाऽन्यथासिद्धेः।

उक्तं हि— 'किन्तु स्वयं क्लेशरूपं कर्म यत्कार्यतां व्रजेत्।
फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यता ॥' इति। (प्र० पं० पृ० १७८)

ननु चिकीर्षैवैषा ममेदं कार्यमिति, न तु तदतिरिक्तं कार्यं नामात्र किंचित्प्रतीयत इति चेत्, मैवम्; अन्तरेणापि कार्यधियं समीहितसाधनतामात्रावबोधात्सुधामरीचिमण्डलोदयादौ चिकीर्षाया अप्यनुपपत्तेः। न चास्याः कार्यधियः कृतियोग्यतामात्रमालम्बनम्; कृतियोग्ययोरपि दुःख-

---

भवतु कार्यस्याप्येवंविधत्वं तथापि न कार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिरिति शङ्कते—**तथापीति**। नेष्टसाधनताज्ञानं प्रवृत्तेर्हेतुरपि तु कार्यताज्ञानमेव, तज्ज्ञानाच्च प्रवृत्तिरित्याह—**मैवमिति**। अत्रापि वाक्यार्थमातृकागतं तद्वचनमेव प्रमाणमित्याह—**उक्तं हीति**। अयमर्थः—हितसाधनताकार्यतयोः पूर्वं भेद उक्तः, अनन्तरं हितसाधनेष्वेव किमिति कार्यतामतिर्नान्यत्रेति शङ्कां परिहरन्त आहुः शालिकनाथाः—**किन्त्विति**। सत्यमस्त्वयं नियमः, किन्त्वयं तत्र विशेषः—यत्कर्म कार्यतां व्रजेत् तत्स्वयं क्लेशरूपमेव। कथं तर्हि तस्य कार्यत्वम्? नहि दुःखाकारस्य कार्यत्वमुपपद्यते, यथाहुः—'अकर्तव्यो दुःखफलः' इत्यत आह—**फलसाधनता तत्रेति**। तस्यैव विवरणम्—**तेन कार्यतेति**। अथवा फलसाधनता तत्र कथं कारणम्? यावता प्रवृत्तिं प्रत्येव कारणं तदिति केचित्तत्राह—**तेनेति**। तेन कार्यतास्य भवति, नतु प्रवृत्तेरिति। अतएव तैरुक्तम् "ज्ञापककोटिनिविष्टा फलसाधनता कार्यतामनुरुध्यते। नत्वसौ तदात्मैवेति।"

ननु कार्यसिद्धिरेव कुतः प्रमाणात्? न तावन्ममेदं कार्यमिति बुद्धिः प्रमाणम्, तस्याश्चिकीर्षामात्रतयार्थासाधकत्वादिति शङ्कते—**नन्विति**। कोऽस्याभिसन्धिः? किं कार्यमेव नास्तीति? उत तत्रेयं प्रमाणं न भवतीति? नाद्यः; तदनङ्गीकारे चिकीर्षाया एवानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न चेष्टसाधनतामात्रावबोधात्तदुपपत्तिः; सुरतारम्भपरिश्रान्तसुदरीसमीहितसाधनेऽपि सुधामरीचिमण्डलोदये मलयमारुततरङ्गसङ्गमेव वा असाध्यस्वभावे चिकीर्षाऽभावादित्याह—**मैवमन्तरेणेति**। द्वितीये त्वनन्यगतिकत्वादेषैव भविष्यति प्रमाणमिति भावः। भवत्वियमिच्छातिरेकिणी, तथापि कृतियोग्यतामेवालम्बते न तदतिरिक्तं किंचित्कार्यमस्ति तत्राह—**न चास्या इति**। साधयितुं योग्यत्वमस्ति दुःखादेरपि, न कार्यबुद्धिविषयत्वमिति तदतिरिक्तमेवास्या विषय इत्याह—**कृतियोग्ययोरिति**। अस्तु तर्हीष्टसाधनत्वमेवास्या विषय इति तत्राह—

प्रधान हो, उसे ही कार्य कहा जाता है—प्र० पं० वाक्यार्थ०)। 'फिर भी कृति से साध्य इष्ट-साधन के ज्ञान को ही प्रवर्तक मानेंगे, केवल कार्य-ज्ञान को नहीं'—ऐसा आग्रह मत कीजिए; क्योंकि इष्ट-साधनता-बोध, कार्यता-बोध का हेतु होने से अन्यथासिद्ध है, (जैसे कुलाल का पिता, कुलाल के बनाये घटों के प्रति अन्यथासिद्ध है)। शालिकनाथ ने स्पष्ट ही कहा है—'कष्टरूप होने पर भी कार्य में कार्यता (कर्तव्यता) के रहने का कारण है—फल (इष्ट) की साधनता का रहना' (प्र० पं० वाक्य०)। यदि शङ्का हो कि 'ममेदं कार्यम्'—यह बुद्धि का आकार नहीं, अपि तु चिकीर्षारूप सङ्कल्प का है (द्र० नय वि० पृ० ४२)। इससे अतिरिक्त कोई कार्य नाम की वस्तु प्रतीत नहीं होती। तो यह कहना भी नहीं बनता; क्योंकि कार्य-ज्ञान के बिना केवल इष्ट-साधनता-ज्ञान के आधार पर (न्या० म० पृ० १८९ पर कथित) चन्द्र-मण्डलोदय में चिकीर्षा भी नहीं बन सकती, (अतः यह मानना होगा कि जहाँ चिकीर्षा होती है, वहाँ कार्य-ज्ञान भी है। इस प्रकार 'ममेदं कार्यम्'—यहाँ भी कार्य-ज्ञान सिद्ध होता है)। यदि कहा जाय कि 'ममेदं कार्यम्'—यह बुद्धि का आकार है, तथापि इस बुद्धि का विषय है—कृति-योग्यता मात्र। तो यह भी नहीं कह सकते;

मात्राच्छब्दार्थं विशेषेऽवस्थापयन्ति, यथा द्दतिहर्यभिधेयस्य पशुत्वम्। एवमसौ नियोगः समहीनज्यायोभिः प्रयुज्यमानः प्रेषणादिव्यपदेशं लभते (बृ० १।१।२५)

तत्साधनयोस्तददर्शनात् । नापि समीहितसाधनम्; अतीतवर्तमानयोः समीहितसाधनयोस्तदभावात् । नापि फलमेव; तत्साधनेऽपि दर्शनात् । नापि फलतत्साधनयोरनुस्यूतमभिलाषगोचरतामात्रमस्या आलम्बनम्; अभिलाषमात्रगोचरेऽपि सुधामरीचिमण्डलादौ तदभावस्य दर्शितत्वात् । तस्मादेभ्योऽतिरिक्त एव कश्चिदाकारः कार्यधीगम्यः, स एव चाकारः कृतिसाध्यः कृत्युद्देश्यः कार्यमित्युच्यते । स एव प्रवर्तकतया स्वात्मन्यधिगतत्वाच्छब्दशक्तेर्गोचरः ।

तथापि कथमलौकिकनियोगे वैदिकलिङादिशब्दानां व्युत्पत्तिरितिचेत्; उच्यते—यद्यपि लोकव्युत्पत्यनुसारेण क्रियायाः कार्यत्वं प्राप्तम्, तथापि वेदे स्वर्गकामो यजेतेति नियोज्याभिधायिना स्वर्गकामपदेन समभिव्याहारात्, 'नियोज्यः सच कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुध्यते'

नापीति । तत्र हेतुः—अतीतेति । ननु यद्यपि साधनेऽपि दर्शनात्फलमात्रमस्य आलम्बनं न भवति नाप्युभयमेकैकव्यभिचारात्, तथाप्युभयानुगतमिच्छागोचरत्वमात्रमस्य आलम्बनमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तव्यव्यभिचारमेवाह—अभिलाषेति । परिशेषादतिरिक्तमेवालम्बनमित्युपसंहरति—तस्मादिति । ननु भवत्वतिरिक्तं तथापि कथं कार्यत्वमिति तत्राह—स एवेति । तथापि कथमस्य शब्दार्थत्वावगतिस्तत्राह—स एवेति । स्वात्मनीति । बालस्येति शेषः ।

कायमात्रस्य शब्दार्थत्वेऽपि नियोगस्य शब्दार्थत्वमयुक्तम्, अलौकिकत्वेन तत्राग्[2]हीतसंगतिकत्वादिति शङ्कते—तथापीति । अलौकिकत्वेऽपि विमर्शात्मकतर्कतः संभाविते सङ्गतिग्रहमुपपादयति—यद्यपीत्यादिना । क्रियाया इति । भावार्थस्येत्यर्थः । स्वर्गकामो यजेतत्येतन्नियोज्यसमर्पणपरं नतु फलपरमिति हि गुरुमतम्, तथाच षष्ठाद्ये राद्धान्तितमतस्तत्समर्पकपदेन समभिव्याहारात् सहपाठात् क्रियातिरिक्तं नियोगमवगमयन्ति लिङादय इत्युत्तरेणसम्बन्धः । ननु कर्त्रपेक्षत्वात्कार्यस्य तत्समर्पकत्वमेव स्वर्गकामादिपदस्येत्यत आह – नियोज्यः स चेति । यः कार्यं स्वकीयत्वेन बुध्यते स नियोज्य इति न्यायान्नियोग-

क्योंकि कृति–योग्य (साध्य) तो दुःखादि भी हैं किन्तु वे कार्य-बुद्धि के विषय नहीं, (अतः कृति-योग्यता से अतिरिक्त ही इस कार्य-बुद्धि का विषय मानना होगा)। समीहित-साधन (इष्ट-साधन) भी उस बुद्धि का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि अतीत और वर्तमान (धनादि) में समीहित-साधनता के रहने पर भी कार्य-ज्ञान नहीं (अतीत में कार्यता सम्भव ही नहीं और वर्तमान भी सिद्ध ही है, साध्य नहीं)। सुखादि फल भी इस बुद्धि का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि फल के साधन में कार्यतां-बुद्धि होती हैं । फल और उसके साधन में अनुगत इच्छा-विषयता भी कार्य-बुद्धि का आलम्बन नहीं बन सकती; क्योंकि इच्छा के विषय चन्द्रमण्डलोदयादि में कार्यता का अभाव दिखाया जा चुका है । अतः इन (इष्टसाधनत्वादि) से भिन्न ही कोई आकार कार्य-बुद्धि का विषय मानना होगा । वही आकार कृति से साध्य है, कृति का उद्देश्य है, अतः कार्य कहा जाता है । उसी आकार विशेष (कार्य) को बालक ने अपने प्रवर्तक ज्ञान का विषय निश्चय किया, उसी का अनुमान मध्यम बृद्ध की प्रवृत्ति में भी करता है, अतः वही शब्द-शक्ति का विषय है ।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि कार्यमात्र में शब्दों की शक्ति का निश्चय होने पर भी लोकाप्रसिद्ध नियोग में वैदिक लिङादि का शक्ति-ग्रह कैसे होगा ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि लोक-व्यवहार के आधार पर धात्वर्थ रूप क्रिया में ही कार्यत्व प्राप्त है, तथापि वेद में "स्वर्गकामो यजेत्"—इस प्रकार नियोज्य-वाचक 'स्वर्गकाम' पद के समभिव्याहार (समीप पाठ) की सहायता से लिङादि नियोग के बोधक होते हैं; क्योंकि शालिकनाथ ने (प्र. पं. पृ. १८२ पर) कहा है कि 'नियोज्य' वही है जो कार्य को स्वकीय समझे ।' नियोज्य का यहाँ विशेषण हैं—

---

१. द्र० प्र० पं० पृ० १८२ । तथा ऋ. वि. १२५ । २. लिङादीनामिति शेषः ।

इतिन्यायात् । तस्य च कर्मसंबन्धात्साध्यस्वर्गविशिष्टस्य क्षणप्रध्वंसिन्यां क्रियायां कालान्तरभाविस्वर्गसाधनयोग्यतावैधुर्येण कार्यताबुद्ध्यनुत्पत्तेः क्रियातोऽतिरिक्तं कालान्तरभाविफलसाधनं नियोगमेव नियोज्यं प्रति लिङादयः कार्यमवगमयन्ति । तच्च स्वात्मनि पुरुषं नियुञ्जानं नियोग इति, मानान्तरापूर्वतया अपूर्वमिति च व्यपदिश्यते । नच फलजनकतया फलं प्रति शेषत्वाद् अपूर्वस्य प्राधान्यप्रच्युतिः ; स्वसिद्ध्यनुकूलनियोज्यलाभायैव फलशेषतावलम्बनात्। स्वशेषभूतगर्भदासोपकाराय संविदधानस्य स्वामिन इव प्राधान्यानुपरोधात् । तदुक्तम्—

संबन्धबोद्धा नियोज्येन भावितव्यमितरथाकर्तृत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । तथापि भावार्थसंबन्धबोद्धैव नियोज्यो भवतु, कुतो नियोगसिद्धिरिति तत्राह—**तस्येति** । स्वर्गकाम इति काम्यस्वर्गविशिष्टत्वात् सिद्धे च कामाभावात् साध्यस्वर्गविशिष्टः प्रतीयते नियोज्यः, एवंविधस्य च भावार्थक्रियायां ममेदं कार्यमिति कार्यताबुद्ध्यनुपपत्तेः, तत्र हेतुः—क्षणध्वंसिन्यामिति । मर्दनादिव्यावृत्त्यर्थं कालान्तरभावीत्युक्तम् । तदुक्तम्—

'लिङादिस्तत्र कार्यं चेत्क्रियामेवावबोधयेत् ।
समन्वयो नियोज्येन तदानीमेव हीयते' ॥ इति ॥ (प्र० पं० पृ० १८३)

ननु कथमस्य नियोगत्वम्, आज्ञा हि नियोगः, न चापौरुषेये वेदे सा संभवति, अत एव नापूर्वत्वमिति तत्राह—**तच्च स्वात्मनीति** । अथवा अपूर्वस्य शब्दार्थत्वे नियोगस्य वाक्यार्थता कथमिति तत्राह—**तच्च स्वात्मनीति** । पुरुषाभिप्रायरूपप्रैषाद्यभावेऽपि परस्परव्यभिचारिषु तेष्वनुगतप्रवर्तकत्वरूपो नियोगः शब्दार्थः,स चात्रापि संभाव्य इत्यर्थः । स्यादेतत्—स्वर्गसाधनत्वयोग्यताबलेन खल्वलौकिकनियोगाङ्गीकारः, तथा च वरघाताय कन्योद्वहनम्, यतः'कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते' इति कार्यलक्षणमायुष्मन्मते, तत्र स्वर्गं प्रति साधनतया तच्छेषस्य न प्राधान्यमिति तत्राह—**न च फलेति** । यदि परसिद्ध्यर्थमयं व्याप्रियेत तदा स्यात्प्राधान्यविघातः, नतु तदस्ति, नहि स्वर्गोऽस्य स्यादिति नियोगव्यापारोऽपितु कथंकारं मामयं साधयेदिति, तदर्थमेव खल्वयमस्मै स्वर्गं ददाति गर्भदासोपकर्तेव स्वामी, तथाच कुतः प्राधान्यप्रच्युतिरित्याह—**स्वसिद्धीति** । संविदधानस्य । संविधानं योगक्षेमं कुर्वत इत्यर्थः । **स्वात्मसिद्धीति** ।

स्वर्गकामः (स्वर्ग-कामनावान्) । कामना सदैव साध्य में ही होती है, सिद्ध में नहीं । अतः साध्य स्वर्ग विशेषण-विशिष्ट नियोज्य उसे ही अपना कार्य समझेगा, जो कि स्वर्ग-साधन-योग्य हो । यागादि क्रिया तो क्षण प्रध्वंसिनी है । भावी जन्म में मिलने वाले स्वर्ग फल की साधनता उसमें बन ही नहीं सकती ; इस लिए उसको यागादि क्रिया में कार्यता-बुद्धि न होकर क्रिया से अतिरिक्त नियोग (अपूर्व) में ही कार्यता-बुद्धि लिङादि से होगी । वह अपूर्व अपनी निष्पत्ति में पुरुष का नियोजक होने से नियोग, और वह प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों से गम्य न होने के कारण अपूर्व कहलाता है—

क्रियादिभिन्नं यत्कार्यं वेद्यं मानान्तरैर्न च ।
अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते ॥ (प्र. पं. पृ. १८७)

यदि सन्देह हो कि यदि वह अपूर्व फल-जनक है, तब तो फल के प्रति शेष (अङ्ग) बन गया, फिर उसमें प्रधानता न रही (अर्थात् पहले कहा गया है कि कार्य वही है, जो कृति में प्रधान हो । किन्तु यहाँ अपूर्व स्वर्गादि का अङ्ग बन जाने से प्रधान नहीं रहा, उसे कार्य कैसे कहेंगे ?) । तो यह सन्देह उचित नहीं ; क्योंकि वह फल का शेष इसी लिए बना है कि उसकी सिद्धि के अनुकूल नियोज्य का लाभ हो जाय । अतः जैसे अपने अङ्गभूत भृत्यों की उपकार-साधना में प्रयत्नशील स्वामी प्रधान ही रहता है, वैसे ही अपूर्व भी अपने अङ्गभूत नियोज्य का स्वरूप-लाभ करने के लिए

---

१. यथाहुर्नाथाः—"नच फलजनकतया गुणभावादपूर्वस्य वाक्यार्थत्वहानिः, स्वानुगुणनियोज्यलाभाय फलानुकूलतावलम्बनात् ; यथा आत्मन एव संविदधानः स्वामी गर्भदासस्योपकरोति, तद्वदेतदपि ।" ऋ.वि. १।१।२५

'स्वात्मसिद्धयनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये ।
कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव न' ।। इति ।

तदेवमलौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपाहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहाराल्लिङादीनां तत्र संबन्धग्रहणोपपत्तेरुपपन्नं तत्राम्नायस्य प्रामाण्यम् । प्रयोगश्च विवादाध्यासिता लिङादयः एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायिन. कार्याभिधायित्वाद् गामानयेत्यादिपदवदिति । विपक्षे यागातिरिक्तकार्यानभ्युपगमात् यागस्य च स्वर्गसाधनत्वानुपपत्तेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधक इति ।

अनुष्ठानं विना नियोगासिद्धेः कर्त्रा विना च तस्यासिद्धेः अधिकारिणं विना कर्तुरभावान्नियोज्यं विना च तदभावाद् [1]अकामानुगुणे च [2]कामिनियोगत्वायोगात् तदिदमानुकूल्यम् । अपिर्भिन्नक्रमः । स्वर्गादिकं कुर्वदपि प्रधानमिति । प्रतिपादिततर्कोपसंहारपूर्वकमुपपादितं नियोगशब्दार्थं प्रतिबन्दीग्रहणपूर्वकमुपसंहरति—तदेवमिति । यूपादीति । यथा खलु यूपाहवनीयादौ 'यूपं तक्षति, यूपमष्टाश्रीकरोति, यूपमनक्ति, अर्द्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधाती'त्यादिवाक्यपर्यालोचनया संस्कृतौ कौचन दार्वग्निविशेषौ 'यूपे पशुं निबध्नाति' 'आहवनीये जुहोती'त्यत्र यूपाहवनीयशब्दार्थाविति निर्णीयते । आदिशब्देन यववराहादिग्राह्यम् । विवादेति । कार्याभिधायिन इत्युक्ते भावार्थाभिधानेन सिद्धसाधनता तन्निवृत्त्यर्थं क्रियातिरिक्तेत्युक्तम्, तथात्वाप्रसिद्धविशेषणता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम् । क्रियान्तराभिधायिपदेषु च सुप्रसिद्धं साध्यम्, पक्षे चैतदभिधेयक्रियातिरिक्तकार्यत्वमेतदनभिधेयत्वे सति क्रियात्वाद्वा, एतदभिधेयत्वे सति क्रियात्वानधिकरणत्वाद्वा, आद्यमभिधायकत्वसाधनव्याहतम्, द्वितीयं सिध्यत् क्रियात्वानधिकरणकार्यनियोगमादाय सिध्यतीति नियोगसिद्धिः ।

स्वर्ग की साधना करता है, अतः उसकी प्रधानता अक्षुण्ण है । शालिकनाथ ने (प्र. पं. पृ. १९० पर) कहा है—'अपनी सिद्ध के अनुकूल नियोज्य की प्रसिद्धि के लिए स्वर्गादि का सम्पादन करता हुआ भी कार्य (अपूर्व) हमारे मत में प्रधान ही है ।' जैसे यूप, आहवनीयादि पदार्थ अलौकिक माने जाते हैं (अर्थात् वैदिकगण 'यूप' शब्द से केवल लोक-प्रसिद्ध किसी काष्ठ-स्तम्भ को नहीं कहा करते, अपितु 'यूपं तक्षति', 'यूपमनक्ति'—आदि वाक्यों से विहित दृष्ट तथा अदृष्ट संस्कार-विशिष्ट लोकोत्तर वस्तु को कहते हैं । इसी प्रकार आहवनीय अग्नि का भी लोकोत्तर आकार हैं) वैसे ही नियोग (अपूर्व) भी अलौकिक है । तथापि स्वर्गकामादि प्रसिद्ध पदों के सहयोग से लिङादि पदों का शक्तिग्रह अपूर्व में हो जाता है । अतः उस (नियोग) में वेद का प्रामाण्य भी बन जाता है । इस विषय में अनुमान-प्रयोग है—'विवादास्पद लिङादि, एतदभिधेयत्वविशिष्टक्रियात्वाभावयुक्त कार्य के वाचक हैं, कार्य-वाचक होने से, जैसे—'आनय' आदि पद' [कार्य-वाचकत्वमात्र को साध्य बनाने पर सिद्ध-साधनता दोष हो जाता ; क्योंकि क्रियारूप कार्य की वाचकता लिङादि में दूसरे मानते ही हैं । अतः साध्य-घटक कार्य का विशेषण दिया—क्रियात्वाभावयुक्त । क्रियात्व-रहित कार्य की वाचकता दूसरे नहीं मानते, अतः उक्त दोष नहीं । किन्तु साध्याप्रसिद्धि दोष हो जाता है, क्योंकि 'आनय'—आदि पदों में क्रियात्व-विशिष्ट कार्य की ही वाचकता है ; क्रियात्वाभावयुक्त कार्य की वाचकता नहीं । अतः क्रियात्व का विशेषण लगाया एतदभिधेयत्व-विशिष्ट । 'आनय'—आदि पदों के वाच्य (क्रिया) में क्रियात्व रहने पर भी एतदभिधेयत्व (लिङादि-वाच्यत्व) नहीं, अतः विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव (एतदभिधेयत्वविशिष्टक्रियात्वाभाव) रह जाने से एतदभिधेयत्वविशिष्टक्रियात्वाभावयुक्त कार्य-वाचकत्व रूप साध्य 'आनय'—आदि पदों में प्रसिद्ध हो गया । किन्तु यही साध्य अपने

---

१. फलाननुगणनियोगे इत्यर्थः । २. नियोज्यसम्बन्धायोगादित्यर्थः ।

अत्रोच्यते–भवेदिष्टमनोरथो यदि स्वात्मन्यपि कार्यबोधस्य प्रवर्त्तकत्वमध्यवसीयेत, समीहितसाधनताया एव तु स्वात्मनि प्रवर्तकत्वाध्यवसायात् । न च भूतादौ व्यभिचारः ; यतः—

कार्यस्यावगतेर्हेतुर्यादृशं हितसाधनम् ।
प्रवृत्तेस्तादृशं हेतुर्व्यभिचारस्ततः कुतः ॥१७॥

येनापि हि कार्यावबोधस्यैव प्रवतकत्वमभ्युपेयतेऽभ्युपेयते एव तेनापीष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोधं प्रति हेतुता, तदभावे कार्यबोधानुपपत्तेः । तत्रापीष्टसाधनतामात्रस्य भूतादौ व्यभिचारात् कृतियोग्येष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानहेतुरित्यभ्युपेयम्, तथा च तादृगिष्टसाधतावबोधस्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तौ किमन्तर्गडुना कार्यावबोधेन । न चेदृगिष्टसाधनताज्ञानमेव

तदेतत्कार्ये व्युत्पत्तिसमर्थनं दूषयितुमुपक्रमते—उच्यत इति । समीहितसाधनताया इति । तद्बोधनम्[1], विषयेण विषयिलक्षणात् । ततश्च तस्यैव परत्राप्यनुमानेन तत्रैव शब्दशक्तिः, नतु कार्ये इत्यभिप्रायः । इष्टसाधनतावबोधस्य भूतादौ प्रवर्तकत्वव्यभिचारं पूर्वोक्तमनूद्य श्लोकेन परिहरति—कार्यस्येति । यादृशमिष्टसाधनत्वं कृतियोग्यताविशिष्टं तव कार्यज्ञाने हेतुस्तादृशमेव प्रवृत्तिहेतुराश्रीयते मया ततः कुतो व्यभिचार इति योजना । श्लोकं विवृणोति—येनापीति । ननु कृतियोग्येष्टसाधनज्ञानमेव कार्यज्ञानं नत्वनयोर्धूमाग्निबोधवज्जन्यजनकता यदाह—‘यथा[2] खल्वेक[3]धीवेद्यत्वेऽप्याकृतितो व्यक्तिधीरुक्ते’ति । तथाच तस्य प्रवर्तकत्वाश्रयणमस्मदनुकूलमेवेति तत्राह—नचेति । हेतुमाह—तस्येति । ‘फलसाधनता तत्र कारणं तेन कार्यता, इति स्वीकारात् हेतुहेतुमतोरैक्यमनुपपन्नमित्यर्थः । यत्तु ममेदं कार्यमिति बुद्धेः

साधक हेतु के बल पर पक्ष में सिद्ध होकर विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप से तो घट नहीं सकता ; क्योंकि लिङादि के अभिधेय में एतदभिधेयत्व (लिङाद्यभिधेयत्व) ही है, उसका अभाव नहीं । अतः यही कहना होगा कि लिङादि के अभिधेय में क्रियात्वरूप विशेष्य भाग नहीं, तभी तो विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव वहाँ सिद्ध होगा । अतः यह मानना पड़ गया कि लिङादि क्रियात्वाभावयुक्त कार्य के वाचक हैं, अर्थात् लिङादि का वाच्य कार्य धात्वर्थ क्रिया से विलक्षण (अपूर्व) है] ।

वेदान्ती—आपका मनोरथ सिद्ध हो सकता था, यदि बालक कार्य-ज्ञान को अपना प्रवर्तक समझता । किन्तु इष्ट-साधनता-ज्ञान में ही उसे अपने प्रवर्तकत्व का निश्चय होता है । (अतः मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति में भी उसी का अनुमान करेगा, फिर तो इष्ट-साधनता में ही लिङादि की शक्ति का निश्चय होता है ; कार्य-ज्ञान में नहीं) । यह जो कहा था कि अतीतादि विषयों में इष्ट-साधनता रहने पर भी प्रवर्तकत्व नहीं, अतः इष्ट-साधनता-बोध में प्रवर्तकत्व का व्यभिचार है । वह कहना उचित नहीं ; क्योंकि आपके कार्य-ज्ञान में जैसा (कृति योग्यता-विशिष्ट) इष्ट-साधनत्व हेतु है, वैसा ही हम प्रवृत्ति का हेतु मानते हैं, तब व्यभिचार क्यों होगा ? जो कार्य-बोध को प्रवर्तक मानता है, वह भी इष्ट-साधनता-बोध को कार्य-बोध में हेतु मानता है ; क्योंकि इष्ट-साधनता के बिना कार्य-बोध ही नहीं बन सकता । वहाँ भी तो इष्ट-साधनता मात्र अतीतादि में व्यभिचारी है, अतः कृति-योग्य इष्ट-साधनता-ज्ञान को ही कार्य-ज्ञान में हेतु मानना होगा । तब तो उसी प्रकार के विशिष्ट इष्ट-साधनता-बोध को प्रवृत्ति का हेतु मान लेने से काम चल जाता है ; बीच में कार्य-ज्ञान को क्यों व्यर्थ में फँसा रखा है ? ‘इस प्रकार का इष्ट-साधनता-ज्ञान ही कार्यता-ज्ञान है’—ऐसा आप नहीं कह सकते ; क्योंकि उक्त इष्ट-साधनता-ज्ञान को आप कार्यता-ज्ञान के प्रति हेतु मानते हैं (द्र. प्र.

---

१. समीहितसाधनताज्ञानम् । २. नयवि०पृ०३९ । ३. आकृतिव्यक्त्योरितिशेष

कार्यताज्ञानम् ; तस्य तज्ज्ञानं प्रति हेतुत्वाभ्युपगमात् । न च ममेदं कार्यमिति चिकीर्षामपहाय कार्यज्ञानं नाम किंचिदुपलभामहे । न च चिकीर्षैव कार्यधियमन्तरेणानुत्पद्यमाना तां कल्पयतीति युक्तम् ; कृतियोग्येष्टसाधनतावबोधादेव चिकीर्षाया अप्युपपत्तेः ।

न च कृतिसाध्यं प्रधानमिति कार्यलक्षणं युक्तम् , फलेऽतिव्याप्तेः । अथ साक्षात्कृतिसाध्यत्वं विवक्षितं न च तत्फलेऽस्तीति मतम् ; मैवम् । नियोगे तदभावेनाव्याप्तेः , भावार्थस्यैव साक्षात्कृतिसाध्यत्वात् । अथ साध्यैकस्वभावत्वम् , न ; प्रागभाववत्सु व्यभिचारात् । न च सदा साध्यैकस्वभावत्वम् , यागाद्यनुष्ठानोत्तरकालमपि तस्य साध्यैकस्वभावत्वे कदाचिदपि नियोगासिद्धौ स्वर्गासिद्धिप्रसङ्गात् । अस्तु वा यत्किंचिदविचारितरमणीयं लोके कार्यम् , तथापि

परिशेषात्कार्यविषयत्वमुक्तं तदप्यसिद्धं तस्याश्चिकीर्षारूपत्वादित्याह—**नच ममेदमिति** । यत्त्विष्टसाधनतामात्राच्चिकीर्षानुत्पत्तेस्तद्धेतुः कार्यं स्वीकर्तव्यमिति तदपि विशिष्टेष्टसाधनस्वीकारात्परिहृतमित्याह—**नचेत्यादिना**

तदेवं कार्यस्याप्रवर्तकत्वं प्रमाणाभावं चोक्त्वा तल्लक्षणमुक्तं दूषयति—**नच कृतीति** । फलमपि हि कृतिसाध्यं कृत्युद्देश्यतया प्रधानं चातस्तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । नन्वव्यवधानेन कृतिसाध्यत्वं विवक्षितम् नच तत्फलेऽस्ति नियोगव्यवधानात्तस्येति शङ्कते—**अथेति** । तर्ह्यसिद्धिर्धात्वर्थस्यैव साक्षात्कृतिलक्षणप्रयत्नसाध्यत्वात् नियोगस्य तद्व्यवधानादिति दूषयति—**मैवमिति** । किमिदं साध्यैकस्वभावत्वम् ? किं साधनार्हत्वाधिकरणत्वम् ? किंवा सिद्धत्वानधिकरणत्वम् ? आद्ये प्रागभाववत्सूत्पत्तियोग्येष्वतिव्याप्तिरित्याह—**प्रागभावेति** । द्वितीयं दूषयति—**नच सदेति** । एवंलक्षणके नियोगे तत्सिद्ध्यर्थं प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना व्याघातात्, फलासिद्धिः पूर्वोक्तयोग्यताविरहश्च । तथाच स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्येत्यादिशालिकया केवलं विलपितमेव स्यादित्यर्थः । एवं कार्यमात्रस्य लक्षणानि दूषयित्वा तद्विशेषं नियोगं दूषयति—**अस्तु वेति** ।

पं. पृ. १७९ तथा नय वि. पृ. ३९)। 'ममेदं कार्यम्'—यहाँ पर चिकीर्षा को छोड़कर कार्य-ज्ञान का अनुभव भी नहीं होता । 'कार्य-ज्ञान के बिना चिकीर्षा ही अनुपपन्न होकर उस (कार्य-ज्ञान) का कल्पक है'—यह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि कृतियोग्य इष्ट-साधनता-ज्ञान से ही चिकीर्षा भी बन जाती है, कार्य-ज्ञान की उसे कोई आवश्यकता नहीं । यह जो कार्य का लक्षण किया था—'कृति-साध्य एवं कृति के प्रति प्रधान'—वह भी युक्त नहीं ; क्योंकि स्वर्गादि फल में भी कृति-साध्यता और कृति की उद्देश्यता रहने से लक्षण अतिव्याप्त है । यदि कहा जाय कि कार्य के लक्षण में साक्षात् कृति-साध्यता का निवेश है । फल तो साक्षात् कृति-साध्य नहीं , मध्य में अपूर्व का व्यवधान है । अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं । तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि साक्षात् कृति-साध्यत्व तो नियोग में भी नहीं , किन्तु धात्वर्थ रूप यागादि क्रिया में ही है । यदि कहा जाय कृति-साध्यत्व का अर्थ है—साध्यमात्रस्वभावत्व । धात्वर्थ क्रिया के दो स्वभाव हैं—साध्य और सिद्ध, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी, तब तो प्रागभाववाले पदार्थों में साध्य मात्र स्वभावता रहने से अतिव्याप्ति है । यदि कहें कि सदा साध्यमात्रस्वभावता विवक्षित है । प्रागभाव वाले पदार्थों में प्रागभावकालावच्छेदेन साध्यमात्रस्वभावता रहने पर भी सदा नहीं , अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं । तो यह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि यागादि का अनुष्ठान पूरा हो जाने पर नियोग सिद्ध होता है ? कि साध्य ही रहता है ? यदि सिद्ध होता है, तब उसमें सदा साध्यमात्रस्वभावता लक्षण न जाने से असम्भव है और यदि यागादि का अनुष्ठान हो जाने पर भी नियोग साध्य ही है, फिर तो कभी भी नियोग सिद्ध ही नहीं होगा , नियोग की सिद्धि न होने पर स्वर्गादि की भी सिद्धि न

---

१. कृतियोग्यत्वेत्यादिः ।

कथं वैदिकलिङादिशब्दादलौकिकनियोगस्य प्रतिपत्तिः ? मानान्तरानधिगते तस्मिँल्लिङादेः सङ्गतिग्रहणायोगात् । अधिगमे वा "अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते', इति स्वकपोलकल्पितापूर्वत्वभङ्गप्रसङ्गः । न च कार्यमात्रेऽवसितसङ्गतिका लिङादयः शब्दाः नियोज्याभिधायिस्वर्गकामादिपदसमभिव्याहारसामर्थ्यात्क्रियातिरिक्तमेव कार्यमवगमयंति, आशुतरविनाशिन्याः क्रियायाः कालान्तरभाविस्वर्गादिसाधनतानुपपत्तेरिति युक्तं वक्तुम् । अनुपपत्तिवेद्यत्वे मानान्तरगोचरत्वप्रसङ्गात् ।

ननु नेयमर्थापत्तिः , तर्क एवायमुपन्यस्तः, तेन तर्काधिगते नियोगे सङ्गतिग्रहः सङ्गच्छते ; तर्कस्यामानत्वात् । प्रमाणानुग्राहकस्तर्को नतु प्रमाणमिति हि परीक्षका इति चेत् , मैवम् ; तर्कगोचरत्वेऽपि प्रमाणान्तरगोचरत्वस्यापरिहार्यत्वात् । तथाहि—प्रमाणान्तराधिगतव्याप्य-

---

तादृशो नियोगः किं प्रमाणान्तरेण न गृहीतः ? किं वा गृहीतः ? उभयथापि दूषणमाह—मानान्तरेत्यादिना । ननु नात्यन्तमलौकिकत्वमस्य यावता कार्यताकारेण लोकप्रसिद्धस्यैव सतो विशेषमात्रनिर्णयो वाक्यविशेषविमर्शाद्भवति । यथाहुः—

'व्युत्पत्तिरपिकार्येऽर्थे व्यवहारानुसारिणी ।
किंतु निर्धारणामात्रं वेदवाक्यविमर्शजम् ॥' इति ॥ (प्र० पं० पृ० १९२)

तदेतत्पूर्वपक्षावसरोक्तमनूद्य दूषयति—न चेत्यादिना । न च युक्तमित्युक्तम् , तत्र हेतुमाह—अनुपपत्तीति । अर्थापत्तिः खल्वनुपपत्तिः । तथाच मानान्तरगम्यत्वादपूर्वत्वनिवारणमित्यर्थः ।

पूर्ववादिहृदयं शङ्कते—नन्विति । अपूर्वत्वं निर्वाहयति—तर्कस्येति । यद्यपि तर्कः स्वयं न प्रमाणं तथापि तद्विषयः प्रमाणविषय एव, तथा चोक्तदोषानुषङ्ग इत्याह—मैवमिति । तदेव दर्शयितुं तर्कस्वरूपमाह—तथाहीति । एकाभ्युपगमेनेति । व्याप्याहार्यारोपेणेत्यर्थः । अनेन चानुमानेऽतिव्याप्तिः परिहृता ।

होगी । अस्तु, मान लेते हैं कोई अविचारित रमणीय कार्य । फिर भी वैदिक लिङादि शब्दों से अलौकिक नियोग का बोध कैसे होगा ? क्योंकि प्रमाणान्तर के अविषयभूत नियोग में लिङादि का शक्ति-ग्रहण ही सम्भव नहीं । शक्ति-ग्रह की उपपत्ति के लिए यदि नियोग को प्रमाणान्तर का विषय मान लें, तब "अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते" (प्रमाणान्तर का विषय न होने से अपूर्व को अपूर्व कहा जाता है—प्र. पं. पृ. १८७)—यह आपका कपोल-कल्पित अपूर्वस्वरूप ही चौपट हो जाता है । यह जो कहा था कि यद्यपि लिङादि शब्दों का शक्ति-ग्रह लौकिक कार्य मात्र में ही होता है, तथापि नियोज्य-समर्पक 'स्वर्गकाम' पद के सहयोग से क्रिया से अतिरिक्त अलौकिक कार्य के बोधक लिङादि हो जाते हैं ; क्योंकि क्षणप्रध्वंसिनी यागादि क्रिया में तो कालान्तर में होने वाले स्वर्ग की साधनता बन नहीं सकती । वह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि स्वर्ग-साधनता की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से अपूर्व की कल्पना करने पर वह प्रमाणान्तर (आगम से भिन्न अर्थापत्ति) का विषय होकर अपनी अपूर्वता ही खो बैठता है । यदि शङ्का की जाय कि स्वर्ग-साधनता की अन्यथानुपपत्ति से अपूर्व की कल्पना—यह अर्थापत्ति नहीं , अपि तु तर्क मात्र है । उस तर्क से अवगत नियोग में लिङादि का शक्ति-ग्रह होता है । तर्क तो प्रमाण है नहीं ; क्योंकि तर्क प्रमाणों का अनुग्राहक (पोषक) ही है , स्वयं प्रमाण नहीं—ऐसा ही शास्त्रकार मानते हैं । तो वह शङ्का युक्त न होगी ; क्योंकि अपूर्व में तर्क की विषयता मानने पर प्रमाणान्तर की विषयता भी अपरिहार्य हो जाती है । प्रमाणान्तर से जिन दो पदार्थों का व्याप्यव्यापकभाव जाना जाता है , उनमें एक पदार्थ को थोड़ी देर के लिए मान कर दूसरे का नियमपूर्वक प्रसञ्जन (आपादन) करना ही तर्क कहलाता है । जैसे—(प्रत्यक्ष प्रमाण से धूमाभाव और अग्न्यभाव का व्याप्यव्यापकभाव निश्चित है । पर्वत में

व्यापकभावयोरेकाभ्युपगमेन द्वितीयस्य नियतप्रसञ्जनरूपस्तर्कः। यथा यद्ययं वह्निमान्नस्याद्धूमवानपि नस्यादिति। तथा च यद्ययं लिङादिः क्रियातिरिक्तकार्याभिधायी न भवेत्तदा न स्वर्गकामपदेन समभिव्याह्रियेत, समभिव्याह्रियते चायम्; तस्मात्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायकः इति प्रसङ्गरूपेऽपि तर्के द्वयोरापाद्यापादकभावयोस्तदभावयोश्च धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोस्तदभावयोरिव मानान्तरगोचरता कथं न स्यात्? न चापाद्यापादकभावोऽपि; क्रियातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वेन तदभावस्याप्रसिद्धत्वात्। अप्रमाणभूतश्च तर्कः। स्मृत्यनुभवभेदेन ज्ञानद्वैराश्यवादिना स्मृतावन्तर्भवतीति वाच्यम्। न चात्राननुभूते नियोगे स्मृतिः संभवति, संस्कारजन्यायाः स्मृतेस्तदभावेऽभावात्। ननु पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति न ब्रूमः, किंतु सापेक्षं ज्ञानम्। अस्ति चात्र प्रमाणानुग्राहकतया तर्कस्य तदपेक्षा, ततो नोक्तदोषः

नियतप्रसञ्जनं तर्क इत्युक्ते यद्यनित्यः स्यान्मूर्तः स्यादित्यादिप्रसङ्गाभासेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाणान्तरेत्याद्युक्तम्। नियतपदं तु व्यर्थमेव। उदाहरति—**यथेति**। प्रकृतस्थलेऽप्यापाद्यापादके विवेचयति—**तथा चेति**। अस्य च विपर्यये पर्यवसानं दर्शयति—**समभिव्याह्रियते चायमिति**। **कथं न स्यादिति**। इतरथा मूलशैथिल्यादिति भावः। अभ्युपगम्यापाद्यापादकभावं प्रमाणान्तरगोचरत्वप्रसक्तिरुक्ता स एव नास्ति अप्रसिद्धविशेषणत्वादित्याह—**न चेति**। अत्र हि क्रियातिरिक्तकार्यानभिधायकत्वमापादकं स्वर्गकामपदासमभिव्याहारश्चापाद्यः, तत्रातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वादेव तदनभिधानमप्रसिद्धमेवेत्यर्थः। एवं तर्कगोचरत्वेऽपि प्रमाणान्तरगम्यत्वमापादितमिदानीमप्रमाणरूपत्वमपि त्वन्मते तर्कस्य न शक्यसमर्थनम्, स्मृतिव्यतिरिक्ताप्रमाणज्ञानस्य भवतानङ्गीकारात्। स्मृतेश्चाननुभूतचरतयाऽनुपचितसंस्कारेऽनुपपत्तेरित्याह—**अप्रमाणभूतेत्यादिना**। ननु वयमेतल्लक्षणं न कक्षीकुर्मः यत्संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिरिति, येनाननुभूते संस्काराभावात्स्मृत्यनुपपत्तिः स्यात्किं तु सापेक्षं ज्ञानमिति शङ्कते—**नन्विति**। प्रकृततर्के च लक्षणं वर्तयते—**अस्ति चात्रेति**। यदिदमस्य सापेक्षत्वं तत्क? स्वोत्पत्तौ? उत विषयावबोधे? आद्येऽपि

अग्नि का निश्चय-सा होने पर भी थोड़ी देर के लिए अग्न्यभाव का रहना (आहार्यारोप) मानकर कहना कि यदि इस पर्वत में अग्नि का अभाव है, तब धूम का भी अभाव होगा। उसी प्रकार प्रकृत में यदि यह लिङादि शब्द, धात्वर्थ क्रिया से अतिरिक्त कार्य का वाचक नहीं होता; तब इसका 'स्वर्गकाम' पद से समभिव्याहार (सहोच्चारण) नहीं होता। किन्तु इसका 'स्वर्गकाम' पद से समभिव्याहार देखा जाता है, अतः लिङादि, क्रिया से अतिरिक्त कार्य का वाचक है—इस प्रकार के प्रसङ्गरूप तर्क में आपाद्य ('स्वर्गकाम' पद का समभिव्याहाराभाव) और आपादक (क्रियातिरिक्त कार्यवाचकत्वाभाव) एवं उनके अभाव वैसे ही प्रमाणान्तर के विषय होते हैं, जैसे अग्नि और धूम एवं उनके अभाव। वस्तुतः क्रियातिरिक्त कार्यावाचकत्व और स्वर्गकामपदासमभिव्याहार का आपाद्य-आपादकभाव ही नहीं बनता; क्योंकि क्रिया से अतिरिक्त कार्य लोक में प्रसिद्ध नहीं, अतः उसका अभाव भी अप्रसिद्ध ही है। यह जो आपका कहना है कि तर्क अप्रमाण है। आप (प्राभाकर) के मत में स्मृति और अनुभव के भेद से ज्ञान दो राशियों में विभक्त किया गया है। उनमें अनुभव प्रमाण और स्मृति अप्रमाण है। [1]तर्क यदि अप्रमाण है, तब स्मृति रूप ही मानना होगा। किन्तु यहाँ अननुभूत नियोग की स्मृति बन नहीं सकती; क्योंकि संस्कार से जन्य होती है—स्मृति; संस्कार के न होने से स्मृति भी नहीं बन सकेगी। यदि कहें कि 'पूर्वानुभव-जन्य संस्कार मात्र से जन्य ज्ञान स्मृति है'—ऐसा स्मृति का लक्षण नहीं करते, अपितु 'सापेक्षज्ञानत्वम्—यह स्मृति का लक्षण करेंगे। प्रमाण का अनुग्राहक होने से तर्क भी प्रमाण-सापेक्ष हो जाने से स्मृति रूप है, अतः

---

[1] मानान्तरगोचरत्वानङ्गीकारे तर्कमूलस्य प्रमाणान्तरस्य शैथिल्यं स्यादित्यर्थः।

इति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमुत्पत्तौ सापेक्षत्वम्? उत विषयावबोधे? नाद्यः; प्रमाणज्ञानानामपीन्द्रियलिङ्गादिसापेक्षतया स्मृतित्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; विषयावबोधेऽपि सापेक्षत्वे स्मृतेः प्रदीपवज्ज्ञानत्वाभावप्रसङ्गात्, अपसिद्धान्तापत्तिश्च।

"प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः ॥
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ॥" (प्र० पं० अमृ० ?)

इति शालिकनाथवचनविरोधात्।

न चार्थापत्तिगम्यत्वमपि; कृतेर्भावार्थजननद्वाराऽपूर्वसाधनत्ववत्क्रियाया एवापूर्वावान्तरव्यापारायाः स्वर्गसाधनत्वोपपत्तेः। अपि च 'यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातया' दित्यत्रा-

यत्किंचिदपेक्षा ? उत ज्ञानापेक्षा ? आद्ये आह—**नाद्य इति**। एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः। लिङ्गज्ञानसापेक्षस्याप्यनुमानस्यास्मृतित्वात्। द्वितीयं निरस्यति—**विषयेति**। विषयावबोधे विषयव्यवहारजनने, कारणेन[1] कार्यलक्षणात्। तत्र सापेक्षत्वे प्रदीपवज्ज्ञानत्वं न स्यादित्यर्थः। **प्रमाणमनुभूतिरिति** प्रमाणसामान्यलक्षणम्। अनुभूतेर्लक्षणमाह—**सा स्मृतेरन्येति**। स्मृतिव्यतिरिक्तम् ज्ञानमित्यर्थः, तेन च स्मृतेः प्रामाण्यं निवारितम्। स्मृतेरपि लक्षणमाह—**स्मृतिः पुनरित्यादिना**। अनुमानप्रत्यभिज्ञादिव्यावृत्त्यर्थं मात्रग्रहणमिति प्रकरणपञ्चिकाप्रमाणपारायणश्लोकार्थः।

एवमनुपपत्तिमङ्गीकृत्यापूर्वत्वक्षतिरापादिता। इदानीमनुपपत्तिरेव नास्त्यन्यथैवोपपत्तेरित्येतत्प्रतिबन्दीपूर्वकमाह—**न चार्थापत्तीति**। यथा हिं यजेतेत्यत्र कृतिसाध्यनियोगामिधायिना लिङा कृतिनियोगयोः प्रतीतेरुभयोश्चैकपदत्वेन साध्यसाधनभावप्रतीतौ भावार्थविषयकत्वेन तज्जनकत्वनियमात्कृतेर्नियोगस्य चाभावार्थत्वात्[2] प्रकृत्यभिधेयभावार्थमुत्पाद्य तद्द्वारा नियोगसाधनता कृतेर्भवद्भिरङ्गीक्रियते तथा क्रियाया एव क्षणिकाया अप्यपूर्वावान्तरव्यापारायाः फलसाधनत्वोपपत्तौ न स्वतन्त्रनियोगव्यतिरेकेण काचनानुपपत्तिरित्यर्थः। यत्पुनरत्र कैश्चिदुक्तम्—अपूर्वकल्पनायामपि साधनसाधनतैव यागस्य न तु साक्षात्साधनता यागस्येति तत्कल्पनायामपि तदवस्थैवानुपपत्तिरिति, तन्न; व्यापारतयैव कल्पना तेन चाव्यवधानात्। यदि च तत्कल्पनामात्राद्व्यवधानं तर्ह्यवगूरणादावपि स्यादिति प्रतिबन्दीं गृह्णाति—**अपि चेति**।

अप्रमाण है। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि यहाँ जिज्ञासा होती है कि तर्क को प्रमाण की अपेक्षा अपनी उत्पत्ति में है? या विषय के प्रकाशन में? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि अपनी उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा करने से तर्क, स्मृति है। तब तो प्रमाणज्ञान भी स्मृति बन जायँगे; क्योंकि उन्हें भी अपनी उत्पत्ति में इन्द्रिय, लिङ्गादि की अपेक्षा है। द्वितीय (विषय-प्रकाशन में अपेक्षा) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि विषय-प्रकाशन में यदि स्मृति सापेक्ष होगी, तब तो स्मृति में ज्ञानत्व ही नहीं रहेगा, वह भी प्रदीपादि की भाँति ज्ञान से भिन्न ही हो जायगी। यदि स्मृति को ज्ञान न मानें तो वह अपसिद्धान्त होगा; क्योंकि शालिकनाथ ने स्पष्ट कहा है—'हमारे मत में प्रमाण है—अनुभूति, अनुभूति नाम है–स्मृति-भिन्न ज्ञान का। स्मृति कहते हैं—पूर्व ज्ञान-जन्य संस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को।'

कार्य अर्थापत्ति-गम्य भी नहीं (अर्थात् कार्य के बिना कोई अनुपपत्ति भी नहीं); क्योंकि जैसे आपके मत में कृति (प्रयत्न) में धात्वर्थरूप क्रिया के द्वारा अपूर्व की साधनता है, वैसे ही हमारे यहाँ यागादि क्रिया में ही अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा स्वर्ग की साधनता बन सकती है। दूसरी बात यह भी है कि "यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयेत्" (जो ब्राह्मण को मारने के लिए लाठी उठाता है, उसे उसका वही कर्म सौ वर्ष तक नरक-यातना देता रहता है) यहाँ पर

---

१. व्यवहारंप्रतिव्यवहर्त्तव्यज्ञानं कारणमिति नीत्या विषयावबोधःकारणं विषयव्यवहारस्य २. धात्वर्थभिन्नत्वात्

वगूरणकर्मणः क्षणिकस्यापि दुरितापूर्वजननद्वारा कालान्तभोवि शतयातनाफलसाधनत्ववत्क्षणिकाया अपि यागक्रियाया अपूर्वजननद्वारा स्वर्गसाधनता किं न स्यात् ? नन्ववगूरणे दुरितापूर्वकल्पना कामाधिकारे क्रियातिरिक्तनियोगसिद्ध्युत्तरकालीना। तथाहि—तत्राशुतरविनाशिन्याः क्रियायाः कालान्तरभाविफलसाधनत्वासामर्थ्यात्तदतिरिक्तापूर्वस्य फलसाधनत्वे स्थिते पश्चादवगूरणेऽपि कालान्तरभाविशतयातनाफलमपि दुरितापूर्वद्वारैवेति कल्प्यते, तथा सति कथं नियोगासिद्धिः ? तत्सिद्ध्युत्तरकालीनत्वादुत्तरकल्पनाया इति चेत्, मैवम्; कृतिसाध्ये[1] नियोगे प्रतीते कृतेर्भावार्थैकविषयत्वात्, नियोगस्य चाभावार्थरूपत्वात्साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवात्, भावार्थं साधयन्ती कृतिर्नियोगं साधयतीति यथा कल्प्यते। अत एव चाघटितसंघटकतया[2] भावार्थोऽपि विषयः करणं च नियोगं प्रतीति गीयते। यथाहुः—

यः पुरुषो ब्राह्मणायावगुरेच्छतमुद्यमेत्, उद्यतायुधं तदेवावगूरणं शतेन यातयात्। इत्थंभावे तृतीया। यावत्परत्रानेन[1] दुःखमुत्पाद्यते ततः शतगुणयातनामनुभावयेत्। अथवा शतेन संवत्सरेण यातयात्। तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानातीति वाक्यशेषात्। अत्र हि कालान्तरभाविशतयातनादेः न क्षणिकावगूरणादि साधनमिति किंचिद्दुरितापूर्वं कल्पनीयमिति। न च तदपि श्रौतम्; दुःखफलतया अकार्यत्वेनाशक्यार्थत्वात्। यत्त्ववगूरणे तादृशापूर्वकल्पनमेव काम्येषु वाक्येषु स्वतन्त्रनियोगं गमयति तमन्तरेण तदनुपपत्तेरिति नयविवेककारेणोक्तं तदुद्भावयति—नन्विति। तत्सिद्ध्युत्तरकालतामेव दर्शयति—तथाहीत्यादिना। अदृष्टचरस्य कल्पनानुपपत्तेः कामाधिकारसिद्धो नियोगोऽत्र कल्प्यत इत्यर्थः। अन्यत्र सिद्धावेव हेतुः—तत्सिद्धीति। सत्यमन्यत्र दृष्टं कल्प्यते तत्तु तत्रावान्तरव्यापारत्वेनैव दृष्टं न तु स्वतन्त्रत्वेनेत्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमित्यादिना। अयं च कृतेर्भावार्थजननद्वारेत्यस्य प्रपञ्चोऽपि। अत्र च यागादिधात्वर्थस्य नियोगं प्रति विषयत्वाङ्गीकरणं करणत्वाङ्गीकरणं च गमकमित्याह—अत एव चेति।

जैसे अवगूरण (ताड़ना) कर्म क्षणिक होने पर भी पापापूर्व की उत्पत्ति के द्वारा भावी जन्म में मिलने वाले शत यातना रूप फल का साधन है, वैसे ही क्षणिक यागादि क्रिया भी अपूर्व की उत्पत्ति के द्वारा स्वर्ग का साधन क्यों न होगी ? यदि यह शङ्का की जाय कि अवगूरण में दुरितापूर्व की कल्पना तभी हो सकती है, जब कि काम्य-प्रकरण में पहले क्रिया से अतिरिक्त नियोग सिद्ध हो जाय। अर्थात् काम्य-स्थल पर शीघ्र नष्ट होने वाली यागादि क्रिया में कालान्तर-भावी स्वर्ग फल की साधनता सम्भव नहीं, अतः क्रिया से भिन्न अपूर्व में फल-साधनता स्थिर हो जाने के पश्चात् अवगूरण में भी कालान्तर-भावी शत यातनारूप फल, दुरितापूर्व के द्वारा ही होगा—यह कल्पना हो सकेगी। इस लिए दुरितापूर्व-घटित दृष्टान्त से नियोग की असिद्धि नहीं होगी; क्योंकि नियोग-सिद्धि के पश्चात् ही दुरितापूर्व की कल्पना हो सकेगी। तो यह शङ्का युक्तियुक्त न होगी; क्योंकि जैसे आपके यहाँ नियोग में कृति-साध्यता का ज्ञान होने पर यह सोचा जाता है कि कृति (प्रयत्न) तो केवल धात्वर्थ को विषय करती है (अर्थात् कृति की साध्यताख्यविषयता यागादि में ही होती है, जैसा कि मुरारि मिश्र ने अङ्गत्व-निरुक्ति में कहा है—"त्रिधा हि कृतिविषयता—साध्यता, उपादानता, उद्देश्यता चेति। तद्यथा स्वर्गमुद्दिश्य यागं साधयितुं हविरादिकमुपादत्ते इत्यादिप्रतीत्या यागे साध्यताख्यविषयता, स्वर्गे उद्देश्यताख्यां, हविरादावुपादानताख्या")। किन्तु नियोग भावार्थ (धात्वर्थ) रूप न होने से, साक्षात् कृति-साध्य हो नहीं सकता। अतः कृति भावार्थ की सिद्धि करती हुई ही नियोग की साधिका है। अघटित (साध्य = नियोग) का संघटक (साधक) होने के कारण धात्वर्थ ही नियोग के प्रति करण भी है और विषय भी) जैसा कि भवनाथ ने कहा है—

---

[1] द्र० प्र०पं०पृ० १०५। [2] धात्वर्थमन्तराऽनिष्पन्नस्य (नियोगस्य) सम्पादकतयेत्यर्थः। [1] ब्राह्मणे।

"कृतितत्साध्यमध्यस्थो यागादिर्विषयोमतः ।
कार्येसंघटिताकारे करणत्वेन संमतः ॥" इति ॥

तथा लोकावगतसामर्थ्यैर्लिङादिशब्दैरधिगतफलसाधनभावायाः क्रियाया नियोगमन्तरेणापि स्वजन्यापूर्वावान्तरव्यापारद्वारा फलसाधनत्वसंभवे तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एवावगूरणेऽपि दुरितापूर्वकल्पनायां संभाविन्यामलोकवेदसिद्धनियोगकल्पनानुपपत्तेः । इतरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वभङ्गोऽपरिक्लृप्तनियोगवाचकत्वकल्पना, अपूर्वस्य फलसाधनत्वकल्पना, यागस्य च फलनियोगयोः करणत्वकल्पना चेति गौरवं प्रसज्येत ।

किं च यथा तवाग्नेयादीनामुत्पत्त्यपूर्वावान्तरव्यापाराणां परमापूर्वसाधनभावस्तथास्मन्मतेऽ-

एतदेव भवनाथवचनेन द्रढयति—कृतीति । कृतिः प्रयत्नः तत्साध्यो नियोगस्तयोर्मध्यस्थो यागदानहोमादिधात्वर्थो विषयो मतः । षिञो बन्धनकर्मणो विषयशब्दव्युत्पत्तेः । कृतिं नियोगादौ घटयतो धात्वर्थस्य युज्यते विषयत्वं तथा कार्येऽसंघटिताकारे स एव च विषयः तस्मिन्नेव करणत्वेन च संमत इति श्लोकयोजना । एतदुक्तं भवति—प्रतिपत्त्युपाधौ[1] विषयत्वं सिद्ध्युपाधौ[2] करणत्वमित्यस्ति तयोर्भेद इति । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथा लोकावगतेत्यादिना । गवानयनादिक्रियैव तावत्फलसाधनत्वेनाधिगता लिङादिशब्दैः, तद्यदि क्षणिकत्वादनुपपन्नं तर्ह्यवान्तरव्यापारवत्यास्तस्या एव साधनत्वमास्थेयम् । एवं दृष्टमनुगृहीतं भवति, इतरथा हि दृष्टहानिरदृष्टकल्पना प्रसज्येयाताम् । अत एव तद्दृष्टान्तेनावगूरणेऽपि तत्कल्पनासिद्धेर्न नियोगेन विनानुपपत्तिरित्यर्थः । युक्तं चैतदितरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वमात्रेण व्यवहारोपपत्तौ अलौकिकबहुकल्पनाप्रसङ्ग इत्याह—इतरथेति । अपूर्वस्येति । अपूर्वस्य फलं प्रति साधनत्वकल्पनेत्यर्थः । यागस्येति । अपूर्वफलयोरेकैकैव भावना एकमेकमेव करणं एकैकैव च भाव्यतेति हि तेषामभ्युपगमः । उपलक्षणं चैतत्, यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वकल्पनायाः । प्रतिपत्त्यनुबन्धितया[3] तस्य करणत्वादपि प्राथमिकत्वात् ।

एवं प्रतिबन्दीं समर्थ्याग्नेयादिप्रतिबन्द्यापि क्रियाया एव फलसाधनतामुपपादयति—किंचेति । 'आग्नेयोऽष्टाकपालः, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पय' इति यागत्रयं दर्शत्रयं नाम । आग्नेयोऽष्टाकपालो यागः, आज्यहविष्कश्चोपांशुयागः; अग्नीषोमीयैकादशकपालयागश्चेति पौर्णमासत्रयम् । एतेषां च परमं दर्शपूर्णमासापूर्वं प्रति करणत्वं 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', इति विधिना बोधितम्, न च क्षणिकानामुदीच्योप-

'कृति और कृति-साध्य (नियोग) के मध्य में स्थित यागादि धात्वर्थ ही असंघटिताकार (साध्यत्वमात्राकार) नियोग में विषय तथा करण माना जाता है ।' वैसे ही लोक-व्यवहार में जिनका शक्तिग्रह हो गया है, ऐसे लिङादि शब्दों के द्वारा जिस यागादि क्रिया में स्वर्गादि फल की साधनता निश्चित हुई है, उस धात्वर्थ रूप क्रिया में ही नियोग के बिना भी स्व-जन्य (यागादि-जन्य) अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा फल-साधनत्व सम्भव है । इसी दृष्टान्त के आधार पर ही अवगूरण (ताड़ना) में भी दुरितापूर्व की कल्पना सम्भव है, तब लोक और वेद में नितान्त अप्रसिद्ध नियोग की कल्पना नहीं हो सकती । अन्यथा लिङादि में प्रसिद्ध क्रियारूप कार्य की वाचकता भङ्ग हो जायगी, अप्रसिद्ध नियोग के वाचकत्व की कल्पना, अपूर्व में फल-साधनत्व की कल्पना, याग में फल तथा नियोग के कारणत्व की कल्पना करनी पड़ेगी; जिससे महान् गौरव होगा ।

दूसरी बात यह है कि जैसे आपके मत में माना जाता है कि आग्नेयादि कर्म ही अपने उत्पत्त्यपूर्वरूप अवान्तर व्यापार के द्वारा परमापूर्व के साधन हैं; वैसे ही हमारे मत में भी अपूर्व रूप

---

[1] नियोगः भावार्थविशिष्टकृतिविशिष्टः सन् प्रतीयतेऽतो नियोगप्रतीतिमपेक्ष्य भावार्थः करणम्, उक्तं हि शालिकनाथेन—"भावार्थः कृतिं विशिंषन् कार्यं विशिनष्टीति विषयः" (प्र०पं०१०५पृष्ठे) । [2] सिद्धिः = उत्पत्तिः (नियोगस्य), तामपेक्ष्य भावार्थः करणमितिभावः । [3] ज्ञानविषयविशेषकतया, तस्य = विषयत्वस्य ।

प्यपूर्वावान्तरव्यापाराया एव क्रियाया ईश्वरप्रसादावान्तरव्यापाराया वा फलसाधनतोपपत्तेर्न नियोगकल्पनावकाशः । न[1] चोत्पत्त्यपूर्वाणामेव परमापूर्वसाधनत्वमाग्नेयादीनां तु तत्साधनतैवेति युक्तं वक्तुम् ; प्रमाणाभावात् । तथाहि—किं 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यधिकारवाक्येनैषां परमापूर्वसाधनत्वमवगतम् ? उत 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्याद्युत्पत्तिवाक्यैः ? नाद्यः ; दर्शपूणमासाभ्यामित्यस्य कर्मसमुदायवाचकत्वात्, यजेतेति च परमा-

कारो घटते इत्यवान्तरव्यापाररूपाणि षडपूर्वाणि कल्प्यन्ते । न च तावताग्नेयादीनां साधनताऽभाव इति भवतामपि संप्रतिपन्नं तथात्राप्यस्मन्मते क्रियैवापूर्वावान्तरव्यापारा स्वर्गसाधनं नत्वपूर्वम् । अथ ईश्वरप्रसाद एवापूर्वस्थानेऽभिषिच्यतां तस्य श्रुतिस्मृतिपुराणगणनिर्णीतत्वादित्यर्थः । यथा चास्मन्मते तत्तद्देवतायागावैवर्थ्यम् 'देवता वा प्रयोजये'दित्यधिकरणाविरोधश्च, तथा 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्र वर्णितं वाचस्पतिमिश्रैः । ननु नाग्नेयादिष्वपूर्वाणामवान्तरव्यापारत्वम्, अपि तु तान्येव[2] परमापूर्वं प्रति साधनम्, आग्नेयादीनि तु तत्साधनानीत्याशङ्क्य[3] दूषयति—न चोत्पत्तीत्यादिना । अधिकारवाक्यं फलसंबन्धबोधकं वाक्यं नियोज्यसमर्पकं वा, उत्पत्तिवाक्यं कर्मस्वरूपबोधकम् । आद्येऽपि पक्षे दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यनेन वा यजेतेत्यनेन वा । प्रथमे प्राह—दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्येति । आग्नेयादिकर्मसमुच्चयवाचकत्वादु-

अथवा ईश्वर-प्रसन्नतारूप अवान्तर व्यापार के द्वारा यागादि क्रिया में ही फल की साधनता बन जाती है ; अतः नियोग की कल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता । [पूर्व की यह अपूर्वकथा है—"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्"—इस अधिकार वाक्य ने बताया कि 'दर्शपूर्णमास' नामधारी याग स्वर्ग का साधन है । चिन्ता हुई कि स्वर्ग मिलेगा, कहीं भावी जन्म में ; तब तक यह क्षणभङ्गुर याग टिकेगा कैसे ? अर्थापत्ति ने ढाँढस बँधाया—याग जन्म देगा, अपूर्व को और अपूर्व स्वर्ग मिलाएगा । इस अपूर्व की गौरवान्वित प्रख्या है—फलापूर्व या परमापूर्व । परमापूर्व की जन्म-कहानी बहुत मनोरम है—अमावास्या तिथि में अनुष्ठेय तीन कर्म होते हैं—एक आग्नेय और दो ऐन्द्र (ऐन्द्र दधि, ऐन्द्रं पयः)—इस त्रिक की संज्ञा 'दर्श' है । इसी प्रकार पूर्णिमा तिथि में किये जाने वाले तीन कर्म हैं—आग्नेय, उपांशु और अग्नीषोमीय, इस त्रिक का 'पूर्णमास, नाम है । इन दोनों त्रिकों का एक नाम है—दर्शपूर्णमास । उक्त अधिकार वाक्य ने एक और आज्ञा प्रसारित कर रखी है कि दोनों त्रिक मिलकर परमापूर्व पैदा करें । क्षणभङ्गुरता पिशाची ने उनके मिलन का मुहूर्त ही बिगाड़ दिया है । अतः यह निश्चय करना पड़ा कि प्रत्येक त्रिक का प्रत्येक कर्म एक-एक अपूर्व उत्पन्न करेगा । प्रत्येक कर्म से उत्पन्न अपूर्व की अभिख्या है—उत्पत्त्यपूर्व । प्रत्येक त्रिक के तीन-तीन उत्पत्त्यपूर्वों से एक-एक समुदायापूर्व होगा । दोनों समुदायापूर्वों के द्वारा परमापूर्व उत्पन्न किया जायगा । अतः यह तय पाया गया कि आग्नेयादि छहों कर्म अपने उत्पत्त्यपूर्वक को व्यापार बनाकर परमापूर्व को जन्म देते हैं (द्र० शा० दी० २।१।२ तथा प्र. पं. पृ. १९०) । उसी प्रकार अपूर्वरूप अवान्तर व्यापार के द्वारा यागादि ही स्वर्ग के साधन हो जायँगे, नियोग की कल्पना व्यर्थ है] । यदि यह कहा जाय कि उत्पत्त्यपूर्व में ही परमापूर्व की साक्षात् साधनता है, आग्नेयादि में परमापूर्व के साधन की साधनता है । तो यह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि परमापूर्व की साधनता उत्पत्त्यपूर्व में है—इसमें प्रमाण क्या है ? क्या "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्"—इस अधिकार (कर्म-फल-सम्बन्ध-बोधक) वाक्य से उत्पत्त्यपूर्वों में परमापूर्व की साधनता ज्ञात होती है ? या "आग्नेयोऽष्टाकपालः"—आदि उत्पत्ति (कर्मस्वरूप-बोधक) वाक्यों से ? प्रथम पक्ष

---

१. द्र० न्या० म० पृ० २१४ । २. उत्पत्त्यपूर्वाण्येव ३. उत्पत्त्यपूर्वसाधनानीत्यर्थः ।

पूर्वाभिधानात् । नापि द्वितीयः ; दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यधिकारवाक्यसंनिधिसमाम्नातानामुत्पत्तिवाक्यानामधिकारापूर्वानुवादशङ्काकुण्ठितशक्तीनां द्रागित्येवापूर्वान्तरप्रत्ययजनकतानाश्रयणात् । अन्यथाधिकारवाक्यसंनिधिपरिपठितसमिदादिवाक्यस्थलिङादिशब्दानामपि स्वतन्त्रकार्याभिधायकत्वे ग्राहकग्रहणभङ्गप्रसङ्गः । प्रयोजनप्रयोजनिभावेनान्विताभिधानं ग्राहकग्रहणमित्यभ्युपगमात् , स्वतन्त्राणां च प्रयोजनप्रयोजनिभावासंभवात् । आग्नेयादीनामेव त्वधि-

त्पत्त्यपूर्वानभिधायकत्वादित्यर्थः । द्वितीयं निषेधति—यजेतेति चेति । भावार्थविशिष्टपरमापूर्वाभिधायकत्वादित्यर्थः । उत्पत्तिवाक्यैरिति पक्षं दूषयति— नापीति । एष हि तेषामभ्युपगमः—आग्नेयादिवाक्यैरपूर्वान्तराणि नाभिधीयन्ते, प्रधानापूर्वसंनिधिपठिततया तदनुवादाशङ्कया कुण्ठितशक्तित्वात् । केवलं कर्मस्वरूपमात्रं तत्र शाब्दम् । योग्यतावैधुर्याभावाच्च प्र[१]करणिनान्विताभिधानं का[२]रणान्तरवशाच्चापूर्वाणां कल्प्यत्वमिति सोऽयं भज्येतैवमभ्युपगच्छत इत्यर्थः । न केवलमनुवादाशङ्कयानभिधायकमनिष्टप्रसङ्गाच्चेत्याह—अन्यथेति । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्याद्यधिकारवाक्यप्रकरणपठितसमिदादिवाक्यानामप्याग्नेयादिवाक्यवदपूर्वाभिधायकत्वात् । अपूर्वस्य च कृतिसाध्यं प्रधानं यदित्युक्तलक्षणवत्तया प्रधानत्वात्प्रधानयोश्चाङ्गाङ्गिभावाभावात्तद्बोधकग्राहकसंज्ञकप्रयोगवचनेन परिग्रहो न स्यादित्यर्थः । आपाद्य चेदं दूषणम् । परमापूर्वेण ग्राहकग्रहणस्वरूपं दर्शयति—प्रयोजनेत्ति । प्रयोजनं प्रधानं नियोगः , प्रयोजनिनः तत्प्रकरणपठितसकलपदार्थास्तदन्विततया प्रधाननियागस्याभिधानं ग्राहकग्रहणमित्यर्थः । कथं तर्ह्याग्नेयादीनां क्षणिकानां सेतिकर्तव्याताकानां परमापूर्वनिर्वर्तकत्वमित्यत आह—आग्नेयादीनामेव त्विति । अवगतो

उचित नहीं ; क्योंकि उक्त अधिकार वाक्य में 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्'—यह पद कर्म-समुदाय (आग्नेयादि छह कर्मों को) कहता है और 'यजेत'—यह पद परमापूर्व का वाचक है, वहाँ और कोई ऐसा पद ही नहीं, जो उत्पत्त्यपूर्व का वाचक हो । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि आप (प्राभाकर) के मत में 'आग्नेयोऽष्टाकपालः'—आदि वाक्य केवल कर्मस्वरूप के बोधक हैं, किसी भी अपूर्व के वाचक नहीं, कारण यह है कि 'आग्नेयोऽष्टाकपालः'—आदि वाक्य, 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्'—इस अधिकार विधि के समीप पढ़े हैं, अतः शङ्का होती है कि अधिकार विधि संबोध्य परमापूर्व के ही अनुवादक आग्नेयादि वाक्य होंगे (जैसे कि "व्रीहीनवहन्ति"—आदि वाक्यों के विषय में शालिक नाथ ने कहा है—द्र. प्र. पं. पृ. २१३)। अन्यथा ("आग्नेयोऽष्टाकपालः"—आदि वाक्यों को अपूर्वान्तर का प्रतिपादक मानने पर) उक्त अधिकार वाक्य की सन्निधि में पठित समिदादि वाक्य (समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति) भी स्वतन्त्र अपूर्व के बोधक हो जायँगे ; तब तो ग्राहकग्रहण (अन्विताभिधान) ही भङ्ग हो जायगा ; क्योंकि प्रयोजनप्रयोजनिभाव (अङ्गाङ्गिभाव) से अन्वित पदार्थों का प्रतिपादन ही ग्राहकग्रहण माना जाता है । किन्तु स्वतन्त्र (प्रधान) पदार्थों का अङ्गाङ्गिभाव सम्भव नहीं । [आशय यह है कि प्रभाकर के सिद्धान्त में वैदिक लिङादि प्रत्ययों से प्रतीत होने वाला नियोग, अपने अङ्गभूत, प्रकरण-पठित पदार्थों से विशेषित होकर ही अभिहित होता है । इस प्रकार नियोग-ग्राहक शब्द से ही अङ्गपदार्थों का ग्रहण (अभिधान) हो जाता है ।—इसी का नाम ग्राहकग्रहण (प्रधाननियोगग्राहकेणैव अङ्गानां ग्रहणम्) या अन्विताभिधान (अङ्गान्वितस्य प्रधाननियोगस्याभिधानम्) कहा जाता है (द्र० प्र. पं. पृ० १८९, २१२)। जैसे दर्शपूर्णमास में प्रयाजादिरूप इतिकर्तव्यादि-विशेषित परमापूर्व लिङ् प्रत्यय से अभिहित होता है । नियोग सर्वतः प्रधान होता है, अतः नियोग में जिस पदार्थ का अन्वय होगा अङ्गतया ही होगा, प्रधानतया नहीं हो सकता । कारण यह कि अन्वय, साकांक्ष पदार्थों

---

१. परमापूर्वेण । २. अङ्गाङ्गिभावान्वयानुपपत्तिरूपकारणेत्यर्थः ।

कारापूर्वं प्रत्यवगतकरणविषयभावानां क्षणिकत्वेन तदनुपपत्तौ तत्सिद्ध्यर्थमेवावान्तरव्यापारतयोत्पत्त्यपूर्वाङ्गीकरणात् ।

कश्चायं नियोज्यो नाम यदन्वयात्क्रियातिरिक्तनियोगसिद्धिः ? स किं कार्यं प्रति गुणभूतः ? प्रधानभूतो वा ? नाद्यः ; गुणत्वे कर्तृत्वान्वयान्तर्भावात् । न द्वितीयः ; प्राधान्येऽधिकार्यन्वयापातात्, गुणप्रधानभावातिरिक्तप्रकारान्तरासंभवाच्च । कार्यमात्मीयत्वेन योऽवबुध्यते स नियोज्य इति चेत् ; तथाभूतावबोधस्यापि गुणप्रधानभावान्तर्भावेणोक्तदूषणापत्तेः । क्रियाकार्यं

विषयभावः करणभावश्च येषां ते तथा । अङ्गीकरणादिति । यत्रानन्यनिष्ठभावार्थलक्षणविषयलाभस्तत्राभिधायकत्वकल्पना अन्यत्र केवलकल्पनेत्यर्थः । अत्र भवनाथः प्राह—"न क्षणिकां क्रियां व्यवहितस्वर्गं प्रति साधनत्वेनाभिदधाति शब्दः । अतः कल्पनानुपपत्तेः अपूर्वकल्पनातः प्रागयोग्यत्वात् आग्नेयादीनां त्वपूर्वं प्रति योग्यत्वादन्विताभिधानम्" इति, तन्न ; नहि क्षणिकत्वाद्व्यवहितत्वमात्राद्वाऽयोग्यत्वम्, तैलपानादावदर्शनात् । निरन्वयविनाशस्तत्राप्यसिद्धः, आग्नेयादेरिव च क्षणिकस्यापि योग्यताऽस्त्यतः कारणान्तरमप्रयोजकम् ।

एवं नियोगस्याशाब्दत्वमुपपाद्य तद्व्यावर्तकं नियोज्यं दूषयति—**कश्चायमिति** । ननु नियोगदूषणसमये नियोज्यदूषणमकाण्डताण्डवमिव नेत्याह—**यदन्वयादिति** । **गुणत्व इति** । क्रियां प्रति गुणभूतश्चेतनः कर्तैव न तु तदतिरिक्त इत्यर्थः । तेन न समिदादिषु[1] व्यभिचारः । इदं च निगूढाभिसन्धेर्दूषणम् । **प्राधान्य इति** । क्रियां प्रति प्राधान्यं नाम तत्फलभोक्तृत्वमत्र विवक्षितं चेतनत्वविशेषितं वा तदेव चाधिकारित्वमित्यर्थः । तेन च व्रीह्यादिव्यावृत्तिः[2] । ननु गुणप्रधानभावव्यतिरिक्त एव कश्चित्प्रकारो भवत्विति तत्राह—**गुणप्रधानेति** । स्वतन्त्रयोः संबन्धाभावप्रसङ्गादिति भावः । **तथाभूतेति** । आत्मीयत्वं नामात्मसंबन्धित्वम् । न च निराकाङ्क्षयोः संबन्ध इत्यन्तर्भवत्येव गुणप्रधानभावे सोऽपीत्यर्थः । यो निगूढोऽभिसन्धिरुक्तस्तमुद्घाटयितुं शङ्कते—**क्रियाकार्यमिति** । द्विविधं हि कार्यं क्रियारूपं तदतिरिक्त-

का ही होता है । प्रधानभूत नियोग में अङ्गों की ही आकांक्षा है, अतः अङ्गों का ही उसमें अन्वय होगा । यदि समिदादि वाक्यस्थ लिङादि प्रत्यय दूसरे अपूर्व का प्रतिपादन करें, तब इस अपूर्व का उक्त परमापूर्व से अन्वय होगा नहीं ; क्योंकि अपूर्व तो सभी प्रधान ही होते हैं—यह कहा जा चुका है । अतः परमापूर्व-ग्राहक वाक्य से प्रयाजादि का ग्रहण न हो सकेगा—द्र. न्या. म. चि. पृ. २१६]। परमापूर्व के विषय एवं करण अग्नेयादि कर्म यद्यपि क्षणिक हैं, तथापि अपने उत्पत्त्यपूर्वरूप अवान्तर व्यापार के द्वारा परमापूर्व के निष्पादक हो जायँगे ।

जिस नियोज्य के अन्वय से क्रियातिरिक्त नियोग की सिद्धि करते हैं, वह नियोज्य क्या है ? वह कार्य (नियोग) के प्रति गुणभूत है ? या प्रधानभूत ? गुणभूत यदि है, तब तो वह चेतन ही होगा, जिसका कर्तृत्वरूप से क्रिया में अन्वय होता है । (कर्ता का अन्वय तो लौकिक क्रियामात्र में है, उसके अन्वय से क्रियातिरिक्त कार्य कैसे सिद्ध होगा ?) । यदि प्रधान है, तब अधिकारी के अन्तर्गत हो जायगा (इसके योग से भी क्रियातिरिक्त कार्य सिद्ध न होगा) । गुण-प्रधान भाव से अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार सम्भव नहीं । 'कार्य को जो आत्मीय समझता हो, वह नियोज्य है'—यह लक्षण भी युक्त नहीं ; क्योंकि कार्य को आत्मीय समझने वाला या तो गुण होगा, या प्रधान ; अतः यहाँ भी उक्त दोष है । यदि कहें कि क्रियारूप कार्य के प्रति गुणभूतत्व, कर्तृत्व है और क्रिया-

---

[1] दर्शपूर्णमासक्रियां प्रति गुणत्वं समिदादीनां वर्तते, कर्तृत्वान्वयस्तत्र नास्तीति व्यभिचारस्तद्वारणार्थं गुणभूतश्चेतन इत्युक्तमिति भावः । [2] "व्रीहीन् प्रोक्षती" त्यत्र प्रोक्षणक्रियां प्रति प्राधान्यं व्रीहीणामस्ति, तत्राधिकार्यन्वयो नास्तीति व्यभिचारस्तद्वारणार्थं भोक्तृत्वविशिष्टं चेतनत्वविशिष्टं वा प्राधान्यं विवक्षित-

प्रति गुणभूतत्वं कर्तृत्वं क्रियातिरिक्तं प्रति गुणभूतत्वमेव नियोज्यत्वमिति विषयभेदाद्भेद इति चेत्; मैवम् । क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धौ, नियोज्यान्वयसिद्धिः, नियोज्यान्वयसिद्ध्यधीना च क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

न च नियोगस्य कृत्युद्देश्यत्वम् ; अपुरुषार्थत्वात् । सुखदुःखप्राप्तिपरिहारौ तदुभयसाधनं वा पुरुषार्थः । न चैषामन्यतमो नियोगः, येन पुरुषार्थतया कृत्युद्देश्यः स्यात् । न च स्वर्गादिसाधनतया पुरुषार्थत्वम् ; नित्यनैमित्तिकनियोगयोस्तदभावेन कृत्युद्देश्यतावैधुर्यापातात् । नियोगसिद्धेरेव च पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थक्यप्रसङ्गात् । ननु कामाधिकारे फलकामिनो नियोज्यत्वात्फलं प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वात् तत्साध्यस्य नियोगस्य फलान्तरसाधनता । नित्ये तु न फलकामिनोऽधिकारः, नापि फलं प्रति

नियोगरूपं च । तत्र प्रथमं प्रति गुणभूतत्वं कर्तृत्वम्, द्वितीयं प्रति गुणभूतत्वं नियोज्यत्वमिति गुणभावे समानेऽपि यत्प्रति गुणभावस्तद्वैषम्यादिदं वैषम्यमित्यर्थः । दूषयति—**मैवमिति** । विषयनियोज्यनिरूप्यः कश्चित्कार्यविशेषेनियोगो नाम, यथाहुः—

'कार्यत्वेन नियोज्यं यः स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ ।
नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयते ॥' इति ।

तथाच नियोज्यनिरूपणान्नियोगनिरूपणं संप्रति नियोगेन तं निरूपयसीति परस्पराश्रय इत्यर्थः ।

यच्च कृत्युद्देश्यत्वं प्राधान्यं जेगीयते गुरुमतानुसारिभिस्तदपि दूषयति—**न च नियोगस्येति** । पुरुषार्थत्वप्रयोजकं दर्शयन्नपुरुषार्थतामेव विवृणोति—**सुखेति** । ननु किमिति न पुरुषार्थत्वं यावता स्वर्गादिसाधनतया सुखसाधनत्वमस्तीत्याशङ्क्य नित्यनियोगे फलरहिते कृत्युद्देश्यता न स्यादित्याह—**न चेत्यादिना** । स्यादेतत्—लोके खल्वियं कथा यत्सुखादिचतुष्टयान्यतमं स पुरुषार्थ इति, वेदे तु नियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थ इति तत्राह—**नियोगसिद्धेरेवेति** । शङ्कते—**नन्विति** । अयमर्थः—नियोगसिद्धिस्तु सर्वत्र पुरुषार्थो भवत्येव । न च काम्येषु स्वर्गसाधनत्वाभावप्रसङ्गः ; स्वर्गकामिनस्तत्राधिकारित्वात् । स्वर्गकरणस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वाच्च । तेन भवतु नाम तत्र स्वर्गोऽपि फलं न तावता नियोगस्यापुरुषार्थता । अतएव च काम्येषु साध्यविवृद्धिरिति वृद्धाः । नित्येषु न तादृशोऽधिकारी, नापि तादृशी विषयकरणे ; अपित्वकामिनियोगं प्रत्येव विषयः करणं चातो विवृद्धिरहितं नियोगमात्रं तत्र पुरुषार्थः ।

तिरिक्त कार्य के प्रति गुणभूतत्व ही नियोज्यत्व है। तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि क्रियातिरिक्त कार्य सिद्ध होने पर नियोज्य का अन्वय सिद्ध होगा और नियोज्य का अन्वय सिद्ध हो जाने पर क्रियातिरिक्त कार्य की सिद्धि—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होता है ।

आपका यह कहना भी असंगत है कि नियोग, कृति का उद्देश्य होता है ; क्योंकि वह पुरुषार्थ नहीं । सुख, दुख-परिहार एवं उन दोनों के साधनों को पुरुषार्थ कहा जाता है । किन्तु इनमें से नियोग किसी में नहीं आता कि जिससे पुरुषार्थ बनकर कृति का उद्देश्य हो जाता । 'स्वर्ग का साधन होने से पुरुषार्थ है'—यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि नित्य एवं नैमित्तिक नियोग में स्वर्ग-साधनता न होने से कृति की उद्देश्यता कैसे बनेगी ? यदि कहें कि वेद में नियोग-सिद्धि ही पुरुषार्थ है ; तब तो उसमें स्वर्ग की साधनता माननी निरर्थक हो जायगी । यदि शङ्का की जाय कि काम्य कर्मों में फल-कामी नियोज्य होता है, अतः फल के प्रति करणभूत याग ही नियोग का विषय होता है ; इसीलिए वहाँ नियोग स्वयं पुरुषार्थ रहने पर भी स्वर्ग का साधन भी हो जाता है । किन्तु नित्य कर्मों में फलार्थी का अधिकार नहीं होता और न फल के प्रति कारणीभूत याग ही नियोग के प्रति

मिति हृदयम् । १. कर्तृत्वनियोज्यत्वयोर्वैषम्यमित्यर्थः ।

करणीभूतस्यैव यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वम ; किंतु नियोगं प्रत्येव विषयत्वं करणत्वं च, अन्यथा नित्यकाम्यवैषम्यानुपपत्तेः। तस्मान्नित्येषु नियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थं इति चेत्, मैवम्; नित्यकाम्यवैषम्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वात्। तथाहि द्वयोः फलवत्त्वाविशेषेऽपि यत्र कामना निमित्ततया श्रूयते कल्प्यते वा तत्काम्यम्, यत्र पुनर्नैवं यदकरणे च प्रत्यवायस्त-दितरदिति वैषम्यात्। नित्यनैमित्तिकयोश्च फलशून्यत्वे हि तत्साधनताबुद्ध्या प्रवृत्तिरेव पुंसां न स्यात्। ननु नियोगसिद्धेः परमपुरुषार्थत्वात्तत्साधने यागादौ हितसाधनबुद्ध्यैव प्रवृत्तिः, "नियोगार्थसिद्धेः किमन्यत्प्रयोजनं सर्वविधीनाम्" इति गुरुणैवोदोरितत्वादिति चेत्, मैवम्; तथा सति तवापि नित्यकाम्यवैषम्यभङ्गप्रसङ्गात्। तथाहि—फलं प्रति करणीभूते यागादौ रागत एव प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु वैधी कामाधिकारे, नित्येषु तु करणेतिकर्तव्यतयोर्विधित एव प्रवृत्तिरिति वैषम्यं तवाभिमतम्, तच्चेदं भज्येत; नियोगस्य फलरूपत्वेन

अवश्य चैवं मन्तव्यम्, इतरथोभयथाप्यतिरिक्तफलकत्वे[1] तदभावे वा नित्यकाम्यविभागानुपपत्तेरिति। तदेतन्नित्यकाम्ययोर्व्यतिरिक्तफलकत्वेऽपि प्रकारान्तरेण वैषम्यं दर्शयन्दूषयति—मैवमित्यादिना। विश्वजिदादिसंग्रहार्थमाह—कल्प्यते वेति। ननु फलत्वं चेत्सर्वत्र समानं किमिति नित्येऽपि विश्वजिदादिवदेव न कल्प्यते कामः? किमिति वा न काम्यत्वम्? इत्यत उक्तम्—यदकरणे चेति। यत्र प्रत्यवायश्रवणं तत्र न कल्प्यमित्यर्थः। नित्ये हि न फलं नित्यमिति खण्डलकार्थः। वैषम्यान्तरं वा, यदकरणे प्रत्यवायो न दृश्यते तत्काम्यम्, यत्र च श्रूयते नियतं निमित्तं तन्नित्यम्, यत्र च तच्छ्रवणेऽप्यनियतं निमित्तं तन्नैमित्तिकमिति विभागः। 'कर्मणा पितृलोकः' इति शास्त्राच्च नित्यानां फलवत्ताधिगमः, नित्येषु प्रवृत्तिलोभाच्चैवमेव वैषम्यं युक्तमित्याह—नित्यनैमित्तिकयोश्चेति। ननु किमिति न प्रवृत्तिः यावता नियोगो हितम्, तत्साधनं च यागः; ततो हितसाधने प्रवृत्तिः संभवतीति शङ्कते—ननु नियोगेति। वैषम्यभङ्गमेवोपपादयति—तथा हि फलं प्रतीति। यत्र करणे रागात् प्रवृत्तिस्तत्काम्यम्, यत्र पुनः करणेऽपि विधितः प्रवृत्तिस्तन्नित्यमिति हि नित्यकाम्यवैषम्यमभिमतम्, तन्न स्यात्। नित्येष्वपि करणी-

विषय होता है, अपितु नियोग के प्रति ही विषय और करण होता है। अन्यथा नित्य और काम्य का कुछ अन्तर ही न रहेगा। इस लिए नित्य कर्मों में नियोग-सिद्धि मात्र ही पुरुषार्थ है। तो यह शंका नहीं कर सकते; क्योंकि नित्य और काम्य का अन्तर अन्यथा ही बन जाता है—दोनों में फलवत्ता समान होने पर भी जहाँ कामना निमित्त रूप से श्रुत हो या विश्वजिदादि की भाँति कल्पित हो; वह काम्य है और जहाँ कामना निमित्त रूप से न श्रुत हो और न कल्पित, हाँ, जिसके न करने से प्रत्यवाय कहा गया हो वह नित्य है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों में यदि किसी प्रकार का फल न माना जाय, तब तो फल-साधनता न होने से वहाँ पुरुषों की प्रवृत्ति ही न होगी। यदि शङ्का हो कि नित्य, नैमित्तिक कर्मों में भी नियोग की सिद्धि ही परम पुरुषार्थ है, उसकी साधनता यागादि में है, अतः इष्ट-साधन-बुद्धि से ही प्रवृत्ति होगी, स्वयं प्रभाकर ने कहा है—'सब विधि-वाक्यों में नियोगार्थ की सिद्धि को छोड़कर और क्या प्रयोजन है?' तो यह शंका उचित नहीं, क्योंकि नियोग-सिद्धि को सब कहीं फल मानने पर आपके यहाँ भी नित्य और काम्य कर्मों का वैषम्य भङ्ग हो जायगा। अर्थात् आपके मत से काम्य प्रयोगों में यह व्यवस्था की गई है कि फल के करणभूत यागादि में रागतः ही प्रवृत्ति होती है और इतिकर्तव्य (अङ्गानुष्ठान) अंश में विधि के बल से प्रवृत्ति होती है। किन्तु नित्य कर्मों के दोनों—करण एवं इतिकर्त्तव्य अंशों में विधि के बल से प्रवृत्ति होती है—इस प्रकार का वैषम्य नित्य और काम्य में है। अब नित्य कर्मों में नियोग को फल

---

[1] इतरथा = नियोगमात्रस्यापुरुषार्थत्वे, उभयथा = नित्यकाम्ययोरित्यर्थः।

तत्करणे यागादावपि रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेः।

किंचेदं यागस्य फलं प्रति करणत्वम् श्रुतिलिङ्गादिगम्यम् ? उत नियोगानुपपत्तिगम्यम् ? नाद्यः; श्रुत्यादेरदर्शनात्। 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादौ फलं प्रति करणत्वस्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामप्रतीतेः, यागेन फलशिरस्कस्य नियोगस्यैव साध्यत्वप्रतीतेरभ्युपगमात्। लिङ्गादीनां चानाशङ्कनीयत्वात्। नापि द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। किं नियोगः स्वसिद्धये यागस्य फलकरणत्वं कल्पयति ? उत फलसिद्धये ? स्वस्य फलकामिकृतिसाध्यत्वसिद्धये वा ? न प्रथमः;

भूतयागादिषु रागादेव प्रवृत्तेरित्यर्थः।

यदुक्तं पूर्वं फलं प्रति करणीभूतस्य यागस्य नियोगं प्रति विषयत्वमिति तदपि दुर्निरूपमित्याह—किं चेदमित्यादिना। किमः श्रुतिलिङ्गादिगम्यमित्यनेनान्वयः। चस्तु किंचार्थः। श्रुत्यादेरदर्शनादिति। यथा हि इष्टसाधनतावाक्यार्थवादिनामस्माकं स्वर्गयागयोः साध्यसाधनभावः श्रौतः, यथा च भावनावाक्यार्थवादिनां भाट्टानां वाक्यगम्यः साध्यसाधनभावः। यथाहु पार्थसारथिमिश्राः—'नहि तत्र स्वर्गकामस्य यागस्य वा साध्यत्वं साधनत्वं वा केनचिदुक्तम्, पदद्वयसमभिव्याहारादेव तु सम्बन्धे कल्पयितव्ये [1]असाधकं तु तादर्थ्या'दिति न्यायेन कामिनः प्राधान्यं यागस्य च गुणत्वं कल्प्यते' इति। तन्मतेऽपि फलसंबन्धः श्रौत इष्टसाधनरूपत्वात् विधेर्न तथा भवद्भिरभ्युपगम्यते औ[2]पादानिकत्वाङ्गीकारादित्यर्थः। किं तर्हि प्रकृतिप्रत्यायाभ्यामभिधीयते ? इत्यत आह—यागेनेति। यजेतेत्यस्य यागेन नियोगः इत्यर्थः। स च नियोगो दैवगत्या फलसाधनमिति तच्छिरस्कस्य साध्यत्वं नतु फलस्य। फलपरत्वाभावाच्च तद्वाक्यस्य न फलयागयोः साध्यसाधनभाव इत्यर्थः। अस्तु तर्हि लिङ्गवाक्यादीनि प्रमाणमिति तत्राह—लिङ्गादीनां चेति। नियोगानुपपत्तिलक्षणौपादानिकत्वं दूषयति—नापि द्वितीय इति। फलकामीति।

मान लेने पर उसके करण यागादि में रागतः ही प्रवृत्ति होगी; फिर नित्य और काम्य का वह वैषम्य भङ्ग हो जायगा।

यह जो कहा था कि काम्य कर्म में फल के प्रति करणभूत याग ही नियोग का विषय है। वहाँ ज़िज्ञासा होती है कि याग में फल की करणता क्या श्रुति, लिङ्गादि अंग-बोधक प्रमाणों से प्राप्त है ? या नियोग की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि "स्वर्गकामो यजेत्"—आदि पदों में फल-निरूपित करणता का वाचक न कोई प्रकृति है और न प्रत्यय। 'स्वर्गकामो यजेत्"—वाक्य से आपके मत में ('स्वर्गकामिनियोज्यको यागजन्यो यागविषयको नियोगः'—इतना ही बोध होता है अर्थात्) याग-निरूपित साध्यता नियोग में प्रतीत होती है, वह नियोग यहाँ भले ही फल का साधन है; किन्तु उसमें भी फल की साधनता अर्थात् है किसी शब्द से प्रतीयमान नहीं, (क्योंकि जैसे भाट्टमत में 'स्वर्गकाम' पद काम्यतेऽसाविति कामः = फलम्, स्वर्गश्चासौ कामः = स्वर्गकामः = स्वर्गफलमित्यर्थः। इस प्रकार फल-बोधक है, वैसे आपके मत में फल-बोधक नहीं; अपितु नियोज्य-बोधक है)। लिंगादि की तो यहाँ शंका ही नहीं की जा सकती (क्योंकि स्वर्गादि पद फलपरक ही जब नहीं, तब किसकी सामर्थ्य से फल-करणता का लाभ होगा)। द्वितीय (नियोग की अन्यथानुपपत्ति) पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि यहाँ जिज्ञासा होती है कि नियोग क्या अपनी सिद्धि के लिए याग में फल-करणता का कल्पक है ? या फल-सिद्धि के लिए ? या स्वनिष्ठफलार्थिकृति-साध्यता की सिद्धि के लिए ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि नियोग अपने साधन रूप याग के अनुष्ठान से ही सिद्ध हो जायगा, उसे अपनी सिद्धि के लिए याग में फल-करणता-कल्पना करने की

---

[1] जै० सू० ६।१।२, तादर्थ्यात् = स्वर्गार्थत्वाद् यागस्य, असाधकम् = स्वर्गो यागसाधको न भवतीति-तदर्थः। [2] प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्तिगम्यत्वाभ्युपगमात्।

स्वसाधनीभूतयागानुष्ठानादेव स्वस्य सिद्धेः। न द्वितीयः; स्वसिद्ध्यैव फलस्यापि सिद्ध्युपपत्तेः। न चरमः; यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वाभाव इव करणत्वाभावेऽपि स्वर्गसाधनीभूतनियोगं प्रति करणत्वादेव स्वर्गकामिकृतिव्याप्यत्वोपपत्तेः। यागादेः फलं प्रत्यकरणत्वे तत्कामिनस्तत्र कथं प्रवृत्तिरितिचेत्; साधनत्वाभावेऽपि तत्र तस्य प्रवृत्तिरनुपपन्नेति तुल्यम्। किं च साधनत्वाभावे तद्विशेषरूपकरणत्वमपि न स्यात्, 'साधकतमं करण'मिति पाणिनिस्मरणात्।

अथ परोद्दिष्टकृतिव्याप्यत्वं तेन साधनत्वाभावेऽपि करणता किं न स्यादिति चेत्; तर्हि

फलकामिनो यः प्रयत्नस्तेन साध्यत्वं यन्नियोगस्य तन्नोपपद्यते यागस्य तद्घटकस्य स्वर्गकरणत्वाभाव इत्यर्थः। साधनत्वाभाव इति। न हि यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वम्, प्रमाणाभावात्, नियोगो हि वाक्यार्थस्तं प्रत्येवेतरेषां शेषत्वावगमात्, व्यवहितत्वेनायोग्यत्वाच्च न कामिनस्तस्मिन्[1]साधानताबुद्धिः कर्तृव्यापारगोचरगोचरतया[2] करणता तु स्यात्। यथाह भवनाथः—'न स्वर्गकामो व्यवहितसाधनं यागादि कार्यतया बोद्धुमल'मिति। एतदुक्तं भवति—फलं प्रति साधनत्वाभावेऽपि फलसाधनीभूतनियोगसाधनत्वादेव यथा यागस्य फलकामिनस्तद्द्वारा नियोगे प्रवृत्तिर्घटते तथा प्रकृतेऽपीति। ननु यदि न यागः स्वर्गंप्रति करणं कथं तर्हि तत्कामिनो यागे प्रवृत्तिः? अनुपाये प्रवृत्त्यभावादिति शङ्कते—यागादेरिति। अकरणे प्रवृत्त्यदर्शनवदसाधनेऽपि प्रवृत्तिर्न दृष्टा, तदिहासाधनेऽपि प्रवृत्तिमङ्गीकुर्वतोऽकरणे प्रवृत्तिर्न विरुध्यते दर्शनस्य नियामकत्वानङ्गीकारादिति परिहरति—साधनत्वेति। साधनसाधनत्वात्प्रवृत्त्युपपत्तिं त्रुवागस्य करणकरणत्वादित्युत्तरम्। न च यत्कामिनो यत्र नियोगस्तत्तस्य साधनमित्यपि नियमः; ग्रामाद्यसाधनेऽपि भोजनादौ 'ग्रामकामो भुङ्क्ष्वे'ति निर्ज्ञातविशेषणेऽन्नभोजनार्थे नियोगदर्शनात्। अथ कर्तृव्यापारगोचरगोचरत्वात्करणमितिः; तन्न[3]; साधनत्वरहितस्य करणत्वाङ्गीकारे व्याहतेः, सामान्यव्यावृत्तौ[4] विशेषव्यावृत्तेरित्याह—किंचेति। साधकतममिति। तमपा साधनविशेषत्वमुक्तमिति भावः।

न साधनविशेषः करणमपित्वन्यदुद्दिश्य प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यं यथा छेदनोद्देश्येन प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यत्वं हि कुठारादेः करणत्वं तत्कुतो व्याघातः? इति शङ्कते—अथेति। तदिदमतिव्यापकं स्वर्गं प्रत्यकरणस्यानियोगस्य स्वर्गोद्देशिपुरुषप्रयत्नव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गादिति दूषयति—तर्हीति। आपाद्य चेदम्। ननु परो-

---

कोई आवश्यकता नहीं। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि नियोग की सिद्धि से ही फल की सिद्धि हो जायगी, फल-सिद्धि के लिए याग में फल-करणता मानने की क्या आवश्यकता? अन्तिम पक्ष भी अनुचित है; क्योंकि स्वर्ग का साधन नियोग है, याग नहीं; फिर भी नियोग का साधन होने से ही याग, स्वर्ग-कामनावान् पुरुष की कृति का विषय (साध्य) हो जाता है। इसी प्रकार याग में स्वर्ग की करणता न रहने पर भी फलार्थी पुरुष की कृति की साध्यता बन जायगी। 'याग में फल की करणता न होने पर फलाभिलाषी उसके अनुष्ठान में प्रवृत्त क्यों होगा? यह सन्देह नहीं करना; क्योंकि याग में फल की साधनता न होने पर तो वहाँ प्रवृत्ति अनुपपन्न है (अर्थात् फल की साधनता न मानकर आप जैसे याग में प्रवृत्ति मान लेते हैं, वैसे ही करणता न रहने पर भी हम प्रवृत्ति मान लेंगे)। दूसरी बात यह भी है कि याग में सामान्य साधनता न होने पर विशेष साधनता (करणता) कैसे रहेगी? "साधकतमं करणम्" (विशेष साधन ही करण कहलाता है) पाणिनि के इस सूत्र से नितान्त स्पष्ट है कि करण साधन विशेष होता है।

यदि कहें कि अन्योद्देश्यक कृति की विषयता का नाम करणता है। इस प्रकार की करणता तो

---

१. यागे। २. पुरुषकृतिविषयनियोगविषयतयेत्यर्थः। ३. तत्रेति पाठान्तरम्। ४. साधनत्वं सामान्यम्, करणत्वं विशेषः।

नियोगस्यापि परोद्दिष्टकृतिव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गः, तस्यापि स्वर्गादिफलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वात्। अथ साक्षादिति विशेषणाददोषः, मैवम्; इतिकर्तव्यस्य प्रयाजादेरङ्गजातस्य धात्वर्थतया साक्षात्कृतिव्याप्यत्वेन करणत्वप्रसङ्गात्। उभयोः साधनत्वाविशेषे करणेतिकर्तव्यतालक्षणो विभागो न सिद्ध्येदिति चेत्, न; तवापि नियोगसाधने यागे तदितिकर्तव्येषु च साधनत्वाविशेषाद्विभागानुपपत्तेस्तुल्यत्वात्। न च करणांशे रागतः प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु विधित इति विभागो युक्तः; सेतिकर्तव्यताकस्यैव करणतया तत्र रागतः प्रवृत्ते-

द्दिष्टकृत्या साक्षाद्व्याप्यत्वं करणत्वं तथाच न नियोगेऽतिव्याप्तिः तस्य भावार्थव्यवधानादिति शङ्कते—अथेति। तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि भावार्थस्य साक्षात्कृतिव्याप्यतया यागवदेव करणत्वप्रसङ्ग इत्यतिव्याप्त्या दूषयति—मैवमिति।

यत्तु साधनत्वव्यावृत्तौ करणत्वव्यावृत्तिरित्युक्तं तत्परिहरन्[१] शङ्कते—उभयोरिति। प्रयाजादेः षड्यागस्येव स्वर्गं प्रति साधनत्वाविशेषे प्रयाजादेरितिकर्तव्यतात्वमितरस्य करणत्वमिति प्रसिद्धो विभागो न स्यात्। अतः करणेतिकर्तव्यताविभागलोभादेवासाधनस्यैव यागस्य स्वर्गं प्रति करणत्वं स्वीकर्तव्यमित्यर्थः। परिहरति—न तवापीति। यथाहि नियोगं प्रति साधनत्वाविशेषेऽप्ययं विभागस्तथा स्वर्गं प्रतीति भावः। यश्च कामाधिकारे करणेतिकर्तव्यताविभागो गुरुमतानुसारिभिः परिकल्प्यते, तमपि प्रसङ्गाद् दूषयति—न च करणांश इति। अथवा साधनत्वाविशेषेऽपि कामाधिकारे करणत्वप्रयोजकमाशङ्क्यानेन दूष्यते। तत्र हेतुः—सेतिकर्तव्यतेति। यथा ह्युद्यमननिपातनव्यापारविशिष्टस्यैव कुठारस्य करणत्वं न तु केवलस्य तथा सेतिकर्तव्यताकं करणम्। तत्र चेद्रागतः प्रवृत्तिस्तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि रागत एव सेति न विभाग इत्यर्थः। अथवा इतिकर्तव्यतासाध्योपकारसापेक्षत्वात्करणस्य तदपेक्ष्येष्वपि रागतः प्रवृत्तिरित्यर्थः। तथा नित्ये विभागानुपपत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। करणेतिकर्तव्यतयो रागतः प्रवृत्तिसाम्या-

साधनत्व-रहित पदार्थ में भो रहती है; तब तो नियोग में भी करणता की प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि वह भी पर (स्वर्गरूप फल) के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष की कृति का विषय है। यदि 'साक्षात्'—यह विशेषण लगाकर नियोग में से (कृति का साक्षात् व्याप्य भावार्थ है और उसके द्वारा नियोग में कृति की विषसता होती है, अतः नियोग में साक्षात् कृति-विषयता न रहने के कारण) अतिव्याप्ति दोष हटाना चाहें; तब इतिकर्त्तव्यरूप प्रयाजादि अंग कर्मों में साक्षात् कृतिव्याप्यता रहने के कारण अतिव्याप्ति होगी। (इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि करणता का ऐसा कोई लक्षण नहीं बन सकता, जो साधनता-शून्य पदार्थ में भी रह जाय। करणता को साधनता विशेष ही मानना होगा, फिर तो वही दोष प्रभाकर-मत में बना रहा कि यागादि में साधनता न मानने पर करणता भी न रहेगी, इस लिए फल की साधनता भी मानिए)। यदि शंका हो कि फल की साधनता यदि वेदान्ती धात्वर्थमात्र में भी मानेंगे, तब आग्नेयादि याग करण हैं और प्रयाजादि इतिकर्त्तव्य हैं—यह विभाग सिद्ध न होगा; अतः यह मानना होगा कि आग्नेयादि याग साधन नहीं। तो ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि आप (प्राभाकर) के मत में फल की साधनता धात्वर्थ में नहीं, किन्तु नियोग की साधनता ही मानी जाती है, अतः दोनों में समान साधनता रहने पर करण और इतिकर्त्तव्य के विभाग की अनुपपत्ति समान ही है। 'करण अंश में राग से प्रवृत्ति होती है और इतिकर्त्तव्यों में विधि के बल से'—यह विभाग भी युक्त नहीं; क्योंकि प्रयाजादि रूप इतिकर्त्तव्य-विशिष्ट दर्शपूर्णमास याग ही करण होता है। करणांश में रागतः प्रवृत्ति

---

[१] परिहर्तुमितिपाठान्तरम्।

रवर्जनीयत्वात्, तथा लोके दृष्टत्वात्। एतेन श्येनाग्नीषोमीयवैषम्यमप्यपास्तम्; श्येनवदग्नीषोमीयेऽपि रागतः प्रवृत्तेः समानत्वात्। न च प्रथमतो नियोगेनैव संबद्धेतिकर्तव्यता पश्चात्तत्प्रयुक्ता फलेन संबध्यते, यागस्य तु फलं प्रति करणीभूतस्यैव नियोगेन पश्चात्संबन्धः इति वैषम्यम्; ग्राहकग्रहणदशायां प्राकरणिकसकलपदार्थानामविशेषेण नियोगसंबद्धानां तद्वशादेव परस्परसंबन्धस्य पाष्ठिकस्याङ्गीकारात्, फलं प्रति करणत्वस्य विध्याक्षेपलक्षणोपादानाधीनतया तत्प्रतीतेर्विशिष्टनियोगप्रतीत्युत्तरकालीनत्वात्।

पादनेन श्येनाग्नीषोमीययागयोरपि वैषम्यमपास्तमित्याह—एतेनेति। एतेनेत्यस्यैव विवरणं श्येनवदिति। ननु नेतिकर्तव्यतासु रागतः प्रवृत्तिः, प्रथमत एव नियोगेन संबन्धात्तस्य च रागविषयत्वाभावात्। यागस्य तु नैवं प्रथमतः फलसंबन्धित्वात् फलस्य च रागविषयतया तत्करणेऽपि रागत एव प्रवृत्तिरित्यत आह—**न च प्रथमत इति**। हेतुमाह—**ग्राहकेति**। न प्रथमतः फलेन यागस्य संबन्धः अप्रकरणित्वात्फलस्याप्रकरणिता चेतरेणासंबन्धत्वात्। तेनेतिकर्तव्यतावदेव यागोऽपि नियोगशेषतया ग्राहकेण गृहीतः पश्चात्तमेव प्रधानान्वयं निर्वोढुं तद्द्वारेण परस्परान्वयः, स च पृष्ठतो भवतीति पाष्ठिकस्तस्यां च दशायां यागस्वर्गयोरप्यन्वय इति भवतामङ्गीकार इत्यर्थः। किं च विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणात्फलकामिकृतिव्याप्यतानुपपत्तिलक्षणान्नियोगफलयोः संबन्धोऽभिप्रेयते। आक्षेपश्च विषयनियोज्यविशिष्टनियोगप्रतीत्याऽतोऽपीतरप्राकरणिकवन्नियोगेनैव विषयभूतयागस्य प्रथमं संबन्धो वक्तव्यः। न तु फलेनेत्याह—**फलं प्रतीति**। तस्मादुभयत्र रागतो वा विधितो वा प्रवृत्तिः समानेत्यर्थः।

मानने पर उसके विशेषणभूत इतिकर्त्तव्य में भी रागतः प्रवृत्ति अनिवार्य है। लोक में यह देखा गया है कि उद्यमन-निपातनादि व्यापार-विशिष्ट कुठार में ही करणता होती है; व्यापार-शून्य कुठार मात्र में नहीं। (अतः करणांश में रागतः और इतिकर्त्तव्यांश में विधितः प्रवृत्ति मानकर भी विषमता नहीं ठहराई जा सकती)। इसी प्रकार अधर्मरूप 'श्येनयाग' और धर्मरूप अग्निषोमीय 'याग' का भी वैषम्य समाप्त हो जाता है; क्योंकि श्येनयाग के समान ही अग्निषोमीय में भी रागतः प्रवृत्ति होती है। यदि कहा जाय कि करण और इतिकर्त्तव्य का अन्तर यह है कि इति कर्त्तव्य का प्रथमतः नियोग के साथ ही सम्बन्ध होता है और पश्चात् फल से; किन्तु करणभूत यागादि का प्रथमतः फल के साथ सम्बन्ध होता है और पश्चात् नियोग के साथ। तो यह कहना भी असंगत है; क्योंकि (जैसे भाट्ट मत में प्राथमिक अन्वय बोध में भावना सर्वतः प्रधान होती है और दूसरे सभी पदार्थ भावना में गुणरूप से सम्बद्ध होते हैं, भावना-बोधक प्रत्यय से ही सभी का ग्रहण होता है; पश्चाद्भावी बोध में यथायोग्य इतर पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है, वैसे ही प्राभाकर मत में) प्रथमतः नियोग-ग्राहक लिङादि से ही सभी प्रकरण-पठित पदार्थों का ग्रहण होता है, उस समय सभी पदार्थ एक रूप से नियोग में अन्वयी होते हैं और पाष्ठिक (पश्चाद्भावी) अन्वय-बोध में योग्यतानुरूप परस्पर अन्वयी होते हैं। अतः यह कहना गलत है कि यागादि का प्रथमतः नियोग में अन्वय न होकर फल में अन्वय होता है, प्रत्युत याग में फल की करणता तो विध्याक्षेप रूप उपादान प्रमाण के अधीन है। अतः फल-निरूपित करणता की प्रतीति, विशिष्टनियोग-प्रतीति के पश्चात् ही होगी। [अभिप्राय यह है कि मीमांसक एक 'उपादान' नाम का विधिव्यापार मानते हैं, शालिकनाथ ने कहा है—"उपादानलक्षणो विधिव्यापार आक्षेपापरपर्यायो मीमांसकैः प्रतिपन्नः" (प्र. पं. पृ. २१९) उपादान को ही विध्याक्षेप या विधित्वान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति कहा जाता है। इसी के आधार पर "स्वर्गकामो यजेत्" यहाँ स्वर्ग और नियोग के सम्बन्ध की कल्पना होती है; क्योंकि उक्त वाक्य का शब्दार्थ—'स्वर्गकामिकृतिविषयो नियोगः'—इतना ही

कथं चैवं सति 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'ति विधौ जाग्रति रागतः प्रवृत्तौ निषेधानुप्रवेशादधर्मता स्यात् ? नहि विधिसंस्पृष्टे निषेधः प्रवर्तमानोऽनर्थतां बोधयितुमीष्टे । तथा सति षोडशिग्रहणस्यापि नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निपेधादनर्थत्वप्रसङ्गात् । उक्तं हि भट्टाचार्यैः—

'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निपेधो नैव तादृशम् ।
विज्ञायते ह्यनर्थत्वं पोडशिग्रहणादिवत् ॥' इति । (श्लो० वा० २।२०३)

ननु यद्यप्युभयत्र रागतः प्रवृत्तिः समाना तथापि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'ति निषेधानुप्रवेशादधर्मता श्येनयागस्येतरस्य न तथा तदभावादिति वैधर्म्यमिति नेत्याह— कथं चैवं सतीति । रागतः प्रवृत्तिस्तावदुभयत्र समानेत्यावेदितम् । तथा सति विधिस्पर्शास्पर्शाभ्यां वैषम्यं वक्तव्यम् । न चैतदपि ; श्येनेऽपि विधेर्विद्यमानत्वादिति भावः । एतदेव षोडशिप्रतिबन्द्या समर्थयते—न हि विधिसंस्पृष्ट इत्यादिना । विधिसंस्पृष्टेऽपि चेन्निषेधादनर्थत्वं तर्ह्यतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति विहितस्यापि षोडशिग्रहणस्य नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वभङ्गप्रसङ्गः । न चैतद्युक्तम् । आह हि—

'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम् ।
विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिवत् ॥' इत्यर्थः ।

है । नियोग में स्वर्गकामिकृति की विषयता तब तक नहीं बन सकती, जब तक नियोग में स्वर्ग-साधना न हो—"तस्माद्यत्कामिनो यत्कार्यंतयोपदिश्यते तत्तस्य काम्यस्य साधकमिति नियोज्यकार्यान्वयानुपपत्त्यैव गम्यते" (प्र. पं. पृ. १८३) । इस प्रकार की अर्थापत्ति में यागरूप विषय एवं स्वर्गकामि रूप नियोज्य से विशिष्ट नियोग की प्रतीति अपेक्षित है ; अतः याग का प्रथमतः नियोग के साथ अन्वय अनिवार्य है, पश्चात् नियोग में फल की साधनता और तदनन्तर याग में करणता का ज्ञान होगा] ।

(यदि कहा जाय कि श्येन और अग्नीषोमीय—दोनों में रागतः प्रवृत्ति समान है, फिर भी "न हिस्याद् सर्वा भूतानि"—इस निषेध से निषिध्यमान होने के कारण श्येन याग अधर्म है और अग्नीषोमीय विधीयमान होने से धर्म है—इस प्रकार दोनों में महान् अन्तर है । तो यह कहना संगत नहीं ; क्योंकि) श्येन याग में "श्येनेनाभिचरन् यजेत्"—इस विधिवाक्य के जीते-जागते "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—यह निषेध कैसे पैर धर सकता है ? फिर क्यों वहाँ अधर्मता आयेगी ? (नियम यह है कि राग-प्राप्त कलञ्ज-भक्षणादि पदार्थों में प्रवृत्त होकर "न कलञ्जं भक्षयेत्"—आदि निषेध अनर्थता या अधर्मता बताया करता है ; किन्तु) विधि वाक्य से विहित पदार्थ में प्रवृत्त निषेध अनर्थता नहीं बता सकता । यदि विहित पदार्थों में भी निषेध अनर्थता कहे ; तब तो षोडशि-ग्रहण (षोडशिसंज्ञक पात्र में सोम-रस-ग्रहण) में भी अनर्थत्व आ जायगा ; क्योंकि उसमें भी "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—यह निषेध प्रवृत्त होता है । इसीलिए कुमारिल भट्ट ने कहा है—'विधि-विहित पदार्थों में प्रथम तो निषेध प्रवृत्त ही नहीं होता । यदि प्रवृत्त भी हो जाय, तो वैसे ही अनर्थत्व नहीं कह सकता, जैसे षोडशि-ग्रहण में ।' [ज्योतिष्टोम नाम का प्रधान सोम याग होता है । उसकी मुख्य चार संस्थाएँ होती हैं—(१) अग्निष्टोम, (२) उक्थ्य, (३) षोडशी, (४) अतिसत्र । संस्था नाम है समाप्ति का । जिस स्तोत्र से जो प्रयोग समाप्त होता है, उस प्रयोग को उस स्तोत्र के नाम से पुकारा जाता है । ज्योतिष्टोम के जिस प्रयोग में अग्निष्टोम संज्ञक स्तोत्र अन्तिम होता है, इस स्तोत्र के अनन्तर और कोई स्तोत्र नहीं गाया जाता ; उसका नाम है— अग्निष्टोम । उक्थ्य में अग्निष्टोम स्तोत्र के अनन्तर उक्थ्यनामक स्तोत्र गाया जाता है, उसके अनन्तर और स्तोत्र नहीं । षोडशी में उक्थ्य के अनन्तर षोडशि स्तोत्र पढ़ा जाता है । अतिरात्र में षोडशिस्तोत्र के बाद रात्रिस्तोत्र और आश्विन स्तोत्र अन्त में गाये जाते हैं । रात्रि के बीतने पर इस कर्म में स्तोत्रों

ननु विधेर्द्विविधो व्यापारो भावार्थफलयोः साध्यसाधनसंबन्धबोधो भावार्थानुष्ठानबोधश्चेति। तत्रैव चानुष्ठानबोधो यत्र भावार्थेऽन्यतो न प्रवृत्तिः, श्येनादौ च फलोपायत्वेऽधिगते रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेर्नानुष्ठापकत्वम्, ततश्च निषेधप्रवेशाच्छ्येनादेरनर्थत्वमिति चेत्, न; उक्तोत्तरत्वात्। उक्तं हि—सेतिकर्तव्यस्यैव करणत्वात्तत्र रागतः प्रवृत्तावितिकर्तव्येऽपि तत एव प्रवृत्तौ श्येनवदग्नीषोमीयस्यापीतिकर्तव्यस्यानर्थता प्रसज्येतेति। ननु 'अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहती'ति प्रायश्चित्तविधानादनर्थता निश्चीयत इति चेत्, मैवम्; नैमित्तिकत्वेनाप्यस्योपपत्तेः। यथा हि—"वर्णिनां हि बधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदे"दित्यनृतवदन-

---

व्यापारद्वैविध्यं विधेर्दर्शयन् श्येनयागस्याधर्मतामुपपादयति पूर्ववादी—**नन्वित्यादिना**। तदेतदग्नीषोमीयहिंसायामपि समानमिति परिहरति—**न; उक्तोत्तरत्वादिति**। प्रकारान्तरेणाधर्मतामाशङ्कते—**नन्विति**। अहीनोऽहर्गणनिर्वर्त्यः क्रतुविशेषः 'अह्नः खः क्रतावि'ति समूहे गम्यमाने अहन्शब्दात्खप्रत्ययविधानात्। परिहरति—**मैवमिति**। निषिद्धत्वानिर्णये प्रायश्चित्तानिर्णयात् तद्विधानस्य च नैमित्तिकत्वेनाप्युपपत्तेः निषिद्धत्वविधानात्प्रायश्चित्तत्वे प्रायश्चित्तविधानाच्च निषिद्धत्वे परस्पराश्रयमिति भावः। ननु व्यपोहतीति दोषनिर्हरणश्रवणात्प्रायश्चित्तत्वमिति तत्राह—**यथा हि वर्णिनामिति**। यत्र यस्मिन्समये ब्राह्मणादीनां वधः प्राप्नोति तत्र तदा साक्ष्यनृतं वदेत्। अनृतवदनमवदनस्याप्युपलक्षणम्। ततश्च यदि वदनमात्राद्वधः प्राप्नोति तदा न वदेत्। यदा तु सत्यवदनात्तदानृतं वदेदित्यर्थः। तत्पावनायेति तच्छुद्ध्यर्थम्। द्विजैस्त्रैवर्णिकैः। सारस्वतः सरस्वतीदेवताकश्चरुः। निर्वाप्यः निर्वपणेन यागपर्यन्तं

की समाप्ति होती है, इसलिए इसे अतिरात्र कहतें हैं। इन चारों स्तोत्रों के उलट-फेर से जो तीन संस्थाएँ और होती हैं—अत्यग्निष्टोम, वाजपेय; आप्तोर्याम; वे उक्त चारों संस्थाओं के अन्तर्गत मानी जाती हैं। प्रकृत में अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोम की चर्चा है। इसमें षोडशि नामक ग्रह (सोम-रस रखने का उलूखलाकार दारुमय पात्र) का ग्रहण विहित भी है और निषिद्ध भी। ग्रहण करने पर या न करने पर किसी प्रकार का वैगुण्य नहीं आता]।

यदि शङ्का की जाय कि विधि के दो व्यापार होते हैं—एक धात्वर्थरूप क्रिया और फल का साध्य-साधन-भाव बताना तथा दूसरा धात्वर्थ के अनुष्ठान का बोध कराना। अनुष्ठान-बोधन उसी धात्वर्थ में करती है, जिसका अनुष्ठान प्रमाणान्तर से प्राप्त न हो। श्येनादि में तो फल-साधनता का ज्ञान होते ही रागतः प्रवृत्ति हो जाती है, विधि में उसकी अनुष्ठापकता नहीं होती। विधि का जब कोई सम्पर्क नहीं, तब निषेध शास्त्र प्रवृत्त होकर श्येनादि में अनर्थत्व बोधित करेगा ही, यही अग्नीषोमीय से इसका वैषम्य हो जाता है। तो यह शङ्का अयुक्त होगी; क्योंकि इसका समाधान किया जा चुका है कि इतिकर्तव्य-विशिष्ट ही याग, करण होता है। विशिष्ट करण में यदि रागतः प्रवृत्ति होती है, तब तो विशेषणभूत इतिकर्त्तव्य में भी रागतः प्रवृत्ति माननी होगी। स्वर्ग के करणभूत ज्योतिष्टोम याग का इतिकर्तव्य (सहायक व्यापार) अग्नीषोमीय भी है, अतः उसमें रागतः प्रवृत्ति होने पर निषेध शास्त्र के प्रवृत्त हो जाने से अनर्थत्व प्राप्त हो जायगा। यदि कहा जाय कि "अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति" (श्येनादि अभिचारकर्म एवं त्रिरात्रादि अहीन कर्मों को करनेवाला तीन कृच्छ्र व्रतों से शुद्ध होता है—मनु० ११।१९७) इस प्रकार प्रायश्चित्त का विधान देखकर श्येनयाग में अनर्थता निश्चित है। तो यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि श्येनयाग करने से पाप नहीं होता कि उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़े। हाँ, श्येनयागानुष्ठानरूप निमित्त के उपस्थित होने पर वैसे ही नैमित्तिक व्रत का विधान है; जैसे कि "वर्णिनां वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्" (जहाँ पर सत्य

विधानानन्तरं "तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजै"रिति नैमित्तिकत्वेन सारस्वतश्चरुर्निर्वाप्यो विधीयते नत्वनृतवदनजनितपापनिबर्हणाय ; अनृतवदने कामतोऽप्रवृत्तेर्विधित एव तत्र प्रवृत्त्यङ्गीकारात् । एवमत्रापि । तदेवं नित्यकाम्यवैषम्यस्य वक्तुमशक्यत्वान्नित्यवत्काम्येऽपि नियोगस्य फलसाधनत्वकल्पना निःप्रामाणिका ; पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थकताप्रसङ्गात् ।

न च स्वर्गादिसाधनत्वे नियोगस्य प्राधान्यमपि संभवति ; स्वर्गादिसुखशेषत्वात् । न च स्वानुकूलनियोज्यसिद्धये स्वर्गादिकं साधयतो नियोगस्य स्वामिवत्प्राधान्यानुपघातः ; दृष्टान्तवैषम्यात् । तथा हि—द्वौ तत्र स्वामिभृत्ययोः प्रयत्नौ स्वार्थोद्देशेन प्रवृत्तौ परस्परमुपकुर्वाते, न तथेह नियोगस्य चेतनता, येन स्वकीयप्रयत्ने स्वर्गमात्मार्थतया आक्षिपेत्, प्रत्युत गर्भदासस्थानीयो नियोज्यः स एव स्वर्गाय प्रवृत्तो नियोगमेव स्वर्गशेषतया स्वीकुर्यात् । न च

लक्ष्यते । ननु तत्पावनायेति श्रवणात्प्रायश्चित्ततैव किं न स्यादिति तत्राह—नत्वनृतवदनेति । तत्र हेतुः—अनृतवदनेति । कामतः प्राप्तं ह्यनृतवदनं नानृतं वदेदिति निषिद्धं निषिद्धानुष्ठाने च प्रायश्चित्तम्, प्रकृते तु विधितः प्रवृत्तेर्न प्रायश्चित्तं युक्तं निषिद्धानुष्ठानशङ्काभावादित्यर्थः । एवं च विषयविभागेन प्रायश्चित्तव्यवस्थापनमपि कैश्चित्क्रियमाणमयुक्तमित्यवान्तरविचारमुपसंहरति—तदेवमिति ।

यच्च प्राधान्यसमर्थनं कृतं स्वर्गादिसाधनत्वेऽपि तद्दूषयति—न चेति । पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—न चेति । गर्भदासस्वामिनोश्चेतनतया स्वस्वप्रयोजनोद्देशेन प्रवृत्तिर्युक्ता, अत्र तु नियोगस्य स्वामिस्थानीयता न युक्ता ; अचेतनत्वात् । अतएव न प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । न केवलं नियोगस्य प्राधान्याभावः, प्रत्युत स्वर्गं प्रति शेषत्वमेवेत्याह—प्रत्युतेति । ननु कथमिदमवधार्यते स्वर्गशेषो नियोगः नतु विपरीतमिति ?

बोलने से ब्राह्मणादि का बध सम्भावित हो, वहाँ साक्षी को असत्य बोल देना चाहिए—याज्ञ० २।५।८३)—इस वाक्य से अनृत-वदन विधान करके "तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः" (ऐसा अनृत-वदन उपस्थित होने पर द्विजाति को सरस्वतीदेवताक चरुद्रव्यक याग करना चाहिए—याज्ञ० २।५।८३)—इस वाक्य से जो सारस्वत चरु (अनवस्रावितान्तरुष्मपक्कौदनः) के निर्वाप (द्रव्य-राशि से आवश्यक द्रव्य का निकालना, निर्वापोपलक्षित याग) का विधान किया है, वह नैमित्तिक विधान ही है, न कि असत्य भाषण-जन्य पाप की निवृत्ति के लिए ; क्योंकि यहाँ साक्षी स्वेच्छा से असत्य बोलने में प्रवृत्त नहीं हुआ, अपितु उक्त विधि के बल से ही अतः पाप की सम्भावना ही नहीं । ऐसे ही प्रकृत में भी "अभिचारमहीनम्"—आदि से नैमित्तिक विधान है । इस प्रकार नित्य और काम्य का अन्तर कहा नहीं जा सकता, अतः नित्यकर्म के समान काम्य कर्म में नियोग-निष्ठ फल-साधनत्व की कल्पना अप्रामाणिक है और यदि नियोग ही पुरुषार्थ है, तब उसमें स्वर्ग-साधनत्व की कल्पना करना ही निरर्थक है ।

यह जो आप (प्राभाकर) मानते हैं कि नियोग सर्वतः प्रधान होता है, वह भी नहीं बनता ; क्योंकि नियोग को स्वर्ग-साधन मान लेने पर वह स्वर्ग का अंग हो गया, प्रधान कहाँ रहा ? यह जो कहा था कि नियोग ने स्वर्ग की साधनता स्वीकार की है, अपने योग्य नियोज्य-लाभ करने के लिए, अतः भृत्य का उपकारक जैसे स्वामी अप्रधान नहीं हो जाता, वैसे ही नियोग भी अप्रधान क्यों होगा ? वह कहना भी असंगत है ; क्योंकि दृष्टान्त में स्वामी और भृत्य दो चेतनों के प्रयत्न हैं, जो अपने-अपने स्वार्थ के उद्देश्य से प्रवृत्त हैं और परस्पर उपकार-साधन करते हैं । प्रकृत में तो नियोग कोई चेतन वस्तु है नहीं कि अपने प्रयत्न से स्वर्ग में आत्मार्थता सम्पादन करे ; प्रत्युत भृत्यस्थानीय नियोज्य ही स्वर्ग के लिए प्रवृत्त हुआ है, वह नियोग को ही स्वर्ग का अंग

स्वर्गादिसुखस्यान्यार्थता, स्वभाववैपरीत्यापत्तेः। यदर्थं सर्वं यच्च नान्यार्थं तत्सुखमिति हि सुखस्य लक्षणमाचक्षते, तत्कथमन्यशेषता स्वर्गादिसुखस्य भवेत्? न चालौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपाहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहारात्संबन्धग्रहणम्; तत्र यूपाहवनीयादेर्यूपं तक्षतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्तिगम्यत्ववन्नियोगस्यार्थापत्तिगम्यत्वानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे वाऽपूर्वत्वव्याघाताच्च। यत्तु लिङादेः क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वानुमानम्, तत्प्रत्यनुमानपराहतत्वादसाधनम्। तथाहि—

विवादाध्यासिताः शब्दाः क्रियाकार्याभिधायिनः।
कार्यप्रत्ययहेतुत्वाद् आनयेत्यदिशब्दवत् ॥ १८ ॥

इष्टसाधनवादिनो वेदान्तिनः प्रति साध्यविकलत्वाच्च। लौकिकलिङादिशब्दानामपि श्रेयःसाधनबोधकत्वाभ्युपगमात्, व्यापकानुपलब्धिपराहतत्वाच्च। तथाहि—तदभिधायकत्वं तत्र

इति तत्राह—**न चेति**। अथवा पूर्वमचेतनत्वान्नियोगस्य न स्वर्गस्य तच्छेषत्वमित्युक्तम्। इदानीं स्वभावविरोधादपि न तथेत्याह—**न च स्वर्गादीति**। यच्च नान्यार्थं तत्सुखमित्युक्ते दुःखेऽपि स्यादत उक्तम्—**यदर्थमिति**। स्वर्गादिसुखस्यान्यशेषत्वं यच्च नान्यार्थमिति लक्षणविरुद्धमित्यर्थः। यत्तु यूपाहवनीयादि दृष्टान्तितं तदपि वैषम्यं दर्शयन् परिहरति—**न चालौकिकत्वेऽपीति**। प्रत्यनुमानमेव श्लोकेन दर्शयति—**विवादाध्यासिता इति**। लौकिकलिङादौ सिद्धसाधनतापरिहाराय विवादपदम्। वैदिकलिङादयः इत्यर्थः। क्रियारूपं कार्यं क्रियाकार्यं तदभिधायिन इत्यर्थः। नियोगेनार्थान्तरतानिरासाय क्रियाग्रहणम्। न च लौकिकलिङादित्वमुपाधिः, लौकिकपदवैयर्थ्येन पक्षेतरत्वात्। नन्वेवमपि त्वत्पक्षे किं प्रमाणम्? न तावदिदमेव, प्रतिरोधमात्रतया स्वपक्षासाधनत्वात्। नैतत्सारम्; बाधकत्वेन प्रतिरोधकत्वासिद्धेः। समबलबोधितसाध्यविपर्ययत्वं हि प्रतिरुद्धत्वम्, न चात्र समबलत्वं अधिकबलत्वादितरस्य दुर्बलत्वात्तदाह—**इष्टसाधनेति**। वादिनो वेदान्तिन इति च द्वितीया। साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—**लौकिकेति**। एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वे गामानयेत्यादिपदं हि पूर्ववादिना दृष्टान्तितम्। न च तत्रापि कार्याभिधायित्वमिष्टसाधनताभिधायित्वाङ्गीकारात् मयेत्यर्थः। इदं चासिद्धेरप्युपलक्षणम्। दूषणान्तरं चाह—**व्यापकेति**। व्यापकं विवेचयन् तदनुपलब्धिमिहोपलम्भयति—**तथा हीत्यादिना**। यद्यद्विषयस्याभिधायकम्,

---

मानेगा। स्वर्गरूप सुख में नियोगार्थत्व मानना भी नितान्त अस्वाभाविक है। 'जो सभी का प्रयोजन है और जिसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं; वह सुख है'—यह सुख का लक्षण किया करते हैं, तब कैसे अन्य की शेषता (अंगता) स्वर्ग रूप सुख में सम्भव होगी? यह जो कहा था कि अलौकिक होने पर भी यूप, आहवनीयादि के समान नियोग में भी प्रसिद्ध पदों के समभिव्याहार से शक्ति-ग्रह हो जायगा। वह भी दृष्टान्त से विरुद्ध है; क्योंकि "यूपं तक्षति"—आदि प्रसिद्ध पदों के सहोच्चारण की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति की विषयता यूपादि में मानी जाती है, किन्तु नियोग में आगमातिरिक्त किसी भी प्रमाण का स्पर्श आपको सह्य नहीं। नहीं तो अपूर्वता ही भंग हो जायगी। लिङादि में क्रियातिरिक्त कार्य-वाचकता का जो अनुमान किया था, वह भी सत्प्रतिपक्षताग्रस्त होने से अभिमत साध्य का साधक नहीं हो संकता। सत्प्रतिपक्ष का आकार यह है—'विवादग्रस्त (वैदिक लिङादि) शब्द, क्रियारूप कार्य के वाचक हैं, कार्य-प्रतीति के जनक होने से, जैसे—आनयादि पद।' आपके क्रियातिरिक्तकार्य-वाचकत्व-साधक अनुमान में, इष्टसाधनवादी वेदान्ती के प्रति दृष्टान्त साध्य-शून्य है; क्योंकि आपने 'एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वरूप' साध्य के लिये दृष्टान्त दिया है आनयादि लौकिक लिङ्। किन्तु हम (वेदान्ती) लौकिक लिङादि शब्दों में भी इष्ट-साधनता-बोधकत्व ही मानते हैं, कार्याभिधायकत्व नहीं। व्यापकानुपलब्धिरूप दोष भी आपके

सङ्गतिग्रहणेन व्याप्तम्, तच्च मानान्तरानधिगतादपूर्वाद्व्यावर्तमानं लिङादीनां तदभिधायकतां व्यावर्तयति। न च क्रियातिरिक्तकार्यानभिधाने स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः; क्रियाया एवापूर्वावान्तरव्यापारायाः परमेश्वरप्रसादावान्तरव्यापाराया वा फलसाधनत्वोपपत्तेः प्रदर्शितत्वात्। तदेवं विधिवाक्यानामपि सिद्धार्थबोधकत्वाद्विधिसंस्पर्शविधुराणां सत्यज्ञानादिवाक्यानामखण्डैकरसब्रह्मलक्षणसिद्धार्थावबोधकत्वं सुतरां सिद्ध्यतीति सिद्धम्।

नेनु कथं वेदान्तानामखण्डार्थत्वम्? तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, तत्र प्रमाणासंभवाच्च। तथाहि—किमिदमखण्डार्थत्वम्? किं निर्विशेषवस्तुपरत्वम्? उत निर्भेदार्थनिष्ठत्वम्? आहोस्विदपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्? अथवा तेषामेवैकप्रातिपदिकार्थमात्र-

तत्तस्य गृहीतसङ्गतिकमिति व्याप्तम्। न च प्रमाणान्तरानधिगतेऽपूर्वे तत्संभव इति व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरग्निव्यावृत्त्येव धूमव्यावृत्तिरित्यर्थः। यस्तु तेन विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तमपि प्रशिथिलमूलमुन्मूलयति—न च क्रियातिरिक्तेति। वादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—तदेवमित्यादिना।

"हितसाधनतामवलम्ब्य यदा ववृते विधिबोधकवाक्यमपि।
परमामृतबोधविधौ सुतरां परमात्मनि वेदशिरांसि[2] तदा॥"

अखण्डबोधकत्वमुक्तमाक्षिपति—ननु कथमित्यादिना। अखण्डार्थत्वस्य संभवल्लक्षणानि दूषयति—किमिदमित्यादिना। खण्डशब्दस्य च विशेषं भेदं चार्थमादाय प्रथमद्वितीययोः प्रवृत्तिस्तृतीयचतुर्थयोः स्वविवक्षावशात्। तेषामेवेति। अपर्यायशब्दानामेवेत्यर्थः। पञ्चमस्तु खण्डशब्दस्य संसृष्टमर्थमादाय, निर्विशेषाणामप्यन्त्यविशेषाणां भिन्नत्वस्य परैरङ्गीकारात् नाद्यद्वितीयसङ्करः। तात्पर्यमभिहितेषु लक्षितेषु

अनुमान में है; क्योंकि 'तदभिधायकत्व' तत्संगतिमत्त्व से व्याप्त है (यद्, यदभिधायकम्; तत् तेन संगतिमत्, यथा गोपदं गवाभिधायकं, गवा सह गृहीतशक्तिकमस्ति) अर्थात् 'तदभिधायकत्व' व्याप्य और 'तत्संगतिमत्त्व' व्यापक है। प्रमाणान्तर के अविषय नियोग के साथ संगति-ग्रह सम्भव नहीं, अतः लिङादि में नियोग के साथ संगति-ग्रहण रूप व्यापक न रहने से अपने व्याप्य तदभिधायकत्व को भी नहीं रहने देगा। यह जो कहा था कि क्रियातिरिक्त कार्य की वाचकता न मानने पर "स्वर्गकामो यजेत्"—आदि शास्त्र अप्रमाण हो जायँगे। वह कहना भी अनुचित है; क्योंकि अपूर्व या ईश्वर-प्रसाद रूप अवान्तर व्यापारवाली यागादि क्रिया में ही स्वर्गादि-साधनता की उपपत्ति दिखाई जा चुकी है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विधि वाक्य भी सिद्धार्थ के बोधक होते हैं, तब तो विधि-संपर्क-रहित सत्य, ज्ञानादि शब्दों में अखण्ड, एक रस, ब्रह्मरूप सिद्धार्थ की बोधकता का कहना ही क्या है? आनन्दबोधाचार्य ने मनोरम शब्दों में कहा है—

इति गलितकलङ्कः सिद्धतत्त्वे प्रसिद्धे,
सविधिकपदराशेर्मानभावः प्रमाणात्।
प्रतिहतपरयुक्तिव्रातनीतिप्रपञ्चात्,
किमु विगलितभेदे पुंसि वेदान्तवाचः॥

पूर्वपक्ष—वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थत्व कैसे सिद्ध हो सकता है? जब अखण्डार्थत्व का न कोई लक्षण बनता है और न उसमें कोई प्रमाण ही है—यह अखण्डार्थत्व क्या है? क्या (१) निर्विशेष वस्तुपरत्व? या (२) निर्भेदार्थनिष्ठत्व? (सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यवस्तुविषयकत्व?) या (३) अपर्याय शब्दों की प्रातिपदिकार्थ मात्र में पर्यवसायिता? या (४) अपर्याय शब्दों

---

१. द्र. न्या. म. पृ. २५७। २. प्रववृतिरे इतिशेषः।

पर्यवसायित्वम् ? संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वं वा ? नाद्यः ; विकल्पासहत्वात् । तथाहि–पदानां निर्विशेषवस्तुपर्यवसायित्वमभिधायकतया ? लक्षकतया वा स्यात् ? न प्रथमः ; तस्यात्यन्तमप्रसिद्धतया संबन्धाग्रहणेन पदानां तत्पर्यवसायित्वासंभवेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः ; अप्रसिद्धत्वादेवाभिधेयाविनाभावस्य लक्षणाहेतोरसंभवेन प्राचीनदोषानुषङ्गप्रसङ्गात् । न चाभिधेयाविनाभावं विनापि 'गरमभ्यवहरे'त्यादिगिरामिव वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिका ; अत्यन्ताप्रसिद्धत्वेन गगनारविन्दादेरिव लक्ष्यत्वानुपपत्तेः ।

वा संभवति यथा गङ्गायां यादांसीति, यथा वा गङ्गायां घोष इति, तमुभयमपि प्रकारं विकल्प्य दूषयति–तस्यात्यन्तमिति । [1]अन्त्यविशेषाणां भवद्भिरनङ्गीकारादिति भावः । लक्षणापक्षं दूषयति—नापीति । अभिधेयाविनाभूतं हि लक्ष्यं दृष्टं यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसति इत्यत्र गङ्गाऽविनाभूतं तीरं गङ्गापदेन, न पुनरनविनाभूतम् । अविनाभावश्चायं भूयः संबन्धदर्शनमात्रम्, मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चपुरुषयोर्मुख्याविनाभावाभावेऽपि लक्षणादर्शनात् । न चान्त्यताप्रसिद्धस्य निर्विशेषवस्तुनोऽभिधेयाविनाभावः संभवतीति [2]लक्षणाऽसंभवा[3]ल्लक्षणाऽसंभव इत्यर्थः । नन्वभिधेयासंबद्धमपि क्वचिल्लक्ष्यं दृष्टं यथा कश्चित् किमस्य गृहे भोक्तव्यम् ? इति केनचित्पृष्टः तन्निवारयन्नाह–विषं भुङ्क्ष्वेति । न चात्र लक्ष्यमाणैतद्गृहनिष्ठभोजननिवृत्तेः विषभक्षणस्य च संबन्धोऽस्ति । अथ च लक्ष्यते, तत्कस्य हेतोः ? वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेः । एवमत्रापि सत्यादिवाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेरेव किमिति न लक्षणेत्यत आह—न चाभिधेयेति । तत्र हेतुः—अत्यन्ताप्रसिद्धेति । अनुपपत्तिरपि हि योग्ये लक्षणां प्रवर्तयति न त्वयोग्ये, इतरथा खपुष्पादेरपि लक्षणाप्रसङ्गात्, तस्मात् प्रामाण्यानुपपत्तिरपि [4]अन्यपरतायामेव बीजम्, न त्वखण्डार्थतायामिति भावः ।

की एकप्रातिपदिकार्थमात्र में पर्यवसायिता ? या (५) संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता ? प्रथम (निर्विशेषवस्तुपरत्व) में जिज्ञासा होती है कि निर्विशेषवस्तुपरत्व से क्या अभिमत है ? निर्विशेष वस्तु-वाचकत्व ? अथवा निर्विशेषवस्तु-लक्षकत्व ? प्रथम (निर्विशेषवस्तु-वाचकत्व) लक्षण असम्भव है ; क्योंकि निर्विशेष वस्तु लोक में कहीं प्रसिद्ध ही नहीं, अतः उसके साथ शब्द का सम्बन्ध-ग्रह न हो सकने के कारण वेदान्त उसके वाचक कैसे बनेंगे ? द्वितीय (निर्विशेषवस्तु-लक्षकत्व) भी युक्त नहीं ; क्योंकि लक्षणा का हेतु होता है—अभिधेयाऽविनाभाव (अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते—तं. वा. १।४।२३) । जब अभिधेय ही प्रसिद्ध नहीं, तब उसका अविनाभाव कहाँ प्रसिद्ध होगा ? अतः इस लक्षण में भी वही असम्भव दोष है । यदि शङ्का करें कि अभिधेयाविनाभाव लक्षणा का हेतु नहीं ; क्योंकि उसके बिना भी 'विषं भुङ्क्ष्व' में लक्षणा देखी जाती है (अर्थात् कोई अपने मित्र से पूछता है कि अमुक व्यक्ति के यहाँ भोजन करना चाहिए ? कि नहीं ? वह मित्र उसे हटाने के लिए उत्तर देता है कि उससे अच्छा है विष खा लीजिए । यहाँ अभिधेय है—विष-भोजन और लक्ष्य है—उस व्यक्ति के घर भोजन न करना, इन दोनों का अविनाभाव हो ही कैसे सकता है ?) अतः लक्षणा का हेतु कहना होगा—वाक्य-प्रामाण्य की अनुपपत्ति । वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य तभी बन सकता है, जब कि निर्विशेष वस्तु में उनकी लक्षणा की जाय । तो यह शङ्का युक्त न होगी ; क्योंकि प्रामाण्यानुपपत्ति भी अत्यन्त अप्रसिद्ध वस्तु (जो लक्ष्य बनने के योग्य ही नहीं) को लक्ष्य नहीं बना सकती । अन्यथा गगन-कुसुम में भी लक्षणा होनी चाहिए ।

---

१. नन्वन्त्यविशेषाणां निर्विशेषाणां प्रसिद्धिरस्तीत्यत आह—अन्त्येति । स्वतोऽव्यावृत्तत्वमत्रान्त्यत्वम् । विशेषाणां विशेषान्तराभावात् स्वतोव्यावृत्ता निर्विशेषा विशेषा इतिवैशेषिकाणामभ्युपगमो न तु पूर्वोत्तरमीमांसकानामिति भावः । २. लक्षणाया असम्भवादित्यर्थः । ३. लक्षणस्यासम्भव इत्यर्थः । ४. संसृष्टार्थत्वपरतायामित्यर्थः ।

अथ निर्भेदवस्तुपरत्वम् ? तदपि न ; निर्भेदत्वस्यानिरुक्तेः । तथाहि—निर्भेदत्वं नाम किं भेदाभावविशिष्टत्वम् ? उत भेदाभावोपलक्षितत्वम् ? नाद्यः ; तत्परत्वे वाक्यस्य निर्घटं भूतलमितिवत्संसृष्टार्थत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; तत्रापि संसृष्टार्थत्वस्यानतिवृत्तेः । तथाहि—भेदस्य योऽभावस्तेनोपलक्षणेनोपलक्षितवस्तुपरत्वे कथं न संसृष्टार्थता ? वस्तुमात्रमेव तत्र प्रतिपाद्यम् , भेदाभावस्तु द्वारमिति चेत्, तथापि नाखण्डार्थता; उपलक्ष्यमाणस्य स्वेतरेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतीतावखण्डार्थत्वासंभवात् । अप्रतीतौ चानुपलक्षकत्वादेवोपलक्षणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः ; शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यत्रापर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वेऽप्यखण्डार्थत्वादर्शनात् । नापि चतुर्थः ; तथासत्येकेनैव तत्प्रतिपत्तेः

द्वितीयं दूषयति—**अथ निर्भेदवस्त्विति** । निर्भेदत्वं नाम भेदाभावविशिष्टत्वमिति प्रथमपक्षं दूषयति—**नाद्य इति** । यथा हि निर्घटं भूतलमिति घटाभावविशिष्टभूतलबोधकस्य नाखण्डार्थमेवं तत्रापीत्यर्थः । भेदाभावोपलक्षितत्वपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । तत्रापि[1] वक्तव्यं किं भेदाभावोपलक्षितत्वविशिष्टम्? उत वस्तुमात्रम्? इति । आद्ये प्राह—**भेदस्य योऽभाव इत्यादिना** । द्वितीयं शङ्कते—**वस्तुमात्रमेवेति** । दूषयति—**तथापीति** । भेदाभावेन यद्ब्रह्म लक्ष्यते[2] तत्किमितरेभ्यो व्यावृत्तं प्रतीयते ? न वा ? प्रथमे प्राह—**उपलक्ष्यमाणस्येति** । व्यावृत्तिविशिष्टस्याखण्डत्वाभावादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—**अप्रतीताविति** । कादाचित्कव्यावर्तकमुपलक्षणं नाम तस्य चाव्यावर्तकत्वं व्याहतमित्यर्थः । अपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वमिति तृतीयं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । यस्य हि लक्षणवाक्यं लक्ष्यप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसितमिति मतं तस्येमे लक्षणवाक्ये लक्ष्यजलानलस्वरूपपर्यवसिते, तथापि नाखण्डार्थता भिन्नत्वाल्लक्ष्ययोरित्यर्थः । अथवा पयःपावकशब्दयोरपि शीतोष्णस्पर्शवन्तावेवार्थौ जातिमात्रपरत्वायोगात् । तथा च शीतोष्णस्पर्शवच्छब्दयोः पयःपावकशब्दयोश्च प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमस्ति, नचात्राखण्डार्थतेत्यर्थः । अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थत्वमिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—**नापि चतुर्थः**

द्वितीय (निर्भेदार्थनिष्ठत्व) लक्षण भी समुचित नहीं ; क्योंकि यहाँ निर्भेदत्व का निर्वचन ही नहीं हो सकता—निर्भेदत्व क्या है ? क्या भेदाभाव-विशिष्टत्व ? या भेदाभावोपलक्षितत्व ? प्रथम (भेदाभाव-विशिष्टत्व) पक्ष ठीक नहीं ; क्योंकि वेदान्त वाक्यों में भेदाभाव-विशिष्ट-बोधकत्व मानने से वैसे ही सखण्डार्थत्व प्राप्त होगा, जैसे—निर्घटं भूतलम्—आदि वाक्यों में । द्वितीय (भेदाभावोपलक्षितत्व) पक्ष में भी संसृष्टार्थत्व (सखण्डार्थत्व) की निवृत्ति नहीं हो सकती ; क्योंकि भेद का जो अभाव, उस उपलक्षण से उपलक्षित वस्तु की बोधकता में संसृष्टार्थत्व (संसर्ग-घटितार्थ-वाचकत्व) क्यों न होगा ? यदि कहा जाय कि यहाँ भेदाभाव तो द्वारमात्र है, वेदान्त-बोध्य है—केवल वस्तु । तो भी अखण्डार्थत्व नहीं बनता ; क्योंकि उपलक्ष्यमाण (ब्रह्म) वस्तु यदि स्वेतर से व्यावृत्त होकर प्रतीत होती है, तब अखण्डार्थत्व कैसे ? (अर्थात् इतरव्यावृत्तत्व-विशिष्ट वस्तु, अखण्ड नहीं हो सकती) । यदि उपलक्ष्यमाण वस्तु इतर-व्यावृत्तत्वेन प्रतीत नहीं होती ; तब वह उपलक्षण ही व्यर्थ है, जो लक्ष्य का उपलक्षण नहीं । (भाव यह है कि कादाचित्क व्यावर्तक को ही उपलक्षण कहते हैं । लक्ष्य वस्तु जब इतरव्यावृत्तरूप से प्रतीत नहीं हो सकी, तब उसके उपलक्षण में इतर-व्यावर्तकत्व न रहा) । तृतीय (अपर्याय शब्दों की प्रातिपदिकार्थमात्र में पर्यवसायिता) लक्षण भी अतिव्याप्त है ; क्योंकि 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'—इस लक्षण वाक्य में शीतस्पर्शवत्, उष्णस्पर्शवत्, पयः और पावक—ये चारों अपर्याय शब्द केवल जलाग्नि रूप प्रातिपदिकार्थ के ही बोधक हैं, किन्तु अखण्डार्थत्वके नहीं । चतुर्थ (अपर्याय शब्दों की एक प्रातिपदिकार्थ

---

१. सत्यादिपदेऽपीत्यर्थः । २. उपलक्ष्यते इत्यर्थः ।

पदान्तरप्रयोगस्य वैयर्थ्येन लक्षणस्यासंभवित्वापातात्। व्यवच्छेद्यभेदादवैयर्थ्यमिति चेन्न। तदनिरुक्तेः। तथाहि—किं व्यवच्छेद्यानां व्यावृत्तयः पदैः प्रतिपाद्यन्ते ? अथवा तद्विशिष्टम् ? आहोस्विदुपलक्षितं स्वरूपमात्रं वा ? तत्र न प्रथमद्वितीयौ; तथासति संसृष्टार्थत्वेनाखण्डार्थत्वानुपपत्तेः। नापि तृतीयः; तत्राप्यन्यतो व्यावृत्तस्य प्रतिपादने प्राचीनदोषानुषङ्गात्। स्वरूपमात्रप्रतिपादने च पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यस्य दर्शितत्वात्।

नापि पञ्चमः। तथात्वस्यात्यन्तादृष्टचरत्वेन लक्षणासंभवित्वात्। ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्येषु दृष्टं संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति चेत्, मैवम्; लक्षणवाक्यैरपि

इति। यदि ह्येकमेव वस्तु बुबोधयिषितं तदेकेनैव बुद्धमिति पदान्तरप्रयोगो वृथैव स्यात्, न च पदमात्रं वाक्यमस्ति तस्मादसंभविलक्षणमित्यर्थः। यद्यप्येकमेव लिलक्षयिषितम्, तथापि व्यवच्छेद्या बहवः सन्ति असत्यजाड्यादयः। न चैकपदमात्रात्सर्वेषां व्यवच्छेदः; तदर्थमात्रेणेतरेषां विरोधाभावात्। अतो न पदान्तरवैयर्थ्यमिति शङ्कते—**व्यवच्छेद्येति**। दूषयति—**न तदनिरुक्तेरित्यादिना**। तद्व्यवच्छेदमात्रप्रतिपादनं व्यवच्छेदविशिष्टवस्तुप्रतिपादनं च संसृष्टार्थतया अखण्डार्थताविरोधीति दूषयित्वा व्यवच्छेदोपलक्षितवस्तुप्रतिपादनमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**।

संसर्गागोचरप्रमाजनकत्वमिति पञ्चमपक्षं दूषयति—**नापीति**। सर्वत्र हि वाक्यार्थस्य पदार्थसंसर्गतया वा संसृष्टपदार्थतया वा संसर्गग्राहि वाक्यमित्यसंभवि लक्षणमित्यर्थः। सिद्धान्त्य[२]भिमतसंभवस्थमाशङ्कते—**ननु प्रकृष्टेति**। अत्र हि चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रं पृष्टमेतद्वाक्यविषयः न पुनः प्रकर्षादिसंसर्गस्तस्याबुभुत्सितत्वादिति, तदेतद्दूषयति—**मैवमिति**। तदितरव्यावृत्तिर्वा तच्छब्दव्यवहारो वा लक्ष-

---

में पर्यवसायिता) लक्षण भी उचित नहीं; क्योंकि यदि सत्य, ज्ञानादि सभी पद एक ही प्रातिपदिकार्थ के बोधक हैं, तब तो एक ही पद से उसका बोध हो जायगा, दूसरे पदों का प्रयोग ही व्यर्थ है, फिर तो वाक्य-रचना सम्भव न होने से यह लक्षण असम्भव है। यदि कहा जाय कि प्रत्येक पद के दो व्यापार हैं—एक लक्ष्यार्थ का बोध और दूसरा इतर की व्यावृत्ति (व्यवच्छेद)[१] लक्ष्य एक होने पर भी व्यावर्त्य (व्यवच्छेद्य) असत्य, जडत्वादि अनेक हैं; जिनकी व्यावृत्ति एक पद से नहीं, सभी पदों की सार्थकता है। जैसा कि आनन्दबोधाचार्य ने कहा है—

लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि व्यवच्छेद्यविभेदतः।
विज्ञानानन्दपदयोः पर्यायव्यर्थता कुतः॥ (न्या. म. पृ. २६०)

तो यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि सत्यादि पदों से व्यवच्छेद्य असत्यत्वादि की व्यावृत्तियों का प्रतिपादन होता है ? या व्यावृत्ति-विशिष्ट वस्तु का ? या व्यावृत्त्युपलक्षित वस्तु के स्वरूपमात्र का ? प्रथम और द्वितीय पक्ष में तो इतर प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट व्यावृत्ति एवं व्यावृत्ति-विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन होने से अखण्डार्थत्व नहीं बनता। तृतीय पक्ष में भी इतरव्यावृत्त्युपलक्षितत्व-विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन मानने पर वही पूर्व का (अखण्डार्थत्वानुपपत्ति) दोष होता है और लक्ष्य-स्वरूपमात्र-प्रतिपादन मानने पर पदान्तर-प्रयोग की व्यर्थता तो दिखाई जा चुकी है।

पञ्चम (संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता) तो नितान्त असम्भव है; क्योंकि संसर्गाविषय प्रमा की जनकता लोक में कहीं देखी ही नहीं जाती। यदि कहा जाय कि 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—आदि लक्षणवाक्यों में संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता देखी गई है (अर्थात् किसी ने पूछा—गगन की इन चमचमाती ज्योतियों में चन्द्र कौन है ? उत्तर मिला—'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'—यहाँ चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थमात्र ही प्रश्न एवं उत्तर का विषय है; प्रकाश-संसर्गादि विवक्षित नहीं—द्र. न्या. म.

---

१. एकपदार्थेत्यर्थः। २. सिद्धान्ती शङ्कत इत्यन्वयः।

लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतिपादनात् तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वेन प्रतिपादनाद्वा लक्षणवाक्यानामपि संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः। ननु सोऽयं देवदत्त इत्यादिषु देवदत्तगतभेदभ्रमव्युदासेन तत्स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वमपर्यायशब्दनां दृष्टमिति चेत्, मैवम्; तत्रापि परोक्षदेशकालोपलक्षितस्यैतद्देशकालविशिष्टत्वप्रतिपादकतया संसृष्टार्थत्वानतिवृत्तेः, तावतैव च भेदभ्रमव्युदासादुभयपदलक्षणाभ्युपगमे गौरवप्रसङ्गाच्च। तदेवं नाखण्डार्थत्वनिरुक्तिः।

नापि तत्र प्रमाणम्। प्रकृष्टप्रकाश इति वाक्यार्थश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थस्तत्प्रश्नोत्तरार्थत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा वाक्यान्तरार्थ इति व्यतिरेक्यनुमानमस्तीति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थोऽन्यत्र प्रसिद्धः? न वा? आद्ये तत्र हेतोर्वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वव्याघातः। अवृत्तौ तु सत्यपि सपक्षे तत्र हेतोर-

---

णार्थः, उभयथापि संसृष्टार्थपरतानतिवृत्तिः। तदिह प्रकर्षादिसंसर्गपरताऽभावेपि भवत्येव विधान्तरेण संसृष्टार्थत्वमित्यर्थः। उदाहरणान्तरमाङ्कते—ननु सोऽयं देवदत्त इति। देवदत्तैक्यस्यैकैकपदादपि सिद्धेर्वाक्यवैयर्थ्यमाशङ्क्योक्तम्—भेदभ्रमव्युदासेनेति। यद्यपि लक्षणवाक्यमिदं न भवति, तथापि महावाक्याखण्डार्थत्वसंभावनाया भवत्येव भूमिरितीदमाशङ्कितम्। यदि ह्युभयोरपि लक्षणया देवदत्तमात्रपर्यवसितमिदं स्यात्तदाखण्डार्थत्वम्, नत्वेतदस्ति, एतद्देशकालसंसर्गप्रतिपादनपरत्वात्, तत्पदस्यैव केवलं लक्षणाश्रयणात् तावन्मात्रादेव भेदभ्रान्तिनिवृत्तेः, विना कारणं लक्षणायामतिप्रसङ्गात्तदेतदाह—मैवं तत्रापीति। गौरवप्रसङ्गादिति। प्रथमं मुख्यार्थप्रतीतिस्ततपरित्यज्य तत्संबन्धादर्थान्तरप्रतीतिश्चेति बहु कल्प्यमित्यर्थः। एतेनार्थादेकत्वप्रतिपादनाद्वारं साक्षादेकत्वप्रतिपादनमित्यपि परास्तम्, लक्षणागौरवादेव।

यदत्र न्यायरत्नदीपावल्यामनुमानमुक्तम्, तदनुवदति—प्रकृष्टेत्यादिना। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम्; संसृष्टपदार्थानां वाक्यार्थत्वेन चन्द्रपदार्थस्यापि तत्स्वीकारात्। तत्प्रश्नस्योत्तरं यद्वाक्यं तदर्थत्वादित्यर्थः। अत्र साध्यश्चन्द्रप्रातिपदिकार्थः क्वचित्प्रसिद्धो न वेति विकल्प्य दूषयति—तथा हीत्यादिना। ननु माभूत्केवलव्यतिरेकिता, अन्वयव्यतिरेकिता तु भवतु, किमेतावतेत्यत आह—अन्व-

---

पृ. २६१)। तो यह कहना संगत न होगा; क्योंकि लक्षण के दो प्रयोजन होते हैं—इतर-व्यावृत्ति और व्यवहार। सजातीय, विजातीय-व्यावृत्तत्व-विशिष्ट या चन्द्रादिशब्द-व्यवहर्तव्यत्व-विशिष्ट का प्रतिपादन होने से लक्षण-वाक्यों से सखण्डार्थत्व निवृत्त नहीं होता। यदि कहा जाय कि 'सोऽयं देवदत्तः'—आदि वाक्यों में सभी अपर्याय पद, देवदत्त-गत-भेद-भ्रम को हटाकर देवदत्त के स्वरूप मात्र का प्रतिपादन करते हैं, यहाँ तो अखण्डार्थत्व स्पष्ट है (द्र. न्या. म. पृ. २६७)। तो यह भी कहना युक्त नहीं; क्योंकि यहाँ भी परोक्षदेशकालोपलक्षित देवदत्त में एतद्देशकाल-वैशिष्ट्य का प्रतिपादन होने के कारण संसृष्टार्थत्व से पीछा नहीं छूट सकता। केवल 'तत्' पद की लक्षणा से ही भेद-भ्रम निवृत्त हो जाता है 'तत्' और 'इदम्'—दोनों की लक्षणा मानने में व्यर्थ का गौरव भी है। इस प्रकार अखण्डार्थत्व का लक्षण नहीं बन सका।

प्रमाण भी उसमें कोई नहीं। यदि कहा जाय कि 'प्रकृष्टप्रकाश—यह वाक्यार्थ चन्द्रप्रातिपदिकार्थरूप है, प्रातिपदिकार्थक प्रश्न के उत्तर भूत वाक्य का अर्थ होने से, जो वैसा नहीं, वह ऐसा नहीं, जैसे—वाक्यान्तरार्थ'—यह अनुमान प्रमाण है। तो नहीं कह सकते; क्योंकि चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र अन्यत्र प्रसिद्ध है? या नहीं? प्रथम कल्प में जहाँ प्रसिद्ध है, वहाँ यदि हेतु भी रहता है, तब केवलव्यतिरेकिता भंग हो जाती है और यदि नहीं रहता है, तब उस सपक्ष में न रहने के

---

१. केवलतत्पदस्य लक्षणाश्रयणेऽर्थादेकत्वप्रतिपादनम्, उभयपदलक्षणायां तु साक्षादेकत्वप्रतिपादनमितिविवेकः।

वृत्तेरसाधारणानैकान्तिकता। द्वितीये पुनरप्रसिद्धविशेषणतैव। अन्वयव्यतिरेकितायां च यो यत्प्रश्नोत्तरार्थं इति व्याप्तिरभ्युपेया। तथाच त्वत्करे कति वराटका इति प्रश्नस्य पाणौ पञ्च वराटका इति प्रतिवचने व्यभिचारः। न च विमतमखण्डार्थं लक्षणवाक्यत्वात्पृथुबुध्नोदराकारः कुम्भ इति वाक्यवदित्यनुमानं मानम्; लक्षणवाक्यानामप्युक्तप्रकारेण संसृष्टार्थपरतया दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। तदेवं लक्षणप्रमाणयोरभावान्नाखण्डार्थत्वं शब्दानाम्। विवादाध्यासितं पदार्थसंसर्गप्रतीतिजनकं वाक्यत्वाद् गवानयनादिवाक्यवत्। नच जरद्गवादिवाक्ये व्यभिचारः; तस्य वाक्याभासत्वात्। आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्येति। कति वराटका इति प्रश्नोत्तरार्थे वराटकसङ्ख्याविशेषे वराटकप्रातिपदिकार्थत्वं नास्ति सङ्ख्यासंबन्धपरत्वाद्वाक्यस्येत्यर्थः। वराटकः कपर्दकः। न च तत्प्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधौ व्याप्तिः, क्वचिदपि प्रातिपदिकमात्रनिष्ठवाक्यासंप्रतिपत्तेः। अन्यथा तस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तौ एतत्[1]प्रसाधनवैयर्थ्यापातादिति। अतएव चन्द्रप्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधावपि न व्याप्तिः, असिद्धेरेव[2]। आनन्दबोधाचार्यानुमानमुद्भाव्य दूषयति—**विमतमित्यादिना**। विज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः। **उक्तप्रकारेणेति**। इतरव्यावृत्तेर्व्यवहारस्य वा बोधनादित्यर्थः। स्वपक्षे चानुमानमाह पूर्ववादी—**विवादाध्यासितमिति**। सत्यज्ञानादिवाक्यमित्यर्थः। प्रतीतिः प्रमितिः। प्रयोगद्वये च संसृष्टपदार्थस्य पदार्थसंसर्गस्य वा पक्षीकरणे वाधस्तदितरस्य त्वप्रसिद्धेराश्रयासिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम्। **जरद्गवेति**।

‘जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति भद्रकाणि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन्रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः’ ॥

इति श्लोकादावित्यर्थः। वाक्याभासतामेव दर्शयति—**आकाङ्क्षेति**। न तत्र योग्यतास्तीत्यर्थः। ननु खं

कारण हेतु असाधारण अनैकान्तिक हो जाता है। द्वितीय पक्ष में (चन्द्रप्रातिपदिकार्थ के अन्यत्र प्रसिद्ध न होने पर) साध्याप्रसिद्धि दोष आ जाता है। यदि उक्त प्रयोग को केवलव्यतिरेकी न मानकर अन्वयव्यतिरेकी माना जाय, तब ‘जो जिस प्रश्न का अर्थ है, वह उस प्रातिपदिक का अर्थ है’—यह व्याप्ति माननी होगी। तब तो ‘आपके हाथ में कितनी कौड़ियाँ हैं?’ इस प्रश्न के उत्तर (हाथ में पाँच कौड़ियाँ हैं) में व्यभिचार होता है; क्योंकि यह उत्तर संख्या-सम्बन्ध-प्रतिपादक है; केवल प्रातिपदिकार्थस्वरूप साध्य न रहने पर भी हेतु रह जाता है। ‘विवादास्पद (विज्ञानानन्दादि वाक्य) अखण्डार्थक हैं, लक्षणवाक्य होने से, जैसे—पृथुबुध्नोदराकारः कुम्भः—यह वाक्य’ (द्र. न्या. म. पृ. २६३)—यह अनुमान भी अखण्डार्थत्व में प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि लक्षण वाक्य संसृष्टार्थपरक ही होते हैं—यह गत पृष्ठ पर कहा जा चुका है, अतः दृष्टान्त में साध्य-विकलता है। अतः लक्षण और प्रमाण न होने से शब्दों में अखण्डार्थत्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत सखण्डार्थत्व में पुष्कल प्रमाण मिलते हैं, जैसे—‘विवादास्पद (विज्ञानानन्दादि वाक्य) पदार्थ-संसर्ग-प्रतीति के जनक हैं, वाक्य होने से, जैसे—गामानयादि वाक्य’—यह अनुमान। यदि कहें कि ‘वाक्यत्व’ हेतु तो असम्बद्धार्थक (बूढ़ा बैल कम्बल-निर्मित खड़ाऊँओं की जोड़ी पर चढ़ा, द्वार पर मंगल-गान करता है, अन्दर से पुत्र की इच्छावाली ब्राह्मणी निकल कर उससे पूछती है—राजन् नमक की खान में लहसुन का भाव क्या है? इत्यादि) वाक्यों में भी रहता है, अतः व्यभिचारी है। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि असम्बद्धार्थक पद-समूह, वाक्य नहीं, वाक्याभास होते हैं। वाक्याभिज्ञ मनीषियों ने वाक्य का लक्षण किया है—आकांक्षा, सन्निधि,

---

१. प्रकृष्टप्रकाश इति वाक्यस्याखण्डार्थत्वसाधनेत्यर्थः। २. प्रातिपदिकमात्रार्थनिष्ठत्वासिद्धेरित्यर्थः।

मिति हि वाक्यविदः। न च खं छिद्रमित्यादौ व्यभिचारः ; तस्यापि लक्षणवाक्यत्वेन लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वेनाखण्डार्थत्वाभावात्। न च विपक्षे बाधकतर्काभावः ; संसर्गप्रतीत्यजनकत्वे वाक्यत्वाभावप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्। तदेवं नाखण्डार्थता वेदान्तानामिति ।

अत्राभिदध्महे—न तावल्लक्षणासंभवोः ; यतः—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ १९ ॥

अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थता । न चेदमसंभवि लक्षणम्; प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येषु तत्सद्भावात्। न च लक्षणवाक्यमपि संसृष्टार्थं लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिवैशिष्ट्यप्रतिपादनपरत्वात्तत्तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वप्रतिपादनाद्वेति युक्तम् ; विकल्पासहत्वात्। किं प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं साक्षादन्यतो व्यावृत्तिं प्रतिपादयति ? किंवा

छिद्रमित्यत्र वाक्यत्वमस्ति, नच साध्यमस्ति, अनेकपदार्थाभावेन संसर्गाभावादतो व्यभिचार इति तत्राह—न च खं छिद्रमितीति ।

अत्र समाधातुमुपक्रमते—अत्रेति । संसर्गेति । गिरामपर्यायशब्दानां या संसर्गाविषयत्वे सति सम्यग्धीहेतुता इयमखण्डार्थतोक्ता । अथवा तेषामेव शब्दानां तत्प्रातिपदिकार्थता तदिति संसर्गराहित्येन लक्षितमेकत्वं परामृशति—एकप्रातिपदिकार्थतेति लक्षणसंग्राहकश्लोकयोजना । अनेन च चतुर्थपञ्चमपक्षौ परिगृहीतौ । श्लोकं विवृणोति—अपर्यायेति। हस्तः कर इत्यादौ व्यभिचारवारणायापर्यायग्रहणम् । इन्द्रियव्यावृत्त्यै शब्दग्रहणम्। गामानयेत्यादिव्यवच्छेदार्थं संसर्गागोचरग्रहणम्। वाक्याभासव्यावृत्त्यर्थं प्रमितिग्रहणम्। तत्सद्भावात्। लक्षणसद्भावादित्यर्थः। तत्रापि[२] संसृष्टार्थत्वं पूर्ववादिनोक्तमनूद्य तं दूषयितुम् विकल्पयति—किं प्रकृष्टेत्यादिना । साक्षादित्यभिधानेनेत्यर्थः । अर्थादिति । नान्तरीयकत-

योग्यता वाले पदों का समूह। जरद्गवादि वाक्यों में यह लक्षण नहीं जाता, अतः उनमें वाक्यत्व रहता ही नहीं, कि व्यभिचारी हो। यदि कहा जाय कि "खं छिद्रम्" (आकाश, अवकाश रूप है) इस वाक्य में अनेक पदार्थ न होने से संसर्गविषयत्व नहीं, किन्तु 'वाक्यत्व' हेतु वहाँ भी है, अतः व्यभिचारी है। तो यह भी कहना संगत नहीं ; क्योंकि उक्त वाक्य आकाश का लक्षण-वाक्य है, उसमें भी सजातीय, विजातीय की व्यावृत्ति का प्रतिपादन होने से अखण्डार्थता नहीं, सखण्डार्थत्वरूप साध्य ही रहता है। विपक्ष में बाधक तर्क का भी अभाव नहीं ; क्योंकि 'संसर्ग-प्रतीति की जनकता न मानने पर वाक्यत्व ही न रह सकेगा'—यह विपक्ष-वाधक तर्क है। इस प्रकार वेदान्त-वाक्यों में अखण्डार्थता नहीं बनती।

उत्तर पक्ष—अखण्डार्थ का लक्षण असम्भव नहीं ; क्योंकि 'वाक्यों में जो संसर्गाविषयक सम्यक् ज्ञान की हेतुता है, वही अखण्डार्थता है, अथवा अपर्याय पदों की एकप्रातिपदिकार्थता का नाम अखण्डार्थता है।' अर्थात् अखण्डार्थत्व का 'अपर्याय शब्दों में संसर्गाविषयक-प्रमा-जनकत्व—यह पञ्चम लक्षण नितान्त निर्दुष्ट है। यह लक्षण असम्भव नहीं ; क्योंकि प्रकृष्टप्रकाशादि वाक्यों में देखा जाता है। यह जो कहा था कि लक्षण-वाक्य भी सजातीय, विजातीय की व्यावृत्ति के वैशिष्ट्य का या तत्तत् शब्दों से व्यवहर्त्तव्यत्व का प्रतिपादन करते हैं, अतः संसृष्टार्थक हैं। वह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि प्रकृष्टप्रकाशादि वाक्य साक्षात् इतर-व्यावृत्ति के प्रतिपादक हैं ? या

---

१. अतिव्याप्तिवारणायेत्यर्थः। २. प्रकृष्टप्रकाश इतिवाक्येऽपीत्यर्थः।

स्वरूपप्रतिपादनेनार्थात् ? नाद्यः; व्यावृत्तिप्रतिपादकशब्दाभावात्। नापि द्वितीयः ; नान्तरीयकतया सिध्यतोऽर्थस्य शब्दार्थत्वाभावात्, 'यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः' इति न्यायात्। अन्यथा गामानयेत्यादिवाक्येष्वश्वाद्यानयनव्यावृत्तेरपि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। नन्वयं चन्द्र इति व्यवहर्तव्यः, प्रकृष्टत्वे सति प्रकाशत्वात्, यन्नैवं न तदेवं यथा नक्षत्रादि, न तथा चायम् , तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेकितया लक्षणवाक्यं पर्यवस्यति, तथा च कथमखण्डार्थता ? चन्द्र इति व्यवहर्तव्यतालक्षणधर्मवैशिष्ट्यप्रतिपादनपरत्वादिति चेत्, मैवम्; 'चन्द्रतया व्यवहर्तव्यः , इति किं चन्द्ररूपार्थविशेषितो व्यवहारः कर्तव्यः ? उत चन्द्रशब्दमात्रविशेषितो व्यवहारः ? आद्ये चन्द्रविशिष्टं व्यवहारं यदि नाज्ञासीत्तदा लक्षणवाक्यादपि विषयविशेषितकर्तव्यतां तस्य कथमधिगच्छेत् ? नह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निसंबन्धमधिगमयितुं शक्यः। अथाधिगतवान् तदा लक्षणवाक्यरूपमनुमानं निष्प्रयोजनम् , ज्ञातस्यैव ज्ञापयेत्यर्थः। यश्चार्थाच्छ्रुतार्थनान्तरीयकतया लभ्यते, न च स चोदनार्थो वेदार्थ इति शबरस्वामिवाक्यार्थः। न चाश्वाद्यानयनव्यावृत्तिरपि तद्वाक्यार्थः, वाक्यभेदप्रसङ्गादिति भावः। ननु माभूद्व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वम् व्यवहारसाधनमेव लक्षणप्रयोजनं ब्रूमः , तावताप्यखण्डार्थता खण्डितैवेति शङ्कते—नन्वयमित्यादिना। चन्द्ररूपार्थविशेषितव्यवहारकर्तव्यतासाधने दोषमाह—आद्य इति। यस्य कर्तव्यतामात्रं साध्यते स किं चन्द्रविशेषितो व्यवहारः प्रतिवादिनोऽज्ञातः ? ज्ञातो वा ? यद्यज्ञातस्तदाऽप्रसिद्धविशेषणत्वम्। अविदितदहनं प्रतीव दहनानुमानप्रवृत्तावित्याह—तदा लक्षणवाक्यादपीति। अपिना स्वरूवसाधकत्वं लक्षणस्य सूच्यते। द्वितीयं दूषयति—अथेति। चन्द्रव्यवहारस्य कर्तव्यतामात्रमेव तावत्साध्यते, न पुनरग्निसंबन्ध इवान्यत्र सिद्धस्यान्यत्र संबन्धः, केवलव्यतिरेकिताभङ्गात् तं[1]चेत्क्वचित्सिद्धं सिद्ध-

स्वरूप-प्रतिपादन के द्वारा ? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं ; क्योंकि उक्त वाक्य में व्यावृत्ति-वाचक कोई पद ही नहीं। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि स्वरूप-प्रतिपादन से जो अर्थतः सिद्ध होने वाली व्यावृत्ति है, उसे शब्दार्थ नहीं माना जाता। शबर स्वामी ने कहा है—जो अर्थ अर्थतः प्रतीत होता है, वह शब्द का शक्यार्थ नहीं कहलाता। अन्यथा 'गामानय' कहने पर अर्थ-सिद्ध अश्वानयन की व्यावृत्तिको भी 'गामानय'—इस वाक्य का अर्थ मानना पड़ेगा। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'यह 'चन्द्रः'—इस प्रकार व्यवहर्तव्य है, प्रकृष्ट प्रकाश-युक्त होने से, जो वैसा (प्रकृष्ट प्रकाश-युक्त) नहीं, होता वह ऐसा 'चन्द्र' शब्द से व्यहर्तव्य नहीं होता, जैसे नक्षत्रादि, यह (चन्द्र) वैसा (प्रकृष्ट प्रकाश-रहित) नहीं, अतः ऐसा ('चन्द्र' शब्द से अव्यवहर्तव्य) भी नहीं,—इस प्रकार यहाँ व्यतिरेकी हेतु के रूप में लक्षण आ गया है, अतः अखण्डार्थता कैसे ? जब कि 'यह चन्द्र है'—इस प्रकार की व्यवहर्तव्यता के वैशिष्ट्य का प्रतिपादक हो रहा है। किन्तु यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि यहाँ 'चन्द्रः—इस प्रकार व्यवहर्तव्य है'—इस साध्य का क्या अर्थ है ? क्या 'चन्द्र रूप अर्थ-विशेषित व्यवहार करना चाहिए'—यह ? अथवा 'चन्द्र' शब्द मात्र-विशेषित व्यवहार ? प्रथम पक्ष में चन्द्र-विशिष्ट-व्यवहार यदि कोई नहीं जानता, तब लक्षण-वाक्य से भी चन्द्र-विशिष्ट-व्यवहार में कर्तव्यता का निश्चय वह कैसे कर सकेगा ? (अर्थात् साध्य का कोई भी अंश अप्रसिद्ध हो जाने से पूरा साध्य अप्रसिद्ध हो जाया करता है। प्रकृत में साध्य है—'चन्द्र-विशिष्ट-व्यवहार की कर्तव्यता'। चन्द्र-विशिष्ट-व्यवहार अप्रसिद्ध हो जाने से पूरा साध्य अप्रसिद्ध हो गया) जैसे कि जो व्यक्ति अग्नि को नहीं जानता, उसे अनुमान के द्वारा भी अग्नि-सम्बन्ध का निश्चय नहीं कराया जा सकता। जो चन्द्र-विशिष्ट-व्यवहार जानता है उसके लिए लक्षण-वाक्य रूप अनुमान करना पिष्ट-पेषण

---

१. व्यवहारकर्तव्यत्वम्।

नात्। अथ सामान्यतो जानात्यस्ति कश्चिद्विषयश्चन्द्रव्यवहारस्येति, विशेषतस्तु न जानातीत्युच्यते ; तथापि किं सामान्यतो व्यवहारस्य निमित्तवत्तां जानाति ? किं वा व्यवहारविशेषस्य ? आद्ये प्रकृतानुपयोगः ; व्यवहारविशेषस्य विचार्यमाणत्वात्। द्वितीयेऽपि चन्द्रलक्षणार्थविशेषापरिज्ञाने तद्विशिष्टव्यवहार एव विज्ञातुमशक्यः। ज्ञाते च लक्षणवाक्यवैयर्थ्यमित्युक्तम्। नापि द्वितीयः ; लक्षणं विनापि गवादिशब्दानामिव वृद्धव्यवहारादेव वाच्यवाचकसंबन्धग्रहोपपत्तेः। पूर्वं प्रतिपन्न एव वाच्यवाचकभावो लक्षणवाक्येन स्मार्यत इति चेत्, न ; अवगतसंबन्धस्य तत्र तच्छब्दादेव संबन्धस्मरणोपपत्तौ लक्षणाभिधानवैयर्थ्यात्। अवगतसंबन्धस्यापि शब्दस्य लक्षणवाक्यादेव संबन्धस्मरणनियमे, लक्षणवाक्य-

---

मनुमानसाध्यमित्यर्थः। ज्ञाताज्ञातविकल्पोक्तदोषं परिहरन्नाशङ्कते—**अथ सामान्यत** इति। अयमर्थः—यद्यपि न स्थलान्तरे सिद्धिः. केवलव्यतिरेकित्वात्, तथापि नाप्रसिद्धत्वं सामान्यतः सिद्धत्वादिति तदेतद्दूषयति—**तथापीति**। कीदृशमिदं सामान्येन ज्ञानम् ? किं वक्ष्यमाणदिशा चन्द्रशब्दविशेषितत्वासिद्धेश्चन्द्रलक्षणार्थाज्ञानाच्चाश्वकर्णादिव्यवहारमात्रस्य नाम चन्द्रव्यवहार इति ततो व्यवहारमात्रं निमित्तवदिति ? किंवा चन्द्रव्यवहारो निमित्तमात्रवानिति ? आद्ये गवादिव्यवहारमात्रस्य निमित्तवत्त्वज्ञानं न चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतानुमानस्याप्रसिद्धविशेषणतां निवारयति, न ह्यग्निमत्त्वप्रसिद्धिरनित्यत्वानुमाने तां वारयितुमलमित्यभिप्रेत्याह—**आद्ये प्रकृतानुपयोग** इति। द्वितीये चन्द्रविशेषितव्यवहारः किं चन्द्रलक्षणार्थविशेषितो व्यवहारः ? उत चन्द्रशब्दविशेषितः ? द्वितीयस्तु प्राथमिकद्वितीयविकल्पसमानजीवनः। प्रथमेऽपि किं चन्द्रोऽविदितः ? विदितो वा ? आद्ये प्राह—**द्वितीयेऽपि चन्द्रे**ति। द्वितीये प्राह—**ज्ञाते चे**ति। चन्द्रशब्दविशेषितो व्यवहारः साध्यत इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय** इति। अत्र चन्द्रशब्दः प्रयोक्तव्य इति वाच्यवाचकसङ्गतिग्रहो हि यदा लक्षणप्रयोजनं तदा लक्षणं व्यर्थमन्तरेणापि लक्षणं गवादिपदानामिव सङ्गतिग्रहसंभवादित्यर्थः। प्रथमतोऽवगतस्यापि शब्दसंबन्धस्य लक्षणवाक्यात्स्मरणसाधनमप्यनर्थकम्, गवादिपदानामिवान्तरेणापि लक्षणं स्मरणसंभवादित्युक्तम्, इदानीं न केवलमानर्थक्यमपि त्वनवस्थालक्षणानर्थोऽपि स्यादित्याह—**अवगतसंबन्धस्यापीति**। तत्तद्वाक्यस्थपदानामपि तैस्तैरर्थैः संबन्धो लक्षणैरेव स्मारयितव्यः, एवं तत्तत्स्मारकवाक्यस्थपदानामपीति न कश्चिदपि स्या-

---

है। यदि कहा जाय कि सामान्यरूप से 'चन्द्र-व्यवहार का कोई विषय है'—इतना जानता है ; किन्तु विशेषरूप से नहीं जानता। इसलिए अनुमान की आवश्यकता है। तथापि प्रश्न उठता है कि लक्षण निमित्त होता है और व्यवहार निमित्तवान—यहाँ क्या सामान्य व्यवहार में निमित्तवत्ता का ज्ञान है ? या विशेष व्यवहार में ? सामान्य व्यवहार का तो प्रकृत में उपयोग नहीं ; क्योंकि व्यवहारविशेष ही विचार्यमाण है। द्वितीय पक्ष में चन्द्ररूप अर्थ विशेष का ज्ञान न होने पर चन्द्र-विशिष्ट-व्यवहार नहीं जाना जा सकता। यदि चन्द्ररूप अर्थविशेष का ज्ञान है, फिर लक्षण-वाक्य व्यर्थ हो जाता है। द्वितीय ('चन्द्र' शब्द-विशेषित व्यवहार की सिद्धि की जा रही है) पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि लक्षण के बिना ही गवादि शब्दों के समान वृद्ध-व्यवहार से ही वाच्य-वाचक-ग्रह बन सकता है। यदि कहा जाय कि पूर्व-निश्चित वाच्य-वाचक-भाव का ही लक्षण-वाक्य से स्मरण दिलाया जाता है ; तब तो जिसे पहले से शक्ति-ग्रह है, उसे केवल शब्द सुनने से ही स्मरण हो सकता है, लक्षणाभिधान की क्या आवश्यकता ? यदि ऐसा नियम लागू किया जाय कि गृहीतशक्तिक शब्द के सम्बन्ध का स्मरण लक्षण-वाक्य से ही करना चाहिए ; तब लक्षण-वाक्यस्थ पदों के सम्बन्ध का स्मरण दिलाने के लिए लक्षणान्तर और उस लक्षण-वाक्य के पदों का सम्बन्ध-

स्थपदानामपि प्रत्येकं लक्षणवाक्यैः संबन्धस्मरणप्रसङ्गादनवस्थादुरवस्था स्यात्। तस्माद् गवानयनादिवाक्यवदाप्तोपदेशतयैव लक्षणवाक्यमवबोधकम्। तच्च सर्वं स्वरूपमात्रे पर्यवस्यति, अर्थात्पुनरन्यतो व्यावृत्तिः फलतीति युक्तम्।

नन्वेवमपि नैतल्लक्षणम् ; अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः, नित्यः संबन्धः समवाय इत्येवमादिसंबन्धप्रतिपादकलक्षणवाक्येष्वव्याप्तेः। तेषां संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वादितिचेत्, मैवम् ; तेषामपि स्वस्वपदस्मारितपदार्थानामन्योन्यसंसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वात्। संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वशब्देन चास्यैवार्थस्य विवक्षितत्वात्। नाप्यतिव्याप्तिः ; ससंसर्गप्रमितिजनकेषु गवानयनादिवाक्येषु लक्षणाभावात्।

यद्वा अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकाथमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता। न चैवं पदान्तर-

---

दित्यर्थः। तत्किं लक्षणमेव तेषु ग्रन्थेषु न प्रयोक्तव्यम्? तथाच गतं सत्यं ज्ञानमनन्तमिति ब्रह्मलक्षणेन तत्प्रयुक्तजन्माद्यधिकरणेनापीत्य आह—तस्मादिति। न लक्षणमनुमानतयोपयुज्यते, अपि तु शब्दप्रमाणतयेत्यर्थः। ननु भवतु लक्षणं शब्दतयोपयोगि किमायातमखण्डार्थतायामिति तत्राह—तच्च सर्वमिति। उक्तमेतत्पुरस्तादेव स्वरूपमात्रं शब्देन बोध्यते इतरव्यावृत्तिस्त्वार्थिकी न चार्थिकः शब्दार्थ इति।

यद्यपीदं संभवति, तथाप्यव्यापकमिदं लक्षणम्, संयोगसमवायात्मकसंबन्धस्य यल्लक्षणवाक्यं तस्य लक्ष्यसंसर्गविषयत्वेन संसर्गागोचरत्वलक्षणांशाभावादिति शङ्कते—नन्वेवमपीति। संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति कोऽर्थः? यद्बोधयति तदीयसंसर्गागोचरत्वे तत्प्रमितिजनकत्वमिति, अस्ति चैतदत्रापि, नहि संयोगस्य समवायस्य वा तत्तद्विशेषणसंसर्गबोधपरमिदं वाक्यं तस्याबुभुत्सितत्वादित्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवं तेषामपीति। न च विषं भुङ्क्ष्वेत्यादिसर्वलक्षणावाक्येष्वतिव्याप्तिः, प्रतिपिपादयिषितसंसर्गगोचरत्वात् तदभावस्येह विवक्षितत्वात्।

यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थतेति श्लोकावयवं विवृणोति—यद्वा अपर्यायेत्यादिना। यद्यप्येकपदलक्ष्यमेव

स्मरण और-और लक्षणों से—इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। अतः यह मानना होगा कि लक्षण का उपयोग उक्त अनुमान के रूप में नहीं, अपितु आप्तोपदेश (शब्द-प्रमाण) के रूप में अपने लक्ष्य का बोधक है। शब्द प्रमाण तो लक्ष्य के स्वरूप मात्र का परिचायक होता है और इतर-व्यावृत्ति तो अर्थतः फलित होती है।

यदि शङ्का हो कि फिर भी यह लक्षण (अपर्याय शब्दों में संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता) अव्याप्त है—"अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः" (अप्राप्तपदार्थों की प्राप्ति का नाम संयोग है), "नित्यः सम्बन्धः समवायः" (नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय है)—आदि—सम्बन्ध-प्रतिपादक लक्षण-वाक्यों में संसर्गाविषयक प्रमा-जनकता नहीं, अपितु संसर्गविषयक प्रमा-जनकता ही है। तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि उक्त लक्षण-वाक्यों में भी तत्तत् पदों से स्मारित पदार्थों का जो संसर्ग, तादृश-संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता है ही। संसर्गाविषयकप्रमाजनकत्व का यही अर्थ विवक्षित है। (अर्थात् 'संसर्गाविषयक प्रमा-जनकत्व'—यहाँ पर 'संसर्ग' पद से पदार्थ रूप संसर्ग नहीं अपितु पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध विवक्षित है, संयोगादि के लक्षण-वाक्यों में संयोगादि, पदार्थरूप से प्रतीयमान हैं, न कि किन्हीं दो पदार्थों के सम्बन्ध के रूप में)। इस लक्षण की अतिव्याप्ति भी कहीं नहीं ; क्योंकि संसर्गविषयक प्रमा-जनक 'गामानय'—आदि वाक्यों में लक्षण नहीं जाता।

अथवा 'अपर्याय की एक प्रातिपदिकार्थ मात्र में पर्यवसायिता'—यह अखण्डार्थता का लक्षण है। यह जो कहा था कि जब एक पद से वही प्रातिपदिकार्थ कह दिया गया, तब पदान्तर-प्रयोग

वैयर्थ्यम् ; व्यावर्त्यभेदादर्थवत्त्वोपपत्तेः । तथाहि—लोके प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टपदेनाप्रकृष्टखद्योतादेः प्रकाशपदेनाप्रकाशात्मप्रकृष्टसंतमसादेश्च व्यवच्छेदेन बुभुत्सितश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थः प्रतिपाद्यते, अन्यथा वक्तुरबुभुत्सितमर्थं प्रतिपादयतोऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गात् । न च व्यावृत्तिपरत्वे व्यावृत्तिमत्परत्वे वा संसृष्टार्थत्वम्, स्वरूपमात्रपरत्वे च पदान्तरवैयर्थ्यमिति वाच्यम् ; व्यावृत्तिद्वारा पदानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वाङ्गीकारात्, व्यावर्त्यभेदेनावैयर्थ्याच्च । तथा वेदेऽपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादौ सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मशब्दा अनृतजडदुःखान्तवत्त्वानात्मत्वभ्रान्तिनिवृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति । न चैवमनेकाकारविज्ञानजनकत्वात्पदानां लक्ष्यस्य[1] ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वप्रसङ्गः ; लक्षणासमये

पदान्तरपर्यवसानभूमिस्तथापि नैकपदव्यावर्त्यमेव पदान्तरव्यावर्त्यं जाड्यानृतादीनां विभिन्नत्वात् ततो न संसृष्टार्थतावैयर्थ्ये इत्युक्तम् । एतदेव लौकिकोदाहरणेन दर्शयति—**तथा हीत्यादिना** । संतमसं विष्वक्तमः । अत्र च व्यवच्छेदेनेति व्यवच्छेदानां द्वारतोक्ता । **प्रतिपाद्यत इति** । तात्पर्यविषयत्वं तेन न शून्यनिष्ठतापत्तिः । ननु किमिति स्वरूपमात्रपरताश्रयणं न पुनर्यथाश्रुतप्रकर्षादिसंसर्गपरत्वमिति तत्राह—**अन्यथेति** । यदि हि स्वरूपमात्रे पृष्टे गुणादिसंसर्गं प्रतिपादयेत्तर्ह्यश्रद्धेयवचनः स्यादित्यर्थः । यत्तु पूर्वपक्षिणा त्रेधा विकल्प्य दूषणद्वयमुक्तं तन्निराकरोति—**न च व्यावृत्तीति** । ननूक्तं स्वरूपमात्रपरत्वे पदान्तरवैयर्थ्यमिति तत्राह—**व्यावर्त्यभेदेनेति** । तदेवं लौकिकेषूदाहृत्य विवक्षितसत्यादिवाक्येषु लक्षणं वर्तयति—**तथा वेदेऽपीति** । ननु स्ववाच्यप्रक्षेपेण वा पदानां विरोधिव्यावर्तनम् ? अप्रक्षेपेण वा ? न तावद् द्वितीयः । विरोध्यदर्शनेनानृतादिव्यावृत्तेरशक्यज्ञानत्वात् । प्रथमे तु विभिन्नैर्ज्ञानत्वादिभिराकारैर्ब्रह्मणोऽप्यनेकाकारत्वमिति तत्राह—**न चैवमनेकाकारेति** । लक्षणासमय इति सामीप्यात् लक्षणाप्राक्समयो विवक्ष्यते । न हि तत्तदाकाराः प्रतिपिपादयिषिता इति प्रतिपाद्यन्ते किन्तु कथं नु नामानृताद्यारोपरहितब्रह्मप्रतिपत्तिरिति ? तद्यावदनृतादिव्यावृत्तिस्तावदेव सत्यत्वाद्याकाराणां स्थितिः, निवृत्तेषु तु तेषु एते एवाकारा अनृता जायन्ते ; कः खलु विशेषोऽनृतादिभिराकाराणामद्वैतविरोधे ? तस्मादेकानन्दव्यक्तिपरमेव सत्यादिवाक्यं न सत्यत्वादिपरं नाप्यनृतादिव्यावृत्तिपरमित्यर्थः । विधिमुखेषु वाक्येषु उक्तन्यायं निषेध-

व्यर्थ है । वह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि व्यावर्त्य (व्यवच्छेद्य) पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, उनकी व्यावृत्ति के लिए सभी पदों की आवश्यकता है, जैसे कि लोक में "प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः"—यहाँ 'प्रकृष्ट' पद से अप्रकृष्ट खद्योतादि की, 'प्रकाश' पद से अप्रकाशरूप प्रकृष्ट अन्धकारादि की व्यावृत्ति करके जिज्ञासित चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र का प्रतिपादन किया जाता है ; नहीं तो अजिज्ञासितार्थ का प्रतिपादन पागलपन समझा जायगा (द्र. न्या. म. पृ. २६२)। यह जो कहा था कि व्यावृति या व्यावत्तिमत् पदार्थ का प्रतिपादन मानने से संसृष्टार्थत्व की आपत्ति होगी । वह कहना भी ठीक नहीं ; क्योंकि व्यावृत्ति के द्वारा लक्ष्य-स्वरूप की परिचायकता में पदों का तात्पर्य माना जाता है । व्यावर्त्य (व्यवच्छेद्य) का भेद होने से सभी पदों का सार्थक्य तो दिखाया ही जा चुका है । वैसे ही वेद में "सत्यं ज्ञानमनन्तम्"—आदि वाक्यों में सत्य, ज्ञान, आनन्द और अनन्त आदि पद क्रमशः असत्य, जड, दुःख आदि की व्यावृत्ति-द्वारा लक्ष्य ब्रह्म के समर्पक हैं । यदि सन्देह हो कि इस प्रकार तो सभी पद, अनेकाकार विज्ञान के जनक होते हैं, अतः लक्ष्य ब्रह्म में अनेकाकारता आ जायगी [आशय यह है कि सत्यादि पद ब्रह्म में सत्यत्वादि बताकर ही असत्यत्वादि की व्यावृति करेंगे, अतः एक ही ब्रह्म में सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्वादि अनेक आकार आ जाते हैं]। तो यह

---

[1] लक्षणासमये इत्यस्य लक्ष्ये ब्रह्ममात्रे तात्पर्येण पर्यवसानादित्यन्वयः । एतेन सामीप्यात्प्राक्कालाविवक्षायामपि न क्षतिः ।

भिन्नाकारविज्ञानजनकानामपि पदानां तत्तद्भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रप्रयोजनकतया लक्ष्ये ब्रह्ममात्रे तात्पर्येण पर्यवसानात् । एवं च तत्तच्छब्दजन्यविज्ञानानां तत्तद्भिन्नाकारसमर्पिणां नान्तरीयकतया तत्तद्विरोध्याकारनिवर्तकत्वाद्वाक्यस्याखण्डार्थत्वसिद्धिः । उक्तं चैतत्सुरेश्वराचार्यैः—

"प्रतिपद्य पदार्थं हि विरोधात्तद्विरोधिनः ।
पश्चादभावं जानाति वध्यघातकवत्पदात् ॥१॥
शब्दात्प्रतीयते तावत्सङ्गतिर्धर्मधर्मिणोः ।
मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः ॥२॥
तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् ।
स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम् ॥३॥
तद्विरोध्यर्थसंत्यागः सामर्थ्यात्स्यान्न शब्दतः ।" इति ।

मुखेन प्रतिपादकेष्वप्यतिदिशति—एवं च तत्तच्छब्दजन्येति । तदेतद्विरोधिनिवृत्त्यर्थमेव तत्तदाकारविधानं किञ्चिदुक्तम् , तत्तदाकारविरोधिनिवृत्तेश्चाशब्दत्वमुक्तम् , तदाचार्यवचनेन द्रढयति—उक्तं चैतदिति । तैत्तिरीयके वार्तिके सत्यं ज्ञानमनन्तमिति वाक्यव्याख्यानसमये इति शेषः । पदात्सत्यादेः पदार्थं सत्यत्वादि ब्रह्माणि प्रतिपद्य ज्ञात्वा तेन विरोधाद्धेतोर्विरोधिनोऽनृतादेरभावं जानाति । तत्र निदर्शनम्—वध्यघातकवदिति । यथा खल्वाखुभूषितां भूमिं दृष्ट्वाऽर्थान्मार्जाराभावोऽवगम्यते एवमिति । तत्किमुभयमपि[1] शाब्दम् ? आहोस्विदन्यतरद् ? इति तत्राह—शब्दादिति । प्रथमं धर्मधर्मिणो सत्यत्वादेः ब्रह्मणश्च संगतिः शब्दात्प्रतीयते तावताचास्यां[2]स्तात्पर्याविषयत्वं द्योत्यते, अपोहस्तु विरोधिव्यावृत्तिर्मानान्तरादनुपपत्ति[3]लक्षणात् ज्ञायते तेन स अपोहस्तु न शाब्दः । तत्र किं त्रयाणामविशिष्टोयं न्याय इति ? नेति ? वैधर्म्यमाह—तत्रानन्त इति । तत्र तेषु मध्येऽनन्तः अनन्तशब्दार्थः अन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणं व्यावर्तकं साक्षादेव ब्रह्मणो व्यावर्तकमित्यर्थः । परिशिष्टौ तु सत्यज्ञानशब्दौ स्वार्थसमर्पणप्रणाड्या व्यवधानेन विशेषणम् । न हि यथाऽनन्तमित्युक्तेऽन्ताभावः साक्षात्प्रतीयते तथा सत्यं ज्ञानमित्यत्रानृताद्यभावः, अपि तु स्वार्थविधानव्यवधानेनेत्यर्थः । तर्हि तयो[4]र्विरोधिव्यवच्छेदः किंनिबन्धनः ? इति तत्राह— तद्विरोधीति । एतच्च मानान्तरा-

सन्देह नहीं करना चाहिए ; क्योंकि यद्यपि सत्यादि पद सत्यत्वाद्यनेकाकार का विज्ञान पैदा करते हैं, तथापि इससे सत्यादि पदों का ब्रह्म में असत्यत्वादि की भ्रान्ति निवृत्त करनामात्र प्रयोजन है, लक्षणा के समय शुद्ध ब्रह्म में ही उनका तात्पर्य होता है, अनेकाकार ब्रह्म में नहीं । इस प्रकार सत्यत्वादि विभिन्नाकार-समर्पक, सत्यादि पद-जन्य विज्ञान, अर्थात् असत्यत्वादि विरोधी आकार के निवर्तक होते हैं । अतः वेदान्तवाक्यों में अखण्डार्थत्व सिद्ध हो जाता है । ऐसा ही आचार्यवर्य सुरेश्वराचार्य ने तैत्तिरीय-वार्तिक में कहा है—"सत्यादि पदों से सत्यत्वादि रूप अर्थ को ब्रह्म में जानकर, पश्चात् सत्यादि रूप विरोधी तत्त्वों के सद्भाव से असत्यत्वादि विरोधी पदार्थों के अभाव का निश्चय वैसे ही होता है, जैसे कि वध्य (मूषकादि) को देखकर वहाँ घातक (बिल्ली) के अभाव का निश्चय होता है ॥१॥ सत्यादि शब्दों से सत्यत्वादि धर्म और ब्रह्मरूप धर्मी का सङ्गति-ग्रहण होता है । पश्चात् अर्थापत्तिरूप प्रमाणान्तर से असत्यत्वादि विरोधी धर्मों का अपोह (निवृत्ति) होता है ; इस लिए इतर-निवृत्ति को शाब्द (शब्द-जन्य प्रतीति का विषय) नहीं माना गया है ॥२॥ सत्य, ज्ञान और अनन्त—इन तीन पदों में 'अनन्त' पद साक्षात् अन्तवत् (सान्त) वस्तु की व्यावृत्ति का प्रतिपादक है और शेष सत्य एवं ज्ञान शब्द प्रथमतः अपना-अपना सत्यत्वादिरूप अर्थ बताकर अर्थतः असत्यत्वादि के व्यावर्तक हैं ॥३॥ असत्यत्वादि विरोधी पदार्थों की निवृत्ति अर्थतः होती है, शब्दतः नहीं ।"

---

१. इतरव्यावृत्तिर्ब्रह्मस्वरूपं चेत्यर्थः । २. अनृतादिव्यावृत्तेः । ३. यदि सत्यादिपदादितरव्यावृत्तिर्नावबुध्येत तदा सत्यादिपदमनर्थकं स्यादित्यनुपपत्त्याकृतिः । ४. सत्यज्ञानयोः ।

न च गुणगुण्यादिभावप्रतिपादनेऽपि तत्तद्विरोध्याकारनिवृत्त्युपपत्तेः कथमखण्डैकरसत्त्वसिद्धिरिति वाच्यम् ; ब्रह्मशब्दार्थमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात् । सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुप्रतिपादनपरब्रह्मानन्तशब्दाभ्यां विरोधाच्च, एकधैवानुद्रष्टव्यमेकमेवाद्वितीयमित्याद्येकरसत्वप्रतिपादकवाक्यविरोधाच्च, नेह नानास्ति किंचनेत्यनेकरसत्वप्रतिषेधाच्च ।

न चाप्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मणो लक्ष्यत्वासंभवः ; प्रत्यगात्मतया स्वतः सामान्येन प्रसिद्धत्वात् । न च तथात्वे लक्षणवैयर्थ्यम् ; लक्षणस्य विशेषाकारसमर्पणार्थत्वात् । अन्यथा 'गन्धवती पृथिवी' 'नित्यज्ञानाधार ईश्वरः' इत्यादिलक्षणानामपि लक्ष्यस्याप्रसिद्धत्वप्रसिद्धत्वयोर्वैयर्थ्यापातात् । एतेन 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि तत्कालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यत

दपोहस्तु इत्यस्यैव प्रपञ्चः । ननु विरोध्याकारनिवृत्तिरखण्डार्थतामन्तरेण संसर्गपरत्वेऽपि सेत्स्यति किमर्थमखण्डार्थताऽऽग्रहः ? इति तत्राह—न चेति । लौकिकवाक्येषु[1] संसर्गपरतायामुक्तं बोधकं[2] प्रकृतेऽप्याह—ब्रह्मशब्देति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतस्य ब्रह्ममात्रस्य बुभुत्सितत्वादित्यर्थः । न केवलमबुभुत्सितार्थ[3]परत्वं बुभुत्सितार्थपरानन्तादिपदविरोधश्चेत्याह—सर्वत इति । साक्षादेवैकार्थप्रतिपादकानन्ताकारनिवारकश्रुत्यन्तरविरोधश्चेत्याह—एकधैवेत्यादिना ।

ननु प्रसिद्धमेव लक्ष्यं नत्वप्रसिद्धं गगनारविन्दादेर्लक्ष्यत्वादर्शनात् , अप्रसिद्धं च ब्रह्म सर्वप्रमाणागम्यत्वादिति तत्राह—न चेति । अथवा लक्षणलक्ष्यत्वमत्राक्षिप्य समर्थ्यते । स्वप्रकाशस्य प्रत्यागात्मतया प्रसिद्धिरस्तीति संभवत्येव लक्ष्यत्वमित्यर्थः । न केवलमस्माकमेवेयं रीतिः , अपितु सर्वेषामेव लक्षणवादिनामित्याह—अन्यथेति । घटादिषु सामान्येन प्रसिद्धस्य पृथिवीव्यवहारस्येतरेभ्यो भेदस्य च परमाण्वादिभूगोलकान्तसमुदायेऽप्रसिद्धस्य लक्षणेन साधनमिति पराङ्गाकारादित्यर्थः । यत्तु 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्राखण्डार्थताऽभावाय पूर्वपक्षिणोक्तम् तत्राप्युक्तन्यायमतिदिशति—एतेनेति । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—

यदि कहा जाय कि ज्ञानादि पदों का 'ज्ञान गुणवाला ब्रह्म है'—ऐसा अर्थ करने पर भी विरोधी अज्ञानादि की निवृत्ति सिद्ध हो जाती है, उसके लिए ब्रह्म में अखण्डैकरसत्व मानने की क्या आवश्यकता ? तो ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि उपक्रम में 'ब्रह्म' शब्द सुनकर केवल ब्रह्मशब्दार्थ की जिज्ञासा होती है, उसे निवृत्त करने के लिए "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कहा गया है । अतः वहाँ गुणगुणिभाव विवक्षित ही नहीं, कैसे उसका प्रतिपादन होगा ? दूसरी बात यह भी है कि गुणगुणिभाव के प्रतिपादन में सर्वविच्छेद-रहित ब्रह्म के बोधक अनन्त और ब्रह्म शब्दों से विरोध है, एवम् "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ. ४।४।२०), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा. ६।२।१)—आदि एकरसत्व-प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध है "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ. ४।४।१९)—आदि श्रुतियों में अनेकरसत्व का प्रतिषेध भी किया गया है ।

ब्रह्म नितान्त अप्रसिद्ध है, लक्ष्य कैसे बनेगा ? यह सन्देह भी निराधार है ; क्योंकि प्रत्यगात्मारूप से सामान्यतः स्वयं सिद्ध है । 'यदि प्रसिद्ध है, तो लक्षण व्यर्थ है'—यह आक्षेप भी युक्त नहीं ; क्योंकि विशेष (आनन्दादि) रूप से ज्ञात नहीं, उस रूप से बोध कराने के लिए लक्षण-वाक्य की सार्थकता है । (सभी कहीं लक्ष्य की सामान्यरूप से प्रसिद्धि और विशेषरूप से अप्रसिद्धि मानकर लक्षण-वाक्यों की सार्थकता दिखाई जा सकती है) अन्यथा 'गन्धवती पृथिवी', 'नित्यज्ञानाधार ईश्वर'—आदि लक्षण-वाक्यों की भी लक्ष्य की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के विकल्प उठाकर व्यर्थता की आपत्ति दी जा सकेगी । इसी से ही 'सोऽयं देवदत्तः'—यहाँ परोक्षकालोपलक्षित वस्तु में एतत्काल का वैशिष्ट्य बताया जाता है—यह कहना भी निरस्त हो जाता है ; क्योंकि देवदत्त के स्वरूपमात्र की जिज्ञासा शान्त करने के लिए ही 'सोऽयं देवदत्तः' का प्रयोग हुआ है । एतत्काल-

---

[1] प्रकृष्टप्रकाशेत्यादिः । [2] अबुभुत्सितार्थप्रतिपादनमिति यावत् । [3] संसर्गपरत्वे इतिशेषः ।

इत्येतन्निरस्तम् ;। देवदत्तस्वरूपमात्रस्यैव बुभुत्सित्वात्। एतत्कालवैशिष्ट्यस्य दृष्टत्वेनाबुभुत्सितत्वात्। न च पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यप्रतिपादनेऽपि भेदभ्रमनिरासः सिध्यतीति वाच्यम् ; एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्धासंभवेन तदुपलक्षितत्वस्यासंभवात्, तयोरभेदप्रतिपादनस्याशक्यत्वात्।

ननु तथापि पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यसंभवात्संभवत्येव तयोरभेदप्रतिपादनमितिचेत्, मैवम् ; विकल्पासहत्वात्। किं पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेनाभेदः प्रतिपाद्यत इत्युच्यते ? किं वा पूर्वकालोपलक्षिते वर्तमानकालवैशिष्ट्यलक्षणधर्मप्रतिपादनेनार्थादभेदः सिद्ध्यतीति ? नाद्यः ; विशिष्टाविशिष्टस्वरूपयोरभेदासंभवात्। तथा सति वर्तमानकालविशिष्टस्य पूर्वमपि सद्भावप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः ; साक्षादेवाभेदप्रतिपादने संभवति परम्परया तत्प्रतिपादनाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। उभयपदलक्षणाश्रयणे कल्पनागौरवात्तथाश्रीयत

देवदत्तस्वरूपेति। नन्वितरदपि बुभुत्सितं किं न स्यात् ? नहि देवदत्तमात्रमत्र केनचित्पृष्टं येन लक्षणवाक्यवत्तन्मात्रमेव बुभुत्सितं स्यादिति तत्राह—**एतदिति**। न केवलमबुभुत्सितत्वादप्रतिपाद्यत्वं बुभुत्सितैक्यविरोधाच्चेत्याह—**न चेति**। तत्किमेतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितेनैक्यं बोधयति ? किं वा पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेन ? नाद्य इत्याह—**एतत्कालेति**। संबद्धं खलूपलक्ष्यं नासंबद्धम्। न चैतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालसंबन्धः संभवति, एतत्काले पूर्वकालाभावादतो न तयोरैक्यमित्यर्थः।

द्वितीयं शङ्कते—**नन्विति**। किमुपलक्षितस्य विशिष्टेनाभेदः शब्दगम्यः ? किं वोपलक्षिते वैशिष्ट्यमात्रं शब्दार्थः ? अभेदस्त्वानुपपत्तिक इति विकल्प्य दूषयति—**मैवमित्यादिना**। एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितस्वरूपस्य चैक्यासंभवेन प्रथमं पक्षं दूषयति—**नाद्य इति**। किमित्यसंभवस्तत्राह—**तथा सतीति**। द्वितीये तु शब्दाद्विशिष्टमर्थाच्च स्वरूपमात्रैक्यमिति कल्पनागौरवाद्वरं शब्दादेवोभयोपलक्षितस्यैक्यप्रतिपादनमित्याह—**साक्षादेवेति**। ननु साक्षाच्छब्दादभेदप्रतिपत्तावुभयोरपि लक्षणा प्रसज्येत, ततो वरमेकलक्षणया पारस्पर्याश्रयणमिति शङ्कते—**उभयेति**। पारंपर्यकल्पनातो लक्षणाश्रयणं न्याय्यं व्यापारवत्प्रमाणगौरवात्, व्यापारगौरवस्य लघीयस्त्वात्। यदुद्दिश्य च वाक्यं प्रवर्तते तस्य बुभुत्सि-

---

वैशिष्ट्य तो दृश्यमान होने से जिज्ञासित ही नहीं। यदि कहा जाय कि पूर्वकालोपलक्षित देवदत्त में एतत्काल-वैशिष्ट्य के प्रतिपादन से भी देवदत्त-गत भेद-भ्रम का निरास किया जा सकता है (अखण्डबोध मानने की आवश्यकता क्या ?)। तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि एतत्काल-विशिष्ट वस्तु में पूर्वकाल का सम्बन्ध ही सम्भव नहीं। सम्बन्ध न होने से पूर्वकालोपलक्षितत्व भी नहीं रह सकता ; (कारण यह है कि जो जिससे उपलक्षित होता है, वह उससे सम्बद्ध होता है)। अतः पूर्वकालोपलक्षित और एतत्काल-विशिष्ट का अभेद-प्रतिपादन असम्भव है। फिर भी यदि शङ्का हो कि यद्यपि एतत्काल-विशिष्ट में पूर्वकालोपलक्षितत्व सम्भव नहीं तथापि पूर्वकालोपलक्षित में एतत्काल-विशिष्टत्व तो सम्भव हो सकता है, अतः उन दोनों में आर्थिक अभेद का लाभ हो जाता है। तो यह शङ्का भी युक्त नहीं ; क्योंकि आपका आशय क्या है ? क्या पूर्वकालोपलक्षित का एतत्कालविशिष्ट से अभेद का प्रतिपादन करना चाहते हैं ? या पूर्वकालोपलक्षित में एतत्काल-विशिष्टत्वरूप धर्म का प्रतिपादन करके अर्थतः अभेद की सिद्धि करना चाहते हैं ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि एतत्काल-विशिष्ट यदि पूर्वकालोपलक्षित से अभिन्न है, तब तो एतत्काल-विशिष्ट की पूर्वकाल में भी सत्ता प्राप्त होगी। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि अर्थतः अभेद-लाभ की अपेक्षा दोनों (तत् और इदम्) पदों की लक्षणा एक देवदत्त-स्वरूप में मानकर साक्षात् अभेद-प्रतिपादन करना ही उचित है। यदि कहें कि दोनों (तत् और इदम्) पदों की लक्षणा मानने में

इति चेत् , मैवम् ; अत्रापि परम्पराया अभेदप्रतिपादनात्साक्षादभेदप्रतिपादने बुद्धिलाघवस्य दर्शितत्वात् । तथापि विनिगमनायां को हेतुरिति चेत् ; बुभुत्सितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादनलाभ एवेति ब्रूमः । उक्तं च प्रतिज्ञावचनस्य साधनाङ्गत्वमाचक्षाणेनाचार्यवाचस्पतिना— "अनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किंचिदुच्यते यत्कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकश्च शब्द इति वा,तत्सर्वमसंबद्धबुद्धया न प्रत्येति प्रतिवादी" इति। एतेनोभयपदलक्षणास्वीकारे गौरवदोषो निरस्तो वेदितव्यः । बुभुत्सितार्थप्रतिपादनप्रयोजनतायां गौरवस्यैवोचितत्वात् 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इति न्यायात् । तदेवमखण्डार्थत्वे न लक्षणासंभवः ।

तस्याभेदस्य साक्षात्प्रतिपादनं न्याय्यमितरथानुद्दिष्टस्य साक्षात्प्रतिपादनं भवति उद्दिष्टस्य पारंपर्येणेतिक्लिष्टकल्पना स्यात्, तदेतद्धृदि निधाय परिहरति—**मैवमत्रापीति** । अनधिगतपराभिसन्धिः शङ्कते—तथापीति । विनिगमना निर्णयः । अभिसन्धिमुद्घाटयन्परिहरति—**बुभुत्सितेति** । बुभुत्सितस्यार्थिकप्रतिपत्तेः साक्षात्प्रतिपत्तिरभ्यर्हितेत्यत्राचार्यवाचस्पतिवचनमपि प्रमाणयति—**उक्तं चेति** । हेतूदाहरणावयवद्वयवादिनं सौगतं प्रति प्रतिज्ञानानन्तर्यं हेतोर्ब्रुवतेत्यर्थः । अत्र च यत्कृतकं तदनित्यमित्युदाहरणनिर्देशः । कृतकश्च शब्द इति हेतुनिर्देशः । एतदुक्तं भवति—यद्यप्युदाहरणहेतुनिर्देशादप्यर्थाच्छब्दस्यानित्यत्वं पर्यवस्यति, तथापि साक्षादनिर्देशापराधमात्रादिदमसंबद्धबुद्ध्यभिधानमिति । एतेनेत्यस्यैवविवरणम्—**बुभुत्सितार्थेति** । लक्षणसमर्थनमुपसंहरति—**तदेवमिति** । प्रमाणं श्लोकेन संगृह्णाति—

गौरव होगा ; तो यह भी कहना उचित न होगा ; क्योंकि एक पद लक्षणा की अपेक्षा यदि उभयपदलक्षणा-पक्ष में गौरव है, तो साक्षात् अभेद-प्रतिपादन होने से महान् लाघव भी तो है । अब यदि प्रश्न हो कि दोनों पक्ष समान हो गये किसी एक पक्ष के उत्कर्ष में विनिगमक (निर्णायक) क्या है ? तो इस का उत्तर है जिज्ञासितार्थ के प्रतिपादन का लाभ ! (अर्थात् यह कहा जा चुका है कि जिज्ञासु को केवल देवदत्त के स्वरूप की जिज्ञासा है, उसकी शान्ति, उभय पद-लक्षणा-पक्ष में ही होती है, अन्यतर पदलक्षणा-पक्ष में नहीं) । प्रतिज्ञा-वचन को साधनाङ्ग बताते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा भी है—शब्द-गत अनित्यत्व का जिज्ञासु के प्रति "अनित्यः शब्दः"— यह प्रतिज्ञा वाक्य न बोलकर जो कुछ भी कहा जाता है—"यत् कृतकं, तदनित्यम्"—यह उदाहरण वाक्य या "कृतकश्च शब्दः"—यह उपनय वाक्य, वह सब कुछ असम्बद्धाभिधान होने के कारण प्रतिवादी नहीं समझ पाता ।" इससे दोनों पदों की लक्षणा मानने में गौरव दोष का भी प्रतीकार हो जाता है ; क्योंकि जिज्ञासितार्थ-प्रतिपादन के लिए गौरव उचित ही है । कुमारिल भट्ट ने कहा है—

प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यन्ते सुबहून्यपि । अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः ॥ (तं.वा.२।१।२)

(अर्थात् सप्रमाण तथा सप्रयोजन अनन्त अपूर्वों की कल्पना में भी गौरव नहीं ; किन्तु बिना प्रयोजन के अपूर्व के शतांश की भी कल्पना करना महान् गौरव है ।' इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि अखण्डार्थत्व का लक्षण सम्भव है ।

---

१. न्या०सू० १।१।३४ सूत्रे हेतोरवसरप्राप्तस्येति वार्तिकं तात्पर्यतस्टीकयतेत्यादिः । तत्राद्यत्वे "अनित्यं शब्दं बुभुत्समानायानित्यः शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किञ्चिदुच्यते कृतकत्वादिति वा, यत्कृतकं तदनित्यमिति वा, कृतकश्च शब्द इति वा तत्सर्वमस्यानपेक्षितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानम् , तथा चानवहितो न बोद्धुमर्हति" इत्येवानुपूर्वी दृश्यते । अत्र कृतकत्वादितिवेत्यादितो हेतूदाहरणोपनयाः कण्ठतो निर्दिष्टाः ; न त्ववयवद्वयमात्रम् । २. एकपदलक्षणारूपव्यापारमाश्रित्य वैशिष्ट्यज्ञानमार्थिकाभेदज्ञानं चेति गौरवम् ।

नापि प्रमाणासंभवः। तथाहि—

सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि ।
अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत् ।।२८।।

सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थसंसर्गातिरिक्तेऽर्थे प्रमाणं प्रमाणत्वाच्चक्षुरादिवत् । विपक्षे चैकरसत्व प्रतिपादकश्रुतीनामुदाहृतानामप्रामाण्यप्रसङ्गः, बुभुत्सिते ब्रह्मणि प्रामाण्याभावप्रसङ्गश्च बाधक स्तर्क उन्नेयः । यत्तु वाक्यत्वाद् गवानयनादिवाक्यवत् संसर्गपरत्वानुमानम् , तदेकरसत्व प्रतिपादकश्रुतिविरोधात्कालात्ययापदिष्टम् , उक्तरीत्या च संसर्गप्रतीतिजनकत्वाभावेऽपि वाक्यत्वोपपत्तेः संदिग्ध[1]व्यतिरेको हेतुः । आकांक्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्य'मिति

सत्यज्ञानादीति । सत्यज्ञानादिगीर्वाक्यमेतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे य एते सत्यादयः पदार्थास्तेषां संसर्ग व्यतिरिक्ते संसर्गरहिते प्रमाणमिति प्रतिज्ञानिर्देशः । शेषं विशदम् । सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै संसर्गव्यतिरेकिणीत्युक्तं, तथापि यत्किंचित्संसर्गव्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तरता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम् । यद्यपि गामानयेत्यादिवाक्यं संसर्गविषयं तथाप्येतत्संसर्गव्यतिरेकिण्यर्थे प्रमाणमेवेति न व्यभिचारः । ततश्चासंसृष्टार्थप्रमितिजनकत्वसिद्धिः । एतदेव विवृणोति—सत्यादिवाक्यमित्यादिना । पूर्वमद्वैतश्रुतीनामप्रामाण्यप्रसङ्ग उक्तः, इदानीं सत्यज्ञानादिवाक्यस्य गुणगुण्यादिपरत्वेऽप्यप्रामाण्यप्रसङ्गमाह— बुभुत्सितेति । पूर्वपक्षिणोऽनुमानं दूषयति—यत्त्वित्यादिना । विपक्षबाधकतर्काभावाच्छङ्कितोपाधितां चाह— उक्तेति । उक्तनीत्या वाक्यत्वोपपत्तेरिति संबन्धः । ननु संसर्गपरत्वाभावे वाक्यत्वभङ्गप्रसङ्ग एव बाधक इत्यत आह—

प्रमाण भी असम्भव नहीं—"सत्यं ज्ञानमनन्तम्"—यह वाक्य, सत्यादि पदार्थ संसर्ग से भिन्न अर्थ में प्रमाण है, प्रमाण होने से, जैसे—चक्षुरादि प्रमाण—यह अनुमान प्रमाण है । ['अर्थे प्रमाणम्'—इतना ही साध्य रखने पर सिद्धसाधन दोष होता ; क्योंकि सखण्डार्थवादी भी इस वाक्य का संसर्गार्थ में प्रामाण्य मानता ही है, अतः 'संसर्गातिरिक्तार्थे' कहा । फिर भी यत्किञ्चिद् घटादि-संसर्ग से अतिरिक्त सत्यादि संसर्गार्थ में प्रामाण्य वादि-सम्मत है, अतः संसर्ग का विशेषण लगाया 'एतद्' (एतत्पदार्थ) । फिर भी एतत्पदार्थ-संसर्गातिरिक्त संसर्गिरूपार्थ में प्रामाण्य दूसरे भी मानते हैं, अतः सिद्धसाधनता हटाने के लिए एतदर्थसंसर्गव्यतिरिक्तार्थ एव प्रमाणम्—ऐसा सावधारण साध्य आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने माना है । चक्षुरादि भी सत्यादि पदार्थों के संसर्ग से अतिरिक्त घटाद्यर्थ में ही प्रमाण हैं, अतः वहाँ साध्य प्रसिद्ध है] । विपक्ष (अखण्डार्थ न मानने) में, 'एकरसत्व-प्रतिपादक "एकधैवानुद्रष्टव्यम्"—आदि श्रुतियों में अप्रामाण्य-प्रसंग तथा जिज्ञासित अखण्ड ब्रह्म में सत्यज्ञानादि वाक्यों की अप्रमाणता का प्रसंग ही बाधक तर्क है । [भाव यह है कि सत्यज्ञानादि वाक्यों को तत्संसर्गान्य अर्थ में प्रमाण न माननेवाले से पूछा जा सकता है कि क्या तत्संसर्गान्य कोई अर्थ है ही नहीं ? या कि उसमें सत्यज्ञानादि वाक्यों की प्रमाणता नहीं ? प्रथम कल्प में "एकधैवानुद्रष्टव्यम्"—आदि श्रुतियाँ नितान्त अप्रमाण हो जायँगी । दूसरे कल्प में सत्यज्ञानादि वाक्यों से अखण्डार्थ का प्रतिपादन न मानकर, सत्यत्वादि धर्म-विशिष्ट का प्रतिपादन मानने पर अजिज्ञासिताभिधान की आपत्ति होगी] । यह जो अनुमान किया था—"विवादास्पदं (सत्यज्ञानादि-वाक्यम्) पदार्थसंसर्गप्रमितिजनकं वाक्यत्वाद् गवानयनादिवाक्यवत्" वह "एकधैवानुद्रष्टव्यम्"—आदि श्रुतियों से बाधित है । (यह जो विपक्ष-बाधक तर्क दिया था कि संसर्ग-प्रतीति-जनकता न मानने पर वाक्यत्व ही न बनेगा, वह भी युक्त नहीं ; क्योंकि) 'खं छिद्रम्' आदि वाक्यों में संसर्ग-प्रतीति-जनकता न रहने पर भी वाक्यत्व निभ जाता है, अतः 'वाक्यत्व' हेतु के आधार में साध्य का

---

[1] सन्दिग्धः सत्यादिवाक्ये पक्षे साध्यव्यतिरेको यस्य हेतोरिति व्यासः ।

वाक्यविदः, ननु संसर्गप्रमितिजनकान्यपीति; विशेषणवैयर्थ्यात्। आचार्यशवरस्वामिना च 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानमि'त्येतावत एव लक्षणस्याभिधानात्। प्रातिपदिकमात्रार्थप्रश्नोत्तरत्वानुपपत्तिश्च, लौकिकवैदिकलक्षणवाक्यानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वे प्रमाणम। प्रदर्शिता च तत्रानु पत्तिः—अबुभुत्सितार्थप्रतिपादनेऽनवधेयवचनत्वप्रसक्तिरिति। तदेवमशेषोपनिषदामखण्डैकरसे ब्रह्मणि स्वतःसिद्धमेव प्रामाण्यमिति सिद्धम्।

ननु किमिदं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम? न तावत्स्वत एव जन्म; स्वस्य स्वहेतुकत्वविरोधात्।

आकाङ्क्षेति। ननु प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गो बाधको नेत्याह—**आचार्येति**। शब्दविज्ञानाच्छब्दविषयज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे प्रमाणान्तरेण तथा चानधिगते यद्विज्ञानं जायते तच्छास्त्रं शब्दप्रमाणमिति शाबरवाक्यार्थः। अत्र चानुवादविसंवादव्यवच्छेदायासन्निकृष्टपदम्। अपेक्षितादिपदनिराकरणायार्थग्रहणम्। अनुमानत्वनिराकरणाय शब्दविज्ञानग्रहणम्। एतावदेवाचार्यैर्लक्षणमभिहितं शब्दप्रमाणस्य न तु संसर्गविषयत्वमपीत्यर्थः। द्वितीयपक्षेऽप्यर्थापत्तिं प्रमाणमाह—**प्रातिपदिकेति**। अनुपपत्तिमेव दर्शयति—**अबुभुत्सितेति**। वादार्थमुपसंहरन् वर्तिष्यमाणमेवोद्घाटयति—**तदेवमिति**।

अद्वैतवादे सत्यादिपदपर्यायतां तथा। अपर्यायेऽद्वयध्वंसं वादी वागीश्वरोऽब्रवीत्॥
तस्य वाच्यार्थनानात्वाल्लक्ष्यस्यैक्यसमाश्रयात्। न पर्यायाद्वयध्वंसावित्यनुत्तरमुत्तरम्॥

यत्तु प्रकृष्टप्रकाशशब्दावपि प्रकर्षादिबलात्पृवृत्ताविति, तदबुभुत्सितत्वेनात्रैव परिहृतम्। यत्तु पृथक्प्रवृत्तयोः प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोरेकत्र प्रयोगाद्युज्यते अर्थविशेषबोधकत्वम्, न तथेह, लौकिकज्ञानादेरपि ब्रह्मत्वादिति। तत्रोपहितज्ञानादेर्न ब्रह्मस्वरूपत्वमनुपहितं तु न वाच्यमित्यस्त्येव पृथक्प्रवृत्तिः ज्ञानादिशब्दस्येति न कोऽपि व्यतिकरः।

अद्वयसत्सुखबोधविताने देहहृषीकमनोमतिहीने॥
विश्वविवर्तनिदानमबोधं घ्नन्ति वचांसि स यत्र परोऽस्मि॥

स्वतःसिद्धमेव प्रामाण्यमित्युक्तमुपश्रुत्य परतः प्रामाण्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति**। तत्र लक्षणं

व्यतिरेक (अभाव) भी सम्भावित है। आकांक्षा, सन्निधि, योग्यतावाले पद-समूह को ही वाक्य माना गया है। उसमें संसर्ग-प्रमाजनकत्व अनिवार्य नहीं; क्योंकि संसर्ग-प्रमा-जनकत्व विशेषण का कोई प्रयोजन नहीं। आचार्य शबरस्वामी ने भी "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" (शब्द-विषयक ज्ञान से जो प्रमाणान्तरागम्य अर्थ का ज्ञान होता है, उसे शब्दप्रमाण कहते हैं—शा. भा. १।१।५) इतना ही लक्षण किया है। यहाँ भी संसर्गविषयक प्रमा-जनकत्व का प्रवेश नहीं। लौकिक तथा वैदिक लक्षण-वाक्यों का तात्पर्य प्रातिपदिकार्थमात्र (अखण्डार्थमात्र) में है। इसमें प्रमाण है—प्रातिपदिकार्थमात्र विषयक प्रश्न एवं उत्तर की अन्यथानुपपत्ति। प्रातिपदिकार्थमात्र का प्रतिपादन न मानने पर यह अनुपपत्ति दिखाई जा चुकी है कि अजिज्ञासितार्थ का प्रतिपादन करने पर उत्तर-वाक्यों में अनवधेयवचनता (उपेक्षणीयता) की प्रसक्ति होगी। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि समस्त उपनिषदों का अखण्डैकरस ब्रह्म में स्वतः सिद्ध प्रमाण्य है, अर्थात् उपनिषद्-वाक्य से जन्य ब्रह्मविषयक ज्ञान में स्वतः सिद्ध प्रमात्व है। [मीमांसक और वेदान्ती, स्वतः प्रामाण्य-वादी हैं। यहाँ प्रामाण्य का अर्थ है—प्रमात्व। प्रमात्व, स्वतः (स्वाश्रय प्रमा-जनक सामग्री से) ही उत्पन्न होता है—यही प्रमात्व की स्वतः उत्पत्ति या उत्पत्ति-गत स्वतस्त्व कहलाता है। एवं प्रमात्व, स्वतः (स्वाश्रय प्रमा-प्रकाशक सामग्री से) ही प्रकाशित होता है—इसी को प्रमात्व की स्वतः ज्ञप्ति या ज्ञप्ति-गत स्वतस्त्व कहते हैं तथा व्यवहारादि फल भी ज्ञानमात्र के अधीन है—यह व्यवहृति-स्वतस्त्व है।]

पूर्वपक्ष—प्रमात्व में यह स्वतस्त्व क्या है? (प्रमात्व में स्वनिरूपित जन्यता? या स्वाश्रय

---

१. तथा च संसर्गपरत्वेन वाक्यत्वस्य व्याप्तिरेव नास्ति, किन्तु आकाङ्क्षादिमत्त्वेनैवेति सिद्धान्त्यभिसन्धिः।

नापि प्रमाणादेव[1] जन्म ; ज्ञानस्य गुणत्वेन स्वप्रामाण्यं प्रति समवायिकारणत्वासंभवात्। नापि ज्ञानसामग्रीतो जन्म ; प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे च जन्मासंभवात्। तथाहि—उपाधिपक्षे स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य बाधात्यन्ताभावः प्रामाण्यम्। न च तस्योत्पत्तिः संभवति ; अत्यन्ताभावत्वादेव। नापि जातेर्जन्म ; नित्यत्वात्। ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं प्रमायाः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति चेत्, मैवम् ; अप्रमाया अपि स्वतस्त्वप्रसङ्गात्, तस्या अपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वात्। अथ ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं स्वतस्त्वम्, अप्रमा तु न तन्मात्रजन्या,

तावदाक्षिपति—**न तावदित्यादिना**। तत्र किं स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म स्वतःप्रामाण्यं नाम ? आहोस्वित्स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वम् ? उत. स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् ? अथवा ज्ञानसामग्रीजन्यप्रमाश्रितत्वम् ? किंवा ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यप्रमाश्रितत्वम् ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। **विरोधादिति**। स्वस्यैव स्वकारणतया प्राक्क्षणे सत्त्वं, कार्यतया च प्रागसत्त्वमिति व्याघातादित्यर्थः। द्वितीयं निषेधति—**नापीति**। एतच्च स्वशब्दस्य स्वीयवचनत्वमाश्रित्य। स्वाश्रयप्रामाण्यजनकत्वे हि समवायिकारणतया द्रव्यत्वापातो ज्ञानस्येत्यर्थः। तृतीयं निषेधति—**नापि ज्ञानेति**। तत्सामग्र्यामपि हि यथाकथंचित्स्वीयतया स्वशब्दो भवत्येवेति भावः। तदेतदसंभवेन दूषयति—**प्रामाण्यस्येति**। बाधात्यन्ताभावो घटादेरप्यस्तीति ज्ञानस्येत्युक्तम्। तथापि[2] स्मृतावतिव्याप्तिस्तदर्थं **स्मृतित्वानधिकरणस्येति**। अन्राध्यानुभवत्वमित्यर्थः। विषयापहारश्च बाधस्तदभावश्चापाततः संशयादेरप्यस्तीत्यत्यन्तग्रहणम्। अत्र च भ्रमादौ धर्म्यंशे जातिसङ्करप्रसङ्गात् प्रामाण्यमुपाधिरिति केचित्। अपरे तु तत्र[3] गौणं व्यवहारमादाय जातिरिति वदन्ति, तेनेदं द्वैविध्यमुक्तम्। चतुर्थं शङ्कते—**ज्ञानसामग्रीति**। यदिदं प्रमाया ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं तत्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति योजना। तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**मैवमिति**। ज्ञानविशेषो ह्यप्रमा, विशेषसामग्र्यां च सामान्यसामग्र्यनुप्रविशति, शिंशपासामग्र्यामिव वृक्षसामग्री, इतरथा तस्या[4]कस्मिकत्वप्रसङ्गात्। अतः परतस्त्वेनाभिमताप्रामाण्येपि ज्ञानसामग्रीजन्याश्रितेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। **अप्रमाया अपीति**। अप्रामाण्यस्येत्यर्थः। पञ्चमं शङ्कते—**अथेति**। अप्रमायामतिव्याप्तिपरिहारं मात्रग्रहणेन विवक्षितम्, स एव विवृणाति—**अप्रमा त्विति**।

प्रमानिरूपित जन्यता ? या स्वकीय ज्ञान-सामग्रीनिरूपितजन्यता ? या स्वकीय ज्ञान-जनक सामग्री-जन्य प्रमा-वृत्तित्व ? या स्वकीय ज्ञान-जनक सामग्रीमात्र-जन्य-प्रमावृत्तित्व ?) स्वतः ही जन्म (स्वनिरूपित जन्यता) को स्वतस्त्व नहीं कह सकते ; क्योंकि स्व में स्व (प्रमात्व में प्रमात्व) की जन्यता माननी नितान्त विरुद्ध है। प्रमा से ही जन्म (स्वाश्रय प्रमा-निरूपित जन्यता) को भी स्वतस्त्व नहीं मान सकते ; क्योंकि प्रमा ज्ञान, गुण होने से प्रमात्व का समवायिकारण नहीं बन सकता (यह नियम है कि कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य ही होता है। प्रमात्व का समवायिकारण प्रमा नहीं बन सकती ; अतः प्रमानिरूपित जन्यता वहाँ कैसे रहेगी ?)। ज्ञान-सामग्री से जन्म (स्वकीय ज्ञान-सामग्री-निरूपित जन्यता) भी सम्भव नहीं ; क्योंकि इस पक्ष में प्रमात्व क्या है ? उपाधि ? या जाति ? उपाधि-पक्ष में प्रमात्व का स्वरूप मानना होगा—स्मृतित्व के अनधिकरणभूत ज्ञान में रहनेवाला बाधात्यन्ताभाव। बाधात्यन्ताभावरूप प्रमात्व में किसी की भी जन्यता नहीं रह सकती ; क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य होता है, किसी से जन्य नहीं होता। प्रमात्व को जाति मानने में भी यही बात। स्वाश्रयप्रमा में ज्ञान-सामग्री की जन्यता (स्वकीय ज्ञान-सामग्री-जन्य प्रमा-वृत्तित्व) को भी स्वतस्त्व नहीं मान सकते ; क्योंकि ज्ञान-सामग्री से जन्य तो अप्रमा भी है, फिर तो उसमें रहनेवाले अप्रमात्व को भी स्वतः मानना पड़ेगा (जैसा कि उदयनाचार्य ने कहा है—"यदि च तावन्मात्राधीना भवेदप्रमाऽपि प्रमैव भवेत्"—कु० २।१)। यदि कहा

---

[1] प्रमाज्ञानादेव। [2] ज्ञानस्येत्युक्तावपि। [3] भ्रमादौ धर्म्यंशे। [4] ज्ञानविशेषस्य।

दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वादिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वं मात्रशब्दार्थः? किं वा दोषासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम्? नाद्यः; परतः प्रामाण्यवादिमतानुप्रवेशप्रसङ्गात्। तेऽपि हि दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव परतःप्रामाण्यमितीच्छन्ति। नापि द्वितीयः; विशेषदर्शनस्य भ्रमनिवृत्तिहेतुत्वे तद्विपर्ययस्य भ्रमहेतुत्ववद्दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यं ज्ञानमप्रमेत्यङ्गीकुर्वता प्रमां प्रति दोषाभावस्य हेतुताया अनिराकार्यत्वात्। नन्वीश्वरज्ञान इव दोषाभावस्यावर्जनीयतया अस्मत्प्रमास्व पि तथासन्निधिः किं न स्यात्? नहीश्वरज्ञानेऽपि दोषाभावः प्रयोजक इति युक्तं वक्तुम्; तत्प्रयुक्तत्वस्य तदन्तर्भूतसामग्रीजन्यत्वानतिरेकात्, तस्य च नित्यतया विशिष्टसामग्रीजन्यत्वा-

अत्र मात्रग्रहणेनाप्रमासामग्रीरूपदोषासाहित्यद्वारेण तदभावसाहित्यमपि ज्ञानसामग्र्यां विवक्षितम्? उतासाहित्यमात्रम्? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति**। एवं[1] स्वतःप्रामाण्यं परतस्त्वेऽप्युपपद्यते इत्यर्थान्तरमित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। यथा हि प्रमाणज्ञानहेतोर्विशेषदर्शनस्याभावोऽप्रमाणज्ञानहेतुः, एवमप्रमाणज्ञानहेतोर्दोषस्याभावोऽपि प्रमाणहेतुर्भवत्येव। एवमवधृतस्वाभाव्यादनयोरित्यर्थः। यद्यपि प्रमासामग्र्यां दोषाभावाऽविघातस्तथापि न हेतुतयाऽपित्ववर्जनीयसन्निधेराकाशवत्। युक्तं चैतत्, इतरथा नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तदनुत्पाद्यतया प्रामाण्याभावप्रसङ्गादिति शङ्कते—**नन्विति**। जन्या प्रमा दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्या न भवति प्रमात्वादीश्वरप्रमावदिति भावः। साध्यवैकल्यं परिहरति—**न हीति**। ननु जन्यत्वाभावेऽपि त[2]त्प्रयुक्तत्वं किं न स्यादित्यत आह—**तत्प्रयुक्तत्वस्येति**। **तदन्तर्भूतेति**। स दोषाभावादिरन्तर्भूतो यस्यां सामग्र्यां सा तदन्तर्भूता सामग्री, अथवान्तर्भाव एवान्तर्भूतम्, भावे निष्ठा, तदन्तर्भाववती सामग्रीत्यर्थः। न तद्गर्भसामग्रीजन्यत्वं तत्प्रयुक्तत्वम्, नहि गुणवत्त्वप्रयुक्तं द्रव्यत्वमित्यत्र गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोर्जन्यजनकभावः; परस्परमेकस्योपाधित्वात् परस्य च जातित्वात्, किं तर्हि

जाय कि ज्ञान-सामग्रीमात्र-जन्यत्व (स्वकीय ज्ञान-जनक सामग्रीमात्र-जन्य प्रमा-वृत्तित्व) को स्वतस्त्व कहेंगे। अप्रमा, ज्ञान-सामग्री-मात्र से जन्य नहीं, अपितु दोष-सहित ज्ञान-सामग्री से जन्य है; अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं। तो यह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि यहाँ 'मात्र' शब्द से क्या विवक्षित है? ज्ञान-सामग्री में दोषाभाव-युक्तत्व? या दोष-रहितत्व? प्रथम पक्ष मानने में परतः प्रामाण्य-वादी का मत आ जाता है; क्योंकि परतः प्रामाण्य-वादी तार्किक प्रमात्व में दोषाभाव-युक्त ज्ञान-सामग्री-जन्यत्व को ही परतस्त्व मानते हैं। द्वितीय पक्ष में भी वही दोष रह जाता है; क्योंकि विरोधी कार्यों में से एक की सामग्री का अभाव, दूसरे की सामग्री होता है, जैसे—भ्रम-निवृत्ति और भ्रम—दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः भ्रम-निवृत्ति की सामग्री विशेषकोटि-दर्शन का अभाव, भ्रम का हेतु होता है; वैसे ही अप्रमा ज्ञान की सामग्री (दोष) का अभाव प्रमा का हेतु मानना होगा। इस प्रकार दोषाभाव-युक्त ज्ञान-सामग्री की ही जन्यता प्रमा में आती है, जिसे परतस्त्व-वादी परतस्त्व मानते हैं। यदि सन्देह हो कि दोषाभाव, हेतु न होने पर भी जैसे ईश्वर के ज्ञान में अनिवार्यरूप से आकाश के समान सन्निहित रहता है; वैसे ही हमारी प्रमा में भी दोषाभाव का सन्निधान मात्र क्यों न रहेगा? ईश्वर के ज्ञान में दोषाभाव को प्रयोजक नहीं माना जा सकता; क्योंकि दोषाभाव-प्रयुक्तत्व, दोषाभाव-घटित सामग्री-जन्यत्व के बिना नहीं रह सकता। ईश्वर-ज्ञान नित्य होने के कारण दोषाभाव-विशिष्ट सामग्री से जन्य है नहीं। (इसी प्रकार वेदान्तिसम्मत प्रमा में दोषाभाव की सन्निधि होने पर भी जन्यता नहीं; अतः परतस्त्वापत्ति नहीं होगी)।

---

[1] एवंविधं प्रामाण्यमित्यन्वयः। [2] दोषाभावज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वम्।

दिति चेत् , मैवम् ; अन्तरेणापि तत्सामग्रीजन्यत्वं नित्यद्रव्येषु गुणवत्त्वप्रयुक्तद्रव्यत्ववत्तत्प्रयुक्तत्वोपपत्तेः । न च दोषाभावस्याभावत्वादेवाकारणत्वम् ; विशेषदर्शनाभावस्य भ्रमहेतुत्ववत्प्रमाणाभावस्य प्रमेयाभावप्रमितिहेतुत्ववद्विहिताकारणस्य प्रत्यवायहेतुत्ववच्च तदुपपत्तेः ।

न च प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे मानमस्ति । प्रामाण्यं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमप्रामाण्येतरत्वे-

समव्यापकत्वमात्रेण प्रयोज्यप्रयोजकभावः , एवमत्रापीति परिहृति—**मैवमिति** । अनित्ये स्वाश्रयद्वारा कादाचित्कत्वमपि कथंचित्संभाव्यमिति नित्यद्रव्येष्वित्युक्तम् । नन्वभावस्य कारतणतैवायुक्ता, निःस्वभावत्वादिति तत्राह—**न चेति** । किमिदं निःस्वाभावत्वम् ? यद्यसत्त्वम् , तत्किं सत्तानधिकरणत्वम् ? तर्हि ? गतं सामान्यादीनां बुद्धिकारणत्वेन । न च स्वरूपसत्त्वरहितत्वम् , तदसिद्धम् । यथाहोदयनः[1]—'नह्यसौ विधिरूपेण तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा, इतरथा भावस्यापि तथात्वापाता'दिति । अथ भावत्वानधिकरणत्वम् ? किमेतावता ? किं चाभावस्य कार्यत्वमङ्गीक्रियते ? न वा ? न यदि, तदा प्रध्वंसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यता स्यात् । अस्ति चेत् , कारणत्वेन किमपराद्धम् । कः खलु विशेषो नियतप्राक्क्षणसतः प्रागसत्त्वेसति सत्तायोगित्वसत्त्वे ? अथान्यथैवाभूत्वाभावित्वाद्यात्मकं तत्र कार्यत्वं शिक्षयसि कारणत्वमपि तथा शिक्षयेति मूकीभावः । उक्तं चोदयनेन—'भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः' इति । किंच न सर्वत्र भावरूपा एव दोषाः , येन तदभावस्याभावतया न कारणत्वम् , अपि त्वभावरूपा अपि सन्ति दोषाः , तदभावस्य न किमिति कारणता स्यात् । अथ भावस्य तत्र तत्र दृष्टचरं कारणत्वं न त्वभावस्येति, तन्न ; अभावस्यापि तत्र तत्र दर्शनात्स्वीकाराच्च भवद्भिरित्याह—**विशेषदर्शनेत्यादिना** । साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनाभ्यां सर्वत्र भ्रम इत्यर्थः । भाट्टानेव प्रत्याह—**प्रमाणाभावस्येति** । योग्यानुपलब्ध्या ह्यभावप्रमितिरङ्गीक्रियते अनुपलब्धिश्चोपलब्ध्यभाव इत्यर्थः । मतद्वयसंमतमुदाहरणमाह—**विहिताकरणेति** । ये त्वत्र—

'स्वकाले[2] यदकुर्वन् हि करोति यदचेतनः ।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते ॥'

इति ब्रुवते, तैरप्यतिप्रसक्तिपरिहारायाकुर्वन् यदन्यत्करोतीति वचनादभावहेतुताऽशक्यप्रत्याख्याना ।

एवं लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणमाक्षिपति । न च प्रामाण्येति—रत्नदीपावलीकृतमनुमानमुद्भावयति—**प्रामाण्यमिति** । ज्ञानहेतुजन्याश्रयत्वसाधने सिद्धसाधनता तदर्थं मात्रग्रहणम् , ज्ञानैकधर्मत्वमप्रामाण्ये-

तो यह सन्देह उचित नहीं ; क्योंकि ईश्वर-ज्ञान में दोषाभाव-घटित सामग्री-जन्यत्व न रहने पर भी दोषाभाव-प्रयुक्तत्व वैसे ही माना जाता है ; जैसे कि नित्य द्रव्य-वृत्ति द्रव्यत्ववत्ता में गुणवत्त्व-घटित सामग्री-जन्यत्व न होने पर भी गुणवत्त्व-प्रयुक्तत्व रह जाता है । यदि कहा जाय कि दोषाभाव, अभाव होने से किसी का हेतु बनता ही नहीं । तो यह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि जैसे विशेष दर्शनाभाव भ्रम का, प्रमाणाभाव प्रमेयाभाव-प्रमा का, विहित (नित्य कर्मों) के अनुष्ठान का अभाव प्रत्यवाय का हेतु होता है ; वैसे ही दोषाभाव भी हेतु क्यों न बनेगा ?

प्रमात्व-गत स्वतस्त्व में कोई प्रमाण भी नहीं । कुछ विद्वान् जो—'प्रमात्व, ज्ञान-हेतु मात्र-जन्य प्रमा-वृत्ति है, अप्रमात्व-भिन्न ज्ञानैकधर्म होने से, जैसे—ज्ञानत्व ।' ['ज्ञानहेतुजन्याश्रयकत्व' साध्य

---

[1] "भावो यथा तथा भावः कारण''मिति (१।१०) पद्यव्याख्यायामितिशेषः । "न हि विधिरूपेणासौ तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा ; निषेधरूपाभावे विधेरपि तुच्छत्वप्रसङ्गादि''ति पाठानुपूर्वी । 'असावभावो विधिरूपेण यद्यपि कारणं न भवति, अन्यनिषेधरूपेण तु भवत्येव । अन्यनिषेधरूपत्वापराधेनास्याकारणत्वे भावस्याप्यभावनिषेधरूपत्वेनाकारणत्वापात इति तदर्थः । [2] नयविवेके १३५ पुटे उद्धृतमिदं पद्यम् ।

सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत् । दोषजन्यत्वेन व्यभिचारो मा भूदिति ज्ञानैकधर्मत्वादित्युक्तम् । तथा प्रामाण्यमुक्तविधमप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात् प्रत्यक्षत्ववदित्यनुमानं मानमिति केचित् , तन्न ; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किं तथाविधव्यक्तिवृत्तितामात्रं विवक्षितम् ? उतान्यावृत्तित्वे सति तथाविधव्यक्तिवृत्तित्वम् ? नाद्यः ; अंशतः सिद्धसाधनत्वात् , अनुव्यवसायानुमित्युपमितीनां स्वतःप्रमात्वस्य परैरप्यङ्गीकारात् । न द्वितीयः ; आद्यप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् , ज्ञानत्वस्य दोषजन्याप्रमाणज्ञानवृत्तित्वस्याप्यङ्गीकारात् । नाप्रमाणज्ञाने ज्ञानत्वस्य वृत्तिस्तस्य ज्ञानाभासत्वादितिचेत् , मैवम् ; तथा सत्यप्रामाण्येतरत्वे सति इति विशेपणस्य वैयर्थ्यात् , अप्रमाणज्ञानस्य ज्ञानाभासत्वेनाप्रामाण्यस्य ज्ञान-

---

ऽप्यस्तीति तत्र व्यभिचारवारणायाप्रामाण्येतरत्वे सतीत्युक्तम् । घटत्वादिव्यावृत्त्यै ज्ञानग्रहणम् । उत्तरविशेषणकृत्यमाह—दोषेति । तद्धि व्याधेरपि धर्म इति न ज्ञानैकधर्म इत्यर्थः ।

तदीयमेवानुमानान्तरमाह—तथेति । ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति अत उक्तम्—अप्रामाण्येतरत्वे सतीति । सत्तागुणत्वज्ञानत्वैर्व्यभिचारनिवारणाय ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वग्रहणम् । अत्र किं ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमात्रं साध्यम् ? किं वा ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यावृत्तित्वे सति ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमिति विकल्प्याद्येंऽशतः सिद्धसाधनमाह—अंशत इति । यथा चैतेषां स्वतः प्रमात्वं तैरङ्गीकृतं तथा सिद्धान्ते दर्शयिष्यते । साध्यविकलत्वमेव दर्शयति—ज्ञानत्वस्येति । दोषजन्येत्यतिरिक्तजन्यत्वमुक्तम् । अत्रान्तरासिद्धान्तिमतमवलम्ब्य कश्चिच्चोदयति—नाप्रमाणेति । उक्तं हि अविद्या वेद्यैः सह भ्रम इत्यभिमानः । एवं प्रकृतदूषणं परिहरतो विशेषणवैयर्थ्यम् , तथाचैकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्यवत इत्याह—मैवमिति । व्यभिचारमेव स्फोरयति—तथाहीति । दूषणान्तरं चाह—दृष्टान्तस्येति । तस्यैव विव-

---

रखने पर सिद्ध-साधन दोष आ जाता है ; क्योंकि परतस्त्ववादी भी ज्ञान-हेतु से जन्य प्रमात्वाश्रय मानता है, अतः 'मात्र' पद दिया । परतस्त्ववादी ज्ञान की सामग्री मात्र से प्रमा की उत्पत्ति नहीं मानता ; अपितु दोषाभाव-सहित सामग्री से । 'ज्ञानैकधर्मत्व' हेतु अप्रमात्व में भी रहने के कारण व्यभिचारी है, अतः अप्रमात्वेतरत्व विशेषण लगाया । 'अप्रमात्वेतरत्वे सति धर्मत्व' घटत्वादि में व्यभिचरित है, अतः 'अप्रमात्वेतरत्वे सति ज्ञानधर्मत्व' कहा । इतना भी दोषजन्यत्वरूप धर्म में व्यभिचारी है ; अतः 'अप्रमात्वेतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्व' हेतु बनाया । दोषजन्यत्व ज्ञानमात्र का धर्म नहीं, अपितु ज्वरादि में भी है] । एवं 'प्रमात्व, ज्ञान-हेतुमात्र-जन्य प्रमा-वृत्ति है, अप्रमात्वभिन्न ज्ञानत्व-न्यूनवृत्ति होने से, जैसे—प्रत्यक्षत्व'—इस प्रकार अनुमान प्रमाण कहा करते हैं । वह उचित नहीं ; क्योंकि उक्त अनुमानों में ज्ञान-हेतुमात्र-जन्य-वृत्तित्वमात्र साध्य विवक्षित है ? या कि ज्ञानहेतुमात्र-जन्यान्यावृत्तित्वे सति ज्ञान-हेतुमात्र-जन्य-वृत्तित्व ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि अनुव्यवसाय, अनुमिति और उपमिति में रहने वाले प्रमात्व में इस प्रकार का स्वतस्त्व दूसरे भी मानते हैं, अतः आंशिक सिद्ध-साधन दोष है । (अनुव्यवसायादि में दूसरे स्वतस्त्व मानते हैं—यह उत्तर पक्ष में कहा जायगा) । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि इस प्रकार का साध्य तो प्रथम अनुमान-प्रयोग (प्रमात्वं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयकम्, अप्रमात्वेतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात्, ज्ञानत्ववत्) के दृष्टान्त (ज्ञानत्व) में नहीं रहता, अर्थात् ज्ञान के हेतुमात्र से जन्य है—प्रमा, उससे अन्य अप्रमा ज्ञान में भी ज्ञानत्व माना जाता है । 'अप्रमा, ज्ञान नहीं, ज्ञानाभास है ; अतः उसमें ज्ञानत्व नहीं रहता'—यह मानने पर "अप्रमात्वेतरत्वे सति"—यह हेतु का विशेषण व्यर्थ हो जाता है ; क्योंकि अप्रमा ज्ञान, ज्ञान ही नहीं रहा, तब उसमें रहने वाला अप्रमात्व भी ज्ञान-वृत्ति नहीं रहता (अतः ज्ञान-वृत्तित्वात्—इतना ही हेतु पर्याप्त है, अप्रमात्वेतरत्वे सति—यह विशेषण निरर्थक है) । द्वितीय

वृत्तित्वाभावात् । द्वितीयानुमाने च संशयत्वादिना व्यभिचारः। तथाहि—तदपि ह्यप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्ति भवति, न तु भवति ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयम् , तिमिरादिदोषजन्याश्रयत्वात् । दृष्टान्तस्य साध्यविकलता च ; प्रत्यक्षत्वस्यापि परतःप्रामाण्यवादिना ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयत्वानाश्रयणात् । प्रमात्वमेव यस्य ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयं न भवति , गुणविशिष्टज्ञानसामग्रीजन्यवृत्तित्वात् , तस्य कथं तदवान्तरजातिप्रत्यक्षत्वं तद्धेतुमात्रजन्याश्रयं स्यात् ?

अस्तिच परतस्त्वेऽपि प्रयोगः–अनीश्वरप्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वाद्घटवत् । ननु किं ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितोऽस्ति कश्चिद्विशेषः ? किं वा प्रमाव्यक्तिरेव ज्ञानव्यक्तिः ? आद्ये प्रत्यक्षज्ञानव्यक्त्या स्पष्टो व्यभिचारः ; प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तेर्विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावात् । द्वितीयेऽपि जन्यापि विज्ञानरूपा प्रमा न ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनेति बाध इति

रणं प्रत्यक्षत्वस्यापीति । ननु किमिति प्रत्यक्षत्वं नाङ्गीक्रियते, नहि तत्प्रमात्वमित्यत आह—प्रमात्वमेवेति । गुणविशिष्टसामग्रीजन्यप्रमाश्रयं प्रमात्वमिति यस्याङ्गीकारः स कथं तदवान्तरजातिं प्रत्यक्षत्वं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमङ्गीकुर्यादित्यर्थः । गुणग्रहणं दोषाभावस्याप्युपलक्षणम् ।

एवं स्वतस्त्वलक्षणप्रमाणे दूषयित्वा परतस्त्वे कुसुमाञ्जलीयमनुमानं दर्शयति—अनीश्वरप्रमेति । इदं च तत्र युक्तं प्रक्षिप्तमीश्वरप्रमायां बाधासिद्धी मा भूतामिति । यदस्य रत्नदीपावल्यामनुमानदूषणमुक्तं तदुद्दिधीर्षुरनुवदति—ननु किं ज्ञानव्यक्तेरिति । किं ज्ञानत्वाश्रयो या ज्ञानरूपिणी व्यक्तिस्ततो भिन्ना प्रमात्वाश्रयः प्रमाव्यक्तिः ? किं वा नेति विकल्प्याद्ये व्यभिचारमाह—प्रत्यक्षेति । द्वितीये ज्ञानरूपायाः प्रमाव्यक्तेर्ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वसाधनं व्याहतम् , ज्ञानं ज्ञानहेतुत्वानधिकरणजन्यमिति हि तदर्थः स्यादित्याह— द्वितीयेपीति । तदेतद्दूषयति—मैवमिति । यद्यपि व्यक्त्योर्भेदो नास्ति तथापि ज्ञानत्वप्रमात्व-

अनुमान (प्रमात्वं ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयकम् , अप्रमात्वेतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात् , प्रत्यक्षत्ववत्) का हेतु संशयत्वादि में व्यभिचारी है ; क्योंकि संशयत्व भी अप्रमात्व से भिन्न है और ज्ञानत्व से न्यूनवृत्ति भी ; किन्तु संशयत्व का आश्रय, ज्ञान-हेतुमात्र-जन्य नहीं ; अपितु तिमिरादि दोष से भी जन्य है । एवं दृष्टान्त (प्रत्यक्षत्व) में साध्य-विकलता भी है ; क्योंकि परतः प्रामाण्यवादी प्रत्यक्षत्व में ज्ञान-हेतुमात्र-जन्य-वृत्तित्व नहीं मानता—जिस (परतः प्रामाण्य-वादी) के मतमें प्रमात्व भी ज्ञान-हेतुमात्र-जन्य-वृत्ति नहीं ; अपितु गुण-विशिष्ट ज्ञान-सामग्री से जन्य में वृत्ति होता है । उसके मत में प्रमात्व-व्याप्य प्रत्यक्षत्वरूप जाति, ज्ञान-हेतुमात्र से जन्य में वृत्ति कैसे होगी ?

परतस्त्व की सिद्धि में अनुमान-प्रयोग भी है—'अनित्य प्रमा, ज्ञान-हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन है, कार्य होने से, जैसे–घट ।' (यहाँ प्रमा मात्र को पक्ष बनाने से ईश्वरीय नित्य प्रमा में कार्यत्व न रहने से बाध और असिद्धि दोष होते, अतः नित्य प्रमा की व्यावृत्ति के लिए अनीश्वर-प्रमा या अनित्य प्रमा को पक्ष बनाया गया है। ज्ञान सामान्य का हेतु है–आत्ममन का सन्निकर्ष । उससे अतिरिक्त इन्द्रिय-सन्निकर्षादि हेतु की अधीनता इस पक्ष में सिद्ध हो सकती है–द्र० न्या० कु० २।१)। यदि कोई शङ्का करे कि इस अनुमान में ज्ञानव्यक्ति का प्रमाव्यक्ति से कुछ अन्तर माना जाता है ? या प्रमाव्यक्ति ही ज्ञानव्यक्ति है ? यदि कुछ अन्तर है, तब तो प्रत्यक्षज्ञान व्यक्ति में स्पष्ट व्यभिचार है ; क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति, ज्ञान-हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन नहीं (अर्थात् ज्ञान-हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन है—प्रमाव्यक्ति । उससे भिन्न है ज्ञानव्यक्ति, अतः इसमें ज्ञान-हेतु से अतिरिक्त हेतु की अधीनता भी नहीं रहेगी और 'कार्यत्व' हेतु वहाँ रहता है)। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि जो प्रमाव्यक्ति ज्ञानरूप ही है, उसमें ज्ञान-हेतु से अतिरिक्त हेतु की जन्यता रह

---

१. भ्रमे इतिशेषः । २. ईश्वरेति विशेषणम् । ३. अतिरिक्तहेत्वधीनत्वेन बाधः, कार्यत्वाभावेन चासिद्धिः ।

चेत्, मैवम् ; ज्ञानव्यक्तेः प्रमाव्यक्तितो भेदाभावेऽपि विज्ञानत्वप्रमात्वधर्मयोर्भेदात् । ततश्च घटत्वस्य पृथिवीत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधन इव प्रमाया विज्ञानत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधने बाधाभावात् । विपक्षे च प्रमात्वस्य विज्ञानत्वप्रयोजकमात्रप्रयोज्यत्वात्, ज्ञानत्ववदप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति बाधकस्तर्क उन्नेयः । ननु ज्ञानसामग्र्या एवानिरूपणात् तदतिरिक्तहेत्वधीनत्वं दुर्ज्ञानमिति चेत्, मैवम् ; एवं सत्यप्रमायाः परतस्त्वं दत्तजलाञ्जलि स्यात् । तदपि हि ज्ञानसामग्रीनिरूपणाधीननिरूपणं, तस्य दोषनुषक्तविज्ञानसामग्रीजन्यताप्रतिज्ञानात् । तस्मान्नोत्पत्तौ प्रमायाः स्वतस्त्वम् ।

नापि ज्ञप्तौ । तथाहि—नीलसंवेदनस्य प्रामाण्यं नीलसंवेदनेनैवावेद्यत इति स्वतस्त्वमुच्यते ? किंवा तद्वेदनग्राहकमात्रग्राह्यत्वेन ? नाद्यः ; तस्य तत्राप्रमाणत्वात् । तथाहि—

योर्भेदात् प्रमाया अपि ज्ञानत्वप्रयोजकव्यतिरिक्तप्रयोज्यत्वमुपपद्यते, यथा ह्येकस्मिन्नेव घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वानां विभिन्नप्रयोजकतया द्रव्यादीनामपि विभिन्नप्रयोज्यतेत्यर्थः । ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावे च बाधकमाह—विपक्षे चेति । यदि ज्ञानहेतुमात्रप्रोज्येयं तर्हि तत्प्रयोज्यज्ञानवृत्तिज्ञानत्ववत्प्रमात्वमप्यप्रमायां वर्ततेत्यर्थः ।

ननु साध्यमेवेदं नाङ्गं धारयति, ज्ञानहेतोरेवानिरूपाणादिन्द्रियादीनां परस्परव्यभिचारादात्ममनःसंयोगस्य च सुखादिसाधारण्यात् । अतस्तदतिरिक्तहेतुरपि दुर्निरूप इति शङ्कते—नन्विति । दूषयति—मैवमिति । अवश्यं तावद्दोषानुषक्तविज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रमायां मन्वानेन ज्ञानसामग्री तावन्निरूपणीया, सा च नास्मन्मते दण्डवारिता, भवितव्यं च तया, अन्यथा विलक्षणकार्यादर्शनप्रसङ्गादिति भावः । किमाश्रयज्ञानवेद्यत्वं प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम् ? किं वा ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वम् ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—नाद्य इति । नीलसंवेदनस्य स्वप्रामाण्यग्राहकत्वाभावमेवोपपादयति—तथा हीति । इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ह्यनीश्वरप्रत्यक्षं तदिदं बहिरिन्द्रियस्यान्तरस्य वा प्रामाण्येन संनिकर्षादुत्पद्यते इति वक्तव्यं प्रत्यक्षवा-

---

नहीं सकती, अतः बाध दोष होता है । तो यह शङ्का नहीं करनी चाहिए ; क्योंकि ज्ञानव्यक्ति का प्रमाव्यक्ति से कोई भेद न होने पर भी ज्ञानत्व और प्रमात्व धर्मों का भेद है । इसलिए जैसे घटत्व में पृथिवीत्व-प्रयोजक से अतिरिक्त प्रयोजक की प्रयोज्यता के साधन में बाध नहीं ; वैसे ही प्रमात्व में ज्ञानत्व-प्रयोजक से अतिरिक्त प्रयोजक की प्रयोज्यता के साधन में भी बाध नहीं हो सकता । विपक्ष में बाधक तर्क यह है कि प्रमात्व यदि ज्ञानत्व-प्रयोजक मात्र से प्रयोज्य होगा, तब ज्ञानत्व के समान अप्रमा में भी रहेगा । (अर्थात् यदि प्रमात्व और ज्ञानत्व—दोनों का एक ही प्रयोजक है, तब तो ज्ञानत्व जहाँ-जहाँ रहेगा, वहाँ-वहाँ प्रमात्व भी रहेगा ; किन्तु अप्रमा में ज्ञानत्व के रहने पर भी प्रमात्व नहीं रहता । अतः मानना होगा कि प्रमात्व का प्रयोजक, ज्ञानत्व के प्रयोजक से भिन्न है) । यदि कहें कि ज्ञान-सामग्री का ही निरूपण सम्भव नहीं, अतः उससे अतिरिक्त हेतु की अधीनता प्रमा में कैसे सिद्ध होगी ? तब तो अप्रमा-गत (वेदान्तिसम्मत) परतस्त्व से भी हाथ धोना पड़ेगा ; क्योंकि दोष-विशिष्ट ज्ञान-सामग्री की जन्यता को ही परतस्त्व माना गया है, अतः वह (अप्रमा-गत परतस्त्व) भी ज्ञान-सामग्री के निरूपण से ही निरूपणीय है । इस प्रकार प्रमा की उत्पत्ति में स्वतस्त्व नहीं बन सकता ।

और न ज्ञप्ति में ही । यदि मानें तो नीलविषयक प्रमा-वृत्ति प्रमात्व का, क्या नील ज्ञान से ही प्रकाशित होना स्वतस्त्व कहा जाता है ? या नील-ज्ञान के ग्राहक मात्र से गृहीत होना ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि वही ज्ञान, स्वनिष्ठ प्रमात्व का प्रकाशक नहीं हो सकता । अर्थात् जो यह नील-

यदेतन्नीलप्रकाशनप्रत्यक्षं तन्नीलं प्रति तावत्प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नत्वात्। स्वप्रामाण्यपरिच्छित्तौ तु कथं तत्प्रमाणम्? तस्य बहिरिन्द्रियैरसन्निकर्षात्। अपि च तत्प्रत्यक्षं विज्ञानस्यैव प्रामाण्यं गृह्णीयात्? उत तत्फलस्य? नाद्यः; ज्ञानस्य फललिङ्गानुमेयत्वेन तस्याप्रत्यक्षतया तत्प्रामाण्यस्यापि प्रत्यक्षतानुपपत्तेः। फलस्यापि स्वप्रकाशतया बाह्येन्द्रियाविषयत्वात्, तद्गतयथार्थत्वलक्षणप्रामाण्यस्यापि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्तेः। नापि द्वितीयः; ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वे प्रामाण्यस्य क्वचिदपि ज्ञाने प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयाभावप्रसङ्गात्।

दिना, तत्र बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्यान्तर्धर्मत्वादेवासंभवीत्याह——**तस्येति**। नापि मानसत्वम्। तदा हि प्रामाण्यस्य मनःसंनिकर्षसमये तत्सत्त्वार्थं तदाश्रयज्ञानस्यापि सत्त्वं वक्तव्यम्, तथा च न तदेव ज्ञानं स्वाश्रितप्रामाण्येन्द्रियसन्निकर्षादुत्पत्तुमर्हति, सिद्धस्वभावात्। ज्ञानान्तरस्योत्पत्तौ तु परतःप्रामाण्यप्रसक्तिरिति, लिङ्गादिजन्यत्वाभावाच्च नानुमित्यादिरूपताशङ्कापि। किं चेदं प्रामाण्यमिति वा तत्तेन गृह्यते तत्प्रामाण्यमिति वा। आद्ये ज्ञाननिष्ठतया अग्रहणात् गृहीते तस्मिन् संशयप्रसङ्गः। द्वितीये स्वविशेषितप्रामाण्यग्रहणे स्वग्रहापत्तिः। अपि च यथातथा भवतु, तत्तु कस्य प्रामाण्यं गृह्णातीति भाट्टं प्रति विकल्पयति—**अपि चेत्यादिना**। तत्फलं प्राकट्यम्, प्राकट्यलिङ्गानुमेयं विज्ञानं भाट्टैरभ्युपेयत। न चाप्रत्यक्षगतं प्रामाण्यं भवितुं प्रत्यक्षमर्हति। न च स्पर्शशब्दादितुल्यता; जातित्वात्। जातेरेव व्यक्तिप्रत्यक्षतानियतप्रत्यक्षत्वम्, वक्ष्यते च जातित्वमतमनन्तरमेवेति भावः। फलगतप्रामाण्यग्रहणपक्षेऽपि किं बहिरिन्द्रियेण? आन्तरेण वा? नाद्य इत्याह—**फलस्यीति**। अर्थनिष्ठत्वादेव नान्तरप्रत्यक्षत्वमपि। यदि कश्चिदात्मनिष्ठत्वं मन्वीत सुचरितमिश्रमतानुसारेण तथापि स्वप्रकाशत्वादेवाविषयत्वे तद्गतप्रामाण्यमविषयः इत्यपि द्रष्टव्यम्। ज्ञानग्राहकादेव तत्प्रामाण्यग्रहणं ज्ञप्तिस्वतस्त्वमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। दृश्यते हि क्वचिज्ज्ञाने प्रतीतेऽपि प्रामाण्ये संशयः, स न स्यात्; ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेरित्यर्थः। तत्र ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेऽप्युपपन्नः संदेहः ज्ञानगततदर्थविशेषितत्वस्य ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेऽपि तत्र संदेहदर्शनादतः प्रशिथिलमूलस्तर्कः हेतुश्च सव्यभिचार इत्यादयनं परतस्त्वानुमानं

प्रत्यक्ष है, वह नीलरूप विषय के प्रति प्रमाण (प्रकाशक) माना जाता है, कारण यह है कि इन्द्रिय और नील का सन्निकर्ष होने पर वह प्रत्यक्ष उत्पन्न हुआ है; वह प्रत्यक्ष स्वगत प्रमात्व का प्रकाशक कैसे होगा? प्रमात्व (आन्तरिक ज्ञान का धर्म है, अतः उस) के साथ बाह्य इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता। यह भी जिज्ञासा होती है कि प्रत्यक्ष प्रमाण, ज्ञान-गत प्रमात्व का ग्राहक होता है? या ज्ञान-जन्य ज्ञातता के प्रमात्व का? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि भाट्ट के मत में ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, अपितु ज्ञाततारूप फल के द्वारा अनुमेय माना जाता है—(अयं घटः, विषयता सम्बन्धेन ज्ञानवान्, ज्ञाततावत्त्वात्)। ज्ञान ही जब प्रत्यक्ष नहीं, तब उसका धर्मरूप प्रमात्व कैसे प्रत्यक्ष होगा? ज्ञाततारूप फल भी स्वप्रकाश होने के कारण, बाह्य इन्द्रिय का विषय नहीं होता: अतः ज्ञातता-गत प्रमात्व का भी बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं बनता। द्वितीय (ज्ञान-ग्राहक से ही प्रमात्व का ग्रहण) भी उचित नहीं; क्योंकि ज्ञान की ग्राहक सामग्री से ही यदि उस ज्ञान के प्रमात्व का ग्रहण हो जाय, तब किसी ज्ञान में भी 'यह ज्ञान प्रमा है? या अप्रमा?—इस प्रकार का संशय नहीं हो सकेगा। (अर्थात् संशय की सामग्री है—धर्मी का ग्रहण, विशेषाग्रहण और विशेष कोटि का स्मरण। इस प्रकार ज्ञान में प्रमात्व का संशय होने के लिए ज्ञानरूप धर्मी का ग्रहण, प्रमात्व और अप्रमात्व - इन दोनों का अग्रहण तथा दोनों का स्मरण। किन्तु यहाँ धर्मी की

---

१. यथा वाय्वाकाशादिरूपाश्रयप्रत्यक्षं विनैव स्पर्शशब्दादीनां प्रत्यक्षं तथा ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि प्रमात्वं प्रत्यक्षं स्यादिति तुल्यता (द्र०ता०परि०पृ० ४८)। २. प्रामाण्यस्येत्यादिः।

ननु ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेऽप्यर्थविशेषितत्वस्य सांशयिकत्ववत्प्रामाण्यस्यापि सांशयिकत्वमुपपद्यते। तथाहि—कुम्भज्ञानस्याम्भो विषयोऽभून्न वेति संशयाना दृश्यन्ते जनाः, साम्भसामनम्भसामपि कुम्भानामुपलम्भात्। एवं प्रामाण्येऽपि संशयः किं न स्यादिति चेत्, मैवम्; अम्भसः कुम्भग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वानङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वाऽविशेषेण सकलकलशानां सलिलवत्त्वप्रसङ्गात्। तस्मान्नारिकेलफलान्तर्गतसलिलादिवद्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वादेव तत्र संशयः। प्रामाण्ये तु न तथेति युक्तमुत्पश्यामः। किं च विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यतायां प्रामाण्यस्य शुक्तिकारजतादिबुद्धिष्वपि तद्ग्रहप्रसङ्गः, सत्यम ; गृहीतमेव तत् बाधकादपनीयते। यथाहुः —

'तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैः अपोद्यते ॥'इति। (श्लो० वा० २।५३)

तस्मादस्माकमिष्टप्रसञ्जनमिति चेत्, मैवम्; परतःप्रामाण्यप्रसङ्गात्। तथाहि—प्रसक्तमपि

केचिद्दूषयांबभूवुः, तत्प्रसङ्गादनूद्य दूषयति—**नन्वित्यादिना**। ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वे समानेऽपि कुम्भसलिलयोर्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वात् सोदकेऽपि कुम्भे कुतश्चिन्निमित्तात्सलिलग्राहकसामग्रीवैकल्याद्विषयत्वापप्लवेन संभवत्यपि तावत्यंशे संशयः, इह तु न तथा किंचिदस्ति संशयकारणमिति परिहरति—**मैवमिति**। बाधकान्तरमाह—**किं चेति**। पूर्वमुत्पत्तिस्वतस्त्वे विभ्रमेऽपि तत्सत्त्वं स्यादित्युक्तम्, संप्रति ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तदुच्यत इति न जामिता। उत्सर्गतः प्राप्तस्यापि तत्र तस्यापवादमाह स्वतःप्रामाण्यवादी—**सत्यमिति**। सत्यमर्धाङ्गीकारे। अनङ्गीक्रियमाणांशमाह—**बाधकादिति**। बोधात्मकत्वेन, ज्ञानत्वादेव, शुक्तिरजतादिबुद्धेरपि प्रमाणता प्राप्ता गृहीता तथाप्यर्थान्यथात्वज्ञानैः प्रतीतार्थस्यान्यथात्वबोधकैः बाधकज्ञानैर्हेतूत्थदोषज्ञानैर्हेतुगतदोषज्ञानैश्चापोद्यते बाध्यत इति भट्टोक्तेरर्थः, परतःप्रामाण्यमापादयन्ननिष्टतामेव समर्थयते—**मैवमिति**। प्राप्तप्रामाण्यस्यापि बाधकज्ञानादपवादे तत्सदसत्त्वाभ्यामप्रामाण्यप्रामाण्यव्यवस्थेति परतःप्रामाण्यापत्तिः प्राप्नोतीत्यर्थः।

ग्राहक सामग्री से ही प्रमात्व का ग्रहण हो जाता है, अतः विशेष कोटि का ग्रहण हो जाने से संशय कैसे होगा ?)। यदि शङ्का हो कि विषय-विशेषितत्वरूप धर्म यद्यपि ज्ञान-ग्राहक मात्र से गृहीत होता है, फिर भी संशय होता है कि इस घट-ज्ञान का जल विषय हुआ ? कि नहीं ? क्योंकि सजल और निर्जल--दोनों प्रकार के घट उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में ज्ञान-ग्राहकमात्र-ग्राह्यत्व होने पर भी प्रमात्व में संशय क्यों न होगा ? तो यह शंका उचित न होगी ; क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है—दृष्टान्त में संशय का विषय है–जल। और जल, घट-ज्ञान की ग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य माना नहीं जाता। यदि घट-ग्राहक सामग्री से ही जल का ग्रहण मान लें, तब सभी घट, जलवाले ही हो जायँगे। इसलिए नारियल में स्थित जल के समान सभी जल, घट-ग्राहक-सामग्री से भिन्न सामग्री से ग्राह्य हैं, फिर तो जल के विषय में संशय का होना उचित ही है। किन्तु प्रमात्व रूप दार्ष्टान्त में ऐसा नहीं। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान-ग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य मानने पर प्रमात्व का शुक्ति-रजत-ज्ञान में भी ग्रहण होना चाहिए। यदि कहा जाय कि शुक्ति-रजत-ज्ञान में प्रथमतः प्रमात्व का ग्रहण होता ही है ; किन्तु पश्चात् बाधकज्ञान से उस प्रमात्व का अपनयन (बाध) होता है, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—'बोधरूप होने के कारण शुक्ति-रजत-बुद्धि में भी यद्यपि प्रमात्व गृहीत होता है, तथापि पश्चात् अर्थान्यथात्वज्ञान (बाधकज्ञान) और हेतु-गत दोषों के ज्ञान से बाधित हो जाता है।' अतः शुक्ति-रजत-ज्ञान में प्रमात्व-ग्रहण की आपत्ति का इष्टापत्ति के रूप में स्वागत है। तो यह कहना युक्तियुक्त न होगा ; क्योंकि शुक्ति-रजत-ज्ञान में गृहीत प्रमात्व का बाध मानने पर बाधक ज्ञानाभाव को भी प्रमात्व का व्यवस्थापक मान लिया गया,

प्रामाण्यं रजतादिबुद्धिषु बाधकज्ञानादपनीयते इति वदता बाधकज्ञानाभावनिबन्धनमेव प्रामाण्यावधारणमभ्युपगतं स्यात्।

न च ज्ञप्तिस्वतस्त्वे मानमस्ति। ननु 'प्रमा स्वतो ज्ञायते परनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वात् ज्ञानवत्', तथा 'प्रामाण्यं स्वतो ज्ञायते अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत्' इत्यस्त्येवानुमानमिति चेत्, मैवम्; आद्यप्रयोगे परतःप्रामाण्यवादिनं प्रति हेतोरसिद्धेः, दृष्टान्ताभावाच्च। न हि पक्षीकृतां प्रमां विपक्षकुक्षिनिक्षिप्तामप्रमां च विहाय ज्ञानस्यापरा कोटिरस्ति, या दृष्टान्तपदवीमुपारोहेत्। द्वितीये च प्रयोगे प्राभाकरस्य स्वयंप्रभत्वे ज्ञानैकधर्मे, भाट्टस्य च ज्ञाततानुमेयत्वधर्मे व्यभिचारः। तयोर्ज्ञानैकधर्मत्वेऽपि ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वाभावात्। अन्यथा तत्र वादिनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसक्तेः। ज्ञप्तिपरतस्त्वे चानुमानं न्यायकुसुमाञ्जलावाह स्म चोदयनः 'प्रामाण्यं परतो ज्ञायते अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रा-

---

ज्ञप्तिस्वतस्त्वानिरुक्तिमुक्त्वा प्रमाणमपि तत्राक्षिपति—न चेति। रत्नदीपावलीयमनुमानमुद्भावयति—ननु प्रमेति। स्वतो ज्ञायत इति। ज्ञानज्ञापकमात्राज् ज्ञायते। परनिरपेक्षेति। ज्ञानसामग्रीमात्रादुत्पन्नत्वादित्यर्थः। परतःप्रमाण्यवादिनः परनिरपेक्षोत्पत्तित्वं प्रमाया अप्रसिद्धमिति दूषयति—मैवमिति। किं च प्रमाणाप्रमाणाभ्यां द्वैराश्यमेव ज्ञानस्य। तत्र प्रमाणवर्गः पक्षः सर्वः, इतरस्तु विपक्षः ततो दृष्टान्तोऽपि नास्तीत्याह—दृष्टान्तेति। अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वादिति द्वितीयानुमानेऽपि गुरुमतभाट्टमतयोर्यथायथमनैकान्तिमाह—द्वितीये चेति। ज्ञाततयानुमेयं हि ज्ञानं भाट्टमते ततो ज्ञाततानुमेयत्वं नाम कश्चिज्ज्ञानस्य धर्मस्तस्मिन्नित्यर्थः। ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वधर्मे च व्यभिचारो द्रष्टव्यः। अथ किमिति तयोरपि न स्वतो ज्ञानमिति तत्राह—अन्यथेति। यदि हि ज्ञानग्राहकादेव तयोरपि ज्ञानं स्यात्तर्हि ज्ञानवदेव तयोरपि न विवादो वादिनां स्यात्, विवदन्ते चेत्यर्थः। सांशयिकत्वादित्युक्ते भागासिद्धिः स्यात्, न हि करतलस्पर्शवत्त्वादिप्रत्यक्षे मुग्धोऽपि संदिग्धे। तत उक्तम्—अनभ्यासदशायामिति। विपक्षे बाधकस्तर्क इति संबन्धः।

जो कि ज्ञान-ग्राहक सामग्री से भिन्न (पर) है, अतः परतः प्रामाण्यवाद स्वीकार करना पड़ेगा।

ज्ञप्ति-स्वतस्त्व में कोई प्रमाण भी नहीं। यदि शङ्का हो कि 'प्रमा स्वतः ज्ञात होती है, परनिरपेक्षोत्पत्तिक होने के कारण, जैसे-ज्ञान।' एवं 'प्रमात्व स्वतः ज्ञात होता है, अप्रमात्व से भिन्न तथा ज्ञानमात्र का धर्म होने से, जैसे-ज्ञानत्व।' इस प्रकार अनुमान प्रमाण हैं। तो यह शङ्का युक्त न होगी; क्योंकि प्रथम प्रयोग में परतः प्रामाण्य-वादी के प्रति प्रमा में 'परनिरपेक्षोत्पत्तित्व' रूप हेतु ही असिद्ध है और दृष्टान्त का भी अभाव है; क्योंकि ज्ञान की दो ही कोटियाँ हैं-प्रमा और अप्रमा। उनमें समस्त प्रमा पक्ष के और अप्रमा विपक्ष के अन्तर्गत आ जाती है। इनको छोड़कर और कोई ज्ञान की तीसरी कोटि है ही नहीं, जिसे दृष्टान्त बनाया जाता। द्वितीय अनुमान प्रयोग का 'अप्रमात्वेतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्व' हेतु प्राभाकर के ज्ञानमात्र-वृत्ति 'स्वयंप्रकाशत्व' धर्म में और भाट्ट के 'ज्ञाततानुमेयत्व' धर्म में व्यभिचारी है; क्योंकि उक्त दोनों धर्म ज्ञानमात्र में वृत्ति तो हैं; किन्तु ज्ञान-ग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य नहीं। अन्यथा (ज्ञान-ग्राहक सामग्रीमात्र से उक्त धर्मों को ग्राह्य मानने पर) उक्त धर्मों के विषय में वैसे ही विवाद नहीं होना चाहिए, जैसे कि ज्ञान के विषय में। किन्तु ज्ञान में स्वयंप्रकाशत्व और ज्ञाततानुपेयत्व के विषय में वादी विवाद करते हैं। ज्ञप्ति में परतस्त्व सिद्ध करने के लिए न्यायकुसुमाञ्जलि (स्तब. २) में उदयनाचार्य ने अनुमान प्रयोग किया है—'प्रमात्व परतः ज्ञात होता है, अनभ्यास दशा में सांशयिक होने के कारण।' [अर्थात् जिस विषय में कई बार प्रवृत्ति हो चुकी है, वहाँ सफल प्रवृत्ति के आधार पर प्रमात्व का निश्चय हो

माण्यवत् ।' विपक्षे प्रामाण्ये संशयो न स्यात् ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेर्बाधकस्तर्कः । ननु नैवमनुमानमुदेति, धर्मिहेत्वोरसिद्धेः । तथाहि—प्रामाण्यं प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गावगम्यं भवद्भिरुपगम्यते, तस्य च लिङ्गस्य प्रवृत्तिः प्रामाण्ये संशयपूर्विका । असंदिग्धे सिपाधयिपाभावात्, अनुमानाप्रवृत्तेः । तत्संशयश्च क्वचिन्निश्चयाधीन इति प्रामाण्ये संशयनिश्चययोरन्योन्याश्रयादनवस्थानाद्वा नैकमपि सिद्ध्येदिति चेत्, मैवम् ; विकल्पासहत्वात् । किं स्वार्थानुमानमसंदिग्धे न प्रवर्तते ? किंवा परार्थम् ? नाद्यः ; सद्यःसमुन्मीलितविलोचनस्य शिखरिशिखरविपरिवर्तमानधूमलेखावलोकनसमनन्तरमप्रत्यूहं धूमध्वजमनीपासमुन्मेषात् । नापि द्वितीयः ; विपर्यस्तमपि प्रति प्रतिवादिनमनुमानप्रयोगोपगमात् । अन्यथा जल्पवितण्डयोः

यदत्र रत्नदीपावल्यां दूषणमुक्तं तदनुवदति—ननु नैवमिति । प्रवृत्तिसामर्थ्येति । 'विमतमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा ज्ञानाभासः' इति व्यतिरेकिणाऽनुमानादित्यन्वयिना वा । अनभ्यासदशापन्नेषु प्रामाण्यमनुमीयते संशयाच्च प्रवृत्तिः, अभ्यासदशापन्नेषु तु तज्जातीयत्वलिङ्गेन इत्यभ्युपेयत इत्यर्थः । क्वचिदनिर्णीतस्य साधारणधर्मदर्शनाद्युपस्थापिततया संशयकोटिताऽभावात् तन्निर्णयस्य च संशयसापेक्षानुमानाधीनत्वात्संशयनिर्णययोः परस्परसापेक्षत्वे परस्पराश्रयात् संशयान्तरनिर्णयान्तरापेक्षायामनवस्थानाच्च नैकमपि सिद्ध्यति, लोकसिद्धं च किंचिद्रूपं सर्वत्र प्रमाणतः सिद्धमभिवाञ्छतो नास्ति । अतो निर्णीतप्रामाण्याभावाद्धर्म्यभावः संशयाभावाच्च हेत्वभाव इति खण्डलार्थः । अत्र विकल्पपूर्वकं संशयव्यतिरेकेणापि निश्चयमुपपादयन्धर्मिहेतू समर्थयते—मैवमित्यादिना । शिखरी पर्वतः तस्य शिखरमग्रिमभागः, अप्रत्यूहं निर्विघ्नम्, धूमध्वजो वह्निर्मनीपा बुद्धिः, स्वार्थानुमानं च हितसाधनादिज्ञानप्रामाण्यानुमानमित्यर्थः । परार्थानुमानेऽपि न संशयपूर्वकत्वनियमः, विपर्यस्तं प्रत्यपि प्रयोगादित्याह—विपर्यस्तमिति । जल्पवितण्डयोरिति । नहि तत्र संदिहानः प्रतिवादी, यं प्रत्यनुमानं प्रयुज्येत, अपि तु विपर्यस्तः । तथा चाह वाचस्पतिः—'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इति । वादे तु स्वत एव

जाने से संशय नहीं होता, किन्तु जहाँ प्रथम बार ही प्रवृत्ति हो रही है, वहाँ अवश्य प्रमात्व में संशय होता है । इसका कारण यही है कि ज्ञान-ग्राहक से भिन्न प्रमात्व-ग्राहक सामग्री है, जिसकी उपस्थिति न होने से प्रमात्व का ग्रहण नहीं हुआ, अतः उसमें सन्देह है] । विपक्ष में बाधक तर्क यह है—'यदि ज्ञान के निश्चायक से ही प्रमात्व का निश्चय होता, तो प्रमात्व में संशय नहीं होता ।' यदि शङ्का हो कि यह अनुमान बन नहीं सकता ; क्योंकि इसके धर्मी (पक्ष) और हेतु ही असिद्ध हैं—प्रमात्व को आप सफल प्रवृत्तिरूप लिङ्ग से अनुमेय मानते हैं । उस लिङ्ग की प्रमात्व में प्रवृत्ति तभी होगी, जब कि प्रमात्व में संशय हो ; क्यों असन्दिग्ध साध्य में सिषाधयिषा (सिद्धि करने का इच्छा) न होने से अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । वह प्रमात्व का संशय कहीं निश्चय के अधीन है (अर्थात् प्रमात्व का कहीं यदि निश्चय हो, तभी उसका संशय बनेगा ; क्योंकि प्रमात्व और प्रमात्वाभावरूप दोनों कोटियों का स्मरण, संशय में अपेक्षित है । स्मरण संस्कारों की और संस्कार निश्चय की अपेक्षा करते हैं) । इस प्रकार प्रमात्व के संशय और निश्चय में अन्योऽन्याश्रयता और अनवस्था दोषों के आ जाने से किसी की सिद्धि नहीं हो सकती । तो यह शङ्का ठीक नहीं ; क्योंकि संशय के बिना स्वार्थानुमान नहीं प्रवृत्त हो सकता ? या परार्थानुमान ? स्वार्थानुमान में तो संशय की कोई अपेक्षा नहीं—देखा जाता है कि नेत्र खोलते ही पर्वत-शृङ्गस्थ धूम-स्तम्भ देखा और अनन्तर क्षण में ही अग्नि की अनुमिति हो जाती है । परार्थानुमान में भी संशय की आवश्यकता नहीं—जिसको विपरीत कोटि का निश्चय है (किसी कोटि का भी निश्चय हो जाने से संशय नहीं होता) ऐसे प्रतिवादी के प्रति भी अनुमान-प्रयोग किया जाता है । अन्यथा जल्प और वितण्डा में

प्रमाणतर्काभ्यां स्वपरपक्षसाधनोपालम्भासंभवात्। 'संदिग्धे न्यायः प्रवर्त्तते' इति वचनस्यायोगव्यवच्छेदपरत्वात्, क्वचित्साधकबाधकप्रमाणानुदयात्संदेहे सति न्यायप्रवृत्त्युपपत्तेः। न चानभ्यासदशायामिति विशेषणस्य वैयर्थ्यम्; असिद्धिवारकत्वात्। न च व्यभिचारवारकमेव हेतोर्विशेषणमिति नियमः; चक्षुस्तैजसं रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवदित्यादिचिरंतनानुमानेष्वसिद्धिनिवारकाणां विशेषणानां बहुलमुपलम्भात्। अपि चासिद्धिनिवारणार्थेऽपि विशेषणोपादाने न दोषं पश्यामः। क्षित्यादिकमकर्त्तृकं शरीर्यजन्यत्वादाकाश-

---

वाहार्यो वा संशयोस्ति नत्वितरयोरित्यर्थः। ननु 'संदिग्धे न्यायः प्रवर्तते' इति वृद्धवचनस्य तर्हि का गतिरित्यत आह—संदिग्धे इति। नैतत्सदेहाभावेऽनुमाननिवृत्तिपरम्, अपि त्वनुमानस्थले संदेहोऽप्यस्तीत्ययोगव्यावृत्तिपरमित्यर्थः। अयोगव्यावृत्तिमेवोपपादयति—क्वचिदिति। यच्च तैरेवानभ्यासदशायामिति विशेषणं व्यर्थं व्यभिचारानिवारकत्वादसिद्धिपरिहाराय च विशेषणप्रक्षेपायोगादित्युक्तम्, अनभ्यासदशायामित्यादिना तदनूद्य दूषयति—न चानभ्यासेत्यादिना। रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्ते मनस्यनैकान्तिकता तदर्थं रुपस्यैवेत्युक्तम्, तथा चासिद्धिः द्रव्यसामान्यादेरपि व्यञ्जकत्वाच्चक्षुषस्तदर्थं रूपादिषु मध्य इत्युक्तम्, यद्यपि रसाग्राहकत्वे सति रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्त एव मनस्यपि न व्यभिचारः, तथाप्यसिद्धिपरिहारार्थमपि भवति विशेषणमिति दर्शयितुमिदं चिरन्तनैर्विशेषणं प्रक्षिप्तमिति भावः। तत्किमनुपपन्नो व्याप्तवचनेनैव साध्योऽयमर्थ इति मत्वा तं प्रत्यनुपपत्त्यभावं दर्शयति—अपि चेत्यादिना। दोषं शङ्कयति—क्षित्यादिकमिति। अत्र ह्यजन्यत्वादित्युक्तेऽङ्कुरादेर्जन्यत्वादसिद्धिः स्यात्तदर्थं शरीर्यजन्यत्वादित्युक्तम्। तदत्र यथाऽसिद्धिपरिहाराय विशेषणे कृते व्याप्यत्वासिद्धिः अजन्यत्वस्यैवाकर्तृकत्वोपाधित्वात्तद्वदिहापि स्यादित्यर्थः। न तत्रासिद्धिपरिहारप्रयोजनविशेषणवत्त्वाद्व्याप्यत्वासिद्धिः, किं तर्हि तदेकदेशस्योपाधित्वसंभवात्। नचात्र

प्रमाण और तर्क के आधार पर स्वपक्ष-साधन तथा परपक्ष-दूषण सम्भव न हो सकेगा। यह जो कहा था कि सन्दिग्ध विषय के लिए ही अनुमान-प्रयोग होता है, उसका तात्पर्य अयोग-व्यवच्छेद मात्र में है (अर्थात् "सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तते"—इस न्याय का तात्पर्य इतना ही है कि अनुमान स्थल पर सन्देह भी होता है)। जैसे कि जहाँ स्वपक्ष-साधक और परपक्ष-बाधक प्रमाण का उदय नहीं हुआ, वहाँ सन्देह रहता ही है, अतः वहाँ उक्त न्याय चरितार्थ हो जाता है। हेतु का 'अनभ्यासदशायाम्'—यह विशेषण व्यर्थ नहीं, असिद्धि-वारक है (अर्थात् जिस ज्ञान के आधार पर कई बार सफल प्रवृत्ति हो चुकी है, उसके प्रमात्व में संशय नहीं होता, अतः प्रमात्वरूप पक्ष में 'सांशयिकत्व' हेतु न रहने से स्वरूपासिद्धि होती है; उसे 'अनभ्यासदशायां' कहकर हटाया जाता है। फलतः प्राथमिक ज्ञान-गत प्रमात्व में ही हेतु रखना अभीष्ट है; प्रमात्वमात्र में नहीं)। यदि कहें कि व्यभिचार-वारक विशेषण ही सार्थक होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि 'चक्षुरिन्द्रिय, तैजस है, रूपादि गुणों में केवल रूपमात्र का व्यञ्जक होने से, जैसे—प्रदीप' इस प्रकार के प्राचीन-अनुमानों में असिद्धिवारक "रूपादिषु मध्ये"—आदि विशेषणों की सार्थकता प्रचुरमात्रा में पाई जाती है। (अर्थात् "रूपस्यैव व्यञ्जकत्वात्"—इतना ही हेतु रहने पर में असिद्धि होती है; क्योंकि चक्षु केवल रूप का ही ग्राहक नहीं; अपितु घटादि द्रव्य का ग्राहक भी है, अतः कहा "रूपादिषु मध्ये।" अब अवधारण का स्वरूप हो गया—'रूपादिगुणों के मध्यं में रूप का ही प्रकाशक है।' द्रव्य, गुण नहीं कि उसकी भी व्यावृत्ति हो जाय)। असिद्धि-वारणार्थ विशेषण देने में किसी प्रकार का दोष भी नहीं दिखाई देता (यदि कहें कि 'पृथिव्यादि अकर्तृक हैं, शरीरिकर्ता से अजन्य होने के कारण, जैसे—आकाश—इत्यादि प्रयोगों में 'शरीरि' विशेषण व्यर्थ होने से व्यर्थ विशेषण-घटित हेतु में जैसे व्याप्यत्वासिद्धि होती है; वैसे ही प्रकृत में भी व्याप्यत्वासिद्धि दोष होगा। तो ऐसा नहीं कहना

वदित्यादाविव व्याप्यत्वासिद्धिरिति चेत् , मैवम् ; तत्राकर्तृकत्वे साध्ये तदेकदेशस्याजन्यत्वस्यैवोपाधितया विशिष्टस्य व्याप्यत्वासिद्धेः । उक्तं हि—'एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयाऽसिसिद्धिरापद्यते' इति । प्रकृते तु परतो ज्ञाने न सांशयिकत्वमुपाधिः ; स्फीतालोकविपरिवर्तिनां परतो ज्ञायमानानामपि घटादीनां सांशयिकत्वादर्शनात् । ननु प्रामाण्यस्य परतो ज्ञानेऽनवस्था, तत्तत्प्रामाण्यग्रहणायान्यस्यान्यस्य प्रमाणस्यापेक्षणादतः प्रतिकूलतर्कपराहतं परतःप्रामाण्यानुमानमितिचेत् , मैवम् ; मानान्तरस्यावश्यंभावनियमाभावात् ।

न च स्फुरत एव मानस्यार्थनिश्चायकत्वमन्यथा ज्ञानेऽप्यनन्तरं संदेहापत्तेरिति वाच्यम् ; ज्ञाततयानुमेयं ज्ञानमिति मते निलीनस्यापि ज्ञानस्यार्थनिश्चायकत्वात् । स्वयं वेदनं संवेदनमिति वदतः प्राभाकरस्यापि मते प्रामाण्यस्य तद्धर्मस्य तद्गतगुणत्वादेरिव न स्वतः स्फुरणम्,

तथा सांशयिकत्वस्यैकदेशस्योपाधित्वमिति परिहरति—**मैवमित्यादिना** । **एकामसिद्धिमिति** । स्वरूपासिद्धिं परिहरतो व्याप्यत्वासिद्धिरिति बौद्धधिक्कारे उदयनेनोक्तमित्यर्थः । **परतो ज्ञायमानानामिति** । ज्ञानग्राहकातिरिक्तग्राह्याणामित्यर्थः । प्रकृतानुमानस्य तर्कपराहतिं शङ्कते—**ननु प्रामाण्यस्येति** । येन हिं प्रमाणेन प्राथमिकस्य प्रामाण्यं गृह्यते तत्प्रामाण्यमपि प्रमाणान्तरेणैवमुत्तरत्रापीत्यनवस्थेत्यर्थः । उक्तं च वाचस्पतिमिश्रैः—'परं हि तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयते अर्थक्रियानिर्भासं वा ज्ञानं तद्गोचरं नान्तरीयकार्थान्तरदर्शनं वा तत्सर्वं स्वयमबोधितप्रामाण्यमाकुलं सत्कथं प्रवर्तकज्ञानं पूर्वमनाकुलये'दिति ।

ननु कथमवश्यंभावनियमाभावः यावता स्फुरत एव प्रामाणस्य स्वविषयनिश्चायकत्वनियमात् तदुत्तरप्रमाणानामपि भवितव्यमेव स्फुरणेनेति, नेत्याह—**न च स्फुरत एवेति** । न च वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुः—**ज्ञाततयेति** । स्वतःप्रामाण्येपि समानैवानस्थेत्यपि द्रष्टव्यम् । भवतु भाट्टान्प्रति अज्ञायमानप्रकाशहेतुत्वावादिनो व्यभिचारः , स्वप्रकाशवादिनं प्रभाकरं प्रति किं वक्तव्यमित्याह—**प्राभाकरस्यापीति** । तत्र

चाहिए ; क्योंकि "शरीरजनत्वात्" में शरीरी विशेषण असिद्धि-वारक होने पर भी व्यर्थ है और व्यर्थविशेषण-घटित हेतु में व्याप्यत्वासिद्धि होती है—यह बात नहीं, अपितु वहाँ हेतु का एक देश 'अजन्यत्व' उपाधि है ('अजन्यत्व' अकर्तृकत्वरूप साध्य का व्यापक और शरीरजन्यत्व रूप साधन का अव्यापक है, क्योंकि विद्युदादि में शरीरजन्यत्व रहने पर भी अजन्यत्व नहीं रहता, अतः अजन्यत्व उपाधि है) अतः शरीरजन्यत्व हेतु सोपाधिक हो जाने से व्याप्यत्वासिद्ध है । उदयनाचार्य ने (आ. त. वि. पृ. ८३४) कहा है—'एक असिद्धि (स्वरूपासिद्धि) का परिहार करने के लिए शरीरादि विशेषण देने पर द्वितीय असिद्धि (व्याप्यत्वासिद्धि) प्राप्त होती है ।' प्रकृत "अनभ्यासदशायां सांशयिकत्व" हेतु में एक देश 'सांशयिकत्व' उपाधि नहीं ; क्योंकि परतः ज्ञायमान (ज्ञान-ग्राहक सामग्री-भिन्न सामग्री से गृहीत) घटादि में सांशयिकत्व नहीं देखा जाता (अतः साध्य का व्यापक न होने से 'सांशयिकत्व' धर्म, उपाधि नहीं बन सकता)। कोई शङ्का कर सकता है कि 'यदि प्रामाण्य परतः ज्ञात होगा, तब प्रथम प्रमाण का प्रामाण्य द्वितीय प्रमाण से , द्वितीय का तृतीय से और तृतीय का चतुर्थ से ग्रहण मानने पर अनवस्था होगी'—इस प्रकार की प्रतिकूल तर्क से पराहत प्रकृत अनुमान है । किन्तु यह शङ्का युक्त नहीं ; क्योंकि पूर्व-पूर्व प्रामाण्य का उत्तरोत्तर प्रमाण से ग्रहण होना अवश्यंभावी नहीं (द्र. न्या. कु.स्तब. २ पृ. १२) । यदि कहा जाय कि ज्ञायमान प्रमाण ही अपने विषय का निश्चायक होता है (अतः उत्तरोत्तर प्रमाण की अपेक्षा होने से अनवस्था अवश्य है)। अन्यथा (अज्ञात प्रमाण को भी विषय का निश्चायक मानने पर) ज्ञान होने के अनन्तर उस ज्ञान में भी सन्देह होना चाहिए (मुझे ज्ञान हुआ ? कि नहीं ?) । तो यह कहना उचित नहीं ; क्योंकि भाट्ट-सिद्धान्त में ज्ञान, सदैव ज्ञातता से अनुमेय होता है, अतः ज्ञान प्रथमतः अगृहीत होकर ही विषय का निश्चायक होता है । विषय-निश्चायक प्रमाण ज्ञात ही हो—ऐसा नियम नहीं । ज्ञान को स्वयं

तस्यापि संवेदनवत्स्वयंप्रभावत्वापत्तेः। तथात्वे चाप्रमात्वस्यापि स्वत एव स्फुरणप्रसङ्गात्, ततश्चाप्रामाण्यं परतः प्रतीयते इति स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गः। वेदान्तिनां च प्रामाण्यस्य साक्षिवेद्यत्वेन स्फुरणनियमादिदं प्रमाणमप्रमाणं वेति संदेहो न भवेत्। न च प्रमाणं स्वत एव फलं जनयति, हानोपादानोपेक्षालक्षणस्य त्रिविधस्यापि फलस्य वस्तुज्ञानातिरिक्तगुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनपूर्वकत्वाभ्युपगमात्, तस्माद्वेदान्ताः स्वत एव प्रमाणमिति न प्रामाणिकप्रतीतिपंथमवतरति।

अत्राभिदध्महे—न तावत्प्रमायाः स्वतस्त्वानिरुक्तिः, यतः—

आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता।
तदन्यतः प्रमायास्तत्स्वतस्त्वमिति तद्विदः ॥२१॥

विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वं नाम। न चैतल्लक्षणमव्यापकम्; सर्वप्रमाणानुगमात्। न चाजन्यत्वादव्याप्तिरीश्वरज्ञाने; तस्याजन्यत्वेऽपि ज्ञानसा-

---

किं ज्ञानगतं प्रामाण्यं अर्थप्रकाशनसमसमये ज्ञानेन स्फुरति ? स्वत एव वा ? न तावज्ज्ञानेन ; पूर्वमेव निरस्तत्वात्। द्वितीयं निषेधति—न स्वतःस्फुरणमिति। कुतो न स्वतःस्फुरणमिति तत्राह—तस्यापीति। ततोऽपि वा किमनिष्टमिति तत्राह—तथात्वे चेति। तथाप्यपरितुष्यन्तं प्रत्याह—ततश्चेति। ननु साक्षिवेद्यवृत्तिज्ञानवादिनां तत्समये च साक्षिणैव प्रामाण्यमपि स्फुरतीति वदतामखण्डितैव व्याप्तिरित्यत आह—वेदान्तिनां चेति। तेषां सन्देहानुपपत्तिरेव बाधिकेत्यर्थः। एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वं दूषयित्वा परतस्त्वं समर्थितम्, इदानीं व्यवहृतावपि तदुभयं व्याकरोति—न च प्रमाणमिति। नच वस्तुज्ञानमात्राद्धानादयोऽपि तु इष्टसाधनतादिज्ञानात्ततश्च घटज्ञानस्येष्टसाधनतादिज्ञानाधीनव्यवहारजनकत्वं तस्य व्यवहृतौ परतस्त्वमित्यर्थः।

लक्षणं तावत्समर्थयते—न तावदिति। श्लोकेन लक्षणं संगृह्णाति—आहुरित्यादिना। यद्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदन्यतः तदतिरिक्तसामग्रीतोऽजन्यता प्रमायास्तत्स्वतस्त्वं प्रमास्वतस्त्वमिति तद्विद आहुरिति योजना। लक्षणवाक्यं विवृणोति—विज्ञानेति। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति विज्ञानसामग्रीत्वानधिकरणजन्यत्वानधिकरणत्वं स्वतस्त्वमित्यर्थः। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति परतःप्रामाण्यवादिभिश्च स्वीक्रियत इत्यतिव्याप्तिरर्थान्तरता वा स्यात् तन्निवृत्त्यर्थं तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वमित्युक्तम्। ननु कथं नाव्यापकं यावतेश्वरज्ञानेऽजन्येऽव्याप्तिः विशेषणाभावादिति तत्राह—न चाजन्यत्वादिति।

प्रकाश मानने वाले प्रभाकर के मत में भी प्रमा ज्ञान का प्रमात्व धर्म, गुणत्वादि धर्मों के ही समान स्वतः स्फुरित नहीं हो सकता, नहीं तो वह भी अपने आश्रय-ज्ञान के ही समान स्वयंप्रकाश हो जायगा। प्रमात्व धर्म को स्वयं प्रकाश मान लेने पर 'अप्रमात्व' धर्म को भी स्वयं प्रकाश मानना पड़ेगा। तब तो अप्रमात्व परतः गृहीत होता है—यह सिद्धान्त ही भङ्ग हो जाता है। वेदान्त-मत में प्रमात्व साक्षि-भास्य होता है। प्रमात्व को नियमतः स्वयं प्रकाश साक्षी से ग्रहण होने पर 'यह प्रमा है ? या नहीं ? यह सन्देह नहीं होना चाहिए। (किन्तु सन्देह होता है, अतः प्रमात्व का स्वतः ग्रहण किसी के मतमें नहीं बन सकता। अगत्या परतः प्रमात्व-ग्रहण मानना होगा, भले ही अनवस्था हो)। प्रमाण स्वतः व्यवहार रूप फल भी उत्पन्न नहीं कर सकता। व्यवहार तीन प्रकार का होता है—हान (त्याग) उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा। वस्तु के ज्ञान मात्र से तीनों प्रकार का व्यवहार पैदा नहीं होता ; अपि तु वस्तुमें दोष-दर्शन से हान, गुण-दर्शन से उपादान और ताटस्थ्य-दर्शन से उपेक्षा की उत्पत्ति मानी जाती है। अतः 'वेदान्त वाक्य स्वतः प्रमाण हैं' —यह सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं।

उत्तर पक्ष—प्रमात्व का लक्षण अनुपपन्न नहीं ; क्योंकि प्रमा में जो विज्ञान-जनक सामग्री की जन्यता विज्ञान-जनक-सामग्री से अतिरिक्त की अजन्यता है, उसी को ही प्रमात्व-गत स्वतस्त्व

मग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तकारणजन्यत्वलक्षणविशिष्टधर्मवत्त्वाभावात् । नाप्यतिव्यापकम्; अप्रमाया विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात् । अस्ति चेह मानमनुमानम्, तथा हि—

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतः ।
जायते व्यतिरिक्तत्वादप्रमातः पटादिवत् ॥२२॥

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति अप्रमातिरिक्तत्वात् पटादिवत् । न च ज्ञानत्वानधिकरणत्वमुपाधिः; ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः । नापि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः; यज्ज्ञानसामग्रीजन्यं तज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्यमप्रमाणवदिति व्यतिरेकिव्याप्तावप्रमात्वस्यैवोपाधित्वात् । विपक्षे च विज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्पत्तिसंभवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोषाभावस्य वा कारणत्वकल्पनागौरवप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः । एतेन—'प्रमा विज्ञान-

---

विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वं यदप्रमासु प्रसिद्धं तदत्यन्ताभाववत्त्वं हि लक्षणं एतच्चेश्वरज्ञानेऽस्तीति नाव्याप्तिरित्यर्थः । अत्र चाप्रमाव्यतिरिक्तं सर्वं लक्ष्यसमानयोगक्षेमम्, पराभिमतपरतस्त्वव्यतिरिक्तस्वतस्त्वस्य विवक्षितत्वात् । श्लोकविवरणयोः प्रमापदस्य प्रकृतोपयोगमात्रनिबन्धनत्वात् । अत एव वक्ष्यमाणानुमाने पटादीनां सपक्षीकरणम् । एवं च सति पटादिष्वव्याप्तिपरिहारार्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वग्रहणमिति द्रष्टव्यम् । स्पष्टार्थं वा विज्ञानग्रहणम् । प्रमायामुक्तस्वतस्त्वसद्भावेऽनुमानमाह श्लोकेन—प्रमेति । अत्र जायत इत्यन्ता प्रतिज्ञा, अप्रमातो व्यतिरिक्तत्वादिति हेतुः । अतिरिक्तसामग्रीजन्या न भवतीत्युक्ते बाधः । यत्किंचिद्व्यतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वात्तदर्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । तावत्युक्ते परतस्त्वेऽप्युपपद्यमानतयार्थान्तरता तदर्थमुत्तरं विशेष्यग्रहणम् । ईश्वरज्ञाने विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वाभावलक्षणं साध्यमस्ति, न च ज्ञानत्वानधिकरणत्वरूपोपाधिः; अतः साध्याव्याप्तेरनुपाधिरित्याह—ईश्वरेति । ननु तर्हि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः, तथा चेश्वरज्ञानेऽपि विद्यमानत्वान्न साध्याव्याप्तिरिति तत्राह—नापीति । नायमुपाधिर्व्यतिरेके सोपाधिकतया साध्यव्यापकत्वादित्याह—यज्ज्ञानेत्यादिना । ईश्वरप्रमायां चाप्रमात्वस्य व्यतिरेकसिद्धिः । न चाप्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति प्रमातिरिक्तत्वात् पटवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । दोषान्वयव्यतिरेकबाधात्; प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या अप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । विपक्षे बाधकं तर्कमाह—विपक्षे चेति । यत्तु पूर्व-

---

कहा करते हैं । यह लक्षण अव्याप्त भी नहीं; क्योंकि सभी प्रमा व्यक्तियों में अनुगत है । 'ईश्वर-प्रमा जन्य नहीं, अतः उसमें लक्षण अव्याप्त है'—यह सन्देह नहीं करना; क्योंकि ज्ञान-सामग्री-जन्यत्वे सति अतिरिक्त (दोषादि) कारण-जन्यत्वरूप (अप्रमा-वृत्ति) विशिष्ट धर्म का अत्यन्ताभाव ईश्वर-प्रमा में रहता है । यह लक्षण अतिव्याप्त भी नहीं; क्योंकि अलक्ष्यभूत अप्रमा, विज्ञान-सामग्री से जन्य होने पर भी अतिरिक्त दोषादि हेतु से जन्य है । इसमें प्रमाण भी अनुमान है—'प्रमा विज्ञान-सामग्री से जन्य होकर अतिरिक्त कारण से जन्य नहीं, अप्रमा से भिन्न होने के कारण, जैसे—पटादि । यहाँ 'ज्ञानत्वानधिकरणत्वम्' (पटादि में साध्य-व्यापक और प्रमारूप पक्ष में साधन का अव्यापक होने से) उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में साध्य रहने पर भी ज्ञानत्वानधिकरणत्व नहीं, अतः साध्य का व्यापक नहीं । 'ज्ञान-सामग्री की अजन्यता का अभाव' भी उपाधि नहीं बन सकता; क्योंकि 'जो ज्ञान-सामग्री से जन्य है, वह ज्ञान-सामग्री-जन्य होकर अतिरिक्त कारण से जन्य है, जैसे अप्रमा—इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति में 'अप्रमात्व' ही उपाधि है (साध्य का निश्चय है—अप्रमा में, वहाँ अप्रमात्व है ही, अतः साध्य का व्यापक है और प्रमा में ज्ञान-सामग्री-जन्यत्व रूप साधन के रहने पर भी अप्रमात्व नहीं, अतः साधन का अव्यापक है) । विपक्ष में बाधक तर्क यह है—'विज्ञान-सामग्री-मात्र से ही प्रमा की उत्पत्ति सम्भव होने पर उससे

हेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वात्पटवत्’इति योऽयमुदयनस्य परतस्त्वेऽपि प्रयोगः सोऽपि परास्तः। प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति प्रतिसाधनग्रस्तत्वाच्च। न च प्रमात्वस्य विज्ञानसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वादप्रमाज्ञानवृत्तित्वं स्यादिति वाच्यम्; तत्र प्रयोजकाभावादेव प्रयोज्यस्याप्रसक्तेः। दोषासहकृतज्ञानसामग्रीप्रयोज्यं हि प्रमात्वम्, तत्र दोषस्यैव सद्भावात् कथं प्रमात्वस्य वर्तमानत्वसंभावनापि समुद्भवेत्? दोषस्याप्रमाहेतुत्वे तदभावस्य गले पादुकान्यायेन प्रमां प्रति हेतुत्वं स्यादिति चेत्; स्यादेवं यद्यनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणत्वावेदकौ स्याताम्, तौ तु विरोध्यप्रमाप्रतिबन्धकत्वेनोपक्षीणौ न कारणमात्रत्वमावेदयतः। तथा चाहुर्भट्टपादाः—

‘तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः’ ।। इति। (श्लो०वा० २।६५)

पक्षे परतस्त्वेनानुमानमुदयनीयमुक्तं तत्रापि गौरवतर्कपराहत्याशङ्कितोपाधितामतिदिशति—एतेनेति। सत्प्रतिपक्षतां चाह—प्रमेत्यादिना। ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वानधिकरणत्वमात्रसाधने दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्। अतिरिक्तदोषजन्यत्वादप्रमायास्तन्निवृत्त्यर्थं दोषातिरिक्तेत्युक्तम्। दोषातिरिक्तजन्या न भवति इत्युक्ते बाधस्तदर्थमुत्तरं विशेषणम्। दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्यत्वं दोषजन्यत्वाद्वा? ज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्यत्वाद्वा? नाद्यः; प्रमायामुभयानभिमतं हि तत्। द्वितीयेऽभीष्टसिद्धिः। न च सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै प्रथमं विशेषणम्; अनधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात्। न चाप्रमात्वमुपाधिः; ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः। यत्तु स्वतस्त्वे बाधकतर्कः उक्तः, विज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वे ज्ञानत्ववदप्रमाणवृत्तित्वमपि स्यादिति तत्परिहरति—न चेति। प्रयोजकमेव दर्शयन् तदभावं दर्शयति—दोषेत्यादिना। अत्रापि पूर्वपक्षोक्तं स्मारयति—दोषस्येति। नान्वयव्यतिरेकमात्रात्कार्यकारणभावावसायः। माभूद्धूमपैङ्गलयोस्तथाभावः, स्तोऽन्वयव्यतिरेकाविति। किंत्वनन्यथासिद्धाभ्याम्। न चात्र तथाविधाविति परिहरति—स्यादेवमिति। प्रमोत्पत्तौ या विरोधिन्यप्रमा तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकविषयावित्यर्थः। यथा च न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, तथोपरितनवादे विवरिष्यते। यत एवं स्वतःप्रामाण्यं तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभाव एव परं जायते, न तु प्रमाणोत्पत्तिः। ननु तर्हि दोषाभावादेव भवतु प्रामाण्यम्, तथापि सैव परतःप्रामाण्यपिशाचिका विशेदिति तत्राह—तदभावत इति।

अतिरिक्त गुण या दोषाभाव को कारण मानने पर गौरव-प्रसङ्ग होगा।’ इसीसे ही ‘प्रमा, विज्ञान-हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन है, कार्य होने से, पट के समान’—यह उदयनाचार्य का परतस्त्व-साधक प्रयोग निरस्त हो जाता है। और यहाँ—‘प्रमा, दोष-भिन्न, ज्ञान-कारण-अतिरिक्त, हेतु से जन्य नहीं; ज्ञान होने से जैसे—अप्रमा’—यह सत्प्रतिपक्ष भी है। यह जो कहा था कि विज्ञान-सामग्री-मात्र से प्रयोज्य होने पर प्रमात्व, अप्रमा में भी वृत्ति हो जायगा। वह कहना उचित नहीं; क्योंकि अप्रमा में प्रयोजक न रहने से प्रयोज्य (प्रमात्व) भी कैसे रहेगा? अर्थात् दोष-रहित ज्ञान-सामग्री से प्रयोज्य माना जाता है—प्रमात्व, अप्रमा में तो दोष ही विद्यमान होता है, वहाँ प्रमात्व के वृत्तित्व की सम्भावना कैसे होगी? ‘दोष को अप्रमा का हेतु मानने पर दोषाभाव को प्रमा का हेतु विवश होकर मानना होगा’—यह कहना भी असंगत है; क्योंकि कारणता (हेतुता) के निश्चायक होते हैं अन्यथासिद्धि-शून्य अन्वय-व्यतिरेक। (दोषाभाव में प्रमा का अन्वय-व्यतिरेक होने पर भी, दोषाभाव वैसे ही अन्यथासिद्ध है, जैसे घट के प्रति दण्डरूप)। अर्थात् प्रमा का विरोधी है—अप्रमा। अप्रमा का प्रतिबन्धक है—दोषाभाव, अतः उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक हो जाता है, एतावता दोषाभाव में कारणता नहीं आ सकती। कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट कहा है—“गुणों से दोषाभाव और दोषाभाव से ‘मिथ्यात्व तथा संशय रूप’—दो प्रकार की अप्रमा के असत्त्व का

नन्वेकस्यापि दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वं प्रमाहेतुत्वं च किं न स्यात् ? एकस्यापि संस्कारस्यानुभवनाशकत्वस्मृतिहेतुत्वयोरपि दर्शनादिति चेत् , मैवम् ; तत्र संस्कारस्यानुभवनाशकत्वेऽपि स्मृतेः संस्कारातिरिक्तकारणान्तरानिरूपणात् , उभयहेतुताया अवश्याश्रयणीयत्वात् । न च तत्रापि संस्कारनाशात्स्मृतिः किं न स्यादितिवाच्यम् ; स्मृतिसमुदयव्यतिरेकेण संस्कारनाशस्यैवासंभवात् । प्रकृते तु ज्ञानसामग्रीत एव प्रमोद्भवसंभवे दोषाभावस्यापि तद्धेतुत्वकल्पना निष्प्रामाणिका । तस्मात्प्रमा विज्ञानसामग्रीमात्रादेव जायत इति सिद्धम् ।

तथा प्रमाज्ञप्तिरपि विज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव । न च तथात्वे विज्ञान इव प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयानुदयप्रसङ्गः ; स्वतःप्रमाणत्वेन भवदभिमतधर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च स्फुरत्यपि सुगतमतानुसारिणामप्रमाणमेवेति विपर्यासदर्शनात् , स्वतःप्रमाणत्वेन भवदङ्गीकृतानुमित्या-

---

दोषाभावादप्रामाण्यद्वयस्य मिथ्यात्वसंशयत्वलक्षणस्यासत्त्वमेव जायते, अनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्यस्यानाद्यभावतया दोषादुत्पत्त्यसंभवेन तदभावेनाभावस्याप्यसंभवात् तेन कारणेनोत्सर्गो ज्ञानसामग्रीमात्रप्रयुक्तत्वलक्षणोऽनपोदितः अपोदितो न भवतीति भट्टवार्तिकार्थः ।

भवतु दोषाभावस्य विरोधिप्रतिबन्धकत्वम् , तथापि किमायातं प्रमानुत्पादकत्वे ? नहि संस्कारस्य स्वजनकानुभवविनाशकत्वमित्येतावता स्मृतिं प्रति हेतुत्वमपनीयत इत्याशङ्क्य वैषम्येण परिहरति—नन्वित्यादिना । ननु किमिति तत्र कारणान्तरानिरूपणम् ? यावता संस्कारनाश एव स्मृतिकारणं भवत्विति । नेत्याह—न च तत्रापीति । नित्यद्रव्येषु गुणनाशस्य गुणान्तरोत्पादनियतत्वादिति भावः । एवं तत्रानन्यगतिकत्वमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह—प्रकृते त्विति । एतेनाप्रामाण्ये दोषाणामन्यथासिद्धिरुदयनापादितापोदिता । तत्र हेत्वन्तराभावादभावहेतुताया निरस्तत्वादिति । न च सामग्र्यैक्ये ज्ञानप्रमालक्षणकार्यभेदानुपपत्तिर्बाधिका ; एकस्मादप्यग्निसंयोगात्पार्थिवपरमाणौ रूपरसगन्धस्पर्शदाहादीनां बहूनामङ्गीकारात् । प्रागभावभेदस्य च तदभावे कार्याभावलक्षणव्यतिरेकाभावादकारणत्वात् ।

उत्पत्तिस्वतस्त्वमुपसंहृत्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वमपि निर्वक्ति—तथा प्रमेति । यत्तत्राप्युक्तं विज्ञानग्राहकसाक्षिमात्रग्राह्यत्वेन प्रामाण्यस्य संदेहो न स्यात्, ज्ञानवदेव निर्णीतत्वादिति तत्परिहरति—न चेति । तथा हि भवतां

निश्चय होता है, अप्रमारूप विरोधी के न आने से स्वतःप्राप्त प्रमात्व अबाधित रहता है ।" यदि शङ्का हो कि एक ही दोषाभाव, अप्रमा का प्रतिबन्धक और प्रमा का हेतु वैसे ही क्यों न मान लिया जाय ? जैसे कि एक ही संस्कार, अनुभव का नाशक और स्मृति का हेतु देखा जाता है । तो यह शङ्का युक्त नहीं ; क्योंकि संस्कारों में अनुभव की नाशकता रहने पर भी स्मृति के प्रति संस्करातिरिक्त और कोई हेतु न बन सकने के कारण स्मृति की भी हेतुता माननी ही पड़ती है । यदि कहा जाय कि संस्कारातिरिक्त संस्कार-नाश को स्मृति का हेतु क्यों न मान लिया जाय । तो यह कहना उचित नहीं ; क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति के बिना संस्कार का नाश ही असम्भव है । (अतः संस्कारों में अगत्या अनुभव की नाशकता और स्मृति की हेतुता–दोनों मानने पड़ते हैं) किन्तु प्रकृत में केवल ज्ञान की सामग्री से ही प्रमा की उत्पत्ति सम्भव है, दोषाभाव में प्रमा-हेतुत्व की कल्पना अप्रामाणिक है । अतः प्रमा विज्ञान-सामग्रीमात्र से ही उत्पन्न होती है—यह सिद्ध हो गया ।

उसी प्रकार प्रमा की ज्ञप्ति (ज्ञान) भी विज्ञान की प्रकाशक सामग्री से ही होती है—(यही ज्ञप्ति-गत स्वतस्त्व है) । यह जो कहा था कि विज्ञान-प्रकाशक से प्रकाश हो जाने पर 'प्रमा ? अप्रमा वा ?' संशय वैसे ही नहीं होगा, जैसे ज्ञान में 'ज्ञान हुआ ? या नहीं ?'—यह संशय नहीं होता । वह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि आप (नैयायिक) जिस (धर्मिज्ञान तथा अनुव्यवसाय) को

दावपि ज्ञायमानायां चार्वाकस्य प्रामाण्ये विप्रतिपत्त्युपलब्धेः । स्वरूपभेदवादिनां च गृह्यमाणेऽपि स्थाणोः स्वरूपे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदेहस्य पुरुष एवेति विपर्ययस्य चोपलम्भात् । सत्यपि प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्धकदोषादिसमवधानात्तत्र संशयविपर्यासयोरुपपत्तौ प्रकृतेऽपि समं समाधानमन्यत्राभिनिवेशात् । नच ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यग्रहणे मिथ्यारजतादिबुद्धिषु प्रामाण्यग्रहणप्रसङ्गः ; प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्य कारणदोषावगमबाधबोधाभ्यामपनयात् । न च ताभ्यामपनये तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहणहेतुत्वोपपत्तौ परतःप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम् ; दोषबाधबोधयोरनुदयमात्रेण प्रामाण्यस्फुरणोररीकरणात् । तथाचाहुर्भट्टपादाः—

धर्मिमात्रज्ञानं स्वत एव प्रमाणम्, सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तमिति स्वीकारात् । तथानुव्यवसायज्ञानप्रामाण्यमपि तत्तज्ज्ञानस्फुरणसमय एव स्फुरति, तथापि तत्र बौद्धानां धर्मधर्मिभावाद्यपलापाय बहिष्ठारोपवादिना स्वप्रकाशज्ञानरुचीनामप्रामाण्यबुद्ध्या विपर्यासः, तथानुमित्युपमित्योश्च भवदभिमतस्वाभाविकमानभावोश्चार्वाकवैशेषिकयोर्विपर्यासः । यथा वा प्राभाकरार्कबन्धुप्रभृतीनां स्वरूपभेदवादिनां स्वरूपे स्फुरत्यपि भेदाग्रहात् संदेहविपर्ययौ तथात्रापि किं न स्यातामित्यर्थः । समाधानसाम्यं दर्शयितु तन्मुखेनैव समाधानमुद्भावयति—**सत्यपीत्यादिना** । प्रतिभासस्य पुष्कलकारणे सत्यापि प्रबलप्रतिबन्धकवशात् तत्र तत्र संशयाद्युत्पत्तिरत्रापि समानेत्यर्थः । यत्तु ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तेन बाधकमुक्तं तत्परिहरति—**न चेति** । हेतुमाह—**प्रसक्तस्यापीति** । ननु कारणदोषज्ञानबाधकज्ञानाभ्यां चेत्प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्यापनयस्तर्हि तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुत्वं स्यादिति युक्तमिति तत्राह—**न च ताभ्यामिति** । न वयमप्रामाण्यज्ञाने करणदोषज्ञानबाधकज्ञानवत्प्रामाण्यावगमे तयोरभावज्ञानं कारणमाश्रयामहे, अपि तु तज्ज्ञानानुदयमात्रम्, तेन न परतःप्रामाण्यापत्तिरित्यर्थः । उररीकरणं स्वीकारः । दोषाभावादिज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुताऽभावं भट्टाचार्यवचनेन द्रढयति—**तथा चाहुरिति** । यदा स्वतःप्रमाणत्वमस्याश्रीयते तदान्यज्ज्ञानग्राहकातिरिक्तं

स्वतः प्रमाण मानते हैं, उसमें भी बौद्धों को 'अप्रमा ही है'—ऐसा विपर्यय होता है। इसी प्रकार प्रमात्वविषयक अनुमित्यादि में भी आप प्रमात्व का स्वतः ज्ञान मानते हैं, उनकी प्रमाणता में भी चार्वाक को विप्रतिपत्ति होती है । ऐसे ही भेद को वस्तु का स्वरूप मानने वाले प्राभाकर के मत में स्थाणु के स्वरूप का ग्रहण होने पर भी 'स्थाणु है ? या पुरुष ?'—यह सन्देह तथा 'पुरुष ही है'—यह विपर्यय देखा जाता है । (इसी प्रकार हमारे प्रमात्व का स्वतः ग्रहण होने पर भी 'प्रमा है ? या अप्रमा ?' यह सन्देह क्यों नहीं बनेगा ? । यदि कहा जाय कि उक्त दृष्टान्तों में तो ज्ञान की पुष्कल सामग्री रहने पर भी प्रबल प्रतिबन्धक (दोष) के कारण संशय और विपर्यय बन जाते हैं ; तो हमारे मत में भी वही समाधान किया जा सकता है । यह जो कहा था कि ज्ञान के ज्ञापक से ही प्रमात्व का ज्ञान होने पर मिथ्या रजतादि ज्ञानों में भी प्रमात्व का ग्रहण होने लगेगा । वह कहना भी संगत नहीं ; क्योंकि हम मानते हैं कि मिथ्या रजतादि ज्ञानों में स्वतः प्राप्त प्रमात्व-ग्रहण, कारण में दोष-दर्शन एवं बाधक ज्ञान से हटा दिया जाता है । 'कारण-गत दोष—दर्शन तथा बाधक ज्ञान—इन दोनों से प्रमात्व का अपनय मानने पर उन दोनों के अभावों का ज्ञान प्रमात्व-ग्रह का हेतु बन जायगा फिर तो परतः प्रामाण्यवाद की आपत्ति होगी—यह सन्देह भी नहीं करना चाहिए ; क्योंकि दोष-ज्ञान और बाधक-बोध—इन दोनों के अनुदय मात्र से प्रमात्व का स्फुरण माना जाता है । (अर्थात् दोषादि के ज्ञान से मिथ्यात्व उत्पन्न होता है, जो कि प्रमात्व का घातक है । दोषादि का ज्ञान न होने से मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं होता, अतः प्रमात्व अबाधित रह जाता है) । जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—'जब कि 'प्रमात्व' स्वतः ही गृहीत होता है, तब उसके

'यदा स्वतःप्रमाणत्वं तदान्यन्नैव मृग्यते ।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः' ॥ इति (श्लो० वा० २।५२)

अन्यथा तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यस्फुरणंहेतुत्वेन तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यावगमाय तत्तदभावावगमान्तराणामप्यवश्याश्रयणीयत्वादनवस्था, तथा चानभ्यासदशायां सांशयिकत्वादिति हेतोः स्पष्टमनैकान्तिकत्वम् । स्वतःप्रमाणत्वेन भवदभिमतेष्वेवानुमानोपमानानुव्यवसायधर्म्यध्यवसायेषु व्यभिचारस्य दर्शितत्वात् । उक्तं चैतदनुमानादेः स्वतःप्रामाण्यमाचार्यैवाचस्पतिना न्यायवार्तिकटीकायाम् "विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यदि पुनरेवं नाभविष्यन्न समर्थां प्रवृत्तिमकरिष्यत्, यथा प्रमाणाभास इति व्यतिरेकी ।

नैव मृग्यते । ननु दोषाभावज्ञानमतिरिक्तं मृग्यत इति तत्राह—**निवर्तत इति** । दोषज्ञानानुदयमात्रात् अयत्नतो मिथ्यात्वशङ्का निवर्तत इत्यर्थः । नच दोषज्ञानानुदयमादायैव परतस्त्वापत्तिरिति वचनीयम् ; विरोधिबुद्ध्युदयप्रतिबन्धकतयैव कृतसमाधानत्वात् । दोषाभावावगमस्यापि प्रामाण्यहेतुत्वेऽनवस्थाबाधकमाह—**अन्यथेति** । येन हि दोषाभावज्ञानेनाद्यस्य प्रामाण्यमवगम्यते, तत्प्रामाण्यावगमार्थमपि दोषाभावज्ञानान्तरं गवेषणीयम् । एवंकारमुपर्यपीत्यनवस्थेत्यर्थः । यत्तु ज्ञप्तिपरतस्त्वेऽनुमानमुदयनीयम्, तत्राप्युक्तं दूषणमतिदिशति—**तथा चेति** । तथा चेत्येतदेवोद्घाटयति—**स्वतःप्रमाणत्वेनेति** । ननु यद्यनुमानादि स्वतःप्रमाणमिति परैरङ्गीकृतं स्यात् स्यादयं मनोरथस्तदेव तु कुत इति तत्राह—**उक्तं चैतदिति** । प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति प्रथमभाष्यव्याख्यानावसर इति शेषः—**समर्थप्रवृत्तीति** । फलाभिसन्धिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यर्थः । व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति—**यदि पुनरेवमिति** । अभविष्यदिति च क्रियातिपत्तौ लृङो रूपम् । अत्र चोपेक्षाज्ञानानां पक्षत्वेनानुपादानान्न भागासिद्धिः । व्यतिरेकी सर्वत्र सपक्षाभावमभ्युपेत्य वर्तत इति नासाधारणानैकान्तिकता । ननु नास्त्येव वादी यः प्रामाण्यनिश्चये विप्रतिपद्येत । नहि प्रामाण्यं स्वीकृत्य तन्निश्चये विप्रतिपत्तिः ; स्वीकारस्य निश्चयमूलत्वात् । नाप्यस्वीकृत्य ; प्रमाणशून्यविप्रतिपत्तेः सर्वत्र सुलभतया सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गात् । अनिश्चिते तु प्रामाण्ये तदतद्रूपसंदेहोपि क्वचिद्दुर्लभः ; विशेषस्मृतेरभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्च संशयानाम् । नापि सर्वत्राप्रामाण्यप्रसञ्जनम् ; प्रामाण्यग्रहणोपायनिराकरणस्याप्रामाण्येपि तुल्यत्वात्तदस्ति प्रामाण्यादिकं तन्निश्चयश्च, तदुपायस्तच्चिन्तामर्हति । एवंचान्वयोऽस्त्येव तत्कथं केवलव्यतिरेकीत्याशङ्क्य संप्रत्युत्तरमाह—**अन्वयव्यतिरेकीति** । नन्वनुमान-

ग्रहण के लिए अन्य सामग्री की अपेक्षा ही नहीं । दोषादि-ज्ञान के अनुदयमात्र से मिथ्यात्व की आशङ्का अनायास निवृत्त हो जाती है ।' अन्यथा (दोषाभाव-ज्ञान को भी प्रमात्व-ग्रह का हेतु मानने पर) प्रमात्व-ग्राहक दोषाभाव-ज्ञान में प्रमात्व का ग्रहण करने के लिए दूसरे दोषाभाव-ज्ञान की अपेक्षा और इस दोषाभाव-ज्ञान में प्रमात्व-ग्रहण के लिए तीसरे दोषाभाव-ज्ञान की, इस प्रकार अनवस्था होगी । उदयनाचार्य के परतस्त्व-साधक (प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात्, अप्रामाण्यवत्) अनुमान में 'अनभ्यासदशायां सांशयिकत्व' हेतु स्पष्ट व्यभिचारी है । स्वतः प्रमाणत्वेन नैयायिकाभिमत अनुमिति, उपमिति, अनुव्यवसाय और धर्मिज्ञान में व्यभिचार पहले ही दिखाया जा चुका है । अनुमिति आदि में स्वतः प्रामाण्य आचार्य वाचस्पति ने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में (पृ० ५ पर) कहा है—'विवादास्पद ज्ञान, अर्थाव्यभिचारी है, सफल प्रवृत्ति का जनक होने से, यदि ज्ञान वैसा (अर्थाव्यभिचारी) न होता तो सफल प्रवृत्ति को जन्म नहीं दे सकता था, जैसे-प्रमाणाभास'—यह व्यतिरेकी अनुमान । अथवा अन्वयव्यतिरेकी भी हो सकता है; क्योंकि अनुमिति स्वतः प्रमाण है, अतः उसमें अन्वय सम्भव है । इसी प्रकार मिश्रजी ने वहीं (पृ० १२, १३ पर) कहा है—"अनुमानस्य तु प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गजन्मनोऽन्यस्य वा निरस्तसमस्तव्यभिचाराशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात् ।" (सफलप्रवृत्तिरूप लिङ्ग से

वा। अनुमानस्य स्वतःप्रमाणतया अन्वयस्यापि संभवात्।" तथा—"अनुमानस्य तु परितो निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्।" "एतेनोपमानं व्याख्यातम्" इत्यादि। सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्च—विवादस्थले प्रमात्वं विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यं अप्रमामात्रवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ज्ञानैकवृत्तिजातित्वात् ज्ञानत्ववत्।

ननु कथं प्रमात्वम् जातिः ? साक्षात्कारित्वेन तस्य परापरभावासंभवात्। तथा हि—यदि साक्षात्कारित्वं परम्, तदा तदपरसामान्यस्य प्रमात्वस्य परसामान्याविनाभावनियमात्सर्वैव प्रमा साक्षात्कारिण्येवेत्यनुमानादेः परोक्षस्याप्रमात्वमेव भवेत्। अथापरम्,तदा साक्षात्कारित्वस्य

मेव कथं स्वतःप्रमाणं यद्दृष्टान्तादन्वयित्वमित्याशङ्क्य तत्रापि तदीयमेव ग्रन्थं पठति—तथानुमानस्येति। परितः सर्वप्रकारेण निरस्ता समस्तविभ्रमाशङ्का यस्येति विग्रहः। अनुमेयेनाग्न्यादिना यल्लिङ्गमव्यभिचारि तेनोत्पन्नत्वात्। प्रत्यक्षज्ञानं ह्यर्थादुत्पद्यमानमपि न गृहीताव्यभिचारादुत्पद्यते, अपि तु सत्तामात्रेणावस्थितादेव। एवमिन्द्रियादीन्यपि न गृहीताव्यभिचारीणि, व्यभिचारीणि वा अर्थेन, शाब्दज्ञानं तु नार्थादुत्पन्नम्। न च शब्दस्यार्थाव्यभिचारस्तस्मान्न तयोः स्वतोऽव्यभिचारग्रहणमिति। प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयत्वं वा अर्थाव्यभिचारायानुसरणीयम्। अनुमानोपमानानुव्यवसायधर्मिज्ञानानां धर्मिज्ञाने स्वत एव तत्, व्याप्तिपक्षधर्मत्वग्राहकेणैवानुमाने, कारणतः स्वरूपतश्च व्यभिचाराशङ्कानिरासात्, उपमानेऽप्यतिदेशवाक्यसादृश्यज्ञानयोः प्रामाण्यावधारणेन तन्निरासादनुव्यवसायेऽप्यज्ञातानुव्यवसायादित्यर्थः। एवमनैकान्तिकतामुक्त्वा सत्प्रतिपक्षतामप्याह—**सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्चेति**। **विवादस्थल इति**। अनुमित्यादिव्यतिरिक्तस्थल इत्यर्थः। इतरथांशतः सिद्धसाधनतापातादिति, परतःप्रामाण्यवादिनोऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै मात्रग्रहणम्। गुणत्वादिव्यभिचारवारणाय ज्ञानैकवृत्तीत्युक्तम्। अप्रमात्वसंशयत्वादिव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमप्रमावृत्तित्वानधिकरणेत्युक्तम्। साधनवैकल्यनिवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम्। प्रमामात्रवर्तिना प्रमान्यान्यत्वादिना व्यभिचारनिवृत्त्यर्थं जातिग्रहणम्। तस्यान्योन्याभावत्वेन प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वेन विवक्षितत्वात्।

उदयनीयां विशेष्यासिद्धिं शङ्कते—**ननु कथमिति**। साक्षात्कारित्वप्रमात्वयोः परापरभावाभावं स एवोपपादयति—**तथाहीत्यादिना**। अत्र साक्षात्कारित्वं किं परं व्यापकं प्रमात्वमपरं व्याप्यमिति मतम्? विपरीतं वा? नाद्य इत्याह—**यदीति**। साक्षात्कारित्वव्याप्यत्वे प्रमात्वस्य तद्रहितेषु परोक्षेष्वनुमानादिषु प्रमात्वं न स्यादस्ति च तदतो न व्याप्यमित्यर्थः। द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—**अथापरमित्या-**

जन्य अथवा अन्य अनुमिति स्वतः प्रमाण है, साध्याव्यभिचारी लिङ्ग से जन्य होने के कारण उक्त समस्त व्यभिचार शङ्काओं से निर्मुक्त है)। "एतेनोपमानं व्याख्यातम्" (इसीसे उपमिति में भी स्वतः प्रमाणता कह दी गई)। उदयनाचार्य के उक्त अनुमान में सत्प्रतिपक्ष भी है—'अनुमित्यादि से भिन्न विवादास्पद ज्ञान में प्रमात्व, ज्ञान-ग्राहक सामग्रीमात्र से ग्राह्य है, अप्रमामात्र की वृत्तिता की अनधिकरण, ज्ञानमात्र-वृत्ति जाति होने से, जैसे—ज्ञानत्व।'

शङ्का—प्रमात्व को जाति नहीं कह सकते; क्योंकि साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) के साथ उसका व्याप्यव्यापकभाव सम्भव नहीं। अर्थात् यदि साक्षात्कारित्व पर (व्यापक) है, तब तो उसकी व्याप्य प्रमात्व जाति में उस (साक्षात्कारित्व) का अविनाभाव-नियम मानना होगा (अर्थात् व्याप्य वही होता है, जो व्यापक के बिना न रहे)। तब तो प्रमात्व जाति केवल अपरोक्ष प्रमा में ही रह सकेगी, परोक्ष (अनुमिति-आदि) प्रमा में नहीं, (क्योंकि वहाँ साक्षात्कारित्वरूप व्यापक के न रहने से व्याप्य प्रमात्व कैसे रहेगा ?)। यदि साक्षात्कारित्व को अपर (व्याप्य) माना जाय साक्षात्कारित्वरूप व्याप्य जाति में व्यापकरूप प्रमात्व का अविनाभाव-नियम मानना होगा। तब तो 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष भ्रम में भी प्रमात्व की प्राप्ति होगी, (क्योंकि जहाँ व्याप्य साक्षा-

प्रमात्वाविनाभावादिदं रजतमित्यादिसाक्षात्कारिणो विभ्रमस्य प्रमात्वप्रसङ्गः। किं च यदि प्रमात्वं जातिस्तदा सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इत्येषा परिभाषा परिलुप्येत। एकस्यैवेदं रजतमिति ज्ञानस्य धर्म्यंशे प्रमात्वमप्रमात्वं चेतरांशे इति जातिसङ्करप्रसङ्गादिति चेत्, मैवम्; साक्षात्कारित्वस्य रजतादिविभ्रमावृत्तित्वात्। तत्रतद्व्यवहारस्येन्द्रियसंप्रयोगजन्यतोपाधिमात्रेणोपपत्तेः, धर्म्यंशे प्रमाव्यवहारस्य चाबाधितानुभूतित्वोपाधिनिबन्धनतयापि संभवात्। न चैवं सर्वत्रोपाधिनिबन्धन एवास्तु प्रमाव्यवहारः, कृतं जातिकल्पनयेति वाच्यम्;

दिना। यदि हि साक्षात्कारित्वं प्रमात्वावान्तरजातिस्तदा तद्रहितेषु विभ्रमेषु साक्षात्कारित्वं न स्यात्; यदि स्यात्तर्हि तद्व्यापकं प्रमात्वमपि स्यादित्यर्थः। ततः परापरभावशून्ययोरेकत्र वृत्तौ सङ्करः स्यात्स च जातिबाधकः यथा वक्ष्यति—सङ्कर इति। सङ्करान्तरमाह—**किंचेति**। यदि प्रमात्वं जातिस्ततो जातिसङ्करपरिहाराय विभ्रमेष्वप्रमात्वाधिकरणेषु सा नेष्टव्या, ततश्च सर्वज्ञानानां धर्म्यंशे प्रामाण्यं प्रकारे रजतादौ विपर्यय इति यौक्तिकपरिभाषा निरर्थका स्यादित्यर्थः। साक्षात्कारित्वमपरं प्रमात्वं परम्, विभ्रमेषु न साक्षात्कारित्वं व्यवहारस्तु औपाधिकस्ततो न जातिसङ्कर इति परिहरति—**मैवमिति**। प्रमात्वाप्रमात्वसङ्करं परिहति—**धर्म्यंशे इति**। न चाबाधितानुभूतित्वसंभवे तद्व्यङ्ग्या जातिरपि तत्र भवेदिति वाच्यम्। प्रसाधने सङ्करबाधात्, प्रसञ्जने विपर्ययपर्यवसानात्। न तावदिदं प्रयोजकं मीमांसकानां यथाह सूत्रकारः—'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण'मिति। तथा तद्भाष्यकारोऽपि—'असन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञान'मिति। संशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानानि स्वतदतिरिक्तवृत्तित्वानधिकरणजातिमन्ति जातिमत्त्वात्संप्रतिपन्नवदिति च प्रमात्वजातावनुमानम्। अत्र चैतदवसेयम्। परसिद्धान्तमाश्रित्यैवं जातिसङ्करपरिहार इति। यतः—

'विज्ञानत्वमधिष्ठानधियामारोपितेषु यत्। अविद्यापरिणामत्वाद्विज्ञानाभासता मता॥
तेन यत्तत्र विज्ञानं तत्प्रमाणमुपेयते। अप्रमाणं न विज्ञानं तत्क सङ्करसंभवः॥'

ननु तर्हि सर्वमेव ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं च ज्ञानाभास इति ज्ञानस्य परतोऽप्रामाण्यमिति वचसः कोऽर्थः? न कोपि। विज्ञानं परतः प्रमाणं अपि तु स्वत इत्येतावदुपपादनीयम्, अथवा अप्रामाण्यं परत इत्यस्यैवायं पर्यवसितोऽर्थः यद्विज्ञानव्यतिरिक्तसमवाय्यप्रामाण्यमिति। सामग्रीभेदस्य कार्यभेदनियमात् अप्रमायाश्च ज्ञानविशेषत्वस्यासिद्धेरिति। न च सर्वप्रत्ययानां यथार्थत्वेऽख्यातिमतापातः, अविद्यापरिणामरूपभ्रमारोप्ययोरङ्गीकारेण ततो विशेषादिति। नन्वेकत्रोपाधिनिबन्धश्चेत्प्रामाण्यव्यवहारः सर्वत्र तन्निबन्धनः एवं भवतु किमित्यर्धजरतीयं कल्प्यत इति तत्राह—**न चैवमिति**। तत्र किं कल्पकं नास्तीत्युच्यते?

त्कारित्व है, वहाँ व्यापक प्रमात्व को रहना हीं होगा)। (इस प्रकार व्याप्यव्यापकभाव-रहित साक्षात्कारित्व और प्रमात्व का एकत्र समावेशरूप साङ्कर्य हो जाने से प्रमात्व को जाति नहीं कह सकते)। दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रमात्व को जाति मान लें, किन्तु उसे अप्रमा में, जाति-साङ्कर्य के भय से रख नहीं सकेंगे; तब तो 'सभी ज्ञान धर्मी अंश में प्रमा, केवल धर्म अंश में ही अप्रमा होते हैं—यह परिभाषा लुप्त हो जायगी, (अर्थात् इस परिभाषा के आधार पर 'इदं रजतम्'—यह अप्रमा ज्ञान भी शुक्तिविषयकत्वेन प्रमा माना जाता है, किन्तु उसमें प्रमात्व का सर्वथा अभाव होने पर उसे प्रमा कैसे कहेंगे?)। यदि अप्रमा में भी प्रमात्व मान लें, तब तो 'इदं रजतम्' इस एक ही ज्ञान में धर्मिविषयकत्वेन प्रमात्व और धर्मविषयकत्वेन अप्रमात्व रह जाने से जाति-सङ्कर हो जायगा।

समाधान—(साक्षात्कारित्व को व्याप्य और प्रमात्व को व्यापक मानने में कोई दोष नहीं; क्योंकि) रजतादि भ्रम में साक्षात्कारित्व रहता ही नहीं कि वहाँ प्रमात्व की प्रसक्ति हो। वहाँ (भ्रम में) साक्षात्कारित्व का व्यवहारमात्र इन्द्रिय-संयोग-जन्यत्वरूप उपाधि के निमित्त से हो जाता है। प्रमात्व भी भ्रम में नहीं रहता; धर्मी अंश में अबाधितानुभूतित्वरूप उपाधि के निमित्त से प्रमात्व का व्यवहारमात्र हो जाता है। 'सर्वत्र उपाधि के निमित्त से ही प्रमा-व्यवहार बन जायगा,

प्रमिणोमीत्यबाधितानुगतव्यवहारस्य गौर्गौरिति व्यवहारस्येव जातिमन्तरेणानुपपत्तेः। उपाधिमादाय जातिप्रत्याख्यानस्य गोत्वादिष्वपि तुल्यत्वात्। तस्माद्यत्र—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः' ॥

अन्यथासिद्धिर्वा ? प्रथमे प्राह—प्रमिणोमीति। एष ह्युत्सर्गः यदनुवृत्तव्यवहारस्यानुवृत्तालम्बनमिति, तच्चेत्कथमपि दुःसंपादम्, तदाऽगत्यैवाश्रीयते साधारणशब्दता यथाक्षादीनाम्। संभवति चेहानुवृत्तोऽर्थः तत्रापि वक्ष्यमाणबाधकाभावे जातित्वमेवेति भावः। द्वितीये प्राह—उपाधीति। यदि हि संभवेप्युपाधिना जातिप्रत्याख्यानं तदा गोत्वादिष्वप्यनाश्वासः स्यात् तत्तद्व्यञ्जकस्यैवोपाधेः संभवादित्यभिप्रायः। ननु तर्हि पाचकादावपि किमिति जातिर्न कल्प्यते ? अस्तिहि अनुवृत्तप्रत्ययत इति तत्राह—तस्मादिति। यत्रैकैव व्यक्तिः यथाकाशत्वादौ, न तत्र जातित्वकल्पना। अनुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वाभावात्, अनेकसमवेतत्वाभावाच्च। तस्य च तल्लक्षणत्वात्। तथा यत्र तुल्यव्यक्तित्वं यथा कुम्भत्वकलशत्वयोः, न तत्रोभयोर्जातित्वं एकयैवानुगतव्यवहारसिद्धेः, इतरथा पर्यायत्वविलयप्रसङ्गात्। तथा यत्र सङ्करप्रसक्तिः परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र स्थितिर्तथा दण्डित्वकुण्डलित्वयोस्तत्रापि न जातित्वम्। प्रथममस्य दूषणत्वं शृणु ! परस्परपरिहारेणैव वर्तमानतयावधृतस्वभावयोरेकत्र प्रतीतिरुत्पद्यमाना 'माता मे वन्ध्ये' तिवत्तद्विरुद्धार्थविषयतया अप्रमाणीभवतीति प्रमाणाभावादेव तदभावः परस्परपरिहारेण वर्तमानयोः सामान्ययोरेकत्र समावेशे तदतज्जातीयविरोधोच्छेदापत्तिश्चेति, तथा यत्रानवस्थाप्रसक्तिः यथा सत्तायाम्, सत्तास्वीकारे तत्रापि न जातिकल्पना। यत्र रूपहानिप्रसक्तिरागन्तुकत्वादिनाऽनित्यत्वहानादिना यथा पाचकत्वादौ, यथा वा विशेषेषु, तत्रापि न जातिकल्पना। यत्र जातिकल्पनायां व्यक्त्या सह संबन्धाभावः, यथा समवाये जातिकल्पनायां समवायाभावात् जातिव्यक्त्योश्च तन्नियमान्न तत्रापि जातिरिति किरणावलीकारसंहितजातिबाधकानां अन्यतमस्यापि यत्राभावस्तत्र जातित्वमितरत्रोपाधित्वमिति खण्डलार्थः। प्रमात्वजातिसमर्थनेऽस्य प्रकृतोपयोगं

'प्रमात्व' जाति की कल्पना ही व्यर्थ है'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि सभी प्रमा व्यक्तियों में 'प्रमिणोमि'—इस प्रकार का अनुगत व्यवहार 'प्रमात्व' जाति के बिना वैसे ही नहीं बन सकता, जैसे कि सभी गो व्यक्तियों में 'गौः'—यह व्यवहार 'गोत्व' जाति के बिना। उपाधि को लेकर जाति का निराकरण तो गोत्वादि में भी समान ही है। [उदयनाचार्य ने किरणावली (पृ. ३३) में जाति या जातित्व के बाधक छह धर्म गिनाये हैं—(१) "व्यक्तेरभेदः" (एक व्यक्ति-वृत्तित्व)। जिस धर्म का आश्रय, एक ही व्यक्ति है, उसे जाति नहीं कहा जाता; क्योंकि जाति नाम है—सामान्य धर्म का। सामान्य का अर्थ है—(समानानां भावः) कई समान पदार्थों का एक धर्म। समानता अनेक पदार्थों में ही होती है; एक में नहीं। आकाश व्यक्ति, एक ही है, अतः उसमें रहने वाले आकाशत्व धर्म को जाति नहीं कह सकते; क्योंकि आकाशत्व में एकव्यक्ति-वृत्तित्वरूप धर्म, जातित्व का बाधक है। (२) "तुल्यत्वम्" (जाति-समनियतत्व)। जो धर्म किसी जाति के तुल्य (समानाश्रय-वृत्ति) होता है, वह जाति नहीं कहलाता। जैसे—'घटत्व' जाति के तुल्य होने के कारण 'कम्बुग्रीवादिमत्त्व' धर्म को जाति नहीं माना जाता। घटत्व और कलशत्व तो भिन्न धर्म ही नहीं, अपि तु अभिन्न हैं। अतः उनमें तुल्यत्व की शङ्का ही नहीं। (३) "सङ्करः" (परस्पर व्यभिचारी धर्मों का एकत्र समावेश)। भिन्न-भिन्न अधिकरणों में रहने वाले धर्म, यदि कहीं एक अधिकरण में रह जायँ; तब उन्हें जाति नहीं कहा जाता। जैसे–भूतत्व और मूर्तत्व परस्पर वियोगी धर्म हैं–आकाश में भूतत्व ही रहता है, मूर्तत्व नहीं एवं मन में मूर्तत्व ही रहता है, भूतत्व नहीं। उन दोनों धर्मों का साङ्कर्य (समानाधिकरणत्व) पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चारों में होता

इत्युक्तवाधकानामन्यतमोपि वाधको न प्रसरति, तत्र जातिनिमित्तो व्यवहार इतरत्र तूपाधिनिबन्धन इति विभागो द्रष्टव्यः । तस्माज्ज्ञानैकनिष्ठजातित्वादिति न विशेष्यासिद्धो हेतुः । विपक्षे चानवस्थाप्रसङ्गो वाधकस्तर्कः । न च निलीनस्यैव प्रमाणस्यार्थे व्यवहारजनकत्वोपपत्तेर्नानवस्थेति वाच्यम् ; तथात्वनिश्चायकप्रमाणानुदये तदस्तित्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात्

अस्तु तर्हि ज्ञानस्य स्वत एव स्फुरणम् , तथापि तत्प्रामाण्यं तद्गतगुणत्वादिवदन्यत एव स्फुरिष्यति को विरोध इति चेत् , मैवम् ; तस्यादित एव प्रमाणत्वेनास्फुरणे तद्विषये निःश-

---

दर्शयितुमुपसंहरति—**तस्मादिति** । ज्ञप्तिपरतस्त्वे वाधकमाह—**विपक्षे चेति** । पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—**नचेत्यादिना** ।

ननु भवतु तदस्तित्वलोभाज्ज्ञानस्य स्वतःस्फुरणम्, प्रामाण्यं तु किमिति न परतःस्फुरतीति प्राभाकरं प्रति पूर्वोक्तं स्मारयति पूर्वपक्षी—**अस्तु तर्हीति** । अर्थे तु निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रथमतः प्रमाणतया स्फुरण एव घटते, नेतरथेति परिहरति—**मैवं तस्यादित इति** । तद्विषये तस्य ज्ञानस्य विषय इत्यर्थः । एतदेव विपक्षे वाधकेन विवृणोति—**नहीति** । मरुभूमिषु मरीचिका मरुमरीचिकाः । नन्वप्रामाण्यस्फुरणादेव तत्र प्रवृत्त्यभावः न प्रामाण्यास्फुरणात् , प्रामाण्यास्फुरणेऽपि प्रवृत्तिर्घटते इति प्रस्तुतं तत्किं केन संगतमिति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । प्रामाण्यास्फुरणे न निःशङ्कप्रवृत्तिरुपपन्नेति परिहरति—**मैवं विज्ञानस्येति** ।

है । अतः भूतत्व और मूर्तत्व—दोनों जाति नहीं कहलाते । कुछ प्राचीन आचार्यों के मत में साङ्कर्य, केवल एक में जातित्व का बाधक होता है ; दोनों में नहीं । (४) "अनवस्थितिः" (अनवस्थापत्ति) । जाति में जाति मानने से अनवस्था दोष होता है, अतः जाति में जाति नहीं रह सकती । (५) "रूपहानिः" (लक्षण-हानि या स्वरूप-हानि) । कुछ विद्वानों का कहना है कि वैशेषिकाभिमत विशेष पदार्थ का लक्षण है—"निस्सामान्यत्वे सति, सामान्यभिन्नत्वे सति, समवेतत्वम् ।" अब यदि विशेष में 'विशेषत्व' जाति मान ली जाय, तब उक्त लक्षण की हानि हो जाती है ; क्योंकि 'विशेषत्व' सामान्य के रहने से 'विशेष' में निस्सामान्यत्व नहीं रह सकता । दूसरे विद्वानों का कहना है कि 'विशेष' का वही (जाति-घटित ही) लक्षण करना अनिवार्य नहीं ; जाति-रहित लक्षण भी हो सकता है । अतः यहाँ रूप-हानि का अर्थ है—स्वरूप-हानि । 'विशेष' का स्वरूप है–विशेषत्व । विशेषत्व का अर्थ है—सजातीय परमाणुओं का विशेषकत्व (व्यावर्तकत्व) । उसमें जाति मान लेने से व्यावर्तकत्व परम्परया जाति में पर्यवसित होगा, जिससे 'विशेष' का व्यावर्तकत्व स्वरूप भङ्ग हो जायगा ; अतः 'विशेष' में विशेषत्वादि जाति नहीं मान सकते । (६) "असम्बन्धः" (प्रतियोगिता या अनुयोगिता अन्यतर सम्बन्ध से समवाय का अभाव) । जाति उसी में रहा करती है, जो समवाय सम्बन्ध से कहीं रहता हो या उसमें कोई समवाय सम्बन्ध से रहता हो, जसे—द्रव्य, गुण और कर्म । 'समवाय' पदार्थ समवाय सम्बन्ध से कहीं नहीं रहता है और न उसमें कोई समवाय सम्बन्ध से रहता है ; अतः 'समवायत्व' को जाति नहीं मान सकते । इस विषय का विस्तार प्रभा और मञ्जूषा (का. ८) में किया गया है] । इन जाति-बाधकों में से जहाँ कोई भी बाधक नहीं, वहाँ जातिनिमित्तक व्यवहार और जहाँ कोई बाधक हो, वहाँ उपाधिनिमित्तक व्यवहार—यह व्यवस्था उचित है । अतः उक्त (ज्ञानैकनिष्ठजातित्व) हेतु के विशेष्य भाग की असिद्धि नहीं । यह जो कहा था कि अज्ञात प्रमा को ही व्यवहार का जनक मान लेने से अनवस्था नहीं होती । वह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि अज्ञात प्रमा में व्यवहार-जनकत्व का निश्चायक प्रमाण न होने से यह निश्चय ही नहीं किया जा सकता कि अज्ञात प्रमा में व्यवहार-जनकत्व है ।

यदि शङ्का हो कि ज्ञान का स्वतः स्फुरण होने पर भी ज्ञान-गत प्रमात्व का स्फुरण, गुणत्वादि के समान भिन्न सामग्री से होने पर क्या विरोध है ? तो यह शङ्का युक्त न होगी ; क्योंकि यदि वह

ङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । न हि ज्ञातमित्येतावता प्रवृत्तिः, मरुमरीचिकादौ सत्यपि विज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चये प्रवृत्त्यदर्शनात् । अस्तु तर्ह्यप्रामाण्यास्फुरणे प्रामाण्यस्फुरणमन्तरेणापि ज्ञानमात्रात्प्रवृत्तिरितिचेत् , मैवम् ; विज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ययोरस्फुरणे संशयान्निःशङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । अस्ति चानाभ्यासदशायां नववनस्थलीस्थितेषु फलितरसालादिषु तत्फलादानेच्छोर्निःशङ्कप्रवृत्तिः । अपि च त्वयापि पारलौकिकफलसाधनेषु निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनाभ्युपगता । न च कृष्यादौ संशयेति प्रवृत्तिर्दृष्टेति वाच्यम् ; तत्र निःशङ्कप्रवृत्तेरभावात् । एवं च यत्र यत्र निःशङ्कप्रवृत्तिः, तत्र तत्र प्रामाण्यनिश्चयाधीनैव सेत्यभ्युपगन्तव्यमपरथा प्रामाण्यानिश्चयान्निवृत्तेरपि प्रसङ्गात् । न च फलेपि परतस्त्वम् ; ज्ञेयाभिव्यक्तिलक्षणफलस्य

ननु ज्ञानोदयसमसमयमेव निःशङ्कप्रवृत्तिः क्व दृष्टा ? यद्बलादिदं साध्यते इति तत्राह—अस्ति चेति । रसाल आम्रः । अपि च त्वयापि पारलौकिकसाधनेषु इहलौकिकेषु अनभ्यासदशापन्नेषु च निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेति स्वीकृता, तत्साम्यात्सर्वनिःशङ्कप्रवृत्तिस्थलेषु शक्यं प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वमनुमातुमित्यभिप्रेत्याह—अपि च त्वयेति । ननु संशयादपि निःशङ्कप्रवृत्तिः कृष्यादौ दृष्टा इति सव्यभिचारः इति तत्राह—न च कृष्यादाविति । एवं पारलौकिकेषु निःशङ्कप्रवृत्तेर्निर्णयपूर्वकत्वस्य च व्याप्तिनिश्चयात् सर्वत्रैवं शक्यानुमानमित्याह—एवं च यत्र यत्रेति । यदि च संशयात्प्रवृत्तिस्तदा संशयस्य कोटिद्वयसमानत्वात्प्रवृत्तिवन्निवृत्तिरपि स्यात् । नचानक्षजत्वाद्वैषम्यम् ; वैधर्म्यमात्रत्वात् । अथाप्रामाण्यानिश्चयान्न निवृत्तिः, प्रामाण्यानिश्चयान्न प्रवृत्तिरित्यपि पश्य ! तस्मान्निःशङ्कप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेत्यभिप्रेत्याह—अपरथेति । यदत्र कुसुमाञ्जलावुदयनेन झटिति प्रचुरसमर्थप्रवृत्तेः स्वतः प्रामाण्यानधीनतामुपपादयतोक्तम्—'झटिति प्रवृत्तिर्ही'त्याद्युपक्रम्य 'इच्छा च प्रवृत्तेः कारणं सा च समीहितोपायताज्ञानमपेक्षते तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवं सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षात् , प्रामाण्यग्रहणं तु न केनाप्यंशेनोपयुज्यते उपयोगेऽपि वा स्वत इति कुत एतदिति ? तदपि तस्करस्य पुरतः कक्षे सुवर्णमपलपतः सर्वाङ्गोद्घाटनमिव, यतः समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छां जनयति' इत्यत्रैव स्फुटः स्वतः प्रामाण्योपयोगः । किं च क्वचिदपि चेत् निःशङ्कसमर्थप्रवृत्तिः संशयादुत्पद्यते, तर्हि सर्वत्रैवं तथाभावसंभवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति प्रामाण्यस्य जलाञ्जलिरेवं वदतः स्यादिति । एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वमुपपाद्य व्यवहृतौ स्वतस्त्वमुपपादयति—न च फलेऽपीति । यदि तावज्ज्ञानानां ज्ञेयाभिव्यक्तिः फलम्, यथाहुः—

ज्ञान, प्रथमतः ही प्रमारूप से प्रकाशित न होगा, तब उसके विषय में निःशङ्क प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । ज्ञात मात्र हो गया, एतावता ही प्रवृत्ति नहीं होती ; क्योंकि मरु-मरीचिका में जल-ज्ञान होने पर भी, उसमें अप्रामात्व का निश्चय होने से प्रवृत्ति नहीं देखी जाती । यदि कहा जाय कि प्रमात्व-स्फुरण के बिना ही केवल ज्ञान मात्र से प्रवृत्ति होती है, हाँ, अप्रमात्व का भान नहीं होना चाहिए (अर्थात् प्रवृत्ति का जनक तो ज्ञानमात्र ही है, उसमें प्रमात्व-निश्चय की अपेक्षा नहीं । उक्त स्थल पर प्रवृत्ति न होने का कारण है—अप्रमात्व का भान । अतः अप्रमात्व का भान न होने पर ज्ञानमात्र से प्रवृत्ति होती है)। तो यह कहना संगत नहीं ; क्योंकि ज्ञान में प्रमात्व या अप्रमात्व किसी का भी निश्चय न होने पर संशय (यह ज्ञान प्रमा है ? या अप्रमा) रहने के कारण निःशङ्क प्रवृत्ति नहीं होगी । अपि च आप (परतः प्रामाण्यवादी) भी परलोक-साधन यागादि में प्रवृत्ति, प्रमात्व-निश्चय के अधीन ही मानते हैं (अतः सब कहीं प्रमात्व-निश्चय से ही निःशङ्क प्रवृत्ति माननी चाहिए)। कृषि-आदि कर्मों में संशय होने पर भी जो प्रवृत्ति देखी जाती है, वह निःशङ्क प्रवृत्ति नहीं । इस प्रकार जहाँ-जहाँ निःशङ्क प्रवृत्ति होती है, वहाँ-वहाँ प्रमात्व—निश्चय के अधीन ही होती है—यह मानना होगा । नहीं तो प्रमात्व का निश्चय न होने से निवृत्ति भी प्राप्त होगी । व्यवहारादि फल में भी परतस्त्व नहीं ; क्योंकि (ज्ञान का फल दो प्रकार का माना जाता है—एक ज्ञेय की

ज्ञानमात्रादेव सिद्धेः। उपादानादीनां पुनरिष्टसाधनादिज्ञानाधीनतया तद्विषयप्रमाणस्य तत्रापि फलजनकत्वं स्वत एव। तस्मादवधीर्यैव गुणगणमनपेक्ष्यैव दोषाभावं स्वशक्त्यैव स्वार्थमावेदयन्ति वेदान्ताः इति सिद्धम।

ननु स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्तां शक्तिमेव न जानीमः, तत्र प्रमाणाभावात्। तथा हि स्फोटादिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्तिस्तत्र प्रमाणम्? उतोपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिः? नाद्यः; स्वरूपादेव पावकादेः प्रतिबन्धकाभावादिसहकार्युपबृंहितात्, स्फोटादिलक्षणकार्योत्प-

---

'ज्ञेयाभिव्यक्तितो यस्मान्न च ज्ञानात्फलान्तरम्।
इष्यते कर्म्यवन्नातस्तदर्थं विधिकल्पना॥'

इति। तच्च फलं ज्ञानमात्रादेव न पुनरन्यनिबन्धनमित्यर्थः। अथोपादानाद्येव सर्वत्र फलं विज्ञानस्य, तच्चेष्टसाधनादिज्ञानाधीनमिति परतस्त्वं पुरस्तादेव वर्णितमिति तत्राह—**उपादानादीनामिति**। न वस्तुमात्रज्ञानफलमुपादानादि, अपि तु गुणदोषमाध्यस्थ्यज्ञानानां तेषां च स्वत एव तज्जनकत्वमिति तत्रापि वर्णितस्वतस्त्वं न व्यभिचरतीत्यर्थः। वादार्थमुपसंहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तस्मादिति**।

'इति स्वतस्त्वं परितः प्रसाधितं प्रमाणमात्रस्य सतः स्वतो यदा।
निषिद्धपुंदोषकथेषु लीलया समस्तवेदान्तवचस्सु सिध्यति॥'

स्वशक्त्यैव वेदान्ताः स्वार्थमावेदयन्तीत्युक्तं तत्र स्वरूपसहकार्यतिरिक्तशक्त्यसहिष्णवस्तार्किकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**नन्वित्यादिना**। समवधानं मेलनम्। तत्र किं कार्योत्पत्तिप्रयोजकधर्ममात्रं शक्तिः? किं वातीन्द्रियत्वे सति तादृशो धर्मः? किं मृदादिगतातीन्द्रियप्रयोजकधर्मविशेषो वा? मृदादिस्वरूपमात्रगतस्तादृशो वा? प्रथमे त्वविवादः, घटत्वाग्नित्वादिजातीनामङ्गीकारात्। द्वितीयेऽपीश्वरेच्छादीनामङ्गीकारादविवादः। तृतीयेऽपि कालादिसंयोगस्य मृदादावङ्गीकारादविगानमेव। चतुर्थश्चेत्तत्राह—**तत्र प्रमाणाभावादिति**। तत्र किमर्थापत्तिः? अनुमानम्? आगमो वा प्रमाणम्? तत्रार्थापत्तिं द्विधा विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना**। कार्योत्पत्त्यनुपपत्तिर्वा, इदमस्योपादानं दुग्धादि दध्यादेर्न पुनस्तिलादीति, तिलाद्येव तैलस्य न पुनर्दुग्धादीति योयं नियमस्तदनुपपत्तिर्वेत्यर्थः। स्यादेतत्—यदि स्वरूपसहकारिसमवधानमात्रात्कार्योत्पत्तिः प्रतिबन्धदशायामपि किमिति नोत्पद्यते स्फोटादिः। नहि तदाग्निरनग्निः सहकारिणो वेन्धनादयोऽनिन्धनादयः। तस्माद्यत्प्रतिबन्धात्कार्यं नोत्पद्यते, सैव शक्तिरित्यनुपपन्नेव कार्योत्पत्तिरन्तरेण शक्तिमिति तत्राह—**प्रतिबन्धकाभावादीति**। एतदुक्तं भवति—प्रमाणद्वयविरोधेऽर्थापत्तिः, यथा देवदत्तस्य जीवनग्राहकस्य गृहाभावग्राहकस्य च विरोधे बहिर्भावं कल्पयति विरोधपरिहृत्यै। न चात्र तथाविरोधः, स्फोटोत्पत्त्यनुत्पत्तिग्राहकयोरग्निमात्रे विरोधेऽपि प्रतिबन्धाभावतद्राहित्यवदग्निविषयत्वेन विरोधशान्तेरिति। ननु न प्रतिबन्धकाभाववदग्निविषयतया विरोधः शाम्यति, अभावस्य कारणताभावादिति

अभिव्यक्ति और दूसरा हानोपादानादि व्यवहार) ज्ञेयाभिव्यक्ति तो ज्ञानमात्र से ही होती है। उपादानादि व्यवहार इष्ट-साधन-ज्ञान के अधीन होते हैं, अतः तद्विषयक प्रमाण (उपादानादिनिष्ठ इष्ट-साधनता का ज्ञान) वहाँ भी स्वतः ही फल का जनक है। इसलिए आप्तत्वादि गुण एवं भ्रमादिदोषों के अभाव की अपेक्षा न करते हुए ही वेदान्त वाक्य अपनी शक्ति से स्वार्थ के बोधक हैं—यहसिद्ध हो गया।

पूर्वपक्ष—कारणस्वरुप, सहकारी-संचयन—इनको छोड़कर अतिरिक्त शक्ति पदार्थ में कोई प्रमाण नहीं। यदि मानें, तो कौन प्रमाण होगा? दाहादिरूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति या उपादानोपादेयभाव-नियम (कार्य-कारणभाव के नियम) की अन्यथानुपपत्ति? प्रथम पक्ष (दाहादि कार्य के लिए अग्नि-आदि में शक्ति माननी) उचित नही; क्योंकि प्रतिबन्धकाभावादि सहायक सामग्री से युक्त, अग्नि—आदि कारण से ही जब दाहादि कार्य सम्पन्न हो जाता है, तब इसके लिए किसी अती-

त्युपपत्तावतीन्द्रियशक्तिकल्पनानुपपत्तेः । न चाभावस्याकारणत्वात्प्रतिबन्धकाभावो न सहकारीति सांप्रतम् ; किमन्वयव्यतिरेकित्वं नास्ति ? उताभावस्य कारणत्वेऽनिष्टप्रसक्तिः ? नाद्यः ; भाववदभावस्यापि कार्यान्वयव्यतिरेकित्वात् । न द्वितीयः; योग्यानुपलब्धेरभावप्रमितिहेतुत्वात् , विवेकाग्रहस्य च विभ्रमहेतुत्वात् । ननु किं प्रतिबन्धकप्रागभावस्य कारणत्वम् ? उत तत्प्रध्वंसस्य ? नाद्यः; उत्तम्भकसद्भावे सत्यपि प्रतिबन्धके विनापि प्रागभावं कार्यदर्शनात् । न द्वितीयः; प्रतिबन्धकानुदयेऽपि कार्योपलब्धेरिति चेत् , मैवम् ; उत्तम्भकमणिमन्त्राद्यभावसहकृतस्यैव प्रतिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वात् , तेन तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावसहकृतस्यैव कार-

---

तत्राह—न चाभावस्येति । किंच भाट्टैस्तावदेवमयुक्तं वक्तुमित्याह—योग्येति । गुर्वनुवर्तिनः प्रत्याह—विवेकाग्रहस्येति । विभ्रमशब्दोऽयथार्थव्यवहारपरो गुरुनये । अत्र प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वं विकल्प्यैकैकं व्यभिचारेण दूषयति शक्तिवादी—नन्वित्यादिना । यदा ह्युत्तम्भकः प्रतिबन्धकसविधं निधीयते तदा सत्यपि प्रतिबन्धके मण्यादौ कार्यमुत्पद्यते, न तत्र प्रागभावोऽस्तीत्यर्थः । इयमपि प्रबन्धकध्वंसव्यभिचारभूमिर्भवत्येव, तथाप्यसाधारणं दूषणमाह—प्रतिबन्धकेति । नह्यनुदितप्रतियोगी प्रध्वंसः संभवतीति भावः । तदेतत्परिहरति—मैवमिति । नास्माभिर्मण्यादिस्वरूपमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमुच्यते, अपितूत्तम्भकाभावविशिष्टस्य । न च तादृशमुत्तम्भकसन्निधानेऽस्तीति तदापि प्रतिबन्धकप्रागभावस्य न व्यभिचार इत्यर्थः । उक्तं च कुसुमाञ्जलावुदयनेन—“प्रतिबन्धकोत्तम्भकाले तर्हि व्यभिचारः ? स्यात् , यदि यादृशे सति कार्यानुदयस्तादृशे एव सत्युत्पादः , नत्वेवम् ; तदापि प्रतिपक्षस्याभावात् असत्प्रतिपक्षो हि प्रतिबन्धकोऽभिमता, न सत्प्रतिपक्षः । स च तादृशो नास्त्येव, यस्त्वस्ति नासौ प्रतिपक्षः” इति । स्यादेतत्—प्रतिबन्धकाभावस्य सामग्र्यन्तःपातित्वमयुक्तम् , अनियतहेतुकत्वप्रसङ्गात् । तथाहि—यत्राग्न्यादिसमवधाने प्रतिबन्धकमण्याद्यभावे झटिति कार्यमुत्पद्यते, तत्र विशेष्यमण्यादिप्रतिबन्धकाभावादिति वक्तव्यम् । यत्र मण्यादौ विद्यमानेऽपि उत्तम्भकसन्निधौ कार्यमुत्पद्यते, तत्रोत्तम्भकाभावरूपविशेषणाभावादिति नैकहेतुनि-

---

न्द्रिय शक्ति की कल्पना हो ही नहीं सकती । यदि कहा जाय कि अभाव तो कारण ही नहीं होता, फिर प्रतिबन्धकाभाव सहकारिकारण कैसे होगा ? तो यह कहना उचित नहीं ; क्योंकि क्या अभाव के साथ कार्य का अन्वय-व्यतिरेक नहीं, इसलिए अभाव को कारण नहीं माना जाता ? या अभाव को कारण मानने में कोई अनिष्ट प्राप्त होता है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि अभाव के साथ भी अन्वय-व्यतिरेक वैसे ही होता है, जैसे भाव के साथ । द्वितीय पक्ष भी समुचित नहीं ; क्योंकि जब योग्यानुपलब्धि (प्रत्यक्ष-योग्य उपलम्भाभाव) को अभाव-प्रमा का हेतु मानने में, विवेकज्ञानाभाव को भ्रम का हेतु मानने में कोई अनिष्टापत्ति नहीं होती, (तब प्रतिबन्धकाभाव को हेतु मान लेने पर कहाँ से अनिष्टापत्ति फाट पड़ेगी ?) । यदि शङ्का हो कि प्रतिबन्धाभाव को कारण मानने का अर्थ क्या प्रतिबन्धक-प्रागभाव को कारण मानना ? या प्रतिबन्धकध्वंस को ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि जहाँ पर प्रतिबन्धक के आ जाने से प्रतिबन्धक-प्रागभाव नष्ट हो गया है, वहाँ भी उत्तेजक (सूर्यकान्तादि) के रहने पर दाहादि कार्य देखा जाता है । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि जहाँ प्रतिबन्धक उत्पन्न नहीं हुआ, वहाँ उसका ध्वंस है नहीं ; फिर भी वहाँ दाहादि कार्य पाया जाता है । तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि उत्तेजक मण्यादि के अभाव से युक्त, प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्तादि) को ही प्रतिबन्धक माना जाता है । (उक्त स्थल पर जहाँ उत्तेजक और प्रतिबन्धक–दोनों हैं, वहाँ प्रतिबन्धक में प्रतिबन्धकता ही नहीं । जो प्रतिबन्धक है—उत्तेजकाभाव-विशिष्ट प्रतिबन्धक, उसका वहाँ भी अभाव है) अतः प्रतिबन्धक-प्रागभाव-सहकृत अग्नि की कारणता

णत्वान्न व्यभिचारः । एतेनानियतहेतुकत्वमप्यपास्तम् । सर्वत्र प्रतिबन्धकसंसर्गाभावविशिष्टस्यैव कारणात्वाङ्गीकारात् । अन्यथानुपलब्धावप्युपलब्धिप्रागभावप्रध्वंसाभावविकल्पेनाभावप्रमितेरनियतहेतुकताया दुष्परिहरत्वात् । शक्तिपक्षेऽप्यप्रतिबद्धाया एव तस्याः कारणत्वादभावविकल्पोत्थदोषतत्परिहारयोः समानत्वात् ।

ननु न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, प्रतिबन्धापेक्षस्तदभावः कारणम्, कारणापक्षश्च तदभावः प्रतिबन्ध इत्यन्योन्याश्रयग्रस्तत्वात्, प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः’इत्यङ्गी-

---

रूपणमिति तत्राह—एतेनेति । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—सर्वत्रेति । न विशेषणाभावो विशेष्याभावो वा हेतुस्तयोरप्रतिबन्धकत्वात्, किंतु विशिष्टाभावः, सचोभयथापि न भिद्यते । यथाहि—केवलदण्डसद्भावे दण्डपुरुषसद्भावे द्वयाभावे केवलपुरुषाभावः सर्वत्राविशिष्टः, तथा केवलोत्तम्भकसद्भावे, प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे, द्वयाभावे वा, केवलप्रतिबन्धकाभावोऽविशिष्टः । संसर्गाभावशब्देन तद्विशेषप्रागभावादित्रितयं विवक्षितम् । प्रागभावप्रध्वंसाद्यपेक्षया चेदमनियतहेतुकत्वमाशङ्क्य परिह्रियते । तदा च संसर्गाभावशब्दोऽप्यनुगुणः त्रयानुगतत्वात् ‘यस्मिन्न सति कार्यं न जायते यस्मिन्सत्येव कार्यं जायते इत्येवं संसर्गाभावमात्रस्यैव प्रयोजकत्वा’ दित्युदयनोक्तेश्च । अतश्चैवमेवाङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथाऽनुपलब्धेरप्यभावप्रमितिहेतुतायामपि उक्तदूषणसाम्यादित्याह—अन्यथेति । अलं वा स्थलान्तरप्रतिबन्द्या शक्तावेवेयं सुग्रहा—सापि ह्यप्रतिबद्धा कार्याय प्रभवति, ततस्तत्रापि प्रतिबन्धकाभावे समानावेवेमावाक्षेपपरिहारावित्याह—शक्तिपक्षेऽपीति ।

एवमभावविकल्पप्रयुक्तदोषे परिहृते प्रकारान्तरेण प्रतिबन्धकाभावस्य कारणतामाक्षिपति शक्तिवादी—नन्विति । यस्तदभावः प्रतिबन्धकाभावः कारणमसौ प्रतिबन्धापेक्षः तन्निरूपणीयत्वात्, यश्च कारणाभावः प्रतिबन्धः सोऽपि कारणापेक्षः तन्निरूपणीयत्वादेव । ततश्च प्रतिबन्धाभावरूपकारणस्य कारणाभावरूपप्रतिबन्धस्य च परस्पराधीननिरूपणादन्योन्याश्रयतेत्यर्थः । ननु कारणाभावस्य प्रतिबन्धत्वे स्यादयमन्योन्याश्रयस्तदेव तु कथम्, यावता कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्ध इति तत्राह—प्रतिबन्ध इति ।

में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं । इसी से अनियतहेतुता (उत्तेजकाभाव-विशिष्ट प्रतिबन्धक के अभाव को कारण मानने पर जहाँ उत्तेजकाभावरूप विशेषण है, किन्तु प्रतिबन्धक मण्यादि रूपविशेष्य के न होने से दाहादि कार्य होता है ; वहाँ विशेष्याभाव को कारण मानना होगा और जहाँ प्रतिबन्धक मण्यादिरूप विशेष्य है, किन्तु उत्तेजकाभावरूप विशेषण नहीं, उत्तेजक ही है ; वहाँ विशेषणाभाव को कारण मानना पड़ेगा । इस प्रकार कभी विशेष्याभाव में हेतुता और कभी विशेषणाभाव में हेतुता—द्र० न्या० कु० स्तब० १ पृ० ४२) का भी प्रतीकार हो जाता है ; क्योंकि (विशेष्याभाव या विशेषणाभाव में हेतुता न मानकर प्रतिबन्धक के संसर्गाभावरूप (प्रागभाव, ध्वंस और अत्यन्ताभाव) विशिष्टाभाव को हेतु माना जाता है । (अर्थात् जहाँ विशेषण नहीं, वहाँ विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव और जहाँ विशेष्य नहीं, वहाँ विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव ही रहता है) । अन्यथा (अनियतहेतुता का उक्त परिहार न मानने पर) अनुपलब्धि में भी उपलब्धि के प्रागभाव और ध्वंसादि विकल्पों को लेकर अभाव ज्ञान की अनियतहेतुता का भी परिहार न हो सकेगा । इसी प्रकार शक्ति-पक्ष में भी प्रतिबन्धकाभाव-विशिष्ट शक्ति को ही कारण मानना होगा, वहाँ भी प्रागभावादि के आक्षेप का यही समाधान करना होगा ।

यहाँ शङ्का होती है कि प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होगा ; क्योंकि प्रतिबन्धकाभावरूप कारण को अपने प्रतियोगी प्रतिबन्धक की अपेक्षा और कारणाभावरूप प्रतिबन्धक को अपने प्रतियोगी कारण की अपेक्षा होती है । कारणाभाव को ही प्रतिबन्धक उदयनाचार्य ने माना है—“प्रतिबन्धो विसामग्री वद्धेतुः प्रतिबन्धकः” (सामग्री का अभाव, प्रतिबन्ध

कारादिति चेत्, मैवम्; अवधीर्यैवाभावस्य कारणतां कार्यानुदयमात्रेणैव मन्त्रादेः कार्यप्रतिकूलतावगमात्, अनवलम्ब्यैव च मणिमन्त्रादेः कार्यप्रतिबन्धकतां तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कारणताध्यवसायात्। किं चेदमन्योन्याश्रयत्वमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा स्यात्? नाद्यः; मन्त्रतदभावयोः परस्वरहेतुत्वाभावात्। नापि द्वितीयः; अज्ञातयोरपि मन्त्रतदभावयोः कार्यं प्रति प्रतिकूलत्वकारणत्वयोरुपपत्तेः। ननु कार्याभावावसेयकार्यप्रतिकूलभावा मन्त्रादयः शक्तेरपह्नवाय कारणाभावरूपा इष्यन्ते, अत एव मन्त्राद्यभावोऽपि कारणमिष्यते, ततो मन्त्रतदभावनिष्ठप्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरन्योन्योपाधिकत्वादुत्पत्तौ ज्ञप्तौ वान्योन्याश्रयता दुर्वारेति

अयमर्थः—न तावत्कार्यानुत्पादः प्रतिबन्धः, तस्यानादितया प्रतिबन्धकाधीनत्वाभावात्। नापि तस्य कालान्तरसंबन्धः; कालस्यैकत्वात्, औपाधिकानेकत्वे च कालोपाधेर्मण्याद्यजन्यत्वात्। कस्तर्हि कारणाभावात्कार्याभाव इति परिभाषार्थः? भावधर्मोपचारात्, सामग्रीकार्ययोः पौर्वापर्यनियमः तदभावयोरप्युपचारात्प्रयुज्यते, वस्तुतस्तु समसमयत्वमेव। कस्तर्हि प्रतिबन्धः? इति हृदि निधायोक्तमुदयनेन—

> 'भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः।
> प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः' ॥ इति। (न्या०कु० १।१०)

अत्र पूर्वार्धेनाभावस्य कारणतानिरूपणेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमुक्तम्। उत्तरार्धेन च प्रतिबन्धप्रतिबन्धकौ निर्दिष्टौ। प्रतिबन्धो नाम विसामग्री, सामग्रीवैकल्यं मन्त्रादि, तद्धेतुस्तु मन्त्रप्रयोक्ताप्रतिबन्धकः इति, तस्मात्सामग्रीप्रतिबन्धयोरस्त्येवान्योन्याश्रयतेति। यद्यप्युभयाभावत्वमुभयस्य तथाप्यन्योन्यनिरपेक्षस्य शक्यनिरूपणत्वान्नान्योन्याश्रयत्वमिति परिहरति—**मैवमिति**। मन्त्रादेः स्वाभावकारणतयाज्ञानमन्तरेणैव कार्यानुदयेन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यप्रतिकूलतालक्षणप्रतिबन्धकत्वावगमादित्यर्थः। मन्त्राद्यभावस्य कारणत्वमपि मन्त्रादिप्रतिबन्धकत्वज्ञानव्यतिरेकेणैव शक्यं ज्ञातुमित्याह—**अनवलम्ब्यैव चेति**। यथाह्यग्न्यादेः कारणत्वं कार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तथा मन्त्राद्यभावस्यापीत्यर्थः। एवं साधारण्येन परिहारमुक्त्वा विकल्प्याह—**किं चेति**। यद्यपि मन्त्रादिप्रागभावस्य मन्त्रादिं प्रति हेतुता संभवति, तथापि तं प्रति न हेतुता मन्त्रादेरत आह—**परस्परेति**। ज्ञप्तौ परस्पराश्रयं परिहरति—**नापीति**। नहि यद्यत्कारणं तत्सर्वं ज्ञातमेव कारणम्, चक्षुरादेरदर्शनात्। एवंप्रतिबन्धाभावोऽपीति भावः। तमिममुदयनीयमन्योन्याश्रयतापरिहारं परिजहुः न्यायरत्नदीपावलीकृतस्तदनुवदति—**नन्विति**। यद्यपि कार्यानुदयोदयान्वयव्यतिरेका-

---

पदार्थ है और उसका हेतु प्रतिबन्धक पुरुष होता है, मण्यादि नहीं)। किन्तु यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव-निष्ठ कारणता की अपेक्षा न करके ही, दाहादि कार्य के न होने मात्र से मण्यादि में कार्य-प्रतिकूलतारूप प्रतिबन्धकता का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार मण्यादि-निष्ठ प्रतिबन्धकता की अपेक्षा किये बिना ही स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर मण्यादि के अभाव में कारणता का निश्चय हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त अन्योऽन्याश्रयदोष उत्पत्ति में है? या ज्ञप्ति में? (अर्थात् प्रतिबन्धक और कारण—दोनों एक-दूसरे के उत्पादक हैं? या ज्ञापक?)। प्रथम पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि मन्त्रादि प्रतिबन्धक और उनके अभाव रूप कारण का परस्पर जन्य-जनकभाव होता नहीं। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि (कारणता और प्रतिबन्धकता के लिए ज्ञान की कोई आवश्यकता ही नहीं) अज्ञात मन्त्र में दाह की प्रतिबन्धकता और अज्ञात मन्त्राभाव में दाह की कारणता बन जाती है। यदि सन्देह हो कि जिन मणि-मन्त्रों में कार्यानुत्पाद के द्वारा कार्यप्रतिकूलता का निश्चय किया जाता है, उन्हें ही शक्ति का निराकरण करने के लिए कारणाभाव रूप माना जाता है। इसीलिए मन्त्रादि के अभाव को कारण कहा जाता है। अतः मन्त्रादि-निष्ठ प्रतिबन्धकता, मन्त्राद्यभाव-निष्ठ कारणता-निमित्तक और मन्त्राद्यभाव-निष्ठ कारणता, मन्त्रादि-निष्ठ प्रतिबन्धकता-निमित्तक है, फिर तो प्रतिबन्धकत्व और कारणत्व-दोनों को अपनी उत्पत्ति या

चेत्, न; उक्तोत्तरत्वात्—अन्तरेणैवाभावस्य कारणतावगमं मन्त्रादेः कार्याभावमात्रेण कार्यप्रतिकूलभावस्यावगन्तुं शक्यत्वात्, तदभावकारणत्वस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सुकरावगम्यत्वात् इति। न च शक्त्यनङ्गीकारे प्रतिबन्धासंभवः, मणिमन्त्रादिसन्निधानासन्निधानयोः स्वरूपस्याविशेषादिति वाच्यम्; कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धशब्दाभिधेयस्य विशेषत्वात्, अन्यथा शक्तिपक्षेऽपि प्रतिबन्धस्य दुर्विवेकत्वात्। नहि शक्तेर्नाशः प्रतिबन्धः; प्रतिबन्धापाये कार्याभावप्रसङ्गात्। न च स्फोटाख्यकार्योत्पत्तये शक्त्यन्तरं तत्रोत्पन्नम्; तत्कारणानिरूपणात्। न च प्रतिबन्धाभावः कारणम्; अभावस्य कारणतानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे वा तस्यैव स्फोटा-

---

वसेये मन्त्रतदभावयोः प्रतिबन्धकत्वकारणत्वे, तथापि सामग्रीवैकल्यरूपतया मन्त्रादेः प्रतिबन्धकत्वं नतु स्वरूपेण। एवं तदभावस्यापि प्रतिबन्धकाभावतया कारणत्वं न स्वरूपेण, तथा च प्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरपरिहार्यैव सत्ताज्ञप्त्योरन्योन्याश्रयतेति खण्डलकार्थः। दूषयति—**नेति**। उक्तमेवोत्तरं दर्शयति—**अन्तरेणेत्यादिना**। यद्यपि कोष्ठगत्या विवृत एवायमर्थः, तथापीतरेतरनिरपेक्षत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतीयमानमनुभवसिद्धं न युक्तिसहस्रेणापि शक्यनिवारणमित्यर्थः। ननु प्रतिबन्धान्यथानुपपत्तिः शक्तौ प्रमाणम्। तथाहि—अग्न्यादिस्वरूपं तावन्न प्रतिबध्यते, पूर्ववदेवाविकलमुपलभ्यमानत्वात्तस्माद्यदनेन प्रतिबध्यते तदतीन्द्रियं शक्तिर्नामेति तदिदं सहेतुकमनूद्य प्रतिषेधति—**न चेत्यादिना वाच्यमित्यन्तेन**। तत्र हेतुः—**कार्यौदासीन्येति**। अग्न्यादिस्वरूपावैकल्येऽपि मन्त्रादिसन्निधाने कार्योत्पादं प्रत्युदासीना भवन्त्यग्न्यादयः, अयमेव प्रतिबन्ध इत्यर्थः। शक्तिपक्षेऽप्ययमेव प्रतिबन्धशब्दार्थो वक्तव्यः, स मत्पक्षेपि समान इति प्रतिबन्दीं गृह्णाति—**अन्यथेति**। एतदेव शक्तिपक्षे परिशेषयति—**न हीत्यादिना**। ननु सा शक्तिर्विनष्टैव, उत्तरकालं तु शक्त्यन्तरमुत्पन्नं तदा कार्योदय इति तत्राह—**न च स्फोटाख्येति**। न तावदग्निसामग्रीतस्तस्योत्पादः; तस्या नष्टत्वात्। नाप्याश्रयभूताग्नेः; तस्याऽशक्तस्यानुत्पादकत्वात्। उत्पादकत्वे वा कार्ये तथा इति कृतं शक्तिपिशाचिकया। शक्तश्चेत्सैव शक्तिः कार्येऽप्यस्तु, मुधोत्पाद्या शक्तिः, तस्मात्कारणान्तरानिरूपणान्न शक्त्यन्तरोत्पाद इति भावः। ननु किमिति कारणाभावः, यावता प्रतिबन्धाभावादेवेयमुत्पद्यतामिति तत्राह—**न चेति**। ननु शक्तेरपि शक्तिरस्ति सैव प्रतिबद्ध्यतामिति

ज्ञप्ति में परस्पर की अपेक्षा होने से अन्योऽन्याश्रयता दुर्वार है। तो यह सन्देह युक्त नहीं; क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अभाव-निष्ठ कारणता—ज्ञान के बिना ही कार्यानुत्पाद के आधार पर मन्त्रादि में प्रतिबन्धकत्व और प्रतिबन्धकत्व-ज्ञान के बिना ही मन्त्राद्यभाव में कारणता का अन्वय-व्यतिरेक से निश्चय सुकर है।

यदि कहा जाय कि शक्ति को न मान कर प्रतिबन्ध ही सम्भव नहीं; क्योंकि मणि-मन्त्रादि की सन्निधि और असन्निधि से अग्नि के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता (अतः अग्नि का स्वरूप प्रतिबध्य नहीं हो सकता, अपितु अग्नि में एक अतीन्द्रिय शक्ति माननी होगी जिसके प्रतिबध्य हो जाने से दाह नहीं होता)। तो यह कहना संगत नहीं; क्योंकि 'प्रतिबन्ध' शब्द का अर्थ शक्ति नाश होना नहीं; अपितु कार्य के प्रति उदासीन होना। प्रतिबन्धक की सन्निधि से अग्नि, दाह के प्रति उदासीन हो जाती है। शक्ति-पक्ष में भी यही 'प्रतिबन्ध' शब्द का अर्थ मानना होगा। शक्ति का नाश, प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रतिबन्धक के आने से यदि अग्नि की शक्ति ही नष्ट हो जाती है, फिर प्रतिबन्धक के हटाने से दाह नहीं होना चाहिए। 'दाह रूप कार्य के लिए अग्नि में दूसरी शक्ति उत्पन्न हो जाती है'—यह नहीं माना जा सकता; क्योंकि दूसरी शक्ति के कारण का निरूपण नहीं हो सकता। प्रतिबन्धाभाव को कारण नहीं कह सकते; क्योंकि अभाव में कारणता नहीं मानी जाती। यदि मान ली जाय, तब तो वही (प्रतिबन्धाभाव ही) दाह का भी जनक हो

दिकार्यजनकत्वमस्तु; कृतमतीन्द्रियशक्तिकल्पनादुर्व्यसनेन। शक्तेः शक्त्यन्तरं प्रतिबध्यते इति वदतोऽनवस्था, तस्मात्कार्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वान्नातीन्द्रियशक्तिकल्पनावकाशः।

नापि द्वितीयः; उपादानोपादेयभावनियमस्याप्यनादिसिद्धवृद्धव्यवहारावसिततत्कार्यानुकूलस्वभावभेदादेवोपपत्तेः। अन्यथेयमिहैव किमिति शक्तिर्नान्यत्रेति पर्यनुयोगे कः स्वभावभेदादन्यः परिहारः स्यात् ? तस्मादर्थापत्तिद्वयमपि नात्र प्रमाणम्। अस्तु तर्ह्यनुमानम्, तथाहि–विमतमजनकदशातो जनकदशायामतिशययोगि, कारकत्वात् कुण्ठकुठारवदिति चेत्, न; सहकारिसमवधानातिशयेनैव सिद्धसाधनत्वात्। अस्तु तर्ह्यग्निरतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रि-

---

तत्राह—शक्तेरिति। तत्राप्युक्तदूषणपरिहाराय शक्तिप्रतिबन्धो वक्तव्यः, तथाचानवस्थेति भावः। प्रथमार्थापत्तिदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति।

अनादिसिद्धो यो वृद्धव्यवहारस्तेनावसितो यस्तत्तत्कार्यानुकूलस्वभावस्य भेदो विशेषः तस्मादेवोपादानोपादेयनियमोपपत्तेः तदर्थमपि शक्तिर्न कल्पनीयेति द्वितीयामर्थापत्तिं दूषयति—उपादानेति। यदि हि स्वभावो नियामको न स्वीक्रियते तर्हि शक्तावपि न स्यान्नियम इत्याह—अन्येति। तिमिरादिप्रयोगमनुवदति—विमतमिति। विमतमग्न्यादि। अतिशययोगीत्युक्ते अविद्यमानदशातो विद्यमानदशायां सत्त्वलक्षणातिशयवत्त्वात् सिद्धसाध्यता तदर्थमजनकेति विशेषणम्। इदं शक्तिसाधकं न भवति, सहकारिसमवधानस्यातिशयस्यापि जनकावस्थायां साधकतयार्थान्तरत्वादिति परिहरति—न। सहकारीति। न्यायरत्नदीपावलीस्थमनुमानमुद्भावयति—अस्तु तर्हीति। निष्क्रियाश्रय इत्युक्ते सामान्याभावाद्याश्रयत्वेन सिद्धसाधनं तदर्थं सामान्यवदित्युक्तम्। तथापि गुणकर्मभ्यां सिद्धसाधनता तदर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम्। तेजोद्वयणुकरूपादिना सिद्धसाधनतापरिहारायैतत्सामान्यग्रहणम्। तस्यैन्द्रियकसामान्यवत्त्वात्। वाय्वाश्रयत्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै निष्क्रियेत्युक्तम्। गुरुत्वगुणाश्रयः पार्थिवमाप्यं वाऽत्र दृष्टान्तः। गुरुत्वत्वजातेरतीन्द्रियतया गुरुत्वाश्रयस्योक्तरूपत्वात् तेजसि गुरुत्वासभवेन शक्तिसिद्धिः। तदुक्तमेव व्यावर्त्यमाह—तेज

सकता है, छोड़िए यह अतीन्द्रिय शक्ति–कल्पना का दुर्व्यसन। यदि कहें कि प्रतिबन्धक की सन्निधि में अग्नि नष्ट नहीं होती, अपितु शक्ति की शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है; तब तो अनवस्था होगी। अतः दाहादि-कार्य की अन्यथा (शक्ति के बिना) भी उपपत्ति हो जाती है। अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना का कोई अवसर नहीं।

द्वितीय (उपादानोपादेय भाव के नियम की अन्यथानुपपत्ति) भी शक्ति में प्रमाण नहीं; क्योंकि तैल के उपादान कारण तिल ही हैं, दुग्ध नहीं, दधि का उपादान कारण, दुग्ध ही है, तिल नहीं–इस प्रकार का उपादनोपादेय भाव का नियम भी अनादि-सिद्ध वृद्ध-व्यवहार के आधार पर निश्चित कार्यानुकूल कारण के स्वभावविशेष से ही बन जाता है। अन्यथा (स्वभावविशेष को उपादानोपादेयभाव का नियामक न मानने पर) 'दाहादि की शक्ति अग्नि में ही क्यों ?'—इस प्रश्न के उत्तर में अग्नि के स्वभावविशेष को छोड़कर और क्या कहा जायगा ? अतः उक्त दोनों प्रकार की अर्थापत्तियाँ, शक्ति में प्रमाण नहीं हो सकीं। 'विवादास्पद (आग्न्यादि) पदार्थ, अजनक अवस्था की अपेक्षा जनक अवस्था में किसी अतिशय (विशेषार्थ) से युक्त होते हैं, जनक होने से, जैसे–कुण्ठित कुठार'—इस अनुमान से भी शक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि सिद्ध-साधन है—पहले अग्नि, जलाती नहीं थी, अब जलाने लगी; अतः उसमें अवश्य कुछ विशेषता आई है, वह विशेषता है–सहकारिसमागम, यह तो सर्व-सम्मत है ही। कुछ विद्वान् शक्ति-साधन में यह अनुमान-प्रयोग किया करते हैं—'अग्नि, अतीन्द्रिय जातिवाले निष्क्रिय पदार्थ का आश्रय होती है, कारण होने से, जैसे गुरुत्वा-

याश्रयः कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवदिति प्रयोगः। तेजोद्व्यणुकमतीन्द्रियरूपस्य वायोश्चाधिकरणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियसमान्यवन्निष्क्रियेत्युक्तमतः शक्तिसिद्धिरिति कश्चित्; तन्न; योगिस्वीकारवादिनं प्रत्यतीन्द्रियविशेषणस्याप्रसिद्धत्वात्। विमतं न गुरुत्वजातिविषयमिन्द्रियत्वादस्मच्चक्षुर्वदित्यतीन्द्रियसिद्धिरिति चेन्न। योगिनमनङ्गीकुर्वतो मीमांसकस्याश्रयासिद्धेः, तत्सिद्धौ वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्। अस्तु तर्ह्यस्मदाद्यभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणम्, मैवम्; अनुव्यवसायप्रत्यक्षगोचरतया सर्वस्यास्मदादिविशेषणस्वीकारेऽपि पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात्। अनुव्यवसायेतरास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्ध्यगोचरत्वाभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणमिति-

---

इति। तदेतद्दूषयति—**योगीति**। तार्किकाणां हि सर्वं योगिप्रत्यक्षमित्यतीन्द्रियविशेषणस्यासिद्धत्वात् अप्रसिद्धविशेषणः पक्ष इत्यर्थः। अत्र तैरेव गुरुत्वत्वजातेर्योगिनः प्रत्यतीन्द्रियत्वसमर्थनेनैवाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये परिहृते। तदनुवदति—**विमतमिति**। योगीन्द्रियमित्यर्थः। एवमनुमिमानस्य योगीन्द्रियं प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा? द्वितीये प्राह—**योगिनमिति**। प्रथमे प्राह—**तत्सिद्धौ वेति**। साध्यं विशेषयति—**अस्तु तर्हीति**। तथाऽप्यप्रसिद्धविशेषणतामाह—**मैवमिति**। यदा हि परमाणुं जानाम्याकाशं जानामीत्यनुव्यवसायो जायते, तदा परमाण्वादि तज्ज्ञानं चानुव्यवसायस्य मानसप्रत्यक्षस्य विषयो भवति, एवं सर्वोऽप्यैन्द्रियकज्ञानविषय इत्यप्रसिद्धमतीन्द्रियत्वमस्मदादिं प्रत्यपीत्यर्थः। अनुव्यवसायेतरत्वे

श्रय पृथिव्यादि।' तैजस द्व्यणुक में निष्क्रिय रूप की तथा अतीन्द्रिय जातिवाली वायु की आश्रयता लेकर क्रमशः सिद्ध-साधनता और अर्थान्तरता दोष होते हैं, उन्हें व्यावृत्त करने के लिए जाति का अतीन्द्रियत्व तथा जातिमान् का निष्क्रियत्व विशेषण लगाया ['निष्क्रियाश्रय'—इतना ही साध्य रखने पर अग्नि में सामान्य समवायादिरूप निष्क्रिय पदार्थों की आश्रयता लेकर सिद्ध-साधनता होती थी, उसे हटाने के लिए साध्य का विशेषण लगाया—'सामान्यवत्ता'। सामान्यादि में सामान्यवत्ता नहीं। फिर भी रूपत्वादि जातिवाले निष्क्रिय रूपादि की आश्रयता, अग्नि में सिद्ध ही है। अतः इस सिद्ध-साधनता की निवृत्ति के लिए सामान्य का विशेषण दिया—'अतीन्द्रियता'। रूपादि, अतीन्द्रिय जाति वाले नहीं होते। अतीन्द्रिय–यह विशेषण, सामान्य का न मानकर यदि सामान्यवान् का मानें, तब भी अनुद्भूत रूप की आश्रयता तेज में सहज-सिद्ध है; इस लिए जाति का ही 'अतीन्द्रिय' विशेषण उचित है। अनुद्भूत रूप-गत रूपत्व जाति अतीन्द्रिय नहीं मानी जाती। गुरुत्वत्वरूप अतीन्द्रिय जाति वाले गुरुत्वरूप निष्क्रिय गुण के आश्रय–पृथिवी, जल दृष्टान्त हैं] अग्निरूप पक्ष में वैसा कोई गुरुत्वादि रहता नहीं; अतः वहाँ इस अनुमान से अतीन्द्रिय शक्ति सिद्ध हो जाती है। किन्तु यह अनुमान निर्दुष्ट नहीं; क्योंकि तार्किकों के मत में समस्त जगत्, योगी के प्रत्यक्ष का विषय है, उसके लिए अतीन्द्रिय कुछ भी नहीं; अतः अतीन्द्रिय-घटित साध्यरूप विशेषण ही अप्रसिद्ध है। यदि कहा जाय कि 'विवादास्पद (योगीन्द्रिय) गुरुत्व-जाति (गुरुत्वत्व) को विषय नहीं करती, इन्द्रिय होने से, जैसे–हम लोगों के नेत्र'—इस अनुमान के बल पर सर्वथा अतीन्द्रिय 'गुरुत्वत्व' जाति सिद्ध हो जायगी। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि योगी की सत्ता न मानने वाले मीमांसकों के प्रति 'योगीन्द्रियरूप' पक्ष ही अप्रसिद्ध है। यदि उसकी सिद्धि मान लें, तब योगीन्द्रिय में सर्वार्थ-ग्राहकता के प्रतिपादक शास्त्रादि प्रमाणों से ही उक्त साध्य का बाध हो जायगा। यदि कहा जाय कि जाति-गत अतीन्द्रियत्व का तात्पर्य है—योगि-भिन्न हम लोगों की इन्द्रियों के अविषयत्व में; तब भी 'गुरुत्वत्वज्ञानवान् अहम्'—आदि हम लोगों के मानस प्रत्यक्ष की विषयता को लेकर वही 'अतीन्द्रियत्व-अप्रसिद्धि' दोष जैसे-का-तैसा बना रहता है। 'अतीन्द्रियत्व' का अर्थ, 'मानस प्रत्यक्ष से भिन्न हमलोगों की ऐन्द्रियक बुद्धि की अविषयता' करने पर भी

चेत्, न; प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणावगाहिविशिष्टज्ञानवादे सर्वेषामप्यैन्द्रियकत्वसंभावनया पूर्वोक्तदोषानुत्तारात्। आश्रयपदस्य च समवाय्यर्थतायां भाट्टस्य समवायानङ्गीकारवादिनोऽप्रसिद्धिविशेषणत्वात्, वह्नौ स्थितिस्थापकसंस्कारसिद्धेः, सिद्धसाधनत्वाच्च। ननु कथं सिद्धसाधनत्वम्, तत्सत्त्वे मानाभावादिति चेत्, मैवम्; विमतः स्थितिस्थापकसंस्कारवान् रूपवत्त्वात्कटवदित्यनुमानसद्भावात्। न च स्थितिस्थापककार्यवत्त्वमुपाधिः; उत्पन्नमात्रविनष्टकटादिषु कार्यानुपलम्भेऽपि तथाविधसंस्काराभ्युपगमेन साध्याव्याप्तेः। किं च यः स्वसिद्धान्तानुसारेण सिद्धसाधनतां ब्रूयात्, स कथमनुमानशतैरपि स्वसिद्धान्तात्प्रच्याव्येत? कथं वा तदीयसिद्धसाधनताभिधानं प्रत्युद्ध्रियेत?

सतीति विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—**न प्रमाणान्तरेति**। येषां हि व्योमशिवप्रभृतीनां मते सुरभिचन्दनमित्यादिविशिष्टज्ञानानि प्रमाणान्तरेण घ्राणादिनोपनीतगन्धादिकमपि विषयीकुर्वन्ति प्रत्यभिज्ञेव तत्तांशमिति मतं तन्मते सर्वस्य यत्किंचित्प्रत्यक्षार्थविशेषणतया ऐन्द्रियकबुद्धिबोध्यत्वसंभवात्, अप्रसिद्धविशेषणता तदवस्थेत्यर्थः। अथ विशिष्टज्ञानानुव्यवसायातिरिक्तास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्ध्यविषयत्वमतीन्द्रियत्वमभिप्रेतमिति विशेषणपरंपरामेव प्राणधारणनिरपत्रपतया परिगृह्णीयात्, स प्रष्टव्यः किमत्राश्रयशब्देन संयोगितयाधाराधेयभावो विवक्षितः? समवायितया वा? नाद्यः; दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्। द्वितीये प्राह—**आश्रयपदस्येति**। साधारणाकारविवक्षायां सिद्धसाधनतामाह—**वह्नाविति**। अत्रापि तदीयपरिहारमुद्भावयति—**ननु कथमिति**। अस्मिन्नप्यनुमाने तदीयं दूषणमुद्भाव्य दूषयति—**न चेति**। साध्याव्यापकत्वेनोपाधिं परिहरति—**उत्पन्नेति**। न हि यत्र यत्र स्थितिस्थापकवत्त्वं तत्र तत्र तत्कार्यवत्त्वमस्ति, यदा ह्युत्पन्नः कटोऽनुत्पादितपूर्वावस्थानसमानसंस्थानादिस्थितिस्थापककार्यो विनश्यति, तदा साध्यवत्त्वेऽप्युपाधेरभावात् साध्याव्याप्तिरित्यर्थः। अत्र चोत्पन्नमात्रेति अनुत्पादितकार्यवत्त्वमात्रं विवक्षितम्, इतरथा तत्र साध्याभावस्यापि सुवचत्वादिति।

ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष-जन्य ऐन्द्रियक बुद्धि की विषयता लेकर वही अप्रसिद्धविशेषणता दोष रह जाता है, (क्योंकि ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष-जन्य जो ऐन्द्रियक विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके मुख्य विषय के, प्रमाणान्तरोपस्थापित समस्त गुरुत्वत्वादि पदार्थ भी विशेषण हो जाया करते हैं, जैसे 'सुरभि चन्दनम्'—इस चाक्षुष ज्ञान का विषय, चन्दन का विशेषण होकर सौरभ भी हो जाता है)। 'आश्रय' पद का 'समवायी' अर्थ करने पर समवाय न मानने वाले भाट्ट के मत में अप्रसिद्ध-विशेषणता और अग्नि में उक्त प्रकार के स्थिति-स्थापक संस्कार की समवायिता सिद्ध होने से सिद्ध-साधनता भी दोष होता है। 'सिद्ध-साधनता कैसे? अग्नि में स्थिति-स्थापक के होने का कोई प्रमाण ही नहीं'—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि अग्नि में स्थिति-स्थापक की सिद्धि इस अनुमान से होती है—'विवादास्पद (अग्नि) स्थिति-स्थापक संस्कारवाली है, रूपवाली होने से, जैसे–चटाई।' यहाँ 'स्थितिस्थापक–जन्य कार्यवत्ता' उपाधि है (दृष्टान्त में यह उपाधि साध्य की व्यापक है, क्योंकि वहाँ स्थिति-स्थापक संस्कार भी है और उसका कार्य पूर्वावस्था-ग्रहण भी। प्रकृत पक्ष में हेतु के होने पर भी स्थिति-स्थापक का कोई कार्य नहीं पाया जाता, अतः साधन की अव्यापकता भी है)—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि स्थिति-स्थापक संस्कार के उत्पन्न होने के साथ ही जो चटाई विनष्ट हो गई; उसमें स्थिति-स्थापकरूप संस्कार के होने पर भी उसका कार्य पैदा नहीं हो सका। वहाँ साध्य-व्यापक न हो सकने से उपाधि कैसे बनेगा? दूसरी बात यह भी है कि जो अपने सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध-साधनता दोष देता है, उसे सैकड़ों अनुमानों के द्वारा भी अपने सिद्धान्त से विचलित कैसे किया जा सकेगा? और कैसे उसके सिद्ध-साधन दोष का उद्धार किया जायगा?

अस्तु तर्हि स्थितिस्थापकेतरातीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय इति प्रयोग इति चेत् , मैवम् ; तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिनं प्राभाकरं प्रत्यर्थान्तरत्वापातात् , वह्नेरतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियकर्माश्रयत्वात् । कारणत्वादिति हेतोः शक्त्यानैकान्त्यात् , शक्तेश्च शक्त्यन्तराभ्युपगमेऽनवस्थापातात् । जनकशक्तियोगिन एव कारणत्वेन विवक्षितत्वात् न शक्तावनैकान्तिकतेति चेत् , मैवम् ; शक्तियोगित्वस्य विशेषणशक्त्यसिद्धावसिद्धेः, मानान्तरात्तत्सिद्धौ कृतमनया ग्रन्थकथाकन्थाकदर्थनया, गुणादावनैकन्त्यं च । गुणादेरप्यतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयत्वे च घटादिवद्द्रव्यत्वप्रसङ्गान्न यथोक्तशक्त्याश्रयत्वोपपत्तिः ।

ननु यदि स्वसिद्धान्तानुरोधेन सिद्धसाधनतां वदतोऽनुमानैस्तदीयसिद्धान्तात्प्रच्यावनमशक्यम् , सिद्धसाधनता वा अपरिहार्या , तर्हि स्थितिस्थापकेतरेति विशेषणीयमिति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । तथापि प्राभाकरमते कर्मणार्थान्तरता, तन्मते कर्मण्यप्रत्यक्षे निष्क्रियेऽतीन्द्रियसामान्यवत्त्वादिरूपसाध्यस्य विद्यमानत्वादित्याह—**मैवमित्यादिना** । तथाहि यद्यत्कादाचित्कं तत्स्वाश्रयातिशयपुरःसरं दृष्टम् , यथा संयोगविभागजन्यं कार्यं संयोगविभागलक्षणस्वाश्रयातिशयपुरःसरमिति व्याप्त्या संयोगविभागयोरपि कादाचित्कत्वात् स्वाश्रयातिशयपूर्वकत्वमनुमीयते योऽसावतिशयः, तत्कर्मेति तेषां मतम् । तस्माद्भवत्येव तेनाऽर्थान्तरतेतिभावः । एवं प्रतिज्ञानिबद्धदूषणान्युक्त्वा अनैकान्ततां चाह—**कारणत्वेति** । ननु किमित्यनैकान्तता ? यतः शक्तेरपि साध्यवत्तया सपक्षत्वादिति तत्राह—**शक्तेश्चेति** । उक्तं च लीलावतीकारेण 'शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थितेः , अनपेक्षत्वे तया एव व्यभिचारा'दिति । स्यादेतत्—यदि न शक्तेः सपक्षत्वम् ; तर्हि हेतुरेव तत्र न वर्तत इति शङ्कते—**जनकशक्तीति** । शक्तिमद्धि कारणं नतु शक्तिरित्यर्थः । तर्हि हेतोरसिद्धिरित्याह—**मैवमिति** । कारणत्वादिति कोऽर्थः ? शक्तियोगित्वादिति, तथा च विशेषणस्यैतदनुमानात्प्रागसिद्धेरसिद्धिरेव हेतोरित्यर्थः । अथ ब्रूयान्मानान्तरादेव विशेषणं साधयामीति , तत्राह—**मानान्तरादिति** । ग्रन्थमयी कथाकन्था तत्तद्विसदृशविशकलितग्रथितत्वात् तया कदर्थनमुद्वेजनं तेन कृतमलमित्यर्थः । अनैकान्तिकतोदाहरणान्तरमाह—**गुणादावपीति** । तथाहि–द्रव्यगुणकर्मणामेव हि सामान्यवत्त्वम्, तत्र निष्क्रियत्वशेषणात् यद्यपि द्रव्याश्रयत्वं नायाति, आश्रितद्रव्यस्यावयवित्वेन सक्रियत्वात्, तथापि गुणकर्मणोरन्यतराश्रयत्वं स्यादेव, तच्च द्वयमपि द्रव्यलक्षणं द्रव्यत्वव्याप्तं वा , अतो गुणादेरपि प्रसज्येतैव द्रव्यत्वमिति तद्भयात्तद्रहितत्वं वक्तव्यम् , तथाच तत्र कारणत्वं वर्तत इत्यनैकान्तिकमित्यर्थः ।

अस्तु, हम उक्त अनुमान में साध्य का आकार रखेंगे—'स्थितिस्थापक-भिन्न अतीन्द्रियजातिवाले निष्क्रिय पदार्थ की आश्रयता,–यह नहीं कह सकते;क्योंकि इस प्रकार का साध्य रखने में भी कर्म को अप्रत्यक्ष मानने वाले प्राभाकर के प्रति अर्थान्तरता होती है—अग्नि में अतीन्द्रिय जाति वाले निष्क्रिय कर्म की आश्रयता प्राभाकर मानते हैं। लीलावतीकारने (ली० पृ० ६१ पर) कहा है कि उक्त अनुमान का 'कारणत्व' हेतु भी शक्ति में व्यभिचारी है ; क्योंकि शक्ति में और कोई शक्ति के न रहने पर भी कारणत्व हेतु रहता है । शक्ति में दूसरी शक्ति मानने पर अनवस्था होगी । यदि कहा जाय कि शक्ति-विशिष्ट को ही कारण माना जाता है, केवल शक्ति को नहीं, अतः 'कारणत्व' हेतु शक्ति में है ही नहीं, व्यभिचारी क्यों होगा ? तो यह कहना उचित न होगा ; क्योंकि शक्तिरूप विशेषण के अप्रसिद्ध होने से शक्ति-विशिष्टत्वरूप (कारणत्व) हेतु ही असिद्ध है । यदि किसी प्रमाणान्तर से शक्तिरूप विशेषण की सिद्धि कर ली जाय ; तब तो ऐसे अनुमान के चिथड़ों से ग्रन्थ का गूदड़ बनाने से क्या लाभ ? गुणादि में भी 'कारणत्व' हेतु व्यभिचारी है ; क्योंकि गुणादि में अतीन्द्रियजाति-विशिष्ट निष्क्रिय पदार्थ की आश्रयता (प्रकृत साध्य) मान नहीं सकते । नहीं तो गुणादि भी घटादि के समान द्रव्य ही हो जायँगे । अतः उक्त शक्ति का आश्रयत्वरूप साध्य न होने पर भी गुणादि में कारणत्व हेतु रहता है ।

अस्तु तर्हि विवादाध्यासितः स्फोट उभयवादिसंप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्यः कार्यत्वाद्घटवदिति प्रयोग इति चेत् , मैवम् ; प्रतिबन्धकाभावेन प्रतिवादिनोऽसंप्रतिपन्नेन कारणेन सिद्धसाधनत्वात् , भावजन्य इति विशेषणेऽपीश्वरेण सिद्धसाधनत्वात्। ननु माभूदर्थापत्तिः प्रमाणम्,मास्म भूदनुमानम्, 'व्रीहीन्प्रोक्षति, यूपं तक्षति,अग्निनादधीत'इत्याद्याः श्रुतयः एव प्रमाणम् । तथा हि व्रीहीनित्यादिवाक्येषु द्वितीयाश्रुत्या ग्रामं गच्छतीत्यादिष्विव व्रीह्यादीनां कर्मतावगमात् । तेषु कश्चिदतीन्द्रियः प्रोक्षणजन्योऽतिशयोऽस्तीत्यवसीयते, दृष्टस्य फलान्तरस्यादर्शनात् । स चायमतिशयः शक्तिरिति शक्तिवादिभिर्गृह्यत इति, मैवम्; संस्काराख्यादृष्टस्य चेतनगतस्याचेतनेषु व्रीह्यादिषु समवायासंभवात् । घटविषयज्ञानजनितभाव-

---

अनुमानान्तरं शङ्कते—अस्तु तर्हीति । स्फाटकारणत्वानधिकरणकारणजन्य इत्युक्ते व्याहतिस्तदर्थमुभयवादिसंप्रतिपन्नेत्युक्तम् । अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यै स्फोटग्रहणम् । उभयवादिसप्रतिपन्नकारणातिरिक्तकारणं भवति प्रतिबन्धकाभावस्त्वया विप्रतिपन्नत्वात्,ःअतस्तेनार्थान्तरत्वमिति दूषयति—मैवमिति । भावजन्य इति विशेषणादभावेन नार्थान्तरतेति चेन्नेत्याह—भावेति । ननु यद्यपि सहजशक्तावर्थापत्तिरनुमानं वा न सम्भवति, तथाप्याधेयशक्तावागमः प्रमाणमस्तीति तद्बलात्सहजक्तिरपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—नन्विति । ननु नैतेष्वागमेषु शक्तिवाचकं पदमुपलभ्यत इति तत्राह—तथा हीति । क्रियाजन्यातिशयभाक्त्वं हि कर्मत्वमित्यर्थः । अतीन्द्रियत्वे हेतुमाह—दृष्टस्येति । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्काराणां मध्येऽतीन्द्रियसंस्कारः प्रोक्षणादिक्रियाफलमित्यर्थः । तावतापि कथं शक्तिसिद्धिः ? तत्राह—स चेति । परिहरति—मैवमिति । आत्मनो गुणो ह्यदृष्टं नानात्मसु व्रीह्यादिषु संभवति । न चैतावता प्रोक्षणादिविध्यानर्थक्यम् ; कर्तृसंस्कारकत्वात् । यथाह—संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिरिति भावः । ननु व्रीहीनिति द्वितीयया व्रीहीणां संस्कार्यत्वावगमात् , तत्संस्कृता व्रीहय इति प्रसिद्धेश्च, तद्विरुद्धश्चेतनसंस्कारस्वीकार इति तत्राह—घटविषयेति । तथा हि घटविषयज्ञानादुत्पन्नः संस्कारो घटसंस्कार इत्युच्यते, तत्कस्य हेतोः ? घटविषयत्वात्,न पुनर्घटाधारत्वात्, एवमत्रापीत्यतो न द्वितीयाश्रुतिः प्रसिद्धिर्वा व्रीह्या-

---

'विवादास्पद स्फोट (बाँस-आदि का जलना, तड़कना) उभयवादि-सम्मत स्फोट-कारण (अग्नि) से अतिरिक्त कारण से जन्य है, कार्य होने से, जैसे–घट'—यह अनुमान-प्रयोग भी युक्त नहीं ; क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव को प्रतिवादी (शक्तिवादी) कारण नहीं मानता (अतः उभय मत-सम्मत कारण से अतिरिक्त कारण हुआ–प्रतिबन्धकाभाव, उसकी जन्यता स्फोट में हम मानते हैं, अतः हमारे लिए सिद्ध-साधन और शक्तिवादी के लिए अर्थान्तरता दोष है)। 'भांवरूप कारण-जन्यत्व' साध्य बनाकर यदि प्रतिबन्धकाभाव को हटाया जाय, तब भी (शक्ति-वादी मीमांसक ईश्वर नहीं मानते, अतः उभय-सम्मत कारण से भिन्न) ईश्वर रूप कारण की जन्यता लेकर सिद्ध-साधनता है । यदि शङ्का हो कि शक्ति में अर्थापत्ति और अनुमान प्रमाणं के न होने पर भी "व्रीहीन् प्रोक्षति" (धानों का प्रोक्षण करे),"यूपं तक्षति" (यूप को छीलकर तैयार करे),"अग्नीनादधीत" (अग्नियों का आधान करे)—आदि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ; क्योंकि 'व्रीहीन्'—आदि वाक्यों में द्वितीया श्रुति (विभक्ति) से वैसे ही व्रीहि-निष्ठ कर्मता प्रतीत होती है, जैसे "ग्रामं गच्छति"—इस वाक्य में द्वितीया से ग्राम-निष्ठ कर्मता । कर्मता का अर्थ है–पर समवेत क्रिया-जन्य फलाश्रयता । अतः व्रीहियों में प्रोक्षण-जन्य कोई अतीन्द्रिय अतिशय (फल) मानना होगा, दूसरा कोई दृष्ट फल वहाँ देखा नहीं जाता । उस अतिशय को ही शक्ति-वादी शक्ति कहा करते हैं । तो यह शङ्का युक्त नहीं ; क्योंकि प्रोक्षण-जन्य संस्कारसंज्ञक अदृष्ट, चेतन (आत्मा) में रहता है, जड़ व्रीहि में नहीं । तब प्रोक्षण-जन्य संस्कार को व्रीहि का संस्कार क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जैसे घट-विषयक अनुभव से

नाया घटविषयत्ववत् व्रीहिप्रोक्षणाद्युद्भूतसंस्कारस्यापि तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदीयत्वप्रतीत्युपपत्तेर्व्रीह्यादिषु शक्तिकल्पनायां प्रमाणाभावात् । तस्मान्न शक्तिसद्भावे प्रमाणमस्ति । तथाच प्रयुक्तं लीलावतीकारेण–'विवादाध्यासितं न निजरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियसापेक्षम्, प्रमाणेन तथानुपलभ्यमानत्वात्, यत्प्रमाणेन यथा नोपलभ्यते न तत्तथाभूतं तथा नीलं पीतरूपम्' इति । अत्र च निजरूपमात्रसंबद्धशब्देन द्विष्ठस्य संप्रयोगादेर्व्यावृत्तिः क्रियत इति ।

अत्रोच्यते—न तावच्छक्तौ प्रमाणाभावः, यस्मात्—

परास्य शक्तिर्विविधा, सर्गाद्या भावशक्तयः ।
इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्तिः केन निवार्यते ॥ २३ ॥

'न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।'

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।' 'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्',

---

दिगतशक्तिसाधिकेत्यर्थः । प्रयोगमेव दर्शयति—**विवादेति** । अग्न्यादीत्यर्थः । अतीन्द्रियसापेक्षं न भवतीत्युक्ते बाधः स्यात्, ईश्वरेच्छादृष्टादिसापेक्षत्वात् । तदर्थं निजरूपसंबद्धेत्युक्तम् । तावत्युक्ते चादृष्टवदात्मसंयोगादिसापेक्षत्वाद्बाधः स्यात्तदर्थं निजरूपमात्रसंबद्धेत्युक्तम् । तस्य द्विष्ठत्वेन व्यापित्वेन तदभावादिति । तत्र तावच्छक्तावागमं प्रमाणयति श्लोकेन–**परेति** । विवृणोति–**नतस्येति** । तस्येश्वरस्य कार्यं स्थूलशरीरं करणं सूक्ष्मशरीरं न विद्यते, तथा तेन परमेश्वरेण समोऽभ्यधिको वा न दृश्यते श्रुतिस्मृत्योरित्यर्थः । तथा शक्तिः परोत्कृष्टा विवधैव बहुप्रकारा श्रूयते तथा ज्ञानलक्षणबलस्य क्रियासंपादनं स्वाभाविकम् । अथवा ज्ञानबलेन क्रिया जगन्निर्माणादि स्वभाविकी नान्याधीनेति । अथवा ज्ञानं च बलं च क्रिया चेत्येत्सर्वं स्वाभाविकम् स्वरूपतादात्म्येनाध्यस्ताचिन्त्यामायाशक्तिविजृम्भितमिति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रस्यार्थः ।

श्लोकोक्तश्रुतेरुपलक्षणत्वात्समानविषयश्रुत्यन्तराण्याह— **ते ध्यानयोगेत्यादिना** । ये किं कारणमित्यादिबहुविधं संदिहते स्म ब्रह्मवादिनः, ते ध्यानमेव योगो ध्यानयोगः तं ध्यानयोगमनुगताः प्राप्ताः

जन्य होने के कारण भावनाख्य संस्कार को घट का संस्कार कहते हैं, ठीक उसी प्रकार व्रीहि के प्रोक्षण से जन्य होने के कारण इस संस्कार को व्रीहि का संस्कार कहा जाता है, न कि व्रीहि में रहने के कारण । अतः शक्ति के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं । जैसा कि लीलावतीकार ने (ली० पृ० ६२ पर) प्रयोग किया है—विवादास्पद (अग्न्यादि) अपने स्वरूपमात्र से सम्बद्ध किसी अतीन्द्रिय पदार्थ की अपेक्षा नहीं करते ; क्योंकि प्रमाण से वैसा प्रमाणित नहीं होता, जो किसी प्रमाण से जैसा नहीं पाया जाता, वह वैसा नहीं हुआ करता, जैसे कि नीलरूप, कभी भी पीतरूप प्रमाणित नहीं होता, अतः नील कभी पीत नहीं होता । इस अनुमान में 'स्वरूपमात्रसम्बद्ध' विशेषण से संयोगादि द्विष्ठ (दो में रहने वाले) पदार्थों की व्यावृत्ति की जाती है ।

उत्तर पक्ष—शक्ति में प्रमाणाभाव नहीं ; क्योंकि "पराऽस्य शक्तिः"—आदि श्रुतियों और "सर्गाद्या भावशक्तयः"—आदि स्मृतियों से प्रमाणित शक्ति को कौन हटा सकता है ? । श्रुतियाँ स्पष्ट कह रही हैं—'न तो उस ईश्वर का कोई कार्य (स्थूल शरीर) है, न करण (सूक्ष्म शरीर), न उसके समान ही और कोई है और न उससे बड़ा कोई दिखाई देता है । इसकी शक्ति नितान्त उत्कृष्ट और बहुत प्रकार की हैं, उसमें ज्ञान, बल और क्रिया सब स्वभाविक हैं' (श्वेता० ६।८) । 'उन महर्षियों ने ध्यानयोग-निष्ठ होकर देखा इस दिव्य आत्मा की शक्ति को, जो कि अपने सत्वादि गुणों में ओत-प्रोत थी । (श्वेता० १।३) । 'जो एक वर्णातीत (नाम-रूप-रहित), विविध शक्ति के योग से अनेक वर्णों की रचना करता है (श्वेता० ४।१) । इसी प्रकार स्मृतियाँ भी कहती हैं—

'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतो तो ब्रह्मणास्तास्तु सर्गाद्याऽभावशक्तयः ।'
"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैर्गीयमाना शक्तिः शक्यते कथमपह्नोतुम् ? न चैतानि वचांसि स्वरूपसहकारिमात्रप्रतिपादकानि ; कार्यकरणादिसहकारिनिरासपुरःसरं तस्याः प्रतिपादनात् । न च स्वरूपत्वमपि शक्तेः ; परास्येत्यादिषष्ठ्या स्वरूपातिरिक्तत्वप्रतिपादनात्, 'अस्य शक्तिर्विविधा' 'तास्तु शक्तयः' इति च नानात्वेन श्रूयमाणाया एकरूपब्रह्मत्वासंभवाच्च । न चासां श्रुतिस्मृतीनामर्थवादत्वम् ; उपक्रमोपसंहारादिलिङ्गैरीश्वरस्वरूपत्वाध्यवसायात्, नैयायिकादिभिरेतासामीश्वरस्वरूपपरत्वाभ्युपगमाच्च ।

सन्तोऽपश्यन्दृष्टवन्तः । किम् ? देवात्मशक्तिम्, देवो द्योतनात्मकश्चासावात्मा चेति देवात्मा ब्रह्म तस्य शक्तिमनाद्यनिर्वचनीयाचिन्त्यानन्तशक्तिमयीं महामायां स्वगुणैः सत्वरजस्तमोमयैर्वियदादिकार्यैर्निगूढां छन्नामित्यर्थः । य एकोऽवर्णः करणकर्मव्युत्पत्त्या नाम रूपं च वर्णस्तद्रहितः सन् शक्तियोगात् बहुधा बहुप्रकारं वर्णान्विदधातीति च श्वेताश्वतरोपनिषन्त्रौ । स्मृतिं विवृणोति—शक्तय इति । तथा विष्णुपुराणे—

'निर्गुणस्याप्रमेयस्य विशुद्धस्य परात्मनः । कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽप्युपपद्यते ॥'

इति मैत्रेयेण पृष्टे प्रत्युवाच पराशरः—'शक्तयः' इत्यादि । सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः—अचिन्त्या अनिर्वचनीयत्वात्, ज्ञानगोचराश्च तत्तदुपासनासूपाधितां याता अचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्ति यतोऽतः परमेश्वरस्यापि ताः सर्गाद्या भावशक्तयः सन्ति । एतदुक्तं भवति— सर्वभावानामेव तावच्छक्तयः सन्तीति किमु वक्तव्यं ब्रह्मणः परमेश्वरस्यातः ताभिः सर्गादिकर्तृत्वमुपपद्यत इति । अथवा सर्वभावानामिति कर्मणि षष्ठी, ज्ञानगोचराः अचिन्त्याः शक्तयस्तावत्सन्ति यतोऽतस्ताः सर्गाद्या भावशक्तयो ब्रह्मणः सन्ति, अन्यस्य तादृग्विधशक्तिनियन्तुरभावादतः सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मण उपपद्यते इत्यर्थः । पुराणान्तरवचनमुदाहरति—सर्वज्ञतेत्यादिना । अचिन्त्यशक्तिरिति तु प्रकृतोपयोगिनी । विधिज्ञा वेदज्ञाः परमेश्वरज्ञा इति वा । नन्वेतेषु शक्तिशब्दः स्वरूपसहकारिमात्रपरः, नातीन्द्रियशक्तिपर इत्यत आह—न चैतानीति । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति सहकारिनिषेधेन शक्तेरुच्यमानत्वान्न सहकारिमात्रपरत्वमित्यर्थः । शक्तेर्ब्रह्मस्वरूपत्वाभावे हेतुमाह—परास्येति । षष्ठ्या शक्तेः ब्रह्मस्वरूपाद्भेदप्रतिपादनात् विविधेति शक्तय इति च बहुत्वाभिधानात्स्वेनैव स्वस्य भेदायोगात् एकस्यानेकत्वायोगाच्चेत्यर्थः । नैयायिकादिभिः स्वीकृतं चासामीश्वरपरत्वमित्याह—नैयायिकेति ।

'सर्व भावों में ध्यान-गम्य अनिर्वचनीय अनन्त शक्तियाँ है, फिर ब्रह्म में सृष्टि—आदि करने की अपूर्व शक्तियाँ क्यों न हों ?' 'सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य शक्तिमत्ता, अचिन्त्यशक्ति—ये छह ईश्वर के अङ्ग, वेदवेत्ता कहा करते हैं ।' इस प्रकार की अनन्त श्रुतियों और स्मृतियों में गाई गई शक्ति का अपलाप कौन कर सकता है ? 'ये सब बचन कारण-स्वरूप या सहकारीमात्र के प्रतिपादक हैं'—ऐसा सन्देह नहीं कर सकते ; क्योंकि कार्य (स्थूल शरीर) करण (सूक्ष्म शरीर) आदि सहायक सामग्री का निषेध करते हुए उस शक्ति का प्रतिपादन किया गया है । यहाँ शक्ति में ब्रह्मरूपता का भान भी नहीं होता ; क्योंकि 'परा अस्य'—इस प्रकार षष्ठी विभक्ति, स्वरूपातिरिक्त शक्ति का प्रतिपादन करती है । दूसरी बात यह भी है कि "अस्य शक्ति विविधा", "तास्तु शक्तयः"—इस प्रकार नाना रूप से श्रुत शक्ति, एक रूप ब्रह्म का स्वरूप हो भी नहीं सकती । उक्त श्रुतियाँ और स्मृतियों को अर्थवादमात्र नहीं माना जा सकता ; क्योंकि उपक्रम, उपसंहारादि तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों से यही निश्चय होता है कि वहाँ शक्तिमान् ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन है । नैयायिकादि भी ऐसा ही मानते हैं ।

अथैवमपि नार्थापत्त्यनुमाने विना तार्किकंमन्यस्तुष्यति भवान्, तदर्थापत्त्यनुमानोपन्यासेन भवन्तं परितोषयामः। तथा हि—स्फोटादिकार्यान्यथानुपपत्तिलक्षणोदाहृतैवार्थापत्तिः। ननु तत्राप्युदितैवान्यथाप्युपपत्तिः, प्रतिबन्धकाभावसहकृतादेव वह्निस्वरूपात्कार्योत्पत्तेः। न च प्रागभावप्रध्वंसाभावादिविकल्पेनाभावस्याकारणत्वम्; शक्तावपि तत्प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्, अप्रतिबद्धाया एव शक्तेः कारणत्वादिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथा हि—यदि प्रतिबन्धकाभावः कारणं न स्यान्न स्यात्तर्हि शक्तिरपि कारणमिति प्रतिकूलतर्कमात्रमिदम्? किं वा भवति च शक्तिः कारणं ततः प्रतिबन्धकाभावोऽपि कारणमिति विपर्यये पर्यवसानादभावस्य कारणत्वसाधकं वा? नाद्यः; तर्कमात्रस्योपालम्भानङ्गत्वात्। नेतरः; भवति च शक्तिः कारणमिति विपर्ययस्य शक्तिमनिच्छता वक्तुमशक्यत्वात्। न च परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनम्; प्रमितप्रतियोगिकनिषेधवादिनः शक्तिरपि कारणं न भवेदित्येवंविधनिषेधस्याप्यसिद्धेः।

परितोषयामः परितोषयिष्यामः। प्रथमामर्थापत्तिं समर्थयते—तथा हीति। स्फोटादीति। प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तेरप्रतिबद्धायाः कारणत्वं न स्यादिति यदुक्तं तद्विकल्प्य दूषयति—मैवमिति। प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तिकारणत्वापलापलक्षणप्रतिकूलतर्कं दर्शयित्वा विपर्यये पर्यवसानरूपप्रमाणा[1]दभावस्य कारणतासाधकत्वमिति द्वितीयं पक्षं दर्शयति—भवतीत्यादिना। विपर्यये पर्यवसानरहितस्य तर्काभासत्वान्न ततः प्रतिपक्षनिराकरणसिद्धिरित्याह—नाद्य इति। द्वितीयं दूषयति—नेतर इति। एवं हि विपर्ययपर्यवसानम्। मृदादिविशेषणप्रतिबन्धाभावः कारणम्, प्रतिबन्धाभावत्वात् शक्तिविशेषणप्रतिबन्धाभाववदिति। नचैतच्छक्यानुमानम्; दृष्टान्तस्याश्रहीनत्वादिदोषग्रस्तत्वादित्यर्थः।

ननु द्विविधस्तर्कः स्वपक्षसाधकानुकूलः प्रतिपक्षदूषकश्च, तत्राद्यस्य विपर्यये पर्यवसानमपेक्षितम्, इतरथा [2]साधकानुकूलत्वासिद्धेः, चरमस्य तु न तदपेक्षितम्, परसिद्धव्याप्तिमादाय परस्यानिष्टप्रसक्तेः शक्यकरणत्वात्तादृशश्चार्यमिति तत्राह—न चेति। तत्र हेतुः—प्रमितेत्यादि। यस्य हि मते प्रमितऽ-

इतने पर भी यदि अर्थापत्ति और अनुमान के बिना तार्किकाभिमानी श्रीमान् सन्तुष्ट नहीं होते, तो अर्थापत्ति और अनुमान के द्वारा आपको सन्तुष्ट करते हैं—स्फोटादि रूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति-स्वरूप प्रोक्त अर्थापत्ति प्रमाण है। यदि कहा जाय कि उक्त अर्थापत्ति को भङ्ग करने के लिए अन्यथाप्युपपत्ति भी तो कही जा चुकी है कि प्रतिबन्धकाभाव विशिष्ट अग्नि से स्फोटरूप कार्य उत्पन्न होता है। प्रागभाव और ध्वंसादि के विकल्प उठाकर प्रतिबन्धकाभाव में अकारणता का आरोप तो शक्ति में भी तुल्य ही है; क्योंकि शक्ति में जो कारणता मानी जाती है, वह भी प्रतिबन्धकाभाव-विशिष्ट शक्ति में ही बनेगी। तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि आप प्रतिबन्धकाभाव और शक्ति की तुल्यता से क्या दिखाना चाहते हैं? क्या 'यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न बन सकेगा, तब शक्ति भी कारण न बन सकेगी'—यह प्रतिकूल तर्क देना चाहते हैं? या उक्त तर्क का विपर्यय में (यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण नहीं होगा, तब शक्ति भी कारण नहीं होगी। किन्तु ऐसा नहीं, शक्ति कारण है, अतः प्रतिबन्धकाभाव भी कारण है—इस प्रकार) पर्यवसान मान कर 'शक्ति कारण होती है, अतः प्रतिबन्धकाभाव भी कारण होता है'—इस प्रकार अभाव में कारणता का साधन करना चाहते हैं? प्रथमपक्ष युक्त नहीं; क्योंकि तर्कमात्र को उपलम्भ (दोषदान) का अङ्ग नहीं माना जाता। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि 'शक्ति, कारण होती है'—इस प्रकार का विपर्यय वह व्यक्ति कह ही नहीं सकता, जो कि शक्ति नहीं मानता। 'प्रतिवादि-मत-प्रसिद्ध पदार्थ के द्वारा प्रतिवादी के

---

[1] विरुद्धार्थविषयकनिश्चयजनकरूपाद्वक्ष्यमाणानुमानादित्यर्थः। [2] स्वरूपक्षसाधकं यत्प्रमाणं तदनुकूलत्वसिद्धेः, तर्कस्येतिशेषः।

तथापि जल्पकथामवधीर्य प्रतिबन्धकाभावस्याकारणत्वे प्रतिबद्धापि शक्तिः किमिति कार्यं न जनयेदिति सुहृद्भावेन पृच्छतः किमुत्तरमिति चेत्, श्रूयतां तर्हि दर्शनरहस्यम् !—सति पुष्पकलकारणे कार्योत्पादविरोधि प्रबन्धकमिति हि शक्तिवादिनः। तेन न सामग्रीवैकल्यात्तत्र

धिकरणे प्रमितप्रतियोगिक एव निषेधः, नाप्रमितप्रतियोगिकस्तस्य वादिनः 'यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं न भवेत् तर्हि शक्तिरपि कारणं न भवेदि'ति शक्तिकारणत्वं निषेद्धुम् न शक्यम्। शक्तेस्तत्कारणत्वस्य चाप्रमितत्वात्, प्रमितत्वे वा स्वरूपेण निषेधानुपपत्तेः। उक्तं च प्रमितस्यैव निषेधप्रतियोगित्वं धर्मित्वं चोदयनेन—

'व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगितता ॥'इति (न्या० कु० ३।२)

तदिह भवतु नाम विपर्ययापर्यवसाय्यपि तर्कः, निषेध एव शक्तिकारणत्वस्यापादयितुं न शक्यत इति भावः। वस्तुव्यावृत्तिं बुभुत्सुः पृच्छति—तथापीति। यदि प्रतिबन्धाभावः कारणं न भवेत् प्रतिबन्धे विद्यमानेऽपि किमिति शक्तिः कार्यं न जनयेदित्यर्थः। अत्र सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकताऽभावं तावदाह—सतीत्यादिना। कारणाभावव्यवच्छेदार्थं सति पुष्कलकारण इत्युक्तम्। कार्योत्पत्तिं प्रति कारणपौष्कल्ये सति यदुत्पत्तिविरोधि तत्प्रतिबन्धकमिति शक्तिवादिन इष्टम्, तेन प्रतिबन्धसमयेऽपि कारणपौष्कल्यान्न प्रतिबन्धाभावस्य कारणान्तर्भाव इति भावः। यदत्रोदयनेन 'सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धकः' इति मतमसहमानेनोक्तम् 'ये तु प्रतिपादयन्ति कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्धः' इति। तैः प्रतिबन्धमकुर्वन्त एव प्रतिबन्धका इत्युक्तं भवति। तथाहि—कार्यानुत्पाद इति कोऽर्थः? कार्यप्रागभावो वा स्यात्? कार्यप्रागभावस्य कालान्तरप्राप्तिर्वा स्यात्? नाद्यः; तस्यानादित्वेन मणिमन्त्राद्यजन्यत्वात्। न द्वितीयः; कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात्। अथ कालभेदक उपाधिः कालान्तरम्, तस्य तावत्स्वकारणजन्यत्वेन न मण्यादिजन्यत्वम्। अथ प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिर्मन्त्रजन्यः, न; प्रागभावस्यानादित्वेन तदवच्छिन्नकालोपाधेरपि मन्त्रादिजन्यत्वानुपपत्तेः। तस्मात्सामग्रीतत्कार्ययोः पौर्वापर्यनियमादभावयोऽपि पौर्वापर्यभाव उपपद्यते। वस्तुतस्तु तुल्यकालत्वमेवेति नायं पन्थाः; किंतु सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धपदार्थो मुख्यः, स च मन्त्रादिरेव न त्वसौ प्रतिबन्धकः। नच तस्याऽकिंचित्करत्वं दोषाय, तत्प्रयोक्तारस्तु प्रतिबन्धाः, ते च किंचित्कराः' इति। तदेतदपि गर्जनं कारणानां कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धकत्वेन निर्वक्ष्यमाणत्वात् आकाशमुष्टिहननायते। किंच भवतु कालस्य प्रागभावस्य चानादित्वं कालोपाधेश्च स्वकारणाधीनत्वात् मन्त्राद्यजन्यत्वं च, तथापि प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिस्तत्संबन्धो वा किमिति मन्त्रादिजन्यो न भवेत्? नहि स प्रागभावः, नाप्युपाधिमात्रः, नापि कालमात्रम्, तस्मात्सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक इत्ययमेव पन्थाः। ननु भवत्वयं प्रतिबन्धकस्ततः किमिति तत्राह—तेनेति। सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकत्वाभावान्न ततः कार्यानुत्पादः, किंत्वन्यस्माद्विरोधिन इत्यर्थः।

अनिष्ट का आपादन किया जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जो व्यक्ति प्रमित प्रतियोगी का ही निषेध मानता है (अर्थात् उसी पदार्थ का कहीं निषेध हो सकता है, जो कहीं अन्यत्र प्रमित्त हो), उस व्यक्ति के मत में 'यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण नहीं होगा, तब शक्ति भी कारण नहीं होगी'—इस प्रकार शक्ति-गत कारणता का निषेध कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि (उसके मत में न तो शक्ति ही प्रमित है और न शक्ति-गत कारणता)। तथापि जल्प-कथा (विजिगीषु-कथा) छोड़ यदि कोई जिज्ञासु बनकर पूछे कि प्रतिबन्धकाभाव को कारण न मानने पर प्रतिबद्ध शक्ति, अपना कार्य क्यों नहीं करती ? तो इसके उत्तर में यह दर्शन-रहस्य सुना देना चाहिए—समग्र सामग्री के होने पर कार्योत्पत्ति का जो विरोधी होता है, उसे ही शक्ति-वादी प्रतिबन्धक मानते हैं। इसलिए सामग्री के अभाव से वहाँ कार्य का अनुत्पाद है—यह बात नहीं, अपि तु विरोधीके विद्यमान होने से।

कार्यानुदयः, किंतु विरोधिसद्भावादेव। न च सामग्रीवैकल्यमेव प्रतिबन्धः; लोकप्रसिद्धिविरोधात्। नहि कुशूलनिहितबीजानि क्षितिपवनपाथस्तेजस्संसर्गविरहितानि तन्तवो वा मञ्जूषानिहितास्तुरीवेमकुविन्दादिविरहिणः प्रतिबद्धा इति प्रतियन्ति लौकिकाः। सामग्रीविधुरतामात्रस्य च प्रतिबन्धतायाम्, समस्तस्यापि हेतुजातस्य प्रतिबन्धाभावतयैवोपक्षीणत्वात् 'इदमस्य कारणमयं च प्रतिबन्धाभावः' इति परीक्षकाणां विशेषावधारणमेव न स्यात्। अभावस्याकारणत्वे कार्येणान्वयव्यतिरेकविरोध इति चेत्, मैवम्; अन्यथासिद्धत्वात्, 'अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणक्लृप्तिं कुर्वाते' इति न्यायात्। तर्ह्यनुपलब्धेरप्यभावोपलम्भहेतुता न भवेत्, विरोधिन्या भावोपलब्धेरभावतया तदन्वयव्यतिरेकयोरप्यन्यथासिद्धेर्वक्तुं सुकरत्वादि-

---

ननु सत्यं न सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धकम्, किंतु प्रतिबन्ध इति तत्राह—**न च सामग्रीति**। प्रसिद्धिविराधमेव दर्शयति—**न हीति**। पाथ उदकम्। यदि हि सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धः, ततः सहकारिरहितबीजेषु सहकारिरहिततन्तुषु वा प्रतिबद्धबुद्धिः स्यात्, नत्वेतदस्ति, ततो नियमेन बुद्ध्यनुपलब्धिरर्थाभावनिवेदिका इत्यर्थः। इतश्च न सामग्रीवैकल्यमात्रं प्रतिबन्ध इत्याह—**सामग्रीविधुरेति**। अस्ति तावादेदमस्य कारणमयं प्रतिबन्धभाव इति विभागः। इतरथा प्रतिबन्धसहितकारणानां सामग्रीत्वाभावप्रसङ्गात्। सचायं विभागस्त्वत्पक्षे न सिद्ध्येत्। सर्वस्यैव कारणस्य स्ववैधुर्यलक्षणप्रतिबन्धाभावरूपत्वादित्यर्थः। तदेवं सामग्रीवैकल्यप्रतिबन्धनिरसनेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमपि निरस्तम्, तत्रान्वयव्यतिरेकविरोधं शङ्कते—**अभावस्येति**। विरोध्यभावविषयतयान्यथासिद्धत्वात् न तावदभावस्य कारणत्वं कल्प्यत इत्याह—**मैवमित्यादिना**। उक्तश्चायमर्थः स्वतःप्रामाण्यवादे।

एवं शक्तिप्रतिबन्द्यां परिहृतायां पूर्वोदितां प्रतिबन्दीं स्मारयति पूर्ववादी—**तर्ह्यनुपलब्धेरिति**। शक्यं हि तत्रापि वक्तुम् घटाभावोपलब्धेर्विरोधिनी घटोपलब्धिस्तदभावश्च तदनुपलब्धिरतो योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावोपलब्धेश्चान्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकत्वात् न कार्यकारणभाव इत्यभावप्रमाणाभावः स्यादित्यर्थः। यद्यप्येवम्, तथापि कारणान्तराभावादगत्यानुपलब्धेरनन्यथासिद्धायास्तत्र कारणत्वमाश्रितम्। इह तु

सामग्री के अभाव को लोक में प्रतिबन्ध नहीं कहा जाता; क्योंकि क्षिति-सलिल-संयोगादि सामग्री से रहित धान्यागार में रखे हुए बीजों एवं तुरी, वेम, जुलाहा—आदि सामग्री से रहित, पिटारी में बन्द तन्तुओं के लिए प्रतिबद्धता का व्यवहार लोग नहीं करते (अर्थात् उन बीजों और तन्तुओं में कोई प्रतिबन्धक आ गया है, इसलिए वे अङ्कुरादि कार्य उत्पन्न नहीं कर रहे हैं—ऐसा व्यवहार नहीं होता)। सामग्री-विरह मात्र को प्रतिबन्धक मानने पर समस्त हेतु-समूह प्रतिबन्धकाभाव कोटि में ही आ जायगा, फिर तो 'यह हेतु है, यह प्रतिबन्धकाभाव'—इस प्रकार का शास्त्रकारों का विभाग ही समाप्त हो जायगा। (अतः प्रतिबन्धकाभाव को हेतु-कोटि से बाहर ही रखना चाहिए)। यदि कहा जाय कि अभाव को कारण न मानने पर अभाव के साथ कार्य का अन्वयव्यतिरेक-अनुभव विरुद्ध पड़ जायगा। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि वह अन्व-व्यतिरेक अन्यथासिद्ध है। [अर्थात् स्फोटादि कार्य का विरोधी (प्रतिबन्धक) जब तक रहेगा, तब तक कार्य उत्पन्न न होगा। कार्य जहाँ उत्पन्न हो रहा है, वहाँ प्रतिबन्धकाभाव की अवर्जनीय सन्निधि आकाश के समान होती है। अतः प्रतिबन्धकाभाव स्फोटादि का कारण नहीं, अपि तु विरोधी का निवर्त्तक है] जैसे-तैसे अन्वय-व्यतिरेक से कार्य-कारणभाव का निश्चय नहीं होता, अपि तु अन्यथासिद्धि-शून्य अन्वय-व्यतिरेक से ही। यह जो कहा था कि यदि विरोधी का अभावरूप होने से प्रतिबन्धकाभाव कारण नहीं, तब तो अनुपलब्धि में भी अभाव-प्रमा की विरोधिनी प्रतियोग्युपलब्धि की अभावरूपता ही है। अतः अनुपलब्धि में अभाव-प्रमा का अन्वय-व्यतिरेक भी अन्यथासिद्ध

ति चेत्, न; तद्व्यतिरेकेणाभावोपलम्भकारणानिरूपणात्। इन्द्रियमेव कारणमिति चेत्, न; तस्याभावेन सन्निकर्षाभावात्। संयोगसमवाययोस्तत्राभावात्, विशेषणविशेष्यभावस्य च संबन्धान्तरगर्भस्यैव प्रत्यक्षाङ्गत्वात्, न तत्राभावस्य प्रत्यक्षगम्यत्वम्; किंत्वनुपलब्धिगम्यतैवेति निश्चीयते। अन्यथायं पर्वतो वह्निमानित्यत्र वह्नेरपि संयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्।

नन्वसंबद्धस्यैवाभावस्येन्द्रियग्राह्यत्वमस्तु, तत्प्रतीतेरेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनापरोक्षत्वात्, गत्यन्तराभावच्चेति चेत्, मैवम्; अयोगिप्रत्यक्षप्रमितावेन्द्रियाणां संबद्धार्थग्राहकत्वनियमस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, अभावप्रतीतेरपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणग्रहणमात्र एवोपक्षीणतयान्यथासिद्धत्वाच्च। नन्वधिकरणग्रहणमात्रोपक्षीणत्व-

---

न तथेति वैषम्येण परिहरति—न तदिति। गत्यन्तरं शङ्कते—इन्द्रियमिति। सन्निकर्षाभावमेवाह—संयोगेति। द्रव्ययोर्हि संयोगो गुणत्वान्न चाभावो द्रव्यम्, तथा कार्यद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषणामेव समवायः, नचैषामन्यतमोऽभाव इत्यर्थः। ननु संयुक्तविशेषणत्वादिकमस्ति संबन्धान्तरमिति तत्राह—विशेषणेति। संबन्धाभावादप्रत्यक्षत्वमुक्तमुपसंहरति—न तत्रेति। यदि च संयुक्तविशेषणतैव प्रत्यक्षबुद्धिनिमित्तं तर्हि प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छेदः स्यादित्याह—अन्यथेति।

नन्वपरोक्षाभावप्रतीतिरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ वान्यथानुपपन्नावसंबद्धस्यापि ग्रहणं कल्पयत एव, यथा हि भावेषु विशेषणविशेष्यभावस्य मूलसंबन्धनिबन्धनस्यातन्निबन्धनस्यापि च स्वीकारस्तथाऽभावे तदभावेऽपि प्रतीतिबलादेवाङ्गीकार इति शङ्कते—नन्विति। नन्वेतदपरोक्षं स्वप्नादिवद्भ्रान्तिरेवेत्याशङ्क्य मैवं बाधाभावादित्याह—गत्यन्तरेति। विशिष्टप्रतीतेरुभयवादिसंमतत्वात् मूलसंबन्धरहितोऽपि विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यक्षाङ्गमिति वक्तव्यम्, नतु तथाविधस्य प्रत्यक्षाङ्गत्वे मानमस्ति, अपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वात्। प्रापकप्रमाणाभावादयोगीन्द्रियाणां संबद्धार्थग्राहकत्वनियमभङ्गो नाङ्गीकरणीयः। इदं निर्घटं भूतलमिति व्यवहारस्यायं घटो गुरुरयं पर्वतो वह्निमानित्यादिव्यवहारवदधिकरणप्रत्यक्षतामात्रेणोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमिति। योगीन्द्रियव्यावृत्त्यै अयोगीति पदम्। आपरोक्ष्यानुपपत्तेरनुदयमाह—अभावेति। स्वाप्नापरोक्षवद्भ्रान्तित्वादित्यर्थः। विशेषणादिभावे तु गत्यन्तरं नास्ति, आश्रयापरोक्ष्याच्च निर्घटं

ही कहा जा सकता है। वह कहना उचित नहीं; क्योंकि अनुपलब्धि को छोड़कर अभाव-प्रमा में और कोई कारण ही सम्भव नहीं। इन्द्रिय को अभाव-प्रमा का कारण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इन्द्रिय का अभाव के साथ कोई सन्निकर्ष ही नहीं। संयोग, समवाय वहाँ हो नहीं सकते, इसी लिए विशेषणता सन्निकर्ष भी नहीं बनता; क्योंकि विशेषणविशेष्यभाव सदैव संयोगादिरूप सम्बन्धान्तर से घटित ही, प्रत्यक्ष का नियामक माना जाता है। अतः अभाव, प्रत्यक्ष-गम्य नहीं हो सकता; किन्तु अनुपलब्धि-गम्य ही मानना होगा। यदि इन्द्रिय-संयुक्त-विशेषणता सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष मानेंगे, तब तो 'अयं पर्वतो वह्निमान्'—आदि अनुमिति स्थल पर सर्वत्र वह्नि का इन्द्रिय-संयुक्त पर्वत-निरूपित विशेषणता सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ही हो जाने के कारण, प्रत्यक्षपक्षक अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा।

यदि शङ्का हो कि इन्द्रिय-सम्बन्ध के बिना ही अभाव का प्रत्यक्ष क्यों न मान लिया जाय? क्योंकि अभाव की प्रतीति में इन्द्रिय का अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है, इन्द्रिय के बिना और कोई गति भी नहीं। तो यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि अयोगिपुरुष की प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रिय-सम्बद्धार्थ की विषयता का नियम टाला नहीं जा सकता, अभाव-प्रतीति में अपरोक्षता सिद्ध भी नहीं कि जिससे इन्द्रिय को ही उसका कारण मानने पर बाध्य किया जा सके। इन्द्रिय का अन्वय व्यतिरेक, अधिकरण के ग्रहण में ही उपक्षीण हो जाने से अन्यथासिद्ध भी है। यदि शङ्का हो कि इन्द्रिय का उपयोग अभाव-ग्रहण में न मानकर, अधिकरणमात्र के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक सीमित रखना अयुक्त

मन्वयव्यतिरेकयोरयुक्तम् ; अन्धस्य त्वगिन्द्रियेणोपनीतघटादौ रूपाभावप्रतीतिप्रसङ्गात् , अधिकरणस्य गृहीतत्वात् , इन्द्रियस्य चाभावाग्राहकत्वात् । तस्मादन्धस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाभावादेव रूपाभावप्रतीत्यनुदय इति वाच्यम् । तथा चाभावस्यैन्द्रियकत्वसिद्धिरिति चेत् , मैवम् ; अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमतेऽप्यनन्धस्यापि मेर्वादौ घटतद्रूपाद्यभावस्य चाक्षुषत्वं किं न स्यात् ? ननु तत्र प्रतियोगिनश्चाक्षुषत्वेऽप्यधिकरणस्याचाक्षुषत्वान्न तत्र रूपाभावश्चाक्षुष इति चेत् , एवं तर्हि मन्मतेऽपि नान्धस्य त्वगिन्द्रियगृहीते घटादौ रूपाभावप्रतीतिः । प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणस्य घटादेरग्रहणात् । तर्हि घ्राणागोचरकुसुमादौ वायौ वाऽचाक्षुषे गन्धस्य रूपस्य चाभावप्रत्यक्षो न स्यादितिचेत् , मा भूत् ; तत्र प्रमाणान्तरवेद्यत्वेऽपि

भूतलमिति प्रतीतिर्घटो गुरुरयमित्यादिवदिति भावः । अधिकरणविषयतयेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिरयुक्ता, अतिप्रसङ्गादिति शङ्कते—**नन्विति** । यदि ह्यभावस्य नेन्द्रियग्राह्यता, तर्ह्यन्धस्यापि त्वगादिना घटादावधिकरणे गृहीते तत्र रूपाभावग्रहणप्रसङ्गः । तत्र हेतुः—**अधिकरणस्येति** । भवत्वधिकरणस्य ग्रहणम्, तथाप्यन्धस्य चक्षुरिन्द्रियाभावात् कथं रूपाभावप्रत्यक्षमिति चेत्तत्राह—**इन्द्रियस्येति** । तस्माद्यद्वैकल्यादभावाग्रहणं तदिन्द्रियमभावग्राहकं वक्तव्यमित्याह—**तस्मादिति** । तामिमामुदयनीयामनुपपत्तिं परिहरति—**मैवमिति** । यस्यापि मते प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमभावस्याभिमतं तस्यासन्निहितमेर्वादौ घटाद्यभावः किमिति चक्षुषा न गृह्यते ? इति पर्यनुयोगे यः परिहारः प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्रहणमधिकरणस्य सोऽस्मन्मतेऽपि समान इति खण्डलकार्थः । यदि प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणे गृहीतेऽभावस्य योग्यानुपलब्धिगम्यत्वम्, तर्हि गन्धग्राहकेन्द्रियागोचरे कुसुमे रूपग्राहकेन्द्रियागोचरे च वायौ गन्धरूपयोरभावो न योग्यानुपलब्धिगम्य इति प्रत्यक्षो वक्तव्यः, स न स्यात् , प्रत्यक्षत्वं चैवंविधस्थलेषु समाहितमुदयनेन, आकाशे शब्दाभावस्य श्रौत्रत्वसमर्थनात् । एवं हि मेने—'धर्मिसन्निकर्षो निदानं न पुनर्धर्मिग्रहणं भूतलादौ तु दैवगत्या योग्यत्वात् युक्तम् , घुणाक्षरन्यायेन धर्मिधिषणा समुन्मिषति, नत्वभावग्रहणोपयोगितया, तस्मादिन्द्रियसन्निकृष्टे धर्मिण्यभावः प्रत्यक्ष एवेति ततः शब्दाभावः प्रत्यक्षः' इति । परिहरति—**माभूदिति** । अत्र तावद्वाय्वादौ रूपाद्यभावस्य चाक्षुषत्वे कोशपानमेव शरणम् । तद्व्यवहारस्य प्रमाणान्तरवेद्यत्वेनाप्युपपत्तेः । प्रत्युत प्रतियोगिवद्धर्मिणोऽप्यभावनिरूपकत्वात् तदप्रतीतावप्रतीतिरेव । नह्यस्त्येवं प्रतीतिर्घटाभाव इति, इह घटाभाव इत्येव प्रतीतेः । उक्तं च वृद्धैः 'सद्ग्रयामभावो

है ; क्योंकि अधिकरण-ग्रहणमात्र के लिए ही इन्द्रिय की आवश्यकता यदि है, तब तो अन्ध पुरुष की त्वगिन्द्रिय से संयुक्त घटादि में उसको रूपाभाव का प्रत्यक्ष होना चाहिए, घटादिरूप अधिकरण तो त्वगिन्द्रिय से गृहीत है ही, इन्द्रिय को अभाव का ग्राहक मानते नहीं । अतः रूपात्मक प्रतियोगी की ग्राहक इन्द्रिय न होने से ही अन्धे को रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता—यही कहना होगा ; तब तो अभाव-प्रतीति में ऐन्द्रियकत्व सिद्ध हो जाता है । तो यह शङ्का युक्त नहीं ; क्योंकि प्रतियोगि-ग्राहक इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण मानने वाले के मत में असन्निहित सुमेरु-आदि में घटाभाव एवं घटीयरूपाभाव का चक्षु से प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? यदि कहा जाय कि घटादि प्रतियोगी के चाक्षुष होनें पर भी, मेरु-आदि अधिकरण चाक्षुष नहीं, इसलिए वहाँ रूपाभाव का चक्षु से ग्रहण नहीं होता । तो हमारे मत में भी त्वगिन्द्रिय से गृहीत घटादि में अन्धे को रूपाभाव की प्रतीति क्यों होगी ; क्योंकि रूपात्मक प्रतियोगि-ग्राहक इन्द्रिय से घटादि अधिकरण का ग्रहण नहीं होता । यदि सन्देह हो कि प्रतियोगि-ग्राहक इन्द्रिय से गृहीत अधिकरण में अभाव का ग्रहण मानने पर गन्धरूप प्रतियोगी के ग्राहक घ्राण के अविषयीभूत पुष्पादि में गन्धाभव का एवं रूपात्मक प्रतियोगी के ग्राहक चक्षु के अविषयीभूत वायु में रूपाभाव का ग्रहण कैसे होगा ? तो यह सन्देह उचित नहीं ; क्योंकि पुष्पादि में गन्धादि के अभाव का घ्राणादि से प्रत्यक्ष ही होना अनिवार्य नहीं । वहाँ

तद्व्यवहाराविरोधात् । न च सर्वत्र षष्ठप्रमाणवादिनामनुपलब्धिगम्य एवाभाव इति नियमः । व्यापकाभावाद्व्याप्याभावस्य कारणाभावेन कार्याभावस्य वाऽनुमेयत्वाङ्गीकारात् । उक्तं हि भट्टपादैः— "नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते ।

विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयोः ॥" इति (श्लो० वा० ५।१२१)

तथाच ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रैः "विपर्ययाभावस्तु युक्तोऽनुमातुं हेत्वभावे फलाभावः" इति तस्मादनुपलब्धेरनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकबलादभावप्रतीतिहेतुता स्थलविशेषेऽवसीयते । प्रस्तुते च स्वपुष्कलकारणादेव कार्योत्पत्त्युपपत्तौ न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, अन्योन्याश्रयता चास्य

निरूप्यते नासद्धया'मिति । न चैतदुभयनिरूप्यसंयोगादिप्रतियोगिकाभावविषयम् । संकोचे प्रमाणाभावात् । तस्माद्धर्मिग्रहणमपि कारणमेवाभावग्रहणे तद्रहितेषु च प्रमाणान्तरवेद्यत्वमित्यपरिपन्थी पन्थाः, प्रमाणान्तरं च कुसुमे गन्धानुपलब्धिरेव, तदभावेऽनुमानम्, वायावपि द्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजात्यनधिकरणत्वादिभिरनुमानमित्यादि स्यात् । एतच्चास्य वादिनः प्रत्यक्षानुमानागमैः यथायथमभावो गृह्यते इति मतम्, तस्यैव स्यात् । यस्य तु योग्यत्वे सत्यनुपलब्ध्येकवेद्योऽभावः प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियगृहीत एव धर्मिणि, तस्य स्वराद्धान्ते विरोधः स्यादिति तत्राह—न चेति । अयमर्थः—यदि हि वक्ष्यमाणतत्तद्वृद्धसंमतिवशात् प्रमाणान्तरगम्यत्वमप्यभावस्यास्ति, तदा योग्यानुपलब्धिगम्यस्थल एव प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणग्रहणनियमः, तत्कस्य हेतोः ? तत्तदविनाभूतकारणव्यतिरिक्तकारणपौष्कल्यं हि योग्यत्वं तदन्तःपाति चेन्द्रियमिति तदभावेऽपि योग्यत्वं न भवेत् । यत्र तु प्रमाणान्तरगम्यत्वं तत्र तद्विरहेऽपि शक्योऽभावो ग्रहीतुमिति । व्यापकाभावद्व्याप्याभावानुमाने भट्टसंमतिमाह—उक्तं हीति । अग्निधूमयोर्भावयोर्यादृशी नियम्यत्वनियन्तृत्वे गम्यगमकत्वे संमते ते एव गम्यगमकत्वे तदभावयोर्विपरीते प्रतीयेते । धूमो गमको वह्निर्गम्यः इति हि भावयोः स्थितिः, अभावयोस्तु तद्वैपरीत्येनाग्न्यभावो गमको धूमाभावो गम्य इति स्थितिरित्यर्थः । कारणाभावेन कार्याभावानुमाने मण्डनमिश्रवचनमुदाहरति—तथा च ब्रह्मेति । 'नहि कारणसद्भावे कार्यसत्तावियोगता' इति श्लोकविवरणे दोषाभावादग्रहाशङ्का निवर्तत इत्यख्यातिपक्षेऽविनिगम्यत्वमुक्त्वा स्वपक्षे वैषम्यमाह स्म, दोषाभावाद्विपर्ययज्ञानाभावः शक्योऽनुमातुं हेतोरभावे फलाभावस्य नियमादिति । अन्यथानुपपत्तिबलादभावस्य कारणतासमर्थनमुपसंहरति—तस्मादिति । प्रतिबन्धकाभावस्य तु न कारणत्वे किंचन प्रमाणमित्याह— प्रस्तुते चेति । उक्तान्योन्याश्रयमपि समर्थयते—अन्योऽन्येति ।

गन्धाद्यभाव का व्यवहार प्रमाणान्तर के आधार पर भी हो सकता है। अनुलब्धिरूप छठा प्रमाण मानने वालों के मत में अभाव सदैव अनुपलब्धिगम्य ही होता है—यह नियम नहीं; क्योंकि व्यापक के अभाव से, व्याप्य के अभावका एवं कारण के अभाव से कार्य के अभाव का अनुमान किया जाना भी स्वीकृत है। जैसा कि भट्टपाद ने कहा है—'भावपदार्थों में व्याप्यव्यापकभाव जैसा होता है, उसके विपरीत व्याप्यव्यापकभाव हो जाता है—अभावों में। (जैसे अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य है, तो अग्न्यभाव व्याप्य होगा और धूमाभाव व्यापक)। इस प्रकार अभाव से अभाव का अनुमान भी होता है; केवल अनुपलब्धि-गम्य ही अभाव नहीं होता। आचार्य मण्डन मिश्र ने भी ब्रह्मसिद्धि में कहा है—"दोषाभावात्तु विपर्ययकार्यासत्त्वं युक्तानुमानम्, हेत्वभावे कार्यानुत्पादात् ।" (दोषाभाव से विपर्यय-दर्शनरूप कार्याभाव का अनुमान युक्त ही है; क्योंकि कारण के अभाव से कार्य के अभाव का अनुमान होता ही है—ब्र० सि० पृ० १४६)। अतः अनुपलब्धि में अन्यथासिद्धि-शून्य अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर 'अभाव की प्रतीति, स्थलविशेष पर होती है; सर्वत्र नहीं। प्रकृत में अपने पूर्ण कारण से ही दाहादि कार्य की उत्पत्ति बन जाती है; प्रतिबन्धकाभाव में कारणता मानने की आवश्यकता ही नहीं। प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने वाले के मत में उक्त

मते दुर्वारा । यद्यपि मण्यादेः कार्यप्रतिकूलत्वमन्वयव्यतिरेकावसेयम्, तथापि विसामग्रीरूपतालक्षणं यदिदं प्रतिबन्धत्वं तत्तदीयाभावस्य सामग्र्यन्तर्भावविज्ञानसापेक्षम्, प्रतिबन्धो विसामग्रीत्यङ्गीकारात् । तेन प्रतिबन्धत्वंसामग्रीत्वयोरन्योन्यापेक्षयैवाधिगतिरिति परस्पराश्रयता कथं न स्यात् ? ननु मण्याद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षमस्तु नाम मण्यादेर्विसाग्रीत्वज्ञानम्, तथापि तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वह्निस्वरूपवत्सामग्र्यन्तर्भावावगतिसंभवान्नान्योन्याश्रयतेति चेत्, मैवम् ; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किं मण्याद्यभावाः प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतया अवसीयन्ते ? अथवा प्रतिबन्धाभावत्वोपाधिना क्रोडीकृताः ? नाद्यः ; मण्याद्यभावानामनन्तानामुपसंग्राहकं विना प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाध्यवसानस्य पुरुषायुषेणाप्यशक्यत्वात् । नापि द्वितीयः ; तथा सति विसामग्रीलक्षणप्रतिबन्धज्ञानाधीनप्रतिब-

---

नन्वत्राप्युक्त एव परिहारः कार्यप्रातिकूल्यस्वरूपप्रतिबन्धकत्वमनुत्पत्त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवावसीयते इति तत्राह—यद्यपीति । वैसामग्र्यं हि प्रतिबन्धः, प्रतिबन्धाभावलक्षणकारणवैकल्यं च वैसामग्र्यं, तथाच मन्त्राद्यभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानसापेक्षं मण्यादेर्वैसामग्र्यरूपप्रतिबन्धत्वज्ञानं मण्यादेश्च प्रतिबन्धत्वज्ञानाधीनं तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानम्, प्रतिबन्धाभावलक्षणकारणवैकल्येन वैसामग्र्योपपादनादिति वक्तव्यमन्योन्याश्रयत्वमिति खण्डलकार्थः । प्रतिबन्धत्वस्य स्वाभावस्य सामग्र्यन्तर्भावज्ञानापेक्षज्ञानत्वेऽपि तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावः प्रतिबन्धज्ञानानपेक्षः शक्यो ज्ञातुम्, न ह्यग्न्यादेः कारणत्वं तत्तदभावस्य विसामग्रीत्वज्ञानाधीनमिति परस्पराश्रयपरिहारं पुरैवोक्तं स्मारयति पूर्ववादी—नन्विति । परिहरति—मैवमिति । अनुगतरूपमादाय ह्यन्वयव्यतिरेकौ प्रतीयेते, न तु व्यावृत्तम् । तस्यानन्तत्वेनाशक्यज्ञानत्वात्, घटविशेषचिकीर्षया मृद्विशेषोपादानुपपत्तेश्च । न ह्येतद्व्यक्तिं प्रत्येतद्व्यक्तेरन्वयव्यतिरेकावभूताम् । तद्विशेषस्य प्रागनुत्पत्तेः । अनुगतेनापि तादृशा भवितव्यं यदनतिप्रसङ्गि, तदिह प्रतिबन्धाभावस्यापि कार्यं प्रति हेतुत्वं व्यावृत्ताकारेणाशक्यग्रहणं सदनुगतं पुरस्करोति, रूपमभावत्वं चानुगतमप्यतिप्रसङ्गि । न चाभावेषु जातिरस्ति, तत्प्रतिबन्धाभावत्वमनुगतरूपमुपाधिमादाय कार्येणान्वयव्यतिरेकाववगन्तव्यौ । यदाहोदयनः—'माभूज्जातिः, न तदुपहितगृहीतानामेव व्यवहाराङ्गत्वम् । सर्वत्रोपाधिमद्व्यवहारलोपप्रसङ्गादित्यतोऽयं दुष्परिहर एव दुरात्मा परस्पराश्रयस्तदेतद्विकल्पपूर्वकमाह—विकल्पेत्यादिना । यस्तु शक्ति-

---

अन्योऽन्याश्रयता दुर्वार है । यद्यपि चन्द्रकान्तमणि-आदि में कार्य-प्रतिकूलत्व ही अन्वय-व्यतिरेकगम्य है, तथापि उदयनाचार्योक्त कारणाभावरूप प्रतिबन्धकत्व के अभाव में कारण-घटित ज्ञान की अपेक्षा है और प्रतिबन्धाभाव कारण माना जाता है, अतः प्रतिबन्धत्व और कारणत्व—दोनों के ज्ञानों में परस्पर दोनों की अपेक्षा रहने से अन्योऽन्याश्रयता क्यों न होगी ? यदि कहा जाय कि मण्यादि-निष्ठ प्रतिबन्धकत्व ज्ञान में कारण-घटित ज्ञान की अपेक्षा अवश्य है, क्योंकि प्रतिबन्ध पदार्थ कारणाभावरूप माना गया है ; किन्तु प्रतिबन्धाभाव में कारणता का ज्ञान स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेक से, वैसे ही प्रतिबन्ध-ज्ञानानपेक्ष हो जायगा, जैसे कि अग्नि-गत कारणता का ज्ञान ; अतः अन्योऽन्याश्रयता नहीं होती । तो यह कहना उचित नहीं ; क्योंकि यहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रतिबन्धक मणि-आदि के अभावों में व्यक्तिशः पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अन्वय-व्यतिरेक से कारणता का निश्चय होता है ? या प्रतिबन्धकाभावत्व धर्म से संगृहीत सभी अभावों में ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि मण्यादि के अभाव अनन्त हैं, उनमें पृथक्-पृथक् कारणता का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर असर्वज्ञ पुरुषों के जीवन भर में भी, तब तक सम्भव नहीं, जब तक उन अनन्त अभाव व्यक्तियों का संग्राहक कोई एक धर्म न ठहराया जाय । द्वितीय पक्ष में अन्योऽन्याश्रयता दुर्निवार है ; क्योंकि कारणाभावरूप प्रतिबन्ध पदार्थ से सापेक्ष है—प्रतिबन्धाभावस्वरूप संग्राहक धर्म का ज्ञान, इस ज्ञान के बिना अनन्त

न्धाभावत्वोपाधिज्ञानमन्तरेण मण्याद्यभावानां सामग्र्यन्तर्भावस्य दुरधिगमतयान्योन्याश्रयताया दुरुत्तरत्वात् । न च शक्तिपक्षे प्रतिबन्धासंभवः ; शक्तिमनभ्युपगच्छतामिव शक्तिमभ्युपगच्छतामपि कारणानां कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धतोपपत्तेः । वैसामग्र्यस्य प्रतिबन्धस्योदीरितरीत्या निरस्तत्वात् । अतः प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वासंभवान्न कार्यार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिः ।

उपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिरपि शक्तौ प्रमाणमेव । ननु तत्र स्वभावभेदादेवोपपत्तेरन्यथोपपत्तिरुक्तेति चेत्, मैवम् ; तथा सति सर्वत्र स्वभाववादपादप्रसारिकया सामान्यसमवायविशेषादेरपि पराकरणप्रसङ्गात् । तथाहि—सत्तायां स्वभावभेदादेव सदिति व्यवहारवत् द्रव्यादिष्वपि सद्व्यवहारोपपत्तौ सत्तासामान्यापलापः प्रसज्येत । एवं 'समवायवानयं

पक्षे कः प्रतिबन्धः ? नहि शक्तेर्नाशइत्यादिना प्रतिबन्धाभावोऽभिहितस्तत्राह—नचेति । ननु न परस्य कार्यौदासीन्यं प्रतिबन्धोः, येनेदं समीक्ष्यते, अपितु वैसामग्र्यमेव तत्राह—वैसामग्र्यस्येति । उदीरितरीतिः परस्पराश्रयः । यदत्र लीलावतीकारेणार्थापत्तिमाशङ्क्योक्तम् "तत्रान्यथैवोपपत्तेः, मणिमन्त्रादिना दाहप्रतिपक्षभूतस्य क्षेत्रसमवायिनोऽदृष्टभेदस्योत्पादनात् । अग्न्यन्तरेणापि तस्य पुरुषस्य दाहो न स्यादिति चेन्न । प्रतिनियताग्निसाध्यदाहप्रतिपक्षस्यैवादृष्टस्य जननात्"इति । तत्रत्वेतावद्वक्तव्यम्, किमग्निविशेषोद्देशेन मन्त्रादिः प्रयुक्तः ? किंवा दाहो न स्यादिति दाहकाग्निमात्रमुद्दिश्येति ? स्वयमेव परिभाव्यतामिति । किंच दाहानुकूलमहापातकनिकेतने पुंसि दाहप्रतिकूलक्षुद्रादृष्टप्रभावस्याप्यसंभवात्, ओषधिलिप्तकाष्ठादिष्वदाहाभावप्रसङ्गाच्च, इदमपि तेनैव शङ्कितमिति चेत् ; सत्यं शङ्कितम् परिहारस्त्वसंबद्धः । तत्राप्यौषधिलेपकारिपुरुषसमवेतादृष्टस्य दाहप्रतिपक्षभूतस्योत्पादादिति हि परिहारस्तत्र किं पुरुषकृतौषधिलेपाददृष्टोत्पत्तिरौषधिलेपमात्राद्वा । नाद्यः ; पवनाद्युपनीतौषधिसंपर्के काष्ठादावग्निसंयुक्तेऽदाहभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; काष्ठादावप्यदृष्टोत्पादापातात् । तदलमनेन लीलावतीविलासवतो विलपनेन ? प्रथमार्थापत्तिसमर्थनमुपसंहरति—**अत इति** ।

द्वितीयार्थापत्तिं समर्थयते—**उपादानेति** । तत्र किं शक्तिवादिनोऽप्यन्ततः स्वभावशस्त्रग्रहणमेव शरणं तद्वरमादावेव स्वभावाश्रयणमिति अभिसन्धिरायुष्मताम् ? आहो क्वचिदपि स्वभावातिरिक्तशक्तौ प्रमाणं नास्तीति ? आद्ये प्राह—**तथा सतीति** । सामान्याद्यपलापं यथायथमुपपादयति—**तथा हीत्यादिना** । सत्तायामनवस्थाभयात्सत्तान्तरमन्तरेणैव स्वभावविशेषात्सद्व्यवहारहेतुत्वाङ्गीकारवदितरत्रापि स्यादिति सत्तापलापः, तथा समवायवानयं घट इत्यत्रापि अनवस्थाभयादन्तरेणैव समवायान्तरं समवायस्य घटं प्रति

मण्याद्यभावों में कारणता का ग्रहण न होगा, अतः कारणत्व और प्रतिबन्धकत्व को परस्पर की अपेक्षा है। यह जो कहा था कि शक्ति-पक्ष में प्रतिबन्धकत्व का निरूपण नहीं हो सकता। वह कहना भी निराधार है; क्योंकि शक्ति मानने वाले और न मानने वाले—दोनों के मत में कारणों में कार्य-जनन से उदासीनता को प्रतिबन्धत्व कहना उचित है। सामग्र्यभावरूप प्रतिबन्ध तो उक्त रीति से निरस्त हो चुका है। अतः प्रतिबन्धाभाव में कारणता सम्भव नहीं, कि जिसके द्वारा स्फोटादि कार्य की अन्यथा उपपत्ति की जा सके।

उपादानोपादेयभाव-नियम की अन्यथानुपपत्ति भी शक्ति में प्रमाण है। स्वभाव-विशेष को लेकर जो अन्यथा उपपत्ति की थी। वह उचित नहीं; क्योंकि स्वभाव-वाद का पैर यदि फैला, तो आपके सामान्थ, समवाय और विशेषादि सभी धराशायी हो जायँगे। जैसे कि द्रव्यादि में 'सत्-सत्' इस अनुगत प्रतीति के आधार पर सत्ता सामान्य की सिद्धि आप मानते हैं। वहाँ यह कहा जा सकता है कि सब कहीं स्वभाव विशेष से ही 'सत्-सत्' प्रतीति हो जाती है, सत्ता सामान्य की आवश्यकता क्या? एवं 'समवायवाला यह घट है'—यह प्रतीति जैसे सम्बन्धान्तर के बिना ही होती है, वैसे

घटः' इत्यादाविव संबन्धमन्तरेणापि गुणकर्मादेर्विशेषणत्वोपपत्तौ समवायापह्नवः स्यात्। विशेषाणां विशेषान्तरमन्तरेणैव व्यावृत्तिव्यवहारहेतुत्ववच्च नित्यद्रव्याणामपि स्वभावभेदादेव तथात्वोपपत्तौ विशेषपदार्थपरित्यागप्रसङ्गः। अथ यत्र यत्र प्रमाणमस्ति तत्र तत्र वस्त्वन्तराधीन एव तद्व्यवहारः; यत्र तु तन्नास्ति, तत्र तत्स्वभावभेदादेव व्यवहार इति व्यवस्थेति चेत् , हन्तैवमत्रापि प्रमाणसद्भावादेव स्वरूपातिरेकिणी शक्तिरङ्गीक्रियताम् , कृतं स्वभाववादपादावलम्बनकातरतयेत्यलमतिविस्तरेण।

अनुमानमपि तत्र प्रमाणम्। तथाहि—

स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्ठसंश्रयः।
दहनो गुणयोगित्वाद् गुरुत्वाश्रयकुम्भवत्॥ २४॥

वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियस्थितिस्थापकेतरभावाश्रयः गुणवत्त्वात् घटवत्। न चेश्वरवादिनामतीन्द्रियत्व-

---

विशेषणत्ववच्छुक्लः पटश्चलति चेलाञ्चलमित्यत्रापि गुणकर्मणोः स्वभावभेदादेव विशेषणविशेष्यभावप्रसङ्गात् समवायापलापः। तथा चान्त्यविशेषेतु परस्परव्यावृत्तिः स्वभाववशात् तत्कस्य हेतोर्विशेषेषु विशेषान्तरस्वीकारे तेषामप्यनुगतरूपवत्तया रूपादिवदन्त्यविशेषत्वहानेः, अनवस्थानाच्च। क्वचित्त्वगत्या निर्विशेषस्वीकारे च तेषामेवान्त्यविशेषत्वादिति , तद्वन्नित्यद्रव्याणामपि स्वभाववशाद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वं योगिनामित्यन्त्यविशेषापलाप इति खण्डलकार्थः। उपलक्षणं चैतत् , कालादेस्तत्संबन्धमन्तरेण सत्ववदितरेषामपि स्यादिति कालाद्यपलाप इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयमाशङ्क्य परिहरति—अथेत्यादिना। उपादानादिग्रहणमुपलक्षणं चक्षुरादीनां रूपादिग्रहणनियमस्यापि। नहि सन्निकर्षमात्रात्तत्संभवः; रसादेरपि तत्स्यात्।

एवमर्थापत्तिं समर्थयित्वा अनुमानमपि समर्थयितुं श्लोकेन संगृह्णाति—**स्थितिस्थापकेति**। दहनः इति धर्मिनिर्देशः। पूर्वार्द्धेन साध्यनिर्देशः। सङ्ग्रहं विवृणोति—**वह्निरित्यादिना**। आकाशादिसंयोगव्यावृत्त्यर्थमद्विष्ठेत्युक्तम्। रूपादिव्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम्। प्रत्यक्षावयविनः पक्षत्वाद् द्व्यणुकादिगतरूपेण नार्थान्तरता। स्थितिस्थापकनिवृत्त्यै स्थितिस्थापकेतरेत्युक्तम्। अतीन्द्रियाकाशाद्यन्योन्याभावस्याग्निगतस्य व्यावृत्त्यर्थं भावग्रहणम्। आश्रयग्रहणेन चायुतसिद्धतया सिद्धसंबन्धित्वं विवक्षितम्। तेन न वायुपरमाणुभिरर्थान्तरता। गुरुत्वमादाय घटादौ साध्यप्रसिद्धिः। आकाशादौ च परममहत्त्वादिना।

ही "रूपवान्, चलति"—आदि गुण, कर्मादि में विशेषणता भी बिना किसी सम्बन्ध के ही स्वभावविशेष से बन जायगी—इस प्रकार समवाय का निराकरण हो जाता है। वैशेषिकाभिमत विशेष पदार्थ के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि जैसे विशेष पदार्थ में स्वभाव से ही व्यावृत्ति-व्यवहार-हेतुता बन जाती है, वैसे ही समस्त नित्यद्रव्यों में व्यावृत्ति सिद्ध हो जायगी, विशेष की क्या आवश्यकता ? यदि कहा जाय कि जहाँ-जहाँ वस्त्वन्तर का साधक प्रमाण है, वहाँ-वहाँ तो व्यावृत्ति-व्यवहार, वस्त्वन्तर के अधीन ही मानना चाहिए और जहाँ कोई प्रमाण नहीं, वहाँ स्वभाव विशेष से ही व्यावृत्ति का व्यवहार होगा—यह व्यवस्था माननी होगी (अर्थात् नित्य द्रव्य-व्यावर्तक विशेष पदार्थ सप्रमाण है, किन्तु विशेष में और कोई विशेष की सत्ता है—इसमें प्रमाण नहीं, प्रत्युत अनवस्था है; अतः विशेष अपना व्यावर्तक स्वभाव से ही है)। तो यह कहना असंगत है ; क्योंकि हमारी शक्ति में भी प्रमाणों का सद्भाव है, अतः अग्न्यादि-स्वरूप से अतिरिक्त शक्ति भी माननी पड़ेगी, स्वभाव-वाद की शरणागति से भी कोई लाभ नहीं।

अनुमान भी शक्ति में प्रमाण है—'अग्नि, अद्विष्ठ, अतीन्द्रिय, स्थितिस्थापकातिरिक्त भाव पदार्थ का आश्रय है, गुणवान् होने से, जैसे—घट।' यह जो कहा था कि योगी और ईश्वर की सत्ता मानने

मसिद्धम् ; प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणानालम्बनानुव्यवसायेतरास्मदादिप्रत्यक्षाविषत्वस्यातीन्द्रियशब्दार्थस्य गुरुत्वादौ भावनादौ च प्रसिद्धत्वात्, 'गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रियाः' इति प्रशस्तपादैरुक्तत्वात्। ननु किमिहाश्रयशब्देनाधारत्वमात्रं विवक्षितम्? उत तत्समवायित्वम्? नाद्यः; वह्नेः कदाचित्परमाण्वाधारत्वसम्भवेन सिद्धसाधनत्वात्। नापि द्वितीयः; समवायमनिच्छतो भाट्टस्याप्रसिद्धविशेषणत्वादिति चेत्, मैवम्; समवायानङ्गीकारेऽपि स्वीयरूपादीनामिवायुतसिद्धतया वह्नेर्विशिष्टधर्माधारत्वस्याश्रयशब्देन विवक्षितत्वात्। न चातीन्द्रियकर्माश्रयत्वेन मीमांसकस्यार्थान्तरता; शक्तिवादिनोरपि प्राभाकरवद्भाट्टवेदान्तिनोः कर्मातीन्द्रियत्वस्यासिद्धत्वात्। विपक्षे च वह्निस्वरूपस्यैव कारणत्वात् प्रतिबन्धकाभावकारणत्वस्य पुर-

---

पूर्ववाद्युक्तमनूद्य दूषयति—न चेत्यादिना। प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणालम्बनव्यतिरिक्तमनुव्यवसायातिरिक्तं च यदस्मदादिप्रत्यक्षं तदविषयत्वमतीन्द्रियत्वं विवक्षितं, तच्च गुरुत्वादौ प्रसिद्धं तेन न पूर्वोक्तत्रिविधाप्रसिद्धविशेषणतावतार इति प्रशस्तपादवचनसंमतिपूर्वकं दर्शयति—प्रमाणान्तरेति। भाष्ये भावनाग्रहणं स्थितिस्थापकस्याप्युपलक्षणम्। कुण्डमिव बदराणामाश्रयो भवति वायोरप्यग्निरिति तेनार्थान्तरता, इति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितीये भाट्टं प्रत्यप्रसिद्धविशेषणतामाह—नापि द्वितीय इति। अस्ति तावदग्नेर्वाय्वाश्रयत्वविलक्षणाश्रयत्वं स्वकीयरूपस्पर्शादि प्रति, तन्मास्तु नाम समवायित्वं स्वरूपादितुल्यमेवेदमाश्रयत्वमभिमतं तेन नार्थान्तरताऽप्रसिद्धविशेषणते इत्याह—मैवमिति। अयुतसिद्धतयेति। द्वयोरन्यतरस्य वा पृथगाश्रयित्वराहित्यं वा पृथग्गतिमत्त्वराहित्यं वा अयुतसिद्धिस्तद्वत्तयेत्यर्थः। ननु तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकरस्यार्थान्तरतोक्तेति तत्राह—न चेति। भाट्टवेदान्तिनोस्तावदक्षीणमिदमनुमानं तयोः कर्मप्रत्यक्षवादित्वात्, प्राभाकरस्य तु भ्रान्तिमात्रमप्रत्यक्षत्वाभिमानः। तथा हि कादाचित्कातिशयः स्वश्रयातिशयपूर्वक इति न तावद्व्याप्तिरस्ति। तस्यामेव क्रियायां व्यभिचारात्। या या क्रिया सा कदाचित्की न वा, नचेत्तन्नित्यतया संयोगादिनित्यतापत्तिः। कादाचित्की चेदतिशयान्तरपूर्वकत्वेऽनवस्था। अतत्पूर्वकत्वे हेतोस्तत्रैव व्यभिचार इति भावः। विपक्षे बाधकमाह—विपक्षे चेति। विपक्षे मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोः। अनादरे सप्तमी। अविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः, कुतः? अग्निस्वरूपस्यैव कारणत्वात्। प्रतिबन्धाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वादिति योजना दूषणान्तरमुक्तं

वालों के मत में अतीन्द्रियत्व ही अप्रसिद्ध है। वह कहना युक्त नहीं; क्योंकि अतीन्द्रियत्व का अर्थ है—'ज्ञानलक्षणासन्निकर्षसे-अजन्य अनुव्यवसाय-भिन्न, अस्मदादि-प्रत्यक्ष की अविषयता'—इस प्रकार का अतीन्द्रियत्व गुरुत्व में, भावना (अदृष्ट) में प्रसिद्ध है। जैसा कि प्रशस्तपाद ने वैशेषिकदर्शन में कहा है—गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रियाः" (वै. भा. पृ. ३९)। यह जो शङ्का की थी कि यहाँ (उक्तानुमान में) 'आश्रय' शब्द का आधारत्व मात्र विवक्षित है? या समवायित्व? प्रथम पक्ष में अग्नि भी कदाचित् परमाणुओं का आधार हो सकती है, अतः सिद्ध-साधनता दोष है। द्वितीय पक्ष में समवाय न मानने वाले कुमारिल भट्ट के मत में अप्रसिद्ध विशेषणता दोष होता है। वह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि भाट्ट-मत में समवाय न मानने पर भी जैसे वह्नि में अपने अयुत सिद्ध रूपादि की आश्रयता मानी जाती है, वैसे ही उक्त विशिष्ट धर्म की आश्रयता उसमें बन जायगी। प्रभाकर-मत से अतीन्द्रिय कर्म को लेकर अर्थान्तरता देना भी सम्भव नहीं; क्योंकि शक्ति-वादी भाट्ट और वेदान्ती—दोनों के मत में प्राभाकर के समान कर्म अतीन्द्रिय नहीं माना जाता। विपक्ष में बाधक तर्क यह है—'यदि वह्नि में दाहानुकूल कोई शक्ति नहीं मानी जायगी, तो प्रतिबन्धक मणि-आदि की सन्निधि और असन्निधि में समानरूप से दाह होना चाहिए। एवं प्रतिबन्धकाभाव की कारणता का यथेष्ट निराकरण पहले ही किया जा चुका है।

स्तान्निरस्तत्वात्, मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोरविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधकः। न चैवंविधधर्माश्रयत्वे गुणकर्मादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्गः ; तेषां गुणानधिकरणत्वात्। न चैवंविधधर्माश्रयत्वाद् गुणाधिकरणत्वमपि स्यादिति वाच्यम् ; प्रसङ्गस्य विपर्ययापर्यवसायित्वात्। न हि यद्गुणानधिकरणं तदेवंविधधर्माधिकरणं न भवतीति प्रतिवादिसंप्रतिपन्नमुदाहरणमस्ति, येनायं प्रसङ्गो विपर्यये पर्यवसायी स्यात् ; शक्तिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात्। द्वितीयानुमानेऽपि मायावादिनं प्रति नेश्वरकारणत्वेन सिद्धसाधनता। तस्योभयवादिसंमतकारणातिरिक्तत्वाभावादीश्वरकारणत्वस्य वेदान्तिभिरभ्युपगमात्, जन्यभावजन्य इति विशेषणान्तरप्रक्षेपेण भाट्टस्याप्यर्थान्तरपरिहारसम्भवात्। न चैवं सति नित्येषु शक्त्यभावप्रसङ्गः ;

निराकरोति—**नचैवमिति**। तद्यपि शक्तिवादिनां गुणादिष्वप्येवं धर्मोभिमतस्तथापि माभूद् गुरुत्वस्थितिस्थापकादेरुक्तरूपतत्तदवान्तरजात्याश्रयत्वमात्राद्द्रव्यत्वप्रसक्तिः। अथ तदप्यनेकवृत्तित्वाद्द्विष्ठमपि भवतीति मतं तथापि गुणवत्त्वं द्रव्यत्वप्रयोजकम्। नच तद्गुणादावप्यस्तीति न द्रव्यत्वप्रसक्तिरित्याह—**तेषामिति**। तर्ह्यनेनैव गुणाधिकरणत्वमपि प्रसञ्जनीयमिति तत्राह—**न चैवमिति**। प्रशिथिलमूलतया आपादनं दूषयति—**प्रसङ्गस्येति**। एवं ह्यस्य विपर्ययः, विप्रतिपन्नं गुणादि एवंविधधर्मानधिकरणं गुणानधिकरणत्वादिति। नचात्र व्याप्तिरस्ति, शक्तिगुरुत्वाश्रयव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात्। अस्तु तर्हि शक्तिरेव विपर्ययपर्यवसानभूमिः, तस्याः गुणानधिकरणत्वादद्विष्ठातीन्द्रियत्वादिविशिष्टधर्मानाश्रयत्वाच्च। तथा शक्तावपि शक्तिस्वीकारेणानवस्थापातादिति चेत्, मैवम् ; नैयायिकादिमते तदसिद्धेः। नच परसिद्धेन दृष्टान्तेन प्रसङ्गः प्रसरमासादयतीति सांप्रतम् ; उभयवादिप्रमितस्यसाधनाङ्गतानियमभङ्गप्रसङ्गादितिभावः। एवं प्रथमानुमानं समर्थयित्वा स्फोटः संप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्य इत्यनुमानेऽर्थान्तरतामुक्तां परिहरति—**द्वितीयेति**। ननु भवतु वेदान्तिभिरीश्वराङ्गीकारादुभयवादिसंप्रतिपन्नत्वेन तदतिरिक्तत्वाभावान्नेश्वरेणार्थान्तरता, मीमांसकानां त्वनीश्वरवादित्वाद्भवत्येव तेनार्थान्तरतेति तत्राह—**जन्यभावेति**। तथा च न नित्येश्वरेणार्थान्तरतेति भावः। भाट्टस्यापीत्युपलक्षणम्। तर्हि नित्यगतनित्यशक्तावव्याप्तिरित्याशङ्क्य निषेधति—**न चेत्यादिना**। नित्यद्रव्येषु द्रव्यत्वेन नित्यगुणेषु

यह जो आपत्ति दी थी कि उक्त विशिष्ट धर्म की आश्रयता मानने पर गुण कर्मादि भी द्रव्य हो जायँगे। वह कहना युक्तियुक्त नहीं ; क्योंकि गुणादि में (द्रव्यत्व-नियामक) गुणाधिकरणता ही नहीं। यदि कहा जाय कि उक्त साध्य की आश्रयता से गुणाश्रयता की भी वहाँ प्रसक्ति होगी। तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि उक्त तर्क का यदि 'गुणादि, अद्विष्ठातीन्द्रियस्थितिस्थापकेतरभाव के अनाश्रय हैं, गुणों के अनाश्रय होने से'—इस प्रकार के विपर्यय-प्रयोग में पर्यवसान हो जाता ; तब वहाँ गुणाश्रयता की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु इस प्रकार के साध्य—साधन की व्याप्ति में कोई दृष्टान्त ही नहीं ; शक्ति-भिन्न समस्त पदार्थ पक्ष-कोटि में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। द्वितीय अनुमान (विवादाध्यासितः स्फोटः, उभयवादिसम्प्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्यः, कार्यत्वाद्, घटवत्) में जो ईश्वर को लेकर सिद्ध-साधनता दी थी। वह माया-वादियों (वेदान्तियों) के मत में नहीं हो सकती ; क्योंकि वे भी ईश्वर मानते हैं। अतः ईश्वररूप कारण, उभयवादि-सम्प्रतिपन्न ही हो जाता है ; उससे अतिरिक्त नहीं। अतिरिक्त कारण का 'जन्यत्व' विशेषण लगा देने से भाट्ट मत में अर्थान्तरता का परिहार सम्भव हो जाता है। 'अतिरिक्त कारण का 'जन्यत्व' विशेषण देने पर अनित्य शक्ति ही सिद्ध होगी, नित्यपदार्थों में नित्य शक्ति की सिद्धि कैसे होगी'—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए ; क्योंकि अनित्य पदार्थों में शक्ति सिद्ध हो जाने पर, उन शक्तिमान् अनित्यपदार्थों को दृष्टान्त बनाकर नित्यपदार्थों में शक्ति सिद्ध की जा सकेगी (जैसे—नित्यं द्रव्यं शक्तिमद्, द्रव्यत्वाद्,

अनित्येषु शक्तिसिद्धौ तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एव नित्येष्वपि तत्सिद्धेः सलिलपरमाणुरूपादिवन्नित्येषु तस्याश्च नित्यत्वोपपत्तेः ।

व्रीहीन्प्रोक्षतीत्यादिद्वितीयाश्रुतिभिश्च व्रीह्यादिषु अतीन्द्रियशक्तिसद्भावसिद्धिः । न चादृष्टस्य चेतनधर्मस्याचेतनेषु व्रीह्यादिष्वसंभवात् तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदीयत्वप्रतिपत्त्युपपत्तेश्च द्वितीयाश्रुतिर्गौणीति वाच्यम् ; धर्माधर्मलक्षणादृष्टविलक्षणस्यैव कस्यचिदतिशयस्य तण्डुलपिष्टपुरोडाशादिपरम्परया प्रधानापूर्वजननसामर्थ्यापरनामधेयस्याभ्युपगमात् । अन्यथा स्वरूपेणैव व्रीह्यादीनां तत्साधनत्वे प्रोक्षणादिविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, दृष्टस्यासंभवे

गुणत्वेन सामान्यादिषु च शक्त्यन्यनित्यत्वेन संप्रतिपन्नवदेव शक्त्यनुमानादिति भावः। स्यादेतत्-साध्यतां नाम, नित्यता तु कथं स्यात् ? यावता शक्त्युपाधावेकरूपायां नित्यत्वानित्यत्वविरोधादिति तत्राह—सलिलेति । इदमत्राकूतम्—नेयं शक्तिरेकैव, येनैकस्याः शक्तेर्जन्यत्वमजन्यत्वं च विप्रतिषिध्यते, अपि तु प्रतिपदार्थविभिन्ना, तथाचावयविषु अनित्यत्वेऽपि रूपस्य पाथःपावकपरमाणुषु नित्यत्ववन्नित्यत्वं किं न स्यादिति ?

आधेयशक्तावागमं प्रमाणं समर्थयते—व्रीहीनिति । यत्तु मुख्यार्थानुपपत्त्युपन्यासेनार्थान्तरत्वमुक्तम्, तदनूद्य दूषयति—न चेत्यादिना, वाच्यमित्यन्तेन । तत्र हेतुमाह—धर्माधर्मेति । नास्माभिर्धर्माधर्मात्मकादृष्टं व्रीह्यादिष्वभ्युपेयते, अपि तु तद्विलक्षणम् । नह्यतीन्द्रियातिशयः सर्वो धर्माधर्माभिधानः ; गुरुत्वादेरपि तत्प्रसङ्गात् । यौ हि सुखदुःखफलौ पुरुषार्थावतिशयौ पुरुषसमवेतौ, तौ नाम पुण्यापुण्याभिधानौ । एतादृशानि तु क्रत्वर्थानि, तथैव श्रुत्यादिप्रमाणैरवगमादित्यर्थः । यथा च प्रोक्षणादीनां गुणकर्मतया स्वतन्त्रापूर्वकल्पनानवकाशः, भेदलक्षणे भावार्थपादे 'तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि' इत्यत्रोक्तम् । ननु व्रीहीणामेव प्रोक्षितानां तण्डुलादिपरंपरया प्रधानापूर्वनिर्वर्तकत्वमस्तु, किमत्रादृष्टेन विनानुपपन्नमिति ? तत्राह—अन्यथेति । एतदनुपपत्त्यात्मकम्, प्रमाणान्तरमेव वोच्यते, त्रिविधं ह्यङ्गं दृष्टार्थमदृष्टार्थमुभयार्थं

अनित्यद्रव्यवत् । नित्यो गुणः शक्तिमान्, गुणत्वाद्, अनित्यगुणवद्—आदि) । नित्यपदार्थ गत शक्ति वैसे ही नित्य होती है, जैसे जलीय परमाणुगत-रूप नित्य होता है (अर्थात् शक्ति कोई एक व्यक्ति तो है नहीं, जिसमें नित्यता और अनित्यता—दोनों न रह सकें । जैसे रूप व्यक्तियाँ अनन्त हैं, पृथिवी में रूप, अनित्य होने पर भी जलीय परमाणुओं में नित्य होता है ; वैसे ही अनित्य पदार्थों में अनित्य होने पर भी नित्यपदार्थों में शक्ति नित्य मानी जाती है) ।

"व्रीहीन् प्रोक्षति"—आदि श्रुतियों से भी व्रीह्यादि में अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव सिद्ध होता है । यह जो कहा था कि अदृष्ट, सदैव चेतन का धर्म होता है, अचेतन व्रीह्यादि में नहीं रहता ; केवल व्रीहि विषयक प्रोक्षण क्रिया से जन्य होने के कारण उस अदृष्ट को प्रोक्षण का अदृष्ट कहा जाता है । इस प्रकार द्वितीया श्रुति (विभक्ति), मुख्य (व्रीहिगत संस्कार) अर्थ में बाधित होकर गौण अर्थ (आत्मगत धर्माधर्म) का बोध करा सकती है । वह कहना संगत नहीं ; क्योंकि हम धर्माधर्मरूप शक्ति, व्रीह्यादि में नहीं मानते, अपितु उससे विलक्षण कोई एक ऐसा अतिशय मानते हैं, जिसे चावल, आटा, पुरोडशादि परम्परा से [प्रोक्षित धानों को कूटा, चावल निकले, उन्हें पीसा, आटा बना । उस आटे को आग पर कढ़ाई में सेंक लिया, उसमें गरम जल इतना डाला कि बहुत गीला न हो, एक गोला कछुए की पीठ के आकार का बना लिया । गार्हपत्य अग्नि में परिगणित कपालों को रख, उन पर वही गोला रखा, ऊपर से आग चढ़ा दी । बाटी की तरह पकाकर बाहर निकाला—इसी गोले का नाम पुरोडाश है । इसके निर्दिष्ट कटे भाग की आहुति विधिपूर्वक आहवनीय अग्नि में डाली जाती है—इस क्रम से] प्रधानापूर्व की उत्पत्ति का सामर्थ्य भी कहते हैं । अन्यथा (प्रोक्षण से व्रीहिगत अदृष्ट न मानने पर) स्वरूपतः व्रीहि ही उक्त परम्परा से प्रधानापूर्व के साधन हो जाएँगे ;

चादृष्टस्यैव कल्पनीयत्वात्, सम्भवति च मुख्ये लक्षणाश्रयणस्यानवकाशत्वात्। एतेन लीलावतीकारस्यापि निराकृतः प्रयोगः। प्रमाणानामागमार्थापत्त्यनुमानानां दर्शितत्वेन प्रमाणेनानुपलभ्यमानत्वादिति हेतोरसिद्धेः। तदेवमर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्पदानां तदभिहितेभ्यः पदार्थेभ्यः सन्निधानादिसहकारिवशात्पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिर्लक्षणया सिद्ध्यतीति सिद्धम्

चेति। तत्र दृष्टार्थेष्वपि नियमादृष्टमस्त्येव, केवलं दृष्टे विधिवैयर्थ्यात्, अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थत्वात्। अतोऽविध्यन्यथानुपपत्तिरप्यदृष्टसाधिकेत्यर्थः। ननु दृष्टसंभवेनादृष्टकल्पनाऽयुक्तेति तत्राह—**दृष्टस्येति**। ननु भवतु विध्यन्यथानुपपत्त्याऽदृष्टम्, तच्च चेतनसमवायि, चेतनधर्मत्वात् भावनाया इति तत्राह—**संभवति चेति**। अयमर्थः—व्रीहीन्प्रोक्षतीति द्वितीयाश्रुत्या व्रीहीणामेव प्रोक्षणेन संस्कार्यत्वं श्रुतम्, नतु सक्तूनामिव होमेन भस्मसाद्भूतानां विनियोक्ष्यमाणत्वानुपपत्तिः, येन सक्तुभिरितिवद् व्रीहिभिरिति श्रुतविनियोगभङ्गावकाशः। न च तीर्थस्नानादिवत्कर्तृधर्मता; तदिह न विषयतामात्रेण द्वितीया श्रूयते, किंतु संस्कारजन्यातिशयाधारतया। तथा सति लक्षणा स्यात्। न च विना कारणं लक्षणा, अतिप्रसङ्गात्। न चागमैकभूमिषु प्रमाणान्तरावतारः, येन विरोधशङ्कापि स्यात्। तदुक्तं भाष्यकृद्भिः—'न विधौ परः शब्दार्थः' इति। यत्तु श्रीवल्लभेन शक्त्यपह्नवायानुमानमुक्तम्, तदप्युक्तप्रकारेण दूषितमित्याह—**एतेनेति**। एतेनेत्येतद्विवृण्वन्नसिद्धिमाह—**प्रमाणानामिति**। किं च यच्छब्दतच्छब्दयोस्तावदर्थपर्यालोचनायामनुमानशरीरं पूतिकूष्माण्डायते। तथा हि यत्तच्छब्दाभ्यां साध्यविवक्षायां यथा नीलं पीतरूपेणेति दृष्टान्तासङ्गतिः। नीलरूपविवक्षायां तु पक्षासङ्गतिः। अन्यश्चानुगतोऽर्थोऽनतिप्रसङ्गी दुर्निरूपः, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। तथाहि—विवादपदं स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियसापेक्षं जन्यजनकत्वादात्मवदिति शक्यमनुमातुम्। नचात्रात्मत्वमुपाधिः; स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियगुरुत्वसापेक्षाणां पतने पाषाणादीनामात्मत्वाभावेन साध्याव्यापकत्वात्। न च विवादपदं स्वरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रियभावनासापेक्षमदृष्टसापेक्षमिति वा जनकत्वादात्मवदित्यपि प्रसङ्गेनाभाससमानयोगक्षेमता, आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात्। यच्च तेनोक्तं शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थितिः, अनपेक्षत्वे तयैव व्यभिचार इति, तदसत्; शक्तस्य कारणत्वाभ्युपगमात्। न चान्ततः प्रतीतिं प्रत्यपि कारणत्वमस्तीति वचनीयम्; प्रत्यक्षप्रतीतेरेवार्थजन्यत्वात्। शक्तेश्चाप्रत्यक्षत्वात्। अनुमानादीनां तु नार्थजन्यत्वमितरथाऽतीताद्यनुमानानुदयप्रसङ्गात्, न च योगिनामतीताद्यपि प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षेप्यर्थजन्यत्वं शक्यभञ्जनम्; अतीतादीनां प्रत्यक्षत्व एव विवादात्। यथाह परमर्षिः—'विद्यमानोपलम्भना' दिति। वादार्थमुपसंहरन् शक्तिसमर्थनस्य समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना**। अर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्पदानां पदैरेव स्वाभिहितपदार्थेभ्यो द्वारभूतेभ्यः सन्निधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिर्लक्षणया सिद्ध्यतीति सिद्धमित्यन्वयः।

इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुन्नीतितो मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्या सहायोहिता।
शक्तिर्विश्वमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधांदधेर्निधूताखिलभेदगन्धममलं वन्दे भवानीपतिम्॥

"व्रीहीन् प्रोक्षति"—आदि विधि वाक्यों से प्रोक्षणादि का विधान व्यर्थ ही हो जायगा। प्रोक्षण से दृष्ट फल उत्पन्न नहीं होता, अतः वहाँ अदृष्ट मानना होगा। जहाँ तक श्रुतियों का मुख्य अर्थ हो सके, गौण नहीं माना जाता। इसी से लीलावतीकार का प्रयोग (पृ० २३६ पर कथित) भी—खण्डित हो जाता है; क्योंकि शक्ति में आगम, अर्थापत्ति और अनुमान प्रमाणों को दिखा देने पर उक्त अनुमान का हेतु (प्रमाणेन तथानुपलभ्यमानत्व) असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पदों में अर्थ-बोधन की शक्ति का सद्भाव होने के कारण पदों से पदार्थों का अभिधान होता है और उन पदार्थों के द्वारा सन्निधि, योग्यतादि सहकारी कारण के बल पर पदार्थों के परस्पर अन्वयार्थ में लक्षणा होती है—यह सिद्ध हो गया।

---

१. विवादिवदनतो वादार्थं साधयन्निव स्तोकव्यत्यस्तपदेनोदयनपद्येनैव वादानिर्णीतसंकीर्तनव्याजेन शक्तिपतिं स्तौति—इत्येषेति। सदसत्प्रकारविधुरा (सत्त्वासत्त्वाभ्यां निरूपयितुमनर्हा)। दुरुन्नीततः (अघटन

ननु पदानामेवान्योन्यान्वितस्वार्थाभिधायकत्वसंभवे किमिति पदार्थानां लक्षणयान्योन्यान्वयप्रतिपत्तिजनकत्वमास्थीयते ? तथा हि–योग्येतरान्वितस्वार्थेषु पदानामावापोद्धारदर्शनात्तत्रैव सामर्थ्यमध्यवसीयते । यद्यपि प्रतिप्रयोगं विशेषान्तरतत्संसर्गयोर्व्यभिचारः, तथापि योग्येतरान्वितस्य स्वार्थमात्रस्याव्यभिचारात्, प्रथमावगतयोग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यानुसारेण प्रयोगान्तरेष्वपि तथैव कल्पयिष्यते ।

ननु किमनभिहितेन पदार्थेनान्वित स्वार्थमवबोधयति गोपदम् ? उत पदान्तराभिहितेन ?

पदार्थान्वयप्रतिपत्तिः पदैर्लक्षणया सिद्धयतीत्युक्तम्, तत्र पदार्थानामन्वितावस्थापि पदैरभिधेयैव न लक्ष्येति अन्विताभिधानवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्तेतराम्—नन्वित्यादिना । श्रौतत्वसंभवे लक्षणा न न्याय्या, मुख्यामुख्ययोर्मुख्यस्याभ्यर्हितत्वादिति भावः । नन्वन्विते सामर्थ्याश्रयणाद्वरं स्वरूपमात्रे सामर्थ्याश्रयणमतिलाघवात्, इतरथा गौरवप्रसङ्गादिति तत्राह—तथा हीति । प्रमाणगर्भगौरवं न दोषायेति भावः । नन्वेकस्मिन्प्रयोगे बन्धनान्वितं गोत्वं प्रतीयते, अपरस्मिन्नानयनान्वितम्, अपरत्र दर्शनान्वितमिति व्यभिचारिणौ पदार्थान्तरतदन्वयौ, अव्यभिचारि च गोत्वम्, अव्यभिचारिणि सामर्थ्यं युक्तमाश्रयितुमैकरूप्यादतः पदार्थमात्रमेव पदशक्तिगोचर इति तत्राह—यद्यपीति । ननु किमित्येवं व्यभिचारिणोरपि पदार्थान्तरतत्संसर्गयोरनुगतमेकं रूपमापाद्य अनुगतशक्तिकल्पनानिर्बन्ध इति तत्राह—प्रथमेति । तदुक्तं वाक्यार्थमातृकायां नाथेन—'आकाङ्क्षासन्निधिप्राप्तयोग्यार्थान्तरसंगमात् ।

'स्वार्थानाहुः पदानीति व्युत्पत्तिः संश्रिता यदा ॥
अन्वयव्यभिचाराभ्यां तदा दोषो न कश्चन ॥' इति । (प्र० पं० परि० पृ० ५)

प्रयोगान्तरेषु तुरगमानयेत्यादिषु इत्यर्थः ।

अत्राभिहितान्वयवादिनामाक्षेपमवतारयति—नन्वित्यादिना । येन पदार्थान्तरेणान्वितं स्वार्थमभिदधाति गोपदं तत्किमन्येनानभिहितम्? उताभिहितम्? आद्ये पदान्तरवैयर्थ्यम्, विनैव तदभिधानं तदन्वयलाभात्, एकपदादेव सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् । न च योग्येतरमात्रान्विताभिधानेऽपि तद्विशेषान्विताभिधानसिद्धये पदान्तरोपादानम्; विशेषान्विताभिधानेप्यभिहितानभिहितविकल्पस्य तुल्यत्वात् । द्वितीयं

अन्विताभिधानवादी—पदों से जब परस्पर अन्वित स्वार्थ का अभिधान हो सकता है, तब पदार्थों में लक्षणा से परस्पर अन्वय-बोध की जनकता क्यों मानी जाती है ? आवापोद्वाप के द्वारा प्रत्येक पद का सामर्थ्य योग्येतरार्थान्वित स्वार्थ में ही देखा जाता है । यद्यपि प्रत्येक प्रयोग में विशेष पदार्थान्तर और उसका अन्वय व्यभिचारी है । [भावार्थ यह है कि जैसे 'गो' शब्द का सभी गोव्यक्तियों में प्रयोग देखकर सवत्राव्यभिचरित 'गोत्व' जाति में 'गो' शब्द की शक्ति का निश्चय होता है; गोव्यक्तियों में नहीं; क्योंकि व्यक्तियाँ परस्पर व्यभिचरित हैं । ऐसे ही प्रकृत में इतरार्थान्वय-विशिष्ट स्वार्थ में पदों का तभी सामर्थ्य माना जायगा, जब कि इतर अर्थ और उसका अन्वय—दोनों सर्वत्र अव्यभिचरित हों । किन्तु 'गामानय' में गोत्व, आनयनार्थ से अन्वित, 'गां पश्य' में दर्शनार्थ से—इस प्रकार इतरार्थ और उसका अन्वय—दोनों व्यभिचरित हैं, अतः इतरार्थान्वय-विशिष्ट में पदों का सामर्थ्य नहीं माना जा सकता] । तथापि सामान्यतः योग्येतरान्वित स्वार्थमात्र व्यभिचरित नहीं । प्राथमिक शक्ति-ग्रह योग्येतरार्थ से अन्वित स्वार्थ में होता है, उसी के अनुसार दूसरे प्रयोगों में भी शक्ति की कल्पना होगी ।

शङ्का—क्या अनभिहित पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का बोधक 'गो' पद है ? या पदान्तराभिहित

घटनापटीयस्त्वात्) माया, मूलकारणत्वात् प्रकृतिः, प्रबोधबाध्यत्वादविद्या यस्य विश्वाधिष्ठानस्य विश्वरचनायां सहाया, ऊहिता कल्पितेत्यर्थः । शेषं सुबोधम् ।

नाद्यः ; एकस्मादेव पदात्तत्तदर्थावबोधसंभवेन पदान्तरस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न द्वितीयः ; परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। तथाहि—गामानयेत्यत्र गोपदं यावदानयपदेन गोपदार्थान्वितस्वार्थो नाभिधीयते, न तावत्तदन्वितस्वार्थमभिधातुमर्हति; एवं तदपि पदं यावत्स्वार्थान्वितमर्थं गोपदं नाभिदध्यात्, तावत्तदन्वितस्वार्थं नाभिधत्ते। ततश्च गोपदेन तदन्वितस्वार्थेऽभिहिते पश्चादानयपदेन तदन्वितः स्वार्थोऽभिधातव्यः, सति च तस्मिन् गोपदेन स्वार्थोऽभिधातव्यः इति व्यक्तमेव परस्पराश्रयत्वम्। पदार्थमात्राभिधानपूर्वके तु तदन्विताभिधाने द्विरभिधानमप्रमाणमनुपपद्यमानं चापद्येत ननु द्विरभिधानं न पदजातस्य, साहचर्यवशात्स्वार्थेषु प्रथमं स्मारकाणां पश्चादन्विताभिधायकत्वाभ्युपगमादिति चेत्, मैवम् ; साहचर्यदर्शनदशायामन्वितानामेवानुभूततया तथैव स्मरणस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। न हि पदं पदार्थमात्रप्रतिपत्तये

दूषयति—न द्वितीय इति। आनय इति पदेन गोत्वान्विततयाऽनयनाभिधाने सति आनयनान्वितं गोत्वं गोपदमभिदध्यात्, एवं गोपदेनानयनान्विते गोत्वेऽभिहिते तदन्वितमानयनमानयेतिपदमभिदध्यादित्यन्योन्याश्रय इति खण्डलकार्थः। ननु नात्र परस्पराश्रयताया अवतारः, परस्परनिरपेक्षाणि प्रथमं पदानि पदार्थानसंसृष्टानभिधाय पश्चादन्योन्यान्वितांस्तानेव पदार्थानभिदधत इति तत्राह—पदार्थमात्रेति। न केवलमेवं कल्पनायां प्रमाणाभावः : अपि तु प्रमाणविरोधश्चेत्याह—अनुपपद्यमानं चेति। तथाहि संसृष्टांशेऽपि चेत् पदानि गृहीतसंगतिकानि, तमपि प्रथममेवाभिदध्युः, अगृहीतसंगतिकत्वे पश्चादपि नाभिदध्युः, इत्यस्त्येवानुपपत्तिः, सकृत्प्रयुक्तशब्दस्य विरम्य व्यापारानुपपत्तिर्वानुपपत्तिः। ननु न प्रथममभिधायकानि पदानि, येन द्विरभिधानं प्रसज्येत, अपि तु प्रथमं पदार्थेषु स्मृतिरेव जायते, सहचरितदर्शनात्, सहचरितानि हि पदार्थैः प्रथमपदान्यनुभूतानि देवदत्तदर्शनादिवत्तत्सहचरितयज्ञदत्ते, अनन्तरं तु संसृष्टदशायां स्मारितानां पदार्थानामभिधानमिति तदेतच्छङ्कयित्वा परिहरति—मैवमिति। अन्वितपदार्थैः साहचर्यमेवोपपादयति—न हि पदमिति। व्यवहारसमर्थसंसृष्टपदार्थैः साहचर्यात्तादृगर्थस्मारक-

---

पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का ? प्रथम पक्ष उचित नहीं ; क्योंकि इस पक्ष में तो एक ही 'गो' पद से आनयनादि-समन्वित गोत्व का बोध हो जाता है, पदान्तर (आनय) का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि इस पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष होता है—'गामानय'-यहाँ 'गो' पद तब तक आनयनान्वित स्वार्थ का बोधक नहीं हो सकता, जब तक कि 'आनय' पद गोपदार्थान्वित स्वार्थ का बोध न कर दे। एवं 'आनय' पद भी तब तक गोपदार्थान्वित स्वार्थ का बोधक नहीं हो सकता, जब तक कि 'गो' पद, आनयनान्वित स्वार्थ का बोध न कर दे। इस लिए 'गो' पद से आनयनान्वित स्वार्थ का अभिधान हो जाने के पश्चात्, 'आनय' पद स्वार्थ का अभिधान करेगा और 'आनय' पद से गोपदार्थान्वित स्वार्थ का अभिधान हो जाने के अनन्तर ही 'गो' पद अपने अर्थ का बोधक होगा—इस प्रकार स्पष्ट अन्योऽन्याश्रयता होती है। पदार्थमात्राभिधानपूर्वक इतरान्वित स्वार्थ का अभिधान मानने पर (अर्थात् प्रत्येक पद पहले शुद्ध अपने अर्थ को कहता हैं, तदनन्तर इतरान्वित स्वार्थ को—ऐसा मानने पर) प्रत्येक पद से दो-दो बार वह अर्थाभिधान मानना पड़ेगा, जिसमें न कोई प्रमाण है और न जो बन ही सकता है। यदि कहा जाय कि एक पद से हम दो बार अर्थाभिधान नहीं मानते ; अपितु प्रथमतः प्रत्येक पद अपने सहचारी शुद्ध अर्थ का स्मरण दिलाता है, पश्चात् इतरान्वित स्वार्थ का अभिधान करता है। तो यह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि पद का जो अपने अर्थ से साहचर्य-दर्शन होता है, उसमें अन्वित पदार्थ ही अनुभूत होता है, अतः अन्वित का ही स्मरण मानना होगा, शुद्ध का नहीं ; क्योंकि पद का प्रयोग केवल पदार्थमात्र की प्रतीति के लिए ही नहीं होता, अपितु व्यवहार के लिए व्यवहार

प्रयुज्यते, किंतु व्यवहाराय, स चान्वित एवेति कथमनन्वितानामेव पदार्थानां पदेभ्यः स्मृतिः स्यात्?तथा च गां पश्येति प्रयोगे गोपदेन पूर्वानुभूतानयनान्वितस्वार्थस्य स्मारितत्वात्पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गतं प्रसज्येत, एवं प्रासादं पश्येत्यत्र प्रासादान्वितस्वार्थाभिधायकत्वात्पश्येति पदस्य, न गोपदं तेन संबध्येत। तथा च वाक्यार्थः क्वापि परिनिष्ठितो न सिद्ध्येत्। नन्वव्यभिचाराद्गोपदं स्वार्थमात्रमेव स्मारयति, नार्थान्तराणि, तेषां व्यभिचारित्वादिति चेत्, मैवम्; पट्वभ्यासादरप्रत्ययैराहिताया भावनायाः प्रबोधवत्याः स्मरणहेतुत्वाङ्गीकारात्। तत्प्रबोधस्य च व्यभिचारिण्यर्थान्तरे परिगणितप्रणिधानसाहचर्यादिजन्मनोऽविशेषात्। परिगणिता हि स्मृतिहेतवः "प्रणिधानाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रिताश्रयसंबन्धानन्त-

---

पदानां पदार्थमात्रस्मारकत्वमप्रसिद्धमित्यर्थः। अङ्गीकारे च दूषणान्तरमाह—**तथा चेति**। अयमर्थः—गामानयेति प्रयोगे गोपदस्यानयनान्वितगोत्वेन साहचर्योपलम्भात् गां पश्येति प्रयोगेऽपि कारकाभिधायिगोपदमानयनान्वितमेव गोत्वं स्मारयेदिति पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गतं प्रसज्येत। एवं तस्मिन्नेव प्रयोगे गोपदमपि पश्येत्यनेन क्रियावाचिनाऽनाकाङ्क्षितार्थस्मारकमसङ्गतमेव स्यात्, पश्येत्यस्य प्रयोगान्तरेऽर्थान्तरसाहचर्यदर्शनादिति। उक्तामव्यवस्थां सर्ववाक्येष्वतिदिशति—**तथा चेति**। साहचर्याविशेषेऽपि पदार्थान्तरवैषम्यं शङ्कते—**नन्विति**। व्यभिचारेऽपि भूयोदर्शनाद्याहितसंस्कारोद्बोधादुत्पद्यमाना स्मृतिर्नानन्वितान्वितपदार्थयोर्विशिष्यत इति परिहरति—**मैवमिति**। भावना संस्कारः। सकृद्गृहीतेऽपि तडिदादौ पटुप्रत्ययः, कण्डिकादावभ्यासप्रत्ययः, अद्भुतेष्वादरप्रत्ययः, तथाप्यप्रबुद्धस्य न स्मृतिजनकत्वमिति प्रबोधग्रहणम्। ननु भावनोद्बोध एव न तथा व्यभिचारिणि, यथा अव्यभिचारिणि पदार्थमात्र इति, तत्राह—**तत्प्रबोधस्येति**। प्रबोध उद्बोधः। परिगणितेभ्यः प्रणिधानसाहचर्यादिभ्यो जन्म यस्य प्रबोधस्य तस्येत्यर्थः। भगवदक्षपादेन परिगणितानेव शास्त्रान्तरे स्मृतिहेतून्दर्शयति—**परिगणिता हीति**। **स्मृतिहेतवः**। संस्कारोद्बोधनद्वारेति शेषः। प्रणिधानं मनोऽवधानम्। अभ्यासः प्रसिद्धः। लिङ्गाद्व्याप्तिसंस्कारः। लक्षणं धवलच्छत्रादिचिह्नं राजादिसंस्कारोद्बोधकम्। सादृश्यं शुक्तिभास्वरतादि रजतादि-

---

सदैव अन्वित में ही होता है, अतः पदों से शुद्ध (इतरार्थानन्वित) अर्थ की स्मृति भी कैसे होगी? इस प्रकार 'गां पश्य'—इस प्रयोग में 'गो' पद ने पूर्वानुभूत आनयनान्वित स्वार्थ का स्मरण दिला दिया, तब तो 'पश्य' पद अनाकांक्षितार्थक और असङ्गत हो जाता है, ('गो' पद को 'पश्य' पद की आकांक्षा तब होती, जब कि 'पश्य' पद के बिना उसके अर्थ का बोधक 'गो' पद न होता, किन्तु यहाँ दर्शनान्वित का बोधक, अकेला 'गो' पद ही हो जाता है, फिर उसे 'पश्य' पद की आकांक्षा क्यों होगी? इसी प्रकार 'गामानय' में 'गो' पद आनयनान्वित गोत्व का बोधक हो चुका है, फिर 'गां पश्य' में भी 'गो' पद आनयनान्वित 'गोत्व' का ही उपस्थापक होगा, उसका 'पश्य' के साथ सङ्गमन क्या?)। एवं 'प्रासादं पश्य'—यहाँ प्रासादान्वित स्वार्थ का अभिधायक होने से 'पश्य' पद, 'गो' पद से कैसे जुड़ेगा? इस प्रकार तो कहीं भी वाक्यार्थ सम्पन्न न होगा। यदि कहा जाय कि साहचर्य-दर्शन काल में यद्यपि 'गो' पद इतरार्थान्वित ही अनुभव में आता है, तथापि 'गो' पद केवल अपने अव्यभिचरित अर्थ 'गोत्व' का स्मारक होगा, दूसरे-दूसरे अर्थों का नहीं; इतरार्थ सभी व्यभिचरित हैं। तो यह कहना भी निराधार है; क्योंकि तीव्र आकर्षक, या वार-वार देखी गई, या आदरणीय वस्तु के अनुभवों से जन्य संस्कार, उद्बुद्ध होकर स्मरण दिलाया करते हैं। व्यभिचारी अर्थों में भी संस्कारों का उद्बोधन प्रणिधानादि परिगणित हेतुओं से होता है। महर्षि गौतम ने (न्या० सू० ३।२।४३) उद्बोधक गिनाये हैं—प्रणिधान (एकाग्रता), निबन्ध (समारोप), अभ्यास, लिङ्ग (धूमादि), लक्षण (चिह्न), सादृश्य, परिग्रह (स्वस्वामिभावादि), आश्रित,

र्यवियोगैककार्यविरोधातिशयव्याप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्माः ” प्रामाणिकैः, अस्ति चेह योग्येतरान्वयस्यापि साहचर्यं स्मरणहेतुः। तस्मात्पदैरभिहिताः पदार्थाः एवाकाङ्क्षादिमन्तः परस्परान्वयं बोधयन्तीति युक्तमाश्रयितुम्।

मैवम्; त्वयापि पदार्थविषयाः प्रत्ययाः प्रमाणविपर्ययसंशयादिष्वनन्तर्भावात्स्मृतय एष्टव्याः, ताश्चान्वितगोचरा न स्वरूपमात्रगोचरा इति तुल्यो दोषः। न च वाच्यमभिधानतः स्मारितमेव वाक्यार्थान्वयि, न साहचर्यमात्रादिति; गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीत्यादौ पदानभिहिततीरादीनां वाक्यार्थानन्वयप्रसङ्गात्। अभ्यासातिशयश्च पदार्थस्मरणहेतुः। स च यथा

संस्कारोद्बोधकम्। परिग्रहः स्वीकारः कलत्रादिसंस्कारस्य। एवमाश्रिताश्रयावपि परस्परसंस्कारस्य। सम्बन्धः सहचारः सहचरितसंस्कारस्य। आनन्तर्यं पूर्वतनपदार्थसंस्कारस्य। वियोगः कामिन्यादौ। एककार्यमेकस्मादुत्पन्नकार्याणामन्यतमसंस्कारस्य। विरोधः सर्पनकुलादौ। अतिशयेनातिशयिते। व्याप्त्या व्याप्यव्यापकयाः। व्यवधानं प्रियतमव्यवहिते। सुखदुःखादि तज्जातीयस्य तद्धेतोश्च। अर्थित्वमर्थनीये। अर्थित्वं तु अप्राप्तविषये पुनःपुनरिच्छा। तेनेच्छया न पौनरुक्त्यम्। क्रियारागः क्रियासक्तिः स्वविषयस्य। धर्माधर्मौ शुभाशुभविषयसंस्कारोद्बोधकौ। यस्मादेवमन्विताभिधानपक्षो न घटतेऽतोभिहितान्वयपक्ष एव श्रेयानित्युपसंहरति अभिहितान्वयवादी—तस्मादिति।

अत्रान्विताभिधानवादी स्वपक्षदूषणं प्रतिबन्द्या समादधाति—मैवमित्यादिना। पदार्था एव पदैरभिधीयन्ते, तदन्वयस्तु लक्ष्यते इति यस्याभिहितान्वयवादिनो मतं तेनापि पदार्थविषयाः प्रत्ययाः प्रमाणत्वेन नाभ्युपगन्तुं शक्याः। अनधिगतार्थगन्तृत्वाभावात्, सर्वस्य सत्त्वप्रसङ्गाच्च। नापि विपर्ययसंशयत्वाभ्याम्, यथार्थनिश्चयत्वात्। अतः परिशेषात्स्मृतय एवैष्टव्याः। ताश्च न पदार्थमात्रगोचराः, सहचरितदर्शनात् खल्वयं संस्कारोद्बोधः, साहचर्यं चान्वितैः पदार्थैः नत्वनन्वितैरित्यायुष्मतैवावेदितम्। तथा च कथं त्वन्मतेऽपि पदार्थमात्रस्य प्रथमं स्मरणम्? सोऽयमात्मीय एव बाणो भवन्तं प्रहरतीति भावः। ननु द्विविधा स्मृतिः पदजनिता, साहचर्यादभिधानाच्च। तत्र साहचर्यमन्वितेऽपि समानम्। अभिधानं तु पदार्थमात्रे। अभिधानद्वारा च यत्स्मारितं तदेव वाक्यार्थान्वयोपयोगि नेतरदिति ब्रूमः, देवदत्त! गामानयेत्यादौ तत्सहचरितयज्ञदत्तादेरन्वयादर्शनात्ततो वैषम्यमिति तत्राह—न चेति। हेतुमाह—गङ्गायामिति। यदि ह्यभिधानेन स्मारितमेव वाक्यार्थोपयोगि, तर्हि तीरादिपदार्थानां वाक्यार्थान्वयो न स्यात्तेषामभिधानाभावान्मुख्यार्थसाहचर्यादेव स्मारितत्वादित्यर्थः। तत्किमेवमनुपपत्तिसाम्यापादनेन निवृत्तो भवन् तथा च मतानुज्ञाराजयक्ष्मकक्षीकारः स्यादित्यतः स्वपक्षे परिहारमाह—अभ्यासेति। यस्माद-

---

आश्रय, सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोग, एक कार्य (समान क्रिया), विरोध, अतिशय (विशेषज्ञता), प्राप्ति (अव्यवधान), व्यवधान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भय, अर्थित्व, क्रिया (कार्य), राग, धर्म और अधर्म। प्रकृत में इतरार्थान्वय के स्मरण का हेतु 'साहचर्य' है। अतः पदों से अभिहित पदार्थ ही आकांक्षादि से युक्त होकर परस्पर अन्वय-बोध के जनक होते हैं।

समाधान—आपकी शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि पदार्थविषयक वृत्तियों को (यो. सू. १।६ में कथित) प्रमाण, विपर्यय, संशय में अन्तर्गत न होने के कारण स्मृतिरूप ही मानना होगा। स्मृति तो अन्वित विषयक ही होती है, स्वरूपमात्रविषयक नहीं—इस प्रकार आपके मत में भी वही दोष आ जाता है। यह कोई नियम नहीं कि पदों से अभिहित पदार्थों का ही वाक्यार्थ में अन्वय होगा; क्योंकि 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति'—यहाँ पदानभिहित तीरादि अर्थों का अन्वय वाक्यार्थ में देखा जाता है, वह कैसे होगा? (यह जो आपने कहा कि परिगणित स्मारक हेतुओं से सभी का स्मरण हो सकता है, केवल अव्यभिचरित अर्थ का ही नहीं। वह कहना भी असंगत है; क्योंकि)

पदानां स्वार्थेषु, न तथार्थान्तरेषु ; तेषां व्यभिचारित्वात् । तथा च स्वरूपमात्रेणैव पदेभ्यः स्मारिताः पदार्थाः आकाङ्क्षादिमन्तः पदैरन्विता अभिधीयन्त इति न परस्पराश्रयता । नापि पदान्तरानाकाङ्क्षा ; आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, सा चाभिधानापर्यवसानादभिहितार्थापर्यवसानाद्वा भवति । यथा वृक्ष इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तेस्स्मरणात्तेनैव तस्यान्विताभिधानासम्भवादन्यस्य चानभिधानादभिधानपर्यवसानायैवाकाङ्क्षा । यथा वा 'विश्वजिता यजेत'इत्यत्र कार्यस्य विषयंकरणान्विततया प्रतीतस्यैवापर्यवसानाद्विशिष्टाधिकारिकल्प-

---

व्यभिचारिपदार्थेष्वभ्यासातिशयात्तावन्मात्रस्य प्रथमं स्मरणोपपत्तिः, अतः पूर्वोक्तः परस्पराश्रयपरिहारः स्थित एवेत्याह—तथाचेति । तदुक्तम् शाब्दनिर्णये—

'क्रमेणावगतानर्थान्युगपत्संहतानथ । प्रमिमीरन्पदानीति नान्योन्याश्रयदोषता ॥' इति ॥

नाथैरपि—'श्रूयमाणं[1] पदं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम् । न्यायसंपादितव्यक्ति पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम् ॥

स्मृतिसन्निहितैरेवमर्थैरन्वितमात्मानः । अर्थमाह पदं सर्वमिति नान्योन्यसंश्रयः ॥' इति ।

यत्तु सर्वेषां पदानामन्योन्यानाकाङ्क्षितार्थसमर्पणमापादितं तत्, न ; अभिधानापर्यवसानाद्वा अभिहितार्थापर्यवसानाद्वा पदार्थान्तरे पुरुषस्य जिज्ञासा ह्याकाङ्क्षानाम । यथाहुः—

'अभिधानावसाना हि जिज्ञासार्थाच्च जायते ।
प्रयोजनावसानाच्च पदार्थे सा निवर्तते ॥' इति ॥

नाथेनापि 'अन्वितस्याभिधानार्थ'[2]मित्यादि । तदिहाभिधानानवसानजनिताकाङ्क्षां पदार्थान्तरेऽपि समाना, तद्विशेषनिर्णयस्तु सन्निहितयोग्यपदावमर्शादित्यभिप्रेत्य परिहरति—नापीति । नच पदत्रयाद्यात्मके अन्यतरानाकाङ्क्षा कारणद्वयाभावादिति वाच्यम् ; अश्रूयमाणे हि तथा, श्रूयमाणे तु रक्तपट[3]न्यायेनाकाङ्क्षाकल्पनात् । अभिधानपर्यवसानोदाहरणमाह—यथा वृक्षेति । वृक्ष इति पदेनापि हि पदत्वादन्वितो वृक्षोऽभिधातव्यः, स च केनान्वित इति विमर्शे न तावद्वृक्षं वृक्षैरित्यादौ कर्मकरणादिभिरिव विभक्त्यर्थेन । प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविधानात् । 'प्रातिपादिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इति प्रातिपदिकार्थादिष्वर्थेषु प्रथमां पाणिनिः स्मरति स्म । नच पदार्थान्तरमभिहितमस्ति । तस्मादभिधानपर्यवसानायैव तत्र तिष्ठतीत्यादौ जिज्ञासेत्यर्थः । अभिहितापर्यवसानस्योदाहरणमाह—यथा वेति । विषयो धात्वर्थः, स एव करणं हि पदान्तरश्रवणादभिधानपर्यवसानेप्यभिहितापूर्वापर्यवसानमस्ति । विषयो नियोज्यव्यावृत्तो हि नियोगः प्रतीयमानोऽनुष्ठानाय कल्पत इति विषयवन्नियोज्येप्यस्त्येवाकाङ्क्षेत्यर्थः । प्रतिपादितामाकाङ्क्षां

यहाँ पदार्थ-स्मरण का हेतु है—अभ्यासातिशय । इसके द्वारा शुद्ध स्वार्थों की जैसे स्मृति होती है, वैसे अर्थान्तर की नहीं ; क्योंकि वे व्यभिचारी हैं । अतः पदों के द्वारा प्रथमतः स्मारित शुद्ध पदार्थ ही आकांक्षादि के बल से अन्वित होकर पदों से अभिहित होते हैं, किसी प्रकार का अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं । यह जो कहा था कि अन्विताभिधान-वाद में पदान्तर अनाकांक्षित हो जायँगे । वह भी युक्त नहीं ; क्योंकि आकांक्षा नाम है—प्रतिपत्ता की जिज्ञासा का। वह जिज्ञासा, अभिधान या अभिहित अर्थ के अपर्यवसान (अपूर्णता) से होती है जैसे कि 'वृक्षः'—यहाँ पर इतरार्थान्वित स्वार्थ का अभिधान 'वृक्षः' पद से हो नहीं सकता ; क्योंकि वहाँ इतरार्थ का उपस्थापक कोई पदान्तर है नहीं, प्रथमा विभक्ति तो प्रातिपदिकार्थमात्र में विहित है, इतरार्थ की उपस्थिति उससे भी नहीं हो सकती, अतः इतरार्थ के उपस्थापक 'अस्ति'—आदि—पदों की आकांक्षा वहाँ अन्विताभिधान को सम्पन्न करने के लिए होती है । अथवा 'विश्वजिता यजेत'—यहाँ यागरूप विषय और करण से अन्वित कार्य (नियोग) अभिहित होता है । वह अपर्यवसित (अपूर्ण-सा) है, अतः वहाँ नियोज्य

---

१. प्र० पं० वाक्य० परि० पृ० १५ । २. प्र० पं० वाक्य० परि० पृ० ७ । ३. द्र० २६४ पुटस्था टिप्पणी।

ना । तदेवंभूताकाङ्क्षावशात्पदानामन्विताभिधानं न विरुध्यते । ननु तथापि पदानामन्विताभिधाने सामर्थ्यं न कल्पनीयम्, पदस्मारितानामेव पदार्थानामाकाङ्क्षादिवशादन्योन्यान्वयप्रत्यायकत्वोपपत्तेरिति चेत्, मैवम्; मानान्तराधिगतानां पदार्थानां वाक्यार्थप्रत्यायकत्वादर्शनात्। ननु

'पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्रेषाशब्दं च शृण्वतः ।
खुरनिक्षेपशब्दं च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः' ॥ (श्लो०वा०वाक्य०३५८)

इतिन्यायादस्त्येव पदार्थानां संसर्गबोधजनकत्वमिति चेत्, न; अनुमानादर्थापत्तेर्वा तत्र संसर्गावगमात्। तथाहि—एषां पदार्थानामेकाधिकरणतयावगतानां प्रत्यायकत्वेनानुमानानतिरेकः, विशकलितावगतानां वार्थान्तराभावे निश्चितेऽर्थापत्तिरेव परिशिष्यते,अनिश्चिते त्वनध्यवसाय एव । अपि च शब्दसामर्थ्याजन्यत्वे वाक्यार्थप्रत्ययस्य पदार्थाख्यं सप्तमं प्रमाण-

---

प्रकृतेऽपि दर्शयति—तदेवमिति । यद्यप्यन्योन्याश्रयादिदोषो नास्ति, तथाप्यभिहितपदार्थेभ्य एव संसर्गसिद्धौ पदानामपि सामर्थ्यकल्पनायां कल्पनागौरवं दूषणमित्यभिहितान्वयवादी शङ्कते—नन्विति । यदि हि पदार्थानां संसर्गबोधकत्वं स्यात्तदा तदपहाय पदानामपि सामर्थ्यकल्पनायां स्यादेव गौरवम्, नतु तदस्ति, प्रमाणान्तरगृहीतपदार्थेष्वदर्शनादित्याह—मैवमिति । उक्तं च नाथेन—

'किंतु तेषां न दृष्टैषा शक्तिर्मानान्तरोद्गतौ ।
कल्प्या विशिष्टार्थपरपदसंस्पर्शभाविते ॥' (प्र० पं० वाक्य० परि० पृ० १०)

प्रमाणान्तरगृहीतानामप्यस्त्येव संसर्गबोधकत्वमिति शङ्कते—नन्विति । अत्र हि दृश्यमानं श्वेतिमारूपमव्यक्तरूपं श्रूयमाणौ च हेषाखुरनिक्षेपशब्दौ श्वेतोऽश्वो धावतीति संसर्गबुद्धिं जनयन्तीत्यर्थः। अत्र किमेकनिष्ठतयावगतमेतत्त्रयं संसर्गबोधकम् ? विशकलिततया वा ? प्रथमेऽनुमानतां दर्शयति—तथा हीति । यत्र ह्येतत्त्रयमेकत्रावगतं तत्राश्वत्वं दृष्टमिति व्याप्त्या बोधकत्वादनुमानमित्यर्थः । द्वितीयेऽर्थापत्तितामाह—विशकलितेति । नन्वर्थान्तराभावे विनिश्चितेऽनुपपत्त्याश्वत्वबोधकत्वाद्भवेदर्थापत्तित्वमर्थान्तराभावोऽपि यदा न निश्चितस्तदा कथमर्थापत्तित्वमिति तत्राह—अनिश्चिते त्विति । किंच शब्दाजन्यत्वे संसर्गबुद्धेरप्रामाणिकत्वं पदार्थाख्यसप्तमप्रमाणाभ्युपगमो वा प्रसज्येत, प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावादित्याह—अपि चेति ।

की आकांक्षा से स्वर्गकामनावान् नियोज्य की कल्पना की जाती है । इस प्रकार की आकांक्षा के वश से पदों में अन्विताभिधान भी विरुद्ध नहीं । यदि शङ्का हो कि अन्विताभिधान में पदों के सामर्थ्य की कल्पना व्यर्थ है ; क्योंकि पद-स्मारित पदार्थ ही, आकांक्षादि के बल से परस्परान्वय-बोध के जनक हो जाते हैं । तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि पदाभिहित पदार्थ ही अन्वय-बोध के जनक होते हैं ; प्रमाणान्तर से अधिगत पदार्थों में वाक्यार्थ-प्रत्यायकत्व नहीं देखा जाता । यदि कहा जाय कि 'जो व्यक्ति दूर श्वेतवर्ण की कोई अव्यक्त वस्तु आँख से देखता है, हिनहिनाने का एवं टाप का शब्द कानों से सुनता है; बस ! उसे यह बोध हो जाता है कि श्वेत अश्व दौड़ा आता है'—इस भट्टोक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी प्रकार से भी उपस्थित पदार्थ संसर्ग-बोध के जनक होते हैं । तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि उक्त स्थल पर शाब्दबोध नहीं होता ; अपि तु अनुमान या अर्थापत्ति से संसर्ग-बोध होता है । यदि श्वेतरूपादि पदार्थ समानाधिकरण रूप से प्रतीत होकर 'श्वेत अश्व' के बोधक हैं. तब तो अनुमान है (विमतः पदार्थोऽश्वत्ववान् श्वेतरूपवत्त्वे सति हेषाखुरनिक्षेपशब्दवत्त्वात् सम्मतवत्)। यदि उक्त श्वेतरूपादि, व्यधिकरणतया प्रतीयमान हैं, तब वहाँ अर्थापत्ति ही कहनी होगी । यदि अर्थान्तर के अभाव का निश्चय नहीं, तब वह अनध्यवसायात्मक ही ज्ञान है । दूसरी बात यह भी है कि यदि शब्द-सामर्थ्य से वाक्यार्थ-बोध न मानकर पदार्थों से माना जायगा, तब पदार्थ नाम का एक सप्तम प्रमाण मानना पड़ेगा ; क्योंकि

मभ्युपेयं स्यात्, प्रत्यक्षादिषु तस्यानन्तर्भावात्। किं च पदार्थानामनभिहितानां संसर्गबोधकत्वाभावादभिहितानामेव तदेष्टव्यम्, तथा च पदार्थानां संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यम्, पदानां च पदार्थेषु तत्सामर्थ्याधानसामर्थ्यमिति द्वयं कल्पनीयमिति कल्पनागौरवमभिहितान्वयवादिनः, अन्विताभिधानवादिनस्तु पदानां योग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यमेकमेव कल्पनीयमिति कल्पनालाघवमित्ययमेव पक्षः श्रेयानिति।

अत्राभिहितान्वयवादिनः प्रत्यवतिष्ठन्ते—

विनाभिधेयस्मरणमन्वयाप्रतिपत्तितः।
तत्तत्पदार्थस्मृतयस्तेषामन्वयबोधिकाः॥ २५॥

पदकदम्बकश्रवणसमनन्तरमपि कुतश्चिन्मानसापराधादनुपजनितपदार्थस्मृतेर्वाक्यार्थप्रत्ययानुदयादुदयाच्चोपजातपदार्थस्मृतेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थस्मृतीनां वाक्यार्थप्रत्ययहेतुत्वं तावदवसीयते। न च पदार्थस्वरूपमात्रविषयस्मृतीनामन्योन्यान्वयबोधकत्वमनुपपन्नमन्यत्रादृष्टत्वा-

---

अथ पदस्मारितानामेवेदं सामर्थ्यम्, तर्ह्यनेकशक्तिकल्पनागौरवं स्यादित्याह—किंचेति। पदार्थानां तावत्संसर्गबुद्धिजननसामर्थ्यम् एकम्, अपरमपि पदानां पदार्थेषु संसर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यमुत्पादयितुं सामर्थ्यम्, पदैरेवाभिहितपदार्थेषु तादृशं सामर्थ्यमाधीयते; अनभिहितेषु सामर्थ्यादर्शनात्। नैवमस्मत्पक्षे, अन्वितस्वार्थेषु पदानामेकसामर्थ्याश्रयणात्। यद्यप्यर्थसामर्थ्यादन्विते सामर्थ्यकल्पनायां गौरवमस्ति, तथापि न सामर्थ्यद्वित्वम्, अपि तु स्थौल्यमात्रमिति भावः। अत्र च सामर्थ्यद्वयाभिधानं प्राथमिकपदार्थबुद्धेः साहचर्यात्स्मृतित्वमभिप्रेत्य; तच्च परिहारावसरे स्वयमेव स्फुटीकरिष्यति। उभयसाधारणत्वाद् वावधीरितं पदार्थस्मृतिजननसामर्थ्यमिति।

अभिहितान्वयवादे अन्वयव्यतिरेकौ तावत्प्रमाणमाह—विनेत्यादिना श्लोकेन। अभिधेयपदार्थस्य स्मरणं विनान्वयस्य वाक्यार्थस्याप्रतिपत्तिरित्यत्राविगानमायुष्मतोऽपि। ततोऽवश्यापेक्षणीयाभिधेयस्मरणैः स्मृतैर्वाभिधेयैरन्वयव्यतिरेकवद्भिरन्वयो बोध्यन इत्ययमेव श्रेयानिति श्लोकार्थः। श्लोकं विवृणोति—पदेत्यादिना। कदम्बकं समूहः। एवं पूर्वार्धेनान्वयव्यतिरेकौ प्रदर्श्य उत्तरार्धं व्याचष्टे—अन्वयेति। पूर्वपक्षिणोऽनुशयबीजमुन्मूलयति—न चेत्यादिना। विशकलितपदार्थमात्रस्मृतीनामदर्शनेऽपि पदस्मारि-

---

प्रत्यक्षादि छह प्रमाणों में 'पदार्थरूप' प्रमाण का अन्तर्भाव होता नहीं। एवं अनभिहित पदार्थ, संसर्ग-बाधक होते नहीं, अभिहित पदार्थों में ही संसर्ग-बोधकता माननी होगी। इस प्रकार पदार्थों में ससर्ग बोध-जनन-सामर्थ्य और पदों में पदार्थ-निष्ठ उक्त सामर्थ्य के उत्पादन का सामर्थ्य, दो-दो शक्तियों की कल्पना करने में अभिहित-अन्वय-वादी को महान गौरव होगा। किन्तु अन्विताभिधान-वादी के लिए तो केवल पदों में एक योग्येतरान्वितस्वार्थाभिधान का सामर्थ्य कल्पनीय है, अतः इस मत में कल्पना-लाघव है। यही (अन्विताभिधान) पक्ष ही युक्ततर है।

अभिहितान्वय-वादी—'अभिधेय पदार्थों के स्मरण के बिना वाक्यार्थ-बोध नहीं होता, अतः पद-जन्य पदार्थ-स्मरण या स्मृत पदार्थों को ही वाक्यार्थ-बोध का हेतु मानना होगा।' किसी पद-समूह को सुन लेने पर भी जिस व्यक्ति को किसी मानस दोष के कारण पदार्थों का स्मरण उत्पन्न नहीं होता, उसे वाक्यार्थ-बोध नहीं होता और जिसे पदार्थ-स्मरण होता है, उसे वाक्यार्थ-बोध भी होता है—इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से पदार्थ-स्मरण में वाक्यार्थ-बोध की हेतुता निश्चित होती है। यदि शङ्का हो कि पदार्थ-स्वरूपमात्र-विषयक स्मरण में पदार्थों के पारस्परिक अन्वय की बोधकता नहीं बन सकती; क्योंकि जहाँ-जहाँ 'गो' पदार्थ का स्मरण होता है, वहाँ सर्वत्र आनयन

दिति वाच्यम् । स्मरणमात्रस्य सामर्थ्याभावेऽपि समभिव्याहृतपदकम्बकसमुपजनितपदार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षादिसहकारिणीनां संभवत्येव तद्बोधकत्वम ,सहकारिभेदोपादानात् , कथमन्यथा संस्कारेन्द्रिययोरन्यत्र परस्परसंगतार्थाविषययोः प्रत्यभिज्ञायां पूर्वापरदेशकालसंसृष्टैकवस्तुबोधकत्वम् ? परस्परसहकारितया तथात्वं तु प्रकृतेऽपि तुल्यम् । न च पदार्थस्मृतीनां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वे सप्तमप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्गः ; लिङ्गप्रकरणस्थानानामिव शब्दप्रमाणान्तर्भावोपपत्तेः । ननु लिङ्गादिषु श्रुतिं कल्पयित्वैव विनियोगप्रतीतेः स्वीकाराच्छाब्दत्वं न विरुद्ध्यते, इह तु पदार्थस्मृतीनां स्मृतानां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वमिति वैषम्यम् । शब्दावगतपदार्थ-

---

तपदार्थस्मृतीनां सहकारिवशादुपपद्यत इत्यर्थः । सहकारीति । सहकारिणो भेदो विशेषस्तत्संबन्धादित्यर्थः । अन्यत्रादृष्टस्य कथं कल्पनमित्याशङ्क्य प्रतिबन्दीं गृह्णाति—कथमिति । यथान्यत्र विभिन्नविषयनिष्ठतया दृष्टयोश्चक्षुःसंकारयोः प्रत्यभिज्ञायां सहकारिवैचित्र्यवशात्सोऽयं देवदत्त इत्येकार्थविषयत्वमेवमत्रापि संभाव्यत इत्युपपाद्य सप्तमप्रमाणत्वं पदार्थानामापादितं परिहरति—न चेति । तथा हि—श्रुतिवाक्यसमाख्यानां शब्दरूपत्वेऽपि लिङ्गप्रकरणस्थानानां न शब्दरूपत्वम् । अथ च न शब्दात्पृथक्प्रमाणत्वम्, तथेहापीत्यर्थः । यद्यपि प्रकरणमप्यङ्गवाक्यापेक्षं प्रधानवाक्यमिति शब्दरूपमेव प्रतीयते, तथापीतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अर्थरूपत्वादशब्दत्वमभिप्रेतमिति द्रष्टव्यम् , अविनियोजकत्वाद्वा । न हि लिङ्गादीनि साक्षाद्विनियोजकानीति । लिङ्गादिभ्यो वैषम्यं दर्शयितुं तद्वृत्तान्तमाह—नन्विति । शब्दस्यार्थस्यापेक्षितोऽर्थः शब्देनैव समर्पणीयः , न प्रमाणान्तरेण । न हि त्रयो ब्राह्मणा आगताः कठश्च माठरश्चत्युक्त्वा तृतीयमङ्गुल्या निर्दिशन्तं सन्तः प्रशंसन्ति, प्रशंसन्ति तु कौण्डिन्य इति शब्देनैव समर्पयन्तम् । तदिहापि श्रुतिभिरेव चेत्तत्तदङ्गानि समर्प्यन्ते, समस्यन्ते तदा श्रुतप्रधानेन, नेतरथेति श्रुतिकल्पनयैवैषां लिङ्गादीनां विनियोजकत्वम् , न स्वातन्त्र्येण । श्रुतिकल्पनायां च त्वरामन्थरतातारतम्येनैषां प्राबल्यदौर्बल्ये, यथाह परमर्षिः—'अर्थविप्रकर्षा'दिति । अन्येऽपि—

"एकद्वित्रिचतुष्पञ्चवस्त्वन्तरायकारितम् । श्रुत्यर्थं प्रति वैषम्यं लिङ्गादीनां प्रतीयते ॥" इति ।

प्रकृते तु वैषम्यमाह—इहत्विति । न शब्दस्येति शेषः । नन्वशब्दत्वेऽपि पदार्थानां शब्दावगतत्वात्तज्जन्यप्रतीतिरपि शाब्दी एवेति नातिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—शब्दावगतेति । तामिमां शङ्कां परिहरति सि-

---

का अन्वय देखा नहीं जाता । तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि स्मरणमात्र में वैसा सामर्थ्य न होने पर भी समभिव्याहृत पद-समूह से जन्य, आकांक्षादि-विशिष्ट, पदार्थ-स्मरण में सहकारिविशेष के सम्बन्ध से अन्वय-बोधकता सम्भव हो जाती है । अन्यथा (विभिन्न विषयक साधनों को मिल कर एक कार्य-जनकत्व न मानने पर) जहाँ संस्कार, केवल असन्निहितदेशस्थ देवदत्त को विषय करते हैं और इन्द्रिय केवल समीपस्थ देवदत्त को विषय करती है, वहाँ दोनों मिलकर "सोऽयं देवदत्तः"—इस प्रकार पूर्वापर देश-काल-सम्बद्ध एक वस्तु के बोधक कैसे हो सकेंगे ? परस्पर के सहयोग से, संस्कार और इन्द्रिय में यदि वैसा सामर्थ्य माना जाता है, तब प्रकृत में परस्पर सहयोग से एक वाक्यार्थ की बोधकता, पदार्थ-स्मरण में क्यों न होगी ? यह जो कहा गया कि पदार्थ-स्मरण या स्मृत पदार्थों को अन्वय-बोधक मानने पर सप्तम प्रमाण मानना पड़ेगा । वह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि जैसे अङ्गत्व-बोधक (श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छह प्रमाणों में से श्रुति, वाक्य और समाख्या,—तीनों प्रमाण शब्दरूप हैं किन्तु अवशिष्ट) लिङ्ग, प्रकरण और स्थान—ये तीन शब्दरूप न होने पर भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माने जाते हैं, वैसे ही पदार्थ-स्मरण या स्मृत पदार्थ भी शब्दप्रमाण में अन्तर्भूत हो जाते हैं । यदि कहें कि लिङ्गादि प्रमाणों में, शब्दस्वरूप श्रुति की कल्पना के द्वारा ही विनियोजकत्व (अङ्गाङ्गिभाव-बोधकत्व) होने

जन्यत्वेनान्वयप्रतीतेः शाब्दत्वे, चक्षुषावगतधूमजन्यस्यापि वह्निज्ञानस्य चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम् ; अन्वयप्रतीतिं जनयतां पदानामवान्तरव्यापारत्वात्पदार्थस्मरणानाम्। न च स्वव्यापारव्यवधानाद्व्यापारवतः करणत्वं विहन्यते ; यागादीनामपूर्वव्यवधानेन फलसाधकानामकरणत्वप्रसङ्गात्। न च चक्षुषो लिङ्गज्ञानमवान्तरव्यापारः ; अगृहीताविनाभावस्यानुमानानुदयात्, अचाक्षुषस्थलेऽपि लिङ्गस्य बोधकत्वात्। गुरुमतानुसारिभिरपि लिङ्गप्रकरणादीनामन्तरेणैव श्रुतिकल्पनं विनियोजकानां शब्दप्रमाणान्तर्भावाभ्युपगमाच्च।

ननु त्वयाप्यभिहितान्वयवादे तिस्रः शक्तयः कल्पनीयाः ; पदानां तावदर्थस्वरूपानुभव-

---

द्धान्ती—मैवमिति। नात्र शब्दावगतपदार्थजन्यत्वमात्रादन्वयप्रतीतेः शाब्दत्वमुच्यते, येनानुमितेरपि चाक्षुषत्वप्रसक्तिः, किंतु शब्दावान्तरव्यापाररूपपदार्थस्मरणजन्यत्वात्। उक्तं हि—(श्लो० वा० ७।३४२, ३४३)

'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्। वर्णास्तथापि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥' इति।

ततो नातिप्रसक्तिरिति भावः। ननु तथापि पदार्थैर्व्यवधानात् पदानां कथमन्वयप्रतीतिं प्रति करणत्वम्? तद्व्यनन्तरफलत्वमिति तत्राह—न चेति। यागादीनामिति। गुरुमतेऽपि यागस्य फलं प्रति करणत्वमस्त्येवेति भावः। पदार्थेभ्यो लिङ्गज्ञानस्य वैषम्यमाह—न चेति। अथ किमिति न व्यापारस्तत्राह—अगृहीतेति। तज्जन्यस्तदाश्रितो यस्तत्क्रियाहेतुः स हि तद्व्यापारो नाम। तथा च कथं चक्षुषि व्याप्रियमाणेऽप्यगृहीतव्याप्तिकस्य लिङ्गज्ञानमनुत्पद्यमानं चक्षुर्व्यापारः स्यात्? नहि धूमज्ञानमात्रं लिङ्गज्ञानम्, अपि तु व्याप्तस्य सतः पक्षधर्मतया ज्ञानमिति भावः। चक्षुर्व्यतिरेकेणोत्पद्यमानत्वादपि न तद्व्यापारत्वमित्याह—अचाक्षुषेति। अथवा न चक्षुर्जन्यानुमितिः ; तस्मिन्सत्यपि नियमेनोत्पत्त्यभावात्। असति चोत्पत्तेरतो नेदं तस्य व्यापार इति ग्रन्थार्थः। यत्तु लिङ्गप्रकरणादि उदाहृतम्, तदन्विताभिधानवादिनः प्राभाकरस्य भवत्येवोदाहरणम्। श्रुतिकल्पनाव्यतिरेकेणैव लिङ्गादीनि विनियोजकानीति हि गुरूणां मतमित्याह—गुरुमत इति।

यत्तु शक्तिकल्पनागौरवमुक्तम्, तत्परिहर्तुमुत्थापयति—नन्विति। ननु कथं शक्तित्रयकल्पना? या-

---

से, शब्दान्तर्गतत्व बन जाता है। किन्तु यहाँ तो पदार्थ-स्मरण या स्मृत पदार्थों में ही अन्वय-बोधकत्व है, शब्द-कल्पना-द्वारा नहीं। शब्दावगत पदार्थों से जन्य होने के कारण अन्वय-प्रतीति को शाब्द मानने पर नेत्रावगत धूम से जन्य होने के कारण बह्वयनुमिति को चाक्षुष प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि हमारे मत में अन्वय-प्रतीति के जनक तो पद ही हैं, पदार्थ-स्मरण को अवान्तर व्यापारमात्र माना जाता है। व्यापार का व्यवधान हो जाने से व्यापारी (व्यापार-जनक) में से कारणता निवृत्त नहीं हो जाती; नहीं तो अपूर्वरूप अवान्तर व्यापार का व्यवधान हो जाने से याग में स्वर्गादि फल की कारणता कैसे मानी जा सकेगी? (लिङ्ग-ज्ञान-जन्य अनुमिति में चाक्षुषत्व की आपत्ति तब होती, जब कि लिङ्ग-ज्ञान, चक्षु का व्यापार होता; किन्तु) लिङ्ग-ज्ञान, चक्षु का व्यापार नहीं; क्योंकि (व्यापार उसे ही कहते हैं, जो कारण से जन्य होकर फल का जनक हो। जैसे अपूर्व, यागरूप करण से जन्य होकर स्वर्ग फल का जनक है। किन्तु) व्याप्ति-ज्ञान-शून्य पुरुष के चक्षु से जन्य लिङ्ग-ज्ञान, अनुमितिरूप फल को जन्म नहीं देता। एवं अचाक्षुष स्थल पर भी लिङ्गज्ञान अनुमिति का जनक होता है। यह जो कहा था कि लिङ्गादि प्रमाण, श्रुति की कल्पना करके ही विनियोजक होते हैं। वह भी उचित नहीं; क्योंकि प्रभाकर के मत में श्रुति-कल्पना के बिना ही लिङ्गादि, विनियोजक होकर शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माने जाते हैं।

शङ्का—अभिहितान्वय-वाद में तीन शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है—(१) पदों में अर्था-

जननशक्तिः, अर्थानां चान्योन्यान्वयप्रत्यायनशक्तिः, तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामिति। पदानां साहचर्येणार्थस्मारकत्वे पुनः शक्तिद्वयं कल्पनीयम्, पदार्थानामन्वयबोधनशक्तिः, तेषु तदाधानशक्तिश्च पदानाम्, अन्विताभिधाने तु पदानामन्योन्यान्वितस्वार्थाभिधानशक्तिरेकैवेति कल्पनालाघवमिति चेत्, मैवम् ; त्वयाप्यर्थान्तरे तदन्वये स्वार्थे च पदशक्तीनां कल्पनीयत्वात्। न चार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायकमपि पदं स्वार्थस्यैव वाचकम्, नार्थान्तरतदन्वययोर्जातिवाचकमपि पदं व्यक्तितदन्वययोरिवेति वाच्यम्; विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं जातिवाचकपदेन व्यक्तेरिव लक्ष्यत्वमर्थान्तरतदन्वययोः? उत वाच्यत्वम्? नाद्यः ; पदानामन्विताभिधानभङ्गप्रसङ्गात्। न द्वितीयः ; वाच्यत्वे तयोरपि शक्तेरवश्यकल्पनीयतया गौरवस्य तादवस्थ्यात्। किंचैकैकस्य पदस्य श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा तत्तत्पदार्थस्मरणजननशक्तिः, पुनरेकस्मरणगोचराणां च तेषामेव पदानामन्योन्यान्वितपदार्थाभिधानशक्तिः, सकलपदगोचरस्यास्मरणस्य पदेष्वन्विताभिधानशक्त्याधानशक्तिश्चेति शक्तित्रयकल्पनान्विताभिधानवादेऽपि

वता साहचर्यवशादेव प्रथमं स्मृतिः पदार्थेषूत्पद्यते भवतामिवेति, तर्हि शक्तिद्वयमवश्यंभावीत्याह—पदानामिति। यत्तु पूर्वपक्षे स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तम्; तदत्र स्पष्टीकृतम्। स्वपक्षे च लाघवं स्मारयति—अन्वितेति। अत्राभिहितान्वयवाद्यन्विताभिधानेऽपि शक्तित्रयकल्पनामापादयन्परिहरति—मैवमिति। स्यादेतत्—यथा नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतरूपजातिवाचकमपि पदं नानेकात्मकव्यक्तीनां तदन्वयस्य समवायस्य वा वाचकम्, गोत्ववाचकं यथा तद्व्यक्तितदन्वययोरवाचकम्, तद्वदन्यान्वितस्वार्थवाचकमपि पदं स्वार्थमात्रमेव वक्तीति न शक्तित्रयं कल्पनीयमिति तत्राह—न चेति। किं यद्देवगत्यान्वितं तद्वाचकमित्यन्वयस्योपलक्षणत्वम्? आहोस्विदन्वितस्य वाचकम्? इति विशेषणत्वमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—नाद्य इति। अभिहितान्वयवादिभिरप्येवमभ्युपगमाद्भावस्येति भावः। द्वितीये तु शक्तित्रयमवश्यंभावीत्याह—न द्वितीयः इति। स यदि ब्रूयान्नान्विताभिधानवादे शक्तित्रयम्, नह्येतदर्थत्रयम्, अपि तु एक एव विशिष्टोर्थः, परंतु सविशेषणत्वमिव शक्तेरिति, तं प्रकारान्तरेण शक्तित्रयमापादयति—किंचेति। एषा हि अन्विता-

---

नुभव-जननशक्ति, (२) अर्थों में पारस्परिक अन्वय-प्रतीति-जनन शक्ति और (३) पदों में, अर्थ-निष्ठ शक्ति की जनक शक्ति। पद साहचर्यमात्र से अपने अर्थों के यदि स्मारक ही हैं, बोधक नहीं, तब भी दो शक्तियों की कल्पना अनिवार्य है—एक पदार्थों में अन्वय-बोधन शक्ति और दूसरी पदार्थ-निष्ठ अन्वय-बोध-जनकता की आधान शक्ति, पदों में। किन्तु अन्विताभिधान-वाद में एक ही इतरान्वित स्वार्थ के अभिधान की शक्ति—इस प्रकार शक्ति-कल्पना में लाघव होने से अन्विताभिधान-वाद ही युक्ततर है।

समाधान—आप (अन्विताभिधान-वादी) को भी तीन शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है—पदों में अर्थान्तर-बोधन-शक्ति, अन्वय-बोधन–शक्ति और स्वार्थ-बोधन-शक्ति। यदि कहें कि अर्थान्तर से अन्वित स्वार्थ का बोधक भी पद, वाचक केवल स्वार्थ का ही होता है, अर्थान्तर तथा उसके अन्वय का नहीं ; जैसे कि जाति-वाचक पद, व्यक्ति एवं उसके अन्वय का वाचक नहीं होता। तो यह कहना उचित नहीं ; क्योंकि जाति-वाचक पद के ही समान आप अर्थान्तरान्वय से उपलक्षित स्वार्थ की बोधकता पदों में मानते हैं ? या कि अर्थान्तरान्वय-विशिष्ट स्वार्थ की ? प्रथम पक्ष में तो आपका अन्विताभिधान-वाद (अन्वय-विशिष्ट-वाचकता) भङ्ग हो जाता है और द्वितीय पक्ष में अर्थान्तर और उसके अन्वय में भी शक्ति अवश्य माननी होगी, फिर तो वही कल्पना-गौरव आपको भी है। दूसरी बात यह है कि श्रूयमाण या स्मर्यमाण प्रत्येक पद में इतरार्थ-स्मरण-जनन-शक्ति, प्रत्येक स्मरण के विषयीभूत प्रत्येक अर्थ से अन्वित अर्थ की अभिधान-शक्ति और सकल पद विषयक स्मरण में पद-निष्ठ अन्विताभिधान शक्ति की आधान-शक्ति—इस प्रकार तीन शक्तियों की कल्पना

तुल्या। न चाभिहितान्वयवादेऽपि शक्तिकल्पनागौरवस्य तुल्यत्वात् विनिगमनाभाव आशङ्कनीयः; विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तपदकदम्बसमभिव्याहारान्यथानुपपत्त्या पदस्मारितानामर्थानामन्योन्यान्वयस्य लक्ष्यमाणत्वेनोपपत्तेः शक्तेरकल्पनीयत्वात्, 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इति न्यायात्। उक्तं च 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जनः' इति।

ननु नेयं लक्षणा भवितुमर्हति, तथाहि—

'वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तितः।
तत्संबन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते॥' इति। (प्र० पं० वाक्य० परि० पृ० १३)

भिधानपरिपाटी—प्रथमं श्रूयमाणैः स्मर्यमाणैर्वा पदैरन्योन्यासंसृष्टार्थाः प्रत्याय्यन्ते, अन्त्यपदोच्चारणानन्तरं चैकस्मृत्यारूढानि तान्येव पदानि पदार्थानन्योन्यान्विततया प्रतिपादयन्तीति। तथा च पदार्थमात्रेषु संसृष्टपदार्थेषु च प्रत्ययाधाने पदानां सामर्थ्यद्वयम्, सकलपदविषयस्मरणस्य सकलपदेष्वन्विताभिधानसामर्थ्ये तृतीयम्, एकस्मृत्यानारूढपदानां तत्सामर्थ्याभावादित्यर्थः। ननु शक्तित्रयकल्पनायामुभयोः समानायां कोऽयमाग्रहः यदभिहितान्वयवाद एव श्रेयानिति ? तत्राह—न चेति। अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः, लभ्यते चान्येभ्योऽपि व्यवहारःसमर्थसंसृष्टपदार्थबोधार्थे प्रयुक्तपदस्मारितेभ्यः पदार्थेभ्यः। न च तस्याशाब्दत्वम्, शब्दैरेव लक्ष्यमाणत्वादतो न शक्तित्रयमिति खण्डलकार्थः। एतदुक्तं भवति—पदानां पदार्थस्मृतिजनकत्वं तवापि तुल्यम्, स्मृतपदार्थानामन्वयप्रतिपत्तिहेतुतामात्रमपि तुल्यमेव, इतरथा प्राथमिकपदार्थस्मृतेस्तवापि वैयर्थ्यात्, करणत्वं तु मयापि नेष्यते, पदानां पदार्थेष्वन्वयप्रतिपत्तिजननसामर्थ्याधानसामर्थ्यं भवदीयसमुदायस्मृतिसामर्थ्येन तुल्यम्, पदानां स्मृतपदार्थान्वयबोधने यत्सामर्थ्यमभिधानात्मकं त्वया परिकल्प्यते, तन्मत्पक्षे नास्तीति मत्पक्षे लाघवमिति। जने मध्यमवृद्धे लोकव्यवहार इति वा पदसमभिव्याहृतिरुत्तमवृद्धस्य पदप्रयोगो वा विशिष्टार्थप्रयुक्तेति मण्डनमिश्रोक्तियोजना।

परस्परान्वये पदानां लक्षणैव वृत्तिर्नतु मुख्येत्युक्तम्, तदाक्षिपति मुख्यवृत्तिं मन्वानोऽन्विताभिधानवादी—ननु नेयमिति। लक्षणाभावं दर्शयितुं शालिकनाथोक्तं तल्लक्षणमाह—तथा हीति। वाच्यस्यार्थस्य गङ्गादिरूपस्य वाक्यार्थे घोषप्रतिवासादिरूपे संबन्धानुपपत्तौ सत्यां वाच्यार्थसंबन्धवशात्प्राप्तस्य वाक्यार्थान्वयाद्धेतोर्या शब्दस्य तत्र प्रवृत्तिः लक्षणेति श्लोकार्थः। प्रकृते च वाच्यार्थानां वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तिरूप-

---

अन्विताभिधान-वाद में भी समान ही है। 'अभिहितान्वय-वाद में भी यह शक्ति कल्पना-गौरव के समान है, अतः विनिगमन (अन्यतर पक्ष-साधुत्व के निर्णय) का अभाव है'—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि विशिष्टार्थ-बोधन के लिए प्रयुक्त पदों के समभिव्याहार की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा पदों से स्मारित पदार्थों की पारस्परिक अन्वय में लक्षणा से ही काम चल जाता है, शक्ति-कल्पना की आवश्यकता हमारे मत में नहीं; क्योंकि आचार्य शबरस्वामी ने कहा है—"अनन्यलभ्यः शब्दार्थः" (शब्द की शक्ति उसी अर्थ में माननी चाहिए, जो अन्यतः = लक्षणादि से लब्ध न हो सके)। एवं आचार्य मण्डन मिश्र ने भी कहा है—

सम्बन्धयोग्यरूपेण तस्मात्संसर्गभागिनः।
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जने॥ (ब्र. सि. पृ. १११)

(सभी पदार्थ अपने पदों से स्मारित क्रिया कारकादिरूप संसर्ग के भागी होते हैं; क्योंकि व्यवहार में विशिष्टार्थ की प्रतीति के लिए ही पदों का समुच्चारण किया जाता है)।

यदि शङ्का हो कि आपने जो पारस्परिक अन्वय में पदों की लक्षणा मानी है, वह उचित नहीं, क्योंकि लक्षणा का लक्षण है—'वाक्यार्थ में वाच्यार्थ के सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने के कारण वाच्यार्थ के सम्बन्ध से प्राप्त तीरादि अर्थ का वाक्यार्थ में अन्वय होना। अतः तीरादि अर्थ में गङ्गादि पदों की वृत्ति को लक्षणा कहा जाता है।' किन्तु प्रकृत में 'ओदनं चैत्रः पचति पिठरे'—

न च 'औदनं चैत्रः पचति पिठरे, इत्यादौ चैत्रपिठरादीनामर्थानां वाक्यार्थसंबन्धानुपपत्तिः। न च पदार्थैर्लक्षितायाः पदार्थानामन्वितावस्थायाः पुनरन्वयान्तरशालिता, तेनेयं न लक्षणा तल्लक्षणविरहादिति चेत्, मैवम्; अव्यापकत्वादेतस्य लक्षणालक्षणत्वासंभवात्। न हि विषं भुङ्क्ष्वेत्यादावेतल्लक्षणमस्ति। तत्र सर्वेषां पदानां लक्षकत्वेन वाच्यार्थाभावात्, वाच्यार्थाविनाभूतस्य वाक्यार्थेन पुनरन्वयाभावाच्च। यदपि—

'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥'

इतिलक्षणालक्षणम्, तदप्यव्यापकम्। कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वती'त्येतल्लक्षणाऽव्यापकत्वात्, 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वती'ति श्रूयमाणत्वात्, प्रसिद्धाग्निहोत्रे चोपसदामभावात्कर्मान्तरेऽग्निहोत्रशब्दः प्रसिद्धाग्निहोत्रसाधर्म्याल्लक्षणया वर्तते। न च तत्र मानान्तर-

---

लक्षणभागो नास्तीत्याह—न चेति। पिटरं भाण्डम्। यस्तु तत्संबन्धवशात् प्राप्तस्यान्वयादिति लक्ष्यमाणार्थस्य पुनर्वाक्यार्थेऽन्वय उक्तः, सोऽपि नास्तीत्याह—न च पदार्थैरिति। नह्यत्र वाक्यार्थद्वयमस्ति, येन लक्ष्यमाणवाक्यार्थस्य वाक्यार्थसंबन्धो भवेत्, स्वेनैव स्वसम्बन्धानुपपत्तेरिति भावः। लक्षणमेवेदं लक्षणाया न संभवति, अव्यापकत्वात्, अतो नैतदभावमात्राल्लक्षणात्वक्षय इति परिहरति अभिहितान्वयवादी—मैवमित्यादिना। वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तितः, अत्र कोऽयं वाक्यार्थोऽभिमतः? किं न्यायपरिशोधनया निष्पन्नोऽर्थः? किंवा क्रिया? आहोस्वित्परिशिष्टपदवाच्योऽर्थः? नाद्यः; तदानीमनिष्पन्नत्वाद्वाक्यार्थस्येत्यभिप्रेत्याह—नहीति। नापि द्वितीयः; विषं भुङ्क्ष्वेत्यत्र क्रियाया अविवक्षितत्वात् भुङ्क्ष्वेत्यस्यापि तन्निवृत्तिपरत्वात्। अत एव न तृतीय इत्याशयवानाह— तत्रेति। इतरोऽपि लक्षणांशो नास्तीत्याह—वाच्यार्थेति। नहि भोजननिवृत्तिव्यतिरेकेणापरो वाक्यार्थोऽस्ति येनान्वियादिति भावः।

लक्षणान्तरमप्यनुवदति—यदपीति। मुख्यार्थस्य परिग्रहे मानान्तरविरोधे सति मुख्यार्थेनाविनाभूते संबद्ध इति यावत्। मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्राविनाभावादर्शनात्, तस्मिन्नविनाभूते या प्रतीतिः सा लक्षणोच्यते इति योजना। अस्ति कुण्डपायिनामयनगतं कर्म 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'ति श्रूयमाणम्, तत्र चाग्निहोत्रशब्दो गौण्या प्रयुज्यते इति स्थितम्। उक्तं 'क्रियाभिधानम्' इत्यत्र। 'गौण्यपि हि गुणलक्षणयोगेन वर्तते इति लक्षणोच्यते'। लक्षितलक्षणा हि गौणी, न च तत्र एतल्लक्षणमस्तीत्य व्याप्त्या दूषयति—तदित्यादिना। ननु किमिति गौणः, मुख्य एवाग्निहोत्रशब्दः किं न स्यात्? अत आह—उपसद्भिरिति। एतच्च भाष्यकारीयं मतम्, वार्तिककारमतं त्वनुपादेयमाससंबन्धात्, विच्छिन्नप्रकरणत्वाच्च, प्रत्यभिज्ञाभावाच्च कर्मान्तरमिति। तच्च दर्शितं प्रकरणान्तराधिकरणमनुक्रामद्भिरस्माभिर्मिथ्यात्ववादपूर्वपक्षावसरे। अस्तु लक्षणात्वम्, लक्षणस्य तत्र कथमभाव इति? मानान्तरविरोधाभावादित्याह—न चेति। यथाहि

आदि वाक्यों में चैत्र, पिठरादि वाच्यार्थों की वाक्यार्थ में सम्बन्धानुपपत्ति नहीं होती और न वाच्यभूत पदार्थों के सम्बन्ध से लब्ध अन्वितावस्था का अन्य किसी वाक्यार्थ में अन्वय ही होता है; अतः यह लक्षणा कैसी, जिसमें उसका लक्षण नहीं घटता? तो यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि उक्त लक्षणा का लक्षण 'विषं भुंक्ष्व'—आदि स्थलों पर अव्याप्त है। यहाँ सभी पदों के लक्षक होने से न तो कोई वाच्यार्थ ही है और न वाच्यार्थ से लब्ध अर्थान्तर का वाक्यार्थ में अन्वय ही होता है। यह जो लक्षणा का लक्षण किया जाता है कि—'जहाँ मुख्यार्थ का ग्रहण करने पर प्रमाणान्तर का विरोध होता है, वहाँ मुख्यार्थ से अविनाभूत अर्थ की प्रतीति होती है—उसे ही लक्षणा कहते हैं।' वह भी अयनगत "मासमग्निहोत्रं जुहति"—में अव्याप्त है; क्योंकि वहाँ प्रसिद्ध अग्निहोत्र में उपसद् होमों के न होने से, नित्य कर्म से भिन्न कर्म में 'अग्निहोत्र' पद की लक्षणा तो होती है,

विरोधः, तदर्थस्य मानान्तरागोचरत्वात्। तस्मात्पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव लक्षणं लक्षणायाः, सर्वलौकिकवैदिकलक्षणायां व्यापकत्वात्। तथा हि 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति, आदित्यो यूपः, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वती'त्यादावस्ति पदार्थमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिः। ननु तत्र वाच्यार्थान्वयानुपपत्तिरप्यस्ति, तत्कथमिदमेव लक्षणमिति नियम्यते ? इति चेत्, मैवम्; वाच्यार्थान्वयानुपपत्त्यभावेऽपि लोकवेदयोर्लक्षणादर्शनात्। तथाहि लोके—

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च योऽभिजानाति सेवितुम् ॥'

इत्यादौ पदार्थानामन्वयसंभवेऽपि निष्प्रयोजने तात्पर्यासम्भवेन वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेः, प्रतीयमानवाक्यार्थं हित्वा शूरादित्वं संपदो हेतुरिति ध्वनिना सूच्यते। तथा च वेदे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठ' इत्यादौ संभवत्येव वाच्यार्थान्वये कैमर्थक्यवशेन देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मणः

गङ्गायां घोष इत्यत्र तद्वाक्यव्यतिरेकेण मानान्तरविरोधो मुख्यार्थपरिग्रहे, न तथेह प्रमाणान्तरविरोधः, तदर्थस्य तदयोग्यत्वात्, केवलमेतद्वाक्यव्यापारपर्यालोचनया मुख्यार्थपरित्यागादिति भावः। एवं पराभिमतलक्षणं दूषयित्वा सर्वलक्षणानुगतं लक्षणमुपसंहारफलेनाह—**तस्मादिति**। लौकिकवैदिकलक्षणासु लक्षणव्याप्तिमेव दर्शयति - **तथा हीति**। आदित्यो यूप इत्यत्रादित्यशब्दस्तेजस्वित्वलक्षणापरः। निर्णीतं खल्विदं प्रमाणलक्षणे नामधेयपादे—'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रया इत्यत्र सारूप्यादादित्यशब्दो यूपे वर्तते' इति। नन्वेतेषूदाहरणेष्वस्मल्लक्षणमपि वाच्यार्थस्य वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्त्यात्मकमस्ति तत्कथं निर्णयः ? इति शङ्कयित्वा तल्लक्षणरहितेऽपि स्वकीयलक्षणानुवृत्त्या लक्षणान्वयं लोकवेदयोर्दर्शयति—**मैवमित्यादिना**। **सुवर्णपुष्पामिति**। सुवर्णमयपुष्पशालिनीं पृथ्वीं चिन्वन्तीति तत्र योजना। अथवा पृथिवीं सुवर्णपुष्पां चिन्वन्ति पृथिव्येव सुवर्णपुष्पा यथा भवति तथा चिन्वन्ति संपादयन्ति। एवं तु नाम बहुसुवर्णमुपार्जयन्तीत्यर्थः। तांश्च त्रीनाह—**शूरश्चेत्यादिना**। **कैमर्थक्यवशेनेति**।

किन्तु प्रमाणान्तर का विरोध नहीं, कारण यह है कि वह प्रमाणान्तर का विषय ही नहीं। इस लिए पदों को पदार्थस्वरूपमात्रपरक मानने पर जो वाक्य-प्रामाण्य की अनुपपत्ति होती है, वही लक्षणा की नियामिका है। यह लक्षणा का निर्दुष्ट लक्षण है; क्योंकि लौकि-वैदिक सभी लक्षणाओं में घट जाता है। जैसे कि "गङ्गायां घोषः प्रतिवसति"—(इस लौकिक उदाहरण में वाक्य-प्रामाण्य की अनुपपत्ति से 'गङ्गा' पद की तीरं में लक्षणा होती है)। "आदित्यो यूपः", "उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहति"—[आदि वैदिक उदाहरणों में वाक्य-प्रामाण्य की अनुपपत्ति से ही 'आदित्य' पद की 'तेजस्वित्व में लक्षणा होती है–द्र० पू० मी० १।४।१५। एवं 'अग्निहोत्र' पद की नैयमिक अग्निहोत्र-साधर्म्य में लक्षणा होती है–द्र० पू० मी० २।३।११]। यदि कहना चाहें कि उक्त उदाहरणों में वाच्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति भी तो है, तब वाक्य-प्रामाण्यानुपपत्ति ही क्यों लक्षणा की नियामिका है ? तो यह नहीं कहनां चाहिए; क्योंकि वाच्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति न होने पर भी लोक और बेद में लक्षणा देखी जाती है। जैसे कि 'तीन पुरुष सुवर्णमय पुष्पवाली पृथिवी का सञ्चयन करते हैं, शूर, विद्वान और सेवक'—आदि लौकिक वाक्यों में पदार्थों का अन्वय उपपन्न होने पर भी निष्प्रयोजन अर्थ में तात्पर्य सम्भव नहीं; अतः वाक्य-प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति से प्रतीयमान वाक्यार्थ का परित्याग करके केवल 'शूरतादि, सम्पत्ति के हेतु होते हैं'—इतना अर्थ वहीं माना जाता है। वैसे ही वेद में भी "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (वायु शीघ्रगामी देव है)—आदि स्थलों पर वाच्यार्थ का अन्वय सम्भव होने पर भी 'किमर्थोऽयम् ?'—इस प्रकार की कैमर्थक्य-आकांक्षा

प्राशस्त्यं लक्ष्यते। तस्माद्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति निश्चिनुमः। अस्ति चेहापि लोकानुसारतो विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनामर्थमात्रपरत्वे पदानां प्रामाण्यानुपपत्तिः। 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जनः' इति न्यायात्। अस्ति च शब्दानामर्थरूपसंबन्धवशप्राप्तिरन्वितावस्थायाम्, तथा चार्थरूपबोधनसामर्थ्यान्नाधिकसामर्थ्यद्वयकल्पनापि।

ननु पदानां संस्कारोन्मेषमात्रोपयोगान्नाभिधातृत्वम्, पदार्थानामपि स्ववाचकपदसंस्कारो-

नहि वायोः क्षेपिष्ठत्वं प्रमाणान्तरेण विरुद्ध्यते। अविरुद्ध एव तु तस्मिंस्तावति निष्प्रयोजनतया पर्यवसानाभावात् किमर्थमिदमित्यपेक्षावशेन रक्तपटन्यायेन वा [1]नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन वा देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मप्राशस्त्यमिति वाक्यार्थः। एवं लौकिकवैदिकलक्षणासु लक्षणस्यानुगतिं दर्शयित्वा प्रकृतेऽपि तदनुगतिमाह—अस्तीति। विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्ता समभिव्याहृतिरुच्चारणं येषां पदानां तानि विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनि तेषामित्यर्थः। अर्थः पदार्थः। ननु वाक्यार्थे संबन्धानुपपत्तेः अन्वयान्तरशालित्वस्य च सर्वलक्षणास्वननुगमेऽपि तत्सम्बन्धवशप्राप्तेरस्त्यन्वयः, इह च पदार्थानामेव वाक्यार्थत्वात् न तत्संबन्धात्प्राप्तिरिति तत्राह—अस्ति चेति। वाक्यार्थस्वरूपाणां परस्परं यः संबन्धः तद्वशात्परंपरयान्वितावस्थायां शब्दानां प्राप्तिरस्तीत्यर्थः। अथवा अर्थस्वरूपाणां यो वाक्यार्थेनान्वयः, विशिष्टस्वरूपयोस्तादात्म्याङ्गीकारात्, तद्वशाच्छब्दानामपि प्राप्तिरस्ति वाक्यार्थ इत्यर्थः। एवं च यदन्विताभिधानवादिनामतिरिक्तसामर्थ्यद्वयम्, पदानामन्वितबोधनसामर्थ्यमेकम्, स्मृतेश्च पदेष्वन्वितबोधनसामर्थ्याधानसामर्थ्यमपरमिति, तदपि निष्प्रयोजनं नास्मिन्मतेस्तीत्याह—तथा चेति।

स्यादेतत्—न पदानां पदार्थाभिधायकत्वम्, येन तत्सामर्थ्यादधिकं न कल्पनीयं स्यात्, अपि तु

के वश से देवता-प्राशस्त्य के द्वारा कर्म-प्राशस्त्य में लक्षणा मानी जाती है। इस लिए वाक्यप्रमाण्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा का निमित्त है—यह हमारा निश्चय है। प्रकृत में भी विशिष्टार्थबोधन के लिए प्रयुक्त पदों के प्रामाण्य की अनुपपत्ति होगी, यदि उन्हें स्वार्थमात्रपरक माना जाय। जैसा कि आचार्य मण्डन मिश्र ने (ब्र. सि. नि. पृ. १११ पर) कहा है—'विशिष्टार्थ का बोध कराने के लिए ही पदों का समुच्चारण होता है।' यह जो कहा जाता है कि "तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते" (वाच्यार्थ प्रवाहादि के सम्बन्ध से बुद्धि में उतरे तीरार्थ का वाक्यार्थ में अन्वय, लक्षणा कहलाता है—प्र. पं. परि. पृ. १२)। वह भी यहाँ घट जाता है—अनन्वित अर्थरूप सम्बन्ध के वश से अन्वित अवस्था में शब्दों की प्राप्ति होती है। अतः अर्थ-बोधन-सामर्थ्य से अधिक दो और शक्तियों की कल्पना हमें नहीं करनी पड़ती (अर्थात् अन्विताभिधान-पक्ष में जो दो अधिक शक्तियाँ मानी जाती हैं—एक पदों में अन्वितार्थ-बोधन-शक्ति और दूसरी स्मरण में पद-निष्ठ अन्वित अर्थ-बोधन-शक्ति की आधान शक्ति, ये दोनों अभिहितान्वय-वाद में नहीं माननी पड़ती, अतः यहाँ कल्पना-लाघव है)।

यदि सन्देह हो कि पद अपने अर्थ के स्मारक मात्र होने से वाचक नहीं कहे जा सकते; स्मारक को वाचक मानने पर अपने वाचक पदों के स्मारक पदार्थ भी वाचक हो जायँगे

---

१. दैवदुर्विपाकाद् दन्दह्यमाने ग्रामे एकस्य रथिनो रथो दग्धोऽपरस्य चाश्वाः प्रणष्टाः। तौ च यथा रथिनावन्योऽन्याकाङ्क्षया मिलित्वैकं रथं कृत्वाभीष्टमापतुस्तथाऽर्थवादविधिवाक्ये प्रधानाङ्गपरेऽपरापराकाङ्क्षयैकवाक्यतां गतेऽनवगतमर्थं गमयतः। यदा तु निराकाङ्क्षयार्वाक्ययोराकाङ्क्षामुत्थाप्यैकवाक्यता सम्पाद्यते, तदा रक्तपटन्यायोऽवतरति। यथा पटोऽस्तीति वाक्यास्याकाङ्क्षाविधुरस्यापि 'कीदृशः' इत्याकाङ्क्षामुत्थाप्य 'रक्तः' इत्यनेनैकवाक्यता क्रियते; तथा विध्यर्थवादो 'कथम्? किमर्थोऽयम्?' इत्याकाङ्क्षे समुत्थाप्यैकवाक्यतां नीयेते।

न्मेषकाणां तत्स्मारकतयाभिधायकत्वप्रसङ्गादितिचेत्, न; पदानामेव पदार्थस्मारकाणामभिधातृत्वस्य लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धिसिद्धस्यानिवारणीयत्वात्, शब्दविषयविज्ञानस्यैव पदार्थस्मरणजननशक्त्युपहितस्याभिधाव्यापारत्वेन स्वीकारात्, अन्यस्य च परिस्पन्दप्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्य विभौ विभुगुणे वा शब्दे चैतन्यानधिकरणे दुर्निरूपत्वात्। तस्मात्समभिव्याहृतपदकदम्बकस्मारितपदार्थानां परस्परान्वयप्रत्ययो लाक्षणिकः शाब्दश्चेति सर्वमवदातम्। तथाचोक्तं मीमांसावार्तिककारमिश्रैः—

'न विरुध्यन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः॥' इति। (श्लो० वा० वाक्य० २२९)

प्रयोगश्च—शब्दास्तात्पर्यविषयव्यतिषङ्गस्य लक्षकाः।
तत्तात्पर्याभिधानत्वात्क्ष्वेळं भुङ्क्ष्वेति शब्दवत्॥ २६॥

साहचर्यवशात्संस्कारोन्मेषकतया स्मारकत्वम्। नचैतदेवाभिधायकत्वम्; अर्थानामपि शब्दाभिधायकत्वप्रसङ्गात्; अस्ति च तेषामपि शब्दस्मारकत्वमिति। ततश्च तदतिरिक्ताभिधाव्यापारस्वीकारेऽन्विताभिधानवादस्वीकार इत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। यद्यपि स्मारकत्वं पदतदर्थयोः समानं, तथापि पदानामेवाभिधायकत्वं लौकिकप्रसिद्धं नेतरस्येति परिहरति—**न पदानामिति**। नन्वन्य एवाभिधाव्यापारः शब्दस्य भाट्टैरभ्युपेयते, तत्कथं स्मारकाणामेव प्रसिद्धिवशादभिधायकत्वमिति तत्राह—**शब्देति**। अथवा स्मृतिजननशक्तिविशिष्टं शब्दविज्ञानमभिव्यापारः, नचैवंविधो व्यापारोऽर्थस्यास्तीति कथमभिधायकत्वप्रसक्तिः? इत्याह—**शब्दविषयेति**। अथवाभिधायकत्वं न निवारयामः, किंतु स्मरणजनकतातिरिक्तमेव तत्स्वीकर्तव्यमिति तत्राह—**शब्दविषयेति**। पदजनितविज्ञाने परिशेषात्स्मृतित्वेन तज्जनकत्वमेव शब्दस्याभिधायकत्वमित्यर्थः। अत्र वक्तृविशेषानुमापकशब्दविज्ञाने तदनभिधानरूपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै शब्दग्रहणम्। ननु परिस्पन्दः प्रयत्नो वा अन्य एव व्यापारो लोकप्रसिद्धः, यथा वा कौमारिलानामात्मनः, तत्कथं विज्ञानस्य व्यापारत्वम्? इत्याशङ्क्याह—**अन्यस्येति**। विभाविति भट्टनये। विभुगुणे इति काणादादिनये। तदनेन मूर्तद्रव्यानुविधायिपरिस्पन्दो निरस्तः। प्रयत्ननिरासायाह—**चैतन्येति**। अयमभिसन्धिः—तज्जन्यस्तदाश्रितश्च तत्क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इति चक्षुःसंयोगादौ यद्यपि दृष्टस्तथापि श्रोत्रशब्दसन्निकर्षे तज्जन्यत्वाभावेऽपि तद्व्यापारत्वं दृष्टम्, तथा अपूर्वस्य यागाश्रयत्वाभावेऽपि यागजन्यतया तद्व्यापारत्वमभ्युपगतम्, तदिहापि शब्दविषयविज्ञानस्य शब्दाश्रयत्वाभावेऽपि तज्जन्यत्वादपि भवति तद्व्यापारत्वमिति। स्वपक्षदूषणसमाधानमुपसंहरति—**तस्मादिति**। लाक्षणिकत्वेऽत एव शाब्दत्वे च भट्टपादसंमतिमाह—**तथा चेति**। ननु तथापि वाक्यार्थस्य लाक्षणिकत्वे किं प्रमाणम्? नह्येतदभियुक्तवचनैकगम्यमिति तत्राह—**प्रयोगश्चेति**। तात्पर्यविषयो व्यतिषङ्गसंबन्धस्तस्य लक्षका इति साध्यनिर्देशः। विषं भुङ्क्ष्वेति

तो यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि सभी स्मारक, वाचक नहीं होते, केवल स्वार्थ-स्मारक पदों को ही लोक-प्रसिद्धि के आधार पर वाचक माना जाता है। पदार्थ-स्मरण-जनन-शक्ति-विशिष्ट शब्द-ज्ञान को ही अभिधाव्यापार माना गया है। इससे भिन्न और कोई प्रयत्न परिस्पन्दादिरूप व्यापार चैतन्य के अनाधार विभु (भाट्टाभिमत विभु शब्द) में या विभु के गुण (नैयायिकादि-सम्मत आकाश के गुण) शब्द में बन नहीं सकता। इसलिए समभिव्याहृत पद-समूह से स्मारित पदार्थों का परस्पर अन्वय-बोध, लाक्षणिक होनेसे शब्द कहलाता है। जैसा कि मीमांसा-वार्तिककार मिश्रपाद ने कहा है—'हमारे मत में पद, वाक्यार्थ-बोधन के लिए भी अपना सामर्थ्य रखते हैं। वाक्यार्थ सर्वत्र लक्ष्यमाण ही होता है।' अनुमान प्रयोग भी है—शब्द, तात्पर्य-विषयीभूत व्यतिषङ्ग (अन्वय) के लक्षक होते हैं, अन्वय-बोधन के तात्पर्य से उच्चरित होने के कारण, जैसे—विषं भुंक्ष्व—यह वाक्य। अर्थात्

विवादपदानि पदानि, लक्षणया पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिपराणि, अन्वितप्रतिपत्तिपरत्वे सति पदत्वाद्विषं भुङ्क्ष्वेति पदकदम्बवत् ।

न च पदानि स्वार्थपरित्यागेन लक्षणयान्वयप्रतिपत्तिपराणि उक्तसाधनत्वात् त्वदुदाहृतवाक्यवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । अस्यैव त्वदुदाहृतानुमानवाक्यस्य स्वार्थपरित्यागापरित्यागयोस्तदनुपपत्तेः । तथा हि स्वार्थपरित्यागे विशिष्टसाध्यप्रतीत्यभावादेवाविघातकत्वात् , अपरित्यागे च तत्रैवानैकान्तिकत्वात् , मुख्यार्थबाधोपाधिप्रयुक्तत्वाच्च स्वार्थपरित्यागस्य । इह च बाधाभावान्न स्वार्थपरित्यागानुमानम् , तस्मादभिहितान्वयवाद एव श्रेयानिति केचिदाचार्याः ।

विवादपदेति । विषं भुङ्क्ष्वेत्यादौ सिद्धसाधनताशब्दवदित्यर्थः । श्लोकेन संगृहीतमनुमानं विवृणोति—**विवादपदेति** । अन्विताभिधानेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै लक्षणयेत्युक्तम् । **पदार्थानामिति** । अन्वयिनां, निवृत्त्यै विवादग्रहणम् । अन्विताभिधानेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै लक्षणयेत्युक्तम् । न पुनः स्वस्मारितानाम् । तेन न दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम् । पक्षे च सामर्थ्यात्स्वस्मारितान्यसिद्धिः , इतरस्यासंभवात् । गौरश्व इत्यादिपदैरनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ प्रथमं विशेषणम् । लिङ्गिलिङ्गसंबन्धपरलिङ्गव्यवच्छेदाय पदग्रहणम् । अनन्वितानधिकरणेत्यपि विशेषणीयमिति केचित् , इतरथा स्वपुत्रानुमापकपदेषु व्यभिचारादिति ।

आभाससमानयोगक्षेमतां निराकरोति—**न चेति**। उदाहृतानुमानवाक्ये वाच्यार्थपरित्यागापरित्यागयोः प्रकृताविघातं दर्शयति—**तथा हीत्यादिना** । **अनैकान्तिकत्वादिति** । तत एव व्याघातकाभावाद्व्याघात इति शेषः । उपाधिमप्याह—**मुख्यार्थेति** । साधनव्याप्तिं परिहरति— **इह चेति** । किं चेदमन्विताभिधानं नाम न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम् ; अविप्रतिपत्तेः । नापि पदार्थाभिधायकशब्दस्यान्विते तात्पर्यम् ; अत्राप्यविवादादेव । नापि पदार्थमात्रे गृहीतसंगतिकस्यान्विताभिधायकत्वम् ; पदार्थसंगतेस्तन्मात्रोपक्षीणत्वात् , इतरथाऽतिप्रसङ्गात् । अन्वितपदार्थसंगतिबलेन तत्प्रतिपादनं तदिति चेत् , तत्र वक्तव्यम् , किमन्वयविशेषवति संगतिग्रहः ? किं वान्वयमात्रवति ? आद्ये, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वक्षतिः । अन्वयपदार्थप्रतीत्योः समसमयतया योग्यतादिप्रतिसन्धानविरहिणामपि पदार्थप्रतीतिवदन्वयप्रतीत्यापत्तिश्च । द्वितीयस्त्वसंभवनिरस्तः । नह्यन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकस्यान्वयविशेषवद्वाचकत्वं संभवति ; जातौ गृहीतसंगतिकस्यापि व्यक्तिवाचकत्वप्रसङ्गात् । अन्वयमात्रवति गृहीतसंगतिकेन तावन्मात्रमभिधीयते विशेषस्तु लक्ष्यत इति चेत् , हन्त ! पदार्थाभिधायिभिरेव शब्दैरयं लक्ष्यताम् , कृतमन्तर्गडुनान्वयमात्रेण प्रमाणप्रयोजनरहितेनेत्यलम् । केचिदाचार्याः , वाचस्पतिमिश्रप्रभृतयः । यदि चैवं न्यायपरिशुद्धेऽपि पक्षे विवरणकारादिमतमवलम्ब्यापसिद्धान्तगन्धितां कश्चिदादध्यात् , तन्मुखं भाष्यकारप्रभृतिवृद्धवचनप्रतिबन्धेन पिद-

---

विवादास्पद पद, लक्षणा के द्वारा पदार्थों के पारस्परिक अन्वय के बोधक होते हैं, अन्वय-बोधपरक पद होने से, जैसे 'विषं भुंक्ष्व'–यह पद-समूह। 'पद, स्वार्थ का त्याग करते हुए लक्षणा-द्वारा अन्वय के बोधक हैं, अन्वय-बोध-परक पद होने से, जैसे–विषं भुंक्ष्व–यह वाक्य'—इस प्रकार के अनुमानाभास की समानता हमारे अनुमान में नहीं दिखा सकते ; क्योंकि इस आपके अनुमान-वाक्य ने स्वार्थ-परित्याग किया है ? या नहीं ? यदि यह स्वाथ-परित्याग करता है ; तब विशिष्ट साध्य का प्रत्यायक न होने से हमारे अनुमान का घातक नहीं । यदि यह आपका अनुमान-वाक्य स्वार्थ-त्याग नहीं करता, तब आपका हेतु इसी में व्यभिचारी हो जाता है । आपके अनुमान में 'मुख्यार्थ-बाध' उपाधि भी है । मुख्यार्थ-बाध ही स्वार्थ-परित्याग का प्रयोजक (साधक) होता है। अतः मुख्यार्थ-बाध के न होने से पक्ष में स्वार्थ-परित्याग का अनुमान नहीं किया जा सकता । इस लिए अभिहितान्वय-वाद ही युक्ततर है—ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं । इस प्रकार का मानना वेदान्त-सिद्धान्त से विरुद्ध

न चैवमपसिद्धान्तः ; भाष्यकारसंमतत्वात्। तथा च समन्वयसूत्रे वेदान्तवाक्यानि प्रस्तुत्य भाष्यकारः प्रतिपादयति स्म–"न च तद्गतानां पदार्थानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता ; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्"। तत्र च पदार्थानामेवान्योन्यान्वयप्रत्यायकता प्रतीयते, मण्डनमिश्रादिभिरप्यङ्गीकृतत्वात्।

'पदार्थान्तरतुल्यत्वाद्विध्यकाङ्क्षानिबन्धनः ।
न संसर्गः पदार्थानां स्वशब्दैस्तु प्रकाशिताः ॥
संबन्धयोग्यरूपेण तस्मात्संबन्धभागिनः ।
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जनः ॥' इति। (ब्र० सि० पृ० १११)

व्यवहारे भट्टनय इत्यङ्गीकारात् भट्टपादैश्च वाक्यार्थस्य सर्वत्र लाक्षणिकत्वस्वीकारात्। 'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः' इति। तस्मात्पौरुषेयवाक्येभ्य इवापौरुषेयेभ्यो वेदान्तवाक्येभ्यो लक्षणया यथोक्तलक्षणं ब्रह्म सिद्ध्यतीति सिद्धम्।

ननु कथमपौरुषेयत्वं वेदान्तानाम्? तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। नन्वपौरुषेया वेदाः संप्रदाया-

---

धाति—न चेत्यादिना। पदार्थान्तरेति। पदार्थानां संसर्गो न विध्याकाङ्क्षानिबन्धनः, कुतः? विधेरपि पदार्थान्तरतुल्यत्वात्, तस्मात्संबधयोग्यरूपेण स्वशब्दैः प्रकाशिताः पदार्थाः स्वयमेव संसर्गभागिनः। संबन्धयोग्यतया पदार्थप्रकाशे कारणमाह—विशिष्टार्थेति। सप्रयोजनकथनं वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति।

संसृष्टपरवाक्येषु संसृष्टार्थस्य लक्षणा।
अखण्डार्थपरं वाक्यमखण्डस्यैव लक्षणम् ॥
यद्वा—अखण्डार्थपरेऽप्यादावस्ति संसर्गलक्षणा।
तस्यापि च ततस्त्यागस्तेन नाखडखण्डना ॥

अपौरुषेयेभ्य इत्युक्तममृष्यमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु कथमिति। जीर्णकूपारामादिव्यभिचारवारणाय सम्प्रदायाविच्छेदे सतीत्युक्तम्। कालिदासादिवचस्सु 'व्यभिचारवारणायास्मर्यमाणकर्तृ-

---

नहीं; क्योंकि भाष्यकार को भी यह सम्मत है। भाष्यकार ने "तत्तु समन्वयात्" (वे० सू० १।१।४) में वेदान्त वाक्यों के विषय में कहा है—"वेदान्त-गत पदार्थों का ब्रह्मस्वरूप में जब कि निश्चित अन्वय प्रतीत होता है, तब उनका अर्थान्तर (क्रियादिरूप अर्थ) में तात्पर्य मानना युक्त नहीं; क्योंकि अर्थान्तर में तात्पर्य मानने पर श्रुत की हानि और अश्रुत की कल्पना करनी पड़ेगी।" इस भाष्य से पदार्थों में ही अन्योऽन्य अन्वय की प्रत्यायकता प्रतीत होती है। आचार्य मण्डन मिश्र ने भी माना है—'पदार्थों का परस्पर अन्वय, विध्यर्थ (नियोग) की आकांक्षा से प्रयुक्त नहीं; क्योंकि वह भी पदार्थान्तर के तुल्य ही है। अतः अपने वाचक पदों से प्रकाशित, सम्बन्ध-योग्य पदार्थ स्वयं ही अन्वय के बोधक होते हैं; इसका कारण यह है कि व्यवहार-जगत में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने के लिए ही पदों का समुच्चारण होता है।' वेदान्तिगण व्यवहार में भट्ट-मत मानते हैं। भट्टपाद ने वाक्यार्थ को सर्वत्र लाक्षणिक ही माना है–'सर्वत्र वाक्यार्थ लक्ष्यमाण ही होता है–यह हमारा सिद्धान्त है।' इसलिए पौरुषेय वाक्यों के ही समान अपौरुषेय वेदान्त वाक्यों से लक्षणा के द्वारा सत्यादिस्वरूप ब्रह्म सिद्ध होता है—यह सिद्ध हो गया।

पूर्वपक्ष—वेदान्त अपौरुषेय कैसे हैं? जबकि उनकी अपौरुषेयता में कोई प्रमाण ही नहीं। 'वेद, अपौरुषेय हैं, अविच्छिन्नसम्प्रदायक और अस्मर्यमाणकर्तृक होने से, जैसे आत्मा'—यह अनु-

विच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवदित्यनुमानमस्तीति चेत्, मैवम्; विशेषणासिद्धेः। पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्याभ्युपगमात्। अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं च किमप्रमीयमाणकर्तृकत्वं विवक्षितम्? उत स्मरणागोचरकर्तृकत्वम्? नाद्यः, "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत," "त्रयो वेदा अजायन्त, ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्," "इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानि" इत्यादिश्रुतिभिः कर्त्तुः प्रमीयमाणत्वात्। नापि द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमेकेनास्मरणं विवक्षितम्? उत सर्वास्मरणम्? नाद्यः; मुक्तकश्लोकादावनैकान्तिकत्वात्। न द्वितीयः, सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञविज्ञानाविषयत्वात्। ननु "वाचा विरूप! नित्यया," "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै", "नाचिकेतमुपख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्,"

कत्वादित्युक्तम्। विशेषणासिद्धिमेवाह—**पौरुषेयेति**। अस्मर्यमाणेत्यत्रापि स्मृतिपदं किं मूलप्रमितिपरम्? किं वा मुख्यवृत्ति? इति विकल्प्याद्ये तदविषयत्वं वेदकर्तुरसिद्धमित्याह—**नाद्यस्तस्माद्यज्ञादिति**। तस्मात्प्रकृताद्यज्ञाद्यज्ञरूपिणः परमेश्वरात् सर्वहुतः हुतं हुत् यस्मिंस्तत्सर्वं विद्यते स सर्वहुत् ततः सर्वहुतः सकाशात्, अथवा सर्वं जुहोतीति सर्वहुत् यष्टापि स एवेति यावत्। प्रलयकाले वा सर्वं स्वमात्रतया जुहोतीति सर्वहुत् ततः ऋगादयो जज्ञिरे उत्पन्ना इति पुरुषसूक्तार्थः। त्रयो वेदा इति श्रुत्यन्तरम्। इदं सर्वमित्यपरा श्रुतिः। **मुक्तकेति**। विप्रकीर्णाः श्लोकाः मुक्तश्लोकाः तेषु यैः कैश्चिदस्मर्यमाणकर्तृकत्वमस्ति नचास्त्यपौरुषेयत्वमित्यर्थः। नित्यत्वप्रतिपादकागमविरोधात् सृष्टिश्रुतीनामन्यार्थत्वम् शंकते—**नन्वित्यादिना**। हे विरूप! वृष्णे! नित्यया वाचा सुष्ठु स्तुतिं चोदयस्वेत्यर्थः। तथा यः परमेश्वरो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति विहिताय च तस्मै वेदान्प्रहिणोति प्रददाति। उपदिशतीति यावत्। न तु करोतीति श्वेताश्वतरोपनिषन्मंत्रार्थः। नाचिकेतमिति कठवल्लीश्रुतिः। अनादिनिधनेति स्मृतिः। आदिनिधनरहिता, अत एव नित्या उत्सृष्टेत्युपदिष्टेत्यर्थः। अतत्परत्वादासां न्यायसापेक्षाणां तदभावे नास्ति स्वार्थे

मान अपौरुषेयता में प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि हेतु का विशेषण (सम्प्रदायाविच्छेद) असिद्ध है—वेद को पौरुषेय माननेवाले प्रलय में सम्प्रदाय (वैदिक अध्यनाध्यापन) का विच्छेद मानते हैं। 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' पद से भी क्या विवक्षित है? अप्रमीयमाणकर्तृकत्व? या स्मरणाविषयकर्तृकत्व? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत" (उस सर्वहुत् यज्ञरूप परमेश्वर से ऋक्, साम उत्पन्न हुए, गायत्र्यादि छन्द और यजुः उससे ही उत्पन्न हुए—ऋ० ८।४।१८), "त्रयो वेदा अजायन्त—ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्" (तीन वेद उत्पन्न हुए—ऋग्वेद अग्नि से, यजुर्वेद वायु से और सामवेद आदित्य से), "इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानि" (यह सब कुछ उत्पन्न किया—ऋङ्मन्त्र, यजुर्मन्त्र, साममन्त्र)—आदि श्रुतियों से कर्ता प्रमीयमाण है। द्वितीय (स्मरणाविषयकर्तृकत्व) पक्ष में भी 'अस्मरण' पद से किसी एक पुरुष का अस्मरण विवक्षित है? या सर्वपुरुषों का अस्मरण? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि मुक्तक श्लोकादि में व्यभिचार है (अर्थात् प्रकीर्ण श्लोकों के कर्ता का अस्मरण आज देखा जाता है, अतः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' हेतु उन श्लोकों में भी है, किन्तु वहाँ 'अपौरुषेयत्व' साध्य नहीं रहता)। द्वितीय (सर्वपुरुषों का अस्मरण) पक्ष तो असम्भव है, क्योंकि असर्वज्ञ व्यक्ति के लिए यह जानना सम्भव ही नहीं, कि वह किसी वस्तु के विषय में यह कहे कि इसका कभी भी किसी ने भी स्मरण किया ही नहीं)। यदि कहा जाय कि "वाचा विरूप! नित्यया" (हे विरूप! नित्य वाणी से स्तुति करने की प्रेरणा हमें दे–तै० सं० २।६।११), "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" ('जो

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा"–इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यो वेदस्य नित्यत्वावगमात् पौरुषेयत्वप्रतिपादकानि कल्पादौ तत्संप्रदायप्रवर्तकत्वपराणीति चेत्, मैवम ; 'वाचा विरूप! नित्यया' इत्यस्य वाक्यस्य "वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्" इति वाक्यशेषादग्निस्तुतिविधिपरत्वावगमात् अन्यार्थदर्शनस्य प्राप्त्यभावे प्रमाणत्वानुपपत्तेः । "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति" इत्यस्य च पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोः साधारणत्वात्, स्वयं निर्मायापि वेदानां प्रदानसंभवात् । 'मृत्युप्रोक्तं सनातनम्' इत्यस्य वाक्यस्य 'उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते' इति वाक्यात् उपाख्यानानुवचनश्रवणप्रशंसापरत्वात् । 'अनादिनिधना नित्या' इति स्मृतेश्च प्रतिमन्वतरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते' इति स्मृत्यन्तरविरोधेनानिर्णायकत्वात् । एवं च नित्यत्वप्रतिपादकानामन्यार्थतया पौरुषेयत्वप्रतिपादकवाक्याबाधकत्वात् पौरुषेयत्वमेव वेदान्तानां निश्चिनुमः ।

अनुमानतोऽपि तथात्वमध्यवस्यामः—वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदासवाक्यवदिति; वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवत् ।

प्रामाण्यम्, अतो न सृष्टिश्रुतिविनिवारकत्वमिति परिहरति—मैवमित्यादिना । अन्यार्थेति । अन्यशेषे वाक्ये यद्दर्शनं पदसमभिव्याहारमात्रम्, तदन्यार्थदर्शनम् । साधारण्यमेव दर्शयति—स्वयमिति । उपाख्यानेति । उपाख्यानस्यानुवचनं श्रवणं च यत्तयोः प्रशंसापरत्वादित्यर्थः । स्मृतेः स्मृत्यन्तरविरोधमाह—अनादीति ।

एवं नित्यत्वानुमानागमदूषणपूर्वकमनित्यत्वागमं प्रदर्श्यानुमानमप्यनित्यत्वे दर्शयति—अनुमानेति । गीतिरूपेषु हुंफडादिस्तोभभागेषु चासिद्धिपरिहारार्थं वाक्यानीति विशेषणम् । ईश्वरकृतत्वेऽप्यनुमानमाह—वेदेति । उन्मत्तवाक्ये प्रत्यक्षादौ च व्यभिचारवारणाय विशेषणद्वयं गृहीतम् । सत्प्रतिपक्षतां शङ्कते—

परमेश्वर ब्रह्मा को पहले बनाता है और फिर ब्रह्मा को वेदों का उपदेश देता है'—श्वेता० ६।१८), "नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्" यम के इस सनातन उपदेश नचिकेता के उपाख्यान को—कठ० उ०), "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा" (स्वयंभु ने आरम्भ में आदि और अन्त से रहित नित्यवाक् का उपदेश किया (म० भा० शान्ति २३१।५६))—आदि श्रुतियों और स्मृतियों से वेद में नित्यत्व प्रतीत होता है, अतः पौरुषेयत्व के प्रतिपादक वचन, कल्प के आरम्भ में सम्प्रदाय-प्रवृत्तिमात्र के ही बोधक हैं। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि "वाचा विरूप"—इस श्रुति का "वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्"–इस वाक्यशेष के बल पर अग्निके स्तुति-विधान में ही तात्पर्य निश्चित होता है। वाक्यशेष-गत जो अन्य (वेद-नित्यत्व या यूप की आदित्यरूपता) अर्थ का दर्शन है वह, उस प्रकार की विधि के न होने से प्रमाण ही नहीं। "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति"—यह श्रुति तो पौरुषेयत्व तथा अपौरुषेयत्व–दोनों पक्षों में लग सकती है; क्योंकि स्वयं निर्माण करके भी वेदों का प्रदान भी सम्भव है। "मृत्युप्रोक्तं सनातनम्"—यह वाक्य तो "उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते"—इस वाक्यशेष के बल से नाचिकेतस उपाख्यान के कहने-सुनने की प्रशंसा करता है। "अनादिनिधना"—यह स्मृति "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" (प्रत्येक मन्वन्तर में यह वेद नया बनाया जाता है)—इस स्मृति से विरुद्ध होने के कारण निर्णायक नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार नित्यत्वप्रतिपादक वाक्य अन्यपरक होने के कारण, पौरुषेयत्व-प्रतिपादक वाक्यों के बाधक नहीं हो सकते, अतः वेदान्त पौरुषेय ही है—यह हमारा निश्चय है।

अनुमान से भी पौरुषेयत्व का निश्चय होता है—'वेद-वाक्य, पौरुषेय हैं, वाक्य होने से जैसे—कालिदासादि के वाक्य।' एवं 'वेद-वाक्य, आप्त-प्रणीत हैं, प्रमाणभूत वाक्य होने से, जैसे—मन्वादि-

ननु—'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनरूपत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥' (श्लो० वा० वाक्य ३६६)

इत्यनुमानात्सप्रतिसाधनतेति चेत्, मैवम्; सर्ववेदाध्ययनपक्षीकारे दृष्टान्तासिद्धेः, अतीतकालीनाध्ययनपक्षीकारे चांशतः सिद्धसाधनत्वात्, सर्गकालीनाध्ययनपक्षीकारे सर्गमनङ्गीकुर्वतो मीमांसकस्याश्रयासिद्धेः ।

'भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्ययनंयथा ॥'

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात् । अथ तत्र कर्तृस्मृत्या बाधः—

'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् ।
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ? ॥'

तर्हि इहापि सकर्तृकताप्रतिपादकश्रुतिभिर्बाध इति समानम् । विपक्षे चाप्ताप्रणीतत्वात् बालोन्मत्तादिवाक्यवदप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः । अथ बालोन्मत्तादिवाक्यानामनाप्तप्रणीतत्वेनाप्रामाण्यम्, इह तदभावादाप्तवाक्यवत्प्रामाण्यमुपपद्यत इतिचेत्, मैवम्; अना-

---

नन्विति । अत्र किं कृत्स्नं वेदाध्ययनं पक्षः ? उतातीतकालीनम् ? उत सर्गकालीनाध्ययनम् ? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—मैवमित्यादिना । आभाससमानयोगक्षेमतया दौर्बल्यमाह—भारतेति । ननु तत्र व्यासः कर्तेति स्मर्यते 'को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत् ?' इत्यादौ तेन बाधाद्वैषम्यमिति तत्राह—अथेति । शङ्कितोपाधितां निराकरोति पूर्ववादी—विपक्षे चेति । सोपाधितया प्रशिथिलमूलतां शङ्कते—अथेति । अनाप्ताप्रणीतं चेदाप्तप्रणीतमेवेति नित्यत्वाभावाद्वाक्यस्येति हृदि निधाय परिहरति—मैवमिति । आत्मादिषु व्यभिचारवारणाय वाक्यग्रहणम् । ननु न वक्त्रा शब्दानां निष्पादनं क्रियते, किंत्वभिव्यक्तिरेव, तेन वक्त्रभावो नानुत्पत्तिव्याप्त इति प्रशिथिलमूलतां शङ्कते—अथेति । अतिप्रसक्त्या परिहरति—मैवमिति । तदेवं सदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गं नित्यत्वे बाधकमभिधायानित्यत्वेऽप्यनुमानमाह—

वाक्य ।' यदि कहा जाय कि यहाँ 'सर्व वेदाध्ययन, गुर्वध्ययनपूर्वक है, वेदाध्ययन रूप होने से, जैसे आधुनिक वेदाध्ययन'—यह सत्प्रतिपक्ष है । तो नहीं कह सकते; क्योंकि यदि समस्त वेदाध्ययन पक्ष बनाते हैं, तब दृष्टान्त की असिद्धि और अतीत वेदाध्ययन को पक्ष बनाने पर अंशतः सिद्ध-साधन होता है (क्योंकि अतीतकालीन अध्ययन को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक सृष्टि के आरम्भ का अध्ययन और दूसरा उसके उत्तरकाल का अध्ययन । नैयायिक-गण प्रथम भाग में तो गुर्वध्ययनपूर्वकत्व नहीं मानते, किन्तु उत्तर काल के अध्ययन में मानते हैं, अतः पक्ष के एक भाग में सिद्ध-साधन है)। सृष्ट्यारम्भकालीन अध्ययन को पक्ष बनाने पर सृष्ट्यारम्भ न मानने वाले मीमांसकों के मत में आश्रयासिद्धि हो जाती है । तथा 'सर्व भारताध्ययन, गुर्वध्ययनपूर्वक है, भारताध्ययन होने से, जैसे आधुनिक भारताध्ययन'—इस अनुमानाभास की समानता भी उक्त अनुमान में है । यदि कहा जाय कि इस भारताध्ययनपक्षक अनुमान का "कृष्णद्वैपायन व्यास को साक्षात् नारायण ही समझना चाहिए; क्योंकि भगवान् विष्णु को छोड़कर इतने बड़े विशाल काम महाभारत का प्रणयन कौन कर सकेगा ?"—इस स्मृति से बाध है, अतः इसकी समानता हमारे अनुमान में नहीं । तो यह कहना युक्त न होगा; क्योंकि आपके वेदाध्ययनपक्षक अनुमान का भी वेद को सकर्तृक बतानेवाली श्रुतियों से बाध होने के कारण समानता ही है । विपक्ष में बाधक तर्क यह है—वेद यदि आप्त-प्रणीत न माना जायगा, तब बाल या उन्मत्त के वाक्यों-जैसा अप्रमाण हो जायगा । यदि कहा जाय बालकादि के वाक्य अनाप्त-प्रणीत होने के कारण अप्रमाण हैं, किन्तु वेद अनाप्त व्यक्ति से प्रणीत न होने से वैसे ही प्रमाण होता है, जैसे-आप्त-प्रणीत वाक्य । तो यह कहना उचित

प्तप्रणीतवाक्यस्य जगत्याप्तप्रणीतत्वनियमदृष्टेः, अन्यथा वक्तुरभावे वाक्यस्योत्पत्तिप्रतीत्योरसंभवात्। अथाभिव्यक्तिरेव शब्दानां वक्तृव्यापारान्नोत्पत्तिः, मैवम्; एवं सति पाषण्डाद्यागमानामपि नित्यत्वप्रसङ्गात्। किं च शब्दोऽनित्यः कृतको वा सामान्यवत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटवदित्यनुमानेन शब्दानां कृतकत्वेन पौरुषेयत्वसिद्धिः। न च मीमांसकं प्रति योगिव्यवच्छेदार्थमस्मदादिपदं व्यर्थम, तेन योगिनामनभ्युपगमादिति वाच्यम्; स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थत्वात्। तथा च चिरन्तनाचार्याणामपि स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थं विशेषणोपादानं दृश्यते—नित्यः शब्दो ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति। न हि वर्णानित्यत्ववादिमते वर्णातिरिक्ता ध्वनय उदात्तादयो वा तद्धर्माः सन्ति, ये व्यावर्तेरन्, स्वमते तु ध्वनेस्तद्धर्माणां चोदात्तादीनां सद्भावादुपपद्यते ध्वनिधर्मान्यत्वे सतीति विशेषणम्।

न चोपान्त्यादिशब्देषु भागासिद्धिः; श्रोत्रग्राह्यशब्दविशेषस्यैव पक्षीकरणात्। न चैव-

---

किंचेति। अथायमभिव्यक्तिवादित्वान्मीमांसकः कृतत्वे एव विवदेत्तर्हि तदपि साधनीयमित्याह—कृतको वेति। ईश्वरप्रत्यक्षेष्वाकाशादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमिन्द्रियप्रत्यक्षत्वादित्युक्तम्। तथापि मनोग्राह्यात्मनि व्यभिचारस्तदर्थं बाह्येति। तथापि योगिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षपरमाण्वादिषु व्यभिचारस्तदर्थमस्मदादीत्युक्तम्। तथापि सामान्ये व्यभिचारस्तदर्थं सामान्यत्वे सतीत्युक्तम्। अत्रास्मदादीतिविशेषणं मीमांसकं प्रति व्यर्थम्, तेन तन्निवर्त्ययोग्यनङ्गीकारात्तदुद्धारे च त्वन्मते व्यभिचार इति केचिद् दूषणमूचिरे, तत्परिहरति–नचेति। ननु न स्वमतमात्रव्यभिचारनिवारणाय विशेषणं युक्तमदृष्टचरत्वादिति तत्राह–तथा चेति। ध्वनिषु तद्धर्मोदत्तादिषु च व्यभिचारनिवारणायोक्तं ध्वनिधर्मान्यत्वेसतीति। स्वमतसंमतं व्यभिचारवारकत्वं दर्शयति—नहीत्यादिना। वर्णग्रहणं शब्दपरम्। एतदुक्तं भवति–व्यभिचारमात्रनिवृत्त्यापि भवति सार्थक्यं हेतोरिति।

यच्च दूषणान्तरमुच्यतेऽस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमुपान्त्यादिषु नास्तीति भागासिद्धिरिति तत्राह—न चोपान्त्यादीति। ननु तथापि धर्म्यसिद्धिः, भेरीदण्डसंयोगान्निमित्तकारणात् भेर्याकाशसंयोगादसमवायिकारणात् महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथममेकः शब्द उत्पद्यते, तस्य च शब्दस्य विभुगुणतया आश्रय द्वारा स्वतो वा गमनानुपपत्तेः प्रदेशान्तरोत्पन्नत्वात् स्वभावभेदाद्वा न श्रोत्रेण संबन्धः, ततश्च तस्मा-

---

नहीं; क्योंकि संसार में यह नियम है कि जो वाक्य, अनाप्त-प्रणीत नहीं होता, वह अवश्य आप्तप्रणीत होता है। अन्यथा उस वाक्य का कोई कर्ता न होने से वाक्य ही कैसे बनेगा ? और कैसे उसका ज्ञान होगा ? 'कर्ता, वाक्य की अभिव्यक्तिमात्र करता है, उत्पत्ति नहीं—यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार तो पाखण्डियों के आगम भी नित्य हो जायँगे। दूसरी बात यह है कि 'शब्द अनित्य या कृतक है, जातिमान् होकर हम लोगों की बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण, जैसे—घट'—इस अनुमान से शब्दमात्र में कृतकत्व सिद्ध होने से पौरुषेयत्व सिद्ध हो जाता है। यदि कहा जाय कि आपके हेतु में योगि-व्यावर्तक 'अस्मदादि' पद व्यर्थ है; क्योंकि मीमांसक, योगी मानते ही नहीं, कि योगि-प्रत्यक्ष-गम्य परमाण्वादि में व्यभिचार होने का भय हो। तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि अपने मत से योगि-प्रत्यक्ष-विषय परमाण्वादि में व्यभिचार हटाने के लिऐ 'अस्मदादि' पद आवश्यक है। प्राचीन आचार्यों का अपने मत से प्राप्त व्यभिचार वारण करने के लिए विशेषण देना देखा जाता है—'शब्द, नित्य है, ध्वनि तथा ध्वनि के धर्म (उदात्तादि) से भिन्न होकर श्रावण होने के कारण, जैसे—शब्दत्व।' वर्णानित्यत्व-वादी के मत में वर्णों से अतिरिक्त ध्वनि एवं ध्वनि-धर्म (उदात्तादि) होते ही नहीं, कि जिनकी व्यावृत्ति की जाय। हाँ, अपने मत में ध्वनि एवं ध्वनि-धर्मों का सद्भाव है, अतः उनमें व्यभिचार-वारणार्थ "ध्वनितद्धर्मान्यत्वे सति"—यह विशेषण देना बन जाता है।

उपान्त्य (अन्तिम शब्द के अव्यवहित पूर्व) शब्द में पूर्व हेतु (सामान्यवत्वे सति अस्मदादि

मपि विशिष्टधर्मिहेत्वोरसिद्धिस्तत्तच्छ्रोत्रेष्वेकस्यैव शब्दस्य समावयानङ्गीकारात्, एकस्य शब्दस्य बहूनां प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरिति वाच्यम् ; शब्दनित्यत्वानुमानेऽप्यस्य दोषस्य तुल्यतया स्वव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वापत्तेः; तथाहि—भवदिन्द्रियग्राह्यः शब्दः पक्षः ? अस्मदिन्द्रियग्राह्यो वा ? नाद्यः; प्रतिवादिनं प्रत्यसिद्धेः। न द्वितीयः; वादिनं प्रत्यसिद्धेः। तस्माल्लोकप्रसिद्धशब्दत्वजात्याधार एव शब्दो नित्यत्वसाधने पक्ष इति वाच्यम्। एवमनित्यत्वसाधनेऽपीति न कश्चिद्दोषः। न च स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात् कालात्ययापदिष्टमनित्यत्वानुमानम्; प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वेन व्यक्तिविषयत्वेन च संदिह्यमानाया बाधकतानुपपत्तेः। ननु विवादाध्यासितः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वात् संप्रतिपन्नकालवदिति प्रत्यनुमानविरोध इति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्; तथाहि—किं वेदप्रणयनात्प्राक्कालः ? किं वा तदुत्पादोत्तरकालः ? उत सर्गकालः पक्षीक्रियते ? पक्षत्रयेऽपि मीमांसकस्य धर्म्यसिद्धिः, प्रथमे च प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातोऽतिरिच्यते, कालिदासादिवाक्यपाठेऽप्येवम-

---

च्छब्दादसमवायिकारणात् अदृष्टादिर्निमित्तकारणादाद्यशब्दाश्रयाकाशप्रदेशानन्तराकाशप्रदेशेषु समवायिकारणेषु सर्वतो दिशि शब्दा उत्पदयंते, तेभ्यश्चान्ये तेभ्यश्चान्ये इति वीचीसंतानवत् यावच्छ्रोत्रसमवेतशब्दं शब्दसंताना उत्पद्यन्ते, तत्र यः कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशप्रदेशे शब्द उत्पद्यते, स श्रोत्रसमवायात् श्रोत्रेण गृह्यते, स च न श्रोत्रान्तरग्राह्यः, तत्रासमवेतत्वात् स्वभावभेदाद्वेति वैशेषिकादिदर्शनम्, ततश्च न वादिप्रतिवादिश्रोत्रग्राह्य एकः शब्दोऽस्तीति धर्म्यसिद्धिः, अतएवोभयसंमतहेत्वसिद्धिरिति, तदेतदनूद्य निराकरोति—**न चैवमित्यादिना**। जात्युत्तरतां दर्शयितुं परपक्षेपि विकल्पसाम्यमुत्तरसाम्यं च दर्शयति—**तथा हीत्यादिना**। लोकप्रसिद्धः, श्रावणत्वेन लोकप्रसिद्धः। ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितमिदमनित्यत्वानुमानम्, स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञया गकारस्थैर्यमवगम्यत इति तत्राह—**न च स इति**। यथा हि—ज्वालादौ जातिमवलम्ब्य प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तमाना न व्यक्तिस्थैर्यसाधिका तद्वदिहापीत्याह—**प्रत्यभिज्ञाया इति**। न केवलं वेदप्रणयनोत्सादनव्याकुर्वतो मीमांसकस्य प्रणयनात् प्राक्कालोत्पादोत्तरकालप्रणयनकालानामसिद्धया धर्म्यसिद्धिः, किंतु प्रथमपक्षे वेदसर्गात्प्राक्कालोऽपि वेदाध्ययनप्रयुक्त इति प्रतिज्ञाविरोधश्चाधिक इत्याह—**प्रथम चेति**। दूषणान्तरं चाह—**कालीति**। ननु यदीश्वरो वेदकर्ता तर्हि शरीरी

बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व) की भागासिद्धि नहीं ; क्योंकि श्रोत्र-ग्राह्य शब्द विशेष को पक्ष बनाया जाता है । यदि कहें कि फिर भी विशिष्ट (उभय-सम्मत) पक्ष और हेतु असिद्ध हैं, क्योंकि वादी एवं प्रतिवादी दोनों के श्रोत्रों में कोई एक शब्द समवेत हो नहीं सकता, अपितु भिन्न-भिन्न शब्द । अतः ऐसा कोई शब्द हो नहीं सकता, जिसका दोनों प्रत्यक्ष करते हों । तो यह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि यह दोष तो आपके शब्दगत नित्यत्वानुमान में भी तुल्य है । अतः स्वपक्ष का घातक होने से जात्युत्तर बन जाता है । यहाँ पर जिज्ञासा होती है कि आप अपनी इन्द्रिय से ग्राह्य शब्द को पक्ष बनाते हैं ? या हम लोगों की इन्द्रिय से ग्राह्य शब्द को ? प्रथम पक्ष तो प्रतिवादी के लिए प्रसिद्ध नहीं और द्वितीय, वादी के लिए प्रसिद्ध नहीं । अतः लोक-प्रसिद्ध शब्दत्व जाति के आधार किसी शब्द को नित्यत्व-साधन में पक्ष बनाना होगा। इसी प्रकार अनित्य-साधन में भी कहा जा सकता है, अतः कोई दोष नहीं । यदि कहें कि "स एवायं गकारः"—इस प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष से शब्दानित्यत्वानुमान बाधित है। तो ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा, जाति-विषयक है ? या व्यक्ति-विषयक ?—इस प्रकार सन्दिह्यमान होने से प्रत्यभिज्ञा बाधक नहीं हो सकती । 'विवादास्पद काल, वेदाध्ययन-युक्त है, काल होने से वर्तमान काल के समान'—यह सत्प्रतिपक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि यहाँ कौन काल पक्ष है—वेद-निर्माण का पूर्व काल ? या उसका उत्तर काल ? या वेद-निर्माण काल ? तीनों पक्षों में मीमांसक के मत से धर्मी असिद्ध है। प्रथम पक्ष में "विवादाध्यासित कालो वेदाध्ययन-

नुमानोत्थानादाभाससमानयोगक्षेमता चानुमानस्य। नन्वशरीरस्येश्वरस्य ताल्वादिविवृतिरूपवर्णोच्चारणासम्भवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्येति चेत्, मैवम्; स्वभावतोऽशरीरस्यापि परमेश्वरस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणोपपत्तेः। तदेवं वेदपौरुषेयतानुमानस्य निरस्तसमस्तदूषणतया वेदाः पौरुषेया इति प्राप्तम्।

अत्र समाधिः—श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम्।
मानान्तरोपलब्धेर्थे रचना तु न मीयते ॥ २७ ॥ इति।

किमिदं पौरुषेयत्वं नाम, यत्र श्रुतयः स्मृतयश्च प्रमाणत्वेनोदाहृताः? किं पुरुषाद्युत्पत्तिमत्त्वं वेदानां पौरुषेयत्वम्? उत प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वम्? तत्राद्योऽङ्गीक्रियते, आकाशवन्नित्यत्वेन सर्वगतत्वेन कालतो देशतश्च क्रमशून्यानां वर्णानामनित्योच्चारणप्रतिपत्ति-

---

स्यादिति तर्कविरुद्धं वेदकर्तृत्वानुमानमिति शङ्कते—नन्विति। इष्टप्रसङ्गतया परिहरति—मैवमिति। लीलया विग्रहस्य ग्रहणं लीलाविग्रहग्रहणम्।

सिद्धान्तयति—अत्र समाधिरिति। समाधिः समाधानम्। अभिधीयत इति शेषः। अत्र किं पुरुषादुत्पन्नत्वमात्रं पौरुषेयत्वं सिषाधयिषितम्, यथास्मदादिभिरहरह उच्चार्यमाणो वेदः? किं वा प्रमाणेनार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय विरचितत्वात्मकत्वं वेदानां पौरुषेयत्वम्, यथास्मदादिभिरेव बद्ध्यमानग्रन्थपद्धतिः? आद्ये त्वविवादः। द्वितीयेऽपि किमागमबलात् तत्साधनम्? अनुमानाद्वा? नाद्य इत्याह—श्रुतीति श्लोकेन। श्रुतिष्वीश्वरात् श्रुतीनां केवलं जन्म श्रुतम्, नतु पुनरुपलभ्यविरचनम्, तत्पुनरनुमीयते, तच्चायुक्तम्, वक्तव्यदोषादित्यर्थः। विषयविवेचनपूर्वकं श्लोकं व्याचष्टे—किमित्यादिना। ननु नित्यस्य कथं पौरुषेयत्वमिमं विनुदन्नाद्याङ्गीकारमेव विवृणोति—आकाशवदित्यादिना। क्रमविशेषवान् शब्दराशिर्हि वेदः, क्रमश्च कालतो देशतो वा नियतः, स चोभयविधोऽप्यत्र न संभवति, वक्ष्यमाणनित्यत्वप्रमाणबलान्नित्यानां विभूनां च शब्दानां कालतो देशतो वा क्रमासंभवात्। प्रतीयते च, तेनाभिव्यञ्जकोच्चारणप्रतिपत्त्योरन्यतरक्रमोपरागात्क्रमवत्त्वं वक्तव्यम्, तत्रोच्चारणप्रतिपत्ती अनित्ये, इति तत्क्रमविशिष्टः शब्दराशिरपि तदुपाधावनित्य एवेति इष्टमेवेदृशं पौरुषेयत्वमित्यर्थः। ननु प्रतिपुरुषं क्रमद्वाराऽनित्यत्वे

युक्तः''—इस प्रतिज्ञावाक्य का विरोध, अधिक दोष है। कालिदासादि-प्रणीत वाक्यों के अध्ययन में भी (विवादाध्यासितः कालः कालिदासवाक्याध्ययनयुक्तः कालत्वात् सम्प्रतिपन्नकालवत्) ऐसा ही अनुमान किया जा सकता है, अतः इस अनुमानाभास की समानता भी आपके अनुमान में है। 'ईश्वर के शरीर नहीं, कण्ठ-तालु-आदि स्थान नहीं, अतः शब्दों का उच्चारण ही सम्भव नहीं, फिर तो ईश्वर वेदों का प्रणयन कैसे करेगा?'—यह सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि स्वभावतः शरीर-रहित ईश्वर, भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीलाविग्रह धारण कर लेता है। इस प्रकार वेदगत पौरुषेयत्व अनुमान के सर्वथा निर्दुष्ट होने से वेद पौरुषेय ही हैं।

उत्तर पक्ष—'श्रुतियों में केवल इतना ही श्रुत है कि ईश्वर से वेदों का जन्म हुआ। प्रमाणान्तर से पदार्थों का ज्ञान करके किसी ने वेदों की रचना की—यह अनुमान नहीं किया जा सकता।' यह पौरुषेयत्व क्या है, जिसके लिए श्रुतियाँ और स्मृतियाँ प्रमाणरूप से उद्धृत की गई हैं? क्या पुरुष के अधीन उत्पत्तिमत्त्व? या प्रमाणान्तर से जाने हुए पदार्थों का प्रकाश करने के लिए पदरचना? इनमें प्रथम पक्ष तो हम मानते ही हैं—आकाश के समान ही शब्द नित्य और सर्वगत हैं, अतः उनमें दैशिक या कालिक किसी प्रकार का क्रम नहीं बन सकता। हाँ, प्रतीयमान क्रम, या तो शब्दों के उच्चारण में है या शब्दों के ज्ञान में। क्रमिक व्यञ्जकों से शब्द की अभिव्यक्तिमात्र होती

क्रमविशिष्टानां पूर्वपूर्वक्रमानुस्मृतिनिमित्ततत्तत्सदृशोत्तरोत्तरक्रमवतां वेदशब्दवाच्यानां सांप्रतमपि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्तया सर्गसमयेऽपि श्रुत्या तथात्वस्य प्रतिपादयितुमुचितत्वात्। द्वितीयस्तु न; प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्रेश्वरेण वेदा विरचिता इति श्रुतिभिरप्रतिपादितत्वात्। नच पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वश्रवणान्यथानुपपत्त्यैव प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वं सिध्येत्; इदानीमस्मदादिभिरुच्चार्यमाणवेदवाक्येषु मालतीमाधवादिवाक्येषु च व्यभिचारात्। एतेन—प्रमाणभूतवाक्यस्य रचनान्यथानुपपत्त्या मानान्तरोपलब्धेऽर्थे विरचितत्वकल्पनापि प्रत्युक्ता; अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणमन्वादिवाक्येषु व्यभिचारात्। किं च यदि विरचितत्वान्यथानुपपत्तिर्मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचनां कल्पयेत्, हन्तैवम् 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्या'दिति वेदानामग्न्यादिभ्यो जन्मश्रवणात् तत्तत्कर्तृकतया ईश्वरकर्तृकत्वनियमो न स्यात्। अथ 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिवाक्ये वेदानामीश्वरकर्तृकत्वाधिगमादधिष्ठातृदेवतापरं तत्तद्वाक्यमिति कल्प्येत, तर्हि 'ब्रह्म स्वयंभु, वाचा विरूप नित्यया, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्योऽपि वेदानां नित्यत्वाव-

---

कथं स एवायं वेद इति प्रत्यभिज्ञानमिति ? तत्राह—**पूर्वेति**। क्रमस्येदं प्रथमतया पौरुषेयत्वभङ्गमाशङ्क्य चेदमुत्तरम्—**सांप्रतमपीति**। सृष्टिश्रुत्याप्येतदविरुद्धमेव प्रतिपादयितुमुचितमित्यर्थः। एवं पूर्वार्धं व्याख्यायोत्तरार्धं व्याचष्टे—**द्वितीय इत्यादिना**। अदर्शनं हेतुमाह—**प्रमाणेति**। स्यादेतत्—यद्यपि न साक्षाच्छ्रुतोऽयमर्थः, तथापि श्रुतोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते पौरुषेयत्वम्, सोऽपि हि भवति कश्चित् श्रुतो व्यापारः। यथाहुः—'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा' दिति। तत्रैवं वक्तव्यम्—किं पुरुषाधीनोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते ? उत प्रमाणभूतवाक्यरचनान्यथानुपपत्त्या ? नाद्य इत्याह—**न चेति**। प्रागुक्तनीत्या वेदवाक्यानि काव्यवाक्यानि च उच्चारणसमये सृज्यन्ते, तत्र प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनव्यतिरेकेण पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वमुपपद्यमानं न वेदेष्वपि तत्कल्पयतीत्यर्थः। द्वितीये पक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**। किं च भवतैवायमङ्गीकर्तव्योऽर्थः, इत्युत्पत्तिश्रुतेरन्यथासिद्धौ प्रतिबन्दीमाह—**किंचेत्यादिना**। अथ श्रुत्यन्तरवशादन्यथा नेतव्यं तदिदमिति, तदस्मन्मतेऽपि समानमित्याह—**अथेत्यादिना**। ब्रह्म वेदः। पूर्वपक्षा-

---

है। अतः पूर्व-पूर्व क्रमानुस्मरण के अनुसार उत्तरोत्तर क्रमिक उच्चारणों से आज भी वेदों की अभिव्यक्ति पुरुषाधीन पाई जाती है। सर्गारम्भ-समय भी इस प्रकार का ही पौरुषेयत्व श्रुतियों में प्रतिपादित है। द्वितीय पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि प्रमाणान्तर से अर्थों को जानकर ईश्वर ने वेदों की रचना की—यह श्रुतियों में प्रतिपादित नहीं। पुरुषाधीन उत्पत्तिमत्व के श्रवण की अन्यथानुपपत्ति से वेदों में विरचितत्व की कल्पना नहीं कर सकते; क्योंकि जैसे प्रमाणान्तर से अर्थों का ज्ञान करके पद-रचना न करते हुए भी हमलोग मालतीमाधवादि काव्य-वाक्यों का उच्चारण करते हैं; ठीक वैसे ही वेद-वाक्यों का उच्चारण हो सकता है,—यहाँ रचितत्व-कल्पना की क्या आवश्यकता ? इसी प्रकार प्रमाणभूत वाक्य के उच्चारण की अन्यथानुपपत्ति से भी, प्रमाणान्तर ज्ञात पदार्थों का प्रकाश करने के लिए वेदों में रचितत्व की कल्पना नहीं हो सकती; क्योंकि बिना रचे ही हमलोग प्रमाणभूत मन्वादि-वाक्यों का उच्चारण कर लेते हैं। यदि बिना रचना के वेदों का उच्चारण नहीं हो सकता, तब तो "ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात्"—इन श्रुतियों में वेदों का अग्न्यादि से जन्म श्रुत है, अतः अग्न्यादि ही वेद के कर्त्ता होंगे, 'वेद ईश्वर की ही कृति है'—यह आपका नियम भङ्ग हो जाता है। यदि कहा जाय कि "तस्मात् यज्ञात्"—इस श्रुति से वेदों में ईश्वरकर्तृकत्व का प्रतिपादन है, अतः श्रुत्यन्तर में 'अग्न्यादि' पदों से केवल अधिष्ठातृदेवता का प्रकाशन है। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि "ब्रह्म स्वयंभु" (वेद स्वयं प्रकट हुआ), "वाचा विरूप ! नित्यया",—आदि श्रुतियों तथा "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा"—आदि स्मृतियों से वेदों

गमात्। तस्माद्यज्ञादित्यादिवाक्यं संप्रदायप्रवर्तकत्वपरमिति कल्पना न प्रकृतेऽपि दण्डवारिता। नन्वेषामन्यपरत्वान्नैतेभ्यो नित्यत्वसिद्धिरिति चेत्, मैवम्; देवताधिकरणन्यायेन प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरसतोन्यपराणामपि स्वार्थे प्रामाण्योपपत्तेः।

एतेन वाक्यत्वादिति पौरुषेयत्वानुमानपि परास्तम्। पुरुषप्रणीतत्वमात्रसाध्ये सिद्धसाधनत्वात्। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वसाधने च मालतीमाधवादिष्वनैकान्तिकत्वात्। तथा च प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वादाप्तप्रणीतत्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनता। आप्तेनोच्चार्य-

---

शयमनुवदति—नन्वेषामिति। देवताधिकरणन्यायेनेति। द्वेधा हि वाक्यार्थो द्वारभूतः, प्रधानं चेति! तत्र प्रधाने तात्पर्यं द्वारे स्वतन्त्रमपि प्रमाणम्। अबाधितासंदिग्धानधिगतार्थबोधकत्वं हि प्रमाणत्वम्। न चान्यपरैरपि मन्त्रादिभिः प्रतीयमानो वज्रहस्तेन्द्रादिलक्षणोऽर्थः संदिग्धः, नापि विपर्यस्तः, बाधाभावात्, प्रमाणान्तरायोग्यत्वाच्चानधिगत इति प्रमाणमेव तस्मिन्नपि मन्त्रादयः। न चार्थभेदे वाक्यभेदप्रसक्तिः; प्रधानार्थस्य भेदाभावात्, अवान्तरवाक्यस्येष्टत्वाच्च। न चातत्परत्वादप्रामाण्यम्; अतत्परस्याप्यर्थवादस्य द्वारभूतार्थे प्रामाण्यस्वीकारात्। इतरथा तद्द्वारा तत्प्रधानेऽपि तत्प्रामाण्याभावाद् 'गुणवादस्तु' 'तत्सिद्धिः' इत्यादि सूत्राणामनारम्भप्रसङ्गात्। विशिष्टविधौ च तात्पर्याविषयेऽपि विशेषणे प्रामाण्यस्यावश्यस्वीकर्तव्यत्वात्। तत्रापि विशेषणांशे तत्परं विध्यन्तरमुन्नीयते इति चेत्, किं तदुन्नायकं विशिष्टविधानमेवेति चेत्, हन्त! परस्पराश्रयप्रसङ्गात्, विशिष्टविधिप्रवृत्तौ च विध्यन्तरोन्नयनं विध्यन्तरप्रवृत्तौ च विशिष्टविधानमिति। न च प्रमाणान्तरगोचरत्वं विशेषणस्य सर्वत्र संभवति; वारवन्तीयादौ तदभावात्, तस्मादतत्परमपि प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरभावे प्रमाणमेवेति सोऽयं देवताधिकरणन्यायसारः। तेनासामपि श्रुतीनां वेदनित्यत्वे प्रामाण्यमस्त्येवेत्यर्थः।

ननु नेदं पौरुषेयत्वं श्रुतं श्रुतसामार्थ्यसिद्धं वेति अस्माभिः स्वीक्रियते, किंत्वनुमानबलादिति, तत्राह—एतेनेति। एतद्विशदयति—पुरुषेति। मालतीमाधवादिष्विति। यद्यपि प्रथमं कविकृतवाक्येषु साध्याभावान्न व्यभिचारः, तथाप्यस्मदुच्चार्यमाणमालतीमाधवादिवाक्ये व्यभिचारः। नहि तत् तद्वाक्यम्, तस्यान्यत्वादित्यर्थः। कविकृतेऽप्यौत्प्रेक्षिकचित्रकथापरेषु वाक्येषु व्यभिचार इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयानुमानेऽपि सिद्धसाधनतामाह—तथेति। अत्रापि किमाप्तेनोच्चर्यमाणत्वं पौरुषेयत्वम्? किं वोपलभ्यविरचनम्? प्रथमे सिद्धसाधनतां विशदयति—आप्तेनेति। स्यादेतत्—द्वितीय एव नः पक्षः सिषाधयिषितः। न चेदानीमुच्चर्यमाणवेदवाक्यैरनैकान्तिकता; तेषामपि पक्षतुल्यत्वेनान्तः परमेश्वरविरचितत्वस्येष्टत्वादिति, तत्राह—

में नित्यत्व प्रमाणित होता है। "तस्माद् यज्ञात्"—यह वाक्य केवल सम्प्रदाय-प्रवर्तक (वेद के अध्ययनाध्यापन की परम्परा के प्रवर्तक) का निर्देश कर रहा है। यह जो शङ्का की थी कि "वाचा विरूप! नित्यया"—आदि श्रुतियों का अन्य (अग्नि-स्तुति-प्रेरणा) अर्थ में ही तात्पर्य है, उनके बल पर वेद में नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। वह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि देवताधिकरण (वे० सू० १।३।३३) में सिद्ध कर दिया गया है कि अन्यपरक वाक्यों का उस अपने अमुख्य अर्थ में भी प्रामाण्य माना जाता है. जिस अर्थ का प्रमाणान्तर से ज्ञान या बाध न हो।

इसी प्रकार 'वाक्यत्वात्'– यह पौरुषेयत्वानुमान भी परास्त हो जाता है; क्योंकि 'पुरुषप्रणीतत्व'—इतना ही साध्य रखने पर सिद्ध-साधन होता है। 'प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व'—साध्य बनाने पर मालतीमाधवादि-वाक्यों में व्यभिचार होता है। इसी प्रकार 'प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वात्'—इस हेतु से आप्त-प्रणीतत्व साधन करने पर भी सिद्ध-साधनता है; क्योंकि आप्तोच्चरितत्व रूप आप्त-प्रणीतत्व, वेद में अपौरुषेय-वादी भी मानते हैं। प्रमाणान्तर से अर्थ-ज्ञान पुरःसर विरचि-

माणतया तत्प्रणीतत्वस्यापौरुषेयवादिभिरप्यभ्युपगमात् । प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वानुमाने तु हेतोरन्यथासिद्धिः । अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणेदानींतनवेदवाक्यानामिव सर्गकालीनानामपि तेषामीश्वरेणोच्चार्यत्वमात्रेणापि प्रमाणवाक्यत्वोपपत्तौ प्रमाणान्तराधिगतिपूर्वकविरचितत्वस्यानुमातुमशक्यत्वात्, तस्य च सर्वज्ञत्वादतीतकल्पान्तरगतवेदापरोक्ष्यसंभवात् । अविग्रहस्यापि तस्य भक्तानुकम्पितया लीलाविग्रहग्रहणेन तदुच्चारणोपपत्तेश्च । एतेन—सर्गकालीनाध्ययनस्य पूर्वपूर्ववेदाध्ययनपुरःसरत्वमपि समर्थनीयम् । न चाश्रयासिद्धिः; वेदान्तिभिः सर्गाङ्गीकारात् । न च भारताध्ययनस्य तथात्वप्रसङ्गेनाभाससमानयोगक्षेमता; तत्र दृढतरकर्तृस्मरणेन बाधात् । न चेहापि कर्तृश्रुत्या बाधः; तस्याः संप्रदायप्रवर्तकत्वप-

---

प्रमाणेति । अन्यथासिद्धिमेव दर्शयति—अस्मदादीति । यदि हि विरचनं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनेन व्याप्तम्, तदास्मदादावपि तथा स्यात्, नचास्ति, ततोऽवगम्यते—नूनमनयोः संबन्धोऽन्यप्रयुक्तः इति भावः । स्यादेतत्—कल्पाङ्गीकारे निर्लेपं प्रलीनस्य चिरकालातीतस्य संस्कारप्रमोषात् कथमीश्वरेणापि शक्यः पूर्ववद्वेद उच्चारयितुमिति ? तत्राह—तस्य चेति । न तावन्निर्लेपः प्रलयः; तत्संस्काररञ्जितमायोपबृंहितपरमेश्वरस्य मूलकारणस्य वा विद्यमानत्वात् । अत एव तत्संस्कारवशात् तत्सदृशक्रमवद्वेदोच्चारणमपि संभवतीत्यर्थः । तथापि ताल्वादिकरणरहितस्य कथं कर्तृत्वं संप्रदायप्रवर्तकत्वं चेति ? तत्राह—अविग्रहस्यापीति । अभ्युपगम्येदमुच्यते, वस्तुतस्त्वीश्वरस्य शरीरादिनोपदेष्टृत्वमेव नास्ति, कल्पादिभुवामतीतकल्पानुष्ठितविशिष्टज्ञानपरंपरापरितुष्टपरमेश्वरानुग्रहवशान्निरतिशयज्ञानसमृद्धानां हिरण्यगर्भप्रभृतीनां बुद्धौ यो वेदानामाविर्भावः, स खलु परमेश्वरस्य वेदोपदेष्टृत्वं नाम । इदमेव च यो वै वेदांश्चेति श्रुत्याप्युच्यते, न तत्र शरीरेण किंचित्कृत्यमिति । यत्तु वेदाध्ययनस्यानिदंप्रथमतायामनुमानमुद्भाव्य दूषितं पूर्ववादिना, तदपि संस्काराप्रमोषादित्यादिना समर्थितमित्याह—एतेनेति । यत्तु तेनाश्रयासिद्धिरित्युक्तम्, तत्र भवतु मीमांसकं प्रत्ययं दोषः, नास्मान्प्रतीति परिहरति—न चेति । तन्मतेऽपि यादृगहोरात्रादिपरिगणनाविशिष्टस्य सर्गकालत्वं पराङ्गीकृतम्, तत्कालः शक्यः पक्षीकर्तुमिति द्रष्टव्यम् । आभाससमानयोगक्षेमतां परिहरति—न चेति । ननूक्तमत्रापि कर्तृप्रतिपादकश्रुतिस्मृती विद्येते इति तत्राह—न चेहापीति । अथ किमित्युपलभ्यविरचयिता कर्तैवाभिः श्रुतिभिः न स्वीक्रियते ? तत्राह—

तत्व' का अनुमान करने पर हेतु अन्यथासिद्ध हो जाता है । अर्थात् जैसे हम लोग इस समय वेद का उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार सृष्टयारम्भ काल में ईश्वर ने उच्चारण किया था, एतावता वेदों में प्रमाणवाक्यत्व बन जाता है, प्रमाणान्तराधिगमपूर्वक विरचितत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता । ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः अतीत कल्प में प्रचलित वेदों का अपरोक्ष ज्ञान कर सकता है । स्वभावतः अशरीर होने पर भी ईश्वर भक्तानुकम्पा सें लीलाविग्रह धारण कर, वेदों का उच्चारण भी कर सकता है । इसीलिए सर्गकालीन वेदाध्ययन में पूर्वपूर्वाध्ययनपूर्वकता का भी समर्थन हो जाता है (अर्थात् उक्त अनुमान का आकार रखेंगे—'सर्गकालीनवेदाध्ययनं पूर्ववेदाध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वाद् वर्तमानाध्ययनवत् ।' इस अनुमान से वेदाध्ययन में अनादित्व सिद्ध होता है । अनादित्व की सिद्धि होने से ही अपौरुषेयत्व की सिद्धि हो जाती है । महामुनि गौतम ने इसे अधिकरण सिद्धान्त माना है—"यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः"—न्या० सू० १।१।३० । मीमांसक, सर्ग नहीं मानते हैं, अतः उनके मत से यहाँ आश्रयासिद्धि दोष होता था, किन्तु अब) वह आश्रयासिद्धि नहीं ; क्योंकि वेदान्ती सर्ग मानते हैं । यह जो कहा था, "सर्वं भारताध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनत्वात् साम्प्रतिकाध्ययनवत्"—इस अनुमानाभास की समानता उक्त अनुमान में है । यह भी संगत नहीं ; क्योंकि यह अनुमान दृढतर कर्तृस्मरण से बाधित है और हमारे वेदाध्ययन-

रतयाप्युपपत्तेः, अन्यथा नित्यत्वप्रतिपादकवाक्यानामनवकाशत्वप्रसङ्गात्, भारतस्य नित्यत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावाच्च।

न च वेदानामनाप्तप्रणीतत्वादाप्तप्रणीतत्वमनुमातुं युक्तम्; आत्माकाशादौ व्यभिचारात्। अथ शब्दत्वे सतीति विशेषणाददोषः, मैवम्; आप्तप्रणीतत्तामात्रस्य पूर्वोक्तन्यायेन वेदेऽप्यङ्गीकारात्। न चैवं सति पाषण्डाद्यागमानामपौरुषेयत्वम्; मानान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्तत्पुरुषविरचितत्वस्य सौगतादिभिः स्वयमेवाङ्गीकारात्प्रसिद्धेश्च। न च सामान्यवत्त्वे

अन्यथेति। नित्यत्वं चेदं पुरुषास्वातन्त्र्यम्, न पुनः सर्वथैव, निःश्वसितमित्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात्। उक्तं च वृद्धैः—'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता' इति। स्यान्मतम्—वयमपि तावद्वेदमुच्चारणद्वारेण विरचयामः; परमेश्वरेऽपि चेत्तथैव रचयति, नतु पूर्वक्रममन्यथयति, नाप्युपलभ्यार्थं विरचयति, कस्तर्हि विशेषः परमेश्वरस्य मादृशेभ्यः? येन निःश्वसितमित्यादिश्रुतयः परमेश्वरमेव कर्तारमावेदयन्तीति; उच्यते; उपादानत्वात्स खलु परमेश्वरः प्रतिसंचरसमये समस्तमेव जगत्संहरन् वियदादिवदेव वेदाद्यात्मकमपि शब्दराशिं संहरति, महासर्गसमये च तत्तद्वासनावासिताचिन्त्यशक्तिराशिमहामायासहायमापन्नः शब्दाकारेण विवर्तते, तदनु च पूर्वक्रमसदृशक्रमवच्छब्दराशिरूपवेदाकारेण विवर्तते, सर्गादिभुवां हिरण्यगर्भप्रभृतीनां च तमुपदिशतीति शब्दकर्तृत्वं संप्रदायप्रवर्तकत्वं चेश्वरस्यैवेत्युच्यते। यद्यपि सर्वज्ञस्येश्वरस्य वेदार्थविषयमपि ज्ञानमस्ति, तथापि न तस्य वेदनिर्माणे कारणभावः, पूर्वपूर्वक्रमानुसरणमात्रेण तत्सदृशक्रमनिर्माणक्षमत्वात्। अस्मदादीनामिवेदानींतनभारतादिक्रमनिर्माणे, तेन नापौरुषेयत्वक्षतिः। नन्वेवं भारतस्यापि संप्रदायप्रवर्तयितैव व्यासः, न तु कर्तेति तस्याप्यपौरुषेयत्वं स्यादिति तत्राह—भारतस्येति।

यच्चानाप्तप्रणीतत्वे सत्याप्तप्रणीतत्वमेवायाति गत्यन्तराभावादित्युक्तम्, तत्र किमनाप्तप्रणीतत्वमात्रेणाप्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते? शब्दत्वविशेषितेन वा? नाद्य इत्याह—न चेति। द्वितीयं शङ्कते—अथेति। तत्रापि किमाप्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते? उपलभ्य विरचनं वा? आद्ये प्राह—मैवमिति। द्वितीये तु पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः। यत्तु पाषण्डाद्यागमानामप्यपौरुषेयत्वमेवं सति स्यादित्युक्तम्, तत्राह—न चेति। अथ तदङ्गीकारे भ्रान्तो नैयायिकादीनामिव वेदपौरुषेयत्वे इति तत्राह—प्रसिद्धेश्चेति।

पक्षक अनुमान में किसी प्रकार का बाध नहीं। "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति"—आदि श्रुतियाँ वेद-कर्ता का प्रकाश नहीं करतीं, अपितु सम्प्रदाय-प्रवर्तक का ही प्रतिपादन करती हैं। अन्यथा नित्यत्व-प्रतिपादक वाक्यों के लिए कोई अवकाश न मिलेगा। महाभारत में नित्यत्व-प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं, अतः वहाँ महामुनि व्यास को महाभारत का कर्ता ही मानना होगा, सम्प्रदाय-प्रवर्तक मात्र नहीं। वेदों में 'अनाप्तप्रणीतत्व' हेतु से आप्त-प्रणीतत्व का अनुमान भी नहीं कर सकते; क्योंकि आत्मा एवं आकाशादि में हेतु व्यभिचारी है ('आप्त-प्रणीत' साध्य के न रहने पर भी अनाप्त-प्रणीतत्व का अभावरूप हेतु रहता है)। हेतु का 'शब्दत्वे सति'—यह विशेषण लगाने पर उक्त व्यभिचार तो हट जाता है; किन्तु सिद्धसाधनादि दोष बने ही रहते हैं; क्योंकि आप्तोच्चरितत्वरूप आप्त-प्रणयन वेदों में माना ही जाता है। यह जो कहा था कि इस प्रकार पाखण्डियों के आगम भी नित्य सिद्ध हो जायँगे। वह कहना नितान्त असम्बद्ध है; क्योंकि बौद्धादि स्वयं मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार करते हैं कि प्रमाणान्तर से जाने हुए पदार्थों का प्रकाश करने के लिए ही विशिष्ट व्यक्तियों ने शास्त्रों का प्रणयन किया है। प्रसिद्धि भी ऐसी ही है। यह जो 'सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबहिरिन्द्रियप्रत्यक्षत्व' हेतु से वर्णों में अनित्यत्व का अनुमान किया था। वह उचित नहीं, क्योंकि भाट्ट मत से काल, आकाशादि

सत्यस्मदादिवहिरिन्द्रियप्रत्यक्षतया वर्णानां कृतकत्वानुमानम्; अस्मदादिर्वाहिरिन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालाकाशादेर्नित्यत्वेन भाट्टं प्रत्यनैकान्त्यात्, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । श्रोत्रं नित्यद्रव्यग्राहकं निरवयवेन्द्रियत्वात् मनोवदिति भाट्टमतेन प्रयोगसंभवात् । न च श्रोत्रं न नित्यद्रव्यग्राहकम्, अनित्यभूतविशेषगुणग्राहकं वा, बहिरिन्द्रियत्वादिन्द्रियत्वाद्वा चक्षुर्वदिति प्रत्यनुमानबाधः; प्रथमानुमाने नयनस्य नित्यगगनादिग्राहकत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्; द्वितीये च ध्वनिग्राहकतया सिद्धसाधनत्वात् । व्यक्तिभेदासिद्धौ च 'स एवायं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाया

ननु सर्वमेतच्छब्दानित्यत्वे सति स्यात्तदेव तु नास्ति, अनुमानाच्छब्दानित्यत्वसाधनान्नित्यत्वप्रमाणदूषणाच्चेति, तत्राह—न चेति । अत्र तावदेकदेशिमतेन दूषणमाह—अस्मदादीति । आकाशमस्मदादिप्रत्यक्षं प्रदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वात् आत्मवत्, दिक्कालाकाशानि अस्मदादिप्रत्यक्षाणि विभुत्वादात्मवत्, श्रोत्रं विभुग्राहकमिन्द्रियत्वान्मनोवदित्यादिना च तेषां प्रत्यक्षत्वसिद्धेः । न संबन्धासंभवो बाधः; अजसंयोगसंभवात् । वक्ष्यते च तत्र प्रमाणं द्वितीयपरिच्छेदे । तन्मतेनैव सत्प्रतिपक्षतामप्याह—सदिति । जातौ सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्यपदम्, घ्राणे रूपे वानैकान्त्यनिवृत्त्यै हेतौ पदद्वयम् । प्रत्यनुमानविरोधं निराचष्टे—न चेति । अनित्यो यो भूतविशेषगुणस्तस्येत्यर्थः । वेदान्तिप्रभाकरयोर्मते सिद्धसाधनतापरिहाराय अनित्यग्रहणम् । शब्दनिष्ठद्वित्वादिना भाट्टं प्रत्यर्थान्तरतानिवृत्त्यै विशेषग्रहणम् । नभोगुणत्वार्थे भूतपदम् । मानसप्रत्यक्षात्मवादिनां मनसि व्यभिचारवारणाय बहिरिन्द्रियेत्युक्तम् । अत्रापि भाट्टमतेन दूषणमाह—प्रथमेति । नैयायिकादीनां च योगीन्द्रियैर्व्यभिचारः । अस्मदादिविशेषणं च परस्य व्यर्थमिति द्रष्टव्यम् । तावतापि तव मते किं दूषणमस्य ? इत्याशङ्क्य प्रत्यभिज्ञाबाधं दर्शयितुं तस्या अपि जातिविषयत्वेनोक्तामन्यथासिद्धिं परिहरति—व्यक्तीति । अथ कथं व्यक्तिभेदासिद्धिर्यावतो-

नित्य पदार्थों में व्यभिचार है । [भाट्ट मत में आकाश, काल, दिशा—तीनों को प्रत्यक्ष माना जाता है, जैसा कि नारायण भट्ट ने कहा है—

'व्योमकालदिशामादौ प्रत्यक्षत्वं समर्थ्यते ।
अनिष्टं भट्टपादोक्तिमाधुर्यानभिलाषिणाम् ॥' (मानमेयोदय०)

अनुमान प्रयोग भी किया है—'दिक्कालाकाशाः प्रत्यक्षाः, अमनस्त्वे सति विभुत्वादात्मवत्' । पार्थसारथि मिश्र ने भी कहा है—"यद्यपि न स्वातन्त्र्येण दिशः श्रोत्रग्राह्यत्वम्, तथापि रवे गृह्यमाणे तद्विशेषणतया दिगपि श्रोत्रेण गृह्यते इति दृष्टत्वादङ्गीक्रियते कालवत्"—शा. दी. तर्क. पृ. १३९ । अतः आकाशादि में 'कृतकत्व' न रहने पर 'अस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्व रह जाता है, इसलिए व्यभिचारी है] । एवं उक्तानुमान में सत्प्रतिपक्षता भी है—'श्रोत्र, नित्यद्रव्य का ग्राहक है, निरवयवेन्द्रिय होने के कारण, जैसे—मन'—यह प्रयोग भाट्टमत से किया जाता है । यदि कहा जाय कि इस अनुमान का भी प्रत्यनुमान है—'श्रोत्र, नित्य द्रव्य का ग्राहक नहीं, बहिरिन्द्रिय होने से, जैसे चक्षु' अथवा 'श्रोत्र, भूतों के अनित्य विशेष गुण का ग्राहक होता है, इन्द्रिय होने से जैसे—चक्षु' । तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि भाट्ट मत में चक्षु, आकाशादि नित्य द्रव्य का ग्राहक माना जाता है, अतः प्रथमानुमान का दृष्टान्त साध्य-शून्य है । द्वितीय अनुमान में सिद्ध-साधनता दोष है—भाट्ट के मत से ध्वनिरूप अनित्य विशेष गुण का ग्राहक श्रोत्र माना ही जाता है । ('स एवायं गकारः'—इस प्रत्यभिज्ञा को जो जातिविषयक मान लिया था । वह मानना भी युक्त नहीं ; क्योंकि जहाँ व्यक्तियों में भेद प्रमाणित होता है, वहाँ ही प्रत्यभिज्ञा को जातिविषयक माना जाता है । किन्तु प्रकृत में) वर्ण व्यक्तियों का भेद प्रमाणित नहीं, अतः 'स एवायं गकारः'—इस प्रत्यभिज्ञा को जातिविषयक न मानकर व्यक्तिविषयक ही मानना होगा । फिर शाब्दाभेदबोधक उस प्रत्यभिज्ञा

जातिविषयत्वकल्पनानुपपत्तेः, तद्विरोधश्च अनित्यत्वानुमाने दुर्वारः। न च ‘द्रुतो गकारो विलम्बितो गकारः’ इति विरुद्धधर्मसंसर्गित्वाद् गकारव्यक्तिभेदसिद्धिः ; तस्याः प्रतीतेर्ध्वनिविषयतया वर्णविषयत्वाभावेन प्रामाणिकविरुद्धधर्मसंसर्गस्यासिद्धेः। प्रातीतिकस्य च तस्य मणिकृपाणादिष्विवाननस्य भेदासाधकत्वात्। वेदान्तवादिभिः सर्गस्य तद्विशेषितकालस्य

दात्तानुदात्तादितारतम्यादिविरुद्धधर्माध्यासाद्भेद एव गकारादेरवसीयते इति ? तत्राह—न चेति। अत्र किं प्रामाणिकविरुद्धधर्माध्यासाद्भेदः साध्यते ? प्रातीतिकाद्वा ? आद्येऽसिद्धिमाह—तस्याः प्रतीतेरिति। यदि व्यक्तिभेदः स्यात्तदा द्वौ गकाराविति स्यात, न पुनर्द्विर्ग उच्चरित इति। तदिह स्वारसिकं प्रत्यभिज्ञयैक्यं प्रतीयते, विरुद्धधर्मसंसर्गस्तु परोपाधिकः। न च परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्यं[1] विहन्यते, मा हि भून्नभसोपि कुम्भाद्युपाधिभेदादाजानतो भेद इति, तेनानुवृत्तिव्यवहारः स्वरूपेण, व्यावृत्तव्यवहारस्तूपाधिनिदान इत्यनवद्यम्। उक्तं च वृद्धैः—

‘तेन[2] यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णादेव लभ्यते। व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति गत्वादिगीर्वृथा ॥’(श्लो०वा०स्फोट २६)

द्वितीयेऽप्यनैकान्तिकतामाह—प्रातीतिकस्येति। यथा हि मणिकृपाणदर्पणादिषु तद्भेदेन भिन्नमिव प्रतीयमानमपि मुखं न स्वतो भिद्यते, एवमित्यर्थः। एतेन तीव्रादिधर्मोपेतत्वादुत्कर्षनिकर्षवत्त्वादित्यादिकमनित्यत्वसाधकहेतुजातमपहस्तितं मन्तव्यम्। तथाच—

प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा। अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते ॥

किंच सामान्यवत्त्वे सतीत्यनुमाने शब्दमात्रपक्षीकारेऽपि ध्वन्यंशे सिद्धसाधनता, तदितरत्वविशेषणे चानिष्टाव्यवच्छेदाद्वैयर्थ्यम्, हेतोश्चोपान्त्यादिष्वसिद्धिः। अन्त्यशब्दपक्षीकारे च पूर्ववदेव वैयर्थ्यम्, तथा स्वमतेन सोपाधिकत्वम्, अश्रावणत्वस्योपाधित्वात्। शब्दत्वादिनिवर्त्यसद्भावाच्च न पक्षेतरत्वम्। एतेनेदमप्यपास्तम् यदाह मानमनोहरकारः—“अनित्यः शब्दः, इन्द्रियविशेषगुणत्वात्, चक्षूरूपवत्” इति। तत्रापि हि समानं ध्वन्यंशे सिद्धसाधनत्वं तदितरविशेषणे वैयर्थ्यमश्रावणत्वोपाधिहतत्वं चेति। उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽप्यभावस्य प्रत्यक्षतां महता संरम्भेण समर्थयन्नेव निवृत्तकोलाहलः, उत्पन्नः शब्द इति व्यवहारचरणैकशरणः प्रत्यक्षमेव शब्दानित्यत्वे प्रमाणयति स्म, स च विरुद्धधर्मसंसर्गस्यौपाधिकत्वोपपादनन्यायेन दत्तबलिरेव वेतालः। योऽपि नित्यत्वे सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो न्यायभूषणकारोक्तः, सोऽपि ध्वनिसंस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमान्निरस्तः। यत्तु युगपदिन्द्रियसंबद्धत्वेन प्रतिनियतसंस्कारसंस्कार्यत्वाभावानुमानम्, तद्ध्वन्मत एवात्मन्यनैकान्तिकमित्यलमतिकलकलेन। यत्तु वैदिक्यानुपूर्वी इदंप्रथमा वर्णानुपूर्वीत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानं नैयायिकानाम् , तदसत् ; विगीतः कालो वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वादिदानींतनवदिति सत्प्रतिपक्षत्वात्। यत्तत्र पूर्वपक्षिणोक्तं तत्परिहरति—देदान्तवादिभिरिति।

प्रमाण का विरोध, अनित्यानुमान में अनिवार्य है। ‘द्रुतो गकारः’, ‘विलम्बितो गकारः’—इन अनुभूतियों के आधार पर द्रुतत्व, विलम्बितत्वादि विरुद्ध धर्मों के योग से गकारादि व्यक्तियों का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता ; क्योंकि उक्त अनुभूतियां ध्वनिविषयक हैं (“नादवृद्धिपदा”—जै. सू. १।१।१७ में शबर स्वामी ने कहा है—‘नादस्यैष वृद्धिर्न शब्दस्य’ अर्थात् शब्द में प्रतीत होनेवाले दीर्घत्व, ह्रस्वत्वादि धर्म, वस्तुतः शब्द की व्यञ्जक ध्वनि के धर्म होते हैं, शब्द के नहीं)। प्रामाणिक विरुद्ध धर्मों का योग ही व्यक्ति-भेद सिद्ध कर सकता है, किन्तु यहाँ वह नहीं है। प्रातीतिक विरुद्ध धर्मों (वर्तुलत्व, वक्रत्वादि) का सम्बन्ध मणि, कृपाण—आदि में होने पर भी मुख के भेद

---

१. स्वभावतः परमार्थत इति यावत्। २. तेन = वादिना, यत् = प्रत्यभिज्ञारूपम्, जातेः = जातिपदार्थात्, वर्णात् = गकारादि वर्णात्, व्यक्तिलभ्यम् द्रुतविलम्बितादिव्यवहाररूपम्, नादेभ्यः ध्वन्यात्मकव्यञ्जकेभ्यः, गत्वादिगीः गत्वादिजात्या प्रत्यभिज्ञानं जातिस्वीकरणं च व्यर्थम्। अनिष्टाव्यच्छेदादितिशेषः।

चाङ्गीकारात्। अतीतकालशब्देन तत्पक्षीकारेणानुमानप्रवृत्तावपि न धर्म्यसिद्धिः। न चाभासस‌मानयोगक्षेमता; भारताध्ययनानामनादित्वनिरासेन पुरस्तान्निरस्तत्वात्। एवमपौरुषेयतया वेदान्तानामसंभाविताशेषपुरुषदोषसंसर्गेभ्यस्तेभ्यो विगलितनिखिलभेदविशुद्धब्रह्मप्रमितिः सिद्ध्यतीति सिद्धम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखा-
चार्यमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां
प्रथमः परिच्छेदः ॥

वादार्थमुपसंहरन्प्रथमपरिच्छेदार्थं संकलयति—एवमपरुषेयतयेत्यादिना। अत्र च पुरुषदोषासंभवग्रहणमितरशब्ददोषासंभवस्याप्युपलक्षणम्, तेन स्वतःप्रामाण्यशक्त्यभिहितान्वयापौरुषेयसिद्धार्थप्रामाण्यकार्याप्रामाण्यवादानां संग्रहः कृतः। विगलितनिखिलभेदग्रहणेनाखण्डवाक्यार्थप्रपञ्चमिथ्यात्वतदुपपादकभावरूपाज्ञानतदुपयोगितमःख्यातिविशेषविचाराः संगृहीताः। परिशुद्धब्रह्मग्रहणेन विज्ञानात्मस्वप्रकाशवादौ संगृहीताविति परिच्छेदार्थः सकलः संकलित इति सर्वं निर्मलम्।

विज्ञानं स्वप्रकाशं भवति च पुरुषस्तद्वपुर्भावरूपम्,
ध्वान्तं मिथ्या प्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोधः।
आरोपारोप्यसिद्धप्रमितिजनकताऽखण्डता स्वप्रमात्वम्,
शक्तिर्लक्ष्यः पदार्थान्वय इति कथिताः पौरुषेयो न वेदः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यग्रूपभगवतः
कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्यायां नयनप्रसादिन्यां
प्रथमः परिच्छेदः ॥

का साधक नहीं होता। वेदान्तिगण सर्ग और सर्ग-विशिष्ट काल को मानते हैं, अतः उसी को ही अतीतकाल शब्द से पक्ष बनाकर (अतीतः कालः वेदाध्ययनयुक्तः कालत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्—इस प्रकार) अनुमान किया जा सकता है। धर्मी की असिद्धि नहीं। अनुमानाभास की समानता भी नहीं; क्योंकि भारताध्ययन में अनादित्व के निरास से ही अनुमानाभास निरस्त हो जाता है। इस प्रकार वेदान्त अपौरुषेय हैं। इनमें सभी प्रकार के भ्रम प्रमादादि, पुरुषों के दोष सम्भावित नहीं। इन निर्दुष्ट वेदान्तवाक्यों से निखिल भेद-रहित शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है—यह सिद्ध हो गया।

श्रीचित्सुखार्यास्यसरोजभाजो
विधेरिदं हास्यमभूतपूर्वम्।
समन्वयाख्याद् वदनात् प्रवृद्धं
भाषामयं रातु हितं प्रकामम् ॥

इति तत्त्वप्रदीपिका–भाषानुवादे
प्रथमः परिच्छेदः

द्वितीयः परिच्छेदः

ननु कथं विगलितनिखिलभेदब्रह्मप्रतिपत्तिः ? प्रत्यक्षादिविरोधात् । तथा हि—प्रत्यक्षेण तावदिदमस्माद्भिन्नमिति नीलपीतादेर्भेदमध्यवस्यामः। अथ मतम्—किं प्रत्यक्षं भेदमेव गोचरयति ? उत वस्त्वपि ? तदापि भेदपूर्वकं तद्गोचरयेत् ? तत्पूर्वकं वा भेदम् ? युगपदेव वोभयम् ? नाद्यः ; धर्मिप्रतियोगिवस्तुप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । अत एव न भेदग्रहपूर्वको वस्तुग्रहः । न च वस्तुग्रहपुरस्सरो भेदग्रहः ; बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात् । नापि युगपदुभयग्रहः ; कार्यकारणबुद्ध्योर्यौगपद्यायोगात् । धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिर्हि भेद-

---

नमस्ये मानौघैः प्रमितममितं स्थाणुमनिशं
समस्तज्ञं लोकत्रितयनयनं सत्रिनयनम् ।
सकालं कालारिं सकलवपुषं निष्कलमुमा-
सहायं कामारिं भवमभवमीशं पशुपतिम् ॥१॥
ब्रह्मणि वेदान्तानामुदितोऽद्वैते समन्वयस्तस्य ।
भेदावगाहिमानैर्विरोधनुत्यै परः परिच्छेदः ॥२॥

यद्यप्यद्वये ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं साधितम्, तथापि भेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधादसाधितसमं तत्, अतोऽनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्याभावेऽपि विरोधान्मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यं भवेत्, कश्च खलु विशेषः स्वगोचरशूराणां प्रत्यक्षादीनामागमेभ्यः ? इति प्रामाणिकभेदवादिनश्च प्रत्यवतिष्ठन्ते—नन्नु कथमित्यादिना । अनेन परिच्छेदयोर्विषयविषयिभावलक्षणासंगतिरपि दर्शिता, पूर्वस्य विषयत्वादुत्तरस्य विषयित्वादिति। अत्र मण्डनमिश्रैर्भेदवस्तुनोः किमेकैकग्राहकं प्रत्यक्षम् ? उतोभयग्राहकम् ? उभयग्रहपक्षेऽपि युगपत्क्रमेण वा ? क्रमपक्षेऽपि किं पूर्वम् ? किमपरम् ? इति विकल्प्य दूषयद्भिर्भेदग्राहित्वमेव प्रत्यक्षस्य नास्तीत्युक्तम् तदनुवदति पूर्ववादी अथ मतमिति। वस्त्वेवेति तु पक्षस्तदनर्थबीजमिति परित्यक्तः। धर्मिप्रतियोगिरूपं वस्तु धर्मिप्रतियोगिवस्तु। इदमेव दूषणमुभयग्रहेऽपि भेदग्रहपूर्वकवस्तुग्रहपक्षेऽप्यतिदिशति—अत एवेति। कार्यकारणभावमेवोपपादयति—धर्मिप्रतियोगीति । नन्नु यद्यपि भेदप्रतिपत्तिसमये धर्म्यादिज्ञानमन्वेति, तथापि न तावता कारणत्वं शक्याध्यवसायम्, व्यतिरेकाभावादितरथा नभसोऽपि निमित्तकारणतापतात्, अस्ति ह्यन्वय इति,

---

समन्वयं समाराध्य प्राप्ता ज्योतिरसद्भया ।
विरोधाभावभावोऽहं द्वैतध्वान्ताद् बिभेमि किम् ॥

भेदोज्जीवन—निखिल भेद-रहित ब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है ? उसमें प्रत्यक्ष—विरोध है ; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से 'यह इससे भिन्न है'—इस प्रकार नील, पीतादि का भेद निश्चित होता है ।

शङ्का—क्या प्रत्यक्ष, भेदमात्र को विषय करता है ? या वस्तु (प्रतियोगी, अनुयोगी) को भी ? इसमें भी भेद-ग्रहपूर्वक वस्तु को विषय करता है ? या वस्तु-ग्रहपूर्वक भेद को ? या दोनों को युगपत् (एक साथ) ? (द्र० ब्र० सि० पृ० ४४)। प्रथम (भेदमात्र-विषयता) पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि अनुयोगी एवं प्रतियोगीरूप वस्तु की प्रतीति के बिना भेदमात्र की प्रतीति हो ही नहीं सकती । इसीलिए ही भेद-ग्रहपूर्वक वस्तु का ग्रहण सम्भव नहीं । वस्तु-ग्रहपूर्वक भेद-ग्रह भी नहीं हो सकता ; क्योंकि (प्रत्यक्ष पहले वस्तु का प्रकाश करे, तदनन्तर भेद का—इस प्रकार) बुद्धि का विरम्य व्यापार होता नहीं । युगपत् दोनों (वस्तु और भेद) का ग्रहण भी सम्भव नहीं ; क्योंकि कारणरूप बुद्धि और कार्यरूप बुद्धि—दोनों एक काल में हो नहीं सकतीं । धर्मी एवं प्रतियोगी

प्रतिपत्तेः कारणम्, सन्निहितेऽपि धर्मिण्यसन्निहितप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदप्रतिपत्तिव्यतिरेकस्य वादिप्रतिवादिनोः संमतत्वादिति, मैवम्; स्वरूपभेदवादिनं प्रत्येतेषां विकल्पानामनवसरदुःस्थत्वात्, वस्तुग्रहस्यैव भेदग्रहत्वात्। न च वस्तुस्वभावस्यैव भेदत्वे तद्ग्रहस्य प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गः; वस्तुस्वभावतया भेदस्यानपेक्षदृष्टिदृष्टस्य सविकल्पके व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षत्वोपपत्तेः। दृश्यते हि प्रादेशमात्रपरिमाणवस्तुनोऽनपेक्षदृष्टिदृष्टस्य ह्रस्वं दीर्घमिति सविकल्पके व्यवहारे न्यूनाधिकपरिमाणवस्तुग्रहसापेक्षता। न च धर्मभेदवादिनं प्रत्यप्येते विकल्पाः प्रसरमर्हन्ति; युगपदुभयग्रहेऽपि विरोधाभावात्। असन्निहिते धर्मिणि प्रतियोगिनि वा युगपदुभयग्रहाभावेऽपि सन्निहितस्थले दण्डी देवदत्त इतिवदपर्यायमेवोभयग्रहोपपत्तेः। न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वादनवस्थादोषापत्तिः; मूल-

---

तत्राह—**सन्निहितेऽपीति**। तमिममनूदितं पक्षं प्रतिक्षिपति—**मैवमिति**। किं वस्तुस्वरूपमेव भेद इति तस्य मतं प्रतीमानिदूषणान्युच्यन्ते? किं वा धर्मभेदवादिनं प्रति? प्रथमे चौरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायः, उच्यमानदूषणानां तदविषयत्वादित्याह—**स्वरूपभेदेति**। ननु वस्तुस्वभावत्वमेव भेदस्य न घटते, तथासति घटस्वभाववदेव प्रतियोग्यनपेक्षितत्वप्रसङ्गात्, प्रतियोगिसापेक्षश्च सर्वत्र भेदः प्रतीयत इति, तत्राह—**न च वस्तुस्वभावस्येति**। अत्र यदि वस्तुस्वभावो भेदः स्यात्तर्हि सापेक्षप्रतीतित्वं न स्यादिति ह्यापादनम्, तच्चायुक्तम्, वस्त्वेव भेद इति वदन्तं मां प्रति व्याप्त्यसिद्धेः प्रशिथिलमूलत्वादित्याह—**वस्तुस्वभावतयेति**। प्रतीतिविशेषो व्यवहारविशेषप्रयुक्तः, न वस्त्वतिरेकप्रयुक्त इति भावः। अथैवमापाद्यते—यदि हि निरपेक्षदृष्टिदृष्टं स्यात्, नस्यात्तर्हि सापेक्षदृष्टिदृष्ट इति, तत्रापि प्रशिथिलमूलतामाह—**दृश्यते हीति**। दीर्घमिति व्यवहारे न्यूनवस्तुग्रहापेक्षा, ह्रस्वव्यवहारे त्वधिकग्रहापेक्षा। अधिकत्वं चात्र दीर्घत्वं विवक्षितमित्यर्थः। अस्तु तर्हि द्वितीयः, नेत्याह—**न च धर्मभेदवादिनमिति**। ननु कथं युगपदुभयग्रहः? यावता कार्यकारणभावस्तदुभयग्रहयोर्वर्णितः, असन्निहितप्रतियोगिस्थले स्थितव्यतिरेकत्वादिति तत्राह—**असन्निहिते धर्मिणीति**। यथा हि—विभिन्नेन्द्रियग्राह्यसन्निहितविशेषणविशेष्यज्ञानयोर्विशिष्टज्ञानपूर्वभावित्वेऽप्येकेन्द्रियग्राह्यसन्निहितस्थले पूर्वभावित्वं नास्थीयते, तत्कस्य हेतोः? व्याप्तेः सङ्कोचात्, व्याप्तिसंकोचश्च

दोनों का ज्ञान, भेद-ज्ञान का कारण होता है; क्योंकि केवल अनुयोगी के सन्निहित होने पर भी असन्निहित प्रतियोगी-ज्ञान के बिना भेद-प्रतीति का न होना, वादी तथा प्रतिवादी—दोनों को सम्मत है।

समाधान—भेद को वस्तु का स्वरूप मानने वाले वादी के प्रति उक्त विकल्पों को कोई अवसर ही नहीं मिलता। उसके मत में तो वस्तु का ज्ञान ही भेद-ज्ञान है। 'यदि भेद, वस्तुस्वरूप है, तब उसका ज्ञान, प्रतियोगी के ज्ञान के बिना ही होना चाहिए'—यह आपत्ति नहीं दे सकते; क्योंकि हमारे मत में प्रथमतः प्रतियोगि-निरपेक्ष ही भेद का ग्रहण होता है, हाँ विशेषधर्मविषयक व्यवहार में प्रतियोगि-ज्ञान की अपेक्षा होती है। यह देखा जाता है कि प्रादेशमात्र (तर्जनी और अँगूठे को फैलाने पर, तर्जनी के सिरे से अँगूठे के सिरे तक की लम्बाई, लगभग साढ़े सात इञ्च) परिमाण की वस्तु का, किसी की अपेक्षा के बिना ही प्रथमतः ग्रहण होता है। अनन्तर यह ह्रस्व है, यह दीर्घ है—इस प्रकार के विशेष व्यवहार में न्यूनाधिक परिमाण की वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा होती है। जो वादी भेद को वस्तुस्वरूप न मानकर वस्तु का धर्म मानता है, उसके प्रति भी उक्त विकल्प नहीं उठ सकते, क्योंकि एक साथ दोनों के ग्रहण में किसी प्रकार का विरोध नहीं, प्रतियोगी और अनुयोगी के असन्निधान में युगपत् उभय-ग्रह न होने पर भी सन्निहित स्थल पर 'दण्डी देवदत्तः'—के समान एक साथ दोनों का ग्रहण बन जाता है। धर्म का धर्मी से भेद मानने पर प्रथम भेद का भेदक द्वितीय और द्वितीय भेद का भेदक तृतीय—इस प्रकार अनवस्था दोष नहीं; क्योंकि

क्षतेरभावात्, 'मूलक्षतिकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषणम्' इति न्यायात्।

ननु धर्मपक्षेऽपि धर्मिणो भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगितायां परस्पराश्रयदोषः, स्तम्भात्कुम्भस्य भेदसिद्धौ, कुम्भात्स्तम्भस्य भेदसिद्धिरिति। अप्रतिपन्नभेदस्य तु प्रतियोगितायां दुष्परिहरः स्वात्मनोऽपि तत्प्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्; विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपेण च स्फुरतोर्धर्मिप्रतियोगित्वोपपत्तौ एकस्मिन्भेदग्रहप्रसङ्गाभावात्। ननु क्षीरनीरयोर्विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपग्रहणे भेदग्रहो न दृश्यत इति चेत्, मैवम्; तत्र समानाभिहारलक्षणदोषप्रतिबन्धादेव तदग्रहोपपत्तेः। एतेन दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्गः प्रत्युक्तः। उक्तञ्च—

दर्शनबलादेव, तथेहाप्यसन्निहितस्थले पौर्वापर्यदर्शनेन वस्तुभेदयः वह्निविशिष्टपर्वतवत्प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि सन्निहितस्थले यौगपद्यं भवतु, को दोषः? इत्यर्थः। **मूलक्षतेरिति**। मूलं प्राथमिकभेदप्रतीतिस्तत्क्षतेरभावादज्ञायमानानामेव भेदानां प्रथमभेदोपपादकत्वादित्यर्थः।

धर्मभेदपक्षे धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोः परस्पराश्रयदोषमाशङ्कते—**ननु धर्मपक्षेऽपीति**। परस्पराश्रयमेवाभिनयति—**स्तम्भादिति**। ननु न भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगिता, येनायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत, अपि तु स्वरूपेण प्रतीतस्येति, तत्राह—**अप्रतिपन्नेति**। तदेतत्परिहरति—**मैवमिति**। न स्वरूपेण प्रतीतिमात्रं विवक्षितम्, अपितु विद्यमानभेदत्वमपि। तथाच स्वस्य स्वस्मात्तदभावान्न भेदग्रहप्रसङ्गः, नाप्यन्योन्याश्रयतेत्यर्थः। तदप्यप्रयोजकमिति शङ्कते—**ननु क्षीरेति**। समानैरभिहारो मिश्रणम्। प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादो न कारणत्वं विहन्तीति भावः। यच्च विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण प्रतीतेः प्रतियोगित्वधर्मित्वप्रयोजकतायां दूषणं कैश्चिदुच्यते, दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्ग इति, तत्राप्युक्तं परिहारमतिदिशति—**एतेनेति**। अत्र च प्रतिबन्धमात्रमतिदेश्यमतिदूरत्वप्रतिबद्धत्वात्तयोः। **अतिदूरादिति**। अतिदूराद्गिरिशिखरवर्तितर्वादौ, अतिसामीप्याल्लोचननिलीनसलिलबिन्द्वादौ, इन्द्रियघातादन्धादेः, मनोऽनवस्थानात्तीव्रदुःखाद्युदये, अतिसौक्ष्म्यात्परमाण्वादौ, व्यवधानादपवरकान्तरवर्त्तिषु, अभिभवाद्दिवादीपादौ, समानाभिहारान्नीराशये नीरदमुच्यमाननीरेषु यथावद्ग्रहणप्रतिबन्धो भवति। चस्त्वनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन दुग्धादिषु दध्यादेरनुद्भवादग्रहोऽपि गृहीतः। तेन नानुपलब्धिमात्रादतीन्द्रियप्रधानाद्यप-

---

मूल-क्षयकरी अनवस्था ही दोष होती है, प्रकृत में मूल का घात नहीं (अर्थात् यहाँ मूल है—प्राथमिक भेद प्रतीति, उसकी क्षति नहीं होती)। यदि शङ्का हो कि धर्मपक्ष में भी (अनुयोगी का जिसमें भेद निश्चित है, उसी में प्रतियोगिता मानी जाती है ? या अनुयोगी का जिसमें भेद निश्चित नहीं है, उसमें भी ?) अनुयोगी का भेद जिसमें निश्चित है, उसमें प्रतियोगिता मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है—स्तम्भ से कुम्भ का भेद सिद्ध होने पर ही कुम्भ से स्तम्भ का भेद सिद्ध होगा। अनुयोगी का भेद जिसमें निश्चित नहीं, उसमें भी प्रतियोगिता मानने पर अनुयोगी में भी स्वभेद की प्रतियोगिता प्राप्त होगी। तो यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि अनुयोगी का भेद स्वरूपतः जिसमें विद्यमान है, उसमें प्रतियोगिता मानते हैं। प्रतियोगिता में भेद-ज्ञान की अपेक्षा न होने से अन्योऽन्याश्रयता नहीं और स्व में स्व का भेद न होने से एक ही वस्तु में उसका भेद-ग्रह-प्रसङ्ग भी नहीं होता। यदि कहा जाय कि भेद की विद्यमानतामात्र, भेद-ग्रह का प्रयोजक नहीं, दूध और पानी में विद्यमान होने पर भी भेद गृहीत नहीं होता। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि वहाँ भेद-ग्रह का प्रतिबन्धक आ गया है—समभिहार (समान वस्तु में मिल जाना), अतः भेद-ग्रह नहीं होता। इसीलिए ही दूरस्थ वृक्षों में भेद-ग्रह नहीं होता; क्योंकि वहाँ 'दूरत्व' दोष प्रतिबन्धक है। आचार्य ईश्वर कृष्ण ने भी कहा है—'अति दूर होने से, अति समीप होने से, इन्द्रिय के नष्ट हो जाने से, मन की अनवधानता से, सूक्ष्म होने से, व्यवहित होने से, अभिभूत होने से, समान

'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च' ।। इति (सां० का० ७)

किं चैकस्यामेव निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपत्प्रतिभासे सत्येकं भेदिनं प्रतियोगीकृत्यैतस्मादयं भिन्नस्सविकल्पकबोधोपपत्तौ कुतः परस्पराश्रयो दोषः ? एतेन भेदभेदिनोर्भेदान्तरप्रतीतिमन्तरेण विशेषणविशेष्यभावासंभवाद्भेदस्य विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा प्रतीतिनियमादनवस्था मूलक्षयकरी स्यादित्यपि प्रत्युक्तम् ; विद्यमानभेदयोः स्वरूपेण स्फुरतोरेवधर्मिप्रतियोगित्ववद्विशेषणविशेष्यभावस्याप्युपपत्तेः । तदेवं प्रत्यक्षप्रमितिगोचरो भेदः ।

अनुमानमपि लिङ्गविशेषात् लिङ्गिविशेषप्रत्यायकत्वाद्भेदे प्रमाणम् । आगमोऽपि शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणप्रक्रियानामधेयैः कर्मोपासनादिभेदमेव बोधयति । उपमानमपि प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टपरोक्षगोविषयमनेन सदृशी मदीया गौरिति भेदमेव गृह्णाति । अर्थापत्तिरपि 'तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधि' इति व्यवस्थान्यथानुपपत्तिप्रभवा भेदमेवालिङ्गते । योग्यानुपलब्धिरप्यन्योन्याभावलक्षणं भेदं बोधयत्येव । तदेवं भेदग्राहकप्रत्यक्षादिविरोधान्नाद्वैतं प्रतिपाद-

---

लाप इति सांख्यार्यार्थः । प्रकारान्तरेण परस्पराश्रयं परिहरति—किंचैकस्यामेवेति । यदि धर्मिप्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वदा भेदः प्रतिभायात्तदा स्यादयं दोषः, नत्वेतदस्ति, निर्विकल्पकसंविदि निरपेक्षप्रतीतिसंभवादित्यर्थः । यच्च कैश्चिदुच्यते—विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र भेदः प्रतीयते, तच्च द्वयं भेदेन प्रतीतस्य । तथाच विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा प्राथमिकभेदप्रतीतिर्भेदान्तरप्रतीतिपूर्विका, तदपि भेदान्तरं तथैवेत्यनन्तभेदप्रतीत्यापत्त्या मूलक्षतिकारिण्येवानवस्थेति ; तदप्युक्तेन परिहृतमित्याह—एतेन भेदभेदिनोरिति । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—विद्यमानेत्यादि ।

एवं प्रत्यक्षगम्यत्वं भेदस्योक्त्वाऽनुमानादिरपि भेदं गमयतीत्याह—अनुमानमपीत्यादिना । सुरभिधूमेन चन्दनदहनानुमानमितरव्यावृत्तवस्तुनि प्रमाणमित्यर्थः । शब्दान्तराद्यधिकरणान्यनुक्रान्तानि प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे । यद्यप्युपासनान्यपि कर्मैव, तथापि मानसत्ववैषम्येण भेदेन निर्दिष्टानि । आदिशब्देन निर्गुणविद्याया इतरेभ्यो भेदसंग्रहः । उक्तलक्षणमेवोपमानं दर्शयति—अनेन सदृशीति । अन्योन्याभावः

के साथ मिल जाने से विद्यमान वस्तु की भी उपलब्धि नहीं हुआ करती ।' दूसरी बात यह है कि एक ही निर्विकल्पक ज्ञानं से भेद एवं भेदी (अनुयोगी, प्रतियोगी) का एक साथ भान हो जाने पर भेदी को प्रतियोगी बनाकर 'इससे यह भिन्न है'—इस प्रकार सविकल्पक बोध बन जाता है, अन्योऽन्याश्रयता दोष क्यों होगा ? इसीलिए जो लोग शङ्का करते थे कि भेद सदैव वस्तु का विशेषण या विशेष्य होकर ही प्रतीत होता है, विशेषणता और विशेष्यता का निश्चय उन्हीं में होता है, जिनमें भेद का निश्चय हो, अतः भेद-ग्रहपूर्वक ही भेद में विशेषणता या विशेष्यता का निश्चय होगा—भेद-प्रतीति में भेद-प्रतीति की धारा चलने से मूलक्षयकरी अनवस्था आ जाती है। उस शङ्का का भी समाधान हो गया ; क्योंकि जिनमें स्वरूपतः भेद विद्यमान है, उनमें अनुयोगिता, प्रतियोगिता के समान ही विशेषणता और विशेष्यता भी बन जायगी । यहाँ तक के ग्रन्थ से यह सिद्ध हुआ कि भेद, प्रत्यक्ष प्रमा का विषय है ।

अनुमान भी लिङ्ग विशेष से लिङ्गि विशेष का बोधक होने के कारण भेद में प्रमाण है । शब्द प्रमाण भी 'शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण, प्रकरणान्तरादि (द्र० पृ० ६४) के द्वारा कर्म और उपासनादि के भेद का बोधक है । उपमान प्रमाण भी प्रत्यक्षदृष्ट गवय के सादृश्य से विशेषित परोक्ष गौ को विषय करता हुआ 'इसके सदृश हमारी गौ है'—इस प्रकार भेद का ही ग्राहक होता है । अर्थापत्ति भी 'तिलों से ही तैल, दूध से ही दही'—इस प्रकार की व्यवस्था की अन्यथानुपपत्ति से जन्म लेकर भेद का ही आलिङ्गन करती है । अन्योऽन्याभावरूप योग्यानुपलब्धि भी भेद का बोध

यितुमर्हन्ति वेदान्ताः। प्रयोगश्च—घटः घटनिष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदाश्रयः दृश्यत्वात् पटवत्।

अत्राभिदध्महे—सापेक्षत्वात्सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः।
एकाभावादसंदेहान्न रूपं वस्तुनो भिदा ॥ १ ॥

न तावत्स्वरूपं भेदः; प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गात्। न च प्रादेशमात्रपरिमाणस्य ह्रस्वदीर्घादिव्यवहार इव सविकल्पकव्यवहारे भेदस्यापि प्रतियोगिसापेक्षत्वम्; वैषम्यात्। तथाहि—प्रादेशमात्रपरिमाणं स्वतो न्यूनाधिकपरिमाणाभ्यामेकद्रव्यसमवायविरोधिधर्मद्वयविशिष्टतयोपलम्भे प्रतियोगिनमपेक्षते इत्यस्त्येव तत्र मेयभेदः। प्रकृते तु न तथा, स्वरू-

---

इत्युपलक्षणम्, भूतलादौ घटादिसंसर्गाभावस्यापि बोधकत्वात्। अत्र च साक्षादेव प्रमेयो भेदः, भविष्यन्ति चैतेषां प्रमाणानां लक्षणानि तत्तत्खण्डनसमये। भेदसत्यत्वेऽप्यनुमानं मानमाह—प्रयोगश्चेति। व्याख्यातं चैतत्प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे पूर्वपक्षावसरसमये।

स्वरूपभेदपक्षे दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**सापेक्षत्वादिति**। न रूपं वस्तुनो भिदेत्यनेनैषां हेतूनामन्वयः। सापेक्षप्रतीतित्वाद्भेदस्य, वस्तुनश्च निरपेक्षप्रतीतित्वात्। तथा सावधेः सप्रतियोगिकस्य भेदस्य तत्त्वे वस्तुस्वरूपत्वे सति तद्द्वारा प्रतियोगिनामपि धर्मिस्वरूपत्वादद्वैतप्रसङ्ग इति द्वितीयो हेतुः। तथा विदारणात्मकस्य भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वे तस्यापि विदीर्णतयैकाभावात् तन्निमित्तानेकाभावाच्च शून्यतापातादिति तृतीयो हेतुः। तथा स्वरूपत्वे भेदस्य धर्मिणि दृष्टमात्र एव तत्स्वरूपभेदोऽपि, दृष्ट इति संदेहो न भवेत्। उपलक्षणं चैतत् विपर्ययस्यापि। विशेषाग्रहनिबन्धनौ हि तौ तद्ग्रहणे न स्यातामिति चतुर्थो हेतुः। एतेभ्यो हेतुभ्यो न स्वरूपं वस्तुनो भिदा भेद इति श्लोकयोजना। श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। पूर्वपक्ष्याशयमुन्मूलयति—**न चेति**। वैषम्यमेव विवृणोति—**तथाहीति**। स्वतो न्यूनपरिमाणेन स्वतोऽधिकपरिमाणेन च सहैकद्रव्ये समवायविरोधि यद्धर्मद्वयं दीर्घत्वह्रस्वत्वात्मकम् अस्य प्रादेशमात्रपरिमाणस्य तद्विशिष्टतया प्रतीतावेव प्रतियोग्यपेक्षा, न स्वरूपमात्रप्रतीताविति न भेदस्योदाहरणं

कराती हैं। इस प्रकार भेद-ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध उपस्थित हो जाने के कारण वेदान्त वाक्य सकल भेद-शून्य अद्वैत तत्त्व का बोध नहीं करा सकते। इस विषय में अनुमान प्रयोग भी है—'घट, घटनिष्ठ मिथ्या भेद से अतिरिक्त भेद का आश्रय होता है, दृश्य होने से, जैसे—पट' (द्र० पृ० ६४)

भेद-भञ्जन—'भेद कभी वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता; क्योंकि भेद, प्रतियोग्यादि-सापेक्ष होता है, वस्तु नहीं। अवधि (प्रतियोगी) से युक्त भेद को वस्तु का स्वरूप मानने पर (प्रतियोगी भी अनुयोगी का स्वरूप हो जाने से) अद्वैत-प्रसंग होता है। (भेद का स्वभाव देखा जाता है कि वह एक में नहीं, अनेक में ही रहता है, ऐसा भेद यदि वस्तु का स्वरुप बन गया, तब) कोई वस्तु एक रूप न रह सकेगी। वस्तु-स्वरूप होने से भेद का भी वस्तु के साथ ही ग्रहण हो जाने पर 'एक-अनेक' का सन्देह भी अनुपपन्न हो जायगा।' भेद को वस्तु-स्वरूप मानने पर वस्तु के समान, भेद भी प्रतियोग्यनपेक्ष हो जायगा। यह जो कहा था कि—भेद सर्वत्र प्रतियोगिसापेक्ष नहीं होता, अपितु प्रादेशमात्र—परिमाणवाली वस्तु में ह्रस्व, दीर्घ-व्यवहार के समान सविकल्पक व्यवहार में ही भेद; प्रतियोगी की अपेक्षा करता है। वह कहना उचित नहीं; क्योंकि दृष्टान्त का दार्ष्टान्त से वैषम्य है—प्रादेशमात्र परिमाण की वस्तु, अपने से न्यून और अपने से अधिक परिमाणों के साथ एक द्रव्य में न रहने वाले ह्रस्वत्व, दीर्घत्वरूप धर्मों से विशेषित होकर ही अपनी प्रतीति में प्रतियोगी की अपेक्षा करती है, केवल स्वरूप-प्रतीति में नहीं; अतः वहाँ तो मेय-भेद है ही। प्रकृत में ऐसा नहीं,

पस्यैव भेदत्वात् । यदि चास्मादयं भिन्न इति प्रतियोगिघटिततया प्रतीयमानो भेदो वस्तुनः स्वरूपं स्यात्, तदा तस्य सपरिकरस्य भेदस्य स्वरूपेऽन्तर्भावात् प्रतियोगिनोऽपि स्वरूपतया निमज्जनादद्वैतमेव पर्यवस्येत् । अथ प्रतियोगी भेदस्य स्वरूपे नान्तर्भूतः, किन्तु तटस्थ एव तन्निरूपकस्ततो नाद्वैतापत्तिरिति, मैवम्; प्रतियोगिनो भेदस्वभावानन्तर्भावेऽपि स्वभावभूतस्य भेदस्य वस्तुस्वभाववदेवान्यानिरूप्यत्वानुपपत्तेः। किंच कुम्भं प्रति स्तम्भस्य यत्प्रतियोगित्वं तदपि स्तम्भस्य स्वरूपेऽन्तर्भूतं चेत्कुम्भस्यापि स्तम्भात्मना पर्यवसानादद्वैतापत्तिः । धर्मत्वे च कुम्भोऽपि स्तम्भधर्मतामनुप्रविशेत्, कुम्भविशेषितस्य प्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वात् । अथ विशेष्यांशस्य धर्मतायामपि न विशेषणस्य तद्धर्मता, देवदत्तश्चित्रगुरित्यादौ बहुव्रीहिसमासाभिहितस्वामित्वस्य देवदत्तधर्मतायामपि गवां चित्रतायाश्च देवदत्ताद्भिन्नत्वेन धर्मत्वादर्शनादिति,

---

तदित्यर्थः । सावधेश्चेत्यादि द्वितीयं हेतुं विवृणोति–**यदि चेत्यादिना** । घटिततयेति । विशिष्टतयेत्यर्थः । ननु न प्रतियोगिविशिष्टो भेदः, किंतु तदुपलक्षितः, तेन भेदस्य धर्मिस्वभावत्वेऽपि न प्रतियोगिनस्तदनन्तर्भूतस्य धर्मिस्वभावतेत्याह–**अथ प्रतियोगीति** । परिहरति—**मैवम्; प्रतियोगिन इति** । तदानीमद्वैतप्रसङ्गाभावेऽपि धर्मिवदेव तत्स्वरूपभूतभेदोऽपि न प्रतियोगिनिरूप्यः स्यादित्ययमेव दोषः स्यादित्यर्थः । तथा स्तम्भस्य यदिदं कुम्भं प्रति प्रतियोगित्वं नानावधिघटितम्, तदपि स्तम्भस्य स्वरूपं धर्मो वा । आद्ये सावधेस्तस्य तत्त्वे स्वभावत्वेऽद्वैतप्रसङ्गः । कुम्भस्यापि प्रतियोगित्वान्तर्भूततया स्तम्भान्तःपातित्वादिति योजनान्तरं विवक्षन्नाह—**किंच कुम्भमिति** । द्वितीये दूषणमाह—**धर्मत्व इति** । ननु कुम्भविशेषितप्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वेऽपि न विशेषणीभूतकुम्भस्य स्तम्भधर्मता, तथा लोके दर्शनाभावादिति शङ्कते—**अथ विशेष्यांशस्येति** । चित्रगुरित्यत्र चित्रा गावो यस्येति षष्ठ्या स्वामित्वं देवदत्तस्य विशेषणीभूतमभिधीयते, स्वाम्यस्य विशेषणं चित्रा गावः, चित्रगवां स्वामीति, तत्र चित्रगवां न देवदत्तविशेषणत्वं स्वविशेष्यस्वाम्यस्य तद्विशेषणत्वेऽपि, तद्वदित्यर्थः । देवदत्तादिति स्वामित्वपरं धर्मिणो धर्मलक्षणया, भिन्नत्वेनेति च युतसिद्धिपरम् । यस्य भेदमात्रमेवाप्रामाणिकमविद्याविजृम्भितमत एव प्रत्युक्तविशेषणादिव्य-

---

अपितु स्वरूप ही भेद है । यदि 'अस्मादयं भिन्नः'—इस प्रकार प्रतियोगि-विशिष्टरूप से प्रतीयमान भेद, अनुयोगी वस्तु का स्वरूप होगा, तब भेद का विशेषण प्रतियोगी भी अनुयोगी के स्वरूप में डूब जायगा, फिर तो अद्वैत में ही पर्यवसान हो जाता है । यदि कहा जाय कि प्रतियोगी, भेद के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं, तटस्थ रहकर ही भेद का निरूपक है (अर्थात् प्रतियोग्युपलक्षित भेद ही वस्तु का स्वरूप होता है, प्रतियोगि-विशिष्ट नहीं), अतः अनुयोगी से प्रतियोगी के अलग रह जाने के कारण अद्वैतापत्ति नहीं होती । तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि इस प्रकार प्रतियोगी, भेद के स्वरूप में प्रविशिष्ट होने से बच जाता है, फिर भी दूसरा दोष यह होता है कि अनुयोगी जब अन्य से निरूपित नहीं, तब अनुयोगिस्वरूप भेद भी अन्य (प्रतियोगी) से निरूपित न हो सकेगा । दूसरी बात यह है कि भेद स्वरूप कुम्भादि (अनुयोगी) की प्रतियोगिता जो स्तम्भ में है, वह स्तम्भ का यदि स्वरूप है, तब तो कुम्भ-विशिष्ट प्रतियोगिता के स्तम्भरूप हो जाने से विशेषणभूत कुम्भ भी स्तम्भ के रूप में विलीन हो गया, अतः अद्वैतापत्ति होती है । यदि उक्त प्रतियोगिता स्तम्भ का स्वरूप न होकर धर्म है, तब कुम्भ भी स्तम्भ का धर्म बन जायगा; क्योंकि कुम्भ-विशेषित प्रतियोगित्व, स्तम्भ का धर्म है । यदि कहा जाय कि प्रतियोगिस्वरूप विशेष्य अंश में स्तम्भ की धर्मता होने पर भी कुम्भरूप विशेषण में स्तम्भ की धर्मता नहीं होगी, जैसे कि 'देवदत्तः चित्रगुः' (चित्र गौ का स्वामी देवदत्त है)—यहाँ बहुब्रीहि समास से अभिहित स्वामित्व, देवदत्त का धर्म होने पर भी स्वामित्व की विशेषणभूत गौ तथा गोनिष्ठ चित्रत्व–दोनों देवदत्त के

सत्यम्; एषा विभीषिका तदा समुन्मिषेद्यदि लोके क्वापि कमपि भेदं परमार्थसत्यमभ्युपगच्छेम। यदा पुनरद्वैतमेव परमार्थमवलम्ब्य समस्तं भेदजातं प्रत्याचिख्यासामः, तदा घटस्य स्तम्भधर्मतायां गवां देवदत्तधर्मतायां वा कं विशेषमवलोकयसि ? येनैवमुपालभसे। दृष्टचरं चैतत् विशिष्टस्य धर्मतायां विशेषणानामपि तद्धर्मत्वं तेषु तेषु बहुषु स्थलेषु। तद्यथा शब्दोऽनित्यः भावत्वे सति कृतकत्वात्; नित्यः ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात्, अनित्यः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वादित्यादिषु। तदेवं स्तम्भस्य कुम्भधर्मता कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेति सर्वस्यान्योन्यधर्मतायामशेषवस्तुधर्मकमेकमेव धर्मि पर्यवस्येत्, न चैवमुपलभ्यते। किंच विदारणात्मकभेदस्य भावस्वभावतायां न किंचनैकं वस्तु स्यात्। अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधात्। परमाणुरपि नैक इति न तत्समाहार-

---

वहारोऽपि तादृश इति मतम्, तस्य कथं पक्षविशेष एव व्यभिचारभूमिः स्यात्? इति परिहरति—**सत्यम्; एषेत्यादिना**। किंचादर्शनादिति कोर्थः ? किं नियमेन ? किं वा क्वचिदपि ? अन्त्ये व्याप्त्यभावादशक्यप्रसञ्जनमिति, तत्र क्वाचित्कादर्शनमतिप्रसञ्जकम्। प्रथमस्त्वसिद्ध इत्याह—**दृष्टचरं चैतदिति**। अत्र हि भावत्वादि विशेषणं कृतकत्वादेः। इतरथा विशेषणविशेष्यासिद्धयोरभावप्रसङ्गात्। तथा शब्दस्यापि तद्विशेषणम्। तदेवं क्षुद्रोपद्रवं समाधाय, प्रकृतदूषणोपजीवनेन दूषणान्तरमाह—**कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेत्यादिना**। स्तम्भो धर्मो यस्यासौ कुम्भस्तद्धर्मा तद्भावः स्तम्भधर्मता। अयमर्थः—यदा हि स्तम्भं प्रति प्रतियोगित्वं कुम्भस्य, तदा तस्य कुम्भस्वरूपत्वेऽद्वैतापातः। धर्मत्वेऽपि तद्द्वारा स्तम्भोऽपि कुम्भधर्म इत्यन्योऽन्यधर्मत्वं स्यात्ततश्च यद्घटारूढो यः पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति घटना स्यात्। एवमेकस्य विश्वप्रतियोगितायां विश्वधर्मकत्वं स्यात्, एवमितरेषामपि स्यात्, अतश्च न धर्मधर्मिभावादिकल्पना, अस्यामनेकधर्मकमेव वस्तु पर्यवस्येदिति। एकाभावादित्येतद्विवृणोति—**किंचेति**। तत्र हेतुः—**अभेदेति**। अभेदेन सहैकस्मिन्नर्थे वर्तत इति तथोक्ता। ननु माभूदेकम्, अनेकमेव समस्तं वस्तु, तथाच बौद्धैः स्वरूपभेदवादिभिरवयविव्यतिरेकेणैव परमाणुपुञ्जेष्वेकस्थूलादिप्रत्ययोऽभ्युपगम्यत इति, तत्राह—**परमाणुरपीति**। अथवा निरवयवपरमाणूनामविदारणात्मकत्वात्तत्समूहरूपानेकात्मकमस्तीत्याशङ्क्य तत्सरूपस्यापि भेदात्मकत्वादुक्तदोषोपपादनमनेन क्रियते। अत्र केचिदद्वैतैकाभावप्रसङ्गदूषणद्वय-

---

धर्म नहीं होते। तो यह कहना बहुत उचित नहीं; क्योंकि यह बिभीषिका तब खडी हो सकती थी, जब कि लोक में कहीं पर भी किसी भी भेद को परमार्थ सत्य हम मानते। जब कि हम एकमात्र अद्वैत को परमार्थ सत्य मानकर समस्त भेद-वर्ग का प्रत्याख्यान करना चाहते हैं, तब घटनिष्ठ स्तम्भ की धर्मता में या गोनिष्ठ देवदत्त की धर्मता में किस भेद को देखकर ऐसा उपालम्भ देते हैं ? विशिष्ट के धर्म होने पर विशेषण में धर्मता देखी भी बहुत स्थलों पर जाती है। जैसे—"शब्दोऽनित्यः भावत्वे सति कृतकत्वात्"—यहाँ कृतकत्व के विशेषण भावत्व में शब्द की धर्मता, "शब्दो नित्यः ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात्"—यहाँ पर श्रावणत्व के विशेषण ध्वनिधर्मान्यत्व में शब्द की धर्मता, "शब्दोऽनित्यः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्"—यहाँ पर सामान्यवत्त्व में शब्द की धर्मता। इसलिए स्तम्भ में कुम्भ की धर्मता और कुम्भ में भी स्तम्भ की धर्मता—इस प्रकार समस्त पदार्थों के अन्योऽन्य धर्म हो जाने पर निखिल वस्तु रूप धर्मवाला एक ही कोई धर्मी ठहरेगा, किन्तु ऐसा पाया नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि (विदारणार्थक 'भिद्' धातु से निष्पन्न होने के कारण) विदारणात्मक भेद की खटाई जिस एक भाव के दूध में पड़ेगी, उसे फाड़कर अनेक बनाकर ही मानेगी, फिर कोई भी वस्तु एकाई के रूप में न रहेगी; क्योंकि अभेद मात्र की सहचारिणी एकता का भेद के साथ सहज वैर है। परमाणु भी जब एक न रहा, तब एक

रूपोऽनेकोऽपि स्यात् । भेदस्य च वस्तुस्वभावत्वेऽन्यापेक्षत्वनिरासादेव “अन्यापेक्षं वस्तुस्वरूपं भेदो नतु केवलमतो नोक्तदोषः” इत्यपि निरस्तम् । यदि च स्वरूपं भेदस्तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूपं दृष्टं न क्वचिदपि संशयावकाशः, तथा विपर्ययस्यापि । भेदस्वभावस्य वस्तुनस्तथैवाव-भासनात्तस्मान्न स्वरूपभेदे प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।

तथा धर्मभेदेऽपि—युगपद्ग्रहणायोगादनवस्थाप्रसङ्गतः ।
परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः ॥२॥

यद्यपि दण्डदेवदत्तौ तुल्योपलम्भयोग्यत्वेन युगपद् गृह्येते , तथापि न तयोर्विशेषणविशेष्यभावस्तदैव प्रत्येतुं युक्तः ; विशिष्टप्रत्ययस्य विशेषणविशेष्यस्वरूपप्रत्ययाधीनत्वात्—

‘विशेषणं विशेष्यं च संवन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।
गृहीत्वा संकलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा’ ॥ (न्या. ली. पृ. ७०)

परिहारायेदं वदन्ति—द्विविधं वस्तूनां स्वरूपम्, स्वारसिकमन्यापेक्षं चेति, तत्रान्यापेक्षं रूपं भेदो न स्वारसिकमिति, तत्राह—भेदस्येति । असंदेहादिति । हेतुं विवृणोति—यदि चेति । अयमर्थः—अस्ति यज्ञदत्ते दृष्टे कदाचिद् दृष्टचरदेवदत्तस्य सोऽयं देवदत्तो न वेति संदेहः , तत्कस्य हेतोः ? ततो भेदाग्रहात् स न स्यात् । स्वरूपभेदवादिनः स्वरूपग्रहे तन्मात्रभेदस्यापि गृहीतत्वात् , भेददर्शनेन च संदेहानवकाशात् । एवं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादौ, तथा विपर्ययोऽपि, संदेहग्रहणं विपर्ययस्याप्युपलक्षणमिति ।

एवं स्वरूपभेदं दूषयित्वा धर्मभेदेऽपि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—युगपदिति । धर्मभेदेऽपि न प्रत्यक्षा धीः प्रमाणम् ; कुतः ? धर्मिप्रतियोगिभेदानां युगपद्ग्रहणायोगात् , दण्ड्यादावपि युगपत्प्रतिपत्तेः स्वपरासंमतत्वात् , तथानवस्थाप्रसङ्गतः , भेदेन प्रतीयमानयोरेव विशेषणविशेष्यभावनियमादनन्तभेद-प्रतीतिं विना प्रथमभेदप्रतीतेरसंभवान्मूलक्षयाक्षतेः । तथा धर्मिप्रतियोगिनोरपि पूर्वन्यायेन प्रतीयमानयोरेव धर्मिप्रतियोगित्वप्रतीतिनियमात् भेदस्य च निर्विकल्पके निरपेक्षप्रत्यक्षत्वे स्वभावहानिप्रसङ्गेन पूर्वोक्तपरस्पराश्रयस्यापि विश्रान्तत्वादिति श्लोकार्थः । आद्यं हेतुं विवृण्वन्पूर्वोक्तं दृष्टान्तं विघटयति—यद्यपीति । कः खल्वित्थं कथयेद्विशेषणादिप्रत्ययानधीना विशिष्टप्रतिपत्तिरिति ? किं भट्टभुजावलम्बी ? किं वा तार्किककरावलम्बी ? प्रथमे भट्टाचार्यवचनविरोधमाह—विशेषणमिति । लौकिकीं स्थितिमिति । विशेषणविशेष्यत्वयोग्यतामित्यर्थः । तेन च संयोगस्य द्विष्ठत्वाद्दण्डी पुरुष इतिवत्पुरुषी दण्ड

का समुच्चयरूप अनेक भी न रहेगा (द्र० ब्र० सि० पृ० ४८)। ‘भेद को वस्तु स्वरूप मानने पर भेद में प्रतियोगि-निरपेक्षत्व की आपत्ति होगी’—यह कह देने से ही कुछ लोगों का “अन्यसापेक्ष वस्तुस्वरूप ही भेद माना जाता है, केवल नहीं, अतः अद्वैत-प्रसंगादि उक्त दोष नहीं”—यह कहना खण्डित हो जाता है। यदि वस्तु का स्वरूप ही भेद है, तब धर्मी के साथ ही भेद भी गृहीत हो जाता है, अतः कहीं पर भी संशय को अवकाश न मिलेगा ; इसी प्रकार विपर्यय को भी ; क्योंकि भेद स्वरूप वस्तु अपने ही रूप से प्रतीत होगी। अतः अनुयोगीस्वरूप भेद में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता।

उसी प्रकार धर्म रूप भेद में भी—‘धर्मी, प्रतियोगी एवं भेद का युगपत् ग्रहण न हो सकने, अनवस्थापत्ति तथा अन्योऽन्याश्रयतापत्ति के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता।’ यद्यपि दण्ड एवं देवदत्त–दोनों एक काल में उपलम्भ के योग्य होने से युगपत् गृहीत होते हैं, तथापि उन दोनों का विशेषण-विशेष्यभाव उसी काल में गृहीत नहीं हो सकता ; क्योंकि विशिष्ट की प्रतीति, सदैव विशेषण और विशेष्य की प्रतीति के अधीन हुआ करती है। जैसा कि—‘विशेषण, विशेष्य एवं लोक-मर्यादा (योग्यतादि) को जान एवं उनका संकलन करके ही विशिष्ट-प्रतीति कोई व्यक्ति कर सकता है,

इति भट्टमतानुसारिभिः स्वीकारात्। तथा तार्किकैरपि—"समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः श्वेतबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" इति काणादसूत्रात्। अस्यायमर्थः—पटसमवायिनः श्वैत्याच्छौक्ल्यगुणात्कर्मकारणभूतात्तस्मिन्गुणे शौक्ल्यमिति मतिरुपजायते, तस्याश्च श्वैत्यबुद्धेर्हेतोर्गुणविशिष्टे शुक्लमिदमिति बुद्धिरुपजायते, ते च बुद्धी कार्यकारणभूते इति। तथाच सुरभि चन्दनमिति सौरभस्य गुणस्य घ्राणेन्द्रियैकगोचरस्य चन्दनस्य लोचनगोचरस्यैकेन्द्रियाविषयत्वात्क्रमेण गृहीतयोरेव विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरित्यनिच्छताप्यभ्युपेयम्, तथाच सर्वत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतीतावयमेव न्याय इत्यस्मादिदं भिन्नमिति धर्मिप्रतियोगिज्ञानपुरस्सरमेव तद्विशिष्टभेदज्ञानमेष्टव्यम्, तथाच सति न युगपदुभयग्रहसंभवः। भेदभेदिनोश्च भेदेऽनवस्थापि तदवस्थैव। न चानन्तभेदाभ्युपगमेऽपि मूलक्षतेरभावादनवस्थाऽदोषाय; भेदस्य 'इदमतो भिन्नमयमनयोर्भेदः' इति वा विशिष्टत्वेनैव प्रतीतिनियमात्, भेदेनैव च प्रतिपन्नस्य विशेषणत्वात्। ततश्च पूर्वपूर्वभेदप्रतीतिमन्तरेणोत्तरोत्तरभेदप्रतीतेरसंभवात् युगपदनन्त-

इत्यपि स्यादिति शङ्का परिहृता। संकलनमेकीकारः, स चैकज्ञानोपारोहः। द्वितीयेऽप्याह—तथा तार्किकैरपीति। न केवलं परैरङ्गीकरणम्, युक्तिरप्यत्रास्तीत्याह—तथा च सुरभीति। अस्तु तर्हि विभिन्नेन्द्रियग्राह्ययोरेवम्, एकेन्द्रियग्राह्येषु का वार्तेति ? तत्रापि विमतं विशिष्टप्रत्यक्षं विशेषणादिप्रत्ययोत्तरकालीनं विशिष्टप्रत्ययत्वात्सुरभिचन्दनमिति प्रत्यक्षवदित्यनुमानं विवक्षन्नाह—तथा चेति। न च भिन्नेन्द्रियजन्यत्वमुपाधिः, व्यतिरेके प्रकृतहेतुव्यतिरेकस्योपाधेः। अस्तु, प्रकृते किं स्यादत आह—इतीति। तदेवं युगपद्ग्रहणायोगादित्येतदुपपाद्य द्वितीय हेतुं विवृणोति—भेदभेदिनोश्चेति। पूर्वपक्ष्याशयमनुवदति—न चानन्तभेदेति। हेतुमाह—भेदस्येति। प्रतीतिनियमादित्युत्तरत्रान्वयः। विशेषणादिभावेन हि भेदः प्रतीयते, स च भेदेन प्रतीतस्य, एवं द्वितीयो भेदः पूर्वभेदवद्विभिन्नतया प्रतीयमान एव प्रथमं भेदं प्रति विशेषण भवति, एवं तृतीयोऽपीत्यनन्तभेदप्रतीतिप्रसक्तिरित्यर्थः। अस्तु तह्यनन्तभेदप्रतीतिः, तत्राह—युगपदिति। क्रमपक्षे विषयान्तरसंचारोच्छेदादिप्रसङ्गापादनार्थश्चकारः। अत्र मानमनोहरकारो नृत्य-

अन्यथा नहीं'—इस प्रकार भाट्टानुसारी मानते हैं। तार्किक भी ऐसा ही मानते हैं, जो कि "समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः श्वैत्यबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" (वै० सू० ८।१।९) कणाद महर्षि के इस सूत्र से सुव्यक्त है। इस सूत्र का अर्थ यह है—पट में समवेत कारणभूत, श्वैत्य (ज्ञान क्रिया के कर्मभूत शुक्ल गुण) से उस गुण का ज्ञान उत्पन्न होता है उस श्वैत्यबुद्धिरूप कारण से शुक्ल गुण-विशिष्ट वस्तु का (यह शुक्ल है) ज्ञान होता है, अतः विशेषण-ज्ञान और विशिष्ट-ज्ञान में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार 'सुरभि चन्दनम्'—यहाँ पर सौरभ गुण, घ्राणेन्द्रियमात्र का विषय है और चन्दन, लोचन का ही विषय है, घ्राण का नहीं। एक इन्द्रिय के विषय न होने के कारण क्रमशः गृहीत सुरभि और चन्दन में विशेषणविशेष्यभाव की प्रतीति न चाहते हुए भी माननी होगी। तब तो सब कहीं विशेषणविशेष्यभाव की प्रतीति में यही न्याय लगेगा। इस प्रकार "अस्माद् इदं भिन्नम्"—यहाँ अनुयोगी और प्रतियोगी के ज्ञान के पश्चाद् ही उनसे विशेषित भेद का ज्ञान होगा; एक काल में उभय-ग्रह सम्भव नहीं। भेद एवं भेदी (भेद के अनुयोगी, प्रतियोगी)—दोनों का भेद मानने पर अनवस्था जैसी-की-तैसी है। यदि कहा जाय कि सब भेदों की प्रतीति अनिवार्य तो है नहीं, अतः मूल-क्षति न होने से अनन्त भेद मान लेने पर भी अनवस्था, दोषाधायिका नहीं होती। तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि 'इदमतो भिन्नम्', 'अनयोर्भेदः'—इस प्रकार भेद नियमतः विशिष्टरूप में ही प्रतीत होता है। भिन्नरूप से प्रतीयमान ही विशेषण कहा जाता है। अतः पूर्व-पूर्व भेद-प्रतीति के बिना उत्तरोत्तर भेद की प्रतीति हो ही नहीं सकती, अनन्त भेदों की

भेदप्रतीतेरयोगाच्च जातैव मूलक्षतिः । अथ विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण गृहीतस्य विशेषणतोपपत्तौ भेदाप्रतीतिः किं करिष्यतीति ? तन्न, क्षीरनीरयोर्दूरस्थवनस्पत्योश्च तथात्वाप्रतीतेः । न च तत्र दूरत्वादिदोषप्रतिबन्धात्तदग्रह इति वाच्यम् ; विद्यमानभेदयोरपि भेदेनाप्रतीतौ विशेषणविशेष्यभावाग्रहे सिद्धे कारणविशेषोपन्यासस्य निष्प्रयोजकत्वात् । नह्युभयवादि-

ति स्म—"नच भेदानवस्था बाधिका, भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्, भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात् । न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्, दृष्टान्तभेदाविघातनोत्थाने दोषाभावात् । सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य पाकिनः खारिकातैलदातृत्वाभ्युपगम इव, दृष्टान्तभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव । उपजीव्यस्य प्रबलत्वेन बाधात्, स्वात्मव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वाच्च । एतेन दृश्यत्वादयो निरस्ताः । नचानिर्वचनीयत्वं भेदस्य, प्रमाणाभावात्"इति गायन् । तत्र तावद्भेदानवस्थाया बाधकत्वम्, उक्तरीत्या मूलक्षयकरित्वादित्यवेहि । न च व्यवहारादर्शनात्प्रसञ्जकाभावः, घटो भिन्नो घटस्य भेद इति विशेषणविशेष्यभावेन भेदव्यवहारस्यैव विहस्तस्य समस्ताधस्तनभेदपद्धतिप्रसञ्जकत्वात् । ननु तर्ह्ययमेवानन्तभेदान्कल्पयन्नारूढमूलः प्रौढो भवेत् ; न जानीमः किमारूढमूलतया प्ररूढः ? किंवाऽनुपलब्धिपराहततत्तन्मूलतया निर्मूलल्लूनसस्यवद्विलीयेतेति । यत्त्वेकभेदबलेनान्यभेदानुमानं मायावादिमततया आशङ्क्य दृष्टान्ताव्याघातयोर्दूषणमुक्तम्, तल्लोकोत्तरप्रज्ञस्य तवैव शोभते, कः खल्वनुन्मत्तोऽनिर्वचनीयसर्वभेदमायावादिमततयैवमाशङ्केत ? अथ योऽयं विशेषणविशेष्यभूतभेदव्यवहारो भेदपरम्पराप्रसञ्जकः तत्रैवेदं दूषणद्वयमास्तामिति चेत्, न ; दृष्टान्तभेदानङ्गीकारात् । तर्हि व्याप्तिराहित्यं स्वव्याघातकत्वं चेति चेत्, न ; प्रामाणिकत्वाभावेऽपि विशेषणादिभावस्य भिन्नतया प्रतीतेश्च व्यभिचाराभावात् । यत्र दृष्टं स एव प्रामाणिको भेद इति चेत्, न ; प्रामाणिकत्वासिद्धेः । तर्ह्यसाधकमिति चेत्, न ; प्रतिबिम्बदेहात्मभावादीनामिव व्यावहारिकसतोऽपि लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्तेः, तत्रापि मुग्धोऽयं मिथ्यात्ववादम् व्याचक्षीत । व्याघातश्च यदि शून्यताकारणम्, तन्न ; अन्यत्राकरणात् । यद्यनिरूपितरूपतापादनम् ; अनुमोदय एव तत्र । एतेन दृश्यत्वादयोऽपि समर्थिताः । नचानिर्वचनीयत्वे प्रमाणाभावः ; तल्लक्षणप्रमाणयोरुद्घोषितत्वादनिर्वचनीयवादे । एवं चैतादृशमुत्तरदानं पिण्याकयाचिने खारिकातैलदानं वा सकललोकवेदनिन्दितवैशेषिकदर्शनमदिरामत्ताय मरणान्तिकप्रायश्चित्तरूपतीव्रतरतर्कतप्तमदिराधारादानं वेत्यात्मनि परिभावयेत्यलम् ! पूर्वोक्तानवस्थापरिहारमुद्भाव्य दूषयति—अथेत्यादिना । यत्त्वत्रापि तेनोक्तं समानाभिहारादिप्रतिबन्धादग्रहणमिति, तदनूद्य दूषयति—न च तत्रेति । अयमभिसन्धिः—तत्र तेषां परस्परं भेदो गृहीतः ? न वा ? यदि गृहीतस्तदा दोषशतैरपि न विपर्ययादि शक्यमुत्पादयितुम्, असाधारणाकारग्रहणेऽपि भ्रमोत्पत्तावतिप्रसङ्गात् ।- ततो भेद एव न गृहीतस्तदग्रहे चातिदूरत्वादि कारणमिति वक्तव्यम् तथाचास्मदुक्तं प्रयोजकमनुसृत्यैव तत्र कारणवर्णनमनुकूलमेवेति । किंच भवदभिमतप्रयोजकस्य प्रयोजकत्वं क्व वा दृष्टम् ? येनास्य तिबन्धकतेत्याह—न ह्युभयवादीति । प्रतिबन्ध-

एक साथ प्रतीति सम्भव नहीं, इसलिए अनवस्था मूलक्षयकरी अवश्य होगी । यह जो कहा था कि स्वरूपतः गृहीत विद्यमान भेद में विशेषणता बन जायगी, पूर्व-पूर्व भेद-प्रतीति की कोई आवश्यकता ही नहीं । वह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि क्षीर-नीर एवं दूरस्थ वृक्षों में भेद के विद्यमान रहने पर भी उसकी प्रतीति नहीं होती । यह जो कहा था कि दूरत्वादि दोषों के आ जाने से वहाँ भेद की प्रतीति नहीं होती । वह कहना भी संगत नहीं ; क्योंकि हमने जो नियम बनाया कि भिन्नरूप से प्रतीयमान वस्तु में ही विशेषणविशेष्यभाव का ग्रहण होता है, दूरस्थ वृक्षों में भेद के विद्यमान रहने पर भी ग्रहण न होने से वहाँ विशेषणविशेष्यभाव की अप्रतीति का वह नियम सिद्ध हो जाता है, फिर भेदाग्रह के कारण विशेष (दूरत्वादि) का उल्लेख निष्प्रयोजक है (अर्थात् हमारे नियम में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं ला सका) । ऐसा कोई उभय-सम्मत स्थल नहीं दिखाया जा सकता,

संमतं तथाविधं स्थलमस्ति, यत्र विद्यमानभेदयोः स्वरूपप्रतिपत्तिमात्रेण विशेषणविशेष्यभावग्रहणम् । एतेन भिन्नतया प्रतिपन्नयोरेव धर्मिप्रतियोगिभाव इतीतरेतराश्रयदोषो वज्रलेपायते । न च निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपदङ्गुलित्रयवदवभासनादिदमस्माद्भिन्नमिति सविकल्पकव्यवहारोपपत्तेः कथमितरेतराश्रयतेति वाच्यम् ; निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात् , नित्यं प्रतियोगिघटित एव तस्मिन्प्रमाणप्रसरात् ।

कश्चायं धर्मभेदः ? किमन्योऽन्याभावः ? किं वा वैधर्म्यम् ? उत पृथक्त्वम् ? आहोस्विद्भिन्नलक्षणयोगित्वम् ? तत्र तावत्—

नान्योन्याभावरूपोऽयं द्वैताभावप्रसङ्गतः ।
तादात्म्यस्याप्यमानत्वात्प्रतियोग्यनिरूपणात् ॥३॥

रहितस्थलेऽपि क्षीरनीरयोः स्वरूपप्रतीतिमात्राद्धर्म्यादिभावादृष्टेर्भेदप्रतीतिपूर्वकत्वे चान्योन्याश्रयता स्यादेवेत्यर्थः । यस्तु धर्मिप्रतियोगिभेदत्राधयोरितरेतराश्रयपरिहारोऽभिहितः पूर्ववादिना तत्राप्युक्तदूषणमतिदिशन्परस्पराश्रयत्वादिति श्लोकावयवं विवृणोति—**एतेनेति** । तस्यैव विवरणम्—**भिन्नतयेति** । परिहारान्तरमुक्तं दूषयति—**न च निर्विकल्पकायामिति** । निष्प्रतियोगिकभेदसद्भावे प्रमाणमेव नास्तीत्यर्थः । एतेन प्रतियोगित्वेनाप्रतीतावधिकरणत्वेनास्मृतौ च प्रतियोगिस्मृतिरित्यादि त्रौद्धधिक्कारस्थमुदयनीयसमाधानमपि निरस्तं मन्तव्यम् ।

तदेवं साधारण्येन धर्मभेददूषणमुक्त्वा विशेषतोऽपि दूषणानि दर्शयितुं विकल्पयति—**कश्चायमिति** । वैधर्म्यं घटत्वपटत्वनित्यत्वादि लक्षणालक्षणसाधारणम् । लक्षणं त्वसाधारणम् । तेन च न द्वितीयचतुर्थसङ्करः । अन्योऽन्याभावभेदे दूषणं श्लोकेन संगृह्णाति—**नान्योन्येति** । अयं भेदोऽन्योऽन्याभावरूपो न भवति, कुतः ? सप्रतियोगिकस्यान्योन्याभावस्य धर्मस्य धर्मिस्वभावत्वे विश्वप्रतियोगिकान्योऽन्याभावद्वारा विश्वस्यापि धर्मिभूतवस्तुमात्रत्वाद् द्वैतस्यैवाभावप्रसङ्गतः , धर्मत्वे पूर्वोक्तानवस्था विश्वधर्मवत्ता च घटादेरित्यादि बहिरेव दातव्यम् । किंचान्योन्याभावस्यैवानिरूपणात्तद्रूपोऽपि भेदो दुर्निरूप इति कथम् ? तादात्म्यप्रतियोगिको ह्यभावोऽन्योन्याभावः । तच्च सर्वत्र भेदवादिनस्तार्किकस्याप्रामाणिकम् , ततस्तन्निरूप्याभावोऽपि प्रतियोग्यनिरूपणादप्रामाणिक इत्याह—**तादात्म्यस्येति** । अथ तादात्म्यं घटपटयोः प्रमितम्, तर्हि तत एव तन्निषेधरूपोऽन्योन्याभावस्तयोर्न घटते । एवं सर्वत्रेति, पुनरप्यद्वैतापात इति घट्टकुटीप्रभातम् । नचान्यत्र प्रमिततादात्म्यस्यान्यत्र निषेधः , संसर्गाभावत्वप्रसङ्गादित्यपि द्रष्टव्यम् । अस्तु तर्ह्यन्य एवान्योन्याभावप्रतियोगीति, तत्राप्येतदेवावृत्त्या योजनीयम् । प्रतियोग्यनिरूपणादिति श्लोकयोजना । श्लोकं

जहाँ विद्यमान भेद का अग्रहण होने पर भी विशेषणविशेष्यभाव का ग्रहण हो जाता हो । इसीलिए (भिन्नरूप से प्रतीयमान पदार्थों में ही विशेषणविशेष्यभाव-ग्रहण का नियम सुरक्षित रहने से ही) भिन्नरूप से निश्चित पदार्थों में ही अनुयोगिप्रतियोगिभाव बनेगा, अतः उक्त अन्योऽन्याश्रयदोष भी वज्रलेप बनकर रह जाता है । यह जो कहा था कि निर्विकल्पक ज्ञान में भेद, अनुयोगी और प्रतियोगी—ये तीनों स्वरूपतः, तीन उँगलियों के समान अवभासित होते हैं, अतः उसके अनन्तर 'इदमस्माद् भिन्नम्'—यह सविकल्पक व्यवहार बन जाता है, अन्योऽन्याश्रयता कैसे ? वह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि निष्प्रतियोगिक भेद के सद्भाव में कोई प्रमाण ही नहीं, सदैव प्रतियोगिविशिष्ट भेद ही प्रमाण का विषय होता है। यह धर्मभूत भेद है भीक्या ? क्या अन्योऽन्याभाव है ? या वैधर्म्य ? या पृथक्त्व ? अथवा भिन्न-लक्षण-लक्षित ? (द्र० आत्म० वि० पृ० ५६१) इनमें अन्योऽन्याभाव को भेद नहीं माना जा सकता ; क्योंकि द्वैताभाव की आपत्ति होगी और तादात्म्य में कोई प्रमाण न होने से अन्योऽन्याभाव के प्रतियोगी का निरूपण भी नहीं हो सकता ।' अर्थात् अन्योऽ-

अन्योऽन्याभावोऽपि हि यस्माद्भेदस्तं प्रतियोगिनमपि धर्मतया स्वस्मिन्नन्तर्भावयेत । तथाच विश्वप्रतियोगिघटितान्योऽन्याभावस्य वस्तुनो भेदेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, वस्तु तावन्मात्रत्वे कथं नाद्वैतं पर्यवस्येत् ? किंच तादात्म्यप्रतियोगिकाऽभावोऽन्योऽन्याभाव इति तद्वादिभिरभ्युपेयते, तथाचाभावप्रतियोगिभूतस्तम्भकुम्भयोस्तादात्म्यं यदि न प्रमाणगोचरस्तदा कथं तदभावः प्रामाणिकः स्यात् ? एवं कुम्भस्य विश्वप्रतियोगिकं तादात्म्यमादावेव प्रमितमित्यद्वैतसिद्धावूर्ध्वमपि तद्विरोधिनोऽन्योऽन्याभावग्रहस्य न समुदयः स्यात्, उपजीव्यविरोधात्। ननु कुम्भः स्तम्भो न भवतीति स्तम्भप्रतियोगिकोऽभावो यः कुम्भमाश्रितः सोऽन्योन्याभाव इति कथमप्रमितप्रतियोगित्वप्रसक्तिः ? मैवम्; प्रतियोगिभेदाभावादन्योन्याभावसंसर्गाभावयोर्भेदाभावप्रसङ्गात्। स्तम्भः कुम्भे नास्ति, कुम्भः स्तभो न भवतीत्युभयत्रापि स्तम्भस्यैव प्रति-

---

विवृणोति–अन्योऽन्याभावोऽपीत्यादिना। अन्योऽन्याभावोऽपि हि भेदो यस्मात्प्रतियोगिनः सकाशादेष्टव्यः तमपि प्रतियोगिनं स्वस्मिन्नन्तर्भावयन्कथं न धर्मतया स्वस्य घटधर्मत्वात्तमपि घटधर्मतयैवान्तर्भावयेत्। घटधर्मतामापादयेदित्यर्थः। तथापि द्वैताभावः कथमित्यत आह—तथा चेति। यदुक्तमस्माभिर्बहिरेव दातव्यमिति तत्प्रथममाह—वस्तुनो भेद इति। द्वितीयं हेतुं विवृणोति—किंच तादात्म्येति। अभावं निरूपतया प्रतियोगिना विशेषणेनोपलक्षणेन वा भवितव्यम्। उभयथापि तस्याप्रामाणिकत्वे तद्विशिष्टं तदुपलक्षितं वाऽप्रामाणिकमेव स्यादित्यर्थः। वादीन्द्रस्तु पक्षधर्मत्वादीनां धर्माणामभावत्वमुररीकृत्य प्रतियोगिपर्यनुयोगे प्राह—वस्तुतस्तु न किंचिदिति। तं प्रत्येतावद्वक्तव्यं वस्तुतस्तु नाभावत्वमपीति। अनिषेधात्मकत्वेऽभावत्वव्याघातान्निषेधात्मकत्वे तु निषेध्यप्रतियोगिनमनङ्गीकृत्य न निस्तार इति। प्रतियोग्यनिरूपणादित्यस्य द्वितीययोजना दर्शयितुं शङ्कामाह—ननु कुम्भ इति। न तादात्म्यप्रतियोगिकोऽन्योन्याभावः, किंतु स्तम्भादिप्रमितपदार्थप्रतियोगिकः, ततश्च कथमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम्। अथवा भवतु तादात्म्प्रतियोगिकत्वम्, तथापि नोक्तदूषणद्वयसंभवः, स्तम्भादिस्वरूपमात्रत्वात्तस्यातिरिक्ततादात्म्ये प्रमाणाभावादिति शङ्कते—नन्विति। दूषयति—मैवमिति। प्रतियोग्यभेदमेव दर्शयति–स्तम्भ इत्यादिना। अयमभिसन्धिः—स्तम्भः कुम्भे नास्तीति संसर्गाभावोऽपि स्तम्भप्रतियोगिकः कुम्भाधिकरणक एव। नच संसर्गप्रतियोगिकोऽसौ न स्तम्भप्रतियोगिक इति वाच्यम्; तथासति संसर्गमात्रस्यैव प्रलयप्रसङ्गात्। स्तम्भविशेषितसंसर्गनिषेधे तु स्तम्भोऽपि प्रतियोगिकोटिं टीकृत इति पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यम्। तथाचान्योन्याभावोऽपि चेत्स्तम्भप्रतियोगिकः, व्यक्तमतिव्याप्तिस्तल्लक्षणस्येति। एतेन तादात्म्यं नाम घटस्वरूपमित्यपि निरस्तम्; घटमात्रोच्छेदप्रसङ्गादेव। नच स्तम्भस्य कुम्भे निषेधः, संसर्गाभावत्वापातात्।

न्याभावरूप भेद भी जिस प्रतियोगी से निरूपित है, उसे भी अपने स्वरूप में ही मिला लेगा, तब तो विश्वरूप प्रतियोगी से निरूपित अन्योऽन्याभाव को अनुयोगी वस्तु से भिन्न मानने पर अनवस्था होगी, अतः अनुयोगी वस्तु विश्वरूप बनकर अद्वैत रूप में पर्यवसित क्यों न होगी ? दूसरी बात यह है तादात्म्यप्रतियोगिक अभाव को ही अन्योऽन्याभाव माना गया है। अतः इस अभाव का प्रतियोगिभूत स्तम्भ, कुम्भादि का तादात्म्य यदि प्रमाण-सिद्ध नहीं, तब वह अभाव कैसे प्रामाणिक होगा ? एवं घट में जब कि विश्व का तादात्म्य पूर्व ही गृहीत हो गया, तब अद्वैत-सिद्धि हो गई। अब उसका विरोधी अन्योऽन्याभाव, घट में सम्भव ही कैसे होगा ? वहाँ तादात्म्यरूप उपजीव्य बैठा है। यदि कहें कि "कुम्भः स्तम्भो न भवति"—यहाँ पर जो कुम्भ में अन्योऽन्याभाव रहता है, उसका प्रतियोगी है–स्तम्भ, वह तो प्रसिद्ध ही है; अतः अप्रसिद्ध प्रतियोगिकत्व दोष क्यों होगा ? तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि इस प्रकार प्रतियोगी में भेद न रह जाने से अन्योऽन्याभाव और संसर्गाभाव—दोनों एक ही हो जायँगे। "स्तम्भः कुम्भे नास्ति", "कुम्भः स्तम्भो न भवति"—

योगिताङ्गीकारात् । प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽत्यन्ताभावः प्रतियोग्यनिष्ठत्वे सत्यकादाचित्कोऽभावोन्योऽन्याभाव इति लक्षणभेदादभावयोर्भेद इति चेत्, मैवम्; यत्किंचित्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योऽन्याभावेऽपि भावादतिव्याप्तेः। स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं विवक्षितमिति चेत्, मैवम्; स्वशब्देनात्यन्ताभावोपादानेन तत्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योऽन्याभावेऽपि भावेनातिव्याप्तेस्तदवस्थत्वात्। पटे घटो नास्तीत्यत्यन्ताभावस्य घटः प्रतियोगी, पटप्रतियोगिकान्योऽन्याभावोऽपि घटे वर्त्तत इति। किंचेदं प्रतियोगित्वम्? निरूपकत्वं चेत्? धर्मिणोऽपि प्रतियोगित्वप्रसङ्गः। अथ पञ्चम्यन्तशब्दवाच्यत्वम्, तर्हि घटः पटो न भवतीत्यत्रान्योन्याभावे पटस्य प्रतियोगिता

तस्माद्घटस्य स्तम्भस्वरूपत्वं निषेध्यम्, तथाचायमर्थो न क्वचित्प्रमित इति नोक्तदूषणलङ्घनजङ्घालता। नच प्रतियोग्यैक्येपि प्रागभावादिवदनयोरपि भेदः स्यादिति वाच्यम्, असिद्धेः, पूर्वोत्तरकालत्रितयरूपविशेषणत्रयविशिष्टस्यैव घटस्य तत्रापि प्रतियोगित्वात्, तद्वदेव संसर्गाभावान्तरतापाताच्च। लक्षणभेदाद्भेदं शङ्कते—**प्रतियोगिनिष्ठ इति**। नहि स्वस्मिन्स्वयं वर्ततेऽतः प्रतियोगिन्यपि वर्तत एवात्यन्ताभावः। न च प्रमेयत्वादावसंभवः; प्रमेयत्वादेस्सकलवस्तुनिष्ठत्ववादिनां स्वस्मिन्निवान्यत्रात्यन्ताभावाभावात्, अन्यमते तु स्वस्मिन्नप्यत्यन्ताभावाभावात्। एतेन चेतरेतराभावसंसर्गाभाववर्गोऽपि व्यवच्छिन्नः। नह्यन्योन्याभावः स्वप्रतियोगिनि वर्तते; तस्यैव तदन्यत्वापत्तेः। एवं प्रागभावप्रध्वंसाभावावपि, तत्समये प्रतियोगिनोरेवाभावेन तत्र वृत्तेः शङ्कितुमप्यशक्यत्वादिति, सादृश्यादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम्। अपरे तु रूपादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम्, प्रागभावादिव्यवच्छेदायाकादाचित्कविशेषणं द्रष्टव्यमिति वदन्ति। इदं चान्योन्याभावनिष्कर्षायोक्तम्; इतरथा प्रकृतानुपयोगात्। अन्योन्याभावलक्षणमाह—**प्रतियोगीति**। अकादाचित्केति प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरुत्पत्तिविनाशवत्तया कादाचित्कयोर्व्यवच्छेदः, तावति चात्यन्ताभावेऽपि स्यादित्याद्यं विशेषणम्। तत्रात्यन्ताभावलक्षणं दूषयति—**मैवमिति**। प्रतियोगिनिष्ठत्वं शब्देन यत्किंचित्प्रतियोगिनिष्ठत्वं स्वप्रतियोगिनिष्ठत्वं वा विवक्षितमिति विकल्प्याद्यं दूषयति—**यत्किंचिदिति**। द्वितीयं शङ्कते—**स्वेति**। अत्रापि स्वशब्देनाभावमात्रं विवक्ष्यते ? अत्यन्ताभावो वा ? प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम्। द्वितीये प्राह—**मैवं स्वशब्देनेति**। अत्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्वमेवान्योन्याभावस्य दर्शयति—**पटे घट इत्यादिना**। तेनैव च तल्लक्षणादात्माश्रयभावात्। नचान्योन्याभावप्रतियोगिनिष्ठत्वं लक्षणं वाच्यम्; प्रागभावादावपि भावात्। अनेकान्योन्याभावपक्षे तेनैव चानैकान्तिकता। यस्मिंश्च प्रतियोगिनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामभाववैलक्षण्यं विवक्षितं तदेव प्रतियोगित्वं दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमित्यादिना**। एतदपि प्रतियोग्यनिरूपणादित्यर्थः। ननु न निरूपकत्वमात्रं प्रतियोगित्वम्, येन धर्मिण्यपि प्रसङ्गः, किंतु-

---

इन दोनों स्थलों पर एक स्तम्भ को ही प्रतियोगी माना जा रहा है। यदि कहा जाय कि "प्रतियोगिनिष्ठाभावोऽत्यन्ताभावः", प्रतियोग्यवृत्तित्वे सति "कादाचित्कोऽभावोऽन्योन्याभावः"—इस प्रकार लक्षण-भेद से दोनों अभावों का भेद सिद्ध करेंगे। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि 'प्रतियोगिनिष्ठत्व' का यदि सामान्यतः किसी के प्रतियोगी में रहना अर्थ किया जाय, तब अन्योन्याभाव भी किसी-न-किसी अभाव का प्रतियोगी रहता ही है, संसर्गाभाव का लक्षण अन्योऽन्याभाव में अतिव्याप्त हो जाता है। अपने प्रतियोगी में रहना—यह अर्थ भी नहीं कर सकते; क्योंकि 'स्व' शब्द से अत्यन्ताभाव लेने पर उसके प्रतियोगी में अन्योऽन्याभाव भी दूसरे का रहता है, अतः फिर वही अतिव्याप्ति होती है। जैसे कि 'पटे घटो नास्ति'—इस अत्यन्ताभाव का घट प्रतियोगी है, उस घट में पटप्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव भी रहता है। यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रतियोगित्व क्या है ? 'निरूपकत्व' यदि प्रतियोगित्व है, तब तो अनुयोगी में भी निरूपकत्व रहने से प्रतियोगित्व की आपत्ति होती है। 'पञ्चम्यन्तशब्दवाच्यत्व' यदि प्रतियोगित्व है, तब "घटः पटो न भवति"—यहाँ

न स्यात्, पञ्चम्यन्तशब्देनानिर्देशात्। अथ धर्मिणोऽन्यत्वे सति निरूपकत्वं प्रतियोगित्वम्, तदपि न; प्रतियोगित्वस्यानिरूपणादेव धर्मिप्रतियोगिकान्यत्वस्याद्याप्यसिद्धेः। तदेवं नान्योऽन्याभावो भेदः।

नापि द्वितीयः; वैधर्म्ये वैधर्म्यान्तराभ्युपगमेऽनवस्था। अनभ्युपगमे वा वैधर्म्ययोरेकतापत्त्या तद्धर्मिणोरप्येकतापत्तावद्वैतप्रसङ्गः। नापि तृतीयः; पृथक्त्वे पृथक्त्वान्तराभावादेव धर्मिणस्तस्यैकतापत्तेः। किंच पृथक्त्वस्य गुणत्वान्निर्गुणेषु पृथक्त्वगुणासम्भवेन भेदो न स्यात्। तत्रान्योऽन्याभावनिबन्धनो भेदव्यवहार इति चेत्तर्हि द्रव्येष्वपि तन्निबन्धन एव तद्व्यवहारोऽस्तु कृतं पृथक्त्वेन, तत्सत्तावेदकप्रमाणाभावाच्च। अथाकाशः स्पर्शवद्गुणासमवायि-

धर्म्यन्यत्वेसति निरूपकत्वमिति शङ्कते—अथेति। धर्म्यन्यत्वं हि धर्मिप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वम्, न च प्रतियोगित्वमद्यापि सिद्धमित्यात्माश्रयत्वमिति परिहरति—तदपिनेत्यादिना। एतेनान्योन्याभावलक्षणमपि निरस्तम्। तत्रापि प्रतियोगिप्रयुक्तदूषणानां सुवचत्वादिति।

वैधर्म्यपक्षं दूषयति—नापि द्वितीय इति। वैधर्म्ययोरपि घटत्वपटत्वयोर्भेदोऽस्ति? नवा? आद्ये स्वरूपान्योन्याभावयोर्दूषितत्वात् वैधर्म्यमेव मन्तव्यम्। तथाचानवस्थेत्याह—वैधर्म्ये इति। ननु नानवस्था वैधर्म्यान्तरास्वीकारात्। यथाहोदयनो बौद्धधिक्कारे 'अनवस्था हि प्रवाहं प्रापयति, गन्धे गन्धान्तराभ्युपगम इवे'ति तत्राह—अनभ्युपगमे वेति। तयोर्हि भेदाभावे घटत्वमेव पटत्वमिति तदधिकरणं घटोपि पटः स्यादेवमितरदपीत्यद्वैतापात इत्यर्थः। पृथक्त्वपक्षं दूषयति—नापीति। पृथक्त्वस्य धर्मिणो भेदाङ्गीकारेऽनवस्थाभयादभेदापत्तिः स्यात्। तथा च घटस्वरूपमात्रं न भेदः प्रतिषिद्धत्वादित्यद्वैतापात इत्यर्थः। अत्र त्वधिकमपि दूषणमाह—किंचेति। तत्र गुणादिष्वित्यर्थः। पृथक्त्वमेव तावदप्रामाणिकं तद्रूपभेदः सुतरामप्रामाणिक इत्याह—तत्सत्तावेदकेति। अत्र मानमनोहरस्थमनुमानं शङ्कते—अथाकाश इति। स्पर्शवद्द्रव्यगतगुणं प्रत्यसमवायिकारणभूतौ यावद्द्विष्ठगुणौ तयोरधिकरणमित्यर्थः। अद्विष्ठगुणाधिकरणमित्युक्ते शब्दपरममहत्त्वाद्यधिकरणत्वेनार्थान्तरता तदर्थमितरद्विशेषणम्। तावन्मात्रोक्तौ चाकाशतन्तुसंयोगविभागाभ्यामाकाशपटसंयोगविभागलक्षणस्पर्शवद्गुणौ प्रत्यसमवायिकारणाभ्यामर्थान्तरता,

पर अन्योन्याभाव का पट प्रतियोगी न रहेगा; क्योंकि वह पञ्चम्यन्त शब्द से निर्दिष्ट नहीं। 'धर्मिभिन्नत्वे सति निरूपकत्व' को भी प्रतियोगित्व नहीं कह सकते; क्योंकि अभी तक प्रतियोगित्व का निरूपण ही नहीं हो सका है, तब धर्मिप्रतियोगिक भिन्नत्व कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भेद, अन्योऽन्याभावरूप नहीं।

द्वितीय (वैधर्म्य) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि वैधर्म्य में अन्य वैधर्म्य मानने पर अनवस्था और न मानने पर दोनों वैधर्म्य (स्तम्भ का वैधर्म्य कुम्भत्व और कुम्भ का वैधर्म्य स्तम्भत्व) एक हो जायँगे, फिर वही अद्वैतापत्ति होती है। तृतीय (पृथक्त्व) पक्ष में भी यही दोष है; क्योंकि अनवस्थापत्ति के भय से पृथक्त्व में दूसरा पृथक्त्व तो माना नहीं जा सकता, अतः धर्मी से उसका अभेद हो ही जाता है। दूसरी बात यह भी है कि पृथक्त्व है–गुण। निर्गुण गुणादि में पृथक्त्वरूप गुण न रह सकने के कारण, वहाँ किसी का भेद न रह सकेगा। यदि कहें कि गुणादि में पृथक्त्व के न रहने पर भी भेद-व्यवहार अन्योऽन्याभाव-प्रयुक्त हो जायगा; तब तो द्रव्य में भी अन्योन्याभावयुक्त ही भेद-व्यवहार बन जायगा, पृथक्त्व मानने की आवश्यकता ही क्या ? पृथक्त्व की सत्ता में कोई प्रमाण भी नहीं। मानमनोहरकार ने जो 'आकाश, स्पर्शाधिकरण द्रव्य-वृत्ति गुण के असमवायिकारणभूत अद्विष्ठ गुणों का आश्रय है, द्रव्य या भूत होने से, जैसे—पटारम्भक तन्तु'—इस अनु-

कारणाद्विष्ठगुणयोराश्रयः द्रव्यत्वाद् भूतत्वाद्वा पटारम्भकतन्तुवत् । तेन वियद्‌गतयोरेकत्वपृथक्त्वयोः सिद्धिं मानमनोहरकारः प्रत्यतिष्ठिपदिति चेत्, न; वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तेन कारणगुणानां कार्ये गुणान्तरारम्भस्यानभ्युपगमात्, स्पर्शवत्त्वोपाध्युपहतत्वाच्च ।

नचान्त्यावयविनामनारम्भकत्वादेव तादृशगुणानधिकरणानामपि स्पर्शवत्त्वेन साध्यसमव्याप्त्यभावादेवानुपाधित्वम्; विषमव्यापकोपाध्यङ्गीकारेऽपि दोषाभावात् । न चैतत्पर्वतान्यत्वादेः पक्षेतरत्वस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गो दोषः; य एतत्पर्वतोऽसावनग्निमानिति व्यतिरेकासिद्ध्यैव तस्य दुष्टत्वात् ।

'एकसाध्यविनाभावे मिथः संबन्धशून्ययोः ।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः ॥'

तन्निवृत्त्यर्थमद्विष्ठेत्युक्तम् । तेनैकत्वसंख्यैकपृथक्त्वयाः सिद्धिः । तथाहि—आकाशतदितरवृत्तित्वात्स्पर्शवद्‌गुणा भवन्ति द्वित्वद्विपृथक्त्वादयस्तत्कारणे चैकत्वैकपृथक्त्वे इत्यर्थः । साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—तेनेति । आरम्भवादिनां खल्वियं प्रक्रिया यत्समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणत्रयात्कार्योत्पत्तिरिति । यस्य तु पुनरज्ञातरज्ञनेव पवनाशनादिभावेनैकमात्मतत्त्वमनादिभावाविद्यासहायं वियदाद्याकारेण विवर्तत इति मतम्, न तस्यैषा परिभाषेत्यर्थः । व्याप्यत्वासिद्धिं चाह—स्पर्शवत्त्वेति ।

यत्त्विममेवोपाधिमुद्भाव्य तेनोक्तं स्पर्शवतां घटादीनामपि तथाविधगुणद्वयाश्रयत्वप्रसङ्गादिति, तदेतत्सप्रतिसाधनमनूद्य दूषयति—नचान्त्यावयविनामिति । नचानुपाधित्वमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—विषमव्यापकेति । अयमर्थः—पक्षादुपाधिव्यावृत्त्या साध्यस्य विनिवर्तनम् । उपाधिफलमस्मिंश्च समवद्विषमः क्षमः ॥ स्वव्यावृत्त्या साध्यस्य पक्षाद्व्यावृत्त्या व्यापकप्रमित्युत्पत्तिप्रतिबन्धो वा हेतोरपहृतसाध्यतया विपक्षभूते पक्षे वर्तमानस्यानैकान्तिकतापादनं वोपाधेः कृत्यमिति हि नूतनोन्नयनम् । तच्च समव्याप्तिवद्विषमव्याप्तिरपि शक्नोति संपादयितुमग्निमत्त्वमिव निवर्तमानं धूमवत्त्वं व्यावर्तयितुमतो विषमव्याप्तिरपि सम्भवत्येवोपाधिरिति । अभ्युपगम्य चैतदुक्तम् । वस्तुतस्तु समव्याप्तिरेवात्रायम्, अन्त्यावयविनां पक्षतुल्यत्वेन साध्याभावानिर्णयात् । विपक्षत्वे च द्रव्यत्वादेस्तत्रानैकान्तिकत्वात् सपक्षत्वे च तत्रोपाधेरपि वृत्तेः समव्याप्तित्वादिति । नन्वधिकव्याप्तेरप्युपाधित्वे पक्षेतरत्वमप्युपाधिः स्यात्, तथा च गतं धूमानुमानेन, अधिकव्याप्तेरुपाधित्वानभ्युपगमेन हि पक्षेतरत्वनिवारणमिति; तत्राह—नचैतत्पर्वतेति । यदि हि पक्षेतरत्वस्य साध्यव्यापकता स्यात्स्यादयं दोषः; नत्वेतदस्ति, एतत्पर्वतेतरत्वरहितेऽप्येतत्पर्वतेऽग्निमत्त्वविरहानिश्चयेन व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या साध्याव्यापकत्वात्, ईदृशश्च सर्वत्र पक्षेतरः । यत्र तु साध्योपाध्योर्व्यतिरेकव्याप्तिनिर्णयस्तत्र न पक्षेतरत्वसंज्ञा, अपितूपाधित्वमेवेत्यभिसन्धिराह—य एतत्पर्वत इति । अत्रोदयनलक्षणविरोधमाशङ्क्य परिहरति—एकसाध्येति । मिथः परस्परं संबन्धशून्ययोधर्मयोरेकेन साध्येनाविनाभावे विरूप्यमाणे सह-

---

मान के आधार पर एकत्व और एक पृथक्त्व की स्थापना कर रखी है। वहाँ वेदान्ती के प्रति दृष्टान्त ही साध्य-विकल है; क्योंकि वेदान्ती कारण-गुणों से कार्य-गुणों का आरम्भ मानता ही नहीं। उक्त अनुमान में 'स्पर्शवत्त्व' उपाधि भी है (स्पर्शवत्त्व, तन्तुओं में साध्य-व्यापक है और आकाशादि में द्रव्यत्व रहने पर भी स्पर्शवत्त्व न होने से साधन का अव्यापक है)।

यदि कहें कि घट पटादि अन्तिम अवयवी में आरम्भकता न होने से उक्त साध्य नहीं रहता, किन्तु 'स्पर्शवत्त्व' वहाँ भी है, अतः साध्य का समव्याप्त न होने के कारण 'स्पर्शवत्त्व' उपाधि नहीं। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि साध्य की विषम व्याप्ति वाले धर्म को भी उपाधि माना जा सकता है। 'इस प्रकार पर्वतान्यत्वादि पक्षेतरत्व धर्म भी उपाधि हो जायगा'—यह शङ्का नहीं हो सकती; क्योंकि 'जहाँ पर्वतेतरत्व का अभाव है, वहाँ अग्निमत्त्व का अभाव है'—इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय न होने से पक्षेतरत्व धर्म, साध्य का व्यापक नहीं होता। 'हेतु के व्याप्तिरूप सम्बन्ध से शून्य जो

इति चोपाधिलक्षणस्य समासमव्यापकयोस्तुल्यत्वात् । "समवायः समवेतः संबन्धत्वात् संयोगवदिति प्रयोगे संबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिरिति विषमव्यापकोपाधेरुद्योतकराचार्यैरङ्गीकारात् । अपि चान्योन्याभावादयो भेदाः किं भिन्नमेव धर्मिणं परिरभन्ते ? उताभिन्नम् ? नाद्यः, अनन्तभेदाभ्युपगमप्रसङ्गात् । अस्तु, किं नः छिन्नमिति चेत्, शृणु—क्रमेण तेषां धर्मिणा संबन्धे धर्मिणश्च घटादेः कादाचित्कत्वेन तत्संबन्धासम्भवः । संभवे वाऽतीतानागतानां च भेदानां क्रमसंबन्धाय घटोऽनादिरनन्तश्च स्यात् । अथ युगपदेव धर्मिणा सर्वे भेदास्संबद्धयेरन्, तर्हि भिन्ने भेदस्थितिरिति पक्षक्षतिः; भेदसंबन्धं विना तस्य भिन्नत्वा-

---

भावोऽविनाभावः तस्मिन्सति यदत्ययः यस्याभावः साध्याभावाविनाभावी साध्याभावेन व्याप्तः स तदभावप्रतियोगी उपाधिः, अत्र च मिथः संबन्धशून्ययोरिति साधनाव्यापकत्वमुक्तम् । अत्रापि साध्याभावस्य व्यापकत्वमुपाध्यभावस्य व्याप्यत्वं च प्रतीयते, तेन च साध्यस्य व्याप्यत्वमुपाधेश्च व्यापकत्वं सिध्यति, तच्च द्वयमग्निधूमवद्विषमव्याप्तित्वेऽपि घटत इति नायं समव्याप्तित्वगमक इत्यर्थः । न केवलमगकः, विषमव्याप्तितागमकश्चेतरथोद्योतकराचार्यवचनविरोधप्रसङ्गादित्यभिसन्धेस्तदायग्रन्थमाह—**समवायः समवेतः इत्यादिना** । संयोगे हि संबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिः । कार्यत्वं च समवायाद्व्यावर्त्तमानं संबन्धत्वे सति समवेतत्वं व्यावर्त्तयति । तत्रापि संबन्धत्वमुभयवादिसंमतमिति समवेतत्वव्यावृत्तिरुपाधिफलम् । यद्यप्ययं साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, नतु केवलसाध्यव्यापकस्तथापि विषमव्याप्तिकत्वेन प्रकृतोदाहरणम्, साधनावच्छिन्नसाध्येन च विषमव्याप्तिकता, कार्याणामपि गुणादीनामुक्तसाध्यवत्वाभावात् । एतेन

'समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा समे ।
समे न यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः' ॥

इति भट्टाचार्यवचनमपि प्रतिभटितं मन्तव्यम् । वस्तुतस्तु उभावपि प्रकारौ संग्राह्यौ । नह्येतत्सामान्यलक्षणमपि तु विशेषलक्षणम्, तस्य चानेकप्रकारत्वं न दोषाय, सामान्यलक्षणं त्वत्यन्ताभावप्रतियोगिधर्म इति, अभावमात्रप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्त्यन्योन्याभाववत्त्वात्, सच नोपाधिः, तस्य सर्ववस्तुनिष्ठतया साधनव्यापकत्वेन साध्यानपहारित्वादत उक्तमत्यन्ताभावेति । धर्मग्रहणं तु परमाण्वादीनामनाश्रितानामुपाधित्वनिरसनार्थमिति नवीनानामुन्नयनम् । यथाचैतत्सर्वमविचारितरमणीयं तथोदर्के दर्शयिष्यते । इदानीं सर्वस्य धर्मभेदस्य साधारणमाश्रयानिरूपणं दूषणमाह—**अपि चेत्यादिना** । किं परस्परं विभिन्नं घटादिकमालिङ्गन्ते भेदाः ? उताभिन्नम् ? इत्यर्थः । ननूत्तरोत्तरभेदवर्तनार्थं पूर्वपूर्वाश्रयभेदेऽनन्तभेदश्चेत्प्रसज्येत, तत्प्रसज्यतां नाम, अज्ञायमानतयोपपादकत्वेन मूलक्षयाभावादित्याशङ्क्य परिहरति—**शृण्विति** । तत्रानन्तानां भेदानां क्रमेण घटे वर्तमानत्वम् ? युगपद्वा ? क्रमपक्षे तु सावधिके वस्तुनि तेषामसम्भव इत्याह - **क्रमेणेति** । असंभवमेव विपक्षे बाधकेन द्रढयति—**संभवेवेति** । किमिति पक्षक्षतिरिति तत्राह—**भेदसंबन्धमिति** । यदीदा-

---

धर्म, साध्य का अविनाभावी हो और जिसका अभाव, साध्याभाव का अविनाभावी हो, उसे उपाधि कहते हैं'—यह उपाधि का लक्षण तो समव्याप्त और विषमव्याप्त—दोनों में तुल्य है । 'समवाय भी समवेत होता है, सम्बन्ध होने से, संयोग के समान'—इस प्रयोग में 'सम्बन्धत्वे सति समवेतत्वे च सति कार्यत्वम्' उपाधि है—इस प्रकार विषम व्याप्त धर्म को ही उद्योतकराचार्य ने भी उपाधि माना है।

दूसरी बात यह भी है कि अन्योऽन्याभावादिरूप भेद क्या भिन्न धर्मी में ही रहते हैं ? या अभिन्न में ? प्रथम पक्ष में तो अनन्त भेद मानने पड़ेंगे । अनन्त भेद मानने में क्या क्षति ? सुनिए ! अनन्त भेदों का धर्मी के साथ क्रमशः (एक भेद से विशिष्ट में द्वितीय भेद, द्वितीय से विशिष्ट में तृतीय—इस प्रकार) सम्बन्ध रहेगा ? या युगपत् ? क्रमशः सम्बन्ध मानने पर अविद्यमान घटादिरूप धर्मी में अनन्त भेदों का सम्बन्ध बनेगा नहीं, अतः घटादि को भी अनादि और अनन्त मानना होगा ।

नुपपत्तेः। तत्संबन्धेनैव च भिन्नत्वे, किंभेदविशिष्टे किंभेदस्थितिरिति नियामकाभावादेकोऽपि भेदो न भवेत्। उत्तरोत्तरेणैव च भेदेन पूर्वपूर्वभेदोपयोगोपपत्तावनन्तभेदाभ्युपगमोऽपि निष्फलः स्यात्। एवमपि भेदाः स्वीक्रियेरन्, यदि भेदपरम्पराभरमन्थरा कापि संविदुदयमासादयेत्। तथाचाहुः खण्डनकाराः—

"प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत् ।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्सा त्रिदोषता ॥" इति। (खं. पृ. २०७)

न द्वितीयः; अभिन्नेऽपि चेद् भेदो निविशेत्तदा तदपि नैकं स्यादित्येकाभावादनेकमपि न सिद्ध्येत्।

नापि वैलक्षण्यं भेदः, आत्माश्रयत्वात्। नानालक्षणयोगो हि वैलक्षण्यम्, नानात्वं च भिन्नत्वं

नीमेव निष्पन्नं घटमाश्रयते भेदस्ततः पूर्वमभिन्नत्वात्तस्य स्यादेव पक्षक्षतिरित्यर्थः। ननु यद्यपीयं प्रथमैव प्रवृत्तिस्तथापि प्रथमः स्वपरनिर्वाहकतया स्वस्य परस्य चाश्रयभेदं संपादयति, तदुपरि चोत्तरोत्तरमुत्तरोत्तरस्य यथाखल्वतिशूरः पदातिः परदुर्गेषु परेषामात्मनश्च कपाटविघटनेन द्वारमापादयति, तद्वदिति तत्राह—तत्संबन्धेनेति। स्यादेवं यदा पदातिरिव कश्चिद् भेदः प्रमाणेन प्रथमप्रवृत्त इति निर्णीयेत, नत्वेतदिति भावः। केन भेदेन विशिष्टे घटादौ कस्य भेदस्य स्थितिरिति योजना। युगपदवबद्ध्यमानैर्भेदैरेवाधारभेदशङ्कायां वायं ग्रन्थः। एवमविनिगम्यत्वमुक्त्वा प्राग्लोपापत्तिं चाह—**उत्तरोत्तरेति**। प्रतीतिक्रमापेक्षयोत्तरमुपपादकं पूर्वमुपपाद्यम्, घटपटयोर्भेदव्यवहारसिद्धिर्हि प्रथमभेदोपयोगः, स चोपपादकेन द्वितीयेन सिध्यतीति मुधा प्राथमिकभेदः। एवमधोऽधोपीत्यर्थः। तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः 'अग्रे धावन्पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् स भेदप्रवाहः किमालम्बेत' इति। प्रमाणापगममपि दूषणमाह—**एवमपीति**। विषयभूतया भेदपरंपरया मन्थरा अलमित्यर्थः। उक्तदूषणत्रितयं श्रीहीरतनयोक्त्योपोद्वलयति—**तथा चाहुरिति**। भेदानवस्थितिमास्थातुः प्राग्लोपादिभिर्दोषैरचिकित्स्या त्रिदोषता चिकित्सामतिक्रान्तो यस्त्रिदोषो वातपित्तश्लेष्मणां प्रकोपः सन्निपातस्तद्भावः स्यादिति श्रीहर्षोक्तेरर्थः। धर्मरूपो भेदो भिन्ने वर्तत इति प्रथमपक्षो निरस्तः। अभिन्नं वर्तत इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। यदि पटादभिन्ने घटे वर्तमानः पटाद्घटं भिन्द्यात्पटमपि पटाद्, भिन्द्यात्समानयोगक्षेमत्वादिति भावः।

भिन्नलक्षणयुक्तत्वं भेद इति चतुर्थं धर्मभेदविकल्पं दूषयति—**नापीति**। अत्र चान्योन्याश्रयद्वारा

युगपत् सभी भेदों का सम्बन्ध मानने पर 'भिन्न में भेद रहता है'—यह आपका पक्ष समाप्त हो जाता है; क्योंकि पूर्व भेद-सम्बन्ध के बिना धर्मी, भिन्न नहीं कहा जा सकता। एक साथ रहने वाले अनन्त भेदों में से ही एक भेद से विशिष्ट में अपर भेद मानने पर किस भेद से विशिष्ट में कौन भेद रहेगा ?—इसका कोई निर्णायक न होने से एक भी भेद सिद्ध न होगा। यदि उत्तरवर्ती एक ही भेद, स्व-विशिष्ट धर्मी में रह जाय, तब अनन्त भेद मानने ही निष्फल हैं। फिर भी अनन्त भेद मान लेते, यदि अनन्त भेद-विषयिणी कोई अनुभूति होती। जैसा कि खण्डनकार ने (पृ० २०७ पर) कहा है—'भेदानवस्था रोग की चिकित्सा सोचते ही प्राग्लोप, अविनिगम्यत्व और प्रमाणापगम—यह त्रिदोष (सन्निपात) आ घेरेगा।' द्वितीय (अभिन्नधर्मी में भेद) पक्ष तो नितान्त असंगत है; क्योंकि भेद में यदि इतना सामर्थ्य है कि अभिन्न वस्तु में भी रह जाता है, तब तो एक पट में भी रहकर पट को भिन्न (अनेक) बना डालेगा, कोई वस्तु एक सिद्ध ही न होगी, तब अनेक कैसे सिद्ध होंगे।

चतुर्थ भेद-कल्प (विभिन्नलक्षणयोगित्व) वैलक्षण्य को भेद मानने पर आत्माश्रय दोष होता है; क्योंकि नाना लक्षणों के योग का नाम है—वैलक्षण्य। नानात्व, भिन्नत्व या भेद का ही

---

१. प्राचां लोपः प्राग्लोपः, अविनियम्यत्वं च प्रमाणापगमश्च प्राग्लोपाविनियम्यत्वप्रमाणापगमाः,

चि०-३८

त्वापरपर्यायसद्याप्यसिद्धम् ,तेन च तत्सिद्धौ तत्सिद्धिरिति । किंच नानालक्षणयोगोऽपि दुर्निरूपः। तथा हि—द्रव्यादीनां षण्णां लक्षणानि नानाविधान्यभ्युपगम्यन्ते ।

तत्र तावद्गुणाश्रयो द्रव्यमित्यलक्षणम् , यतः—

अव्याप्तेरप्यतिव्याप्तेर्द्रव्यं नैव गुणाश्रयः ।
आद्ये क्षणे गुणाभावाद् गुणादावपि वीक्षणात् ॥ ४ ॥

उत्पन्नमात्रं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठतीत्यङ्गीकारादव्याप्तेः । गुणादिष्वपि चतुर्विंशतिर्गुणाः इत्यादिसंख्यागुणान्वयवीक्षणादतिव्याप्तेः। न च तत्र संख्यावत्त्वप्रतीतिर्विभ्रमः, नवैव द्रव्या-

---

तत्फलमात्माश्रयः , स च शसौ । आत्माश्रयमेव सुबोधेन ग्रन्थेन विवृणोति—**नानालक्षणेति** । लक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तद्रूपोऽपि भेदो दुर्निरूप इत्याह—**किंचेति** । तानि च दूषयितुं संकलयति—**तथा हीति** । यानि नानालक्षणानि अभ्युपगम्यन्ते, तानि द्रव्यादीनां न तु लक्षणानि, तत्प्रधानत्वादतस्तेषां दुर्निरूपत्वे दुर्निरूपतराणि तदवान्तरलक्षणानीत्यभिप्रायः ।

भेदज्ञाने प्रविध्वस्ते भेदज्ञानेकविभ्रमान् ।
आगमापायिनः सर्वानागमा बाधितुं क्षमाः ॥

द्रव्यलक्षणं दूषयति—**तत्र तावदिति** । आश्रयत्वं गुणकर्मणोरप्यस्ति, तत्तज्जात्याधारत्वादत उक्तम्-**गुणाश्रय इति** । तथा गुणो द्रव्यमित्युक्ते व्याघातस्तदर्थं गुणस्येत्युक्तम् । तथापि तत्संबन्धिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमाश्रयग्रहणम् । श्लोकेन दूषणं संगृह्णाति—**अव्याप्तेरिति** । गुणाश्रयो द्रव्यमिति यत्तन्नैव न भवत्येव तल्लक्षणम्, कुतोऽव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चेतियोजना । ते एव क्रमेणोत्तरार्धेन विवृणोति—**आद्ये इति**। आद्यक्षणे गुणाभावं दर्शयन्नव्याप्तिमेव विवृणोति—**उत्पन्नमात्रमिति** । कार्यस्य गुणस्य समवायिकारणं वक्तव्यम् , तच्चाश्रयभूतं द्रव्यमेवेति तस्य गुणात्प्राक्क्षणवर्तित्वं वक्तव्यम् , नियतप्राक्क्षणसतः कारणत्वादित्यत्रयविषु गुणवत्त्वम्, लक्षणं नास्तीत्यव्याप्तिः। ननु केनैवमुक्तं यावल्लक्ष्यं लक्षणेन भवितव्यमिति ? यथा हि्काद्राचित्कमपि पतनभावत्वं गुरुद्रव्यलक्षणमेवमत्रापि किं न स्यादिति ? उच्यते ; लक्षणं हि केवलव्यतिरेक्यनुमानविशेषः ; तथाचाद्यक्षणवर्त्यपि द्रव्यं पक्ष एव, न च तत्र हेतुवृत्तिरित्यसिद्धिः स्यात् । पतनस्यापि लक्षणत्वमसप्रतिपन्नम्। किंचोत्तरक्षणे गुणोत्पत्तौ उत्पन्नमात्रस्यानुत्पन्नगुणस्यापि क्वचिद्विनाशसंभवात्तत्र सर्वथैवाव्यापकमिदं स्यात् । अपि च गुणस्य क आश्रय इति पृष्टे किमुत्तरं देयम् ? यदि द्रव्यमिति, तदा परस्पराश्रयम्, अथान्यत्किंचित्सकलगुणाश्रयानुगतमनतिप्रसक्तं चाभिधीयेत, तर्हि तदेव भवतु लक्षणमितीतरद्व्यर्थम् । द्रव्यविलक्षणगुणाज्ञाने च लक्षणासिद्धिः। तज्ज्ञाने च चक्रकपरस्पराश्रयात्माश्रयाणीति तदेतच्छ्लोकस्थापिना दर्शितम् । गुणादावपीत्येतद्विवृण्वन्नतिव्याप्तिं दर्शयति—**गुणादिष्वपीति** । स्यादेतत्—अगुणा गुणा इति लक्षणात्तेषु संख्यावत्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तेति तत्राह—**न च तत्रेति** । बाधाभावान्न

दूसरा नाम है, जो अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है । इस लिए भेद की सिद्धि होने पर भेद की सिद्धि हो सकेगी । नाना लक्षण-योग का निरूपण भी सम्भव नहीं ; क्योंकि द्रव्यादि छह भावपदार्थों के अनेक प्रकार के लक्षण माने जाते हैं ।

उसमें 'गुणाश्रयो द्रव्यम्'—यह द्रव्य का लक्षण युक्त नहीं ; क्योंकि 'आद्यक्षणावच्छिन्न द्रव्य में न रहने से अव्याप्त और गुणादि में रहने के कारण अतिव्याप्त है ।' वैशेषिक सिद्धान्त में उत्पन्न होता हुआ द्रव्य एक क्षण के लिए गुण-रहित रहता है । गुणादि में भी 'चतुर्विंशतिर्गुणाः'—ऐसा कहने से चतुर्विंशतिसंख्यारूप गुण की आश्रयता गुणों में भी प्रतीत होती है, अतः गुणादि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । गुणों में संख्या की प्रतीति को भ्रम नहीं कह सकते ; क्योंकि 'नवैव

तैरनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता भवेदित्यन्वयः ।

णीत्यादाविव बाधकादर्शनात्। अथ मतम्, आस्तामिदमृजुपथप्रस्थितानां दूषणाभिधानम्, अस्माकं पुनरभिनववक्रनयवर्त्मानुसारिणां नैषा विभीषा समुन्मिषति, यतो गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणतामेव गुणाधिकरणतामाचक्ष्महे, तेन नाव्याप्तिर्नाप्यतिव्याप्तिः। गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे इति प्रशस्तपादभाष्यदर्शनादिति, मैवम् ; तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः। सोऽपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावस्तस्यानधिकरणम्, स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्तेः। अथानेकत्वादत्यन्ताभावानामत्यन्ताभावेऽप्यत्यन्ताभावोऽस्ति, मैवम् ; विकल्पासहत्वात्। किमेकैकगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं द्रव्यलक्षणम् ? उत सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम ? नोभयम्, उभयत्राप्यव्याप्तेः। तथाहि – रूपादीनां गुणानामनेकत्वात्तदेकगुणाधिकरणस्यापि तदितरगुणात्यन्ताभावाधिकरणत्वादेव तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वाभावात्। सर्व-

---

भ्रमत्वमितरथाऽतिप्रसङ्गात्। अत्र लीलावतीकारः प्राह—'गुणाश्रयो द्रव्यम्', अत्र यद्यपि संबन्धो न सदातनः, योग्यता तु स्वरूपमननुगतं च, द्रव्यत्वं तु कलसम्, तथाप्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदो लक्षणार्थ इति। तदेतद्धृदि निधाय शङ्कते—अथ मतमिति। अभिनवं वक्रं च यन्नयवर्त्म न्यायमार्गस्तदनुसारिणामित्यर्थः। वक्रमार्गमेव दर्शयति—यत इत्यादिना। तथाप्यतिव्याप्तिरित्याह—मैवम् ; तत्रैवेति। किं गुणवत्त्वात्यन्ताभावोऽनेकः? किं वैकः? एकत्वे तावदाह—सोऽपि हीति। योऽपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावः, सोऽपि हि स्वस्यानधिकरणमेव, स्वस्मिन्स्वस्यावृत्तेरिति। न च प्रमेयत्वादिवत्केवलान्वयित्वं येनाधुनिकनीत्यापि स्ववृत्तिता स्यात्। केवलान्वयित्वे च भग्नं द्रव्यलक्षणमिति भावः। अनेकत्वपक्षमुद्भाव्य दूषयति—अथानेकत्वादित्यादिना। अत्र तावत्प्रतियोगिभेदादभावभेदो वक्तव्यः। नह्यभावस्य स्वतो भेदोऽस्ति, निर्विशेषत्वात्, तथाच गुणवत्त्वभेदो वक्तव्य इति स्थिते विकल्पयति—किमेकैकेत्यादिना। रूपादिगुणानां मध्ये यदेकैकगुणवत्त्वं तत्प्रतियोगिकोऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा? उत चतुर्विंशतिगुणैर्यानि चतुर्विंशतिगुणवत्त्वानि तेषां योऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा? इत्यर्थः। प्रथमेऽपि किं नियतस्य कस्यचित् अत्यन्ताभावानधिकरणत्वम्? अनियतस्य वा? नियमपक्षे दूषणमाह—रूपादीनामिति। रूपात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे वाय्वादिष्वसिद्धिरेवमितरत्रापीति भावः। सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वपक्षं दूषयति—सर्वेति। सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं तत्प्रतियोगिसर्वगुणाधिकरणत्वे सति स्यात्, नचैतदस्ति। नहि तदस्ति

द्रव्याणि'—में संख्यान्वय का जैसे कोई बाधक नहीं, वैसे प्रकृत में भी कोई बाधक नहीं (द्र० खं० पृ० १०७१)। यदि नव्य नैयायिक शङ्का करना चाहें कि प्राचीन नैयायिकों के लक्षण में जो दोष-विभीषिका दिखाई जाती है, वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। हम द्रव्य का लक्षण करते हैं–"गुणवत्त्व के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता" (द्र. न्या. ली. पृ. ७५३ तथा लक्षणा. पृ. २)। इस लक्षण की कहीं अव्याप्ति नहीं और न अतिव्याप्ति ही। गुणादि पाँचों भावपदार्थों को प्रशस्तपाद ने निर्गुण और निष्क्रिय (वै. भा. पृ. ६) बताया है। तो यह शङ्का नहीं कर सकते ; क्योंकि उसी गुणवत्त्व के अत्यन्ताभाव में ही उक्त लक्षण अतिव्याप्त होता है—वह गुणवत्त्व का अत्यन्ताभाव भी अपना अनधिकरण ही है, स्वयं अपने में कोई नहीं रहता। यदि कहा जाय एक न मानकर अत्यन्ताभाव को अनेक मानेंगे, तब दूसरा अत्यन्ताभाव में भी रह जायगा, वहाँ अतिव्याप्ति क्यों होगी ? तो यह कहना ठीक न होगा ; क्योंकि 'एक-एक गुण के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता' द्रव्य का लक्षण मानते हैं? या सर्व गुणों के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता? दोनों पक्षों में भी अव्याप्ति रहती है—रूपादि गुणों में से एक गुण के अधिकरण में भी अन्य गुण के अत्यन्ताभाव की अधिकरणता के रहने से उस अन्य गुण के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता नहीं रह सकती और सर्वगुणों के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता तो किसी भी द्रव्य में नहीं ; क्योंकि सर्वगुणों की अधिकरणता रहने पर ही

गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य सर्वस्मिन्नसम्भवात्। सति हि सर्वगुणाधिकरणत्वे सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणता स्यात्। न च सवगुणाधिकरणत्वमेकैकस्यास्तीति कथं नाव्याप्तिः? अथ चतुर्विंशतिगुणानामन्यतमगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता विवक्षिता, तदपि न, अन्यतमशब्देन रूपादेरेवैकैकस्य सर्वस्य वा विवक्षायां पूर्वाभिहिताव्याप्तिदोषस्य तदवस्थत्वात्।

किञ्चास्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिष्वपि सङ्ख्यापृथक्त्वगुणयोः प्रतीतेः कथं नातिव्याप्तिः? न च प्रशस्तपादभाष्यं मनुवचनम्, येन निर्गुणता गुणादीनां प्रामाणिकी स्यात्। न च मन्तव्यम् गुणेष्वपि गुणाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसक्तेः सङ्ख्यापृथक्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति, रूपादिषु तदभ्यु-

---

किंचिद्द्रव्यं यच्चतुर्विंशतिगुणाधिकरणमिति असंभव एव लक्षणस्येत्यर्थः। अनियतपक्षं शङ्कते—अथेति। किमन्यतमशब्देन प्रत्येकं समुदितं वा विहायान्यस्य कस्यचिन्निर्देशः? उतैतयोरेवान्यतरस्योभयस्य वा? नाद्यः; तथाविधस्य तस्य नियमेनादर्शनात्, उत्तरत्र तूक्तमेव दूषणमित्याह—अन्यतमशब्देनेति। अथ भावत्वे सति गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमित्युच्येत, तन्न; रूपादावतिव्याप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्। ननु संयोगात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे को दोषः? तदत्यन्ताभावस्यैकत्वे तस्मिन्नेवातिव्याप्तिः, अनेकत्वे पुनः किमेकैकसंयोगात्यन्ताभावः? सर्वसंयोगात्यन्ताभावः? अन्यतमसंयोगात्यन्ताभावो वा? इति विकल्पैरुन्मूलनात्। एतेन विभागपरिमाणसङ्ख्यापृथक्त्वैरपि लक्षणनिरुक्तिप्रत्याशानवकाशीकृता वेदितव्या।

किंचैवं विवक्षायामपि न पूर्वोक्तातिव्याप्त्युपशम इत्याह—किंचेति। यत्तु प्रशस्तपादवचनान्निर्गुणत्वं गुणानामुक्तम्, तत्राह—नच प्रशस्तेति। अत्र किरणावलीकारः प्राह—'समानजातीयगुणाभावस्तावदनवस्थाप्रसङ्गात्, रूपादौ रसादिवेगान्तभावे मूर्तत्वप्रसङ्गात्। बुद्ध्यादीनां च प्रतिसन्धात्रात्मगुणत्वेन व्यवस्थितेरप्रसक्तिरेव, शब्दस्य नभोनियमात्, गुणेषु गुणयोगे च समवायिकारणत्वप्रसक्तौ द्रव्यत्वापत्तेर्गुणत्वव्याघातः, एवं रूपावयवि रूपेष्वेव वर्तते इति घटादेर्नीरूपत्वप्रसङ्ग इत्यादि, एवं निर्गुणत्वे निष्क्रियत्वे च रसादयो गच्छन्ति चतुर्विंशतिर्गुणा महान्शब्द इत्यादयो व्यवहारास्तदेकार्थसमवायादिना साधर्म्येण गौणाः समर्थनीयाः' इति। तदेतदाशङ्क्य दूषयति—न च मन्तव्यमिति। अनवस्थाग्रहणं तदुक्तबाधकान्तराणामप्युपलक्षणम्। न च मन्तव्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—रूपादिष्विति। अयमर्थः—सत्यं सजातीयगुणाङ्गीकारेऽनवस्था, विजातीयसंख्यापृथक्त्वयोराश्रयणे किं बाधकम्? न च समवायिकारणत्वप्रसक्तिर्बाधिका; इष्टत्वात्संख्यादिसमवायिकारणत्वस्य। अत एव द्रव्यत्वप्रसक्तिरपि नानिष्टाय। कथं च द्रव्यत्वप्रसक्तिः? यदि ह्येतद्द्रव्यलक्षणं स्यात्, स्याद् द्रव्यत्वप्रसङ्गः, तदेव त्वयापि न निर्णीतम्। न च रूपाद्यारब्धत्वे सङ्ख्याया रूपादिवृत्तित्वान्न द्रव्ये संख्या स्यादिति वचनीयम्। गुणेऽपि पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्, प्रत्ययसाम्याच्च। यथा तु तन्तुशौक्ल्यव्यतिरेकेण पटेऽपि शौक्ल्यमङ्गीक्रियते प्रतीतिबलात्, एवमत्रापि सङ्ख्याद्वयं किं न स्यात्? न च सङ्ख्यायां सङ्ख्यान्तरस्वीकारादनवस्थाप्रसक्तिः; तत्र पृथक्त्वस्वीकारात् पृथक्त्वे च सङ्ख्यास्वीकारादिति, भवदुर-

---

सर्वगुणों के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता रह सकेगी। किन्तु सर्वगुणों की अधिकरणता किसी एक द्रव्य में होती नहीं; फिर क्यों न अव्याप्तिदोष होगा? यदि कहा जाय कि चतुर्विंशति गुणों में से अन्यतम गुण के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता विवक्षित है। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि 'अन्यतम' शब्द से एक-एक रूपादि गुण या सर्व गुणों की विवक्षा में पूर्वोक्त अव्याप्ति दोष जैसे-का-तैसा बना रहता है।

इस टेढ़े-मेढ़े लक्षण की भी गुणादि में अतिव्याप्ति भी है; क्योंकि 'एकं रूपं रसात् पृथक्'—यहाँ रूपगुण में एकत्व तथा पृथक्त्व गुणों की प्रतीति होती है। प्रशस्तपाद का भाष्य कोई मनुवचन तो है नहीं, कि उसके अनुसार गुणादि में निर्गुणत्व प्रामाणिक हो जाय। 'गुणों में गुण मानने से अनवस्था होती है, अतः रूपादि में संख्या एवं पृथक्त्व की प्रतीति भ्रम है'—यह शङ्का नहीं

पगमेऽपि सङ्ख्यापृथक्त्वयोस्सङ्ख्यापृथक्त्वान्तरानभ्युपगमेनैवानवस्थापरिहारात् । यथा भवतां संबन्धे संबन्धान्तरमङ्गीकुर्वतामपि समवाये तदनभ्युपगमादेवानवस्थापरिहारः । द्रव्यगतसङ्ख्यापृथक्त्वाभ्यामेव तदेकार्थसमवायलक्षणप्रत्यासत्या गुणादिष्वपि तद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था तत्कल्पनेति चेत्, मैवम्; विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्। अथ गुणानामनेकत्वेऽपि द्रव्यस्यैकत्वदर्शनात्कथं गुणसङ्ख्यया द्रव्ये तद्व्यवहारः ? तर्हीहापि माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमिति न दीयते दृष्टिः ? नवैव द्रव्याणि चतुर्विंशतिगुणा इति सङ्ख्यावैषम्यात्—अथावान्तरद्रव्यसङ्ख्यासंभवनिमित्तोऽयं व्यवहारः, तर्हि परार्द्धसङ्ख्याव्यवहारोऽपि गुणेषु स्यात्। द्रव्येषु तत्संभवात्, द्रव्यगतसत्तासामान्यादिभिरेव गुणकर्मणोरपि सद्व्यवहारोपपत्तौ तत्र सत्तासामान्यकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन समवायिकारणं द्रव्यमित्यपास्तम् । जातमात्रस्य तदभावात्, तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य चात्यन्ताभावे एव व्यभिचारात्, रूपादिगुणानामपि सङ्ख्यापृथक्त्वसमवायिकारणत्वसंभवात् ।

रीकृता चेयं रीतिरित्याह—**यथा भवतामिति** । अन्यथोपपत्तिं शङ्कते—**द्रव्यगतेति** । द्रव्यगतसङ्ख्यादिप्रतीतेरपीयं समाना गतिरित्याह—**मैवमिति** । गुणगतसङ्ख्यया द्रव्ये संख्याप्रतीतिरशक्योपपादना । गुणानामनेकत्वेऽपि तदाश्रयद्रव्यस्यैकत्वात् । अन्यथा आश्रयद्रव्यस्यानेकत्वप्रसङ्गादिति शङ्कते—**अथ गुणानामिति** । एषानुपपत्तिरत्रापि तुल्या । यदि हि द्रव्यसङ्ख्ययैव गुणेषु संख्या स्यात्तदा द्रव्याणां नवसङ्ख्यावत्त्वादतिरिक्तगुणा न भवेयुरिति परिहरति—**तर्हीति** । नन्ववान्तरद्रव्येषु चतुर्विंशतिसङ्ख्यासद्भावात्तन्निमित्तो व्यवहार इति शङ्कते—**अथावान्तरेति** । तर्हि चतुर्विंशतित्वनियमः किं कृतः ? अधिकसङ्ख्यानामपि द्रव्येषु विद्यमानत्वात् । न च चतुर्विंशतिजातिनिमित्तं चतुर्विंशतित्वम् ; जातेरेव चतुर्विंशतित्वासंभवादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**तर्हि परार्द्धेति** । अतिप्रसङ्गं चाह—**द्रव्यगतेति** । तदेवं "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यमिति" काश्यपसूत्रोक्तलक्षणेषु गुणत्त्वलक्षणं दूषयित्वा तदायलक्षणान्तरेऽपि तदेव दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**। अतिदिश्यमानाव्याप्त्यतिव्याप्ती विशदयति—**जातमात्रस्येति** ।

कर सकते ; क्योंकि रूपादि में संख्या और पृथक्त्व मान लेने पर भी संख्या और पृथक्त्व में अन्य संख्या और पृथक्त्व न मानने के कारण अनवस्था का परिहार किया जा सकता है । जैसे कि आपके मत में संयोगादि सम्बन्ध में समवायरूप सम्बन्धान्तर मानकर भी समवाय में सम्बन्धान्तर न मानने से अनवस्था का परिहार किया जाता है । यदि कहना चाहें कि द्रव्य-वृत्ति संख्या और पृथक्त्व के द्वारा ही एकार्थ-समवायरूप सम्बन्ध से गुणादि में भी संख्यादि का व्यवहार बन जाता है, अतः गुण में संख्यादि की कल्पना व्यर्थ है । तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि इसके विपरीत भी (गुणगत संख्या और पृथक्त्व से ही द्रव्य में संख्या एवं पृथक्त्व का व्यवहार बन जाता है, द्रव्य में उनकी कल्पना व्यर्थ है) कहा जा सकता है । यदि कोई कहे कि गुणों में अनेकता रहने पर भी द्रव्य में एकत्व की प्रतीति होती है, अतः गुणगत संख्या से द्रव्य में संख्या का व्यवहार कैसे होगा ? तो उसे इधर भी दृष्टि देनी होगी कि द्रव्य में केवल नव संख्या रहती है, उससे गुणों में (न्या. मं. पृ. १० पर कथित) चतुर्विंशति संख्या का व्यवहार कैसे होगा ? यदि अवान्तर द्रव्य में रहनेवाली चतुर्विंशति संख्या से गुणों में उसका व्यवहार बनाया जाय ; तब तो गुणों में परार्द्ध (१०० पद्म) संख्या का व्यवहार भी होना चाहिए ; क्योंकि अवान्तर द्रव्य-भेदों में उसका सद्भाव है । और द्रव्यगत संख्या के समान ही द्रव्यगत सामान्यादि से ही गुण कर्म में भी सत्ता का व्यवहार बन जायगा, वहाँ सत्ता सामान्य की कल्पना भी व्यर्थ हो जायगी । इसी प्रकार 'समवायिकारणं द्रव्यम्'—यह लक्षण भी निरस्त हो जाता है ; क्योंकि उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य में गुणादिकार्य के न होने से समवायिकारणत्व भी नहीं रहता । समवायिकारणत्वात्यान्ताभावानधिकरणत्व की भी समवायिकारणत्वात्य-

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वजातियोगित्वं द्रव्यलक्षणम् , न ;

द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि नो द्रव्यलक्षणम् ।
तज्जातिव्यञ्जकाभावात्तन्मानस्यानिरूपणात् ॥ ५ ॥

द्रव्यत्वं जातिमभ्युपगच्छता तज्जातिव्यञ्जकं किंचिदवश्यमभ्युपेयम्, नच तन्निरूपणं सुशकम् ; गुणविशिष्टस्य तद्व्यञ्जकत्वे विशेषणभूतस्य गुणस्यापि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वापत्तेः। रूपादीनामपि सङ्ख्यादिगुणवतां तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्गाच्च । एतेन समवायिकारणस्यापि तद्व्यञ्जकता निरस्ता । स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्वं व्यञ्जकमिति चेत्, किमिदं स्वातन्त्र्यम् ? किमाश्रयप्रतीतिमन्तरेण प्रतीतियोग्यत्वम् ? उतानाश्रितत्वमेव ? नाद्यः ; शब्दादेरपि तत्संभवात् । न द्वितीयः ; अवयविनामद्रव्यत्वापत्तेस्तेषामवयवाश्रितत्वात् । तदेवं न व्यञ्जकं द्रव्यत्वजातेः ।

लक्षणान्तरं शङ्कते—अस्तु तर्हीति । जातियोगित्वं गुणकर्मणोरप्यस्तीति द्रव्यत्वग्रहणम् । नियतव्यञ्जकप्रमाणयोरभावाद् द्रव्यत्वजातिरेवासिद्धा, ततस्तद्युक्तलक्षणमप्यसिद्धमिति श्लोकेन दूषयति—द्रव्यत्वेति । तज्जातिव्यञ्जकाभावादित्येतद्विवृणोति—द्रव्यत्वं जातिमिति । नन्व व्यञ्जकनियमो नास्तीति युक्तम् ; तथासति किं त्वया दृष्टम् ? किं वा श्रुतम् ? इति पृष्टे, न जानामि दृष्टं श्रुतं वेति, ज्ञातं तावदिति प्रत्यक्षत्वादौ सन्दिग्धम् । न व्यञ्जकास्फुरणव्यतिरेकेण संदेहकारणं तत्रास्ति ; ज्ञानस्याश्रयभूतस्य मानसप्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात् । तस्माज्जातिमिच्छता नियतव्यञ्जकं वक्तव्यमेव । तत्र किं गुणवत्त्वं तद्व्यञ्जकम् ? समवायिकारणत्वं वा ? स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्वं वा ? नाद्य इत्याह—गुणविशिष्टस्येति । तद्व्यञ्जकतयेति । द्रव्यत्वजातिव्यञ्जकतयेत्यर्थः । यस्य हि विशेषणाद्यनतिरिक्तं विशिष्टं तस्यायं दोषः , यस्य त्वतिरिक्तं तस्य घटादिव्यक्तेरप्यद्रव्यतापातः ; तन्मात्रस्य विशिष्टताभावादित्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयं दूषयति—एतेनेति । तत्र हि समवायविशिष्टस्य कारणस्य तद्व्यञ्जकत्वे समवायस्यापि तद्व्यञ्जकत्वाद् द्रव्यत्वप्रसङ्गः । सङ्ख्यादिसमवायिकारणत्वाद् गुणकर्मणोरपि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । तृतीयं शङ्कते—स्वातन्त्र्येणेति । शब्दादेरपीति । शब्दस्य वायुस्पर्शस्य रसगन्धयोश्चेति गुणानामेवाश्रयप्रतीतिनिरपेक्षप्रतीतीनां स्वातन्त्र्यसंभवेन तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । अवयविष्वव्याप्तिः, तेषामप्यवयवप्रतीतिव्यतिरेकेणाप्रतीतेरिति केचित् । अनाश्रितत्वं स्वातन्त्र्यमिति द्वितीयं दूषयति—न द्वितीय इति । अवयवाश्रितावयविनां स्वातन्त्र्याभावेन द्रव्यत्वाव्यञ्जकत्वात्तत्र तज्जात्यभावेनाद्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

न्ताभाव में अतिव्याप्ति होती है, रूपादि गुणों में भी संख्यापृथक्त्वादि का समवायिकारणत्व संभव होने से अतिव्याप्ति है ।

'द्रव्यत्वजातियोगित्व लक्षण भी नहीं कर सकते ; क्योंकि 'द्रव्यत्व' जाति के व्यञ्जक और प्रमाण का निरूपण नहीं हो सकता ।' द्रव्यत्व जाति मानने वाले को नित्य द्रव्यत्व का कोई व्यञ्जक अवश्य मानना होगा ; किन्तु उसका निरूपण हो नहीं सकता—गुणविशिष्ट को व्यञ्जक मानने पर विशेषणीभूत गुण को भी व्यञ्जक मानना होगा, तब तो गुण भी द्रव्य हो जायगा । रूपादि गुण भी संख्यादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण द्रव्य ही हो जायँगे । इसी से समवायिकारण में भी व्यञ्जकता का निरास हो जाता है । 'स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्व' को व्यञ्जक मानने पर जिज्ञासा होती है कि यहाँ स्वातंत्र्य क्या है ? क्या आश्रयप्रतीति-निरपेक्ष प्रतीतियोग्यत्व ? या अनाश्रितत्व ? प्रथम पक्ष मानने पर शब्द में भी द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी ; क्योंकि आकाशरूप आश्रय की प्रतीति के बिना ही शब्द की प्रतीति होती है । द्वितीय पक्ष मानने पर परमाणु को छोड़कर अवयवी द्रव्यमात्र में अव्याप्ति होगी ; क्योंकि अवयवी द्रव्य अपने अवयवों के आश्रित ही होता है (द्र. न्या. ली. पृ. ८९)। इस प्रकार कोई व्यञ्जक, द्रव्यत्व जाति का सिद्ध नहीं होता । द्रव्यत्व में प्रमाण भी

नापि प्रमाणमस्ति। द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगतप्रत्ययः प्रमाणमितिचेत्, न; सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकामुपलभमानस्य लौकिकस्य तदेवेदं द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्, परीक्षकाणां चानुगतप्रत्यये विप्रतिपत्तेः। रत्नतत्त्वमिवोपदेशसहकृतप्रत्यक्षेणैव द्रव्यत्वमीक्षत इत्यपि स्वशिष्यधीबन्धनमेव, रत्नतत्त्वस्येव जातेः सर्वपरीक्षकासंमतत्वात्। धर्माधर्मयोरदृष्टत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्गाच्च, अदृष्टमदृष्टमित्युभयोरप्यनुगतप्रत्ययदृष्टेः।

यदपि लीलावतीकारमतम्—"आकाशकालदिशः सत्तेतरजातिमत्यः संयोगविभागजनकत्वात्कर्मवत्। नच कर्मत्वमप्रसिद्धम्। चलतीत्यनुगतप्रत्ययवेद्यत्वादिति"। तदपि मन्दम्, कर्माप्रत्यक्षवादिनां चलतीति प्रत्ययस्य संयोगविभागप्रवाहविषयतया कर्मविषयतानङ्गीकारा-

---

तन्मानस्यानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—नापि प्रमाणमिति। तत्र प्रमाणं प्रत्यक्षं शङ्कते—द्रव्यं द्रव्यमिति। अनुगतप्रत्ययवेदनीयं हि सामान्यम्। अस्ति चात्रानुवृत्तप्रत्यय इत्यर्थः। किं तदेवेदमिति बुद्ध्या जातिसिद्धिः, किं वैकाकारप्रत्ययमात्रात्। प्रथमे लौकिकानामियं बुद्धिः ? परीक्षकाणां वा ? नाद्यः इत्याह—न सुवर्णमिति। द्वितीये प्राह—परीक्षकाणामिति। यत्तु श्रीवल्लभेनोक्तम्—"जातिसमवायस्य रत्नतत्त्ववद्भावादिति" तं प्रत्याह—रत्नतत्त्वमिवेति। यत्तु तेनोक्तम्—"प्रतारणैवेति चेन्न, रत्नशास्त्रेऽपि प्रतारणप्रसक्तेरिति" तत्र रत्नतत्त्वे वैषम्यमाह—रत्नतत्त्वस्येवेति। द्वितीये दूषणमाह—धर्माधर्मयो रिति। यदि ह्येकाकारबुद्धिमात्राज्जातिसिद्धिस्तर्हि धर्माधर्मयोरप्यदृष्टमदृष्टमित्येकाकारबुद्धेरदृष्टत्वं नाम जातिः स्यात्, नचैतदिष्टम्, अनुगतजातिव्यञ्जकाभावादित्यर्थः।

एवं प्रत्यक्षं निरस्यानुमानमपि द्रव्यत्वजातौ निरस्यति—यदपीति। जातिमत्य इत्युक्ते सत्तया सिद्धसाधनत्वं तन्निवृत्त्यर्थं सत्तेतरेत्युक्तम्। तथा चाकाशत्वादेरभावाद् द्रव्यत्वजातिसिद्धिरित्यर्थः। अत्र च संयोगजनकत्वं संयोगप्रागभावस्याप्यस्ति, एवं विभागप्रागभावस्यापि विभागजनकत्वमस्तीति तद्व्यभिचारपरिहारायोभयजनकत्वादित्युक्तम्, हेतुद्वयं वात्र विवक्षितम्। दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं स एव परिहरति—न चेति। अत्र प्राभाकरमते दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमाह—तदपि मन्दमिति। किंच कालाकाशदिशः

कोई नहीं। 'द्रव्यं द्रव्यम्'—यह अनुगत प्रतीति प्रमाण नहीं हो सकती; क्योंकि सुवर्ण को देखने के अनन्तर मृत्तिका को देखने पर लौकिक व्यक्ति को यह प्रतीति नहीं होती कि 'यह वही द्रव्य है'। परीक्षक पुरुषों को अनुगत-प्रतीति में विप्रतिपत्ति है। यदि कहा जाय कि रत्नतत्त्व के समान उपदेश-सहकृत प्रत्यक्ष से द्रव्यत्व जाति का भान होता है (जैसा कि न्या. ली. पृ. ९९ पर कहा गया है—"गृहीतसमयस्य रत्नतत्त्ववद्भानात्" अर्थात् व्युत्पन्न व्यक्ति को रत्नतत्त्व के समान ही जाति का भान हो जाता है)। तो यह कहना केवल अपने शिष्य-वर्ग को ही मोह में डाल सकता है, औरों को नहीं; क्योंकि रत्नतत्त्व और जाति में यह महान् अन्तर है कि रत्नतत्त्व के विषय में सब परीक्षक एकमत होते हैं और जाति के विषय में विवाद करते हैं। अनुगत प्रतीति को जाति का व्यञ्जक मानने पर धर्म और अधर्म—में भी एक 'अदृष्टत्व' जाति माननी पड़ेगी; क्योंकि दोनों में 'अदृष्टम् अदृष्टम्'—यह अनुगत प्रतीति पाई जाती है।

लीलावतीकार ने जो कहा है—"कालाकाशादीनां संयोगविभागाजनकत्वेन कर्मवत् सत्तेतरजातिमत्त्वसिद्धेः।"……"न च कर्मत्वमसिद्धम्; चलतीत्यनुगताकारवेदनवेद्यत्वाद् (न्या. ली. पृ० ९४) अर्थात् काल, आकाश और दिशा—आदि में 'सयोगविभागाजनकत्व' हेतु के द्वारा कर्म के समान ही सत्ता से भिन्न जाति सिद्ध हो जाती है। कर्मत्व जाति भी 'चलति'—इस अनुगत प्रतीति से सिद्ध है। उस कहने में भी कोई दम नहीं; क्योंकि कर्म को अप्रत्यक्ष माननेवाले 'चलति'—इस प्रतीति का विषय संयोग और विभाग का प्रवाह मानते हैं, कर्म नहीं। अतः कर्मत्व की सिद्धि न होने से

त्कर्मत्वासिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। आत्मा शाबलेयवृत्त्यवृत्तिशाबलेयनिष्ठजातिमान्संयोगित्वाच्छाबलेयवत्। जलादेश्च पक्षतुल्यत्वान्न तेन व्यभिचारः। तथा, सत्ता दिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वात्पटवत्। आत्माऽनात्मवृत्तिरूपावृत्तिजातिमान् रूपान्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद्घटवदिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिरितिचेत्, मैवम्, संयोगित्वहेतोर्वेगवत्त्वोपाधिहतत्वात्। मेयत्वहेतोश्च सत्तामनङ्गीकुर्वतामाश्रयासिद्धेः। दिक्कालाकाशनिष्ठजातित्वेन तस्या एव विवक्षितत्वे चाप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च। प्रमेयत्वगुणवत्वज्ञानाधारत्वोपाधिभिरेव यथा-

---

सत्ताद्रव्यत्वातिरिक्तजातिमत्यः संयोगविभागजनकत्वात्कर्मवदित्यनुमानसम्भवादाभाससमानयोगक्षेमत्वम्। विपक्षबाधकाभावाच्च शङ्किताप्रयोजकमित्यपिना सूचितम्। द्रव्यत्वजातावनुमानान्तराणि शङ्कते—**आत्मेत्यादिना**। शाबलेयनिष्ठजातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता, तदर्थं शाबलेयवृत्त्यवृत्तीत्युक्तम्। तस्याश्च शाबलेयवृत्तित्वे सति गुणकर्मणोरपि वर्तमानत्वाद् व्यवच्छेदः। तावन्मात्रोक्तावात्मत्वेन सिद्धसाधनता, तदर्थं शाबलेयनिष्ठेत्युक्तम्। तथापि शाबलेयात्मवृत्तिद्वित्वादिधर्मैरर्थान्तरता, तदर्थं जातिग्रहणम्। दृष्टान्ते गोत्वेन साध्यप्रसिद्धिः। पक्षे च तद्व्याघातादुभयनिष्ठद्रव्यत्वसिद्धिः। ननु संयोगित्वमस्ति जलादौ, नास्ति चैवंविधा जातिरिति तत्राह—**जलादेरिति**। द्वितीये तु जातेरन्येत्युक्ते घटत्वान्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं दिक्कालाकाशनिष्ठेत्युक्तम्। तावत्युक्ते तन्निष्ठगुणादन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं जातिग्रहणम्। अत्रचानुमानत्रयसूचनाय तथेति ग्रहणम्। इतरथा वैयर्थ्यादिति या सा दिगादिनिष्ठा जातिः, तद्द्रव्यत्वमिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिः। तृतीये तु जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता, तदर्थं रूपावृत्तीत्युक्तम्। तावति चात्मत्वेनार्थान्तरता; तदर्थं अनात्मवृत्तीत्युक्तम्। रूपान्यत्वेनार्थान्तरतापरिहाराय जातिग्रहणम्। रूपेऽनैकान्तिकतापरिहाराय रूपान्यत्वे सतीत्युक्तम्। रूपत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः। सामान्यादिषु व्यभिचारवारणाय सामान्यवत्त्वग्रहणम्। तत्राद्यहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिमाह—**मैवं संयोगीति**। द्वितीयानुमानं दूषयति—**मेयत्वेति**। न चाजातिरूपस्यापि पक्षत्वान्नाश्रयासिद्धिः; दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्। किंच दिक्कालाकाशनिष्ठजात्यन्यत्वं किं सत्तान्यत्वेन? किं वा द्रव्यत्वान्यत्वेन? उभयथाप्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः। तत्र प्रथमे व्याघाताच्चरमेऽसिद्धेरित्याह—**दिक्कालेति**। सत्ता गुणवृत्तिर्दिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वादित्यपि संभवादाभाससमानता चेति द्रष्टव्यम्। तृतीयहेतोः स्वरूपासिद्धिमाह—**प्रमेयत्वेति**। अयमभिसन्धिः—तिसृभिः खलु

'कर्म' दृष्टान्त साध्य-विकल है। 'द्रव्यत्व' जाति की सिद्धि में जो अनुमान किए जाते हैं—(१) 'आत्मा, शाबलेय गौ में वृत्ति रूपादि में अवृत्ति, शाबलेय-वृत्ति जातिवाला है, संयोगी होने से, जैसे—शाबलेय गौ।' (यहाँ दृष्टान्त में सिद्ध 'गोत्व जाति', पक्ष में बाधित है, अतः गौ और आत्मा—दोनों में रहनेवाली 'द्रव्यत्व' जाति ही इस अनुमान के बल से सिद्ध होती है)। जलादि, पक्ष-तुल्य ही हैं, अतः वहाँ व्यभिचार की आशङ्का नहीं कर सकते। एवं (२) 'सत्ता, दिशा-काल-आकाश में में वृत्ति जाति से भिन्न है, मेय होने से, जैसे—पट।' (इस अनुमान से दिशादि में जो जाति सिद्ध होती है, वह द्रव्यत्व है)। तथा (३) 'आत्मा, अनात्म-वृति जो रूपावृत्ति जाति, उसका आधार है, रूप से अन्य होकर सामान्यवाला होने से, जैसे—घट।' ये तीनों अनुमान भी द्रव्यत्वजाति सिद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि प्रथम अनुमान के 'संयोगित्व' हेतु में 'वेगवत्त्व' उपाधि है (वेगवत्त्व गवादि में रहने के कारण साध्य—व्यापक और आत्मादि में न रहने से साधनाव्यापक है)। द्वितीय अनुमान के 'मेयत्व' हेतु में, जो लोग सत्ता नहीं मानते, उनके लिए आश्रयासिद्धि दोष है। 'दिगादि-वृत्ति जाति' शब्द से वही द्रव्यत्व विवक्षित है, अतः वहाँ अप्रसिद्धविशेषणता भी दोष है। तृतीय अनुमान का 'सामान्यवत्त्व' हेतु ही असिद्ध है; क्योंकि प्रमेयत्वरूप अखण्ड उपाधि से 'सद्'—यह व्यवहार, 'गुणवत्त्व' उपाधि से 'द्रव्यम्'—यह व्यवहार और 'ज्ञानाधारत्व' उपाधि से

योग्यं सद्द्रव्यमात्मेति व्यवहारोपपत्तौ तत्तत्सामान्यस्वीकारवैयर्थ्येन सामान्यवत्त्वहेतोरप्यसिद्धेः। तदेवं जातौ व्यञ्जकप्रमाणयोरसंभवेनाकाशवृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि, क्रियासमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि, संयोगवद्वृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि द्रव्यमित्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि महाविद्यालक्षणानि निरस्तानि वेदितव्यानि।

तथा गुणलक्षणमपि न युक्तं लक्षयामः।

जातिभिरात्मनः सामान्यवत्त्वमभिमतम्, तासु च न किंचित्प्रमाणमस्ति, अनुवृत्तप्रत्ययस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात्, अनुमानस्य चैतादृशत्वात्। अस्तु वानुवृत्तव्यवहारस्तथापि प्रमेयत्वादितत्तदुपाधिभिरेवायं व्यवहारः शक्यसमर्थनः। न च प्रमेयत्वस्य सत्तात्वे चाक्षुषत्वं न स्यात्, प्रमाविषयत्वस्याचाक्षुषत्वादिति वचनीयम्; सामान्यत्वेऽप्यचाक्षुषत्वस्य तदवस्थत्वात्। स्वरूपसद्विशेषो हि सामान्यं नाम। न च प्रमेयत्वातिरिक्तं स्वरूपसत्त्वमस्ति। रूपैकार्थसमवायाच्चाक्षुषत्वमितरत्रापि तुल्यम्, अभावत्वं तु प्रमेयत्वादेः शपथसाध्यमिति, यानि च महाविद्यानुमानानि द्रव्यत्वजातौ प्रवर्तन्ते, तान्यपि परमाणुनिराकरणवादे निवेदनीयदूषणदूषितानीति नोदाहृतानि आचार्येण। तदेवं व्यञ्जकप्रमाणयोरसिद्धया द्रव्यत्वजातेरसिद्धौ तत्पुरस्कारेण यानि शिवादित्यमिश्रेण लक्षणानि लक्षणमालायामुक्तानि, तान्यपि निरस्तानीत्याह—तदेवमिति। अत्र चाकाशवृत्तीत्याद्येकं लक्षणम्, क्रियासमानाधिकरणेत्याद्यपरम्, संयोगवद्वृत्तीत्यादिलक्षणान्तरम्। तत्र सत्ताव्याप्यजातियोगिद्रव्यमित्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिः, गुणत्वकर्मत्वादीनामपि सत्ताव्याप्यत्वात्तदर्थमाकाशवृत्तीत्युक्तम्। तावत्युक्तेऽपि गुणादावतिव्याप्तिः, तेषामप्याकाशवृत्तिसत्ताजातियोगित्वात्तदर्थं सत्ताव्याप्येत्युक्तम्। आकाशगुणान्यान्यत्वमित्याद्याकाशवृत्तिसत्ताव्याप्यान्योऽन्याभावादिरूपधर्मयोगिगुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय जातिग्रहणम्। द्वितीये सत्तावान्तरजातियोगीत्युक्ते गुणादावतिव्याप्तिः, तदर्थं क्रियासमानाधिकरणेत्युक्तम्। तावति च सत्तायुक्तगुणादावतिव्याप्तिः स्यात्, तदर्थं सत्तावान्तरेत्युक्तम्। अत्र च सत्तासाक्षाद्व्याप्यत्वं सत्तावान्तरत्वम्। अनेन न घटत्वादिकमादायाव्याप्तिभ्रमः। तृतीयेऽपि गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय संयोगवद्वृत्तीति विशेषणम्। सत्तामादाय गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय सत्तावान्तरग्रहणम्। आदिग्रहणेन जातिमन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोग्याकाशवृत्तिजातियोगित्वं कार्यसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वा रूपसमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि वा स्पर्शसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वा रससमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरणं वेत्यादीनि लक्षणानि संगृहीतानि। महाविद्यालक्षणानीति। महाविद्यारीत्या प्रवृत्तानीत्यर्थः। द्रव्यलक्षणखण्डनेन च तद्विशेषपृथिव्यादिलक्षणान्यपि खण्डितानि वेदितव्यानि। सामान्याभावे तद्विशेषस्य सुतरामसंभवात्, तल्लक्षणानामपि जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तत्वाच्च। गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवीत्यादिरूपाणि हि तानि, तत्र द्रव्यत्वजातिदूषणेन तदवान्तरत्वमपि दूषितमेव। प्रदर्शयिष्यते च जातिमात्रस्य खण्डनम्, ततोऽपि तद्गर्भाणि लक्षणानि दुर्भणानि। वादीन्द्रस्तु एतानि लक्षणानि दूषयित्वा स्वमतेन कार्याश्रयो द्रव्यं गुणाश्रयो द्रव्यमित्यादिलक्षणान्युदाजहार, तानि च तत्रैव निरस्तप्रायाणीति।

नन्वेतावतापि न नानालक्षणवत्त्वेन भेदासिद्धिः, गुणलक्षणवत्त्वभेदसिद्धेः, गुणलक्षणानामक्षीणत्वात्तदर्थं तान्यपि खण्डयति—तथा गुणलक्षणमपीति। तत्र 'द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणं

'आत्मा'—यह व्यवहार सिद्ध हो जाता है। सत्ता, द्रव्यत्व, आत्मत्वादि जाति मानना ही व्यर्थ है। इस प्रकार जाति का न तो कोई व्यञ्जक ही सिद्ध होता है और न जाति में कोई प्रमाण ही है; अतएव महाविद्या-रीति से प्रवृत्त, 'आकाश-वृत्ति, सत्ता-व्याप्य जातिमत्त्व', 'क्रियासमानाधिकरण, सत्ता-व्याप्य जातिमत्त्व', 'संयोगवद्वृत्ति, सत्ताव्याप्यजातिमत्त्वादि' जाति-घटित लक्षण खण्डित हो जाते हैं।

गुण-लक्षण भी युक्त नहीं प्रतीत होता। "सामान्यवान् अगुणः, संयोगविभागयोर्निरपेक्षो न कारणं

सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् ।
अन्योऽन्याश्रयतापत्तेर्गुणस्याद्याप्यसिद्धितः ॥ ६ ॥

"सामान्यवानगुणः संयोगविभागयोर्निरपेक्षो न कारणं गुणः" इति कंदलीकारस्य गुणलक्षणं तावदयुक्तम् ; सिद्धे गुणे अगुण इति लक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च गुणसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वदूषणग्रस्तत्वात् । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—"सामान्यवानचलनात्मकः समवायिकारणताहीनो गुणः" इत्यपि न; रूपादीनामपि समवायिकारणत्वस्य दर्शितन्यायेन संभवात्तद्धीनतालक्षणस्य लक्षणांशस्यासंभावितत्वात् । सामान्यवान्स्पर्शरहितो द्रव्याश्रयः कर्मातिरिक्तो गुणः इत्यपि न ; गुणात्कर्मणो भेदासिद्धौ कर्मव्यावृत्तेरयुक्तत्वात् । अन्यथा रूपातिरिक्तो रसा-

---

निरपेक्षः' (वै. सू. १।१।१६) इति गुणलक्षणपरं सूत्रम् । तदर्थतया च कंदलीकाराद्यभिमतलक्षणं तावद्दूषयति—**सामान्यवानित्यादिना** । अन्योन्याश्रयतायामेव हेतुः, गुणस्येति । यदि हि गुणो ज्ञातः स्यात्तदा गुणरहितत्वज्ञानं स्यात्, स चैतल्लक्षणव्यतिरेकेण नाद्यापि सिद्धः । एतल्लक्षणेन सिद्धावन्योऽन्याश्रयतेत्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—**सामान्येत्यादिना** । सामान्यादिव्यावृत्त्यर्थं सामान्यवानिति विशेषणम् । द्रव्यव्यवच्छेदायागुण इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदाय संयोगविभागेत्यादिविशेषणम् । संयोगविभागयोर्हि निरपेक्षकारणं कर्म, तन्न भवति यत्स गुण इत्यर्थः । वादीन्द्रस्तु पृथक्त्वानाश्रयः सङ्ख्यानाश्रयः संयोगकारणत्वे सति विभागनिरपेक्षकारणत्वरहितो गुण इत्यादि प्रत्यवादीत्, तन्न : सङ्ख्यापृथक्त्वाद्याश्रयत्वस्य पूर्वमेवोपवर्णनात् । अन्योन्याश्रयतापरिहाराय श्रीवल्लभीयलक्षणमनुवदति—**यत्त्विति** । उक्तं च वैधर्म्यपरिच्छेदे इति शेषः । अत्रापि सामान्यादिव्यावृत्त्यै सामान्यवानित्युक्तम् । द्रव्यव्यवच्छेदाय समवायिकारणताहीनः इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदायाचलनात्मक इत्युक्तम् । तत्र "कार्यं यत्र समवैति, तत्समवायिकारणमिति" परेषां समवायिकारणलक्षणम्, तच्च पूर्वोक्तन्यायेन पृथक्त्वादि प्रति गुणादेरप्यस्तीत्यसंभव इत्यर्थः । एतेन केवलनिमित्तकारणे वर्तमानापरजातीयत्वं वा समवाय्यसमवायिकारणतारहिते वर्तमानापरजातीयत्वं वेति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि परिभूतं मन्तव्यम् । उक्तन्यायेन सर्वगुणानामपि पृथक्त्वादिसमवायिकारणतया केवलनिमित्तिकारणत्वसमवायिकारणत्वरहितत्वयोरभावादिति । किरणावलीयं लक्षणं दूषयति—**सामान्यवान्स्पर्शरहित इत्यादिना** । कर्मातिरिक्ते इत्युक्ते द्रव्येऽतिव्याप्तिस्तदर्थं द्रव्याश्रय इत्युक्तम् । तथापि कार्यद्रव्याव्यावृत्तिरतदर्थे स्पर्शरहित इत्युक्तम् । यदि गुणाद्भेदेन कर्मज्ञानं स्यात्कर्मातिरिक्तता गुणस्य ज्ञायेत, नचैतदस्ति, गुणानिर्णये तद्व्यतिरेकस्यापि कर्मणो ज्ञातुमशक्यत्वात्, एतल्लक्षणेन च गुणं निश्चित्य ततोऽतिरिक्तं कर्म ज्ञात्वा तदतिरिक्तत्वविशेषणज्ञानं वाञ्छतश्चक्रकापत्तिरित्यभिसन्धिराह—**गुणात्कर्मण इति** । यदि गुणादज्ञातभेदादपि कर्मणः सकाशा-

---

गुणः" (वै० सू० १।१।१७) में कर्म का लक्षण किया गया है—जो संयोग और विभाग को जन्म देने में अपने उत्तर उत्पन्न किसी भावपदार्थ की अपेक्षा न करता हो, उसे कर्म कहते हैं। उस कर्म से जो भिन्न हो, जाति-युक्त हो, गुण-रहित हो; उसे गुण कहा जाता है—वै० सू० १।१।१६)—यह गुण का लक्षण, अन्योऽन्याश्रय दोष से ग्रस्त है; क्योंकि इस लक्षण में प्रविष्ट गुण-रहितत्व जब सिद्ध हो, तब गुण सिद्ध होगा और गुण की सिद्धि होने पर गुण-रहितत्व की सिद्धि होगी (द्र० किर० पृ० १५९)। लीलावतीकार ने जो कहा है—'सामान्य-युक्त, अचलनात्मक, समवायिकारणता-हीन पदार्थ को गुण कहते हैं।' वह भी उचित नहीं; क्योंकि रूपादि में भी एकत्वादि की समवायिकारणता दिखाई जा चुकी है, अतः समवायिकारण-हीनत्व-घटित लक्षण असम्भव है। जो 'सामान्य से युक्त हो, स्पर्श से रहित हो, द्रव्य के आश्रित हो, एवं कर्म से भिन्न हो, उसे गुण कहते हैं, (किर० पृ० १६०) यह लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि गुण से कर्म का भेद सिद्ध न होने के कारण लक्षणगत

तिरिक्त इत्यपि विशेषणोपादानप्रसङ्गात्। तथा च गुणपदार्थे किरणावलीकारः 'तस्माद्वरो भूषणः कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगात्'इति।

ननु गुणत्वजातियोगी गुणः। न च व्यञ्जकाभावः; सामान्यवत्त्वे सति संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वस्यैव गुणत्वव्यञ्जकत्वात्। नापि गुणत्वजातौ प्रमाणाभावः, संयोगः संयोगत्वातिरिक्तावान्तरजातिमान्, जातिमत्त्वात्कर्मवदिति तत्सिद्धिरिति चेत्, अत्र ब्रूमः—

गुणत्वजातियोगोऽपि न भवेद्गुणलक्षणम्।
अन्योऽन्याश्रयदुष्टत्वाज्जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च ॥७॥

सिद्धे हि सत्तासामान्ये गुणत्वसामान्ये वा तद्विशिष्टव्यंञ्जकसिद्धिस्तत्सिद्धौ च सामान्यसि-

---

दतिरिक्तत्वं सिद्धवद्व्यपदिश्येत, तदा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि किमिति न विशेषणं क्षिप्यते लक्षणे? समानं ह्युभयोरपि गुणादज्ञातभेदत्वं व्यतिरेकानङ्गीकारश्च प्रतिवादिन इत्याह—अन्यथेति। उक्तश्चायमर्थो गुणपदार्थपूर्वपक्षोपसंहारसमये किरणावलीकारेणेत्याह—तथा चेति। यस्मान्न कर्मणो भेदकमस्ति, तस्माद्भूषणो वरः श्रेष्ठः। कथं कर्मापि गुणः? तल्लक्षणयोगादिति हि तन्मतमित्यर्थः। तस्माद्वादिनः सकाशादिति वार्थः। एतेन कर्मान्यत्वे सति सामान्यैकाश्रयो गुण इति सर्वदेवीयमपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम्। पृथक्त्वाद्याश्रयतया सामान्यैकाश्रयत्वस्यासिद्धेरिति।

ननु गुणत्वजातिरेव नास्ति, तद्व्यञ्जकप्रमाणयोरभावादिति, तत्राह—न च व्यञ्जकेति। द्रव्यकर्मणोर्व्यवच्छेदाय संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वमित्युक्तम्। द्रव्यं हि संयोगविभागयोः समवायिकारणं भवति, कर्म त्वसमवायिकारणम्। गुणस्तु न तथा। यद्यपि संयोगविभागयोरस्ति तज्जनकत्वम्, तथापि संयोगजनकत्वे सति विभागजनकत्वरूपोभयजनकत्वं न संयोगस्यास्ति, संयोगस्य संयोगं प्रत्येवासमवायिकारणत्वात्। एवं विभागस्यापि विभागं प्रत्येव। अजनकत्वं च समवाय्यसमवायिकारणत्वराहित्यम्, तेनेश्वरेच्छादिसंग्रह इति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति भावः। संयोग इति। संयोगो जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता, तदर्थमवान्तरजातिमानिति कृतम्। तथाच संयोगत्वेनार्थान्तरता तदर्थं संयोगत्वातिरिक्तेत्युक्तम्। यासाववान्तरजातिस्तद्गुणत्वमिति तत्सिद्धिरिति भावः। गुणत्वजातेस्तद्व्यञ्जकस्य चान्योन्याश्रयदुष्टत्वाद् गुणत्वजातियोगोऽपि गुणलक्षणं न भवेदिति श्लोकेन दूषयति—गुणत्वजातियोगोपीति। अन्योन्याश्रयं विशदयति—सिद्धे हीति। येन गुणत्वजातिर्नाद्रियते, तेन सत्तापि जातिर्नाद्रियते एवेति तद्गर्भव्यञ्जकस्य तद्व्यङ्ग्यजातेश्चासिद्धिरित्यर्थः। व्यञ्ज-

---

कर्मातिरिक्तत्व का निर्णय नहीं हो सकता। अन्यथा (गुण से कर्म का भेद सिद्ध न होने पर भी यदि कर्मातिरिक्तत्व को व्यवस्थापक माना जाय, तब) रूपातिरिक्त, रसातिरिक्त-विशेषणों से विशेषित लक्षण भी गुण का व्यवस्थापक हो जायगा, अतः (चतुर्विंशति गुणों में से गुणत्व की निवृत्ति हो जायगी—रससार० पृ० २)। इसीलिए गुणपदार्थ के विषय में उदयनाचार्य ने कहा है—"तस्माद् वरं भूषणः कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगादिति" (किर० पृ० १६०)। अर्थात् कर्म से भेद न हो सकने के कारण न्यायभूषणकार (न्यायसार-व्याख्याकार) ही श्रेष्ठ है, जो कि कहता है—'कर्म, गुण होता है, गुण-लक्षण-युक्त होने के कारण (रससार० पृ० ४)।

यदि शंका हो कि 'गुणत्व जाति-योगित्व'—यह गुण का लक्षण अवश्य उपपन्न होगा। 'गुणत्व' जाति के व्यञ्जक का अभाव नहीं; क्योंकि सामान्यवत्त्व-विशिष्ट संयोग-विभागरूप कार्यद्वय का अजनकत्व ही गुणत्व का व्यञ्जक है। और न गुणत्व जाति में प्रमाण का ही अभाव है, क्योंकि 'संयोग संयोगत्व से अतिरिक्त अवान्तरजातिवाला होता है, जातिवान् होने से, जैसे—कर्म'—यह अनुमान-प्रमाण है। तो यह शंका उचित नहीं; क्योंकि 'गुणत्वजातियोगित्व'—यह गुण का लक्षण मानने पर जाति और उसके व्यञ्जक में अन्योऽन्याश्रयता होती है—सत्ता या गुणत्वजाति के सिद्ध होने

द्धिरिति परस्पराश्रयत्वात् अनिष्टवियोगेष्टसंयोगोद्देशेनानुष्ठानसमुपजनितधर्मे संयोगविभागहेतौ लक्षणस्यासंभवित्वात्, तथाभिचारादिजनिते दुरिते शत्रोरिष्टवियोगानिष्टसंयोगहेतौ च लक्षणस्यासंभवित्वात्। न च तयोर्निमित्तत्वेनैव जनकत्वम्, नतु समवायिकारणतयाऽसमवायिकारणतया वेति वाच्यम्; आत्मनिष्ठसंयोगविभागहेतोरदृष्टस्य कार्यैकार्थसमवायिनोऽसमवायिकारणलक्षणोपपत्तेः, समवायित्वासमवायित्वकारणभेदस्याद्याप्यसिद्धेश्च । नापि तत्र प्रमाणम्; जातिमत्त्वहेतोरसिद्धेः। कर्मत्वादेरसिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। गुणत्व-

कस्याव्यापकतां चाह—अनिष्टवियोगेति । संयोगविभागद्वयाजनकत्वं तत्रासंभवीत्यर्थः। सत्तासामान्यमात्रं विवक्षित्वा अन्योन्याश्रयपरिहारमाशङ्क्य वायं ग्रन्थः । ननु तदुभयासमवायिकारणत्वसमवायिकारणत्वयोरभावो लक्षणं विवक्षितम्, अस्ति चादृष्टस्यापि तदभावः, निमित्तकारणत्वात्तस्येति तत्राह—न च तयोरिति । समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यमसमवायिकारणम् । प्रत्यासत्तिश्च द्विविधा-लघ्वी बृहती च, उत्पाद्येन कार्येण सहैकार्थे कारणे स्वस्य यः समवायः सा लघ्वी प्रत्यासत्तिः, यथा तन्तुसंयोगस्य तत्कार्यस्य पटस्य चैकतन्तुसमवायः। तत्कारणेन सहैकार्थे समवायो बृहती, यथा पटगतशौक्ल्यासमवायिकारणस्य तन्तुशौक्ल्यस्य तत्कारणेन पटेन सहैकत्र तन्तौ समवायः। तदत्र संयोगं प्रति विभागं प्रति च समवायिकारणे आत्मनि संयोगेन सह वर्तमानस्यादृष्टस्यास्ति लघ्वी प्रत्यासत्तिरित्यसमवायिकारणं भवत्येवादृष्टमित्यर्थः। किंच यस्य द्रव्यगुणादिभेदमात्रमेवाद्याप्यसिद्धम्, तस्य समवाय्यसमवायिकारणविभागोऽपि न सिद्ध इत्याह—समवायित्वेति। एवं व्यञ्जकं दूषयित्वानुमानं दूषयति—नापीति। वक्ष्यमाणसामान्यमात्रखण्डनेन सत्ताकर्मत्वजात्योरप्यसिद्धिरिति भावः। एतेन रूपादयो रूपत्वाद्यतिरिक्तावान्तरजातिमन्तः सामान्यवत्त्वात्कर्मवदितिलीलावतीकारानुमानमपि निरस्तम्। गुणः कर्मव्यावृत्तजातिमान्कार्यत्वात्तुरगवदिति सर्वदेवः, तदपि द्रव्यत्वजात्यनङ्गीकारेण परिहृतम्। संयोगित्वाद्युपाधिहतत्वाच्च, प्रध्वंसेनानैकान्तं च, रूपत्वादिनार्थान्तरत्वाच्चेति, यानि शिवादित्यमिश्रेण गुणत्वजातिगर्भाणि गुणलक्षणानि विवक्षितानि, तान्यप्येकप्रहारेण परिहरति—गुणत्वजातेरित्यादिना । जातिमान्गुण इत्युक्ते द्रव्येऽतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमानाधिकरणेत्युक्तम्। एवं सति कर्मण्यतिव्याप्तिस्तदर्थं संयोगासमवायिकारणावृत्तीत्युक्तम्। एवं च सति संयोगेऽव्याप्तिस्तस्य संयोगासमवायिकारणत्वेन तदवृत्तिजातिमत्त्वस्यासंभवात्, तत उक्तम् संयोगाजन्येति, संयोगाजन्यो यः संयोगस्तं प्रत्यसमवायिकारणं यत्तदवृत्तिजातिमानित्यर्थः। एतच्च संयोगस्याप्यस्त्येव, तस्य संयोगजन्यसंयोगासमवायिकारणत्वेऽपि संयोगाजन्यसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणत्वाभावात्संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणावृत्तिजातिमत्त्वसम्भवादतो नाव्याप्तिरिति भावः। द्वितीयेऽपि लक्षणे विभागविशेषेऽव्याप्तिपरिहाराय विभागाजन्येति-

पर सत्ता-घटित उक्त व्यञ्जक सिद्ध होगा और उस व्यञ्जक के सिद्ध होने पर गुणत्वजाति की सिद्धि होगी। अनिष्ट-वियोग एवं इष्ट-संयोग के उद्देश्य से जो कर्म किया जाता है, उससे जन्य अदृष्टरूप गुण में संयोग-विभाग-जनकत्व ही रहता है, संयोग-विभागाजनकत्व नहीं। तथा श्येनादि आभिचारिक कर्म से जन्य अदृष्ट भी शत्रु के इष्ट का विभाजक और अनिष्ट का संयोजक होता है, अतः वहाँ यह लक्षण अव्याप्त है। यदि कहा जाय कि लक्षणगत संयोग-विभागाजनकत्व का अर्थ है—संयोग-विभाग के समवायिकारणत्व असमवायिकारणत्व का अभाव। वह तो उक्त अदृष्टों में है ही; क्योंकि वे संयोगादि के प्रति निमित्तकारण ही होते हैं; समवायिकारण या असमवायिकारण नहीं। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि आत्म-निष्ठ संयोग-विभाग का जनक अदृष्ट कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति से कार्य के समवायिकारण आत्मा में प्रत्यासन्न होने के कारण असमवायिकारण ही बन जाता है और समवायिकारण तथा असमवायिकारण का भेद भी अभीतक असिद्ध ही है। 'गुणत्व' जाति में कोई प्रमाण भी नहीं; क्योंकि उक्त अनुमान का 'जातिमत्त्व' हेतु ही असिद्ध है। कर्मत्वादि के सिद्ध न होने से दृष्टान्त भी

जातेरसिद्धौ 'संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणावृत्तिसंयोगासमानाधिकरणजातिमान्विभागाजन्यविभागासमवायिकारणावृत्तिविभागासमानाधिकरणजातिमान्गुणः' इत्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि गुणलक्षणानि निरस्तानि ।

तथा कर्मलक्षणमपि दुर्लक्ष्यम् । न तावत्संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्मेति । यतः—

यथाश्रुतेऽसंभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तितः ।
नानपेक्षतया हेतुः कर्म योगविभागयोः ॥८॥

नानपेक्षतया संयोगविभागहेतुत्वं कर्मणः; समवायिकारणेश्वरेच्छादेशकालादृष्टापेक्षणात् ।

विशेषणम् । शेषं पूर्ववत् । आदिग्रहणेनापक्षेपणावृत्तिसंयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमानित्यादि संगृह्यते । यत्तु तेन "रूपाद्यन्यतमत्वं वा तच्च तदन्यान्यत्वम्"इति रीत्या सर्वत्र लक्षणनिर्वचनं कृतम्, तदप्यनन्तरोक्तान्योन्याश्रयग्रस्तम् । रूपादिज्ञाने तदन्यत्वज्ञानं तदन्यत्वज्ञाने च रूपादिज्ञानमिति । किंच रूपादिविशिष्टान्योन्याभावो वा तदुपलक्षितान्योन्याभावो वा लक्षणोपयोगी । आद्ये कर्मादीनां रूपादिमत्त्वं रूपादीनामपि कर्मादिमत्त्वं स्यात् । अन्योन्याभावद्वयं प्रति वर्गद्वयस्य विशेषणत्वात् । द्वितीयेऽप्युपलक्षितत्वं विशेषणम् ? उपलक्षणं वा ? द्वितीयेऽनवस्था । प्रथमे परम्परयोभयोरप्युभयवत्त्वं स्यात् । अन्याऽन्याभावात्यन्ताभावयोश्च प्रागेव प्रत्युक्तं निर्वचनम् । प्रत्याख्यास्यते च यद्वादीन्द्रेण तदुभयान्यतरत्वं नामैकान्योन्याभाववत्त्वे सति इतरान्योन्याभाववत्त्वानधिकरणत्वमिति निर्वचनं कृतम्—"एतदन्योन्याभावानित्यत्वान्यतराधिकरणं शब्दत्वात्यन्ताभावानित्यत्वान्यतराधिकरणम्" इत्यादिषु, तदप्ययुक्तम् । तथा सति हि रूपाद्यन्यतमत्वं नाम रूपान्योन्याभावाधिकरणत्वे सति रसादित्रयोविंशत्यन्योन्याभावाधिकरणत्वरहितत्वमिति लक्षणार्थः स्यात् । तथा च सत्यन्योन्याभावद्वयानधिकरणत्वं वा एकैकान्योन्याभावानधिकरणत्वं वा लक्षणं विवक्ष्यते ? उभयथाप्यनुपपत्तिः; उभयान्योन्याभावानधिकरणत्वस्याव्याप्तेः । नाहं रूपे रसान्योन्याभावो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, नापि रूपान्योऽन्याभावो रसादौ नास्तीति । एकैकान्योऽन्याभावानधिकरणत्वपक्षे रूपादिप्रतियोगिकाभावविशेषविवक्षायां रसादिष्वव्याप्तिस्तदवस्था । अनियतविवक्षायां तु अनुगतलक्षणक्षय इति ।

ततो वादीन्द्र! दर्पस्ते तदन्यतरतादिषु ।
अखण्डितनिरुक्त्युत्थः पण्डितंमन्य! खण्डितः ॥

क्रमप्राप्तं कर्मलक्षणं खण्डयति—**तथा कर्मलक्षणमपीति** । श्रीधराचार्याभिप्रेतं लक्षणं तावद्दूषयति—**न तावदिति** । अनपेक्षपदेन द्रव्यव्यावृत्तिः । संयोगविभागद्वयग्रहणेन संयोगविभागव्यावृत्तिस्तयोस्संयोगजनकत्वे सति विभागाजनकत्वात्; तस्य चेहेष्टत्वादित्यर्थः । **योगविभागयोः**, सयोगविभागयोरनपेक्षतया यो हेतुः तत्कर्मेति न लक्षणम्, कुतः ? यथाश्रुतेऽसंभवित्वात् । स्वातिरिक्ते कस्मिंश्चिदप्यनपेक्षाया असंभवित्वात् । तथा निरुक्तेरपि स्वोत्पत्त्यनन्तरमुत्पद्यमानानपेक्षेत्यादिरूपाया अप्ययुक्तितः इति श्लोकयोजना । श्लोकं विवृणोति—**नानपेक्षतयेति** । द्वितीयं पादं शङ्कापूर्वकं विवृणोति—**अथैव**-

---

साध्य-विकल है । 'गुणत्व' जाति के सिद्ध न होने से ही संयोगज संयोग के असमवायिकारण में अवृत्ति, संयोगासमानाधिकरणजातिमत्त्व या विभागज विभाग के असमवायिकारण में अवृत्ति विभागासमानाधिकरणजातिमत्त्व—आदि (लक्षणावली पृ० ८ पर कथित) जाति-घटित लक्षण भी निरस्त हो जाते हैं ।

इसी प्रकार कर्म-लक्षण भी सम्भव नहीं । संयोग तथा विभाग के प्रति इतरानपेक्ष कारण कर्म होता है—यह लक्षण यथाश्रुत तो असम्भव है और उसका निर्वचन भी अयुक्त है । कर्म संयोग एवं विभाग के प्रति इतरनिरपेक्षकारण होता नहीं; क्योंकि उसे भी संयोगादि को जन्म देने के लिए अपने समवायिकारण एवं ईश्वरेच्छा, देश, काल, अदृष्टादि साधारण कारणों की अपेक्षा करनी ही पड़ती

अथैवं निरुच्यते—पश्चाद्भावि निमित्तं नापेक्षते कर्म, तेन चेश्वरेच्छासमवायिकारणादयो व्यावर्त्यन्ते, तेषां पूर्वभावितया पश्चाद्भावित्वाभावादिति, मैवम्; उत्तरसंयोगे कर्तव्ये पश्चाद्भाविन्याः पूर्वसंयोगनिवृत्तेरपेक्ष्यमाणत्वात्। पश्चाद्भाविभावरूपं निमित्तं नापेक्षते इति चेत्, न; पूर्वसंयोगनिवृत्तिक्षणस्य भावस्यैव पश्चाद्भाविनोऽप्यपेक्ष्यमाणत्वात्। यदनन्तरं संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मेति च कर्मलक्षणे तत्सामग्र्यामपि तत्संभवादतिव्याप्तिः। न च कर्मैव सामग्री; तथा सति विभागोत्पत्तिसमसमयमेव पूर्वसंयोगनिवृत्तेरुत्तरसंयोगस्य चोत्पत्तिप्रसङ्गात्, सत्यां सामग्र्यां कार्ये विलम्बायोगात्। अस्तु तर्हि संयोगविभागयोरसम-

---

मित्यादिना। व्यावर्त्यन्ते। अनपेक्षात इति शेषः। कर्मत्वादिति वा। तेषां पश्चाद्भाविकर्मापेक्षितत्वात्। दूषयति—मैवमुत्तरेति। एषा हि परिपाटी वैशेषिकाणाम् 'उत्पन्नमात्रात्कर्मणः स्वाश्रये पूर्वसंयुक्ताद्विभागो जायते ततः पूर्वसंयोगनाशस्तत उत्तरसंयोगोत्पत्तिः' इति। तत्रोत्तरसंयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगनाशं पश्चाद्भाविनमपेक्षते कर्मेत्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थः। ननु भावरूपं पश्चाद्भाविनं नापेक्षते इत्यनपेक्षाशब्दार्थो विवक्षितस्ततो नासंभव इति शङ्कित्वा परिहरति—न पूर्वसंयोगेति। यस्मिन्क्षणे पूर्वसंयोगनाशः स कर्मणः पश्चाद्भावी, औपाधिकस्योत्पाद्यत्वाद्भावरूपश्चातस्तदपेक्षत्वात्कर्मणस्तदवस्थ एव पूर्वदोष इत्यर्थः। स्यादेतत्, यदनन्तरं संयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मेति लक्षणम्, न चेश्वरेच्छादिषु प्रसक्तिः, तेषु सत्स्वपि यावत्कर्मोत्पत्त्यनुपपत्तेः। नाप्यनपेक्षाक्षिप्तक्षुद्रोपद्रवावसरे इति, तत्राह—यदनन्तरमिति। ननु नात्र कर्मातिरिक्तसामग्र्यस्ति, यत्रातिव्याप्तिरुच्येतेति तत्राह—न च कर्मैवेत्यादिना। यदि हि कर्ममात्रं सामग्री, तदासति भवत्येवेति नियमात् विभागोत्पत्तिसमसमयमेव पूर्वसंयोगनाशोत्तरसंयोगोत्पत्ती स्याताम्, नचैवमिष्यते युज्यते वा, पूर्वसंयोगस्य विभागव्यतिरेकेण नाशकाभावात्, आश्रयस्य चानष्टत्वात्, अनिवृत्ते च पूर्वसंयोगे नोत्तरसंयोगोत्पत्तिः। अतः पृथगेव सामग्री, तथा चातिव्याप्तिरिति भावः। पूर्वसंयोगनाशस्य च समसमयत्वापादनं पूर्वभावित्वस्योपलक्षणम्, तद्व्यतिरेकेणोत्तरसंयोगानुत्पत्तेः। वादीन्द्रः प्राह—'विभागकुर्वद्रूपत्वापरपर्यायविभागजननशीलत्वस्य धर्मविशेषस्यानपेक्षकारणत्वशब्दार्थत्वात् तस्य पदार्थान्तरव्यावृत्तस्य कारणमात्रविभागकारणाकारणविभागविभागजनकविभागकारणकर्मनिष्ठस्य 'एतद्विभागानपेक्षकारणम् इदं विभागानपेक्षकारणमित्यनुभवसिद्धत्वात्' इति; तदसत्। न खलु त्वत्कुतर्कानुपहतबुद्धेरेवमनुभवोऽस्ति। विभागजनकत्वं च विभागस्य विभङ्क्षयिष्यते। या तु महाविद्या अनपेक्षकारणत्वसाधनायोक्ता, सा तदीयविडम्बनोक्तदोषविडम्बितेति नादरणीया। तदेवमेकद्रव्यमगुणं संयोगविभागानपेक्षकारणमिति सौत्रं लक्षणं दूषयित्वा लीलावतीलक्षणमुद्भावयति—अस्तु तर्हीति। निमित्तकारणेश्वरेच्छादौ समवायिकारणद्रव्ये चातिव्याप्तिपरिहारायासमवायिकारणग्रहणम्। ननु तथापि संयोगविभागयोरतिव्याप्तिस्तयोरपि यथायथं

है। यदि अनपेक्षता का निर्वचन यह किया जाय कि 'कर्म अपने पश्चाद् उत्पन्न होनेवाले निमित्त की अपेक्षा नहीं करता', अतः ईश्वरेच्छादि की व्यावृत्ति हो जाती है; क्योंकि वे सभी पूर्वभावी हैं कर्म के पश्चाद् उत्पन्न नहीं हुए हैं। तो यह निर्वचन भी युक्त नहीं; क्योंकि उत्तर संयोग पैदा करने के लिए कर्म को अपने से पश्चात् उत्पन्न पूर्व संयोग की निवृत्ति अपेक्षित होती है। पश्चाद्भावी भावपदार्थ की अनपेक्षता भी नहीं कह सकते; क्योंकि पूर्व संयोगका निवृत्ति-क्षण ही ऐसा पश्चाद्भावी भावपदार्थ है, जिसकी कर्म को अपेक्षा है। 'जिसके उत्तर संयोग-विभाग की उत्पत्ति होती है, उसे कर्म कहा जाता है'—यह लक्षण तो संयोगादि की सामग्री में अतिव्याप्त है। यदि कर्ममात्र को ही सामग्री माना जाय, तब विभाग की उत्पत्ति के समय में ही पूर्वसंयोग-निवृत्ति एवं उत्तर संयोग की उत्पत्ति प्राप्त होगी; क्योंकि सामग्री के रहने पर कार्य में विलम्ब होना युक्त नहीं। यदि कहा जाय कि 'संयोग तथा विभाग दोनों के असमवायिकारण को कर्म कहते हैं'—यह कर्म का

वायिकारणं कर्मेति लक्षणम्। न च संयोगविभागयोरतिव्याप्तिः, तयोरेकैककारणत्वात्, अत्र चोभयकारणत्वस्य विवक्षितत्वादिति चेत्, मैवम्; कर्मविशेषे लक्षणस्याव्याप्तेः। तथाहि—यदा पटारम्भकावयवतन्त्वादिनिष्ठेन कर्मणावयवान्तराद्विभागोद्भवः, तस्मिन्समये तदारब्धावयविनिष्ठं कर्म यदि भवति, तदावयवानां विभागादवयव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिसमयेऽवयविकर्मणा तस्मिन्नेवावयविनि यतः कुतश्चिद्विभागो जायते। तत्र समवायिकारणावयवसंयोगनिवृत्त्यनन्तरमवयविनो नाशान्नोत्तरसंयोगोत्पत्तिः; संयोगिनोऽवयविन एवाभावात्। तत्रावयविनिष्ठस्य कर्मण उभयासमवायिकारणत्वाभावादव्याप्तिः कथं न भवेत्? न चावयवकर्मोनन्तरमवयविनि कर्म न जायत इति वाच्यम्; हस्तचलनानन्तरं देवदत्तचलनस्य, शाखाचलनानन्तरं शाखिचलनस्य दृष्टत्वात्। न चोत्तरसंयोगानुत्पत्तौ कर्मणोऽनुपयोग्यत्वप्रसङ्गः; विभागजननेनापि पुरुषार्थत्वोपपत्तेः। न हि यावदशेषप्रयोजनसिद्धिस्तावद्वस्तुनोऽवस्थाननियमः; बीजादेरङ्कुराद्यजननेऽपि नाशाद्युपलम्भात्।

तयोरसमवायिकारणत्वादिति, तत्राह—न चेति। उभयं प्रत्यसमवायिकारणत्वं विवक्षितं ततो नातिव्याप्तिरित्यर्थः। उक्तं च लीलावतीकारेण "द्वित्वे तात्पर्यम् तेन संयोगविभागव्युदासः" इति। मिलितसंयोगविभागजनकत्वरूपकर्मलक्षणस्याव्याप्तिमाह—मैवमित्यादिना। कर्मविशेषमेव दर्शयन्नव्याप्तिं विवृणोति—तथाहि यदेति। अत्र तावदवयवकर्मानन्तरमवयविन्यपि कर्म संभवतीति वक्ष्यते। तथासत्यवयवभूततन्तुकर्मणा अवयविभूतपटारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पत्तिसमयेऽवयविगतकर्मणापि विभागः शक्योत्पादः; अवयविनोऽविनष्टत्वात्। उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्तु असंभविनी। तदानीमाश्रयस्यावयविनः पटस्यासमवायिकारणभूतावयवसंयोगनाशान्नष्टत्वात्, असमवायिनाशात्समवायिनाशाद्वाऽवयविनाश इति सिद्धान्तात्, ततश्च तस्मिन्कर्मण्यव्याप्तिरुभयजनकत्वलक्षणस्येत्यर्थः। अवयविनोनाशादित्यस्यैव विवरणं संयोगिनोऽवयविन इति। यत्तद्वक्ष्यते इत्युक्तम्, तदाह—न चावयवेति। अवयवावयविनोर्युगपत्कर्मोत्पत्तावप्येषा समानैव। उत्तरसयोगोत्पत्त्यनुपपत्तेस्तत्रापि तुल्यत्वात्। ननु नास्ति तथाविधं कर्म यद्विभागमात्रमेवोत्पाद्योपरमेत्, स्वप्रयोजनासमर्थस्य सृष्टिवैयर्थ्यात्, यथाहुर्विभागप्रकरणे प्रशस्तपादाः 'उत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपयोग्यत्वप्रसङ्गः' इति, तत्राह—न चोत्तरेति। यदि मन्येत विभागमात्रजननेऽपि समस्तप्रयोजनानिष्पत्तेर्वैयर्थ्यमेवान्यत्र कर्मणस्तथैव दृष्टत्वादिति, तत्राह—न हि यावदिति।

निर्दुष्ट लक्षण है। इसकी संयोग और विभाग में अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि वे दोनों एक-एक के कारण हैं, दोनों के नहीं। तो यह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि कर्म विशेष में यह लक्षण भी अव्याप्त है—जब कि पटारम्भ अवयव तन्तु-वृत्ति कर्म से अवयवान्तर का विभाग उत्पन्न होता है, उस समय उन अवयवों से आरब्ध अवयवी में यदि कर्म होता है; तब अवयवगत विभाग से अवयव्यारम्भक संयोग की निवृत्ति के समय अवयविगत कर्म से उसी अवयवी में किसी अन्य पदार्थ का विभाग उत्पन्न होता है। वहाँ समवायिकारण अवयवों के संयोग की निवृत्ति के अनन्तर अवयवी के नष्ट हो जाने से उत्तर संयोग की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि संयोग का आधार अवयवी ही नहीं रहा। वहाँ अवयविनिष्ठ कर्म में संयोग और विभाग दोनों की असमवायिकारणता न रहने से अव्याप्ति क्यों न होगी? 'अवयव-कर्म के अनन्तर अवयवी में कर्म उत्पन्न ही नहीं होता'—यह तो कह नहीं सकते; क्योंकि हाथ में चलन होने के पश्चाद् शरीर में चलन, शाखा में कम्पन होने के अनन्तर वृक्ष में कम्पन देखा जाता है। 'उत्तर संयोग के उत्पन्न न होने से भी कर्म अनुपयोगी नहीं होता; क्योंकि विभाग-जनन में उसका उपयोग हो जाता है। यह कोई नियम नहीं कि जब तक अशेष प्रयोजन पूरा न हो, तब तक वस्तु को विद्यमान रहना ही होगा; क्योंकि अङ्कुरादि को जन्म दिये बिना भी बीजादि का नाश देखा जाता है।

अस्तु वोभयकारणत्वं कर्मणः, तथाप्यसमवायिकारणता निरूपणीया। समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणमिति चेत्, केयं प्रत्यासत्तिः ? कार्यैकार्थसमवायः, कारणैकार्थसमवायश्चेति चेत्, न; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—उभयविधप्रत्यासन्नता असमवायिकारणशब्देन कर्मलक्षणेऽपि विवक्षिता ? उतान्यतरा ? नाद्यः; अनङ्गीकारादसंभवाच्च। न ह्यन्त्यावयविनिष्ठस्य कर्मणः संयोगविभागसमवायिकारणेनान्त्यावयविना सहैकस्मिन्नर्थे समवायः संभवति, कर्मण एकद्रव्यमात्रवृत्तित्वात्। न द्वितीयः; कारणैकार्थसमवायस्यानङ्गीकारादेव। कार्यैकार्थसमवायस्य तु लक्षणान्तर्भावेऽतिव्याप्तेः। यन्निष्ठौ संयोगविभागौ तन्निष्ठतया संयोगविभागयोर्यत्कारणं तत्कर्मेति हि तथालक्षणार्थः संपद्येत। तथा चात्ममनसोः संयोगविभागजनकादृष्टेऽतिव्याप्तिः कथं न स्यात्? कार्येण संयोगविभागाख्येन

संप्रत्यतिव्याप्तिं दर्शयितुमसमवायिकारणतामत्रत्यां निष्कर्षति—**अस्तु वेत्यादिना**। ननु किमत्र निरूपणीयमस्ति ? प्रसिद्धं तल्लक्षणमित्याह पूर्ववादी—**समवायिकारणेति**। कार्येणोत्पद्यमानेन पटादिना सहैकस्मिन्नर्थे यः समवायस्तन्तुसंयोगादेः, सा तावदेका लघ्व्यभिधाना प्रत्यासत्तिः। तथोत्पद्यमानपटशौक्ल्यादेर्यत्समवायिकारणं पटादि तेन सहैकार्थे तन्त्वादौ तन्तुशौक्ल्यादेर्यः समवायः सा बृहत्यभिधाना इति द्वितीया प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। कारणैकार्थसमवायाभावं दर्शयन्नुभयाभावं विवृणोति—**न ह्यन्त्यावयविनिष्ठस्येति**। पटगतसंयोगकारणं कर्म पट एव प्रवर्तते, न तन्तुषु, तेन न कारणैकार्थसमवाय इत्यर्थः। अन्यतरपक्षे वृहतीं दूषयित्वा लघ्व्यामतिव्याप्तिमाह—**कार्येति**। अदृष्टेऽतिव्याप्तिं दर्शयितुं लक्षणं निष्पन्नं दर्शयति—**यन्निष्ठाविति**। कार्यैकार्थसमवायमदृष्टे संपादयति—**कार्येणेति**। न च प्रत्यासत्तावपि कर्मण एवासमवायिकारणता नादृष्टस्येति निर्वचनीयम्, तल्लक्षणस्यातिव्याप्त्यापातात्, उभयोरपि तदुपपत्तेश्च। न चादृष्टचरकल्पना; उभयासमवायिकारणत्ववदुपपत्तेः। न च कल्पनागौरवम्; अवयवनिष्ठरूपादीनामनेकेषामप्यवयविरूपादिकं प्रत्यसमवायिकारणत्वकल्पनावदुपपत्तेः। न च विभिन्नजातीयादेककार्यानुत्पादः; बहुत्वप्रचयाभ्यां महत्त्वस्येवोत्पत्तिसंभवात्, उभयासमवायिकारणत्वस्य वस्त्वन्तरेऽनुपलब्धचरस्यापि कर्मणि कल्पनावत्संयोगविभागाविशेषेऽप्यदृष्टस्य च प्रत्यासत्तेरसमवायिकारणत्वकल्पनायां दोषाभावात्। न चादृष्ट-

---

अस्तु, मान लेते हैं संयोग और विभाग—दोनों की कारणता कर्म में, तथापि कर्मगत संयोगविभाग की असमवायिकारणता का निर्वचन करना होगा। यह जो प्रसिद्ध है कि 'जो समवायिकारण में प्रत्यासन्न होकर कार्य-जनन में समर्थ हो, उसे असमवायिकारण कहा जाता है'—यहाँ प्रत्यासत्ति क्या है ? यदि कहें कार्यैकार्थसमवाय (पटादि कार्य के साथ तन्तुरूप एक पदार्थ में तन्तु-संयोग का समवाय) और कारणैकार्थसमवाय (पटगत रूप के समवायिकारणभूत पट के साथ एक ही तन्तुरूप अर्थ में तन्तु-रूप का समवाय)। तब जिज्ञासा होती है कि उक्त कर्म के लक्षण में 'असमवायिकारण' शब्द से उभयविध प्रत्यासत्ति विवक्षित है ? या दोनों में से कोई एक ? प्रथम पक्ष तो माना भी नहीं जाता और असम्भव भी है; क्योंकि घटादि अन्त्यावयवी द्रव्य में संयोग विभाग का जो असमवायिकारण कर्म है, उसकी कारणैकार्थप्रत्यासत्ति (संयोगादि के समवायिकारणभूत घट के साथ कपालरूप एक अर्थ में समवाय) सम्भव नहीं। (यदि माना जाय, तब एक ही कर्म घट और कपाल—दोनों में मानना होगा, किन्तु) कर्म द्विष्ठ नहीं होता, एक ही द्रव्य के आश्रित (वै० सू० १।१।१७ में.) बताया गया है। द्वितीय पक्ष में भी कारणैकार्थप्रत्यासत्ति तो मानते ही नहीं, कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति का कर्म-लक्षण में प्रवेश मानने पर अतिव्याप्ति होती है। अर्थात् इस पक्ष में "संयोग, विभाग के समवायिकारण में समवेत होकर जो संयोग, विभाग का जनक हो, वह कर्म माना गया है"—यह लक्षण सम्पन्न होता है। यह लक्षण उस अदृष्टरूप गुण में अतिव्याप्त होता है, जो कि आत्मा और मन के संयोग एवं विभाग का जनक है; क्योंकि वह भी अपने संयोग, विभाग संज्ञक

सह तज्जनकादृष्टस्यात्मन्येकस्मिन्नर्थे समवायात्। गुणान्यत्वे सतीति विशेषणादयमदोष इति चेत्, न; तदोभयकारणताभिधानस्य वैयर्थ्यापातात्, गुणान्यत्वपदेनैव विभागजनकविभागस्य च व्यवच्छेदात्। एवं विभागाजन्यविभागासमवायिकारणं कर्मेत्यपि लक्षणं निरस्तम्; असमवायिकारणताया दुर्निरूपत्वात्। विभागाजन्यत्वविशेषणं च व्यर्थम्; व्यवच्छेद्याभावात्। न च विभागजविभागव्यवच्छेदार्थमिति वाच्यम्; कर्मण एव तदुत्पत्तौ विभागस्यैवाप्रामाणिकत्वात्।

ननु यत्तावदिह वंशावयवेषु प्रवर्तमानं कर्म, तद्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिन विभागमुत्पा-

---

स्यासमवायिकारणत्वे सर्वनिमित्तकारणत्वानुपपत्तिः; कालादीनां स्वगुणसमवायिकारणानापि निमित्ततावदुपपत्तेरिति। अतिव्याप्तिमदृष्टे परिहरति पूर्ववादी—**गुणान्यत्वे सतीति**। गुणत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थः। दूषयति—**न ; तदेति**। एकैकजनकसयोगविभागव्यवच्छेदाय हि उभयकारणता कर्मलक्षणे विवक्षिता। तौ च गुणान्यत्वग्रहणेनैव निरस्तौ, ततश्चोभयकारणत्वविशेषणं व्यर्थं स्यात्, अतो द्वित्वे तात्पर्यमिति केवलं लीलावत्या विलपितमेव भवेदिति भावः। गुणान्यत्वं चासिद्धम्; अद्यापि कर्मलक्षणानिर्णयात्। गुणलक्षणानां च परागुच्छिन्नत्वादिति वा भावः। उक्तं लक्षणमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति**। अतिदिश्यमानमेव विवृणोति—**असमवायिकारणताया इति**। **दुर्निरूपत्वादिति**। यथाऽदृष्टे न संभवति, तथा निरूपयितुमशक्यत्वात्ततश्चादृष्टेऽतिव्याप्तिस्तदवस्था, गुणान्यत्वविशेषणे च पूर्ववद्वैयर्थ्यमित्यर्थः। व्यर्थविशेषणत्वं चाह—**विभागाजन्येति**। ननु त्रिविधो विभागः, अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजो विभागजश्चेति, तत्राद्यः सक्रियेण निःक्रियस्य, यथा स्थाणोः श्येनेन। द्वितीयस्तु सक्रिययोः, यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा। तृतीयस्तु कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्चेति। तत्राद्यो यः खलु पटावयवस्य स्वगतकर्मणा पटावयवान्तराद्विभागो जायते, स तु विभागः पूर्वतनारम्भकसंयोगनाशानन्तरकालीनावयवविनाशसहकृतः स्वाश्रयस्याकाशदेशाद्विभागमारभते। द्वितीयस्तु हस्तावयवाकाशयोर्विभागाद्धस्ताकाशविभागः इति, एवञ्च सति यदि विभागासमवायिकारणं कर्मेत्येवोच्यते, तदा विभागेऽतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं विभागाजन्येति विशेषणमिति, तत्राह—**न च विभागजेति**। अत्र च विभागजशब्दस्तत्कारणविभागोपलक्षणार्थः। हेतुमाह—**कर्मण एवेति**। न क्वचिदपि विभागो विभागजन्यः, किंतु वंशदलविभागजनकादेव कर्मणो वंशदलादेराकाशस्य च विभाग इत्यर्थः।

अत्र वंशदलाकाशविभागस्य कर्मजन्यत्वं दूषयन्विभागजन्यत्वं वैशेषिकः परिशेषयति—**ननु यत्तावदित्यादिना**। तत्रावयवगतं कर्म किमवयवान्तराद्विभागजननसमय एवाकाशादिभ्यो विभागमारभते?

कार्य के साथ एक अर्थ आत्मा में समवेत है। 'गुणान्यत्वे सति'—यह विशेषण देने पर उक्त दोष तो हट जा सकता है, किन्तु लक्षण में संयोग, विभाग—उभय की कारणता का निवेश व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि (संयोगज संयोग और विभागज विभाग की कारणता लेकर संयोग एवं विभाग में अतिव्याप्ति हटाने के लिए ही सयोग, विभाग—उभय की कारणता का निवेश माना गया है, परन्तु) संयोगजसंयोग तथा विभागज विभाग का व्यवच्छेद तो 'गुणान्यत्व' विशेषण से ही हो जाता है। इसी प्रकार 'विभागाजन्य विभाग का असमवायिकारण, कर्म कहा जाता है'—यह लक्षण भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि एक तो असमवायिकारणता का निरूपण ही नहीं हो सकता, दूसरे 'विभागाजन्यत्व' विशेषण की कोई सार्थकता भी प्रतीत नहीं होती। विभागजविभाग की व्यावृत्ति करने के लिए उक्त विशेषण को सार्थक नहीं माना जा सकता; क्योंकि सर्वत्र कर्म से ही विभाग उत्पन्न होता है, विभाग से विभाग की उत्पत्ति में कोई प्रमाण ही नहीं।

शङ्का—जो यह वंशावयव में कर्म उत्पन्न होता है, वह वंशारम्भक संयोग के विरोधी विभाग

---

१. ननु गुणान्यत्वपदेन यत्किञ्चिद्गुणान्यत्वं विवक्षितम्? सर्वगुणान्यत्वं वा? उभयथापि नांकातिव्याप्तिरपसर्पत्यत आह—गुणत्वानधिकरणेति।

दयत्तदैव नाकाशादिभिः सह विभागमुत्पादयति, यस्मादाकाशादिविभागजनकत्वं कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तमुपलभ्यते नलिनदलेषु। न हि तत्र द्रव्यविनाशः प्रत्यक्षाधिगतः ; तदेवेदं नलिनमिति प्रत्यभिज्ञानात्। नाप्यनुमानतः ; दध्यादिष्विव व्यूहान्तरस्य तदुन्नायकस्य लिङ्गस्यादर्शनात्। तथा च पद्मपत्रस्य पत्रान्तराद्विभागः उपलभ्यमानो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी, किंतु स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगजात्कर्मण उत्पन्नो यः संयोगः सत्येव द्रव्ये द्रव्यारम्भके च संयोगे पद्मपत्रयोर्वर्तते, तमेव निवर्तयति, यथांगुल्योर्विभागः प्रयत्नोत्पादितं संयोगमेव निवर्तयति न तु द्रव्यारम्भकसंयोगम्, तस्मादंगुलिविभागवत्पद्मपत्रक्रियाजनितो विभागो न द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधीति व्याप्तिनिश्चये प्रयोगः—'विवादाध्यासिता वंशदलक्रिया नाकाशादिविभागारम्भिका द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभा-

---

समयान्तरे वा ? द्वितीये तु प्रथमपक्षदूषणमेवातिदेक्ष्यति। प्रथमं दूषयति—**तदैव नेति**। द्रव्यस्य वंशावयविनः आरम्भको यो वंशावयवयोः संयोगस्तद्विरोधिनं विभागमुत्पादयतीति योजना। ननु किमिति नोत्पादयतीत्याशङ्क्य तत्रानुमानं बाधकं दर्शयितुं व्याप्तिं तावत्संपादयति—**यस्मादिति**। **आकाशादिविभागेति**—द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागोपलक्षणम्। तथाच किरणावलीकारः—'यत्कर्म द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारभते, न तद्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनम्, यत्त्वेवम्, न तत्तद्विरोधिनमिति, विकसत्कमलकुड्मलादौ तथा तद्दर्शनाच्चैतदवधारणीयम्, इति (किर० पृ० २३४)। अथ कथं कमलकुड्मलदलविदलनेऽपि विभागस्य द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधित्वम्, न पुनरारम्भकसंयोगविरोधित्वमिति ? तत्राह—**नहि तत्रेति**। यदि हि द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधी स्यात्ततो विकसनसमये नलिनावयवी नश्येत्, न चैतत्प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वाऽवसातुं शक्यते, अतो न तदारम्भकसंयोगविरोधी स विभाग इत्यर्थः। व्यूहः आकारः। कार्यद्रव्यान्तरमिति यावत्। कस्य तर्हि विरोधीत्यत आह—**किंत्विति**। स्पर्शवद्द्रव्यं चन्द्रातपादि। द्रव्यारम्भकसंयोगे च सत्येव यः संयोगः स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगजात्कर्मण उत्पन्नः पद्मदलयोर्वर्तते तमेव निवर्तयतीत्यर्थः। अत्र च संप्रतिपन्नमुदाहरणमाह—**यथाङ्गुल्योरिति**। तदेवं कमलकलिकाविकासकर्मणि समर्थितां व्यतिरेकव्याप्तिमुपसंहृत्य प्रयोगमारचयति—**विवादाध्यासितेति**। **नाकाशादीति**।

को जन्म देता हुआ उसी समय आकाशादि के साथ विभाग उत्पन्न नहीं कर सकता ; क्योंकि जिस कर्म में आकाशादि-विभाग की जनकता होती है, उसमें द्रव्यारम्भक संयोग-विरोधी विभाग की जनकता नहीं होती—इस प्रकार की व्याप्ति कमल-दलों में पाई जाती है। (खिलते हुए कमल की कलियों में जो विभाग उत्पन्न होता है, वह अनारम्भक संयोग का ही विरोधी होता है, आरम्भक संयोग का नहीं, नहीं तो कमल ही नष्ट हो जायगा। कमल खिलने से नष्ट नहीं होता) प्रत्यक्षतः 'यह वही कमल है'—इस प्रकार उसकी स्थिरता प्रमाणित होती है। अनुमान से भी कमल के उस विभाग में आरम्भक संयोग-प्रतिद्वन्द्विता सिद्ध नहीं की जा सकती ; क्योंकि उसका कोई भिन्नाकारता आदि अनुमापक लिङ्ग यहाँ नहीं, जैसे कि दूध की अपेक्षा दधि में। अतः मानना होगा कि कमल की कलियों में जो पारस्परिक विभाग पाया जाता है, वह कमल के आरम्भक संयोग का विरोधी नहीं, अपि तु कमल तथा कमलारम्भक संयोग के रहते हुए जो चन्द्र-किरण—जैसे सस्पर्श द्रव्य के संस्पर्श से जनित संकोच कर्म के द्वारा कलियों में संयोग उत्पन्न किया जाता है, उसी संयोग का ही वह विभाग विरोधी होता है। जैसे कि अंगुलियों में होनेवाला विभाग, प्रयत्न-साध्य संयोग का ही निवर्तक होता है, अंगुलियों के आरम्भक संयोग का नहीं। इसलिए अंगुली-गत विभाग के समान ही कमलगत विभाग भी द्रव्य के आरम्भक संयोग का विरोधी नहीं होता—इस प्रकार व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर यह अनुमान किया जा सकता है— विवादास्पद वंश दलों की क्रिया, आका-

गारम्भकत्वाद्यन्नैवं न तदेवं यथा पद्मपत्रक्रिया'। एककर्महेतुकत्वे च विभागयोर्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधित्वाविरोधित्ववैलक्षण्यमनुपपन्नम्, कारणावैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गादिति विपक्षे बाधकस्तर्कः। तदेवमवयवक्रिया अवयवविभागकाले पश्चाद्वा नाकाशादिविभागमारभते। तस्मादाकाशवंशावयवयोर्विभागो न क्रियाजः। न चासमवायिकारणमन्तरेण कार्योत्पत्तिः शक्याभ्युपगन्तुम्। न चान्तरेण क्रियामन्यदसमवायिकारणमवयवविभागातिरेकि शक्यमुपपादयितुम। अवयवविभागस्त्ववशिष्यते। स च तस्य प्रत्यासन्न एकार्थसमवायादिति सिद्धो विभागजो विभागस्तद्व्यावृत्त्यर्थं च विभागाजन्यत्वविशेषणमिति चेत्,

मैवम्; व्याप्तेरसिद्धत्वादनध्यवसितत्वतः।
यौगपद्यप्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम् ॥९॥

न द्रव्यानारम्भकसंयोगविराधिविभागारम्भिकेत्यर्थः। पद्मपत्रकर्मणि विभागारम्भके व्यभिचारवारणाय द्रव्यारम्भकेति विशेषणम्। **यन्नैवमिति**। यद्द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकम्, न तद्द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकमित्यर्थः। विपक्षे बाधकमाह—**एककर्मेति**। उक्तं च किरणावल्याम्—'कार्यविपर्ययाद्भवितव्यं कारणविरोधेन, नहि कार्ये विरुद्धमविरुद्धजातीयं कारणमिति संभवति' इति। उपपादितं कर्मानारभ्यत्वमुपसंहरति—**तदेवमिति**। यत्तदवोचाम द्वितीयेऽतिदेक्ष्यतीति, तदाह—**पश्चाद्वेति**। तत्रापि समानोऽयमविनाभाव इति भावः। तथापि विभागजन्यत्वं कथमित्याशङ्क्य तत्र परिशेषं दर्शयिष्यन्सामान्यतो दृष्टानुमाने प्राप्ते हि परिशेषावसर इति तदाह—**न चासमवायिकारणमिति**। प्रसक्तप्रतिषेधे सत्यन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेष इति परिशेषविदः। तदिह प्रसक्तं कर्म प्रतिषिद्धम्, अन्यत्राप्रसङ्गमाह—**न चान्तरेणेति**। उभयं हि प्रत्यासन्नतयाऽसमवायिकारणं संभवति, एकं वंशदलकर्म, अपरं तु कर्मोत्पन्नस्तद्गतो विभागः, तत्र कर्मण ईदृशी दशा ततो विभागातिरेकी न संभवतीत्यर्थः। अन्यत्राप्रसंगमुक्त्वा शिष्यमाणे संप्रत्ययमाह—**अवयवेति**। अत्र चासमवायिकारणलक्षणं संपादयति—**स च तस्येति**। उपसंहरति—**सिद्ध इति**। परिनिष्पादितपरिश्रमस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तद्व्यावृत्त्यर्थं चेति**।

तत्रानुमानं तावद्दूषयति कर्मजत्वसंभवेन परिशेषं विघटयितुम्—**मैवमित्यादिना** श्लोकेन। अत्र किं व्यतिरेकभूमावाकाशादिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ व्याप्ति-

---

शादि-विभाग की जनक नहीं होती; द्रव्यारम्भक संयोग-विरोधी विभाग की जनक होने से; जो क्रिया द्रव्यानारम्भक संयोग-विरोधी विभाग की जनक होती है, वह द्रव्यारम्भक संयोग-विरोधी विभाग की जनक नहीं होती, जैसे–कमल-विकास क्रिया।' विपक्ष-बाधक तर्क यह है कि यदि दोनों विभाग एक ही कर्म से जन्य माने जाते हैं, तब उनमें द्रव्यारम्भक संयोग की विरोधिता और अविरोधिता—जैसे विरुद्ध धर्म नहीं रह सकेंगे; क्योंकि कारण के समान होने पर कार्यों में विचित्रता नहीं हो सकती। अतः अवयवगत क्रिया अवयवी के विभाग-काल में या पश्चाद् आकाशादि-विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश और वंशावयव के विभाग की असमवायिकारण, क्रिया नहीं। असमवायिकारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानी नहीं जा सकती। क्रिया को छोड़ यहाँ और कोई असमवायिकारण हो नहीं सकता, विना अवयवगत विभाग के। अतः अवयव-विभाग ही शेष रहता है। इसी की आकाशादि-विभाग के साथ कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति है। इस प्रकार विभागज विभाग सिद्ध हो गया। इसकी व्यावृत्ति करने के लिए कर्म-लक्षण में 'विभागाजन्यत्व' विशेषण सार्थक है।

समाधान—'जिस व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए भगीरथ-प्रयत्न किया गया, वह सिद्ध न हो सकी। हेतु भी सपक्ष में निश्चितरूप से रहता दिखाई नहीं देता। सबसे बड़ी बात यह है कि

न तावदाकाशादिविभागजनकस्य कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानुत्पादकत्वं क्वचित्प्रत्यक्षसिद्धम्; आकाशादिविभागस्यातीन्द्रियस्य क्रियान्वयव्यतिरेकयोः प्रत्यक्षतोऽधिगन्तुमशक्यत्वाद्व्याप्त्यसिद्धेः। अनध्यवसितश्चायं हेतुः; आकाशादिविभागानारम्भके रूपादौ सत्यपि सपक्षे ततो व्यावृत्तत्वात्। अपि च क्रमकल्पनेयमनुपपन्ना; आकाशादिविभागप्रत्यक्षवादिनां विभागद्वयस्यापि यौगपद्यप्रतीतेः। न च शतपत्रपत्रशतव्यतिभेदानुभववद्विभ्रमोऽयमनुभवः; बाधकाभावात्। न चोपन्यस्तानुमानं बाधकम्; तस्यानध्यवसितत्वेनापहस्तितत्वात्। "विवादाध्यासितं विभागजन्यगुणाधिकरणं नित्यद्रव्यत्वादात्मवत्। अस्ति ह्यात्मनो विभागविषयं प्रत्यक्षज्ञानं तत्कर्मकारकजन्यं तेन न साध्यविकलो दृष्टान्तः" इति मानमनोहर-

---

गृह्यते ? किंवा द्रव्यानारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ ? आद्ये प्राह—**व्याप्तेरसिद्धत्वादिति**। आकाशादिविभागस्याप्रत्यक्षत्वेन तज्जनकत्वमपि कर्मणोऽप्रत्यक्षमतो न प्रत्यक्षत्वसिद्धिर्व्याप्तेरित्यर्थः। द्वितीये दूषणमाह—**अनध्यवसितत्वत इति**। आकाशादिविभागानारम्भकत्वमस्ति रूपादौ, नच तत्र हेतुरस्तीत्यर्थः। किं च वंशदलयोर्विभागस्याकाशवंशदलविभागस्य च हेतुहेतुमत्त्वकल्पनापि अनुपपन्ना, आकाशप्रत्यक्षवादिनामुभयोरपि विभागयोः प्रत्यक्षेण यौगपद्यप्रतीतेरित्याह—**यौगपद्येति**। अथवाकाशप्रत्यक्षवादिमते व्याप्तिसिद्धिमाशङ्क्येदमुक्तम्, योजना तु पूर्वैव। श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। दिक्कालादिषु सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणतया उभयविधविभागजनकेषु व्यभिचारोऽपि द्रष्टव्यः। अनध्यवसितत्वत इत्येतद्विवृणोति—**अनध्यवसित इति**। अत्रचोक्तो विशेषो न प्रविस्मर्तव्यः। उपलक्षणं चैतत्सत्प्रतिपक्षस्यापि। तथाहि—विमतं कर्म आकाशादिदेशेन विभागमारभते आरम्भककर्मत्वात् संप्रतिपन्नवत्, विभागो वा कर्मजन्यः विभागत्वात्संप्रतिपन्नवत् इति शक्यं सत्प्रतिपक्षयितुम्। तेन च पदार्थतत्त्वनिर्णयोक्तदोषोऽपि परिहृतः। एतेन व्यभिचारानध्यवसितत्वनिवारणाय कर्मणा हेतुसाध्ययोर्विशेषणमपि निष्फलीकृतम्। न च द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वमुपाधिः, उभयविधविभागजनकेश्वरादौ साध्याव्याप्तेरिति, उत्तरार्धं व्याचष्टे—**अपि चेति**। ननु पूर्वापरीभूतयोरपि विभागयोरतिशैघ्र्याद्यौगपद्यविभ्रमोऽयम्, यथातितीक्ष्णसूच्या कमलदलशतवेधे युगपद्विद्धत्वाभिमान इति, तत्राह—**न च शतपत्रेति**। शतपत्रं कमलम्। व्यतिभेदः वेधः। अपहस्तितत्वाद्धस्तपरिहारमात्रेण परास्तत्वात्। उपलक्षणं चैतद्यौगपद्यप्रत्यक्षबाधव्यभिचारसत्प्रतिपक्षत्वानाम्। विभागाजन्यत्वेऽनुमानान्तरविरोधं शङ्कते—**विवादाध्यासितमिति**। आत्माकाशव्यतिरिक्तनित्यद्रव्याणि पक्षः। दृष्टान्ते साध्यं दर्शयति—**अस्ति ह्यात्मन इति**। विभागविषयं यत्प्रत्यक्षज्ञानं तद्विभागजन्यगुणः। एवमाकाशे

भट्टपाद की दिव्य दृष्टि से दोनों विभाग एक काल में देखे जाते हैं, उनमें क्रम है ही नहीं कि भिन्न असमवायिकारण की खोज करनी पड़े।' अर्थात् आकाशादि-विभाग-जनक कर्म में द्रव्यारम्भक संयोग विरोधी विभाग की अजनकता प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि आकाशादि-विभाग अतीन्द्रिय है, अतः उसके साथ क्रिया का अन्वय-व्यतिरेक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, फिर उक्त व्याप्ति कैसे सिद्ध होगी? आकाशादि-विभाग की अजनकता रहने से रूपादि भी सपक्ष हैं, किन्तु प्रकृत हेतु (द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागारम्भकत्व) वहाँ नहीं रहता, अतः उसमें सपक्ष-वृत्तिता का निश्चय नहीं। दूसरी बात यह है कि आपकी यह क्रम-कल्पना ही अनुपपन्न है; क्योंकि आकाशादि-विभाग को प्रत्यक्ष माननेवाले दोनों विभागों की एक काल में ही प्रतीति मानते हैं। इस प्रतीति को भ्रम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका कोई बाधक नहीं। उक्त अनुमान भी इसका बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि उसका हेतु ही अनिश्चित है—यह कहा जा चुका है। यदि कहा जाय कि 'विवादास्पद (परमाण्वादि नित्यद्रव्य) विभागजन्य गुण का आश्रय है, नित्य द्रव्य होने से, जैसे—आत्मा।' आत्मा में विभाग-जन्य विभाग-

कारोक्तमनुमानं बाधकमिति चेत्, मैवम्; वेदान्तिनं प्रति हेतोरसिद्धेः। तेनात्मव्यतिरिक्तनित्यानङ्गीकारात्, आत्मनो गुणानधिकरणत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। किंच नित्यविशेषणं व्यर्थम्; जीवाकाशव्यतिरिक्तस्य द्रव्यजातस्य विभागजन्यगुणाधिकरणतया विप्रतिपद्यमानस्य पक्षीकृततया पक्षव्यापकद्रव्यत्वहेतुमात्रेणैव साध्यसिद्धेर्नित्यपदव्यावर्त्याभावात्। अस्तु तर्हि द्रव्यत्वमात्रं हेतुरिति चेत्, न; विभुत्वोपाध्युपहतत्वात्। न च दिक्कालेश्वरेषु पक्षैकदेशेषु साधनव्यापकता; पक्षीकृतपरमाण्वादिषु तदभावात्।

किंच कर्मणो द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागजनकस्य नभोभागविभागाजनकत्वे द्रव्यारम्भकसंयोगजनकस्य तदजनकसंयोगजनकत्वमङ्गुल्याकाशसंयोगजनककर्मण इव न स्यात्, तथा च तन्तुद्वयसंयोगजनकात्कर्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगो न स्यात्। नन्वङ्गुल्याकाशसंयोगाच्छरीराकाश-

---

शब्दो विभागजन्यगुणः। न च ताभ्यामेवार्थान्तरता; परमाण्वादेर्ज्ञानशब्दाधिकरणत्वाभावात्। ततश्च योऽसौ विभागजन्यो गुणः परमाण्वादिनिष्ठः स विभागजन्यविभाग इत्यर्थः। ब्रह्माद्वैतवादिवेदान्तिमते परमाण्वादीनां नित्यत्वमसिद्धमिति विशेषणासिद्ध्या हेतुं दूषयति—**मैवमिति**। दूषणान्तरमाह—**आत्मन इति**। व्यर्थविशेषणतया चासिद्धिमाह—**किं चेति**। अनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यर्थं नित्यपदम्, अद्रव्यस्य द्रव्यपदेनैव व्यावृत्तेः। न च तद्व्यावृत्त्यर्थम्, पक्षतुल्यत्वादतो वैयर्थ्यमित्यर्थः। आत्माकाशयोक्तगुणवत्त्वे विभुत्वमुपाधिः। नच साधनव्यापकता, पक्षीकृतपरमाणुमनसोरुपाधेरभावादित्याह—**न; विभुत्वेत्यादिना**। ननु कालो विभागजन्यगुणाधिकरणं द्रव्यत्वादात्मवदित्यत्र को दोषः ? विशेषगुणवत्त्वोपाधिहतत्वं विहाय न किंचिदन्यत्। आभाससमानयोगक्षेमतां चाह—**किंचेति**। विमतं कर्म न द्रव्यानारम्भकसंयोगजनकं द्रव्यारम्भकसंयोगजनकत्वात् न यदेवं न तदेवं यथांगुल्याकाशसंयोगजनकं कर्मेत्यपि शक्यमनुमातुमिति खण्डलकार्थः। भवत्वेवं किं नश्छिन्नमिति ? तत्र गूढाभिसन्धिस्तावदाह—**तथा चेति**। द्वितन्त्वारब्धपटारम्भको यस्तन्तुद्वयसंयोगस्तज्जनकात्कर्मणस्तन्त्वाकाशसंयोगस्य द्रव्यानारम्भकस्योत्पत्तिर्न स्यादित्यर्थः। अभिसन्धिमविद्वान् श्रीवल्लभः शङ्कते—**नन्विति**। अयमर्थः—यथा हि संयोगजसंयोगविशेषस्य शरीराकाशसंयोगस्य तदवयवाङ्गुल्याकाशसंयोगादेव जन्म, न कर्मणः, तथा तन्त्वाकाशसंयोगोऽपि तदवयवाकाशसंयोगादेव भवे-

---

विषयक ज्ञानरूप गुण है ही, अतः दृष्टान्त साध्य-विकल नहीं—इस प्रकार मानमनोहरकार-कथित अनुमान बाधक होगा। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वेदान्ती के प्रति 'नित्यद्रव्यत्व' हेतु ही असिद्ध है। वेदान्ती, आत्मा से भिन्न कोई नित्य वस्तु मानते ही नहीं। आत्मा को गुण का अधिकरण भी वेदान्ती नहीं मानते, अतः दृष्टान्त भी साध्य-विकल है। हेतु का 'नित्यत्व' विशेषण भी व्यर्थ है; क्योंकि जीव और आकाश को छोड़कर समस्त द्रव्य में विभाग-जन्य गुणाधारता का संदेह होने से पक्ष-तुल्यता ही है, पक्षव्यापक द्रव्यत्व-मात्र हेतु से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है। नित्य पद का और कोई व्यावर्त्य है ही नहीं, जिससे उसकी सार्थकता हो। द्रव्यत्वमात्र को हेतु बनाने पर 'विभुत्व' उपाधि लग जाती है। यद्यपि पक्ष के एक देश, दिशा काल और ईश्वर में विभुत्व और द्रव्यत्व—दोनों रहते हैं, तथापि पक्षरूप परमाणु में व्यभिचार हो जाने से 'विभुत्व' उपाधि में साधन की व्यापकता न बन सकी।

दूसरी बात यह है द्रव्यारम्भक संयोग-विरोधी विभाग-जनक कर्म, यदि आकाश-विभाग का जनक न होगा, तब द्रव्यारम्भक संयोग-जनक कर्म भी द्रव्यानारम्भक संयोग का जनक न होगा, जैसे अंगुली-आकाश-संयोग-जनक कर्म; तब तो तन्तुद्वय-संयोग-जनक कर्म से तन्तु और आकाश का संयोग उत्पन्न न होगा। यदि कहा जाय कि जैसे अंगुली और आकाश के संयोग से शरीर और आकाश का संयोग होता है, वैसे ही तन्त्ववयव और आकाश के संयोग से भी तन्तु और आकाश का संयोग बन

संयोगवत्तन्त्वयवाकाशसंयोगादेव तन्त्वाकाशसंयोगोपपत्तेर्वायं दोष इति चेत्, एवं तर्हि द्व्यणुकजनकसंयोगासमवायिकारणात्परमाणुकर्मणः परमाण्वाकाशसंयोगो न भवेत्, न हि तत्रावयसंयोगात्परमाण्वाकाशसंयोगः, निरवयवत्वात्। अपि चैवं वंशदलावयवाकाश विभागादेवदलाकाशविभागोपपत्तेर्दलयोर्विभागस्याकाश विभागं प्रति हेतुता न स्यादिति दलयोर्विभागादाकाशविभागः स्वाभिमतो न सिद्ध्येत्, तस्मादसमवायिकारणापेक्षिणो वंशदलाकाश विभागस्य वंशदलक्रियैवासमवायि कारणमिति न पारिशेष्याद्विभागस्य विभागजनकत्वसिद्धिः। न च कर्मैकहेतुकत्वे विभागयोरुक्तवैलक्षण्यानुपपत्तिः; कर्मैकहेतुकयोः संयोगविभागयोरिव वैलक्षण्योपपत्तेः। तस्माद्विभागजविभागाभावात्तद्व्यावृत्त्यर्थं विभागाजन्यत्वविशेषणं कर्मलक्षणे व्यर्थम्। व्यञ्जकप्रमाणयोर्निरस्तत्वाच्च कर्मत्वजातेरभावे तद्योगित्वमपि लक्षणं परास्तम्।

सामान्यस्य दुर्लक्षत्वाच्च तद्विशिष्टानि लक्षणानि सर्वाण्यपि निरस्तानि वेदितव्यानि।

दिति कर्माजन्यत्वमिष्टमेवेति। अभिसन्धिमुद्घाटयन्परिहरति—एवं तर्हीति। अवश्यं हि निरवयवपरमाण्वाकाशसंयोगस्य तदवयवसंयोगजन्यत्वासंभवात् द्व्यणुकारम्भकपरमाणुसंयोगजनकपरमाणुकर्मजनितत्वं वक्तव्यम्। तदेव मम प्रतिबन्दीस्थलमस्त्विति भावः। अनिष्टान्तरं चाह—अपि चेति। शक्यते हि तत्रापि वक्तुम्, न वंशदलयोर्विभागाद्वंशदलाकाशयोर्विभागः। किंतु वंशदलावयवाकाशयोर्विभागादिति, तस्य च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टं स्यादिति भावः। तदेवं कर्मजन्यत्वसंभवात्परिशेषासिद्धिमुपसंहरति—तस्मादिति। यस्तु विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तं प्रशिथिलमूलयति—न चेति। यथा कर्मैकहेतुत्वेऽपि संयोगविभागयोः परस्परं वैषम्यम्, तथेहापीत्यर्थः। एतेन कार्यविरोधात्कारणविरोधोन्नयनमपि किरणावलीयं निरस्तम्। विरुद्धयोरेव संयोगविभागयोरेककर्मजन्यत्वात् प्रासङ्गिकस्यास्य विचारस्य प्रकृतोपयोगमाह—तस्मादिति। ननु संख्याऽवृत्तिसंयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमदिति वा संयोगाजन्यसंयोगासमवायिकारणवृत्तिसंयोगत्वासमानाधिकरणजातिमद्वेत्यादीनि शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणानि भविष्यन्तीति तत्राह—व्यञ्जकेति। उक्तलक्षणानि खलु व्यञ्जकानि भवन्ति, तानि च यथायथं दूषितानि, प्रमाणं च प्रत्यक्षं द्रव्यखण्डनावसरे दूषितम्, अन्यच्च न निरूप्यते अतस्तादृशी नास्ति जातिरित्यर्थः।

किंच सामान्यमेव यदा दुर्लक्षम्, तदा दुर्लक्ष्यतराणि तदवान्तरकर्मत्वादिसामान्यानि दुर्लक्ष्यतमानि च तद्गर्भलक्षणानीत्यभिसन्धाय सामान्यखण्डनं प्रस्तावयति—सामान्यस्येति। तत्र किमनुवृत्तज्ञानं

जायगा। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि यदि ऐसा है, तब तो द्व्यणुक-जनक संयोग के असमवायिकारण कर्म से परमाणु और आकाश का संयोग न होगा; क्योंकि परमाणु निरवयव हैं, अतः वहाँ अवयव-संयोग से परमाणु और आकाश का संयोग नहीं हो सकता। एवं वंश-दलावयव और आकाश के विभाग से ही वंश-दल और आकाश का विभाग बन जायगा, दलों के पारस्परिक विभाग में भी आकाश-विभाग की जनकता न रहेगी, तब तो आपका विभागज विभाग सिद्ध न हो सकेगा। असमवायिकारण के बिना कोई कार्य होता नहीं, इसलिए वंश-दल और आकाश के विभाग की असमवायिकारण वंश-दलगत क्रिया ही होती है; परिशेषानुमान से विभाग में विभाग की जनकता सिद्ध नहीं होती। यह जो कहा था कि एक ही क्रिया से जन्य होने पर विभागों में वैचित्र्य न रहेगा। वह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि एक ही कर्म से जन्य संयोग और विभाग के समान ही विभागों में भी वैलक्षण्य बन जायगा। अतः विभागज विभाग के सिद्ध न होने से कार्य के लक्षण में विभागज विभाग-व्यावर्तक, विभागाजन्यत्व विशेषण व्यर्थ ही है। जाति-व्यञ्जक प्रमाणों का निराकरणकर देने से ही 'कर्मत्व' जाति भी सिद्ध नहीं होती, अतः "कर्मत्वजातियोगित्वं कर्मत्वम्"—यह लक्षण भी परास्त हो जाता है।

सामान्य का ही जब लक्षण नहीं बनता, तब सामान्य-घटित समस्त लक्षण खण्डित हो जाते हैं।

तथाहि किमिदं सामान्यम ? किमनुवृत्तप्रत्ययकारणम् ? उतानुवृत्तप्रत्ययप्रमाणकम् ? अथवानुवृत्तत्त्वम् ? आहोस्विन्नित्यत्वे सत्यनुवृत्तत्वम् ? अथवा नित्यमेकमनेकसमवेतम् ? तत्र—

अतिव्याप्त्या निराकुर्यादाद्यं पक्षचतुष्टयम् ।
अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्त्यं प्रतिक्षिपेत् ॥ १० ॥

न तावदाद्यः ; सामग्र्यां तदेकदेशेषु चातिव्याप्तेः, तेषामपि तत्प्रत्ययकारणत्वात् । नापि द्वितीयः ; अनुवृत्तप्रत्ययस्य स्वकारणानुमापकतया कारणस्यापि तत्प्रमाणकत्वादतिव्याप्तेः ; न तृतीयः ; अनुवृत्तप्रत्ययस्य संयोगादिष्वपि भावात् ; नापि चतुर्थः ; नित्येष्वनेककार्यवृत्तिषु परमाणुषु व्यभिचारात् । नापि पञ्चमः ; विकल्पासहत्वात् । तथाहि – किमनेकत्वसंख्याविशिष्टेषु समवेतत्वमनेकसमवेतत्वम् ? उताश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वम् ? आहोस्वित्स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वम् ? न प्रथमः ; गुणकर्मवृत्तिसामान्येष्वव्याप्तेः, अद्रव्यत्वेन गुणकर्मणोः संख्यानधिकरणत्वात् । नापि द्वितीयः ; अन्त्यैर्विशेषैः

प्रति कारणं सामान्यम् ? तज्ज्ञानेन प्रमीयमाणं वा ? अनुवृत्तं वा ? नित्यत्वे सत्यनुवृत्तं वा ? नित्यमेकमनेकसमवेतं वा ? इति विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना** । असमवेतस्यापि समवायवदनुवृत्तिसंभवान्न चतुर्थपञ्चमपौनरुक्त्यम् । तत्र, तेषु मध्ये, इत्युत्तरश्लोकस्योपकारः । पक्षचतुष्टयेऽप्यतिव्याप्तिं दर्शयन्पूर्वार्धं व्याचष्टे—**न तावदित्यादिना** । तदेकदेशा धर्मादयः । इदं चासाधारणसाधारणकारणविवक्षयोर्यथायथमुत्तरम् । न च विषयतया कारणमिति विशेषणीयम् ; गौरिति विशिष्टव्यवहारे व्यक्तेरपि तथात्वापातात् । **नापि द्वितीय इति** । यथानुवृत्तप्रत्ययः कारणतया सामान्यमनुमापयति, एवं सामग्रीं तदेकदेशांश्चेति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । **न तृतीय इति** । अनेकवृत्तिर्ह्यनुवृत्तिः, सा च संयोगविभागद्वित्वादिष्वप्यस्तीति तेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः । **अनेककार्यवृत्तिष्विति** । संयोगिनामपि वृत्तिरस्त्येव, इतरथा—कुण्डेषु बदराणां वृत्त्यभावप्रसङ्गादिति भावः । समवायेऽप्यतिव्याप्तिः । असंबन्धत्वविशेषणेऽपि पूर्वमुत्तरम् । नन्वस्तु पञ्चमस्तथा च नातिव्याप्तिः । समवेतशब्देन परमाण्वाकाशादिव्यावृत्तेर्नित्यपदेनैव संयोगादेरिति । तथाच श्रीवल्लभः—"नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमिति । एकपदेन चान्त्यविशेषव्यावृत्तेः"इति । तत्राह—नापीति । दूषणपरतयोत्तरार्धं योजयति—**किमनेकत्वेत्यादिना** । अनेकत्वसंख्या द्वित्वादिसंख्या । **स्वाश्रयेति** । स्वस्य सामान्यस्य य आश्रयस्तत्प्रतियोगिकान्योन्याभाववान् यस्तस्मिन्समवेतत्वम् । एवं ह्यनेकाश्रयत्वमुक्तं भवति ; तस्यैव तस्मादन्यत्वायोगादित्यर्थः । अनेकत्वसंख्याविशिष्टे समवेतत्वमनेकसमवेतत्वमित्ययुक्तम् , गुणत्वकर्मत्वतदवान्तरजातिषु तद्गर्भलक्षणस्याव्याप्तेरित्याह—**न प्रथम इत्यादिना** । तत्र हेतुः—**अद्रव्यत्वेनेति** । अन्त्यैर्विशेषैरितीदं ह्यन्त्यविशेषाणामपार्थिवपरमाणुविशेषगुणानामीश्वरज्ञाना-

---

जिज्ञासा होती है कि यह सामान्य क्या है ? क्या (१) अनुगत प्रतीति-कारण ? या (२) अनुगत-प्रतीति से प्रमाणित, या (३) अनुवृत्तधर्म ? या (४) नित्यत्व-युक्त अनुवृत्त धर्म ? या (५) अनेकसमवेत नित्यधर्म ? इनमें आरम्भ के चार पक्षों का अतिव्याप्ति दोष से और पञ्चम पक्ष का अनेकत्व की अनिरुक्ति से निराकरण कर देना चाहिए ।' अर्थात् प्रथम (अनुगत प्रतीति की कारणता) लक्षण सामग्री एवं धर्मादि प्रत्येक में अतिव्याप्त है । अनुगत प्रतीति, अपनेकारण की भी अनुमापक है, अतः उसके कारण में द्वितीय लक्षण (अनुगत प्रतीति-प्रमाणकत्व) अतिव्याप्त है । तृतीय (अनुवृत्तत्व) संयोगादि में अतिव्याप्त है । चतुर्थ अनेक कार्य-वृत्ति, नित्य परमाणुओं में अतिव्याप्त है । पञ्चम लक्षण (नित्यमनेकसमवेतम्) में जिज्ञासा होती है कि अनेकसमवेतत्व का क्या अर्थ है ? क्या अनेकत्व संख्या-विशिष्ट-समवेतत्व ? या आश्रयप्रतियोगिक भेद-विशिष्ट-समवेतत्व ? या स्वाश्रयप्रतियोगिकभेद-विशिष्ट-समवेतत्व ? प्रथम पक्ष मानने पर गुण कर्म-वृत्ति जाति में अव्याप्ति होती है ; क्योंकि द्रव्य न होने के कारण गुण और कर्म, संख्या के अधिकरण नहीं

परमाणुरूपैश्च व्यभिचारात्, तेषामपि यत्किंचिदाश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वात्। न तृतीयः; स्वशब्देन जातिविवक्षायामात्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। नित्यत्वं च स्वप्रच्युत्यनुपलक्षितसत्तायोगित्वम्? प्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं वा? स्वप्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं वा? न प्रथमः; जातेर्जात्यनधिकरणत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वात्। न द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। किं तत्प्रतियोगित्वं यदनधिकरणत्वं नित्यतामभिदधासि? किं तन्निरूपकत्वम्? उत तेन सहानवस्थितत्वम्? नाद्यः; जातेर्ध्वंसोऽन्य इत्यत्र जातेरपि ध्वंसनिरूपकत्वात्। न द्वितीयः; सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्वानां घटध्वंसेन सह पृथिव्यामनवस्थानात्। नापि

दीनां नित्यद्रव्यसमवेतैकत्वसंख्यापृथक्त्वपरिमाणानामुपलक्षणम्। तेषां नित्यत्वात्तदाश्रयाणां च यत्किंचिदाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वादतोतिव्याप्तिस्तेष्वित्यर्थः। **स्वशब्देनेति**। स्वाश्रयेत्यत्र स्वशब्देन यत्किंचिद्विवक्षायां पूर्वोक्तदोषः, जातिविवक्षायां तेनैव तल्लक्षणादात्माश्रयः, पूर्वोक्तातिव्याप्तिश्च। तेषामपि सामान्याश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वादिति भावः। एवमनेकसमवेतत्वानिरुक्त्या लक्षणं दूषयित्वा नित्यत्वानिरुक्त्यापि तद् दूषयति—**नित्यत्वं चेति**। इदमपि श्लोकस्थचशब्देनासूचि। प्रच्युतिर्विनाशः, तेनानुपलक्षितसत्तायुक्तत्वं सत्तायामसंभवि, निःसामान्यत्वात् सामान्यस्येति प्रथमं पक्षं दूषयति—**न प्रथम इति**। आत्मादिष्वव्याप्तिः; तत्र वर्तमानसत्ताया अपि घटादिप्रच्युत्युपलक्षितत्वात्। एतेन स्वरूपसत्ताविवक्षापि प्रतिक्षिप्ता, प्रमेयत्वरूपस्य तस्यानुवृत्तस्य तथात्वात्, इतरस्य च व्यावृत्तस्यानुगतनित्यशब्दार्थत्वायोगात्। स्वप्रच्युतीतिविशेषणे चात्माश्रयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम्। प्रतियोगित्वविकल्पस्य प्रकृतोपयोगित्वमाह—**यदनधिकरणत्वमिति**। किं प्रध्वंसनिरूपकत्वम्? किं वा प्रध्वंससहानवस्थितत्वमित्यर्थः? आद्ये तत्प्रतियोगित्वानधिकरणत्वं प्रध्वंसानिरूपकत्वमिति यावत्, तच्चासिद्धमित्याह—**नाद्यो जातेरिति**। ध्वंसोऽन्य इत्यत्र कस्मादन्यत्वम्? इत्यपेक्षायां जातेरिति जातिर्निरूपिकेत्यर्थः। नचान्यत्वं प्रत्येव तदिति वाच्यम्। सतो घटस्य ध्वंस इत्यादौ विशेषणतया तस्यापि तथात्वात्, स्वरूपभेदवादिनां तस्यापि भावाच्चेति। द्वितीयेपि ध्वंसासामानाधिकरण्यस्य तत्प्रतियोगित्वे तदनधिकरणत्वं नाम ध्वंसासमानाधिकरणत्वानधिकरणत्वं वक्तव्यम्। नचैतदित्याह—**न द्वितीय इति**। यद्यपि कपाले सामानाधिकरण्यमस्ति, तथापि तन्त्वादिरूपपृथिव्यादौ तदभावादसमानाधिकरणत्वानधिकरणत्वं नास्तीत्यर्थः। स्वध्वंसेनेति तु तृतीयपक्षदूषणेनैव दूषयिष्यते। यत्किञ्चित्प्रध्वंसाप्रतियोगित्वं संयोगादेरप्यस्तीति तत्र लक्षणस्यातिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम्। स्वध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं नित्यत्वमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापीति**। ननु ब्रह्मणो

हो सकते। द्वितीय पक्ष मानने पर अन्तिम व्यावर्तक विशेष पदार्थों में तथा परमाणुगत रूप में अतिव्याप्त है; क्योंकि विशेषादि भी गुणादिप्रतियोगिक भेद के आश्रय परमाणुओं में समवेत हैं। तृतीय पक्ष में आत्माश्रय है; क्योंकि यहाँ 'स्व' पद से जाति ही विवक्षित है, अतः जाति के लक्षण में जाति का प्रवेश हो जाता है। लक्षण में प्रविष्ट नित्यत्व भी क्या है? स्वनाशोपलक्षित सत्ता भिन्न सत्ता की अधिकरणता? या ध्वंस-प्रतियोगित्व की अनधिकरणता? या स्व-ध्वंस-प्रतियोगित्व की अनधिकरणता? प्रथम पक्ष में असम्भव दोष हो जाता है; क्योंकि सत्ता की अधिकरणता जाति में होती ही नहीं। द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि वह प्रतियोगित्व क्या है? जिसकी अनधिकरणता, नित्यत्व की नियामिका है? क्या ध्वंस-निरूपकत्व? या ध्वंस के साथ अनवस्थितत्व? प्रथम पक्ष में असम्भव दोष होता है; क्योंकि (जैसे 'घटस्य ध्वंसः'—यहाँ ध्वंस की निरूपकता घट में है, वैसे ही) 'जातेरन्यो ध्वंसः'—यहाँ पर अन्यपदार्थ ध्वंस की निरूपकता जाति में रह जाने से, उस निरूपकत्व की अनधिकरणता वहाँ कैसे रहेगी? द्वितीय पक्ष में भी असम्भव दोष है; क्योंकि (जैसे ध्वंस के साथ अनवस्थित होने के कारण घट में ध्वंस की प्रतियोगिता मानी जाती है, वैसे ही) तन्त्वादि में सत्ता,

तृतीयः; जातिप्रध्वंसस्यैवाप्रसिद्धतया तत्प्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धेः। ननु ब्रह्मणि तवापि नित्यत्वं सिद्धं तत्किं जातावपलपसि? मैवम्; ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्वधर्मानधिकरणत्वात्। कथं तर्हि तद्व्यपदेश इति चेत्; विनाशस्य दुर्निरूपत्वादिति ब्रूमः। ननु घटादेरपि विनाशो दुर्निरूपः, सत्यम्; स्वरूपेण परमार्थस्य तदनिरूपणे नित्यत्वव्यपदेशात्, घटादेश्चातथात्वात्। त्वं पुनः सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्वं बुद्धिलक्षणत्त्वमित्यादिभाष्यदर्शनान्नित्यत्वं साधर्म्यमिच्छसि।

अस्तु तर्हि मनस्त्वात्मत्वातिरिक्तनित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सति समवेतं सत्तानाश्रयः सामान्यमिति सामान्यलक्षणमिति चेत्, न; यतः—

निर्धर्मकतया नित्यत्वं नास्तीति वक्तुमयुक्तम्, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, नित्यं विभुं सर्वगतं च' इत्यादिश्रुतिविरोधादिति शङ्कते—कथं तर्हीति। नात्र नित्यत्वं नाम धर्मो विवक्षितः, अद्वैतश्रुतिविरोधात्, किंतु दुर्निरूपविनाशत्वादिति परिहरति—विनाशस्येति। ननु ब्रह्मव्यतिरिक्तानिर्वाच्यत्ववादिनो घटादेरपि विनाशो दुर्निरूप इत्याशङ्क्य परिहरति—सत्यम्; स्वरूपेणेति। यथाहि-रज्जुसर्पादेर्नाशो दुर्निरूपः। नचैतावता तेषु नित्यत्वव्यपदेशस्तत्कस्य हेतोः? धर्मिणो दुर्निरूपत्वात्तथा वियदादेरपि, ब्रह्मणस्तु स्वरूपेणापि परमार्थत्वात् स्वरूपेण परमार्थत्वे सति दुर्निरूपविनाशत्वलक्षणनित्यत्वसंभवान्नित्यत्वव्यपदेश इत्यर्थः। नन्वस्मन्मतेऽपीदमेव नित्यत्वं सामान्यस्य भवत्विति तत्राह—त्वं पुनरिति। तथाहि—"सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषत्त्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्वंच" इति प्रशस्तपादभाष्यम्। तत्र च स्वात्मसत्त्वं स्वरूपसत्त्वम्। बुद्धिलक्षणत्वं बुद्धिभिर्ह्येतानि लक्ष्यन्ते। अनुवृत्तप्रत्ययकारणं सामान्यम्। अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवोऽन्त्या विशेषाः। इह प्रत्ययहेतुः समवायः। अकारणत्वं चानात्मगुणकार्यं प्रति, तत्र च नित्यत्वं साधर्म्यमभिप्रेतम्। साधर्म्यं समानो धर्म इत्यर्थः। एतेन नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतमिति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि निरस्तम्।

शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्भावयति—अस्तु तर्हीति। सत्तानाश्रयः सामान्यमित्युक्ते अभावसम-

---

द्रव्यत्व, पृथिवीत्वादि भी कपाल-वृत्ति घट-ध्वंस के साथ सहावस्थायी नहीं, अपितु सहानवस्थित हैं, अतः घट-ध्वंस की प्रतियोगिता ही सत्तादि में रह जाती है, उसकी अनधिकरणता नहीं। तृतीय (स्वप्रध्वंसप्रतियोगित्वानधिकरणत्वं नित्यत्वम्) पक्ष में भी असम्भव दोष है; क्योंकि जिसमें लक्षण घटाना होता है, उसे ही 'स्वपद' से पकड़ा जाता हैं। यहाँ जाति को 'स्व' पद से नहीं पकड़ सकते, उसका ध्वंस ही अप्रसिद्ध है, फिर उसकी प्रतियोगिता कैसे प्रसिद्ध होगी? और कैसे प्रतियोगिता की अनधिकरणता? 'आप के ब्रह्म में जब नित्यत्व सिद्ध है, तब हमारी जाति में उसे क्यों नहीं टिकने देते'—यह मत कहिए; क्योंकि हम अपने निर्धर्मक ब्रह्म में 'नित्यत्व' धर्म कैसे मान सकते हैं? तब ब्रह्म में नित्यत्व-व्यवहार कैसे होता है? ब्रह्म के विनाश का निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म में नित्यत्व का व्यवहार होता है। 'इस प्रकार तो घटादि को भी नित्य मानना होगा; क्योंकि उमके ध्वंस का भी निरूपण नहीं हो सकता'—यह आपका कहना ठीक है; किन्तु जिस स्वरूपतः परमार्थ सत्य वस्तु के ध्वंस का निरूपण न हो सके, उसे ही हम नित्य मानते हैं, घटादि स्वरूपतः परमार्थ सत्य नहीं। आप इस प्रकार का नित्यत्व मान नहीं सकते; क्योंकि आप के पूज्यचरण प्रशस्तपाद कह गये हैं—"सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्वं बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषवत्वं नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्वं चेति" (सामान्य, विशेष, समवाय—तीनों का साधर्म्य है—सत्ता-विरहित्व, बुद्धिमात्रप्रमाणकत्व, अनादित्व, आत्मावृत्ति कार्य का अकारणत्व, अपरसामान्यशून्यत्व, नित्यत्व, 'अर्थ' पदानभिधेयत्व—वै० भा० पृ० ६)।

'मनस्त्व और आत्मत्व से भिन्न जो नित्यमात्र-समवेत धर्म, उससे अतिरिक्त समवेत एवं सत्ता-

जातेरद्याप्यसिद्धेश्च सत्तादेरप्यसिद्धितः ।
तदनाश्रयतान्यत्वलक्षणेऽन्योऽन्यसंश्रयः ॥११॥

जातिमात्रलक्षणसिद्धौ सत्तात्मत्वमनस्त्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ चात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति सत्तानाश्रयः इति लक्षणविशेषणसिद्धिरिति परस्पराश्रयता । तथाहि—घटवृत्तिवृत्तित्वे सत्यात्मवृत्तिर्जातिः सत्तेति परैरभ्युपेयते, न धर्ममात्रं भावमात्रं वा । धर्ममात्रत्वे घटवृत्तिरूपादेरात्मनश्चान्योन्याभावेऽतिव्याप्तेः । भावमात्रत्वे वाऽपरजातिमत्त्वलक्षणे धर्मे गुणकर्मणोरात्मनि च वर्तमानेऽतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात्, अतः परिशेषादेवंविशेषिता जातिः सत्तेति वाच्यम्, तथासति

वाययोरतिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं समवेतमित्युक्तम् । तावति चान्त्यविशेषेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सतीत्युक्तम् । एवंचात्मत्वमनस्त्वयोरव्याप्तिस्तयोर्नित्यमात्रसमवेतत्वात् । अत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति, आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तं यन्नित्यमात्रसमवेतं तदन्यत्वे सतीत्यर्थः । द्रव्यगुणकर्मव्यावर्तनाय सत्तानाश्रय इत्युक्तम् । जातिरेव तावदद्यापि न सिद्धा, अत एव तद्विशेषसत्तात्मत्वमनस्त्वानामप्यसिद्धिस्ततश्च सत्तानाश्रयत्वेनात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वेन च सामान्यलक्षणेऽन्योन्याश्रयः स्यादिति संग्रहश्लोकार्थः । अन्योऽन्यसंश्रयं विशदयति—**जातिमात्रेति** । ननु यद्यपि सत्तादिनां जातिभेदत्वम्, तथापि न तेषां सामान्यज्ञानाधीननिरूपणमतो नान्योन्याश्रयतेति, तत्राह—**तथाहीति** । जातिः सत्तेत्युक्ते गुणत्वादावतिव्याप्तिरत उक्तमात्मवृत्तोति । तथाप्यात्मत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तोत्युक्तम्, तथापि द्रव्यत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं घटवृत्तिवृत्तीत्युक्तम् । घटवर्त्तिनी ये गुणकर्मणी तद्वृत्तीत्यर्थः । ननु घटवृत्तिवृत्तिरात्मवृत्तिभावः सत्ता, अथवा तथाविधो धर्मविशेषः कश्चिदिति सत्तालक्षणमस्तु, न जातिविशेषणं युक्तम्, येनान्योऽन्याश्रयता स्यादिति, तत्राह—**न धर्ममात्रमिति** । **घटवृत्तीति** । रूपादेरात्मनश्च यो धर्मभूतो घटान्योन्याभावस्तत्रैतल्लक्षणमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । भावमात्रत्वे दूषणमाह—**भावेति** । अस्ति हि गुणकर्मणोरात्मनश्चापरजातिमत्त्वं धर्मः, स च भावरूपोऽप्रतिषेधात्मकत्वात्, इतरथातिप्रसङ्गात् । किञ्च विशिष्टरूपमिदम्, विशिष्टं च विशेषणविशेष्यतत्संबन्धात्मकम्, नच तेषां नियमेनाभावत्वमिति कथमीदृशानामभावान्तर्भावः ? यथाह—

'विशेषणं विशेष्यं च तत्संबन्धफलार्पकम् ।
ज्ञानरूपं स्वसामर्थ्याद्वैशिष्ट्यमिति कीर्त्यते ॥' इति ॥ (न्या० ली० पृ० ७०)

नाश्रय धर्म को सामान्य मानने में कोई दोष नहीं'—यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि अभी तक जाति ही सिद्ध नहीं हुई, तब सत्तादि की सिद्धि कहाँ से होगी ? सामान्य के लक्षण में सत्तानाश्रयत्व एवं आत्मत्व, मनस्त्वातिरिक्तत्व का निवेश होने से अन्योऽन्याश्रयता भी है । अर्थात् जाति सामान्य की सिद्धि होने पर जाति विशेष सत्ता, आत्मत्व, मनस्त्व की सिद्धि और सत्ता, आत्मत्व, मनस्त्व की सिद्धि हो जाने पर तदतिरिक्तत्व, सत्तानाश्रयत्व रूपविशेषण की सिद्धि होगी—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयता होती है ; क्योंकि वैशेषिकादि, घट-वृत्ति गुणादि में रहती हुई आत्म-वृत्ति जाति को ही 'सत्ता' मानते हैं, न कि धर्ममात्र या भावमात्र को । धर्ममात्र को जाति मानने पर (अर्थात् घटवृत्तिवृत्तित्वे सति, आत्मवृत्तिर्धर्मः सत्ता—यह सत्ता का लक्षण मानने पर) घट-वृत्ति गुणादि और आत्मा के अन्योऽन्याभाव में अतिव्याप्ति होती है (अतः धर्ममात्र न कहकर जाति कहना होगा । जाति न होने से अन्योऽन्याभाव की व्यावृत्ति हो जाती है) । इसी प्रकार भावमात्र को सत्ता मानने पर गुण, कर्म और आत्मा में विद्यमान व्याप्यजातिमत्त्वरूप भाव में अतिव्याप्ति होती है, अतः परिशेष से यही मानना होगा कि घट-वृत्ति-वृत्तित्वादि विशेषण-विशिष्ट जाति को ही सत्ता कहते हैं । तब तो अन्योन्याश्रय क्यों न होगा ? उसी प्रकार आत्मत्व, मनस्त्वातिरिक्तत्व विशेषण में भी अन्योऽन्याश्रय

कथं नान्योन्याश्रयता ? तथात्मत्वमनस्त्वलक्षणे च ? तथाहि—घटावृत्तित्वे सत्यात्मनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिरात्मत्वम्, एवमाकाशावृत्तित्वे सति मनोनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिमनस्त्वम्, न तु धर्ममात्रं भावमात्रं वा। तदुभयनिष्ठान्योऽन्याभावे बहुत्वसंख्यायां च व्यभिचारात्। तथा न तदतिरिक्तत्वलक्षणे कथं न प्राचीनदोषानुषङ्गः ? कथं च सत्सदित्यबाधितप्रत्यये सति सत्ताया गोत्वादावभावः ? न चैकार्थसमवायात्सदिति प्रत्ययः; गुणकर्मणोरपि तथोपपत्तौ सत्ताऽभावप्रसङ्गात्। सत्तासमवाययोः सदिति व्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च। विवादाध्यासितं सत्तारहितमपरजातिरहितत्वात् सत्तावदिति बाधकमिति चेत्, मैवम्; सद्गोत्वं सदश्वत्वमित्यादिप्रत्यक्षविरोधे कालात्ययापदिष्टत्वात्, अन्यथा गुणकर्मणी सत्तारहिते अद्रव्यत्वात्सत्तावदित्यपि स्यात्। अथ तत्रानुभवविरोधः, स न प्रकृतेऽपि दण्डवा-

ततश्च तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः। आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेत्यंशेऽप्यन्योन्याश्रयमाह—**तथात्मत्वेति**। तयोरपि जातिगर्भत्वाल्लक्षणस्येत्याह—**तथाहीति**। सत्ताद्रव्यत्वयोरतिव्याप्तिपरिहाराय घटावृत्तीत्युक्तम्। उदकत्वगुणत्वाद्यतिव्याप्तिवारणायात्मनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनीत्युक्तम्। मनस्त्वलक्षणमाह—**एवमिति**। अत्रापि सत्ताद्रव्यत्वाद्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमाकाशावृत्तीत्युक्तम्। घटत्वादिष्वतिव्याप्तिपरिहाराय मनोनिष्ठेत्यादिविशेषणम्। यदि हि धर्ममात्रमात्मत्वमनस्त्वे स्याताम्, तदा तदुभयनिष्ठावात्ममनोनिष्ठौ यावन्योन्याभावौ आत्मनि घटान्योऽन्याभावो मनसि चाकाशान्योन्याभावस्तयोरतिव्याप्ती स्याताम्। अथ भावमात्रम्, तदात्मवृत्तिज्ञाने मनोनिष्ठबहुत्वसंख्यायां चातिव्याप्ती स्यातामित्यर्थः। बहुत्वसंख्याग्रहणं ज्ञानादेरप्युपलक्षणम्। प्राचीनदोषोऽन्योऽन्याश्रयः। सत्तानाश्रय इति विशेषणं सत्ताव्यतिरिक्तगोत्वादिष्वसिद्धम्, गोत्वं सद्द्रव्यत्वं सदित्यबाधितानुवृत्तप्रत्ययवशात्तेषामपि सत्ताश्रयत्वप्रतीतेरित्याह—**कथं च सत्सदिति**। ननु गोत्वादिषु सदिति प्रत्ययो न सत्तानिमित्तः, किंतु सत्तया सहैकस्मिन्नर्थे गवादौ समवायादिति, तत्राह—**न चैकार्थेति**। गुणकर्मणोरपि द्रव्ये तदेकार्थसमवायात्तदुपपत्त्या सत्ताऽभावः प्रसज्येत, एवमवयविष्वपीति भावः। किंच यदि सत्तैकार्थसमवायात्तत्र सदिति व्यवहारस्तर्हि सत्तायाः सत्तान्तराभावेन समवायस्य चासमवायित्वेन सत्तैकार्थसमवायो नास्तीति सद्बुद्धिस्तत्र न स्यादित्याह—**सत्तासमवाययोरिति**।

होता है; क्योंकि घटावृत्ति, आत्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव की अप्रतियोगिनी, जाति को आत्मत्व और आकाशावृत्ति, मनोनिष्ठ अत्यन्ताभाव की अप्रतियोगिनी जाति को मनस्त्व माना जाता है; केवल धर्ममात्र या जातिमात्र को नहीं। अन्यथा धर्ममात्र पक्ष में आत्मनिष्ठ घटान्योऽन्याभाव और मनोनिष्ठ आकाशान्योऽन्याभाव में अतिव्याप्ति होगी, एवं भावमात्र पक्ष में आत्मादि-वृत्ति बहुत्व संख्या में अतिव्याप्ति होगी। अतः सत्ता के लक्षण में जाति-घटित लक्षण वाले आत्मत्व, मनस्त्व के भेद का निवेश करने पर वही पुराना अन्योन्याश्रय दोष क्यों न होगा ? गोत्वादि में भी 'गोत्वं सत्'—इस प्रकार की अबाधित प्रतीति जब होती है, तब गोत्वादि में भी सत्ता की अनाश्रयता क्योंकर रहेगी ? गोत्वादि में एकार्थसमवाय से (एक ही गोरूप अर्थ में सत्ता और गोत्व–दोनों का समवाय है, अतः स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से) प्रतीति मानने पर गुण, कर्मादि में भी परम्परया सत्ता की प्रतीति बन जायगी, वहाँ भी सत्ता का अभाव हो जायगा। दूसरी बात यह भी है कि उस परम्परा-सम्बन्ध से भी सत्ता और समवाय में 'सत्' प्रतीति कैसे होगी ? (क्योंकि सत्ता के आधार में अन्य कोई सत्ता नहीं रहती और समवाय अपने आधार में समवेत नहीं होता)। यदि कहा जाय कि "विवादास्पद (गोत्वादि) सत्ता-रहित है, अपर जाति-रहित होने से, जैसे–सत्ता"–यह अनुमान गोत्वादि में सत्ता का बाधक है। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि 'गोत्वं सत्'–इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव से उक्त अनुमान बाधित है। अन्यथा "गुण कर्म, सत्ता-रहित हैं, अद्रव्य होने से, जैसे–सत्ता"—इस अनुमान से गुणादि में भी सत्ता का बाध हो जायगा। यदि वहाँ अनुभव का विरोध है, तो वह

रितः। तस्मादसंभवित्वात्सत्तानाश्रय इत्यलक्षणमेतत्।

विशेषलक्षणमपि दुर्निरूपम्। तथाहि—'नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषाः' इति न लक्षणम्, यतः—

नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वमयोगपरिहारतः।
न लक्षणमतिव्याप्तेस्तत्रात्मत्वमनस्त्वयोः ॥१२॥

आत्मत्वं मनस्त्वं च नित्यद्रव्येष्वेव वर्तत एवेति तयोरतिव्याप्तिः। न नु कालाकाशादिषु नित्यान्तरेष्वसत्वान्न तत्सर्वत्र नित्येषु वर्तते विशेषास्तु नैवम्, वर्तन्त एवेति नियमादिति चेत्, न; प्रतिविशेषमव्याप्तेः, सर्वेषां सर्वत्राभावात्। यज्जातीयमेवं स विशेष इति लक्षणार्थ इति चेत्,

---

किंच सत्तायामेवाव्याप्तिः, तस्याः सत्ताश्रयत्वात्। नचात्माश्रयान्योन्याश्रयानवस्थाः; उत्पत्तिज्ञस्यप्रतिबन्धकतया प्रमेयत्वादाविव भवन्मते दूषणत्वाभावादिति। विवादाध्यासितमिति गोत्वं विवक्षितम् जातिरहितत्वादित्युक्ते साध्याविशिष्टता तदर्थमपरग्रहणम्। नहि द्रव्यत्वादिषु द्रव्यत्वादिकमस्तीति तेऽपि मतमिति भावः। यदि प्रतीतावनादरस्तर्हि गुणादावपि न जातिसिद्धिरुक्तानुमानस्य तत्रापि प्रचारादित्याह—अन्यथेति। शिवादित्यमिश्रलक्षणमुपसहरति—तस्मादिति।

कन्दलीकारोक्तलक्षणमनुवदति—नित्येष्वेवेति। द्रव्येषु ये वर्तन्ते ते विशेषा इत्युक्तेऽभावसामान्यसमवायेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं द्रव्येष्वेवेत्युक्तम्। तथापि गुणकर्मणोः प्रागभावप्रध्वंसयोश्चातिव्याप्तिस्तदर्थं नित्येष्वेवेत्युक्तम्। तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोर्नित्यद्रव्यगतगुणविशेषेषु चातिव्याप्तिरत उक्तं वर्तन्त एवेति। अनेन कदाचिद्वृत्तिः क्वचिद्वृत्तिश्च व्यावर्त्यते। तेन नित्यद्रव्ये कादाचित्कक्काचित्कानां ज्ञानादीनामकादाचित्कानामपि क्काचित्कानां मनस्त्वादीनां व्यवच्छेदः, तेषां कालतो देशतश्चावृत्तेरपि विद्यमानत्वाद्वर्तत एवेत्ययमंशो न संभवतीति भावः। तदलक्षणमित्युक्तम्, तत्र दूषणं श्लोकेन संगृह्णाति—नित्यद्रव्येति। यदिदं वर्तत एवेत्ययोगपरिहारतो नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वं लक्षणमुक्तम्, तन्न लक्षणम्। कुतः ? त्वन्मते आत्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तेरिति श्लोकयोजना। अद्वैतवादिनो मनसो नित्यत्वं नास्ति, नाप्यात्मत्वं जातिरित्यत उक्तं तवेति। संग्रहं विवृणोति—आत्मत्वमिति। पूर्ववादी हृदयं शङ्कते—ननु कालेति। तर्हि सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वं किमेकैकविशेषलक्षणम् ? किं वा संभूयमानानाम् ? नान्त्यः, अनुगतलक्षणायोगात्। प्रथमे प्राह—प्रतिविशेषमिति। नन्वन्त्य एव पक्षः, नचानुगतलक्षणासिद्धिः, अयोगान्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यावृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यवृत्तिजातिमत्त्वमिति लक्षणादिति शङ्कते—यज्जाती-

---

प्रकृत में भी लाठी से भगाया नहीं जा सकता। इस लिए सत्तानाश्रय—यह लक्षण असम्भव है।

'विशेष' पदार्थ के लक्षण का भी निरूपण कठिन है। "नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः"—इस भाष्य के व्याख्यान में कन्दलीकार ने जो कहा है—"नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषाः"—(न्या. कं. पृ. १३)। वह लक्षण उचित नहीं। अर्थात् 'वर्तते'—इतना ही कहने से कादाचित्क रहना पाया जाता है, कदाचित् नित्यद्रव्यों से 'विशेष' का अयोग भी हो सकता है। इस अयोग की व्यावृत्ति के लिए कहा गया—'वर्तते एव'। इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्व नित्य द्रव्यों में ही सदा रहनेवाले पदार्थ को विशेष कहते हैं। यह लक्षण आत्मत्व और मनस्त्व में अतिव्याप्त है; क्योंकि आत्मत्व एवं मनस्त्व नित्यद्रव्य में ही रहते हैं और सदा रहते हैं। यदि कहा जाय कि काल, आकाशादि में न रहने के कारण आत्मत्व और मनस्त्व सर्व नित्य द्रव्य-वृत्ति नहीं, 'विशेष' ऐसे नहीं होते, उनके लिए यह नियम है कि सब नित्य द्रव्यों में वृत्ति ही हों। तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि इस प्रकार का लक्षण प्रत्येक 'विशेष' में अव्याप्त है—सभी विशेष सर्वत्र नहीं रहा करते (अर्थात् 'विशेष' अनन्त होते हैं, एक द्रव्य का विशेष दूसरे में नहीं रहता, अतः प्रत्येक विशेष

न; विशेषत्वजातेरनङ्गीकरणात्। उपाधेर्विवक्षितत्वाददोष इति चेत्, न; तदुपाधिसिद्धौ तदुपजीविनो लक्षणस्य वैयर्थ्यापातात्, असिद्धौ च लक्षणस्य दुरवधारणत्वात्।

एकद्रव्याः स्वभावसन्तो विशेषा इत्यपि न लक्षणम्; एकद्रव्यत्वस्य दुर्निरूपत्वात्। तथाहि-किमिदमेकद्रव्यत्वम्? किमेकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतत्वम्? उताद्विष्ठत्वम्? नाद्यः, द्रव्यनिष्ठसामान्येष्वतिव्याप्तेः, तान्यपि ह्येकत्वसंख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतानि स्वभावसन्ति च, सत्तासामान्यरहितत्वात्। नापि द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। तदपि क्वचिद्वृत्तित्वे सत्यन्यावृत्तित्वम्? उताश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववदवृत्तित्वम्? न प्रथमः; प्राचीनदोषानुषङ्गात्; सामान्यान्यपि हि किंचिन्निष्ठत्वे सति तदन्यावृत्तीनि, सर्वत्रावृत्तेः। अत एव न द्वितीयः; सर्वावृत्तित्वे-

---

यमिति। **अनङ्गीकरणादिति।** सामान्यादीनां त्रयाणामित्युपक्रम्यासामान्यविशेषवत्त्वमिति प्रशस्तपादैः साधर्म्याभिधानात्, अन्त्यविशेषत्वहानेश्च, जातिमत्त्वे ह्यत्यन्तव्यावृत्तत्वं न स्यात्। अत एवाश्रयस्यापि नात्यन्तव्यावर्तकाः स्युः। ननु यज्जातीयमित्यत्र यदुपाधिकमित्युपाधिसामान्यं विवक्षितमित्याशङ्क्य तस्यैवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरहितस्य लक्षणत्वमस्त्ववश्याश्रयणीयत्वात् कृतं तदुपजीविनानेनेति दूषयति—**न तदुपाधिसिद्धाविति।** एतदेव विपक्षे बाधकतर्केण द्रढयति—**असिद्धौ चेति।**

श्रीवल्लभोदयनयोर्लक्षणमनुवदति—**एकद्रव्या इति।** स्वभावसन्तो विशेषाः इत्युक्ते सामान्यसमवाययोरतिव्याप्तिरत उक्तं एकद्रव्या इति। एकमेव द्रव्यम्, आश्रयो येषां नत्ववयविसंयोगादिवदनेकं ते तथोक्ताः। एकद्रव्या इत्येवोक्ते रूपादिगुणकर्मणोरतिव्याप्तिस्तदर्थं स्वभावसन्त इत्युक्तम्। तदेतदेकद्रव्यानिरुक्त्या दूषयति—**किमिदमित्यादिना।** एकत्वसंख्यावति वर्तमानत्वे सति स्वभावसत्त्वं द्रव्यगतसामान्येष्वस्तीत्यतिव्याप्तिरित्याह—**द्रव्यनिष्ठेति।** स्वभावसत्त्वे हेतुः—**सत्तासामान्येति।** सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वमिति भावः—अद्विष्ठत्वमिति कोऽर्थः? क्वचिद्वर्तमानत्वे सति क्वचिद्वर्तमानत्वं द्विष्ठत्वं तदभावोऽद्विष्ठत्वमिति? किंवा स्वाश्रयान्योऽन्याभाववति वर्तमानत्वं द्विष्ठत्वं तदभावोऽद्विष्ठत्वमिति? नाद्यः इत्याह—**न प्रथम इति।** प्राचीनदोषमेवानुषञ्जयति—**सामान्यान्यपि हीति।** सामान्यान्यपि गुणादिषु वर्तमानानि गुणादिष्वेकत्र वृत्तित्वे सति तदन्याभावाद्यवृत्तीनीत्युक्तलक्षणकानीत्यर्थः। अत एवेत्यतिदिष्टं विशदयति—**सर्वावृत्तित्वेनेति।** सामान्यादिष्ववृत्तित्वेन सर्ववृत्तित्वाभावादिति भावः। ननु तादृ-

---

सर्व नित्य द्रव्यों में नहीं रह सकता)। यदि कहना चाहें कि यज्जाति-विशिष्ट पदार्थ सर्व नित्य द्रव्य-वृत्ति होता है, उस जाति वाले पदार्थ को विशेष कहते हैं—यह लक्षण विवक्षित है। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि विशेष में 'विशेषत्व' जाति नहीं मानी जाती—यह गत पृ० २२४ पर कहा जा चुका है। जाति के स्थान पर उपाधि का प्रवेश करने पर उक्त दोष तो हट जाता है, किन्तु यह लक्षण ही व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि 'विशेषत्व' उपाधि मानने पर 'विशेषत्ववत्त्व'—यही लक्षण हो जायगा। 'विशेषत्व' उपाधि के असिद्ध होने पर उपाधि-घटित लक्षण ही नहीं बन सकता।

उदयनाचार्य ने किरणावली (पृ० २५ पर) कहा है—"एतेन एकद्रव्याः स्वरूपसन्त इति लक्षणं सूचितम्" (एकमात्र द्रव्य के आश्रित, सत्ता-रहित पदार्थ विशेष कहा जाता है)। वह लक्षण भी असंगत है; क्योंकि 'एकद्रव्यत्व, का निरूपण ही नहीं हो सकता—एकद्रव्यत्व का क्या अर्थ है? क्या एकत्वसंख्या-विशिष्ट द्रव्य में समवेतत्व? या अद्विष्ठत्व? प्रथम पक्ष मानने पर द्रव्य-वृत्ति जातियों में अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि वे जातियाँ भी एकत्व-विशिष्ट द्रव्य में वृत्ति और स्वभावतः ही सत् हैं, उनमें और कोई सत्ता जाति नहीं मानी जाती। द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि 'अद्विष्ठत्व' का क्या अर्थ है? क्वचिद्वृत्तित्व-विशिष्ट अन्यावृत्तित्व? या स्वाश्रय-भिन्नावृत्तित्व? प्रथम पक्ष मानने पर वही जातियों में अतिव्याप्ति दोष होता है; क्योंकि गुणगत जातियाँ गुण में वृत्ति और

नाश्रयप्रतियोगीकान्योन्याभाववदवृत्तित्वस्यापि सामान्येषु भावात् । स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वं विवक्षितमिति चेत्, न; स्वशब्देन विशेषविवक्षायामात्माश्रयप्रसङ्गात् । एतदात्मवृत्तित्वे सत्येतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इति प्रतिव्यक्तिलक्षणं विवक्षितमिति चेत्, न; अन्योन्याश्रयत्वात् । नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिहेतवो विशेषाः परैरभ्युपगम्यन्ते । ततश्च विशेषसिद्धौ नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिस्तत्सिद्धौ च विशेषाधिगतिरिति कथं नान्योन्याश्रयः ? अन्यत एव चेद्भेदाधिगमस्तदा विशेषाधिगमो व्यर्थः स्यात् ।

आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सति नित्यमात्रसमवेतः सत्तारहितो विशेष इत्यपि न लक्ष-

गवृत्तित्वमात्रमत्र न विवक्षितम्, किंतु स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वम्, न तत्सामान्येष्वस्ति, तेषामनेकवृत्तित्वेनोक्तरूपत्वाभावादिति शङ्कते—स्वाश्रयेति । अत्र स्वशब्देन किं प्रकृतविशेषा गृह्यन्ते ? यत्किंचिद्वा ? द्वितीये त्वसंभवः । प्रथमे विशेषैरेव विशेषलक्षणादात्माश्रयत्वमित्याह—**न स्वशब्देनेति** । एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वासंभवेन यद्दूषणमुक्तम्, तन्निवृत्त्यर्थं प्रतिविशेषं पृथक्लक्षणं शङ्कते—एतदिति । नित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इत्युक्ते व्याहतिः, अस्मिन्नप्यवर्तनप्रसङ्गात्तन्निवृत्त्यर्थं एतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तीत्युक्तम् । तथाप्येतदात्मन्यतिव्याप्तिस्तदर्थमेतदात्मवृत्तित्वे सतीत्युक्तम् । एतदात्मवृत्तिरित्येवोक्तावात्मत्वादिनार्थान्तरता, तदर्थमेतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरित्युक्तम् । अत्र सत्ताराहित्यमप्यवगन्तव्यम् । वृत्तिशब्देन समवायस्य च विवक्षा, इतरथा तन्मात्रवृत्त्यन्योन्याभावादौ सुखादौ चातिव्याप्तिप्रसङ्गात् । अन्योऽन्याश्रयं विवृणोति—नित्येति । तथाहि—अनित्यद्रव्याणामाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेर्न तेषु विशेषसद्भावे प्रमाणम्, गुणकर्मणोरपि स्वाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेः, सामान्यमात्राश्रयत्वाच्च, तेषु न विशेषसिद्धौ किंचिदस्ति प्रमाणम्, नित्यानामपि विभिन्नलक्षणानां पार्थिवाप्यपरमाण्वादीनां पार्थिवत्वादिनैव व्यावृत्तिरित्यतस्तुल्यलक्षणनित्यद्रव्यव्यावृत्तिहेतवो विशेषाः स्वीक्रियन्ते । एवं च सति तादृग्विशेषसिद्धावेतदात्मसिद्धिरेतदात्मज्ञप्तौ च विशेषज्ञप्तिरिति परस्पराश्रयत्वमित्यर्थः । अथानुमानादिप्रमाणान्तरेणैतदात्मादिरूपनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यधिगतिः; तर्हि विशेषकल्पनं मुधा । न च योगिनां प्रत्यक्षतया व्यावृत्त्यधिगत्यर्थं तत्कल्पनम् । पृथक्त्वेनैव तदुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वादित्यभिसन्धिराह—अन्यत एव चेदिति । किंचैतदात्मविशिष्टस्यैतल्लक्षणम् ? उपलक्षितस्य वा ? आद्ये विशेषणासिद्धिः । न ह्येतदात्मविशिष्टस्यैतदात्मवृत्तित्वं संभवति, अंशत आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । द्वितीये त्वसंभवः, एतदात्मोपलक्षितस्याप्येतदात्मवृत्तित्वाभावात्, तत्कस्य हेतोः ? तदपि ह्येतदुपलक्षितत्वविशिष्टं तदुपलक्षितं वा स्यात् । अन्त्येऽनवस्था । आद्ये फलतो विशेषणपक्षान्न विशेष इति ।

शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषयति—आत्मत्वेति । सत्तारहितो विशेष इत्युक्ते समवायाभावयोरति-

गुण से अन्य विशेषादि में अवृत्ति हैं, सर्वत्र नहीं रहतीं । इसी लिए द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि सर्वत्र अवृत्ति होने के कारण स्वाश्रय-भिन्न में जातियाँ नहीं रहतीं । यदि 'स्वाश्रय-भिन्न-निरूपितवृत्तित्व की अनधिकरणता' अर्थ मानें तब यहाँ 'स्व' शब्द से प्रकृत 'विशेष' का ग्रहण करने पर आत्माश्रयदोष होता है । यदि कहा जाय कि प्रत्येक 'विशेष' का पृथक्-पृथक् लक्षण करेंगे, जैसे इस आत्मा में वृत्ति होकर जो 'इससे भिन्न नित्य द्रव्य में वृत्ति न हो, वह इस आत्मा का विशेष कहलाता है । तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अन्योऽन्याश्रय दोष होता है—नित्य द्रव्यों का भेद-ज्ञान करने के लिए वैशेषिक 'विशेष' पदार्थ मानते हैं, अतः विशेष की सिद्धि होने पर नित्य द्रव्यों का भेद-ज्ञान और नित्य द्रव्यों का भेद-ज्ञान हो जाने पर विशेष का ज्ञान । नित्य द्रव्यों का भेद-ज्ञान यदि और किसी अनुमानादि प्रमाण से कर लिया जाय, तब 'विशेष' पदार्थ का मानना ही व्यर्थ हो जाता है ।

"आत्मत्व, मनस्त्व से भिन्न, नित्यमात्रसमवेत, सत्ता-रहित पदार्थ को विशेष कहते हैं"—यह

णम् ; परममहत्त्वसामान्येऽतिव्याप्तेः । अस्ति हीदं परममहदिदं परममहदित्यनुवृत्तप्रत्ययबोध्या परममहत्परिमाणेषु परममहत्त्वं जातिः । न च तत्र व्यञ्जकाभावः, नित्यमहत्परिमाणस्यैव तद्व्यञ्जकत्वात् । तर्हि तेनैव परममहद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था जातिकल्पनेति च न वाच्यम् ; व्यञ्जकमादाय जातिनिरासे गोत्वादेरपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात् । न चैवं परमाणुत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्ग ; तत्र पृथिवीत्वादिना परापरभावस्यानिरूपणात् । यदि पृथिवीत्वं परम्, तर्हि परमाणुत्वस्य पृथिवीत्वाव्यभिचारात्सलिलादिपरमाणुषु परमाणुत्वं न स्यात् । अथापरम्, तर्हि परमाणुत्वस्य परत्वे पृथिवीत्वं परमाणुत्वं न व्यभिचरेदिति सर्वा पृथिवी परमाणुरेव स्यात्, तेन न परमाणुत्वं जातिः, न चैवमत्र बाधकमस्तीति परममहत्त्वजातौ भवेदेवातिव्याप्तिः । नित्यमात्रसमवेतत्वं च किंचिन्नित्यसमवेतत्वम् ? सर्वनित्यसमवेतत्वं वा ? उभयथापि लक्षणस्याव्याप्तिः । सर्वेषां विशेषाणां एकनिष्ठत्वाभावाच्च ।

व्याप्तिस्तदर्थं समवेत इत्युक्तम् । तथापि सामान्येतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रेत्युक्तम् । तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तिरत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सतीति । सत्तारहित इति द्व्यणुकादिव्यवच्छेदः । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**परममहत्त्वेति** । ननु परममहत्त्वं नाम न सामान्यमस्ति, प्रमाणाभावात्, इति तत्राह—**अस्तीति** । अनुवृत्तप्रत्ययस्यासति बाधके जातिविषयत्वमिति हि त्वदङ्गीकारः, स चात्राप्यस्तीत्यर्थः । परममहत्परिमाणं महत्त्वावान्तरजातिमान् महत्परिमाणत्वाद्धस्तवितस्त्यादिपरिमाणवदित्यनुमानादपि तत्सिद्धिरवगन्तव्या । ननु नात्र नियतव्यञ्जकमस्ति, नित्यपरिमाणत्वस्य पारिमाण्डल्यसाधारण्यादिति, तत्राह—**न च तत्रेति** । न नित्यपरिमाणत्वं व्यञ्जकमपि तु नित्यमहत्परिमाणत्वमिति भावः । ननु तर्हि तेनैव व्यञ्जकेनानुवृत्तव्यवहारसिद्धावधिकजातिकल्पना मुधेति तत्राह—**तर्हीति** । आभाससमानयोगक्षेमतामाशङ्क्य परिहरति—**न चैवमिति** । तत्र जातिसङ्करप्रसङ्गो बाधकः, नेह तथास्ति किंचिदित्याह—**तत्रेति** । परापरभावाभावमेव विवृणोति—**यदीति** । पृथिवीत्वस्य परत्वे तन्न्यूनवृत्तेः परमाणुत्वस्य तद्रहितसलिलपरमाणुषु वृत्तिर्न स्यात्, अस्ति च तदित्यर्थः । परमाणुत्वस्य परत्वे दूषणमाह—**अथापरमिति** । परमाणुत्वस्य परत्वेन तन्न्यूनवृत्तेः पृथिवीत्वस्य तद्रहितद्व्यणुकादिषु वृत्तिर्न स्यादित्यर्थः । समुदायदूषणमुक्त्वाऽवयवानिरूपणादपि दूषयति—**नित्यमात्रेति** । एकनित्यवृत्तित्वम् ? सर्वनित्यवृत्तित्वं वा विवक्षितम् ? आद्ये, सर्वविशेषाव्याप्तिः । सर्वविशे-

---

लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं, परममहत्त्वरूप जाति में अतिव्याप्त है । "इदं परममहत्, इदं परममहत्"—इस प्रकार की अनुगत प्रतीति से बोध्य 'परममहत्त्व' जाति परममहत् परिमाणों में सिद्ध है । परममहत्त्व जाति के व्यञ्जक का भी अभाव नहीं, परममहत् परिमाणत्व ही उसका व्यञ्जक है । 'तब तो इस व्यञ्जक से ही परममहद्-व्यवहार बन जायगा, जाति की कल्पना ही व्यर्थ है'—यह सन्देह नहीं करना ; क्योंकि व्यञ्जक के द्वारा जाति का निरास करने पर गोत्वादि का भी निरास हो जायगा, 'इस प्रकार 'परमाणुत्व' जाति भी माननी पड़ेगी'—यह सन्देह भी अनुचित है ; क्योंकि परमाणुत्व जाति मानने में पृथिवीत्वादि से परापर भाव का असम्भव प्रतिबन्धक है । अर्थात् पृथिवीत्व को यदि पर (व्यापक) जाति माना जाय, तब व्याप्य परमाणुत्व जाति, पृथिवीत्व की अव्यभिचरित होने से जलादि-परमाणुओं में न रह सकेगी । यदि पृथिवीत्व को अपर जाति मानें, तो परमाणुत्व को पर मानना होगा ; फिर तो परमाणुत्व से अव्यभिचरित होने के कारण 'पृथिवीत्व' जाति जलादि-परमाणुओं में भी रह जायगी, घटादि में नहीं रह सकेगी । अतः 'परमाणुत्व' जाति नहीं मान सकते । किन्तु 'परममहत्त्व' जाति में कोई प्रतिबन्धक नहीं, इसलिए परममहत्त्व जाति में उक्त लक्षण अतिव्याप्त है ही । इसी प्रकार उक्त लक्षण में नित्यमात्रसमवेतत्व का क्या अर्थ है ? किसी एक नित्य में वृत्तित्व ? या सर्वनित्य-वृत्तित्व ? दोनों पक्षों में लक्षण की अव्याप्ति दूर नहीं होती ; क्योंकि समस्त 'विशेष' किसी एक ही नित्य द्रव्य में नहीं रहते और प्रत्येक विशेष सर्व नित्य द्रव्यों में नहीं रहता ।

किं चात्र प्रमाणम् ? "समानजातिगुणकर्मकार्याः परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकधर्मसमवायिनः द्रव्यत्वात् गवादिवत् ।" तथा "सत्ता सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद्गोत्ववत्" इति लीलावतीकारोन्नीतमनुमानं प्रमाणमिति चेत्, मैवम् ; आद्यप्रयोगे पृथ-

---

षाणां एकनित्यद्रव्यवृत्त्यभावात् । द्वितीये न क्वापि संभवः, एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यावृत्तेरिति खण्डलकार्थः । एकनित्यद्रव्यवृत्तित्वमपि किमेकत्वनित्यत्वविशिष्टद्रव्यवृत्तित्वम् ? तदुपलक्षितद्रव्यवृत्तित्वं वा ? द्रव्यामत्रवृत्तित्वं वा ? आद्ये संख्यानित्यत्वयोरपि विशेषाधारत्वप्रसङ्गादसंभवि लक्षणम् । द्वितीयतृतीययोस्तु द्रव्यमात्रवृत्तित्वं स्यादुपलक्षणस्य कार्यानन्वयात् । तथाच सर्वद्रव्यसामान्येऽतिव्याप्तिः । तथा सत्ताविशिष्टे तज्ज्ञानसुखादावतिव्याप्तिः, तेषामप्युक्तलक्षणत्वात्, सत्ताश्रयत्वं तत्रास्तीति चेन्नूनं बधिर इव भवानाभाति, कथमन्यथा सत्ताविशिष्ट इति विशेषणं शृण्वतः शङ्का स्यात् ? नहि सत्ताविशिष्टेऽपि सत्तास्ति, अंशत आत्माश्रयप्रसङ्गादिति । न च नित्यत्वानधिकरणासमवेतत्वं तदिति वाच्यम्, नित्यमात्रनिष्ठकार्यप्रतियोगिकप्रागभावप्रध्वंसयोर्व्यभिचारात् । न च भावत्वविशेषणम् ; पूर्वोक्तजातावतिव्याप्तेः ।

किंच किमेतैर्लक्षणैर्लक्ष्यम्, द्रव्यादिपञ्चकम् ? उतातिरिक्तम् ? नाद्यः, असिद्धेः । नान्त्यः, तत्र प्रमाणाभावेनासिद्धत्वादित्यभिसंधिराह—**किंचात्र प्रमाणमिति** । श्रीवल्लभीयमनुमानद्वयं शङ्कते—**समानेति** । अत्र च जातिभिर्गुणैः कर्मभिस्तदारब्धकार्यैश्च व्यावर्तकैरर्थान्तरतापरिहाराय तैः समानताग्रहणम् । निरवयवद्रव्यत्वादिभिर्घटादिव्यावर्तकैरर्थान्तरतापरिहारायान्योन्येत्युक्तम् । गवादिषु च गोत्वादिना साध्यप्रसिद्धिः । **तथा सत्तेति** । भावासंसर्गिणीत्युक्ते सामान्यसमवायासंसर्गित्वसाधनेन तत्सिद्धिपर्यवसानार्थान्तरता तथाऽसंसर्गिणीत्युक्तेऽभावासंसर्गित्वपर्यवसायितयार्थान्तरता, तदुभयनिवृत्त्यर्थं सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्युक्तम् । यस्माच्च भावात्सा व्यावर्त्यते सोऽन्त्यविशेषः । द्रव्यादित्रयासंसर्गित्वस्य व्याघातादिति । दूषयति—**मैवमित्यादिना** । अत्र किमयोगिनः प्रतिव्यावर्तकधर्मसमवायित्वं विवक्षितम् ? योगिनः प्रति वा ? नाद्यः ; तेषां परमाणुसाक्षात्काराभावात् । द्वितीये तु योगिनः परमाणुव्यावृत्तिज्ञानमेव कुतः सिद्धम् ? येन व्यावर्तकधर्मापेक्षा । अथ ब्रूयात्समानजातिगुणकर्मकार्याः परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकसमवायिधर्मविशिष्टबुद्धिविषया द्रव्यत्वाद्घटवदिति, तत्राह—**पृथक्त्वेनेति** । तदाह पातञ्जलः[1] योगिविवेकजज्ञानविषयं दर्शयन्पृथक्त्वदूषणावसरे[2]—'तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिर्व्यवधिः जातिभेदश्चान्यत्वधीहेतुः' इति । तत्त्वसारटीकाकारोऽपि[3]—'इति सर्वभेदप्रत्ययस्यान्यथासिद्धेर्नान्त्यविशेषकल्पने'ति 'भूतचरेण देहसंबन्धेन मुक्तात्मभेदो योगिबुद्धिगम्य उन्नेयः' इति च । इममपि दोषं स एव परिजहार—यत आह 'नच पृथक्त्वादिकमेव परमाण्वन्तरात्परमाणोर्व्यावर्तकबुद्धिजनकमस्तु, तस्य परमाण्वन्तरवृत्तिपृथक्त्वादिना सदृशत्वात् । या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धिः सा न तत्सदृशधर्मकार्या यथाश्वात्कुञ्जरस्य । तदणोरपि नाण्वन्तराद्व्यावृत्तिस्ततस-

---

'विशेष' पदार्थ में प्रमाण भी क्या है ? लीलावतीकार ने जो दो अनुमान किये हैं—(१) "समान जाति, समानगुण, समानकर्म और समान कार्यवाले परमाणु, अन्योन्य-व्यावर्तक धर्म के समवायी हैं, द्रव्य होने से, जैसे—गौ ।" (न्या० ली० पृ० ६९८) (इस अनुमान से अन्योन्य-व्यावर्तक धर्म जो सिद्ध होगा, वह 'विशेष' पदार्थ है) । एवं (२) "सत्ता, सामान्य और समवाय से भिन्न भावपदार्थ में असमवायिनी है, जाति होने से, जैसे—गोत्व ।" (न्या० ली० पृ० ७०२) (इस अनुमान के द्वारा जिस भाव पदार्थ की असमवायिनी सत्ता सिद्ध होती है, वही विशेष पदार्थ है) । ये दोनों अनुमान युक्त नहीं हैं ; क्योंकि प्रथम प्रयोग में 'पृथक्त्व' को लेकर सिद्ध-साधनता है ।

---

[1] पातञ्जलसूत्राणां भाष्यकारोव्यासदेवः (यो० सू० वि० ५३ सूत्रे) [2] विशेषाणां पृथक्पदार्थत्वदूषणावसरे इत्यर्थः [3] तत्त्ववैशारदीकार आचार्यवाचस्पतिमिश्रः ।

क्त्वेन सिद्धसाधनत्वात्। नच वाच्यम्—पृथक्त्वस्य पृथक्त्वान्तरसदृशत्वान्न ततो व्यावृत्तत्वबुद्धिसिद्धिः; या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धिः, सा न तत्सदृशधर्मकार्या, यथाश्वात्कुञ्जरस्य, तदणोरपि नाण्वन्तराद्व्यावृत्तबुद्धिः सदृशधर्मकार्या" इति; अयं विशेषोऽयं च विशेषः, इति विशेषेष्वपि सदृशबुद्धेः स्वीकारात्। द्वितीयोऽपि प्रयोगः—

आश्रयासिद्धिदुष्टत्वादप्रसिद्धविशेषणात्।
प्रमाणतामश्नुवीत न प्राभाकरभाट्टयोः ॥ १३ ॥

सत्ताजातेरनङ्गीकारात्प्राभाकरं प्रत्याश्रयासिद्धिरुदिता। एवं समवायस्य चानङ्गीकाराद्भाट्टं प्रति समवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः। विशेषाख्यभावानभ्युपगमेऽपि तदसंसर्गित्वसिद्धेरर्थान्तरता च। किंच सामान्यसमवायातिरिक्तभावशब्देन द्रव्यगुणकर्माण्यभिधीयन्ते? किं वा विशेषाः? भावमात्रं वा? नाद्यः; अपसिद्धान्तापातात्, सत्ताया द्रव्यगुणकर्मसु वृत्तेः स्वयमङ्गीकृतत्वात्। न द्वितीयः; विशेषाणामद्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेष-

---

दृशधर्मकार्या' इति। तदेतदनूद्य निराचष्टे—न च वाच्यमित्यादिना। न तत्सदृशेति। तद्धर्मसदृशः धर्मस्तत्सदृशधर्मः। नच वाच्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—अयं विशेष इति। एतेन नित्यद्रव्यव्यावृत्तिहेतवोन्त्यविशेषा इत्यपि लक्षणं प्रतिक्षिप्तम्। द्वितीयोऽपि प्रयोग इत्यस्य प्रमाणतां नाश्नुवीतेत्युत्तरश्लोकस्थपदेनान्वयः। तत्र हेतुभूतानि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—आश्रयेति। आश्रयासिद्ध्यप्रसिद्धविशेषणतयोर्यथायथं प्राभाकराणां भाट्टानां च संबन्धः। इदमेव दूषणद्वयं विवृणोति—सत्ताजातेरित्यादिना। सर्वसाधारणं चार्थान्तरत्वं दूषणमाह—विशेषाख्येति। सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गित्वं साध्यमानं न नियमेन तत्सत्तां साधयति, तदभावेऽपि तदसंसर्गित्वोपपत्तेः। नहीदमसंसर्गित्वं नाम विभागः येन समवायिकारणतया तस्यापि सत्त्वमपेक्षेत। नच तदसंसर्गित्वस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य धर्म्यपेक्षेति वाच्यम्। अत्यन्तासतोऽपि प्रतियोगित्वधर्मित्वयोरुपपत्तेरिति भावः। भङ्ग्यन्तरेणाप्रसिद्धविशेषणतामाह—किंचेति। अपसिद्धान्तापत्तिमेव दर्शयति—सत्ताया इति। अङ्गीकृतत्वादिति। द्रव्यादीनां त्रयाणां सत्तासंबन्ध इति भाष्यमतस्तादृशभावात्सत्ताया व्यावृत्तिसाधनमयुक्तमिति भावः। ननु

न्यायलीलावतीकार का जो यह (न्या० ली० पृ० ७०२ पर) कहना है कि पृथक्त्व, पृथक्त्वान्तर के सदृश है, अतः उससे व्यावृत्ताकार ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि जो व्यावृत्ति-बुद्धि, जिस धर्म से उत्पन्न होती है; वह उसके सदृश धर्म से नहीं हो सकती, जैसे—अश्व से कुञ्जर की बुद्धि। अतः परमाणु की भी परमाण्वन्तर से व्यावृत्ति-बुद्धि पृथक्त्व-जैसे सदृश धर्म से साध्य नहीं। वह लीलावतीकार का कहना भी असंगत है; क्योंकि विशेष पदार्थ भी तो परस्पर सदृश होते हैं, फिर वे भी व्यावर्तक कैसे होंगे? द्वितीय अनुमान भी प्राभाकर मत में आश्रयासिद्धि और भाट्ट मत में अप्रसिद्धविशेषणता दोष से दूषित होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता। सत्ता जाति न मानने के कारण प्रभाकर के मत में आश्रयासिद्धि होती है। एवं भाट्ट समवाय नहीं मानते; अतः उनके मतमें समवाय-घटित उक्त साध्य रूप विशेषण ही अप्रसिद्ध हो जाता है। विशेषसंज्ञक भाव पदार्थ न मानने पर भी सत्ता में उसका असंसर्गित्व बन जाता है (किसी वस्तु की कहीं असंसर्गिता दोनों प्रकार से बन जाती है, या तो वस्तु का संसर्ग न हो या कि वस्तु ही न हो)। अतः अर्थान्तरता भी होती है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त अनुमान में 'सामान्य, समवाय-भिन्न भाव' शब्द से द्रव्य, गुण, कर्म विवक्षित हैं? या विशेष पदार्थ? या भावमात्र? प्रथम पक्ष मानने पर अपसिद्धान्त होता है; क्योंकि सत्ता का द्रव्य, गुण और कर्म में रहना वैशेषिकों ने स्वयं माना है। द्वितीय पक्ष में अप्रसिद्धविशेषणता होती है; क्योंकि विशेष की असिद्धि से विशेष-घटित साध्य प्रसिद्ध कैसे होगा?

णत्वात् । नापि तृतीयः, विकल्पासहत्वात् । असंसर्गित्वपदेन किमसंसर्गितामात्रं विवक्षितम्? उत संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वम् ? नाद्यः; सिद्धसाधनत्वात्, अतीतानागतव्यक्तिभिः सत्ताया अप्यसंसर्गित्वस्वीकारात् । नापि द्वितीयः; दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, गोत्वस्यापि किंचिद्भावसंसर्गित्वेन तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वाभावात् । आकाशं गुणसामान्यव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद्घटवदिति मानमनोहरकारोक्तमनुमानान्तरमस्तीति चेत्, मैवम्; प्राभाकरं प्रति शक्त्या सिद्धसाधनत्वात्, तेन शक्तेर्गुणसामान्यव्यतिरिक्ताया वियदाश्रयताश्रयणात् । समवायमनभ्युपगच्छतोर्भाट्टवेदान्तिनोरप्रसिद्धविशेषणत्वात्, वेगवत्त्वोपाध्युपहतत्वाच्च । तस्मान्न विशेषलक्षणमपि साधु ।

नापि समवायलक्षणम् । तथाहि—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुर्यः संबन्धः स समवायः" इति समवायलक्षणपरं परेषां भाष्यम् । अस्य चायमर्थः—युतसिद्धि-

---

न विशेषात्मकभावादसंसर्गित्वं साधयामः, येनाप्रसिद्धविशेषणता, अपित्वविवक्षितविशेषाद्भावमात्रादिति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । भावासंसर्गिणि त्वत्रासंसर्गित्वं संसर्गित्वाभावमात्रम् ? किंवा संसर्गित्वात्यन्ताभावः ? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति** । तामेव विवृणोति—**अतीतेति** । भावमात्रादसंसर्गित्वमात्रं हि सत्तायाः सिसाधयिषितम्, तच्चातीतादिभ्यः सिद्धमिति न विशेषसिद्धिः, सिद्धसाधनं चेदमर्थान्तरत्वम् । साध्यवैकल्यमेव दर्शयति—**गोत्वस्यापीति** । बाधश्च द्रष्टव्यः । किंच सत्ता सामान्यसमवायविशेषातिरिक्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद् गोत्ववदित्यनुमानसंभवादाभाससमानयोगक्षेमत्वम्, विपक्षे बाधकतर्काभावाच्छङ्किता प्रयोजकता च । मानमनोहरकारीयमनुमानं शङ्कते—**आकाशमिति** । एतच्च तदीयविवादपदविवरणम् । एतच्च विभुद्रव्यमात्रोपलक्षणम् । समवायीत्युक्ते शब्दादिगुणस्य सामान्यस्य च समवायित्वेनार्थान्तरता, तदर्थं गुणसामान्यव्यतिरिक्तेत्युक्तम् । घटे च कर्मणा साध्यसिद्धिः । आकाशे च तदभावाद्विशेषसिद्धिः । अस्यार्थान्तरत्वमाह—**मैवमिति** । शक्तिः पदार्थान्तरमिति हि गुरूणां मतम्, तत्समवायिप्रयुक्तं च दूषणमाह—**भाट्टेति** । व्याप्यत्वासिद्धिमाह—**वेगवत्त्वेति** । इदमप्याभाससमानयोगक्षेमम् शक्यतेऽनुमातुम्, आकाशं गुणसामान्यविशेषव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद्घटवदिति ।

यं च समवायमवलम्ब्यामुकसमवाय्यमुकसमवायीति निरर्गलं जल्पसि, सोऽपि समवायो दुर्निरूपः इत्याह—**नापि समवायेति** । तत्र प्रशस्तपादोक्तं लक्षणमनुवदति—**तथाह्ययुतसिद्धानामिति** । भाष्यं व्याचक्षाणः कृत्स्नस्य तस्य लक्षणपरतां दर्शयति—**अस्य चायमर्थ इति** । तत्रायुतसिद्धेः युत-

---

तृतीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि 'असंसर्गित्व' पद से क्या असंसर्गित्वमात्र विवक्षित है ? या संसर्गित्व के अत्यन्ताभाव की अधिकरणता ? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता होती है ; क्योंकि अतीत और अनागत व्यक्तियों के साथ सत्ता की असंसर्गिता मानी ही जाती है । द्वितीय पक्ष में दृष्टान्त, साध्य-विकल हो जाता है ; क्योंकि गोत्व में यत्किञ्चिद्भाव की (गो-निरूपित) संसर्गिता रहने से संसर्गित्व का अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता । 'आकाश, गुण और सामान्य से भिन्न पदार्थ का समवायी है, द्रव्य होने से, घट के समान'—मानमनोहरकार का यह अनुमान भी विशेष की सिद्धि नहीं कर सकता ; क्योंकि शक्ति पदार्थ को लेकर प्राभाकर के मत से सिद्ध-साधनता होती है । प्राभाकर अपनी गुण और सामान्य से अतिरिक्त शक्ति को आकाश में समवेत मानते हैं । समवाय न माननेवाले भाट्टों और वेदान्तियों के लिए अप्रसिद्धविशेषणता है । 'वेगवत्त्व' उपाधि भी है (घट दृष्टान्त में वेगवत्त्व रहने से साध्य-व्यापक और आकाशरूप पक्ष में न रहने से साधनाव्यापक है) ।

समवाय का लक्षण भी नहीं बनता । प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में समवाय का लक्षण किया है—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्ययहेतुः स समवायः" (वै० भा० पृ०५ ।)

रुभयोरपि संबन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्, सा ययोर्नास्ति तावद्युतसिद्धौ, तयोः संबन्धः समवायः, यथा तन्तुपटयोः। तत्र यद्यपि तन्तवः स्वारंभकावयवाश्रितास्तथापि पटस्य तन्त्वाश्रितत्वान्न द्वयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्। तेनानित्यानां द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिः, अयुतसिद्धिस्तु तद्विपरीता। नित्यानां तु पृथग्गमनयोगित्वं युतसिद्धिस्तद्विपरीतायुतसिद्धिः, यथाकाशद्रव्यत्वयोः। तत्रायुतसिद्धयोः संबन्ध इत्येतावति लक्षणे सुखस्य धर्मस्य च कार्यकारणभावसंबन्धोऽपि समवायः स्यात्। आत्मैकाश्रिततया तयोरयुतसिद्धत्वात्तदर्थमाधार्याधारभूतानामिति पदम्। एवमप्याकाशस्याकाशपदस्य च वाच्यवाचकसंबन्धः समवायः स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमिहप्रत्ययहेतुरिति पदम्। न हि तस्मात्संब-

सिद्धिज्ञानाधीनत्वं तावद्दर्शयति—युतसिद्धिरिति। ननु कथं तन्तुपटयोरयुतसिद्धिः ? यावता पटसंबन्धिव्यतिरेकेण तन्तूनां स्वावयवाश्रितत्वमिति, तत्राह—तत्र यद्यपीति। उभयोः पृथगाश्रयाश्रितत्वं युतसिद्धिः। न चेह तथात्वम्, पटस्य संबन्धितन्तुव्यतिरिक्तानाश्रितत्वादित्यर्थः। फलितमाह—तेनेति। द्वयोरपि संबन्ध्यतिरिक्ताश्रयाश्रयित्वम्, युतसिद्धिस्तद्विपरीता अयुतसिद्धिरित्यर्थः। नन्वियं चेद्युतसिद्धिर्गतं तर्हि परमाणूनां युतसिद्धया, भवितव्य च तया, इतरथा परमाण्वोः संयोगाभावेन द्वयणुकादिकार्यानारम्भप्रसङ्गात्, सदातनभावप्रसङ्गात् द्वयणुकादेः, अयुतसिद्धपरमाणुसंबन्धस्य सदातनत्वादित्यत आह—अनित्यानामिति। का तर्हि नित्यानां परमाणुमनसामाकाशादिभिः परस्परं च युतसिद्धिः ? इति तत्राह—नित्यानां त्विति। यथाकाशद्रव्यत्वयोरिति। नहि तत्रान्यतरस्यापि पृथग्गतिमत्त्वमस्ति, यथाकाशपरमाण्वोरिति भावः। उक्तश्चायं विभागस्तदीयभाष्ये। सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्, इयं तु नित्यानाम्, अनित्यानां तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति। इदानीं श्रीधराचार्यरीत्या विशेषणानामुपयोगं दर्शयति—तत्रेत्यादिना। ननु कथं सुखधर्मयोरयुतसिद्धिरिति तां दर्शयति—आत्मैकेति। उभयोः परस्परानाश्रयत्वे सति परस्पराश्रयातिरिक्ताश्रयत्वं हि युतसिद्धिस्तद्राहित्यं चानयोरस्तीति भावः। इदं तु चिन्त्यम्—कथमनयोः परस्पराश्रयातिरिक्तानाश्रययोरयुतसिद्धिरिति ? द्वयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावस्यैवायुतसिद्धत्वोपपत्तौ परस्परपरिहारविशेषणवैयर्थ्यात्। न च नित्यरीत्या, अनित्यत्वात्। तृतीयविशेषणकृत्यमाह—एवमपीति। अस्त्याकाशतद्वाचकाकाशादिपदयोरयुतसिद्धिराधा-

इसका अर्थ यह है—युतसिद्धि नाम है ‘दो सम्बन्धियों का परस्पर एक-दूसरे को छोड़ कर पृथक् आश्रय में रहना’। यह जिन सम्बन्धियों में नहीं, उन्हें अयुतसिद्ध कहा जाता है। ऐसे सम्बन्धियों के सम्बन्ध का नाम है—समवाय, जैसे-पट और तन्तुओं का। यहाँ यद्यपि तन्तु, पट से भिन्न अपने आरम्भक अवयवों में ही रहते हैं (इस प्रकार तन्तुओं में पृथगाश्रितत्व या युतसिद्धत्व ही रह जाता है)। तथापि पट, तन्तुओं के ही आश्रित होता है, अतः दोनों में पृथगाश्रयाश्रितत्व नहीं। फलतः अनित्य पदार्थों में से दोनों का ही पृथगाश्रयाश्रित होना युतसिद्धि और उसके विपरीत होती है—अयुतसिद्धि। नित्य पदार्थों में पृथक् गमन-योगित्व को युतसिद्धि कहा जाता है और उसके अभाव को अयुतसिद्धि; जैसे—आकाश और द्रव्यत्व में। यहाँ ‘अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध, समवाय होता है’—इतना ही लक्षण रखने पर सुख और धर्म के परस्पर कार्यकारणभाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि वे दोनों भी एक ही आत्मा के आश्रित होने से अयुतसिद्ध ही होते हैं। यह अतिव्याप्ति हटाने के लिए अयुतसिद्ध पदार्थों का विशेषण लगाया—‘आधार्याधारभूतत्व’। आधाराधेयभाव न होने से सुख और धर्मादि की व्यावृत्ति तो हो जाती है, किन्तु आकाश तथा ‘आकाश’ पद के वाच्य-वाचकभाव में अतिव्याप्ति होती है, उसे निवृत्त करने के लिए कहा—‘इह प्रत्ययहेतु’। वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध से ‘इह इदम्’—यह प्रतीति नहीं होती, केवल आकाश

न्धादिंहेदमिति बुद्धिर्जायते ; केवलाकाशस्यैव प्रतीतेः । आधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुरित्येतावति लक्षणे कुण्डबदरसंबन्धेऽतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमयुतसिद्धानामिति पदम् । तेन समस्तमेवेदं समवायलक्षणम् , इति कन्दलीकारः; तदसत्—

न स्यादयुतसिद्ध्यादि समवायस्य लक्षणम् ।
विशेषणविशेष्यत्वसंबन्धे व्यभिचारतः ॥ १४ ॥

इह भूतले घटाभाव इति विशेषणविशेष्यभावलक्षणेऽपि संबन्धे लक्षणस्यातिव्याप्तिः । अस्ति हि तत्रायुतसिद्धिर्भूतलघटाभावयोः, भूतलस्य स्वावयवाश्रितत्वेऽप्यभावस्य भूतलातिरिक्ताश्रयाभावात् । अस्ति चाधार्याधारभाव इहप्रत्ययश्च । अथ भावयोरीदृशः संबन्धः समवायः, तथापीह पटे रूपसमवायो रूपसमवायवान्पट इति विशेषणविशेष्यभावे लक्षणस्यातिव्याप्तिः, उक्तलक्षणस्य तत्रापि संभवात् । अथ गुणगुणिनोः क्रियाकारकयोरवयवावयविनोर्जातिजातिमतोर्विशेषतद्वतोश्च यः संबन्ध उक्तरूपः समवाय इति चेत् , न; तेषामेवान्योन्यविशेषणविशेष्यभावेऽ

राधेयभावश्चाकाशविशेषगुणत्वात्तस्येति भावः । इत आरभ्यासिद्धान्तोपक्रमं निगदव्याख्यातम् । कन्दलीकार इति । किरणावलीकारपक्षे हि न समस्तमिदं भाष्यं लक्षणम् , अपि त्वयुतसिद्धानां सम्बन्ध इत्येतावत् । तेन च नित्यः संबन्ध इति लक्षणमुक्तं भवति । इहप्रत्ययहेतुरिति च तत्र प्रमाणोपन्यासः । इहप्रत्ययस्य च निर्विषयत्वेनासंभवपरिहारायाधाराधेयभूतानामिति विषयनिर्देश इति भाष्ययोजनेति भावः । तदेतद्दूषयति—तदसदिति । अयुतसिद्धिं पुरस्कृत्य यदिदं लक्षणमुक्तं तन्न स्यात् । कुतः ? विशेषणविशेष्यत्वसंबन्धे व्यभिचारादिति श्लोकयोजना । उत्तरार्धं विवृणोति—इह भूतल इति । ननु यद्यपि तयोराधाराधेयभावः प्रतीयते, तथापि कथमयुतसिद्धिरिति ? तत्राह—अस्ति हीति । अन्यतरस्य पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावे भवत्येवायुतसिद्धिरिति भावः । निगदव्याख्यानेन ग्रन्थेन लक्षणविशेषं तत्र वर्तयति—अस्ति चेति । विशेषणान्तरं शङ्कते—अथेति । तथापि भावरूपगुणगुण्यादिनिष्ठसमवायसमवायिगतविशेषणविशेष्यभावेऽतिव्याप्तिरित्याह—तथापीति । शङ्कते—अथ गुणगुणिनोरिति । क्रियाकारकयोः, कर्मतद्वतोरित्यर्थः । ननु किमनेनाधिकरणमाशङ्क्यते ? यावतात्रैव पूर्वमप्यतिव्याप्तिरुदीरितेति, सत्यम् ; दुष्टोऽस्याभिप्रायः । स चाभिप्रायदोषोऽनन्तरमेवाविर्भविष्यति । पञ्चसु हि स्थलेषु समवायसंभवस्तदेतेषूक्तविधः संबन्धः समवायः, विशेषणविशेष्यभावस्त्वतिरिक्तेष्वपि व्यवहारप्रसवितेति नातिव्याप्तिरिति भावः । तथाप्युक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यमिति परिहरति—न ; तेषामेवेति । योऽसावभिप्रायदोषः पूर्वमुद्धृतस्तमुद्दिग-

---

की ही प्रतीति होती है । "आधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुः"—इतना ही लक्षण रखने पर कूँडा और उसमें रखे बेरों के संयोग सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है, अतः सम्बन्धियों का अयुतसिद्धत्व विशेषण दिया । इस प्रकार यह समस्त भाष्य समवाय-लक्षण परक ही है—ऐसा कन्दलीकार श्रीधराचार्य का सिद्धान्त है (न्या० कं० पृ० १४) । यह सब अयुक्त है ; क्योंकि इस अयुतसिद्धिघटित लक्षण की विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है । जैसे कि "इह भूतले घटाभावः"—यहाँ भूतल और घटाभाव में अयुतसिद्धि भी है । यद्यपि भूतल, घटाभाव से पृथक् अपने अवयवों के आश्रित है, तथापि घटाभाव का भूतल से पृथक् आश्रय नहीं (अर्थात् जलादि, दूसरे ही घटाभाव के ही आधार हैं, भूतल-वृत्ति घटाभाव के नहीं) । इसी प्रकार भूतल और घटाभाव में आधार्याधारभाव भी है और 'इहप्रत्यय' भी । यदि कहा जाय कि दो भावपदार्थों के उक्त सम्बन्ध को समवाय कहते हैं, भावाभाव के सम्बन्ध को नहीं । तो भी "इह पटे रूपसमवायः , रूपसमवायवान् पटः"—यहाँ पट और रूप-समवाय के विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध में भी उक्त लक्षण के घट जाने से अतिव्याप्ति है । यदि कहा जाय कि गुण-गुणी, क्रिया-कारक, अवयव-अवयवी, जाति-जातिमान्, विशेष-विशेषवान् इनके ही उक्त सम्बन्ध को समवाय कहा जाता है । तो ऐसा कहने पर भी उनके पारस्परिक विशे-

तिव्याप्तेः। तत्र समवायस्यैवेहप्रत्ययहेतुत्वं नेतरस्येति चेत्, न; एवमपीहाकाशे शब्द इत्यत्रेहशब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धे इहप्रत्ययहेतावतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात्। तत्र हि गुणगुणिनोराधार्याधारभूतयोरयुतसिद्धयोरिहप्रत्ययहेतुरिहेतिशब्दाकाशयोरस्ति वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धः। किंचाधार्याधारभूतानामिति व्यर्थं विशेषणम्। अयुतसिद्धयोरिहप्रत्ययहेतुः संबन्ध इत्येतावत्यपि लक्षणे भवतामव्याप्त्यतिव्याप्त्यभावात्, अनाधार्याधारभूतयोरिहप्रत्ययस्यैवानुदयात्। अस्तु तर्ह्येतावल्लक्षणमिति चेत्, न; तत्रापि प्रागुक्तवाच्यवाचकसंबन्धेऽतिव्याप्तेः।

भवतु तर्ह्यर्वाचीनमतानुसारेण नित्यः संबन्धः समवाय इति लक्षणमिति चेत्, न; विशेष-

---

रन्पर्यनुयुङ्क्ते—तत्र समवायस्यैवेति। यद्यपीह पटे रूपमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावोऽप्यस्ति, तथापि नासाविहप्रत्ययहेतुः, तत्कस्य हेतोः? अमुख्यत्वात्। औपचारिकः खल्वयं विशेषणविशेष्यभावः संबन्धः। न च मुख्यसंभवेऽप्यौपचारिकाश्रयणं युक्तम्। न खलु बलवर्मणि क्रौर्यशौर्यरोषविस्तृततरोन्नद्धस्कन्धादिगुणयोगात्सिंहशब्दः प्रवृत्तः सिंहेऽपि तन्निमित्तः प्रयुज्यते, अस्ति हि तदिति, तस्मात्समवाय एव तत्र हेतुरिति। अत्र तावदिदं वक्तव्यम्—कथं विशेषणविशेष्यभावस्यौपचारिकत्वमिति? नियामकत्वं वा? संबद्धबुद्धिजनकत्वं वा संबन्धत्वम्? तच्च सर्वं संयोगादिभ्यो विशेषणविशेष्यभावस्य न विशिष्यते। न च मूलसंबन्धापेक्षत्वादौपचारिकत्वम्; संयोगस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। न च मूलसंबन्धाभावादौपचारिकत्वम्; सर्वत्रासिद्धेः, समवायेऽपि तथाभावप्रसङ्गाच्च। तदेतदपिना सूचयन्दूषणान्तरमाह—एवमपीति। यद्यप्याकाशवाचकपदमात्रवाच्यवाचकभावस्येहप्रत्ययहेतुत्वं नास्ति, तथापीहाकाशे शब्द इत्यत्रेहशब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसंबन्धेऽतिव्याप्तिः स्यादित्यर्थः। एतदेव विवृणोति—तत्र हीति। गुणगुणिनोरिति। इहेतिशब्दाकाशयोरित्यर्थः। न च तत्रापि समवाय एवेहप्रत्ययहेतुर्न वाच्यवाचकभाव इति वचनीयम्, तथा सति अगृहीतसंगतिकामनामपीहेति पदश्रवणादिहेति बुद्ध्युदयप्रसङ्गात्। अस्ति हि समवाय इति। किंचाधाराधेयभूतानामिति विशेषणं व्यर्थम्; इहप्रत्ययहेतुरित्यनेनैवाधार्याधारभावस्यापि सिद्धत्वादित्याह—किंचेत्यादिना। उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ।

लक्षणान्तरं शङ्कते—भवत्विति। एतच्चैतद्भाष्यार्थंतयोदयनेन समर्थितं लक्षणम्, तदेव श्रीवल्लभवादिवागीश्वरसर्वदेवानां संमतं लक्षणम्। अत्र च संयोगव्यवच्छेदाय नित्यग्रहणम्। आत्मादिव्यवच्छेदाय संबन्धग्रहणम्। ननु न विशेषणविशेष्यभावे लक्षणप्रसक्तिः, तस्य नित्यत्वाभावाद्। घटतद्रूपादिप्रतियो-

---

षण-विशेष्यभाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति बनी रहती है। यदि कहा जाय कि 'इह' प्रतीति का हेतु समवाय ही होता है, अन्य विशेषण-विशेष्यभावादि नहीं। तो भी "इह आकाशे शब्दः"—यहाँ पर 'इह' शब्द और आकाश अर्थ के वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति जैसी-की-तैसी ही रहती है; क्योंकि 'इह' शब्द गुण है, आकाश गुणी है, अतः दोनों अयुतसिद्ध भी हैं। इन अयुतसिद्ध पदार्थों ('इह' शब्द और आकाश) का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध इह प्रतीति का हेतु भी है। आपके लक्षण में 'आधार्याधारभूतत्व'—विशेषण भी व्यर्थ है; क्योंकि 'अयुतसिद्ध पदार्थों के 'इह' प्रत्यय-हेतु सम्बन्ध को समवाय कहते हैं'—इतने लक्षण की भी कहीं अतिव्याप्ति या अव्याप्ति नहीं होती, आधार्याधारभूत्व-रहित सुख और धर्मादि पदार्थों में 'इह'-प्रत्यय की हेतुता ही नहीं होती, अतः उनकी व्यावृत्ति हो जाती है। 'तब इतना ही लक्षण रखा जाय'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि पूर्वोक्त वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है।

सर्वदेवादि नव्य वैशेषिकों का "नित्यः सम्बन्धः समवायः"—यह लक्षण भी विशेषण-विशेष्य भाव में अतिव्याप्त है। यदि कहा जाय कि घट और घट-रूप के अनित्य होने से उनका विशेषण-विशेष्यभाव

णविशेष्यभाव एव व्यभिचारात् । सोऽनित्यः प्रतियोगिनोर'नित्यत्वादिति चेत्, तथापि ऽनित्यप्रतियोगिकविशेषणविशेष्यभावे व्यभिचारस्य तुल्यत्वात्, प्रतियोगिनोरनित्यत्वेन संबन्धानित्यत्वापादनस्य समवायेऽपि समानत्वाच्च। भावरूपत्वे सतीति विशेषणादयमदोष इति चेत, न; अजसंयोगे व्यभिचारात् । स एव नास्तीति चेत् नैवम् ; प्रमाणसिद्धत्वात्—आकाशमात्मना संयुज्यते संयोगित्वाद्घटवत्। न च क्रियावत्त्वमूर्तत्वादिरुपाधिः; तद्व्यतिरेकेऽसंयोगित्वस्यैवोपाधित्वात् । किंचाकाशमात्मना संयुज्यत इत्यात्मसंबन्धाधार इति साध्ये क्रियावत्वमूर्तत्वयोरुपाधित्वमेव नास्ति, आत्मनि साध्याव्याप्तेः । तस्मादुक्तयुक्त्या न समवायस्य लक्षणसंभवः ।

गिको ह्ययं सम्बन्धः, स च प्रतियोग्यनित्य इत्यनित्य एवायमिति शङ्कते—सोऽनित्य इति । तत्रायमेकोऽनेको वा ? एकत्वे नित्यवृत्तिलोभान्नित्यत्वमस्यापि वक्तव्यम्, तथाच तत्रातिव्याप्तिः । अनेकत्वे प्राह—तथापीति । न खलु सर्वत्रानित्ययोरेव विशेषणविशेष्यभावः, नित्यानामप्यात्मतज्जातिप्रभृतीनामात्मत्वजातिमानित्यादौ विशेषणविशेष्यभावदर्शनात्ततश्च तत्र न प्रतियोगिद्वाराप्यनित्यत्वमित्यर्थः । किंचानित्यप्रतियोगिस्थलेऽपि न विशेषणविशेष्यभावस्यानित्यता, समवायेऽपि तथाभावप्रसङ्गादित्याह—प्रतियोगिनोरिति । शिवादित्यमतं शङ्कते—भावरूपत्वे सतीति। तथाप्यजसंयोगेऽतिव्यापकम्, स हि विभुद्रव्यसंयोगत्वान्नान्यतरोभयकर्मभ्यां जायते, नापि संयोगजः, कारणाकारणसंयोगाज्जायमानः खलु कार्याकार्यसंयोगः संयोगजसंयोगः । न च विभुद्रव्यसंयोगस्यैवंभावः, तेषामकारणत्वेन तत्संयोगस्य कारणाकारणसंयोगजन्यत्वाभावादतस्तत्रातिव्याप्तिरित्याह—नाजसंयोग इति । नन्वजसंयोग एव नास्ति प्रमाणाभावाद्यथाह भाष्यकारः—'नाजः संयोगोऽस्ति नित्यपरिमाण्डल्यवत्पृथगनभिधानात्' इति । तदेतच्छङ्कते—स एवेति । विभुद्रव्ययोरपि संयोगेऽनुमानं मानमाह—आकाशमिति । इदमनुमानमाशङ्क्य मानमनोहरकारो दूषयामास । "तत्र क्रियावत्त्वस्य मूर्तत्वस्य परत्वापरत्वयोर्वोपाधेः, आत्माकाशेन न संयुज्यते अमूर्तत्वाद्रूपादिवत्" इति ब्रुवाणः । तत्रोपाधिं दूषयति—न चेति । उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि व्याप्तिरेष्टव्या, अन्यथा साध्याव्यापकत्वप्रसङ्गात्, सा च नास्ति, सोपाधिकत्वादित्याह—व्यतिरेक इति । रूपादावमूर्तत्वात्मसंयोगित्वाभावयोर्व्याप्तावसंकोचित्वमुपाधिस्तथा च व्यतिरेकव्याप्तिभङ्गात्साध्योपाध्योरपि व्याप्तिभङ्ग इत्यर्थः । एतेन मानमनोहरोक्तं प्रत्यनुमानमपि निरस्तम् । स्पष्टं च साध्याव्यापक उपाधिः ।

संबन्ध भी अनित्य ही होता है ; तथापि आत्मा और आत्मत्व-आदि नित्य पदार्थों के विशेषण-विशेष्यभाव में अतिव्याप्ति होती है। सम्बन्धियों के अनित्य होने से सम्बन्ध में अनित्यता का आरोप तो समवाय में भी समान ही है (क्योंकि उसके सम्बन्धी सर्वत्र नित्य ही नहीं होते, घट, घट-रूप के समान अनित्य भी होते हैं)। 'भावरूपत्व' विशेषण देने पर भी नित्य संयोग में अतिव्याप्ति होती है । 'नित्य संयोग होता ही नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि "आकाश, आत्मा से संयुक्त होता है, संयोगी होने के कारण, जैसे-घट"—इस अनुमान प्रमाण से सिद्ध है । उक्त अनुमान में क्रियावत्त्व, मूर्तत्व—आदि उपाधि की आशङ्का नहीं कर सकते ; क्योंकि उपाधि में साध्य-व्यापकता रखने के लिए उपाधि की व्यतिरेकव्याप्ति भी घटानी होगी । किन्तु "जहाँ क्रियावत्व नहीं, वहाँ आत्म-संयुक्तत्व भी नहीं"—इस व्यतिरेकव्याप्ति में असंयोगित्व उपाधि है (गुणादि में आत्म-संयुक्तत्व और क्रियावत्व—दोनों का अभाव होने से असंयोगित्व, आत्म-संयुक्तत्व का व्यापक है । आकाशादि में क्रियावत्त्व का अभाव रहने पर भी असंयोगित्व नहीं रहता, अतः असंयोगित्व, क्रियावत्त्वाभाव का अव्यापक है)। दूसरी बात यह भी है कि उक्त अनुमान में 'आत्म-संयोगित्व' साध्य का अर्थ यदि 'आत्म-सम्बन्धाधारत्व' कर दिया जाय, तब क्रियावत्वादि उपाधि भी नहीं होती ; क्योंकि आत्मा में इस साध्य के रहने पर भी क्रियावत्त्व नहीं, अतः साध्य का व्यापक ही नहीं । इस प्रकार समवाय का लक्षण सम्भव नहीं ।

प्रमाणमपि तत्र प्रत्यक्षम् ? अनुमानं वा ? नाद्यः ; तदभवात् । इह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षमस्तीति चेत्, न ; विचारासहत्वात् । समवायो ह्याधारबुद्धिं कुर्याद् ? आधेयबुद्धिं वा ? उभयबुद्धिं वा ? सर्वथापि नोपपद्यते । तन्तुपटयोरुभयोरप्याधारबुद्धेराधेयबुद्धेरुभयबुद्धेश्च विशेषेण प्रसङ्गात् । जातिजातिमन्तौ मिथःसम्बद्धावित्यस्त्येवानुभवान्तरमिहेति चेत्, मैवम् ; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—अस्मिन्ननुभवे समवायस्तदीयत्वेन वान्यदीयत्वेन वा स्वरूपेण वा प्रथत इति वक्तव्यम् ? नाद्यः ; तदीयत्वस्य संबन्धान्तरायत्तत्वेनान-

---

आत्मना संयुज्यते इति कोऽर्थः ? आत्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वानाक्रान्तसंयोगाधिकरणमिति । तथाच कथं मूर्तत्वाद्युपाधिः संभवति ? आत्मन्येव साध्याव्याप्तेः । यच्च तेन स्वानुमानेऽद्रव्यत्वमुपाधिमाशङ्क्योक्तमाकाशे तदभावेन साध्याव्याप्तेरिति, तदप्येवं साध्यव्याख्याने क्रियमाणे निरवकाशम्, उपाधिवदेव साध्यस्याप्याकाशेऽभावेन साध्यव्याप्तेरीक्ष्यमाणत्वात् । मूर्तत्व च पक्षेतरत्वान्नोपाधिः । तथाहि—परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्तत्वम्, तत्र परिमाणवत्त्वमित्यनेनैव साध्यव्याप्तिसिद्धौ परिच्छिन्नग्रहणं पक्षीकृताकाशतत्तुल्यविभुद्रव्यव्यावृत्त्यर्थमिति कथं न पक्षेतरः ? सोऽयमविदितस्वपरसाध्यसतत्त्वो निर्विषयानेव दूषणाभासानाहोपुरुषिकयैव भाषमाणो 'निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम्' इति न्यायविषयतां नातिवर्तते । नित्यत्वानिरूपणाच्च तद्विशिष्टलक्षणासिद्धिः । तथाहि—तत्किं ध्वंसाप्रतियोगित्वम् ? स्वध्वंसाप्रतियोगित्वं वा ? आद्ये संयोगेऽतिव्याप्तिः ; तस्यापि यत्किंचिद्ध्वंसाप्रतियोगित्वात् । नेतरः ; आत्माश्रयात्, प्रतियोगिध्वंसादेश्चानिरूपणात् । किंच—

तत्तल्लक्षणवल्लक्ष्ये तत्तल्लक्ष्म न विद्यते । आत्माश्रयादतोऽव्याप्तिस्तेषु स्यात्सर्वलक्ष्मणाम् ॥ १ ॥
नच तेषामलक्ष्यत्वं षट्पदार्थातिरेकतः । नचात्यन्तमसत्त्व तद्बुद्धेर्बाधाद्यभावतः ॥ २ ॥
नाभाववर्गनिक्षेपः तेषामप्रतियोगिनः । प्रतियोग्यनिरूप्यस्याभावता नातिसङ्गतः ॥ ३ ॥
किंच—'तत्तत्कालेषु लक्ष्माणि वर्तेरन्वा न वा वद । वर्तेरन् यदि च तत्तत्कालेऽतिव्याप्तिरापतेत् ॥ ४ ॥
न चेत्तदा तदा स्वेषु लक्ष्येष्वव्याप्तिरक्षता । न च तत्समवायित्वं तत्तत्तद्धर्मेष्वसंभवात् ॥ ५ ॥

नित्यः संबन्ध इति लक्षणं किं संप्रतिपन्नसंयोगादिसंबन्धस्य ? तदतिरिक्तस्य कस्यचिद्वा ? नाद्यः ; अपसिद्धान्तापातात् । न द्वितीयः ; तस्मिन्प्रमाणाभावादित्यभिसंधिराह—प्रमाणमपीति । ननु किमिति प्रमाणाभावः ? प्रत्यक्षस्य सत्त्वादिति शङ्कते—इह तन्तुष्विति । यथाहि—तन्तुबुद्धेः पटः बुद्धेश्च विषयतया हेतुभूतौ तन्तुपटौ प्रतीयेते, तथेहेति बुद्धेर्जनकतया समवायोऽपि प्रतीयते इत्यभिमानःप्रत्यक्षवादिनः । दूषयति—नेति । पक्षत्रयेति दूषणमाह—तन्तुपटयोरिति । आधारबुद्धिमात्रजनकत्वे इहतन्तुषु पटेषु इत्युभयत्राप्याधारबुद्धिं कुर्यात् । द्वितीये तु तन्तवः पटे वर्तन्त इत्याधेयबुद्धिमेव कुर्यात् । तृतीये तु तन्तुष्वाधाराधेयबुद्धिं पटेऽप्याधाराधेयबुद्धिं कुर्यादित्यर्थः । अविशेषेणोभयबुद्धेरिति चान्वयः । प्रत्यक्षान्तरं शङ्कते—जातिजातिमन्ताविति । तदीयत्वेनेति । जातिजातिमदधीनत्वेनेत्यर्थः । स्वरूपेण वेति । अपराधीनतया वेत्यर्थः । नाद्य इति । तत्संबन्धं विना तदीयत्वानुपपत्तेः समवायस्यापि संबन्धान्तर-

---

प्रमाण भी उसमें कौन है ? प्रत्यक्ष ? या अनुमान ? (द्र० न्या० ली० पृ० ७०४) । प्रत्यक्ष यदि है तो कौन ? "इह तन्तुषु पटः"—यह प्रत्यक्ष तो समवाय में प्रमाण हो नहीं सकता ; क्योंकि समवाय, अधार-बुद्धि का जनक होता है ? या आधेय-बुद्धि का ? या उभय-बुद्धि का ? किसी प्रकार भी बनता नहीं । यदि आधार-बुद्धि का जनक है, तब तन्तु, पट—दोनों में आधारता की ही प्रतीति होनी चाहिए, इसी प्रकार आधेय-बुद्धि का जनक होने से दोनों में आधेयता की और उभय-बुद्धि का जनक होने से दोनों में उभय-प्रतीति होनी चाहिए । "जातिजातिमन्तौ मिथः सम्बद्धौ"—यह दूसरा प्रत्यक्ष भी समवाय में प्रमाण नहीं हो सकता ; क्योंकि इस प्रत्यक्ष में समवाय, जात्यादि-सम्बन्धित्व रूप से प्रतीत होता है ? या अन्य-सम्बन्धित्व रूप से ? या स्वतन्त्र रूप से ? प्रथम पक्ष में सम्बन्धित्व

वस्थापातात्। न द्वितीयः; अन्यत्रैव संबन्धबोधप्रसङ्गात्। न तृतीयः; क्वचिदपि संबन्धप्रत्ययानुपपत्तेः। असत्येव संबन्धे तदीयत्वमनुभवसिद्धमिति चेत्, न; जात्यादेरप्यसत्येव संबन्धे तदीयत्वानुभवप्रसङ्गात्, असत्ख्यातिप्रसंगाच्च। असत्येव संबन्धे संबन्धिभ्यां निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारे जातेरपि संबन्धान्तरमन्तरेण व्यक्त्या निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारप्रसङ्गः। नानुमानमपि; लिङ्गाभावात्। विवादाध्यासित इहप्रत्ययः सबन्धपुरःसरोऽबाधितेहप्रत्ययत्वादिह कुण्डे बदराणीतिप्रत्ययवदित्यनुमानमस्तीति चेत्, न; विशेषणविशेष्यभावाधाराधेयभावसंबन्धादिना सिद्धसाधनत्वात्। विशेषणविशेष्यादेरेव मूलसंबन्धपुरःस-

---

वत्त्वेऽनवस्था स्यादित्यर्थः। अनवस्यापि द्वितीयपक्षे द्रष्टव्या। प्रथमपक्षेऽनवस्थापरिहारं शङ्कते—**असत्येव संबन्ध इति**। इह गवि गोत्वमित्यादौ तदीयत्वेनैव समवायः प्रतिभाति। न च तावता संबन्धवत्त्वम्; अप्रतातंः। न च संबन्धाभावे तदायत्वबुद्ध्याभावः; जातिव्यक्तिसमवायबुद्धीनामेव स्वभाववशात्तदीयत्वव्यवहारजनकत्वादिति भावः। एवं तर्हि समवायोऽपि न सिद्ध्यति, तत्तत्स्थलेऽपि संबन्धिबुद्धिभिरेव जात्यादीनां तदीयत्वबुद्धिसंभवादिति दूषयति—**न जात्यादेरपीति**। दूषणान्तरमाह—**असत्ख्यातीति**। यदि हि संबन्धव्यतिरेकेण तदीयत्वं प्रतीयते, तदा सम्बन्धाभावे एव तत्संबन्धित्वप्रतीतिरित्युक्तं स्यात्, ततोऽन्यत्र सदन्यत्र प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातित्यागः असत्ख्यातिस्वीकारश्च स्यात्। न चान्यत्र सतः समवायस्य तत्र प्रतीतिः, अन्यत्रापि तदभावस्यापादितत्वादिति भावः। विषयाभावे जायमानशुक्तिरतसंसर्गप्रत्ययवद्भ्रान्तित्वं वा असत्ख्यातित्वम्। ननु समवायस्य समवायिभ्यां यदिदं निरूप्यत्वं तत्कृतेयं तदीयत्वख्यातिस्तेन नासत्ख्यातिप्रसङ्गः, निरूप्यनिरूपकभावस्यैव तदालम्बनत्वादिति, तत्राह—**असत्येवेति**। तदेवं प्रत्यक्षं दूषयित्वाऽनुमानं दूषयति—**नानुमानमिति**। अनुमानं शङ्कते—**विवादेति**। इह पटे रूपसमवाय इत्यादाहप्रत्यये बाधपरिहाराय विवादाध्यासितग्रहणम्। जात्यादिप्रतियोगीत्यर्थः। इह शङ्खे पीतमित्यादिप्रत्ययेषु व्यभिचारपरिहारायाबाधितग्रहणम्। जात्यादिप्रतियागीत्यर्थः। इह शङ्खे पीतमित्यादिप्रत्ययेषु व्यभिचारपरिहारायाबाधितग्रहगम्। असंबद्धपदाप्रत्ययव्यवच्छेदाय इति विशेषणम्। तथा च कुण्डबदरादिवज्जातिषु संयोगासंभवात्समवायसिद्धिरित्यर्थः। नेदं समवायसाधकम्, जात्यादेर्विशेषणविशेष्यभावादिसाधकतयाप्यर्थान्तरत्वादिति परिहरति—**न; विशेषणेति**। नन्विहप्रत्ययस्य संबन्धपुरस्सरत्वमनुमिन्वतामयमभिप्रायः—यत्तत्रत्यविशेष्यभावस्य मूलभूतः सेत्स्यतीति शङ्कते—**विशेषणविशेष्यादेरिति**। तत्किमिदानीं जात्यादिगोचरो विशेषगविशेष्यभावः संबन्धान्तर-

---

का भान सम्बन्धान्तर के अधीन होने के कारण अनवस्था होती है। द्वितीय पक्ष में जात्यादि से अन्यत्र ही सम्बन्ध का भान होना चाहिए। तृतीय पक्ष (समवाय को स्वतन्त्र) मानने पर अनुयोगी में या प्रतियोगी में—कहीं पर भी समवाय के सम्बन्ध का भान नहीं होगा। यदि कहा जाय कि सम्बन्धान्तर की अपेक्षा के बिना ही समवाय में जात्यादि-सम्बन्धित्व का भान हो जायगा, प्रथम पक्ष में अनवस्था क्यों होगी ? तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि यदि बिना सम्बन्ध के ही सम्बन्धित्व का भान होगा, तब तो समवाय के विना ही जाति और जातिमान् में परस्पर सम्बन्धित्व का भान हो जायगा और असत्ख्याति की भी आपत्ति होगी (अर्थात् असत्समवायादि की प्रतीति माननी पड़ेगी, जैसा कि बौद्ध मानते हैं)। समवाय का अपने सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध न रहने पर भी समवाय में सम्बन्धि-निरूपितत्व मान लेने पर समवाय सम्बन्ध के बिना ही जाति में भी व्यक्ति-निरूपितत्व भी माना जा सकेगा। कोई लिङ्ग न होने से समवाय में अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता। "विवादास्पद इह प्रत्यय (इह घटे घटत्वम्—यह ज्ञान), सम्बन्ध-पूर्वक होता है, अबाधित इहप्रत्यय होने के कारण, 'इह कुण्डे बदरम्'—इस प्रतीति के समान"—इस अनुमान में विशेष्य-विशेषणभावादि को लेकर सिद्ध-साधनता है। यदि कहा जाय कि विशेषण-विशेष्यभाव में भी मूल

रत्वं सिषाधयिषितमिति न सिद्धसाधनत्वमिति चेत्, न; इह भूतले घटाभाव इत्यस्मिन्नेव विशेषणविशेष्यभावप्रत्ययेऽनैकान्त्यात्।

यच्च लीलावतीकारेणानुमानमुक्तम्—"जात्यादिगोचरो विशिष्टव्यवहारः संबन्धनियतो भावमात्रविषयाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वात्सघटं भूतलमिति व्यवहारवत्, सामानाधिकरण्यज्ञानमबाधितसंबन्धज्ञानपुरःसरमबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानत्वाद्दण्डकुण्डले देवदत्तसंसृष्टे इति ज्ञानवत्" इति, तदप्ययुक्तम्; प्रागुक्तनीत्या सिद्धसाधनत्वात्। अथ विशेषणविशेष्यभावादेः संबन्धत्वमेव नास्ति, अद्विष्ठत्वात्, द्विष्ठत्वे चोभयत्रापि विशेषणबुद्धेर्विशेष्य-

---

पूर्वकः विशेषणविशेष्यभावत्वाद्दण्ड्यादिष्विवेत्यनुमिनोषि ? तथाचानैकान्तिकत्वम्। इह भूतले घटाभावः, इह पटे रूपसमवायः" इत्यादिविशेषणविशेष्यभावस्य संबन्धान्तरपूर्वकत्वाभावादिति दूषयति—नेति। अत्र च शङ्कायामपि विषयवाचकपदं विषयिप्रत्ययस्य लक्षकम्, प्रत्ययशब्दो वा परिहारे प्रमादलिखितः, अतो विषयस्य लक्षकत्वे "तत्प्रत्ययेनैकान्तिकत्वाभिधानमयुक्तम्" इति नाशङ्कितव्यम्।

अत्र लीलावतीकारः पूर्वपक्षावसरे स्वयमेवैतानि दूषणानि उद्गीर्य सिद्धान्तेऽनुमिमाय। तदनुवदति—यच्च लीलावतीकारणेति। अघटं भूतलमित्यादिषु बाधपरिहारार्थं जात्यादिगोचर इत्युक्तम्। अबाधितविशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते अघटं भूतलमिति विशिष्टव्यवहारेऽनैकान्तिकत्वम्, तदर्थं भावमात्रेत्युक्तम्। भावमात्रविषये विशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते पीतः शङ्ख इत्यादिव्यवहारेऽनैकान्तिकता, तदर्थमबाधितेत्युक्तम्। इमौ घटपटावित्यादिव्यवहारव्यावर्तनाय विशिष्टपदम्। सघटं भूतलमित्यत्र संयोगमादाय साध्यसिद्धिः। अनुमानान्तरमपि तदीयमुद्भावयति—सामानाधिकरण्यज्ञानमिति। अबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानं पक्षः। इतरथा भ्रान्तिस्थले बाधासिद्ध्योः प्रसङ्गात्। रूपं समवेतमिदं रजतमित्यादिस्थलेष्विवारोपितसंबन्धज्ञानेनार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थमबाधितग्रहणम्। तादृशस्थलेष्वनैकान्तिकतानिवृत्त्यर्थं च हेतावबाधितग्रहणम्। 'घटः पटः' इत्यादिज्ञानव्यवच्छेदाय सामानाधिकरण्यपदम्। इदं समवायस्य प्रत्यक्षत्वसाधनाय प्रत्युक्तम्; "न्यायनये तु प्रत्यक्ष एव समवायः" इत्युपक्रम्य नैयायिकमतेन समवायप्रत्यक्षतोपन्यासात्। तदेव दूषयति—तदप्ययुक्तमिति। प्रागुक्तनीतिर्विशेषणविशेष्यभावः संबन्धः। ननु विशेषणविशेष्यभावादेः संबन्धत्वमेव नास्ति, तत्कुतस्तेनार्थान्तरतेति शङ्कते—अथेति। नन्वद्विष्ठत्वमेव कुतः? तत्राह—द्विष्ठ-

---

सम्बन्ध का अनुमान कर लिया जायगा—"विशेषणविशेष्यभावप्रत्ययः सम्बन्धपुरस्सरः, विशेषणविशेष्यभावप्रत्ययत्वाद् दण्डिपुरुष इति प्रत्ययवत्।" तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि इस अनुमान का हेतु "इह भूतले घटाभावः"—इस प्रतीति में व्यभिचरित है।

लीलावतीकार ने जो (न्या० ली० पृ० ७०८ पर) अनुमान किया है—'जातिविषयक (इह गवि गोत्वम्—आदि) विशिष्ट व्यवहार, सम्बन्ध-नियत होता है; भावमात्रविषयक, अबाधित, विशिष्ट व्यवहार होने के कारण; जैसे—'सघटं भूतलम्' व्यवहार'। न्याय-मत से समवाय में प्रत्यक्षता-सम्पादन करने के लिए लीलावतीकार ने ही (न्या० ली० पृ० ७१८) एक दूसरा अनुमान सूचित किया है—"गौरयम्—आदि गोत्व और पुरोवर्तित्व का अवगाही सामानाधिकरण्य के ज्ञान, अबाधित सम्बन्ध-ज्ञान से जन्य होता है, अबाधित सामानाधिकरण्य-ज्ञान होने के कारण, जैसे—'दण्डकुण्डले देवदत्तसंसृष्टे'—यह ज्ञान।" इन अनुमानों में भी वही विशेषण-विशेष्यभावादि सम्बन्धों को लेकर सिद्ध-साधनता दोष है। यदि शङ्का हो कि सम्बन्ध वही होता है, जो अपने दोनों सम्बन्धियों में रहे, किन्तु विशेषण-विशेष्यभाव अपने दोनों सम्बन्धियों में नहीं रहता, अपितु विशेषण में केवल विशेषणभाव और विशेष्य में केवल विशेष्यभाव ही रहता है। यदि दोनों (विशेषणता और विशेष्यता) दोनों सम्बन्धियों में माने जायँ, तब तो दोनों में समानरूप से विशेषणता और विशेष्यता—

बुद्धेश्चाविशेषेण जननप्रसङ्गात्, एवमाधाराधेयभावोऽपि, ततो न सिद्धसाधनतेति चेत्, मैवम्; द्विष्ठत्वेऽपि कुण्डे बदराणीति प्रतिनियताधाराधेयभावबुद्धिजनकसंयोगवत्, तन्तुषु पट इति प्रतिनियतप्रतीतिजनकसमवायवच्च बुद्धिवैचित्र्यजननोपपत्तेः, प्रतिवादिनाङ्गीकृतस्य वाद्यनङ्गीकारमात्रेण सिद्धसाधनतायाः परिहर्तुमशक्यत्वात्। किंचेदमबाधितत्वं सर्वानुमानेषु विवक्षितम्? किं प्रत्यक्षेणाबाधितत्वम्? उत युक्त्या? किं वा व्यवहारे बाधराहित्यम्? नाद्यः; नीलं नभः प्रादेशिकः सवितेत्यादिविशिष्टव्यवहारे व्यभिचारात्। नापि द्वितीयः;

त्वे चेति। विशेषणविशेष्यत्वनियमो न स्यादित्यर्थः। इममेव न्यायमाधाराधेयभावेऽप्याह—एवमिति। तत्रापि बदरादेराधारत्वं कुण्डादेराधेयत्वं च प्रतीयेत इत्यर्थः। दूषयति—मैवमिति। यथा हि कुण्डबदरसंयोगस्य द्विष्ठत्वाविशेषेऽपि कुण्ड एवाधारबुद्धिं करोतीति ब्रूषे, नतु बदरेषु, बदरेष्वेवाधेयबुद्धिम्, नतु कुण्डे, तत्कस्य हेतोः? स्वभावविशेषादेव। एवमाधाराधेयभावादेरपीत्यर्थः। स्यान्मतम्—न संयोगित्वमात्रात्कुण्डादेराधाराधेयभावः, किं तर्हि? बदरपतनप्रतिबन्धकत्वं कुण्डस्य तदाधारत्वम्, बदराणां च तत्प्रतिबद्धगुरुत्वाधिकरणत्वं तदाधेयत्वम्। तच्च द्वयं प्रतिनियतमेवेति वैषम्यमिति, तत्राह—तन्तुषु पट इतीति। न हि तत्रावयविगुरुत्वमवयवैः प्रतिबध्यते। नित्यप्रतिबन्धप्रसङ्गेनावयविनो नियमेन पतनाभावप्रसङ्गात्, रूपाद्याधारत्वाभावप्रसङ्गाच्च। न हि तेषां पतनमस्ति यत्प्रतिबन्धकतया तदाधारत्वं स्यात्। नचौपचारिकत्वम्; मुख्ये बाधाभावात्, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च। तस्मात्तन्तुषु पट इत्यत्रोभयोः समवायाश्रयत्वाविशेषेऽपि समवाये स्वभावविशेषादेव तन्तुष्विहबुद्धिः पटे चादेयबुद्धिरित्यङ्गीकार्यम्, सच स्वभावविशेषोऽत्रापि समानः। अथ तत्र समवायस्यैकत्वेऽपि व्यञ्जकशक्तिवैचित्र्यात्प्रतिनियमः, यथोक्तं भाष्यकृता समवायैकत्वेन द्रव्यत्वगुणकर्मसङ्कराशङ्कायाः परिहारमुपसंहरता—'यथा कुण्डदध्नोः संयोगैकत्वेपि भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः, तथा द्रव्यत्वादीनां समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधाराधेयत्वनियम इति मतम्, तर्हि इहाप्याधाराधेयभावस्यैकत्वेऽपि व्यञ्जकशक्तिवैचित्र्याद्वैचित्र्यव्यवहारः' इति समं समाधानमन्यत्राभिनिवेशादिति भावः। किंच प्रतिवादिना स्वसिद्धान्तानुरोधेनाधाराधेयादिसंबन्धेष्वर्थान्तरत्वेऽभिहिते न वैशेषिकेण स्वानङ्गीकारमात्रात्तच्छक्यपरिहारम्, तस्य स्वसिद्धान्तात्प्रच्यावनाभावादित्याह—प्रतिवादीति। एवमर्थान्तरतामुक्त्वानुमानत्रयहेतुष्वबाधितेति विशेषणप्रयुक्तदूषणान्याह—किंचेदमिति। नाद्य इति। प्रत्यक्षेणाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वं नीलं नभ इत्यादिष्वस्ति, नहि तत्र प्रत्यक्षेण वैपरीत्यमनुभूयते, तदयोग्यत्वात्तेषाम्, अथापि न साध्यमस्ति, नैल्यादेर्वियदादेश्च संबन्धासंभवादित्यर्थः। युक्तिबाधविरहितत्वमबाधितत्वं प्रकृतेप्यऽसिद्धमिति सप्रपञ्चं दर्शयति—नापि द्वितीय इत्यादिना। यदि समवायः स्वतन्त्रस्तदा स्वतन्त्रयोः संयोगव्यतिरिक्तसंबन्धाभावादद्रव्यत्वेन तस्याप्यसंभवात्संबन्धिभ्यामसंबद्ध इति वक्तव्यम्। असंबद्धस्य च न तद्घटकत्व-

दोनों की प्रतीति होनी चाहिए। यही दोष आधाराधेयभाव में भी है, अतः सिद्ध-साधनता क्यों होगी? तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि जैसे संयोग द्विष्ठ होने पर भी कुण्ड में आधारतामात्र और बदर में आधेयतामात्र की प्रतीति उत्पन्न करता है, एवं जैसे समवाय द्विष्ठ होने पर भी तन्तुओं में आधारतामात्र और पट में आधेयतामात्र का प्रत्यायक होता है, ठीक वैसे ही अपने स्वभावविशेष के कारण द्विष्ठ विशेषणविशेष्यभाव भी कहीं विशेष्यतामात्र और कहीं विशेषणतामात्र की बुद्धि को जन्म देता है (द्र० वै० भा० पृ० १७३)। प्रतिवादी जिस बात को मानता है, वादी के न माननेमात्र से सिद्ध-साधनता का परिहार नहीं कर सकते। उक्त दोनों अनुमानों में 'अबाधितत्व' का क्या अर्थ है? क्या प्रत्यक्षाबाधितत्व? या युक्त्यबाधितत्व? या व्यवहार में बाध-रहितत्व? प्रथम पक्ष मानने पर "नीलं नभः"—आदि विशिष्ट व्यवहार में व्यभिचार होता है; क्योंकि वहाँ 'सम्बन्धपूर्वकत्व' साध्य न रहने पर भी प्रत्यक्षाबाधितत्व-घटित हेतु रह जाता है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि

युक्तिबाधविरहस्यात्राप्यसिद्धेः । तथाहि—समवायः स्वतन्त्रः ? परतन्त्रो वा ? नाद्यः; समवायिभ्यामसंबन्धे पदार्थान्तरवत्तद्घटकत्वाभावप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः; संबन्धिभ्यां संबन्धे संबन्धान्तरसापेक्षत्वेनानवस्थाप्रसङ्गात । अथ समवायः संबन्धिभ्यां संबन्धे संबन्धान्तरं नापेक्षते, तस्य संबन्धिसंबन्धनपरत्वात्, नहि तस्मिन्सति संबन्धिनावसंबद्धौ भवतोऽतो नानवस्थेति चेत्, न; संयोगस्याप्युक्तनीत्या संबन्धान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः; नीलं नभ इत्यादावपि व्यवहारे बाधाभावेन व्यभिचारस्य तादवस्थ्यात् ।

घटस्तद्वृत्त्यनित्यान्यभावसंबन्धवानयम् ।
संबन्धित्वादितिस्याच्चेन्नाभावे व्यभिचारतः ॥१५॥

अयं घट एतद्घटनिष्ठानित्यत्वानधिकरणभावरूपसंबन्धवान्संबन्धित्वात्पटवदिति चेत्, नैवम्; अभावे हेतोर्व्यभिचारात्, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावसंबन्धेन संबन्धित्वाङ्गीकारात् । अथ

मतिप्रसङ्गादित्याह—नाद्यः; समवायिभ्यामिति । परतन्त्रपक्षे दूषणमाह—नापि द्वितीय इति । पराधीनं हि परतन्त्रं नाम, नचासंबद्धस्य तदधीनता, अतिप्रसङ्गात् । तथाचानवस्थेति भावः । ननु संबन्धिभ्यां संबद्धोऽपि समवायो न संबन्धान्तरेण, येनानवस्था स्यात्, अपि तु संबन्धात्मकतया, स्वभावादेव । यथाहुर्भाष्यकाराः—'यथा द्रव्यगुणकर्मणां सदात्मकस्य स्वभावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति, एवमविभागिनां वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति' इति । तदेतच्छङ्कते—अथेति । संबन्धिनोर्यत्संबन्धनं घटनं तत्परत्वात्तत्स्वरूपत्वादित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—नहि तस्मिन्निति । अयमत्र ग्रथितोऽर्थः—समवायः संबन्धान्तरेण संबद्धः संबन्धित्वाद्घटवदिति सिद्धान्तिनोऽभिमतम् । तत्र चासंबन्धत्वमुपाधिरिति पूर्वपक्षिणोभिप्रेतम्, तत्र सिद्धान्ती संयोगे साध्याव्यापकतामाह—न संयोगस्यापीति । न चासमवायत्वमुपाधिः, पक्षेतरत्वात् । नचातेजस्त्वन्यायः; संप्रतिपन्नबाधकाभावादिति । व्यवहारे बाधाभावोऽबाध्यत्वमिति तृतीयपक्षे व्यभिचारमाह—नापि तृतीय इत्यादिना । एतेन "विवादाध्यासितं नित्यसंबन्धेन संबद्धं द्रव्यत्वादाकाशवत्" इति मानमनोहरकारोक्तमपि निरस्तम्, विशेषणविशेष्यभावेनार्थान्तरत्वादिति ।

अनुमानान्तरमुद्भावयति श्लोकेन—घट इत्यादिना । संगृहीतमनुमानं विवृणोति—अयं घट इति । एतद्घटनिष्ठश्चानित्यत्वानधिकरणं च भावरूपश्च यः संबन्धस्तदधिकरणमिति योजना । विशेषणविशेष्यादिरूपाभावात्मकसंबन्धेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै भावग्रहणम् । भावरूपसंबन्धवानित्युक्ते संयोगेनार्थान्तरता, तदर्थमनित्यत्वानधिकरणमित्युक्तम् । तथाचाप्रसिद्धविशेषणता, तन्निवृत्त्यर्थं एतद्घटनिष्ठेत्युक्तम् । घटान्तरसंयोगे साध्यप्रसिद्धिः, तस्या नित्यत्वाधिकरणत्वेपि एतद्घटनिष्ठत्वे सत्यनित्यत्वानधिकरणत्वमस्त्येव; एतद्घटनिष्ठत्वानधिकरणत्वात् । गुणादयश्च पक्षतुल्या इति न व्यभिचाराशङ्कावकाशः । नाभावे व्यभिचारतः इत्यंशं व्याचष्टे—अभाव इति । नहि तस्य भावरूपसंबन्धाधिकरणत्वसंभवः, अभावस्य भावाधिकरण-

---

युक्तिरूप बाध-रहितत्व प्रकृत समवाय-घटित व्यवहार में भी सिद्ध नहीं । समवाय स्वतन्त्र है ? या परतन्त्र ? यदि स्वतन्त्र है तब तटस्थ पदार्थान्तर के समान ही वह तन्तु, पटादि का घटक (योजक या वैशिष्ट्यापादक) न हो सकेगा । द्वितीय (स्वतन्त्र) पक्ष में समवाय अपने सम्बन्धियों से सम्बन्ध स्थापित करने कें लिए सम्बन्धान्तर की यदि अपेक्षा करता है, तब अनवस्था होगी और यदि सम्बन्धान्तर की अपेक्षा न करके ही सम्बन्धियों सें वैशिष्ट्यापादक है, तब उसी प्रकार संयोग भी सम्बन्धान्तर (समवाय) की अपेक्षा के बिना ही अपने सम्बन्धियों का योजक हो जायगा । तृतीय (व्यवहार में बाध-रहितत्व) पक्ष मानने पर भी "नीलं नभः"—आदि व्यवहार में व्यभिचार जैसा-का-तैसा है ।

"यह घट, एतद्घट-निष्ठ, अनित्य-भिन्न, भावरूप सम्बन्धवाला है; सम्बन्धी होने के कारण; पट के समान"—इस अनुमान का हेतु भी अभाव में व्यभिचरित है; क्योंकि अभाव में उक्त साध्य

भावत्वादिति हेतुः ; तथापि समवाये व्यभिचारात् । द्रव्यत्वादिति प्रयोगेऽपि संयोगनित्यतापादकतयार्थान्तरत्वप्रसङ्गः । न चानित्यस्य घटादेर्नित्यसंबन्धाधिकरणत्वानुपपत्तिः ; समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेः । अतो यथा समवायस्य स्वभावसामर्थ्यादेवात्मनि परत्र च संबद्धव्यवहारहेतुत्वम्, एव गुणगुण्यादेरपि स्वभावसमर्थ्यादेव संबद्धव्यवहारहेतुत्वोपपत्तेर्न कल्पनागौर-

---

त्वात् । अथ च विशेषणविशेष्यभावेन तत्र संबद्धत्वमस्तीत्यर्थः । अभावे हेतोर्वृत्तिमेव दर्शयति—तस्यापीति । हेत्वन्तरं शङ्कते—अथेति । तथापि समवायेऽनैकान्तिकता, अद्रव्यत्वेनासंयोगित्वादनवस्थाभयाच्च न समवायवत्त्वम्, अथ च भावत्वं समवायस्यास्तीत्यर्थः । अस्तु तर्हि द्रव्यत्वादिति हेतुस्तथा च न व्यभिचारोपद्रवस्तत्राह—द्रव्यत्वादितीति । इदं हि भावरूपे नित्ये कस्मिंश्चित्संबन्धे विश्राम्यतीति, तथाच संयोगनित्यतयापि सार्थक्यादर्थान्तरमित्यर्थः । ननु कथमर्थान्तरता, यावता संयोगस्य नित्यतैव न संभवति ? तन्नित्यत्वेऽनित्यघटादिनिष्ठत्वानुपपत्तेः । अथ कथमनुपपत्तिः ? घटाद्यभावदशायामनाधारस्य स्थित्यनुपपत्तेः, असमवेतस्य च गुणत्वानुपपत्तिः कदाचिदसमवेततया स्थितस्य युतसिद्धतया कदाचिदप्यसमवायादिति, तत्राह—न चानित्यस्येति । तत्किमियं राजाज्ञा ? नेत्याह—समवायेति । अयमभिसन्धिः–षण्णामपि पदार्थानामित्युपक्रम्याश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति भाष्यकारैर्भाषणात्समवायस्याश्रितत्वं वक्तव्यम्, तत्रानित्यघटादिविगमे यः परिहारः स चात्रापि भविष्यति । अथ तत्र समावस्यैकत्वात्कतिपयनित्यपदार्थद्वयाश्रिततया नाश्रितस्वभावताव्याघातः । संयोगस्यैक्यं केन वार्यते ? अथ तत्र घटसंयोगः पटसंयोग इति बुद्धिभेदात्संयोगभेदः, समवायेऽपि दीयतां दृष्टिः ! "अस्ति रूपसमवायः गोत्वसमवायः" इति बुद्धिभेदः । अथ घटासमवेतसंयोगस्य घटगुणत्वानुपपत्तिः, युतसिद्धतया च समवायानुपपत्तिरिति नूनं बधिर इव भवांल्लक्ष्यते, कथमपरथा समवायमेव निराकुर्वन्तं प्रत्यननुरूपाणि ईदृशानि च वचनानि जल्पसि ? किंच—

असंसिद्धस्य रूपादेः समवायो न सिद्ध्यति । संसिद्धस्यापि रूपादेः समवायो न सिद्ध्यति ॥

अलब्धात्मकस्य रूपादेः संबन्धित्वाभावाल्लब्धात्मकस्य संबन्धो वक्तव्यस्तथाचोष्ट्रलगुडवृत्तान्तापात इति, तस्मात्साधूक्तम्—समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेरिति । तत्किं समवायनाममात्र एवायुष्मतः प्रद्वेषः ? न त्वर्थे ? यावता भवतापि भावरूपनित्यसंबन्धः संयोगो नाम स्वीकृत इति । तदिदं भिक्षुकपादप्रसारणं पूर्ववादिनः परिहरन्नुपसंहरति—अतो यथेति । नास्माभिस्तादृशः संयोगः स्वीक्रियते, कथं तर्हि न गुणादीनामनन्यत्वापत्तिस्तत्संबन्धव्यवहारस्य वा न निर्विषयता ? तत्तत्स्वभाववशादेवतयोरुपपत्तिरित्यवेहि ! तथासति धर्मधर्मिभावस्यैवोद्धारप्रसङ्ग इति चेन्नोच्चैर्भणितव्यम्, यदि कोऽप्यभ्यर्णमाकर्णयेन्महदेतदद्वैतवादिभ्योऽस्मभ्यं मर्मोद्घाटितं स्यादिति, अवश्यं च समवायं स्वीकृत्यापि स्वभाववाद एवालम्बनं तदवश्यापेक्षणीयस्वभाव एव सर्वत्राश्रीयतां किमनवस्थाकल्पनागौरवलौहगन्धाधायिनाऽप्रामाणिकेन समवाय-

---

के न रहने पर भी विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धित्व (प्रकृत हेतु) रह जाता है । यदि 'भावत्व' हेतु बनाया जाय, तब भी समवाय में व्यभिचार होता है, (क्योंकि अनवस्था के भय से वहाँ समवायादि सम्बन्धान्तर मानना सम्भव नहीं और भावत्व हेतु वहाँ पर भी रहता है)। यदि 'द्रव्यत्व' हेतु बनाया जाय, तब भी संयोगरूप सम्बन्ध में नित्यतामात्र का आपादन हो सकेगा, अतः अर्थान्तरता होती है । अनित्य घटादि में नित्य सम्बन्ध की आधारता अनुपपन्न नहीं ; क्योंकि समवायरूप नित्य सम्बन्ध की अधिकरणता के ही समान दूसरे भी नित्य सम्बन्ध की अधिकरणता बन जायगी । अतः जैसे अपने स्वभाव-विशेष से समवाय सर्वत्र सम्बद्ध-व्यवहार का हेतु होता है, वैसे ही गुण-गुणी-आदि भी अपने स्वभाव-सामर्थ्य से ही सम्बद्ध-व्यवहार के हेतु बन जायँगे, अतः ऐसा समवाय मानने की आवश्यकता क्यां ? जिसके मानने में व्यर्थ का कल्पना-गौरव

वानवस्थादुःस्थसमवायस्वीकारावकाशः। तदेवं लक्षणासंभवात्प्रमाणाभावाच्च न समवायस्य द्रव्यादिभ्यो भेदसिद्धिः। अतो न क्वापि लक्षणभेदाद्भेदसिद्धिरिति सिद्धम्।

कल्पनादुर्व्यसनेनेत्यर्थः। समवायदूषणमुपसंहरति—**तदेवमिति**। भिन्नलक्षणयुक्तत्वं भेद इति पक्षदूषणमुपसंहरति—**अतो न क्वापि लक्षणभेदादिति**। किंच लक्षणानामेव तावदनुगतलक्षणमस्ति ? न वा ? न यदि, तदा तेषामितरव्यावृत्ततया ज्ञानं न स्यात्, तदन्तरेणापि वा तथा ज्ञाने पदार्थेष्वपि तथैव स्यादिति लक्षणक्षतिः। अथास्ति किंचिदनुगतं लक्षणलक्षणम् ? किं तत् ? सजातीयविजातीयव्यावर्तकत्वमिति चेन्न, सामान्यादिलक्षणेष्वव्याप्तेः। नहि ते जातिमन्तः, येन तत्सजातीयमन्यत्तैर्लक्षणैर्व्यवच्छेद्यं स्यात्। किंचैवं द्रव्यादीनामपि लक्षणं न स्यात्, सामान्याद्यव्यवच्छेदकत्वात्। नहि सामान्यादयः सजातीयतया विजातीयतया वा व्यवच्छेदमर्हन्ति, जातिरहितत्वादेव, प्रमेयाभिधेयादिलक्षणेषु चाव्याप्तिः। नहि तत्र किंचिद्व्यवच्छेद्यमस्ति, तस्य प्रमितौ प्रमेयतयाऽव्यवच्छेद्यत्वादप्रमितौ च किं व्यवच्छेद्यं स्यात् ? एवमभिधेयत्वेऽपि। किंचेदं साजात्यमभिमतं व्यवच्छेद्यस्य ? किं लक्ष्यमात्रवृत्तिजात्या ? किं यया कयाचन ? नाद्यः ; लक्ष्यस्यापि व्यवच्छेदापातात्। न द्वितीयः ; विजातीयपदवैयर्थ्यात्। अन्ततः सत्तयापि जातिमतां साजात्यात्। विजातीयव्यावर्तकमिति चेन्न ; सामान्यादिलक्षणेष्वव्याप्तेः। नहि ते जातिमन्तः, जातिरहितानां च वैजात्यस्याप्यभावात्। जातिशब्दस्योपाधिपरत्वेऽप्येते दोषा दुरुद्धराः। एतेन लक्ष्यलक्षणमपि प्रत्युक्तम् ; तस्याप्युक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात्। न च सामान्यादीनामपि सामान्यवत्ता, अनवस्थानात्। नचेदृगनवस्थादीनामदूषणत्वम्, अवैषम्यात् ; अदर्शननियमसाम्यात्। एवमुपाधावुपाधिस्वीकारेऽपि, तत्तल्लक्षणानिरुक्तेश्च जातिलक्षणे च खण्डितम्, खण्डयिष्यते च जातिः। तेन जातिद्वारोपाधिद्वारा वा वादीन्द्रादिभिरुत्प्रेक्ष्यमाणलक्षणान्यपि क्षुण्णानि मन्तव्यानि। अपि च—

वादीन्द्रस्येष्टदा तावन्महाविद्या पुलोमजा। सा च सव्यभिचारादिदोषैस्संदूषितात्मना ॥१॥
तामेव दूषयन्नेष तत्पादे निपतन्नपि। कथंकारं मदोन्मत्तः श्रद्धेयवचनो भवेत् ॥२॥
पक्षतद्भिन्नवृत्तित्वाद्युपज्ञाभिश्च रीतिभिः। आप्ता साधकतासीमा एताः पारिप्लवावहाः ॥३॥
नोपादेया महाविद्यामुद्रिता जातु जातयः। तत्त्वं चापि स्वीययत्नाज्जिगीषयिषुभिर्बुधैः ॥४॥
शक्यते च सर्वप्रकारविप्लवो महाविद्याभिः। साधयितुं ग्रन्थगौरवभयान्न प्रपञ्च्यते सः ॥५॥
तस्मात्—'लक्ष्यलक्षणभावोयमलक्ष्योऽभिन्नवस्तुनि। त्वद्युक्त्यैवान्वितमनिर्वाच्याविद्याविजृम्भितम् ॥६॥

इति षट्पदार्थमतखण्डनया परिशुद्धचिद्घनसुखैकनिधिः।
प्रतिषिद्धभेद इह यः परमः प्रतिपादितस्तमभिनौमि भवम् ॥७॥

ननु वैधर्म्यभेदनिरसनेनैव लक्षणभङ्गवादिनामपि भेदहेतुर्विभञ्जित एव, सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपि वैधर्म्यरूपत्वात्, अतो मुधैवायं क्षणभङ्गवादावतार इति, उच्यते—न तावत्सुगतमते वैधर्म्यरूपो भेदः, स्वरूपभेदवादित्वात्तथागतानाम्। नापि सामर्थ्यासामर्थ्ययोर्धर्मरूपत्वम्, यतस्तयोः सत्त्वासत्त्वात्मकतया स्वरूपत्वम्, अतः स्वरूपभेदस्यैवायं विशेषो भङ्ग्यन्तरेण निराक्रियते। अथवा प्रत्यक्षतो भेदाधिगतिं निराकृत्यानुमानिकभेदाधिगतिविध्वंसोऽनेन क्रियते, तत्र क्षणभङ्गवादिनो वावदति 'एकस्वभावत्वायोगात्सामर्थ्यस्य च स्वभावत्वात्समर्थस्वभावस्यासमर्थस्वभावत्वमयुक्तम्, स्वभावहानिप्रसङ्गात्, अत एकत्वेन भवद्भिरभिमन्यमानमपि भिन्नमेव। यदा च समर्थक्षणादसमर्थक्षणमेव प्रत्यभिज्ञायमानमपि भिद्यते, तदा किमु वक्तव्यमप्रत्यभिज्ञायमानतया अप्रतीयमानैक्यानां घटपटप्रभृतीनां भेद इति ? तदेतदाह—

और अनवस्थादि दोष होते हैं। इस प्रकार लक्षण और प्रमाण के न होने से द्रव्यादि से भिन्न समवाय सिद्ध नहीं होता। इस लिए कहीं भी लक्षण-भेद से भेद सिद्ध नहीं होता—यह सिद्ध हो गया।

अन्ये मन्यन्ते—माभूल्लक्षणभेदाद्भेदः, तथापि सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाद्बीजादीनां भेदः सिद्ध्यति। तथाहि—यदि कुसूलनिहितं बीजं तदानीमङ्कुरजनने समर्थम्, तर्हि तदैवाङ्कुरं जनयेत्, यद्यदा यज्जननसमर्थं तत्तदैव तत्करोति यथा सामग्री, न च कुर्वदुपलभ्यते, तस्मादसमर्थम्, सहकारिसमवधाने च समर्थमिति, सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः। न च समर्थस्यापि सहकारिसमवधानाभावादजनकत्वमिति संदिग्धव्यतिरेकिता; जनकस्वभावत्वे तस्य सहकारिसमवधानाभावेऽपि स्वभावविरोधादेवाजनक-

अन्ये मन्यन्त इति। धर्मनिर्देशश्चायं परकीयरीत्या। स्यादेतत्, यदि विरुद्धधर्मसंसर्गः स्यात्स्यात्तदा बीजक्षणानां भेदः, स तु कुतः? यावता समर्थमेव कुसूलनिहितमपि बीजमङ्कुरजनन इति, तत्राह—**यदि कुसूलनिहितमिति।** तत्र जनकत्वेन सामर्थ्यस्य व्याप्तिं दर्शयन्व्यापकजनकत्वनिवृत्त्या व्याप्यसामर्थ्यनिवृत्तिमनुमिनोति—**यद्यदेत्यादिना।** कुसूलनिहितं बीजसमर्थमङ्कुरोत्पादे, तदानीं तदजनकत्वाद्यदेवं तदेवं यथा पदार्थान्तरमिति पररीत्या च प्रयोगः, स्वकीयरीत्या तु यद्यन्न जनयति तत्तत्रासमर्थं यथा पदार्थान्तरम्, न जनयति चेदं कुसूलनिहितं बीजमिति स्वभावहेतुः। तदेवं प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामसामर्थ्यमुपपादितम्, इदानीं क्षणान्तरस्थस्य सामर्थ्यं दर्शयति विरुद्धधर्माध्याससिद्धये—**सहकारीति।** तत्रापि यदि सहकारिसमवेतं बीजसमर्थमङ्कुरजनने स्यान्न जनयेदिति प्रसङ्गः यद्यज्जनयेत्तत्तत्र समर्थं यथा सामग्री, जनयति चेदमिति विपर्ययः। धर्मद्वयप्रतिपादनमुपसंहरति—**इति सामर्थ्येति।** ननु तदानीं तदजनकत्वादिति हेतुरनैकान्तिको विपक्षाद्व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात्। यदि हि समर्थस्याजनकत्वमसंभव्येवेति निर्णीयेत, तर्ह्येव विपक्षव्यतिरेकनिर्णयः; न च तदस्ति, समर्थस्यापि सहकारिमेलनाभावादजनकत्वसंभवात्। तस्मात्संदिग्धविपक्षव्यतिरेकित्वात्संदिग्धानैकान्तिकमेव। यथाहुः—

'यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्क्यते। विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम्' इति ॥

तत्राह—**न च समर्थस्यापीति।** तत्र वक्तव्यं किं बीजस्य जनकत्वं स्वभावः? उत जनकत्वमजनकत्वम् आहोस्विदजनकत्वमेवेति? तत्र प्रथमं दूषयति—**जनकस्वभावत्व इति।** **स्वभावविरोधादेवेति।**

पूर्व पक्ष—बौद्धों का कहना है कि लक्षण-भेद से वस्तु-भेद सिद्ध न होने पर भी सामर्थ्य-असामर्थ्यरूप विरुद्ध धर्मों के सन्बन्ध से बीजादि का भेद सिद्ध होता है (द्र० आत्म० वि० पृ० ४३)। जैसे कि धान्यागार में रखा बीज यदि अङ्कुर-जनन का सामर्थ्य रखता है, तब वहीं पर उसे अङ्कुर पैदा कर देना चाहिए; क्योंकि जो जिस समय जिसके जनन का सामर्थ्य रखता है, वह उसी समय उस कार्य को जन्म दिया करता है, जैसे—खेत, पानी–आदि सामग्री। किन्तु धान्यागारस्थ बीज, अङ्कुर पैदा नहीं करता, अतः असमर्थ है, खेत, पानी—आदि सहकारी सामग्री की सहायता पाकर वही अङ्कुर-जनन में समर्थ हो जाता है—यही है सामर्थ्य असामर्थ्यरूप विरुद्ध धर्मों का बीज में सम्बन्ध। यदि कहा जाय कि धान्यागारस्थ बीज यद्यपि समर्थ है, फिर भी सहायक सामग्री का समागम न होने से अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः उक्त 'अजनकत्व' हेतु अपने साध्य (असामर्थ्य) के अभावाधिकरण में रह जाने से व्यभिचारी है (यद्यपि वहाँ असामर्थ्याभाव का निश्चय नहीं; तथापि सन्देह होने से ही सन्दिग्ध व्यभिचारी है) तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि समर्थ बीज का जनकत्व यदि स्वभाव है, तो फिर सहकारी के अभाव-काल में भी स्वभाव-विरुद्ध अजनकता उसमें कैसे बनेगी? (तत्त्वसंग्रह-कार ने कहा है—

"कार्याणि हि विलम्बन्ते कारणासन्निधानतः।
समर्थहेतुसद्भावे क्षेपस्तेषां हि किं कृतः॥" (तत्त्व० श्लो० ३९५)

अतः कहना होगा कि धान्यागारस्थ बीज में सामर्थ्य का अभाव ही है, वह विपक्ष नहीं)।

त्वानुपपत्तेः। सहकारिसमवधाने जनकमजनकं चान्यदेति स्वभाव इति चेत्, मैवम्; एकस्यानेकस्वभावतानुपपत्तेः। किञ्च यदि सहकारिसमवधानमपि स्वभावान्तर्भूतम, तदा तदपि तदैव संपद्येत, स्वभावस्यानपायात्। अथाजनकत्वं स्वभावः, तदा न कदाचिदप्यङ्कुरं जनयेत्। अथ सहकारिसमवधानानन्तरभाविनः कार्यात्समनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावः; तर्हि कुसूलनिहितावस्थायामपि बीजस्य यथावर्णितस्वभावो भवेत्, तत्स्वभावस्य तदानीमभावे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्। अथ सहकारिसमवधानं न स्वभावः; तर्हि तत्कारणस्योपकरोति? न वा? न चेद्, अनपेक्षणीयत्वम्। उपकरोति चेत्, उपकारो वस्तुनो भिन्नः? न वा? भिन्नत्वे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन स एव कार्यजनक इति न स्थिरस्य कारणता।

स्वभावभूतेन जनकत्वेन विरोधादजनकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—**सहकारीति**। दूषयति—**मैवमेकस्येति**। स्वोहि भावः स्वभावः। असाधारण इति यावत्। तथाचोभयस्वभावत्वे किं युगपदुभयं स्वभावभूतम्? पर्यायेण वा? नाद्यः; भवद्भिरेव सहकारिसमवधानासमवधानादस्थतया व्यवस्थापनात्, नित्यं कार्यसत्त्वासत्त्वयोः प्रसङ्गाच्च। द्वितीये तु नोभयोरपि स्वभावता, तस्योभयत्रानुगच्छतोपि तयोरननुगमनेन भेदावसायादिति भावः। यदि च सहकारिसमवधानासमवधानव्यवस्थया जनकत्वाजनकत्वयोरप्येकत्र व्यवस्थाभिप्रेयते, सापि न संभवतीत्याह—**किञ्चेति**। तथाच-तदसमवधानाभावात्तत्प्रयुक्ताजनकत्वमपि तस्य नास्तीति जनकैकस्वभावत्वं स्यात्; तथा च पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः। सहकारिसमवधानस्याप्यस्वभावत्वपक्षमुत्तरत्राशङ्क्य निराकरिष्यति। अजनकत्वमेव स्वभाव इति तृतीयं पक्षं शङ्कते—**अथाजनकत्वमिति**। ननु नात्यन्तं जनकत्वमजनकत्वं वास्य स्वभावः, किं तर्हि? सहकारिसमवधाने सति यत्कार्यं भवति तस्मादनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावः, तेन न सहकारिसमवधानाभावेऽपि जनकत्वम्, नापि सहकारिसमवधानेप्यजनकत्वमित्याह—**अथ सहकारीति**। दूषयति—**तर्हीति**। एवंविधः स्वभावः कुसूलनिहितावस्थायामप्यस्य विद्यते इति तदापि कार्यजन्मप्रसङ्ग इत्यर्थः। विपक्षे बाधकमाह—**तत्स्वभावस्येति**। यत्तदाशङ्क्य निराकरीष्यतीत्युक्तम्, तदाह—**अथेति**। ननु यद्यनुपकारिण्यपेक्षानुपपन्ना, तद्युपकुर्वन्त्येव सहकारिणः कारणस्येति शङ्किते परिहरति—**उपकारो वस्तुन इति**। उपकारस्य वस्तुनो भिन्नत्वे वस्तुनः कारणत्वं न स्यात्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यैव कारणत्वादिति परिहरति—**भिन्नत्व इति**।

यदि कहा जाय, समर्थ बीज के दोनों (जनकता और अजनकता) स्वभाव मानेंगे, सहकारि-समागम के समय जनकता और उसके विरह-समय अजनकता। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि एक ही वस्तु के अनेक स्वभाव नहीं हो सकते। और स्वभाव-प्रयोजक सहकारि-समवधान भी यदि बीज के स्वभाव में प्रविष्ट हो जाता है, तब सहकारी का कभी विरह नहीं होना चाहिए (शान्तरक्षित ने यही कहा है—"तत्सम्बद्धस्वभावस्य भावे तेषामपि स्थितेः"—तत्त्व० श्लो० ४१२)। बीज का यदि अजनकत्व स्वभाव है, तब तो कभी भी अङ्कुर-जनकता नहीं आनी चाहिए। यदि कहा जाय कि सहकारि-समवधान के अनन्तर होनेवाले अङ्कुररूप कार्य के प्रति अव्यवहित पूर्व रहना—यह बीज का स्वभाव मानेंगे; तव तो धान्यागारस्थ बीज का भी यही स्वभाव रहेगा, अन्यथा स्वभाव-परित्याग-प्रसङ्ग होगा। सहकारि-समवधान यदि बीज-स्वभाव के अन्तर्गत नहीं, तब कारण का उपकार करना है? या नहीं? यदि नहीं, तब तो सहकारी की अपेक्षा ही क्यों होगी? यदि उपकार करता है, तब बताइए वह उपकार वस्तु (बीज) से भिन्न है? या नहीं? यदि भिन्न है, तव तो धान्यागारस्थ बीज के प्राप्त होने पर भी सहकारी की प्राप्ति न होने के कारण अङ्कुर नहीं होता, अतः अङ्कुर की जनकता सहकारी में ही माननी होगी, बीज में कारणता न बनेगी। जैसा कि शान्तरक्षित ने कहा है—

"तस्मिन् सति हि कार्याणामुत्पादस्तदभावतः।
अनुत्पादात् स एवैवं हेतुत्वेन व्यवस्थितः॥" (तत्त्व० श्लो० ४००)

अभिन्नत्वे तु पूर्वावस्थस्य वस्तुनः सांप्रतमुपकाराभिन्नतयोत्पत्त्यसंभवाद्वस्त्वन्तरोत्पत्तेः क्षणिकस्यैव कारणताप्रसङ्गः। उपकारस्य वस्तुतन्मात्रत्वे च सहकारिससवधानात्पूर्वमपि तद्भावात्तदापि कार्यजननम्, सहकारिसमवधानवैयर्थ्यं च प्रसज्येत। अथोपकारो वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयः; तदा तस्यैव कारणत्वमिति न वस्तुनः कारणता। न च वस्तुनोऽप्यन्वयव्यतिरेकित्वात्कारणता; केवलव्यतिरेकाभावात्— सत्युपकारे वस्त्वभावापराधेन कार्याभावानुपलम्भात्। तदेवं सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाज्जनकाजनकयोर्भेद-

द्वितीये दूषणमाह—अभिन्नत्व इति। अत्र वक्तव्यं किं वस्तुन उपकारादभेदः ? उपकारस्य वा वस्तुनोऽभेदः ? प्रथमे प्राह—पूर्वावस्थस्येति। उपकारः खल्विदानीमुत्पद्यते पूर्वसिद्धस्य च वस्तुनस्तदभेदे तस्यैव पुनरुत्पत्तिः प्रसज्येत, तच्चायुक्तम्, द्विरुत्पत्त्यभावात्, अतोऽन्यस्यैवोत्पत्तिर्वक्तव्या, तथाच कथय कथं न क्षणिकस्य कारणतापत्तिः ? इत्यर्थः। द्वितीये दूषणमाह—उपकारस्येति। वस्तुनः पूर्वमेव विद्यमानत्वात्तदभिन्नोपकारोऽपि पूर्वमेव विद्यत इति तदापि कार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः। दूषणान्तरमाह—सहकारिसमवाधानेति। वस्तुस्वभावस्य तस्य तत्पूर्वमपि भावादिति भावः। भेदाभेदप्रयुक्तदूषणपरिजिहीर्षोरनिर्वाच्यमतमुद्भावयति—अथेति। दूषयति—तदेति। यथा भेदेनानिर्वचनीयत्वम्, तथाऽभेदेनापीति न वस्तुस्वरूपत्वमुपकारस्य। तथाच क्षणिकस्य कारणत्वं दुरपवादम्; वस्तुनश्चाकारणतापत्तिरतिरिच्यत इति न भिन्नपक्षात्फलतो भेद इति भावः। ननु किमिति वस्तुनोऽकारणता, यावतान्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यापि कारणत्वमवसीयते, इतरथोपकारस्यापि तन्न स्यादिति ? तत्राह—न च वस्तुनोपीति। हेतुमाह—केवलेति। तदेव विवृणोति—सत्युपकार इति। यथा हि बीजे विद्यमानेप्युपकाराभावादनुत्पत्तिमभ्युपैषि, न तथोपकारे विद्यमानेऽपि वस्तुनोऽभावादनुत्पत्तिः शक्यनिदर्शना, अभेदवादिनो व्याघातात्, भेदवादेऽप्युपकार्यभावे उपकारस्यैवासंभवात्, अनिर्वचनीयेऽपि भेदपक्षप्रयुक्तदूषणानुषङ्गादिति भावः। तदित्थं बाधकप्रद्धतिभिः संदिग्धव्यतिरेकितानिरसनेनाजनकत्वादसामर्थ्यानुमानमप्रत्यूहमिति स्थितम्, तथा च—विरुद्धधर्माध्यासः सिद्ध इत्याह—तदेवमिति। एवमुपपादितप्रकारेण यदा विरुद्धधर्मसंसर्गः सिद्धस्तदा तस्मादेव हेतोर्भेदसिद्धिरपि भवतीति योजना। सहकारिभिराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकम्, अन्यथा तदभावे तदुदयापत्तेः.। बीजं चातिशयमादधानं सहकारिणोऽपेक्षते, अन्यथा सर्वदोपकारवृत्तावङ्कुरस्यापि सर्वदोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात्तमतिशयार्थमपि सहकारिभिरपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिरतिशयान्तरमाधेय बीजे, तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन बीजं सहकारिसापेक्षं जनकमित्युपकारजनकोपकारजननार्थमपेक्ष्यमाणैः सहका-

उपकार को बीज से अभिन्न मानने पर पूर्व का निष्पन्न बीज इस समय के उपकार से अभिन्न होकर पुनः उत्पन्न हो न सकेगा, नूतन वस्तु की ही उत्पत्ति माननी होगी, तब तो क्षणिक वस्तु में ही कारणता आ जाती है। यदि कहा जाय कि वस्तु, उपकार से अभिन्न नहीं, अपितु उपकार ही वस्तु से अभिन्न होता है; तब भी सहकारी-समवधान से पहले वस्तु रहती है, अतः वस्तु-स्वभावापन्न उपकार भी वहाँ मानना होगा, तब वहाँ अङ्कुर का जन्म प्राप्त होगा और सहकारि-समवधान भी व्यर्थ हो जायगा। यदि कहा जाय कि उपकार वस्तु से भिन्न भी नहीं और अभिन्न भी नहीं, अपितु अनिर्वचनीय है; तब भी वही कारण होगा, वस्तु में कारणता नहीं रहेगी। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भी वस्तु में कारणता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि अन्वय (वस्तुसत्त्वे कार्यसत्त्वम्) होने पर भी केवल वस्तु के साथ व्यतिरेक (वस्त्वभावे कार्याभावः) नहीं; क्योंकि उपकार के रहने पर वस्तु के न होने मात्र से कार्य का अभाव नहीं देखा जाता। इस प्रकार सामर्थ्य और असामर्थ्यरूप विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से जनक और अजनक में भेद सिद्ध होता है शान्तरक्षित ने कहा है—

“निःशेषाणि च कार्याणि सकृत् कृत्वा निवर्तते।
सामर्थ्यात्सा स चेदर्थः सिद्धाऽस्य क्षणभङ्गिता॥”

सिद्धिः । प्रयोगश्च—कुसूलस्थं बीजं सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्नं विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वाद्दहनतुहिनवत् । तथा—कुसूलस्थं बीजमङ्कुरजनकबीजाद्भिन्नं कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसंबन्धित्वाद्घटवत् । एतामेव व्याप्तिमुपजीव्य यत्सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेन क्षणिकतामाचक्षते क्षणभङ्गवादिनः । नच 'य एवाहं रूपमद्राक्षं स एवाहमिदानीं स्पर्शमनुभवामि' इति 'स

रिभिरुपकारान्तरं बीजे जनयितव्यमिति तत्तदतिशयार्थमपेक्ष्यमाणसहकारिसंपाद्यबीजवृत्त्यतिशयानवस्थेति । यद्वा बीजवर्तिनि सहकारिभिरतिशये क्रियमाणे बीजमपि सहकारिभिरपेक्षणीयमिति बीजेन सहकारिष्वतिशय आधेयः । एवं बीजेन सहकारिष्वतिशय आधीयमाने सहकारिणोऽपेक्षणीया इति तैर्बीजे पूर्वमतिशयान्यतरमाधेयम्, तस्मिन्नप्यतिशये सहकारिभिर्बीजस्य क्रियमाणे बीजमपेक्षणीयमिति बीजेन पूर्वं सहकारिष्वतिशयान्तरमाधेयमित्यनवस्थितिः । उपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणो बीजनिरपेक्षः कार्यं जनयति ? बीजसापेक्षो वा ? आद्ये बीजादेरहेतुतापातः । द्वितीये तु बीजादिनापेक्ष्यमाणेनोपकारेणातिशय आधेयः । एवमाहितोऽप्यतिशयः कार्यार्थे बीजादीनपेक्षत इति बीजादीनां तत्राप्यतिशयान्तरमाधेयमित्यप्यनवस्थितिरित्यपि ज्ञेयं वादीन्द्रस्थम् । ननु किमनेन प्रमाणं भेदसिद्धावुक्तं भवति ? तत्राह—प्रयोगश्चेति । बीजमात्रस्य सहकारिमध्यनिष्ठबीजाद्भेदसाधनेऽर्थान्तरता । यत्किंचिद्बीजस्य ततो भेदसाधनेनाप्युपपत्तेः । बाधापत्तिश्च, तत एव तस्य भेदप्रसङ्गात् । हेतोरसिद्धिश्च, तत उक्तम्—कुसूलस्थमिति । तथा यतःकुतश्चिद्भेदसाधने बीजमात्राद्भेदसाधने चार्थान्तरता, तदर्थं सहकारिमध्यमध्यासीनादिति विशेषणम् । बीजादिति चाध्याहर्तव्यम् । अत्र च तदेवेदमिति परेषां प्रत्यभिज्ञास्पदस्य भेदसाधनान्न क्षुद्रोपद्रवः । यदि कश्चिद्यत्तदोरन्वयस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वक्रतां मन्वानो न परितुष्येत् तं प्रत्येवमनुमातव्यम्—विप्रतिपन्नबीजं सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्नं तदङ्कुरं प्रत्यसमर्थत्वात्संप्रतिपन्नवदिति । अनुमानान्तरमाह—तथेति । अत्राप्यङ्कुरजनकबीजाद्भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेन विप्रतिपन्नं बीजं पक्षः । कार्यापेक्षयाऽव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तो यः क्षणस्तत्संबन्धित्वादित्यर्थः । अङ्कुरजनकबीजे स्वान्योन्याभावरहिते व्यभिचारवारणायातीतपदम् । तस्यापि कार्याव्यवहितोत्तरक्षणातिरिक्तकार्योत्पत्तिपूर्वक्षणसंबन्धित्वात् । जनकबीजे व्यभिचारनिरासार्थमसिद्धिपरिहारार्थं चातिरिक्तपदम् । ननु क्षणिकत्वसिद्धावेतत्स्यात्, यद् अजनकावस्थातो जनकावस्थं भिन्नमिति, स्थितिपक्षे तदनुपपत्तेः, नच क्षणिकत्वे मानमस्तीति, तत्राह—एतामेवेति । यदा हि अर्थक्रियाकारित्वाकारित्वयोः सामर्थ्यासामर्थ्याभ्यां व्याप्तिः, सामर्थ्यासामर्थ्ययोश्च धर्मिभेदेन, तदार्थक्रियाकारित्वात्मकं सत्त्वं समर्थक्षणस्य क्षणिकतां साधयति, क्षणान्तरसत्त्वे तस्यैवासमर्थत्वप्रसङ्गात्, असमर्थस्य चानर्थक्रियाकारित्वात्, अनर्थक्रियाकारिणश्चार्थक्रियाकारित्वं व्याहतमिति सत्त्वक्षणिकत्वयोः प्रतिबन्धसिद्धिः, स्थिरस्य च क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारित्वाऽकारित्वानुपपत्तेर्विपक्षव्यतिरेकसिद्धिरिति भावः । ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेणात्मानात्मपदार्थजातस्य स्थैर्यमवसीयते, ततस्तदपबाधितविषयं कालात्ययापदिष्टमिदमनुमानमिति, यत्राह—नच य एवाहमिति । अत्र किं ज्ञानद्वयमिदम् ? एकमेव वाभिप्रेयते ? द्वित्वपक्षे ततः स्थैर्याशासनं षण्ढमुद्वाह्य मुग्धयाषितः

इसी अर्थ का साधक अनुमान-प्रयोग भी है—"धान्यागारस्थ बीज, सहकारि-सम्पन्न बीज से भिन्न है, विरुद्ध धर्म-युक्त होने के कारण, जैसे—अग्नि और बरफ ।" एवं "धान्यागारस्थ बीज, अङ्कुर-जनक बीज से भिन्न होता है, कार्याव्यवहित पूर्वक्षण से अतिरिक्त क्षण का सम्बन्धी होने के कारण, जैसे घटादि ।" इसी व्याप्ति का सहारा लेकर "यत् सत्, तत् क्षणिकम्"—इस प्रकार अनुमान से क्षण-भङ्ग-वादी क्षणिकता सिद्ध किया करते हैं । जैसा कि शान्तरक्षित ने कहा है—

"तथाहि सन्तो ये नाम तें सर्वे क्षणभङ्गिनः ।
तथथासंस्कृता भावास्तथासिद्धा अनन्तरम् ॥" (तत्त्व० श्लो० ३९२)

"य एवाहं रूपमद्राक्षं स एवाहमिदानीं स्पर्शमनुभवामि" एवं "स एवायं घटः" – आदि प्रत्य-

एवायं घटः' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधः, सामग्रीभेदात्पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वानुपपत्तेः। तथाहि—सा मे माता स मे पितेत्यादाविन्द्रियनिरपेक्षस्य संस्कारस्य स्मरणकारणत्वादयं घट इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानेष्विन्द्रियस्य संस्कारनिरपेक्षस्य कारणतावगमादुभयोः संभूय कारणतानुपपत्तिः। स इत्ययमिति च पारोक्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मसंसर्गस्य स्फुटमुपलम्भाच्च। ज्ञानभेदात्प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षत्वाभावान्न प्रकृतानुमानस्य प्रत्यक्षविरोधः, तस्माद्विरुद्धधर्मसंसर्गाद्वस्तूनां भेदसिद्धिरिति।

अत्रोच्यते—सिद्धे भेदे विरोधे च धर्मयोर्धर्मिभेदधीः।
तयोर्नाद्यापि संसिद्धिर्धर्मिभेदस्तदा कुतः ? ॥ १६ ॥

अशेषभेदानपाकुर्वतोऽद्वैतवादिनो यदा भेदमात्रमेव नास्ति, तदा कुतो धर्मयोर्भेदः ? कुतस्तरां विरोधः ? कुतस्तमां च तदधीनो धर्मिभेदाध्यवसायः ? अन्यतो वा भेदविरोधयोः

पुत्रप्रार्थनमिव। तदा हि स एवाहं स एवायमिति वालुकावद्विशकलितयोरैक्यानवगाहित्वात्। द्वितीयस्त्वसिद्ध इत्याह—सामग्रीत्यादिना। स इत्यंशे संस्कारादिरेव सामग्री, अयमंशे च संप्रयोगादिरिति, तथा स इत्यंशे पारोक्ष्यमयमित्यंशे चापारोक्ष्यमिति सामग्रीभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च न प्रत्यभिज्ञानमेकमित्यर्थः। ननु संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयैकसामग्रीत्वात्कथं सामग्रीभेद इति ? तत्राह—तथाहीत्यादिना। अन्यत्र पृथक्कार्यजनकतयावधृतस्वभावयोरत्रापि विभिन्नकार्यजनकत्वमेवेत्यर्थः। विरुद्धधर्माध्यासे तु विप्रतिपत्तिशङ्कैव नास्तीत्याह—स इति। फलितमाह—ज्ञानभेदादित्यादिना। प्रत्यक्षत्वाभावादिति। समस्तस्येति शेषः। पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति।

विरुद्धधर्माध्यासाद्वस्तुभेदसाधनेऽन्योन्याश्रयं श्लोकेन संगृह्णाति सिद्धान्ती—सिद्धे भेद इति। धर्मयोर्जनकत्वाजनकत्वाद्यात्मकयोः परस्परं भेदे सिद्धे सति विरोधसिद्धिः, अभिन्नस्य विरोधाभावात्, तयोः सिद्धे विरोधे तदाश्रयतया धर्मिणोः कुसूलनिहितसहकारिसमेतबीजयोर्भेदबुद्धिः स्यात्। यदा च तयोर्भेद एव न सिद्धस्तदा विरोधस्य तद्द्वारकधर्मिभेदस्य च कुतः सिद्धिः ? परस्पराश्रयादित्यर्थः। श्लोकं विवृणोति—अशेषेत्यादिना। अद्वैतवादिन इति पदच्छेदः। ननु कथमन्योन्याश्रयता ? यावता प्रत्यक्षेण धर्मयोर्भेदः सिद्ध्यति, ततश्च विरोधसिद्धिस्ततश्च धर्मिभेदसिद्धिरित्यत आह—अन्यत इति। तत्र वक्तव्यं

भिज्ञा का विरोध भी क्षणिकत्वानुमान में नहीं ; क्योंकि सामग्री के भेद से एवं परोक्षत्व और अपरोक्षत्व रूप विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान, भिन्न-भिन्न दो ज्ञानों का समूह है, एक ज्ञान नहीं। जैसे कि "सा मे माता", "स मे पिता"—आदि स्थलों पर इन्द्रिय-निरपेक्ष केवल संस्कार, स्मरण का कारण है और "अयं घटः"—आदि प्रत्यक्ष ज्ञान का संस्कार-निरपेक्ष इन्द्रियमात्र कारण है। दोनों (संस्कार और इन्द्रिय) कभी मिलकर किसी के कारण बन नहीं सकते। इसी प्रकार "सः"—इस अंश में परोक्षता और "अयम्"—इस अंश में प्रत्यक्षता होने से विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध भी है। "सः" और "अयम्"–दोनों ज्ञान जब भिन्न-भिन्न हो गये, तब प्रत्यभिज्ञा ज्ञान कोई एक प्रत्यक्ष ज्ञान न रहा, जिसका विरोध प्रकृत अनुमान में होता। (शान्तरक्षित ने भी "क्षणभङ्गिषु भावेषु प्रत्यभिज्ञा च दुर्घटा"—इस शङ्का का समाधान किया है—"कर्तृत्वादिव्यवस्था तु सतानैक्यविवक्षया") इस लिए विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से वस्तु का भेद ही सिद्ध होता है।

उत्तर पक्ष—जनकत्व और अजनकत्व धर्मों में भेद और विरोध सिद्ध होने पर ही धर्मी (बीज) में भिन्नता का निश्चय किया जा सकता था, किन्तु भेद और विरोध की सिद्धि ही नहीं होती, अतः धर्मी को अनेक कैसे कहा जा सकता है ? निखिल भेदों का निराकरण करनेवाले अद्वैत-वादी की दृष्टि में भेदमात्र ही सिद्ध नहीं, तब धर्मों का भेद कैसे ? फिर विरोध क्यों ? और विरोध का सहारा

सिद्धौ तत एव धर्मिभेदसिद्धिः, कृतमनुमानेनाजागलस्तनायमानेन विरुद्धधर्माध्यासेन! कश्चायं धर्मयोर्विरोधः, येन विरुद्धधर्मसंसर्गित्वेन भेदोऽभिधीयते ? किं सहानवस्थायित्वम् ? वध्यघातकभावो वा ? भावाभावरूपत्वं वा ? तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं वा ? प्रथमे किमेकस्मिन्काले सहानवस्थायित्वम् ? उतैकस्मिन्नधिकरणे ? नाद्यः ; एकस्मिन्नपि क्षणे धर्मिभेदेन जनकत्वाजनकत्वयोः सहावस्थानात्। नेतरः ; एकजनकस्याप्यन्याजनकत्वेन जनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्नधिकरणे सहभावात् । एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकत्र

कीदृशं तद्भेदग्राहिप्रत्यक्षमभिमतम ? किं निर्विकल्पकम् ? सविकल्पकं वेति ? न तावत्सविकल्पकम् , तस्य प्रामाण्याभावाद्भवन्मते । नापि निर्विकल्पकम् , तस्य वस्तुमात्रग्राहितया स्वलक्षणातिरिक्तविकल्पागोचरत्वात् । यथाहुः 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्ष'मिति । भेदस्यापि स्वलक्षणमात्रत्वे स्वरूपभेदविमर्दनप्रस्तावोक्तदोषानध्यस्यामः । एतेनेदमप्यपास्तम् यथाहुस्तथागताः—'वर्तमानं परिच्छिन्ददवर्तमानताव्यावृत्तिमपि परिच्छिनत्ति'इति । अवर्तमानताव्यावृत्तेर्वर्तमानतायाश्च धर्मत्वे प्रत्यक्षागोचरत्वात्, स्वरूपत्वे चैकस्योभयस्वभावत्वायोगात् । नच वर्तमानतैवावर्तमानताव्यावृत्तिः ; भावाभावयोरैक्यायोगात्। यथाहात्मतत्त्वविवेककृत्—

'विधिरात्मास्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः । सोपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जते ?' इति ॥

भूतभविष्यतोश्चावर्तमानत्वात् तद्व्यावृत्तेरप्युभयविधायाः एकरूपवर्तमानतात्मकत्वायोगात् , भविष्यतश्चावर्तमानभूतव्यावृत्तत्वेऽपि वर्तमानत्वाभावात्, भूतस्य चाभविष्यदवर्तमानव्यावृत्तत्वेऽपि वर्तमानत्वाभावात् , वर्तमानतावगाहिताया उत्पन्नावगाहितारूपतया उत्पन्नबुद्धेरवर्तमानव्यावृत्त्यवगाहितया पुनरुत्पत्त्यभावात्, जन्ममात्रव्यापारत्वाच्च बुद्धेः । तस्मान्न प्रत्यक्षं भेदावभासनायालम् । अनुमानं त्वनन्तरमेव निराकरिष्यते । तदेतादृशी दर्शनस्थितिः । आचार्यस्तु—भवतु वा यत्किंचित्प्रमाणम् , तथापि तत एव धर्मिभेदस्यापि सिद्धेर्मुधा धर्मभेदोपन्यास इति प्रौढिमारूढः प्राह—अन्यतो वेति । पूर्वं भेदासिद्ध्या विरोधासिद्धिरुक्ता । अधुना धर्मिभेदापादनकोविदः कोऽपि विरोधो दुःसाध्य इत्यभिप्रेत्याह—कश्चायमित्यादिना । जनकत्वात्यन्ताभाववति धर्मिण्यजनकत्वस्य वृत्तिरिति चतुर्थविकल्पार्थः । किं सहानवस्थायित्वमिति प्रथमे पक्षे यदिदमवस्थानस्य साहित्यं निषिध्यमानं तत्किं देशतः ? कालतो वा ? इति विकल्पयति—प्रथम इति । एकस्मिन्नपि क्षण इति । एकक्षणे सहानवस्थायित्वरूपो विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरसिद्धः । एकस्मिन्नपि क्षणे बीजवीरणयोरङ्कुरं प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्वर्तमानत्वादित्यर्थः । द्वितीयेऽपि विरोधोऽसिद्धः । एकस्मिन्नपि धर्मिणि जनकत्वाजनकत्वयोः कार्यभेदापेक्षया वर्तमानत्वादित्याह—नेतर इत्यादिना । नन्वेकधर्मित्ववदेकविषयत्वमप्यपेक्षितम् , तादृशश्च विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरस्त्येवेति शङ्कते—एककार्येति । ईदृशश्च विरोधो न क्वापि संप्रतिपन्नः , स्थायित्रादिनामेकस्यैकं प्रत्येव कालभेदेन जनकत्वा-

---

लेकर धर्मि-भेद क्योंकर सिद्ध होगा ? यदि कहा जाय कि अन्यतः (प्रत्यक्षादि प्रमाण से) ही धर्मों में भेद और विरोध सिद्ध होगा ; तो उसी से धर्मी में भी भेद सिद्ध हो जायगा, व्यर्थ है यह विरुद्धधर्मसंसर्गित्वहेतुक अनुमान । यहाँ धर्मि-विरोधापादक धर्मों का यह विरोध भी क्या है ? क्या (१) सहानवस्थायित्व ? या (२) वध्य-घातकभाव ? या (३) भावाभावरूपत्व ? या (४) परस्पर—अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहना ? प्रथम (सहानवस्थायित्व) भी एक काल में ? या एक अधिकरण में ? एक काल में सहानवस्थायित्व जनकत्व और अजनकत्व में सम्भव नहीं ; क्योंकि भिन्नधर्म्यवच्छेदेन एक ही क्षण में जनकत्व और अजनकत्व—दोनों साथ ही रह सकते हैं । एक अधिकरण में भी जनकत्व और अजनकत्व—दोनों एक साथ रह सकते हैं ; क्योंकि एक ही धर्मी किसी के प्रति जनक और किसी के प्रति अजनक देखा जाता है । यदि कहा जाय कि एक ही कार्य के जनकत्व और अजनकत्व का एक अधिकरण में न रहना ही विरोध पदार्थ है । तो यह भी नहीं कह

धर्मिणि सहानवस्थायित्वमिति चेत्, न; स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः। क्षणभङ्गवादिनोऽपि तत्कार्यजनकस्यैकस्य क्षणान्तरे तदजनकत्वेन तयोरेकत्रैव वस्तुनि साहित्यात्। नापि द्वितीयः; वध्यघातकभावस्य युगपदेकधर्मिनिष्ठयोरेव धर्मयोः संभवेनाश्रयभेदासाधकत्वात्। नापि तृतीयः; कार्यभेदं प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपयोरेकस्मिन्नपि भावात्, एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्वस्तुनि क्षणभेदेन भावाच्च। नापि चतुर्थः; स्थायिवादिनं प्रत्यसिद्धेः।

किंच सहकारिसमवधाने यः कार्यमुत्पादयति, स भावः सहकारिविरहकाले तत्र समर्थः?

जनकत्वयोः सर्वत्रैवाङ्गीकारादित्याह—न; स्थायिवादिनमिति। क्षणभङ्गवादिनं प्रत्यसिद्धिमाह—क्षणभङ्गेति। यदिदमिदानींतनाङ्कुरजननसमर्थं बीजं तत्कालान्तरे तं जनयेत्? न वा? यदि जनयेत्सिद्धान्तमनुसन्धत्स्व। ननु क्षणान्तरे तदेव नास्ति कथं तस्य जनकत्वम्? मास्तु, स्वक्षण एव तं किमिति न जनयेत्? स्वानन्तरक्षणवर्तिनं प्रत्येव समर्थं तदिति चेत्, एवं तर्ह्यसमर्थं तत्तत्रेति वचनीयम्। तथाच तस्यैव बीजस्य तत्कालीनमङ्कुरं प्रति जनकत्वमन्यकालीनं तमेव प्रत्यजनकत्वमिति तादृशमपि सहावस्थानं त्वयैवानुमतमित्यर्थः। वध्यघातकभावपक्षं निषेधति—नापि द्वितीय इति। अजातस्य भिन्नाधिकरणस्य वा घातकत्वाभावादेकाधिकरणे वर्तमानयोरेव वध्यघातकभावो वक्तव्यः, तदिहेदृशो विरोधोऽनयोः संभवति? न वा? इति तावदास्तां विचारः। संभवेऽपि नाधिकरणभेदकः, प्रत्युत तदैक्यापादक इत्यर्थः। भावाभावरूपो विरोध इति तृतीयं पक्षं निषेधति—नापि तृतीय इति। ननु विषयभेदेन वर्तमानयोर्जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपत्वेपि न विरोधः; परस्परनिषेधरूपत्वाभावात्। नहि पटाभावो घटश्च परस्परं विरुध्येते, अस्ति भावाभावरूपतेति, तस्मादेकविषययोरनयोर्विरोध इति, तत्राह—एककार्येति। कृतोपपादनं चेदमनन्तरमेव। जनकत्वाजनकत्वयोः परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यं विरोध इति चतुर्थं पक्षं निषेधति—नापि चतुर्थ इति। यस्य हि स्थायिवादिनो जनकत्वमजनकत्वं चैकत्र वर्तत इति नियमस्तं प्रति कथं तयोः परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं सिद्धवदुदाह्रियेतेत्यर्थः।

तदेवं स्वपक्षे विरुद्धधर्माध्यासं परिहृत्य परपक्ष एव तमासञ्जयति—किंचेति। ननु न सहकारिविरहकालीनकार्यं प्रत्यसमर्थं तत्, किं तर्हि? सहकारिवियोगसमये तदेव नास्ति, ततो न विरुद्धर्माध्यास इति शङ्कते—सहकारीति। तर्हि सहकारिविरहसमये येनासद्रूपेण भवति तत्कारणम्, तत् सहकारिसमवधानसमयेपि विद्यते? नवा? प्रथमे सद्रूपावस्थायामप्यसत्त्वं स्यात्। द्वितीये तु पूर्वसिद्धस्य वस्तुनः

सकते; क्योंकि स्थायिवादी एक ही वस्तु में काल-भेद से जनकत्व और अजनकत्व दोनों मानते हैं। क्षण-भङ्ग-वादी को भी यह मानना पड़ता है कि एक क्षण में किसी कार्य का जनक पदार्थ ही अन्य क्षण में उस कार्य का अजनक होता है। द्वितीय (वध्य-घातकभाव) तो युगपत् एक धर्मि-वृत्ति दो धर्मों में ही सम्भव होने के कारण धर्मि-भेद का साधक नहीं हो सकता। तृतीय (भावाभावरूपत्व) पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि भिन्न-भिन्न कार्यों का जनकत्वाजनकत्वरूप भावाभाव एक ही धर्मी में सहवर्ती देखा जाता है, एक ही कार्य का जनकत्वाजनकत्वरूप भावाभाव भी एक ही वस्तु में क्षण-भेद से रह जाता है। चतुर्थ (परस्पर-अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहना) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि स्थायि-वादी के मत से जनकत्व और अजनकत्व—दोनों परस्पर-अत्यन्ताभाव के अधिकरण में नहीं, अपितु समानाधिकरण ही माने जाते हैं।

लीलावतीकार ने (न्या० ली० पृ० ३२१ पर) कहा है कि जो वस्तु सहकारि-सन्निधान के समय कार्य उत्पन्न करती है, वह सहकारि-विरह-काल में उस कार्य के लिए समर्थ होती है? या

न वा ? समर्थश्चेन् ? तदापि जनयेत्, न चेत् ? तदेव वस्तु शक्तमशक्तं चेति दुर्निवारो विरोधः । सहकारिविरहकाले सोऽसन् नत्वसमर्थ इति चेत्, न; सहकारिविरहकाले येयमसद्रूपता सा सहकारिसन्निधानकालेऽपि विद्यते ? न वा ? विद्यते चेत्, स्वकाल एवासत्त्वप्रसङ्गः । न चेत् ? न तर्हि सहकारिविरहकाले तदसद्रूपम्, असद्रूपाभावेऽप्यस्य भावात् । अथैकमेव वस्तु सहकारिभावाभावयोः सदद्व्यवहारयोग्यम्; तथैव तर्हि स्थिरमपि शक्ताशक्तव्यवहारयोग्यमिति तुल्यम्; न चासामर्थ्यं विहायान्यदसत्त्वमस्ति । अथैकस्मिन्नेव वस्तुनि सहकारिसमवाधानानन्तरं कार्यजननस्वभावता तद्विरहे चासमर्थस्वभावतेत्युभयमप्यविरुद्धम्; तुल्यमिदमस्मन्मतेऽपि । तथापि सहकारिसमवधाने यत्समर्थरूपं तदेव चेत्प्रागप्यस्ति पूर्वमपि कार्य-

---

पश्चाद्वाव्यसत्त्वं न स्वभावः, असत्त्वावस्थायाः पूर्वमपि वस्तुनो विद्यमानत्वादिति परिहरति—नेत्यादिना । ननु यद्यपि तदेकम्, तथाप्युभयव्यवहारालम्बनं भवति सहकारिसमवधानासमवधाननिबन्धनत्वेन, विरोधाभावादिति शङ्कते—अथैकमेवेति । स एव तर्हि न्यायः सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपीत्याह—तर्हीति । स्यादेतद्यदि च सत्त्वासत्त्वयोर्निदर्शनेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोराश्रयणं भवति, तर्हि सहकारिविरहकालेऽसत्त्वम् । तथाच क्षणिकतैवेति गतं स्थैर्याशयेति, तत्राह—न चासामर्थ्यं विहायेति । यदिदं सहकारिविरहकालेऽसत्त्वम्, तद्भवन्नये तावदसामर्थ्यरूपम्, अर्थक्रियासामर्थ्यस्य सत्त्वाभ्युपगमात्, तथा चैतादृशासत्त्वमेतादृशक्षणिकत्वं च नास्मभ्यमपि द्रुह्यतीति भावः । अथ वा सहकारिविरहकाले यदिदमसत्त्वम्, तदेवासामर्थ्यम्, ततश्चासदेव तन्नासमर्थमित्ययुक्तमुक्तमित्याह—न चासामर्थ्यमित्यादिना । सामर्थ्यम् हि सत्त्वमङ्गीक्रियते, ततश्चासत्त्वमप्यसामर्थ्यमेवेत्यर्थः । शङ्कते—अथैकस्मिन्निति । इयं च निरुद्धगतिसौगतशङ्का । अहो मामकभाग्योद्गमसमयोऽयं यदायुष्मतैवास्मत्समीहितं स्वीकृतमित्यभिप्रेत्याह—तुल्यमिदमिति । यद्यपीदमावयोः समानम्, तथापि स्थिरपक्षेऽनुपपत्त्यन्तरमस्तीति शंङ्कते—तथापीति । स्थैर्यवादिना सहकारिसमवधाने सामर्थ्यमेत्रम् रूपं प्रागपि वर्तेत इति वचनीयम्, तथाच प्रागपि कार्यप्रसवप्रसङ्ग इत्यर्थः । अस्य मिथो विरोधेन तर्काभासतां दर्शयितुम् प्रतिप्रसङ्गमाह—न सहकारीति । अङ्कुरक्षणोत्पादकमपि बीजक्षणं सहकारिविरहे तस्मिन्नेवासमर्थमिति वक्तव्यम्, अन्यथा तद्विरहेपि जनकत्वप्रसङ्गात्, तस्माद्यतदसमर्थम् तदेव समर्थमपि, तथाच तस्मादुत्पत्तावसामर्थ्याऽप्युत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अजननप्रसङ्ग इति वा पदच्छेदः । एवं सहकारिसमवधानासमवधानयोः सामर्थ्यासामर्थ्यम् चाविरुद्धमिति प्रौढिमारूढेणोक्तम् । वस्तुतस्तु समर्थमेव, समर्थमपि सहकारिवैकल्ये न जनक-

---

नहीं ? यदि समर्थ है; तब वह कार्य क्यों नहीं करती ? यदि नहीं; तब वही वस्तु समर्थ भी है और असमर्थ भी—इस प्रकार का विरोध होता है । यदि कहा जाय कि 'सहकारि-विरह-काल में वह वस्तु असमर्थ होती है'—यह बात नहीं; अपितु वह रहती ही नहीं । तो यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि सहकारि-विरह-काल में जो यह पूर्व की वस्तु की असद्रूपता है, वह सहकारि-सन्निधान काल में विद्यमान होती है ? या नहीं ? यदि है, तब वस्तु अपने काल में ही असद् हो जायगी । यदि नहीं; तब सहकारि-विरह-काल में वह असद्रूप न होगी; क्योंकि असद्रूप के अभाव-काल में भी वह वस्तु रहती है । यदि कहा जाय कि एक ही वस्तु सहकारी के सन्निधानासन्निधान में सद्-असद्-व्यवहार के योग्य होती है; तब एकही स्थिर वस्तु समर्थ-असमर्थ-व्यवहार के योग्य क्यों न होगी ? असामर्थ्य का नाम ही तो असत्त्व है । यदि एक ही वस्तु में सहकारि-सन्निधान के अनन्तर कार्य-जनन-स्वभावता और सहकारि-विरह-काल में असमर्थ-स्वभावता—इस प्रकार दोनों का रहना विरुद्ध नहीं; तो यह हमारे पक्ष में भी समान ही है । "तथापि सहकारिसन्निधानकालीन वस्तु में जो सामर्थ्य है, यदि वही पहले भी है तो पहले ही कार्य का जन्म होना चाहिए"—यह शङ्का

प्रसवप्रसङ्ग इति चेत्, न ; यत्तव कार्येऽसमर्थं रूपं तदेव चेत्सहकारिसमवधानेऽपि ततोऽजननप्रसङ्ग इति तुल्यत्वात्। न च सहकारिणां स्वभावेऽन्तर्भावः, येन गलेपादुकान्यायेन तेषामपि तदैव समुदयः स्यात्किंतु भवन्मते समर्थक्षणोत्पादकानां क्षितिपवनपाथस्तेजसामिव सहकारितैव। न च सहकारिकृतोपकारस्य भेदाभेदविकल्पानुपपत्तिः ; वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वात्, लोकसिद्धकारणताया अप्रत्याख्येयत्वात्। न च केवलव्यतिरेकाभावः ; उपकारवस्तुनोर्भेदानभ्युपगमात्, उपकारकारणताया एव वस्तुकारणताभ्युपगमात्। प्रयोगस्तु धर्मयोर्विरोधनिरासेनैव निरस्तः। अनैकान्तिकश्च, सहकारिमध्यमध्यासीनस्य विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वे-

---

मिति स्थितिः। यत्तु समर्थस्यापि सहकारिसाकल्य एव जनकत्वमित्युक्तमयुक्तम्, सहकारिणां स्वभावान्तर्भावे यावत्कारणभावित्वेन सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षिणोक्तम्, तदनङ्गीकारपरास्तमित्याह—**न च सहकारिणामिति**। यथाहि सौगतानां मते क्षित्यादिचतुर्विधधातूनां समर्थबीजक्षणोत्पादकत्वमेव न समर्थक्षणस्वभावान्तर्भावः। एवमस्मन्मतेऽपि सहकारित्वमेव न स्वरूपत्वम्। इयांस्तु विशेषः—भवन्मते तज्जनकत्वमस्मन्मते तदुपकारकत्वमित्यर्थः। यच्चापकारकत्वपक्षेपि तेनोक्तम्, तदनूद्य निराचष्टे—**न च सहकारिकृतेति**। अनुपपत्तिरुपकारस्येति शेषः। नन्वनिर्वचनीयोपकारस्य कारणत्वे कारणस्य कारणत्वं न स्यादित्युक्तमेव, तत्राह—**लोकसिद्धकारणताया इति**। कारणस्येति शेषः। नन्वत्राप्युक्तं केवलव्यतिरेको नास्तीति, तत्राह—**न च केवलेति**। कैवल्यं चेदमनौपाधिकत्वमितरथानुपयोगात्, केवलस्य वस्तुमात्रस्येति वा, यदि कारणादुपकारस्य भेदः स्यात्स्यात्तदा कारणस्यापि पृथक्केवलव्यतिरेकप्रार्थनम्, नत्वेतदस्ति, भेदेनाप्यनिर्वचनीयत्वादित्यर्थः। ननु तथाप्यनुमाने किं दूषणमिति ? तत्राह—**प्रयोगस्त्विति**। पूर्वोक्तप्रकारेण विरोधानिरूपणे क्वचिदसिद्धिः क्वचिद्विरुद्धत्वं क्वचिदनैकान्तिकत्वमित्यर्थः। अविवक्षितविशेषेऽपि विरोधेऽनैकान्तिकतामाह—**अनैकान्तिकश्चेति**। तद्धि सहकारिमध्यमध्यासीनं कालान्तरीयमङ्कुरम् न जनयति, जनयति च तात्कालिकमिति विरुद्धधर्माध्यासवत्। अथ च स्वयं स्वस्मान्न भिद्यते इति तत्रानैकान्तिकत्वमित्यर्थः। सहानवस्थायित्ववध्यघातकत्वभावाभावविरोधेषु यथायथमसिद्ध्यादयो ज्ञेयाः। यद्वा कुसूलनिहितसहकारिसमवहितबीजयोः परस्परविरुद्धधर्मसंसृष्टत्वस्याविशिष्टत्वात्सत्यपि विरुद्धधर्मसंसर्गे सहकारिसमवहितस्य स्वप्रतियोगिकभेदानधिकरणत्वादनैकान्तिकत्वमित्याह—**अनेकान्ति-**

नहीं कर सकते ; क्योंकि आप (सौगत) के मत में सहकारि-विरह-काल में जो वस्तु का असामर्थ्य है, यदि वही सहकारि-सन्निधान-काल में है, तब वहाँ भी कार्य की अनुत्पत्ति ही रहेगी। सहकारी सामग्री का वस्तु के स्वरूप में अन्तर्भाव हम नहीं मानते, जिससे कि विवश होकर यह मानना पड़े कि सहकारी कारणों का उद्गम (समवधान) भी पहले से ही है। किन्तु आपके मत से समर्थ क्षण के उत्पादक खेत, जल, तेज और वायु में सहकारितामात्र मानते हैं। सहकारि-जन्य उपकार के विषय में जो विकल्प किये थे कि वह वस्तु से भिन्न है ? या अभिन्न ? वे भी अनुचित हैं ; क्योंकि हम उपकार को अनिर्वचनीय मानते हैं। वस्तु में भी लोक-प्रसिद्ध कारणता का अपलाप नहीं किया जा सकता। यह जो कहा था कि केवल वस्तु के साथ व्यतिरेक (वस्त्वभावे कार्याभावः) न होने से वस्तु में कारणता नहीं रहेगी। वह कहना भी संगत नहीं ; क्योंकि हम अनिर्वचनीय-वादी हैं, उपकार का वस्तु से भेद भी नहीं मानते ; अतः उपकार-निष्ठ कारणता ही वस्तु की कारणता है, उसके लिए पृथक् अन्वय-व्यतिरेक घटाने की कोई आवश्यकता नहीं। यह जो अनुमान-प्रयोग किया था (कुसूलस्थं बीजं सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्नं विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वात्)। वह भी धर्मों के विरोध का निरास कर देने से निरस्त हो जाता है। 'विरुद्धधर्म-संसृष्टत्व' हेतु व्यभिचारी भी है ; क्योंकि क्षेत्रस्थ बीज में साध्य के न रहने पर भी रहता है। द्वितीय अनुमान का 'कार्याव्यवहित-

ऽपि स्वतो भेदाभावात् । कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसंबन्धित्वादित्यपि हेतुः स्थायिवादिनो मते तस्यैव तथाविधक्षणसंबन्धित्वात्तस्मिन्नेवानैकान्तः । तदेवं प्रसङ्गतद्विपर्ययोरपास्तत्वात्क्षणिकत्वानुमानं दूरोत्सारितम् ।

किंचेदं क्षणिकत्वम् ? किं क्षणसंबन्धित्वम ? क्षणान्तरासंबन्धित्वे सति क्षणसंबन्धित्वं वा ? क्षणान्तरमात्रासंबन्धित्वे सति क्षणसंबन्धित्वं वा ? उत्पत्तिक्षणे सत्त्वं वा ? स्वोत्पत्तिक्षणे सत्त्वं वा ? स्वोत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वं वा ? एकक्षणावस्थायित्वं वा ? अनेकक्षणानवस्थायित्वविशेषितं वा ? न तावत्प्रथमः ; सिद्धसाधनत्वात्, अनेकक्षणावस्थायिनोऽपि घटादेः क्षणसंबन्धित्वात् । न द्वितीयः ; अर्थान्तरत्वात्, क्षणान्तरासंबन्धित्वेप्यनेकक्षणसंबन्धित्वाविरोधात् । घटादीनामनेकक्षणसंबन्धिनामपि स्वप्रध्वंसादिक्षणासंबन्धित्वस्याभ्युपगमात् । न तृतीयः ; व्याघातात्, तत्संबन्धिक्षणस्यापि क्षणविशेषत्वेन क्षणान्तरत्वे सति क्षणान्तरमात्रासंबन्धाभावात् । न चतुर्थः ; सिद्धसाधनत्वात्, अनेकक्षणसंबन्धेप्युत्पत्ति-

---

कश्चेति । द्वितीयानुमानेऽप्यन्यतरानैकान्तिकमाह—कार्याव्यवहितेत्यादिना । यत्सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेप्युक्तं दूषणमतिदिशति—तदेवमिति । यदि सहकारिसहितं बीजं तद्विरहकालीनबीजान्न भिद्येतार्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वं न स्यादिति प्रसङ्गः, तच्चेदं तस्माद्भिद्यते इति तद्विपर्ययः, तयो स्थायिन्यपि जनकत्वसमर्थनेन निरासात्सत्त्वहेतुकं क्षणिकत्वानुमानमपि निरस्तमित्यर्थः ।

साध्यनिष्ठक्षणिकत्वस्याप्रसिद्धविशेषणत्वसिद्धसाधनत्वयोरन्यतरापात इति दिदर्शयिषुर्विकल्पयति—किंचेत्यादिना । क्षणान्तरासंबन्धित्वमात्रत्वे सति क्षणसंबन्धित्वं द्वितीयः पक्षः । तृतीयस्तु क्षणान्तरसंबन्धित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वे सति क्षणसंबन्धित्वमिति विशेषः । सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—अनेकक्षणेति । न केवलं क्षणान्तरेण केनचिदसंबन्धोऽनेकक्षणसंबन्धेन न विरुध्यत इति संभावनामात्रम्, किं तर्ह्यपगतश्चानित्येषु पदार्थेषु स्थायिवादिभिरित्याह—घटादिनामिति । व्याघातमेव दर्शयति—तत्संबन्धीति । क्षणान्तरत्वाक्रान्तं यत्तत्संबन्धात्यन्ताभाववत्त्वे सति क्षणसंबन्धित्वमिति हि तृतीयः पक्षः,

---

पूर्वक्षण-भिन्नक्षण-सम्बन्धित्व' हेतु भी व्यभिचारी है ; क्योंकि स्थायी-वादी के मत से कुसूलस्थ बीज ही अङ्कुर-जनक माना जाता है, अतः उसमें साध्य न रहने पर भी हेतु रहता है । इस प्रकार प्रसङ्ग और विपर्यय (कुसूलस्थं बीजं यद्यङ्कुरसमर्थं स्यात्, अङ्कुरं कुर्यादित्येकः प्रसंगः । न च करोति, तस्मान्न समर्थमित्येको विपर्ययः । क्षेत्रपतितं बीजं यद्यसमर्थं स्यात्, न कुर्यादित्यपरः प्रसंगः । करोति च तस्मान्नासमर्थमित्यपरो विपर्ययः-–आत्म० वि० शां० पृ० ३४) का निरास हो जाने से क्षणिकत्वानुमान भी निरस्त हो गया ।

क्षणिकत्व भी क्या है ? क्या (१) क्षण-सम्बन्धित्व ? या (२) क्षणान्तरासम्बन्धित्व-विशिष्ट क्षण-सम्बन्धित्व ? या (३) क्षणान्तरमात्रासम्बन्धित्व-विशिष्ट क्षण-सम्बन्धित्व ? या (४) उत्पत्तिक्षण-सत्त्व ? या (५) स्वोत्पत्तिक्षण-सत्त्व ? या (६) स्वोत्पत्तिक्षणमात्र-सत्त्व ? या (७) एकक्षणावस्थायित्व ? या (८) अनेकक्षणानवस्थायित्व-विशिष्ट एकक्षणावस्थायित्व ? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधन दोष है ; क्योंकि अनेकक्षणस्थायी घट भी क्षण-सम्बन्धी होता ही है । द्वितीय पक्ष में अर्थान्तरतादोष है ; क्योंकि क्षणान्तरासम्बन्धित्व होने पर भी अनेकक्षण-सम्बन्धित्व का कोई विरोध नहीं—अनेकक्षण-सम्बन्धी घटादि अपने ध्वंस-क्षण के असम्बन्धी माने ही जाते हैं । तृतीय पक्ष में पारस्परिक विरोध है ; क्योंकि वस्तु जिस क्षण से सम्बद्ध है, वह क्षण भी दूसरे क्षण की अपेक्षा से क्षणान्तर कहला सकता है, अतः क्षणान्तर से सम्बद्ध वस्तु में क्षणान्तरमात्रासम्बन्धित्व कैसे रहेगा ? चतुर्थ (उत्पत्तिक्षणे सत्त्वम्) पक्ष में सिद्ध-साधनता है; क्योंकि अनेकक्षण-सम्बन्धी स्थिर वस्तु में भी उत्पत्तिक्षण-

क्षणसंबन्धाविरोधात्। अत एव न पञ्चमः। नापि षष्ठः; स्वशब्देनाङ्कुराद्येकैकविवक्षायां तदुत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वस्य घटादिष्वभावेन क्षणिकत्वाभावप्रसङ्गात्। सर्वविवक्षायां तु लक्षणासंभवित्वम्, एकैकस्य सर्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वासंभवेन तन्मात्रसत्त्वासंभवात्। नापि सप्तमः; अनेकक्षणसत्त्ववादिभिष्येकक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारात्। नाप्यष्टमः; प्रध्वंसाद्यनेकक्षणानवस्थायित्वस्यैकक्षणावस्थायिनि स्थायिन्यपि सम्भवात्। उत्पत्तिक्षणानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वमित्यपि न; स्थिराणामपि यस्य कस्यचिदुत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वोपपत्तेः। एतेन स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वमपि निरस्तम्; स्वशब्दखण्डनस्य पूर्ववदत्रापि तुल्यत्वात्। अथास्य घटस्यैतद्घटोत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं

तच्च व्याहतम्। येन हि क्षणेन संबध्यते सोऽपि यत्किंचित्क्षणापेक्षया क्षणान्तरमेव। तथाच तेनाप्यसंबन्धः संबन्धश्चेत्यापातात् व्याघातः स्यादित्यर्थः। **अत एवेति**। यत एवानेकक्षणसतोऽप्युत्पत्तिक्षणसत्त्वसम्भवः, अत एव स्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वमपि संभवतीति सिद्धसाधनमित्यर्थः। **नापि षष्ठ इति**। स्वोत्पत्तीत्यत्र स्वशब्देन किं प्रतिनियतः कश्चिदभिधीयते ? सर्वे वा पदार्थाः ? आद्येऽव्याप्तिः। सर्वपदार्थानामेकपदार्थोत्पत्तिक्षणसत्त्वाभावेन तेषु क्षणिकेषु लक्षणाभावादित्यर्थः। द्वितीयेऽसंभवमाह—**सर्वेति**। सप्तमपक्षेऽपि सिद्धसाधनतामाह—**नापि सप्तम इति**। **नाप्यष्टम इति**। उत्पत्तिक्षणावस्थायित्वेन तावदेकक्षणावस्थायित्वमस्ति प्रध्वंसक्षणमारभ्योत्तरानेकक्षणानवस्थायित्वं चास्तीति स्थायित्वेऽप्युपपत्तेरर्थान्तरत्वमित्यर्थः। लक्षणान्तरं दूषयति—**उत्पत्तिक्षणेति**। उत्पत्तिक्षणसमनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वं स्थायिनि न संभवतीत्यभिमानः। अत्र किमुत्पत्तिक्षणशब्देन यथाश्रुतोऽर्थो विवक्षितः ? स्वोत्पत्तिक्षणो वा ? आद्ये प्राह—**स्थिराणामपीति**। स्थिरस्यापि हि यो ध्वंसक्षणस्तत्पूर्वक्षणोऽपि यस्यकस्यचिदुत्पत्तिक्षणो भवतीत्यर्थान्तरमित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**एतेनेति**। तत्रापि स्वशब्देन किं ध्वंसप्रतियोगी विवक्षितः ? किं वा प्रतिनियतः कश्चित् ? आद्येऽनन्तरदोषानुषङ्गः। द्वितीये तु षष्ठपक्षोक्ताव्याप्तिरित्याह—**स्वशब्देति**। ननु न समस्तक्षणिकेषु अनुगतमिदमाचक्ष्महे लक्षणम्, येनैवमव्याप्तिः स्यात्किंतु प्रतिविशेषं पृथगेवेत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**अथेति**। अनन्तरत्वं चात्रोत्तरत्वं विवक्षितम्, तस्य स्थैर्येऽप्युपपद्यमानतया अर्थान्तर-

---

सत्त्व के रहने में क्यों विरोध होगा ? इसीलिए पञ्चम (स्वोत्पत्तिक्षण-सत्त्व) पक्ष भी निरस्त हो जाता है। षष्ठ (स्वोत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वम्) पक्ष में 'स्व' शब्द से कोई एक अङ्कुरादि लेने पर उसके उत्पत्तिक्षणमात्र में सत्त्व न होने से घटादि में क्षणिकत्व न रह सकेगा। यदि 'स्व' शब्द से समस्त वस्तुओं का ग्रहण करेंगे, तब प्रत्येक वस्तु में सर्वोत्पत्तिक्षण-सत्त्व न रहने से असम्भव हो जायगा। सप्तम (एकक्षणावस्थायित्वम्) पक्ष में सिद्ध-साधनता होती है; क्योंकि अनेकक्षणावस्थायी वस्तु में स्थिर-वादी भी एकक्षणावस्थायित्व मानते हैं। अष्टम (अनेकक्षणानवस्थायित्वे सत्येकक्षणावस्थायित्वम्) पक्ष में भी सिद्ध-साधनता है; क्योंकि घटादि स्थिर पदार्थ भी उत्पत्त्यादि एकक्षणावस्थायी हैं और ध्वंस से लेकर उत्तर-उत्तर अनेक क्षणों में अनवस्थायी भी हैं। "उत्पत्ति क्षण के अनन्तर क्षण में वृत्ति ध्वंस की प्रतियोगिता ही क्षणिकता है"—यह लक्षण भी स्थिर वस्तु में घट जाता है; क्योंकि घटादि की उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में होनेवाले पटादि-ध्वंस की प्रतियोगिता अनेक क्षणावस्थायी पटादि में रह सकती है। 'स्व' शब्द एक वस्तुपरक है या सर्ववस्तुपरक—आदि विकल्पों के द्वारा 'स्व' शब्द का निराकरण कर देने से ही "स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्"—यह लक्षण भी निराकृत हो जाता है। यदि कहा जाय कि "घटोत्पत्ति के अनन्तर क्षण में उत्पन्न ध्वंस की जो घट-निष्ठ प्रतियोगिता है, वही घटगत क्षणिकता है"—इस प्रकार व्यक्तिशः क्षणिकत्व का लक्षण करना चाहिए। तो यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि इस प्रकार का क्षणिकत्व, ('यत् सत्,

क्षणिकत्वमेवं प्रतिव्यक्ति क्षणिकत्वलक्षणमूहनीयमिति चेत्, मैवम्; एवंविधक्षणिकत्वसाधने सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वापातात्; न ह्यतीतानागतानां च सतामेतदुत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वमस्ति; तत्तध्वंसानामेतद्घटोत्पत्त्यनन्तरक्षणेऽनुत्पन्नत्वात्। एतेनोत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वं क्षणिकत्वमित्यपि निरस्तम्; यत्किंचिदुत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वस्य स्थायिष्वपि भावात्, स्वशब्देन विशेषणेऽपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्, प्रतिव्यक्तिलक्षणे च सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वात्। घटत्वात्पटत्वादित्यादिप्रयोगसाधनाभ्यूहने चानागतघटपटादिष्वनैकान्तिकता तदवस्थैव। सर्वश्चायमुदितो हेतुकलापः पूर्वोदितप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधितया कालात्ययापदिष्टः। यत्पुनरुक्तं सामग्रीभेदाद्विरुद्धधर्मसंसर्गाच्च प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वानुपपत्तिरिति, तदयुक्तम्; संप्रयोगसंस्कारयोः संभूयसामग्रीत्वात्। न चान्यत्र संप्रयोगसंस्कारयोः प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयोः कारणत्वादेकज्ञानकारणतानुपपत्तिः; यस्मात्—

तापरिहारायाव्यवहितग्रहणम्। तत्किं यत्सत्तत्क्षणिकमित्यत्र सत्त्वहेतुना एतादृशं क्षणिकत्वं सिसाधयिषितम्? तथा चानैकान्तिकत्वम्। गणरात्रान्तरितपदार्थानां चैतद्घटोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणक्षणिकत्वाभावेन विपक्षत्वात्सत्त्वहेतोश्च, तत्रवर्तमानत्वादित्याह—एवंविधेत्यादिना। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः इति च द्रष्टव्यम्। अथ किमिति तत्र नास्ति? तत्राह—तत्तद्ध्वंसानामिति। उक्तं दूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—एतेनेति। उत्पत्तिक्षणस्य यः प्रध्वंसस्तेनासमानकालीनत्वं यदुत्पद्यमानस्य तत्क्षणिकत्वम्, स्थिरस्य ह्यनेकक्षणावस्थायिनो नोत्पत्तिक्षणप्रध्वंसासमानकालीनत्वम्, तेन नार्थान्तरत्वमित्यर्थः। असंभवपरिहारार्थं चोत्पत्तिपदम्। एतेनेत्येतद्विवृणोति—यत्किंचिदित्यादिना। पूर्वोक्तदोषोऽव्याप्तिः। अथ विशेषलक्षणमिदं विवक्ष्यते, तदा पूर्वोक्तमनुमानदूषणं स्यादित्याह—प्रतिव्यक्तीति। ननु विशेषलक्षणविवक्षायां न सत्त्वादिति हेतुरभिधित्सितः, किंतु घटत्वात्पटत्वादित्यादिव्यावृत्तधर्मा, अतो नानैकान्तिकता, तत्राह—घटत्वादिति। तथाप्यनागतेषु घटेष्वभिप्रेतसाध्यरहितेष्वनैकान्तिकता। एवं पटत्वादेरपीत्यर्थः। एतद्घटत्वादित्यादिहेतुविवक्षायां व्याप्त्यसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम्। एवं साध्यप्रयुक्तदूषणान्युक्त्वा बाधमप्याह—सर्वश्चायमित्यादिना। ननु कथं संस्कारसंप्रयोगयोः संभूयसामग्रीत्वम्? यावतान्यत्र निरपेक्षयोर्दृष्टयोरत्रापि तयोः साहित्याभावो वर्णित इति, तत्राह—नचान्यत्रेति। किमन्यत्र निरपेक्षकारणत्वेनात्रापि नैरपेक्ष्यमनुमि-

---

तत् क्षणिकम्'—व्याप्ति के द्वारा) 'सत्त्व' हेतु से सिद्ध करने पर व्यभिचार दोष होता है—अतीत और अनागत पदार्थों में घटोत्पत्ति के अनन्तर क्षण में उत्पन्न ध्वंस की प्रतियोगिता (प्रकृत साध्य) न रहने पर भी सत्त्व रह जाता है। यह सम्भव नहीं कि घटोत्पत्ति के अनन्तर क्षण में सभी अतीतादि पदार्थों के ध्वंस उत्पन्न हो जाएँ। इसी से 'उत्पत्तिक्षण के ध्वंस की असमानकालीनता ही क्षणिकत्व है'—यह लक्षण भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि किसी घटादि की उत्पत्ति के ध्वंस की असमानकालीनता, पटादि स्थिर पदार्थों में भी बन सकती है। 'स्व' शब्द-घटित लक्षण करने पर वही पूर्वोक्त (स्वत्वानिरूपणत्व) दोष होगा। व्यक्तिशः लक्षण करने पर भी वही 'सत्त्व' साधन में अनैकान्तिकता एवं 'सत्त्वात्' के स्थान पर 'घटत्वात्' 'पटत्वात्'—आदि साधनों की कल्पना करने पर भी घट, पटादि में अनैकान्तिकता होती है। क्षणिकत्व-साधक पूर्वोक्त सभी हेतु, प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से बाधित हैं। यह जो कहा था कि संस्कारादि सामग्री और परोक्षत्वादि विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में अनेकता सिद्ध होती है। वह कहना अयुक्त है; क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष और संस्कार—दोनों मिलकर एक ज्ञान के जनक हैं। 'अन्यत्र सर्वत्र संयोग और संस्कार परस्पर-निरपेक्ष होकर भिन्न-भिन्न ज्ञान के जनक होते हैं, अतः दोनों एक ज्ञान के कारण नहीं बन सकते'—यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि अन्यत्र निरपेक्ष कारण भी कहीं-कहीं मिलकर एक कार्य

अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयोः।
दृष्टं संभूयकारित्वं विशिष्टानुमितिं प्रति ॥ १७ ॥

श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा लिंगस्याक्षनिरपेक्षस्यानुमानज्ञानहेतुत्वं दृष्टम्, दृष्टं चेन्द्रियस्यानपेक्षस्यापरोक्षज्ञानकरणत्वम्, तथापि संभूयोभाभ्यामयं पर्वतो वह्निमानित्येकमनुमानज्ञानं जायमानमुपलभामहे। नह्यन्तरेणेन्द्रियसंप्रयोगमयमिति पुरोवर्त्याकारोपलम्भसंभवः। न च विरुद्धधर्मसंसर्गाद्भेदः; अस्मिन्नेवानुमानवेदने वह्निमानिति चायमिति च पारोक्ष्यपारोक्ष्यविरुद्धधर्मसंसर्गोपलब्धेः। तदेवं प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वेन प्रामाण्यसंभवात्तद्विरुद्धं न भेदानुमानं कालात्ययापदिष्टं न भेदप्रत्यायनायालम्।

त्सितम्? तद्ध्यनैकान्तिकम्, लिङ्गस्य श्रूयमाणतया स्मर्यमाणतया वा क्वचिदिन्द्रियनिरपेक्षतयानुमित्युत्पादकस्येन्द्रियस्य च घटादौ लिङ्गनिरपेक्षतयाऽपरोक्षज्ञानजनकस्यायमग्निमान्पर्वत इत्यनुमित्युत्पत्तौ संभूयकारित्वदर्शनादित्याह—अन्यत्रेति। इममेव श्लोकं विवृणोति—श्रूयमाणस्येत्यादिना। ननु किमित्यनुमितावपि तयोः साहित्यमिति, तत्राह—नह्यन्तरेणेति। यद्यप्ययं पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञात्मकोऽवयवो नानुमन्यते गोतमगोत्रिभिः, तथापीदृशं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयमभ्यनुज्ञायत इति न निदर्शने विप्रतिपत्तिः। यत्तु पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाद्भेद इति; तत्राह—न च विरुद्धेति। एतेन विषयभेदाद्भेदोन्नयनमपि निरस्तम्। अयं पर्वतो वह्निमानित्यत्रैव व्यभिचारात्, कथं चात्र पारोक्ष्यमधिगतम्? नहि तदित्युल्लेखमात्रात्, पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोरप्यग्निमान्पर्वतः सोग्निमान्पर्वत इति ज्ञानयोस्तदन्वयानन्वयदर्शनात्। न च प्रत्यभिज्ञात्वादेव ज्वालाप्रत्यभिज्ञावदप्रामाण्यानुमानम्, विरुद्धधर्मसंसृष्टविषयत्वोपाधिहतत्वात्, अत्र च तदभावस्य निवेदितत्वात्, तथापि चाप्रामाण्ये सर्वत्रैकान्तात् क्वचिदेकक्षणस्याप्यसिद्धेः क्षणिकत्वापि क्षयरोगप्रसङ्गात्। प्रत्यभिज्ञाबाधमनुमानस्य समर्थितमुपसंहरति—तदेवमिति। एतेन विज्ञानक्षणिकत्वानुमानमपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम्; विनष्टाविनष्टत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्योपाधेर्विषयतया असिद्धेः, नीलपीतादेश्च विज्ञानबहिर्भावात्। अस्तु तर्हि प्रत्यक्षम्, न स्वतः परतो वा; असिद्धेः। किं विज्ञानस्य स्वयमेवोत्पत्तिनाशौ सिद्धयतः? ज्ञानान्तरेण वा? न तावदन्त्यः; अपसिद्धान्तात्तद्विज्ञानस्योत्पत्तिविनाशौ गृह्णत्तद्विज्ञानमपि गृह्णीयादपरथा किमीयाविमावित्यावेदयेत्। नच विज्ञानस्य विज्ञानान्तरग्राह्यत्वं त्वप्रकाशदर्शने शोभनम्। स्वग्राहकं विज्ञानं स्वोत्पत्तिविनाशावप्यवगाहत इति चेत्, तत्किं स्वसमये? स्वाभावसमये वा? न तावदन्त्यः; असंभवादतिप्रसङ्गाच्च। किं नाम न शक्यसाधनमसता ज्ञानेन? नापि प्रथमः; संवित्समये तदुत्पत्तेरतीतत्वात् निधनस्य चानागतत्वादयोगिप्रत्यक्षस्य चातीताद्यगोचरत्वात्। कथं च तदिन्द्रियसन्निकर्षाजन्यस्य तत्प्रत्यक्षत्वम्? न हि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् तद्ध्वंसोस्ति, येन तदिन्द्रियसन्निकर्षादुत्पद्येत। अस्तु तर्हि योगिप्रत्यक्षम्, तस्य च त्रैकाल्यगोचरत्वात्, यदाह कीर्तिर्न्यायविन्दौ प्रत्यक्षचातुर्विध्यं वदन्—'तदनुभूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति, तेन न कोऽपि

पैदा करते देखे जाते हैं। जैसे कि यद्यपि श्रूयमाण या स्मर्यमाण लिंग, इन्द्रिय-निरपेक्ष होकर अनुमिति ज्ञान का हेतु देखा जाता है, एवं यह भी देखा जाता है कि इन्द्रिय-संयोग भी लिंग निरपेक्ष होकर घटादि-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति करता है। तथापि दोनों मिलकर "पर्वतो वह्निमान्"—यह एक ही अनुमिति ज्ञान उत्पन्न करते हैं। इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना "अयम्"—इस प्रकार पुरोवर्त्याकार ज्ञान नहीं हो सकता। विरुद्ध धर्मों के संसर्गरूप हेतु से भेद का अनुमान हो भी नहीं सकता; क्योंकि इसी एक अनुमिति ज्ञान में "वह्निमान्"—इस अंश में परोक्षत्व और "अयम्"—इस अंश में अपरोक्षत्वरूप विरुद्ध धर्मों का संसर्ग उपलब्ध होने से व्यभिचारी है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा ज्ञान एक होने से प्रमाण ही है, अतः इस बाध से बाधित होकर हेतु, भेद का अनुमापक नहीं हो सकता।

कथं च व्याप्यव्यापकभावभेदोपलम्भाधीनात्मलाभमनुमानमसिद्धे भेदे भेदं गोचरयेत् ? आगमोप्यभिधानाभिधेयभेदावगमपुरःसरस्तस्मिन्नेवासिद्धे कथं तत्र प्रमाण्यमश्नुवीत ? शब्दान्तरादिकमपि सिद्धशब्दादिभेदोपजीवनेन प्रवर्तमानं तदसिद्धौ कथं कर्मोपासनादिभेदमावेदयेत् ? न हि भेदासिद्धौ यजतिददातिजुहोत्यर्थनां भेदः सिद्ध्यति, येन 'धात्वर्थभेदे सर्वत्र विज्ञेयं भावनान्तरम्'–इति वार्तिककारोक्तो भावनाभेदः सिद्ध्येत्। उपमानमपि मानान्तरा-

---

कलङ्कलेपः' इति, तदपि चार्तम्। तथाहि–किं तदीयनीलादिसंवेदनानामुत्पत्तिविनाशविषयत्वम् ? उत्पत्तिविनाशमात्रविषयस्य वा कस्यचित् ? नाद्यः; नीलादिसवेदनानां तत्तन्मात्रविषयत्वेन स्वोत्पत्त्याद्यगोचरत्वात्। अथान्या संवित् ? सापि किं स्वोत्पत्त्यादिविषयिणी ? परोत्पत्त्यादिविषयिण्यपि वा ? नान्त्यः; परबुद्धीनां तदविषयत्वात्, विषयत्वे चापराद्धान्तात्। अथ सा स्वोदयाद्येव विषयीकरोतीति योगिज्ञाननिदर्शनेन चेतरास्वनुमीयत इति मतम्। अस्तु तर्हि तदीयतादृशसंविदि प्रमाणपर्यनुयोगः। ननु यो यदभिनिविशमानोभ्यस्यति, स तस्य परां काष्ठां प्राप्नोति, चित्रकार इव शिल्पकर्माभ्यासी। अभ्यस्यति च कश्चिदवहितो ध्यानमित्यनुमानं प्रमाणम्, न; नष्टपुत्रादिशोकवशेनातिभावयतः कूटसाक्षात्कारस्यापि दर्शनात्। अभ्यस्यति च कश्चिदिति च शपथसाध्यम्। अस्तु तर्हि बुद्धिनिबद्धागमवशात्तादृशसर्वज्ञ इति सिद्धिः, स एव तर्हि सर्वज्ञः केन सिद्धः ? ननु सोपि तदीयागमादेव, अहो दुर्भगोऽसि यत्तावकगोत्रधुराधुरैर्मारजिल्लोकजिदित्यादीन्युदारगुणग्रामनामान्युपार्जितानि, त्वया तु सांप्रतं मन्दाक्षजिदिति नाम निर्लज्जेनोपार्जितम्, कथमपरथा तत्प्रणीतागममेव तत्सिद्धावभिदधासि ? परस्पराश्रयादपि न बिभेषि ? तदित्थम्–

स्वतस्तावन्न विज्ञप्तेः सिद्ध्येतामुदयव्ययौ। परतोऽपि न विज्ञप्तेः सिद्ध्येतामुदयव्ययौ ॥

तदेवं विरुद्धधर्मसंसर्गाद्भेदानुमानं निरस्तम्, इदानीं भेदशङ्कितानुमानजातस्य साधरणं दूषणमाह—**कथंचेत्यादिना**। व्याप्यव्यापकयोर्यो भेदोपलम्भः, तमुपजीव्य प्रवर्तमानं कथं भेदमात्रे प्रमाणं स्यात् ? अन्योन्याश्रयादित्यर्थः। इममेव दोषमागमेऽप्याह—**आगमोऽपीति**। **तस्मिन्निति**। अभिधानाभिधेययोर्भेद इत्यर्थः। यत्तु शब्दान्तरादि भेदसाधकमित्युक्तम्, तत्परिहरति—**शब्दान्तरादीति**। एतेषां चोदाहरणानि मिथ्यात्ववादे दर्शितानि। तत्र च शब्दान्तरेण धातुभेदेन धात्वर्थभेदात्तदुपरक्तभावनाभेदाधिगतिश्च, शब्दादिभेदोऽद्याप्यसिद्धस्ततः कथं तदुपजीविनः समस्तभेदसाधकत्वम् ? इत्यर्थः। उपलक्षणं चैतदभ्यासादेरपि, तेषामपि हि पुनःश्रुतिसङ्ख्याविशेषसंज्ञान्तरगुणान्तरासन्निधिविशेषरूपाणामभ्याससङ्ख्यासंज्ञाङ्गप्रकरणान्तराणां भेदोपजीवनेनैव प्रवर्तमानानां तदसिद्धावप्रवृत्तेः। उपमानेऽप्युक्तन्यायमतिदिशति—उप-

---

भेद-ज्ञान-जनक अनुमान, अपने व्याप्य और व्यापक के भेद-ज्ञान के सहारे जन्म लेकर असिद्ध भेद की सिद्धि कैसे करेगा ? (अर्थात् भेद की सिद्धि होने पर उक्त अनुमान की प्रवृत्ति और अनुमान की प्रवृत्ति से भेद की सिद्धि—इस प्रकार अन्योन्याश्रयता होती है)। भेद के सिद्ध न होने पर अपने अभिधान और अभिधेय के भेद-ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला शब्द प्रमाण भी कैसे भेद सिद्ध करेगा ? क्योंकि शब्दान्तर, अभ्यासादि (गत पृ० ६५ पर कथित) प्रमाण भी सिद्ध शब्दादि-भेद के सहारे ही प्रवृत्त होते हैं, भेद की सिद्धि न होने पर प्रवृत्त ही न हो सकेंगे, फिर उपासनादि का भेद कैसे सिद्ध करेंगे ? भेद-सिद्धि के बिना 'यजति', 'ददाति', 'जुहोति'–आदि धात्वर्थ का भेद सिद्ध नहीं होता, जिसके बिना भावना का भेद सिद्ध नहीं हो सकता। जैसा कि कुमारिलभट्ट ने कहा है–

"धात्वर्थभेदे सर्वत्र विज्ञेयं भावनान्तरम्।
उत्पत्त्यैकानुरक्ता हि नान्येनाप्यनुरज्यते ॥" (तं. वा. २।२।१)

(अर्थात् भावना स्वरूपतः एक होने पर भी उत्पत्ति वाक्यगत धात्वर्थ विशेष से विशेषित होकर भिन्न हो जाया करती है)। उपमान भी प्रमाणान्तर से प्रमित गो, गवयादि दो पदार्थों के सादृश्य

वसितगोगवयादिवस्तुद्वयावच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्, तदसिद्धौ न वस्तु भेदावभासनाय प्रभवति । तिलेभ्य एव तैलम् पयस एव दधीत्यर्थक्रियान्यथानुपपत्तिप्रभवत्वादर्थापत्तिरपि नान्तरेण तिलादिकारणभेदावभासं व्यवस्थासिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयान्न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते । अभावोऽपि नेदमिह, नेदमिदमिति धर्मिप्रतियोगिभेदाधीनसिद्धिर्न वस्तुभेदं साधयत्यन्योन्याश्रयात् ।

अपि च—मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात् ।
तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम् ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणाधीना तत्प्रमेयव्यवस्थितिः, प्रमाणानि च लक्षणाधीनाधिगमानि, लक्षणं च दुर्निरूपणम् । तथाहि–तत्र न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीत्यक्षपादोदितं

मानमपीति । मानान्तरावसितं यद् गोगवयादिवस्तुद्वयं तदवच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्तस्य च वस्तुद्वयस्यासिद्धावुपमानमपि न समस्तभेदावभासनाय प्रभवतीति योजना । अर्थापत्तेरपि भेदेऽप्रामाण्यमाह—तिलेभ्य एवेत्यादिना । अर्थापत्तिरपि न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते, कुतस्तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीति तैलदधिलक्षणार्थक्रियाया व्यवस्था नियतिः, तदन्यथानुपपत्तिप्रभवत्वात् । भवतु, तावतापि किमायातमित्यत आह—नान्तरेणेति । तिलेभ्य एव दुग्धेभ्य एवेत्यत्र यदि तिलदुग्धयोर्भेदो न प्रतीतः, ततः किं कुत्र व्यवस्थाप्येत ? प्रत्युताव्यवस्थैव, तस्मात्तयोर्भेदसिद्धावेव व्यवस्थासिद्धिर्व्यवस्थान्यथानुपपत्तिलक्षणार्थापत्त्या च कारणयोर्भेदसिद्धिरभिप्रेतेत्यन्योन्याश्रयादिति योजना । न चाभावप्रमाणगम्योस्तु भेदः, तस्य च परस्परव्यावृत्तिरूपभेदे संभवति प्रवृत्तिरिति, तत्राह—अभावोऽपीति । संसर्गाभावेऽन्योन्याभावे वा प्रवर्तमानोऽभावो धर्मिप्रतियोगिभेदज्ञानाधीनप्रवृत्तिस्ततश्च भेदसिद्धावन्योन्याश्रयतेत्यर्थः ।

निर्भग्नः क्षणभङ्ग एष विषमो बद्धोतिदुर्बुद्धिभिर्बौद्धैर्विभ्रमविभ्रमालयमहामायाविमूढान्तरैः ।
यं विध्वस्तसमस्तभावविकृतिं व्याकीर्णमायाकथं लब्ध्वाऽविक्रियबोधमोदजलधिं स्थाणुं स्थिरं तं भजे ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां भेदविषयत्वाभावाद्भेदस्य च दुर्निरूपत्वान्नाद्वैतप्रतिपादकागमानां तैर्विराध इत्यधस्तादभ्यधायि, इदानीं यैः प्रमाणैर्विरोधं ब्रूषे, तान्येव दुर्निरूपाणि, कैर्विरोधः स्यात् ? इत्याह—अपि च मानाधीनेति । तच्चेति । तच्च लक्षणमध्यक्षादिषु देवैरपि वक्तुम् न शक्यत इत्यर्थः । अनेन प्रमाणादिषोडशपदार्थव्युत्पादनरूपन्यायदर्शनविरोधोऽपास्यते । वैशेषिकदर्शनविराधो हि षट्पदार्थनिर्मथनेन पुरो निवारितः । श्लोकं विवृणोति—प्रत्यक्षादीति । यद्यपि प्रमाणसामान्यलक्षणखण्डनानन्तरं तद्विशेषप्रत्यक्षादेः खण्डनं युक्तम्, तथापि प्रत्यक्षलक्षणखण्डनप्रसङ्गेन तदपि खण्डयिष्यत इति लाघवमभिप्रेत्य न्यायसूत्रोक्तं प्रत्यक्षलक्षणं दूषयति—तत्रेति । तेषु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थः । यद्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रम्, तथापीयानेवांशो लक्षणोपयोगी । अव्यप-

---

को विषय करता है, भेद की सिद्धि न होने पर वस्तु-भेद सिद्ध नहीं कर सकता । 'तिलों से ही तैल', 'दुग्ध से ही दधि' होता है—इस प्रकार की व्यवस्था की न्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति भी तिल और दुग्ध रूप कारण के भेद-ज्ञान के बिना प्रवृत्त नहीं हो सकती । अनुपलब्धि प्रमाण भी 'नेदमिह', 'नेदमिदम्'—इस प्रकार अनुयोगी और प्रतियोगी के भेद-ज्ञान पर निर्भर है, अतः अन्योन्याश्रयता दोष के कारण वह वस्तु-भेद का साधक नहीं हो सकता ।

न्याय दर्शन-प्रदर्शित प्रमाण-प्रमेय पदार्थों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अधीन प्रमेय की व्यवस्था होती है और प्रमाणों की व्यवस्था उनके लक्षणों पर निर्भर है । किन्तु लक्षण का निरूपण सम्भव नहीं । जैसे कि प्रत्यक्ष का लक्षण अक्षपाद ने किया है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" (न्या० द० १।१।४) । यह लक्षण युक्त नहीं प्रतीत होता;

प्रत्यक्षलक्षणं घटते । अव्यभिचारित्वस्य दुरधिगमत्वात् । तदव्यभिचारित्वं किमदुष्टसामग्रीजन्यत्वेन ज्ञायते ? किं वा बाधरहित्वेन ? आहोस्वित्प्रवृत्तिसामर्थ्येन ? उतान्येन केनचित् ? न प्रथमः ; अप्रत्यक्षसामग्रीनिष्ठदोषाभावस्याध्यक्षेणाध्यवसातुमशक्यत्वात् । नापि ज्ञानाख्यलिङ्गेन, ज्ञानमात्रेणादुष्टसामग्रीजन्यत्वसाधने विभ्रमज्ञानेष्वनैकान्तिकत्वात् । नाप्यव्यभिचरितज्ञानेन तदवगमः ; परस्पराश्रयत्वात्, अदुष्टकरणजन्यत्वेन ज्ञानस्याव्यभिचरितत्वसिद्धिरव्यभिचरितत्वज्ञानाच्चादुष्टकरणजन्यत्वसिद्धिरिति । नापि द्वितीयः ; विकल्पासहत्वात् । किं सर्वपुरुषबीजरहितत्वम् ? उत प्रतिपत्तुः ? नाद्यः ; सर्वपुरुषबाधरहित्वस्यासर्वज्ञाविज्ञेयत्वात् । न द्वितीयः ; प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमननिधनादिना बाधानुदये तदीयमरुमरीचिकाविभ्रमाणाम-

---

देश्यपदस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षभेदसूचकत्वात् । व्यवसायात्मकपदस्य रूपं रस इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानस्य शब्दानुवेधेन शाब्दत्वशङ्कानिवर्तनेन सविकल्पकप्रत्यक्षप्रामाण्यसमर्थनार्थत्वात्, इति हृदि निधायैतावदुद्धृतम् । तत्र चाव्यभिचारीति शुक्तिरजतज्ञानादिव्यवच्छेदः । सुखादिव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम् । अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थमाद्यं विशेषणम् । एकदेशस्य दुर्ज्ञानत्वादसिद्धिं लक्षणस्याह—**अव्यभिचारित्वस्येति** । अत्र प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वाऽइदमधिगम्यते ? इत्यग्रे विकल्प्य दूषयिष्यते, इदानीं तूभयानुगुगतज्ज्ञापकत्वेनाभिमतान्धर्मान्विकल्प्य दूषयति—**तदव्यभिचारित्वमित्यादिना** । ननु कथं प्रत्यक्षपक्षे धर्माणामानुगुण्यमिति चेत्, स्वतत्त्वोपदेशस्येव तत्प्रत्यक्षसाचिव्यमित्यवेहि । प्रवृत्तेश्चेष्टायाः फलेन तोयादिना अव्यभिचारस्तत्प्राप्तिनियमः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, अदुष्टसामग्रीजन्यत्वेनेति प्रथमपक्षे यदिदमदुष्टसामग्रीजन्यत्वं तत्किं प्रत्यक्षेण ज्ञायते ? उतानुमानेन ? आद्ये प्राह—**अप्रत्यक्षेति** । कार्यैकगम्यसामग्र्या दोषांशानां च प्रत्यक्षत्वाभावात् तन्निष्ठदोषाभावोप्यप्रत्यक्षः, अतस्तज्जन्यत्वमपि ज्ञानगतमप्रत्यक्षामति भावः । द्वितीयेपि किं ज्ञानत्वलिङ्गेन तदनुमीयते ? किंवाऽव्यभिचारिज्ञानत्वेन ? नाद्य इत्याह—**नापीति** । तत्र हेतुः—**ज्ञानमात्रेणेति** । भावपरो निर्देशः । द्वितीयं दूषयति—**नाप्यव्यभिचरितेति** । परस्पराश्रयमेव विवृणोति—**अदुष्टेति** । बाधरहितत्वेनाव्यभिचारित्वावगम इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापीति** । **उत प्रतिपत्तुरिति** । यो हि येन प्रत्यक्षेणार्थं प्रतिपद्यते तत्र तस्य बाधाभावाद्वेत्यर्थः । **प्रतिपत्तुर्देशान्तरेति** । यदा हि मरुमरीचिकाविभ्रमोदयानन्तरं प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमनं देहव्यापत्तिर्वा भवति, तत्र तस्य न बाधोदय इति तद्भ्रमाणामव्यभिचारित्वं स्यादित्यर्थः । आदिग्रहणेन स्वस्थस्यैव जिज्ञासाद्यभावो गृह्यते । प्रवृत्तिसामर्थ्येनेति तृतीयं

क्योंकि यहाँ अव्यभिचारित्व का ज्ञान सम्भव नहीं । अव्यभिचारित्व का ज्ञान क्या (१) निर्दुष्ट सामग्री-जन्यत्व से होगा ? या (२) बाध-रहितत्व से ? या (३, प्रवृत्ति-साफल्य से ? या (४) और किसी हेतु से ? (जयराशिभट्ट ने भी इन्हीं चार विकल्पों के द्वारा अव्यभिचारित्व का ऐसा ही खण्डन किया है—द्र० तत्त्वोप० पृ० २) । (१) प्रथम (निर्दुष्टसामग्री-जन्यत्व) पक्ष में (जिज्ञासा होती है कि प्रत्यक्ष की सामग्री में अदुष्टता का ज्ञान किस प्रमाण से होगा ? प्रत्यक्ष से ? या ज्ञानस्वरूप लिंग से ?) इन्द्रियादि अतीन्द्रिय सामग्री में दोषाभाव का प्रत्यक्ष तो सम्भव नहीं । ज्ञानत्वरूप लिंग से अदुष्टसामग्री-जन्यत्व का अनुमान (इदं ज्ञानम्, अदुष्ट-सामग्रीजन्यम्, ज्ञानत्वात्) नहीं कर सकते ; क्योंकि दुष्टसामग्री-जन्य भ्रमज्ञान में भी रहने से 'ज्ञानत्व' हेतु व्यभिचारी है । अव्यभिचारिज्ञानत्व से अदुष्टसामग्री-जन्यत्व का अनुमान करने पर अन्योन्याश्रयता होती है—अदुष्टकरणजन्यत्व से ज्ञान में अव्यभिचारित्व की सिद्धि और अव्यभिचारित्व-ज्ञान से अदुष्टकरण-जन्यत्व की सिद्धि होगी । (२) द्वितीय (बाध-रहितत्व) पक्ष में भी जिज्ञासा होती है कि 'सर्वपुरुषों की दृष्टि से बाध-रहितत्व' विवक्षित है ? या केवल ज्ञाता पुरुष की दृष्टि से ? सर्वपुरुष-बाध-रहित्व का ज्ञान किसी असर्वज्ञ को तो हो नहीं सकता । ज्ञाता पुरुष की दृष्टि से बाध-रहितत्व, व्यभिचारी ज्ञान में भी रह

प्यर्थाव्यभिचारित्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीयः; तस्याप्यनिरुक्तेः । तथाहि—प्रवृत्तिर्नाम पुंसः समीहा, चेष्टा, तस्याः फलेनोदकादिनाभिसंबन्धः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, तेनोदकादिविज्ञानस्यार्थाव्यभिचारित्वमवगम्यत इति स्थितिः । तच्चेदं प्रवृत्तिसामर्थ्यं लिङ्गत्वादवगतं सदव्यभिचारित्वं बोधयतीति वाच्यम् । तथा सति किं ज्ञानमात्रावगतं सत्तदव्यभिचारितां विज्ञानस्यावगमयेद् ? उताव्यभिचारिज्ञानावगतम् ? नाद्यः; भ्रान्तिस्वप्नादिज्ञानेनानैकान्त्यात् । नापि द्वितीयः; परस्पराश्रयत्वात् । किंचायमन्वयव्यतिरेकी हेतुः ? केवलव्यतिरेकी वा ? नाद्यः; सर्वज्ञानानामव्यभिचारित्वे विप्रतिपन्नं प्रति सपक्षासंभवात । अस्तु तर्हि द्वितीयः; तथाचार्यवाचस्पतेस्तात्पर्यटीकायां प्रयोगः—'विवादाध्यासितं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यदि पुनरेवं नाभविष्यन्न समर्थां प्रवृत्तिमकरिष्यद्यथा प्रमाणाभासः' इति, मैवम्; हेतोर्विरुद्धत्वात् । दृश्यते हि मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्तेः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, न

पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । पूर्ववाद्यभिमतं प्रवृत्तिसामर्थ्यं तदनिरुक्तिं दर्शयितुं विवेचयति—**प्रवृत्तिर्नामेत्यादिना** । समीहेत्यस्यैव विवरणम्—**चेष्टेति** । भवत्विदं प्रवृत्तिसामर्थ्यं ततः किम् ? तत्राह—**तच्चेदमिति** । **लिङ्गत्वादिति** । व्याप्तत्वपक्षधर्मतया ज्ञातं हि लिङ्गं भवति, इतरथाऽसिद्धत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । तच्च प्रवृत्तिसामर्थ्यं किं ज्ञानत्वलिङ्गेनावगतं सत्साध्यं बोधयति ? किं वा अव्यभिचारिज्ञानत्वेनावगतम् ? इति विकल्प्याद्येऽनैकान्तिकतामाह—**भ्रान्तीति** । अत्र च प्रवृत्तिसामर्थ्यं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमभिमतमितरथा वैयधिकरण्यं स्यात् । पूर्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यलक्षणो हेतुर्दुर्ज्ञान इत्युक्तम्, इदानीं भवतु सुज्ञानत्वम्, तथापि कीदृशो हेतुः ? इति विकल्पयति—**किंचायमिति** । चः किंचार्थः । पञ्चरूपः खल्वन्वयव्यतिरेकी । अत्र च सपक्षे सत्त्वलक्षणं द्वितीयं नास्तीत्यभिप्रेत्याह—**सर्वज्ञानानामिति** । न च तदनुभवाभावे संदेहाभावः; विपर्यासादपि प्रत्यवस्थानसंभवात् । न च सोऽपि, अन्यत्र सत एवानिर्वचनीयवादात् । न च सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गः; उक्तवक्ष्यमाणसमाधानत्वात्, एतेनोदयनोद्गारोपि चिकित्सितः । केवलव्यतिरेकिपक्षं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । तात्पर्यटीका न्यायवार्तिकटीका । उदाहृतश्चायं ग्रन्थः स्वतःप्रामाण्यवादे । भ्रान्तिव्यावृत्त्यै समर्थपदम् । तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । विरुद्धत्वं दर्शयति—**दृश्यते**

जाता है; जैसे कि मरु-मरीचि में जल का ज्ञान करके कोई ज्ञाता देशान्तर चला गया या मर गया; तब उस ज्ञान में भी अव्यभिचारित्व रहना चाहिए । (३) तृतीय (प्रवृत्ति-सामर्थ्य) का भी निर्वचन नहीं हो सकता; क्योंकि प्रवृत्ति नाम है पुरुष की समीहा या चेष्टा का । उस प्रवृत्ति का जलादिरूप फल के साथ सम्बन्ध होना ही प्रवृत्ति—सामर्थ्य है, इससे जलादि-ज्ञान में अव्यभिचारित्व का ज्ञान होता है । प्रवृत्ति-सामर्थ्य लिंग होने के कारण स्वयं ज्ञात होकर ही अव्यभिचारित्व का शमक हो सकेगा । यहाँ जिज्ञासा होती है कि उसका ज्ञानमात्र, अव्यभिचारित्व का अनुमापक माना जाता है ? या अव्यभिचारिज्ञान ? प्रथम पक्ष मानने पर पूर्ववत् भ्रान्ति ज्ञानादि में व्यभिचार और द्वितीय पक्ष में अन्योन्याश्रयता होगी । प्रवृत्ति-सामर्थ्यरूप हेतु का ज्ञान किसी प्रकार मान भी लिया जाय, तब भी यह हेतु अन्वयव्यतिरेकी माना जायगा ? या केवलव्यतिरेकी ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि जिस व्यक्ति की दृष्टि से किसी भी ज्ञान में अव्यभिचारित्व का निश्चय नहीं, उसके लिए अन्वय-दृष्टान्त (सपक्ष) ही सम्भव नहीं । यदि कहा जाय कि द्वितीय (केवलव्यतिरेकी) पक्ष निर्दुष्ट है जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका (पृ० ५) में कहा है—"विवादास्पद ज्ञान, अर्थाव्यभिचारी है, समर्थ प्रवृत्ति-जनक होने से, यदि अव्यभिचारी न होता तो समर्थ प्रवृत्ति नहीं करा सकता था, जैसे—प्रमाणाभास ।" तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि उक्त हेतु, विरुद्ध (साध्यासमानाधिकरण) है—देखा जाता है कि मणि-प्रभा में मणि का भ्रम होता है, उससे भी प्रवृत्त होकर मणि की प्राप्ति

चाव्यभिचारित्वम् । उक्तं हि—

"मणिप्रदीपप्रभयोः मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति"।। इति (प्रमा०वा०३।५७)।

कश्चायं फलाभिसंबन्धः ? ज्ञानप्रतिभासितार्थस्य प्राप्तिः ? उत तज्जातीयस्य ? नाद्यः ; वृषभमहिषपरिवर्तनादिना क्रियाविभागन्यायेन विज्ञानावभासितसलिलावयविनो विनाशेन ज्ञानस्य फलाभिसंबन्धाभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ; ग्रहतारादिविज्ञाने तस्य तज्जातीयस्य वा प्राप्त्यभावात् । नापि चतुर्थः ; अन्यदप्यनुमानान्तरम् ? उत प्रत्यक्षम् ? नाद्यः ; लिङ्गस्याव्यभिचरितत्वलक्षणसाध्येन व्याप्तिग्रहणदशायामेवाव्यभिचारस्य गृहीतत्वे पुनरनुमानानुपयो-

हीति । या हि मणिप्रभायां मणिबुद्धिः, सा तावदर्थव्यभिचारिणी, अयथार्थत्वात् । न च मणिप्रभैव मणिः । अथ च समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमस्ति, मणिप्रापकत्वादित्यर्थः । अत्र सौगतवार्तिकसमतिं दर्शयति—उक्तं हीति । यदि हि मणिप्रभायां प्रदीपप्रभायां च मणिबुद्धिभ्यां पुरुषावभिधावतस्तदा तयोरुभयोरपि विज्ञाने एव, तथाप्यर्थक्रियां प्रति विशेषोऽस्ति, मणिप्रभायां मणिबुद्धेर्मणिप्रापकत्वात्, इतरत्र तदभावादित्यर्थः ।

प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य हेतुविशेषान्तर्भावो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानीं प्रवृत्तिसामर्थ्यमेव सर्वज्ञानानुगतमशक्यनिरूणमित्याह—कश्चायमिति । वृषभमहिषेति । अयमर्थः—वैशेषिकादिमते विज्ञानप्रतिभासितार्थप्रापकत्वं फलाभिसंबन्धरूपप्रवृत्तिसामर्थ्यमित्ययुक्तम् ; अव्यापकत्वात् । यदा हि दूरतरे सरसि यः सलिलं दृष्ट्वा तत्पिपासया सर्पति, तदा समसमयमेव यदि महिषेण वृषभेण वा तदम्भः क्षोभितं भवेत्ततस्तदम्भोवयव्यारम्भकावयवेषु क्रियोत्पद्यते, ततश्च पूर्वतनद्रव्यारम्भकसंयोगविघातकविभागोत्पत्तिस्ततश्च संयोगनाशस्तदनु च तदारब्धावयविनाशः, उत्तरसंयोगोत्पत्त्या चावयव्यन्तरोत्पत्तिरिति तेषां दर्शनम्, ततश्च पूर्वज्ञातः सलिलावयवी विलीन एव, पीयमानश्चान्य एवेति पूर्वज्ञानजनितप्रवृत्तेः फलाभिसंबन्धो न स्यात्, अस्ति च तत्, इतरथा व्यभिचारितयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । विज्ञानप्रतिभासितार्थसजातीयार्थप्रापकत्वं फलाव्यभिचार इत्यप्ययुक्तम् । ग्रहतारकादिविज्ञानस्य सजातीयस्य वा विजातीयस्य वा ग्रहादेः प्रापकत्वाभावेनाव्यापकत्वादित्याह—ग्रहेति । पक्षद्वयेऽप्युपेक्षाज्ञानस्य प्रामाण्यं न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम् । अन्येनेति पक्षं निषेधति—नापीति । यत्तदवोचाम—प्रत्यक्षमनुमानं वेति विकल्प्य दूषयिष्यतीति, तदाह—अन्यदपीति । येन हि लिङ्गेनाव्यभिचारित्वमनुमीयते तस्य तेन व्याप्तिर्गृहीता ? न वा ? आद्ये प्राह—लिङ्गस्येति । नहि ज्ञानविशेषेऽव्यभिचारित्वं विप्रतिपन्नम्, येनाग्निमत्वादिवदन्यत्र प्रसिद्धः

हो जाने से प्रवृत्ति सफल ही होती है । धर्मकीर्ति ने भी कहा है—'एक पुरुष मणि की प्रभा को मणि समझ कर मणि लेने दौड़ता है और दूसरा पुरुष प्रदीप की प्रभा को मणि समझ, मणि उठाने दौड़ता है—दोनों को मिथ्या ज्ञान समान होने पर भी फल में विशेषता देखी जाती है कि एक को मणि मिलती है, दूसरे को नहीं ।'

फलाभिसम्बन्ध भी क्या है ? ज्ञान-प्रतिभासित पदार्थ की प्राप्ति ? या तज्जातीय पदार्थ की प्राप्ति ? प्रथम पक्ष उचित नहीं ; क्योंकि कोई प्यासा व्यक्ति दूर से जल देखकर चलता है । इतने में किसी जल-जन्तु ने अपनी पूँछ फटकार दी, फिर क्या था ? वैशेषिकों के जलीय-परमाणुओं में क्रिया, क्रिया से विभाग, विभाग से आरम्भक संयोग-नाश, जिससे पूर्व का देखा हुआ जल (अवयवी) नष्ट हो जाता है । उस प्यासे के पहुँचने तक द्व्यणुकादि-क्रम से नये अवयवी जल का जन्म हो जाता है ; उसे जल मिला, किन्तु जो दूर से दीखा था वह नहीं, अतः ज्ञान-प्रतिभासित जल की प्राप्ति न होने से उसकी प्रवृत्ति में फलाभिसम्बन्ध (सफलता) नहीं होनी चाहिए । तज्जातीय पदार्थ की प्राप्ति भी सर्वत्र नहीं होती, जैसे कि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र—आदि के ज्ञान में न तो सूर्यादि की ही प्राप्ति होती है और न तज्जातीय की ही । (४) चतुर्थ (अन्य किसी प्रमाण से) पक्ष में भी

गात्, अगृहीतत्वे वानुमानस्याप्रवृत्तेः । न द्वितीयः; ज्ञानग्राहकेणैव मानसप्रत्यक्षेण तस्यार्थाव्यभिचारित्वग्रहणेऽभ्यासदशायामिवानभ्यासदशायामपि संशयानुदयप्रसङ्गात् ।

किंचेदमव्यभिचारित्वं नाम विज्ञानस्य ? किं प्रमात्वापरपर्याया जातिः ? उतोपाधिः ? न तावज्जातिः ; जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तथाहि–सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इति वदद्भिरिदं रजतमिति विभ्रमज्ञानमिदमंशे प्रमाणमप्रमाणं च रजतांशेऽभ्युपगम्यते परीक्षकैः, तथाच–

"अन्योऽन्यपरिहारेण भिन्नव्यक्तिनिवेशिनोः ।
सामान्ययोः समावेशो जातिसङ्कर उच्यते ॥"

इत्युक्तन्यायेन स्मृतौ प्रमात्वपरिहारेणैवाप्रमात्वस्य वृत्तेरप्रमात्वपरिहारेण च प्रत्यक्षादौ प्रमात्ववृत्तेरेकस्यां विभ्रमव्यक्तावुभयसमावेशे कथं न जातिसङ्करः स्यात् ? उपाधिश्चाबाधितत्वाविसंवादित्वादिः प्रागुक्तप्रकारेणेवापाकरणीयः ; अस्तु वा यथाकथंचिदविचारितरमणी-

---

मेवान्यत्रानुमीयेत, अपि त्वव्यभिचारित्वमात्र इति भावः । द्वितीये प्राह—**अगृहीतत्व इति** । प्रत्यक्षपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति** । प्रत्यक्षत्वे ज्ञानप्रतीतिसमसमयमेव तस्यापि निर्णीतत्वादनभ्यासदशायामव्यभिचारित्वे संशयो न स्यादित्यर्थः ।

तदित्थमव्यभिचारित्वस्य ज्ञापकाभावादसिद्धिरभिहिता, इदानीमव्यभिचारित्वमेव दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमिति** । प्रमात्वमित्यपरः पर्यायो यस्याः सा तथोक्ता । प्रमात्वमितिनामिकेति यावत् । प्रमात्वरूपमव्यभिचारित्वं न जातिः । इदं रजतमित्यादिभ्रमेषु धर्म्यंशेऽव्यभिचारित्वरूपप्रामाण्याङ्गीकारादितरांशे चाप्रामांण्याङ्गीकारात् । उभयोश्च परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र वृत्तौ जातिसङ्करादित्याह—**न तावज्जातिरित्यादिना** । जातिसङ्करस्वरूपमेव वृद्धवचनेन द्रढयति—**अन्योऽन्यपरिहारेणेति** । नच स्वतःप्रामाण्यवादोक्तः परिहारः इदमंशे तद्व्यवहारस्यौपाधिकत्वेऽन्यत्रापि तत एव तद्व्यवहारोपपत्तौ जातिसद्भावे प्रमाणाभावात् । न च गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्गः; इष्टत्वात् । नचाप्रमात्वमुपाधिः, प्रमात्वं च जातिरिति वक्तुं युक्तम्, वैपरीत्यस्यापि संभवात् । उपाधिपक्षं दूषयति—**उपाधिश्चेति** । **प्रागुक्तप्रकारेणेति** । अबाधितत्वं किं सर्वस्य ? किं वा प्रतिपत्तुः ? एवमविसंवादित्वमपि किंसर्वेषाम् ? उत प्रतिपत्तुः ? इति विकल्प्योक्तदूषणेनेत्यर्थः । एवमवयवशो दूषणमुक्त्वा समुदितेऽपि दूषणं वक्तुमुपक्रमते—**अस्तु वेति** । अनीश्वरप्रत्यक्ष-

---

'अन्य' पद से अनुमानान्तर विवक्षित है ? या प्रत्यक्ष ? यदि अनुमान विवक्षित है, तो उसके हेतु का अव्यभिचारित्वरूप साध्य के साथ व्याप्ति-दर्शन पहले हुआ है ? या नहीं ? यदि हुआ है, तब व्याप्ति-दर्शन-काल में अव्यभिचारित्व का निश्चय हो जाने से अनुमान प्रयोग व्यर्थ है और यदि नहीं हुआ, तब तो अनुमान भी कैसे होगा ? 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से बाह्य प्रत्यक्ष का असम्भव दिखाया जा चुका है, अतः मानस प्रत्यक्ष ही लेना होगा । यदि मानस प्रत्यक्ष से ही ज्ञान के साथ-साथ अव्यभिचारित्व का ग्रहण हो जाता है, तब अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में व्यभिचारित्व अव्यभिचारित्व का संशय नहीं होना चाहिए ।

ज्ञानगत अव्यभिचारित्व का स्वरूप भी क्या है ? प्रमात्व संज्ञक जाति ? या उपाधि ? साङ्कर्य के भय से जाति नहीं मान सकते—सभी भ्रमज्ञान भी धर्मी (शुक्त्यादि) अंश में प्रमा ही होते हैं, प्रकार (रजतत्वादि) अंश में अप्रमा होते हैं— ऐसा जो विद्वान् मानते हैं, वे 'इदं रजतम्'—इस एक ही ज्ञान में प्रमात्व और अप्रमात्व—दोनों मानते हैं । साङ्कर्य का लक्षण है कि 'परस्पर एक दूसरे को छोड़ कर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में रहनेवाले दो धर्मों का एकत्र समावेश ।' प्रकृत में प्रमात्व को छोड़कर अप्रमात्व स्मृति में रहता है, एवं अप्रमात्व को छोड़कर प्रमात्व, प्रत्यक्षादि में और दोनों का समावेश एक भ्रम व्यक्ति में हो जाता है, अतः जाति-सङ्कर क्यों न होगा ? अबाधितत्व, अविसंवादित्व–आदि उपाधियों का पूर्वोक्त रीति से (सर्व पुरुषों की दृष्टि से अबाधितत्व ? या

यमव्यभिचारित्वम्, तथापीश्वरज्ञानेऽव्याप्तिः। तस्य नित्यत्वादेवेन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वात्। जन्यप्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्, तथाप्यनुमितावतिव्याप्तिः, मनोलक्षणेन्द्रियस्यात्मलक्षणेनार्थेन सन्निकर्षादनुमितेर्जायमानत्वात्। संयुक्तेऽर्थ इति विशेषणान्नातिव्याप्तिरिति चेत्, न; युक्तावस्थायामुपजायमानपरमाणुविषययोगिप्रत्यक्षेऽव्याप्तेः। अयोगिप्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्, न; प्रत्यभिज्ञाने तत्तांशेऽव्याप्तेः। तत्रापि संयुक्तविशेषणतालक्षणः सन्निकर्षोऽस्तीति चेत्, मैवम्; अयमग्निमान्पर्वत इत्यनुमानेऽतिव्याप्तेः, तत्रापि संयुक्तविशेषणतालक्षणसन्निकर्षस्य तत्तांश इव सद्भावात्। लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न; इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तेनाप्यतद्व्यावृत्तिमुखेन लिङ्गाद्यजन्यत्वमेवोच्यत इति चेत्, न; यत्कि-

लक्षणमिदमतो नाव्याप्तिरिति शङ्कते—जन्येति। अनुमिताविन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वं दर्शयन्नतिव्याप्तिमेव विवृणोति—मनोलक्षणेति। उपलक्षणं चैतत्स्मृत्यादेरपि। नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं संयुक्तेऽर्थे प्रत्यक्षमिति लक्षणं विवक्षितम्, नचैवमनुमानम्, अतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—संयुक्तेऽर्थे इतीति। एतदुक्तं भवति—इन्द्रियार्थेत्यादिविशेषणयुक्तं संयुक्तार्थावभासकं प्रत्यक्षमिति। तर्हि योगिप्रत्यक्षविशेषेऽव्याप्तिरित्याह—न; युक्तावस्थायामिति। आत्ममनःसन्निकर्षमात्रादशेषार्थग्रहणमिति भवतामभ्युपगमः। युक्तं च। नहि तदा परमाण्वादीन्द्रियसंयुक्तम्; बहिरिन्द्रियाव्यापारान्मनश्च बहिः स्वातन्त्र्याभावादिति भावः। तर्हि अयोगिप्रत्यक्षस्यैवेदं लक्षणमस्त्विति शङ्कते–अयोगीति। तर्ह्ययोगिप्रत्यक्षेप्यव्याप्तिरित्याह—न; प्रत्यभिज्ञान इति। ननु कथमव्याप्तिः, यावता तत्तायामपीदानीं चक्षुषा संयुक्तदेवदत्तविशेषणतया पारंपर्येणेन्द्रियसन्निकर्षोऽस्तीति शङ्कते—तत्रापीति। तर्हि प्रत्यक्षधर्मिकानुमानेष्वतिव्याप्तिरित्याह–मैवमिति। ननु लिङ्गाद्यजन्यत्वे सत्युक्तविधसन्निकर्षजन्यत्वं तल्लक्षणम्, तथा च नानुमितावतिव्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि लिङ्गाद्यजन्यत्वे सति प्रमितित्वमित्येतावदेवास्तु प्रत्यक्षलक्षणम्, व्यभिचाराभावात्, वृथेतरदिति परिहरति–नेन्द्रियार्थेति। नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यत्र लिङ्गाद्यजन्यत्वं विवक्षितमतो न वैयर्थ्यम्। यदि हि लिङ्गाद्यजन्यत्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वं चोभयं विवक्ष्येत, स्यात्तदा वैयर्थ्यम्, नत्वेवमिति शङ्कते–तेनापीति। तर्ह्यसिद्धिरेव लक्षणस्य, चक्षुरादेरपि यत्किंचित्प्रति लिङ्गत्वेन सर्वप्रत्यक्षाणां लिङ्गजन्यत्वा-

किसी एक की दृष्टि से–इन विकल्पों के द्वारा) निराकरण कर देना चाहिए। यदि किसी प्रकार अव्यभिचारित्व का कोई आपात-रमणीय स्वरूप मान भी लें, तब भी ईश्वर-ज्ञान में अव्याप्ति बनी रहती है; क्योंकि ईश्वर-ज्ञान नित्य होने से इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य नहीं होता। यदि उक्त लक्षण, जन्य प्रत्यक्ष का ही माना जाय, तब भी अनुमिति में अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि अनुमिति भी मन इन्द्रिय और आत्मरूप अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य होती है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष-विषय अर्थ के साथ जिस इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान होता है उसे उस इन्द्रिय से सन्निकृष्ट विषय का प्रत्यक्ष कहा जाता है, वह्निविषयक अनुमिति वह्नि के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जन्य नहीं होती। तो यह कहने पर युक्तयोगी के इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना ही परमाणु–आदि विषयक प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होती है। उक्त लक्षण को अयोगि-प्रत्यक्ष का लक्षण मानने पर भी प्रत्यभिज्ञा के तत्तांश में अव्याप्ति होती है। यदि कहा जाय कि 'तत्ता' के साथ भी 'इन्द्रिय-संयुक्त-विशेषणता' सन्निकर्ष होता है, तब तो "अग्निमान् पर्वतः"—इस अनुमिति में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि अग्नि के साथ भी तत्तांश के समान ही 'संयुक्त-विशेषणता' सन्निकर्ष विद्यमान है। 'लिंगाद्यजन्यत्वे सति' यह विशेषण लगाने पर 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष' पद व्यर्थ हो जाता है। यदि कहा जाय कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य में लिंगादि-जन्यत्व की व्यावृत्ति करने के लिए ही लिंगाद्यजन्यत्व कहा जाता है, तब असम्भव दोष हो जाता है; क्योंकि किसी-न-किसी की अपेक्षा से इन्द्रिय और सन्निकर्षादि

चिदपेक्षया सर्वस्यापि लिङ्गत्वसंभवेन लक्षणस्यासंभवित्वप्रसङ्गात्। पारोक्ष्यानधिकरणप्रमा प्रत्यक्षफलं तत्करणं च प्रत्यक्षप्रमाणमिति सूत्रेण सूत्रितं लक्षणमिति चेत्, न; प्रमात्वपरोक्षत्वयोर्दुर्निरूप्यत्वेन तदधीननिरूपणस्यापि लक्षणस्य दुर्निरूपत्वात्। न च प्रमात्वस्य जातित्वेन निरुक्तिः; भ्रमज्ञाने जातिसङ्करस्योक्तत्वात्। न तत्रेदमंशादिप्रत्यये प्रमात्वं जातिः, किंतूपाधिनिबन्धनः प्रमाव्यवहार इति चेत्, न; सर्वप्रमाव्यवहारस्यापि तथात्वोपपत्तौ जातेरपलापापत्तेः। न चैवं गोत्वापलापप्रसङ्गः; जातिमन्तरेणोपाधिमात्रनिबन्धनतया गोव्यवहारस्य क्वचिदप्यनङ्गीकारात्। मृद्गवादौ गोव्यवहारो न जातिनिबन्धनो नाप्युपाधिनिबन्धनः किंत्वौपचारिक इति न किंचिद् दुष्यति।

न च प्रमात्वजातेर्व्यञ्जकमस्ति। तथाहि—तत्किमबाधितानुभूतित्वम्? किं वा यथार्थानु-

---

दित्याह—न यत्किंचिदिति। तल्लिङ्गाजन्यत्वे सति तदिन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य लक्षणत्वविवक्षायां तच्छन्दाथानुगत्यसंभवेन लक्षणस्याव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। फलद्वारा लक्षणं शङ्कते—**पारोक्ष्येति**। अनुमित्यादिव्यावृत्तये पारोक्ष्यानधिकरणेत्युक्तम्। भ्रान्तिविशेषव्यवच्छेदाय प्रमाणग्रहणम्, इन्द्रियेत्यादिविशेषणेन पारोक्ष्यानधिकरणत्वसूचनादव्यभिचारितया भ्रमादिव्युदासेन प्रमात्वलाभात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति सूत्रे करणस्य च प्रक्रान्तत्वादिदं लभ्यत इति भावः। **भ्रमज्ञान इति**। तत्र हीदमंशज्ञाने प्रमात्वमितरत्राप्रमात्वमिति जातिसङ्कर उक्त इत्यर्थः। ननु न तत्र प्रमात्वं जातिरस्ति, येन जातिसङ्करः स्याद्व्यवहारस्तूपाधिनिबन्धन इति शङ्कते—**न तत्रेति**। आदिग्रहणेन पीतः शङ्खः उष्णं जलमित्यादौ पीतोष्णतादिप्रत्ययाः संगृह्यते। संसर्गमात्रप्रत्यये हि तत्राप्रमात्वम्, तर्हि तेनैवोपाधिना सर्वत्र प्रमाव्यवहारोऽस्त्वनुगतनिमित्तलाभात्, अलं जातिकल्पनया अर्धजरतीयदुष्टयेति परिहरति—**नेति**। ननु कथं क्वचिदपि गोत्वव्यवहारस्योपाधिनिबन्धनताऽभावः? यावता मृदादिविनिर्मितगवादौ गोत्वव्यवहारस्यौपाधिकत्वात्, तत्र जातेरभावादिति, तत्राह—**मृद्गवादाविति**। न तावन्मृद्गवादौ गवादिबुद्धिरस्ति, शब्दप्रयोगस्तु परम्, नच सोऽपि जातिमुपाधिं वावलम्ब्य, किंतूपचारात्। नहि सिंहशब्दो बलवर्मणि उपचारात्प्रयुक्त इति उपाधिनिबन्धनो जातिनिबन्धनो वा भवति, विभ्रमेदमंशादौ पुनर्मुख्यत्व प्रमाव्यवहारस्य स्वीक्रियत इति विशेष इति भावः।

जातिसङ्करान्न प्रमात्वं जातिरित्युक्तम्, इदानीं व्यञ्जकाभावाच्च न प्रमात्वं जातिरित्याह—**न चेति**।

सभी लिंग ही हो सकते हैं, किसी भी प्रत्यक्ष ज्ञान से लिंग-जन्यत्व की व्यावृत्तिसम्भव नहीं। (यदि कहा जाय कि "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" (न्या० द० १।१।३) सूत्र में 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है-प्रमा का करण। परोक्षत्वानधिकरण प्रमा, प्रत्यक्ष फल है, उसके करण का नाम प्रत्यक्ष प्रमाण—इस प्रकार का सूत्र-सूचित लक्षण मानेंगे। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि प्रमात्व और परोक्षत्व का निरूपण हो नहीं सकता, अतः प्रमात्वादि-निरूपण के द्वारा निरूपणीय लक्षण कैसे सम्भव होगा? प्रमात्व को जाति मानने पर भ्रमज्ञान में जाति-साङ्कर्य कहा जा चुका है। यदि कहा जाय कि 'इदं रजतम्' में इदम्—इस ज्ञान में प्रमात्व जाति नहीं मानते, अपितु उपाधि के अधीन प्रमा-व्यवहार हो जाता है। तो ऐसे ही समस्त प्रमा व्यवहार निभ जायगा, जाति का मानना ही व्यर्थ होता है। किंतु इसी प्रकार गोत्वादि का अपलाप नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'गोत्व' जाति को छोड़कर उपाधिमात्र के अधीन गो-व्यवहार कहीं भी नहीं माना जाता। मिट्टी की गौ में गो-व्यवहार, न तो जाति-निबन्धन होता है और न उपाधि-निबन्धन; अपितु (माणवक में 'सिंह' शब्द के समान) औपचारिक है, अतः कोई दोष नहीं।

'प्रमात्व' जाति का व्यञ्जक भी कोई नहीं। यदि है, तो क्या (१) बाध-रहित अनुभूतित्व?

भूतित्वम्? आहोस्विदव्यभिचार्यनुभूतित्वम् ? अविसंवाद्यनुभूतित्वं वा ? संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वं वा ? एतद्धटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्धूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमत्त्वं वा । न प्रथमः; इदानीं बाधविरहस्यातिप्रसञ्जकत्वात् । कालान्तरे बाधविरहस्य दुरवधारणत्वात्, सर्वपुरुषाबाधस्य पुरस्तादेव निरस्तत्वात् । न द्वितीयः; यथार्थत्वानिरुक्तेः, तत्किमर्थसत्तामात्रविषयत्वम् ? उत यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वम् ? आहोस्विदबाधितार्थवत्त्वम् ? न तावदर्थसत्तामात्रविषयत्वम् ; भ्रमस्यापि प्रमात्वप्रसङ्गात् । नापि यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वम , प्रत्यभिज्ञायामतीतानागतानुमानेषु वैधज्ञाने च तदभावेन तेषामप्रमात्वापतात् ।

पक्षचतुष्टयेऽनुभूतिग्रहणं स्मृतिव्यावृत्त्यर्थम् । विपर्ययादिव्यावृत्त्यर्थम् च विशेषणान्तरम् । संशयाद्विपर्ययाच्च व्यतिरिक्तत्वे सति स्मृतित्वस्याप्यनधिकरणं यज्ज्ञानं तत्त्वमिति पञ्चमः पक्षः । **एतद्धटज्ञानेति** । एतच्च घटज्ञानं चेति प्रत्यक्षज्ञानविशेषो विवक्षितः । एतच्च धूमजन्यवह्निज्ञानं चेत्यत्राप्यनुमानज्ञानविशेषः । तयोर्वर्तमानत्वे सति संशयावृत्तिर्या जातिः प्रमात्वं तदधिकरणत्वं प्रमात्वव्यञ्जकमित्यर्थः । अत्र च घटज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वमित्युक्ते अनुमेयघटज्ञानवृत्त्यनुमितित्वजातिमत्त्वमनुमितित्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता, तदर्थमेतद्धटज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्वम् प्रत्यक्षत्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता , तदर्थम् धूमजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षधूमज्ञाने पूर्वोक्तार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यवह्निज्ञानेत्युक्तम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तिः; तदर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यवह्निज्ञानेत्युम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तिस्तदर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता, तदर्थम् संशयावृत्तीत्युक्तम् । संशयावृत्तित्वे सति परोक्षाऽपरोक्षानुभववृत्तिजातिमत्त्वमिति लक्षणार्थः । तत्र प्रथमपक्षमबाधितत्वानिरुक्त्या दूषयति—**न प्रथम इति** । **अतिप्रसञ्जकत्वादिति** । विपर्ययादावपीदानीं बाधविरहसंभवेन प्रमात्वव्यञ्जकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । **पुरस्तादेव निरस्तत्वादिति** । असर्वज्ञाविज्ञेयत्वादित्यर्थः । वादीन्द्रस्तु बाधितत्वात्यन्ताभावोऽबाधितत्वमित्याह । तस्य वक्ष्यमाणबाधानिरुक्त्या निरासः । अथाबाधितमबाधितमित्यनुवृत्तबुद्ध्या जातिरुपाधिर्वाऽबाधितत्वम् न ; बुद्धिमात्रादसिद्धेः । अबाधितत्वे च चक्रकम् । **भ्रमस्यापीति** । भ्रमज्ञानेऽपीदमंशस्यार्थस्य विद्यमानत्वात्तत्रापि व्यञ्जकसत्तया व्यङ्ग्यप्रमात्वप्रसङ्गादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—**नापीति** । प्रत्यभिज्ञायां तत्ताविशिष्टोर्थः प्रत्यभिज्ञोदसमये नास्त्यतीतत्वात् , तथातीतानागतार्थविषयानुमानेऽपि तदानीमर्थो नास्ति । तथा विधिवाक्यजन्यज्ञानेपि साध्यार्थविषयत्वात्तदानीमर्थो नास्तीति तेषामव्यञ्जकतयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीयतृतीयौ

या (२) यथार्थानुभूतित्व ? या (३) अर्थाविनाभूतानुभूतित्व ? या (४) विसंवाद-रहित अनुभूतित्व ? या (५) संशय, विपर्यय, स्मृत्ति-भिन्न ज्ञानत्व ? या (६) यत्किञ्चित् घट-प्रत्यक्ष और वह्न्यनुमिति में वृत्ति, संशयावृति जातिमत्त्व ? (१) प्रथम (अबाधितानुभूतित्वम्— द्र० खं० पृ० ४४२) पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि वहाँ (एतत्कालीन बाध-विरह विवक्षित है ? या कालान्तरीण बाध-विरह ?) एतत्कालीन बाध-विरह तो एतत्कालीन विपर्यय में भी है, अतः उसमें अतिप्रसक्ति (प्रमात्वापत्ति) होगी। कालान्तरीण बाध-विरह का निश्चय करना ही कठिन है। सर्व पुरुषों की दृष्टि से बाध-विरह का निरास पहले ही किया जा चुका है। (२) द्वितीय (यथार्थानुभूतित्वम्—द्र० खं० पृ० ३९७) व्यञ्जक के घटक 'यथार्थत्व' का निर्वचन क्या किया जायगा ? अर्थ-विद्यमानता मात्र-विषयकत्व ? या प्रतीयमानार्थसत्त्व ? या अबाधितार्थकत्व ? अर्थ-सत्तामात्र-विषयकत्व तो भ्रम में अतिव्याप्त है (क्योंकि भ्रम का विषय अधिष्ठान, विद्यमान ही होता है)। 'यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्व', प्रत्यभिज्ञा में, अतीतादि-विषयक अनुमान में एवं विधि-जन्य ज्ञान में नहीं (प्रत्यभिज्ञा का तत्ता-विशिष्ट अर्थ, अनुमान का अतीत अर्थ और विधिजन्य ज्ञान का स्वर्गादि अर्थ उस समय विद्यमान नहीं) अतः उनमें

अबाधितार्थवत्त्वं तु पुरस्तादेवापहस्तितम् , नापि तृतीयः ; ज्ञानार्थयोर्विभिन्नदेशकालयोर्धूमाग्न्योरिवाविनाभावाभावात् । चतुर्थेऽपि पक्षे ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानत्वम् ? विपरीततया वाऽनुल्लिख्यमानत्वमविसंवादित्वम् ? नाद्य ; रजतं रजतमिति धारावाहिकविभ्रमेष्वपि भावात् । न द्वितीयः ; असंजातबाधस्यापि भ्रमस्य प्रमात्वापातात् । नापि पञ्चमः ; संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वस्य विभ्रमेऽपि धर्म्यंशे भावात् । अन्यथा "सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः" इत्यभ्युपगमपरित्यागप्रसङ्गात् । संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तेश्च तदतिरिक्तत्वमपि दुर्भणम् ।

तत्र किमनवधारणज्ञानं संशयः ? विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिज्ञानं वा ? अनिर्द्धारितत्वविशेषितं वा ? जिज्ञासाजनकं मिथ्याज्ञानं वा ? विपर्ययेतरमिथ्याज्ञानं वा ? संशयत्वजातियोगि

दूषयति—**अबाधितार्थवत्त्वं त्विति** । अव्यभिचार्यनुभूतित्वमिति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीयः इति** । किं यत्रार्थस्तत्र ज्ञानमिति देशतोऽव्यभिचारित्वं विवक्षितम् ? किं वा यदार्थस्तदा ज्ञानमिति कालतः ? नोभयमपीत्याह—**ज्ञानार्थयोरिति**—यद्यपि सुखादिषु देशतोऽविनाभावो वर्तमानेषु च कालतः संभवति, तथापि न सर्वप्रमितीनामेवंभाव इति तास्वव्याप्तिरित्यर्थः । अविसंवाद्यनुभूतित्वमिति चतुर्थेऽपि पक्षेऽविसंवादित्वं विकल्प्य दूषयति—**चतुर्थेपीति** । किं संवादाभावो विसंवादित्वम् ? तदभावोऽविसंवादित्वम् ? इति प्रथमविकल्पाभिप्रायः । द्वितीये तु विपरीतसंवादो विसंवादस्तदभावोऽविसंवादित्वमिति । तत्र प्रथमं दूषयति—**नाद्य इति** । अस्ति हि इदं रजतमिति धारावाहिकविभ्रमे ज्ञानान्तरेण पूर्वज्ञानप्रतीतार्थस्य तथेत्युल्लेख इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये देशान्तरगमनादिनानुत्पन्नबाधे भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह—**न द्वितीय इति** । पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिः ; सर्वभ्रमाणामधिष्ठानांशे त्वदुक्तलक्षणवत्त्वेन प्रमात्वप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः , जातिशङ्कोक्तेरित्यभिप्रेत्याह—**नापि पञ्चम इति** । किंच संशयादेरपि दुर्निरूपत्वात्तद्व्यतिरिक्तत्वमप्रसिद्धमित्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यभिप्रेत्याह—**संशयेति** ।

तत्र संशयलक्षणानि संभवन्ति विकल्पयति—**तत्र किमित्यादिना** । निश्चयव्यावृत्त्यर्थमाद्यं पदम् । अवधारणाभावव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम् । घटपटौ स्थाणुर्वेत्यादिव्यावृत्त्यै विरुद्धोभयग्रहणम् । **अनिर्धारितत्व-**

प्रमात्व न रह सकेगा । अवाधितार्थत्व का निराकरण हो ही चुका है । (३) तृतीय (अव्यभिचार्यनुभूतित्वम्—द्र० खं० पृ० ४२७) पक्ष असम्भव-ग्रस्त है ; क्योंकि ज्ञान और अर्थ का देश-काल भिन्न-भिन्न है, अतः उनमें धूम और अग्नि के समान अविनाभाव सम्भव नहीं । (४) चतुर्थ (अविसंवाद्यनुभूतित्वम्—द्र० खं० पृ० ४३०) पक्ष में अविसंवादित्व का क्या अर्थ है ? ज्ञानान्तर-समर्थित-विषयकत्व ? या असंजातबाधकत्व ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस भ्रम ज्ञान का विषय भी 'इदं रजतम्'–इस द्वितीय ज्ञान से समर्थित है । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि जिस भ्रम का बाध किसी कारण उत्पन्न नहीं हुआ, उसमें प्रमात्वापत्ति होती है । (५) पञ्चम (संशयविपर्ययातिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वम्—द्र० खं० पृ० ४४३) भ्रम के धर्मी अंश में भी विद्यमान है । यदि न माना जाय, तब "सभी ज्ञान धर्मी अंश में अभ्रान्त होते हैं, प्रकारांश में ही विपर्ययता होती है"—यह सिद्धान्त भंग हो जायगा । संशय विपर्यय और स्मृति का निरूपण भी नहीं हो सकता, इस लिए भी संशयाद्यतिरिक्तत्व-घटित पञ्चम पक्ष दुर्निर्वच है ।

इनमें संशय क्या है ? क्या (१) अनवधारण ज्ञान ? या (२) विरुद्ध उभय कोटि-संस्पर्शी ज्ञान ? या (३) अनिर्धारितत्व-विशेषित विरुद्ध उभय कोटि-संस्पर्शी ज्ञान ? या (४) जिज्ञासा-जनक मिथ्या ज्ञान ? या (५) विपर्यय-भिन्न मिथ्या ज्ञान ? या (६) संशयत्व जाति-विशिष्ट ज्ञान ? किसी प्रकार

वा ? सर्वथापि न निरुपणपथमवतरति ।

अनिरुक्तेरवधृतेरतिव्याप्तेर्द्वयोरपि ।
अव्याप्तेर्विभ्रमाभेदाज्जातिसाङ्कर्यसक्तितः ॥ १९ ॥

नाद्यः ; अवधारणानिरुक्तावनवधृनत्वस्याप्यनिरूपणात् । तथाहि—किं ज्ञानमात्रमवधारणम् ? उत एकाकारप्रतिनियतम् ? आहोस्वित्संशयविरोधिज्ञानं वा ? संशयविरोधिप्रमाणज्ञानं वा ? आद्ये व्याघातः ; ज्ञानं भवति चेत्युक्तत्वात् । द्वितीये चित्रः पटश्चैत्रो मैत्रश्चेत्यादिप्रमाणज्ञानानामपि संशयत्वापातः, एकाकारप्रतिनियमाभावात् । नापि तृतीयचतुर्थौ ; संशयानिरुक्तौ तद्विरोधस्यानिरुक्तेः । किं चैवं सति संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं संशय इत्यापतेत् । तथाचानुत्पन्नसंशयस्य संशयाविरोधिता, जायमानप्रमाणज्ञानमपि संशयः स्यात् । नापि द्वितीयः ; भेदाभेदशीतोष्णादिविषयप्रमाणज्ञानानां विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिनां संशयत्वप्रसङ्गात् ।

विशेषितमिति । अनिर्धारितोभयकोटिसंस्पर्शि ज्ञानमित्यर्थः । मिथ्याज्ञानमित्युक्ते विपर्ययेति प्रमङ्गस्तदर्थं जिज्ञासाजनकेत्युक्तम् । तावत्युक्ते तर्केऽपि प्रसक्तिः , तदर्थं मिथ्याज्ञानमिति । सर्वथापि दुर्निरूपणमित्युक्तम् । तत्र यथासंभवं दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—अनिरुक्तेरित्यादिना । प्रथमे पक्षेऽवधृतेरनिरुक्त्या अनवधृतेरप्यनिरुक्तेरसिद्धिः, तथा द्वितीयतृतीययोरतिव्याप्तिः, चतुर्थे चाव्याप्तेः, पञ्चमे विभ्रमाभेदात्., षष्ठेऽपि जातिसङ्करप्रसक्तित इति योजना । संगृहीतानि दूषणानि विवृणोति—नाद्य इत्यादिना । अवधारणानिरुक्त्याऽनवधारणानिरुक्तिं दर्शयितुमवधारणलक्षणानि विकल्पयति—किं ज्ञानमात्रमित्यादिना । ज्ञानमात्रमवधारणमिति पक्षे ज्ञानत्वानधिकरणं ज्ञानमनवधारणज्ञानं स्यात् , तथाचानवधारणज्ञानं संशय इति वदतो न्यायभूषणकारस्य वदनसरोरुहं व्याहतिहिमाहतमित्याह—आद्ये व्याघात इति । नहि चित्रः पट इत्यादिज्ञानानामेकाकारप्रतिनियमस्ततोऽनवधारणज्ञानतापत्त्या संशयलक्षणमति व्यापकमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—द्वितीय इति । संशयविरोधिज्ञानत्वं तथाविधप्रमाणत्वं वेति यदिदमवधारणस्य लक्षणद्वयम् , तत्संशयानिरुक्त्या न सिद्ध्यति, आत्माश्रयप्रसङ्गादित्याह—नापि तृतीयेत्यादिना । किंच यदि संशयविरोधज्ञानमवधारज्ञानम् , तदा संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं संशय इति लक्षणं स्यात्तथा चानुत्पन्नसंशयस्योत्पद्यमानं निर्णयज्ञानमपि संशयः स्यात्तस्य सर्वसंशयाविरोधित्वादित्याह—किंचेति । तदेवमनिरुक्तेरवधृतेरित्ययमंशो विवृतः । एतेन च 'कोटिद्वयानवधारणज्ञानं संशयः'

से भी निरूपण नहीं हो सकता ; क्योंकि 'अवधारण का निरूपण न हो सकने के कारण अनवधारण का भी निरूपण नहीं हो सकता, द्वितीय और तृतीय लक्षण अतिव्याप्त हैं, चतुर्थ अव्याप्त, पञ्चम भ्रम में अतिव्याप्त और षष्ठ में जाति-साङ्कर्य-प्रसक्ति होती है ।' अर्थात् (१) प्रथम लक्षण-घटक अवधारण का क्या स्वरूप है ? ज्ञानमात्र ? या एकाकारता-नियत ज्ञान ? या संशय-विरोधी ज्ञान ? या संशय-विरोधी प्रमाणज्ञान ? प्रथम पक्षोक्त ज्ञानमात्र को अवधारण मानने पर अनवधारणज्ञान का अर्थ होता है—अज्ञान रूपज्ञान—इस प्रकार वदतोव्याघात है, जो अज्ञान है, वह ज्ञान कैसे होगा ? एकाकारता-नियत ज्ञान यदि अवधारणज्ञान माना जाय, तब "चित्रः पटः" "चैत्रो मैत्रश्च"—आदि प्रमाणज्ञानों को अनवधारण या संशय कहना होगा ; क्योंकि वे एकाकार नहीं । संशय का निर्वचन न हो सकने से (तृतीय और चतुर्थ) संशय-विरोधी ज्ञान का भी निरूपण नहीं हो सकता । दूसरी बात यह भी है कि इस प्रकार संशय-विरोधी ज्ञान से अन्य ज्ञान को संशय कहना होगा, फिर तो जिस पुरुष को संशय नहीं हुआ, उसका प्रमाणज्ञान संशय का विरोधी न होने से संशय कहा जाने लगेगा । (२) द्वितीय (विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शि ज्ञानम्) पक्ष मानने पर भेदाभेद, शीतोष्ण आदि विरुद्ध कोटिद्वयविषयक प्रमाण ज्ञानों में संशयत्व की आपत्ति होगी । (३) तृतीय (अनिर्धारितत्व-

नापि तृतीयः ; निर्धारणानिरुक्तावनिर्धारितत्वस्यैवानिरुक्तेः। अनिर्धारितत्वशब्देन कोटिद्वयस्याव्यवस्थितत्वं विवक्षितमिति चेत् , तदेव विविच्यताम्। किमव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयस्य स्वरूपम् ? उत धर्मः ? न प्रथमः ; कोटिद्वयस्वरूपनिश्चयस्यापि संशयत्वापत्तेः। नापि द्वितीयः ; तादृग्धर्मविशिष्टकोटिद्वयग्राहिज्ञानविषयप्रमाया अपि संशयत्वापातात्। नापि चतुर्थः ; अजिज्ञासोरपि स्थाण्वादौ संशयदर्शनेन लक्षणस्याव्यापित्वात्। नापि पञ्चमः ; विकल्पासहत्वात्। तथाहि–संशयस्य विपर्यासाद्विषयविशेषेण ? कारणविशेषेण ? जातिविशेषेण वा भेदः स्यात् ? नाद्यः ; विषयविशेषानिरुक्तेः। तथाहि—न तावदुभयविधिर्विषयः ; एतौ स्थाणुपुरुषाविति समुच्चयनिश्चयस्यापि संशयत्वापातात्। नाप्युभयनिषेधः ; न स्थाणुर्न पुरुष इति प्रत्ययप्रसक्तेः।

इति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम्। अतिव्याप्तेर्द्वयोरपीत्येतद्यथाक्रमं विवृणोति—**नापीत्यादिना**। **निर्धारणेति**। निर्धारणविषयो हि निर्धारितं नाम, तद्विरीतं चानिर्धारितं, निर्धारणं चावधारणापरपर्यायम् , तस्य च दुर्निरूपत्वमनन्तरमेव निवेदितमिति तदुपजीविलक्षणमपि दुर्निरूपमित्यर्थः। ननु कोटिद्वयाव्यवस्थितत्वमनिर्धारितत्वम् , तेन न पूर्वोक्तान्योयाश्रयत्वमिति शङ्कते—**अनिर्धारितेति**। यदि हि कोटिद्वयस्वरूपमव्यवस्थितत्वम् , तदा स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति कोटिद्वयनिश्चयस्यापि संशयत्वापत्तेरतिव्याप्तिरित्याह—**कोटिद्वयेति**। अव्यवस्थितत्वं कोटिद्वयधर्मः , इति द्वितीये पक्षे दूषणमाह—**तादृग्धर्मेति**। अव्यवस्थितत्वविशिष्टकोटिद्वयग्राहि यज्ज्ञानं तद्विषयप्रमाणमपि परंपरयाऽव्यवस्थितकोटिविषयज्ञानमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। यदि च पुरुषत्वादिवदव्यवस्थितत्वमपि पारमार्थिको धर्मः , तदा तद्विशिष्टकोटिद्वयप्रमाणेऽप्यतिव्याप्तिः। आरोपितत्वे तद्विपर्ययेऽपि प्रसक्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् , एतेन साक्षादिति विशेषणमपि निरस्तम्। अव्याप्तेरित्येतदपि विवृणोति—**अजिज्ञासोरिति**। नहि सर्वत्र संशयानन्तरं जिज्ञासोदेति, अपेक्षाया अपि संभवादिति भावः। विभ्रमाभेदादित्येतद्विवृणोति—**नापि पञ्चम इत्यादिना**। विषयविशेषनिमित्तः संशयस्य विपर्ययाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—**नाद्य इति**। तत्र संशयस्य किमुभयविधिर्विषयः यथा स्थाणुश्च पुरुषश्चेति ? किंवोभयनिषेधः ? किं वान्यतरनिषेधः ? उतोभयविधिनिषेधौ ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। द्वितीयेऽसिद्धिमाह—**न स्थाणुरिति**। **तदितरेति**। यदि ह्यन्यतरनिषेधः स्यात्तदान्यतरस्यावधारणं पर्यवस्येत् , तथाच संशयत्वव्याघातः। चतुर्थेऽप्यसिद्धिमाह—

विशेषितम्) में तो निर्धारण (अवधारण) का निर्वचन न हो सकने के कारण अनिर्धारितत्व का भी निर्वचन नहीं हो सकता। यदि कहें कि 'अनिर्धारित' शब्द से कोटि-द्वय का अव्यवस्थितत्व विवक्षित है। तब उसी का ही विवेचन कीजिए—क्या अव्यवस्थितत्व, कोटि-द्वय का स्वरूप है ? या धर्म ? स्वरूप मानने पर कोटि-द्वयस्वरूप निश्चय को भी संशय मानना पड़ेगा। धर्म मानने पर अव्यवस्थित्वरूप धर्म-विशिष्ट कोटि-द्वय के ग्राहक ज्ञान की अनुव्यवसायप्रमा में भी संशयत्व प्राप्त होगा (क्योंकि अनुव्यवसाय भी अपने विषयभूत व्यवसाय के विषय 'अव्यवस्थितत्व-विशिष्ट कोटि-द्वय को भी विषय करता है)। (४) चतुर्थ (जिज्ञासाजनकं मिथ्याज्ञानम्) लक्षण जिज्ञासा के अजनक संशय में अव्याप्त है। (५) पञ्चम (विपर्ययेतरमिथ्याज्ञानम्) भी युक्त नहीं ; क्योंकि यहाँ पर संशय का विपर्यय से भेद, विषय-विशेष के द्वारा होता है ? या कारण-विशेष के द्वारा ? या जाति-विशेष के द्वारा ? (द्र० खं० पृ० १२४७)। विषय-विशेष का निरूपण हो नहीं सकता ; क्योंकि संशय का विषय (क्या उभय-विधि मानेंगे ? या उभय-निषेध ? या अन्यतर-निषेध ? या उभय-विधि-निषेध ?—द्र० न्या० ली० पृ० ४०९) उभय-विधि मानने पर "एतौ स्थाणुपुरुषौ"—इस समुच्चयविषयक निश्चय में संशयत्वापत्ति होगी। उभय-निषेध विषय मानने पर संशय में "न स्थाणुर्न पुरुषः"—यह प्रतीति होनी चाहिए। अन्यतर-निषेध मानने पर, उससे अन्य में निश्चय की प्राप्ति

नाप्यन्यतरनिषेधः ; तदितरावधारणापत्तेः । नाप्युभयविधिनिषेधौ ; स्थाणुर्भवति न भवति पुरुषो भवति न भवतीत्युभयविधिनिषेधावधारणप्रसङ्गात् । नित्योऽनित्यो वेत्यत्रैकतरनिषेधस्यान्यतरविधिरूपतयोभयविधिनिषेधयोरसंभवाच्च । न द्वितीयः ; कारणविशेषानिरुक्तेः । स हि सामग्री वा ? तदेकदेशो वा ? नाद्यः ; अतीन्द्रियत्वेन तस्याः प्रत्यक्षत्वायोगात् । लिङ्गाभावेनानुमानतोऽप्यसिद्धेः । न च संशयज्ञानं लिङ्गम् ; तस्येदानीमेव निरूप्यमाणत्वात् । नापि द्वितीयः ; प्रत्यक्षस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविषयतयानुव्यवसायप्रत्यक्षजनकत्वेनातिव्यापकत्वात् , अप्रत्यक्षस्य च तदेकदेशस्य सामग्रीनिरासेन निरस्तत्वात् । नापि तृतीयः ; जातिसङ्करापत्तेः । अयं स्थाणुः पुरुषो वेत्यत्र धर्म्यंशे तस्यैव ज्ञानस्य निश्चितत्वम् , विशेषांशे विकल्पनांशे च संशयत्वमित्येकस्यैव ज्ञानस्य विरुद्धजातिद्वयलिङ्गिनः प्रसङ्गात् । एतेन षष्ठोऽपि पक्षो निरस्तः । तस्मान्न संशयलक्षणनिरुक्तिः ।

स्थाणुर्रिति । तथाप्युभयविधिनिषेधयोरवधारणतया संशयत्वव्याघात इत्यर्थः । न केवलं व्याघातोऽसंभवश्चेत्याह—**नित्य इति** । नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादेकतरविधावेकतरनिषेध उभयविधाननुभयनिषेधश्च न संभवति, उभयविधानातिरिक्तोभयनिषेधाभावादित्यर्थः । एवं विषयविशेषाद्विशेषं निराकृत्य कारणविशेषाद्विशेष इति पक्षं निराचष्टे—**न द्वितीय इति** । कारणशब्देन किं सामग्री विवक्ष्यते ? सामग्र्येकदेशो वा ? आद्ये प्रत्यक्षतस्तज्ज्ञानम् ? अनुमानतो वा ? नोभयथापीत्याह—**स हीत्यादिना** । ननु किमिति लिङ्गाभावः ? यावता कार्यात्संशयज्ञानात्सामग्र्याः शक्यमनुमानमिति, तत्राह—**न च संशयेति** । सामग्र्येकदेशः कारणमिति पक्षेऽपि किं प्रत्यक्षगम्यस्तदेकदेशः ? तदगम्यो वा ? नाद्य इत्याह—**प्रत्यक्षस्येति** । तदा हि तादृशकारणजनितं ज्ञानं संशय इति पर्यवस्येत् । तथाचातिव्याप्तिः । तस्य साधारणधर्मदर्शनादेः स्वविषयानुव्यवसायं प्रत्यपि जनकत्वात् । तस्य च प्रत्यक्षप्रमितित्वेन संशयत्वाभावादित्यर्थः । आदिशब्देन च विशेषस्मरणविशेषदर्शने गृह्येते । **सामग्रीनिरासेनेति** । न प्रत्यक्षतस्तत्सिद्धिः नाप्यनुमानतः ; लिङ्गाभावात् । नच संशय एव लिङ्गम् , अद्याप्यनिरूपणादित्यर्थः । जातिविशेषाद्विशेष इति पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । जातिसङ्करमेव विवृणोति—**अयं स्थाणुरिति** । संशयत्वजातियोगीसंशय इति षष्ठेऽपि पक्षे सङ्करप्रसङ्गमतिदिशति—**एतेनेति** ।

होगी । उभय-विधि-निषेध मानने पर संशय का यह आकार होना चाहिए—"स्थाणुर्भवति, न भवति ; पुरुषो भवति, न भवति ।" "नित्योऽनित्यो वा"—इस संशय में अव्याप्ति भी होगी ; क्योंकि यहाँ एकतर का निषेध अन्यतर का विधिरुप हो जाने से न तो यहाँ उभय की विधि है और न उभय का निषेध । द्वितीय (कारण-विशेष—द्र० खं० पृ० १२५२) का निर्वचन भी सम्भव नहीं ; क्योंकि 'कारण-विशेष' पद से पूर्ण सामग्री विवक्षित है ? या उसका एक देश ? इन्द्रियादि-घटित सामग्री अतीन्द्रिय है, अतः उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं हो सकता, कोई लिंग न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता । संशय-ज्ञान भी लिंग नहीं हो सकता ; क्योंकि अभी तक उसका निरूपण ही नहीं हो सका है । द्वितीय (एक देश) पक्ष में यदि प्रत्यक्ष-गम्य (दृश्य) एक देश विवक्षित है, तब उच्चैस्तरत्वादि साधारण धर्म-दर्शनादि की अनुव्यवसायप्रमा में संशयत्वापत्ति होगी ; क्योंकि वह भी संशय के कारण (साधारण धर्म-दर्शनादि) से जन्य है । अप्रत्यक्ष (अदृश्य) एक देश का निराकरण तो वैसे ही हो जाता है, जैसे सामग्री का निराकरण किया जा चुका है अर्थात् उसका अनुमापक कोई लिंग नहीं । तृतीय (जाति-विशेष) में जाति-साङ्कर्य दोष होता है ; क्योंकि "अयं स्थाणुः पुरुषो वा"—इस एक ही ज्ञान में धर्मि अंश में निश्चयत्व, धर्मांश तथा (वाकारार्थ) विकल्प अंश में संशयत्व मानना पड़ेगा । इसी दोष से (६) षष्ठ (संशयत्वजातियोगित्व) लक्षण भी खण्डित हो जाता है । इस लिए संशय-लक्षण का निर्वचन नहीं हो सकता ।

नापि विपर्ययस्य । तथाहि—मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः' इति भूषणकारभाषितं लक्षणं तावदयुक्तम्, मिथ्यात्वानिर्वचनात्—तत्किमप्रमात्वम्? उतोपदर्शितार्थाप्रापकत्वम्? अर्थक्रियाशून्यत्वं वा?

आद्यकल्पेष्वतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चान्त्ययोर्द्वयोः ।
न मिथ्याध्यवसायत्वं विपर्यासस्य लक्षणम् ॥ २० ॥

नाद्यः ; अप्रमात्वे सत्यध्यवसायरूपायां स्मृतावतिव्याप्तेः । न द्वितीयः ; देशतः कालतोऽर्थव्यभिचारिषु प्रमाणज्ञानेष्वपि विपर्ययत्वप्रसङ्गात् । न तृतीय ; चन्द्रतारकादिप्रमाणज्ञानेष्वतिप्रसक्तेः । इदं रजतमित्यादिज्ञानेषु चोपदर्शितेदमंशप्रापकत्वादव्याप्तेः । नापि चतुर्थः ; मिथ्याऽहिदंशप्रतिसूर्यकाद्यनेकार्थानां निधनप्रकाशनाद्यर्थक्रियादर्शनात् । न च ज्ञानमेवार्थ-

---

एवं संशयानिरुक्तिमुपपाद्य विपर्ययानिरुक्तिं प्रतिज्ञातामुपपादति—**नापि विपर्ययस्येति** । प्रमाणज्ञानसंशययोर्मिथ्याध्यवसायपदाभ्यां निरासः । **उपदर्शितेति** । यद्विज्ञानं स्वेन प्रकाशितमर्थम् न प्रापयितु शक्नोति स विपर्यय इति किं विवक्षितमित्यर्थः । अर्थक्रियेत्यत्रोत्तरार्थशब्दो विषयपरः, समासश्च ब्रहुव्रीहिः । सर्वपक्षेषु दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**आद्येति** । प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वतिव्याप्तेरन्त्ययोस्तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तेरिति योजना । चस्तु तृतीयपक्षस्यैवातिव्याप्तिं च समुच्चिनोति । संग्रहं विवृणोति—**नाद्य इत्यादिना** । अप्रमात्वं मिथ्यात्वमिति पक्षे अप्रमारूपाध्यवसायो विपर्यय इत्युक्तम् स्यात्, तथाच स्मृतावतिव्याप्तिरित्याह—**अप्रमात्व इति** । अतीतादिज्ञानानामर्थव्यभिचारिणामध्यवसायरूपाणां विपर्ययत्वापत्त्यातिव्याप्तेर्द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्न इत्याह—**देशत इति** । **चन्द्रतारकेति** । नहि तदर्थाज्ञानसमये प्राप्तुं शक्यन्ते इति पूर्वमेवोक्तमिति भावः । अस्यैव पक्षस्याव्याप्तिं चाह—**इदं रजतमिति** । चतुर्थेऽव्याप्तिमाह—**मिथ्याहिदंशेति** । अस्ति तावन्मिथ्याहिदंशादपि कस्यचिन्मरणम्, दर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यस्य च प्रकाशकत्वम्, उपसूर्यं वा दृश्यमानः सूर्यः प्रतिसूर्यकः, 'तस्याप्युपरि नरपतिम्' इत्यादिशास्त्रान्मरणादिहेतुत्वावगमात्प्रकाशकत्वाच्चातस्तत्र त्वदभिमतमिथ्यात्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थः । ननु

विपर्यय-लक्षण का भी निर्वचन नहीं हो सकता । जैसे कि—भूषणकार ने विपर्यय का लक्षण किया है–"मिथ्या अध्यवसायः"(न्यायसार० पृ० २) यहाँ मिथ्यात्व का क्या अर्थ है ? क्या (१) अप्रमात्व ? या (२) अर्थ-व्यभिचारित्व ? या (३) दर्शितार्थाप्रापकत्व ? या (४) अर्थ क्रिया-शून्यविषयकत्व ? प्रथम, द्वितीय, तृतीय कल्प में अतिव्याप्ति और तृतीय, चतुर्थ में अव्याप्ति के कारण विपर्यय का 'मिथ्या अध्यवसाय'—यह लक्षण नहीं बन सकता । अर्थात् प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि मिथ्यात्व का अप्रमात्व अर्थ करने पर स्मृति में अतिव्याप्ति होती है—स्मृति में अप्रमात्व भी है और अध्यवसायत्व भी । द्वितीय (अर्थाव्यभिचारित्वम्) पक्ष मानने पर प्रमाण ज्ञान में विपर्यय लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ; क्योंकि घटादि विषयक प्रमाज्ञान घटादि के देश में होता नहीं, अतः प्रमाज्ञान में घटादि का दैशिक व्यभिचार स्पष्ट है एवं अतीत वस्तु के ज्ञान में वस्तु का कालिक व्यभिचार होता है । तृतीय (उपदर्शितार्थाप्रापकत्वम्) पक्ष मानने पर चन्द्र, तारा—आदि विषयक प्रमाज्ञान में अतिव्याप्ति होगी और "इदं रजतम्"—आदि विपर्यय ज्ञान में अव्याप्ति भी होगी ; क्योंकि यह ज्ञान स्वोपदर्शित इदम्–इस अंश का प्रापक ही होता है, अप्रापक नहीं। चतुर्थ (अर्थक्रियाशून्यार्थत्वम्) पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि विपर्यय ज्ञान के विषय मिथ्या सर्प-दंश एवं द्वितीय सूर्य-दर्शन से भी मरण-सूचनारूप अर्थक्रिया (फलोत्पत्ति) देखी जाती है, अतः उसमें अव्याप्ति होगी । यदि कहा जाय कि उक्त स्थल पर मिथ्या सर्प-दंशादि अर्थक्रिया-जनक नहीं, अपितु उनका ज्ञान ही फलप्रद होता है । तो यह कहना उचित नहीं ; क्योंकि ज्ञानमात्र को तो मरण-सूचक मान नहीं सकते, विषय-विशेषित

क्रियाकारि नार्थं इति वाच्यम् ; ज्ञानमात्रस्य तद्धेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात्, अर्थविशेषितस्य तद्धेतुत्वे चार्थस्यापि तद्धेतुत्वापातात्। तदेवं तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तिः। 'अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो विपर्ययः' इत्युद्द्योतकरीयमपि लक्षणमयुक्तम्; अतिव्याप्तेः—भवति हि वल्मीकादौ स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः, न स्थाणुर्न पुरुष इत्युभयबाधदर्शनात् अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, न चासौ विपर्ययः। अतस्मिन्निति च स्वात्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्ययविवक्षायां संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणेषु प्रदेशवृत्तिषु स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणेषु प्रमारूपोपि प्रत्ययो विपर्ययः स्यात्। एतेन बाध्यं ज्ञानम्, दुष्टकरणजन्यं वा ज्ञानं विपर्यय इति लक्षणं निरस्तम्; संशयेऽतिव्याप्तेर्दर्शितत्वात्, बाधानिरुक्तेश्च। किं विरोधिप्रमाणज्ञानं बाधः? किं वा विपर्ययविरोधिप्रमाणज्ञानम्? विषयापहारो वा? आद्ये पूर्वोत्तरप्रमाणज्ञानानां वध्यघातकलक्षणेऽतिव्याप्तिः। द्वितीये परस्पराश्रयता। न तृतीय; तथाहि—विषयापहारो नाम पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थासत्त्वबोधनमात्रम् ?

कथमव्याप्तिर्यावता तत्राप्यर्थस्यार्थक्रियाशून्यत्वाज्ज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वादिति, तत्राह—**न चेति**। किं ज्ञानमात्रं मरणादिहेतुः? तादृगर्थविशेषितं वा? आद्ये प्राह—**ज्ञानेति**। द्वितीये प्राह—**अर्थेति**। प्रतिपादितामन्तिमयोरव्याप्तिमुपसंहरति—**तदेवमिति**। एतेनैककोट्यवलम्बी जाग्रतो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति श्रीवल्लभीयमपि लक्षणं निरस्तम्; मिथ्यात्वानिरुक्तेः। एवं भूषणकारलक्षणं दूषयित्वोद्द्योतकराभिमतं दूषयति—**अतस्मिन्निति**। वल्मीकादौ स्थाणुत्वपुरुषत्वरहिते स्थाणुर्वा पुरुषो वेति प्रत्ययस्तावदतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवति। नच विपर्ययोऽसौ; संशयत्वात्। अतोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु प्रत्ययशब्देनावधारणं विवक्षितं तेन न संशयेऽतिव्याप्तिरिति मन्वानं प्रत्याह—**अतस्मिन्निति**। अतस्मिंस्तदिति प्रत्यय इति कोर्थः? यत्तदत्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्यय इति। तथा च मा भूत् संशयेऽतिव्याप्तिः, प्रत्ययशब्देनावधारणस्य विवक्षितत्वात्, तथापि प्रमाणज्ञानेऽत्रतिव्याप्तिः। प्रदेशवृत्तिविशेषगुणेषु संयोगवियोगयोश्च स्वात्यन्ताभावसमनाधिकरणतया तत्प्रमितीनां विपर्ययत्वापातादित्यर्थः। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**संशये इति**। सोऽपि हि बाध्यो दुष्टकरणजन्यश्चेति भावः। अथात्रापि ज्ञानशब्देनावधारणविवक्षा, तन्न; तदनिरुक्तेर्वर्णितत्वात्। भवतु वा, तथापि बाधानिरुक्तेरेवेदं दुष्टमित्यभिप्रेत्याह—**बाधेति**। पूर्वमेव बाध्यत्वं विकल्प्य दूषितं तथाप्यत्र भङ्ग्यन्तरेण दूषणं क्रियत इति। **पूर्वोत्तरेति**। यदि हि विरोधिज्ञानमात्रं बाधः, तदा पूर्वज्ञानानामुत्तरज्ञानविनाश्यतया बाध्यत्वात्सर्वज्ञानेषु लक्षणमतिपतेदित्यर्थः। उत्तरो ग्रन्थः स्पष्टार्थः। विषयापहारो बाध इति पक्षमपि विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना**। **तथाप्रमितिरिति**।

ज्ञान को ही कहना होगा, तब तो विशेषणीभूत विषय में भी अर्थ-साधकता माननी होगी। इस प्रकार तृतीय और चतुर्थ पक्ष में अव्याप्ति होती है। न्याय-वार्तिककार उद्योतकर ने जो लक्षण किया है—"अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः" (न्या० वा० पृ० २४) अर्थात् रजतत्वादि के अभावाधिकरण में रजतत्वादि की प्रतीति का नाम विपर्यय है। वह लक्षण भी संशय में अतिव्याप्त है; क्योंकि वल्मीक (बाँबी) आदि में "स्थाणुर्वा पुरुषो वा"—इस संशय को भी स्थाणु और पुरुष—दोनों का वहाँ बाध हो जाने से "तदभाववति तत्प्रत्ययः" ही मानना होगा, किन्तु यह विपर्यय नहीं होता। यदि उक्त लक्षण से, वस्तु के अत्यन्ताभाव के अधिकरण में वस्तु के निश्चय की विवक्षा करें, तब भी संयोग, विभाग, शब्द एवं आत्मा के विशेष गुण—इन अव्याप्यवृत्ति गुणों की अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रमात्मक प्रतीति को विपर्यय मानना पड़ेगा। इसीलिए "बाध्यं ज्ञानम्" या "दुष्टकरणजन्यं ज्ञानम्" आदि लक्षणों का भी निराकरण हो जाता है; क्योंकि संशय में अतिव्याप्ति दिखाई जा चुकी है और लक्षण-घटक बाध का निरूपण भी नहीं हो सकता—क्या विरोधी प्रमाणज्ञान को बाध कहेंगे? या विपर्यय के विरोधी प्रमाज्ञान को? या विषयापहार को? प्रथम (विरोधी प्रमाज्ञान) पक्ष मानने पर उत्तर-उत्तर ज्ञान से बाधित पूर्व-पूर्व प्रमा ज्ञानों में अतिव्याप्ति होती है। द्वितीय (विपर्यय

उत तथा प्रमितिः ? उत यद्देशकालविशिष्टतया यत्प्रतीतं तस्य तत्रैवासत्त्वबोधनम् ? नाद्यः ; नायं देवदत्तो न जीवतीति विभ्रमप्रत्ययेन देवदत्तादिप्रत्ययानां बाधितत्वेनाप्रमात्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः ; देशान्तरकालान्तरयोस्तदसत्त्वप्रमित्या घटादिज्ञानानामप्रमात्वप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः ; देशकालविषयबाधेष्वव्याप्तेः, देशकालयोर्देशकालान्तराभावात्। यत्तदादिशब्दानां च सर्वविषयत्वे कतिपयविषयत्वे चाव्याप्तिरेव। एतेन फलापहारोऽपि व्याख्यातः। अनुत्पन्नफलस्यापि ज्ञानस्य बाध्यत्वाङ्गीकाराच्च। विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इत्यपलक्षणम्; इदं रजतमित्यादौ धर्म्यंशे प्रत्यये जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तस्मान्न विपर्ययस्य लक्षणं पश्यामः।

पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थस्यासत्त्वप्रमितिरिति वार्थः। नायं देवदत्त इति। यदा हि देवदत्त इति वा जीवतीति वा प्रतीतिरेकस्योदेति, अपरस्तु भ्रान्तः प्राह, नायं देवदत्तः, नच जीवतीति, तत्रोत्तरस्य बाधकत्वं पूर्वस्य बाध्यत्वाद्विपर्ययत्वं च स्यादितीष्टसिद्धिकारोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थः। द्वितीयेऽप्यतिव्याप्तिमाह—देशान्तरेति। अनित्यानामविभूनां कालान्तरदेशान्तरयोरसत्त्वप्रमितिरस्तीति तज्ज्ञानेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः। यदा हि देशकालविषयो भ्रमो जायते, न तत्र तद्बाधस्योक्तरूपत्वमित्यव्याप्त्या तृतीयपक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति। किंच यद्देशकालेत्यत्र यत्प्रतीतमित्यत्र च तस्य तद्देशकालेत्यत्र च यत्तच्छब्दानां सर्वदेशकालसर्ववस्तुपरत्वे सर्वत्राधाव्याप्तिः, एकैकेन सर्वात्राधात्, निष्कृष्टविशेषविवक्षायां च तदितरबाधाव्याप्तिरित्याह—यत्तदादीति। लक्षणान्तरेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—एतेनेति। तत्राप्यभिवदनं प्रवृत्तिरुपादानमर्थक्रियेति चतुर्विधफलानामेकैकापहारे सर्वापहारे वाऽव्याप्तिरित्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरं चाह—अनुत्पन्नेति। प्रवृत्तेषु विपर्ययज्ञानेषु फलम्, प्राक् तस्याभावात्, तच्चानुत्पादितप्रवृत्तिकमपि क्वचिद्बाध्यं दृश्यते विरक्तादीनाम्, तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इति, तत्राह—विपर्ययेति। संशयत्वसमानयोगक्षेममिति भावः।

विरोधि प्रमाज्ञानम्) पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष है ; क्योंकि विपर्यय का ज्ञान हो जाने पर विपर्ययघटित बाध का ज्ञान और बाध-ज्ञान हो जाने पर विपर्यय का ज्ञान होगा। तृतीय (विषयापहार) पक्ष से क्या विवक्षित है ? पूर्वज्ञान से उपदर्शित विषय का असत्त्व-बोधन ? या पूर्व ज्ञान से उपदर्शित विषय के असत्त्व की प्रमिति ? या जो वस्तु जिस देश और जिस काल में प्रतीत हुई है, उस का उसी देश और उसी काल में असत्त्व-बोधन ? प्रथम पक्ष उचित नहीं ; क्योंकि जहाँ पूर्व प्रमा ज्ञान है—"अयं देवदत्तः" और उसके उत्तर "नायं देवदत्तः"—आदि भ्रमज्ञान होता है, वहाँ पूर्व प्रमाज्ञान के विषय का असत्त्व-बोधन तो उत्तरवर्ती भ्रम से भी होता है, अतः पूर्वप्रमा में विपर्ययत्व की प्राप्ति होगी। द्वितीय (पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थस्यासत्त्वप्रमितिः) पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि जहाँ अनित्य और अव्याप्यवृत्ति घटादि का प्रमाज्ञान पूर्व में होता है, अनन्तर संयोगादि के देशान्तर और कालान्तर में असत्त्व की प्रमा होती है, वहाँ घटादि प्रमा में अतिव्याप्ति होती है। तृतीय पक्ष भी संगत नहीं ; क्योंकि देश, काल विषयक बाध में देशादि का सम्बन्धी अन्यदेशादि न होने से अव्याप्ति होती है। लक्षण-घटक 'यत् तद्'—आदि शब्दों को सर्व-विषयक मानने पर असम्भव और कतिपयविषयक मानने पर अव्याप्ति होगी। इससे फलापहार पक्ष का भी निराकरण हो जाता है। विपर्यय ज्ञान का फल होता है प्रवृत्त्यादि, उसके पूर्व ही जिस ज्ञान का बाध होता है, उसमें यह लक्षण अव्याप्त भी होगा ; क्योंकि वहाँ फलापहार सम्भव नहीं। 'विपर्ययत्वजाति- वशिष्ट'—यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं ; क्योंकि "इदं रजतम्"—यहाँ धर्मी अंश को लेकर संशयत्व के समान ही जाति-सङ्करता होती है। अतः विपर्यय का लक्षण नहीं बन सकता।

तथा स्मृतेरपि। तथाहि—किं प्रमाकरणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ? उत दोषाजन्यत्वविशेषितम ? अथवा स्वसमानविषयसंस्कारजन्यं ज्ञानम् ? किं वा प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमद् ? आहोस्वित्स्मृतित्वजातियोगि ?

आद्ये कल्पेऽधिकव्याप्तेर्द्वयोश्चासंभवित्वतः ।
तुर्येऽतिव्याप्तितश्चान्त्येऽभावाद्व्यञ्जकमानयोः ॥ २१ ॥

नाद्य ; भ्रमस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गात्। तस्यापि प्रमाणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यत्वात्। नापि द्वितीयः ; असंभवित्वापातात्, संस्कारस्यापि स्वसामग्र्यनुमापकतया प्रमाकरणत्वात्। नापि तृतीयः; असंभवित्वादेव, सा मे माता स मे पितेत्यादिस्मृतीनां पूर्वानुभवसंस्काराधिकविषयत्वात्। नहि पूर्वानुभवे स इत्याकारः; अयमितिवर्तमानताया एवानुभवात्। न च स

संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वं प्रमात्वव्यञ्जकमिति पञ्चमपक्षे संशयविपर्ययानिरूपणाल्लक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानीं स्मृत्यनिरूपणादपि तत्त्वानधिकरणत्वमप्रसिद्धमित्यभिप्रेत्याह—**तथा स्मृतेरपीति**। संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरित्युक्ते प्रत्यभिज्ञादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाकरणाजन्यत्वे सतीत्युक्तम्। अननुभूतविषयभ्रमनिवृत्त्यै द्वितीय विशेषणम्। द्वितीये विपर्ययेतिव्याप्तिपरिहाराय दोषाजन्यत्वे सतीत्युक्तम्। ज्ञानपदेन घटादेः संस्कारजन्यपदेनानुवादस्य प्रत्यभिज्ञाया आद्येन पदेन निरासः। तृतीयेऽपि संस्कारजन्यत्वमिति भावः। चतुर्थेऽपि पदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वं शाब्दप्रमित्यादीनामस्तीति तद्व्यवच्छेदाय प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। श्लोकेन दूषणानि संगृह्णाति—**आद्य इति**। अधिकव्याप्तेः, अतिव्याप्तेः द्वयोर्द्वितीयतृतीययोः। आद्यपक्षेऽधिकव्याप्तिं निगदव्याख्यातग्रन्थेन दर्शयति—**भ्रमस्यापीति**। द्वितीयेऽसंभवं दर्शयति—**संस्कारस्यापीति**। इदं च प्रथमपक्षेऽपि समानम्। समानेप्यस्मिन्पक्षान्तरोपस्थापकं तदिति दूषणान्तरं तत्रोक्तम्। तृतीयेऽसंभवं दर्शयति—**सा मे मातेति**। अथ कथं स्मृतेः पूर्वानुभवसंस्कारादधिकविषयता ? तत्राह—**नहीति**। ननु स इत्यत्र तद्देशकालवैशिष्ट्यं प्रतीयते, स च देशादिः पूर्वानुभवसमयेऽप्यनुभूत इति कथं तमंशमादायाधिकविषयताऽत आह—**अयमितीति**। न तद्देशादिवैशिष्ट्यमात्रं तत्ताश्रयं स इति अयमिति चोभयोरविशेषप्रसङ्गात्, किंत्वसन्निहितदेशकालवच्छेदः, पूर्वानुभवसंभेदो वा। नच तत्पुरस्तादनुभूतम् ; वर्तमानतयैवानुभवात्, स्वविशिष्टाग्राहकत्वाच्च पूर्वानुभवस्येति भावः। ननु स इत्यकारः स्मृतेर्विषय एव न भवति, पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्, तस्मात्कार-

---

वैसे ही स्मृति का भी। स्मृति का लक्षण यदि करें, तो क्या (१) प्रमा-करण से अजन्य जो संस्कार-जन्य ज्ञान, उसे स्मृति माना जाय ? या (२) दोषाजन्यत्व-विशेषित को ? या (३) स्वसमान विषय संस्कार-जन्य ज्ञान को ? या (४) प्रमा में अवृत्ति, पद-जन्य ज्ञान में वृत्ति जो जाति, उस जाति से युक्त को ? यां (५) स्मृतित्वजाति के आश्रय को ? कोई कल्प भी युक्त नहीं ; क्योंकि प्रथम में अतिव्याप्ति, द्वितीय और तृतीय में असम्भव, चतुर्थ में अतिव्याप्ति तथा पञ्चम पक्ष में स्मृतित्व के व्यञ्जक तथा प्रमाण का अभाव है। अर्थात् (१) प्रथम (प्रमाकरणाजन्यत्वे सति संस्कारजन्यं ज्ञानम्) लक्षण, भ्रम में अतिव्याप्त है; क्योंकि वह भी प्रमाण से अजन्य और संस्कार से जन्य होता है। (२) द्वितीय (दोषाजन्यत्वे सति प्रमाकरणाजन्यत्वे च सति संस्कारजन्यं ज्ञानम्) लक्षण, असम्भव-ग्रस्त है ; क्योंकि अपनी सामग्री का अनुमापक होने से संस्कार भी प्रमा का करण ही होता है, स्मृति उससे जन्य ही है, अजन्य नहीं। (३) तृतीय (स्वसमानविषयकसंस्कारजन्यं ज्ञानम्) भी असम्भवी है ; क्योंकि "सा मे माता", "स मे पिता"—आदि स्मृति ज्ञान भी स्वसमानविषयक संस्कार से जन्य नहीं, अपितु स्वन्यूनविषयक संस्कार से ही जन्य हैं। पूर्वानुभव में 'सः'–यह आकार नहीं था, 'अयम्'—इस प्रकार वर्तमानता का ही भान होता था। यदि कहा जाय कि 'सः'–यह आकार

इत्याकारः कारणान्तरोपनीतः, पदात्पदार्थस्मृतौ हरिहरादिस्मृतौ चाभावादिति वाच्यम्; तत्कारणानिरूपणात्। सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यये तदित्यंशस्य संस्कारानुपनीतत्वे सन्नयमित्याकारस्य च संयोगमात्राधीनतया विशिष्टप्रत्यभिज्ञास्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात्। अनुमिततत्तयां स इत्यभिलाप इति चेत्, न; संस्कारस्य प्रत्यभिज्ञां प्रत्यकारणत्वप्रसङ्गात्। स इत्यंशेऽनुमानस्यैव सहकारित्वात् तं घटं स्मरामीत्यनुव्यवसायानुपपत्तेश्च। न हि तत्रानुमानव्यवधानमस्ति, तथा सति स्मरणस्यातीतत्वेनानुव्यवसायविषयत्वानुपपत्तेः। संस्का-

---

णान्तरप्रयुक्त एवायमतो न स्मृतेरधिकविषयतेति, तत्राह—न चेति। कुतो न वाच्यमिति ? तत्राह—तत्कारणेति। न च पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्कारणान्तरप्रयुक्तिकल्पना; पदजनितबुद्धेः। अनुवादो ह्ययं या पदात्पदार्थबुद्धिः। युक्तं चैतत्, इतरथा शक्तिवशादभिधायकत्वप्रसिद्धिर्न स्यात्। नह्युपाध्यायस्मारकस्य शिष्यस्य तदभिधायकत्वप्रसिद्धिरस्ति। सत्यपि स्मारकत्वे शक्तिवैचित्र्यादभिधायकत्वप्रसिद्धिरिति चेत्, तयैव तर्हि शक्त्याभिधानमात्रमेवास्तु, कृतं स्मारकत्वेन। अत एव चैतदन्यथानुपपत्त्या वाक्यार्थाभिधायकत्वं शालिकनाथोक्तं प्रत्युक्तम्। अनेकत्वाच्चाभिधात्रादीनां संबन्धिना न नियमेनार्थस्मृतिः स्मारकत्वपक्षे स्यात्। नच नियमेन संबन्ध्यन्तरदर्शने संबन्ध्यन्तरस्मृतिर्भवति, भवति च नियमेन गृहीतसंगतिकस्य शब्दस्य स्मरणेऽर्थबुद्धिः। तदुक्तं 'नियमाच्छब्दतो बुद्धिर्न तथान्वयिदर्शनात्' इति। तस्मादनुवादत्वात्पदजन्यबुद्धेर्न तत्रादर्शनात्तत्तायां करणान्तरप्रयुक्तिकल्पना। न केवलं कारणान्तरानधीनता, संस्कारानधीनत्वे बाधकं चास्तीत्याह—सोऽयमिति। तत्र तदित्यंशस्य संस्कारानधीनत्वे संप्रयोगस्य च तत्रासत्त्वात्तद्गर्भप्रत्यभिज्ञाशरीरं न स्यादित्यर्थः। ननु नखनेत्रपादच्छायादिना लिङ्गेनानुमानात्तत्तोपस्थापिता, सा च स इति परामृश्यत इति शङ्कते—अनुमितेति। तर्हि तत्ताया अनुमानसिद्धत्वादिदंतायाश्च संप्रयोगसिद्धत्वात्संस्कारस्य चाकारणतया राद्धान्तविरोधः, इति परिहरति—न संस्कारस्येति। आनुमानिकत्वे तत्ताया दूषणान्तरमाह—तं घटमिति। तत्र किं प्रथमतस्तत्तानुमानमथ घटस्मरणं ततस्तं स्मरामीत्यनुव्यवसायः ? किं वा प्रथमतस्तत्स्मरणं ततस्तत्तानुमानं ततोऽनुव्यवसाय इति ? न प्रथमः; निर्धर्मिकतत्ताग्रहणाशक्तेस्तत्ताविशिष्टघटविषयानुमानं घटमात्रविषयं च स्मरणमिति तत्ताविशेषितघटविषयस्मृतिग्राहकानुव्यवसायानुपपत्तिरिति। द्वितीयं निषेधति— न हि तत्रेति। अथ किमिति तत्रानुमानव्यवधानं न स्यात्तत्राह—तथा सतीति। तत्र हि घटस्मृतिरेवानुव्यवस्यते, सा चेत्स्वोदयेऽप्यानुमानिकतत्तावती सत्यनुव्यवस्येत, तथासति चिरातीततया विनश्यदवस्थात्वस्याप्यभावात्, वर्तमानस्मरणग्राहकानुव्यवसायविषयत्वं न स्यात्। अस्मार्षमित्येवानुव्यवसायप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। संस्कारस्य विषयभावादपि समानविषयत्वमसिद्धमिति प्रौढ्या प्राह—संस्कारस्येति। असंविद्रूपत्वादिति। ज्ञानत्वाभावादित्यर्थः।

स्मृति का विषय ही नहीं, अपितु कारणान्तर-प्रयुक्त उसका भान होता है, क्योंकि पद से पदार्थ के स्मरण एवं हरिहरादि-स्मृतियों में नहीं होता। तो यह कहना युक्त नहीं; कारण यह है कि उसके कारणान्तर का निरूपण सम्भव नहीं। "सोऽयं देवदत्तः"—इस प्रत्यभिज्ञा में यदि 'सः'—यह अंश पूर्व संस्कार से जन्य न माना जाय, तब तत्तांश में इन्द्रिय-सम्प्रयोग न होने से तत्ता-विशिष्ट प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप ही सिद्ध न होगा। तत्ता का अनुमान से भान मानने पर संस्कार में प्रत्यभिज्ञा कारणता भंग हो जायगी। 'सः'—इस अंश का अनुमान से भान मानने पर "तं घटं स्मरामि"—यह अनुव्यवसाय अनुपपन्न हो जायगा (द्र० न्या० ली० पृ० ६२३) 'प्रथम घट-स्मरण, अनन्तर तत्ता का अनुमान और उसके पश्चात् अनुव्यवसाय होता है'—यह नहीं कह सकते; क्योंकि अनुव्यवसाय-काल में स्मरण नष्ट ही हो जायगा, अतः उसका अनुव्यवसाय में भान कैसे होगा ? दूसरी बात यह भी है कि संस्कार, ज्ञानरूप न होने से सविषयक भी नहीं होता, अतः उसमें स्वसमान-

रस्यासंविद्रूपत्वात्, निर्विषयत्वाच्च समानविषत्वासिद्धिः। न ह्यसंविद्रूपस्य सविषयत्वम्। इच्छादिषु तज्जनकज्ञानविषयेण सविषयत्वोपचारात्। तर्हि संस्कारजनकानुभवसमानविषयत्वे सति संस्कारजन्यत्वं लक्षणार्थं इति चेत्, न; तत्तांशे समानविषयतायाः खण्डितत्वात्। गरुडादिसाक्षात्कारे चातिव्याप्तेः, तस्य दीर्घकालनैरन्तर्योपचितसंस्कारविषयविषयत्वात्। नापि चतुर्थः; अनाप्तवाक्योत्थविभ्रमप्रत्ययेऽनेकार्थाक्षादिपदजन्यसंशये चातिव्याप्तेः। नापि पञ्चमः; तज्जातौ व्यञ्जकप्रमाणानिरूपणात्। तदेवं संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरूक्तौ तदतिरिक्तत्वविशेषणं दुर्निरूपम्। नापि षष्ठः; तथाहि—एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्धूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमत्त्वमित्यपि न; विकल्पासहत्वात्। तथा हि—

ननु तर्हि तत्कथमिच्छादिषु सविषयत्वम्? समानं हि तेषामप्यसंविद्रूपत्वमिति, तत्राह—इच्छादिष्विति। तदेवं स्वसमानविषयसंस्कारजं ज्ञानमिति लक्षणं दूषितमेव। एतत्परिहाराय भङ्ग्यन्तरं शङ्कते—तर्हीति। न स्वसमानविषयसंस्कारजन्यत्वमत्राभिप्रेयते, येनासिद्धिरभिधीयते; किं तर्हि? संस्कारजनको योऽनुभवस्तेन समानविषयत्वे सति संस्कारजत्वमित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञाव्यावर्तनायाद्यं विशेषणम्। समानविषयत्वं चान्यूनानतिरिक्तविषयत्वम्। संस्कारजनकानुभवसमानविषयधारावाहिकज्ञानव्यावृत्त्यै संस्कारजन्यपदम्। इदमपि पूर्वोक्तदूषणेन दूषितमित्याह—न तत्तांश इति। अतिव्याप्तिं चाह—गरुडादीति। गरुडादिध्यानाद्यः साक्षात्कारो जायते, स पूर्वपूर्वभावजनितः, संस्कारजनकपूर्वानुभवस्य साक्षात्कारस्य चास्ति समानविषयत्वम्। अथ च न स्मृतिः; साक्षात्कारिज्ञानस्य स्मृतित्वव्याघातादित्यर्थः। संस्कारशब्देनात्र तज्जनकानुभवो लक्ष्यते। संस्कारस्य सविषयत्वमङ्गीकृत्य वा। प्रमित्यवृत्तीत्यादि चतुर्थं लक्षणं दूषयति—**नापि चतुर्थ इति**। पदजन्येत्यत्र एकत्वमविवक्षितम्? विवक्षितं वा? उभयथापि क्रमेण व्यभिचारमाह—**अनाप्तत्यादिना**। अनाप्तवाक्यजनितं यद्विज्ञानं विपर्ययरूपं तत्र विपर्ययत्वादिर्जातिः प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिर्भवति, तस्यैव ज्ञानस्याप्रमितित्वात्, पदजन्यत्वाच्च। अतस्तद्योगिनि विपर्यये चातिव्याप्तिः। तथाक्षगवादिशब्दैरनेकार्थवाचकैः श्रवणमात्राद्यः संशयो जायते, किं विभीतकम्? किंवा देवनम्? इति, तत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। स्मृतित्वजातियोगित्वमिति पञ्चमं पक्षं दूषयति—**नापीति**। प्रासङ्गिकस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तदेवमिति**। एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सतीत्यादि षष्ठं प्रमात्वव्यञ्जकमाशङ्कितं दूषयति—**नापि षष्ठ इति**। तमेव पक्षं दूषयितुमतिव्यवहित इत्यनुवदति—**तथाहीति**। एतद्घटज्ञानैतद्धूमजन्यवह्निज्ञान-

---

विषयता कहना नितान्त अस्वाभाविक है। ज्ञान को छोड़कर और कोई सविषयक होता नहीं, इच्छादि में उनसे जन्य ज्ञान के विषय को लेकर सविषयत्व का उपचार मात्र होता है। उक्त लक्षण का "संस्कारजनकानुभवसमानविषयत्वे सति संस्कारजन्यत्वम्"—यह अर्थ भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि तत्तांश में समानविषयता का खण्डन किया जा चुका है। गरुडादि के साक्षात्कार में अतिव्याप्ति भी है; क्योंकि दीर्घ काल तक निरन्तर गरुड का ध्यान करते-करते दृढ़तर संस्कारों से वह समानविषयक साक्षात्कार होता है। (४) चतुर्थ (प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमद्) लक्षण अनाप्तोच्चरित वाक्य से जन्य भ्रमज्ञान में एवं अनेकार्थक अक्षादि पद-जन्य संशय में अतिव्याप्ति होती है (५) पञ्चम (स्मृतित्वजातियोग) लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि स्मृतित्वजाति के विषय में व्यञ्जक और प्रमाण का अभाव है। इस प्रकार संशय, विपर्यय और स्मृति का निर्वचन न हो सकने के कारण तदतिरिक्तत्व विशेषण का निरूपण सम्भव नहीं। प्रमात्व जाति में जो (६) षष्ठ व्यञ्जक (एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्धूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमत्त्वम्) कहा था, वह भी उचित नहीं; क्योंकि वहाँ 'घटज्ञान' और 'वह्निज्ञान' शब्दों से ज्ञानमात्र विवक्षित है? या प्रमात्वेन व्यवहिमाण? या अबाधित प्रमाव्यवहारास्पद? प्रथम पक्ष मानने पर भ्रम में अतिव्याप्ति और द्वितीय पक्ष

किं घटज्ञानवह्निज्ञानशब्दाभ्यां ज्ञानमात्रं विवक्ष्यते ? किं वा प्रमात्वेन व्यवह्रियमाणम् ? आहोस्विदवाधितप्रमाव्यवहारास्पदम् ? नाद्यः; विभ्रमज्ञानानामप्येवं भावात्। नापि द्वितीयः; उक्तदोषानुषङ्गात्, विभ्रमज्ञानेष्वपि तात्कालिकप्रमात्वव्यवहारदर्शनात्। नापि तृतीयः; अवाधितत्वस्य दुर्निरूपताया प्रागेवाभिहितत्वात्। तदेवं प्रमात्वस्य न निरुक्तिः।

नापि परोक्षतायाः; तस्या जातित्वे जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तथाहि—किं प्रमात्वं परम्, पारोक्ष्यमपरम् ? विपरीतं वा ? नाद्य; पारोक्ष्यभ्रमाभावप्रसङ्गात्। यत्र परोक्षत्वजातिर्व्याप्या, तत्र व्यापकं प्रमात्वमस्त्येवेति नियमात्। नापि द्वितीयः; तथा सति प्रमात्वं परोक्षतां न व्यभिचरेदिति प्रत्यक्षप्रमाऽभावप्रसङ्गात्। न च विभ्रमेषूपाधिनिबन्धन एव परोक्षत्वव्यवहारः; तथा सति सर्वत्र तन्निबन्धनतयैव तद्व्यवहारोपपत्तेः जातिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तदेवमन्योन्यपरिहारेण वर्तमानयोर्मनोगगनवर्तिनोर्मूर्तत्वभूतत्वयोः पृथिव्या-

---

शब्दार्थं विकल्पयति—**किं घटज्ञानेत्यादिना**। **विभ्रमेति**। येन हि विपर्ययत्वं नाम जातिरङ्गीक्रियते, तस्य विपर्ययेऽप्येतल्लक्षणं गच्छति। ज्ञानत्वाधिकरणवृत्तिसंशयावृत्तिजातिमदिति हि तदा लक्षणार्थः। स च विपर्ययेऽप्यस्तीति भावः। प्रमात्वेन व्यवह्रियमाणं ज्ञानमिति द्वितीयपक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—**उक्तदोषेति**। ननु विभ्रमेषु कथं प्रमात्वव्यवहारः ? इति तत्राह—**विभ्रमज्ञानेष्वपीति**।

पारोक्ष्यानधिकरणप्रमाकरणं प्रत्यक्षमिति लक्षणे प्रमात्वदुर्निरूपतोपपादिता, पारोक्ष्यदुर्निरूपतां प्रतिज्ञातामुपपादयति—**नापि परोक्षतताया इति**। जातिसंकरमेव दर्शयति—**किं प्रमात्वमित्यादिना**। परोक्षभ्रमाभावप्रसङ्गमेवोपपादयति—**यत्रेति**। व्याप्यपरोक्षत्वजातिमत्त्वे सर्वत्र व्यापकप्रमात्वनियमात्पारोक्ष्यरूपभ्रमो न स्यादित्यर्थः। द्वितीये प्रत्यक्षरूपप्रमा न स्यात्; यत्र यत्र व्याप्यप्रमात्वम्, तत्र तत्र व्यापकपारोक्ष्यवृत्तित्वनियमादित्याह—**नापि द्वितीय इत्यादिना**। ननु प्रमात्वं परमेव, तद्रहितेषु विभ्रमेषु पारोक्ष्यव्यवहारस्त्वौपाधिक इति, तत्राह—**न च विभ्रमेष्विति**। प्रतिपादितजातिसङ्करं सनिदर्शनमुपसंहरति—**तदेवमिति**। यथाहि–भूतव्यतिरिक्ते मनसि वतमानमूर्तत्वस्यामूर्तेऽपि गगने वर्तमानस्य भूतत्वस्य चैकत्र पृथिव्यादा वृत्त्या जातिसङ्करप्रसङ्गात् न जातित्वम्, एवमनयोरपि परस्परपरिहारेण वर्तमानयोरेकत्रानुमित्यादौ वर्तमानतया जातिसङ्करप्रसङ्ग इति योजना। नियतव्यञ्जकाभावदपि न पारोक्ष्यं जाति-

---

मानने पर भी वही दोष है ; क्योंकि भ्रमज्ञानों में भी तात्कालिक प्रमात्व-व्यवहार देखा जाता है। तृतीय पक्ष में प्रविष्ट अबाधितत्व का निरूपण सम्भव नहीं—यह पहले ही कह चुके हैं। इस प्रकार प्रमात्व का निर्वचन नहीं हो सकता।

परोक्षता का भी निर्वचन सम्भव नहीं। उसे जाति मानने पर जाति-साङ्कर्य दोष होता है ; क्योंकि प्रमात्व को पर (व्यापक) जाति और परोक्षता को अपर (व्याप्य) जाति मानने पर परोक्ष भ्रम में प्रमात्व की आपत्ति हो जायगी—जहाँ व्याप्य परोक्षत्व जाति रहेगी, वहाँ व्यापक प्रमात्व रहेगा ही—यह नियम है। प्रमात्व को व्याप्य और परोक्षत्व को व्यापक मानने पर प्रमात्व व्याप्य होने से परोक्षत्व का व्यभिचारी न हो सकेगा, अतः प्रत्यक्ष प्रमा का विलोप हो जायगा। यदि कहा जाय कि प्रमात्व को परोक्षत्व का व्यापक ही मानेंगे और परोक्ष भ्रम में प्रमात्व की अतिप्रसक्ति हटाने के लिए यह भी मानेंगे कि भ्रम, प्रत्यक्ष ही होता है, परोक्ष नहीं ; भ्रम में परोक्षता का व्यवहार उपाधि-निबन्धन हो जाता है। तो यह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि उपाधि-निबन्धन व्यवहार तो सर्वत्र चलाया जा सकता है, जातिकीकल्पना व्यर्थ हो जायगी। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे को छोड़कर गगन तथा मन में रहने वाले भूतत्व और मूर्तत्व धर्मों का पृथिव्यादि में समावेश हो जाने से जैसे जाति-साङ्कर्य होता है, वैसे ही प्रकृत में भी जाति-साङ्कर्य हो जायगा। परोक्षत्व जाति का

द्वाविवैकत्र समावेशे जातिसङ्करः स्यात्। न च परोक्षताया जातेर्व्यञ्जकमस्ति; तत्किमिन्द्रियार्थसन्निकर्षाजन्यत्वे सति प्रमात्वम्? उत लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वम्? नाद्य; ईश्वरज्ञानस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, स्मृतेः परोक्षत्वाभावप्रसङ्गात्। एतेन परोक्षत्वस्योपाधित्वमपि निरस्तम; व्यञ्जकनिरासेन तयोरुपाधित्वस्यापि निरस्तत्वात्। ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्ययोग्यनुव्यवसायातिरिक्तपरमाणुप्रमित्यवृत्तिर्जातिः साक्षात्त्वं तदधिकरणं प्रत्यक्षमित्यपि न; यत :—

प्रमितेर्दुर्निरूपत्वाद् व्यञ्जकस्यानिरूपणात्।
साक्षात्त्वं जातिसाङ्कर्यान्न प्रत्यक्षस्यं लक्षणम् ॥२२॥

प्रमितेरेवानिरूपणे परमाणुप्रमित्यवृत्तिविशेषणस्य दुर्ज्ञानत्वात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वा-

रित्याह—**न चेति**। प्रत्यक्षप्रमितेः परोक्षभ्रमस्य च निरासाय विशेपगद्वयम्। प्रत्यक्षप्रमितिव्यावृत्त्यै घटादिव्यावृत्त्यै वा विशेषणद्वयम्। नित्यस्येश्वरज्ञानस्य नेन्द्रियादिसन्निकर्षजन्यत्वमस्ति, अस्ति च प्रमात्वमिति तस्यापि परोक्षत्वप्रसक्तिरिति प्रथमं पक्षं दूषयति—**ईश्वरेति**। लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वं पारोक्ष्यव्यञ्जकमिति पक्षे स्मृतेः पारोक्ष्यं न स्याद्व्यञ्जकाभावदित्याह—**स्मृतेरिति**। एतेनेत्यस्य विवरणम्—**व्यञ्जकेति**। पारोक्ष्यस्यौपाधिकत्वेऽप्यनयोरेवोपाधित्वसंभावनात्तच द्वयं निरस्तमित्यर्थः। प्रत्यक्षफलस्य लक्षणान्तरं शङ्कते—**ईश्वरेति**। अत्र च साक्षात्कारत्वजात्यधिकरणं प्रत्यक्षमिति लक्षणम्। साक्षात्कारत्वस्य लक्षणमीश्वरेत्यादि, जातिः साक्षात्कारत्वमित्युक्ते सत्तादावतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। तथा च व्याघातः, प्रत्यक्षप्रमितिवृत्तित्वात्, तदर्थं परमाणुप्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। तथाप्यसिद्धिः; परमाणुमहं जानामीत्यनुव्यवसायप्रत्यक्षस्य परमाणुविषयतया साक्षात्कारित्वस्य परमाणुप्रमितिवृत्तित्वात्। तदर्थमुक्तमनुव्यवसायातिरिक्तेति। तथाप्यनुव्यपसायातिरिक्तयोगिप्रत्यक्षमादायासिद्धिरत उक्तमयोगीति। तथापि घटत्वादावतिव्याप्तिस्तदर्थं ज्ञानवृत्तीत्युक्तम्। तथापि विपर्ययत्वस्मृतित्वादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमीश्वरज्ञानवृत्तीत्युक्तम्। न हि तेषामपरोक्षेश्वरज्ञानवृत्तित्वमित्यर्थः। ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्युक्तविधपरमाणुस्मरणरूपज्ञानावर्तिनि प्रमात्वे प्रसङ्गनिरासाय परमाणुप्रमितीत्युक्तम्। पारोक्ष्यानधिकरणत्वादिरूपोपाधिनिरासाय जातिपदम्। परोक्षज्ञानवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ईश्वरज्ञानवृत्तिजातिरिति फलितार्थः। दूषणानि संगृह्णाति—**प्रमितेरित्यादिना**। प्रमितेर्दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—**प्रमितेरिति**। व्यञ्जकस्यानिरूपणं विवृणोति—**इन्द्रियार्थेति**। अव्यभिचारित्वखण्डनात्, ईश्वरज्ञानाव्यापकत्वाच्चेत्यर्थः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वासिद्धेश्च। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षतस्तदधिगमः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षयोरप्रत्यक्षत्वेन तज्जन्यत्वस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यनुमानतः, ज्ञानत्वप्रमितित्वादीनां व्यभिचारित्वात्, साक्षात्कारित्वस्याद्याप्यसिद्धेरिति। तृतीयं हेतुं विवृणोति—

व्यञ्जक भी कोई नहीं। यदि है, तो क्या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षाजन्य प्रमात्व? या लिङ्गादि प्रमाण जन्यत्व? प्रथम पक्ष मानने पर ईश्वर-ज्ञान में भी परोक्षत्व प्रसक्त होगा। द्वितीय मानने पर स्मृति में परोक्षत्व का अभाव हो जायगा। इससे परोक्षत्व में उपाधित्व का भी खण्डन हो जाता है; क्योंकि व्यञ्जकत्व के निरास से उक्त दोनों (इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षा-जन्य प्रमात्व और लिङ्गादि प्रमाण-जन्यत्व) धर्मों में उपाधित्व का भी निरास हो ही जाता है। ईश्वर-ज्ञान में अवृत्ति और अयोगी पुरुष की अनुव्यवसाय-भिन्न प्रमिति में वृत्ति जाति है—साक्षात्व, उसके अधिकरण को प्रत्यक्ष कहते हैं—यह लक्षण भी समुचित नहीं; क्योंकि प्रमित का निरूपण नहीं हो सकता, जाति-व्यञ्जकों का भी निराकरण हो चुका है, साक्षात्व को जाति मानने से जाति-साङ्कर्य भी होता है। अर्थात् प्रमिति का निरूपण न हो सकने पर 'परमाणुप्रमित्यवृत्तित्व' विशेषण का ज्ञान नहीं हो सकता, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्यत्वादि व्यञ्जकों का निरास हो चुका है, साक्षात्व को जाति मानने वर प्रमात्व का

देश्याभिव्यञ्जकस्यापास्तत्वात्, साक्षात्त्वस्य च प्रमात्वेन परापरभावाभावाज्जातिसङ्करप्रसङ्गाच्च नेदमपि प्रत्यक्षलक्षणम् ।

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमित्यपि न प्रत्यक्षलक्षणम् ; प्रत्यक्षाभासेऽपि सत्त्वात् । वृत्तिकारमतेन तत्सतोर्व्यत्ययेऽपि लक्षणस्याव्याप्तिः, अतिव्याप्तिर्वा । तथा हि—यदाभासविज्ञानं तद्यदि तत्संप्रयोगादेव भवति तत्समीचीनं प्रत्यक्षमिति तदा सूत्रार्थः । तत्र किं प्रतिभासमानेनाकारेण कृत्स्नेन संप्रयोगाज्जायमानत्वं विवक्षितम् ? उतै-

---

साक्षात्त्वस्य चेति । तथा—

'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा ।
मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा ॥१॥
सर्वविज्ञानहेतूत्थमितौ मातरि च प्रमा ।
साक्षात्कारत्वसामान्यात्प्रत्यक्षत्वेन संमता ॥२॥' (प्र० पं० अमृत० ५, ७)

इति शालिकनाथलक्षणमपि परिणुन्नं मन्तव्यम् । एतेन "साक्षात्प्रतीतिसाधकतममध्यक्षम्, सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम्" इत्यादिश्रीवल्लभभूषणप्रभृतिभिरभिहितं लक्षणजातं प्रत्याचक्षीत । साक्षात्त्वानिरुक्तेरेव, प्रत्यक्षभ्रमस्य परोक्षप्रमाया वाऽभावप्रसङ्गादिति भावः ।

एवं तार्किकप्रत्यक्षलक्षणानि दूषयित्वा मीमांसकाभिमतं लक्षणं दूषयति—सत्संप्रयोग इति । 'सता वर्तमानेनार्थेनेन्द्रियाणां संप्रयोगे सति पुरुषस्य यद्बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्, इति लोकसिद्धप्रत्यक्षलक्षणानुवादपरजैमिनीयसूत्रस्यार्थः । अत्र च जन्मग्रहणं जन्मैव बुद्धेर्व्यापार इति प्रदर्शनार्थम् । उक्तं हि—

'व्यापारः करणानां तु दृष्टो जन्मातिरेकतः ।
ज्ञानेऽपि हि तथा मा भूदिति जन्माभ्युपेयते ॥' इति (श्लो० वा० ४।५४)

अस्यातिव्याप्तिमाह—प्रत्यक्षाभासेऽपीति । अस्ति हि तत्रापि वर्तमानेन संप्रयोगाद्बुद्धिजन्म । यथाहुः—'केनचित्संप्रयोगे हि भ्रान्त्यादि स्यान्नियोगतः ।' इति, ततोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । स्यादेतत्, यद्यपीदं भाष्यकारमते दूषणं संभवति, तथापि वृत्तिकारमते न संभवति । ते हि तत्सतोर्व्यत्ययं कृत्वा व्याचख्युः । तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षमिति । तदा चायं सूत्रार्थः—तत्संप्रयोगात्तद्विषयविज्ञानं सत्प्रत्यक्षमन्यसंप्रयोगादन्यविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षाभासः' इति । ततः कथमतिव्याप्तिः ? नहि शुक्तिकारजतज्ञानं रजतसंप्रयोगादुत्पन्नमिति, तत्राह—वृत्तिकारमतेनेति । अव्याप्त्यतिव्याप्ती दर्शयितुं सूत्रार्थमाह—तथा हीति । विकल्प्य दूषणे दर्शयति—तत्रेत्यादिना । ननु किमित्यभावप्रमाणवादिभिस्तस्य प्रत्यक्षांशत्वं

व्याप्यत्व या व्यापकत्व उसमें सम्भव नहीं होता, जाति-साङ्कर्य दोष आ जाता है, अतः यह भी प्रत्यक्ष का लक्षण कैसे बनेगा ?

महामुनि जैमिनि ने जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया है—"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" (जै० सू० १।१।४) अर्थात् सत् (वर्तमान) वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर जो पुरुष को ज्ञान होता है, उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं । यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं ; क्योंकि शुक्ति रूप वर्तमान वस्तु के साथ नेत्र-सन्निकर्ष होने पर "इदं रजतम्"—यह आभास भी उत्पन्न होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति होती है। शबरस्वामी ने (जै० सू० १।१।५ में) वृत्तिकार के मत से सूत्रस्थ 'तत्, सत्'—दोनों पदों के परस्पर विनिमय से जो अर्थ किया है, उसमें भी अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष होता है । अर्थात् वृत्तिकार के मत से यह लक्षण सम्पन्न होता है कि "यद्विषयं ज्ञानं, तेनैव सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्" (शा० भा० पृ० २६) अर्थात् जिस विषय का ज्ञान होता है, उस विषय के साथ ही इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान होता है, उसे समीचीन

कदेशेनापि ? नाद्यः ; सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशे संप्रयोगाभावादव्याप्तेः। न च तत्रापि तत्तांशे संयुक्तविशेषणतालक्षणः संप्रयोगोऽस्तीति वाच्यम् ; षष्ठप्रमाणवादिना तस्य प्रत्यक्षतानङ्गीकारात् , अङ्गीकारे वा निर्घटं भूतलमित्यत्र तथाभूतसन्निकर्षंभावादभावस्य प्रत्यक्षतोपपत्तौ षष्ठप्रमाणाभ्युपगमवैयर्थ्यापातात् । न द्वितीयः; विभ्रमेष्वपि भावादतिव्याप्तेः, तत्राप्यधिष्ठानसंप्रयोगस्य भावात् । अथोच्येत—संप्रयोग इत्यत्र समितिविशेषणेन दुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्वस्य व्यावर्तितत्वाद्दुष्टेन्द्रियसंप्रयोगजन्येषु विभ्रमेषु नातिव्याप्तिः ।

यथाहुर्भट्टपादाः—'सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः ।
प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ॥
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात् ।' इति । (श्लो० वा० ४।३८)

तदपि न ; उक्तोत्तरत्वात् , प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशेन तथाभूतसंप्रयोगाभावादव्याप्तेः, इन्द्रियेषु

नाङ्गीक्रियते, तत्राह—अङ्गीकारे वेति । इदं चासाधारणम्, साधारणं तु प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छेदात्मकं दूषणमनेकवारमुक्तमेव । एकदेशेनापि संप्रयोगे जन्मेति पक्षं दूषयति—न द्वितीय इति । विभ्रमेऽप्येकदेशसंप्रयोगमाह—तत्रापीति । तत्संप्रयोग इत्यत्र समित्युपसर्गादतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते—अथोच्येतेत्यादिना । सम्यक् प्रयोगो हि संप्रयोग इति भावः । अत्र वार्तिकसंमतिमाह—यथाहुरिति । पादशब्दः पूजार्थः । 'पादा इति च नामान्ते देवा भट्टारकावपि' इत्यभिधानात् । सम्यगर्थे प्रसिद्धोऽयं समिति शब्दो दुष्टयोगस्य निवारकः । अथ कोऽयं प्रयोगः , यस्यायं सम्यक्त्वमाचक्षीत संशब्द इति ? तत्राह—प्रयोग इति । बुद्धीन्द्रियाणामर्थेषु यो व्यापारः स प्रयोगोऽभिमत इत्यर्थः । कस्तर्हि दुष्टप्रयोगोऽनेन निवर्त्यत इति ? तत्राह—दुष्टत्वादिति । कथं तर्ह्यस्य दुष्टत्वमिति ? तत्राह—रजतेक्षणादिति । तन्निमित्तं रजतं ज्ञायते इति दुष्टो योऽसौ प्रयोगोऽतस्तद्व्यावर्तकोयं संशब्द इति वार्तिकयोजना । अनेनापि हि सम्यक्प्रयोगः समर्थितः । स च तत्तांशे नास्तीति पूर्वमेवोक्तमित्याह—तदपि नेति । उक्तमेव दर्शयति—प्रत्यभिज्ञायामिति । ननु विस्मरणशील इव भवानालोच्यते, कथमन्यथा एकदेशसंप्रयोगपक्षमुपक्षिप्य तत्तांशे तादृशसंप्रयोगाभावादव्याप्तिमाचष्टे इति ? तत्राह—इन्द्रियेष्विति । प्रागुक्तन्यायो दुष्टसामग्रीजन्यत्वावधारणनिरसनन्यायः । इन्द्रियसंप्रयोगयोरप्रत्यक्षत्वेन तन्निष्ठदोषाग्रहणेन दोषाभावस्याप्य-

---

प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ प्रतीयमान समग्र विषय के साथ सम्प्रयोग विवक्षित है ? या एक देश के साथ ? प्रथम पक्ष मानने पर प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होती है, क्योंकि सोऽयं देवदत्तः" यहाँ प्रतीयमान 'तत्ता' के साथ इन्द्रिय-सम्प्रयोग नहीं होता । 'तत्ता' अंश में इन्द्रिय का 'स्वसंयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष मानना भी उचित नहीं; क्योंकि इस सम्बन्ध से जन्य ज्ञान को कोई भी अनुपलब्धि प्रमाण-वादी प्रत्यक्ष नहीं मान सकता, यदि मानेगा तो "निर्घटं भूतलम्"—यहाँ भी उसी प्रकार के सन्निकर्ष से घटाभाव का प्रत्यक्ष ही बन जायगा, अनुपलब्धिरूप षष्ठ प्रमाण मानना ही व्यर्थ हो जाता है। द्वितीय (एक देश-सम्प्रयोग) पक्ष मानने पर भ्रम में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि वहाँ भी शुक्त्यादि अधिष्ठान के साथ सम्प्रयोग है ही । यदि कहा जाय कि 'सम्प्रयोग'—यहाँ 'सम्' विशेषण से दुष्ट सम्प्रयोग की व्यावृत्ति की जाती है, अतः दुष्टेन्द्रिय-सम्बन्ध-जन्य भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होगी । जैसा कुमारिल भट्ट ने कहा है—'समीचीनार्थ में प्रचलित सम् उपसर्ग दुष्ट प्रयोग का निवारक है, 'प्रयोग' शब्द का अर्थ है—अर्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध । शुक्तिका के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध दुष्ट है, अतः उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। वह दुष्ट इसलिए है कि रजतज्ञान का जनक है'। तो यह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि 'तत्ता' अंश के साथ वैसा सम्प्रयोग न होने से प्रत्यभिज्ञा में अव्याप्ति है—यह कहा जा चुका है । अतीन्द्रिय इन्द्रिय-प्रयोग में दोषाभाव का

दोषाभावस्य प्रागुक्तन्यायेन दुरवधारणत्वात् । तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्युक्तम् ।

नाप्यनुमानस्य लक्षणं निरूपयितुं शक्यम् । तथाहि—करणपक्षे तृतीयलिङ्गपरामर्शः, परामृश्यमानं वा लिङ्गमनुमानमिति नैयायिकाः । न तावत्तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितेः करणम्; अव्यापारत्वात् । व्यापारवत एव हि सर्वत्र करणत्वम्, तदिह महानसादौ धूमधूमध्वज़योः प्रथमं संबन्धं गृहीतवतः शिखरिशिखरपरिवर्तितया पुनस्तमेव धूममवलोकयतस्तदनु चानुसंहितव्याप्तेर्योऽयं लिङ्गविषयः परामर्शः 'तथा चायं धूमवान्' इति न तस्य व्यापारान्तरमुपलभामहे, येन तस्यानुमितिकरणता स्यात् । न च व्याप्तस्य पक्षधर्मतावगमेऽप्यनुमानानुदयस्त्वयाभ्युपगम्यते, येन व्यापारान्तरं तत्र कल्प्येत । अथानुसंहितव्याप्तिकस्य लिङ्गविपयो निर्विकल्पकप्रत्ययः करणं तस्य 'तथाचायं धूमवान्' इति सविकल्प-

---

ग्राह्यत्वादित्यर्थः । प्रत्यक्षखण्डनमुपसंहरति—**तदेवमिति** । प्रत्यक्षधर्मिकानुमानेप्येकदेशसंप्रयोगसंभवादतिव्याप्तिः । संप्रयुक्त एवार्थे इति विशेषणे च प्रत्यभिज्ञाव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथवा भाष्यकारपक्षे एवातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्क्येदमव्याप्तिदानम् । इन्द्रियेष्विति दूषणान्तरान्वाचयः ।

अध्यक्षे सर्वमानानामध्यक्षेऽस्मिन्प्रधर्षिते । अनुमानादिपु त्वक्षमनुमानेषु का कथा ? ॥१॥

क्रमप्राप्तमनुमानलक्षणं खण्डयितुमुपक्रमते—**नाप्यनुमानस्येति** । प्रमाणखण्डनस्य प्रस्तुतत्वादनुमितिं विहाय तार्किकानुमितिकरणलक्षणमुद्भावयति—**करणेति** । इदमेव वाचस्पत्युदयनयोर्मतम् । इमं च तृतीयं परामर्शमुत्तरत्र स्वयमेव दर्शयिष्यति । ननु मास्तु व्यापारः, करणत्वं किमिति न स्यात् ? अत आह—**व्यापारवत एव हीति** । व्यापारवत्कारणं हि कारकमुच्यते, कारकविशेषश्च करणम् , ततो व्यापारवत एव करणत्वमित्यथः । अस्तु तर्ह्यस्यापि व्यापार इति तत्राह—**तदिहेत्यादिना** । धूमध्वजो वह्निः , शिखरी पर्वतः । तृतीयलिङ्गपरामर्शमेवाभिनयति—**तथा चायमिति** । ननु यद्यपि व्यापारान्तरं तस्य न दृश्यते, तथापि करणत्वसिद्धये कल्पयाम इति, तत्राह—**न च व्याप्तस्येति** । यदि व्याप्ततया पक्षधर्मतया चावगतस्य लिङ्गस्य कदाचिदनुमितिजनकत्वं न दृश्येत, कल्प्येतापि तदा व्यापारान्तरम् , केवलव्यतिरेकवत्त्वात्, तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसक्तिरिति भावः । ननु द्विविधस्तृतीयलिङ्गपरामर्शो निर्विकल्पकः सविकल्पकश्चेति, तत्र निर्विकल्पकः करणम् , सविकल्पकस्तु तस्य व्यापार इति शङ्कते—**अथेति** । अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञानम् । एतच्च लिङ्गपरामर्शस्य तृतीयत्वसिद्धये शक्यमेव लक्षयितुं प्रत्यक्षलिङ्गोपलब्धिस्थले । यत्र तु शब्दादनुमानाद्वा लिङ्गावगमः, न तत्रैवं द्वैविध्यम्; प्रयक्षगोचरत्वादस्याः कथायाः । ततस्तत्र करणस्यैवाभाव-

---

निश्चय पूर्वोक्त रीति से हो नहीं सकता । इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण पूर्णतया निरस्त हो जाता है ।

अनुमान का लक्षण भी नहीं हो सकता ; क्योंकि करण पक्ष (अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्—इस प्रकार के विग्रह) में तृतीय लिंग-परामर्श या परामृश्यमान लिंग ही अनुमान है—यह नैयायिकों का कहना है । यहाँ तृतीय लिंग-परामर्श, अनुमिति का करण हो नहीं सकता ; क्योंकि वह व्यापार-शून्य है, व्यापार वाले पदार्थ को ही सर्वत्र करण माना जाता है । प्रथमवार महानसादि में धूम और अग्नि का सम्बन्ध देख पर्वत-शिखर पर उठते हुए उसी धूम को द्वितीय बार देखता है, तदनन्तर पूर्वगृहीत व्याप्ति का अनुस्मरण करने वाले व्यक्ति को जो यह तृतीय वार लिंगविषयक परामर्श होता है—"तथा चायम्" (वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः) इसी का नाम है—तृतीय लिंग-परामर्श । इसका अन्य कोई व्यापार उपलब्ध नहीं होता, जिससे कि उसमें अनुमिति-करणता बन जाती । व्याप्ति-विशिष्ट हेतु में पक्षधर्मता का निश्चय हो जाने पर भी अनुमिति की उत्पत्ति में आप विलम्ब मानते नहीं कि जिससे वहाँ व्यापारान्तर की कल्पना होती । यदि कहें कि निर्विकल्पकात्मक तृतीय लिंग-परामर्श को

कप्रत्ययो व्यापारः, मैवम्; शब्दानुमानाभ्यामवगतलिङ्गेष्वव्याप्तेः, आदावेव सविकल्पकेन तेषां विषयीकरणात्, शब्दानुमानयोर्निर्विकल्पकप्रत्ययाजनकत्वात्। अथोच्येत—तस्मादयमग्निमानिति निगमनेन तस्मादित्युपनयार्थस्य लिङ्गाधिकरणत्वस्य परामर्शात्, उपनयार्थस्य पूर्वभाविनस्तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य तज्जनकतया तद्व्यापारोपपत्तिरिति, तदपि न; आप्तवाक्यादस्ति धूम इत्यधिगतवतोऽपि विनैव तस्मादिति परामर्शमात्रादस्ति धूमध्वज इति प्रतीतेरुदयात्। न चैषा प्रतीतिः प्रत्यक्षा; अनैन्द्रियकत्वात्। नापि शाब्दी; आप्तवाक्यस्य धूमसद्भावमात्रपर्यवसितत्वात्। नापि स्मृतिः; तत्राग्निसद्भावस्य पूर्वमननुभूतत्वात्। अतः परिशेषादनुमितिरेवेत्यास्थेयम्, तत्कथं तत्र व्यापारसंभवः? लिङ्गपरामर्शस्य करणत्वेन प्रमाणेषु ज्ञाताज्ञातकरणविभागश्च न स्यात्। नयनादीनामेव हि करणत्वमज्ञाततया, ज्ञाततया तु लिङ्गशब्दादीनामिति विभागः परामर्शस्य करणतायां न सिद्ध्येत्। न च परामर्शोऽपि ज्ञाततया करणम्; ज्ञानस्य निलीनस्यैव नयनादिवत्स्वरूपफलजनकताङ्गीकारात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ परामृश्यमानं लिङ्गमनुमितेः करणम्। तदपि न; तत्रा-

---

प्रसङ्गादव्याप्तिरित्याह—मैवमिति। स्यादेतत् 'तथाचायं धूमवान्' इति च 'तस्मादग्निमान्' इति च याविमावुपनयनिगमनाख्यावयवौ तत्र निगमनगतस्तस्मादिति परामर्शो व्यापारस्तज्जनकश्चोपनयगतलिङ्गपरामर्शः सविकल्पकः करणमिति शङ्कित्वा, तादृशपरामर्शं विनैवाप्तवचनादवगतधूमादनुमित्युदयेऽव्याप्त्या परिहरति—अथोच्येतेत्यादिना–उदयादित्यंतेन। ननु तादृशपरामर्शव्यतिरेकेणोत्पद्यमानप्रतीतिरनुमितिरेव न भवतीत्याशङ्क्य परिशेषादनुमितित्वमाह—न चैषेत्यादिना। परिशेषादनुमितित्वं दर्शयित्वा तत्राव्याप्तिं दर्शयति—तत्कथमिति। किंच यदि परामर्शः करणम्, तदा तस्याज्ञायमानतया करणत्वान्न प्रत्यक्षाद्वैलक्षण्यं स्यादित्याह—लिङ्गपरामर्शस्येति। अस्तु तर्हि परामर्शोऽपि ज्ञायमानतया करणमिति, नेत्याह—न च परामर्शोऽपीति। ननु निलीनतया फलजनकस्याप्यपेक्षितस्थले ज्ञायमानतया जनकता किं न स्यात्? इत्यत आह—अन्यथेति। स्वप्रकाशतानङ्गीकारादिति भावः। केवलव्यतिरेकाभावस्या-

---

करण और सविकल्पक परामर्श को उसका व्यापार मानेंगे। तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षात्मक परामर्श में ही आपकी यह व्यवस्था बन सकती है; शब्द और अनुमान से जन्य परामर्श में अव्याप्ति होगी। शब्द और अनुमान, निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न नहीं करते, अपितु सविकल्पक ज्ञान ही पैदा करते हैं। यदि कहा जाय कि "तस्माद् अयमग्निमान्"—यह निगमन अपने "तस्मात्"—इस भाग से उपनयार्थ लिंगनिष्ठ पक्षधर्मता का परामर्श करता है, इस परामर्श का पूर्वभावी उपनयगत लिंग-परामर्श जनक होता है, अतः उपनयगत लिंग-परामर्श का व्यापार निगमन-जन्य परामर्श बन जायगा। तो यह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि जहाँ आप्त-वाक्य से लिंग-परामर्श होता है, वहाँ निगमनगत 'तस्मात्'—इस भाग से परामर्श के बिना ही शाब्द परामर्शमात्र से ही वह्नि-ज्ञान हो जाता है, वहाँ आपका यह लक्षण अव्याप्त हो जायगा। इस वह्नि ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता; क्योंकि इन्द्रिय-जन्य नहीं। आप्त-वाक्य से केवल धूम-सद्भाव की प्रतीति होती है, अतः वह्नि-ज्ञान शाब्दबोधात्मक भी नहीं। उसे स्मरण भी नहीं कह सकते; क्योंकि वहाँ अग्निसद्भाव पूर्व अनुभूत नहीं था, अतः परिशेष से वह अनुमिति ही है—यह मानना होगा। लिंग-परामर्श को करण मानने पर प्रमाणों में ज्ञातकरणत्व और अज्ञातकरणत्व का विभाग समाप्त हो जायगा। अर्थात् नयनादि में ही अज्ञाततया करणत्व होता है और लिंग, शब्दादि में ज्ञाततया—यह व्यवस्था, परामर्श को करण मानने पर सिद्ध न होगी। परामर्श को भी ज्ञाततया करण नहीं माना जा सकता; क्योंकि नयनादि के समान अज्ञात ज्ञान को ही स्वरूपतः फल-जनक मानना होगा, अन्यथा ज्ञान में ज्ञान-परम्परा की

सीद् धूम इत्याप्तादुपश्रुत्य वह्निरपि तत्रासीदित्यनुमितावविद्यमानस्य करणत्वानुपपत्तौ तत्परामर्शस्यैव कारणतायास्तस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। एकप्रयोजकतानुरोधेन धूमादेर्वर्तमानत्वदशायामपि तत्परामर्शस्यैव कारणतायाः स्वीकरणीयत्वात्।

किंचेदं लिङ्गम्, यस्य परामर्शः परामृश्यमानं वा लिङ्गमनुमितिकरणम्? व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गमिति चेत्, केयं व्याप्तिः? किमविनाभावः? किंवा स्वाभाविकः संबन्धः? निरुपाधिकः संबन्धो वा? नाद्यः; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—

किं व्यक्त्योरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयोः।
व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनवत्त्वयोः? ॥२३॥
सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसंभवात्।
न तद्वतोरुक्तदोषान्न चतुर्थोऽनिरूपणात् ॥२४॥

प्युपलक्षणमिदम्। सति लिङ्गपरामर्शे तदज्ञोधापराधेनानुमित्यनुदयादर्शनात्। ननु न परामर्शः करणम्, येनायं दोषः स्यात्, अपि तु परामृश्यमानं लिङ्गम्, तस्य च ज्ञायमानत्वान्नोक्तदोष इत्युदयनमतं शङ्कित्वा अतीतादिधूमेनानुमानस्थलेऽविद्यमानस्य करणत्वाभावात्परामर्श एव करणं मन्तव्यम्, तत्सामान्याद्वर्तमानस्थलेऽपि तस्यैव करणत्वं वक्तव्यम्, तथा चापरिहार्य एव पूर्वोक्तदोष इत्याह—अथ परामृश्यमानमित्यादिना।

एवं लिङ्गमङ्गीकृत्य तत्परामर्शस्य करणत्वं नास्तीत्युक्तम्, इदानीं लिङ्गानिरूपणादपि तत्परामर्शस्य करणत्वं न संभवतीत्यभिप्रेत्याह—किंचेदमिति। लिङ्गस्य लक्षणमुद्भावयति—व्याप्तीति। व्याप्तिमल्लिङ्गमित्युक्ते करतलं स्पर्शवत् रूपवत्त्वात्, सुरभि गगनारविन्दम् अरविन्दत्वात्कासारारविन्दवदित्यादिमिद्धिसाधनताश्रयासिद्ध्योरनित्यः शब्दः सावयवत्वादित्यादिस्वरूपासिद्धौ चातिव्याप्तिः, तदर्थं पक्षधर्मतावदित्युक्तम्। तावत्युक्ते चानित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, नित्यः शब्दः कृतत्वादित्यादिसव्यभिचारविरुद्धादिष्वतिव्याप्तिः, तदर्थं व्याप्तिग्रहणम्। अविनाभावो व्याप्तिरिति पक्षं दूषयति—नाद्य इति। विकल्पदूषणे श्लोकाभ्यां संगृह्णाति—किं व्यक्त्योरित्यादिना। तद्वतोरिति। जातिविशिष्टव्यक्त्योरित्यर्थः। साध्यसाधनवत्त्योरिति। धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोरित्यर्थः। तदानन्त्याद्व्यक्तीनामानन्त्यादसर्वज्ञेन तत्संबन्धग्रहणाशक्तेरित्यर्थः। तदसंभवादिति। अग्नित्वधूमत्वयोरैकाधिकरण्याभावेन व्याप्तेरसंभवादित्यर्थः। आन-

---

अपेक्षा होने से अनवस्था हो जायगी। यह जो उदयनाचार्य का मत है कि परामृश्यमान लिंग में अनुमिति-करणता होती है। बह भी युक्त नहीं; क्योंकि जहाँ पर अतीत धूम के परामर्श से वह्नि की अनुमिति होती है, वहाँ अविद्यमान धूम में अनुमिति-करणता न बन सकने के कारण लिंग-परामर्श में ही करणता उन्हें भी माननी ही पड़ेगी। एकविध प्रयोजकता का लाभ करने के लिए धूम की वर्तमान दशा में भी लिङ्ग-परामर्श को ही कारण मानना होगा, परामृश्यमान लिंग को नहीं।

वह लिंग क्या है, जिसका परामर्श या जो स्वयं परामृश्यमान होकर अनुमिति का करण होता है? यदि कहा जाय कि व्याप्ति और पक्षधर्मता के आश्रय को लिंग कहते हैं। तो यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह व्याप्ति क्या है? क्या (१) अविनाभाव? या (२) स्वाभाविक सम्बन्ध? या (३) निरुपाधिक सम्बन्ध? (१) प्रथम (अविनाभाव) पक्ष में भी प्रश्न उठता है कि क्या व्यक्तियों में अविनाभावरूप व्याप्ति कहते हैं? या जातियों में? या जाति-विशिष्ट व्यक्तियों में? या साध्यवत्त्व और साधनवत्त्व धर्मों में? व्यक्तियाँ अनन्त हैं, अतः उनमें व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता, जातियों में तो अविनाभाव सम्भव ही नहीं, जाति-विशिष्ट व्यक्तियों में भी उक्त दोष है और चतुर्थ पक्ष का निरूपण ही सम्भव नहीं। अर्थात् कोई असर्वज्ञ व्यक्ति अनन्त धूम और अनन्त वह्नि व्यक्तियों का

किं धूमधूमकेतनस्वलक्षणयोर्व्याप्तिः ? उत धूमत्ववह्नित्वजात्योः ? अथ तज्जातीययोः ? आहास्वित् धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोः ? नाद्यः; व्यक्तीनामनन्तत्वात्तत्र संबन्धग्रहणासंभवात्। न ह्यसर्वज्ञेन सर्वा व्यक्तयो विशेषतो ज्ञायन्ते। अथ व्याप्तिग्रहणसमये सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तास्ता व्यक्तयस्तत्तदिन्द्रियैरवभासन्ते, अन्यथा सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेव नावगता इत्यानुमानिकोपादानादिव्यवहारविरहविरोधप्रसङ्गात्, न हि परिदृश्यमानकदलीफलादेः प्रत्यक्षेण दृष्टमिष्टसाधनत्वम्, येनैतदुपाददीत। किं नामानुमेयम्? न च प्रतिबन्धसिद्धिमन्तरेणानुमानप्रवृत्तिः, न चान्तरेण विशेषप्रतिभासं तन्नियमावगमः, तत्सिद्धं व्याप्तिग्रहणसमये एव सकलविशेषाः प्रतिभासन्ते, तदयुक्तम्; प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्याप्तिं गृह्णतः सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। ननु प्रमेयतया सर्वं ज्ञायते न तु रूपान्तरेणेति चेत्, मैवम्;

न्त्यमुक्तदोषः। श्लोकौ व्याकरोति—किं धूमेत्यादिना। धूमकेतनो वह्निः। असर्वज्ञेनापि प्रमेयत्वाद्याकारेण सर्वा व्यक्तयो ज्ञातुं शक्यन्ते इति तन्निवृत्त्यर्थं विशेषत इति। ननु यदा व्यक्तिद्वयं गृह्यते, तदा तद्गतसामान्यद्वयसंबद्धाः सर्वा व्यक्तयः प्रत्यक्षीक्रियन्ते; तत्र च सामान्यात्मिकैव प्रत्यासत्तिः, चक्षुःसंबद्धधूमवह्निव्यक्तिसमये तत्सामान्यद्वयद्वारा संबद्धविशेषणतया प्रत्यासन्नत्वाद्व्यक्तीनाम्, ततो व्यक्त्योरेव व्याप्तिग्रहेऽपि न कश्चिद्दोष इति शङ्कते—अथेति। ननु माभूत्सर्वोपसंहारवद्व्याप्त्यवगमः, किं नश्छिन्नमिति ? तत्र श्रीवल्लभोक्तबाधकमाह—इत्यानुमानिकेति। अथ कथमुपादानादीनामानुमानिकत्वमिति, तत्राह—न हि परिदृश्यमानेति। किं नाम। किन्त्वर्थः। प्रतिबन्धो व्याप्तिः। सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तिग्रहणसमर्थनमुपसंहरति पूर्ववादी—तत्सिद्धमिति। इदमोदनादि मम समीहितसाधनमोदनादित्वात् ह्यस्तनौदनादिवदित्यनुमाय तदादित्सते। एवं परिवर्जनायेऽपि। न चैतत्सकलौदनादिगतहितसाधनतावगमं विना शक्यमनुमानमुदेतुम्। न च तदवगमे कथितोपायमन्तरेणोपायान्तरमस्तीति खण्डलकार्थः। तदेतद् दूषयति—तदयुक्तमिति। ग्रहादि विमतं प्रत्यक्षं प्रमेयत्वादभिधेयत्वाद्वेत्यादौ यदा प्रमेयत्वादेर्व्याप्तिं गृह्णाति, तदा प्रमेयत्वादेः सर्ववस्तुनिष्ठत्वात्तद्ग्रहणे सर्वं गृहीतमेवेति क्वापि न ते संशयादि स्यात्, अस्ति च तन्मच्चित्तवर्तिपदार्थेष्वनभिधानलिङ्गानुमितम्, अत एव न प्रतिकृत्येति भावः। ननु प्रमेयत्वाक्रान्ताकारेण सर्वं ज्ञायते, तदाकारेण च व्याप्तिग्रहणम्, नतु रूपान्तरेण, तदभावादिति शङ्कते—नन्विति। तत्र वक्तव्यम्—येनाकारेण तानि न ज्ञायन्ते स किं प्रमेयः ? न वा ? आद्ये सोपि ज्ञात एवेति न पूर्वोक्तदोषान्निर्मोक्षः।

व्यक्तिशः ग्रहण नहीं कर सकता, अतः धूम और वह्नि व्यक्तियों में व्याप्ति-ग्रहण कैसे होगा ? (द्र० खं० पृ० ६५५)। यदि कहा जाय कि व्याप्ति-ग्रहण-समय सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा अनन्त धूम, वह्नि व्यक्तियों की उपस्थिति अपेक्षित इन्द्रिय से हो जाती है। नहीं तो सर्व व्यक्ति-पर्यवसित व्याप्ति का ज्ञान न होने से अनुमान-सापेक्ष उपादानादि-व्यवहार का अभाव हो जायगा, जैसा कि न्यायलीलावतीकार ने कहा है—"अन्यथोपादानादिव्यवहारविलयात्" (न्या० ली० पृ० ४९३)। क्योंकि कदली-फल में इष्ट-साधनता, प्रत्यक्ष-गम्य नहीं कि जिससे उसका उपादान हो जाता, किन्तु वह इष्ट-साधनता अनुमेय है। व्याप्ति-सिद्धि के बिना अनुमान प्रवृत्त नहीं होता, साध्य-साधनभूत व्यक्तियों का जब तक व्यक्तिशः प्रतिभान नहीं होता, तब तक व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती। अतः यह सिद्ध होता है कि व्याप्ति-ग्रहण-समय में ही सकल व्यक्तियों की प्रतीति होती है। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के आधार पर प्रमेयत्व, अभिधेयत्वादि की व्याप्ति-ग्रहण करनेवाला सर्वज्ञ हो जायगा। यदि कहें कि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के आधार पर प्रमेयत्व रूप से ही सर्व वस्तुओं का ज्ञान होता है; घटत्व, पटत्वादि रूप से नहीं। तो यह बताइए कि घटत्व, पटत्वादि क्या प्रमेय हैं ? या नहीं ? यदि हैं, तब उनका प्रमेयत्वेन ज्ञान क्यों न होगा ? यदि नहीं,

रूपान्तरस्यापि प्रमेयत्वाधारतया ग्रहणप्रसङ्गात्, अप्रमेयत्वे च सप्तमरसादिवत्तदसिद्धेः। येन येन रूपेण यद्यदस्ति तेन तेनाकारेण तत्तत्प्रमेयमिति स्यादेव सर्वज्ञता। किंच व्याप्तिसंदर्शनसमय एवाशेषग्रहणे पर्वतनितम्बगोचरोऽपि कृशानुर्गृहीत एवेति पुनर्धूमदर्शने तस्य स्मृतिगोचरतैव स्यान्नत्वनुमेयता। नापि द्वितीयः; यद्धूमत्वं यत्र वा धूमत्वं तद्वह्नित्वं तत्र वा वह्नित्वमिति नियमासंभवात्, तयोर्भिन्नत्वाद्भिन्नाधिकरणत्वाच्च। नापि तृतीयः; व्यक्तीनामिव तद्वतामपि अनन्तत्वात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः। अस्तु तर्हि चतुर्थः; न हि तत्र

उत्तरस्मिंस्तु स एव नास्ति, येन न ज्ञायेरंस्तानीत्याह—मैवमिति। सप्तमेति। रसषट्कव्यतिरिक्त-द्रव्यादे रसत्वस्याप्रमेयस्यासिद्धिवदित्यर्थः। किंच व्याप्तिग्रहणसमये सर्वव्यक्तिग्रहणपूर्वकं तन्निष्ठव्याप्ति-ग्रहणमाशंसता पक्षीकृतपर्वतेऽपि सा गृहीता? न वा? न यदि, तदा सर्वोपसंहारिणी व्याप्तिरेव न गृहीता। अथ गृहीता, तत्राह—किंच व्याप्तिग्रहणेति। नितम्बः सानुः। नच धारावाहिवत्संप्लववादेऽनुमान-प्रवृत्तिः। परार्थानुमाने तं प्रति सिद्धसाधनतापातात्। जात्योरिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—नापि द्वितीय इत्यादिना। वृक्षशिंशपयोरिव स्वभावाविनाभावो वा, धूमाग्न्योरिव सादेश्यनियमो वक्तव्यः; कालकृता-विनाभावस्य जात्यन्तरेणापि साधारण्यात्। तच्च द्वयं न संभवति; भिन्नस्वभावत्वात्, भिन्नदेशत्वा-च्चाग्नित्वधूमत्वयोरिति भावः। जातिविशिष्टव्यक्त्योरिति तृतीयं दूषयति—नापि तृतीय इति। यत्त्वत्र लीलावतीकारेणोक्तम् 'न च प्रतिबन्धासंवेदनम्, व्यक्तिमात्रसहिततज्जातिनिर्भासात्' इति, तदसत्; सर्वव्य-क्तिग्रहणाग्रहणप्रयुक्तदोषापरिहारात्। धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोरिति चतुर्थं पक्षमुद्घाटयति—अस्तु तर्हीति। ननु तयोरप्युपाधिसामान्यत्वात्समस्तधूमवदग्निमल्लक्षणोपधेयग्रहणव्यतिरेकेणाशक्यग्रहणत्वात् पूर्वोक्तदोषस्तद-वस्थ इति, तत्राह—नहि तत्रेति। यथाहि कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि समस्ता जातिर्गृह्यते, तत्कस्य हेतोः? प्रत्येकं परिसमाप्यवृत्तित्वात्तद्वदत्रापीति भावः। अत्र तावत्कतिपयव्यक्तिग्रहणे जातिर्गृह्यते इत्यत्रापि नास्ति संप्रतिपत्तिः। अथ तत्र परिसमाप्यवृत्तित्वाद्गृह्यत इति मतम्, तर्हि वक्तव्यम्—केयं परिसमाप्तिः? यदि तत्रैव वर्तमानत्वम्, गतं तर्हि गवान्तरगतगोत्वेन। अथ पर्यवसिततया प्रमीयमाणत्वम्, अर्थाभावे तत्प्र-मितत्वे कथमाश्वासः? किंच सा? किं व्यक्तिसर्वगता असर्वगता वा? अन्त्ये तु नैकस्यां व्यक्तौ परिसमाप्तिः। नहि सर्वगताया गृहोदरे परिसमाप्तिर्वास्तवी। व्यक्तिसर्वगतत्वपक्षे गोद्वये वर्तमाना तयोरन्तराले वर्तते? न वा? न यदि, तदवच्छिन्नदेशायाः कथमेकत्वम्? द्वितीये तु प्रागुक्त एव दोषः, उत्पद्यमानायां च व्यक्तौ कुत एष्यति? इति पतिष्यतीत्यपि चिन्तनीयम्, तत्रापि तत्सत्त्वे प्रागुक्तदोषः। प्रतीत्यप्रतीती वृत्त्यवृत्ती नान्ये इति चेत्किं योगाचारनगरगोपुरं प्रविशसि? अचिन्त्यमहिमेयं वस्तुस्वभाववैचित्री, यद्व्य-क्तिद्वये वर्तमानाप्यन्तराले न वर्तते, एकत्वं न जहाति, व्यक्त्यनुत्पत्तिदशायां तत्र तत्कारणेषु वा नास्ति, व्यक्त्युत्पत्तौ चास्तीत्यादीति चेत्सत्यम्; अचिन्त्यमहिमैव सा, न केवलं सैव, भवदनवबोधोऽप्यचिन्त्यमहिमैव, यत्तस्यैवंविधमहामहेन्द्रजालता। नावकल्पयसि प्रमाणम्, युक्तीश्च तत्र संचारयन्विचारकताभिमानं च न

तब सप्तम रसादि के समान ही अलीक हो जायँगे (द्र० खं० पृ० ६५६)। दूसरी जिज्ञासा यह भी होती है कि व्याप्ति-ग्रहण-काल में ही अशेष अग्नि का ग्रहण होने पर पर्वत-वृत्ति अग्नि का भी ग्रहण ही हो गया, तब तो धूम-दर्शन से उसकी स्मृति ही होगी, अनुमिति नहीं। द्वितीय पक्ष में (धूमत्ववह्नित्वजात्योः) व्याप्ति-ग्रहण ही सम्भव नहीं; अर्थात् जो धूमत्व है, वह वह्नित्व है या जहाँ धूमत्व है, वहाँ वह्नित्व है—दोनों प्रकार से सम्भव नहीं, क्योंकि धूमत्व और वह्नित्व—दोनों भिन्न-भिन्न हैं एवं भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहते हैं। तृतीय (तज्जातीययोः) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि व्यक्तियों के समान जाति-विशिष्ट व्यक्तियाँ भी अनन्त ही हैं, उनमें भी सम्बन्ध-ग्रहण उसी प्रकार सम्भव नहीं। चतुर्थ (धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोः) पक्ष में यद्यपि व्याप्ति-ग्रहण की अनुपपत्ति नहीं;

संबन्धग्रहणानुपपत्तिः, धूमवत्त्ववह्निमत्त्वलक्षणयोरुपाध्योः कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि गोत्वादिजातीनामिव ग्रहणोपपत्तेरिति चेत्, मैवम्; संभवेऽपि तत्संवेदनस्य, तत्समये एव पर्वतनितम्बसंबन्धिनो वह्निमत्त्वस्य गृहीतत्वात्पुनरनुमानाप्रवृत्तेः। वह्निमत्त्वमात्रमेव धूमवत्त्वव्यापकतया गृहीतम्, न तु पर्वतगतवह्निमत्त्वमिति चेत्, तत्किमिदानीं बहूनि वह्निमत्त्वानि ? हन्तैवं धूमवत्त्वान्यपि बहून्येवेति तदानन्त्यात् संबन्धग्रहणानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति घट्टकुट्यां प्रभातमनुसरति ! अथैकैव धूमवत्ता एकैव वह्निमत्ता न सा पर्वतसंबन्धिनी गृहीता, अतः सैवानुमानालम्बनमिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—संबन्धसंवेदनसमये यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्र वह्निमत्त्वमिति वीप्साविषयतया पर्वतादिप्रदेशोऽपि प्रतीतः ? न वा ? आद्ये पर्वतेऽपि वह्निमत्त्वमधिगतमिति कृतमनुमानेन। द्वितीये तु पर्वते धूम-

---

मुञ्चसीति । वक्ष्यते चायमुपरिष्टात्सविस्तरोऽर्थः । तदेतादृशदोषराशिकालुष्यकर्षणमपिना सूचयन्दोषान्तरमाह—**मैवम्; संभवेऽपीति** । ननु वह्निमत्त्वमात्रमत्रापि गृहीतमेव पर्वतगतवह्निमत्त्वं तु न गृहीतमित्यनुमानसार्थक्यमिति शङ्कते—**वह्निमत्त्वेति** । बहून्येवेति मन्यमानं प्रत्याह—**हन्तैवमिति** । शक्यते हि पर्वतगतधूमवत्त्वमन्यदेवेति वक्तुमिति भावः । अनेकत्वपक्षं परित्यज्यैकत्वपक्ष एव पूर्वोक्तदोषस्य परिहारं शङ्कते—**अथैकैवेति** । धूमवत्त्वव्यापकतया प्रतीतवह्निमत्त्वस्य पर्वतसंबन्धबोधनमनुमानार्थमिति भावः । तत्र धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहणसमयेऽपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरित्येव गृह्यते, वीप्सा चानुक्तोपसंहारार्था, तथा च तया संगृहीतार्थान्तर्भावेऽनन्तर्भावे च पर्वतस्यानुमानानुपपत्तिरिति दूषयति—**मैवम् ; विकल्पासहत्वादित्यादिना** । **व्याप्तेरगृहीतत्वादिति** । यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिग्रहणसमये यत्रेत्येतदर्थान्तर्गततया अगृहीतव्याप्तिकत्वादित्यर्थः । एतेनास्य वह्निविशेषस्य पूर्वं प्रतीतत्वेऽपि एतत्पर्वतनिष्ठतया पूर्वमप्रतीतिरिति वदन्वादीन्द्रोऽपि विद्रावितः । अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानादेतद्वह्निमत्त्वसिद्धिः, तत्किमयं पर्वत एतद्वह्निमानेतद्धूमवत्त्वादिति सिसाधयिषसि ? ओमिति चेद्, हन्तात्माश्रयता पर्वतस्यापि, पर्वताश्रितत्वप्रसक्तेरिति । एवमविनाभावप्रतियोग्यनिरूपणाल्लक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानीमविनाभावशब्दार्थं विकल्प्य दूषयति—**कश्चायमित्यादिना** । किमविनेति विनाशब्दाभिधेयसाधनाभावस्याभावं साधनसद्भावं विवक्षित्वा तत्र साध्यसद्भावो भावशब्देनाभिधीयत इति साधनसद्भावे एव साध्यसद्भावरूपान्वयव्याप्तिस्त्वयाऽविनाभावशब्दार्थो विवक्षितः ? किं वा विनाभावः साध्यव्यतिरेकेण साधनस्य भावस्तदभावोऽविनाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तिर्विवक्षिता ? साध्याभावे साधनाभावस्य तत्त्वात् । उतोभयमपि रीतिः ? इत्यर्थः । ननु केवलव्यतिरेकिण्यपि साध्यसाधनयोः सत्त्वात्सम्भवत्यन्वयव्याप्तिरिति, तत्र वक्तव्यम्–किं पक्ष

क्योंकि धूमवत्त्व और वह्निमत्त्व रूप उपाधियों का ग्रहण कतिपय व्यक्तियों का ग्रहण हो जानेमात्र से गोत्वादि जाति के समान ही हो जाता है । तथापि उसी (व्याप्ति-ग्रहण के) समय में ही पर्वत-सम्बन्धी वह्निमत्त्व भी गृहीत हो जाने से अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । यदि कहें कि व्याप्ति-ग्रहण-काल में धूमवत्त्व-व्यापक वह्निमत्त्व का ही ग्रहण हुआ है, पर्वतगत वह्निमत्त्व का नहीं । तो यह बताइए कि क्या वह्निमत्त्व भी अनन्त हैं ? तब तो धूमवत्त्व भी अनन्त ही मानने होंगे, फिर तो वही सम्बन्ध-ग्रहण की अनुपपत्ति. (रात भर भागते रहे, किन्तु सवेरे देखा—वहीं-के-वहीं)। यदि कहें कि एक ही है धूमवत्ता और एक ही वह्निमत्ता, किन्तु पर्वतसम्बन्धिनी वह्निमत्ता का ग्रहण नहीं हुआ, अनुमान का वही विषय है । तो यह बताइए कि व्याप्ति-ग्रहण-समय में 'यत्र यत्र धूमवत्त्वम्, तत्र तत्र वह्निमत्त्वम्'—यहाँ यत्र तत्र पदों से पर्वतादि देशों का ग्रहण होता है ? या नहीं ? यदि होता है, तब तो पर्वत में भी वह्निमत्त्व ज्ञात ही हो गया, अनुमान की आवश्यकता क्या ? यदि नहीं, तब तो पर्वत में धूमवत्त्व की प्रतीति होने पर भी वह्निमत्त्व की प्रतीति नहीं होगी ; क्योंकि

वत्त्वस्य प्रतीतावपि वह्निमत्त्वप्रतीतिर्न स्यात्, व्याप्तेरगृहीतत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन। कश्चायमविनाभावः? किं साधनसद्भावेन साध्यसद्भावः? किं वा साध्याभावेन साधनाभावः? उतोभयम्? नाद्य; केवलव्यतिरेकिणि तदभावात्, पक्षादन्यत्रापि भावे केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात्। नापि द्वितीयः; केवलान्वयिन्यभावात्। न तृतीयः; अन्वयव्यतिरेकिणि तद्भावेऽपीतरयोस्तदभावात्।

एतेन स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः कल्पोऽपि परास्तः; तत्रापि जातिव्यक्त्यादिविकल्पानां दूषणानां तुल्यत्वात्, स्वाभाविकशब्दार्थानिरुक्तेश्च। स्वाभाविकशब्देन किं संबन्धिस्वभावजन्यत्वं विवक्ष्यते? यद्वा तत्स्वभावाश्रितत्वम्? अथवा तत्स्वभावप्रयुक्तत्वम्? आहोस्वित्तद् व्याप्यत्वम्? किं वा तदनतिरिक्तत्वम्? नाद्यः; एकार्थसमवायेन

एवोभयोः सहभावनिश्चयः? अन्यत्र वा? नाद्यः; तत्र साध्यानिर्णयात्। द्वितीये प्राह—**पक्षादन्यत्रेति**। **केवलान्वयिनीति**। अविद्यमानविपक्षत्वादित्यर्थः। **इतरयोरिति**। केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोरित्यर्थः।

एवमविनाभावो व्याप्तिरिति प्रथमं पक्षं दूषयित्वा द्वितायेऽपि तदेवातिदिशति—**एतेनेति**। तस्यैव विवरणम्—**तत्रापीति**। स्वाभाविकोऽपि हि संबन्धः कयोः? इति विवेचनीयमिति भावः। उम्बेकस्तु—'संबन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिनः' इत्यत्र लिङ्गधर्मस्येति दर्शनाद्व्याप्यैकधर्मो व्यापकनिरूप्यो व्याप्तिर्न पुनरुभयनिष्ठेत्यब्रवीत्। अत्र किं निर्देशमात्रं प्रमाणम्? अन्यद्वा? नाद्यः; नहि घटेन पटस्य संबन्ध इति निर्देशात्पटैकनिष्ठ एवायं न घटनिष्ठ इति शक्याङ्गीकारम्। नाप्यन्यत्, प्रत्युत संबन्धत्वसिद्धिरेवोभयनिष्ठतां गमयेत्। भवतु वा यथातथा, तथाप्युक्तदोषान्न निर्मोक्षः। तत्रापि हि किं धूमव्यक्तिनिष्ठा? किं धूमत्वजातिनिष्ठा? किमग्निव्यक्तिनिरूप्या? इत्याद्युक्तविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वादिति। एवं साधारणं दूषणमुक्त्वाऽस्मिन्पक्षेऽसाधारणदूषणमाह—**स्वाभाविकेति**। स्वभावशब्दस्य असाधारणभावमात्रवाचकत्वात्प्रस्तुतसंबन्धद्वारोत्थापितसंबन्धिनोः स्वभावे विश्रान्तिस्तथाच तदुपरितनतद्धितप्रत्ययेन तज्जन्यत्वादिष्वन्यतमो वक्तव्यः, संबन्धमात्रविधानेऽपि विशेषपर्यवसितत्वादिति विकल्पयति—**स्वाभाविकशब्देनेत्यादिना**। नच जन्यत्वेन प्रयुक्तत्वस्य पौनरुक्त्यम्। अजन्यजनकयोरप्यनित्यत्वकृतकत्वयोः प्रयुक्तदर्शनादित्यवगन्तव्यम्। **तदनतिरिक्तत्वमिति**। स्वार्थ एव विहितोऽयं प्रत्यय इत्यर्थः। **नाद्य इति**। विप्रतिपन्नं रूपवद्रसवत्त्वादित्यत्र ह्येकार्थसमवाय एव व्याप्तिरूपः संबन्धः, नच तत्र लक्षणमस्ति,

---

पूर्णतया व्याप्ति का ग्रहण नहीं हुआ। यह अविनाभाव भी क्या है? साधन के होने से साध्य का होना? या साध्य के बिना साधन का न होना? अथवा दोनों? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि केवलव्यतिरेकी हेतु में "यत्र साधनम्, तत्र साध्यम्"—इस प्रकार की अन्वयव्याप्ति होती ही नहीं, यदि पक्ष से अन्यत्र कहीं हेतु का सद्भाव माना जाय, तब केवलव्यतिरेकिता भंग हो जाती है। द्वितीय पक्ष व्यतिरेकव्याप्ति का स्वरूप है, जो कि केवलान्वयी में नहीं होता। तृतीय पक्ष अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप है, जो कि अन्वयव्यतिरेकी में रहने पर भी केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी में नहीं।

(२) द्वितीय (स्वाभाविकः सम्बन्धः) लक्षण में भी जाति-व्यक्ति-आदि विकल्पों को लेकर वही दोष-राशि समान है, एवं स्वाभाविक शब्दार्थ का निर्वचन भी नहीं हो सकता है। 'स्वभाव' शब्द से क्या (१) सम्बन्धि स्वभाव-जन्यत्व विवक्षित है? या (२) सम्बन्धिस्वभावाश्रितत्व? या (३) सम्बन्धिस्वभाव-प्रयुक्तत्व? या (४) सम्बन्धिस्वभाव-व्याप्यत्व? या (५) सम्बन्धिस्वभाव से अनतिरिक्तत्व? (द्र० खं० पृ० ६९६)। प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि रूप से रस का अनुमान

रसाद्रूपानुमाने तत्संबन्धस्य समवायस्याजन्यत्वेनाव्याप्तेः, व्यभिचारिणोर्घटपटयोः संयोगेऽतिव्याप्तेश्च। तस्य तद्रूपत्वेऽपि व्याप्तिरूपत्वाभावात्। नापि द्वितीयः; घटपटयोः संयोगे संयोगिस्वभावाश्रिते व्यभिचारात्। नापि तृतीयः; प्रयुक्तत्वशब्देन जन्यत्वविवक्षायामाद्यपक्षोक्तदूषणप्रङ्गात्, तद्व्याप्तत्वविवक्षायां तु व्याप्तेर्व्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः। अत एव न चतुर्थः। किंच संबन्धस्य व्याप्यत्वे संबन्धिनोस्तद्व्यापकत्वेनाभिमतयोः क्वचित्तदधिकदेशकालावस्थानसंभवेन संबन्धं विनाप्यवस्थानोपपत्तौ व्यभिचारात्तदेकतरदर्शनेनान्यतरानुमानं न स्यात्। नापि पञ्चमः; भूतलघटाभावयोर्विशेषणविशेष्यभावलक्षणसंबन्धेऽतिव्याप्तेः। तस्य परैस्तदतिरिक्तत्वानङ्गीकारात्। समवायतद्वतोः संबन्धे च। रसाद्रूपानुमानादावेकार्थ-

---

तस्याजन्यत्वादित्यर्थः। घटपटसंयोगस्य लक्षगवत्तामलक्ष्यतां चाह—तस्येति। संबन्धिस्वभावाश्रितः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयपक्षेऽपि घटपटसंयोगेऽतिव्याप्तिमाह—नापि द्वितीय इति। नचाव्यभिचारिसंबन्धिस्वभावाश्रितत्वेन संबन्धो विशेषणीयः। अव्यभिचारस्यैव तथासति व्याप्तित्वसंभवेन तदितरवैयर्थ्यात्, अव्यभिचारस्य निरसिष्यमाणत्वाच्च। ननु तत्प्रयुक्तत्वं नाम न तज्जन्यत्वम्, येन पूर्वोक्ताव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषौ स्याताम्, किंतु संबन्धिस्वभावव्याप्तत्वम्, गुणवत्त्वप्रयुक्तत्वमिव द्रव्यत्वस्येति, तत्राह—तद्व्याप्तत्वेति। इममेवात्माश्रयं चतुर्थेऽप्यतिदिशति—अत एवेति। यदि च संबन्धिभ्यां व्याप्तः सबन्धः, तदा संबन्धिनोर्व्यापकयोरधिकवृत्तितापि संभाव्यत इति संबन्धं विनापि संबन्धिनोरवस्थानं स्यात्, तथा चान्यतरदर्शनादन्यतरानुमानं न स्यात्, तत्संबन्धं विनापि तयोः स्थितिसंभवादित्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यभिसन्धिराह—किंचेत्यादिना। नच समव्याप्तितया व्याप्यत्वविवक्षायामदोषः; रूपरसयोरेकार्थसमवायलक्षणव्याप्तौ तदभावात्, समवायस्य नित्यत्वेन द्रव्यादिपञ्चकवृत्तित्वेन च कालतो देशतो वा रूपरसाधिकवृत्तित्वात्। संबन्धिस्वरूपानतिरिक्तत्वमिति पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिमाह—भूतलेति। नच तस्य व्याप्तित्वम्, भूतलघटाभावयोर्व्यभिचरितत्वादिति भावः। तस्य च स्वभावानतिरिक्तत्वे पराङ्गीकारमाह—तस्य परैरिति। नचाभावान्तर्भावः, निष्प्रतियोगिकत्वात्, अभावत्वसमानाधिकरणत्वादभाव इति वादीन्द्रमतेऽपि तद्व्यञ्जकतया सप्रतियोगिकत्वं मन्तव्यम्, अभाव इति बुद्धेश्चात्रासिद्धत्वादिति भावः। अतिव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—समवायेति। तयोरपि स्वभाव एव संबन्धः। नच तयोर्व्याप्तिः; भूतलादौ घटसंयोगे तत्समवायाभावात्समवायेऽपि रूपादौ घटाभावादिति भावः। अव्याप्तिं चाह—रसादिति।

करने में एकार्थसमवाय ही व्याप्तिरूप सम्बन्ध है, उसमें सम्बन्धिस्वभाव-जन्यत्व न होने से अव्याप्ति और घट पट-जैसे व्यभिचारी पदार्थों के संयोगरूप सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि यह संयोग, 'सम्बन्धिस्वरूप से जन्य' होने पर भी व्याप्ति नहीं माना जाता। द्वितीय भी संयोगिस्वरूप घट पट के आश्रित संयोग सम्बन्ध में ही अतिव्याप्त होता है। तृतीय लक्षण में 'प्रयुक्तत्व' शब्द से 'जन्यत्व' विवक्षित होने पर उक्त दोष (संयोग में अतिव्याप्ति) होता है और 'व्याप्यत्व' विवक्षित होने पर व्याप्ति-निरूपण में व्याप्ति की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष है। इसी लिए चतुर्थ लक्षण भी उचित नहीं। दूसरी बात यह भी है कि सम्बन्ध को व्याप्य माना जाय, तब उसके व्यापक होंगे सम्बन्धी, व्यापक का स्वभाव है कि व्याप्य की अपेक्षा अधिक देश काल में रहना, अतः बिना सम्बन्ध के भी सम्बन्धियों की स्थिति सम्भावित होती है, फिर सम्बन्ध-रहित एक पदार्थ को देखकर दूसरे का अनुमान कैसे होगा? पञ्चम लक्षण भी भूतल और घटाभाव के विशेषणता-विशेष सम्बन्ध में अतिव्याप्त है; क्योंकि उसे तार्किकादि सम्बन्धि-स्वभाव से अतिरिक्त नहीं मानते। समवाय और समवायाश्रय के स्वरूप सम्बन्ध में भी अतिव्याप्ति है; क्योंकि वह सम्बन्धि स्वरूप से अतिरिक्त नहीं माना जाता एवं रस से रूप के अनुमान में अपेक्षित एकार्थसमवाय में अव्याप्ति भी है; क्योंकि वह सम्बन्धि

समवायेऽव्याप्तेः, तस्य संबन्धिस्वरूपातिरिक्तस्यापि व्याप्तित्वात् ।

अतोऽनौपाधिकः संबन्धो व्याप्तिरिति तृतीयः कल्पो न युक्तः; तत्रापि संबन्धिनोर्दुर्निरूपत्वात्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गाच्च । उपाधिर्हि साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकः, एवं च व्याप्तिसिद्धावुपाधिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तद्रहितसंबन्धस्य व्याप्तित्वसिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयत्वम् ? अथ मतं साध्यव्यापकत्वं नामोपाधेरदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वम्, नतु वस्तुतो व्यापकत्वम्, तस्मान्नेतरेतराश्रयत्वमिति मैवम्; व्यभिचरितसाध्यस्यापि वस्तुगत्यापाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वापत्तेस्तस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गात् । साध्यव्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वं विवक्षितमिति चेत्, न; तस्य दुरवधारणत्वात् । नहि देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरे वा तयोर्व्यभिचारदर्शनं न भविष्यतीत्येवेति शक्यं विज्ञातुमसर्वज्ञेन । किं च व्याप्तिग्रहणसमयेऽग्निमत्त्वादेर्निश्चितत्वेन साध्यत्वाभावात्साध्यव्यापक उपाधिरिति

तत्र लक्षणाभावं दर्शयति—**तस्येति** । एवं स्वाभाविकः संबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयः पक्षो निरस्तः ।

तृतीयं दूषयति–**अनौपाधिक इति** । **तत्रापीति** । अनौपाधिकः संबन्धो हि संबन्धिनिष्ठः, तथाच किं व्यक्त्योरित्यादिसंबन्धिविकल्पदूषणानि समानानीत्यर्थः । दूषणान्तरमाह—**इतरेतरेति** । अत्र ह्यनौपाधिकत्वज्ञानं व्याप्तेरुपाधिज्ञानाधीनमुपाधिज्ञानं च व्याप्तिज्ञानाधीनमितीतरेतराश्रयं विवृणोति—**उपाधिर्हीति** । **व्याप्तिसिद्धाविति** । अव्यापकत्वं व्यापकत्वं च व्याप्तिज्ञानाधीनज्ञानं, तत्प्रतियोगित्वादित्यर्थः । ननूपाधेः साध्यव्यापकत्व नाम नाग्निमत्त्वादीनामिव व्याप्तिप्रतियोगि किंचिद्रूपम्, किं नाम? साध्येनादृष्टव्यभिचारित्वम्, तथा च नान्यान्याश्रयतेति शङ्कते—**अथ मतमिति** । अदृष्टव्यभिचारं साध्यं येनोपाधिना स उपाधिस्तथा, अत्र किमदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वं व्यभिचारदर्शनविषयत्वाभावमात्रम्? किं वा व्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वम् ? नाद्यः, वस्तुतः साध्यव्यभिचारिण्यपि तददर्शनसंभवेनोपाध्याभासे गततयातिव्यापकत्वादित्याह—**मैवम्** । **व्यभिचरितेति** । द्वितीयं शङ्कते—**साध्येति** । एवंविधसाध्यव्यापकत्वं क्वापि न संभवति दुरवधारणत्वादित्याह—**न तस्येति** । किंच साध्यव्यापक इत्यत्र किमिदं साध्यत्वम् विवक्षितम्? किं सिसाधयिषितत्वम्? किं वा व्यापकत्वम्? नाद्यः; उपाधेरग्निमत्त्वं प्रति व्यापकत्वनिश्चयसमये महानसादावग्निमत्त्वादेः सिद्धत्वेन साध्यत्वाभावादित्याह—**किं चेति** । द्वितीयं शङ्कते—

स्वरूप से अतिरिक्त और व्याप्ति-लक्षण का लक्ष्य भी माना गया है ।

(३) तृतीय (अनौपाधिकः सन्बन्धो व्याप्ति) कल्प भी युक्त नहीं; क्योंकि यहाँ सम्बन्धी के विषय में जाति-व्यक्ति के विकल्प उठाये जा सकते हैं, अतः सम्बन्धि-निरूपण यहाँ भी सम्भव नहीं और अन्योन्याश्रय दोष भी है; क्योंकि उपाधि नाम है—'साधनाव्यकत्व-विशिष्ट साध्य-व्यापक' धर्म का; इस प्रकार व्याप्ति सिद्ध होने पर उपाधि की सिद्धि और उपाधि की सिद्धि होने पर उपाधि-रहित व्याप्ति की सिद्धि होगी। यदि कहा जाय कि 'साध्यव्यापकत्व' से केवल इतना ही विवक्षित है कि 'उपाधि के साथ साध्य का व्यभिचार नहीं देखा गया है', न कि उपाधि में साध्य-व्याप्ति-निरूपकत्व; अतः अन्योन्याश्रयता नहीं। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि इस प्रकार तो जिस धर्म के वस्तुतः व्यभिचारी साध्य में भी आपाततः व्यभिचारदर्शन सम्भावित है; वह धर्म भी उपाधि हो जायगा। यदि कहें कि जिस धर्म के साथ साध्य-व्यभिचार का दर्शन कभी भी कहीं भी सम्भावित नहीं, उस धर्म को उपाधि मानेंगे। तो ऐसा किसी भी धर्म के विषय में निश्चय नहीं किया जा सकता कि उसके साथ साध्य का व्यभिचार देशान्तर, कालान्तर या पुरुषान्तर में नहीं देखा जाता। दूसरी बात यह भी है कि व्याप्ति-ग्रहण-समय अग्निमत्त्वादि, निश्चित (सिद्ध) हो जाने से

निर्धारयितुमशक्यम्। व्यापकत्वमिह साध्यशब्देन विवक्षितमिति चेत्, न; व्याप्त्यनवगमे व्यापकत्वानिरुक्तेः।

एतेन साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वमित्याधुनिकानां वक्रनयोऽपि निराकृतः; साध्यसाधनयोरनिरुक्तेरेव। तद्रूपेण संभावितत्वमुभयत्रापि विवक्षितमिति चेत्. मैवम्; तद्रूपस्यानिरुक्तौ तद्रूपेण संभावितत्वस्यापि दुर्भणत्वात्।

व्यापकत्वमिति। धूमवत्त्वादि प्रति यदिदं व्यापकत्वमग्नित्वादेस्तदेव तस्य साध्यत्वं विवक्षितमित्यर्थः। तत्र लक्षणवाक्यस्येदृशोऽर्थः पर्यवस्यति। व्याप्याव्यापको व्यापकव्यापक उपाधिरिति। तथाच व्याप्तिज्ञाने उपाधिज्ञानम् उपाधिज्ञाने च व्याप्तिज्ञानमिति स एव दुरात्मा परस्पराश्रयः परावृत्त इत्यभिसन्धिराह—न व्याप्त्यनवगम इति।

यत्त्वत्र शिवादित्यमिश्रेण परिहारोऽभिहितः परस्पराश्रयस्य, तत्राप्युक्तं दूषणमतिदिशति—एतेनेति। साध्यवद्यत्स्थलं तन्निष्ठात्यन्ताभवस्तदप्रतियोगित्वं तत्र वर्तमानत्वं साध्यव्यापकत्वम्, तथा साधनवद्यत्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तत्रावर्तमानत्वं साधनाव्यापकत्वमिति योजना। अस्यापि साध्यसाधनगर्भत्वात् न तत्प्रयुक्तपूर्वोक्तदोषः शक्यपरिहार इत्याह—साध्यसाधनेति। एतेन 'साध्यकृत्स्नसहचारिणः साधनैकदेशवृत्तित्वमुपाधित्व'मिति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम्, साध्यसाधनशब्दार्थानिरुक्तेरेव। ननु यद्यपि व्याप्तिनिर्णयदशायां साध्यत्वं साधनत्वं च नास्ति, तथापि तद्रूपेण संभावितत्वं विवक्षितम्, तच्च तदानीमप्यस्त्येवेति शङ्कते—तद्रूपेणेति। विद्यमानस्य खलु संभावना प्रमितिर्वा, नच व्याप्तिग्रहणदशायां साध्यत्वमप्यस्तीति केनाकारेण संभावनापि स्यात्, नापि व्यापकतया, परस्पराश्रयत्वादित्यर्थः। अथ वा सर्वोपसंहारवद्व्याप्तिग्रहणसमय एव धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोः सर्वत्र सिद्धत्वेन साध्यसाधनभावस्य दुर्निरूपतया संभावनायाः सुतरामसिद्धेरित्यर्थः। किंच साध्यसाधनशब्दाभ्यामविशेषेण साध्यसाधनविवक्षा ? तद्विशेषविवक्षा वा ? नाद्यः; साधनस्यापि यत्किंचित्प्रति साध्यतया तद्व्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वव्याकोपात्, तथा साध्यस्यापि यत्किंचित्प्रति साधनतया तदव्यापकतया साध्यव्यापकत्वव्याकोपात्। नापि द्वितीयः; तथा सति धूमवत्त्वाव्यापकोऽग्निमत्त्वव्यापक उपाधिरित्युक्तं स्यात्, तथा च नानुगतलक्षणसिद्धि। नच विशेषलक्षणत्वाददोषः; सामान्यलक्षणासिद्धौ तदसिद्धेः। नचात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मत्वं सामान्यलणम्; व्यर्थविशेषणत्वात्। नच प्रमेयत्वादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वविशेषणम्; तस्याप्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, अन्ततः स्वस्मिन्नेवाभावात्, आत्माश्रयप्रसङ्गात्। नचोत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव तस्य दूषणता; संकोचे प्रमाणाभावात्, नियतानुपलब्धेरुभयत्र समानत्वात्। नच केवलान्वयिताभङ्गप्रसङ्गः; इष्टत्वात्, केवलान्वयिनि प्रमाणाभावात्। नहि प्रमेयत्वादीनां सकलवस्तुनिष्ठत्वे प्रत्यक्षप्रमाणमस्ति; अस्मदादेरसकलवेदितृत्वात्, सर्ववेत्तुश्च तद्विषयप्रमाणेऽस्मदादीनां प्रमाणाभावात्। नाप्यनुमानम्; अप्रसिद्धविशेषणतादिदोषप्रग्रासात्। सकलवस्तुनिष्ठत्वं प्रमेयत्वादिनिष्ठमित्यादेश्चाश्रयासिद्धत्वात्। सकलवस्तूनि प्रमे-

---

साध्य नहीं रहे, अतः उपाधि में साध्य-व्यापकत्व का निश्चय करना भी सम्भव नहीं। 'साध्य' शब्द से व्यापक की भी यहाँ विवक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि व्याप्ति का ज्ञान न होने पर व्यापकत्व का निर्वचन ही नहीं हो सकता।

इसी प्रकार "साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्, साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्"—यह नूतन वक्र न्याय भी निराकृत हो जाता है; क्योंकि यहाँ साध्य और साधन का निरूपण ही नहीं हो सकता। 'साध्यत्वेन सम्भावित को साध्य और साधनत्वेन सम्भावित को साधन मानेंगे'—यह भी कहना सम्भव नहीं; क्योंकि साध्यत्व और साधनत्व का निरूपण न हो सकने के कारण उस-उस रूप से संभावितत्व का भी निरूपण नहीं हो सकता।

भवतु नाम या काचन व्याप्तिः, तस्या व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्येत्यात्माश्रयः। सत्यामेव व्याप्तावनुमितिभावादसत्यामभावात्। किंच तद्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणम ?

न प्रत्यक्षमशक्यत्वान्नानुमाप्यनवस्थितेः।
नागमस्तद्दते भावान्नोपमाऽतत्प्रमेयतः ॥२५॥
नार्थापत्तिरनन्यत्वादनुमाफललोपनात्।
नाभावो दुर्निरूपत्वान्न तर्कस्तर्कबाधनात् ॥२६॥

न तावत्प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकम्, सर्वव्यक्तिनिष्ठस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा सर्वव्यक्तीनामग्रहे ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहे वाऽनुमानस्य वैयर्थ्यात्। नाप्यनुमानम्; अनवस्थानात्—

यत्वाधार इत्यादेश्चासिद्धिर्दृष्टान्ताभावग्रस्तत्वात्। किंच धूमानुमाने तत्साधनाव्यापकस्तत्साध्यव्यापकश्च कश्चिदुपाधिः प्रमितः ? न वा ? आद्येऽनुमानभङ्गः। द्वितीये प्रतियोग्यप्रमित्या निरुपाधिकसंबन्धरूपव्याप्त्यसिद्धिः। यावन्त एतत्साधनाव्यापकास्तावन्त एतत्साध्यं प्रत्यप्यव्यापका यावन्तश्चैतत्साध्यव्यापकास्तावन्त एतत्साधनं प्रत्यपि व्यापका इति साधिते भवत्युपाधेरुद्धार इतिचेत्, एतावतापि परिश्रमेण किं प्रतियोगिप्रमितिरापादिता ? नवा ? इत्यात्मनि परिभावयेत्यलमतिकलकलेन। विध्वंसिते च निश्चितोपाधौ शङ्कितोपाधिरिदानीं ध्वस्यत एवेति मन्तव्यम्। क्वचिदप्यनिश्चितस्य संशयायोगात्।

एवं व्याप्तिलक्षणं दूषयित्वात्माश्रयादितर्कबाधादपि व्याप्तेरनुमित्यङ्गत्वासिद्धिमाह—भवतु नामेति। व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरस्ति ? न वा ? यदि न, तदा तामन्तरेणाप्यनुमितिरुदियात्। अथास्ति तदा सैव व्याप्तिस्तत्र वर्तते तदाऽऽत्माश्रयः प्रसक्तौ चायम्, अथान्या तत्रान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थाश्चेति भावः। एष्टव्या च व्याप्तिरित्याह—सत्यामिति। नच व्याप्तौ प्रमाणमपि किंचन निरूपयितुं शक्यमित्याह—किंचेति। संभवत्प्रमाणानि श्लोकाभ्यां निरस्यति—न; प्रत्यक्षमित्यादिना। सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तेरसर्वज्ञेन ग्रहीतुमशक्यत्वान्न प्रत्यक्षतस्तदधिगमः। नाप्यनुमानम्, अन्योन्याश्रयात्। अथान्यैवानुमानगता व्याप्तिस्तर्हि तत्राप्यनुमानान्तरमेवं तद्व्याप्तावपीत्यनवस्था स्यात्। नाप्यागमः; आगमव्यापारव्यतिरेकेणापि पामरपशुशकुन्तादीनामनुमित्युदयात्। नाप्युपमानम्; तस्य सादृश्यविषयतया संज्ञासंज्ञिसंबन्धविषयतया चैतादृशानां तत्प्रमेयत्वाभावात्। नाप्यर्थापत्तिः, अनुमानानन्यत्वात्। अथ परमतेन पार्थक्यम्, तथैवानुमानफलस्याग्निमत्त्वस्यापि सिद्धिः; शक्नोति ह्यग्निव्यतिरेकेण धूमोऽनुपपद्यमानस्तं कल्पयितुमित्यनुमानफललोपः स्यात्। नाप्यभावः; यस्य कस्यचिद्वा सर्वेषां वा योग्यानुपलब्धेर्वा अनुपलब्धिमात्राद्वा दुर्निरूपत्वात्। नापि तर्कः; तस्य व्याप्तिमूलत्वेऽनवस्थालक्षणतर्कबाधनात्, अतन्मूलत्वे तर्काभासतया तर्कबाधनात्। भावपरो निर्देश इति श्लोकार्थः। संग्रहं विवृणोति—न तावदित्यादिना। अनवस्था-

---

अस्तु, व्याप्ति कोई भी रहे, उसकी अपनी अनुमिति के साथ व्याप्ति माननी होगी, अतः आत्माश्रय दोष होता है। इन दोनों में व्याप्ति नहीं मानेंगे—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि व्याप्ति के रहने से ही अनुमिति होती है और न रहने से नहीं होती। व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण भी कौन है ? प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। अनुमान मानने पर अनवस्था होगी। आगम भी नहीं; क्योंकि उसके बिना भी अनुमिति होती है। उपमान का तो अनुमिति विषय ही नहीं। अर्थापत्ति तो अनुमान से अभिन्न ही है। यदि अर्थापत्ति को भिन्न मानें, तब अनुमान मानना निष्फल हो जाता है। अभाव प्रमाण का निरूपण ही नहीं हो सकता। तर्क भी व्याप्ति-ग्राहक नहीं; क्योंकि उसमें तर्क ही बाधक है (द्र० खं० पृ० ६६७)। अर्थात् प्रत्यक्ष से निखिल व्यक्तियों का जब तक ग्रहण न हो, तब तक उनमें अन्वय-व्यतिरेक का प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। यदि प्रत्यक्ष से निखिल व्यक्तियों का ग्रहण मान लेते हैं, तब पर्वत-वृत्ति अग्नि का भी ग्रहण हो जाने से अनुमान व्यर्थ हो जाता है। अनुमान से भी व्याप्ति-

अन्तरेण व्याप्तिग्रहमनुमानानुदये तत्तद्व्याप्तिग्राहकानुमानपरम्पराया दुर्वारत्वात्। नाप्यागमः, वेदाप्तवचनाकर्णनविधुराणामपि व्याप्तिदृष्टिदृष्टेः। नाप्युपमानम्; तस्य सादृश्यमात्रविषयतया व्याप्तिज्ञप्तावजागरूकत्वात्। नाप्यर्थापत्तिः; तस्या अनुमानानतिरेकात्। अतिरेकेऽपि तयानुमानावसेयार्थाधिगतेरनुमानस्यानुदयप्रसङ्गात्। तथा हि—व्यापकव्यतिरेकेण व्याप्यस्यानुपपत्तिरिहार्थापत्तिरभिमता, तथा च तयैवानुपपत्त्या लिङ्गिनोऽधिगतौ कृतमनुमानेन। नाप्यभावः; एवं हि स प्रमाणयितव्यः—यदि वह्निधर्मिव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलम्भः स्यात्तदभावान्नायं तद्व्यतिरेकेणेति। तच्च न। तथा हि—किं सर्वेषां व्यभिचारानुपलम्भः? किं वा स्वस्यैवानुपलम्भः? उत योग्यानुपलम्भः? नाद्यः; सर्वानुपलम्भस्य निश्चेतुमशक्यतया संशयानिवृत्तेः। न द्वितीयः; व्यभिचारात्। नहि नगरगतेन स्वेनानुपलब्धमित्येतावतारण्यकोपलब्धगवयादेरपलापसंभवः। नापि तृतीयः। सार्वत्रिकयोग्यानुपलब्धेरसंभवात्। उक्तं च लीलावतीकारेण—

"सर्वादृष्टेश्च संदेहात्स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः।
योग्यादृष्टेरसत्त्वाच्च प्रतिबन्धो न सिध्यति ॥" इति (न्या० ली० पृ० २५२)

मेव विवृणोति—अन्तरेणेति। वेदाप्तवचनेति विभागो मीमांसकमतेन। अजागरूकत्वात्। अप्रबुद्धत्वादित्यर्थः। अभावस्यात्रासम्भवं दर्शयितुं तत्प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—एवं हीति। तथेति। वह्निरहिततयेत्यर्थः। तद्व्यतिरेकेणेति। वर्तत इति शेषः। स्वस्येति। प्रतिपत्तुरित्यर्थः। स्वानुपलम्भपक्षेऽप्यनुपलम्भमात्रात्? उत योग्यानुपलम्भादित्याह—उतेति। व्यभिचारादिति। स्वानुपलम्भमात्रस्यार्थाभावेन नियमाभावादित्यर्थः। व्यभिचारमेवाह—न हीति। योग्यानुपलब्धिपक्षं दूषयति—नापीति। उक्तं चेति।

ग्रहण सम्भव नहीं; क्योंकि व्याप्ति-ग्रह के बिना अनुमान का उदय ही नहीं हो सकता। अनुमानापेक्षित व्याप्ति का ग्रहण द्वितीय अनुमान से और द्वितीयानुमानापेक्षित व्याप्ति का ग्रहण तृतीय अनुमान से—इस प्रकार मानने पर अनवस्था हो जाती है। व्याप्ति-ग्रहण में आगम प्रमाण भी नहीं हो सकता; क्योंकि वैदिक और लौकिक शब्द सुने बिना भी व्याप्ति-दर्शन देखा जाता है। उपमान प्रमाण भी नहीं; क्योंकि वह तो सादृश्यमात्र को विषय करता है; व्याप्ति पर उससे कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। अर्थापत्ति भी नहीं; क्योंकि वह स्वयं अनुमान से अभिन्न है, भिन्न मानने पर उसीसे अनुमेयार्थ का निश्चय हो जायगा, अनुमान का मानना ही व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि व्यापक के बिना व्याप्य की अनुपपत्तिरूप ही यहाँ अर्थापत्ति माननी होगी, उसी से ही वह्निरूप लिङ्गी का निश्चय हो जाने पर अनुमान क्या करेगा? अनुपलब्धि प्रमाण भी नहीं; क्योंकि इस प्रकार ही अनुपलब्धि को प्रमाण बनाना होगा कि "वह्नि का धर्म धूम यदि वह्निरूप धर्मी के बिना होता, तब वह्नि से व्यभिचरित होकर भी कहीं उपलब्ध होता, किन्तु नहीं होता; अतः यह धूम वह्नि के बिना नहीं रहता।" यहाँ जिज्ञासा होती है कि धूम और अग्नि का व्यभिचारानुपलम्भ सर्व पुरुषों का अपेक्षित है? या केवल ज्ञाता का? या ज्ञाता का योग्यानुपलम्भ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि सर्व पुरुषों के व्यभिचारानुपलम्भ का निश्चय ही नहीं हो सकता, अतः संशय बना ही रहेगा। द्वितीय पक्ष मानने में व्यभिचार दोष है; क्योंकि किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का अनुपलम्भ होने पर भी उस वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता। जैसे नगरस्थ व्यक्ति गवय को नहीं देखता, एतावता वन में भी उसका अभाव नहीं होता, (इसी प्रकार किसी व्यक्ति को यदि धूम और अग्नि के व्यभिचार का अनुपलम्भ है, एतावता उनमें व्यभिचाराभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता)। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि सर्व देश कालगत अनुपलम्भ सम्भव नहीं। लीलावतीकार ने

नापि विपक्षबाधकतर्कात् । तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेनानवस्थानात्, अतन्मूलत्वे च मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वात् । अथ मतम्, यदि धूमोऽग्निं व्यभिचरेदकारणः सन्नित्यः स्यात्, न स्यादेव वा, न तु कदाचित्स्यात् । नच विनापि कारणं कार्यं शङ्कितुं शक्यम्; व्याघातात्—तदेव हि कार्यं यत्कारणाधीनस्वात्मलाभम्, अतः कार्यं च कारणरहितं चेति व्याघातः । तदेव चाशङ्कितव्यं यस्मिन्नाशङ्क्यमाने क्रियाव्याघातादयोपि नावतरन्तीति, मैवम्; अस्यापि तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेन तदसिद्धावसिद्धेः । तथाहि—यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकमिति व्याप्तौ सिद्धायां यदकारणं तन्नित्यं स्यादिति प्रसङ्गप्रसरात्, सैवाद्यापि न सिद्धा । सर्वकार्यकारणव्यक्तिग्रहणस्याशक्यत्वात्, कतिपयव्यक्तिग्रहणे चादृष्टवज्रस्य पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरिव

उपाधिविधूननेन प्रतिबन्धसिद्धिर्माश्वरानुमाने समर्थयता "कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणापि संबन्धः उपाधिविधूननेन" इत्युक्त्वा विपक्षबाधात्तत्र व्याप्तिसिद्धिमाशङ्क्य व्याप्त्यसिद्धावुक्तायां सहेतुकत्वकादाचित्कत्वयोर्व्यभिचारानुपलम्भाद्व्याप्तिसिद्धिमाशङ्कितां परिहरततिति शेषः । अन्तिमपक्षं निराकरोति—नापीति । यदि व्याप्तिमूलस्तर्कस्तदा तद्व्याप्तावपि तर्कान्तरमेषितव्यमित्यनवस्था । इतरथा प्रशिथिलमूलत्वमित्यर्थः । तत्र यथा तर्कानवस्था नावतरति तथा कुसुमाञ्जलावुदयनेन बाधकस्तर्कोऽभिहितस्तमुद्भावयति—अथ मतमिति । यद्यदकारणकं तत्सदेकरूपमसदेकरूपं वा । आकाशवत्तत्कुसुमवच्च । तदिह यदि धूमाग्निं व्यभिचरेदकारणतया नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरत्वप्रसक्तिरित्यर्थः । उक्तं हि—

'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षया । नियामकाद्धि भावनां कादाचित्कत्वसम्भवः' ॥ १ ॥ इति ॥

नन्वकारणकस्यापि सदातनत्वेन व्यभिचारशङ्कायां किमुत्तरमिति, तत्राह—न च विनेति । व्याहतिमेव दर्शयति—तदेव हीति । यो व्याघातादपि न बिभेति; तं प्रत्याह—तदेव चेति । यदि हि कारणं विना कार्योत्पादस्तदा परप्रत्ययोत्पादनार्थम् सामग्रीप्रयोगो व्याहतः । सेयमत्र क्रियाव्याहतिः । आदिशब्दान्मूकोऽहमिति वचनव्याहतिः स्वभावव्याहतिश्च संगृह्यते । उक्तं च तेनैव—

'शङ्का चेदनुमास्त्येव नो चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥' इति (न्या० कु० ३।७) ।

एवमपि पूर्वोक्तदोषो दुष्परिहर इत्याह—मैवमिति । ननु किमिति कार्यस्य कारणेन व्याप्तिरसिद्धेति, तत्राह—सर्वकार्येति । ननु कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि किमिति व्याप्त्यसिद्धिः, तत्राह—कतिपयेति ।

कहा है—'सर्व पुरुषों को व्यभिचारानुपलब्धि होती है—यह सन्देहास्पद है, केवल ज्ञाता की अनुपलब्धि में व्यभिचार होने से व्यभिचाराभाव की अनुमापकता नहीं । योग्यानुपलब्धि तो है नहीं, अतः व्याप्ति सिद्ध नहीं होती ।' विपक्ष-बाधक तर्क भी व्याप्ति-ग्राहक नहीं; क्योंकि यह तर्क यदि व्याप्तिमूलक है, तब तो अनवस्था, यदि नहीं, तब मूलशैथिल्य होने से तर्काभास है । यदि तर्क का स्वरूप यह रखा जाय कि "यदि धूम अग्नि का व्यभिचारी होगा, तब या तो कारण-रहित होने से नित्य होगा या नहीं ही होगा; न कि कदाचित् होगा (द्र० ता० टी० पृ० १६०, १६१)। बिना कारण के कार्य की आशङ्का कभी होती नहीं; क्योंकि व्याघात होगा—उसी को कार्य कहा जाता है, जो कारण के अधीन अपना स्वरूप-लाभ करता है; अतः कार्य भी हो और कारण-रहित भी—यह व्याहत है । वही आशङ्का करनी चाहिए कि जिससे क्रिया-व्याघात न हो (द्र० न्या० कु० ३।७) । तो यह तर्क भी उचित नहीं; क्योंकि यह तर्क भी व्याप्तिमूलक है, व्याप्ति की सिद्धि न होने पर सिद्ध कैसे होगा ? अर्थात् 'जो कार्य होता है, वह कारण-पूर्वक होता है'—इस व्याप्ति के सिद्ध होने पर ही 'जो अकारण होता है, वह नित्य होता है'—यह प्रसङ्ग दिया जा सकता है, किन्तु वह व्याप्ति ही अभी तक सिद्ध नहीं हुई है; क्योंकि सभी कार्य और कारण व्यक्तियों का ग्रहण सम्भव नहीं । कतिपय व्यक्तियों का ग्रहण होने पर वैसे ही व्याप्ति का निश्चय नहीं होता, जैसे कि जिस व्यक्ति ने वज्रमणि

व्याप्तेरनिश्चयात्। नन्वेवंभूतोपि व्यभिचारो यत्र न दृश्यते, कतिपयव्यक्तिषु सहभावः प्रदृश्यते, न चोपाधिर्निरूप्यते, तत्र व्याप्तिर्निश्चीयते, तत्रैवंसति, "अन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्र चानुमितिरिति। एवं च षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिव" इति वाचस्पतेरुपालम्भोऽप्यनवकाशः, व्याप्तेः सर्वत्रैकत्वात्तस्याश्च कतिपयव्यक्तिषु गृहीतत्वात्। गृहीतव्याप्तिकलिङ्गसामर्थ्यादेव संदिग्धसाध्यधर्मिणि व्यापकस्यापि प्रतीतिः सिद्धेति चेत्, मैवम्; व्यभिचारादर्शनस्योपाध्यनिरूपणस्य च दुर्निरूपत्वात्, सर्वादृष्टेश्च संदेहादिति न्यायस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। उपाधेश्च व्याप्तिनिरूपणमन्तरेण दुर्निरूपत्वस्य दर्शितत्वात्। किंच विनापि

तथाहि—विमतं लोहलेख्यं पार्थिवत्वादित्यत्र स्तम्भादिकतिपयव्यक्तौ व्यभिचारादर्शनेपि न व्याप्तिनिश्चयः। प्रशिथिलावयवारब्धत्वोपाधिहतत्वात्। ननु तत्र वज्रमणौ व्यभिचारदर्शनादेव व्याप्त्यनिश्चयः, न पुनः सर्वव्यक्त्यपरिज्ञानात्, नचेह तथा व्यभिचारदर्शनमिति, तत्राह—**अदृष्टवज्रस्येति**। येन हि हीरमणिर्न दृष्टस्तेन यो व्याप्त्यनध्यवसायः स सर्वव्यक्त्यदर्शननिमित्तः। अध्यवसाये च भ्रान्तिमात्रत्वादित्यर्थः। कतिपयव्यक्तिग्रहणेपि व्याप्तिग्रहणोपायं नवीनमतावलम्बनेन शङ्कते—**नन्वेवमिति**। तत्किं हिंसात्वानर्थसाधनत्वयोरपि व्याप्तिरस्तु, अस्ति चात्र रूपद्वयमिति, तत्राह—**न चोपाधिरिति**। स्यादेतत्कतिपयव्यक्तिषु व्याप्तिग्रहणेऽनुमेयस्थले व्याप्तेरग्रहादन्यत्र व्याप्तिरन्यत्रानुमानमिति स्यात्, तथा च गृहीतापि यथावृत्तिः व्याप्तिरनुमित्यसमर्थेति वाचस्पत्युक्तोपालम्भप्रसङ्ग इति, तत्राह—**तत्रैवं सतीति**। षण्डकः षण्डः तत्र षण्डकः पुत्रासमर्थः समर्थश्च न वृत्तस्तद्वदित्येतावत्ययं दृष्टान्तः तत्तु योगभाष्यकृदभिप्रायेण। ननु तथापि कथमन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्रानुमानमिति, तत्राह—**गृहीतेति**। स्यादेवं यदि व्यभिचारो न दृश्यत उपाधिश्च न दृश्यते इत्ययमर्थः सिद्ध्यति, स एव दुःसाध्य इति परिहरति—**मैवमिति**। उभयत्रापीति। व्यभिचारवदुपाधावपि सर्वादर्शनं यस्य कस्यचिद्वेत्यादेस्तुल्यत्वादित्यर्थः। उपाधावधिकमप्याह—**उपाधेरिति**। एवं व्याप्त्यसिद्ध्या तर्काप्रवृत्तिमुक्त्वा धूमस्याग्निव्यभिचारशङ्कायामकारणकत्वापत्त्या व्याघातोऽप्यापादयितुं न शक्यत अन्यस्मादप्युत्पत्तिसम्भवेन विरोधासिद्धेरित्याह—**किंचेति**। स्यादेतत् यद्यन्यस्मादपि धूमोत्पत्तिस्तर्हि परिदृश्यमानधूमानामेकावान्तरजातीयता न स्यात्। कार्यैकजात्यस्य कारणैकजातिनियमात्, अन्यथा तदैकजात्यस्याकास्मिकत्वप्रसङ्गात्। अत एव हि तृणारणिमणिभ्योऽप्युत्पद्यमानदहनेष्ववान्तरजातिभेदकल्पनमिति, तदेतदुद्भावयति—**अथ मन्यस इति**। नियम एवाथमसिद्धः

(हीरा) नहीं देखा उसे पार्थिवत्व और लोह-लेख्यत्व की व्याप्ति का निश्चय नहीं होता। यदि कहा जाय कि पार्थित्व और लोह-लेख्यत्व का तो स्तम्भ कुम्भादि कतिपय व्यक्तियों में व्यभिचार देखा जाता है, अतः वहाँ व्याप्ति का निश्चय नहीं। किन्तु जिन धर्मों का कतिपय व्यक्तियों में व्यभिचार नहीं देखा जाता, सहचार ही देखा जाता है और किसी प्रकार की उपाधि भी प्रतीत नहीं होती, उन धर्मों में व्याप्ति का निश्चय क्यों नहीं होगा ? ऐसा मानने से वाचस्पति ने जो उपालम्भ दिया है कि "व्याप्ति का ग्रहण हुआ—महानसीय धूम में और पर्वतीय धूम से, अनुमिति की कामना करनी वैसी ही है, जैसे कि किसी स्त्री का नपुंसक से विवाह करके उससे पुत्रोत्पत्ति की प्रार्थना"। वह उपालम्भ भी दूर हो जाता है; क्योंकि व्याप्ति सर्वत्र एक ही है, वह कतिपय वह्नि धूम व्यक्तियों में ही गृहीत हो जाती है, उसी व्याप्ति से विशिष्ट पर्वतीय धूमरूप लिंग के सामर्थ्य से पर्वतरूप पक्ष में व्यापक वह्नि की अनुमिति हो जाती है। तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि व्यभिचारादर्शन और उपाधि का निरूपण सम्भव नहीं। दोनों में न्यायलीलावतीकार-कथित "सर्वादृष्टेश्च सन्देहात्"—यह न्याय समान ही है। उपाधि का निरूपण भी व्याप्ति-निरूपण के बिना सम्भव नहीं—यह दिखाया जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि यदि 'वह्नि के बिना भी धूम किसी और हेतु से

धूमध्वजं धूमोऽन्यस्मादपि हेतोर्भविष्यतीति शङ्कायाः कः प्रतीकारः ? अथ मन्यसे विभिन्नसामग्रीजन्यत्वे धूमस्यैकजातीयताप्रतीतिर्न स्यादिति, मैवम् ; इन्द्रियलिङ्गादिजन्यविज्ञानस्येव तृणारणिमणिप्रभवस्याऽऽशुशुक्षणेरिव चैकजातीयतोपपत्तेः । तस्मान्न व्याप्तिलक्षणं नापि तद्ग्राहकं प्रमाणमस्तीति सिद्धम् ।

पक्षधर्मत्वमपि दुर्निरूपम् । तथा हि—कोऽयं पक्षो, यद्धर्मता पक्षधर्मता ? संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मीति चेत्, किं वादिप्रतिवादिनोः संदेहः ? किं वा मध्यस्थानम् ? नाद्यः ; निश्चितौ हि वादं कुरुत इति स्वीकारात् । नापि द्वितीयः ; तेषामपि दर्शनद्वयतत्त्ववेदिनां संदेहानुपपत्तेः, किंचान्तरेणापि संशयं धूमदर्शनमात्रादग्निमनुमिमानस्य संदेहविशेषितधर्मिणि हेतोरवृत्तेः पक्षधर्मत्वाभावादनुमानानुदयप्रसङ्गः । एतेन ज्ञापनीयधर्मविशिष्टो

इति परिहरति—**मैवमिति** । अस्ति तावत्सर्वज्ञानेषु ज्ञानैकजात्यम्, नचात्रानुगतमनतिप्रसङ्गि कारणं शक्यं निरूपयितुम् । इन्द्रियादीनां व्यावृत्तत्वात्, आत्ममनः सन्निकर्षस्य च सुखादिसाधारण्यात् । ततस्तत्र यथाकारणैकजात्याभावेपि कार्यैकजात्यम्, एवं तृणाद्युत्पन्नाग्नेरपि । यथा च तत्रावान्तरजातिभेदकल्पनाऽयुक्ता, तथाग्रे वक्ष्यते । तदिहाप्यनुगतकारणव्यतिरेकेण व्यावृत्तेभ्य एव कारणेभ्यः स्वभाववशात्सजातीयधूमाः समुत्पद्यन्तामिति भावः । ननु तर्ह्यग्निप्रयोज्येषु धूमेष्वितरेभ्यो व्यावृत्तः कश्चिद्विशेषो दृश्येतेति चेन्न ; तददर्शनस्य प्रतियोगिधूमादृश्यतयाप्युपपत्तेरिति शङ्काया निरङ्कुशत्वादिति, व्याप्तिखण्डनमुपसंहरति—**तस्मादिति** ।

इदानीं पक्षधर्मतालक्षणलिङ्गावयवं खण्डयति—**पक्षधर्मत्वमपीति** । अनवसरतां निराचष्टे—**यद्धर्मतेति** । संदिग्धसाध्यधर्मा पक्ष इत्युक्ते विशेषणीभूतसाध्यधर्मस्यापि पक्षता स्यान्नचैतद्युक्तम् ; साध्यस्य पक्षनिष्ठत्वाभावप्रसङ्गात्, आत्माश्रयात्, हेतोर्वैयधिकरण्यापाताच्च । अतस्तद्धर्मित्वमात्रस्य पक्षत्वदर्शनाय धर्मीति विशेषणम् । अत्र यदिदं संदिग्धत्वं साध्यस्य तत्कं प्रतीति विकल्प्य दूषयति—**किं वादीत्यादिना** । किंच संदेहः किमुपलक्षणम् ? विशेषणं वा ? आद्य कदाचित्संदिग्धे प्रत्यक्षेण निर्णीतेऽपि प्रवर्तमानानुमानस्य न सिद्धसाधनता स्यात्, तदापि पक्षत्वापातात् । द्वितीये त्वनुमित्यनन्तरमप्रवृत्तिः स्यात् । धर्मिनाशवद्विशेषणनाशेन पक्षस्य नष्टत्वात् । स्वार्थानुमानेऽव्याप्तिं चाह—**किंचेति** एतेनेत्येतद्विवृणोति—

हो जायगा''—यह शङ्का की जाय, तो इसका क्या प्रतीकार होगा ? यदि कहा जाय कि विभिन्न सामग्री से जन्य होने पर धूम में एकजातीयता नहीं रहेगी । तो यह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि इन्द्रिय और लिंगादि से जन्य ज्ञान में एवं तृण, अरणि और मणि से जन्य वह्नि में जैसे एकजातीयता रहती है, वैसे ही प्रकृत में भी एकजातीयता क्यों न होगी ? अतः न तो कोई व्याप्ति का लक्षण ही बनता है और न कोई व्याप्ति का ग्राहक प्रमाण ही सिद्ध होता है ।

पक्षधर्मता का भी निरूपण सम्भव नहीं । यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह पक्ष क्या है, जिसकी धर्मता को पक्षधर्मता कहा करते हैं ? (द्र० खं० पृ० ७२७) यदि कहें कि 'सन्दिग्ध है साध्यरूप धर्म जिसमें ऐसे धर्मी का नाम पक्ष है ।' तो यहाँ सन्देह किसका लिया जायगा ? वादी-प्रतिवादी का ? या मध्यस्थ पुरुषों का ? प्रथम पक्ष उचित नहीं ; क्योंकि वाचस्पति ने मान रखा है कि सन्देहरहित वादी-प्रतिवादी ही वाद करते हैं । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि मध्यस्थ, वे ही बनाये जाते हैं, जो वादी-प्रतिवादी दोनों के दर्शनों से सुपरिचित होते हैं, उन्हें भी सन्देह नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि संशय के बिना भी धूम-दर्शनमात्र से जो व्यक्ति अग्नि का अनुमान कर रहा है, उसे सन्देह-विशिष्ट धर्मी में हेतु की वृत्तिता का ज्ञान न होने से अनुमिति नहीं होनी चाहिए । इससे 'प्रज्ञापनीय धर्म-विशिष्ट धर्मी का नाम पक्ष है'—यह लक्षण भी निरस्त हो जाता है ;

धर्मी पक्ष इति प्रत्युक्तम्; स्वार्थानुमाने प्रज्ञापनाभावात्। प्रमित्सितधर्मविशिष्टः पक्ष इत्यपि न; अप्रमित्सतोऽप्यनिष्टविषयेऽनुमानोदयदर्शनात्। साध्यधर्मविशिष्टः पक्ष इत्यपि न; साध्यपदेन संदिग्धत्वप्रज्ञापनीयत्वप्रमित्सितत्वाद्यन्यतमविवक्षायामुक्तदोषानुषङ्गात्। अप्रमितत्वं साध्यत्वमिति चेत्, न; प्रमाणसंप्लववादिनो नैयायिकस्य प्रमितेऽप्यनुमानप्रवृत्तेः, अनुमितेऽप्यनुमानप्रवृत्तेश्च। न च तत्रापि तत्तत्कालविशिष्टतयानधिगतिः; कालानुमाने तदभावात्।

अस्तु वा यः कश्चित्पक्षस्तथापि तद्धर्मता दुरधिगमा। तथाहि—पक्षाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वं चेत्, तथा सति प्रमेयत्वहेतौ तन्न स्यात्, प्रमेयत्वस्य प्रमाविषयत्वलणस्य ज्ञान-

---

स्वार्थेति। प्रज्ञापनमित्यत्र णिचा यदिदं प्रयोजककर्तृत्वमभिधीयते न तत्स्वार्थानुमानेऽस्ति। तत्र परं प्रति बोधनाभावादित्यर्थः। तर्हि प्रमित्सितधर्मविशिष्ट इत्येवास्तु, तस्य स्वार्थानुमानेपि भावादिति, तत्राह—प्रमित्सितेति। तथाप्यव्याप्तिः। प्रमातुमनिच्छतोपि दुर्गन्धादीलिङ्गककुणपाद्यनुमानगतपक्षाव्याप्तेरित्यर्थः। सर्वज्ञीयं लक्षणमुद्भाव्य दूषयति—**साध्येति**। अत्रापि साध्यपदेन पूर्वोक्तार्थविवक्षायां पूर्वोक्तदूषणानुषङ्ग एवेत्यर्थः। अर्थान्तरं शङ्कते—**अप्रमितत्वमिति**। एतदव्यापकमित्याह—**प्रमाणेति**। यस्य ह्येकस्मिन्नपि प्रमेये बहूनि प्रमाणानि वर्तन्त इति मतम्, तस्य प्रमितेप्यनुमानमिष्टमेव। यथाहुः—

'आगमेनानुमानेन ध्यानात्प्रत्यक्षणेन च।
त्रिधात्मनि प्रमाणानां संप्लवः स्वार्थ इष्यते ॥' इति (खं० पृ० ६४२)

ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः। ननु तत्रापि तत्तत्कालविशिष्ट एवानुमीयत इत्यप्रमितमेव तदिति, तत्राह—**नचेति**। यदा हि कालो बहुभिरनुमानैरनुमीयते, नच तत्रैतदस्ति, काले कालवैशिष्ट्यस्यैवाभावादित्यव्याप्तिरित्याह—**कालेति**।

एवं पक्षं दूषयित्वा पक्षधर्मतां दूषयति—**अस्तु वेति**। प्रमेयत्वं नाम प्रमाविषयत्वम्, विषयविषयिभावश्च स्वभावानतिरिक्त इति प्रमातो विषयतश्च प्रमेयत्वं नातिरिक्तं तथा चाहष्टादि कस्यचित्प्रत्यक्षं प्रमेयत्वादित्यस्य हेतोरपक्षधर्मता स्यात्। आत्मव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य प्रमाश्रयत्वानुपपत्तेरर्थस्यापि स्वाश्रयत्वानुपपत्तेः। अतः पक्षाश्रितत्वं पक्षधर्मत्वमित्यव्यापकमित्याह—**प्रमेयत्वेति**। ननु प्रमेयत्वं नाम प्रमाव्य-

---

क्योंकि स्वार्थानुमान में शब्द-प्रयोग के द्वारा साध्य का प्रज्ञापन नहीं होता। 'प्रमित्सित धर्म-विशिष्ट, पक्ष कहलाता है'—यह लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि जिस व्यक्ति का किसी अनिष्ट विषय की प्रमित्सा (प्रमा ज्ञान की इच्छा) नहीं, उसे भी उस विषय की अनुमिति होती है। भासर्वज्ञ ने जो (न्या० सा० पृ० ६ पर) लक्षण किया है 'साध्यरूप धर्म से विशिष्ट को पक्ष कहते हैं"। वह भी युक्त नहीं; क्योंकि 'साध्य' पद से सन्दिग्धत्व, प्रज्ञापनीयत्व और प्रमित्सितत्व—इनमें से किसी एक की विवक्षा करने पर उक्त दोष आ जाते हैं। अप्रमितत्व की विवक्षा भी उचित नहीं; क्योंकि प्रमाण-सम्प्लव-वादी (एक ही प्रमेय में कई प्रमाणों की प्रवृत्ति मानने वाले–द्र० न्या० वा० पृ०४) नैयायिक मानते हैं कि प्रमित में भी अनुमान की प्रवृत्ति होती है, अनुमित में भी अनुमान की प्रवृत्ति होती है। 'तत्तत्काल-विशिष्ट साध्य अप्रमित ही है'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि कालविषयक अनुमान में अन्यकाल का वैशिष्ट्य सम्भव नहीं।

यदि मान भी लें कोई पक्ष, तब भी पक्षधर्मता का अधिगम सुगम नहीं। यदि कहें कि 'पक्षाश्रितत्व' का नाम पक्षधर्मता है, तब तो प्रमेयत्व हेतु में वह न होगी; क्योंकि प्रमेयत्व क्या है? प्रमा-विषयता, विषयता है—प्रमा और प्रमेय का स्वरूप सम्बन्धविशेष; अतः प्रमा और प्रमेय से भिन्न न होने के कारण प्रमेयत्व में किसी पक्ष की आश्रयता कैसे रहेगी? (द्र० खं० पृ० ७३३)

ज्ञेयानतिरिक्तत्वाभ्युपगमेन तदाश्रितत्वायोगात् । प्रमान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयत्वं ततस्तस्य ज्ञानज्ञेयाश्रितत्वमुपपन्नमिति चेत्, न; अन्योन्याभावस्यैकत्वे तस्य तदवृत्तौ प्रमेयत्वहेतुना कस्यचित्प्रत्यक्षत्वानुमानं न स्यात्, तस्यैवान्योन्याभाववत्त्वाभावात्। अनेकत्वे चान्योन्याभावानां सर्वान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ? उतान्यतमवत्त्वम् ? नाद्यः; सर्वग्रहणासंभवात्। न द्वितीयः; अन्यतमशब्देन निर्धारितैकविशेषोक्तौ तदितरप्रमेयशब्दप्रवृत्त्ययोगात्। एकं निमित्तमन्तरेण बहुष्वेकशब्दप्रवृत्तौ गोत्वादेरपलापप्रसङ्गात्। व्याप्तिबलेन प्रवृत्ताया व्यापकसामान्यविषयायाः प्रतीतेर्विशेषपर्यवसानाय व्याप्यस्य सामर्थ्यं पक्षधर्मतेति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। किं प्रथमं सामान्यमात्रालम्बना

तिरिक्तत्वम्, तेन नोक्तदोषः । नच प्रमायामव्याप्तिः, तस्या अपि यत्किंचित्प्रमाव्यतिरिक्तत्वादिति शङ्कते—**प्रमान्योन्येति** । तत्र किमेक एव प्रमान्योन्याभावः? किं वानेकः? आद्ये प्राह—**अन्योन्येति** । तदापि हि प्रमान्योन्याभावे प्रमेयत्वं न वर्तेत, स्वस्मिन्स्ववृत्त्यभावात्, अभिमता च स्ववृत्तिरायुष्मतः, इतरथाऽभावप्रत्यक्षतायां विप्रतिपन्नं मीमांसकं प्रति प्रत्यक्षता कथं भवता साधनीया ? सर्वगं वा कथं समर्थयते ? ततोऽव्याप्तिरिति भावः । अनेकत्वे दूषणमाह—**अनेकत्व इति** । **सर्वग्रहणेति** । तदा हि प्रमेयत्वादिति कोर्थः? सर्वप्रमान्योन्याभाववत्त्वादिति ; न चैतदसर्वज्ञेन शक्यग्रहणमित्यर्थः । किंच यदैकां प्रमां पक्षीकृत्य प्रमेयत्वेन नित्यानुमेयस्वप्रकाशवादिनं प्रति प्रत्यक्षत्वं साध्यते, तदा तस्यां न सर्वे प्रमान्योन्याभावाः सन्ति; स्वान्योन्याभावाभावादित्यव्याप्तिः। अन्यतमपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। तदा किमन्यतमशब्देन नियतः कश्चिदभिधीयते ? अनियतो वा ? नियतपक्षे तदितरान्योन्याभावानां प्रमेयशब्दार्थत्वाभावात्तद्वतां प्रमेयत्वं न स्यात् । नच स एव सर्वत्र प्रवर्ततामिति वाच्यम् । स्वस्मिन्स्वप्रतियोगिनि च वृत्त्यभावादित्यभिसंधिराह—**अन्यतमशब्देनेति**। अथानियमेन कदाचित्कश्चित्प्रवृत्तिनिमित्तम्, तत्राह—**एकमिति**। दूषणान्तरं चेदम् । न चान्यान्याभाववत्त्वमनुगतं जातिरिति युक्तिमत् । उपाधित्वेपि तत्र प्रमेयत्वावृत्तिप्रसङ्गः । स्ववृत्त्यभावात्, उपाध्यन्तरस्वीकारे चाननुगतिरित्यपि द्रष्टव्यम् । लक्षणान्तरं शङ्कते—**व्याप्तिबलेनेति** । द्विविधं हि हेतोः सामर्थ्यम्, एकं व्याप्तिबलेन बोधकत्वम् । यथा हि यद्धूमवत्तदग्निमदिति सामान्येनाग्निमत्त्वप्रतीतिजनकत्वम्, तत्कस्य हेतोः? विशेषाणां व्यभिचारित्वेनानन्त्येन च व्याप्तेरशक्यग्रहत्वात् । अपरं तु तामेव प्रतीतिं पर्वताग्निमत्त्वलक्षणविशेषे पर्यवसाययितुमनुगुणम्, निर्विशेषं न सामान्यमिति न्यायात्, तच्चेह पक्षधर्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः । दूषयति—**मैवमिति** । किं पक्षधर्मतया सामान्य-

---

यदि कहें कि प्रमाऽन्योन्याभाववत्त्व को प्रमेयत्व मानेंगे, अतः उससें प्रमा और प्रमेय की आश्रयता बन जायगी । तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि अन्योन्याभाव यदि एक ही है, तब अन्योन्याभाव में अन्योन्याभाव के न रहने से प्रमेयत्व हेतु के द्वारा किसी भी प्रमाऽन्योन्याभाव में प्रत्यक्षता का अनुमान न हो सकेगा ; क्योंकि अन्योन्याभावरूप प्रमेयत्व वहाँ है ही नहीं । अन्योन्याभाव यदि अनेक माने जायँ, तब सर्व अन्योन्याभावों की आश्रयता को 'प्रमेयत्व' शब्द से कहेंगे ? या किसी एक अन्योन्याभाव की आश्रयता को ? प्रथम पक्ष का तो किसी असर्वज्ञ के लिए ग्रहण सम्भव नहीं । द्वितीय पक्ष में भी जिस एक निर्धारित अन्योऽन्याभाव की आश्रयता को प्रमेयत्व माना जाता है, उससे अतिरिक्त अन्योन्याभाव के आश्रय में 'प्रमेय' शब्द कैसे प्रवृत्त होगा ? सर्वानुगत निमित्त के बिना ही बहुत पदार्थों में एक शब्द की प्रवृत्ति मान लेने पर गोत्वादि जातियों का अपलाप हो जायगा । "व्याप्ति-सामर्थ्य-जन्य जो सामान्यतः व्यापक विषयक प्रतीति है, उसें विशेषतः व्यापकविषयक बनानेवाले व्याप्यगत सामर्थ्य का नाम पक्षधर्मता है" (खं० पृ० ७३४)—यह लक्षण भी

प्रतीतिर्या सा सामर्थ्यात्पश्चाद्विशेषमवगाहत इति ब्रूषे ? किं वा विशेषविषयप्रतीतिरनन्तरं जायत इति ? नाद्यः ; प्रतीतेर्विरम्यव्यापारापत्तेः । न द्वितीयः ; प्रमाणान्तरप्रसङ्गात् । किंच पक्षधर्मता चेद्विशेषप्रत्यायिका, केवलव्यतिरेकी तर्हि निरवकाशः स्यात् ; शब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वादित्यादिसामान्यतोदृष्टानुमानेषु हेतोः पक्षधर्मताबलादेवाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वस्यापि सिद्धेः । बाधकान्तराधीनमेव तदितराष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनमित्युभयवादिसंप्रतिपन्नतया तदितराश्रितत्वनिरासेऽपि केवलव्यतिरेकिणो निरवकाशत्वात् ।

विषयिण्येव प्रतीतिः पश्चाद्विशेषविषयिण्यपि क्रियते ? उत विशेषविषयिण्येव प्रतीतिरुत्पाद्यते ? इति विकल्प्याद्ये दूषणमाह—प्रतीतेरिति । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावाज्जातस्य पुनर्जन्माभावाच्चेति भावः । यदि विशेषविषयं बुद्ध्यन्तरमुत्पाद्यते, तर्हि प्रमाणान्तरमेव । तद्व्यापकसामान्यप्रतीत्यनुपपत्तेः, प्रतीतिव्यापकसामान्यानुपपत्तेर्वार्थापत्तित्वादित्यनुमितित्वक्षतिरित्याह—न द्वितीय इति । पक्षधर्मताया विशेषप्रत्यायकत्वे बाधकान्तरमाह—किंचेति । यत्र हि सामान्यतोदृष्टेन सामान्यतः साध्यसिद्धौ केवलव्यतिरेकिणा विशेषसमर्पणम् । यथा तावच्छब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वादिति किंचिदाश्रितत्वे सिद्धे केवलव्यतिरेकिणाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं साध्यते, तन्न स्यात् । सामान्यतोदृष्टहेतोः पक्षधर्मताबलादेव विशेषस्यापि सिद्धेरित्यर्थः । ननु यद्यप्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्वमिति सामान्यतोऽनुमानेनैव सिद्ध्यति, तथापि नानर्थकत्वं केवलव्यतिरेकिणः, आकाशव्यतिरिक्ताष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनार्थत्वात्तस्येति, तत्राह—बाधकान्तरेति । न तत्रापि केवलव्यतिरेकिणः कश्चिदुपयोगः । श्रोत्रं विशेषगुणग्राहकमिन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवदिति विशेषगुणत्वे सिद्धे शब्दो न दिक्कालमनोगुणः प्रत्यक्षत्वाद्विशेषगुणत्वाच्च रूपादिवत्, नापि स्पर्शवद्विशेषगुणः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात् । अयावद्द्रव्यभावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च । नचात्मगुणः, बाह्येन्द्रियवेद्यत्वादित्यादिबाधकान्तरनिबन्धनत्वात्तस्येत्यर्थः । पक्षधर्मताखण्डनेन महाविद्याजीवनमपि खण्डितं वदितव्यम् । केवलान्वयिनि व्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकि साध्यविशेषं वाद्यभिमतं साधयन्हि महाविद्येत्युच्यते । तथा च व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानानिरुक्तौ तासामप्यनिरुक्तेः, दग्धसारं चेदं वादीन्द्रदावानलेन महाविद्याविपिनमिति नास्माभिस्तद्भस्मीभावाय संरभ्यते । तथा

पक्षधर्मत्वसामर्थ्यात्सर्वज्ञेश्वरसाधकम् । ईश्वरानुमितीनां च ज्वरभारातुरं वपुः ॥

युक्त नहीं ; क्योंकि क्या 'पहले जो सामान्य व्यापक विषयक प्रतीति होती है, वही पश्चात् उक्त सामर्थ्य से विशेष व्यापक को विषय करती है'—यह कहना चाहते हैं ? या विशेषविषयक प्रतीति दूसरी ही उत्पन्न होती है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं ; क्योंकि यह नियम है कि शब्द, बुद्धि और कर्म के ठहर-ठहर कर कई व्यापार नहीं माने जाते, अतः वही प्रतीति पहले सामान्य का पश्चात् विशेष का प्रकाश करे—यह सम्भव नहीं । (द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि वह द्वितीय ज्ञान तो प्रमाणान्तर हो जायगा) । दूसरी बात यह भी है कि यदि पक्षधर्मता ही विशेष विषय की समर्पिका मानी जाय, तब तो केवलव्यतिरेकी प्रयोग व्यर्थ हो जायगा ; क्योंकि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सामान्य साध्य की सिद्धि करके केवलव्यतिरेकी से विशेष विषय में पर्यवसान किया जाता है, किन्तु "शब्द किसी के आश्रित है, गुण होने से"—इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही शब्द में अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्यरूप विशेष वस्तु की आश्रयता पक्षधर्मता के बल से सिद्ध हो जाती है, केवलव्यतिरेकी की आवश्यकता नहीं रह जाती । (यदि कहा जाय कि केवलव्यतिरेकी फिर भी व्यर्थ नहीं होगा, किन्तु आकाशातिरिक्त अष्टद्रव्य-की आश्रयता के निषेध में उसका उपयोग होगा । तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि) आकाशातिरिक्त पृथिवी-आदि की आश्रयता का निषेध बाधकान्तर से ही वादी-प्रतिवादी मानते हैं, वहाँ भी उसका कोई उपयोग सिद्ध न होगा ।

तदेवं न व्याप्तिर्नापि पक्षधर्मता शक्यनिरूपणेति व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गं तत्परामर्शोनुमानमिति लक्षणं न सिद्ध्यतीति सिद्धम्। शाब्दव्युत्पत्तिशून्यस्य स्मृतिकरणिका प्रमितिरनुमितिस्तत्करणमनुमानमित्यपि न लक्षणम्; व्युत्पन्नस्यनुमितौ तत्करणे चाव्याप्तेः। तादृशप्रमितिवृत्तिप्रमात्वावान्तरजात्यधिकरणज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानमिति चेत्, न; प्रमात्वजातेः पुरस्तादेव निरस्तत्वात्। एतेन—

“अनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥” (वै० भा० पृ० १००)

“अनुमानं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्”। “ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धिः” इत्ये-

व्याप्तिपक्षधर्मताखण्डनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयितुमुपसंहरति—तदेवमिति। तर्करीत्यानुमानलक्षणान्तरं शङ्कते—शाब्देति। अनुमितिकरणमनुमानम्, का पुनरनुमितिरित्यतस्तल्लक्षणमाह—शाब्दव्युत्पत्तीति। प्रत्यक्षव्यवच्छेदाय स्मृतिकरणिकेत्युक्तम्। शाब्दप्रमितेरपि पदार्थस्मृतिकरणत्वमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय शाब्दव्युत्पत्तिशून्यस्येत्युक्तम्। उभयोरप्यव्याप्तिमाह—व्युत्पन्नस्येति। शाब्दव्युत्पत्तिमत इत्यर्थः। व्युत्पन्नगतयोरपि संग्रहार्थम् विशेषं शङ्कते—तादृशेति। पूर्वोक्तप्रमितिवर्तिनी प्रमात्वावान्तरजातिरनुमितित्वं तद्योगिज्ञानमनुमितिः, अस्ति चेदं व्युत्पन्नानुमितावपीत्यर्थः। अत्र च प्रत्यक्षभ्रमसंशयव्यवच्छेदाय प्रमात्वावान्तरजातिग्रहणम्, प्रत्यक्षागमादिव्यवच्छेदाय तादृशप्रमितीत्युक्तम्, प्रमात्वजातेरित्युपलक्षणमनुमितित्वस्यापीति। तर्ह्यनुमितित्वं तावन्न जातिः, अयमग्निमान्पर्वत इति ज्ञाने अयमंशे प्रत्यक्षत्वेन सङ्करप्रसङ्गात्। नाप्युपाधिः, उद्भावितोपाधीनां निरसनादिति वर्णितानुमानलक्षणखण्डनं प्रशस्तपाददिङ्नागशबरस्वामिसंमतलक्षणेष्वतिदिशति—एतेनेत्यादिना। अनुमेयेन पक्षे सर्वस्मिन्संबद्धं पक्षधर्मतावदित्यर्थः। तदन्विते अनुमेयधर्मवति पदार्थान्तरे सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धम्। सपक्षे सदिति यावत्। चकारस्तु पक्षधर्मत्वेनेदं रूपं समुच्चिनोति। तथा तदभावे साध्याभाववति नास्त्येव। सर्वथा व्यावृत्तं विपक्षाद्व्यावृत्तमित्यर्थः। अत्रापि चः पक्षधर्मतयैतत्समुच्चिनोति, न तु सपक्षे सत्त्वेन, केवलव्यतिरेक्यभावापातात्। एवं पूर्वोपि, केवलान्वयिलाभात्। एवंविधं यल्लिङ्गं तदनुमापकमिति काश्यपः कणादोऽब्रवीदित्युत्तरश्लोकस्थेनान्वयः।

“विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसंदिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥” (वै० भा० पृ० १००)

इति ह्युत्तरश्लोकः। तथा त्रिरूपात्पक्षधर्मतादिरूपत्रयवतः। समासस्तु बहुव्रीहिः। यदर्थदृगर्थदर्शनं तदनुमा-

इस प्रकार न तो व्याप्ति का ही निरूपण हो सका और न पक्षधर्मता का ही। व्याप्ति और पक्षधर्मता के आश्रय को लिंग कहते हैं और उस लिंग के परामर्श का नाम अनुमान है—यह लक्ष सिद्ध नहीं हो सका। शब्द-शक्तिग्रह-शून्य व्यक्ति की स्मृतिरूपकरण से जन्य प्रमा का नाम अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहते हैं—यह लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि यह लक्षण शब्द-शक्तिग्रह वाले पुरुष की अनुमिति और उसके करण में अव्याप्त है। यदि कहा जाय अव्युत्पन्न व्यक्ति की तादृश प्रमा में वृत्ति प्रमात्व-व्याप्य जाति के आश्रय को अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहेंगे। तो यह कहना भी संगत नहीं; क्योंकि प्रमात्व जाति का पहले ही निरास किया जा चुका है। इन्हीं दोषों के कारण जो लक्षण प्रशस्तपाद ने किया है—अनुमेय धर्म के साथ पक्ष में जो रहता हो, जो अनुमेयधर्म से अन्वित सपक्ष में प्रसिद्ध हो और जो अनुमेय धर्म-शून्य धर्मी (विपक्ष) में न रहता हो; वह लिंग अनुमापक होता है।” जो लक्षण दिङ्नाग ने किया है—“पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व—इन तीन रूपों से युक्त लिंग के द्वारा जो अर्थ-दर्शन है, उसे अनुमान कहते

वसादीनि वैशेषिकवैभाषिकजैमिनीयलक्षणान्यपि प्रत्युक्तानि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वव्याप्यव्यापकसंबन्धानां पुरैव निरस्तत्वात्। तदेवं नानुमानलक्षणमपि निर्वोढुं शक्यमिति सिद्धम् ।

एतेन परार्थानुमानमपि प्रत्युक्तम्; स्वार्थानुमानमुपजीव्य तत्प्रवृत्तेः। तथाहि–प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयवात्मकं तत्। तत्र तावत्पक्षवचनं प्रतिज्ञा इत्यलक्षणम् ।

पूर्वोदितेन न्यायेन पक्षस्यैवानिरूपणे ।
कथं तद्वचनं वाच्यं प्रतिज्ञेति विपश्चिता ॥२७॥

किं पक्षप्रतिपादकं वचनमात्रं प्रतिज्ञा ? प्रतिपिपादयिषया वा तद्वचनम् ? उत हेत्वाकाङ्क्षाजनकम् ? किं वा साध्यधर्मविशिष्टधर्मिप्रतिपादकम् ? तदेव हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वविशिष्टम् ? निगमनान्यत्वविशिष्टं वा ? नाद्यः; अयं पक्ष इत्यादेरपि वचनस्य प्रतिज्ञात्वप्रसङ्गात्, पक्ष-

---

र्नमिति वैभाषिकाणां सूत्रकृतो दिङ्नागस्य सूत्रम्। तथा ज्ञातसंबन्धस्य ज्ञाताविनाभावस्य पुंसः एकदेशदर्शनाद्धूमविशिष्टांशदर्शनादेकदेशान्तरे अग्निविशिष्टांशे बुद्धिरनुमानम्, एकस्यैव खलु पर्वतस्यैकदेशदर्शनेनैकदेशोऽनुमीयते । तथा चाहुर्वार्तिककृतः—

'स एव चोभयात्मायं गम्यो गमक एव च । असिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधकः'। इति । यद्यपि
'प्रमाता ज्ञातसंबन्ध एकदेश्यथवोच्यते । कर्मधारयपक्षे वा संबन्धिन्येकदेशता ॥
द्वयं वा ज्ञातसंबन्धमुपलब्धं परस्परम् । तस्यैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिनौ ॥'

इति वार्तिककारैर्बहुविधं भाष्यं योजितम् । तथापि विस्तरभयादेकैव रीतिरत्र प्रदर्शिता । एतेनेत्यतिदिष्टांशं विशदयति—पक्षेति । अत्र हि त्रैरूप्यमुखेनाद्ये लक्षणे प्रवृत्ते तृतीयमपि व्याप्तिपुरस्कारेण, ज्ञातसंबन्ध इत्यत्र व्याप्तेर्विवक्षितत्वात् । तच्च रूपं पक्षधर्मता व्याप्तिश्चेति द्वयं पुरस्तादेव खण्डितम् । पक्षधर्मत्वखण्डनन्यायेन सपक्षविपक्षयोस्तत्र सदसत्त्वयोश्च खण्डितप्रायत्वादिति भावः ।

यद्यप्यनुमानमात्रखण्डनेन परार्थानुमानमपि खण्डितमेव, तथाप्यधिकदूषणविवक्षया अखण्डितवदतिदिशति—एतेनेति । स्वार्थानुमानोपजीवनं दर्शयितुं परार्थानुमानं दर्शयति—तथा हीति । परोपदेशापेक्षमनुमानं तदित्यर्थः । तत्रोपजीवनदर्शनपूर्वकं दूषणमतिदिशन्प्रतिज्ञां खण्डयति श्लोकेन—पूर्वेति । तद्वचनं पक्षवचनम्, प्रतिज्ञेति विपश्चिता कथं वाच्यं न कथमपीत्यर्थः । इदानीमधिकदूषणं दर्शयितुं प्रतिज्ञालक्षणानि विकल्पयति—किं पक्षेत्यादिना । निगमनव्यवच्छेदाय द्वितीयतृतीययोर्विशेषणद्वयम् । अयं

हैं ।" और जो लक्षण शबर स्वामी ने किया है—"व्याप्तिरूप सम्बन्ध-दर्शी पुरुष को धूम-विशिष्ट पर्वतरूप एकदेश के दर्शन से वह्नि-विशिष्ट पर्वतरूप एक देशान्तर का जो ज्ञान होता है, उसे ही अनुमान कहते हैं ।"—इस प्रकार के वैशेषिक, वैभाषिक और मीमांसकों के लक्षण भी खण्डित हो जाते हैं; क्योंकि पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध का पहले ही निरास हो चुका है । इस प्रकार अनुमान का कोई भी लक्षण टिकता नहीं—यह सिद्ध हो गया ।

इसी प्रकार परार्थानुमान भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि स्वार्थानुमान का अवलम्बन लेकर वह प्रवृत्त होता है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन पाँच अवयवों का समुदाय ही परार्थानुमान कहलाता है । यहाँ "पक्षवचनम् प्रतिज्ञा"—यह प्रतिज्ञा का लक्षण युक्त नहीं; क्योंकि पूर्वोक्त रीति से जब पक्ष का ही निरूपण नहीं हो सकता, तब 'पक्ष-वचन'—यह प्रतिज्ञा का लक्षण कोई विद्वान कैसे कर सकता है ? प्रतिज्ञा का क्या लक्षण किया जा सकता है ? क्या (१) पक्ष-प्रतिपादक वचनमात्र ? या (२) प्रतिपादन की इच्छा से पक्ष-वचन ? या (३) हेत्वाकांक्षा का जनक पक्ष-वचन ? या (४) साध्यरूप धर्म-विशिष्ट धर्मी का प्रतिपादक वचन ? या (५) हेत्वाकांक्षा-जनक, साध्यरूप धर्म-विशिष्ट धर्मी-प्रतिपादक वचन ? या (६) निगमनान्य, साध्यरूप धर्म-विशिष्ट धर्मी-प्रतिपादक वचन ? प्रथम लक्षण "अयं पक्षः"—आदि वाक्यों एवं पक्ष के लक्षण वाक्य में

लक्षणवचनस्यापि तत्त्वप्रसक्तेश्च। अत एव न द्वितीयः; प्रतिपादनेच्छया पक्षवचनत्वस्य तत्रापि भावात्। न तृतीयः; कस्मादयं पक्ष इत्यादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात्। नापि चतुर्थः; निगमनस्यापि तद्भावप्रसङ्गात्। नापि पञ्चमः; कस्मादयं साध्यधर्मवानिति वचनस्यापि तथात्वापातात्। अप्रश्नरूपं तथाभूतवचनं विवक्षितमिति चेत्; न; आक्षेपवचनस्यापि प्रश्नं मन्वानं प्रति तद्रूपत्वात्, लक्षणवचनेऽपि व्यभिचाराच्च। नापि षष्ठः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्—उपनयानन्तरं प्रतिज्ञावचनं निगमनम्, सहेतुकं प्रतिज्ञावचनमिति वा लक्षणम्, तथा च प्रतिज्ञासिद्धौ निगमनसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदन्यत्वविशेषितप्रतिज्ञासिद्धिरिति कथं न परस्पराश्रयः? तस्मान्न प्रतिज्ञालक्षणनिरुक्तिः। नापि हेतोः। तथा हि—किं लिङ्गवचनं हेतुः? उत तृतीयापञ्चम्योरन्यतरविभक्त्यन्तम्? साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचनं वा? नाद्य; अस्ति लिङ्गमयं धूम इत्यादेरपि वचनस्य हेतुत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः; अन्यतरश-

---

पक्ष इत्यादेरपीति। इदमपि वचनं पक्षप्रतिपादकमित्यर्थः। पक्षस्य यल्लक्षणवचनं तस्मिन्नप्यतिव्याप्तिरित्याह—पक्षलक्षणेति। अत एवेत्यस्यैव विवरणम्—प्रतिपादनेति। कस्मादिति। तदपि हेत्वाकाङ्क्षाजनकमित्यर्थः। निगमनस्यापीति। तत्रापि तस्मादयमग्निमानिति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादनमस्तीत्यर्थः। ननु यद्यपि कस्मादयं साध्यवानिति वचनस्य हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वे सति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकत्वमस्ति, तथापि प्रश्नरूपमिदम्, अप्रश्नरूपमप्यपेक्षित लक्षणेऽतो नास्त्यतिव्याप्तिरिति शङ्कते—अप्रश्नरूपमिति। तथाप्याक्षेपवचनेतिऽतिव्याप्तिरित्याह—न; आक्षेपेति। ननु तस्य कथं हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वमिति, तत्राह—प्रश्नं मन्वानं प्रतीति। नचाभ्रान्तं प्रतीति विशेषणीयम्। भ्रान्तं प्रति प्रयुज्यमानप्रतिज्ञायामव्याप्तेः। लक्षणवचन इति। तत्रापि हेत्वाकाङ्क्षास्ति, लक्षणवचनमात्रादर्थासिद्धेरित्यर्थः। निगमनान्यत्वविशिष्टमिति पक्षं दूषयति—नापि षष्ठ इति। परस्पराश्रयमेवाह—उपनयानन्तरमिति। द्वितीयमप्यवयवं खण्डयति—नापि हेतोरिति। लिङ्गवचनं हेतुरिति लक्षणवचनस्य लिङ्गमस्तीत्यादिवचनेऽतिव्याप्तिमुक्त्वा द्वितीये दूषणमाह—अन्यतरशब्देनेति। साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचनमिति भासर्वज्ञाभिमततृतीयलक्षणे साधनशब्देन हेतुर्विवक्ष्यते तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थत्वं वा? लिङ्गत्वं वा? आद्ये दूषण-

---

अतिव्याप्त है। अत एव द्वितीय भी युक्त नहीं; क्योंकि प्रतिपादन की इच्छा से पक्ष-वाचकत्व उक्त वाक्यों में भी है। तृतीय लक्षण "कस्मादयं पक्षः?" आदि हेत्वाकांक्षा-जनक वाक्यों में अतिव्याप्त है। चतुर्थ लक्षण, निगमन में अतिव्याप्त है। पञ्चम लक्षण भी कस्मादयं साध्यधर्मवान्?—आदि वाक्यों में अतिव्याप्त है। यदि इस लक्षण का 'अ-प्रश्नरूपत्व' विशेषण लगायें, फिर भी आक्षेप (पक्ष-निराकरण परक) वाक्यों में अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि उसे प्रश्न वाक्य समझने वाले के लिए वह वाक्य हेत्वाकांक्षा का जनक भी है। पक्ष के लक्षण वाक्य में भी अतिव्याप्ति है। षष्ठ लक्षण में अन्योन्याश्रयता दोष है; क्योंकि निगमन का लक्षण किया जाता है—'उपनयोत्तर प्रतिज्ञा-वचन' या 'हेतु-घटित प्रतिज्ञा-वचन'। इस प्रकार प्रतिज्ञा सिद्ध होने पर निगमन की सिद्धि और उसकी सिद्धि होने पर निगमनान्यत्व-विशेषित प्रतिज्ञा की सिद्धि होगी। इसलिए प्रतिज्ञा के लक्षण का निर्वचन नहीं हो सकता। हेतु का लक्षण भी नहीं हो सकता; क्योंकि हेतु क्या है? (१) लिंग-वचन? या तृतीया और पञ्चमी—अन्यतर विभक्त्यन्त लिंग-वचन? या (३) साधनत्व-व्यापक लिंग-वचन? प्रथम लक्षण "अस्ति लिंगम्, अयं धूमः"—आदि वाक्यों में अतिव्याप्त है। द्वितीय लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि अन्यतर शब्द से तृतीया लेने पर पञ्चम्यन्त में और पञ्चमी लेने पर तृतीयान्त में लक्षण अव्याप्त होता है। तृतीय लक्षण में 'साधन' शब्द को हेतु-वाचक मानने पर आत्माश्रय, तृतीया-पञ्चमी—अन्यतर विभक्त्यन्त का वाचक मानने पर उक्ताव्याप्ति दोष और लिंग-वाचक मानने

ब्देनैकस्य द्वयोर्वाभिधाने तल्लक्षणस्याव्याप्तेः। न तृतीयः; साधनशब्देन हेतुविवक्षायामात्माश्रयात्, तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थाभिधाने पूर्वोक्तदोषापत्तेः, लिङ्गविवक्षायां त्वेतल्लिङ्गमस्ति वास्य लिङ्गमित्यादेरपि वचनस्य तथात्वापातात्। नाप्युदाहरणलक्षणम्; दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमुदाहरणमिति वक्तुमयुक्तत्वात्। तथाहि—किं लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः? किं वा निश्चितसाध्यसाधनवान्? नाद्यः; स्वर्गापूर्वदेवतादीनां लौकिकासंमतानामपि दृष्टान्तत्वात्। नापि द्वितीयः; निश्चितसाध्यसाधनाभाववतो वैधर्म्यदृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात्। साध्यसाधनशब्दाभ्यां तदभावयोरपि संग्रहाददोष इति चेत्, न; निश्चितत्वानिरुक्तेः। तथा हि—किं वादिनो निश्चयः? उत प्रतिवादिनः? किं वा सर्वेषाम्? नाद्यः; साध्यधर्मिणोपि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्, वादिनस्तत्र निश्चयसद्भावात्। न द्वितीयः; विकल्पासहत्वात्। किं निश्चयमात्रम्? किं वानुमितिकालविशेषितो निश्चयः? आद्ये, कालान्तरे निश्चितसाध्यसाधनवतोऽपि कालान्तरेऽन्यथाभूतस्य दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; कालस्य निश्चितसाध्यसाधनवतोऽपि दृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात्काले कालविशेषि-

---

माह—साधनेति। द्वितीये प्राह—तृतीयेति। तृतीये प्राह—लिङ्गेति। तृतीयमप्यवयवं खण्डयति—नाप्युदाहरणलक्षणमिति। तत्र सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणमिति भूषणप्रभृतयो बभाषिरे, तत्र दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमपि दुरुक्तीति दृष्टान्तलक्षणं विकल्प्य दूषयति—किं लौकिकेत्यादिना। निश्चतेति। निश्चिते साध्यसाधने यस्मिन्स दृष्टान्त इत्यर्थः। ननु साध्यसाधनशब्देन व्याप्यव्यापकावभिप्रेतौ, तथा च भाववदभावावपि व्याप्यव्यापकभूताविति वैधर्म्यदृष्टान्तोपि संगृहीत इति शङ्कते—साध्येति। शक्यमत्र विवक्षितुं भावविवक्षायां वैधर्म्योदाहरणाव्याप्तिः, अभावविवक्षायां साधर्म्योदाहरणाव्याप्तिरुभयविवक्षायामुभयाव्याप्तिरिति, तथाप्यतिस्फुटमिदमिति दूषणान्तरमाह—निश्चितत्वेति। वाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यसाधनत्वं न दृष्टान्तः, पक्षस्यापि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्। 'निश्चितौ हि वादं कुरुत' इति न्यायेन वादिनस्तत्रापि निश्चितसाध्यवत्त्वादित्याह—नाद्यः। साध्यधर्मिणोऽपीति। प्रतिवाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यवत्त्वमिति द्वितीयपक्षे किं यदाकदाचिन्निश्चितसाध्यवत्त्वम्? उत कालविशेषकथासमयादौ? इति विकल्प्य प्रथमं दूषयति—कालान्तर इति। तथासति कथाप्रवृत्तिसमये विप्रतिपन्नसाध्यस्यापि दृष्टान्तता स्यात्, यदाकदाचिदत्रापि निश्चयसंभवादित्यर्थः। द्वितीये तु कालस्य दृष्टान्तत्वं न स्यात्। नहि कालः कालविशेषे निश्चितसाध्यः, कालस्य कालान्तराभावादित्याह—न द्वितीय इति। सर्वनिश्चयपक्षमसंभवेन दूषयित्वा पक्षान्तरं

पर "एतत् लिंगमस्ति" या "अस्य लिंगम्"—आदि वाक्यों में भी अतिव्याप्ति होती है। उदाहरण का लक्षण भी सम्भव नहीं। दृष्टान्त का निर्वचन न हो सकने के कारण "दृष्टान्त-वचनमुदाहरणम्"—यह लक्षण नहीं किया जा सकता; क्योंकि दृष्टान्त का लक्षण क्या है? "लौकिक और परीक्षक. दोनों को जो सम्मत हो, वह दृष्टान्त है? अथवा 'निश्चित साध्य और साधन का आश्रय?' प्रथम लक्षण युक्त नहीं; क्योंकि लौकिक पुरुष से असम्मत स्वर्ग, अपूर्व, देवतादि भी दृष्टान्त बनाये जाते हैं। द्वितीय लक्षण निश्चित साध्य साधन के अभावाधिकरणरूप वैधर्म्य दृष्टान्त में अव्याप्त होता है। साध्य साधन शब्द से उनके अभाव का भी संग्रह कर लेने पर उक्त अव्याप्ति का निरास तो हो जाता है, किन्तु 'निश्चितत्व' का निर्वचन सम्भव नहीं होता, अर्थात् क्या वादी का निश्चय अपेक्षित है? या प्रतिवादी का? या सभी का? प्रथम पक्ष मानने पर पक्ष को भी दृष्टान्त मानना होगा; क्योंकि वादी को वहाँ साध्य का निश्चय है ही। द्वितीय पक्ष में क्या निश्चयमात्र अपेक्षित है? या अनुमितिकालीन निश्चय? प्रथम कल्प मानने पर उस पक्ष को भी दृष्टान्त मानना पड़ेगा, जहाँ प्रतिवादी को कालान्तर में साध्य का निश्चय था, किन्तु अनुमिति के समय सन्देह है। द्वितीय कल्प लेने पर काल को

तन्निश्चयस्याभावात्। नापि तृतीयः; सर्वनिर्णयस्यासर्वज्ञेन निश्चेतुमशक्यत्वात्। यो यदा निश्चितसाध्यसाधनवान्स तदा दृष्टान्त इत्ययुक्तम; यदा तदेति कालाभिधाने काले तदभावात्, यत्तच्छब्देन चानुगतरूपस्य तद्वतो वाभिधाने तयोरेव प्रत्येकमदृष्टान्तत्वापातात्। एवं दृष्टान्तानिरुक्तौ तत्प्रतिपादकं वचनमुदाहरणमित्ययुक्तम्। नाप्युपनयलक्षणम्। तथा हि—किं दृष्टान्तानन्तरं हेतुवचनमुपनयः? किंवा दृष्टान्ते प्रसिद्धाविनाभावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिख्यापकं वचनम्? व्याप्तस्य पक्षधर्मताप्रतिपादकं वा? नाद्यः; दृष्टान्तवचनानन्तरं धूमवत्त्वादित्यपि वचनस्योपनयत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः; दृष्टान्तवैधर्म्येण न तथा चायमधूमवानित्यादिवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गात्। उपमानशब्देन च साधर्म्यवैधर्म्ययोरुभयोर्विवक्षितत्वेऽन्यतरवचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्गः। दृष्टान्ताविनाभावलक्षणयोः पुरस्तान्निरस्तत्वाच्च। नापि तृतीयः; व्याप्तो धूमः पक्षेऽस्तीति वचनस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोश्च पुरैव निरासात्। नापि निगमनलक्षणम्। तत्किमुपनयानन्तरं प्रति-

---

शङ्कते—यो यदेति। यो यदेत्यादिलक्षणे यदातदेत्यंशं दूषयित्वा यः स इत्यंशं दूषयति—यत्तच्छब्देनेति। अत्र किं यत्तच्छब्देन प्रत्येकं व्यावृत्ताः साध्यसाधनवन्तोऽभिधीयन्ते? किंवा कौचिदनुगतौ धर्मौ तयोश्च दृष्टान्तत्वमिति विवक्ष्यते? उत रूपवतः कस्यचित्? आद्येऽनुगतलक्षणाभावः। द्वितीये रूपिणस्तृतीये रूपयोर्दृष्टान्तत्वं न स्यादित्यर्थः। दृष्टान्तखण्डनस्योदाहरणखण्डनशेषतामाह—एवमिति। चतुर्थमवयवं खण्डयति—नापीति। दृष्टान्तोपमानेनेति। तथा चायमिति महानसाद्युपमानेनेत्यर्थः। नापि द्वियीय इति। द्विविधो ह्युपनयः, साधर्म्यवैधर्म्यभेदात्, तथा चायं धूमवानिति साधर्म्योपनयः, न तथायमधूमवानिति वैधर्म्योपनयः। तत्र वैधर्म्योपनये दृष्टान्तोपमानं नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः। अथोपमानशब्देन वैधर्म्यमपि विवक्षितम्, तदैकैकाव्याप्तिरित्याह—उपमानशब्देनेति। दूषणान्तरमाह—दृष्टान्तेति। व्याप्तो धूम इति। व्याप्तस्य पक्षधर्मतां तदपि वचनं प्रतिपादयेदित्यर्थः। दूषणान्तरमाह—व्याप्तीति। पञ्चमावयवं खण्डयति—नापीत्यादिना। अग्निमान्पर्वत इत्येतावदिति। तस्मादित्येतदंशविधुर-

---

कभी दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकेगा; क्योंकि काल में कालान्तर विशेषण होता नहीं। तृतीय (सर्वैषाम्) कल्प में तो असर्वज्ञ के लिए सर्व-निर्णय का निश्चय करना सम्भव नहीं। "जो जिस समय निश्चित साध्य साधनवाला होता है, वह उस समय दृष्टान्त होता है"—यह लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि यदा-तदा शब्दों से काल का अभिधान मानने पर काल में अव्याप्ति होती है। एवं लक्षण-घटक यत्-तत् शब्दों से साध्य और साधन—उभय के आश्रय में कोई अनुगत धर्म का अभिधान मानने पर, अनुगत धर्मवाले में और अनुगत धर्मवाले का अभिधान मानने पर अनुगत धर्म में अव्याप्ति होगी। इस प्रकार दृष्टान्त का निर्वचन न होने से "तत्प्रतिपादक वचनमुदाहरणम्"—यह सिद्ध नहीं हो सकता। उपनय का लक्षण भी नहीं हो सकता—क्या (१) दृष्टान्त के अनन्तर हेतुवचन का नाम उपनय है? या (२) दृष्टान्त में जिसकी व्याप्ति का निश्चय हुआ है, ऐसे साधन की दृष्टान्त के उपमान से पक्ष में व्याप्ति का प्रतिपादक वचन? या (३) व्याप्य की पक्ष-धर्मता का प्रतिपादक वचन? प्रथम लक्षण दृष्टान्त-प्रयोग के अनन्तर केवल "धूमवत्त्वात्"—इस वचन में अतिव्याप्त है। द्वितीय लक्षण वैधर्म्य दृष्टान्त के अनन्तर भावी वैधर्म्य उपनय में अव्याप्त है। 'उपमान' शब्द से साधर्म्य और वैधर्म्य—उभय की विवक्षा होने पर प्रत्येक में लक्षण अव्याप्त होगा। दृष्टान्त और अविनाभाव का खण्डन पहले ही हो गया है, इसलिए भी यह दृष्टान्तादि-सापेक्ष उपनयलक्षण नहीं बन सकता। तृतीय लक्षण "व्याप्तो धूमः पक्षेऽस्ति"—आदि वाक्यों में अतिव्याप्त है। तथा व्याप्ति एवं पक्ष-धर्मता का निराकरण भी पहले हो गया है। निगमन का लक्षण भी नहीं हो

ज्ञावचनम् ? उत सहेतुकं प्रतिज्ञावचनम् ? नाद्यः; उपनयानन्तरमग्निमान्पर्वत इत्येतावद्वचनस्यापि निगमनत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः; व्युत्क्रमोदितस्यापि तथात्वापातात्, प्रतिज्ञाहेत्वोश्च पुरैव निरासात्। किंच—

अनुमानाङ्गयोः सिद्धेर्व्याप्तिपक्षगतत्वयोः।
उदाहृतेरुपनयात् पञ्चावयवता मुधा ॥२८॥

पञ्चावयववाक्यमपि न प्रयोजनवदवश्यमिति पश्यामः। साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकनिग्रहत्वात्। तथाहि—वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षसमयबन्धस्वीकारसमनन्तरं प्रतिवादिनः किमत्र प्रमाणमिति प्रमाणे एव जिज्ञासा। यावदङ्गविशिष्टं च प्रमाणं तावदेव वक्तव्यम, अङ्गं च द्वयमेव—व्याप्तिः, पक्षधर्मता चेति, तच्चोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामेवाभिहितमिति किमपरमवशिष्यते, यदर्थमुपाददीत ? ननु पक्षधर्मत्वं सपक्षसत्त्वं विपक्षाद्व्या-

---

तयेत्यर्थः। व्युत्क्रमेति। यदा हि उपनयानन्तरमग्निमानयं तस्मादिति व्युत्क्रमेणोच्यते, तत्रापि प्रसक्तिः। नच तदपि निगमनमेव, विपर्यस्तवचनतया अप्राप्तकालत्वप्रङ्गादित्यर्थः। दूषणान्तरमाह—प्रतिज्ञेति।

तदेवं दण्डकसूत्रस्थावयवानां लक्षणानि खण्डितानि, इदानीं यत्तेषां पञ्चत्वं तैराद्रियते "स एव परमो न्यायो यद्विप्रतिपन्नं प्रति पञ्चावयवं वाक्यम्" इति वदद्भिः। सोऽप्ययुक्तः, प्रमाणाभावात्तत्प्रयोजनस्य च द्वाभ्यामेव शक्यसंपादनत्वादित्याह—किं चेत्यादिना। व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरनुमानाङ्गयोरुदाहृतेरुदाहरणात्, उपनयाच्च सिद्धेः। पञ्चावयवता, त्रित्वस्यापीदमुपलक्षणम्। मुधा वृथेति श्लोकयोजना। एतदेव विवृणोति—पञ्चेति। न केवलमनुपयोगः, निग्रहस्थानं च स्यात्। हेतूदाहरणाभ्यामधिकमधिकमिति हि सूत्रम्। हेतूदाहरणग्रहणस्य चोपलक्षणत्वादुपयुक्तापुनरुक्तकृतकार्याभिधानमिति सूत्रार्थः संपद्यते, इतरथा निग्रहान्तरसंकरप्रसङ्गात्। तदिह द्वाभ्यां सिद्धस्यैवान्येभ्योऽपि साधनेऽधिकं प्रसज्यत इत्याह—अधिकनिग्रहत्वादिति। एतदेवाकाङ्क्षाक्रमेणोपयुक्ताङ्गजातं विवेचयन्विशदयति—तथाहीत्यादिना। समयबन्धो नाम अपशब्दो वर्जनीयः एतावन्ति च निग्रहस्थानानि उद्भावनीयानीत्यादिरूपः। एतेनेत्यप्यपास्तम् यदाह लीलावतीकारः—अत्यन्तं बुभुत्सितसाध्यप्रतिपादनोपयोगित्वादित्यादि, भङ्गीसहस्रेणापि साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकनिग्रहताया दुष्परिहरत्वादिति। यच्च न्यायवाचस्पतावुक्तम्—'अनित्यं शब्दं बुभुत्समानाय' इत्यादि, तदप्येतेनैव परिहृतम्। पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहबलेनैव प्रतिज्ञार्थस्य बुभुत्सितस्य लब्धत्वादिति। अधिकोपयोगं निगमनस्य दर्शयति पूर्ववादी—नन्वित्यादिना। पक्षे व्याप्यवर्तनं पक्षधर्मत्वम्, संप्रतिपन्नसाध्य-

---

सकता—उपनय के अनन्तर प्रतिज्ञा-वचन का नाम उपनय है ? या सहेतुक प्रतिज्ञा-वचन का ? प्रथम लक्षण उपनय के अनन्तर प्रयुक्त केवल "अग्निमान् पर्वतः" इस वाक्य में भी अतिव्याप्त है। द्वितीय लक्षण व्युत्क्रम (विपरीत क्रम से) प्रयुक्त "अग्निमानयं तस्मात्"—इस वाक्य में अतिव्याप्त है। इस लक्षण के घटक प्रतिज्ञा और हेतु का निरास पहले ही हो चुका है, इसलिए यह संगत नहीं।

दूसरा बहुत बड़ा दोष नैयायिक-सम्मत न्याय में यह है—जब कि अनुमान के अंगभूत व्याप्ति और पक्षधर्मता की सिद्धि उदाहरण तथा उपनय—दो वाक्यों से ही हो जाती है, तब पञ्चावयव मानना व्यर्थ है। अर्थात् पञ्चावयव का प्रयोग आवश्यक नहीं। साधन वाक्य से अधिक अनुपयुक्त वचन का प्रयोग करना अधिकनामक निग्रहस्थान माना जाता है। प्रकृत में वादी और प्रतिवादी के अपना-अपना पक्ष-परिग्रह एवं आवश्यक नियम-बन्धनों के कर लेने पर प्रतिवादी "किमत्र प्रमाणम्—इस प्रकार प्रमाणविषयक जिज्ञासा करता है। तब वादी को आवश्यक अङ्ग-विशिष्ट प्रमाण कहना चाहिए। अनुमान प्रमाण के दो ही अंग होते हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। वे दोनों उदाहरण और उपनय से ही सिद्ध हो जाते हैं, अन्य शेष ही क्या रह जाता है, जिसके लिए अन्य अवयवों का उपादान किया जाय ? यदि शङ्का की जाय कि पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितत्व और असत्प्रति-

वृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्चरूपाणि हेतोरवश्यं वक्तव्यानि, अन्यथाऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमानामनिरासे हेतोरसाधकत्वप्रसङ्गात्। तत्र यद्यपि व्याप्तिपक्षधमताप्रदर्शनेन रूपत्रयोपपादनादसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानि परिहृतानि, तथापि बाधितविषयत्वसत्प्रतिपक्षत्वयोरवशिष्टयोरनिरासे कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमयोर्हेत्वाभासयोः परिहाराय निगमनमपेक्षणीयमेव, स च तस्मादयमग्निमानेव न पुनरन्यस्मादन्यस्माद्वानग्निमानपीति निगमनेनावद्योत्यत इति चेत्, मैवम्; पूर्वमेव हि सिद्धत्वादसंभवित्वाच्च। तथाहि—साधनसद्भावे साध्यसद्भावनियमलक्षणान्वयव्याप्तेः साध्याभावे साधनाभावलक्षणव्यतिरेकव्याप्तेश्चोदाहरणेनैव प्रदर्शितत्वेन कालात्ययापदिष्टस्यानैका-

---

स्थलं सपक्षस्तत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा हेतोर्वृत्तिः सपक्षे सत्त्वम्। साध्यात्यन्ताभाववान्विपक्षः ततः सर्वस्माद्व्यावर्तनं विपक्षाद्व्यावृत्तिः, तथाऽबाधितविषयत्वं विषयशब्देन हेतोर्विषयः साध्यमभिधीयते, तस्मिन्मानान्तरेणाबाधिते प्रवर्तमानत्वम्, तथा सन्विद्यमानः प्रतिपक्षो यस्यासौ सत्प्रतिपक्षस्तद्रहितत्वमित्येतानि पञ्चरूपाणि हेतौ वक्तव्यानीत्यर्थः। किमियं राजाज्ञा ? नेत्याह—अन्यथेति-तथाहि—पक्षधर्मत्वाभावेऽनिश्चितपक्षवृत्तिरूपासिद्धिप्रसक्तिः, सपक्षे सत्त्वाभावे पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानत्वरूपविरुद्धत्वप्रसक्तिः, विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावे पक्षत्रयवृत्तित्वलक्षणसाधारणानैकान्तिकता स्यात्, एवमितरयोरप्यभावे प्रकरणसमतातीतकालत्वयोः प्रसक्तिरित्यर्थः। ननूदाहरणोपनयाभ्यां व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरुपपादनादपि भवत्येवासिद्ध्यादीनां निरासः, व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रतीतस्यैवासिद्ध्यादिमत्त्वाद्, व्याप्तिनिर्णयेन च विरुद्धत्वादीनां निरासादिति तत्राह—तत्र यद्यपीति। तत्रोभयविधोदाहरणेनोभयविधव्याप्तेर्दर्शनाद् द्वितीयतृतीयरूपयोः सिद्धिरुपनयेन च पक्षधर्मतासिद्धिरिति विभागः। अनैकान्तिकग्रहणमनध्यवसितस्याप्युपलक्षणम्। तस्याप्यव्यभिचारविरहरूपत्वात्, सपक्षवृत्तिविपक्षव्यावृत्तिनिर्णयेन च तस्याप्यभावादिति। ननु निगमनवचनादपि कथं तयोर्निरासः? तत्राह—स चेति। तस्मादग्निमानेवेति हि निगमनरूपम्, तत्र सिद्धे सत्यारम्भो निर्णयार्थं इति न्यायेन तस्मादेवाग्निमान्नान्यस्मादिति सिद्धसाधनताव्युदासस्तस्मादयमग्निमानेवेति न पुनरन्यस्मादनग्निमानपीति द्विविधापि सत्प्रतिपक्षो निरस्तः। द्विविधो हि सत्प्रतिपक्षः, स्वात्मना परात्मना चेति। आद्यो यथाऽनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्। एवं नित्यः शब्द इत्यत्रापि। द्वितीयस्तु नित्यं मनो निरवयवद्रव्यत्वादाकाशवत्, अनित्यं मनो मूर्तत्वाद्घटवदिति। इदमेव विरुद्धव्यभिचारीत्यभिधीयते। तथाग्निमानेवेत्यनग्निमत्त्वनिषेधाद्बाधोपि विध्वस्त इत्यवश्यमपेक्षणीयं निगमनमित्यर्थः। एवं समर्थितं निगमनोपयोगं दूषयति—मैवमिति। अन्यतः सिद्धिं विवृणोति—तथाहीत्यादिना। ननु यदि कालात्ययापदिष्टस्या-

---

पक्षितत्व—इन पाँच रूपों का हेतु में होना अनिवार्य है, अन्यथा (उक्त रूपों के अभाव से क्रमशः) असिद्धि, विरोध, अनैकान्तिकत्व, सन्दिग्धत्व, बाधितत्व—इन हेतु-दोषों का निराकरण न होने के कारण हेतु में असाधकत्व की आपत्ति होती है। अतः व्याप्ति और पक्षधमता के दिखा देने से पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व—इन तीन रूपों का उपपादन हो जाने से असिद्ध, विरोध और अनैकान्तिकत्व का परिहार तो हो जाता है; किन्तु शेष बाधितत्व और सत्प्रतिपक्षितत्व का निराकरण न होने के कारण बाध और सत्प्रतिपक्षरूप हेत्वाभासों की प्राप्ति होती है, अतः उनका परिहार करने के लिए निगमन की परम आवश्यकता है। उन दोनों का परिहार "तस्मादेव, अग्निमानेव", इस प्रकार के निगमनगत नियमों से सूचित होता है। तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि निगमन के बिना ही उक्त दोषों का निराकरण हो जाता है और अबाधितत्व का निरूपण भी सम्भव नहीं। अर्थात् साधन के सद्भाव में साध्य-सद्भाव का नियम (अन्वयव्याप्ति) और साध्याभाव के होनेपर साधनाभाव का नियम (व्यतिरेकव्याप्ति) उदाहरण वाक्य से प्रदर्शित हो जाने के कारण अनैकान्तिकान्तर्गत बाध का परिहार हो ही

Digitization by American Academy of Hindic Studies. AAIS(USA)

न्तिकेऽन्तर्भूतस्य कृत एव परिहारः। वाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुर्हि कालात्ययापदिष्टः, बाधश्च पक्षनिष्ठसाध्याभावनिश्चय एवेति निश्चितसाध्याभाववद्वृत्तिः कथमनैकान्तिको न स्यात्? ननु साध्याभावनिश्चयो बाधः, स च पृथग्दूषणम् अनैकान्तात्। निश्चिते साध्याभावे तद्वति वर्तमानोऽनैकान्तिकः, ततश्च पुरःस्फूर्तिकबाधेनैवोपहतो हेतुः, कथमनैकान्तिकेन पुनरुपहन्येत? नहि मृतो मार्यत इति चेत्; हन्तैवं बाधवदेव विपक्षग्राहकप्रमाणमपि पृथक् दूषणं स्यात्! प्रमिते विपक्षे तदुपजीविनस्तद्वृत्तेरनैकान्तिकत्वाङ्गीकारात्। व्याप्तिपक्षधर्मताप्रहारेणैव च

नैकान्तिकेऽन्तर्भावः स्यात्तदा तन्निरसने निरासः, स एव तु कथमिति? तत्राह—बाधित इति। सद्धेतुनिरासाय बाधितग्रहणम्। ततः किमति, तत्राह—बाधश्चेति। पक्षत्रयवृत्तिर्ह्यनैकान्तिकः, यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति। तदिहाग्निरनुष्णः पदार्थत्वादित्यत्र प्रत्यक्षसिद्धोष्णिमतया विपक्षतामापन्नेऽग्नौ पक्षे सपक्षे च घटादिषु वर्तमानः कथमनैकान्तिकान्तर्भूतः स्यात्? कथंतरां तन्निवर्तकोदाहरणेन न निवृत्तिः? कथंतमां च न तन्निवर्तकतया निगमनस्य सार्थक्यम्? इति भावः। बाधस्यानैकान्तिकाद्बहिर्भावमाह पूर्ववादी—नन्विति। बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः, तथाच बाधमुपजीव्य तद्विपक्षत्वनिर्णयानन्तरमनैकान्तिकत्वप्रतीतिः। तथाचोपजीव्यमेव निग्रहस्थानम्, प्रथमोद्भाव्यत्वात्। न चरमोद्भाव्यम्। इतरथा निग्रहस्थानानां संकरापत्तेरित्यर्थः। तदेतदतिप्रसङ्गेन दूषयति—हन्तैवमिति। तत्साध्याभावज्ञापनं नाम विपक्षत्वज्ञापनमेव, तथाच बाधोपि दूषणमिति, किमुक्तं भवति? विपक्षग्राहकं प्रमाणमपि भवति दूषणमिति, तथाच प्रसिद्धानैकान्तिकस्थले विपक्षग्राहकं प्रमाणमेव किमिति निग्रहस्थानं न स्यात्! अस्ति हि तस्यापि केनोपजीव्यत्वमिति भावः। ननु यद्यपि बाधे विपक्षत्वज्ञानमप्यस्ति, तथापि न तेनाकारेण दूषणत्वम्, येनातिप्रसक्तिः स्यात्, किंत्वनुमित्सितस्थले तदभावबोधकतया, तदेव ह्यनुमानप्रयोजनं यदनुमित्सार्थसिद्धिस्तथा च तामेवापहरतो नाङ्गवैकल्यान्तर्भावेण दूषणत्वमपि तु शिरश्छेदनमिव स्वातन्त्र्येणेति, तत्राह—व्याप्तिपक्षधर्मतेति। अयं भावः—न तावद्बाधसहस्रेणापि स्वभावव्याप्तिकाविनाभाववति हेतौ जीवति साध्यमपहर्तुं शक्यम्। स्वभावव्याप्त्यपहारे पदार्थत्वादिति हेतोरेवापहारप्रसङ्गात्। तस्मादनेन बाधेनापि निरुपाधिकसंबन्धाभाव एव बोधनीयः। एतमर्थमभिप्रेत्याहुः—'बाधेन चोपाधिरुन्नीयते तथा चेति न कश्चिदन्यद्विशेषः' इति। तथाच व्याप्त्यपहारेण दूषणत्वान्नानैकान्तिकाद्भेदः। न चासिद्धावन्तर्भावः। व्याप्त्यपहारिलिङ्गत्वाभावात्तस्य, व्याप्त्यपहाररूपा ह्यसौ येयमासिद्धिः। उक्तं च लीलावतीकारेण—'सर्वोपसंहारप्रवृत्तबाह्याभ्यन्तरनियमस्यानुमानसहायत्वात्तद्देशप्रवृत्तेर्विपरीतपरिच्छेदस्य बाधस्य व्यभिचारत्वात्स च व्यभिचारो बहिरन्तश्चेति सव्यभिचारदेहान्तर्भूतत्वादिति। अथवा—'प्रतिज्ञादोषमेवाहुः केचित् प्रत्यक्षबाधनम्' इति वार्तिककारमतेन प्रतिज्ञादोषतैवास्यास्तु, नानैकान्तिकतेत्याशङ्क्य तथाप्यपक्षधर्मतयास्यासिद्धावेवान्तर्भावः, न पृथग्दूषणतेत्याह—व्याप्तीति। एवमनङ्गीकारे चातिप्रसक्तिमाह—अन्यथेति।

जाता है। बाधित पक्ष में रहनेवाला हेतु ही तो कालात्ययापदिष्ट (बाधित) कहलाता है, पक्ष-निष्ठ साध्याभाव का निश्चय हीं बाध माना जाता है। इसलिए निश्चितसाध्याभाव के अधिकरण में वृत्ति हेतु अनैकान्तिक ही तो हुआ। यदि कहा जाय कि साध्याभाव-निश्चयरूप बाध, अनैकान्तिक से भिन्न ही दोष है। यह जो कहा गया कि बाधित पक्ष में वृत्ति हेतु अनैकान्तिक कहा जाता है—वहाँ बाध दोष तो प्राथमिक है, उसकी पहले ही प्रवृत्ति हो जायगी, उसीसे जब हेतु, उपहत हो गया, तब वहाँ अनैकान्तिक क्या करेगा? मरे को मारने से क्या लाभ? तो इस प्रकार बाध के ही समान विपक्ष-ग्राहक प्रमाण को भी पृथक् दोष मानना पड़ेगा; क्योंकि अनैकान्तिक तो प्रमाणित विपक्ष में ही माना जाता है, अतः अनैकान्तिक से पूर्वभावी विपक्ष-ग्राहक प्रमाण भी होता है। व्याप्ति और पक्षधर्मता के नाश के द्वारा ही बाधादि में भी दूषणता होती है, नहीं तो सिद्ध-साधनता को भी

सर्वदूषणजातस्य दूषणता, अन्यथा सिद्धसाधनताया अपि पृथग्दूषणत्वप्रसङ्गात्। सा हि सिद्धस्य साध्यत्वाभावेन पक्षत्वप्रच्युत्या दूषणमुपेयते, तथा बाधोऽपीति। अबाधितविषयत्वस्य दुर्निरूपत्वाच्च। पक्षे विषयापहारलक्षणबाधस्य प्रमितौ तदभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अप्रमितौ चाप्रमितप्रतियोगितया तदभावस्यासिद्धेः। तदुक्तमभियुक्तैः—

'बाधश्च पक्षे विषयापहारो यद्यस्ति नाबाधितताऽत्र सिद्धा।
नोचेदसिद्धप्रतियोगिकत्वादेतस्य सिद्धिर्न कथंचन स्यात्॥' इति।

सत्प्रतिपक्षप्रकरणसमावप्यसंभविनावेव, निरुपाधेस्त्वनुमानद्वयस्यैकत्रासंभवित्वात्, संभवे वा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तेः। प्रकरणसमेऽपि वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तिरेव, पक्षविपक्षयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणसद्भावात्। अन्यतरग्राहकप्रमाणाभावे च तत एव व्याप्तिभङ्गात्। किंच नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वा, पक्षयोरन्यतरत्वात्सपक्षवदित्येवंरूपोऽसाविष्यते, तत्र चार्थभेदान्न पक्षप्रतिपक्षयोरेकरूपो हेतुः। नित्यत्वप्रतिज्ञायां नित्यस्यानित्यत्वप्रतिज्ञायामनित्यस्य सपक्षशब्दे-

---

तस्यापि पक्षत्वप्रच्यावकत्वसाम्यादित्याह—**सा हीति**। अतस्तस्य यथातथाविधस्याप्याश्रयासिद्धिलक्षणासिद्धावेवान्तर्भावः, एवमस्याप्यनैकान्तिकान्तर्भावः। इयांस्तु विशेषः—तस्य पक्षमात्रापहारकत्वादसिद्धयन्तर्भावः, अस्य व्याप्त्यपहारकत्वादनैकान्तिकान्तर्भाव इति। असंभवित्वाच्चेत्येतद्विवृणोति—**अबाधितेति**। प्रतियोगिप्रमितावप्रमितौ च नेदं संभवतीत्यर्थः। एतदेव वृद्धवचनेन द्रढयति—**तदुक्तमिति**। असत्प्रतिपक्षत्वस्यापि दुर्निरूपतां दर्शयितुं प्रतियोगिनो दुर्निरूपतामाह—**सत्प्रतिपक्षेति**। स्वात्मना सत्प्रतिपक्षः प्रकरणसम इति विवक्षितस्तत्र हि नित्यत्वानित्यत्वग्राहकमनुमानद्वयं निरुपाधिकम्? सोपाधिकं वा? आद्य आह—**निरुपाधेरिति**। कथमिति न संभवति? तत्राह—**संभवे वेति**। स्वाभाविकसंबन्धव्यापकापहारे हेतोः स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्। तदेवं मनो नित्यमनित्यं च स्यात्, न चैतत्संभवति, धर्म्यैव भिद्येतेत्यर्थः। प्रकारणसमे उभयत्र व्याप्तिरस्ति? न वा? प्रथमे पूर्वोक्तदूषणमतिदिशति—**प्रकरणसमेऽपीति**। उत्तरस्मिन्दूषणमाह—**अन्यतरेति**। एतेन सत्प्रतिपक्षे द्वितीयविकल्पोपि निरस्तः। एतेन हेत्वाभासान्तरान्तर्भावोपि वेदितव्यः। यच्च प्रकरणसमस्य लक्षणं तैरुच्यते, स्वपरपक्षसिद्धौ त्रिरूपो हेतुरेकः प्रकरणसम इति, तदप्यसिद्धमित्याह—**किंचेति**। अर्थभेदमेव दर्शयति—**नित्यत्वेति**। नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र हि शब्दनित्यान्यतरत्वादिति हेत्वर्थः। तथाऽनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र शब्दानित्यान्यतरत्वादित्यर्थः। तथाच नोभयत्रानुगतः कश्चिदेको हेतुरस्तीत्यसिद्धिर्लक्षणस्ये-

---

पृथक् दोष मानना पड़ेगा। सिद्ध-साधनता में पक्षत्व-निवृत्ति के द्वारा ही दूषणता जैसे मानी जाती है, वैसे ही बाध में भी। अबाधितत्व का निरूपण भी सम्भव नहीं; क्योंकि पक्ष में साध्याभावरूप बाध का प्रमा ज्ञान यदि है, तब उसका अभाव वहाँ कैसे रहेगा? और यदि प्रमा ज्ञान नहीं, तब भी अप्रमितप्रतियोगिक अभाव कैसे सिद्ध होगा? वृद्ध आचार्यों का कहना है कि 'विषयापहारस्वरूप बाध यदि पक्ष में है, तब वहाँ अबाधितत्व सिद्ध नहीं हो सकता। यदि पक्ष में बाध नहीं, तब भी अप्रसिद्धप्रतियोगिक हो जाने के कारण इस (अबाधितत्व) की सिद्धि नहीं हो सकती।' सत्प्रतिपक्ष और प्रकरणसम भी असम्भावित ही हैं; क्योंकि उपाधि-रहित दो विरुद्ध अनुमान एकत्र सम्भव नहीं, यदि सम्भव हो जायँ, तब पक्ष में दो विरुद्ध आकार सिद्ध होंगे। प्रकरणसम में भी एक ही वस्तु में द्विरूपत्वापत्ति दोष है; क्योंकि साध्य तथा साध्याभाव की व्याप्ति के ग्राहक दो प्रमाण विद्यमान हैं। यदि किसी पक्ष का ग्राहक प्रमाण नहीं, तब उसीसे व्याप्ति भङ्ग हो जायगी। दूसरी बात यह भी है कि प्रकरणसम का स्वरूप माना जाता है—"शब्दो नित्यः पक्षसपक्षान्यतरत्वात्, सपक्षवत्; शब्दोऽनित्यः पक्षसपक्षान्यतरत्वात् सपक्षवत्"। यहाँ दोनों पक्षों में एकरूपता भी नहीं; क्योंकि नित्यत्व-

नाभिधानात् । शब्दसाम्यमात्रेण च हेतोरेकरूपत्वे गोशब्दवाच्यत्वाद्वागादीनामपि विषाणित्वानुमा प्रसज्येत । तदेवं व्याप्तिपक्षधमताभ्यामेव सकलहेत्वाभासनिरासे नावयवान्तरकृत्यमस्तीति पश्यामः, तेन पञ्चावयववाक्यं परार्थानुमानमिति प्रत्युक्तम् ।

उपमानलक्षणमपि दुर्घटम् । तथाहि—नगरानुभूतचरगोपिण्डस्य वनमुपेयुषः साक्षाद्गवयमीक्षमाणस्यानेन सदृशी मदीया गौरिति प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टासन्निकृष्टगोपिण्डग्रहणमुपमानमिति मीमांसकाः । नचेदं स्मरणम् , पुरा गोपिण्डमात्रानुभवेऽपि प्रतियोगिगवयाद्यनवगतत्वेन तत्सादृश्यविशिष्टतयाननुभवात् । नाप्यनुमानम्; तद्व्याप्तलिङ्गाभावात् ।

त्यर्थः । ननु पक्षत्वसपक्षत्वे कौचन धर्मौ, तदधिकरणे च पक्षसपक्षौ, तयोरन्यतरत्वं च हेतुः , अन्यतरत्वं च तदुभयान्योन्याभावानधिकरणत्वम् , तथाच कथमननुगतिः ? तत्राह—शब्दसाम्यमात्रेण चेति । अयं भावः—न तावदेवंविधौ भावाभावयोरन्तर्भूतौ शक्यनिरूपणौ सकलभाववृत्तित्वेन षट्पदार्थबहिर्भावेन भावानन्तर्भावात् , निष्प्रतियोगिकत्वेनानिषेधात्मकत्वाच्चाभावानन्तर्भावात् , निष्प्रतियोगिकमभावमिच्छतो दत्तचरमुत्तरम् । अन्यतरत्वनिरुक्तिश्च खण्डितचरी । नच तद्धर्मसिद्धावपि तस्य हेतुता ; अनित्यत्वप्रतिज्ञायामाकाशादावपि तद्भावेनानैकान्त्यात् । एवमितरत्रापीति । तस्मात्तत्तद्वस्तुविशेषवाचका एवैते शब्दा इति मन्तव्यम् । तथाचात्र यद्यनुगतिः स्यात् , परं शब्दमात्रेणैव सा चातिप्रसङ्गिनी । पशुत्वेन शशादीनामपि विषाणित्वानुमानापातात् , गोत्वेन च वागादीनामपीति नैरर्थक्यसमर्थनमुपसंहरति—तदेवमिति । अत्र च पक्षखण्डनेन च साध्यखण्डनेन चोपाधिखण्डनेन च व्याप्तिखण्डनेन चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमाः खण्डिताः । बाधखण्डनेन च कालातीतः खण्डित इति वेदितव्यम् । अवयवखण्डनस्यानुमानखण्डनोपयोगमाह—तेन पञ्चेति ।

क्रमप्राप्तमुपमानं खण्डयति—उपमानलक्षणमपीति । तत्र सदृशदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमुपमानमिति मीमांसकानामुपमानलक्षणम्, तत्सोपपादनमनुवदति—तथा हीत्यादिना । उपेयुषः प्राप्तस्येत्यर्थः । प्रत्यक्षदृष्टेति । प्रत्यक्षदृष्टो यो गवयस्तत्सादृश्यविशिष्टतयाऽसन्निकृष्टस्य प्रमाणान्तरेणानधिगतस्य नगरगतगोपिण्डस्य ग्रहणमिति योजना । अत्र च गवयगतगोसादृश्यज्ञानस्य प्रतियोगिगोपिण्डज्ञानसापेक्षत्वादुक्तमनुभूतचरगोपिण्डस्येति । युगपत्प्रत्यक्षावगतगोगवयस्थलव्यवच्छेदायासन्निकृष्टपदम् । ननु नगर एव यदा गोपिण्डोऽनुभूयते, तदा गवयसादृश्यविशिष्टतयाऽनुभूत एव सः , गवयसादृश्यस्य गोगतस्येन्द्रियसन्निकृष्टतयाऽनुभवितुं शक्यत्वात् , अतोऽरण्यस्थस्य तत्र स्मृतिरेव परमुदेति, न प्रमितिरिति, न तत्करणं किंचित्प्रमाणमतिरिक्तमस्ति, तत्राह—न चेदमिति । यद्यपि सादृश्यमस्ति गोपिण्डे, तथापि प्रतियोगिज्ञानाधीनतया प्रतियोग्यनवगमेन पूर्वं नानुभूयते, तेन न स्मृतिरित्यर्थः । अथानुमानमेवेद किं न स्यादित्यत्राह—नाप्यनुमानमिति । न तावत्सा गारनेन सदृशी अस्य तत्सदृशत्वादिति शक्यानुमानम् , तस्य व्यधि-

---

प्रतिज्ञा में नित्य पदार्थ सपक्ष है और अनित्यत्व-प्रतिज्ञा में अनित्य पदार्थ । फिर भी शब्दसाम्यमात्र से दोनों हेतु यदि एकरूप माने जाते हैं, तब गो शब्द-वाच्यत्व हेतु से वाणी–आदि में विषाणित्व का अनुमान होने लगेगा । इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता से ही समस्त हेत्वाभासों का निरास हो जाता है, अन्य अवयव व्यर्थ हैं; अतः "पञ्चावयववाक्यं परार्थानुमानम्"—यह खण्डित हो गया ।

उपमान-लक्षण भी दुर्घट है । मीमांसकों का कहना है कि नगर में गो-पिण्ड का अनुभव करनेवाला व्यक्ति बन में साक्षात् गवय को देख कर ऐसा अनुभव करता है कि 'इस (गवय) के सदृश हमारी गौ है'—इस प्रकार सन्निकृष्ट गवय के सादृश्य से युक्त असन्निकृष्ट गोपिण्ड का ग्रहण ही उपमान है । इसे स्मरण नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि पूर्व केवल गो-पिण्ड का अनुभव होने पर भी गवय अनुभूत न होने से गवयप्रतियोगिक सादृश्य-विशिष्ट गौ का अनुभव नहीं था, अतः उसका स्मरण कैसे होगा ? इसे अनुमान भी नहीं मान सकते ; क्योंकि व्याप्ति तथा लिंग से निरपेक्ष वह अनुभव

नापि शाब्दम्; अन्तरेणापि शब्दव्यवहारमुपपत्तेः। मैवम्;

भूयोऽवयवसामान्यं सादृश्यं यच्च गोगतम्।
विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यतः ॥२९॥

न तावत्तौतान्तिकमते सादृश्यमस्ति पदार्थान्तरम्, किंतु भूयोवयवसामान्ययोग एव। तदुक्तम्—

"सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्।
भूयोवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत् ॥" इति (श्लो॰वा॰उप॰ १८)

तच्च बुद्ध्यनारूढेऽपि प्रतियोगिनि गोत्ववन्निर्विकल्पकेनाकलितं पुनर्गवयस्य प्रतियोगिनो दर्शने परामृश्यते सविकल्पकेन, तत्किमपरमवशिष्यते यत्रोपमानमिष्येत? ननु निर्विकल्पकेनापि न सादृश्यमनुभूतं सविकल्पकवत्तस्यापि तदाकलने प्रतियोगिसापेक्षत्वादिति चेत्, न; हस्तकरणत्वात्।

नापि गोत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यनुमानम्, गवान्तरे गवयग्रहणव्यतिरेकेण सादृश्याग्रहणादिति भावः। अन्तरेणापीति। न ह्यरण्यगतदशायामस्ति कश्चिदुपदेष्टेत्यर्थः। एवं समर्थितमुपमानं दूषयति—मैवमिति। भूयोवयवानां यानि सामान्यानि खुरत्वकर्णत्वादीनि, तानि गोगवयावयवेषु वर्तमानानि गोगवययोः सादृश्य द्रव्यादिचतुष्टयतत्त्ववादिना भाट्टस्य तादृशसादृश्यमाश्रयग्रहणेन योग्यतया च पूर्वमेव गवि गृहीतम्, इयांस्तु विशेषः—पूर्वमनेन सदृशीति प्रतियोगिवैशिष्ट्यव्यतिरेकेण निर्विकल्पकमनुभूतम्, इदानीं तु सविकल्पतया प्रत्यभिज्ञा जायते यतोऽतो न पृथक्प्रमाणमिति श्लोकयोजना। श्लोकं विवृणोति—न तावदित्यादिना। तौतान्तिकाः कौमारिलाः। प्राभाकरमते हि सादृश्यं द्रव्याद्व्यतिरिक्तमिति तौतान्तिकग्रहणम्। पदार्थान्तरमिति। सामान्यपदार्थादतिरिक्तमित्यर्थः। अत्रैव वार्तिकसंमतिमाह—तदुक्तमिति। गवयात्सकाशाज्जात्यन्तरस्य गोपदार्थस्य गवयगतभूयोवयवसामान्यैर्योगः सादृश्यमतस्तस्य वस्तुत्वमपबाधितुमशक्यं भाट्टमतानुसारिभिरिति योजना। ततः किमिति तत्राह—तच्चेति। तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकारेण—"नह्यन्यद्गवि सादृश्यमन्यच्च गवये, भूयः सामान्ययोगो जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते, सामान्ययोगश्चैकः, स चेद्गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति" इति। ननु यद्यपि भावरूपत्वान्निर्विकल्पकवेद्यत्वमस्ति, तथापि सप्रतियोगिक एव निर्विकल्पकेनापि गृह्यते, प्रतियोगिसापेक्षस्य निर्विकल्पके सविकल्पके वा स्वभावापरित्यागात्, नच प्रतियोगी पूर्वमुपलब्धः, तेन निर्विकल्पकेनाप्यननुभूतमेवेति शङ्कते—नन्विति। यथा हस्तवितस्त्यादिरस्मादयं दीर्घ इति व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षग्रहणेऽपि न स्वरूपमात्रग्रहणे प्रतियोगिनमपेक्षते, एवमत्रापीति परिहरति—न हस्तेति।

होता है। शब्द भी नहीं कह सकते; क्योंकि शब्द-व्यवहार के बिना ही वह अनुभव होता है। यह मीमांसकों का कहना संगत नहीं; क्योंकि भूयोऽवयवसामान्य का ही नाम सादृश्य है, वह गोरूप आश्रय में पूर्व ही गृहीत है। हाँ, पहले उसका निर्विकल्पक ज्ञानमात्र था और अब गवयरूप प्रतियोगी के गृहीत होने से उसी का सविकल्पकरूप प्रत्यभिज्ञा ज्ञान हो रहा है। भाट्ट-मत में सादृश्य पदार्थान्तर नहीं, अपितु भूयोऽवयव-सामान्य-योग ही है, स्वयं भट्टपाद ने कहा है—'सादृश्य में वस्तुत्व का बाध नहीं किया जा सकता, गवयरूप विजातीय वस्तु के भूयोऽवयव-सामान्य का योग ही सादृश्य कहा जाता है।' वह सादृश्य अपने गवयरूप प्रतियोगी का भान न होने पर भी गोत्व के समान ही निर्विकल्पक ज्ञान से गृहीत होता है, पश्चात् गवयरूप प्रतियोगी का दर्शन होने पर सविकल्पक का विषय होता है। इस प्रकार सादृश्य तो प्रत्यक्ष से ही गृहीत हो गया, अब और क्या अप्रकाशित प्रमेय रह गया, जिसका प्रकाश करने के लिए उपमान प्रमाण माना जाय। यदि कहा जाय कि जैसे सविकल्पक केवल सादृश्य को विषय नहीं करता, अपितु प्रतियोगि-सापेक्ष सादृश्य को ही। वैसे ही निर्विकल्पक भी शुद्ध सादृश्य को विषय नहीं कर सकता। तो यह कहना संगत

वितस्त्यादिवत्कर्णखुरादिसामान्यस्य स्वरूपावधारणे प्रतियोगिनिरपेक्षत्वात्। अन्यथा भेदस्यापि निर्विकल्पकेनाकलनाभिनिवेशो भवतां प्रलीयेत।

ये तु प्रतिजानते—सादृश्यं नाम पदार्थान्तरम्, तद्धि न द्रव्यम्, गुणवृत्तित्वात्, अत एव न गुणोऽपि, नापि कर्म, नापि सामान्यादित्रयम्; तत्रापि वृत्तेः। नापि शक्तिः, शक्तेरप्रत्यक्षत्वात्, प्रत्यक्षत्वाच्च सादृश्यस्य। नापि संख्या; संख्यावृत्तित्वात्, इदमेकत्वमेकत्वान्तरसदृशमिदं च द्वित्वं द्वित्वान्तरसदृशमिति तत्रापि व्यवहारात्। तच्च सविकल्पकैकवेद्यम्, इदमनेन सदृशमिति प्रतियोगिघटितस्यैव व्यवहारनियमदर्शनादिति, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तत्किं स्पर्शवत्? उत न? आद्ये, द्रव्यत्वम्। द्वितीये, एकवृत्तित्वे गुणकर्मविशेषाणामन्यतमत्वम्। अनेकवृत्तित्वे तु सामान्यसमवाययोरन्यतरत्वापत्तिः। एतेन पदार्थान्त-

---

अतश्चैतदङ्गीकर्तव्यमितरथा भेदस्यापि सप्रतियोगिकतया निर्विकल्पकवेद्यत्वाभावप्रसङ्गात्। स्वीकृतं च तत् "निर्विकल्पकबोधेपि द्वयात्मकस्यापि वस्तुनः ग्रहणम्" इति वदद्भिरित्यभिसधायाह—**अन्यथा भेदस्यापीति**।

एवं भाट्टपक्षे दूषणमुक्त्वा प्राभाकरमतमुत्थापयति दूषयितुम्—**ये तु प्रतिजानत इत्यादिना**। द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायशक्तिसंख्याऽपूर्वसादृश्यात्मका हि पदार्थास्तैः परिगणितास्तत्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वं परिशेषतः साधयामास शालिकनाथः प्रमाणपारायणे—'विषयोऽस्य वित्तिसिद्धो भिन्नो द्रव्यादिभावेभ्यः' इत्यादिना, तदनुवदति—**तद्धीति**। **गुणवृत्तित्वादिति**। केतकागन्धसदृशः सर्पगन्ध इत्यादावित्यर्थः। **अत एव** गुणवृत्तित्वादेव। अगुणा हि गुणा इत्यर्थः। नापि कर्म गुणवृत्तित्वात्कर्मवृत्तित्वाच्चति द्रष्टव्यम्। **तत्रापीति**। सामान्यादिष्वपीत्यर्थः। अस्तु तर्हि शक्त्यन्तर्भावः, तत्राह—**नाप शक्तिरिति**। संख्यावृत्तितामेव दर्शयति—**इदमेकत्वमिति**। अपूर्वत्वं तु चोदनालक्षणत्वाभावादतिदूरनिरस्तमिति भावः। ननु भवतु पदार्थान्तरं तथापि पूर्वमेव गृहीतत्वात्प्रत्यभिज्ञान्तर्भावे किमुक्तमुत्तरमिति? तत्राह—**तच्च सविकल्पकेति**। तत्र; परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायेन षट्स्वेव सादृश्यमन्तर्भावयन्पदार्थान्तरतां दूषयति—**मैवमित्यादिना**। अत्र तावदाश्रिततया प्रतीतर्न नित्यद्रव्यमिति स्थिते विकल्पयति—**तत्किं स्पर्शवदित्यादिना**। **द्रव्यत्वमिति**। गुणादीनां निर्गुणत्वादित्यर्थः। स्पर्शरहितत्वेऽपि किमेकवृत्ति? किं वानेकवृत्ति? प्रथमे प्राह—**गुणकर्मेति**। यद्यपि संयोगादेरनेकवृत्तित्वमस्ति, तथाप्येकवृत्तिगुणाद्यन्यतमादावतिव्याप्तेर्न व्यभिचार इति भावः। द्विताये दूषणमाह—**अनेकेति**। एतच्च

नहीं; क्योंकि जिस प्रकार हस्तादि परिमाण की वस्तु के (दीर्घत्वादि व्यवहार में प्रतियोगी की अपेक्षा होने पर भी) स्वरूपावधारण में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार कर्णत्व खुरत्वादि सामान्य के स्वरूपावधारण में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं। अन्यथा निर्विकल्पक बोध से भेद का ग्रहण सम्भव न हो सकेगा, जैसा कि आपने माना है—

> निर्विकल्पकबोधेऽपि द्वयात्मकस्यापि वस्तुनः।
> ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते॥ (श्लो॰ वा॰ प्रत्यक्ष॰ ११८)

प्राभाकर का यह जो मत है कि सादृश्य, पदार्थान्तर है; क्योंकि गुण में वृत्ति होने के कारण वह द्रव्य नहीं हो सकता। अत एव गुण भी नहीं, कर्म भी नहीं एवं न सामान्य, विशेष और समवाय स्वरूप ही है; क्योंकि उनमें भी वृत्ति है। सादृश्य को शक्ति स्वरूप भी नहीं कह सकते; क्योंकि शक्ति अप्रत्यक्ष है और सादृश्य प्रत्यक्ष है। संख्यास्वरूप भी नहीं; क्योंकि "यह एकत्व दूसरे एकत्व के सदृश है", "यह द्वित्व दूसरे द्वित्व के सदृश है"—इस प्रकार संख्या में भी सादृश्य का व्यवहार होता है। वह मत भी ठीक नहीं; क्योंकि वह सादृश्य, स्पर्श-युक्त है? या नहीं? यदि है, तब तो द्रव्य के अन्तर्गत होता है। यदि नहीं, तब एक-वृत्ति है? या अनेक-वृत्ति? एक-वृत्ति होने पर गुण, कर्म या विशेष होगा और अनेक-वृत्ति मानने पर सामान्य तथा समवाय—इनमें कोई एक

रत्वं संख्याया अपि प्रत्याख्येयम्। यत्पुनः षट्पदार्थान्तर्भावे सामान्यादिवृत्तित्वं न स्याद्िति, तत्र ब्रूमः—किमिदं प्रसङ्गमात्रम्? उत विपर्ययपर्यवसायितया प्रमाणमेव? नाद्यः; तर्कमात्रस्यासाधकत्वात्। न द्वितीयः; सामान्यमेव सादृश्यमिति वादिनं प्रति सामान्यवृत्तित्वस्यासिद्धेः। ननु गवयत्वमिव गोत्वमित्यनुभवादेव सादृश्यस्य सामान्यवृत्तिता सिद्धेति चेत्; किमनुभवादेव सिद्धिः? उताबाधितात्? नाद्यः; गगननीलिमादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; प्रतिवादिनं प्रत्यबाधासिद्धेः। किंच यत्र सौवर्णकर्णाभरणया सौवर्णकर्णाभरणा सदृशीत्युपमीयते, तत्र द्रव्यं सादृश्यम्, नच तद्गुणवृत्ति। तथा रसः पनसशर्करयोः सादृश्यम्, तस्य च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वादित्यसिद्धो हेतुः। यत्र च हंसगमनेन हंसगमनमुपमीयते तत्र कर्मैव सादृश्यमिति तत्रापि हेतोरसिद्धिः। किंच दृश्ये प्रतियोगिनि

नित्यत्वे, अनित्यत्वे तु द्वित्वादिगुणविशेषत्वापत्तिरपि द्रष्टव्या। नन्वस्पर्शवत्त्वे सत्येकवृत्तित्वमनेकवृत्तित्वं च न गुणादिपञ्चकव्यासम्, संख्यायां व्यभिचारादित्यत्राह—एतेनेति। एवं षट्स्वेवान्तर्भावमुक्त्वा यत्तेनानन्तर्भावे कारणमुक्तं तद्दूषयति—यत्पुनरिति। न द्वितीय इति। विप्रतिपन्न सामान्याद्यनन्तर्भूत सामान्यादिवृत्तित्वादिति हि विपर्ययपर्यवसायि प्रमाणं, तत्र चासिद्धो हेतुः। सामान्यवादिनानङ्गीकारादित्यर्थः। वृत्तिमनुभवेन साधयति पूर्ववादी—ननु गवयत्वमिवेति। किं प्रतीतिमात्रं वृत्तिसाधकम्? अबाधितप्रतीतिर्वा? नाद्यः। अतिप्रमङ्गादिति दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—प्रतिवादिनं प्रतीति। एवं सामान्याद्यनन्तर्भावे हेतुमुद्धृत्य द्रव्यादित्रयानन्तर्भावे हेतुं गुणवृत्तित्वमप्यसिद्धयति—किंचेत्यादिना। हंसगमनेति। 'हसीव सा गच्छति चारुहासिनी' इत्यादौ हंसगमनेन हेतुना हंसगमना हंसीत्युपमीयते यत्रेत्यर्थः। हंसगमनेन पुरुषेणेत्यन्ये। द्रव्यगुणकर्मणामेव तत्र तत्र सादृश्यव्यवहारहेतुत्वात्तेषां च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वासिद्धिरिति खण्डलकार्थः। किंचास्तित्वव्यवहारहेतौ प्राभाकराणामस्तित्वेऽप्ययं प्रसङ्गः समानः; तस्य भवदभिमतसर्वपदार्थवृत्तित्वात्। अथेतरान्तर्भूतस्यैव तस्य तथा व्यवहारहेतुत्वम्, तत्सादृश्येपि समानमित्यपि द्रष्टव्यम्। इदानीमभावप्रतिबन्द्या वस्तुत्वमेव सादृश्यस्य नास्त्यतोपि पदार्थान्तरत्वं दूरापेतमित्याह—किंचेति।

का स्वरूप मानना पड़ेगा। इससे संख्या में भी पदार्थान्तरत्व का खण्डन हो जाता है। यह जो कहा था कि द्रव्यादि छह पदार्थों के अन्तर्गत मानने पर सादृश्य सामान्यादि में वृत्ति न रह सकेगा। वहाँ प्रश्न उठता है कि वह कहना केवल प्रसञ्जनरूप तर्कमात्र है? या विपर्य-पर्यवसायी (सादृश्य यदि छह पदार्थों के अन्तर्गत होगा, तब सामान्यादि में वृत्ति नहीं हो सकेगा। किन्तु सामान्यादि में वृत्ति होता है, अतः द्रव्यादि के अन्तर्गत नहीं—इस प्रकार द्रव्याद्यन्तर्भाव-विपर्यय-साधक) अनुमान प्रमाण? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि प्रमाण-विरहित केवल तर्क साधक नहीं माना जाता। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि सादृश्य को सामान्यस्वरूप माननेवाले वादी के प्रति (सादृश्य द्रव्यादि छह के अन्तर्गत नहीं, सामान्यादि में वृत्ति होने से—इस अनुमान का) सामान्यादि-वृत्तित्व हेतु ही असिद्ध है। यदि कहें कि "गवयत्व के सदृश गोत्व है"—इस अनुभव के आधार पर ही सादृश्य में सामान्य-वृत्तिता सिद्ध होती है। तो यह अनुभव मात्र से सिद्ध करना चाहते हैं? या अबाधित अनुभव से? प्रथम पक्ष मानने पर गगन में नीलिमा की भी सिद्धि माननी पड़ेगी।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि प्रतिवादी के प्रति उक्त अनुभव में अबाधितत्व ही सिद्ध नहीं। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ "सौवर्णकर्णाभरणा सदृशी"—इस प्रकार स्वर्णमय कर्णाभरण-भूषिता युवती से किसी की उपमा दी जाय, वहाँ आभरणात्मक द्रव्य ही सादृश्य पदार्थ होता है, वह गुण में वृत्ति नहीं होता। उसी प्रकार 'शक्कर के सदृश (पके कटहल का) कोआ'—यहाँ रस-स्वरूप सादृश्य है, वह द्रव्य-वृत्ति होने पर भी गुण-वृत्ति नहीं। जहाँ हंस के समान गमन वाले पुरुष से वैसे ही व्यक्ति की उपमा की जाय, वहाँ गमनरूप क्रिया ही सादृश्य का स्वरूप है, वह

धर्मिस्वरूपग्रहणमेवाभावव्यवहारनिदानमिच्छन्किं नेच्छसि अधिगतविषयस्य गोस्वरूपावधारणमेव सादृश्यव्यवहारकारणमिति ? भवतु वा यत्किंचित्सादृश्यम्, तथापि गोपिण्डस्य तद्विशिष्टताप्रतीतिरनुमानमेव किं न स्यात्? सा गौर्गवयसदृशी गोत्वात् गवयेन सहोपलभ्यमानगवान्तरवदिति प्रयोगोपपत्तेः। गवयोपलम्भसहकालमप्रमीयमाणगवान्तरस्य गवयसदृशी गौरित्यवगतिरूपमिति चेत्, मैवम्; अर्थापत्तेरेव तत्रापि प्रामाण्योपपत्तेः। गवयनिष्ठगोसादृश्यस्य परिदृश्यमानस्य गोगवयसादृश्यव्यतिरेकेणानुपपत्तेः। न च गवयनिष्ठं गोसादृश्यमप्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वात्प्रतियोगिनो गोरिति वाच्यम्। स्मर्यमाणेऽपि प्रतियोगिनि धर्मिग्रहणादेव सादृश्यस्य भेदवत्प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः। सादृश्यज्ञानकरणमुपमानमित्यभ्युपगच्छता च सादृश्यप्रतीतेरवश्याभ्युपेयत्वात्। तथाचार्थापत्त्यैव तत्प्रतीत्युपपत्तेः कृतमुपमानेन, अन्यथा

विषयो गवयः। इदानीं सादृश्यमुपेक्ष्य तत्प्रमितिकरणस्य प्रमाणान्तरत्वं दूषयति—भवतु वेति। इदं च पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञानान्तर्भावमङ्गीकृत्याधिकमभिधीयते, न त्वव्याप्तिमभिप्रेत्य। ननु नास्त्यत्र लिङ्गमित्युक्तम्, तत्राह—**सा गौरिति**। गवयसन्निधावुपलब्धगोपिण्डे प्रत्यक्षेण शक्या गोत्वस्य गवयसादृश्येन व्याप्तिर्ग्रहीतुमिति भावः। तथाप्यनुपलब्धगोपिण्डं प्रत्युपमानोपयोगं शङ्कते—**गवयोपलम्भेति**। अप्रमीयमाणगवान्तरस्य। पुरुषस्येति शेषः। अर्थापत्तिमेव सविकल्पिकां दर्शयति—**गवयनिष्ठेति**। स्यादेतत्, यदि गवयनिष्ठगोसादृश्यं प्रत्यक्षेण गृहीते ततस्तदन्यथानुपपत्त्या शक्यं गोगतं गवयसादृश्यं ज्ञातुम्, नत्वेतदस्ति, तस्यापि प्रतियोगिगोसापेक्षग्रहणतया तद्व्यतिरेकेण ग्रहणमेवाशक्यमिति तत्राह—**न च गवयनिष्ठमिति**। माभूत्प्रतियोगिनस्तदानीं ग्रहणम्, गृहगृहीतगोः स्मरणसहायमिन्द्रियमेव संप्रयुक्तसादृश्यप्रत्यक्षकरणे समर्थम्, यथा प्रत्यभिज्ञायां यथा वाऽसन्निहितप्रतियोगिके सन्निहितभेद इत्यर्थः। यदि च तत्र धर्मिणो गृहीतत्वात्तद्गतभेदस्य सप्रयुक्तत्वाच्च युज्यते ग्रहणमिति मतिः, तदत्रापि समानमिति भावः। अथ सादृश्यमेव प्रत्यक्षायोग्यमिति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**सादृश्यज्ञानेति**। एवमनुपपन्नदर्शनं समर्थयित्वार्थापत्तिमुपसंहरति—**तथा चेति**। अवश्यं चैवमङ्गीकर्तव्यम्, इतरथाऽतिप्रसङ्गादित्याह—**अन्यथेत्या-**

भी जात्यादि में वृत्ति नहीं, अतः स्वरूपासिद्धि है। जब कि प्रतियोगी के योग्य होने पर अनुयोगिस्वरूप का ग्रहणमात्र अभाव-व्यवहार का कारण मानते हैं, तब गवयरूप विषय (प्रतियोगो) का जिसे ज्ञान है, उसके लिए गोस्वरूपमात्र का ग्रहण सादृश्य-व्यवहार का कारण क्यों नहीं मानते ? (अतः गवय-ग्रहण से पूर्व ही गौ में सादृश्य का ग्रहण हो जाता हैं)।

अस्तु, सादृश्य कुछ भी रहे ; तथापि सादृश्य-विशिष्ट गो-पिण्ड की प्रतीति को अनुमिति मान लेने में क्या क्षति है ? "वह गौ, गवय के सदृश है, गौ होने के कारण, जैसे—गवय-सन्निकृष्ट गौ"—यह अनुमान प्रयोग बन जाता है। यदि शङ्का हो कि जिस व्यक्ति ने गवय के पास गौ देखी है; वह व्यक्ति उस गौ को दृष्टान्त बनाकर दूसरी गौ में सादृश्य की अनुमिति कर लेगा, किन्तु जिसने गवय के साथ गौ का प्रत्यक्ष कभी नहीं किया, उसके लिए तो गोगत सादृश्य-ज्ञान उपमिति ही मानना होगा। तो यह शङ्का उचित नहीं, क्योंकि वहाँ अनुमिति न होने पर भी अर्थापत्ति से उस सादृश्य का ज्ञान हो जायगा; क्यों कि गवय-निष्ठ गौ का प्रत्यक्ष भूत सादृश्य, गो-निष्ठ गवय-सादृश्य के बिना अनुपपन्न है। यदि कहा जाय कि गोरूप प्रतियोगी की अप्रत्यक्षता से गवय निष्ठ गोसादृश्य भी प्रत्यक्ष नहीं। तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रतियोगी का स्मरण होने पर भी अनुयोगी के ग्रहणमात्र से भेद के समान ही सादृश्य का प्रत्यक्ष क्यों न होगा ? सादृश्य-ज्ञान-करणक को उपमान माननेवाले के लिए सादृश्य-प्रतीति अवश्य माननी होगी। इस प्रकार अर्थापत्ति से ही सादृश्य की प्रतीति बन जाती है, उपमान मानने की आवश्यकता नहीं। नहीं तो सादृश्य-प्रतीति के

वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्गः। तथाहि—यत्र परोक्षादपरोक्षे भवति वैधर्म्यावगतिस्तस्मादयमन्यथेति, भवति एतस्मादन्यथा स इत्यपि मतिः, सापि प्रमाणान्तरं स्यात्। सार्थापत्तिरिति चेत्, प्रकृतेऽपि समानम्। यथोदितमुदयनेन—

"साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्जते।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत्प्रकृते न किम्॥ इति (न्या० कु० ३।९)

तदास्तां मीमांसकाभिमतोपमानापाकरणप्रपञ्चः, नैयायिकोदीरितमुपमानमपि दुर्निरूपम्। अनवगतसंगतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थप्रमितिरुपमितिस्तत्करणमुपमानमिति ते वर्णयन्ति। तथाहि—नागरिकस्य यादृशी गौस्तादृशो गवय इति श्रुतातिदेशवचसः कानने वस्तुतो गोसदृशं गवयमालोकयतो नूनमयमसौ गवयपदाभिधेयो यः पुराप्तेन गोसदृशो

दिना। अतिप्रसक्तिमेव विवृणोति—तथाहीति। यदाहि परोक्षात्क्रमेलकादेः सकाशादपरोक्षहस्त्यादावनतिदीर्घाऽवक्रकन्धुरग्रीवासमपृष्ठस्थविष्ठशरीरस्थूलपादादि वैधर्म्यम् ज्ञातं भवति, तदा सन्निहितहस्त्यादेः सकाशादसन्निहितकरभादावपि वक्रातिदीर्घकृशग्रीवाविकटपृष्ठकृशशरीरदीर्घपादादिवैधर्म्यप्रतीतिर्भवति, तत्करणमप्यपरं प्रमाणं स्यादित्यर्थः। अत्र च शङ्क्ष्यमाणार्थापत्त्युपयोगितयाऽपरोक्ष इत्युक्तम्। एवं प्रतिबन्दीं गृहीत्वा परिहारसाम्यं वक्तुम् तन्मुखेन तमुद्भावयति—सेति। उदयनेन कुसुमाञ्जलावुक्तं चैतदित्याह—यथोदितमिति। अत्र साधर्म्यवैधर्म्यशब्दाभ्यां तज्ज्ञापकप्रमाणे विवक्ष्येते।

एवं मीमांसकाभिमतमुपमानं दूषयित्वा नैयायिकाभिमतमुपमानं फलविवेचनपूर्वकं दर्शयति दूषयितुम्—अनवगतेति। अनवगता संगतिः स्वार्थेन वाच्यवाचकभावो यस्याः गवय इति संज्ञायाः सा तथोक्ता तया समभिव्याहृतं सहोच्चारितं यद्वाक्यं यथा गौस्तथा गवय इति तस्य योऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यो गवयशब्दार्थस्तत्प्रमितिस्तस्य तच्छब्दवाच्यताप्रमितिरुपमितिः। यच्च तादृशं प्रमितिकरणं तत्संज्ञास्मरणसहायं गोसादृश्यलक्षणार्थस्य संज्ञिन्यनुसंधानात्मकं तदुपमानमित्यर्थः। अत्र च शाब्दप्रमितिव्यवच्छेदार्थमनवगतेत्यादिविशेषणम्। प्रत्यक्षानुमितिव्यावृत्त्यै वाक्यार्थग्रहणम्। इममेवार्थम् विवृणोति—तथाहीत्यादिना। श्रुतातिदेशवचस इति। आरण्यकसकाशाद्यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यं श्रुतवत इत्यर्थः। अत्र चालोकयत इत्यन्तेन करणशरीरमुक्तम्। शेषेण च फलकथनम्। ननु यथा गौस्तथा गवय

समान वैधर्म्य-प्रतीति को भी एक भिन्न प्रमा और उसके करण को पृथक् प्रमाण मानना होगा। अर्थात् जहाँ "तस्मादयमन्यथा"—इस प्रकार परोक्ष वस्तु के वैधर्म्य का ज्ञान प्रत्यक्ष वस्तु में होता है, वहां "एतस्मादन्यथा सः"—यह ज्ञान होता है। उसे भी प्रमान्तर मानना होगा। यह यदि अर्थापत्ति है, तब प्रकृत में भी वही होगी, जैसा कि उदयनाचार्यने कहा है—"इस प्रकार साधर्म्य (सादृश्य) ग्राहक प्रमाण के समान ही वैधर्म्य ग्राहक प्रमाण भी पृथक् मानना होगा, यदि यह अर्थापत्ति है, तो प्रकृत में वह क्यों न होगी ?"

मीमांसक-सम्मत उपमान के समान ही नैयायिक-सम्मत उपमान का भी निरूपण सम्भव नहीं। 'गृहीतशक्ति गवयपद से घटित वाक्य के अर्थज्ञान को उपमिति और उसके कारण को वे उपमान मानते हैं। उनका कहना है—"यादृशी गौः तादृशो गवयः"—इस अतिदेशवाक्य को सुनकर कोई नागरिक वन में पहुँच कर वस्तुतः गोसदृश गवय को देखता है, देखते ही यह बोध होता है कि यही गवय पद का वाच्य है, जिसके लिए पहले मुझे उस वृद्ध ने कहा था कि 'गौ के समान गवय होता है'। इस प्रकार जो प्रमाबोध उत्पन्न होता है वह शब्द-जन्य नहीं, यदि मानें तो गवय देखने से पूर्व भी वह होना चाहिए। यद्यपि उस आप्त-वाक्य से सामान्यतः अर्थ-बोध हो जाता है, तथापि "गवय पदाभिधेय यह व्यक्ति है"—इस प्रकार विशेष बोध नहीं होता। अन्यथा "जो-जो

गवय इत्युपदिष्ट इति प्रमितिरुपजायते। नचेयमागमजा, अपरिदृष्टगवयस्यापि प्रसङ्गात्। भवत्येवाप्तवचनात्सामान्यतस्तन्निश्चय इति चेत्, मैवम्; सामान्यतः प्रतीतावपि व्यक्तिविशेषस्य तत्पदाभिधेयत्वाप्रतीतेः। अन्यथा यो यो धूमवानसावसावग्निमानित्याप्तवचनाधिगताविनाभावस्य पर्वते वह्निप्रतीतिरागमजैव स्यात्। अस्तु तर्हि प्रत्यक्षेणैव गवयशब्दवाच्यत्वाधिगतिरिति चेत्, मैवम्; अश्रुतातिदेशवाक्यस्यापि प्रसङ्गात्। उपदेशसंस्कारसध्रीचीनं प्रत्यक्षमेव रत्नतत्त्वस्येव तदवगतिहेतुरिति चेत्, न; वाच्यत्वस्य प्रत्यक्षानवगाह्यत्वात्। नहि प्रत्यक्षेऽपि घटे घटशब्दवाच्यता प्रत्यक्षा, येन प्रकृतेऽपि तथा स्यात्। नाप्यनुमानतस्तदधिगतिः; गोसादृश्यस्य गव्यपि संभवेन विपक्षवृत्तित्वात्। नार्थापत्तिः, अनुमानाव्यतिरेकादिति चेत्, मैवम्; अनुमानतस्तथात्वप्रतीत्युपपत्तेः। तथाहि—

इत्यारण्यकवचनादियं प्रमितिरुपपद्यतेऽतो न प्रमाणान्तरमिति, तत्राह—न चेयमिति। नेयं वचनजनिता। तथा सति नगरगतसमय एवोत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु नायमनिष्टप्रसङ्गः, यो गोसदृशोऽसौ गवयशब्दार्थ इति सामान्येन वाक्यार्थप्रत्ययस्य तथाप्युपपद्यमानत्वादिति शङ्कते—भवत्येवेति। न सामान्यप्रतीतिर्व्यवहारोपयोगिनी, विशेषनिष्ठत्वात्तस्य, अतो व्यक्तिविशेषस्य शब्दवाच्यत्वमेव बुभुत्सितम्, तत्प्रतीतिश्च न वाक्यजन्याऽतः करणान्तरनिबन्धनैवेति परिहरति—मैवमिति। ननु यद्यपि तदा नोत्पद्यते, तथापि श्रुतवाक्यसामर्थ्यादेव पश्चादुत्पद्यमानत्वादागमजन्यैवेति, तत्राह—अन्यथेति। अथवा सामान्यनिश्चायकादेव विशेषनिश्चयसंभवेनोपमानवैयर्थ्याशङ्कायामिदमुत्तरम्। स्यादेतत्संप्रयुक्तगवयनिष्ठं गवयशब्दवाच्यत्वं तद्गतसामान्यादिवत्प्रत्यक्षेण किमिति न गृह्यते? इति शङ्कित्वा परिहरति—मैवमश्रुतेति। अतिदेशवाक्योपदेशसहकृतप्रत्यक्षजन्यत्वं शङ्कते—उपदेशेति। विषम उपन्यासः। रत्नतत्त्वे ह्यवयवविशेषो वा रूपविशेषो वा सामान्यविशेषो वा तच्चिह्नं प्रत्यक्षयोग्यम्, इह तु न वाच्यवाचकभावस्य प्रत्यक्षता, घटादावदर्शनात्, वृद्धव्यवहारलक्षणानुमानैकावसेयत्वात्तस्येत्यभिसंधाय परिहरति—न वाच्यत्वस्येति। अस्तु तर्हि घटादिगतवाच्यत्ववदत्राप्यनुमानगम्यत्वमिति, तत्राह—नाप्यनुमानेति। अयमभिसंधिः—न तावत्'माणवक समिधमाहर' इति वाक्यश्रवणसमनन्तरमेव मध्यमवृद्धमाणवकसमिदाहरणप्रवृत्तिवदेतच्छ्रवणसमनन्तरमस्ति काचित्प्रवृत्तिर्येन मार्गेण गवादिशब्दानामिवानुमानादस्यापि गवये संगतिर्गृह्येत। तत्कस्य हेतोः? अप्रवर्तकत्वात्, तदिदं तावदवशिष्यते, विमतः पुरोवर्तिपिण्डो गवयशब्दवाच्यः गोसदृशत्वान्न यदेवं न तदेवं यथा करभादीति व्यतिरेक्यनुमानादधिगतिरिति। तच्च न संभवति, गवान्तरेऽपि गवयशब्दावाच्ये गोसदृशत्वहेतोर्वर्तनेन विरुद्धत्वादिति। अनुमानाव्यतिरेकादिति। तन्निरसनेन निरासादिति भावः।

एवं समर्थितं नैयायिकोपमानलक्षणं दूषयति—मैवम्; अनुमानत इति। अनुमानमेव श्लोकेन संगृ-

---

धूमवान् है, वह-वह अग्निमान् है"—इस वाक्य की सहायता से उत्पन्न पर्वतीय वह्नि की प्रतीति भी शब्द-जन्य ही हो जायगी। गवय शब्द-वाच्यत्व की प्रतीति यदि-प्रत्यक्ष मानी जाय, तब "गोसदृशो गवयः"—यह वाक्य जिसने नहीं सुना, उसे भी वह प्रतीति हो जानी चाहिए। यदि कहा जाय कि अतिदेश वाक्य-प्रयुक्त संस्कार-सहित प्रत्यक्ष से ग्राह्य रत्न-तत्त्व के समान वाच्यत्व को मानेंगे। तो यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वाच्यत्व में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं होती। जैसे घट के प्रत्यक्ष होने पर भी घटगत वाच्यता का प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही प्रकृत में भी। अनुमान से भी वह वाच्यत्व-ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि गौ का सादृश्य गौ में भी सम्भव है, अतः ('गवयः गवयपदवाच्यः गोसदृशत्वात्'—इस अनुमान का हेतु गोसदृशत्व) गोरूप विपक्ष में रह जाने से व्यभिचारी है। अर्थापत्ति से भी वाच्यत्व-ग्रह नहीं हो सकता; क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं।

यह नैयायिकों का कहना युक्त नहीं; क्योंकि अनुमान से ही वह वाच्यत्व-ग्रह हो सकता है—

वाचको गवयस्यायं तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति ।
वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वाद्गोत्वे गौरिति गीरिव ॥३८॥

यो यत्रासति वृत्त्यन्तरे वृद्धैः प्रयुज्यते स तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चायमसति वृत्त्यन्तरे गवयशब्दः पुरोवर्तिनि, तस्मात्तस्य वाचक इत्यनुमानादेव संबन्धाधिगतिसिद्धेः। न च विशेषणासिद्धो हेतुः; शङ्क्यमानगोसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तेः, अप्रतीतगनामारण्यकानां गोसादृश्यानधिगतौ गवय इति व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। गवयत्वस्यापि निमित्तत्वाददोष इति चेत्, मैवम्; अप्रतीतगोपदार्थस्य गवयत्वं निमित्तम्, प्रतीतगोस्तु तत्सादृश्यं निमित्तमित्युभयत्र शक्तिकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्। गोविशेषितसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वे गवि तत्सादृश्ये च शक्तिः कल्पनीयेत्यपि

ह्णाति—वाचक इति। तत्र वृत्त्यन्तरेऽसतीति। गोसदृशपदार्थे लक्षणागुणवृत्त्योरसंभवे सति तत्र प्रयुज्यमानत्वादित्यर्थः। निमित्तान्तरेण वृत्त्यन्तरम्, इदं च गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति सिंहो बलवर्मेत्यादिषु लक्षणागुणवृत्तिभ्यामेवावाच्येष्वपि तीरादिषु प्रयुज्यमानगङ्गादिपदैर्व्यभिचारपरिहाराय विशेषणम्। संग्रहं विवृणोति—यो यत्रेति। ननु विशेषणासिद्धो हेतुः, असति वृत्त्यन्तरे इत्यस्य दुर्ज्ञानत्वादिति, तत्राह—न च विशेषणेति। अत्र तावल्लक्षणावृत्तिर्न शङ्कामप्यधिरोहति, तदा हि गोसादृश्यवाचकस्य सतो गवयत्वे तदविनाभूते लक्षणया प्रयोग इति शङ्कितव्यम्, तच्च न संभवति, अदृष्टगोपदार्थानामरण्यैकनिवासिनां गोसादृश्यानधिगमे गवयपदाप्रयोगप्रसङ्गादित्यर्थः। द्वितीययोजनायां तु सुगमम्। ननु किमित्यप्रयोगः; यावता गवयत्वमपि प्रवृत्तिनिमित्तम्, तच्च तैरप्यधिगतमिति शङ्कते—गवयत्वस्यापीति। अत्र किमुभयं मिलित्वा निमित्तम्? किं वा प्रत्येकम्? नाद्यः; पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। द्वितीये त्वन्यायश्चानेकार्थ इति मीमांसकमुद्राभङ्गः, कल्पनागौरवं च बाधके स्यातामित्याह—मैवमित्यादिना। गौरवान्तरं चाह—गोविशेषितेति। न सादृश्यमात्रं गवयशब्दार्थत्वेन शङ्क्यतेऽपितु गोसादृश्यम्, तथा च विशेषणस्यापि निमित्तत्वप्रसक्तिरिति भावः। किंचोपमानं पृथक्प्रमाणमिच्छतांऽपि गवयत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्, न गोसादृश्यम्, इतरथा शाब्दत्वप्रसङ्गात्। यथाहोदयनः—

'गवय शब्द गवय का वाचक होता है; क्योंकि वहाँ गवय शब्द की लक्षणा या गौणी वृत्ति न होने पर वहाँ वृद्धजनों से प्रयुक्त होने के कारण, जैसे गोत्व अर्थ में गोशब्द' (जाति-शक्ति-वादी गो-शब्द का वाच्य गोत्व मानते हैं)। अन्यवृत्ति (लक्षणा, गौणी) न होने पर जो शब्द जिस अर्थ में वृद्धों से प्रयुक्त होता है, वह उसका वाचक होता है, जैसे गोशब्द गोत्व का। यदि कहा जाय कि उक्त हेतु का विशेषण (असति वृत्त्यन्तरे) असिद्ध है क्योंकि गौणी—आदि वृत्ति की सम्भावना भी वहाँ हो सकती है। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि सन्दिग्ध गो-सादृश्य कभी गवय पद का प्रवृत्ति-निमित्त नहीं हो सकता, (गवय शब्द की गवयत्व में लक्षणा मानने के लिए गो-सादृश्य में शक्ति माननी होगी, तभी तो "अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते"—तं० वा० १।४।१२) के अनुसार गो-सादृश्य से अविनाभूत गवयत्व में लक्षणा मान सकेंगे, फिर तो) जिन वनवासियों ने गोपदार्थ नहीं देखा, गो-सादृश्य का ज्ञान न होने से वे गवय शब्द का गवय में व्यवहार न कर सकेंगे। यदि कहा जाय कि गवयत्व भी गवय पद का प्रवृत्ति-निमित्त है, अतः गोदर्शन जिन्हें नहीं हुआ वे भी गवय शब्द का व्यवहार क्यों न कर लेंगे? तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि गोपदार्थ से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए गवयत्व और गोपदार्थाभिज्ञ व्यक्तियों के लिए गो-सादृश्य, गवय शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त—इस प्रकार उभयत्र शक्ति-कल्पना में महान् गौरव होगा। गो-विशिष्ट सादृश्य में शक्ति मानने पर गोरूप विशेषण और सादृश्यारूप विशेष्य—दोनों में शक्ति माननी होगी—

गौरवं स्यात्। अन्यथोपमानस्य मानान्तरत्वेऽपि गवयशब्दस्य गोसादृश्यस्य निमित्तताशङ्कायाः दुष्परिहरत्वात्, गवयत्वं निमित्तीकृत्य गवयशब्दोऽत्र प्रवृत्त इत्युपमानादपि निर्धारणा न सिद्ध्येत्। किंचानवगतसंगतित्वविशेषणं व्यर्थम्; अभ्युपगतप्रमाणसंप्लववादिनः प्रत्यक्षाधिगतेऽपि पुनः प्रत्यक्षवदनुमितेऽप्यनुमानवच्चोपमितेऽपि पुनरुपमानप्रवृत्त्युपपत्तेः। अपि च'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'इत्यत्राप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्य प्रसिद्धेतरपदार्थस्य च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्मधुकरशब्दाथप्रतीतिवद्गवयशब्दार्थप्रतीतिः किं न स्यात्? नच सर्वत्र समभिव्याहारादधिगतिरुपमितिः, तत्करणस्य सादृश्यज्ञानस्य तत्राभावात्। असत्यपि च सादृश्यज्ञाने संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरेवोपमितिरित्याधुनिकमतानुप्रवेशो सूत्रवार्तिकप्रसिद्धसिद्धान्तविरुद्धाभ्युपगमो वज्रलेपायते। तथा च भगवदक्षपादप्रणीतं सूत्रम्—'प्रसि-

---

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा॥'इति॥ (न्या० कु० ३।११)

टीकाकृतापि 'किंतु गवयत्वं निमित्तीकृत्य पिण्डे प्रवर्तत इति परमार्थः' इति। तत्र तवाप्येता युक्तयः शरणमिति न त्वां प्रति विशेषणासिद्धिरित्याह—**अन्यथोपमानस्येत्यादिना**। एतेन—

"संबन्धस्य परिच्छेदं संज्ञायाः संज्ञिना सह। प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥" (न्या० कु० ३।१०)

इत्युदयनीयः प्रयासोऽपहस्तितः। तदुक्तं तत्त्वकौमुदीकृता—'यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते साऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैष गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति ज्ञानमनुमानमेवेति। अव्याप्तिं चाह—**किंचानवगतेति**। प्रमाणसंप्लववादिनोनुमितेऽनुमानप्रवृत्तिवदुपमितेप्युपमानप्रवृत्तिसंभवात्तस्मिंश्चानवगत इति विशेषणाभावादव्याप्तिरित्यर्थः। किंचेदमनवगतसंगतिसंज्ञासमभिव्याहृतवाक्यमभिमतम्? किं सादृश्यबोधकम्? किं वा वैसादृश्यबोधकमपि? किं वा व्युत्पत्त्यौपाधिकधर्ममात्रबोधकम्? नाद्यः, वैसादृश्यप्रतीतिकरणकेऽव्याप्तेः। अथ द्वितीयस्तत्राह—**अपिचेह प्रभिन्नेति**। विवृतोयमर्थः कार्यवादे, संभवति मधुपानकर्तरि भृङ्गे मधुकरपदव्युत्पत्तिवद्गोसादृश्यवति गवयपदव्युत्पत्तिः, कल्पनालाघवादिना च मधुकरत्ववद्गवयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तता चातोऽतिव्याप्तिरिति भावः। तृतीयं दूषयति—**न च सर्वत्रेति**। ननु केनोक्तं सादृश्यज्ञानमुपमितिरिति? यावता संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रमितिरुपमितिस्तत्करणं चोपमानमिति नवीनैरुन्नीयते। आह ह्युदयनः—'संबन्धस्य परिच्छेदम्' इति। टीकाकारोपि 'साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रोपलक्षणमिति करभसंज्ञाप्रतीतिफलमप्युपमानमेवेति नाव्याप्तिः'इति तत्राह—**असत्यपीति**। सूत्रं दर्शयति—**तथाचेति**। प्रसिद्धेन गवा गवयस्य साधर्म्यात्साध्यस्य

यह भी गौरव कम नहीं। इस गौरव की परवाह न करके उपमान को प्रमाणान्तर मानने पर गवय शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त गो-सादृश्य है—यह शङ्का बनी रहेगी, फिर तो गवयत्व को ही निमित्त मानकर गवय शब्द वहाँ प्रवृत्त हुआ है—यह उपमान से भी निश्चय न हो सकेगा। आप के उपमान-लक्षण में प्रविष्ट अनवगतसंगतित्व विशेषण भी निरर्थक है; क्योंकि आप के प्रमाण-सम्प्लव-वाद में जैसे प्रत्यक्षाधिगत वस्तु में प्रत्यक्ष की वृत्ति, अनुमित में भी अनुमान की प्रवृत्ति मानी जाती है; वैसे सो उपमित में उपमान की प्रवृत्ति बन जायगी। दूसरी बात यह भी है कि जैसे "इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति"—यहाँ प्रसिद्ध पद के सहयोग से अप्रसिद्ध मधुकर शब्द का अर्थबोध हो जाता है, वैसे ही गवय पदार्थ का ज्ञान क्यों न हो जायगा? 'प्रसिद्ध पद के सहयोग से जहाँ-जहाँ बोध होता है, वहाँ सर्वत्र उपमिति ही होती है'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उपमिति-करण सादृश्य-ज्ञान न होने से मधुकरादि पदार्थों का ज्ञान उपमिति नहीं कहा जा सकता। सादृश्य-ज्ञान न होने पर भी संज्ञा-संज्ञि-संबन्ध-प्रतीति, उपमिति ही है—इस प्रकार आधुनिकों के मत में सूत्र, वार्तिक-प्रसिद्ध सिद्धान्त का विरोध आ जाता है। भगवान् अक्षपाद का सूत्र है—

द्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्' इति। व्याख्यातं चेतदुद्द्योतकरेण वार्तिककृता—'आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानम्'इति । अथावधीरितापसिद्धान्तप्रसङ्गभीतेरियं पृथिवीशब्दवाच्या गन्धवत्त्वाद्यन्नैवं तन्नैवमित्यादि केवलव्यतिरेक्यनुमानमपि संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानमापद्येतेत्यलमतिविस्तरेण ।

शाब्दप्रमाणमपि दुर्निरूपम् । तथाहि 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्'इति मीमांसकाः । शब्दविषयं विज्ञानं शब्दविज्ञानं तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे श्रोतुरनधिगतेऽबाधिते च विषये यद्विज्ञानं तच्छाब्दप्रमाणमिति यावत् । उक्तं हि वार्तिककारैः—

प्रज्ञापनीयस्य गवयशब्दवाच्यत्वस्य ज्ञापनमुपमानमिति सूत्रार्थः । वार्तिकं दर्शयति—व्याख्यातं चैतदिति । आगमोऽतिदेशवाक्यम् । ननु प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तो नाम, प्रामाणिकश्चायमस्मत्पक्षः, सूत्रादीनि तु एतदनुसारेणोपलक्षणतया व्याख्येयानि, तथाच 'यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णीत्युपमानस्य सादृश्यं विषयमभिधायैवमन्योऽप्युपमानस्य विषयो लोके बुभुत्सितव्यः' इति भाष्यकारेण विषयान्तरेऽप्युपमानाभ्यनुज्ञानात् धिक् करभमतिदीर्घवक्रग्रीवं प्रलम्बोष्ठं कठोरकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपसदं पशूनामिति वाक्यश्रवणसमनन्तरं तथाभूते द्विरदादिसमवस्तुविसदृशे करभपदार्थे वैधर्म्यात्करभशब्दवाच्यत्वप्रतीतिमप्युपमानत्वेनैवोवाचाचार्यवाचस्पतिरुपमाविनोदे इति मन्वानं प्रति सर्वलक्षणवाक्येषु केवलव्यतिरेकितया प्रसिद्धेष्वतिव्याप्तिरित्याह—अवधीरितेत्यादिना ।

क्रमप्राप्तं शब्दप्रमाणं खण्डयति—शाब्देति । तत्र शबरस्वामिसंमतं लक्षणमुद्भावयति—तथाहीति । ननु परार्थानुमानेऽतिव्यापकमिदं लक्षणम्, तस्यापि पञ्चावयवात्मकवाक्यजनिताद्विज्ञानादसन्निकृष्ट प्रमाणान्तरेणानधिगतेऽर्थे लिङ्गिनि बुद्धिरूपत्वादितामामाशङ्कां परिहरन्भाष्यं व्याचष्टे—शब्दविषयं विज्ञानमित्यादिना । नात्र शब्दजनितविज्ञानमिति विवक्षितम्, अपितु शब्दविषयं विज्ञानं तेन नातिव्याप्तिरिति भावः । असन्निकृष्टपद व्याचष्टे—श्रोतुरिति । प्रमाणान्तरेण तथा वाऽतथा वानधिगत इत्यर्थः । अत्रैव वार्तिकसंमतिमाह—उक्तं हीति । अर्थग्रहणं चार्थासंस्पर्शो वार्थापेक्षितस्वभावो वा शब्द इति वदतां बौद्धानां मतनिरासार्थम् । एवं हि वर्णयन्ति—अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति वचमोऽर्थ एव नास्ति । नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यादिवाक्यानां कदाचिदर्थवत्ता कदाचिन्नेत्यर्थासंस्पर्शोऽर्थापेक्षितस्वभावो वा शब्दः । तस्मान्नार्थे प्रामाण्यम्, किंतु वक्तुरभिप्राये, तत्रापि न शब्दतया, किंतु तत्कार्यतया तदनुमापकः । यथाह कीर्तिः—

'नान्तरीयकताऽभावात् शब्दानां वस्तुभिः सह ।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्र्यभिप्रायसूचकाः' । इतिं

"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" (प्रसिद्ध सादृश्य से संज्ञासंज्ञिसम्बन्धरूप साध्य की सिद्धि को उपमान कहते हैं—न्या० सू० १।१।६) । इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य उद्योतकर ने लिखा है—"आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानम्" (अतिदेशवाक्यरूप आगम से जन्य बोध, उससे उत्पादित संस्कार और उस संस्कार से जो स्मृति होती है, उससे सापेक्ष सादृश्य-ज्ञान का नाम उपमान प्रमाण है) । इस प्रकार के सिद्धान्त-विरोधरूप अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान की प्राप्ति का भय जिसे नहीं, उसके लिए "इयं पृथिवीशब्दवाच्या गन्धवत्त्वाद् यन्नैवं तन्नैवम्"—इस प्रकार का केवलव्यतिरेकी अनुमान भी संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का बोधक होने से उपमान मानना होगा।

शब्द प्रमाण भी दुर्निरूप्य है । मीमांसकों का कहना है कि "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" (शा० भा० १।१।५) अर्थात् शब्दविषयक विज्ञान से श्रोता को अज्ञात और अबाधित विषय का जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वही शब्दप्रमाण है । वार्तिककार ने भी कहा है—भाष्यस्थ

अससन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् ।
ताद्रूप्येण गृहीतत्वं तद्विपर्ययतोऽपि वा ॥' इति । (श्लो० वा० अनु० ५५, ५६)

यद्वा शब्दाज्जनितं पदार्थविषयं यद्विज्ञानं तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दमिति । तदयुक्तम्; शब्दलिङ्गकवक्तृविशेषानुमानेऽतिव्याप्तेः । भवति हि वहिष्ठस्याध्ययनध्वनिश्रवणाद्भवनान्तर्वर्तिपुरुषविशेषानुमानम् । द्वितीयेऽपि धूमादिपदात्तदर्थविज्ञाने धूमध्वजादौ जायमानानुमानादावतिव्याप्तिः । लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेन्, तर्हि तावदेवास्तु लक्षणं किमनेन शब्दविज्ञानादित्यादिना विशेषणेन कण्ठशोषकरेण ?

कश्चायं शब्दो नाम यद्विज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः । न तावत्पदम्; पदमभ्यधिकाभा-

---

तन्निरासार्थमर्थग्रहणम् । निरासप्रकारश्चाग्र एव विवक्षायां प्रामाण्यं निराकुर्वता स्वयमेवाचार्येण दर्शयिष्यते । एवमन्विताभिधानाभिहितान्वयसाधारण्येन भाष्यं योजितम्, इदानीमभिहितान्वयानुसारेण योजयति—**यद्वेति** । पदात्पदार्थस्मरणस्य शब्दाभासस्य च निवृत्त्यर्थमसन्निकृष्टाबाधितेति विशेषणद्वयम् । प्रत्यक्षानुमानादिव्यावृत्त्यै शब्दविज्ञानादिति । तत्र प्रथमं दूषयति—**तदयुक्तमिति** । शब्दादेव लिङ्गाद्वस्तुविशेषेऽनुमानं जायते, तदपि हि शब्दज्ञानादसन्निकृष्टार्थे बुद्धिर्भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । एतदेव विवृणोति—**भवति हीति** । तदुक्तं विशेषतो दृष्टविशेषानुमानं दर्शयता वार्तिककारेण ।

'स्वपुत्राद्यनुमानं यद् गृहाभ्यन्तरगोचरम् । वेदस्वरविशेषेण बहिष्ठस्येह लक्ष्यते' इति ।

द्वितीययोजनायामप्यतिव्याप्तिमाह—**द्वितीयेऽपीति** । धूमादिशब्दप्रतीतधूमादिलिङ्गादनुमानमाग्न्यादिषु जायते तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थः । **तर्हि तावदेवेति** । लिङ्गाद्यजन्यत्वमित्यनेन शब्दव्यतिरिक्तप्रमाणजातं व्यावर्तते । प्रमितिशब्देन चाप्रमितिजातम्, लिङ्गाद्यजन्यं प्रमाणं शास्त्रमित्येवास्तु, वृथेतरदित्यर्थः ।

इदानीमवयवशो निर्वाच्यमाणमपि विशीर्यत एवेदं लक्षणमित्यभिसंधायाह—**कश्चायमिति** । ननु शाब्दप्रमाणविचारावसरे किमिति शब्दजिज्ञासा ? इति प्रकृतानुपयोगिशङ्कां वारयति—**यद्विज्ञानादिति** । शास्त्रप्रमाणत्वेन च विवक्षित शेषः किं पदम् ? किं वा वाक्य शब्दत्वेन विवक्षितम् ? नाद्य इत्याह—**न ताव-**

'असन्निकृष्ट' शब्द से दो धर्मों का त्याग विवक्षित है—(१) ताद्रूप्येण गृहीतत्व और (२) तद्विपर्ययतो गृहीतत्व (अर्थात् ज्ञातत्व और बाधितत्व से रहित अज्ञात और अबाधित विषय ही असन्निकृष्ट विषय कहा गया है)। अथवा नयविवेककार की रीति से शब्द से जनित जो कार्यविषयक विज्ञान है, उससे उत्पन्न असन्निकृष्टार्थविषयक ज्ञान को शब्द प्रमाण कहते हैं। यह सब अयुक्त है; क्योंकि शब्दरूप लिङ्ग से जन्य वक्तृविषयक अनुमान में उक्त प्रथम लक्षण अतिव्याप्त है। बहुत से वैदिक मन्दिर में वेद-ध्वनि कर रहे हैं, बाहर खड़ा व्यक्ति शब्दविशेष के द्वारा अपने परिचित व्यक्ति का अनुमान कर लेता है। द्वितीय लक्षण भी धूम शब्द से जन्य धूम-ज्ञान के द्वारा उत्पादित वह्निविषयक अनुमान में अतिव्याप्त है। यदि उक्त लक्षण में "लिंगाद्यजन्यत्वे सति"—यह विशेषण लगाया जाय, तो उससे अच्छा तो यही है कि "लिंगाद्यजन्यज्ञानत्वम्"—इतना ही शब्दप्रमाण का लक्षण कर दिया जाय, उस कण्ठ को सुखा देने वाले लम्बे लक्षण की क्या आवश्यकता ?

शब्द भी क्या वस्तु है, जिसके विज्ञान से असन्निकृष्ट अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है ? पद नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्वयं वार्तिककार ने कहा है—

पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते ।
पदाधिक्यं भवेत् किञ्चित् तत्पदस्य न गोचरः ॥ (श्लो० वा० शब्द० १०७)

(अर्थात् सम्बन्धि-दर्शनादि पदार्थ-स्मारकों की अपेक्षा पदों में कोई विशेषता नहीं, दोनों में समानरूप से अनधिकविषयता रहती है। जो कुछ अधिक अर्थ होता है, वह पद का विषय नहीं

वात्स्मारकान्न विशिष्यत इति स्वयमेव तस्यासन्निकृष्टार्थविज्ञानजनकत्वानभ्युपगमात्। नापि वाक्यम्; तस्यानिरुक्तेः। तथाहि—किं पदसमुदायमात्रं वाक्यम्? उतैकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नः पदसमुदायः? उताकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि। नाद्यः, गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादेरपि वाक्यत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः; अर्थस्यैकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानामनिरुक्तेः। तत्रैकत्वं नाम किमेकत्वसंख्यावत्त्वम्? उताभेदः? किं वा स्वरूपमेव? नाद्यः; गौरश्वः पुरुष इत्यादेरप्येकत्वसंख्याविशिष्टतया तद्वाचकपसमुदायस्यापि वाक्यत्वप्रसङ्गात्, एकत्वादिसंख्याप्रतिपादकवाक्याव्यापनाच्च; नह्येकत्वद्वित्वादावेकत्वसंख्यान्तरमस्ति, येन तत्प्रतिपादकपदसमूहो वाक्यं स्यात्। न द्वितीयतृतीयौ; गौरश्वः पुरुष इत्यादावभेदस्वरूपयोर्भावात्। विषयविषयिभावस्य च पूर्वमेव निरस्तत्वात्। किंचेदमवच्छिन्नत्वम्? विशिष्टत्वमिति चेत्, तदेव किम्? विशेषणेन संबन्धत्वमिति चेत्, संबद्धत्वमित्यत्रापि संबन्धेन विशिष्टत्वोक्त्वात्माश्रयता। विशेषणव्यावृत्तसंबन्धाधारत्वोक्तौ को दोषः? इति चेत्, व्यावृत्तशब्देन

दिति। पदं स्मारकान्न विशिष्यते, कुतः? अभ्यधिकाभावाद्व्युत्पत्तिसमयगृहीतादर्थादभ्यधिकार्थबुद्धेः पदेभ्योऽभावात्, इतरथाऽगृहीतसंगतिकस्यापि बोधकत्वप्रसङ्गादिति वार्तिकार्थः। द्वितीयं दूषयति—**नापीति**। तत्र वाक्यलक्षणं विकल्पयति—**किं पदेत्यादिना**। प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह—**गौरश्व इति**। **अर्थस्यैकत्वेति**। एकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नत्वमित्यत्र यदिदमर्थस्यैक्यम्, यच्च तादृगर्थप्रतिपादकत्वविवरणलब्धतादृगर्थविषयप्रतिपत्तिजनकत्वान्तर्गतविषयत्वम्, यच्चैवंविधधर्मेणावच्छिन्नत्वम्, तदेतत्त्रितयं दुर्निरूपमित्यर्थः। एकत्वसंख्यावदर्थप्रतिपादकत्वमित्याद्यं पक्षं दूषयति—**गौरश्व इति**। तेषामपि पदार्थानां प्रत्येकमेकत्वसंख्यावच्छिन्नत्वादित्यर्थः। अव्याप्तिमेव विवृणोति—**नह्येकत्वेति**। द्वितीयतृतीययोरपि प्रथमपक्षोक्तामतिव्याप्तिमाह—**न द्वितीयतृतीयाविति**। एवमेकत्वं खण्डयित्वा विषयविषयित्वे प्रपञ्चमिथ्यात्ववादोक्तखण्डनं स्मारयति—**विषयेति**। अवच्छिन्नत्वं खण्डयति—**किंचेदमिति**। विशिष्टत्वं निर्वक्ति पूर्ववादी—**विशेषणेनेति**। किमिदं विशेषणसंबद्धत्वम्? विशेषणसंबन्धविशिष्टत्वम्? किं वा तत्संबन्धाधारत्वम्? आद्ये प्राह—**संबद्धत्वमिति**। द्वितीयं शङ्कते—**विशेषणव्यावृत्तेति**। तत्र दोषत्रय यथाक्रममाह—**व्यावृत्तेति**। विशेषणव्यावृत्तेत्यत्र व्यावृत्तत्वं विशिष्टत्वमिति वक्तव्यम्, तथाचात्मा-

---

होता, अपितु वाक्य का विषय होता है; अतः पद प्रमाण नहीं होता)। वाक्य को भी शब्द नहीं कह सकते; क्योंकि वाक्य का निर्वचन ही नहीं हो सकता—क्या (१) पद-समुदायमात्र वाक्य है? या (२) एकार्थविषयक ज्ञानजनकत्वावच्छिन्न पद-समुदाय? या (३) आकांक्षा, सन्निधि, योग्यता वाले पद ही वाक्य हैं? (१) प्रथम लक्षण तो "गौरश्वः पुरुषो हस्ती"—आदि में अतिव्याप्त है। (२) द्वितीय लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि उसके घटक अर्थगत एकत्व, विषयत्व और अवच्छिन्नत्व का निर्वचन नहीं हो सकता। उनमें एकत्व क्या है? क्या एकत्वसंख्याश्रयत्व? या अभेद? या स्वरूप? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि "गौरश्वः पुरुष"—आदि अर्थ भी एकत्व संख्या के आश्रय हैं, अतः उनके वाचक पदों के समुदाय में वाक्यत्व-प्रसंग बना रहेगा। एकत्वादिसंख्याप्रतिपादक वाक्य में अव्याप्ति भी होगी; क्योंकि एकत्व द्वित्वादि में एकत्व संख्या रहती नहीं, जिससे कि उसका प्रतिपादक पद-समूह वाक्य बन जाता। द्वितीय, तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि "गौरश्वः पुरुषः"—आदि में अभेद भी है और स्वरूप भी। विषय-विषयिभाव का खण्डन तो पूर्व (पृ० ७६ पर) हो चुका है। रहा अवच्छिन्नत्व, यह क्या वस्तु है? यदि कहें—विशिष्टत्व; तो वही क्या चीज है? यदि कहें—सम्बद्धत्व; तो सम्बद्धत्व का अर्थ होता है—सम्बन्धेन विशिष्टत्व, इस प्रकार विशिष्टत्व में विशिष्ट की अपेक्षा होने से आत्माश्रयदोष होता है। यदि कहें कि विशेषण-

विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता प्रथमः, विशेषणविशेष्ययोः प्रत्येकं विशिष्टत्वापत्तिः द्वितीयः, संबन्धस्य च विशिष्टत्वाभावः तृतीयः, तस्य संबन्धान्तराभावात्, भावे वानवस्था। किंच विशेषणविशेष्यतत्संबन्धेभ्यो विशिष्टं भिन्नम्? अभिन्नं वा? नाद्यः; अनुपलम्भपराहतत्वात्, दण्डिनमानयेत्युक्तेऽन्यस्यैवानयनप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीयः; त्रयाणामपि प्रत्येकं विशिष्टत्वात्। दण्डादीनामान्यतमानयने दण्डी समानीत इति व्यवहारप्रसङ्गात्।

किंचेदं विशेषणं नाम यद्विशेषितं तत्त्वान्तरं स्यात्? व्यावर्तकमिति चेत्, किं व्यावृत्तेर्भेदस्य जनकम्? उत तत्प्रतीतेः? नाद्यः; असंभवात्। नहि कठोरकुठारधारया तरोरिव देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विधीयते द्वैधीभावः। नापि द्वितीयः; नयनादेरपि भेदप्रतीतिजनकस्य विशेषणत्वप्रसङ्गात्। तदपि क्वचित्कस्यचिद्भवत्येव विशेषणमिति चेत्, हन्त तर्हि

श्रयः। द्वितीयं चाह—**विशेषणेति**। यदि हि विशेषणसंबन्धाधारो विशिष्टम्, तदा विशेषमपि विशिष्टं स्यात्, विशेषणविशेष्यसंबन्धस्य द्विष्ठत्वेन विशेषणस्यापि तदाश्रयत्वादित्यर्थः। तृतीयं दूषणमाह—**संबन्धस्येति**। संबन्धाधारत्वं च यद्यपि विशिष्टत्वाद्विशेषणविशेष्यसंयोगस्य संभवति, तथापि समवायस्य तन्न संभवति, स्वाश्रयत्वाभावात्, अन्यत्वे चानवस्थानात्। अस्त्येव तस्यापि विशिष्टत्वं रूपसमवायो रससमवाय इत्यतोऽव्याप्तिरित्यर्थः। इदानीं विशिष्टस्वरूपमपि दुर्निरूपमित्याह—**किंचेति**। न केवलमनुपलम्भः, व्यवहारविरोधश्च स्यादित्याह—**दण्डिनमिति**। द्वितीयेपि किं त्रितयमपि यथायथं विशिष्टम्? उत मिलितम्? आद्ये प्राह—**त्रयाणामपीति**। द्वितीयेपि किं मिलितमिति तदेवाभिधीयते? किं वा तदन्यत्? प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम्। अतिरिक्तपक्षे त्वनुपलम्भपराहतिः।

इदानीं विशेषणानिरूपणादपि तत्संबन्धविशिष्टमित्यनुपपन्नमित्याह—**किंचेदमिति**। व्यावर्तकत्वमित्यत्र कृतः किं व्यावृत्तिजनकत्वमर्थः? किं वा प्रत्यायकत्वम् इति? विकल्प्याद्यं दूषयति—**नाद्य इति**। असंभवमेव विवृणोति—**नहि कठोरेति**। यथा हि घोरकुठारधारया वृक्षस्य द्वैधीभावः क्रियते, न तथा देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विष्णुमित्राद्भेदः क्रियते; तत्पूर्वमभेदप्रसङ्गादित्यर्थः। द्वितीये नयनादावतिव्याप्तिस्तस्यापि व्यावृत्तिज्ञापकत्वादित्याह—**नापि द्वितीय इति**। नेयमतिव्याप्तिः, तस्यापि चाक्षुषं रूपं रसनाग्राह्यो रस इत्यादिव्यवहारविशेषणतया लक्ष्यत्वादिति शङ्कते—**तदपीति**। उत्तरो निगदव्याख्यातः।

व्यावृत्त सम्बन्धारत्व कहने में क्या दोष है? तो सुनिए—'व्यावृत्त' शब्द का विशिष्टत्व अर्थ करने पर आत्माश्रयता—यह पहला दोष, (सम्बन्ध द्विष्ठ होता है, अतः उसके आधार) विशेषण और विशेष्य-प्रत्येक में विशिष्टत्वापत्ति—यह दूसरा दोष, सम्बन्ध में विशिष्टत्व न रह सकेगा—यह तीसरा दोष; क्योंकि सम्बन्ध में सम्बन्धान्तर नहीं रहता, रहने पर अनवस्था होगी—यह चौथा दोष है। एक और प्रश्न उठता है कि विशेषण, विशेष्य और उनके सम्बन्ध से विशिष्ट भिन्न है? या अभिन्न? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि उनसे भिन्न किसी विशिष्ट वस्तु का उपलम्भ ही नहीं होता तथा "दण्डिनमानय"—ऐसा कहने पर किसी अन्य का ही आनयन होना चाहिए। द्वितीय पक्ष मानने पर तीनों में प्रत्येक विशिष्ट हो जायगा, तब तो दण्डादि में से किसी एक के लाने पर "दण्डी समानीतः"—यह व्यवहार होने लगेगा।

यह विशेषण क्या वस्तु है, जिससे विशेषित वस्तु तत्त्वान्तर होगी? यदि कहा जाय कि 'व्यावर्तक', तो व्यावर्तक का क्या अर्थ है? व्यावृत्ति (भेद) का जनक? या भेद-प्रतीति का जनक? प्रथम पक्ष तो असम्भव है; क्योंकि कठोर कुठार की धारा से वृक्ष के दो टुकड़े हो जाते हैं, वैसे दण्ड कुण्डलादि से देवदत्त के दो टुकड़े नहीं होते। द्वितीय पक्ष मानने पर भेद-प्रतीति-जनक नयनादि में भी विशेषणता की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि नयनादि भी कभी किसी के विशेषण होते ही

वस्तुमात्रमित्येव विशेषणलक्षणमस्त्वलमनया ग्रन्थकथाकन्थया ! अस्तु तर्हि विषयीक्रियमाणतया यद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकं तद्विशेषणलक्षणमिति चेत्, मैवम्; विशेष्येऽपि प्रसङ्गात्। तदन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न; उपलक्षणेऽपि प्रसङ्गात्, विशेषणसिद्धौ तदुपजीविनो विशेष्यस्य सिद्धिस्ततश्च ततोऽन्यत्वेन विशेषणसिद्धिरिति परस्पराश्रयता। एतेन 'स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम्'इति भट्टपादीयमपि लक्षणं परास्तम्; परस्पराश्रयताया दर्शितत्वात्। यत्पुनरुदयनेनोदीरितम्—'सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं विशेषणम्, व्यधिकरणतया प्रतीयमानमुपलक्षणम्'इति, तदप्यसत्; विकल्पासहत्वात्। किमार्थिकं सामानाधिकरण्यं विवक्षितम्? उत शाब्दम्? नाद्यः; असंभवात्। नह्यस्ति दण्डदेवदत्तयोः शौक्ल्यपटयोश्चैकाधिकरण्यम्; तयोः प्रतिनियताधिकरणत्वात्। दण्डित्वदेवदत्तत्व-

---

विशेषणलक्षणान्तरं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। येयं व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषणेन जन्यते तया विषयीक्रियमाणं सद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकं यत्तद्विशेषणम्, तथाच न चक्षुरादावतिव्याप्तिः। नहि घटः पटाद्व्यावृत्त इति बुद्धेश्चक्षुरादिर्विषयीभवतीत्यभिप्रायः। अस्यातिव्याप्तिमाह—**मैवमिति**। नीलमुत्पलमित्यादौ नैल्यविशिष्टमुत्पलाद्यपि तद्बुद्धिविषय एव, तज्जनकं च, प्रत्यक्षप्रतीतित्वात्, अतस्तस्यापि विशेषणत्वं स्यादित्यर्थः। **उपलक्षणेऽपीति**। अस्ति हि मयूराधिकरणं श्रीसुन्दरदेवमन्दिरमित्यत्र मयूरस्यापि तद्बुद्धिविषयतया तज्जनकत्वमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अथ नियमेन विषयीक्रियमाणतया तज्जनकं विशेषणम्, न तदुपलक्षणस्यास्ति असतोऽप्युपलक्षणतया तत्र तस्यासंभवादिति ब्रूयात्तं प्रति दूषणान्तरमाह—**विशेषणेति**। विशेष्यादन्यत्वे सत्युक्तविधं विशेषणमिति हि लक्षणमभिधीयते, नचैतद्युक्तम्; परस्पराश्रयापातात्। यद्धर्मविशिष्टं गृह्णाति तदिति वा विशेषणव्यावर्त्यमिति वा विशेष्यलक्षणम्। आद्ये परस्पराश्रयः; विशिष्टत्वस्याद्याप्यसिद्धेः। द्वितीयेपि परस्पराश्रय एव, विशेषणस्याद्याप्यसिद्धेरिति भावः। उक्तं परस्पराश्रयं लक्षणान्तरेप्यतिदिशति—**एतेनेति**। विशेष्यं येन पदार्थेन स्वबुद्ध्या रज्यते स रञ्जको विशेषणम्। नह्युपलक्षणस्योपरञ्जकत्वमस्ति, तटस्थत्वादिति निष्कर्षार्थः। अस्यापि विशेष्यगर्भत्वात्पूर्ववदन्योन्याश्रयत्वमित्याह—**परस्परेति**। विशेषणोपलक्षणयोस्तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्तं भेदमनूद्य निराचष्टे—**यत्पुनरिति**। **सामानाधिकरण्येनेति**। जटी तापस इतिवदित्यर्थः। विशेषणविशेष्ययोरेकाधिकरणत्वरूपसामानाधिकरण्यमसिद्धमित्याह—**नाद्यः; असंभवादिति**। तदेव विवृणोति—**नह्यस्तीति**। **प्रतिनियतेति**। दण्डस्य पुरुषाधिकरणत्वात्पुरुषस्य भूतलाधिकरणत्वादेवं शौक्ल्यस्य पटाधिकरणत्वात्पटस्य च तन्त्वधिकरणत्वादिति

हैं; तब तो 'वस्तुत्वम्'—यही विशेषण का लक्षण कर देना चाहिए, व्यर्थ है यह विविध लक्षणान्वेषण। "व्यावृत्ति-बुद्धि का विषय होकर जो व्यावृत्ति-बुद्धि का जनक हो, उसे विशेषण कहते हैं"—यह लक्षण भी विशेष्य में अतिव्याप्त है। "विशेष्यान्यत्वे सति"—यह विशेषण लगाने पर उपलक्षण में अतिव्याप्ति होती है। विशेषण की सिद्धि होने पर विशेषणोपजीवी विशेष्य की सिद्धि और विशेष्य की सिद्धि होने पर विशेष्यान्यत्व-घटित लक्षण की सिद्धि--इस प्रकार अन्योन्याश्रयता भी है। इसीलिए "जो अपनी बुद्धि के द्वारा विशेष्य का उपरञ्जक होता है, उसे विशेषण कहते हैं"—यह भट्टपाद का लक्षण भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि अन्योन्याश्रयता अभी दिखाई जा चुकी है। यह जो उदयनाचार्य ने कहा है—"सामानाधिकरण्यरूप से प्रतीत होनेवाले को विशेषण और व्यधिकरणरूप से प्रतीत होनेवाले को उपलक्षण कहा जाता है"—वह भी अयुक्त है; क्योंकि वहाँ सामानाधिकरण्य आर्थिक विवक्षित है? या शाब्द? प्रथम पक्ष असम्भव है; क्योंकि दण्ड और देवदत्त, शौक्ल्य और पट का एक ही अधिकरण नहीं होता, अपितु दोनों अपने-अपने नियत अधिकरण में रहते हैं। यदि कहा जाय कि दण्डित्व और देवदत्तत्व का सामानाधिकरण्य तो है ही; क्योंकि

योरैकाधिकरण्यमस्ति दण्डिन एव देवदत्तत्वादिति चेत्, तर्हि तयोरेवास्तु विशेषणविशेष्यभावो नतु दण्डदेवदत्तयोः। नहि दण्ड एव दण्डी। न द्वितीयः; तत्किमेकविभक्तिकानेकपदाभिधेयत्वम्? उत भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः? न प्रथमः; असंभवादेव। नहि विशेषणविशेष्यभावेन प्रसिद्धयोर्दण्डदेवदत्तयोर्दण्डो देवदत्त इत्येकविभक्तिकानेकपदाभिधेयत्वमस्ति। नापि चरमः; दण्डी देवदत्त इत्यत्रैवादर्शनात्। नहि यथा शुक्लः पट इति शुक्लगुणं पटत्वं च निमित्तीकृत्य पदद्वयं पटे प्रवृत्तम्, तथा दण्डित्वं दण्डं वा निमित्तीकृत्य दण्डपदं देवदत्ते प्रवृत्तम्, येन समानाधिकरणता स्यात्। दण्डित्वं निमित्तीकृत्य दण्डिशब्दो देवदत्ते प्रवृत्त इति चेत्, प्रवर्ततां नाम, नतु तद्विशेषणम्; दण्डविशिष्टरूपत्वात्तस्य। किंच जटी तापसो जटाभिस्तापस इति वैकल्पिकप्रतिभासमात्रेण विशेषणोपलक्षणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणः "सर्वं एवायं मानमेयादिव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्म्यादिभावेन,

---

भिन्नाधिकरणत्वादित्यर्थः। यद्यपि दण्डदेवदत्तयोर्नैकाधिकरण्यम्, तथापि दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरस्त्यैकाधिकरण्यमिति शङ्कित्वा परिहरति—तर्हीति। दण्डदेवदत्तयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रसिद्धो लोके, नतु दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरतस्तयोः सामानाधिकरण्यमनुपयोगीत्यर्थः। अथ धर्मद्वारा धर्मिणोरपि मतिः, तदापि दण्डिदेवदत्तयोरेव। नतु दण्डदेवदत्तयोः, दण्डित्वस्य दण्डिधर्मत्वात्, दण्डस्य च दण्डित्वाभावादित्याह—नहि दण्ड एव दण्डीति। एवं विशेषणविशेष्ययोरार्थम् सामानाधिकरण्यमिति पक्षं दूषयति—न द्वितीय इति। एकस्मिन्नर्थे वृत्तिः पर्यवसानम्। असंभवमेवाह—नहीति। तथासति दण्डो देवदत्तः नैल्यमुत्पलमिति प्रयोगः स्यात्, न चैतदस्तीत्यर्थः। द्वितीयेऽव्याप्तिमाह—दण्डी देवदत्त इति। विशेषणीभूतदण्डवाची दण्डशब्दो न देवदत्तपदेन समानाधिकरणः। यश्च दण्डिशब्दः समानाधिकरणः नासौ दण्डवाचक इत्यर्थः। एतदेव पर्यनुयोगपरिहाराभ्यां विशदयति—दण्डित्वमित्यादिना। किंच सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं वैयधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं चेति योयं विशेषो विशेषणोपलक्षणयोः स स तावन्नार्थकृतः, एकस्यैवार्थस्योभयथापि प्रतिभासात्, तस्मात्प्रतीतिकृत एवेति वक्तव्यम्, तथाच सर्वोपि धर्मधर्मिवर्गः प्रतीतिमात्रवैचित्र्यः स्यात्, सर्वस्यापि विशेषणोपलक्षणान्तर्भावात्, तथाच बुद्धिवैचित्र्यमेवार्थवैचित्र्यम्, नतु तदतिरिक्तमिति योगाचारमते निपात इत्याह—किंच जटीत्यादिना।

दण्डी ही देवदत्त है। तब तो दण्डित्व और देवदत्तत्व का विशेषणविशेष्यभाव बनेगा, न कि दण्ड और देवदत्त का; क्योंकि दण्ड तो दण्डी होता नहीं। द्वितीय (शाब्दसामानाधिकरण्य) का क्या अर्थ है? एक विभक्ति वाले अनेक पदों का अभिधेयत्व? या भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति-निमित्त वाले शब्दों की एक अर्थ में प्रवृत्ति? प्रथम पक्ष तो सम्भव नहीं; क्योंकि विशेषणविशेष्य रूप से प्रसिद्ध दण्ड और देवदत्त "दण्डो देवदत्तः"—इस प्रकार एक विभक्तिवाले अनेक पदों के वाच्य नहीं। द्वितीय पक्ष भी "दण्डी देवदत्तः" में नहीं घटता, अर्थात् जैसे "शुक्लः पटः" में शुक्लगुण और पटत्व को प्रवृत्ति-निमित्त मानकर दोनों पद एक ही पट में प्रवृत्त होते हैं, वैसे दण्डित्व या दण्ड को प्रवृत्ति-निमित्त मानकर दण्ड पद देवदत्त में प्रवृत्त नहीं होता, कि समानाधिकरणता हो जाती। यदि कहा जाय कि दण्डित्व को निमित्त मानकर दण्डी शब्द, देवदत्त में प्रवृत्त है ही। भले ही वह प्रवृत्त हो, किन्तु वह विशेषण नहीं; क्योंकि देवदत्त दण्ड-विशिष्ट है। दूसरी बात यह भी है कि "जटी तापसः," "जटाभिः तापसः"—इस प्रकार नानारूप प्रतीतिमात्र के आधार विशेषण और उपलक्षण-व्यवहार मानने वाले नैयायिकत्वाभिमानी, सौगत-मत में प्रविष्ट हो जाते हैं। उनका मत यही तो है कि "यह सर्व प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार, बुद्धि में प्रतीत होनेवाले धर्म धर्मी-आदि रूप पर आधारित

न बहिःसदसत्त्वमपेक्षते” इति सौगतमतानुप्रवेशमात्मनस्तार्किकंमन्यो नालोचयते। एतेन संबद्धमेव व्यावर्तकं विशेषणमसंबद्धमपि व्यावर्तकमुपलक्षणमित्यपि परास्तम्।

अस्तु वा भवदिच्छया यत्किंचनावच्छेदकमवच्छिन्नं च, तथापि किं तत्पदम् इति विवेचनीयम्, यत्समुदायो वाक्यम्? ननु प्रसिद्धिसिद्धमेव सुप्तिङन्तं पदमिति, किमिह विवेचनीयमिति चेत्, मैवम्; एकैकस्य मिलितस्य वा लक्षणत्वे सुबन्तेऽपि तिङन्तस्य तिङन्तेऽपि सुबन्तस्योभयोरुभयत्र चाव्याप्तेः। उभयान्यतरदिति चेत्, न; अन्यतरशब्देनैकैकस्य मिलितस्य वाभिधाने पूर्वदोषानुषङ्गात्। उभयान्यान्यदिति चेत्, न; उभयशब्देनोभयत्वसंख्याविशिष्टत्वविवक्षायामन्यशब्देन चान्यत्वाधिकरणत्वविवक्षायामुभयोरपि तत्संभवेन पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। अपि च सुप्तिङन्तं पदमिति यत्र सुप्तिङौ स्तस्तत्पदम्? यत्र वा तौ विधि-

---

उक्तदूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति**। व्यावर्तकत्वानिरुक्तेरित्यर्थः। अत्र चैवकार उपलक्षणव्यावर्तकः। अपिस्त्वव्याप्तिव्यावर्तकः।

एवमवच्छिन्नत्वं दूषयित्वा पदसमुदाय इत्यत्र पदपदार्थं दूषयति—**अस्तु वेति**। अनवसरशङ्कां निराचष्टे—**यत्समुदाय इति**। पाणिनीयं पदलक्षणमुद्भावयति—**नन्विति**। तत्र ‘स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्’इति सूत्रोक्तसप्तविभक्त्यात्मकैकविंशतिवचनानां प्रत्याहारन्यायेन सुबिति निर्देशः। तिङिति च ‘तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्’इतिसूत्रोक्ताष्टादशरूपाणां निर्देशः एतद्विभक्तिवर्गद्वयान्तं शब्दरूपं पदमित्यर्थः। तदेतद्दूषयति—**मैवमिति**। किमेतत्पदमात्रलक्षणम्? किं वा तद्विशेषलक्षणम्? नान्त्यः; पदमात्रलक्षणस्य पृष्टत्वात्सामान्यलक्षणासिद्धौ विशेषासिद्धेश्च। प्रथमे त्वव्याप्तिरेकैकस्य लक्षणत्वे सुबन्तत्वस्य तिङन्तेऽभावात्तिङन्तत्वस्य च सुबन्तेऽभावात्। मिलितस्य लक्षणत्वे चोभयत्राव्याप्तिरेकैकस्योभयान्तत्वाभावादित्यर्थः। अनुगतरूपसिद्ध्यै शङ्कते—**उभयान्यदिति**। दूषयति—**नेति**। उभयत्वसंख्याविशिष्टादेतस्माद्यदन्यद्द्विश्वं तदन्यत्वाधिकरणं यदेतदुभयं तत्त्वमिह लक्षणे विवक्षितोऽर्थः। नचेदमुभयसाधारणमिति प्रत्येकमिलितविकल्पतद्दोषौ च समानावित्यर्थः। उभयान्यान्यशब्दानां च साधारणार्थविवक्षायां सर्वत्रातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। इदानीं तदन्तत्वानिरुक्त्यापि लक्षणं दूषयति—**अपि चेति**। किमयं बहुव्रीहिस्तद्गुणसंविज्ञानः? किं वाऽतद्गुणसंविज्ञानः? इत्यर्थः। आद्येऽपि किं विशेषणतया विभक्तिसत्त्वं विवक्षितम्? उपलक्षणतया वा? नाद्यः अव्यापनादित्याह—

है, उसे बाह्य पदार्थ के सत्त्व या असत्त्व की कोई अपेक्षा नहीं।” इसी दोष के कारण सम्बद्धमेव व्यावर्तकं विशेषणम्, असम्बद्धमपि व्यावर्तकमुपलक्षणम्”—यह कहना भी खण्डित हो जाता है।

अस्तु, आप रखिए अपना अवेच्छदक और अवच्छिन्न। यह ‘पद’ क्या वस्तु है, जिसके समुदाय को वाक्य कहा जाता है? यदि कहा जाय कि यह तो नितान्त प्रसिद्ध ही है कि सुबन्त और तिङन्त को पद माना जाता है, इसमें विचारने की बात ही क्या है? तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि प्रत्येक को लक्षण (सुबन्तं पदम्, तिङन्तं पदम्) मानने पर सुबन्त की तिङन्त में और तिङन्त की सुबन्त में अव्याप्ति एवं मिलित लक्षण (सुप् तिङ्-एतदुभयान्तं पदम्) मानने पर उभयत्र अव्याप्ति होती है। यदि कहें दोनों में से अन्यतर; तब भी ‘अन्यतर’ शब्द से प्रत्येक या मिलित की विवक्षा करने पर उक्त दोष बना रहता है। यदि कहें अन्यतर का अर्थ है उभय से जो अन्य, उससे अन्य; तब भी उभय शब्द से उभयत्व संख्या-विशिष्टत्व और अन्य शब्द से अन्यत्वाधिकरणत्व की विवक्षा करने पर दोनों (सुबन्त और तिङन्त) में उभयत्व संख्या-विशिष्टत्व और अन्यत्वाधिकरणत्व रहने से पूर्वोक्त दोष रहता ही है। “सुप्तिङन्तं पदम्”—इस सूत्र का भी क्या अर्थ है? जहाँ सुप् और तिङ् विद्यमान हैं, उसकी पद संज्ञा है? या जहाँ दोनों विधित्सित हैं, उसकी? प्रथम पक्ष में भी सुपादि

त्सितौ, तत्पदम् ? नाद्यः ; विभक्तिसत्त्वस्य विशेषणत्वेऽव्ययानां लुप्तविभक्तिकानामपदत्वप्रसङ्गात्। उपलक्षणत्वे च प्रातिपदिकस्यापि पदत्वम्, भाविनापि विनाशेन विनाशी घट इतिवद्भाविनापि विभक्तिसत्त्वेनोपलक्षितत्वोपपत्तेः। अत एव न द्वितीयः ; एतेन विभक्त्यन्ताः वर्णाः पदमित्यपि निरस्तम्। ननु शाब्दप्रतीत्यजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं पदमिति लक्षणम्, अत्र च शाब्दप्रतीतिजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वाक्यं प्रथमविशेषणेन व्यावर्त्यते, द्वितीयेन च प्रत्यक्षानुमानादावतिव्याप्तिर्व्युदस्यते, वर्णात्मकत्वविशेषणेन चादृष्टेश्वरादि। तदिहाधुनिकलक्षणे न कोऽपि दोष इति चेत्, मैवम् ; विकल्पासहत्वात्—तत्किं शब्दशब्देन पदं विवक्षितम् ? उत वाक्यम् ? नाग्रिमः ; पदस्याद्याप्यसिद्धेः। न पश्चिमः ; पदासिद्धौ

नाद्यः ; विभक्तीति। स्नात्वा स्नातुमित्यादीनि प्रसिद्धानि, नचैतेषु विभक्तिसत्त्वमस्ति, 'अव्ययादाप्सुपः' इति विभक्तिलोपात्, 'कृन्मेजन्तः क्त्वातोसुन्कसुनः' इति चाव्ययसंज्ञाविधानादितरथाऽकार्यभोजीत्यादिष्वपि लुप्तविभक्तिकेष्वव्याप्तिरिति भावः। उपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—**उपलक्षणत्वे चेति**। प्रातिपदिकग्रहणं धातोरप्युपलक्षणम्। ननु तदानीमविद्यमाना विभक्तिः प्रातिपदिकस्य कथमुपलक्षणमिति ? तत्राह—**भाविनापीति**। नाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्यत्र तदानीमविद्यमानेनापि नाशेनोपलक्षणदर्शनात्। एवं विनाशी घट इत्यत्रापीति भावः। विधित्सिताविति पक्षं दूषयति—**अत एवेति**। प्रातिपदिकमात्रस्यापि पदत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। उक्तदूषणं लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति**। विभक्तेर्विभक्त्यन्तत्वस्य चानिरूपणादित्यर्थः। आधुनिकरीत्या पदलक्षणमुद्भावयति—**नन्विति**। शब्दजनिता या प्रतीतिस्तयाऽजन्यत्वे सति शाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं च यत्तत्पदमित्यर्थः। स्वयमेव विशेषणत्रयस्य कृत्यमाह—**अत्र चेत्यादिना**। पदसमुदायात्मकं वाक्यमतः समुदायिपदविषयप्रत्यक्षप्रतीतिजन्यं तच्छाब्दप्रतीतिजनकं च वाक्यार्थप्रतीतेरपि शाब्दत्वादतस्तद्व्यवच्छेदाय तयाऽजन्यत्वविशेषणमित्यर्थः। शाब्दप्रतीत्यजन्येत्यत्र प्रतीतिविशेषणीभूतशब्दशब्देन पदमभिधीयते ? वाक्यं वा ? इति विकल्प्याद्यमात्माश्रयत्वेन दूषयति—**नाग्रिम इति**। द्वितीयं दूषयति—**न पश्चिम इति**। पदसमुदायो हि वाक्यमतः पदासिद्धौ वाक्यमप्यसिद्धमित्यर्थः। वाक्ये चातिव्याप्तिः ; तस्यापि वाक्यजन्यप्रतीत्यजन्यत्वे सत्युक्तविशेषणत्वात्। वर्णसमुदायरूपपदसमुदाये च वाक्ये वर्णात्मकत्वमप्यस्त्येवान्यथा पदस्यापि वर्णात्मकताभावप्रसङ्गादिति। नच शब्द-

---

की विद्यमानता विशेषण है ? या उपलक्षण ? विशेषण होने पर अव्ययों की पद संज्ञा न होगी ; क्योंकि उनके उत्तर विभक्ति लुप्त हो जाती है, विद्यमान नहीं रहती। उपलक्षण मानने पर प्रातिपदिक की भी पद संज्ञा हो जायगी ; क्योंकि जैसे "विनाशी घटः"—यहाँ भावी विनाश उपलक्षण है, वैसे ही प्रकृत में भी भावी सुबादि की विद्यमानता भी उपलक्षण हो सकेगी। इसी लिए द्वितीय (विधित्सित) पक्ष भी खण्डित हो जाता है। इन्हीं दोषों के कारण "विभक्त्यन्ता वर्णाः पदम्"—यह लक्षण भी निरस्त हो जाता है। यदि कहा जाय कि शाब्द प्रतीति से अजन्य होकर जो शाब्द प्रतीति के जनक वर्ण हैं, उन्हें पद कहते हैं—यह लक्षण निर्दुष्ट है। शाब्द प्रतीति से जन्य वाक्य शाब्द प्रतीति का जनक होता है, अतः वाक्य की व्यावृत्ति करने के लिए इस लक्षण में शाब्द प्रतीत्यजन्यत्व विशेषण दिया। "शाब्दप्रतीत्यजन्यत्वे सति प्रतीतिजनकत्वम्"—इतना ही लक्षण रखने पर प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति होती, उसे हटाने के लिए द्वितीय विशेषण (प्रतीतिगत शाब्दत्व) दिया। वर्णात्मकत्व विशेषण से अदृष्टादि की व्यावृत्ति की जाती है। तो यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं ; क्योंकि (शाब्दप्रतीत्यजन्यत्व—यहाँ) 'शब्द' शब्द से पद विवक्षित है ? या वाक्य ? पद की तो अभी तक सिद्धि ही नहीं हुई और पद की सिद्धि न होने से ही पद-समूह वाक्य की भी सिद्धि नहीं

तस्याप्यसिद्धेः। नाप्याकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति तृतीयः पक्षः; आकाङ्क्षायाः पुरुषधर्मस्याचेतनेषु पदेष्वभावात्। आकाङ्क्षा हि जिज्ञासा, उक्तं हि—

'अन्वितस्याभिधानार्थमुक्तार्थघटनाय वा।
प्रतियोगिनि जिज्ञासा या साकाङ्क्षेति गीयते॥' इति (प्र० पं० परि० पृ० ७)

योग्यतापि किं पदानामेव सहप्रयोगयोग्यत्वम्? उतान्योन्यान्वययोग्यार्थत्वम्? नाद्यः; वह्निना सिञ्चेदित्यादावपि सहप्रयोगदर्शनात्। नापि द्वितीयः; वाक्याभासेऽपि प्रसङ्गात्। नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति विप्रलम्भकवाक्यस्थपदानामप्यन्योन्यान्वययोग्यार्थकत्वात्। अन्यथा प्रामाणिकवाक्येऽपि तेषामनन्वयापत्तेः। प्रमाणान्तरविरोधादिह पदार्थानामन्वययोग्यता नास्तीति चेत्, न; संसर्गाभावेपि संसर्गयोग्यस्वभावस्याखण्डितत्वात्।

त्वजातीयाजन्यशब्दत्वजातीयजन्यप्रतीतिजनकवर्णसमुदायः पदमिति युक्तम्। प्रथमविशेषणेन सर्वशब्दत्वजातीयविवक्षायां तदजन्यत्वविशेषणं द्वितीयेन व्याहतम्। द्वितीये वाक्येतिव्याप्तिः; तस्यापि यत्किंचित्पदाजन्यत्वे सत्युक्तरूपत्वादिति। किं पदसमुदायो वाक्यमित्यादिना त्रिधा वाक्यलक्षणं विकल्प्याद्यौ द्वौ दूषितौ, इदानीं तृतीयं दूषयति—नाप्याकाङ्क्षेति। किमत्र योग्यतासन्निधिवदाकाङ्क्षाधिकरणत्वं विवक्षितम्? उत तद्विषयत्वम्? नान्त्यः; विषयविषयिभावस्य खण्डितत्वात्। आद्येऽसिद्धिमाह—आकाङ्क्षाया इति। अन्वितस्येति। वृक्ष इत्यत्रान्वितस्याभिधानार्थं विश्वजिता यजेतेत्यादावुक्तार्थयागस्य घटनाय प्रतियोगिनि जिज्ञासा या पुंसः सा आकाङ्क्षेति गीयत इत्यर्थः। एतच्चोभयं विविच्य दर्शितमभिहितान्वयवादे। योग्यतामपि विकल्प्य दूषयति—योग्यतेति। किं पदगता? पदार्थगता वा? इत्यर्थः। आद्येऽतिव्याप्तिमाह—वह्निनेति। तयोरपि सहप्रयोक्तुम् योग्यतास्त्येवेतरथा तत्कार्यसहप्रयोगो न स्यादित्यर्थः। वाक्याभासे गमनमेव दर्शयति—नद्यास्तीर इति। ननु बाध्यमानस्य तदर्थस्य कथमन्वययोग्यता? इति, तत्राह—अन्यथेति। अयं भावः—अत्र किं प्रमाणान्तरबाधादन्वयो नास्तीत्युच्यते? किंवा तद्योग्यतैव नास्तीति? आद्ये प्रकृतदोषापरिहारः; अन्वयाभावेपि योग्यतानपायात्। नहि यावद्योग्यत्वं कार्यदर्शनमस्ति; नियमेन कार्यानिष्पत्तेरिति चेन्न; असिद्धेः, आप्तवाक्ये तेषामेवान्वयदर्शनात्। एतेन योग्यताभावपक्षोऽपि प्रत्युक्तः। नचाप्तवाक्यस्थपदार्थेभ्योऽनाप्तवाक्यस्थपदार्था अन्य एवेति वाच्यम्, तथा सति तेषामन्वयायोग्यत्वस्याप्यसिद्धेः, क्व दृष्टं तेषामन्वययोग्यतास्तीति? संगतिग्रहणाभावदबोधकता च? अख्यातिवादनापि च पदार्थबोधाङ्गीकारात्, तस्मादस्त्येवानाप्तवाक्ये व्यभिचार इति। एतदेव चोद्यपरिहाराभ्यां विशदयति—प्रमाणान्तरेत्यादिना।

हो सकती। (३) तृतीय (आकांक्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यम्) लक्षण भी युक्ति-युक्त नहीं; क्योंकि आकांक्षा चेतन पुरुष का धर्म है, जड़ पदों में नहीं रह सकती। आकांक्षा नाम है—जिज्ञासा का, जैसा कि आचार्य शालिकनाथ ने कहा है—अन्वित का अभिधान करने तथा उक्तार्थ का सामञ्जस्य करने के लिए सम्बन्ध्यन्तर की जो जिज्ञासा होती है, उसे ही आकांक्षा कहा जाता है। पदों में योग्यता भी क्या है? क्या सहप्रयोग की योग्यता? या अन्योन्य अन्वय-योग्यार्थ-वाचकत्व? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि "वह्निना सिञ्चेत्"—यहाँ पर भी सहप्रयोग सम्भव है। द्वितीय लक्षण भी वाक्याभास में अतिप्रसक्त है; क्योंकि "नद्याः तीरे फलानि सन्ति"—इस प्रकार के प्रतारक वाक्य में सभी पद परस्परान्वय-योग्य अर्थ के वाचक हैं। अन्यथा प्रामाणिक पुरुष के वाक्य में घटित होकर भी ये पद अनन्वित रहेंगे। 'प्रमाणान्तर-विरोध के कारण प्रतारक-वाक्य-गत पदार्थों में अन्वय-योग्यता ही नहीं'—यह नहीं कह सकते; क्योंकि अन्वय न होने पर भी अन्वय-योग्यता का खण्डन नहीं हो सकता।

अस्तु वा यत्किंचिदविचारितरमणीयं पदम्, तत्समूहश्च वाक्यम्, तथापि कुत्र प्रमाणम इतिविवेचनीयम् ?

शब्दो मानं विवक्षायां ज्ञानेऽर्थे वा भवन्भवेत् ।
नाद्यौ तद्व्यभिचारित्वान्नान्त्यः संगत्ययोगतः ॥३१॥

न तावद् 'देवदत्त गामभ्याज' इति पदनिचयस्तद्विवक्षायां तज्ज्ञाने वा लिङ्गतया मानम्, व्यभिचारित्वात् । भ्रान्तस्य पिपासोः पानीयविवक्षायां कुकुदं देहीति प्रयोगदर्शनात् । अन्यथा जानतोऽपि विप्रलम्भकस्यान्यथाप्रयोगदर्शनाच्च । आप्तवाक्यमेव तयोर्लिङ्गं नेतरदिति चेत्; अस्तु तर्हि तदर्थस्यैव प्रतिपादकत्वं तस्य, तेनाव्यभिचारात् । किंच वाक्यं वाक्यार्थेनाविशेषितज्ञानविवक्षयोर्मानम् ? उत विशेषितयोः । नाद्यः; व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । द्वितीये तु तद्वि-

---

एवं तावच्छब्दविज्ञानादसंन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दमिति लक्षणे शब्दविज्ञानादित्यंशो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानीं तदपेक्षार्थविज्ञानमित्यत्रार्थशब्दार्थोऽपि विचारासह इत्याह—**अस्तु वेत्यादिना** । मानं भवन्शब्दः किं वक्तृविवक्षाया पदार्थसंसर्गविषयिण्यां लिङ्गतया भवेत् ? यथाहुः सौगताः—'वक्तुरभिप्रायं तु सूचयेयुः' इति । किंवा वक्तृप्रयोगमूलभूतज्ञाने लिङ्गताया, यथा वैशेषिकादयः ? उपलक्षणं चैतत् रागाभिप्राययोरपि । किंवा वाक्यार्थे स्वभावत एव यथा मीमांसकाः ? न तावदाद्यौ ; ताभ्यां शब्दस्य व्यभिचारात् । नाप्यन्त्यः ; पदार्थेषु संगत्यसंभवेन तत्संसर्गरूपवाक्यार्थेऽपि प्रामाण्यायोगादिति संग्रहश्लोकयोजना । इममेव संग्रहं विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । विवक्षाव्यभिचारमुदाहृत्य ज्ञानव्यभिचारमुदाहरति—**अन्यथा जानतोऽपीति** । तदुक्तं भट्टपादैः—

'अन्यथा संविदानोऽपि विवक्षत्यन्यथा यतः ।
तस्मादेकान्ततो नास्ति पुंवाक्यात्तद्धियां गतिः ॥' इति (श्लो० वा० २।१६०)

ननु नास्माभिः शब्दमात्रं विवक्षाज्ञानयोः प्रमाणमित्युच्यते, अपित्वाप्तवाक्यम्, तस्य च न ताभ्यां व्यभिचार इति शङ्कित्वा परिहरति—**अस्तु तर्हीति** । अनाप्तवाक्येष्वर्थव्यभिचारदर्शनेन खलु विवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यमाश्रीयते, तत्रापि चेदाप्तवाक्यत्वेन विशेषणम्, अर्थे एव किमिति तर्हि तादृशं वाक्यं प्रमाणं न स्यात् ? अस्ति हि तेनापि तस्याव्यभिचार इत्यर्थः । इतोऽपि विवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यं न संभवतीत्याह—**किंच वाक्यमित्यादिना** । किं ज्ञानविवक्षामात्रयोर्वाक्यं प्रमाणम् ? उत तत्तद्वाक्यार्थविशेषितज्ञानविवक्षयोः ? इत्यर्थः । आद्यमसंभवेन दूषयति—**व्यवहारेति** । नहि ज्ञानमात्रविवक्षामात्रप्रतिपत्त्या गवानयनादौ

अस्तु, मान लेते हैं कोई पद और पद-समूह वाक्य, तथापि यह शब्द किस अर्थ में प्रमाण होता है ? प्रमाण होता हुआ शब्द क्या विवक्षा में, या वक्ता के ज्ञान में लिङ्गविधया प्रमाण होता है ? या वाक्यार्थ में बोधकत्वेन ? प्रथम और द्वितीय पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि विवक्षादि का शब्द व्यभिचारी है । अन्तिम पक्ष भी उचित नहीं ; क्योंकि शब्द की अर्थ के साथ संगति ही नहीं हो सकती । अर्थात् 'देवदत्त ! गौ ले आ'—आदि पद-समूह वक्ता की विवक्षा या उसके ज्ञान में लिङ्गरूप से प्रमाण नहीं हो सकता ; क्योंकि व्यभिचारी है,—यह देखा गया है कि प्यासा व्यक्ति भ्रम से पानी की विवक्षा में कह बैठता है—"कुकुदं देहि" (अतः शब्द, विवक्षा का व्यभिचारी है)। इसी प्रकार प्रतारक व्यक्ति अन्यथा जानता हुआ भी अन्यथा कह डाला करता है (अतः शब्द, ज्ञान का व्यभिचारी है)। यदि कहा जाय कि आप्त पुरुष का वाक्य ही विवक्षा और ज्ञान का लिंग होता है। तब तो वाक्यार्थ में ही वह प्रमाण क्यों न मान लिया जाय ? उस अर्थ के साथ भी उसका व्यभिचार नहीं । यह भी जिज्ञासा होती है कि वाक्य, वाक्यार्थ से अविशेषित ज्ञान और विवक्षा में

शेषणभूतोऽर्थः केनाधिगतः ? इति वाच्यम् न तावत्प्रत्यक्षेण ; नदीतीरे फलसत्तायाः श्रोतुरिन्द्रियासन्निकृष्टत्वात् । नानुमानेन ; तद्व्यभाप्तलिङ्गाभावात् । नाप्येतदवगतिः स्मृतिः ; पूर्वमननुभूतत्वात् । नाप्युत्प्रेक्षा ; तस्याः प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भावात् । नापि संशयः ; कोटिद्वयानवलम्बित्वात् । नापि विपर्ययः ; तत्र प्रवृत्तस्य तत्प्राप्त्यभावप्रसङ्गात् । शब्दादेव तु तदधिगमे परस्पराश्रयता, अनुमानवैयर्थ्यं च । अनधिगमे तु तद्विशिष्टज्ञानानुमानायोगः । नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायात् । नापि तृतीयः ; अर्थेन शब्दसंगत्यभावात्—शब्दार्थयोरेकदेशकालत्वनियमाभावात् । वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धोऽस्तीतिचेत् ; वाचकत्वं

प्रवृत्तिः संभवतीत्यर्थः। द्वितीये तु ते वाक्यार्था ज्ञाताः ? न वा ? आद्ये किमन्यतस्तेषां ज्ञानम् ? शब्दत एव वा ? न तावदन्यत इत्याह—**न तावत्प्रत्यक्षेणेत्यादिना** । **इन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्** । वाक्यप्रयोगसमये इति शेषः । ननु स्मृतिरेव सा अतः संस्कारादेव प्राप्तेति, तत्राह—**नाप्येतदवगतिरिति** । उत्प्रेक्षापक्षेपि न तावत्स्मृतिः ; निरस्तत्वात् । अनुभवपक्षे तु प्रमाणम् ? न वा ? आद्ये प्राह—**प्रत्यक्षेति** । द्वितीयेपि संशयः ? विपर्ययो वा ? नोभावपीत्याह—**नापि संशय इति** । अस्तु तर्हि शब्दादेव तदधिगम इति, नेत्याह—**शब्दादेवेति** । यदा शब्दतोर्थम् ज्ञात्वा तद्व्यावृत्तविवक्षा वा ज्ञानं वा शब्देन लिङ्गभूतेनानुमीयते ताभ्यां चार्थानुमानम् , तथाचार्थज्ञाने विवक्षाज्ञानं विवक्षाज्ञाने चार्थज्ञानमिति परस्पराश्रय इत्यर्थः । किञ्च प्रथमत एवार्थप्रतीतौ तद्विवक्षया पुनस्तदनुमानं च वृथेत्याह—**अनुमानेति** । अथवा न परस्पराश्रयः । अर्थव्यावृत्तविवक्षया पुनरर्थानुमानाभावाद्व्यवहारस्य प्राथमिकार्थप्रतीत्यैवोपपत्तेरिति यदि परो ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अनुमानेति** । तर्हिप्राथमिकमर्थमतिलंघ्य विवक्षानुमानमनर्थकं तावन्मात्रादेव व्यवहारसिद्धेरित्यर्थः एवं ज्ञायमानार्थव्यावृत्तविवक्षाज्ञानयोः प्रामाण्यमिति पक्षं दूषयित्वाऽज्ञायमान इति पक्ष दूषयति—**अनधिगम इति** । अर्थे प्रमाणं शब्द इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति** । **अर्थेनेति** । पदार्थेन संगत्यभावात् पदनिचयस्य न पदार्थसमूहे प्रामाण्यमित्यर्थः । ननु माभूदेकदेशादिनियमलक्षणः संबन्धः , वाच्यवाचकलक्षणस्त्वस्ति संबन्ध इति शङ्कते—**वाच्येति** । संबन्धव्यतिरेकेणार्थस्य वाच्यत्वं शब्दस्य वाचकत्वं वा न संभवति तत्र तस्यैव संबन्धोक्तावात्माश्रयः स्यादिति परिहरति—**वाचकत्वमित्यादिना** । गोष्ठीषु सदःस्वित्यर्थः । असंबद्धस्यैव वाच्यत्वं वाचकत्वं वेत्याशङ्क्यातिप्रसक्तिः

प्रमाण है ? या वाक्यार्थ से विशेषित में ? यदि अविशेषित में, तब तो अर्थविशेष में व्यवहार कैसे होगा ? द्वितीय पक्ष में विशेषणीभूत अर्थ का ज्ञान किससे होता है ? प्रत्यक्ष से तो हो नहीं सकता ; क्योंकि नदी-तीर वर्ती फलों के साथ श्रोता की इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं । कोई लिंग न होने के कारण अनुमान से भी नहीं हो सकता । उस अर्थ के ज्ञान को स्मृति भी नहीं कह सकते ; क्योंकि वह पूर्व अनुभूत नहीं । उत्प्रेक्षा भी नहीं कह सकते ; क्योंकि प्रमाणभूत उत्प्रेक्षा या तो प्रत्यक्ष होती है, या अनुमान, किन्तु उक्त अर्थ-ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत नहीं । संशय भी नहीं ; क्योंकि कोटिद्वयावगाही नहीं । उसे विपर्यय मानने पर प्रवृत्त पुरुष को अथ की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए । शब्द से ही विशेषणभूत अर्थ का ज्ञान मानने पर अन्योन्याश्रयता होती है (क्योंकि शब्द से विशेषणभूत अर्थ का ज्ञान हो जाने पर अर्थ-विशेषित विवक्षा का अनुमान, उस अनुमित विवक्षा से अर्थानुमान—इस प्रकार अर्थ-ज्ञान से विवक्षा का ज्ञान और विवक्षा-ज्ञान से अर्थ-ज्ञान—यह अन्योन्याश्रय है । एवं पहले से ही अर्थ-बोध हो जाने पर) अनुमान की सार्थकता क्या ? यदि विशेषणभूत अर्थ का ज्ञान न होने पर उस विशेषण से विशेषित विवक्षा या ज्ञान का अनुमान कैसे होगा ? क्योंकि यह नियम है कि विशेषण का ग्रहण न होने पर विशिष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता । तृतीय (अर्थ में शब्द प्रमाण है) पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि शब्द और अर्थ का देश-काल समान

नाम तद्विषयप्रतीतिजनकत्वम् , वाच्यत्वम् तज्जन्यप्रतीतिविषयत्वम् , तदेवासति संबन्धे कथं स्यादिति पर्यनुयोगे तस्मात् इव तद्भवतीति ब्रुवाणः पण्डितगोष्ठीषु कथं नापत्रपेत् ? अन्तरेण च संबन्धं शब्दस्यार्थविशेषप्रतीतिजनकत्वेऽध्यक्षानुमानयोरपि संवन्धसमर्थनवैयर्थ्यापातः।

कस्य चायं शब्दो वाचकः ? किं जातेः ? उत व्यक्तेः ? किं वा जातिविशेषितायाः व्यक्तेः ? नाद्यः ; विशेषविषयव्यवहाराभावप्रसङ्गात् । अथ जातावेवावसितसंगतिकानि पदान्यनाकलितविशेषायास्तस्या बोद्धुमशक्यत्वात्तत्रापर्यवसितव्यापाराणि विशेषानपि बोधयन्तीति मतम् , तदपि न ; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—प्रथमं जातिमात्रमवबोध्यापर्यवसानादनन्तरं विशेषमवबोधयन्ति ? किं वान्तर्भावितविशेषामेव जातिम् ? नाद्यः ; पदबुद्ध्योर्विरम्य व्यापाराभावात् । द्वितीयेऽपि विशेषेषु पदानां शक्तिरस्ति ? न वा ? अस्ति चेत् , जातिरेव शब्दार्थ इत्यभ्युपगमभङ्गप्रसङ्गः । अस्तु तर्हि जातिरेव वाच्या, व्यक्तिस्तु तदविनाभा-

---

स्यादित्याह—अन्तरेणेनेति ।

अस्तु वा वाचकत्वं तथापि कस्य वाचकः शब्द इति विकल्प्य दूषयति—कस्य चायमित्यादिना । यद्यप्याकृत्यधिकरणे, नियोगेन विकल्पेन द्वे वा सहसमुचितः "संबन्धः समुदायो वा विशिष्टा चैकयापि वा" इति वार्तिककारैर्बहवः पक्षा उपन्यस्ताः। तथापि तेषामत्यन्ताभासत्वात्तैरेव निरस्तत्वाच्च विस्तरभीरुणा चार्येणेह नोपन्यस्य निरस्यन्ते। जातिमात्रे गृहीतसंगतिकस्य व्यक्तावपर्यवसानवृत्त्या बोधकत्वमिति प्राभाकररीत्या पूर्ववादिनोक्तं विकल्प्य दूषयति—तथा हीति । यदिदमपर्यवसानाद्व्यक्तिबोधनं तत्किं जातिप्रतीतेः पश्चात्? किं वा जात्या सहैव? इत्यर्थः । आद्यमसंभवेन निरस्यति—नाद्य इति । बुद्धिग्रहणं दृष्टान्तार्थम्, द्वितीयेपि किं व्यक्तावशक्तः? शक्तो वा? नाद्यः; अशक्तस्य तद्वाचकत्वाभावात् द्वितीयेपि व्यक्तेरपि शब्दवाच्येत्यपसिद्धान्तापत्तिरित्याह—द्वितीयेपीति । ननु व्यक्तावशक्तमेव पदम्, कथं तर्हि तत्र बुद्ध्युत्पत्तिः? लक्षणयेति शङ्कते—अस्तु तर्हीति । जातिव्यक्त्योः साधारण्येनासाधारण्येनोभयथापि चाविना-

---

न होने से अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध ही नहीं होता। वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध तो है ही—यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि वाचकत्व नाम है—अर्थविषयक प्रतीति-जनकत्व का और वाच्यत्व नाम है—शब्द-जन्य प्रतीति-विषयत्व का। 'यह वाचकत्व और वाच्यत्व ही उनमें बिना किसी सम्बन्ध के कैसे बनेगा ?' इस प्रश्न के उत्तर में यदि कहा जाय कि वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से ही बन जायगा, तब तो आत्माश्रयता होती है। बिना किसी सम्बन्ध के ही शब्द यदि अर्थ विशेष की प्रतीति का जनक मान लिया जाय, तब तो प्रत्यक्ष और अनुमान में भी सम्बन्ध-समर्थन व्यर्थ ही हो जायगा।

यह शब्द वाचक भी किसका है ? जाति का ? या व्यक्ति का ? या जाति-विशेषित व्यक्ति का ? जातिमात्र का वाचक मानने पर व्यक्ति विशेष में व्यवहार नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि यद्यपि जाति में ही पदों की शक्ति निश्चित है, तथापि व्यक्ति-बोध के बिना जाति का बोध नहीं कराया जा सकता, अतः पद, विशेष (व्यक्ति) के भी बोधक होते हैं। तो यह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकिं पद क्या जातिमात्र का बोध कराने के अनन्तर व्यक्ति के बोधक होते हैं ? या व्यक्ति-गर्भित जाति का बोध एक ही बार करा देते हैं ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि शब्द और ज्ञान ठहर-ठहर कर विभिन्न अर्थों का प्रकाश नहीं किया करते। द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि पदों की व्यक्ति में शक्ति होती है ? कि नहीं ? यदि है, तब तो आपका यह सिद्धान्त भंग हो जाता है कि 'जाति में ही पदों की शक्ति होती है'। यदि कहें कि जाति को वाच्य और व्यक्ति को वाच्यार्थ से अविनाभूत होने के कारण लक्ष्य मानेंगे, तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि अविनाभाव ही

वाल्लक्ष्येति चेत्, मैवम्; अविनाभावासिद्धेः। किं गोत्वजातेर्व्यक्तिमात्रेणाविनाभावः? किं वा गोव्यक्त्या? नाद्यः; गोत्वजातेर्घटादिव्यक्तिभिरविनाभावाभावात्। न द्वितीयः; आत्माश्रयत्वात्। गोत्वजातिविशिष्टायां गोत्वस्य वर्तनाङ्गीकारात्। विशिष्टस्य लक्ष्यत्वे विशेषणभूताया जातेर्लक्ष्यत्वप्रसङ्गात्। एतेन सास्नावता विशेषेणाविनाभाव इत्यपि प्रत्युक्तम्; किंच सापि शक्तिरनधिगता न कार्याय पर्याप्तेति तदधिगतिरवश्याश्रयणीया। न च सा शक्या, विशेषाणामानन्त्याद् व्यभिचाराच्च। नास्ति चेद्, व्याघातः—तत्रासमर्थानि बोधयन्ति च तानीति। अपि च जातिरेव शब्दार्थ इति नियमे कालाकाशदिगादिशब्दानामवाचकत्वप्रसङ्गात्, कालाकाशादौ कालत्वादिजातेरभावात्। यत्र संभवति तत्र जातिरितरत्र तु व्यक्तिरिति व्यवस्थेति चेत्, न; पाचकादिशब्दानामुपाधिपरत्वस्वीकारात्। अस्तु तर्हि

भावोऽसिद्ध इत्याह—**मैवमित्यादिना**। ननु जातिमात्रस्य न व्यक्तिमात्रेणाविनाभावः, किंतु तद्विशेषेणेति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। यदि गोत्वविशिष्टायां व्यक्तौ गोत्वस्याविनाभावस्तर्हि तत्रैव सा वर्तत इति वाच्यम्, तथा चात्माश्रयत्वमित्याह—**आत्माश्रयत्वादिति**। उपलक्षणं चैतज्जातेः जात्यविनाभावादात्माश्रयान्तरस्यापि। किंच गोत्वविशिष्टव्यक्तेरविनाभावाल्लक्ष्यत्वे तद्विशेषणजातेरपि लक्ष्यत्वमित्यभिधेयशून्यता शब्दस्य स्यात्तदभावे च लक्षणापि न संभवेदिति नैरर्थक्यमेव शब्दसामान्यस्य समर्थितं स्यादित्यभिसंधिराह—**विशिष्टस्येति**। ननु सास्नावता विशेषेण गोत्वजातेरविनाभावः, न गोत्वविशिष्टेन, तथाच नात्माश्रयतेति, तत्राह—**एतेनेति**। सोपि हि गोत्वविशिष्ट एवेति पूर्वोक्तदूषणद्वयं स्यादित्यर्थः। अनन्तव्यभिचाररूपो वा पूर्वोक्तदोषः। किंच यया कयापि भवत्वविनाभावः, तथापि तासु व्यक्तिषु बोधनसामर्थ्यमस्ति? न वा? अस्तिचेदगृह्यमाणा वा? गृह्यमाणा वा? आद्ये प्राह—**किंच सापीति**। अनधिगतलक्षणापरिकरं प्रत्यपि बोधकत्वप्रसङ्गाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीये प्राह—**न च सेति**। ननु नास्त्येव तादृशी शक्तिरभिधेयनिष्ठत्वाच्छक्तेरिति तत्राह—**नास्ति चेदिति**। व्याघातमेव दर्शयति—**तत्रेति**। किंच सर्वशब्दानां जातिरर्थः? उत यत्र संभवति तत्रेति मतम्? नाद्य इत्याह—**अपि चेति**। नह्येकव्यक्तिषु कालादिषु जातिरस्तीति तद्वाचकशब्दानां नैरर्थक्यप्रसङ्ग इत्यर्थः। द्वितीयं शङ्कते—**यत्रेति**। एतदव्यापकमुभयव्यतिरिक्तस्योपाधेरपि क्वचिच्छब्दार्थत्वाश्रयणादित्याह—**न पाचकादीति**। अव्याप्तिद्वयं परिहरन्शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। त्रितयम्, जातिर्व्यक्तिरुपाधिश्चेत्यर्थः। एतदपि न संभवति, उपाधेः

असिद्ध है। क्या गोत्व जाति का समस्त व्यक्तियों से अविनाभाव है? या केवल गो व्यक्ति से ही? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि गोत्व जाति का घटादि व्यक्तियों के साथ अविनाभाव नहीं। द्वितीय पक्ष मानने में आत्माश्रयत्व होता है; क्योंकि गोत्वजाति-विशिष्ट में गोत्व की वृत्ति मानते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जाति-विशिष्ट व्यक्ति को लक्ष्य मानने पर विशेषणीभूत जाति में भी लक्षणाविषयता माननी पड़ेगी। इससे सास्नादिमत्त्व-विशिष्ट व्यक्ति के साथ गोत्व का अविनाभाव मानना भी निरस्त हो जाता है। व्यक्ति में वह शक्ति भी अनधिगत रहकर कोई काम नहीं आ सकती, अतः उसकी अधिगति (ज्ञान) अवश्य करनी होगी। वह सम्भव नहीं; क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त हैं, अतः शक्तियाँ भी अनन्त माननी होंगी और एक व्यक्ति में गृहीतशक्तिक गो पद का प्रयोग अन्य गोव्यक्ति में भी होने से व्यभिचार भी है। यदि कहें कि व्यक्ति में शक्ति है ही नहीं, तब तो महान् विरोध उपस्थित होता है कि व्यक्ति में अशक्त पद भी व्यक्ति के बोधक होते हैं। 'जाति ही शब्द का शक्य है'—यह नियम मानने पर जाति-रहित काल, आकाश, दिशादि के वाचक शब्दों में अवाचकत्व आ जायगा। 'जहाँ सम्भव है, वहाँ जाति ही शक्य है, किन्तु कालादि शब्दों की व्यक्ति शक्य है'—यह व्यवस्था करने पर पाचकादि शब्दों की (एक तृतीय अर्थ) उपाधि में शक्ति नहीं मान सकेंगे।

त्रितयं शब्दार्थ इति चेत्, न; जातिशब्दार्थत्वदोषाणामुपाधिष्वपि तुल्यत्वात्। नच त्रितयस्य मिलितस्यैकैकस्य वा शब्दार्थत्वप्रयोजकता; व्यभिचारित्वात्, अन्यतमत्वस्य च खण्डितत्वात्। एतेन व्यक्तेरपि शब्दार्थता प्रत्याख्याता; आनन्त्यव्यभिचारयोस्तत्रापि तुल्यत्वात्। विशिष्टस्यापि व्यावृत्तत्वाविशेषाद्व्यक्तेरिव तस्यापि शब्दार्थता निरसनीया। अथ जातिवैशिष्ट्यं सर्वत्रानुगतमेव शब्दार्थः, तदापि जातेः शब्दार्थतायामुक्तं दूषणं न प्रत्युद्ध्रियेत। किंच वाच्यत्वमर्थस्य धर्मः, वाचकत्वं च पदस्य, तथा च प्रतिवस्तुनियते वाच्यत्वे वाचकत्वे च संबन्धवाचोयुक्तिः कुतस्त्या? एतेन साङ्केतिकः शब्दार्थयोः संबन्ध इत्यपि परास्तम्; सङ्केतस्यापि जातौ व्यक्तौ विशिष्टे वाभिहितन्यायेन दुर्ग्रहत्वात्। तस्माच्छास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरिति लक्षणमलक्षणम्।

शब्दार्थतायां जातिवदुपहितेषु व्यक्तिष्विव प्रवृत्त्यसंभवादेस्तुल्यत्वादित्याह—**न जातीति**। किंच त्रितयमपि किं मिलितं शब्दार्थः? किं वैकैकम्? नाद्यः; प्रत्येकस्थले तदभावात्। द्वितीयोऽसिद्धः; एकैकस्थले तदितरयोरभावादेव। अथान्यतमं शब्दार्थः स्यात्, न, अन्यतमस्य त्रितयातिरिक्ततया दुर्वचत्वस्याधस्तात्क्रियासमभिहारेणोदाहृतत्वादित्याह—**अन्यतमत्वस्य चेति**। तदेवं जातिः शब्दार्थ इति प्रथमः पक्षः प्रतिक्षिप्तः। द्वितीयं दूषयति—**एतेनेति**। लक्षणादिपक्षोक्तदोषविशेषमतिदिश्यमान विशदयति—**आनन्त्येति**। जातिविशेषिता व्यक्तिः शब्दार्थः इति तृतीयपक्षेपि व्यक्तिपक्षोक्तदूषणमतिदिशति—**विशिष्टस्यापीति**। ननु न जातिविशिष्टा व्यक्तिः शब्दार्थः, येनानन्त्यादिदोषः स्यात्किंतु सर्वविशिष्टेष्वनुगतं यज्जातिवैशिष्ट्यं तदेव शब्दार्थ इति, तदपि न; तस्यापि जातिवदेवानुगतत्वापावृत्तेषुप्रवृत्त्यभावादेस्तादवस्थ्यादित्याह—**अथ जातीत्यादिना**। यस्तु वाच्यवाचकत्वमेव संबन्ध इत्युद्भाव्य दूषितः पक्षः, तत्रैव सिंहावलोकितेन दूषणान्तरमाह—**किंचेति**। संबन्धिद्वयवर्त्येको हि संबन्धो नाम, न चैतत्तथेतीदं संबन्ध एव न भवेदित्यर्थः। अत्र नैयायिकाः प्राहुः—'सांकेतिकः शब्दार्थयोः संबन्धः' इति। तदपि—**एतेनेति**। अतिदिश्यमानमेवाह—**संकेतस्यापीति**। एवं मीमांसकानां शाब्दप्रमाणलक्षणे दूषणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

जाति, व्यक्ति और उपाधि—तीनों में भी शक्ति मान लेंगे—वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि जाति-शक्ति-पक्षोक्त दोष उपाधि में भी तुल्य ही है। तीनों भी मिलितरूप से शक्य होंगे? या प्रत्येक? मिलित शक्य होने पर प्रत्येक में शब्द-प्रयोग न होगा और प्रत्येक को शक्य मानने पर उससे अतिरिक्त में शक्ति न बनेगी। अन्यतमत्वपक्ष का तो खण्डन हो ही चुका है। इससे व्यक्ति में भी शब्दार्थत्व का खण्डन हो जाता है; क्योंकि वहाँ पर भी लक्षणा-पक्ष वाले आनन्त्य, व्यभिचार दोष समान ही हैं। जाति-विशिष्ट व्यक्तियाँ भी व्यक्ति के समान ही परस्पर व्यावृत्त (अनन्त) हैं, अतः व्यक्ति के समान ही उनमें भी शब्दार्थत्व नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि सभी व्यक्तियों में अनुगत जाति-वैशिष्ट्य को शक्य मानेंगे; तो वहाँ भी जाति-शक्ति-पक्षोक्त दोषों का उद्धार नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि वाच्यत्व तो अर्थ का धर्म है और वाचकत्व, शब्द का। सम्बन्ध होता है द्विष्ठ, किन्तु वाच्यत्व और वाचकत्व—दोनों अपने-अपने आधारमात्र में रहनेवाले हैं, इन्हें सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है? इससे 'शब्द और अर्थ का सांकेतिक सम्बन्ध है'—यह मत भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि संकेत भी जाति में है? या व्यक्ति में? या विशिष्ट में? इस प्रकार उक्त दोषों के कारण संकेत-ग्रह भी सम्भव नहीं। इस लिए "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्"—यह लक्षण अलक्षण ही सिद्ध हुआ।

तथाप्तवाक्यं शब्दप्रमाणमिति नैयायिकानामपि ।
आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु ।
व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तितः ॥३२॥

स्वकपोलकल्पितमालतीमाधवादिक्येषु प्रामाण्याभावादतिव्याप्तिः । नहि पुराप्त एव सन्नाटकनाटिकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणानाप्तो भवति भवभूतिः । उक्तं चैतदुम्बेकेन—"यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति, न त्वयाननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यम्, यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते, इति तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः" इति । कश्चायमाप्तो नाम ? यथादृष्टार्थवादीति चेत्, न; भ्रान्तवाक्येऽपि प्रसङ्गात्, प्रमाणदृष्ट इति विशेषणेऽपि, प्रमाणदृष्टस्य प्रमादादिनान्यथाकथनेऽपि प्रसङ्गात् । प्रमाणेन यथादृष्टं तथावादीति चेत्, मैवम्; एकदेशे तथाभूतवादित्वेप्यंशान्तरेऽन्यथाभूतवादिन्यपि प्रसङ्गात् । यावत्प्रमाणदृष्टं तावत एव वक्ताप्त इति चेत्, न; अज्ञातसंदिग्धानुवादादिवाक्यप्रयोक्तुरनाप्तत्वप्रसङ्गात् । अथ निर्दोष आप्त इति चेत्, मैवम्;

नैयायिकसंमतमपि लक्षणं दूषयति—तथेति । लक्षणमलक्षणमित्यनुषज्यते । अस्यातिव्याप्तिमसिद्धिं च श्लोकेनाह—आप्तेति । अनैकान्तिकतां विवृणोति—स्वकपोलेति । नन्वौत्प्रेक्षिकार्थे वचांसि नाप्तवाक्यान्यतो नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—नहि पुरेति । नाटकादिकाव्ययोगान्ता नाटकविशेषाः । भवभूतिरुम्बेकः । एतदेव ग्रन्थान्तरस्थेन तद्वचनेन संमतयति—उक्तं चैतदिति । तत्र ह्यननुभूतार्थवाक्यस्योदाहरणत्वेनउच्यमानमप्यङ्गुल्यग्रादिवाक्यमाप्तोक्तवाक्यमेवेत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः । आप्तत्वस्यानिरुक्तित इत्येतद्विवृणोति—कश्चायमिति । भ्रान्तवाक्य इति । सोपि हि यथा स्वेन दृष्टं तथैव वक्तीत्यर्थः । ननु प्रमाणदृष्टार्थवक्ताप्तो नाम, ततो भ्रान्ते नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—प्रमाणदृष्टेति । ननु न प्रमाणदृष्टस्य वदनमात्रं विवक्षितं येनान्यथावदनमादायाव्याप्तिः स्यात्किंतु यथा दृष्टं तथैव वदनमिति शङ्कते—प्रमाणेनेति । अत्र किं प्रमाणदृष्टस्य तथावदनमात्रं विवक्षितम् ? तिरिक्तावदनमपि वा ? आद्ये प्राह—मैवम्; एकदेशेति । द्वितीयं शङ्कते—यावदिति । तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—अज्ञातेति । नहि तेषां प्रमाणदृष्टत्वम्, व्याघातादित्यर्थः । किमिदं निर्दोषत्वं किं सर्वविषये ? किं वा क्वचिद्दोषराहित्यम् ? आद्येऽव्याप्तिमाह—मैवम्; आप्तानामिति । क्वचिद्रागादिदोषवतोन्यत्र यथार्थवदनमप्याप्तवाक्यं न स्यादित्यव्याप्तिरिति भावः । द्वितीये त्वतिव्याप्तिर्यत्रक्वचिद्दोषरहितस्यान्यथावदनेपि प्रसङ्गात् । ननु यत्र यो दोषरहितः स

उसी प्रकार "आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणम्"—नैयायिकों का लक्षण भी आप्तोचरित मालतीमाधवादि वाक्यों में अतिव्याप्त होने से युक्त नहीं। और आप्तत्व का निर्वचन भी सम्भव नहीं। स्वकपोलकल्पित मालतीमाधवादि वाक्यों में प्रामाण्य न होने पर भी उक्त लक्षण वहाँ जाता है, अतः अतिव्याप्त है। यह हो नहीं सकता कि पहले भवभूति आप्त रहे हों और नाटक नाटिकादि के रचना से अनाप्त हो जायँ। उम्बेक भट्ट ने कहा भी है—'आप्त व्यक्ति भी किसी को जो यह उपदेश करता है कि आपको कभी अननुभूतार्थक वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जैसे उँगली की नोक पर हाथियों के झुण्ड के झुण्ड बैठे हैं।' वहाँ अस्पष्ट अतिव्याप्ति है। यह आप्त भी क्या है ? यदि कहें कि यथादृष्टार्थ-वादी को आप्त कहते हैं; तो भ्रान्त पुरुष भी जैसा देखता है, वैसा ही कहता है, अतः वाक्य अतिप्रसंग होगा। यदि प्रमाण-दृष्ट-यह विशेषण लगायें; तब भी प्रमाण-दृष्ट वस्तु के अन्यथाकथन में अतिप्रसंग होता है। यदि कहा जाय प्रमाण से जैसा देखा, वैसा ही कहने वाला आप्त है। फिर भी जहाँ वाक्य के एक भाग में तथाभूतवादित्व होने पर भी भागान्तर में अन्यथाभूतवादित्व हैं, वहाँ भी अतिप्रसंग होगा। यदि कहा जाय कि जितना अंश प्रमाण-दृष्ट है, उतने अंश का वक्ता पुरुष आप्त कहलाता है; तब अज्ञात, सन्दिग्ध, अनुवादादि वाक्यों का प्रयोक्ता अनाप्त

आप्तानामपि क्वचिद्रागादिदोषसंभवात्। यत्र विषये यो निर्दोषः स तत्राप्त इति चेत्, न; यत्तच्छब्दयोर्विशेषविषयत्वेनासाधारण्यादव्याप्तेः । तस्मादाप्तवाक्यमागम इत्यप्यलक्षणम्। यथार्थवाक्यं शब्दप्रमाणमित्यपि न; यथार्थत्वस्य प्रमितिखण्डनावसर एव खण्डितत्वात्। एतेन 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनं शब्दः' इति भूषणस्यापि लक्षणमपास्तम्; ऊर्ध्वीकृततर्जन्या दशसंख्यानुमाने शङ्खध्वनौ चानुविधेयपुरुषाभिप्रायानुमापके व्यभिचारात्, समयसम्यक्त्वयोश्च पूर्वमेव निरासात्। तदेवं शब्दलक्षणमपि दुर्भणमिति सिद्धम्।

तथार्थापत्तिलक्षणमपि। अन्यथानुपपन्नदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः। यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहान्तरभावमलोक्य बहिरवस्थानज्ञानम्। नन्विदमनुमानमेवास्तु, देवदत्तो बहि-

---

तत्राप्तो नान्यत्रेति शङ्किते परिहरति—यत्तच्छब्दयोरिति। साधारणविषयत्वे च पूर्वोक्तातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्! यथार्थत्वस्येति। प्रमात्वव्यञ्जकखण्डनसमय इत्यर्थः। भासर्वज्ञोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषणमतिदिशति—एतेनेति। अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थं समयग्रहणम्। प्रत्यक्षव्यावृत्त्यै परोक्षग्रहणम्। संशयादिव्यावृत्त्यै सम्यग्ग्रहणम्, स्मृतिव्यावृत्त्यर्थमनुभवग्रहणम्। यत्र हि वणिजां समयबलेनोर्ध्वीकृता तर्जन्यङ्गुलिर्दशसंख्यामनुमापयति, तत्रानुमाने त्वदुक्तलक्षणमतिपतेदित्यर्थः। अतिव्याप्त्यन्तरमाह—शङ्खध्वनौ चेति। अनुविधेयः प्रभुः। तत्रापि हि प्रभोः सेनोद्योगपरावृत्त्याद्यभिप्रायं समयबलेन शङ्खध्वनिः सैनिकानामनुमापयतीत्यर्थः। एवमधिकं दर्शयित्वातिदिष्टांशं विशदयति—समयेति।

तदित्थं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीत्यक्षपादसूत्रपरिगणनाक्रमेण प्रमाणचतुष्टयं खण्डितम्। इदानीं भाट्टप्राभाकराभिमतामर्थापत्तिं खण्डयति—तथेति। दुर्भणमित्यनुवर्तते। तत्र तावदर्थापत्तिलक्षणं दर्शयति दूषणाय—अन्यथेति। प्रत्यक्षादिव्यवच्छेदार्थमनुपपन्नदर्शनादित्युक्तम्। अनुपपद्यमानविषयनिर्विकल्पकदर्शनात्। यत्सविकल्पकं तत्सदृशं स्मरणं वा भवति तद्व्यवच्छेदार्थमुपपादक इत्युक्तम्। तत्र द्विविधार्थापत्तिः—दृष्टार्थापत्तिः, श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र प्रथमामुदाहरति—यथा जीवत इति। अत्र हि जीवतो देवदत्तस्य बहिरवस्थानं विनानुपपद्यमानगृहाभावदर्शनात्तदुपपादकबहिरवस्थानज्ञानमर्थापत्तिरित्यर्थः। तत्रैव वैशेषिकादेरनुमानान्तर्भाववादिनो मतमाशङ्क्य मीमांसकः पार्थक्यं समर्थयते—नन्वित्यादिना।

ही हो जायगा। "निर्दोष आप्तः"—यह लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि आप्त व्यक्तियों में भी अन्यविषयक रागादि दोष संभावित हैं। यदि कहा जाय कि जिस विषय में जो निर्दोष है, वह उस विषय में आप्त है; तब तो 'यत्-तत्' शब्द—घटित लक्षण व्यक्ति विशेष में ही रह जायगा, सर्वव्यापक न होगा। इसलिए आप्त-वाक्य आगमप्रमाण है—यह लक्षण भी अलक्षण ही रहा। "यथार्थवाक्यं शब्दप्रमाणम्"—यह लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं; क्योंकि यथार्थत्व का प्रमिति-खन्डन के अवसर पर खण्डन कर दिया गया है। इसी से भूषणकार ने जो लक्षण किया है—"समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनमागमः" (न्या० सार० पृ० २९)। वह लक्षण भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि कुछ लोग संकेत कर लेते हैं कि जब तर्जनी उँगली ऊपर उठाई जाय, तो उसका अर्थ समझ लिया जाय—दश संख्या। इसी प्रकार सेनाध्यक्ष अपनी सांकेतिक शंखध्वनि के द्वारा अपना अभिप्राय सैनिकों पर व्यक्त किया करता है, वहाँ सर्वत्र उक्त लक्षण अतिव्याप्त है। समय और सम्यक्त्वका निराकरण तो पहले ही हो चुका है। इस प्रकार शब्दप्रमाण का लक्षण न हो सका।

उसी प्रकार अर्थापत्ति का लक्षण भी नहीं बनता। अन्यथानुपपन्न पदार्थ को देखकर उपपादक की कल्पना का नाम अर्थापत्ति है। जैसे कि जीवित देवदत्त का घर में अभाव देखकर बाहर होने का ज्ञान। यदि कहा जाय कि यह ज्ञान अनुमान ही है—'देवदत्त बाहर है, जीवित होने पर भी घर न होने के कारण, जैसे कि सम्मत व्यक्ति।' तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि देवदत्तप्रतियोगिक अभाव गृह

रस्ति, जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभवात्, संप्रतिपन्नवदिति चेत्, मैवम्; देवदत्तप्रतियोगिकाभावस्य गृहाधिकरणतया देवदत्तधर्मत्वाभावात्। गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं हेत्वर्थ इति चेत्, मैवम्; यदा जीवन्नस्ति क्वचिद्देवदत्त इत्याप्तवाक्यादनिर्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तसत्तावगता ग्रामाद्बहिरवस्थितेनैव चैत्रेण, स च तदागत्य गृहान्तस्तदभावमालोक्य बहिःसत्त्वमनुमिमीत इति वाच्यम्, तच्चानुपपन्नम्; साधारणदेशमात्रावस्थानविषयस्यागमस्यार्थापत्त्या यावन्न बहिर्देशसत्ताविषयत्वं परिकल्प्यते, तावदागमापबाधितविषयतयानुमानस्यानुत्थानात्। कल्पिते तु बहिर्देशविषयत्वेऽनुमानात्प्रागेवार्थापत्तिर्लब्धप्रमेयेति कृतमनुमानेनेति भाट्टाः प्रतिपेदिरे; तदिदमसुन्दरम्।

अस्ति हि मैत्रस्य जीवनवत्त्वेपि गृहेऽभावस्य बहिरवस्थानस्य च परस्परं व्याप्तिरिति भावः। मीमांसकः परिहरति—**मैवमिति**। अत्र जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभावादिति कोर्थः? किं गृहनिष्ठाभावाधिकरणत्वादिति? किं वा गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वादिति? आद्येऽसिद्धिः। नहि गृहाधिकरणश्चैत्रप्रतियोगिकोऽभावश्चैत्रे वर्तत इति संभवति अतोऽपक्षधर्मत्वादसिद्धो हेतुरित्यर्थः। देवदत्तग्रहणं चैत्रोपलक्षणम्। द्वितीयं शङ्कते—**गृहनिष्ठेति**। दूषयति—**मैवमिति**। अत्रानुमानाप्रवृत्तिं दर्शयितुं भूमिकां परिशोधयति—**यदा जीवन्निति**। यः खल्वनुमाता चैत्रः तेनैव चैत्रेण यदा ग्रामाद्बहिरेव जीवन्नस्ति क्वचिद्देवदत्त इत्याप्तवचनादनिर्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तोवगतो भवति, पुनश्च स एव चैत्रो ग्रामं प्रविश्य गृहमागत्य गृहान्तश्च तस्य जीवतोऽभावमवलोक्य बहिःसत्तामनुमिमीत इति वक्तव्यम्। इतरथा आप्तवाक्याजीवनमात्रानधिगमे जीवनवत्त्वे सतीति विशेषणासिद्धिप्रसङ्गात्, गृहाभावमात्रस्य बहिर्भावेनाविनाभावाभावाच्च। प्रत्यक्षस्य च साधारण्येनाप्रवृत्तेरनुमानस्य च लिङ्गाभावात्, अत्राप्तवाक्येन सामान्येन जीवनमवगत्य पश्चादनुमिमीत इति वक्तव्यमिति योजना। भवत्वेवमेतावताऽनुमानाभावे किमायातमिति? तत्राह—**तच्चेति**। यत्खल्वाप्तवाक्यं सामान्येन स्थितिमवबोधयति, तस्य किं गृहाद्बहिर्विषयतायां क्लृप्तायामनुमानमिदं प्रवर्तते? अक्लृप्तायां वा? न तावदक्लृप्तायाम्; तदा ह्यागमस्य गृहेपि स्थितिबोधकत्वसंभवेन तद्विरुद्धबहिरवस्थानानुमानस्य कालात्ययापदिष्टत्वादित्यर्थः। अथ क्लृप्तायाम्, तत्राह—**कल्पिते त्विति**। गृहेऽभावावेदकप्रमाणस्य सामान्येन स्थितिबोधकागमस्य च योयं विरोधस्तयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्भावविषयत्वकल्पना ह्यर्थापत्तिर्नाम, तत्प्रवृत्तौ चानुमानं निष्फलमित्यनुमानाप्रवृत्तिरर्थापत्तेश्च पार्थक्यमिति भाट्टानां समर्थनप्रकार इत्यर्थः। अत्र सिद्धान्ती दूषयितुमुपक्रमते—**तदिदमित्यादिना**। आगमबाधपरिहारार्थमर्थापत्तिरपेक्षणीयेति हि तेनाभिहितम्, तत्रार्थापत्तिप्रवृत्तिव्यतिरेकेणैवागमबाधं परिहरन्ननुमानप्रवृत्तिं दर्शयति

में रहता है, देवदत्तरूप पक्ष में नहीं, अतः उक्त अनुमान में स्वरूपासिद्धि है। गृहानुयोगिकाभावप्रतियोगित्व को भी हेतु नहीं बना सकते; क्योंकि अनुमाता चैत्र ग्राम के बाहर ही किसी आप्त के मुख से यह सुनता है कि "जीवन्नस्ति क्वचिद् देवदत्तः", इससे वहीं ज्ञान कर लेता है कि देवदत्त कहीं (अनिश्चित देश में) है। अब चैत्र ग्राम में आकर देवदत्त का घर देखता है, देवदत्त को वहाँ न पाकर उसकी बहिःसत्ता का अनुमान कर लेता है—यही कहना होगा। वह अनुमान बन नहीं सकता; क्योंकि सामान्यतः कहीं देवदत्त की सत्ता बताने वाला आप्त-वाक्य बाह्यदेश में देवदत्त की सत्ता को विषय करता है—यह जब तक अर्थापत्ति के बल पर कल्पना न कर ली जाय, तब तक अनुमान प्रवृत्त ही नहीं हो सकता; क्योंकि वह आप्त वाक्य सामान्यतः सत्त्व-बोधन करता है, अतः गृहगत सत्त्व भी उसका विषय हो सकता है, यदि देवदत्त में गृहसत्त्व होगा, तब बहिःसत्त्व का उसमें अनुमान बाधित हो जाता है। अर्थापत्ति से बाह्य सत्त्व की कल्पना कर लेने पर अनुमान से पूर्व ही अनुमेय सिद्ध हो गया, अनुमान व्यर्थ है—इस प्रकार भाट्टगण अर्थापत्ति का समर्थन किया

आगमस्य बहिर्देशविषयत्वस्य कल्पनात् ।
प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा ॥३३॥
आद्येऽनुमानं तेनैव निष्प्रत्यूहं प्रवर्तताम् ।
द्वितीये कल्पकाभावादर्थापत्त्युदयः कुतः ॥३४॥

भाट्टानामप्याप्तवाक्यस्य बहिर्देशविषयत्वकल्पनात्प्रागेव देवदत्तस्याभावः प्रमितः ? अप्रमितो वा ? प्रमितत्वे तत एवानुमानोदयादलमर्थापत्तिप्रकल्पनादुर्व्यसनेन। द्वितीये तु कल्पकाभावात् कुतोर्थापत्तेरुदयः ? इयांस्तु विशेषः—प्रत्यक्षाभाववादिनो मते प्रत्यक्षस्यागमाद्बलीयस्त्वादागममवगणय्यापि प्रत्यक्षाधिगतगृहाभावलिङ्गेन भवति बहिर्देवदत्तसत्त्वानुमानम् । अभावप्रमाणाधिगम्यत्वे पुनरभावस्यागमाद्दुर्बलतया तद्विरोधिगृहाभावस्यैव प्रमातुमशक्यतया नार्थापत्तिः प्रसरति, सदुपलम्भकप्रमाणप्रत्यस्तमय एवाभावप्रमाणप्रवृत्त्यङ्गीकारात्। यथाहुः—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" इति। (श्लो० वा० अ० १)

श्लोकद्वयेन—आगमस्येति । सामान्येन प्रवृत्तागमस्य बहिर्विषयत्वकल्पनात्प्रागेव गृहाभावः केनचित्प्रमाणेन प्रमितः ? न वा ? यदि प्रमितः, तर्हि तेनैवागमस्य निरुद्धत्वादनुमानं निर्विघ्नं प्रवर्ततां किमर्थापत्त्या ? अथ न प्रमितो गृहाभावः, तर्हि कयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्विषयत्वं कल्प्यते ? इत्यनुमानवदर्थापत्तेरप्यनुदय एवेति श्लोकयाजना । श्लोकौ विवृणोति—भाट्टानामित्यादिना । गुडजिह्विकया चेदमनुमानस्यार्थापत्तिसमानयोगक्षेमत्वमुक्तम्, वस्तुतस्तु भवदर्थापत्त्युदयात्तार्किकानुमानोदयस्याधिक्यमस्तीत्याह—इयांस्त्विति । प्रत्यक्षतः खलु गृहाभावस्तार्किकमतेऽधिगम्यते, दृश्याभावत्वात्, प्रत्यक्षसिद्धं सदनुमानमागमं तृणाय मत्वैव प्रवर्तते आदित्यवर्णाद्यागममिव परमात्मन्यरूपत्वानुमानम्, भवतां त्वागमाद्दुर्बलमेव गृहाभावग्राहिप्रमाणमित्यर्थापत्तेरुदय एव विचारणीय इत्यर्थः । तदुक्तं तत्त्वकौमुद्याम्—'प्रमाणेन निश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगादिति । 'तस्माद्गृहाभावेन सिद्धेन बहिर्भावोनुमीयत इति युक्तमिति' च । योग्यानुपलब्धेरागमादिदौर्बल्ये हेतुमाह—सदुपलम्भकेति । सतो भावस्योपलम्भकानि यानि प्रमाणानि तेषां प्रत्यस्तमयेऽनुदय एवाभावप्रमाणप्रवृत्तेरङ्गीकारात्, इतरथा सघटे भूतले निर्मीलितलोचनस्याभावनिर्णयप्रसङ्गादिति भावः । अत्र च वार्तिकसंमतिमाह—यथाहुरिति । वस्तुसत्त्वं वस्तुतत्त्वम् । भावरूपतेति यावत् । तदवबोधार्थमित्यर्थः । भङ्ग्यन्तरेणाप्यनुमानताम-

---

करते हैं, यह भी सुन्दर नहीं ; क्योंकि यहाँ जिज्ञासा होती है कि अर्थापत्ति के द्वारा आप्त वाक्य में बहिःसत्त्व-विषयकता की कल्पना से पूर्व देवदत्त का गृहाभाव प्रमित हुआ ? कि नहीं ? यदि प्रमित है, तब आप्त-वाक्य गृह-सत्त्व का बोधक नहीं हो सकता, अतः अनुमान निर्बाध प्रवृत्त हो सकेगा । यदि गृहाभाव प्रमित नहीं, तब कल्पक के न होने से अर्थापत्ति का उदय ही कैसे होगा ? वस्तुस्थिति तो यह है कि जो वादी अभाव को प्रत्यक्ष मानता है, उसके मत में शब्दप्रमाण से बलवत्तर होने के कारण प्रत्यक्ष आप्त-वाक्य की कुछ भी परवाह न करके गृहाभाव को पहले ही सिद्ध कर देगा, उससे देवदत्त की बाह्यसत्ता का अनुमान हो जायगा । जो लोग अभाव को अनुपलब्धिप्रमाण का विषय मानते हैं, उनके मत में शब्दप्रमाण से दुबल होने के कारण अनुपलब्धिप्रमाण उससे विरुद्ध गृहाभाव को सिद्ध ही नहीं कर सकता, फिर अर्थापत्ति का उदय ही कैसे होगा ? क्योंकि भावपदार्थ के उपलम्भक प्रमाणों के न होने पर ही अनुपलब्धि की प्रवृत्ति मानी गई है, जैसा कि मिश्रपाद ने कहा है—जहाँ पर भावोपलम्भक पाचों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति) प्रमाण प्रवृत्त न हों, वहीं पर ही अनुपलब्धि प्रमाण की प्रवृत्ति होती है । दूसरी बात यह भी है कि

किंच यद्यस्य कल्पकमिष्यते, तत्तेनाविनाभूतमिष्यते ? न वा ? आद्ये भङ्ग्यन्तरेण भवताप्यनुमानमेवाभिहितमिति, न प्रमाणान्तरावकाशः। द्वितीयेऽप्यनियतमेव यत्किंचित्कल्पयेदिति नार्थापत्तिप्रमेयसिद्धिः। अनुपपद्यमानस्योपपादकासत्त्वे विरोधो गमक इति नानुमानमिति चेत्, मैवम्; अनुपलब्धेरप्यनुपलभ्यमानसत्त्वे विरोध एवाभावगमक इत्यभावमानापह्नवप्रसङ्गात्। धूमोऽपि धूमध्वजस्यासत्त्वे विरोधादेव तद्गमक इत्यनुमानविलयापत्तेश्च। यत्र कार्यकरणभावं विनाऽविनाभावादेव गमकत्वं रसरूपादौ तत्र भवत्ये-ानुमानं लब्धावकाशमिति चेत्, न; तत्रापि रूपासत्त्वे रसस्य विरोधादेव गमकत्वोपपत्तेः।

कश्चायं विरोधः? (१) किं प्रमाणयोः? (२) उत प्रमाणत्वेनाभिमतयोः? (३) अनिर्णीतप्रामाण्याप्रामाण्ययोर्वा ? (४) सामान्यप्रवृत्तप्रमाणेन विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थबाधसंशयो वा ? (५) तर्कयोरेव वा ?

र्थापत्तेरनुदयं च विकल्पपूर्वकमाह—किंचेति। कल्पकमिति। गृहाभावादित्यर्थः। तेनेति। कल्प्येन वहिर्भावेनेत्यर्थः। स्यान्मतम्, कल्पकस्य कल्प्येन या व्याप्तिः सानुमित्युपादिका। यस्तु कल्पकस्य कल्प्यासत्त्वे विरोधः, सोर्थापत्तिजनक इति कारणभेदादनयोर्भेदः। स एव च विरोधोत्र गमक इति नानुमितित्वमिति शङ्कते—अनुपपद्यमानस्येति। तदेतदनिष्टान्तरापत्त्या दूषयति—मैवमिति। एवं सत्यनुपलब्धिलक्षणषष्ठप्रमाणमर्थापत्तिरेव स्यात्, शक्यते हि तत्राप्यनुपलब्धेरनुपलभ्यमानघटसत्त्वे सति यो विरोधः, स एव गमक इति वक्तुमित्यर्थः। अनुमानापह्नवश्च स्यादित्याह—धूमोऽपीति। अनुमानस्यासाधारणं विषयं दर्शयन्ननन्तरदोषं परिहरति पूर्ववादी—यत्रेति। कारणाभावे हि कार्यस्य विरोधः। नच रसरूपादावकार्यकारणभूते स इत्यभिमानः पूर्ववादिनः। तत्रापि विरोधं संभावयन्नुक्तदूषणं संस्मारयति सिद्धान्ती—नेति।

एवमुपपादकोपपाद्ययोर्विरोधोर्थापत्तिरित्यत्र प्रमाणान्तरेष्वपि भावादतिव्याप्तिरुक्ता। इदानीं विरोधानिरूपणादसिद्धिरेवेति दर्शयिष्यन्विरोधं विकल्पयति कश्चायमिति। सामान्यप्रवृत्तेति। सामा-

---

वाह्यसत्त्व का जो आप कल्पक मानते हैं, उस कल्पक का वाह्यसत्त्व से अविनाभाव मानते हैं ? या नहीं ? यदि मानते हैं, तब तो आपने प्रकारान्तर से अनुमान ही मान लिया, फिर वहाँ प्रमाणान्तर के लिए अवकाश ही कहाँ रहा ?. यदि आप अविनाभाव नहीं मानते, तब वह नियमतः वहिःसत्त्व की कल्पना नहीं कर सकता, अतः अर्थापत्ति का प्रमेय सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि गृहाभाव-निष्ठ अविनाभाव को वहिर्भाव का गमक मानने पर अवश्य अनुमान का स्वरूप आ जाता, किन्तु हम अनुपपद्यमान (गृहाभाव) का उपपादक (वहिर्भाव) के न होने पर जो विरोध उपस्थित होता है, उसे ही वहिर्भाव का गमक मानते हैं। तो यह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि इस प्रकार तो अनुपलब्धि भी अर्थापत्ति के अन्तर्गत माननी पड़ेगी—अनुपलब्धि का भी अनुपलभ्यमान (घटादि) की सत्ता मानने पर विरोध होता है, उसी को ही अभाव का गमक माना जा सकता है। धूम का भी वह्नि के न रहने पर विरोध होता है, अतः वहाँ भी विरोध ही वह्नि का गमक हो सकता है, इस प्रकार अनुमान भी समाप्त हो जाता है। 'जहाँ कार्यकारणभाव के बिना, अविनाभाव के आधार पर गमकता मानी जाती है, जैसे रूप का गमक-रस होता है, वहाँ के लिए अनुमान को मानना ही पड़ेगा'—यह भी कहना उचित नहीं; क्योंकि वहाँ भी रूप के न होने पर रस का विरोध होता है, वही गमक हो जायगा।

यह विरोध भी क्या वस्तु है ? क्या (१) दो प्रमाणों का विरोध ? या (२) प्रमाणत्वेन अभिमत पदार्थों का ? या (३) प्रामाण्याप्रामाण्य का जिनमें निर्णय नहीं हुआ, उनका ? या (४) सामान्यरूप से प्रवृत्त शब्द प्रमाण से, विशेष-प्रवृत्त अनुपलब्धि-प्रमाण के विषय (गृहाभाव) का बाध होता है ?

तदसिद्धिरतिव्याप्तिः सक्तिः सप्रतिसाधने ।
असंभवोऽतर्कता च दोषास्तेषां क्रमादमी ॥३५॥

न तावदाद्यः; उभयोः प्रमाण्ये विरोधस्य विरोधे वा प्रमाण्यस्यैवासंभवादसिद्धेः, अन्यथा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्तेः। नापि द्वितीयः; अभिमतशब्देन भ्रमाभिधाने ज्ञानमात्रविवक्षायां वा भ्रमज्ञानयोः प्रमाणत्वेन गृहीतयोर्विरोधाद्विभिन्नविषयत्वकल्पनाया अप्यर्थापत्तित्वप्रसङ्गात्। नापि तृतीयः; वायुर्बाह्यकरणाप्रत्यक्षः अरूपिद्रव्यत्वात् कालादिवत्, वायुः प्रत्यक्षः उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वात् घटादिवदित्यनिर्णीतप्रामाण्याप्रामाण्ययोरनुमानयोर्विरोधेऽप्यर्थापत्तेरुदयप्रसङ्गात्। नापि चतुर्थः; असंभवात्। नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रापि तद्विपरीतप्रमाणविषयत्वसंशयः। न खलु स्थाणुरयमिति निश्चयेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति

न्येन प्रवृत्तं यत्प्रमाणं जीवन्देवदत्तः क्वचिदस्तीति तेन विशेषे प्रवृत्तं यत्प्रमाणं गृहाभावग्राहि तदर्थस्य गृहाभावस्य बाधोस्ति ? नवा ? इति योऽयं संशयः स चेत्यर्थः। एवं विकल्प्य श्लोकेन संगृह्णाति दूषणानि—तदसिद्धिरिति। प्रमाणयोर्विरोध एवासिद्धः, अन्यतरस्याप्रमाणत्वात्। इतरथा वस्तुन एव द्वैरूप्यापत्तेरित्यर्थः। द्वितीये दूषणमाह—अतिव्याप्तिरिति। प्रमाणत्वेनाभिमतिर्नाम किं प्रमाणत्वेन भ्रान्तिः ? किं वा ज्ञानमात्रम् ? उभयथार्थापत्त्याभासे गमनादतिव्याप्तिरित्यर्थः। तृतीये दूषणमाह—सक्तिः सप्रतिसाधने इति। सप्रतिसाधनेप्यनिर्णीयमानप्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोर्विरोधेर्थापत्तेरुदयप्रसक्तिः, ततश्चातिव्याप्तिरित्यर्थः। चतुर्थे प्राह—असंभव इति। नहि यद्यत्र विशेषतः प्रमितं तस्य तत्रैव विपरीतप्रमाणविषयत्वसंशयः संभवति, स्थाणुत्वनिर्णयेपि पुरुषत्वसंग्राहकप्रमाणप्रवृत्तिसंशयापातादित्यर्थः। पञ्चमे दूषणमाह—अतर्कता चेति। मिथो विरोधेन तर्काभासतापातादित्यर्थः। एवमेते दोषास्तेषां पक्षाणां क्रमाद् द्रष्टव्या इति श्लोकयोजना। संग्रहं विवृणोति—न तावदित्यादिना। विरोधस्यासिद्धेरित्युपरितनेनान्वयः। अनुव्यवसायद्वारा मानसप्रत्यक्षत्वं संभवति तथेश्वरप्रत्यक्षत्वमेव सर्वस्येत्यप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति वाह्यकरणग्रहणम्। रूपादिव्यावृत्त्यर्थं द्रव्यग्रहणम्। घटादिव्यवच्छेदार्थमरूपिग्रहणम्। द्वितीयेप्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वं साध्यम्। परमाण्वादिव्यभिचारवारणायोपलभ्यमानपदम्, तदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलौ—

'अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः ।
न मानयोर्विरोधोस्ति प्रसिद्धे चाप्यसौ समः'इति ॥ (न्या० कु० ३।१९)

या नहीं ?—इस प्रकार का संशय ही विरोध है ? या दो तर्कों का विरोध ? (द्र० खं० पृ० ७८४)। इन पाचों पक्षों में (१) असिद्धि, (२) अतिव्याप्ति, (३) सत्प्रतिपक्ष में अतिप्रसक्ति, (४) असम्भव, (५) अतर्कतापत्ति—ये क्रमशः दोष हैं। अर्थात् प्रथम (दो प्रमाणों का विरोध) पक्ष में यदि दोनों प्रमाण हैं, तब उनमें विरोध ही सम्भव नहीं और यदि विरोध है, तब उनमें प्रामाण्य ही सिद्ध नहीं हो सकता, अन्यथा एक ही वस्तु में दो विरुद्ध आकार मानने पड़ेंगे। द्वितीय पक्ष में अभिमत शब्द से भ्रम या ज्ञानमात्र का अभिधान मानने पर प्रमाणरूप से गृह्यमाण भ्रमों या ज्ञानों में विरोध के कारण विभिन्न विषयत्व की कल्पना को भी अर्थापत्ति मानना होगा। तृतीय पक्ष में भी अर्थापत्ति की अनवसर-प्रक्ति है—"वायु बाह्येन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं, अरूपी द्रव्य होने से, जैसे—काल", "वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्षस्पर्श का आधार होने से, जैसे—घटादि।" यहाँ दोनों अनुमानों में प्रामाण्याप्रामाण्य का निर्णय नहीं, इनके विरोध से भी अर्थापत्ति का उदय होना चाहिए। चतुर्थ पक्ष में तो असम्भव है; क्योंकि जो वस्तु जहाँ विशेषणरूप से प्रमित है, उसमें वहाँ विपरीत प्रमाण की विषयता का संशय नहीं हो सकता। यह कभी नहीं देखा गया कि स्थाणु का निश्चय हो जाने पर भी स्थाणु-पुरुष का

संशेरते जनाः। नापि पञ्चमः; मिथोविरोधेन तर्कयोरेवाभासत्त्वात्। किंचोपपादकेन येन विनानुपपद्यमानत्वं तत्प्रमितम्? न वा? प्रथमे गृहीतग्राहिकार्थापत्तिर्न प्रमा स्यात्। द्वितीये तु विशेषणासिद्धेः तद्विशेषितानुपपद्यमानार्थाप्रतीतौ कल्पकाभावान्नार्थापत्तिरुदयमासादयेत् इत्यलमतिविस्तरेण।

अभावाख्यं प्रमाणमपि दुर्निरूपम्। एवं हि वर्णयन्ति—योग्यानुपलब्धिकरणकमर्थाभावज्ञानमभावः, यथेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानम्। न चेदं प्रत्यक्षम्, इन्द्रियसंनिकर्षाजन्य-

---

प्रकारान्तरेणार्थापत्तिं दूषयति—**किंचोपपादकेति**। येन हि देवदत्तबहिर्भावेन गृहाभावो नोपपद्यते स किं प्रमितः? न वा? आद्येऽर्थापत्तिवैयर्थ्यमित्याह—**प्रथम इति**। द्वितीये प्राह—**द्वितीये त्वित्यादिना**। अन्यथानुपपत्तिदर्शनं हि कल्पकम्। अन्यथेति च कोर्थः। बहिर्भावव्यतिरेकेणेति। तथाच बहिर्भावेऽज्ञाते तद्विशेषितं तदन्तरेणानुपपद्यमानत्वमपि न ज्ञातमिति कल्पकाभावादनुदय एवार्थापत्तेरित्यर्थः। तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः—'यतान्यत्वं तदसिद्धेरग्रे तदसिद्धे'रिति। एतेन श्रुतार्थापत्तिरपि प्रत्याख्याता वेदितव्या। अनुपपद्यमानवाक्यैकदेशदर्शनेन वाक्यैकदेशकल्पनं हि सा। तथाहि—पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्ते इति वाक्यैकदेशश्रवणाद्रात्रौ भुंक्ते इति वाक्यैकदेशकल्पनम्, न चैषा प्रयुज्यते। पूर्वोक्तन्यायेनानुमानताया दुष्परिहरत्वात्। किंच नात्र वाक्यस्यानुपपत्तिः। नन्वस्त्येवानुपपत्तिः। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूरणीया। नहि पचतीति पदं प्रत्यक्षौदनेन निराकाङ्क्षमपि त्वोदनपदात्, इह पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्त इति वाक्यस्याकाङ्क्षा रात्रौ भुंक्त इत्यनेनैव पूरणीयेति, न तस्य वाक्यस्य संपूर्णक्रियाकारकतया निराकाङ्क्षत्वेन दृष्टान्तवैषम्यात्। अथ पीनो न भुंक्त इत्यभोजनेन नान्वेति, भोजनकार्यत्वात्पीनताया इति मतम् हन्त तर्हि नेयमाकाङ्क्षा, अपितु योग्यताविरहः! नच सोप्यस्ति त्रैकाल्यभोजननिषेधे हि स भवेत्। नह्यभुक्त्वा क्षणमपि पीनस्तिष्ठति इति। न वात्र तथा निषेधः; दिवा न भुंक्त इति विशेषनिषेधात्। यदि तु विशिष्टकार्यदर्शनाद्रात्रिभोजनानुमानमनुमन्यामहेतरां तदा तु रात्रिभोजनवाक्यकल्पनावकाशः। तदेतदखिलमितिना सूचयन्नुपसंहरति—**इत्यलमतिविस्तरेणेति**।

इदानीं भाट्टाभिमताभावप्रमाणं दूषयति—**अभावाख्यमिति**। तदभिमतं लक्षणं तावद्दर्शयति—**एवंहीति**। विषयविषयाविनाभूतव्यतिरिक्तोपलब्धिकारणसंपत्तिर्योग्यता तत्संपत्तौ सत्यां योयमर्थोपलब्ध्यभावस्तत्करणकं पदार्थाभावज्ञानं तदभावप्रमाणम्। भाट्टवेदान्तिनोर्हि ज्ञानमेव मुख्यं प्रमाणम्। प्राकट्यसंवेदनयोश्च फलत्वमक्षादौ त्वौपचारिकः प्रमाणव्यवहारस्तेनाभावज्ञानं प्रमाणमित्यर्थः। शाब्दानुमानिकाभावज्ञानव्यवच्छेदायानुपलब्धिकरणकमित्युक्तम्। अयोग्यस्यानुपलब्धिमात्रादभावमात्रव्यवच्छेदार्थं योग्यपदम्। उदाहरति—**यथेति**। नन्वज्ञातकरणजत्वात्प्रत्यक्षमेतदिति, तत्राह—**न चेदं प्रत्यक्षमिति**। ननु संयुक्त-

---

संशय होता हो। पञ्चम पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि परस्पर विरोधी तर्कों में तर्कत्व ही नहीं रहता, तर्काभासता आ जाती है। यह भी एक प्रश्न उठता है कि जिस (वहिर्भावरूप) उपपादक के बिना (गृहाभाव) में अनुपपन्नता है, वह प्रमित है? या नहीं? यदि प्रमित है, तब गृहीत-ग्राही होने से अर्थापत्ति प्रमा कैसे होगी? यदि प्रमित नहीं, तब बहिर्भावरूप विशेषण की असिद्धि हो जाने से बहिर्भाव-विशेषित (बहिर्भाव के बिना) अनुपपद्यमानत्व अर्थ की प्रतीति न होने पर कल्पक का अभाव हो जाने के कारण अर्थापत्ति का उदय ही न होगा।

अभावसंज्ञक (अनुपलब्धि) प्रमाण का भी निरूपण सम्भव नहीं। इसका निरूपण इस प्रकार किया करते हैं—योग्यानुपलब्धिरूप करण से अर्थाभाव का ज्ञान अभावप्रमाण कहा जाता है, जैसे—यहाँ पृथिवी पर घट नहीं है—यह ज्ञान। इसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते; क्योंकि अभाव के साथ

त्वात्। नह्यभावेनेन्द्रियसन्निकर्षः संयोगः समवायो वा संभवति; तयोर्भावधर्मत्वात्। नापि विशेषणविशेष्यभावः; तस्यापि मूलसंबन्धगर्भतया तन्निवृत्तौ निवृत्तेः। अन्तरेणापि मूलसंबन्धं विशेषणविशेष्यभावाङ्गीकारेऽपि तस्य प्रत्यक्षाङ्गतायाः पुरैव निरासात्। नचेदमनुमानादावन्तर्भवति; चक्षुरादिवदनुपलब्धेरज्ञायमानाया एव करणत्वात्। अन्यथानुपलब्धेरप्यनुपलब्ध्यन्तरोपलभ्यमानतायामनवस्थानादिति।

तदयुक्तम्— केवलानुपलम्भस्य व्यभिचारनिवारिणी।
योग्यता चेत्कुतो न स्यादनुमानमभावधीः॥३६॥

अनुपलम्भमात्रस्य सुषुप्त्यादावभावज्ञानाजनकतया तद्व्यभिचारवारणाय योग्यानुपलब्धिरिति

विशेषणतालक्षणसंनिकर्षात्प्रत्यक्षमेतदिति तार्किकास्तत्कथं पृथक्प्रमाणमिति? तत्राह—नह्यभावेत्यादिना। नन्वस्त्येव विशेषणविशेष्यभावसंबन्ध इति, तत्राह—नापि विशेषणेति। संबद्धयोर्हि दण्डदेवदत्तयोः पटशौक्ल्ययोर्वा विशेषणविशेष्यभावो दृष्ट इति भावः। ननु मूलसंबन्धं विनैव निर्घटं भूतलमित्यभावभूतलयोर्विशेषणविशेष्यभावो भवद्भिरेवाङ्गीकृत इति, तत्राह—अन्तरेणापीति। पुरैवेति। प्रत्यक्षधर्मिकानुमानमात्रप्रविलयप्रसङ्गापत्तेर्बहुश उक्तत्वादित्यर्थः। नचासंबद्धस्यापि प्रत्यक्षत्वे को दोष इति वाच्यम्; अतिप्रसङ्गस्यैव दोषत्वात्। नच तत्परिहारिका दृश्यानुपलब्धिर्भविष्यतीति वाच्यम्। तथासति तावन्मात्रस्यैव करणत्वेनेन्द्रियवैयर्थ्यात्। नचान्धस्यापि शुक्ले पटे कार्ष्ण्याभावप्रमितिप्रसङ्गः; प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणैवाश्रयग्रहणस्याप्यङ्गत्वात्। नच व्योम्नि स्पर्शाभावाग्रहणप्रसङ्गः; प्रमाणान्तरनिबन्धनत्वात्तद्ग्रहणस्य। अत एव स्मर्यमाणदेवदत्तकुण्डलादौ देवदत्ताभावग्रहणेपि नानुपपत्तिरिति। अस्तु तर्ह्यनुमान एवास्यान्तर्भावस्तथा च सौगतैरनुपलब्धिलक्षणं लिङ्गान्तरं स्वीक्रियत इति, तत्राह—न चेदमिति। ज्ञायमानकरणं ह्यनुमानम्, इयं तु न तथेत्यर्थः। अथ किमिति ज्ञायमानतयैव करणं न भवेत्तत्राह—अन्यथेति। अयमर्थः—अनुपलब्धेरभावत्वेन प्रत्यक्षत्वनिरासात्तद्विशेषमानसप्रत्यक्षत्वं दूरोत्सारितम्। नित्यानुमेयत्वाच्च ज्ञानस्य न दृश्यप्रतियोगिकत्वमत एव 'ज्ञानविकल्पानामध्यात्मं भावाभावसंवेदनात्' इति सूत्रमप्यनवकाशम्, तस्मादनुपलब्धिरेवानुपलब्धिसंवेदनेपि शरणम्। तथाच तत्र तत्रापि तथेत्यनवस्था स्यादिति।

एवं समर्थितमभावप्रमाणं दूषयति सिद्धान्ती—तदयुक्तमिति। अस्य तावदनुमानान्तर्भावं श्लोकेन दर्शयति—केवलेति। अत्र तावदनुपलम्भमात्रस्याभावबोधने सुषुप्त्यादौ व्यभिचारात्तन्निवारणाय योग्यतालक्षणविशेषणं प्रक्षिप्यते भवद्भिः, तथाच धूमादिवदव्यभिचारेणाभावबोधकत्वात्तज्जन्याभावधीरनुमानं कुतो न स्यात्किंतु स्यादेवेति योजना। एतदेव विवृणोति—अनुपलम्भेति। नन्वव्यभिचारेप्यज्ञातकरणत्वा-

---

इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना ही उत्पन्न हुआ है। अभाव के साथ इन्द्रिय का संयोग या समवाय नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों सम्बन्ध भावपदार्थों में ही होते हैं। विशेषण व विशेष्यभाव भी नहीं बन सकता; क्योंकि वह भी (संयुक्त विशेषणतादिरूप से) मौलिक संयोगादि सम्बन्ध से घटित ही होता है, संयोगादि के न होने से वह भी नहीं हो सकता। संयोगादि सम्बन्धनिरपेक्ष विशेषण-विशेष्यभावरूप सम्बन्ध में प्रत्यक्ष-अंगता का निराकरण पूर्व ही किया जा चुका है। वह अभाव ज्ञान, अनुमान के अन्तर्गत भी नहीं हो सकता; क्योंकि लिंग सदैव ज्ञायमान होकर करण होता है, किन्तु अज्ञायमान अनुपलब्धि को ही नेत्रादि के समान करण माना जाता है। नहीं तो अनुपलब्धि भी अनुपलब्ध्यन्तर से ही ज्ञायमान होगी—इस प्रकार अनवस्था आ जाती है।

यह निरूपण युक्त नहीं; क्योंकि केवल अनुपलम्भ अभाव-ज्ञान का व्यभिचारी है, व्यभिचारवारक विशेषण है—योग्यत्व, इस प्रकार अव्यभिचरित हेतु से उत्पन्न होने के कारण अभाव का ज्ञान अनुमान क्यों न होगा? अर्थात् सुषुप्त्यादि में केवल अनुपलम्भ रहने पर भी अभाव-ज्ञान नहीं,

विशेष्येतेति चेत्, तर्हि योग्यानुपलब्धेर्धूमादिवदव्यभिचारितयाऽभावज्ञानजनकत्वोपपत्तौ कुतः प्रमाणान्तरता ? न चाज्ञायमानतया करणत्वेनानुमानाद्बहिर्भावः, अन्यथानवस्थाप्रसङ्गादिति वाच्यम्; स्वतःसिद्धसाक्षिप्रसादादेवोपलब्धिवदनुपलब्धेरपि सिद्धावनवस्थादुस्थताऽभावात् ? अन्यथानवस्थायास्तवापि दुरुत्तरत्वात्। तथाहि—अनुपलब्धेः सर्वथानवगतत्वे तत्करणत्वस्य दुरधिगमत्वात्तदधिगतिरवश्याश्रयणीया। सापि चेदनुपलम्भान्तरात्सिद्ध्येत्तदपि तथैवेति कथं नानवस्था ? एवं तत्र तत्र प्रमाणानुपन्यासे तत्तदनुपलम्भसत्ताया एवासिद्धिः। प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात्।

भवतु वा भिन्ने वानुपलब्धिरनुमानात्तथापि नाभावः प्रमितिकरणम्; विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमुपलब्धेः प्रागभावोनुपलब्धिः ? उत प्रध्वंसः ? किं वान्योन्याभावः ? अत्यन्ताभावो वा ? नाद्यः; दृष्टनष्टे घटे उपलब्धिप्रागभावाभावेऽप्यभावप्रमितिदृष्टेः। नापि द्वितीयः; प्रागभावात्यन्ताभावप्रमित्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। प्रतियोग्युपलब्धेरसंजातत्वादेव तत्प्रतियोगिक-

---

त्रानुमानमित्युक्तमिति, तत्राह—नचेति। स्यादयं दोषो भवन्नये, अस्मन्मते तु स्वप्रकाशसाक्षिवेद्यत्वाद्वृत्तिरूपज्ञानतदभावयोर्नाज्ञातकरणत्वम्, नाप्यनवस्थेत्याह—स्वतःसिद्धेति। ननु तादृक्साक्षिचैतन्ये सिद्धे सत्ययं परिहारो भागी तदेव डुलीक्षीरसदृशम्, प्रसाणाभावादिति तत्राह—अन्यथेति। सर्वथाऽज्ञायमानानुपलब्धेः प्रमितिकरणत्वमपि दुर्भणमिति कदाचिदपि ज्ञप्तिरवश्याश्रयणीया, तथाच त्वदुदीरितानवस्था कृत्या त्वय्येव प्रतिकृत्या स्यादिति साक्षिणैव तवापि रक्षा विधातव्येति खण्डलकार्थः। वक्ष्यते च साक्षिसिद्धौ प्रमाणगणश्चतुर्थपरिच्छेदे। पुरस्तादिति। ईदृश्यनवस्था स्वप्रकाशवादादौ प्रपञ्चिततरेत्यर्थः।

एवं प्रौढवादेनानुमानान्तर्भाव उक्तः, इदानीं भवतु वानन्तर्भावस्तथापि नैतस्य प्रमाणत्वं प्रमाणाघातं सहते इति प्रामाणिकप्रपञ्चरुचीन्भाट्टान्प्रत्याह—भवतु वेत्यादिना। उपलब्धिप्रागभावलक्षणानुपलब्धेर्नाभावप्रमितिनियतिः, तदभावेपि घटोपलब्धिप्रध्वंससमयेऽभावप्रमितिदर्शनादित्याह—नाद्य इति। उपलब्धिप्रध्वंसोऽभावप्रमितिकरणमिति पक्षं दूषयति—नापि द्वितीय इति। कारणनिष्ठः कार्यसंसर्गाभावो हि प्रागभावः, नच तत्प्रमितिसमये प्रतियोग्युपलब्धिप्रध्वंसोऽस्ति, उपलब्धेरसंजातत्वात्। प्रमितिर्ह्यत्र-

---

अतः केवल अनुपलम्भ व्यभिचारी है। व्यभिचार हटाने के लिए कहा जाता है—योग्यानुपलब्धि। योग्यानुपलब्धि, धूमादि के समान ही अव्यभिचारी होकर अभाव-ज्ञान का जनक होता है, अतः अनुमान प्रमाण से भिन्न अनुपलब्धि प्रमाण के मानने की क्या आवश्यकता ? यह जो कहा था कि अनवस्था के भय से ज्ञायमान अनुपलब्धि को अभाव-ज्ञान का हेतु न मानकर, अज्ञायमान को ही हेतु मानना होगा; अतः अनुमान से इसका वैलक्षण्य हो जाता है। वह कहना अयुक्त है; क्योंकि हमारे यहाँ अनवस्था का भय नहीं—स्वतःसिद्ध साक्षी से ही अनुपलब्धि (उपलब्धिरूप वृत्ति-ज्ञान का अभाव) प्रकाशित होती है, साक्षी का प्रकाश करने के लिए प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं होती। अन्यथा उक्त अनवस्था आपके मत में भी अनिवार्य होगी, क्योंकि सर्वथा अज्ञात होने पर अनुपलब्धि में कारणता ही सिद्ध न होगी। उसका ज्ञान अवश्य मानना होगा, वह ज्ञान भी यदि अन्य अनुपलब्धि से सिद्ध होगा, तब वही अनवस्था होगी। इसी प्रकार उत्तरोत्तर जिस अनुपलब्धि में प्रमाण न दिया गया, वह ही असिद्ध होकर अपने पूर्व परिवार को असिद्ध बना डालेगी। इस प्रकार की अनवस्था कई बार दिखाई जा चुकी है।

अस्तु; मान लेते हैं अनुपलब्धि को अनुमान से भिन्न; तथापि उसमें प्रमिति-करणता सम्भव नहीं; क्योंकि अनुपलब्धि क्या है ? क्या उपलब्धि का प्रागभाव ? या ध्वंस ? या अन्योन्याभाव ? या अत्यन्ताभाव ? प्रथम पक्ष मानने पर जहाँ दृष्ट (उपलब्धि) घट नष्ट हो गया, वहाँ उपलब्धि-प्रागभाव न रहने के कारण अभाव-प्रमा नहीं होनी चाहिए। द्वितीय (उपलब्धि-ध्वंस) पक्ष मानने

प्रध्वंसाभावात्। नापि तृतीयः; सत्यपि घटोपलम्भे तदभावप्रतीतिप्रसङ्गात्। नापि चतुर्थः; दृष्टनष्टाद्यभावे प्रमित्यनुदयापत्तेः। एतेनोपलम्भसंसर्गाभावः करणमित्यपि निरस्तम्; तत्रापि प्रागभावादिविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वात्, अन्यतमत्वखण्डनस्य पूर्वमेव कृतत्वात्। नचानुपलब्धेः करणत्वम्; अवान्तरव्यापारानिरूपणात्। नच प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहणं वा तद्व्यापारः; तयोर्भावविषययोरनुपलम्भाजन्यत्वात्। तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति हि तद्विदः। केवलानुपलम्भस्य तदजनकत्वेऽपि योग्यता विशिष्टस्यास्त्येव तज्जनकता, तत्तदवि-

---

प्रतियोग्युपलब्धिरभिप्रेता। नच तादृशप्रतियोगिप्रमितिरस्ति, नित्यमविभ्रमानार्थत्वादिति भावः। एवमत्यन्ताभावेपि। उपलब्ध्यन्योन्याभावपक्षं दूषयति—नापीति। नहि घटोपलब्धिरेव घट इति घटोपलब्धिसमयेपि तदन्योन्याभावस्य सत्त्वात् घटाभावप्रमितिः स्यादित्यर्थः। उपलब्ध्यत्यन्ताभावपक्षे दूषणमाह—दृष्टेति। दृष्टः सन्नष्टो यो घटस्तदभावस्य प्रमितिर्न स्यात्। घटोपलब्धेर्जातत्वेन तदत्यन्ताभावाभावादित्यर्थः। आदिशब्दादनुत्पन्नग्रहणम्। ननूपलब्धिसंसर्गाभावोनुपलब्धिरभावप्रमितिकरणम्, तेन न पूर्वोक्तदोषः, प्रागभावादिव्यभिचारेपि संसर्गाभावस्याव्यभिचारादिति, तत्राह—एतेनेति। अतिदश विशदयति–तत्रापीति। किं संसर्गप्रागभावः? किं वा तत्प्रध्वंसः? इति विकल्पजालस्य तुल्यत्वादित्यर्थः। अस्तु तर्हि प्रागभावाद्यन्यतम इति, तत्राह—अन्यतमत्वेति। एवमनुपलब्ध्यनवधारणान्न सा अभावप्रमितिकरणमित्युक्तम्। इदानीं भवतु या काचिदनुपलब्धिस्तथापि तस्याः करणत्वं न भवति, तल्लक्षणरहितत्वादित्याह—न चेत्यादिना। व्यापारवद्धि कारणं कारकं तद्विशेषश्च करणमतो व्यापाराऽभावेनुपलब्धेः करणत्वं न स्यादिति भावः। ननु किमिति व्यापाराभावः, यावता प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहणं वा व्यापारोस्त्विवति, तत्राह–नचेति। ननु यद्यपि भावविषययोरधिकरणग्रहणप्रतियोगिस्मरणयोः स्वविषयजन्यतया संस्कारजन्यतया चानुपलब्ध्यजन्यत्वम्, तथापि तद्व्यापारत्वं किं न स्यादित्यत आह–तज्जन्य इति। तेन करणेन जन्यत्वे सति तत्करणजन्यक्रियाजनको यः असौ तद्व्यापार इत्यर्थः। ननु मास्माभिरनुपलम्भमात्रस्य करणत्वमभिप्रेयतं, येन तद्व्यापारश्चिन्त्येतापितु योग्यतावतोनुपलम्भस्य, तादृशस्य चान्तर्भूतभूतलादिरूपत्वेन तज्जन्याधिकरणग्रहणादिव्यापारकत्वादस्त्येव करणत्वमिति शङ्कते—केवलेति। योग्यतया

पर प्रागभाव और अत्यन्ताभाव की प्रमा न हो सकेगी ; क्योंकि जिस घट का प्रागभाव है, उसकी उपलब्धि हुई नहीं, अतः उस उपलब्धि का ध्वंस भी नहीं; बिना उसके प्रागभाव-प्रमा कैसे होगी ? इसी प्रकार गगन-कुसुम की उपलब्धि न होने से उस उपलब्धि का ध्वंस भी नहीं, अतः गगन-कुसुम के अत्यन्ताभाव की प्रमा कैसे होगी। तृतीय (उपलब्धि का अन्योन्याभाव) पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि घट की उपलब्धि के समय भी उस उपलब्धि का घटादि में अन्योन्याभाव रहने से घटाभाव की प्रमा होने लगेगी। चतुर्थ (उपलब्धि का अत्यन्ताभाव) पक्ष मानने पर दृष्ट घट के नष्ट हो जाने पर उसके अभाव की प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकेगी (क्योंकि वहाँ घट की उपलब्धि हो चुकी, अतः उसका अत्यन्ताभाव हो नहीं सकता)। इससे "उपलब्धि का संसर्गाभाव अभाव-प्रमा का कारण है"—यह मत भी निरस्त हो जाता है ; क्योंकि यहाँ भी प्रागभावादि के विकल्प अबाधगति से अग्रसर होते हैं। अन्यतमत्व पक्ष का खण्डन पहले ही हो चुका है। अनुपलब्धि में करणता बन भी नहीं सकती ; क्योंकि इसका अवान्तर व्यापार कोई नहीं। अधिकरण-ग्रहण या प्रतियोगि-स्मरण को भी व्यापार नहीं माना जा सकता ; क्योंकि वे दोनों भावविषयक हैं, अतः अनुपलब्धि से जन्य नहीं हो सकते और व्यापार वही होता है, जो करण से जन्य और करण-जन्य का जनक हो। यदि शङ्का की जाय कि केवल अनुपलब्धि अधिकरण-ग्रहणादि का जनक न होने पर योग्यता-विशिष्ट अनु-

नाभूतेतरप्रमाकरणसाकल्यं हि योग्यतेत्यङ्गीकारादिति चेत्; तर्हि भावप्रमितीनामिन्द्रियादिसहकृतभावानुपलम्भकारणजन्यतया तासु तासु प्रमास्वसाधारणकरणत्वप्रवादः प्रत्यस्तमियात्। कश्चायमनुपलम्भः, किं प्रमाभावः ? किं वा ज्ञानमात्राभावः ? नाद्यः; इदं रजतमिति रजतारोपस्थले रजताभावप्रमित्यजनके रजतप्रमाभावेऽतिव्याप्तेः। अन्यथा रजतारोप एव न स्यात्। नापि द्वितीयः; शङ्खधवलिमप्रतिसंधानवतः पीत इति भ्रमानुदयप्रसङ्गात्।

अपि च यत्राभाव एव लक्षणतो दुर्निरूपः, कुतस्तत्रेदं प्रमाणमिदं प्रमेयमिति विचारावसरः ?

व्यापारवत्तां दर्शयन् तत्स्वरूपमाह—तत्तदविनाभूतेति। तस्माद्विषयात्तदविनाभूताद्विषयसन्निकर्षादेश्चेतरद्यत्प्रतियोगिप्रमितिकरणं तत्साकल्यं योग्यता, तथा च तत्तज्ज्ञानान्यवान्तरव्यापाररूपाणि भविष्यन्तीत्यभिप्रायः। तदेतदतिप्रसक्त्या दूषयति—तर्हीति। अस्ति हि घटप्रत्यक्षात्पूर्वक्षणेऽनुपलम्भः। अस्ति च प्रतियोगिप्रमापकमिन्द्रियादिसाकल्यम्। नच विषयसत्ताऽपराधीयात् भावप्रमितिं प्रत्यनुगुणत्वादिति सर्वत्र तत्तदिन्द्रियादिसहितानुपलब्धिरेव करणम्। तथाचेन्द्रियादेः करणत्वप्रसिद्धिर्विरुध्येतेत्यर्थः। एवमनुपलब्धेः करणत्वं न संभवतीत्युक्तमिदानीमनुपलब्धिरित्यत्र नञा समस्यमानोपलम्भशब्देन प्रमितिर्वा ज्ञानमात्रं वाभिधीयते, उभयथाप्यनुपपत्तिरिति दूषयति—कश्चायमिति। इदं रजतमिति। अस्ति हि तत्र प्रतियोगिरजतप्रमित्यभावः। अस्ति च योग्यता, इन्द्रियादेर्विद्यमानत्वादितरथाधिष्ठानस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात्। अथ च न रजताभावप्रमित्युदय इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। अथ कथमभावप्रमित्यनुदयस्तत्राह—अन्यथेति। नह्यारोप्याभावप्रमितावपि तत्रारोपः संभवति। अतिप्रसङ्गादिति भावः। द्वितीयेप्यतिव्याप्तिमाह—शङ्खधवलिमेति। यदाहि कश्चिद्धवलः शङ्ख इति चेतसा शङ्खधवलिमानमनुसंदधाति, तदापि पीतपित्तोपहतनयनतया पीतः शङ्ख इति भ्राम्यति, तत्र धवलिमानुसंधानसमये पीतज्ञानं नासीत्। ज्ञानद्वययौगपद्याभावात्। ततश्च योग्यतोपेतपीतोपलम्भाभावस्तदानीमस्ति, नास्ति च पीतशङ्खाभावप्रमित्युत्पत्तिः। उत्तरक्षणे भ्रमदर्शनात्। अतस्तावकलक्षणं तत्रातिव्याप्तमित्यर्थः।

इदानीमेतत्प्रसङ्गादभावमात्रस्यैवानिरूपिततां दर्शयितुमुपक्रमते—अपिचेत्यादिना। अभाव इत्यत्र नञस्तदन्यत्वतदभावत्वतद्विरोधित्वार्थाभिप्रायेण विकल्पत्रयोत्थानम्। इतरे तु षडपि पक्षा वैलक्षिकाः।

पलब्धि अवश्य जनक है; क्योंकि घटादिप्रतियोगी और उससे अविनाभूत इन्द्रिय-सन्निकर्ष को छोड़कर इतर भूतलादि निखिल सामग्री का नाम योग्यता है (अतः योग्यता-प्रविष्ट भूतलादि से जन्य होने पर भूतलादि अधिकरण का ग्रहण योग्यताविशिष्ट अनुपलब्धि से भी जन्य माना जा सकता है)। तो यह शङ्का युक्त न होगी; क्योंकि इस प्रकार तो भावविषयक प्रमाज्ञान भी इन्द्रियादिरूप योग्यता-विशिष्ट भावानुपलब्धि (जो कि प्रतियोगि-प्रत्यक्ष के पूर्व विद्यमान है) से जन्य माने जा सकते हैं, इन्द्रिय, लिंगादि में प्रमा-करणत्व-व्यवहार समाप्त हो जायगा। यह अनुपलम्भ भी क्या है ? क्या प्रमाभाव ? या ज्ञानमात्र का अभाव ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि "इदं रजतम्—इस प्रकार रजतारोप स्थल पर रजताभाव-प्रमिति के अजनक रजतविषयक प्रमा के अभाव में अतिव्याप्ति होती है, अन्यथा (यदि रजत-प्रमा की उत्पत्ति मान ली जाय, तब) रजत का आरोप ही न हो सकेगा। द्वितीय (ज्ञानमात्र का अभाव) पक्ष मानने पर जिसे शंखगत श्वेतता का स्मरण ज्ञान है, उसे "पीतः शंखः"—इस प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए (क्योंकि श्वेतता-स्मरण समय पीतता-ज्ञान नहीं हो सकता, अतः उस समय योग्यता-विशिष्ट पीतत्वानुपलब्धि के होने से पीतत्वाभाव का निश्चय हो जायगा, फिर वहाँ पीतत्व-भ्रम कैसे होगा ?

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ अभाव के लक्षण का ही निरूपण नहीं हो सकता, वहाँ 'यह प्रमाण है, यह प्रमेय है'—इस प्रकार का विचार ही कैसे उठेगा ? जिज्ञासा होती है—अभाव क्या

तारः ? तथाहि—कोयमभावः ? (१) भावादन्यो वा ? (२) भावत्वानधिकरणं वा ? (३) भावविरोधी वा ? (४) भावेन स्वभावप्रत्यासन्नो वा ? (५) नास्तीति प्रत्ययविषयो वा ? (६) प्रतियोगिसापेक्षनिरूपणो वा ? (७) अस्तीति बुद्धेरविषयो वा ? (८) निर्विकल्पकबुद्धेरविषयो वा ? (९) भावलक्षणरहितो वा ? नाद्यः, भावस्यापि भावादन्यत्वेनातिव्याप्तेः। न द्वितीयः; अनधिकरणपदेनाधिकरणत्वाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात्। न तृतीयः; किंचिद्भावविरोधस्य भावेऽपि सद्भावादतिव्याप्तेः, सर्वभावविरोधित्वस्याभावेऽप्यभावेनासंभवित्वात्। न खलु घटाभावः सर्वभावविरोधी, सति घटाभावे विश्वाभावप्रसङ्गात्। विरोधिशब्देन च तादात्म्यासहिष्णुत्वविवक्षायां भावेष्वपि भावात्। नापि चतुर्थः; समवायादावपि भावात्। नापि पञ्चमः; इह भूतले घटो नास्तीति घटभूतलयोरपि विशिष्टाभावबुद्धिविषयत्वात्, अनुगताकारानिरूपणाच्च। नापि षष्ठः; ह्रस्वदैर्घ्यादिष्वपि भावात्। न सप्तमः; घटस्याभावोस्तीत्यभावस्याप्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनासंभवित्वात्। नाप्यष्टमः; ब्राह्मणत्वादिष्वपि भावात्।

स्वभावप्रत्यासन्न इति। नहि भूतलघटाभावयोरन्यः संबन्धः प्रत्यासत्तिः, संबन्धान्तराभावादित्यर्थः। न द्वितीय इति। भावत्वानधिकरणत्वं नाम किं तदधिकरणत्वाभावः? किंवा तदधिकरणत्वान्यत्वम्? द्वितीये भावेष्वतिव्याप्तिः। नहि भावत्वाधिकरणत्वमेव भावः। प्रथमे प्राह—अनधिकरणेति। एतेन समवायान्यत्वे सत्यसमवाय्यभाव इति मानमनोहरलक्षणमपि निरस्तम्। असमवायित्वविवेचने एव यथोक्तदूषणप्रचारादिति। भावेपीति। गोत्वाश्वत्वादावित्यर्थः। अभावस्य सर्वभावविरोधित्वाभावमेव विवृणाति—न खल्विति। किंचेदं भावविरोधित्वं किं भावघातकत्वम्? किं वा भावासहस्थायित्वम्? किं वा भावतादात्म्यराहित्यम्? त्रिधापि भावेष्वतिव्याप्तिरित्यभिसंधिराह—विरोधिशब्देन चेति। समवायेति। नहि समवायस्य समवायिभ्यां स्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यासत्त्यन्तरमस्ति, अनवस्थादिदोषात्। आदिशब्देन च प्रमेयत्वादि गृह्यते। इह भूतल इति। एकं हीदं ज्ञानं भूतलघटघटताभावग्राहीति तयोरप्येतत्प्रत्ययविषत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः। किंच प्रतीतिविषयत्वं नाम प्रतातिश्च विषयश्च, तौ परस्परं व्यावृत्ताविति अनुगतलक्षणाभावादव्याप्तिरित्याह—अनुगतेति। निर्विकल्पकबुद्ध्यविषयत्वमिति पक्षं दूषयति—नाप्यष्टम

है ? क्या (१) भावअन्य या (२) भावत्वानधिकरण ? या (३) भाव-विरोधी ? या (४) भाव के साथ स्वरुप सम्बन्ध से सम्बद्ध ? या (५) नास्ति—इस प्रकार की प्रतीति का विषय ? या (६) प्रतियोगि-सापेक्ष निरूपणीय ? या (७) 'अस्ति'—इस प्रतीति का अविषय ? या (८) निर्विकल्पक बुद्धि का अविषय ? या (९) भाव-लक्षण-रहित ? प्रथम (भावादन्यत्वम्) लक्षण भाव में अतिव्याप्त है; क्योंकि भाव भी भावान्तर से अन्य होता है। द्वितीय (भावत्वानधिकरणत्वम्) में अनधिकरण पद से अधिकरणत्वाभाव की विवक्षा में आत्माश्रय होता है। तृतीय (भावविरोधित्वम्) लक्षण भी भाव में अतिव्याप्त है; क्योंकि यत्किञ्चित् भाव-विरोधित्व भाव में भी होता है। सर्वभाव-विरोधित्व तो अभाव में भी नहीं होता, नहीं तो एक घटाभाव के होने पर विश्व का अभाव हो जायगा। 'विरोधी' शब्द से तादात्म्याभाव की विवक्षा करने पर भी भाव में अतिव्याप्ति रहती है; क्योंकि घट में पट का तादात्म्य नहीं होता। चतुर्थ (भावेन स्वभावप्रत्यासन्नत्वम्) लक्षण समवाय में अतिव्याप्त है। पञ्चम (नास्तिप्रतीतिविषयत्वम्) लक्षण घट भूतलादि भाव में अतिव्याप्त है; क्योंकि "इह भूतले घटो नास्ति"— इस प्रतीति की विषयता उनमें भी है (प्रतीतिविषयत्व का अनुगत आकार भी नहीं हो सकता। षष्ठ (प्रतियोगिसापेक्षनिरूपणत्वम्) लक्षण ह्रस्वत्वादि में अतिव्याप्त है; सप्तम (अस्तिप्रतीत्यविषयत्वम्) लक्षण असम्भव है, क्योंकि "घटाभावोऽस्ति"—इस प्रकार

“संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि जन्मतः ।
क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्राजानुपालितात् ॥ (श्लो० वा० वन० २९)
तैलाद्धृतं विलीनं च गन्धेन च रसेन च ।” (श्लो० वा० वन० २७)

इत्यादिन्यायेन तेषामपि सविकल्पकमात्रविषयत्वात् । न च नवमः ; राहित्यशब्देनाप्यभावाभिधानादात्माश्रयत्वापत्तेः । किंच किंचिद्भावलक्षणरहितत्वे च भावेष्वपि प्रसङ्गः, सर्वभावलक्षणरहितत्वशब्देन च सर्वभावलक्षणत्वानधिकरणत्वविवक्षायामेकैकस्यापि भावस्य तत्त्वादतिव्याप्तिः । सर्वभावलक्षणाभावाधिकरणत्वाभिधाने च तेष्वेव लक्षणाभावेष्वव्याप्तिः । तेषां स्वाधिकरणत्वाभावात् । तेष्वभावान्तराभ्युपगमे चाननुगमप्रसङ्गः ।

किंचेदं भावत्वं यदनधिकरणत्वमभावः ? (१) किमस्तीतिप्रत्ययविषयत्वम् ? (२) नास्ती-

---

इति । ब्राह्मणत्वादीनामपि न निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वम् , व्यञ्जकविशेषप्रतीत्यभावे तेषामप्रतीतेरतोतिव्याप्तिरित्यर्थः । एतदेव भट्टवार्तिकेन द्रढयति—**संस्थानेनेति** । संस्थानं कम्बुग्रीवादिलक्षणं तत्सहकृतमिन्द्रियं च घटत्वादेर्ग्राहकमित्यर्थः । जन्मतः, अविप्लुतब्रह्मचर्यो ब्राह्मणः स्यादित्यादिविशेषणात् , क्वचिच्च युधिष्ठिरप्रभृतिसम्यग्राजानुपालितादाचारात्, विलीनं घृतं गन्धेन च रसेन च तैलाद्भेदेन ज्ञायत इति शेषः । भावलक्षणरहितो वेति पक्ष दूषयति—**न च नवम इति** । अन्यत्वाभिधाने च भावेपि भावादतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । भावलक्षणशब्देन सर्वभावलक्षणमभिधीयते ? किंचिल्लक्षणं वा ? द्वितीये प्राह—**किंच किंचिद्भावेति** । प्रथमेति भावानां यानि सर्वाणि लक्षणानि तदनधिकरणत्वं विवक्षितम् ? भावलक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणत्वं वा ? आद्ये प्राह—**सर्वभावेति** । सर्वभावलक्षणत्वमिति च बहुव्रीहिः । सर्वभावलक्षणवत्त्वमिति यावत् । एकैकभावस्य सर्वभावलक्षणवत्त्वाभावादतिव्याप्तिरभावलक्षणस्येत्यर्थः । द्वितीये दूषणमाह—**सर्वेति** । भावलक्षणानां ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणमित्यभिधाने च तत्तल्लक्षणाभावेष्वव्याप्तिः, नहि तत्तदभावानां सर्वाभावाधिकरणत्वम् , स्वाधिकरणत्वाभावदित्यर्थः। अथ चैकैकभावलक्षणाभावा अपि बहवोऽतस्तत्तल्लक्षणाभावान्तराधिकरणत्वात्तदभावानामप्यस्त्येव सर्वाभावाधिकरणत्वमिति मतम् ,तथापि न सर्वाभावाधिकरणत्वम् , स्वाधिकरणत्वाभावादेव । अथ तत्तदभावविशेषाधिकरणत्वं लक्षणं तर्हि तेषामेव विशेषाणां स्वाधिकरणत्वाभावेनैकैकविशेषाधिकरणत्वविवक्षायामितरेषु लक्षणाननुगतिः । एवमितरविशेषविवक्षायामपीत्यव्याप्तिरित्याह—**अभ्युपगम इति** ।

किंच भावलक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तदधीननिरूपणाभावोपि दुर्निरूप इति हृदि निधाय भावलक्षण-

---

अस्ति-प्रतीति की विषयता ही अभाव में है । अष्टम (निर्विकल्पबुद्ध्यविषयत्वम्) लक्षण ब्राह्मणत्वादि में अतिव्याप्त है ; ब्राह्मणत्वादि भी निर्विकल्प बुद्धि के विषय नहीं, कुमारिल मिश्र ने कहा है कि कम्बुग्रीवादिमत्स्वरूप संस्थान विशेष से घटत्वादि का निश्चय होता है, ब्राह्मणत्वादि का माता-पिता के ज्ञान से, कहीं राजानुपालित आचार से निश्चय होता है । एवं पिघले हुए घी को सूँघने और खाने से निश्चय किया जाता है कि यह तैल नहीं घी है ।’ इस प्रकार ब्राह्मणत्वादि, सविकल्पक ज्ञान के ही विषय सिद्ध होते हैं । नवम (भावलक्षणरहितत्वम्) लक्षण में ‘रहितत्व’ शब्द से अभाव का अभिधान होने से आत्माश्रय दोष है । यत्किञ्चित् भाव-लक्षण-रहितत्व भाव में भी अतिव्याप्त है, ‘सर्वभाव-लक्षण-रहितत्व’ शब्द से सर्वभावों के सर्व लक्षणों के अनधिकरणत्व की विवक्षा करने पर प्रत्येक भाव में अतिव्याप्ति है और सर्व भाव-लक्षणों के सर्व अभावाधिकरणत्व की विवक्षा करने पर उन लक्षणाभावों में ही अव्याप्ति होती है ; क्योंकि स्वाधिकरणता न रहने से उनमें सर्वाभाव की अधिकरणता नहीं रहती । उनमें भी अन्य लक्षणाभाव मानने पर अननुगम की प्रसक्ति होगी ।

यह भावत्व भी क्या है जिसकी अनधिकरणता अभाव का लक्षण है ? क्या (१) अस्ति—इस

तिप्रत्ययाविषयत्वं वा ? (३) प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्वं वा ? (४) निर्विकल्पबुद्धिबोध्यत्वं वा ? (५) षड्लक्षणलक्षिततत्वं वा ? (६) षड्लक्षणान्यतमलक्षणलक्षिततत्वं वा ? नाद्यः; घटस्याभावोऽस्तीत्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनाभावेऽतिव्याप्तेः। न द्वितीयः; भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययविषयस्यापि घटादेर्भावत्वात्। न तृतीयः; प्रतियोग्यपेक्षनिरूपणे ह्रस्वदीर्घत्वादावव्याप्तेः। न चतुर्थः; निर्विकल्पबुद्धेः प्रागूर्ध्वमपि घटादेर्भावात्। तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वे चात्यन्ताभावे एवातिव्याप्तिः। तत्राप्यत्यन्ताभावान्तराभ्युपगमे लक्षणस्याननुगमः। न पञ्चमः; षड्लक्षणलक्षितत्वस्य प्रत्येकं द्रव्यादिष्वभावेनाव्याप्तेः। न षष्ठः; अन्यतमत्वस्य प्रागेव निरस्तत्वात्।

कश्चायं प्रागभावः ? विनाश्यभाव इति चेत्, न; विनाशिशब्देनोत्पत्तिमदभाववत्त्वाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात्। नहि प्रागभावस्य घटव्यतिरेकेणोत्पत्तिमानन्योऽभावो निवृ-

---

मपि खण्डयति—किं चेदमिति। यदनधिकरणत्वमिति। यल्लक्षणानधिकरणत्वमित्यर्थः, अस्यैवानन्तरं प्रकृतत्वात्। षड्लक्षणेति। द्रव्यादीनां षण्णां यानि लक्षणानि तैर्लक्षितत्वं चेत्यर्थः। नास्तीति प्रत्ययाविषयत्वमिति द्वितीयपक्षेऽव्याप्तिमाह—भूतले घट इति। ननु निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वं नाम तद्विषयत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं विवक्षितम्, तेन न प्रागूर्ध्वप्रयुक्ताव्याप्तिरिति, तत्राह—तदत्यन्तेति। योऽयमत्यन्ताभावो लक्षणत्वेनाभिहितस्तस्मिन्नेव स्वानधिकरणेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। उत्तरो ग्रन्थोऽनन्तरमेव कृतोपपादः। न पञ्चम इति। षण्णां यानि लक्षणानि न तैरेकैकलक्षितत्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि षष्ठः, तथा च शिवादित्यमिश्रेणोक्तमिति, तत्राह—न षष्ठ इति। एवं भावलक्षणानिरूपणादपि तन्मुखेनाभावनिरूपणं न संभवति, प्रकारान्तरेण निरूपणं पुरस्तादेव निरस्तम्।

एवमभावमात्रलक्षणं खण्डयित्वा तद्विशेषलक्षणमपि खण्डयति—कश्चायमिति। प्रध्वंसेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विनाशिग्रहणम्। घटादिनिवर्तनायाभावग्रहणम्। अत्र किं विनाशिशब्देन विनष्टो घट इत्यादिष्विवोत्पत्तिमदभाववत्त्वमभिधीयते ? किं वाऽभाववत्त्वम् ? चरमे प्रध्वंसादावतिव्याप्तिः, तस्याप्यभावप्रतियोगित्वात्। आद्यस्त्वसंभवीत्याह—विनाशिशब्देनेति। प्रागभावस्य निवृत्तिरित्यन्वयः। अत्र किं प्रत्यक्षात् घटव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिः स्वीक्रियते ? उपपत्तिबलाद्वा ? नाद्य इत्याह—अनुपलम्भादिति। तदुक्तं तात्पर्यटीकायामाचार्यवाचस्पतिना—“नो खल्वभावाभावो नाम कश्चिदन्यो भावान्नापि भावाभावो-

---

प्रतीति का विषयत्व ? या (२) नास्ति—इस प्रतीति का अविषयत्व ? या (३) प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना ही निरूपणीयत्व ? या (४) निर्विकल्पक बुद्धि-बोध्यत्व ? या (५) छह लक्षणों से लक्षितत्व ? या छह लक्षणों में से अन्यतम लक्षण-लक्षितत्व ? प्रथम (अस्तिप्रतीतिविषयत्वम्) लक्षण घटाभाव में अतिव्याप्त है। द्वितीय (नास्तिप्रतीत्यविषयत्वम्) लक्षण घटादि में अव्याप्त है; क्योंकि “भूतले घटो नास्ति”—इस प्रतीति की विषयता ही घटादि में है। तृतीय (प्रतियोग्यनपेक्षनिरूपणत्वम्) लक्षण ह्रस्वत्वादि में अव्याप्त है। चतुर्थ (निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यत्वम्) लक्षण भी घटादि में अव्याप्त है; क्योंकि निर्विकल्प बुद्धि के पूर्व और पश्चात् भी घटादि हैं। निर्विकल्पक बुद्धि-बोध्यत्व के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता अर्थ करने पर अत्यन्ताभाव में ही अतिव्याप्ति होती है। वहाँ भी अन्य अत्यन्ताभाव मानने पर लक्षण में अननुगम दोष होता है। पञ्चम (षड्लक्षणलक्षितत्वम्) लक्षण प्रत्येक द्रव्यादि में न होने से अव्याप्त है। षष्ठ (षड्लक्षणान्यतमलक्षणलक्षितत्वम्) लक्षण भी सम्भव नहीं; क्योंकि अन्यतमत्व का निराकरण हो चुका है।

यह प्रागभाव क्या वस्तु है ? यदि कहें विनाशी अभाव का नाम प्रागभाव है; तो यहाँ ‘विनाशी’ शब्द का जन्याभाववत्त्व अर्थ करने पर लक्षण असम्भवी हो जाता है; क्योंकि प्रागभाव का अभाव (निवृत्ति) घटादि प्रतियोगी से भिन्न कोई अनुभव में नहीं आता, प्रागभाव का अभाव तो

त्तिरन्यस्यानुपलम्भात्, 'अपोह्यमाने चाभावे भाव एवावशिष्यते' इत्यभुपगमाच्च । नन्वनिवृत्ते प्रागभावे घटजन्मन एवासंभवादन्यैव निवृत्तिरभ्युपेया । न च वार्तिकवचनविरोधः; निवृत्त्या प्रागभावेऽपोह्यमाने तत्प्रतियोगी घटादिरवशिष्यत एवेत्ययोगव्यवच्छेदपरत्वात् । अन्यथाऽभावापह्नवमात्रेण भावशेषे प्रागभावसमये प्रध्वंसस्यासंभवात्, प्रध्वंससमये च प्रागभावस्याभावाद्भावावशेषः प्रसज्येत इति चेत्, मैवम्; त्वदुक्तेन न्यायेनानिवृत्ते प्रागभावे तन्निवृत्तेरपि जन्मासंभवात्, तत्र तत्र निवृत्त्यन्तराभ्युपगमे चानवस्थापातात् । तस्मादुभयत्रानुपपत्तिसाम्येऽपि घट एव स्वप्रागभावनिवृत्तिरित्यङ्गीकरणीयम्, कल्पनालाघवात् । तथा चासंभवित्वदोषस्तदवस्थ एव । अस्तु वा प्रागभावस्य घटादन्यैव निवृत्तिस्तथापि प्रध्वं-

---

न्योऽभावात्'' इति । भट्टान्प्रत्याह—अपोह्यमान इति । द्वितीयपक्षमुद्भावयति—नन्विति । किं निवृत्ते प्रागभावे घट उत्पद्यते ? उतानिवृत्ते ? न तावदनिवृत्ते; विरोधिनि सति विरोध्यनुदयात् । तस्मान्निवृत्ते सतीति वक्तव्यम् । तथाच घटोत्पत्तेः प्राचीना काचन प्रागभावनिवृत्तिरभावरूपिणी स्वीकरणीया, अतः कथमसंभवो लक्षणस्येत्यर्थः । अयोगेति । यदि ह्यपोह्यमानेऽभावे भाव एवेति यथाश्रुतोऽन्वयः स्यात्तदा विरोधः । नचैवमन्वयः, अपि तु भावोऽवशिष्यत एवेति । तथाच भावोदयमात्रप्रतिपादनपरत्वान्न निवृत्तिनिराकरणपरतेत्यर्थः । ननु भावावशेष एव चेद्विधित्सितस्तर्हि निवृत्त्यवशेषादपि भावावशेषः सिध्यति, तद्रूपत्वाद्भावस्यातः पृथगभिधानवैयर्थ्यमिति, तत्राह—अन्यथेति । नाभावापह्नवमात्रं भावशेषः । यदि हि भावाकारेणावशेषो नामाभावापह्नवमात्रं स्यात्तदा भावावशेष एव स्यात् । न पुनः प्रागभावध्वंसावस्थातोऽतिरिक्तः कश्चित्प्रकारः । यतः प्रागभावसमयेऽपि प्रध्वंसापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वात्प्रध्वंससमये च प्रागभावापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वादभावापह्नवरूपो घटः सर्वदाऽस्तीति नोदकाहरणसमर्थघटसिद्धिरित्यर्थः । अथवाऽभावापह्नवमात्रत्वे भावस्य, प्रागभावध्वंसावस्थायामपि घटः स्यात्, एकैकनिवृत्तेरेकैकावस्थायामपि विद्यमानत्वादित्यर्थः । एतेन प्रागभावस्यैव निवृत्तिघट इत्यपि निरस्तम् । तदेतत्सिद्धान्ती दूषयति—मैवमिति । न तावद्विरोधिनिवृत्तावेव विरोध्युदय इति व्याप्तिः; निवृत्तेरपि प्रागभावानिवृत्तावुत्पत्त्यसंभवेन निवृत्त्यनवस्थाप्रसङ्गात् । तस्मादनिवृत्ते एव च प्रागभावे विरोध्युदय इति वक्तव्यम् । तथा च तद्वदेव घटोऽप्युत्पत्तुम् शक्नोतीति नेयमुपपत्तिः काचन, प्रत्युत घटरूपैव निवृत्तिः कल्पनालाघवादाश्रयणीया, तथा चासंभवित्वमित्याह—त्वदुक्तेनेत्यादिना । असंभवमुपेक्ष्यातिव्याप्तिमाह—अस्तु वेति । ननु नास्ति

घटरूप ही होता है, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—'अभाव का अपोह (निवृत्ति) कर देने पर भाव ही शेष रहता है' (श्लो० वा० अपो० ६४) । यदि शङ्का हो कि प्रागभाव की निवृत्ति न होने पर घट का जन्म ही असम्भव है, अतः भाव से भिन्न ही प्रागभाव की निवृत्ति माननी होगी । वार्तिककार के उक्त वचन का आशय है—'प्रागभाव की निवृत्ति हो जाने पर उसका प्रतियोगी शेष रहता ही है'—इस प्रकार के अयोग-व्यवच्छेदरूप अर्थ में (न कि प्रतियोगी ही शेष रहता है—इस प्रकार के अयोग-व्यवच्छेद में)। अन्यथा (अभावापह्नव को भाव स्वरूप ही मानने पर) प्रागभाव के समय ध्वंसापह्नव और ध्वंस के समय प्रागभावापह्नव होने के कारण प्रतियोगी सदैव बना ही रहेगा । तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि आपकी रीति से यह भी मानना पड़ेगा कि प्रागभाव की निवृत्ति न होने पर उसकी निवृत्तिका भी जन्म न होगा, अतः आत्माश्रय दोष होता है । इस दोष को हटाने के लिए कारणभूत निवृत्ति को कार्यभूत निवृत्ति से भिन्न मानते जाने पर अनवस्था होगी । इस लिए दोनों पक्षों में अनुपपत्ति की समानता है, अतः "घट ही अपने प्रागभाव की निवृत्तिरूप है"—यही मानना चाहिए; इसमें कल्पनालाघव है (निवृत्ति को पृथक् मानने पर गौरव होगा) । इसलिए जन्याभाववत्ता-घटित लक्षण असम्भव है । अस्तु, मान लेते हैं घट से पृथक् ही प्रागभाव की निवृत्ति, तथापि

सेऽतिव्याप्तिस्तस्यापि विनाशित्वात्। न च ध्वस्तस्योन्मज्जनापत्तिः; प्रध्वंसवदेव तत्तत्प्रध्वंसमालाया अपि प्रध्वस्तभावविरोधित्वात्। तवापि कथमन्यथा प्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गपरिहारः? यत्पुनरुक्तं लीलावतीकारेण–'असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानबाधितत्वात् कल्पनालाघवाच्च न प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशौ' इति, तदसत्; कपालचूर्णरजःप्रभृतीनां संभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गाणां भिन्नतयैव प्रत्यक्षत्वात् त्वदुक्तप्रत्यभिज्ञाया असिद्धेः, प्रत्यक्षसिद्धे च भेदे कल्पनालाघवन्यायस्यानवसरदुःस्थत्वात्। तथाच पौराणिकमुदाहरणम्–'मही घटत्वं

प्रध्वंसस्य प्रध्वंसः, येनातिव्याप्तिः स्यात्, प्रध्वंसस्यापि प्रध्वसे घटप्रागभावध्वसरहितकालस्य घटकालत्वेन घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इति, तत्राह—**न च ध्वस्तस्येति**। यथा हि प्रथमध्वंसो घटविरोधी, एवं तत्प्रध्वंसमालापि घटविरोधिन्येव, तत्कस्य हेतोः? उत्तरोत्तरध्वंसानामपि ध्वंससमानविरोधित्वात्, पूर्वपूर्वप्रतियोगिव्यावृत्तस्वध्वंसविरोधित्ववत्। इतरथा घटसंसर्गनिषेधे घटस्य निषेधो न स्यादिति घटनित्यतानित्यतयोः प्रसङ्गात्, ततो नोन्मज्जनापत्तिरिति भावः। अतश्चैवमेवाङ्गीकर्तव्यमितरथा घटध्वंसे घटप्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गात्, घटध्वंसस्य प्रागभावध्वंसध्वंसत्वात्, घटानवच्छिन्नकालस्य घटप्रागभावव्याप्तत्वाच्चेत्याह—**तवापीति**। नच प्रागभावोन्मज्जनमस्त्येवेति वाच्यम्; तथा सति घटोत्पत्तेरवश्यंभावेनोष्ट्रलकुटवृत्तान्तापातादिति भावः। उक्तं च लीलावतीकारेण–'प्रागभावनिवृत्तिनिवृत्तौ तदुन्मज्जनापत्तिः' इति चेन्न। ध्वंसस्यापि तद्विरोधित्वादिति। यदत्र तेनैवोक्तम् –एवं सति ध्वंसोपि नश्येत कृतकत्वात्, प्रागभावोपि जायेत विनाशित्वादिति। प्रागभावप्रध्वंसयोरुत्पत्तिविनाशावाशङ्क्य नासंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गप्रत्यभिज्ञानप्रतिक्षिप्तत्वादिति। तदनुवदति—**यत्पुनरिति**। अस्ति हि घटोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं च नासीत् घटः, न भविष्यति घट इति, नास्ति च घट इति वा। स एवायं प्रागभावः स एवायं प्रध्वंस इत्येव वाऽबाधिताभावप्रत्यभिज्ञानम्। इदं च ज्वालाप्रत्यभिज्ञानवदमानमित्यत उक्तम्—**असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गेति**। न संभवी विरुद्धधर्मसंसर्गो यद्विषये तत्प्रत्यभिज्ञानं तथोक्तम्, एकाभावेनैव व्यवहारोपपत्तावनन्ताभावकल्पनायां गौरवं चेत्याह—**कल्पनेति**। दूषयति—**तदसदिति**। अत्र तावदुत्तरोत्तरकपालादिरेव पूर्वपूर्वघटादेः प्रध्वंसः पूर्वपूर्वपिण्डादिरेवोत्तरघटादेः प्रागभाव इति च वक्ष्यति। तथा च तेषां कपालप्रभृतीनां परस्परविरुद्धानामेवोपलभ्यमानत्वात् ज्वालाप्रत्यभिज्ञानवदाभासोऽयमित्यर्थः। कल्पनागौरवं परिहरति—**प्रत्यक्षेति**। कपालादीनां घटादिध्वंसरूपाणां नानात्वे विष्णुपुराणसंमतिमप्याह—**मही घटत्वमिति**। मही घटत्वं प्रतिपद्यते,

---

ध्वंस में अतिव्याप्ति है; क्योंकि वह भी विनाशी अभाव है। ध्वंस का नाश मानने पर ध्वस्त घटादि का पुनः प्रादुर्भाव होना चाहिए'—यह आपत्ति नहीं दे सकते; क्योंकि ध्वंस के समान ही ध्वंसध्वंसादि को प्रतियोगी का विरोधी माना जाता है (द्र० न्या० ली० पृ० ५६८)। नहीं तो आपके यहाँ भी प्रागभाव के विरोधी घट का नाश हो जाने पर प्रागभाव का उन्मज्जन क्यों नहीं होता? यह जो लीलावतीकार ने कहा है—'जिसके विषय में विरुद्धधर्मों का संसर्ग सम्भव नहीं, ऐसे प्रत्यभिज्ञा ज्ञान से (प्रागभाव में उत्पत्तिमत्त्व और ध्वंस में नश्वरत्व-साधक "प्रागभावो जायेत नाशित्वात्, ध्वंसो नश्येत् कृतकत्वात्"—आदि अनुमानों का) बाध हो जाने एवं कल्पना-लाघव होने के कारण प्रागभाव की उत्पत्ति और ध्वंस का विनाश सिद्ध नहीं होता' (न्या० ली० पृ० ५७२)। वह कहना भी असत् है; क्योंकि जिनमें विरुद्ध धर्मों का संसर्ग सम्भव है, ऐसे कपाल, कपालिका, चूर्ण, धूलिकणादि में भिन्नता का प्रत्यक्ष होने से आपकी कही प्रत्यभिज्ञा सिद्ध नहीं होती। [अर्थात् घटका ध्वंस कपालरूप, कपाल का ध्वंस कपालिकारूप और कपालिका का ध्वंस चूर्णरूप अनुभूत होता है, अतः एक ही ध्वंस में कपालरूपता, कपालिकादिरूपता सम्भव नहीं, अतः ध्वंस नाना हैं। ऐसे ही प्रागभाव भी]। जब कि भेद प्रत्यक्ष-सिद्ध है, तब कल्पना-लाघव को कोई अवसर ही नहीं मिलता। जैसा कि पौराणिक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है—पृथिवी घटरूप में आती है, घट कपालरूप में, कपाल

घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णंरजस्ततोऽणुः' इति । उत्पत्तिमानभावो ध्वंस इत्यप्यलक्षणम् ; पिण्डादेर्घटप्रागभावत्वेनास्मदभिमतस्योत्पत्तिमत्त्वात्तदतिरिक्तस्य चानुपलब्धेः ।

तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न ; घटपटयोस्तादात्म्यस्यैवाप्रमितत्वेन प्रमितनिषेधनियमवादिनस्तन्निषेधस्याशक्यत्वात् । प्रमिते घटे प्रमितपटत्वप्रतिषेधे च भूतले घटनिषेधवत्संसर्गाभावापत्तेः । प्रतियोग्यनिष्ठो नित्योऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न, विकल्पानुपपत्तेः । प्रतियोगिशब्देन किमन्यदुच्यते ? किं वा निरूपकः ? विरोधी वा ? नाद्यः ; धर्मिणोऽपि स्वास्मदन्यत्वेनासंभवित्वात् । धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति विवक्षितमिति चेत्, न ; अत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः । यत्र यत्र वर्तते तस्यैव धर्मितया ततोऽन्यत्र तस्यावृत्तेः ।

एवं यावदणु । अस्य च 'जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्त्वि'त्युत्तरार्धः । अयमर्थः—एवमागमापायितया स्वकर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिर्जनैर्विकारजातमालक्ष्यते, अतः किमत्र विकारजाते वस्तु ब्रूहि ? न किमपीत्यर्थः । प्रध्वंसलक्षणमपि दूषयति—**उत्पत्तिमानिति** । यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—**पिण्डादेरिति** । तथाच प्रागभावेतिव्याप्तिरित्यर्थः ।

एवं प्राक्प्रध्वंसाभावौ दूषयित्वाऽन्योन्याभावं दूषयति—**तादात्म्येति** । भेदखण्डनप्रस्तावोक्तं स्मारयत्यधिकविवक्षया—**घटपटयोरिति** । ननु घटे पटत्वमेव निषिद्ध्यताम् तथाच नाप्रसिद्धप्रतियोगितेति, तत्राह—**प्रमिते घट इति** । लक्षणान्तरं शङ्कते—**प्रतियोगीति** । अत्यन्ताभावव्यावृत्त्यर्थं प्रथमं विशेषणम्, नित्यत्वं चेदमुत्पत्तिविनाशरहितत्वम्, एतच्च प्रागभावप्रध्वंसयोर्व्यभिचारवारणार्थम् । नित्यभावव्यावृत्त्यर्थमभावपदम् । यत्तदधिकविवक्षयेत्युक्तं तद्दर्शयिष्यन्विकल्पयति—**प्रतियोगिशब्देनेति** । **धर्मिणोऽपीति** । अन्यत्वं चेत्प्रतियोगित्वं तथा सत्यन्योन्याभावादित्यर्थाल्लभ्यते, तस्य प्राधान्येन प्रकृतत्वात् । तथाच प्रतियोग्यनिष्ठ इति कोर्थः ? अन्योन्याभावव्यतिरिक्ते न वर्तत इति, तथा चाभावस्य धर्मिण्यप्यवृत्तिप्रसङ्गेन नित्यमसंभव्येव लक्षणमित्यर्थः । नन्वन्यत्वमेव न प्रतियोगित्वं किंतु धर्मिणोऽन्यत्वम्, तथा च धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति लक्षणार्थ इति शङ्कते—**धर्मिव्यतिरिक्त इति** । तत्र यद्यपि नित्यत्वविशेषणात्प्रागभावादौ न गच्छति, तथाऽप्यत्यन्ताभावे गच्छत्येव, तस्यापि धर्मिव्यतिरिक्ते वृत्तिर्व्याघातान्नास्ति, अस्ति च नित्यत्वमित्यभिप्रेत्य दूषयति—**अत्यन्तेति** । निरूपकत्वं प्रतियोगित्वमिति पक्षेऽप्यसंभव एव, धर्मिणोपि निरू-

---

कपालिकारूप में और कपालिका चूर्ण के रूप में आती है, उसके अनन्त धूलि और अणु हो जाते हैं । "उत्पत्तिमान् अभावः"—यह भी ध्वंस का लक्षण युक्त नहीं ; क्योंकि घट के पूर्वरूप पिण्डादि ही प्रागभावस्वरूप हमारे मत में माने जाते हैं और प्रागभावस्वरूप पिण्डादि उत्पत्तिमत् भी हैं, अतः उनमें यह लक्षण अतिव्याप्त होता है । पिण्डादि से भिन्न कोई अभाव अनुभव में नहीं आता ।

तादात्म्मप्रतियोगिक अभाव का नाम अन्योन्याभाव है—यह लक्षण भी उचित नहीं; क्योंकि घट और पट का तादात्म्य कभी प्रमित ही नहीं हुआ, अतः "प्रमित का ही निषेध होता है"—ऐसा माननेवाले के मत से उक्त अप्रमित प्रतियोगी (तादात्म्य) का निषेध नहीं हो सकता । यदि प्रमित घट में प्रमित पटत्व का विषेध करेंगे, तब वह तादात्म्याभाव न रहकर भूतल में घट निषेध के समान संसर्गाभाव हो जायगा । प्रतियोग्यवृत्ति नित्य अभाव को भी अन्योन्याभाव नहीं कह सकते ; क्योंकि यहाँ प्रतियोगी शब्द से क्या विवक्षित है ? भिन्न मात्र ? या निरूपक ? या विरोधी ? प्रथम पक्ष में असम्भव है, क्योंकि अन्योन्याभाव का धर्मी भी अन्योन्याभाव से भिन्न ही है, वह भी 'प्रतियोगी' पदवाच्य हो गया, उसमें अन्योन्याभाव अवृत्ति नहीं । यदि भिन्न का अर्थ करें धर्मि-भिन्न ; तब अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होती है ; क्योंकि धर्मी से भिन्न में अवृत्ति अत्यन्ताभाव भी होता है, अर्थात् अत्यन्ताभाव जहाँ-जहाँ रहता है, वही धर्मी कहा जायगा, उससे भिन्न में नहीं रह सकता ।

न द्वितीयः ; धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्त्यसंभवात् । धर्मिव्यतिरिक्तनिरूपकावृत्तित्वं विवक्षितमिति चेत्, न ; धर्मिणोऽपि धर्म्यन्तरादन्यत्वात् । धर्मित्वानधिकरणे न वर्तत इति चेत्, न ; असंभवित्वात्, निर्धर्मकस्य वस्तुनोऽसंभवेन प्रतियोगिनोऽपि धर्मित्वात् । नापि तृतीयः ; विरोधस्य दुर्घटतायाः पूर्वमेवाभिहितत्वात् । अस्तु वा यः कश्चिदविचारितरमणीयः प्रतियोगी, तथापीदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्, किमेको जगत्यन्योन्याभावः ? किं वा बहवः ?

सर्वस्य प्रतियोगित्वाद्दुर्लभा तदनिष्ठता ।
द्विधाप्यात्माश्रयत्वाच्च न स्वशब्दो विशेषणम् ॥३७॥

अन्योऽन्याभावस्य सर्वत्रैकत्वे सर्व एव धर्मी सर्व एव प्रतियोगीति कथं तदनिष्ठता संभवेत् ? बहुत्वेऽपि यत्किंचिदपेक्ष्य धर्मिणोऽपि प्रतियोगित्वात्तदनिष्ठत्वासंभवस्तदवस्थः । स्वप्रतियोग्यनिष्ठ इति च विशेषणे स्वशब्दाभिधेयस्यान्योन्याभावस्याद्याप्यसिद्धेः कथं नात्माश्रयः ?

पकतया तत्रावृत्तेरसंभवादित्याह—न द्वितीय इति । न निरूपकत्वमात्रं प्रतियोगित्वम्, किं तर्हि ? धर्मिव्यतिरिक्तत्वे सति । तथाच नासंभव इति शङ्कते—धर्मिव्यतिरिक्तेति । किं धर्म्यन्यत्वं धर्मिव्यतिरिक्तत्वं वा ? धर्मित्वानधिकरणत्वं वा ? आद्ये प्राह—धर्मिणोऽपीति । तथा चासंभवस्तदवस्थ इत्यर्थः । द्वितीयमाशङ्क्यासंभवेन दूषयति—धर्मित्वेति । असंभवमेव विवृणोति—निर्धर्मकस्येति । विरोधी प्रतियोगीति पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति । पूर्वमेवेति । किं सर्वाभावेन? यत्किंचिदभावेन वा ? इति विकल्प्य पूर्वमेव दूषितत्वादित्यर्थः । एवं प्रतियोग्यनिरूपणात्प्रतियोग्यनिष्ठत्वं दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण प्रतियोग्यनिष्ठतादुर्घटतां व्युत्पादयति—अस्तु वेत्यादिना । एकत्वे बहुत्वे च यथाक्रमं दूषणं संगृह्णाति श्लोकेन—सर्वस्येति । यद्येको जगत्यन्योऽन्याभावस्तदा सर्व एव तस्य धर्मी, सर्व एव प्रतियोगी, घटप्रतियोगिकपटधर्मिकान्योन्याभावस्यैव घटेऽपि वर्तमानत्वात् । तथा च धर्मिनिष्ठत्वमेव प्रतियोगिनिष्ठत्वमिति प्रतियोग्यनिष्ठता दुर्लभा स्यात् । अथ बहवोऽन्योन्याभावास्तथापि प्रतियोगिमात्रानिष्ठत्वं वा ? स्वप्रतियोग्यनिष्ठत्वं वा तदाभिप्रेयते ? आद्यस्त्वसंभवी ; धर्मिणोऽपि यत्किंचित्प्रति प्रतियोगित्वेन तदनिष्ठताव्याघातात् । द्वितीये चात्माश्रयत्वप्रसङ्गात् स्वशब्दो न विशेषणमिति । द्विधाप्येकत्वे बहुत्वे च दुर्लभा तदनिष्ठतेति श्लोकयोजना । विवृणोति—अन्योन्येति । अनवस्था चान्योन्याभावानेकत्वे स्यात्स्वरूपत्वे चानेकत्वासिद्धेः । एतेन सर्वत्र तदन्यत्वविशेषणं प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम् । अत्यन्ताभावलक्षणेऽप्युक्तं दूषणमतिदिशति—एतेनेति । अतिदिश्यमानं विशदयति—प्रतिपादितेति । प्रतियोगिग्रहण यत्किंचिन्निष्ठा-

द्वितीय (निरूपक) पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि धर्मी भी निरूपक होता है, उसमें अवृत्तिता सम्भव नहीं । धर्मि-भिन्न निरूपकावृत्तित्व कहने पर भी वही दोष है ; क्योंकि एक धर्मी, दूसरे धर्मी से भिन्न होता ही है । धर्मित्वानधिकरण में अवृत्ति कहने पर असम्भव होगा ; क्योंकि निर्धर्मक वस्तु आपके यहाँ कोई है नहीं, प्रतियोगी भी धर्मित्वानधिकरण नहीं। तृतीय (विरोधी) पक्ष भी विरोधी की पूर्वोक्त रीति से दुर्घटता के कारण सम्भव नहीं । अस्तु, जैसा-तैसा कोई प्रतियोगी पदार्थ मान भी लें, तब भी आप यह बताइए कि जगत् में अन्योन्याभाव एक ही है ? या बहुत ? दोनों पक्षों में सभी प्रतियोगी बन जाते हैं, अतः प्रतियोग्यवृत्तित्व दुर्लभ हो जाता है, द्वितीय पक्ष में स्वप्रतियोग्यवृत्तित्व का निवेश करने पर आत्माश्रय दोष होता है, अतः ‘स्व’ शब्द विशेषण नहीं बन सकता । अर्थात् अन्योन्याभाव के सर्वत्र एक होने पर सभी धर्मी और सभी प्रतियोगी बन जाते हैं, अतः प्रतियोग्यवृत्तित्व कैसे सम्भव होगा ? बहुत्व पक्ष में भी किसी-न-किसी की अपेक्षा धर्मी भी प्रतियोगी होता है, अतः वहाँ भी वही प्रतियोग्यवृत्तित्वासम्भव दोष होता है । स्व-प्रतियोग्यवृत्तित्व विशेषण लगाने पर स्वशब्द-वाच्य अन्योन्याभाव अभी तक सिद्ध नहीं हुआ, अतः आत्माश्रयता है । इसी दोष के कारण

एतेन प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽत्यन्ताभाव इत्यपि निरस्तम्; प्रतियोग्यनिरूपणात्। प्रतिपादितन्यायेन सर्वस्य प्रतियोगित्वेनान्योन्याभावस्यापि प्रतियोगिनिष्ठतया विशेषणवैयर्थ्यात्, प्रागभावप्रध्वंसयोरपि तत्संभवादतिव्याप्तेश्च।

किंचाभाव एव दुर्निरूपः, कुतस्तत्र तत्प्रमाणलक्षणभेदाद्भेदचिन्तावतारः? तथाहि—यादृशे भूतलादौ धर्मिणि घटाभावोऽभ्युपेयते, तादृशस्यैवाभावव्यवहारनिदानत्वमस्तु किमतिरिक्ताभावकल्पनया? अस्ति तावद्भावाभावोदासीनमाश्रयस्वरूपम्, अन्यथा कीदृशेऽभावः संवध्येत? न तावद्भाववति; भावाभावयोरविरोधापत्तेः। नाप्यभाववति; आत्माश्रयत्वादनवस्थाप्रसङ्गाच्च। ननु किमिदं प्रतिकूलतर्कमात्रम्? उत विपर्ययपर्यवसायितयोदासीनाश्रयस्वरूपोपस्थापकम्? नाद्यः; अनुग्राह्यप्रमाणविरहिणस्तर्कस्य साधनबाधनानङ्गत्वात्। न द्वितीयः; संबध्यते चाभाव इति विपर्ययपर्यवसानस्याभावमनिच्छतोऽसिद्धेः।

न्योन्याभावव्यावृत्त्यर्थम्, नच तेनापि तद्व्यावर्त्यते, तस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगिनि वात्यन्ताभावप्रतियोगिनि वा वर्तमानत्वादतो व्यर्थविशेषणता। अतिव्याप्तिश्च तत्रैवेति भावः। अतिव्याप्त्यन्तरं चाह—प्रागभावेति। तदधिकरणस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगित्वादिति भावः।

एवमभावलक्षणं दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानीं लक्ष्याभावे किंचित्प्रमाणमपि नास्तीत्याह—किंचेति। ननु भूतले घटो नास्तीत्यबाधितबुद्धिबोध्योऽभावः कथमपह्नोतुं शक्यत इति? तत्राह—यादृश इति। अभ्युपेयते, भवद्भिरिति शेषः। स्यादेतत्—सघटेऽपि भूतले किमिति घटो नास्तीति बुद्धिर्नोदेति, भूतलस्वरूपस्य तदापि भावात्। अथ केवलभूतले? किमिदं कैवल्यम्? घटराहित्यमिति चेत्सोऽयं 'निन्दामि च पिबामि च' इति न्यायं नूतनयति, राहित्यस्यैवाभावत्वादिति, तत्राह—अस्ति तावदिति। इदं यादृश इत्यस्य विवरणम्, स च न घटरहिते, नापि घटवति, किंतु यत्र घटाभावसंबन्धः स्वभावतोऽन्यतो वा भवद्भिरभिमन्यते तस्मिन्नित्यर्थः। एतादृशं रूपं विपर्ययबाधकैरङ्गीकारयति—अन्यथेति। अथ सोऽभावोऽन्यस्तेन नात्माश्रयतेति तत्राह—अनवस्थेति। अत्र लीलावतीपतिरेताभिरेव युक्तिभिः पूर्वपक्षमारचय्य राद्धान्तयांबभूव—नैवम्, विचारासहत्वात्, किमेतत्परिपन्थितर्कमात्रमित्यादिना। तदुद्भावयति दूषयितुम्—नन्वित्यादिना। विपर्ययपर्यवसायितां दूषयति—न द्वितीय इति। अत्र हि यदि भूतलौदासीन्यं न स्यादभावो

प्रतियोगिवृत्ति अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं—यह अत्यन्ताभाव का लक्षण भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि प्रतियोगी का निरूपण नहीं हो सकता एवं प्रोक्त रीति से सभी प्रतियोगी बन जाते हैं, अतः अन्योन्याभाव के भी प्रतियोगिनिष्ठ हो जाने से प्रतियोगिनिष्ठत्व विशेषण व्यर्थ भी है। प्रागभाव और ध्वंस में भी प्रतियोगिनिष्ठत्व सम्भव होने से अतिव्याप्ति भी है।

अभाव के लक्षण में भेद-अभेद की चिन्ता तो दूर रही, लक्ष्यभूत अभाव का ही निरूपण सम्भव नहीं; क्योंकि जिस प्रकार के भूतलादि धर्मी में घटाभाव माना जाता है, उसी को ही अभाव-व्यवहार का कारण मान लेना चाहिए, उससे अतिरिक्त अभाव की कल्पना अनावश्यक है। जिस प्रकार के भूतल में घटाभाव रहता है, वह भावाभाव-निरपेक्ष भूतल का स्वरूप है। अन्यथा (वैसा स्वरूप न मानने पर) कैसे भूतल में घटाभाव माना जायगा? भावाधिकरण में मान नहीं सकते; क्योंकि भाव और अभाव एकत्र कैसे रहेंगे? अभावाधिकरण में अभाव मानने पर आत्माश्रय और अनवस्थादि दोष आ जाते हैं। लीलावतीकार ने जो (न्या० ली० पृ० २५२ पर) कहा है कि यह क्या केवल विरोधी तर्क उपस्थित किया गया है? (यदि भूतलौदासीन्यं न स्यात् तदा अभावो न सम्बध्येत) या विपर्यय में पर्यवसित होकर वह उदासीन आश्रयस्वरूप का साधक अनुमान है? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि तर्क से अनुग्राह्य प्रमाण के बिना केवल तर्क में साधन या बाधन की अङ्गता नहीं मानी जाती। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि (उक्त तर्क का विपर्यय होता

सघटं भूतलमिति भावव्यवहारस्यापि प्रतिक्षेपकतया स्वव्याघातकरत्वेन जात्युत्तरतापत्तेः। तथाहि—किं भाववति भावः? किं वा तदभाववति? इति विकल्पदूषणयोस्तत्रापि तुल्यत्वादिति चेत्, मैवम्; अस्याः प्रभाकरविभीषिकाया लोकप्रसिद्धभावाभावव्यवहारिणं मायावादिनं प्रत्यनुत्थानात्। तथाह्यवधीरितसत्त्वासत्त्वानां हेत्वादीनां लोकप्रसिद्धं स्वरूपमात्रमुपादाय सर्वोऽयं मायावादिनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः, कस्तत्र परवादिप्रसिद्धं विपर्ययपर्यवसानमाश्रित्य प्रत्यवतिष्ठमानस्योपालम्भसंभवः? एतेन भावव्यवहारप्रतिबन्दिग्रहः परास्तः; तत्रापि दुर्घटतायाः स्वीकृतत्वात्। तदेवमवधीरितभावाभावभूतलादेरुपलम्भादेवाभावव्यवहारसंभवे तदतिरिक्ताभावाभ्युपगमो निष्प्रमाणक एव। ननु कथं निष्प्रमाणकता? चक्षुश्चाक्षुषभावातिरिक्तग्राहकमिन्द्रियत्वाद् घ्राणवत्, निर्घटं भूतलमिति विज्ञानमेतद्विज्ञाना-

---

न संबध्येतेति तर्कः, संबध्यते चाभावस्तस्मादस्त्यौदासीन्यमिति च विपर्ययः। नचाभावमनिच्छत संबध्यते चायमिति वक्तुं शक्यम्, अभावस्यैवाप्रमितत्वेनाप्रसिद्धविशेषणतापातादिति भावः। प्रतिक्षेपकतामेव दर्शयन् जात्युत्तरतां तर्कस्य विवृणोति—**किं भाववतीति**। न तावद्भाववति भूतले भावो वर्तते; आत्माश्रयात्, अनवस्थानाच्च। नाप्यभाववति; विरोधात्। तस्माद्भावाभावोदासीनमेव भूतलं भावाश्रय इति वक्तव्यम्, तथाच तदेव भावव्यवहारालम्बनमस्तु, कृतं तदतिरिक्तभावकल्पनयेति सुवचत्वात् जात्युत्तरमिदमित्यर्थः। एवमनूदितं दूषयति सिद्धान्ती—**मैवमित्यादिना**। यस्य प्राभाकरस्य प्रमाणसिद्धमेव साधनं दूषणाङ्गं न प्रतीतिसिद्धमिति मतम्, तं प्रत्येषा विभीषिका स्यान्नास्मान्प्रतीत्यर्थः। अस्यैव प्रपञ्च उत्तरो ग्रन्थः। यत्तु भावप्रतिक्षेपकत्वाज्जात्युत्तरमिति, तन्न, व्याघातकत्वाभावात्प्रत्युतानुगुणमेवेत्याह—**एतेनेति**। एवं त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तलोकप्रसिद्धिमादाय विपर्ययपर्यवसानसंभवेन दृढतरैस्तर्कैस्तात्त्विकाभावप्रतिक्षेपं प्रपञ्चितमुपसंहरति—**तदेवमिति**। मानमनोहरकारीयमनुमानमभावसिद्धावुदाहरति—**ननु कथमित्यादिना**। अत्रातिरिक्तत्वमनधिकरणत्वम्, तथा सति चाक्षुषभावत्वानधिकरणत्वं चाक्षुषत्वानधिकरणत्वाद्वा? भावत्वानधिकरणत्वाद्वा? आद्ये ग्राहकत्वं व्याहतमिति भावत्वानधिकरणमभावस्तच्चाक्षुषत्वं चेत्यभावसिद्धिः। दृष्टान्ते चाक्षुषत्वानधिकरणं गन्धमादाय साध्यसिद्धिः। अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यै चाक्षुषग्रहणम्। अनुमानान्तरं चाह—**निर्घटमिति**। अत्राप्येतद्विज्ञानालम्बनभावत्वानधिकरणत्वमेतज्ज्ञानालम्बनत्वान-

---

है—“सम्बध्यते चाभावस्तस्मादस्ति भूतलौदासीन्यं रूपम्” यहाँ) ‘सम्बध्यते चाभावः’—यह अंश अभाव को अतिरिक्त न माननेवाले के मत में सिद्ध ही नहीं। इस तर्क को जात्युत्तर भी कहा जा सकता है; क्योंकि “सघटं भूतलम्”—इस प्रश्न का घातक होने से स्वव्याघातकारक है। अर्थात् “सघटं भूतलम्”—इस व्यवहार के लिए भी वही प्रश्न उठ सकता है कि यह भावाधिकरण भूतल में व्यवहार है? या अभावाधिकरणभूतल में? इस प्रकार वही विकल्प और वही दोष यहाँ भी होते हैं। तो यह लीलावतीकार की विभीषिका प्राभाकर को ही डरा सकती है, लोक-प्रसिद्ध भावाभाव-व्यवहार मानने वाले मायावादी के सामने वह शिर नहीं उठा सकती; क्योंकि सत्त्वासत्त्व-निरपेक्ष लोक-प्रसिद्ध हेत्वादि का स्वरूप लेकर मायावादियों का यह समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार होता है। परमत-सिद्ध विपर्यय-पर्यवसान को माननेवाले पर उपालम्भ ही कैसे लगेगा? इससे भाव-व्यवहार-पक्ष में जो समान दोष दिये थे, वे भी परास्त हो जाते हैं; क्योंकि हम वहाँ भी वैसी ही दुर्घटता मानते ही हैं (क्या आपने सुना नहीं है—“क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्”—यह श्री हर्ष का सिंहनाद?) । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि भावाभाव-निरपेक्ष केवल भूतलादि की उपलब्धि से ही अभाव-व्यवहार निभ जाता है, अतिरिक्त अभाव मानना अप्रामाणिक ही है। यदि शङ्का हो कि अभाववाद में अप्रामाणिकता कैसे? “चक्षुरिन्द्रिय चक्षुषभाव से अतिरिक्त पदार्थ का ग्राहक है, इन्द्रिय होने से, जैसे—घ्राण”, “भूतल निर्घट है—इस प्रकार का ज्ञान इस विज्ञान के

लम्बनभावमात्रातिरिक्तालम्बनमेतद्भावमात्रालम्बननिर्विकल्पकेतरज्ञानत्वात्सघटं भूतलमिति ज्ञानवदिति प्रमाणे जाग्रतीति चेत्, मैवम्; भावातिरिक्तग्राहकं भावातिरिक्तालम्बनमिति च तात्त्विकपदार्थान्तरस्य प्रसाधनम्? उत व्यावहारिकस्य? आहोस्वित्साधारणस्य? आद्ये दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। इतरयोश्च सिद्धसाधनता। तदेवं प्रमाणलक्षणानां दुर्निरूपत्वादविचारितरमणीय एवायं प्रमाणव्यवहार इति सिद्धम्।

करणस्वरूपानिरूपणाच्च—प्रमितिकरणं प्रमाणमित्यपि न; तथा हि—किं (१) कारका-

---

धिकरणत्वान्न संभवति, एतद्विज्ञानस्य तादृशालम्बनत्वव्याघातात्। तस्माद्भावमात्रत्वानधिकरणमेवैतद्विज्ञानालम्बनमभावः सिद्धः। दृष्टान्ते त्वेतद्विज्ञानालम्बनत्वानधिकरणत्वमादाय साध्यसिद्धिः। अत्र चाप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यर्थमेतज्ज्ञानपदम्। निर्घटं भूतलमिति ज्ञानस्यालम्बनभूतो यो भूतलात्मकोऽभावस्तन्निष्ठगुणसामान्यादिश्च तन्मात्रालम्बनं यन्निर्विकल्पकं तद्व्यतिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वादिति हेत्वर्थः। एतद्विज्ञानालम्बनीभूतभूतलादिनिर्विकल्पकव्यभिचारनिरासार्थं निर्विकल्पकेतरेत्युक्तम्। घटादिव्यवच्छेदाय ज्ञानपदम्। एतच्च साध्यं विकल्प्य दूषयति—**मैवमित्यादिना**। तथा चक्षुश्चाक्षुषभावग्राहकत्वे सत्यतिरिक्तग्राहकत्वानधिकरणं बाह्येन्द्रियत्वात् घ्राणवत्, निर्घटं भूतलमिति ज्ञानमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनत्वानधिकरणमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनान्यत्वात्। एतद्भावमात्रविषयनिर्विकल्पकवदिति सप्रतिसाधनत्वमपि द्रष्टव्यम्। एवं प्रमाणखण्डनप्रसङ्गे दण्डकसूत्रोक्ता बहवः पदार्थाः खण्डिताः। तथाहि—भावाभावखण्डने प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन प्रमेयजातं खण्डितम्, संशयदृष्टान्तावयवनिर्णया अपि प्रागेव खण्डिताः, प्रमाणखण्डनेन प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतत्वलक्षणसिद्धान्तोपि खण्डितः, उपरिष्टाच्च क्वचित्खण्डयिष्यन्ते। तत्र प्रमाणखण्डनप्रघट्टकस्याद्वैतागमाविरोधोपयोगं दर्शयति—**तदेवमिति**। अत एव न वास्तवाद्वैतपरागमस्य तद्विरोध इति सिद्धमिति शेषः।

मुक्तेषु मानैर्निजलक्ष्मसूच्चैर्मुक्तेषुमानैः खरतर्कसार्थैः।
मुक्तेषु मानैः प्रतिवादिषु स्वैर्मुक्तेषुमानैः श्रुतिरन्यवैरैः॥

प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्। तच्च प्रमाणखण्डनेन पूर्वं खण्डितमिदानीं करणखण्डनादपि तद्गर्भलक्षणं खण्डितमेवेति मन्वानः करणलक्षणं खण्डयति—**करणेति**। चः समुच्चये, न केवलं प्रमितेरनिरूपणादपितु करणानिरूपणाच्चेत्यर्थः। तत्र प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति भाष्यं व्याचक्षाणेनोद्योतकराचार्येणोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा प्रमातृप्रमेययोरतिव्याप्तावाशङ्कितायां तच्छेदनाय तदर्थं निर्वदता यानि लक्षणान्युक्तानि, तान्युद्भावयति—**कारकान्तरेत्यादिना**। कर्तुं खल्वुद्यमननिपतनव्यापाराविष्टकुठाररूपकरणं निष्पादयतः कारकान्तरेऽस्ति चरितार्थत्वम्, एवं कर्मणोपि, करणव्यापारस्य कर्मविषयतया कर्माभावे करणाभावात्। अधिकरणमपि कर्त्रादिषूपक्षीणम्। नहि निरधिष्ठानं छिनत्ति, तद्द्वारा च करणेऽपि, तेन कर्तृकर्माधिकरणव्यवच्छेदार्थं कारकान्तरेऽचरितार्थमिति विशेषणम्,

---

विषयभूत भावमात्र से अतिरिक्त को विषय करता है, भूतलादि भावमात्र-विषयक निर्विकल्प से भिन्न ज्ञान होने के कारण, जैसे—"सघटं भूतलम्" यह ज्ञान—इस प्रकार के प्रबल प्रमाणों के जीते-जागते? तो यह शङ्का उचित नहीं; क्योंकि उक्त अनुमानों से तात्त्विक पदार्थान्तर की सिद्धि करना चाहते हैं? या व्यावहारिक की? या उभय-साधारण की? प्रथम कल्प में दृष्टान्त साध्य-विकल एवं द्वितीय, तृतीय कल्प में सिद्ध-साधनता है। इस प्रकार प्रमाण के लक्षणों का निरूपण न हो सकने के कारण यह मानना पड़ता है कि यह अविचारित रमणीय ही प्रमाण-व्यवहार है।

करण-स्वरूप का भी निरूपण नहीं हो सकता। "प्रमितिकरणं प्रमाणम्"—यह लक्षण युक्त नहीं; क्योंकि करण का क्या अर्थ है? क्या (१) कारकान्तर में अचरितार्थ कारक? या (२) अयोग-

न्तरेऽचरितार्थं कारकं करणम् ? उत (२) अयोगव्यवच्छेदेन फलसाधनम् ? (३) कर्तृव्यापारगोचरो वा ? (४) व्यापारवत्त्वे सति फलाव्यभिचारि वा ? (५) चरमव्यापारं वा ? (६) अनन्तरफलं वा ? (७) यदाभावात्कर्तृकर्मणी क्रियां न जनयतस्तद्वा ? नाद्यः; कुठारादौ कारकान्तरे चरितार्थस्य हस्तादेरकरणत्वप्रसङ्गात्। न च तदकरणमेव; करेण कुठारेण देवदत्तश्छिनत्तीति करकुठारयोः करणत्वप्रसिद्धेस्तुल्यत्वात्। अन्यथा कर्मकर्तृकरणसंप्रदानापादानाधिकरणेष्वनन्तर्भावाद्धस्तादेः सप्तमकारकत्वाङ्गीकारापत्तेः। कारकान्तर इत्यत्रान्तरशब्देन करणं वा ? कर्तृकर्मणी वा विवक्ष्येते ? न तावत्करणम्; करणस्यैवाद्याप्यसिद्धेरात्माश्रयत्वात्। नेतरे, तयोरेवातिव्याप्तेः। न हि कर्ता कर्तरि चरितार्थः, नापि कर्मणि कर्म; तयोः करणे चरितार्थत्वाङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः; सामग्र्यामतिव्याप्तेः। तस्यां

अत्र च संप्रदानापादानयोर्व्यवच्छेदाय सार्वत्रिकमिति विशेषणं द्रष्टव्यम्। ते ह्यसार्वत्रिके, दानपतनयोरेव संप्रदानापादानापेक्षणादिति। अथवा तयोरपि कारकान्तरे चरितार्थत्वम्। नहि प्रतिग्रहीत्रभावे दातुरुद्योगः, नापि वृक्षाद्यभावे तद्देशस्थपर्णादिसिद्धिरिति व्यापारव्यवच्छेदार्थं कारकग्रहणम्। **आयोगेति**। नहि जातु साधकतमे करणे सति फलानिष्पत्तिस्तेन च कर्त्रादिव्यावृत्तिः, सत्स्वपि तेषु फलानिष्पत्तिसंभवात्। व्यापारस्य कर्तृकर्मणोश्च निरासाय व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिविशेषणद्वयम्। कर्त्रादिव्यावृत्त्यर्थं चरमेति विशेषणम्। **यदभावादिति**। कर्तृकर्मणोः क्रियानिर्वर्तकत्वाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगि वेत्यर्थः। आद्येऽव्याप्तिमाह—**कुठारादाविति**। नन्वकरणमेव करादिस्तेन तदगमनं न दोषायेति, तत्राह—**न च तदिति**। इतोपि हस्तादेः करणत्वं वक्तव्यमित्याह—**अन्यथेति**। एवं समुदाये दूषणमुक्त्वाऽवयवविवेचनेनापि दूषयति—**कारकान्तर इत्यत्रेति**। अत्रान्तरशब्दोऽविशेषवचनः ? अन्यवचनो वा ? आद्ये वैयर्थ्यम्। नहि कारकमात्रे चरितार्थं किंचिदस्ति, यद्व्यवच्छेद्यते। द्वितीये किं कस्मादन्यत् ? किं कर्त्रादेरन्यत्करणं विवक्ष्यते ? किंवा करणादतिरिक्तकर्तृकर्मणी ? इत्यर्थः। **करणस्यैवेति**। एवं तदाऽर्थः संपद्यते—करणकारकेऽचरितार्थं कारकं करणम्, तथा चात्माश्रयत्वमित्यर्थः। कर्तृकर्मणोरचरितार्थं कारकं करणमिति द्वितीयपक्षे दूषणमाह—**तयोरेवेति**। अथ तयोः कर्तृकर्मणोः क्व चरितार्थतेति ? तत्राह—**तयोरिति**। नच कर्तरि अचरितार्थत्वमपि, कर्तृव्यापारविषयतया कर्मवदस्यापि तत्र चरितार्थत्वात्। नचाधिकव्यापारत्वादचरितार्थता; तदनिरूपणात्। अयोगव्यच्छेदेनेत्यादिद्वितीयलक्षणं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। सामग्र्याः फलेनायोगव्यवच्छेद दर्शयति—**तस्यामिति**। नच सापि करणमेव; निर्व्या-

---

व्यवच्छेद के द्वारा फल-साधन ? या (३) कर्त्ता के व्यापार का विषय ? या (४) व्यापारवत्त्व-विशिष्ट फलाव्यभिचारी ? या (५) अन्तिम व्यापार-विशिष्ट ? या (६) अनन्तरफलक ? या (७) जिसके बिना कर्त्ता और कर्म, क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकते, उसे करण माना जाय ? प्रथम (कारकान्तराचरितार्थम्— खं० पृ० ४५१) पक्ष मानने पर कुठारादिरूप कारकान्तर में चरितार्थ (उपयुक्त) हस्तादि में करणत्व नहीं रह सकेगा। हस्तादि को अकरण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि "करेण कुठारेण देवदत्तः छिनत्ति"—इस प्रकार कर और कुठार—दोनों में तुल्यरूप से करणता का व्यवहार होता है। नहीं तो कर्त्ता, कर्म—आदि छह कारकों में अन्तर्गत न होने के कारण हस्तादि को सप्तम कारक मानना पड़ेगा। 'कारकान्तर' शब्द गत अन्तर शब्द से करण की विवक्षा है ? या कर्ता और कर्म की ? (द्र० खं० पृ० ४५४) करण की विवक्षा सम्भव नहीं; क्योंकि करण का ही निरूपण अपेक्षित है कर्ता और कर्म की विवक्षा करने पर उन्हीं में ही अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि न तो कर्ता, कर्त्ता में चरितार्थ होता है और न कर्म, कर्म में। वे दोनों करण में ही चरितार्थ माने जाते हैं। द्वितीय (अयोगव्यवच्छेदेन फलसाधनत्वम्) लक्षण, सामग्री में अतिव्याप्त है; क्योंकि सामग्री के रहने पर

सत्यां नियमेन फलस्य भावात्। अपूर्वादिव्यवहितफलस्य यागादेरकरणत्वापत्तेश्च। न तृतीयः; कर्तुरात्मनः प्रयत्नाख्यव्यापारकर्मणि शरीरे तद्व्यापाराकरणे लक्षणस्य सद्भावात्। साक्षादिति विशेषणे च आत्मनो मनश्चालनव्यापारे मनसः करणत्वप्रसङ्गः। न च तत्र मनः करणम्; तद्व्यापारे कर्मतयैवावस्थानात्। हस्तादिव्यापारव्यवधानेन कर्तृव्यापारगोचरे कुठारादावव्याप्तेश्च। न चतुर्थः; कर्तुरपि करणत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि करणादिव्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वात्। अव्यवहितफलादर्शनान्न तस्य फलाव्यभिचारितेति चेत्, न; हस्तादेर्यागादेश्च व्यवहितफलस्याकरणत्वापातात्। एतेन पञ्चमषष्ठविकल्पावप्यपास्तौ; चतुर्थपक्षोक्तदोषानुषङ्गादेव। नापि सप्तमोऽदृष्टेश्वरेच्छादेरपि करणत्वप्रसङ्गात्। तद्भाव एव

पारत्वात्, करणादिसाकल्यरूपत्वाच्च। अव्याप्तिं चाह—**अपूर्वादीति**। सति भवत्येवेति ह्ययोगव्यवच्छेदः। न चायमपूर्वव्यवधानेन विलम्बितफलसाधनस्य यागस्याऽस्तीत्यर्थः। कर्तृव्यापारगोचर इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**न तृतीय इति**। यः खल्वात्मनः शरीरचलनाथ प्रयत्नः, तस्य तावच्चलनक्रिया क्रियाविशिष्टं वा शरीरं विषयः। न च तस्मिंश्चलने तयोः करणत्वम्; प्रथमे स्वस्यैव स्वं प्रति करणत्वापातात्। द्वितीयेऽपि भविष्यतः पूर्वकालीनक्रियायां करणत्वापातादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। ननु न कर्तृव्यापारमात्रगोचरत्वं विवक्षितमपि त्वव्यवहितो यः कर्तृव्यापारस्तद्गोचरत्वम्। नच प्रयत्नस्तादृशस्तस्यात्ममनःसन्निकर्षव्यापारव्यवहिततया तथात्वाभावादिति, तत्राह—**साक्षादिति चेति**। यदि च साक्षाद्विषयत्वं तदा कुठारादावव्याप्तिरपि स्यात्। नहि कुठारस्य साक्षादात्मव्यापारविषयत्वमस्तीत्याह—**हस्तादीति**। नच हस्तस्यापि कर्त्रन्तर्भावः, हस्तेनेत्यप्रयोगापातादिति भावः। साक्षाद्व्यापार्यमनःप्रभृतिक्रियायामपि करणतापत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिचतुर्थं पक्षं दूषयति—**न चतुर्थ इति**। कर्तरि लक्षणं वर्तयति—**तस्यापीति**। ननु स्वानन्तरक्षणफलवत्त्वं फलाव्यभिचारित्वम्, नचैतत्कर्तुः सार्वत्रिकमस्तीति शङ्कते—**अव्यवहितेति**। तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—**न हस्तादेरिति**। चरमव्यापारमनन्तरफलमिति पक्षयोरप्युक्तदूषणमतिदिशति—**एतेनेति**। कर्तुरपि करणत्वापातात् विशेषणत्वे हस्ताद्यव्यापनादित्युक्तदोषसाम्यादित्यर्थः। यद्भावादित्यादिसप्तमपक्षेऽतिव्याप्तिमाह—**अदृष्टेति**। कर्तृकर्मणोरतिव्याप्तिश्च, तयोरपि स्वाभावे

नियमतः फल उत्पन्न होता है। अपूर्व-व्यवहित यागादि करणों में अव्याप्त भी है। तृतीय (कर्तृव्यापारगोचरत्वम्—खं० पृ० ४६१ पर भी कथित) लक्षण उस क्रिया और क्रिया के आधार शरीर में अतिव्याप्त है, जो कि कर्त्ता के अपने प्रयत्नरूप व्यापार के विषय होने पर भी उस क्रिया के करण नहीं माने जाते हैं। यद्यपि 'साक्षात्'—यह विशेषण देने पर (अर्थात् कर्त्ता के व्यापार का जो साक्षात् विषय हो, उसे करण मानने पर) उक्त क्रिया और शरीर में लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता; क्योंकि वहाँ प्रयत्नरूप व्यापार के साक्षात् विषय शरीरादि नहीं (आत्मा में प्रयत्नरूप व्यापार के अनन्तर मन में व्यापार और उसके अनन्तर शरीर में क्रिया होती है)। तथापि आत्मा के व्यापार के साक्षात् विषयभूत मन में मानस क्रिया की करणता प्राप्त होगी। मानस क्रिया में मन करण नहीं, अपितु कर्म ही होता है। कुठारादि में अव्याप्ति भी होती है; क्योंकि कुठारादि में कर्त्ता के व्यापार की साक्षात् विषयता नहीं, अपितु कर्तृव्यापार-प्रयुक्त हस्त-व्यापार की विषयता है। चतुर्थ (व्यापारवत्त्वे सति फलाव्यभिचारित्वम्) लक्षण कर्ता में अतिव्याप्त है; क्योंकि कर्ता भी करणादि-व्यापारवाला है और फलाव्यभिचारी भी। यदि कहा जाय कि कर्तृव्यापार के अव्यवहित उत्तर क्षण में सर्वत्र फल नहीं देखा जाता, अतः वह फलाव्यभिचारी नहीं; तो इस प्रकार का फलाव्यभिचार हस्तादि और यागादि में भी नहीं, अतः वहाँ अव्याप्ति होगी। चतुर्थ पक्षोक्त इन दोषों के कारण ही पञ्चम और षष्ठ विकल्प भी अपास्त हो जाते हैं। सप्तम (यद्भावात् कर्तृकर्मणि क्रियां न जनयतस्तत्) लक्षण भी अदृष्ट, ईश्वरेच्छादि साधारण कारणों में अतिव्याप्त है। इस प्रकार करण की निरुक्ति न

क्रियानिष्पत्तेः । तदेवं करणानिरुक्तेः प्रमाकरणं प्रमाणमित्यलक्षणम् ।

अथाधुनिकनीत्या कर्तृत्वानधिकरणत्वे सति प्रमासार्वत्रिकं कारकं प्रमाकरणम् । न च कर्तृत्वानिरुक्तिः ; प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात् । नापि सार्वत्रिकत्वानिरुक्तिः ; प्रमाकारकाप्रमाकारकावृत्तिप्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्यैव सार्वत्रिकत्वपदेनाभिलापात् । न च कारकत्वानिरुक्तिः ; व्यापारवत्कारणं कारकमिति निर्वचनात् । न च व्यापारानिरुक्तिः ; तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति हि तन्निरुक्तेरिति मतम्, मैवम् ; सर्वस्योदीरितखण्डनालङ्घनाऽजङ्घालत्वात् । तथा हि—न तावत्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्, विकल्पासहत्वात् । प्रयत्नात्यन्ताभावः किमेकः ? अनेको वा ? एकत्वे तत्रैवातिव्याप्तिः ; तस्य तदनधिकरणत्वेऽपि कर्तृत्वाभावात् । नापि भावत्वे सतीति विशेषणाददोषः, भावत्वस्य

क्रियाजनकत्वाभावात् । सोपयोगं करणखण्डनमुपसंहरति—**तदेवमिति** ।

ननु कथं करणानिरुक्तिः ? जरद्रीतेरनिर्वाहेपि नूतनरीतरपरिप्लुतत्वादिति—**अथेति** । इदं चानीश्वरप्रमाणस्यैव लक्षणम् । कर्मकारकव्यावृत्त्यर्थं सार्वत्रिकग्रहणम् । नहि सर्वा प्रमा कर्मजन्या, अनुमित्यादिष्वभावात् । सार्वत्रिककर्तृव्यावृत्त्यर्थं कर्तृत्वानधिकरणेत्युक्तम्, तदेवावयवश उपपादयति दूषणवैशद्याय—**न च कर्तृत्वेत्यादिना** । सुषुप्तिप्रलयादावव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावानधिकरणत्वग्रहणम् । कारकस्य प्रमायां सार्वत्रिकतां निर्वक्ति—**प्रमाकारकेति** । प्रमाकारकेषु वर्तमानत्वे सत्यप्रमाकारकवृत्तित्व यत्तदनधिकरणत्वे सति प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावं प्रत्यप्रतियोगित्वमित्यर्थः । प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्तीति तत्परिहाराय प्रमाकारकेत्यादि । तस्य सर्ववृत्तित्वेन प्रमाकारकेन्द्रियादिवृत्तित्वे सत्यप्रमाकारकदोषादिवृत्तित्वादतस्तद्राहित्यविशेषणेन तन्निवृत्तिः । तावन्मात्रोक्तौ च प्रमाकारकैकदेशवृत्तिषु तत्कादाचित्कवृत्तिषु चाप्रमाकारकमात्रवृत्तिषु चातिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वग्रहणम् । अथ किमिदं कारकत्वं यद्विशेषस्येदं सार्वत्रिकत्वं निरुच्यते इति ? तत्राह—**न चेति** । कारकव्यापारे कारणलक्षणवति कारकत्वपरिहाराय व्यापारवदित्युक्तम् । अथ व्यापार एव कः इति ? तत्राह—**न च व्यापारेति** । तेन कारकेण जन्यत्वे सति तत्कारकजन्यक्रियां प्रति जनकश्च यः स व्यापार इत्यर्थः । तज्जन्यजनकत्वं कारकाणामस्तीति तन्निवृत्त्यर्थं तज्जन्य इत्युक्तम् । क्रियायामेवातिव्याप्तिपरिहाराय तज्जन्यजनक इत्युक्तम् । एवमुपपाद्य दूषयति—**मैवमिति** । उदीरितखण्डनाया लङ्घनाऽजङ्घालत्वात्, अजवत्वादित्यर्थः । उदीरितखण्डनमेव यथायथं दर्शयति—**तथा हीत्यादिना** । तत्रैवातिव्याप्तिः । प्रयत्नात्यन्ताभावस्यैकत्वेन स्वाधिकरणत्वाभावादित्यथः । ननु बहव एवात्यन्ताभावास्ततश्च तस्याप्यत्यन्ता-

---

हो सकने के कारण "प्रमाकरणं प्रमाणम्" यह लक्षण नहीं बन सकता ।

आधुनिक रीति से जो लक्षण किया जाता है—"कर्तृत्वानधिकरणत्वे सति प्रमासार्वत्रिकं कारकं प्रमाकरणम्" । यहाँ कर्तृत्व का निर्वचन नहीं हो सकता—यह बात भी नहीं ; क्योंकि प्रयत्न के अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व ही कर्तृत्व प्रसिद्ध है । सार्वत्रिकत्व का भी निर्वचन असम्भव नहीं ; क्योंकि प्रमाकारक और अप्रमाकारक—उभय वृत्तित्व-रहित जो प्रमाकारकानुयोगिक अत्यन्ताभाव का अप्रयोगित्व है, वही यहाँ सार्वत्रिकत्व है । कारकत्व का भी निर्वचन 'व्यापार-विशिष्ट कारणत्व' प्रसिद्ध है । व्यापार का भी निर्वचन है—जो कारक से जन्य हो और कारक से जन्य का जनक हो, उसे व्यापार कहते हैं । इस आधुनिक मत की नौका भी कथित खण्डन महासागर के किनारे नहीं लग सकती ; क्योंकि कर्तृत्व का जो निर्वचन किया—'प्रयत्नात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व'—यहाँ प्रयत्नात्यन्ताभाव क्या एक माना जाता है ? या अनेक ? एक होने पर प्रयत्नात्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति है ; क्योंकि वह अपना अनधिकरण होने पर भी कर्त्ता नहीं । 'भावत्वे सति'—यह विशेषण लगाने से भी दोष नहीं हटता ; क्योंकि भावत्व का खण्डन पहले ही हो चुका है । अनेकत्व पक्ष में भी सर्व

प्रागेव निरस्तत्वात् । अत्यन्ताभावानामनेकत्वेऽपि सर्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं लक्षणम् ? उत यत्किंचित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् ? न प्रथमः ; लक्षणस्यासंभवित्वात् । स्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वेऽपि चेतनान्तरप्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणत्वात् । न चरमः ; प्राचीनदोषानुषङ्गात् । किंचैकदेशवृत्तीनां संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानामव्याप्यवृत्तित्वं नाम स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमित्युपगच्छतां कथमात्मनः प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वं संभवेत् ? प्रयत्नात्यन्ताभावस्यापि तत्रैव वृत्तेः । न च स्वतन्त्रः कर्तेत्यपि युक्तम् ; स्वातन्त्र्यानिरुक्तेः । तथाहि—किं कारकान्तरनिरपेक्षतया फलजनकत्वं स्वातन्त्र्यम् ? किं वा कारकाप्रयोज्यत्वे सति तत्प्रयोक्तृत्वम् ? नाद्यः ; असंभवात्, न हि करणादिनिरपेक्षस्य कर्तुः फलसाधकता दृष्टचरी । न द्वितीयः ; सेश्वरवादे सर्वचेतनानामीश्वरप्रयोज्यत्वात् । अनीश्वरवादेऽपि राजादिप्रेरितभृत्यादेरकर्तृत्वापत्तेः । न च तत्र शरीरादेरेव प्रेर्यत्वम्, नात्मन इति

भावान्तरवत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—अत्यन्ताभावानामिति । असंभवित्वमेव दर्शयति—स्वप्रयत्नेति । नह्येकस्यैव सर्वपुरुषप्रयत्नाः संभवन्ति, सर्वसर्वशक्तित्वप्रसङ्गादित्यर्थः । प्राचीनेति । यत्किञ्चित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेकैकप्रयत्नात्यन्ताभावेष्वेवास्ति ; स्वस्वाधिकरणत्वाभावादतोऽतिव्याप्तिस्तदवस्थेत्यर्थः । किञ्च त्वद्दर्शनप्रराहतं चेदं कर्तृलक्षणमित्याह—किंचेति । यदिदं संयोगादीनामव्याप्यवृत्तित्वं भवद्भिराद्रियते, तन्नांशवृत्तित्वम् ; निरंशत्वादात्मादीनाम्, सांशेष्वप्रत्यक्षतापत्तेः । तस्मात्तत्रैव वृत्तिस्तत्रैवावृत्तिरिति, स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमेवाव्याप्यवृत्तित्वमिति मन्तव्यम् । तथा चात्मैव प्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणमिति तदनधिकरणत्वलक्षणकर्तृत्वमसंभव्येवेति खण्डलकार्थः । प्रसङ्गात्कर्तृत्वलक्षणान्तरमपि दूषयति—न चेति । तत्प्रयोक्तृत्वं कारकप्रयोक्तृत्वमित्यर्थः । कुठारादिकारकप्रयोक्तरि हस्तादावतिव्याप्तिवारणाय कारकाप्रयोज्यत्वविशेषणम् । असंभवमेव विवृणोति—न हि करणादीति । द्वितीयेऽपि तार्किकमतेऽस्मदादिकर्तृष्वव्याप्तिरित्याह—सेश्वरेति । तेष्वव्याप्तिरिति शेषः । अथानीश्वरवादिनः प्रति किं दूषणमिति ? तत्राह—अनीश्वरेति । तत्रापि भृत्यादिषु कर्तृष्वव्याप्तिरित्यर्थः । ननु तत्र कर्तुरात्मनो न प्रेर्यत्वमुभयत्र, किं तर्हि शरीरस्यैवातो नाव्याप्तिरिति, तत्राह—न च तत्रेति । न तावदीश्वरादिः शरीरमात्रं प्रेरयति, तस्यासमर्थत्वात्तत्र । ततश्चेतनविशिष्टं शरीरं प्रेरयतीति वक्तव्यम्, तथा च विशेषणीभूतचेतनस्यापि प्रेर्यत्वमस्त्येवेत्यर्थः । जीवस्य निष्क्रियत्वेनेश्वरस्य तत्प्रेरकत्वं कथं स्यादिति ? तत्राह—

प्रयत्नात्यन्ताभावों का अनधिकरणत्व विवक्षित है ? या किसी एक प्रयत्नात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व ? प्रथम पक्ष मानने पर असम्भव है ; क्योंकि प्रत्येक कर्त्ता, अपने प्रयत्न के अत्यन्ताभाव का अनधिकरण होने पर भी चेतनान्तर के प्रयत्न के अत्यन्ताभाव का अधिकरण ही होता है । द्वितीय पक्ष में तो वही प्रयत्नात्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति दोष बना रहता है । दूसरी बात यह भी है कि जो लोग संयोग, विभाग, शब्द और आत्मा के विशेष गुणों को अव्याप्यवृत्ति अर्थात् स्वात्यन्ताभाव-समानाधिकरण मानते हैं, उनके मत में आत्मा, प्रयत्न के अत्यन्ताभाव का अनधिकरण कैसे होगा ? प्रयत्नात्यन्ताभाव भी तो वहाँ रहता है । "स्वतन्त्रः कर्त्ता"—यह वैयाकरणों का निर्वचन भी असंगत है ; क्योंकि 'स्वातन्त्र्य' का क्या अर्थ है ? क्या कारकान्तर-निरपेक्ष फल-जनकत्व ? या कारकों से अप्रयोज्य होकर कारकों का प्रयोक्तृत्व ? प्रथम कल्प में असम्भव है ; क्योंकि करणादि से निरपेक्ष होकर कर्त्ता किसी फल का साधन कैसे कर सकता है ? द्वितीय पक्ष मानने पर ईश्वरवाद में सभी जीवों में ईश्वर-प्रयोज्यत्व रहने के कारण अव्याप्ति और अनीश्वरवाद में भी राजादि की प्रयोज्यता रहने से भृत्यादि में अकर्तृत्वापत्ति होती है । 'ईश्वरादि की प्रयोज्यता शरीर में रहती है चेतन में नहीं—यह नहीं कह सकते ; क्योंकि केवल शरीर में प्रयोज्यत्व नहीं रह सकता, चेतन-विशिष्ट शरीर

वाच्यम्; चेतनविशिष्टस्य शरीरस्य प्रेर्यतया चेतनस्यापि प्रेर्यत्वात्। प्रेरकत्वं च तदनुकूलप्रयत्नाधारत्वम्, तच्चेश्वरे जीवविषयमस्त्येव। न चेश्वरव्यतिरिक्तकारकाप्रयोज्यत्वम्; अनीश्वरवादे विशेषणवैयर्थ्यात्, भृत्यादेस्तु पूर्वोक्तन्यायेनाकर्तृत्वप्रसङ्गाच्च। प्रमात्वानिरुक्तेरेव तद्विशेषितसार्वत्रिकत्वानिरुक्तिः। तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इत्यपि न; तच्छब्देन सर्वस्य कारणस्याभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात्। न ह्येको व्यापारः सर्वकारणजन्यः, सर्वकारणजन्यजनको वा। कारणविशेषाभिधाने तु लक्षणस्याननुगमः। तदेवं प्रत्यक्षादिप्रमाणानां दुर्निरूपत्वाज्जगत्कारणब्रह्मात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपराणां वेदान्तवचसां न तद्विरोधगन्धोऽपीति सिद्धम्।

ननु तथापि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, परमाणूनामेव जगत्समवायिकारणत्वात्।

प्रेरकत्वं चेति। भृत्यशरीरप्रेरणानुकूलभृत्यप्रयत्नजननानुकूलप्रयत्नवत्त्वं राज्ञो भृत्यप्रेरकत्वं यथा लोके, तथा जीवप्रयत्नजननानुकूलं चेदं प्रयत्नवत्त्वमीश्वरेऽप्यस्तीति जीवप्रेरकत्वमीश्वरस्य संभवतीति भावः। अस्ति च साक्षादेव प्रेरकत्वमित्याह—**तदनुकूलेति**। ईश्वरनरेश्वरादेरपि तत्तज्जीवानुगुणप्रयत्नाधारत्वादस्ति तद्रूपं प्रेरकत्वमित्यर्थः। एतेन निष्क्रियस्य जीवस्य कथमीश्वरप्रेर्यत्वमिति प्रत्युक्तम्। ननु तर्हीश्वरव्यतिरिक्ताकारकाप्रयोज्यत्वं स्वातन्त्र्यं विवक्षितम्, तथा च नाव्याप्तिरिति, तत्राह—**न चेश्वरेति**। ईश्वरप्रयोज्यत्वसंग्रहार्थं हीदं विशेषणम्, न च तदनीश्वरवादिनां मीमांसकानामस्ति यदर्थं विशेषणमित्याह—**अनीश्वरेति**। भवतु तं प्रति दूषणम्, मां प्रति किं दूषणमिति? तत्राह—**भृत्यादेस्त्विति**। यच्च प्रमासार्वत्रिकत्वनिर्वचनं कृतम तदपि दूषयति—**प्रमात्वानिरुक्तेरिति**। व्यापारलक्षणमपि दूषयति—**तज्जन्य इति**। अत्र किं तच्छब्देन कारककारणमात्रमभिधीयते? तद्विशेषो वा? नाद्यः, असंभवादित्याह—**तच्छब्देति**। असंभवं विवृणोति—**न ह्येक इति**। द्वितीये प्राह—**कारणविशेषेति**। तच्छब्देन कारणविशेषाभिधाने कारणान्तरव्यापाराणां तज्जन्यत्वाभावात्तज्जन्यजनकत्वाभावाच्चाव्याप्तिः स्यादिति भावः। एवं सामान्यतो विशेषतश्च प्रमाणानां दुर्निरूपताप्रतिपादनस्याविरोधोपयोगमाह—**तदेवमिति**। अत्र चेश्वरो द्रव्योपादानवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमानश्रावणविशेषगुणवत्त्वात्तन्त्वादिवदिति तार्किकं प्रति तथा विप्रतिपन्नं कार्यद्रव्यमात्मोपादानकम् उपादानवत्त्वादात्मघटसङ्घवत्। नच विमतमात्मानुपादानकं द्रव्यत्वादात्मवदिति सत्प्रतिपक्षता; अनुपादानकत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात्। नच समवायिगतविशेषगुणस्य कार्ये समानजातीयारम्भनियमोऽपि, चित्रपटारम्भकनीलपीततन्तुषु तदभावादित्यादितर्कात्तदनुगृहीतागमाच्च ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमवगन्तव्यम्।

जगत्कारणं ब्रह्मात्मतत्त्वमित्युक्तमसहमानाः परमाणुकारणवादिनो वैशेषिकनैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तथापीति**। तत्किं परमाणूनामेव जगत्कारणत्वम्? तथा च गतमीश्वरस्य निमित्तकारणत्वेनेत्यपरा-

में ही प्रयोज्यता माननी होगी, फिर तो विशेषणभूत चेतन में भी प्रयोज्यता अनिवार्य है। निष्क्रिय ईश्वर में प्रयोजकता नहीं बन सकती—यह बात भी नहीं; क्योंकि जीव-प्रेरणानुकूल प्रयत्न का आधारत्व ही प्रयोजकत्व है, वह ईश्वर में है ही। कारक का ईश्वर-भिन्नत्व विशेषण लगा नहीं सकते; क्योंकि अनीश्वरवाद में विशेषण व्यर्थ है। इस विशेषण के रखने पर भी ईश्वर से भिन्न राजादि की प्रयोज्यता रहने पर भृत्यादि में अव्याप्ति बनी रहती है। प्रमात्व का निर्वचन न हो सकने के कारण प्रमात्व-विशेषित सार्वत्रिकत्व का भी निर्वचन नहीं हो सकता। व्यापार का जो यह लक्षण किया "तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापारः"। वहाँ 'तत्' शब्द से समग्र कारणों का अभिधान होने पर लक्षण असम्भवी हो जाता है; क्योंकि कोई एक व्यापार न तो समग्र कारणों से जन्य होता और न समग्र कारणों से जन्य का जनक ही होता है। 'तत्' शब्द से कारणविशेष का अभिधान मानने पर अनुगत लक्षण नहीं बन सकता। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों का निरूपण न हो सकने के कारण जगत् के कारणभूत ब्रह्म में आत्मरूपत्व के प्रतिपादक वेदान्त वाक्य सर्वथा विरोध-शून्य हैं।

आरम्भवादोत्थापन—तथापि ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, परमाणु ही जगत् के सम-

ननु परमाणव एव न सन्ति, प्रमाणविधुरत्वात्। न तावदणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम् परिमाणतारतम्यत्वात् महत्परिमाणतारतम्यवदित्यनुमानं मानम्; अणुपरिमाणशब्देनाणुनिष्ठपरिमाणविवक्षायां त्वदभिमताणूनामेवासिद्धौ तत्परिमाणस्य तत्तारतम्यस्य वाऽप्रसिद्धत्वादाश्रयासिद्धेः, तेषु परिमाणतारतम्यानङ्गीकाराच्च। महत्त्वापकर्षतारतम्यस्य च क्वचिद्विश्रान्तिसाधने त्रसरेणुष्वेव तद्विश्रान्तिसिद्धेः सिद्धसाधनत्वात्।

"जालान्तरगते भानौ योऽणीयो दृश्यते रजः।
परं तत्परमाणूनां परिमाणं प्रचक्षते॥"

इति ब्रह्माण्डपुराणे दर्शनादिति चेत्, मैवम्; त्रसरेणुः सावयवश्चाक्षुषद्रव्यत्वान्महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा घटवदिति सावयवत्वानुमाने महत्त्वापकर्षस्य तत्र विश्रान्त्यनुपपत्तेः।

द्धान्तस्तत्राह—**समवायिकारणत्वादिति**। उपादानत्वमेव हि भवता ब्रह्मणः सिषाधयिषितम्, इतरस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्। नच तच्छक्यसाधनम्, परमाणूनामेव तत्त्वादित्यर्थः। ननु लोकसिद्धं वा परमाणुकारणत्वमादाय ब्रह्मकारणत्वं निराक्रियते? वादिसिद्धं वा? नाद्यः; तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; तत्र कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभावितत्वात्। वादिनामपि प्रामाणिकतया संभाविते हि भ्रान्तिर्भवति, इतरथातिप्रसङ्गादित्याक्षिपति—**नन्विति**। **न सन्तीति**। पृथ्वीत्वादेरनित्यवृत्तित्वमूर्तनित्यवृत्तित्वादेरसंभवित्वात्। **प्रामाण्याभावादिति**। तन्नित्यवृत्तित्वज्ञानस्य भ्रान्तत्वादित्यर्थः। किं परमाणुगतपरिमाणतारतम्यमत्र पक्षः? किं वा महत्त्वस्य यदिदमाकाशाद्यपेक्षयापकर्षतारतम्यं तद्वा? नाद्य इत्याह—**अण्विति**। **त्वदभिमताणूनामिति**। परमाणूनां द्व्यणुकानां चेत्यर्थः। न केवलं परं प्रति, त्वां प्रत्यप्याश्रयासिद्धिः। नह्यणुषु तारतम्यं परिमाणस्यास्ति, नापि द्व्यणुकपरमाणुपरिमाणयोः। नित्यत्वमात्रं हि पारिमाण्डल्यस्य परमाणुपरिमाणस्य द्व्यणुकपरिमाणाद्विशेष इत्यभिप्रेत्याह—**तेष्विति**। द्वितीयं शङ्कते—**महत्त्वेति**। ननु कथं त्रसरेणुभिरर्थान्तरता यतस्ततोऽप्यपकृष्टमहत्त्वस्य क्वचित्संभावनायां विरोधाभावादिति चेत्, न; पुराणवचनविरोधादित्याह—**जालेति**। जालं वातायनम्। भानुः किरणः। तत्र हि परमाणूनां परं परिमाणं प्रचक्षत इति दर्शनान्न ततोऽपकृष्टमेतदस्तीति भावः। अत्र तार्किकः सिद्धसाधनतां परिहरन् महत्त्वापकर्षतारतम्यमेव पूर्वानुमानपक्षतया परिगृह्णाति—**मैवमिति**। रूपादावनैकान्त्यपरिहाराय द्रव्यग्रहणम्। आत्मादावनैकान्तिकतानिवृत्त्यै चाक्षुषग्रहणम्। परमाणवो विभुद्रव्याणि च द्वितीये हेतुगतविशेषणाभ्यां व्यवच्छिद्यन्ते। एवं त्रसरेणुसावयवत्वानुमाने तदवयवानां ततोऽप्यणुतराणां संभवान्न त्रसरेणुषु

वायिकारण होते हैं। यदि शङ्का हो कि परमाणु-सद्भाव में कोई प्रमाण ही नहीं। अणुपरिमाण का का तारतम्य कहीं-न-कहीं समाप्त होता है, परिमाण तारतम्य होने से, महत्परिमाण-तारतम्य के समान"—यह अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि 'अणुपरिमाण' शब्द से अणुनिष्ठ परिमाण की विवक्षा होने पर आपके परमाणुओं की सिद्धि न होने के कारण परमाणुगत परिमाण या उसके तारतम्य की असिद्धि होने से आश्रयासिद्धि दोष है (द्र० न्या० ली० पृ० २६३) एवं अणुओं में परिमाण का तारतम्य भी नहीं माना जाता। महत्त्व परिमाण के अपकर्ष-तारतम्य की 'क्वचिद्विश्रान्ति' सिद्ध करने पर त्रसरेणु में ही विश्रान्ति सिद्ध होने के कारण सिद्ध साधन दोष है। जैसा कि ब्रह्माण्ड पुराण में देखा जाता है—वातायनगत (रोशनदान से आनेवाली) किरणों के प्रकाश में जो रजःकण त्रसरेणु देखे जाते हैं वे ही अन्तिम अणुमान के कण कहे जाते हैं।" अतः त्रसरेणुओं से नीचे परमाणुओं तक जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं। तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि त्रसरेणु सावयव होते हैं, चाक्षुष द्रव्य होने के कारण अथवा मूर्तत्व-युक्त सक्रिय होने के कारण, घट के समान"—इस अनुमान के द्वारा उन त्रसरेणुओं के भी अवयव सिद्ध होते हैं, वहाँ महत्त्व परिमाण के अपकर्ष का

पृथिवीत्वं नित्यवृत्ति घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात्सत्तावत्। अयं घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः प्रमेयत्वात्पटवदिति प्रयोगसंभवाच्च। न च निरवयवयोः संयोगाभावादसमवायिकारणभावे कथं कार्यद्रव्यारम्भकत्वमिति वाच्यम्; परमाण्वसिद्धौ तत्प-

---

तद्विश्रान्तिः। यद्यपीदं द्व्यणुके चरितार्थम्, तथापि महदारम्भकत्वेन तन्तुवत्तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तदवयवभूतपरमाणुसिद्धिरिति भावः। इदानीं साक्षात्परमाणुसाधकं सर्वदेवीयमनुमानमाह—**पृथिवीत्वमिति**। जातित्वे सतीत्युक्ते संयोगत्वकर्मत्वादावनैकान्तस्तन्निवृत्त्यर्थं घटवृत्तीत्युक्तम्। तथाऽपि घटत्वेऽनैकान्तिकस्तदर्थं पटग्रहणम्। पटत्वेऽनैकान्तिकत्वनिवृत्त्यर्थं घटग्रहणम्। महाविद्यानुमानमप्याह—**अयं घट इति**। एतद्घटातिरिक्तत्वे सति यदनित्यं मूर्तं तत्त्वानधिकरणं यन्मूर्तं ततोऽन्यः। मूर्तान्य इत्युक्ते पटान्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं मूर्तातिरिक्तमूर्तान्य इत्युक्तम्। तथा च व्याहतिर्मूर्तत्वानधिकरणत्वमूर्तत्वयोर्व्याघातात्। ततश्च ततोऽन्यत्वसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणता। अतिरिक्तपदेनानधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात्। इतरथार्थान्तरताया दुष्परिहरत्वात्तदर्थमनित्यमूर्तातिरिक्तेत्युक्तम्। तथाप्यप्रसिद्धविशेषणता, परमाणुसिद्धिव्यतिरेकेणानित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तस्यासिद्धेः। तत्परिहारायैतदतिरिक्तपदम्। अनित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तस्याप्रसिद्धत्वेऽप्येतदतिरिक्तत्वे सत्यनित्यमूर्तत्वानधिकरणस्यैतस्य घटस्य प्रसिद्धत्वात्तदन्यत्वस्य च पटादौ प्रसिद्धेः। तेन नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये, पक्षे त्वेतदतिरिक्तानित्यमूर्तत्वानधिकरणत्वमेतदतिरिक्तत्वानधिकरणत्वाद्वा? अनित्यमूर्तत्वानधिकरणत्वाद्वा? आद्ये तादृशमूर्तादन्यत्वमस्य व्याहतम्, तादृशमूर्तस्य तत्त्वेन स्वस्यैव स्वस्मादन्यत्वाभावात्। द्वितीयेऽप्यनित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तत्वं मूर्तत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, व्याघातादेव। ततोऽनित्यत्वानधिकरणं मूर्तं परमाणुमादाय तदन्यत्वमस्य सिद्ध्यतीति परमाणुसिद्धिः। नित्यमूर्तः परमाणुरिति तल्लक्षणादित्यर्थः। स्यादेतन्निरवयवास्तावत्परमाणवोऽभ्युपगम्यन्ते। तथा ह्यन्त्यावयविनमारभ्यानुभूयमानोऽयमवयवावयविविभागो यतः परावर्तते स हि परमाणुरिति। अन्यथा सुमेरुसर्षपयोरनन्तावयवतया समानपरिमाणत्वप्रसङ्गात्? नच निरवयवयोः संयोगोऽस्ति? अव्याप्यवृत्तित्वात्तस्य। निरवयवे च यदि वर्तेत, किं तत्र व्याप्नुयात्। यदि च न व्याप्नुयात्क्व वर्तेत? विमतसंयोगि निरवयवत्वात्, रूपादिवदिति प्रयोगाच्च। तस्मादङ्गीकृतेष्वपि परमाणुषु तेषां परस्परसंयोगाभावात्तदसमवायिकारणकद्व्यणुकादिप्रक्रमेण जगत्समवायिकारणत्वाभावान्न तद्ग्राहिप्रमाणविरोधो वेदान्तानाम्। तथा चैकैकैव परमाणुभिरसंयुक्तैर्द्व्यणुकाद्यारम्भः, तथा सति तदुत्पन्नकार्यस्य विनाशहेत्वभावान्नित्यता स्यात्, असमवायिकारणनाशात्समवायिनाशाद्वा खलु द्रव्यनाशः। तत्र संयोगलक्षणासमवाय्यनङ्गीकारेऽणूनां च नित्यत्वात् द्व्यणुकादेर्नाशो न स्यात्। नित्यत्वे चान्त्यावयविपर्यन्ते नित्यतापत्त्या घटविनाशो नोपलभ्येतेति। तत्राह—**न चेति**। निरवयवपरमाण्वनङ्गीकारेऽङ्गीकारे वा संयोगित्वमप्रत्याख्येयमित्याह—**परमाण्विति**। एवं बाधकं परिहृत्य

तारतम्य समाप्त नहीं हो सकता। परमाणुओं की सिद्धि में—"पृथिवीत्व नित्य-वृत्ति होता है, घट-वृत्ति जाति होकर पट-वृत्ति जाति होने से, जैसे—सत्ता" (लक्षणावली पृ० ३, तथा प्रमा० सं० पृ० १) एवं "यह घट, एतदतिरिक्तत्व-विशिष्ट अनित्यमूर्त से भिन्न मूर्त से अन्य है, प्रमेय होने से, जैसे घट"—आदि प्रयोग सम्भव हैं। [एतद् घट से अनिरिक्त अनित्य मूर्त हैं—पटादि; उनसे अतिरिक्त होता है—पक्षभूत एतद् घट, उससे अन्य है—पट। अतः दृष्टान्त में साध्य प्रसिद्ध है। दृष्टान्त में एतद् घटातिरिक्तत्व के प्रभाव से ही साध्य प्रसिद्ध हो सका, किन्तु पक्षभूत एतद् घट में एतद् घटातिरिक्तत्व नहीं. अतः साध्य का सामञ्जस्य करने के लिए नित्य मूर्त द्रव्य मानना होगा, तभी एतदतिरिक्त अनित्य मूर्तरूप पट से अतिरिक्त हुआ वह नित्य मूर्त और उससे अतिरिक्त होगा पक्ष]। 'परमाणु निरवयव हैं, निरवयव का संयोग होता नहीं, संयोगरूप असमवायिकारण के बिना कार्यद्रव्य का आरम्भ कैसे होगा ?'—यह सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि यदि आप निरवयव परमाणु नहीं मानते, तब

क्षीकारेणासंयोगित्वस्य साधयितुमशक्यत्वात्, सिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्, द्रव्यत्वेन घटादिवत्संयोगित्वानुमानाच्च । न च सावयवत्वमुपाधिः; अर्थतः पक्षेतरत्वात् । कार्यद्रव्यत्वं वा समवेतत्वे सति द्रव्यत्वं वा सावयवत्वम् । तथा च द्रव्यत्वेनैव साध्यव्याप्तौ सिद्धायां कार्यपदस्य समवेतपदस्य च जन्यत्वेन सकर्तृकत्वानुमाने शरीरिजन्यत्वोपाधौ शरीरिपदस्येव साधनाव्यापकत्वमात्रप्रयोजनस्योपादाने कथं न पक्षेतरता ? साध्यव्याप्तौ सत्यां साधनाव्याप्त्यर्थं यत्र विशेषणमुपादीयते, स पक्षेतर इति तल्लक्षणात् । न च द्वितीयसंयोगासंभवात्प्रथिमानुपपत्तिर्दोषः; द्व्यणुके प्रथिमाभावसाधने दोषाभावात्, तस्याणुत्वात् ।

तत्संयोगित्वे प्रमाणमाह—द्रव्यत्वेनेति । एतेन पूर्वानुमानस्याद्रव्यत्वमुपाधिरित्युक्तम् । ननु सावयवत्वप्रयुक्तं घटादौ संयोगित्वमिति व्याप्यत्वासिद्धो हेतुरिति, तत्राह—न चेति । सावयवत्वमेव विवेचयन्नर्थतः पक्षेतरतां दर्शयति—कार्येति । आकाशादिर्गुणादिश्चोभयत्र विशेषणद्वयव्यावर्त्यम् । तदयमर्थः—यथा ह्यङ्कुरादि सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटादिवदित्यत्र शरीरिजन्यत्वस्योपाधित्वोद्भावने जन्यत्वमात्रस्य घटादौ साध्यव्याप्तौ सिद्धायां शरीरिग्रहणं पक्षीकृताङ्कुरादौ साधनव्याप्तिपरिहारार्थमिति पक्षेतरत्वम्, एवं द्रव्यत्वमात्रस्यैव संयोगित्वव्याप्तौ सिद्धायां कार्यत्वं समवेतत्वं वा विशेषणं पक्षीकृतपरमाणुषु साधनव्याप्तिपरिहारार्थमतः पक्षेतरत्वमिति । ननु पक्षमात्रव्यावर्तकः पक्षेतरो नाम, न पुनरित्थंभूत इति, तत्राह—साध्यव्याप्ताविति । ननु निरंशस्य संयोगे सत्येकपरमाणुना संयुक्ते परमाणौ परमाण्वन्तरसंयोगो न स्यात्, संयुक्तप्रदेशातिरिक्तप्रदेशान्तराभावात्, तावन्मात्र एव च द्वितीयसंयोगे तदारब्धकार्ये प्रथिमा न स्यादिति, तत्राह—न चेति । तत्र तदारब्धकार्यशब्देन द्व्यणुकं वा ? त्र्यणुकं वा विवक्ष्यते ? किं वा चतुरणुकमिति ? प्रथमे त्विष्टापत्तिरित्याह—द्व्यणुक इति । द्वितीये प्राह—त्र्यणुक इति । कारणबहुत्वाद्वा कारणमहत्त्वाद्वा प्रचयविशेषाद्वा महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र कारणमहत्त्वप्रचययोरभावेऽपि कारणबहुत्वात् त्र्यणुके महत्त्वमुत्पद्यते । नहि द्व्यणुकाभ्यां त्र्यणुकोत्पत्तिर्येन तदारब्धे महत्त्वं न स्यादपि तु बहुभिर्द्व्यणुकैरिति

असंयोगित्व की सिद्धि किसमें करेंगे और यदि मानते हैं, तब परमाणुरूप धर्मी के ग्राहक प्रमाण से उसके असत्त्वानुमान का बाध होता है । 'द्रव्यत्व' हेतु से घटादि दृष्टान्त के द्वारा परमाणुओं में संयोगित्व का अनुमान भो होता है (परमाणवः संयोगवन्तः, द्रव्यत्वाद् घटवत्) । इस अनुमान में सावंयवत्व (घट में साध्य-व्यापक और पक्ष में साधनाव्यापक होने से) उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि सावयवत्व फलतः पक्षेतरत्वरूप है, जिसे उपाधि नहीं माना जाता । अर्थात् सावयवत्व का अर्थ होता है—कार्यत्व-विशिष्ट द्रव्यत्व या समवेत्व विशिष्ट द्रव्यत्व । यहाँ केवल द्रव्यत्व में ही साध्य की व्यापकता सिद्ध हो जाती है, कार्यत्व और समवेतत्व विशेषण वैसे ही केवल पक्ष में साधन-व्यापकत्व का वरण करने के लिए रखे गये हैं, जैसे कि जन्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व के अनुमान (क्षित्यादिकं सकर्तृकं जन्यत्वाद् घटवत्) में लगाई गई शरीरिजन्यत्व उपाधि में शारीरित्व विशेषण । इसलिए कार्यद्रव्यत्वादि को पक्षेतरत्व क्यों नहीं कहा जा सकता ? क्योंकि केवल विशेष्य धर्म में साध्य-व्याप्ति के सिद्ध हो जाने पर, पक्ष में साधन-व्यापकत्व हटाने के लिए जहाँ विशेषण लगाया जाता है, उसे ही पक्षेतर कहा जाता है । यदि कहें कि निरवयव परमाणु का संयोग एकही परमाणु से हो सकेगा, दूसरे परमाणु से नहीं, अतः उससे उत्पन्न कार्यद्रव्य में प्रथिमा (महत्त्व) की अनुपपत्ति होती है । तो क्या द्व्यणुकरूप कार्य में महत्त्व की अनुपपत्ति होगी ? या त्र्यणुक में ? द्व्यणुक तो अणु परिमाणवाला ही होता है, अतः वहाँ महत्त्वानुपपत्ति इष्ट ही है और त्र्यणुक में महत्त्व की उत्पत्ति कारणगत बहुत्व संख्या से हो जाती है, (उसके लिए परमाणु में अनन्त संयोगों की अपेक्षा ही नहीं होती) । त्र्यणुक के कारण होते हैं—द्व्यणुक, द्व्यणुक सावयव हैं, अतः इनमें

त्र्यणुके तु कारणबहुत्वादेव महत्त्वोपपत्तिः, द्व्यणुकानां सावयवत्वेन संयोगोपपत्तिश्च ।

न चावयविन एवाभावात्तदारम्भानुपपत्तिः; एकस्थूलनीलावभासो बाह्ये प्रमा प्रमात्वाद्रूपदर्शनवदित्यवयविसिद्धेः । न चार्थान्तरता; विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किं परमाणुसमूहालम्बनत्वमभिप्रेतम् ? उतावयवसंहतिगोचरत्वम् ? नाद्यः; परमाणूनामतीन्द्रियाणामस्मदादिप्रत्यक्षगोचरताऽयोगात् । नापि द्वितीयः; अवयवानामनेकत्वादेक इतिप्रत्ययगोचरत्वासंभवात् । समुदायस्यैकत्वाददोष इति चेत्, न; तस्यावस्तुत्वाद्, वस्तुत्वे च तस्यैवावयवित्वात्, संज्ञामात्रे विवादः स्यात् । यत्प्रकाशते तज्ज्ञानं यथा ज्ञानम्, प्रकाशते च विवादाध्यासितमित्यनुमानात्सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वसिद्धौ साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत्, न; उभयवादिसंप्रतिपन्नस्य धर्मिणोऽभ्युपगमेऽपसिद्धान्तापत्तेः, अनभ्युपगमे चाश्रयासिद्धिः ।

भावः । यच्च द्वितीयसंयोगाभाव उक्तः, सोपि द्व्यणुकेषु नास्तीत्याह—**द्व्यणुकानामिति** ।

नन्वस्तु संयोगाद्युपपत्तिः परमाणूनाम्, तथापि न तदारभ्यं किंचित्, नहि परमाणुसङ्घातव्यतिरेकेणावयवी नाम कश्चिदास्ते युक्तियुक्तः, तस्मात्सन्तु नाम परमाणवः, तथाप्यारम्भकल्पनानुपपत्तिरिति, तत्राह—**न चावयवीति** । अवयविसद्भावे विज्ञानवादिनं प्रत्युक्तं मानमनोहरीयमनुमानमाह—**एकेति** । एकमिति स्थूलमिति नीलमिति च योऽयमवभासो बाह्ये विज्ञानाद्बहिर्भूते प्रमेत्यर्थः । सौगतनये विज्ञानस्य स्वग्राहकतयाऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै बाह्यग्रहणम् । ननु भवतु बाह्यप्रमात्वम्, तथाप्यवयविसिद्धिः कुतः ? यतो बहिरपि परमाणूनेव वा तन्त्वाद्यवयवान्वाऽवलम्बतामियं बुद्धि रति, तत्राह—**न चार्थान्तरतेत्यादिना** । **परमाणूनामिति** । प्रत्यक्षः खल्वयं प्रत्ययः स्थूलाद्याकारः । नच परमाणूनां प्रत्यक्षयोग्यत्वम्; सूक्ष्मत्वाच्च न स्थूलप्रत्ययविषयत्वमिति न तैरर्थान्तरतेत्यर्थः । अवयवसमूहालम्बनत्वं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। ननु नावयवमात्रं विषयः, किंतु तत्समुदायः, स चैक इति शङ्कते—**समुदायस्येति** । **अवस्तुत्वादिति** । यस्य ह्यवयव्येवानिष्टः, स कथं समुदायिव्यतिरिक्तं वस्तुभूतं समुदायमङ्गीकुर्यादित्यर्थः । एवमर्थान्तरतायां परिहृतायां विज्ञानवादी दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं शङ्कते—**यत्प्रकाशते इति** । प्रकाशमानत्वं ज्ञानस्वभावत्वेन रूपादिज्ञानेषु व्याप्तम्, तद्रूपादिरपि प्रकाशमानो विज्ञानस्वभाव एवेति ज्ञानस्वभावत्वावगते रूपज्ञानस्यापि बाह्यविषयत्वमसिद्धमित्यर्थः । अत्र हि प्रकाशते रूपमिति पक्षीकृतं रूपमुभयाभिमतमनभिमतं वेति विकल्प्य दूषयति—**नेति** । ज्ञानातिरिक्तरूपाद्यभ्युपगमेऽपराद्धान्त इत्यर्थः । आभाससमान-

---

अनेक संयोग बन भी जाते हैं ।

'अवयवी ही निष्प्रमाण है, उसका आरम्भ कैसे बनेगा ?'—यह सन्देह नहीं कर सकते; क्योंकि अवयवी की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है—'यह घट एक, स्थूल तथा नील,—यह प्रतीति बाह्य वस्तु में प्रमा है, प्रमा होने से, जैसे—रूप-दर्शन । इस अनुमान में अर्थान्तरता दोष नहीं दिया जा सकता; क्योंकि अर्थान्तरता-वादी के मत से उक्त प्रतीति परमाणु-समूह को विषय करती है ? या अवयव-समूह को ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय होते हैं, उनका प्रत्यक्ष सर्व-साधारण को नहीं हो सकता । द्वितीय पक्ष मानने पर पटादि में एकत्व की प्रतीति नहीं होगी; क्योंकि अवयव अनेक हैं । 'अवयवों का समुदाय तो एक है, अतः एकत्व की प्रतीति बन जायगी'—यह नहीं कह सकते; क्योंकि समुदाय, कोई पृथक् वस्तु नहीं । यदि है, तब वही अवयवी है, नाम मात्र में विवाद रह जाता है । यदि कहा जाय कि "जो-जो वस्तु प्रकाशित होती है, वह सब ज्ञान-रूप है, जैसे—ज्ञान, विवादास्पद (रूपादि) भी प्रकाशित होता है, अतः वह भी ज्ञानस्वरूप ही है"—इस अनुमान से समस्त प्रपञ्च ज्ञानरूप ही सिद्ध हो जाता है, तब उक्त दृष्टान्त साध्य-विकल हो गया (रूपज्ञान भी विज्ञान-भिन्न किसी रूप को विषय न कर सका) । तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि इस अनुमान में विवादास्पद पद से उभय-सम्मत (रूपादि) धर्मी को ग्रहण करने पर विज्ञान-

यत्प्रकाशते तदुभयवादिसिद्धैकविज्ञानमात्रम् , प्रकाशते च विवादाध्यासितमिति ज्ञानाद्वैतप्रसञ्जकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च । न च कम्पाकम्पावृतत्वानावृतत्वरक्तत्वारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गात्तदाश्रयस्यैकत्वानुपपत्तिः ; अवयवानां कम्पे तदावरणे तद्रक्तत्वे चाव-

---

योगक्षेमतां चाह—यत्प्रकाशत इति । अस्ति ह्यत्राप्येकस्मिन्विज्ञाने तन्मात्रत्वप्रकाशमानत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थः । ननु तथापि तर्कविरुद्धत्वाच्छङ्कितोपाधित्वमनुमानस्य, तथा हि—वृक्षे कासुचिच्छाखासु कम्पमानासु तदंशेऽवयवी कम्पते, अपरास्वकम्पमानासु तदंशे न कम्पते, नचैतदेकस्मिन्वृक्षावयविनि घटते । नहि संभवति तदेव कम्पते न कम्पते चेति । तथा घटादिष्वप्यर्धमाव्रियते नार्धम् , तथा पटादावप्यर्धं रक्तमरक्तमर्धं दृश्यते । नचैतदेकस्मिन्संभवति, विरोधात् , तस्मान्नास्त्येवावयवीति, तत्राह—न च कम्पेति । अवयवेभ्यो विभिन्नस्तावदवयवी । नच तस्मिन्विरुद्धधर्मसंसर्गः ; भागनिष्ठत्वात् कम्पादीनां विरुद्धधर्माणाम् , अवयवी तु यथानुभवं कम्पत एव वा, आवृत एव वा, विपरीतमेव वा, न पुनरुभयाधिकरणमित्यर्थः । स्यादेतत् , यद्यवयवचलनादावप्यवयवी न चलनादिमान् तर्हि घटचलनेप्यचलित-

---

वादो के लिए अपसिद्धान्त और उसे न मानने पर आश्रयासिद्धि होती है। एवं विज्ञानरूपता-साधक अनुमान में “जो प्रकाशित होता है, वह उभय-सम्मत एक विज्ञानरूप ही है, विवादास्पद भी प्रकाशित होता है”—इस प्रकार के एकज्ञान-प्रसन्जक अनुमानाभास की समानता भी है । विज्ञानवादी ज्ञान अनेक मानते हैं, उनके लिए यह ज्ञान में एकत्व-साधन जैसे अनुमानाभास है, वैसे ही ज्ञानरूपता-साधन भी)। यह जो बौद्धगण कहा करते हैं कि कम्प-अकम्प, आवृतत्व-अनावृतत्व, रक्तत्व-अरक्तत्व-रूप विरुद्ध धर्मों के संसर्ग से यह सिद्ध होता है कि आश्रय एक नहीं [अर्थात् अनेक अवयवों में यदि एक अवयवी मान लिया जाय, तब एक अवयव में कम्पन होने से, पूरे अवयवी में कम्पन होना चाहिए, इसी प्रकार उसके दूसरे अवयव में कम्पन नहीं, अतः पूरे अवयवी में अकम्पन होना चाहिए (द्र० तत्त्वोप० पृ० ९७) किन्तु केवल एक हस्त में कम्पन होने से पूरे शरीर में कम्पन नहीं पाया जाता, अतः शरीर एक अवयवी नहीं । धर्मकीर्ति ने कहा है—

पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः ।
एकत्र कर्मणोऽयोगात् स्यात्पृथक्सिद्धिरन्यथा ।। (प्र० वा० २।८५)

एक अवयव में एक पूरा अवयवी रहता है, तब उस अवयव की आवृत कर देने से पूरा अवयवी ढक जाना चाहिए (द्र० तत्त्वोप० पृ० ९६)। शान्तरक्षित कैसी मीठी हँसी करते हैं—

स्थूलस्यैकस्वभावत्वे मक्षिकापादमात्रतः ।
पिधाने पिहितं सर्वमासज्येताविभागतः ।। (तत्त्व० सं० ५९३)

इसी प्रकार वस्त्र का एक कोना रंग देने से पूरा वस्त्र रंग जाना चाहिए (द्र० तत्त्वोप० पृ० ९५) शान्तरक्षित और धर्मकीर्ति दोनों विद्वान् यही कहते हैं—

रक्ते भागे एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत् ।
विरुद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुषज्यते ।। (तत्त्व० सं० ५९४)
एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृतिः स्यादनावृतौ ।
दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वा गतिः ।। (प्र० वा० २।८६)

इसलिए अवयवी कभी एक सिद्ध नहीं हो सकता]। बौद्धों का यह कहना नितान्त असंगत है ; क्योंकि अवयवों से अवयवी को भिन्न माना जाता है, अतः अवयव में कम्पन, आवरण और रक्तत्व होने से पूरे अवयवी में न तो कम्पनादि की प्राप्ति होती है और न अवय में अकम्पनादि होने से अवयवी में अकम्पनादि की । कम्पनादि भिन्न अवयव में हैं और अकम्पनादि भिन्न अवय में, दोनों

यविनोऽतद्रूपत्वेनैकस्य विरुद्धधर्मसंसर्गासिद्धेः। न चावयवावयविनोश्चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्गः; विकल्पासहत्वात्। (१) किं भेदो युतसिद्धिः ? (२) किं वा पृथगाश्रयाश्रितत्वम् ? (३) पृथक्क्रियावत्त्वं वा ? (४) परस्परसंयोगविभागवत्त्वं वा ? न प्रथमः; अवयवावयविनोर्भेदाभ्युपगमेन सिद्धसाधनत्वात्। अत एव न द्वितीयः; अवयविनोऽवयवाश्रयत्वेऽप्यवयवानां स्वारम्भकावयवाश्रितत्वात्। न तृतीयः; पृथक्क्रियावत्त्वस्योभयोरिष्टत्वात्, एकद्रव्यं कर्मेति सूत्राच्च। न चतुर्थः; चलाचलयोरपि घटहिमाचलयोः परस्परसंयोगविभागानधिकरणत्वात्। अवयवावरणेऽवयविनोऽनावरणे पूर्ववत्कृत्स्नप्रतीतिः स्यादिति चेत्, सत्यम्; कृत्स्नः प्रतीयत एव तस्यैकत्वात्। तथात्वे द्विहस्तत्वादि किमिति न प्रतीयत इति चेत्;

पटवद्युतसिद्धतावयवावयविनोः प्राप्नोति, तथा च न समवाय इति, तत्राह—न चावयवेति। विरुद्धधर्मवत्त्वेऽपि न युतसिद्धिरिति विकल्पपूर्वकमाह—विकल्पासहत्वादित्यादिना। अत एवेत्यतिदिष्टं सिद्धसाधनत्वं विवृणोति—अवयविन इति। पृथक्क्रियावत्त्वं युतसिद्धत्वमिति तृतीयपक्षेऽपि सिद्धसाधनतामाह—पृथक् क्रियावत्त्वेति। अवयवेऽन्यत्कर्म अवयविन्यप्यन्यदेवेत्यत्र वैशेषिकसूत्रमपि प्रमाणयति—एकद्रव्यमिति। एकमेव द्रव्यं समवायिकारणं यस्य कर्मणस्तदेकद्रव्यं न पुनः संयोगादिवदनेकवृत्तीत्युक्तम्। परस्परसंयोगविभागवत्त्वं युतसिद्धिरिति चतुर्थं पक्षं दूषयति—न चतुर्थ इति। तत्र हि चलाचलत्वेन संयोगविभागवत्त्वमापादनीयम्, नचैतच्छक्यापादनम्, व्याप्तेरभावेन प्रशिथिलमूलत्वादिति भावः। यत्त्वावृतत्वानावृतत्वविरुद्धधर्मसंसर्गो नास्ति अवयवावरणेऽप्यवयविनोऽनावृतत्वानुभवादित्युक्तम्, अवयवानां कम्पेऽपीत्यत्र, तत्र बाधकं शङ्कते—अवयवेति। केयं कार्त्स्न्येन प्रतीतिः ? किमवयविस्वरूपस्यानवशेषेण प्रतीतिः ? किं वा हस्तवितस्त्यादिमत्तया प्रतीतिः ? आद्यामिष्टापत्त्या दूषयति—सत्यमिति। एकः खल्ववयवी न पुनरवयववदनेकः, स चेत्प्रतीयते, प्रतीत एव कार्त्स्न्येनेति नायमनिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः। द्वितीयां शङ्कते—तथात्व इति। सहकारिवैकल्यादिति परिहरति—तदुचितेति। अवयव्युत्पादका एव येऽवयवास्तेषामिन्द्रियेण यः सन्निकर्षः सोऽप्येतस्यैकहस्तादेः प्रतीतावुचिता हेतुस्तस्याभावादित्यर्थः। यस्तु रक्तत्वारक्तत्वलक्षण-

---

एकत्र हैं ही नहीं, कि उसमें अनेकता प्राप्त हो (द्र० न्या० ली० पृ० १२७)। 'यदि अवयव के कम्पित होने पर भी अवयवी अकम्पित ही रहता है, तब अवयव और अवयवी में युतसिद्धि सिद्ध हो जायगी'—यह भी सन्देह युक्त नहीं; क्योंकि यहाँ युतसिद्धि से क्या विवक्षित है ? (१) भेद ? या (२) पृथक् आश्रय के आश्रितत्व ? या (३) पृथक् क्रियावत्त्व ? या (४) परस्परसंयोगविभागवत्त्व ? प्रथम (भेद) पक्ष तो अवयव और अवयवी में माना ही जाता है। द्वितीय भी माना ही जाता है कि अवयवी, अवयव के आश्रित है और अवयव अपने आरम्भक अवयवों के आश्रित हैं। तृतीय पक्ष में भी सिद्ध-साधनता है; क्योंकि अवयव में पृथक् और अवयवी में पृथक् कर्म मानते हैं, जैसा कि महर्षि कणाद ने (वै० सू० १।१।१७ में) कहा है कि कर्म एक द्रव्य के ही आश्रित रहता है। चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि इस पक्ष में चलाचलत्व रूप धर्म से परस्पसंयोगविभागवत्त्वरूप युतसिद्धि का आपादन करने के लिए यह व्याप्ति माननी होगी—"यत्र यत्र चलाचलत्वम्, तत्र तत्र संयोगविभागवत्त्वम्"। किन्तु यह व्याप्ति सम्भव नहीं, इसका घट और हिमाचल में व्यभिचार है, वहाँ चलाचलत्व के रहने पर भी उनका परस्पर न तो संयोग होता है और न विभाग। 'अवयव के आवृत होने पर भी यदि अवयवी आवृत नहीं होता, तब पहले-जैसा पूरा अनावृत ही दिखना चाहिए'—यह सन्देह भी समुचित नहीं; क्योंकि एक अवयव के आवृत हो जाने पर भी अवयवी अनावृत ही रहता है, हाँ! आवृत अवयव के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष न रहने के कारण पूर्ण अवयवी प्रतीत न हो, यह दूसरी बात है। रक्तत्व-अरक्तत्व का जो विरोध दिया, वह भी युक्त नहीं; क्योंकि (पूरा वस्त्र वस्तुतः

तदुचितावयवसन्निकर्षस्य तत्प्रतीतिहेतोरभावात्। रक्तत्वं तु महारजनादेरेव द्रव्यान्तरस्य नाप्यवयवानामिति दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्गः। तथापि तत्संयोगाद्रक्तिमप्रतीतिः सर्वत्र किं न स्यादिति चेत्, न; संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वात्।

नन्ववयवेषु वर्तमानोऽवयवी किं वा कार्त्स्न्येन वर्तते? उतैकदेशेन? नाद्यः; शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गात्, अवयविनः कार्येणान्वयात्, युगपदनेकत्र वृत्तावनेकवृत्तिरूपादिवदनेकत्वप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीयः; आरम्भकावयवव्यतिरिक्तैकदेशाभावात्, भावे वानन्तावयवतया मेरुसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणतापत्तेः, अवयवावयविनोर्दूरविप्रकर्षप्रसङ्गाच्चेति चेत्,

---

विरुद्धधर्मसंसर्ग उक्तस्तं परिहरति—**रक्तत्वं त्विति**। यद्धि पाकादिवशाद् दृढतरं पटेन संयुक्तं कुसुम्भादिद्रव्यान्तरम्, तद्धर्म एव रक्तत्वादिः, न पटधर्मः, नापि तन्तुधर्मः, परं तत्संयोगात्पटस्थरक्तताप्रतीतिरित्यरक्तैकस्वभावत्वात्पटस्य दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्ग इत्यर्थः। स्यादेतत्—भवतु हरिद्रादिसंयोगात्पटे रक्तप्रतीतिस्तथापि किमिति न सर्वात्मना पटे रक्तिमप्रतीतिः? एकः खल्ववयवी तेन संयुक्त इति, तस्माद्रक्तप्रतीतिविषयत्वतद्रहितत्वलक्षण एवायं विरुद्धधर्मसंसर्गोऽस्त्विति शङ्कते—**तथापीति**। परिहरति—**नेति**। यद्यप्येकः एवावयवी तथापि द्रव्यान्तरसंयोगस्तस्मिन्न सर्वस्मिन्वर्ततेऽपि त्वव्याप्यवृत्तिर्यावति च स वर्तते भवत्येव रक्तप्रतीतिरियमप्यस्तीत्यर्थः।

एवं विरुद्धधर्मसंसर्गे परिहृतेऽपि वृत्तिविकल्पानुपपत्त्याशङ्कितोपाधितां शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। ननु किमिति शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्तिः, नच शृङ्गस्य स्तनत्वमस्तीति? तत्राह—**अवयविन इति**। अन्वयो जनकतया संबन्धित्वम्। अत्रैव दूषणान्तरमाह—**युगपदिति**। क्रमेणानेकत्र वर्तमानदेवदत्तादिव्यवच्छेदाय युगपद्ग्रहणम्, यदि हि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वर्तते, तदा प्रतिद्रव्यं परिसमाप्य वृत्तिरूपादिवदनेकत्वमपि स्यादित्यर्थः। ननु किमित्यारम्भकव्यतिरेकेण वृत्त्यर्थमप्यवयवा न स्युः, कोशावयवेषु वर्तमानासेः कोशावयवव्यतिरिक्तावयवत्वदर्शनादिति, तत्राह—**भावे चेति**। तदा हि तेष्ववयवेषु तद्वृत्त्यर्थमवयवान्तराणि कल्पेरन्, एवं तेषु तेष्वपीत्यनन्तावयवाः स्युरपरथान्तिमावयवेषूक्तदोषापातात्। तथा च सुमेरुसर्षपयोरनन्तावयवत्व समानमिति परिमाणसाम्यमपि स्यादविश्रान्ततारतम्यपरिमाणाधिकरणेषु परिमाणवैषम्यस्यावयववैषम्यनिमित्तताव्याप्तेरित्यर्थः। अत्रैव दूषणान्तरमाह—**अवयवेति**। प्रथमावयवावयविनोर्मध्येऽनन्तावय-

---

श्वेत ही है, हाँ! उसके जिस कोने में रक्त द्रव्य का लेप कर दिया गया, वहाँ वस्त्र में रक्तत्वं प्रतीत होने लगता है) वह रक्तत्व न तो पट में है और न तन्तुओं में, किन्तु द्रव्यान्तर (गेरू) में है। 'तथापि उस गेरू के संयोग से पूरे वस्त्र में रक्तत्व प्रतीति क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है (अर्थात् गेरू का संयोग जिस कोने में है, वहीं होगा, सर्वत्र नहीं, अतः सर्वत्र क्यों प्रतीत होगा? जहाँ सर्वत्र होता है, वहाँ पूरा वस्त्र ही रक्त प्रतीत होता ही है)।

बौद्धों का जो यह आक्षेप है कि प्रत्येक अवयव में समस्त अवयवी रहता है? या उसका एक देश? (द्र० तत्त्वोप० पृ० ९४)। प्रथम पक्ष मानने पर यह भी मानना होगा कि पूरी गौ अपने सींग में रहती है, तब तो सींग से दूध निकलना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि यदि पूरी गौ सींग में है, पूँछ में भी है, कान में भी है, तब तो जितने अवयव हैं, उतनी ही गौओं की प्रतीति होनी चाहिए। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि आरम्भक अवयवों को छोड़ कर और कोई एक देश होता ही नहीं। यदि मानें, तो अनन्त अवयव सुमेरु पर्वत में और अनन्त ही सरसों के दाने में, अतः दोनों एक समान हो जायँगे। दूसरी बात यह भी हो जायगी कि प्रथम अवयव और अवयवी के बीच में अनन्त अवयवों का व्यवधान पड़ जायगा। जैसा कि शान्तरक्षित ने कहा है—

> "यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते।
> एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न क्वचिच्च सः॥" (तत्त्व० सं० ६१३)

मैवम ; विकल्पस्यानवसरदुःस्थत्वात् । नह्येकस्मिन्नेवावयविनि समस्तोऽसमस्तो वेति त्रिकल्पः कल्पते, बहूनां हि समस्तताऽसमस्तता वा संभवेत् । किंचायं वृत्तिविकल्पः स्वसिद्धां व्याप्तिमवलम्ब्योत्तिष्ठति ? उत परसिद्धाम् ? नाद्यः ; सौगतैः सर्वस्य क्षणिकत्वेनाश्रयाश्रयिभावानभ्युपगमात् । वेदान्तिभिरपि कार्यस्य कारणे कल्पितत्वमभ्युपगच्छद्भिर्वृत्तेरनभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः ; तेनाप्यनङ्गीकारात् । यद्वर्तते तत्संयोगेन समवायेन वा वर्तते इति परोऽङ्गीकरोति, न तु कार्त्स्न्यैकदेशाभ्याम् । अस्तु वा कार्त्स्न्येन वृत्तिस्तथापि न शृङ्गेण स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः ; तत्तदवयवविशिष्टस्यैवावयविनस्तत्तत्कार्यप्रसवसमर्थत्वात् । सर्वश्चायं प्रसङ्गहेतुराश्रयासिद्धः ; अवयविनोऽनङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः । परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनमिति चेत्, न ; परस्यापि प्रमाणतः सिद्धावसिद्धौ च पूर्वोक्तदोषद्वयान-

---

व्यवधानादित्यर्थः । एवं वृत्तिविकल्पदोषं परिहरति—**मैवमिति** । एकस्मिन्ननुपपत्तिमेव व्यतिरेकनियमेन दर्शयति—**बहूनामिति** । किंच यद्यत्र वर्तते तत्कार्त्स्न्येनैकदेशेन वेति किं सौगतसमये नियतिः ? किंवा वेदान्तदर्शने ? आहो मद्दर्शनेनैवं प्रसज्यते ? न सर्वथापीत्याह–**किंचायमित्यादिना** । ननु सौगतवेदान्तिदर्शनयोर्वृत्त्यनङ्गीकारादेव युक्तस्तत्प्रयुक्तनियमेप्यानादरः कर्तुम्, भवता तु वृत्तिमङ्गीकुर्वता काचिन्नियतिरङ्गीकरणीयैवेति, तत्राह—**यद्वर्तत इति** । संबन्धे एव नियतिर्न कार्त्स्न्यादावित्यर्थः । ननु किमिति न प्रसङ्गः, यावताऽवयविन एव कार्यकरत्वादापतत्येवेति, तत्राह—**तत्तदवयवेति** । यथा ह्यवयविनोऽन्वयव्यतिरेकौ तथा तत्तदवयवोपेततयापीत्यर्थः । किंच यद्येकदेशेन वर्तेत, यदि वा कार्त्स्न्येन, यदि वावयवेभ्योऽतिरिच्येत, तर्हीदमिदं स्यादिति यदिदं प्रमञ्जनं तत्राश्रयभूतः कश्चिदवयवी स्वीकृतः ? न वा ? उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याह—**सर्वश्चायमिति** । प्रसङ्गहेतुः प्रसञ्जको हेतुरित्यर्थः । अनङ्गीकारेप्याश्रयासिद्धिपरिहारं शङ्कते—**परेति** । परस्यापि किं प्रमाणतः सिद्धं त्वया धर्मीक्रियते ? उत प्रतीतिमात्रसिद्धम् ? आद्ये धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः, नहि परप्रमागमप्रमाणं भवति, वस्तुनोन्यथाभावात् । द्वितीये त्वाश्रयासिद्धिरिति परिहरति—**न परस्यापीति** । ननु किमित्याश्रयासिद्धिधर्मिग्राहकप्रमाणबाधो वा ? यावता कल्पितः

यह बौद्धों का आक्षेप अकाण्ड-ताण्डवमात्र हैं ; क्योंकि समस्त और एक देश का विकल्प वहाँ उठा करता है, जहाँ पदार्थ बहुत हों, अवयवी एक ही तो है, अतः उसके विषय में यह विकल्प उठ ही नहीं सकता । दूसरी बात यह भी है कि आपने यह जो (कार्त्स्न्येन वर्तते ? एकदेशेन वा ?) वृत्ति-विकल्प किया, वह स्वमत-सिद्ध व्याप्ति के आधार पर ? या वेदान्त-मत सिद्ध व्याप्ति के सहारे ? या परमत-सिद्ध व्याप्ति को दृष्टि में रखकर ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं ; क्योंकि सुगतानुयायी वृत्तिता मानते ही नहीं, उनके यहाँ सब कुछ क्षणिक स्वलक्षणमात्र है, आश्रयाश्रयिभाव होता ही नहीं । वेदान्त-मत में भी कार्य, कारण में कल्पित है, वास्तविक वृत्तिता नहीं मानी जाती । हमारे (तार्किकों के) मतमें जो जहाँ रहता है, वह वहाँ संयाग वा समवाय सम्बन्ध से रहा करता है—यही माना जाता है, न कि समस्त या एक देश से । यदि मान भी लें कि समस्त अवयवी अपने अवयव में रहता है, तथापि सींग से दूध नहीं निकाला जा सकता ; क्योंकि भिन्न-भिन्न अवयव-विशिष्ट अवयवी में ही व्यवस्थित रूप से भिन्न-भिन्न कार्योत्पादन का सामर्थ्य होता है । आपके उक्त जितने भी प्रसञ्जक (अवयवी में अनिष्टापादक) हेतु हैं, वे सभी आश्रयासिद्ध हैं ; क्योंकि आश्रयभूत अवयवी आप नहीं मानते हैं । यदि मान लें, तब उस धर्मी के ग्राहक प्रमाण से ही आपके सभी साधनों का बाध हो जाता है । यदि कहें कि परमत-सिद्ध पदार्थ में हम उसके अनिष्ट का आपादन कर रहे हैं ; तब भी प्रमाण से परमत-सिद्ध पदार्थ को आप धर्मी बनाते हैं ? या प्रतीतिमात्र-सिद्ध पदार्थ को ? दोनों पक्षों में उक्त बाध और आश्रयासिद्धि दोष होते हैं । यदि कहें कि बौद्ध-मत में भी

तिवृत्तेः । अस्त्येवेतरस्यापि कल्पनाकल्पितो धर्मीति चेत्, न ; कल्पनायाः सर्वत्राव्याहतप्रसरतयाऽऽश्रयासिद्ध्यादिदोषप्रमोषप्रसङ्गात् । तदेवं परमाणूनामेव द्व्यणुकादिक्रमेण निश्चितनिखिलजगत्कारणतोपपत्तौ न ब्रह्मणस्तत्कारणत्वकल्पनावकाश इति ।

अत्रोच्यते— अर्थान्तरत्वादाद्यस्य परस्योपाधिमत्त्वतः ।
अन्त्यस्याभासतुल्यत्वात्प्रतिसाधनरोधनात् ॥३८॥

यत्तावन्महत्त्वापकर्षतरतमभावस्य क्वचिद्विश्रान्तिसाधनम्, तदर्थान्तरम्, त्रसरेणुष्वेव तस्य विश्रान्तेः । न च चाक्षुषद्रव्यत्वात् महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तत्र विश्रान्त्यनुपपत्तिः ; आद्यस्य योगिचक्षुर्गोचरेषु परमाणुष्वनैकान्तिकत्वात् । नचास्मदादीति विशेषणोपादानाददोषः ; परमाणूनामिदानीमेव साधनीयतया तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणस्य वैयर्थ्यात् । द्वितीयेऽपि महत्त्वे सतीति विशेषणस्य परमाण्वसिद्धौ वैयर्थ्यात् । यत्तु

कश्चिदवयवी ममाप्यस्त्येवेति शङ्कित्वा अतिप्रसक्त्या परिहरति—न कल्पनाया इति । उपपादितोऽयमर्थो मिथ्यात्ववादे । पूर्वपक्षमुपसंहरति—तदेवमिति ।

तत्र तावत्परमाणुसाधकतया शङ्कितानुमानेषु दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—अर्थान्तरत्वादिति । अणुपरिमाणतारतम्यमित्यनुमाने त्र्यणुकैरर्थान्तरता । यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानम्, तत्राह—परस्येति । यत्तु महाविद्यानुमानमुक्तं तत्राभाससमानयोगक्षेमतां सत्प्रतिपक्षतां चाह—अन्त्यस्येति । संग्रहं विवृणोति—यत्तावदित्यादिना । कश्चायं तरतमभावः ? न तावत्संख्यापरिमाणे, तयोर्निर्गुणे परिमाणेऽसंभवात् । नापि जातिः, महत्त्वाणुत्वाभ्यां परापरभावाभावात् । अभावत्वं त्वेतादृशानां पुरैव निवारितम् । ततश्चाश्रयासिद्धिरपि दुरुद्धरा । यत्तु त्र्यणुकानामपि सावयवत्वानुमानद्वारार्थान्तरत्वं परिहृतम्, तत्राह—न चेति । अत्र किं चाक्षुषत्वमात्रं विवक्षितम् ? किंवाऽयोगिचाक्षुषत्वम् ? आद्ये भवतामनैकान्तिकता स्यादित्याह—आद्यस्येति । परमाणुष्वित्युपलक्षणं कालादीनामपि । द्वितीयं दूषयति—नचेति । अत्र तावद्भाट्टानां कालाकाशदिशामप्यस्मदादिचाक्षुषत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थं न स्यात्तस्माद्योगिनामेव प्रत्यक्षपरमाणुव्यावृत्त्यर्थमिदं विशेषणं तथा च वैयर्थ्यम् । योग्यनङ्गीकारादपि भाट्टान्प्रति वैयर्थ्यमित्यर्थः । द्वितीयं सावयवत्वसाधकं दूषयति—द्वितीयेति । निरवयवपरमाणुषु क्रियावत्त्वनैकान्तिकतापरिहारार्थम्, महत्त्वे सतीति विशेषणम् । तथाच वैयर्थ्यमित्यर्थः । भवतु वा सावयवत्वम्, तथापि कथमर्थान्तरताऽभावः ? नहि द्व्यणुकादौ महत्त्वापकर्षविश्रामसंभवः, तत्र महत्त्वस्यैवाभावात् । परस्योपाधिमत्त्वत इत्येतद्विवृणोति—यत्त्विति ।

कल्पना-सिद्ध धर्मी है ही ; तब तो कल्पना-कोश में क्या कमी है ? अवयवों से अन्यत्र भी अवयवी की कल्पना करके भी आश्रयासिद्धि-आदि दोष हटाये ही जा सकते हैं । इस प्रकार यह ही सिद्ध होता है कि परमाणुओं में ही द्व्यणुकादि के क्रम से जगत्-सर्जन का सामर्थ्य निहित है, ब्रह्म में जगत्-कारणता की कल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं ।

आरम्भवाद-विमर्दन—उक्त परमाणु-साधक तीनों अनुमानों के विषय में हमारा कहना यह है कि प्रथम में अर्थान्तरता, द्वितीय में सोपाधिकता और अन्तिम साधन में आभास की समानता और सत्प्रतिपक्षितता दोष हैं । अर्थात् जो महत्त्वपरिमाण के अपकर्ष-तारतम्य की कहीं विश्रान्ति का साधन किया गया, उसमें अर्थान्तरता यह है कि त्रसरेणु में ही विश्रान्ति मान लेने से काम चल जाता है । यह जो 'चाक्षुष द्रव्यत्व' या 'महत्त्व-विशिष्ट सक्रियत्व' हेतु से त्रसरेणुओं में सावयवत्व का अनुमान किया था ; वहाँ प्रथम हेतु योगी के चक्षुर्गम्य परमाणुओं में व्यभिचारी है (क्योंकि परमाणुओं में सावयवत्व साध्य के न रहने पर भी योगी का चाक्षुषत्व रह जाता है) । अस्मदादि-विशेषण लगाकर जो यह दोष हटाया था, वहाँ परमाणुओं की व्यावृत्ति के लिए ही वह विशेषण लगाया जाता है और परमाणु अभी सिद्ध ही नहीं, अतः वह (अस्मदादि) विशेषण व्यर्थ है ।

पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानम्, तत्र पृथिवीव्यतिरिक्ताधेयत्वमुपाधिः, सत्ताया अपि नित्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् साध्यविकलश्च दृष्टान्तः। अयं घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः इत्यनुमानमाभाससमानम्, अयं घट एतदतिरिक्तानित्यसावयवातिरिक्तसावयवान्यो मेयत्वादित्यपि प्रयोगस्य सुवचत्वात्। पृथिवीत्वमनित्यमात्रवृत्ति पृथिवीमात्रवृत्तित्वात् घटत्ववदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च। न च पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजात्यन्यत्वमुपाधिः, व्यति-

सत्तायां नित्यवृत्तित्वेपि पृथिवीत्वरहितवृत्तित्वमुपाधिः। नच पक्षेतरता; आकाशादेर्विपक्षस्य व्यावर्त्यस्य सत्त्वात्। वेदान्तिमते साध्यवैकल्यं चाह—**सत्ताया इति**। आकाशादिप्रपञ्चस्य नित्यत्वाभावात्सत्तायाः कल्पितत्वात्, आत्मनश्च सद्रूपतया तत्र सत्तावृत्त्यभावादित्यर्थः। अन्त्यस्येत्येतद्विवृणोति—**अयं घट इत्यादिना**। अत्र ह्येतदतिरिक्तानित्यसावयवातिरिक्तः सावयवोऽयमेव वा घटोऽनित्यत्वानधिकरणसावयवो वा कश्चित्? प्रथमेऽन्यत्वमेव तदघटस्य व्याहतमिति ततोऽनित्यत्वानधिकरणस्य सावयवस्य कस्यचिदप्यन्यस्य सिद्धप्रसङ्गः इत्यर्थः। नचानित्यद्रव्यस्यैव सावयवत्वं स्यादनित्यसावयवत्वानधिकरणसावयवान्यत्वानुमानं व्याघातादेव नोदेतीति वाच्यम्; मूर्तस्याप्यनित्यताव्याप्त्या त्वदनुमानेपि व्याघातसाम्यात्। परिच्छिन्नापरिमाणमात्रमेव मूर्तत्वमित्युक्ते द्रव्यत्वे सति द्रव्यसमवेतत्वमेव सावयवत्वं न पुनरनित्यत्वगन्ध इत्यपि वक्तुम् शक्यमिति भावः ॥ १ ॥ तथायं घट एतद्घटत्वे सति एतदतिरिक्तानित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तान्यो न भवति मेयत्वात्पटवदिति प्रकरणसमता ॥ २ ॥ तथा त्वद्धेतुः स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसमस्तहेतुदोषाधिकरणनिष्ठधर्मवान् मेयत्वात् ॥ ३ ॥ तथा नित्यत्वं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहितनिष्ठाधर्माधिकरणं मेयत्वात् ॥४॥ तथा निरवयवत्वं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहितनिष्ठधर्माधिकरणं मेयत्वात् ॥५॥ इत्यादिमहाविद्याभिरेवार्थतः सत्प्रतिपक्षता केन वार्यते? तथापि यस्य कस्यचिदुपाधितामुद्भाव्य तत्साध्येसमत्वादिविप्रतिपत्तावप्येतयैव रीत्या समर्थनीयम्, तथा हेत्वादिकमपि पक्षीकृत्य वैपरीत्यमनुमातव्यम्, परमाण्वनङ्गीकारेप्येवमनुमानसंभव इष्यते, तथा रीत्यन्तरैरपि। नचैतेषां तर्कविद्याविराधादिदोषःशक्यशङ्कः; विमतान्यनुमानानि स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसकलदूषणरहितनिष्ठधर्माधिकरणानि मेयत्वात् ॥६॥ इत्यपि शक्यप्रयोगत्वात्। नच मयाप्येवं वैपरीत्यमनुमातुं शक्यमिति बचनीयम्; ततोप्येवं वक्तुं शक्यत्वात्। एवं हि महाविद्याकोविदाः प्राहुः, श्रमादुपरमेपि न दोष इति। ननु तथापि महाविद्याप्रामाण्यं सिद्धमेवेति चेत्, अप्रामाण्यमपि सिद्धमेव। तदित्थम्—

स्वपक्षपरपक्षाणामेषां पारिप्लवावहा। आरादेव परित्याज्या महाविद्याभिसारिका ॥ १ ॥

सप्रतिसाधनतां विवृणोति—**पृथिवीत्वमिति**। एतच्चोभयोरप्यनुमानयोः समानम्। न च पृथिवीनि-

द्वितीय (पृथिवीत्व में नित्य-वृत्तित्व का) जो अनुमान किया था (पृथिवीत्वं नित्यवृत्ति घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात् सत्तावत्)। वहाँ 'पृथिवी-भिन्न-वृत्तित्व' उपाधि है (सत्तारूप दृष्टान्त में पृथिवी-भिन्न जलादि-वृत्तित्व रहने से साध्य व्यापक है एवं पृथिवीत्व में साधन के रहने पर भी पृथिवी-भिन्न-वृत्ति नहीं, अतः साधनाव्यापक है)। वेदान्त-मत में नित्य वस्तु, एक ब्रह्म ही है, उसमें सत्ता रहती नहीं, अतः उक्त अनुमान में साध्य-विकलता भी है। यह जो महाविद्या-प्रयोग किया था—(अयं घट एतदतिरिक्तानित्यभूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः प्रमेयत्वात् पटवत्)। वह अनुमान भी "यह घट; एतदतिरिक्त अनित्य सावय से भिन्न जो सावय, उससे भिन्न है; प्रमेय होने से"—इस अनुभानाभास के ही समान है (अर्थात् जैसे एतद् घट से अतिरिक्त सावयव होता है—पटादि, उससे अतिरिक्त सावयव है—एतद् घट, उससे अन्य यह नहीं, अतः यह अनुमान आभास है, वैसे ही प्रकृत में भी)। उक्त अनुमान का सत्प्रतिपक्ष भी है—"पृथिवीत्व, अनित्यमात्र में वृत्ति है, पृथिवीमात्र-वृत्ति होने से, जैसे—घटत्व।" यदि कहें कि यहाँ 'पृथिवी-निष्ठ अत्यन्ताभावाप्रतियोगि

रेकव्याप्त्यसिद्धेः साध्याव्यापकत्वात्, सत्ताद्रव्यत्वयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः। न च निरवयवेषु संप्रयोगसंभवः, येनासमवायिकारणसंपत्त्या द्रव्यारम्भः संभाव्येत। परमाणुपक्षीकारासंभवेऽपि संयोगित्वं सावयवमात्रवृत्ति संयोगिमात्रवृत्तित्वात् घटत्ववदिति संप्रयोगोपपत्तेः। न च द्रव्यत्वेन संयोगित्वानुमानम्, उभयवादिसिद्धस्य धर्मिणोऽभावात्। न च संयोगित्वं निरवयववृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेयत्ववदिति सप्रतिसाधनता; संयोगिव्यापिनि सावयवत्वधर्मे परस्यानैकान्त्यात्। न च द्वितीयसंयोगानुपपत्ति-

---

ष्ठेति। सकलपृथिवानिष्ठा या जातयः पृथिवीनिष्ठान्यन्ताभावाप्रतियोगिजातयः तदन्यत्वमुपाधिरिति नच वचनीयमित्यर्थः। कुत इत्यत आह—व्यतिरेकेति। यत्र हि पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातित्वं तत्र नित्यवृत्तित्वमिति व्यतिरेकव्याप्तिः कुत्र गृह्यते? न तावत्सत्ताद्रव्यत्वयोः, अद्वैतवादिनस्तयोरपि नित्यवृत्तित्वासंप्रतिपत्तेः। अतः साध्याव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः। यत्तु निरवयवस्यापि परमाणोः संयोगसमर्थनं कृतं तद्दूषयति—नचेति। ननु परमाणुसंयोगाक्षेपस्य जगत्कारणत्वाभावे क उपयोग? इति, तत्राह—येनेति। अवयवसंयोगः खल्ववयव्युत्पत्तावसमवायिकारणम्, स हि लघुप्रत्यासन्नः, तदिह परमाणूनां तदभावे कारणत्रयाभावाद्भज्येतैव द्व्यणुकाद्यारम्भ इत्यर्थः। परमाणुव्यक्तिमात्रपक्षीकरणमाशङ्क्य पूर्ववादिना यद्दूषणमुक्तं तदनङ्गीकारपरास्तमिति वदन् भङ्ग्यन्तरेणानुमानमारचयति—परमाण्विति। नच द्रव्यत्वेनानैकान्तिकता, तस्यापि पक्षतुल्यत्वात्। प्रतिप्रयोगमाशङ्क्य दूषयति—न च द्रव्यत्वेनेति। ननु किमित्युभयसिद्धधर्म्यभावः, त्वद्रीत्या संयोगित्वमेव पक्षीकृत्य शक्यप्रयोगत्वादिति, तत्राह—नच संयोगित्वमिति। संयोगिनिष्ठघटत्वादिव्यावर्तनायात्यन्ताभावपदम्। यस्य हि सावयवमेव संयोगीति मतं तन्मते सावयवत्वेऽनैकान्तिकमित्यर्थः। किंच संयोगित्वं गुणादिवृत्ति संयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेयत्वादिवदिति शक्यानुमानत्वादाभाससमानयोगक्षेमत्वम्। यच्च द्वितीयसंयोगाभावो न दोषाय प्रथिमानुपपत्तेरदूषणत्वादित्युक्तम्, तत्राह—न चेति। माभूत्प्रथिमानुपपत्तिर्दोषः, द्वितीयसंयोगानुपपत्ति-

---

जाति-भिन्नत्व' उपाधि है (पटादिरूप पृथिवी में वृत्ति है—घटत्वादि का अत्यन्ताभाव, उसकी अप्रतियोगिभूत जाति है—पृथिवीत्व, सत्तादि, उससे भिन्न है—घटत्व। अतः दृष्टान्त में साध्य-व्यापक है—उक्त धर्म, किन्तु पक्षभूत पृथिवीत्व जाति में न रहने से साधन का अव्यापक है)। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि इसमें साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति न रहने के कारण यह साध्य का व्यापक नहीं। (अर्थात् जहाँ पृथिवी-निष्ठ अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व-विशिष्ट जातित्व है, वहाँ नित्यवृत्तित्व है—इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय कहाँ करेंगे? सत्ता, द्रव्यत्वादि में भी नहीं कर सकते; क्योंकि) वेदान्त-सिद्धान्त में सत्ता और द्रव्यत्वादि जातियाँ नित्य (ब्रह्म) में वृति नहीं मानी गई हैं। निरवयव परमाणुओं में संयोग भी सम्भव नहीं, जिससे कि असमवायिकारण का लाभ होता और कार्य द्रव्य का आरम्भ सम्भव हो जाता। यह जो कहा था कि परमाणु जब तक सिद्ध नहीं होते, तब तक उन्हें पक्ष बनाकर असंयोगित्व का अनुमान नहीं कर सकते। वह आपका कहना ठीक है। क्योंकि हम ऐसा प्रयोग करेंगे—"संयोगित्व सावयवमात्र में वृत्ति होता है, संयोगिमात्र-वृत्ति होने से, जैसे—घटत्व।" हाँ, आप 'द्रव्यत्व' हेतु से संयोगित्व का अनुमान नहीं कर सकते; क्योंकि उभय मत से सिद्ध धर्मी (परमाणु) है ही नहीं। "संयोगित्व निरवयव द्रव्य में वृत्ति है, संयोगि-निष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, मेय के समान"—यह सत्प्रतिपक्ष प्रयोग नहीं कर सकते; क्योंकि संयोगि-वृत्ति सावयवत्व में निरवयव-वृत्तित्व रूप साध्य के न रहने पर भी हेतु माना जाता है, अतः अनैकान्तिक है। निरवयव परमाणुओं में द्वितीय संयोग की अनुपपत्ति का जो दोष दिया गया था, उसका भी प्रतीकार नहीं हो सकता। द्वितीय संयोग के बिना

दोषः, पार्थिवाप्यपरमाण्वोः संयुक्तयोः सजातीयाण्वन्तरसंयोगात् द्व्यणुकोत्पत्तौ द्वितीयसंयोगस्यावश्याभ्युपेयत्वात्, कारणाकारणसंयोगेन कार्याकार्यसंयोगस्येष्टत्वाच्च।

न चावयवी कश्चित्संभवति, यः परमाणुभिरारभ्यते। न चैकस्थूलनीलावभासो बाह्ये प्रमेत्यनुमानात्तत्सिद्धिः; यादृगवयवानामवयव्यारम्भकताभ्युपेयते, तेषामेवैकस्थूलनीलावभासगोचरत्वोपपत्तेरर्थान्तरत्वात्। न चानेकेषामेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तिः; एकप्रावरणाद्यर्थक्रियाहेतुत्वोपाधौ बहूनामपि तन्तूनामेकप्रत्ययत्वोपपत्तेः। दृश्यते हि बहूनामपि वर्णानामेकार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपाधावेकं पदमिति बुद्धिगोचरता। कम्पाकम्पावरणानावरणरक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गादवयविन एकत्वानुपपत्तेश्च। न चावयवानां तथात्वेऽप्यवयविनो-

---

रेव दोषः, अपसिद्धान्तापत्तेरित्याह—**पार्थिवाप्येति**। यदा हि पार्थिवपरमाणोराप्यपरमाणौ संयोगो जायते, तदनन्तरं च पार्थिवस्यान्येन पार्थिवेन आप्यस्याप्यन्येनाप्येन संयोगो जायते, तदा पार्थिवाभ्यां पार्थिवद्व्यणुकम् आप्याभ्यां चाप्यद्व्यणुकमिति द्वयं युगपदारभ्यत इति भवतां समयः, ततश्च पार्थिवाप्यपरमाण्वोः प्रथमं संयोगः, संयुक्तयोरेव पुनः सजातीयाणुभ्यां संयोगनिष्पत्तिरिति तदनुपपत्तिर्दोषायैवेत्यर्थः। अथेयमपि प्रक्रिया मा भूत्किं नश्छिन्नमिति ? तत्राह—**कारणेति**। अयमर्थः—संयोगजसंयोगप्रकरणे ह्येकस्माद् द्वाभ्यां बहुभ्यश्चैकस्य संयोगस्योत्पत्तिमुक्त्वा पुनरेकस्मात्संयोगाद् द्वयोः संयोगोत्पत्तावित्थमुदाहृतं भवद्भाष्यकृता—'यदा पार्थिवाप्यो' रित्यारभ्योक्तप्रकारेण द्व्यणुकयोरुत्पत्तिमुक्त्वा ततो 'यस्मिन्नेव काले द्व्यणुकयोः कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणगतात्संयोगादितरेतरकार्याकार्यगतौ सयोगौ युगपदुत्पद्येते' इत्यन्तेन। उपपत्तिरपि तैरेवोक्ता—'किं कारणम् ? कारणसंयोगिना हि कार्यमवश्यं संयुज्यते इति हि न्यायः' इति। तस्मात्त्वयोदिता द्वितीयसंयोगानुपपत्तिरनिष्टापत्तिरेवेति।

यच्चावयविसाधनं पूर्ववादिना कृतम् तदपि दूषयितुं क्रमते—**न चावयवीत्यादिना**। यच्च मानमनोहरीयमनुमानम्, तत्र बाह्यविषयत्वेऽप्यवयवैरर्थान्तरतामाह—**न चैकस्थूलनीलेत्यादिना**। नन्ववयवानामनेकत्वादेकबुद्धिविषयत्वानुपपत्तिरिति, तत्राह—**न चानेकेषामिति**। यथा हि बहूनामपि वर्णानां बहूनामपि पदानामेकपदार्थादिबुद्धिजनकत्वोपाधावेकं पदमेकं वाक्यमिति बुद्धिविषयत्वम्, न पुनस्तादृशः कश्चिद्वर्णाद्व्यतिरिक्तोऽर्थः, तथेहाप्येकार्थक्रियोपाधौ बहूनामेव तन्तूनामेकबुद्धिविषयत्वं किमिति न संभवतीत्यर्थः। न च परमाणूनामप्रत्यक्षत्वात्प्रत्यक्षबुद्ध्यविषयत्वमिति वाच्यम्; तादृशपरमाणूनामेवासिद्धेः। विरुद्धधर्मसंसर्गलक्षणतर्कविरोधमपि समर्थयते—**कम्पेति**। पूर्वोक्तं पूर्वपक्षाशयं निराचष्टे—**न चावयवानामिति**। ननु

आपका काम चल नहीं सकता; क्योंकि जहाँ पार्थिव और जलीय परमाणु परस्पर संयुक्त हैं, उसी अवस्था में पार्थिव परमाणु का पार्थिव परमाणु से और जलीय परमाणु का जलीय परमाणु से संयोग होकर युगपत् पार्थिव और जलीय दोनों द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं, वहाँ द्वितीय संयोग मानना ही होगा, आपके मत में कारण और अकारण के संयोग से कार्य और अकार्यक का संयोग माना जाता है।

अवयवी भी कोई प्रमाणित नहीं होता, जिसका परमाणुओं से आरम्भ(उत्पाद)किया जाता। यह जो अनुमान किया था "घट, एक स्थूल तथा नील है—यह प्रमा बाह्य वस्तु को विषय करती है"। वह भी युक्त नहीं; क्योंकि जिन अवयवों को आप आरम्भक मानते हैं, उन्हीं में एकत्व, स्थूलत्वादि की प्रतीति बन जाने से अर्थान्तरता होती है। अनेक अवयवों में एकत्वप्रतीति अनुपपन्न है—यह बात भी नहीं; क्योंकि सभी तन्तु, आच्छादनरूप एक प्रयोजन का निष्पादन करते हैं; अतः उन बहुत तन्तुओं में भी एकत्व-प्रतीति वैसे ही बन जायगी; जैसे कि बहुत वर्णों में एक गोत्वादि रूप अर्थ-प्रत्यायकत्व रहने के कारण एकपदत्व की प्रतीति होती है। कम्पाकम्प, आवरणानावरण, रक्तत्वारक्तत्वरूप विरुद्ध धर्मों का संसर्ग होने से अवयवी में एकत्व नहीं बन सकता। यह जो कहा

ऽतथात्वम्; तथात्वे सति युतसिद्धिप्रसङ्गात्। न च युतसिद्धेरनिरुक्तिः; घटपटयोरिव द्रव्ययोः समवायायोग्यत्वस्य युतसिद्धिपदेनाभिलापात्। न च युतसिद्धत्वे भागभागिव्यवहारगोचरत्वानुपपत्तिः; पदवाक्यादिवदुपपत्तेः। यत्तूक्तं नावयविनोऽवययानां वा रक्तत्वम्, किंतु महारजनादिद्रव्यस्यैव तत्संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वादेव रक्तारक्तत्वव्यवहारो विभागश्च सिद्ध्यतीति, तदसत्; अव्याप्यवृत्तित्वस्यानिरुक्तेः। तत्किं प्रदेशवृत्तित्वम्? उत स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम्? नाद्यः, आरम्भकप्रदेशातिरेकेणावयविनः प्रदेशान्तराभावात्। प्रदेशवृत्तित्वे संयोगस्य, अवयविनः सर्वत्र संयोगानधिकरणत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशतद्वतोर्भिन्नत्वात्। न द्वितीयः; भावस्य स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे भावाभावविरोधोच्छेदप्र-

युतसिद्धत्वमेव विकल्पपूर्वं दूषितम्, तत्राह—न च युतेति। नात्र भेदादिर्युतसिद्धिरापादिता, घटपटयोर्द्रव्ययोर्यादृशी युतसिद्धिः समवायायोग्यत्वात्मिका सैवात्र चलाचलत्वादिनापादनीयेति, चलाचलयोरपि द्रव्यगुणयोस्तदयोग्यता नास्तीति द्रव्ययोरित्युक्तम्। इत्थमेव च युतसिद्धिरभ्युपेया भवतापि, इतरथा नित्यानित्यसाधारणयुतसिद्धेरभावात्, पृथगाश्रयाश्रयित्वस्य परमाण्वादिष्वभावात् पृथग्गतिमत्त्वस्य च गुणादावभावादननुगतिः स्यात्। नवानुगतनिमित्ताऽसंभवे साधारणशब्दता युक्ता। न चैवंविधयुतसिद्धिर्गुणादावपि शक्यप्रसञ्जना, कम्पादेस्तत्रापि समानत्वादिति वचनीयम्, इष्टत्वात्। नचाप्रमितस्य समवायस्य निषेधानुपपत्तिः; शुक्तिरजततादात्म्यवद् भ्रान्तिसिद्धस्यापि निषेधोपपत्तेः। एवं च यदाह किरणावलीकारः—'तस्माद्युतसिद्धिमजानन्नेव शब्दसिद्धिमात्रेण परो ध्वनयती'ति, तदात्मन्येव परावर्तितम्। ननु यदि युतसिद्धिस्तर्हि घटपटवदेव भागभागिव्यवहारो न स्यात् इति, तत्राह—न च युतसिद्धत्व इति। नहि पदादीनां वर्णादीनां वाऽयुतसिद्धिरस्ति, अथाप्यस्ति भागभाग्यादिव्यवहारः पञ्चावयवं वाक्यमित्यादिष्वेवमिहापीत्यर्थः। रक्तारक्तत्वयोरपि तदुक्तं परिहारमनूद्य दूषयति—यत्तूक्तमित्यादिना। संयोगस्याव्याप्यवृत्तितया हि तदधीनरक्तारक्तव्यवहारस्य व्यवस्था क्रियते, तदसत्, अव्याप्यवृत्तिताया दुर्निरूपत्वादित्याह—अव्याप्येति। कोऽयं प्रदेशः? किमारम्भकावयवव्यतिरिक्ताः केचिदवयवाः? किं वा त एव? आद्योऽसंभवीत्याह—नाद्य इति। द्वितीये प्राह—प्रदेशेति। प्रदेशेभ्य आरम्भकावयवेभ्यो विभिन्नोवयवी, तथाच प्रदेशवृत्तित्वेन संयोगस्य न क्वचिदप्यवयविनां संयोगित्वमिति द्रव्यत्वव्याहतिः। तस्य तद्व्याप्यत्वात्, कारणसंयोगस्य कार्यसंयोगोपजननियमाच्चेति भावः। भावस्येति। संयोगाख्यस्येत्यर्थः। किंचैवं सति रक्तत्वतदत्यन्ताभावयो-

था कि कम्प दूसरे अवयव में और अकम्प दूसरे अवयव में रहता है, अवयवी में कुछ भी नहीं। वह भी युक्त नहीं; क्योंकि अवयव में कम्पादि होने से अवयवी में कम्पादि नहीं होता, तब तो उनमें युतसिद्धि हो जायगी। युतसिद्धि का निर्वचन नहीं हो सकता—यह बात भी नहीं; क्योंकि घट पट के समान दो द्रव्यों में समवायायोग्यत्व का नाम युतसिद्धि है। अवयव और अवयवी में युतसिद्धि होने पर भी भाग-भागी (अवयवावयवी) व्यवहार उसी प्रकार बन जायगा, जैसे पद और वाक्य में। यह जो कहा था कि रक्तत्व न तो अवयवों में है और न अवयवी में; अपितु गेरू—आदि द्रव्यान्तर में है, उसका संयोग अव्याप्यवृत्ति होने से वस्त्र में रक्तत्वारक्तत्व-व्यवहार और विभाग बन जाता है। वह कहना युक्त नहीं; क्योंकि अव्याप्यवृत्तित्व का निर्वचन नहीं हो सकता। वह क्या प्रदेशवृत्तित्व है? या स्वात्यन्ताभावाधिकरण-वृत्तित्व? प्रथम पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि आरम्भक अवयवों को छोड़कर अवयवी के और कोई प्रदेश प्रसिद्ध ही नहीं। यदि आरम्भक अणुओं को ही प्रदेश मान कर उनमें संयोग की वृत्तिता मानी जाय, तब अवयव से अवयवी भिन्न होने के कारण द्व्यणुकादि अवयवी में संयोग का लाभ न होगा और असमवायिकारण के बिना कोई (कार्य) द्रव्य ही कैसे उत्पन्न होगा? द्वितीय (स्वात्यन्ताभावाधिकरण-वृत्तित्व) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि यदि भाव पदार्थ अपने अभाव के अधिकरण में रह जाय, तब तो भाव और अभाव का विरोध ही उच्छिन्न हो

सङ्गात् । प्रतियोगिसमानदेशकालत्वेऽत्यन्ताभावस्यान्योन्याभावत्वप्रसङ्गाच्च । न च नेदमिह नेदमिदमिति विलक्षणबुद्धिवेद्यत्वाद्भेदः ; असति प्रमेयवैलक्षण्ये बुद्धिवैलक्षण्यासंभवात् । न च प्रतियोगिनिष्ठानिष्ठत्वेन विशेषः ; तस्याभावप्रकरण एवापाकरणात् । किंचावयवेष्ववयवी व्यासज्य वर्तते ? यथा द्वित्वादि , किं वा प्रत्येकं परिसमाप्य ? यथा पराभिमता जातिः । आद्ये बहुत्वसंख्यादिवदेव समस्तावयवानामग्रहणे न गृह्येत । द्वितीये जातिवदेव पट इति प्रत्ययः प्रत्यवयवं स्यात्, तस्यैव च कार्यान्वयात् शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः ।

रेकस्मिन्नेवावयविनि वृत्तिरित्युक्तं भवेत्तथाच स एव दुरात्मा विरुद्धधर्माध्यासो दुरुद्धरः स्यात् । न भावाभावयोर्विरुद्धत्व किंतु तद्विशेषगोत्वादेरश्वत्वादाविति चेत्, नूनं पितृभ्यां शिक्षितोऽसि ! कथमन्यथा भावाभावयोर्विरोधमननुमन्य तदाघ्रातयोर्विरोधमनुमन्यसे ? अस्ति चात्राभाणकः 'पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि' इति । इममेव विरोधोच्छेदप्रसङ्गं बाधकं संयोगतदत्यन्ताभावयोरेकत्र वृत्तौ बाधकमपश्यते श्रीवल्लभाय व्याचक्षीत । किंच संयोगादेरत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वेऽन्योन्याभावतैवास्य स्यात्, स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणनिषेधत्वस्यान्योन्याभावलक्षणत्वादित्याह—**प्रतियोगीति** । अत्र लीलावतीकारेणेममेव दोषमाशङ्क्य समादधे 'नेदमिदं नेदमिहेति विलक्षणबोधवेद्यत्वात्' इति । तद्दूषयति—**न चेति** । न बुद्धिवैलक्षण्यमात्रमर्थसाधकम्, अतिप्रसङ्गात् , अपि त्वबाधितम् । नचेह तत्, लक्षणाद्यभावेन दुर्निरूपभेदत्वादित्यर्थः । ननु प्रतियोगिनिष्ठत्वमस्त्यत्यन्ताभावस्य, अन्योन्याभावस्य तु तन्नास्ति, नित्यत्वेन तु प्राक्प्रध्वंसयोर्व्युदास इत्ययमेवास्तु तयोर्विशेष इति, तत्राह—**न च प्रयोगीति** । प्रतियोगित्वानिरुक्तेर्यत्किंचित्प्रतियोगित्वस्वप्रतियोगित्वविवक्षयोरनुपपत्तेश्चेदमभावखण्डन एव निरस्तमित्यर्थः । यत्तु वृत्तिविकल्पेन दूषणं पूर्वपक्षावसरे उक्तम् , तदपि समर्थयते—**किंचेत्यादिना** । व्यासज्य परिसमाप्येत्यर्थः । आदिशब्दात्त्रित्वादित्रिपृथक्त्वादिसंयोगविभागाश्च गृह्यन्ते । **पराभिमतेति** । स्वपक्षे हि जातावेव व्यक्तीनां कल्पितत्वाद्वास्तवजातेरभावाच्चेत्यर्थः ? एतच्च द्वित्वादावपि समानम् । स्यादेतद्बहुत्व नाम त्रित्वाद्यभिधीयते तच्चापेक्षाबुद्धिजन्यम्, तथाच समस्ताश्रयग्रहणाभावेऽपेक्षाबुद्धिलक्षणनिमित्तकारणाभावात् बहुत्वमेव नास्ति कस्याग्रहणं दृष्टान्त्यते ? तस्मादयुक्तमिवैतत् यद्बहुत्वसंख्यावादति निदर्शनदानम् , मैवम् ; युक्तं चैतत् । नह्युत्पादिकापेक्षाबुद्धिरेव बहुत्वज्ञानमपितूत्पन्नायां पश्चाद्वाविज्ञानान्तरम्, तथा च तदर्थमप्याश्रयग्रहणमपेक्षणीयम् । यथाहुः—'आश्रयग्राहकैरिन्द्रियैर्घटत्वसंख्यादिज्ञानम्' इति । तथा च तदवस्थबहुत्वाग्रहणं शक्यं दृष्टान्तयितुम् । नच समस्तावयवग्रहणं क्वचिदपि संभवतीत्यग्रहणमेव नित्यमवयविनः स्यादिति भावः । प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तिपक्षे दोषमाह—**द्वितीय इति** । यथा हि प्रतिव्यक्ति गौर्गौरिति जातिः प्रतीयते, एवं प्रतितन्तु पटः पट इति प्रतीयेत, नचैवमस्तीत्यर्थः । ननु न शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्तिः, तत्तदवयवविशिष्टस्यैवावयविनः कार्यकरत्वो-

---

जायगा ॥ एवं जो अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी के देश-काल में रह जाता है, उसमें अन्योन्याभावत्व मानना पड़ेगा । यह जो लीलावतीकार ने (न्या० ली० पृ० ३८० पर) कहा है कि "इदमिदं न" और "इदमिह न"—इस प्रकार विलक्षण प्रतीतियों के आधार पर अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का अन्तर हो जायगा । वह कहना भी संगत नहीं ; क्योंकि विषय-वैलक्षण्य के बिना प्रतीति-वैलक्षण्य भी सम्भव नहीं । 'अत्यन्ताभाव, प्रतियोगिनिष्ठ होता है और अन्योन्याभाव प्रतियोगिनिष्ठ नहीं'—यह अन्तर भी नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि प्रतियोगित्वादि का निराकरण अभाव के निराकरण-प्रकरण में ही किया जा चुका है । दूसरी जिज्ञासा यह भी बनी है कि अवयवों में अवयवी, द्वित्वादि के समान व्यासज्य वृत्ति है ? या जाति के समान प्रत्येक में पर्याप्त ? प्रथम पक्ष मानने पर द्वित्व, बहुत्वादि संख्या के समान ही समस्त अवयवों का ग्रहण न होने पर अवयवी का ग्रहण नहीं होना चाहिए । द्वितीय पक्ष मानने पर वैसे ही प्रत्येक अवयव में पट की प्रतीति होनी चाहिए, जैसे प्रत्येक व्यक्ति में जाति की प्रतीति होती है । उसी में ही कार्य-जनकता मानी जाती है, अतः सींग से दूध

स्तनाद्यवयवविशिष्टस्यैव तत्तत्कार्यकरणत्वान्नातिप्रसङ्ग इत्यपि न वाच्यम्; यादृशसंस्थानेष्ववयवेष्ववयवी समवेत इष्यते, तेषामेव तत्तत्कार्यकरणत्वोपपत्तेरवयविनो वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। किञ्चावयविनः प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तौ कतिपयावयवनाशेऽपि जातिवदसाववतिष्ठेत। समवायिकारणमन्तरेण कथमवस्थानमिति चेत्; तर्हि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्तावपि सकलसमवायिकारणसहित एवावतिष्ठेत, तथा च शृङ्गेणापि स्तनकार्यप्रसङ्गः पूर्वोक्त एवानुवर्तते, तत्तदवयवविशिष्टस्यैव तत्र तत्र भावात्। प्रत्यवयवं निखिलावयवोपलम्भश्च स्यात्। तदित्थं वृत्तिविकल्पस्य परसिद्धव्याप्त्युपजीवित्वात्स्वसिद्धां परसिद्धां वेति विकल्पोऽनवसरदुःस्थ एव।

न च सर्वस्यास्य प्रसङ्गस्यावयविनः प्रमाणसिद्धावसिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधाश्रयासिद्धिदोषौ; यतः—

क्तैरिति, तत्राह—**स्तनादीति**। हेतुमाह—**यादृशेति**। यदि ह्यवयविनमभ्युपेत्यावयववैशिष्ट्यं प्रार्थ्यते, तर्हि तैरवयवैरस्तु तत्तत्कार्यनिर्वृत्तिः, कृतमितरेण, तत्र च पारिप्लवपरिहारायोक्तम्—**यादृशसंस्थानेष्विति**। अस्मिन्नेव पक्षेऽनिष्टान्तरं चाह—**किंचेति**। **जातिवदिति**। यथा कतिपयव्यक्तिनाशेपि व्यक्त्यन्तरमवलम्ब्य जातिर्जीवत्येवमित्यर्थः। स्यादेतत्, विषम उपन्यासः, नित्या हि जातिरतः कतिपयव्यक्तिनाशेपि युक्तं तस्या व्यक्त्यन्तरावलम्बनेनाप्यवस्थानम्। अत्र त्ववयवैरारभ्योऽवयवी, ततश्चैकतरनाशेपि समवायिकारणस्य तन्तुसंयोगलक्षणासमवायिकारणस्य च नाशात्कथमस्यावस्थानमिति शङ्कते—**समवायीति**। एवं तर्हि प्रत्यवयवं परिसमाप्य वृत्त्यवयविनः सकलसमवायिकारणमपि। प्रत्यवयवं वर्तेत, इतरथा समवायिकारणव्यतिरेकेण तत्र वृत्त्ययोगात्। तथाच शृङ्गेपि स्तनादिसमस्तावयवाः सन्ति, स्तनादावपि च शृङ्गादय इति पूर्वोक्तपारिप्लवो वज्रलेपायते इति परिहरति—**तर्हीति**। तत्रैव हेतुस्तत्तदवयवेति। दूषणान्तरं चाह—**प्रत्यवयवमिति**। यत्तु स्वपरमतयोर्व्याप्त्यसिद्ध्या विकल्पानुत्थनमुक्तं तद् दूषयति—**तदित्थमिति**। बहुत्वगोत्वादावित्यर्थः।

दूषणान्तरमप्यनूद्य दूषयति—**न च सर्वस्येति**। न दोषा इत्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**प्रमितत्वस्येति** श्लोकेन। सिद्धत्वे प्रमितत्वाभावापराधेनाश्रयत्वाभावादर्शनात्प्रमितत्वविशेषणं व्यर्थमतः सिद्धस्यैवाश्रयत्वं युक्तम्। ननु कल्पितश्चेदवयवी किमित्यवयवेष्वेव कल्प्यते, न पुनरन्यत्र ? शुक्तिरजतादिकल्पना-

---

निकलना चाहिए। यह जो इसका समाधान किया था कि स्तनादि-समवेत गौ में ही दुग्धादि कार्यजनन का सामर्थ्य माना जाता है। वह भी युक्त नहीं; क्योंकि जिन अवयवों में समवेत रहकर गौ में विभिन्न कार्योत्पादकता आती है, उन्हीं अवयवों में वह सामर्थ्य क्यों न मान लिया जाय? अवयवी मानना व्यर्थ है। यदि अवयवी प्रत्येक अवयव में पर्याप्तरूपेण रहता है, तब कतिपय अवयवों के नष्ट हो जानेपर भी जाति के समान ही उसे अवस्थित रहना चाहिए। यदि कहें कि अवयवरूप समवायिकारण के बिना उसकी स्थिति कैसे रहेगी? तब यह मानना होगा कि प्रत्येक अवयव में परिसमाप्त अवयवी अपने समस्त अवयवों (समवायिकारणों) के सहित रहता है। यदि ऐसा ही है, तब तो सींग से भी दूध उत्पन्न होने की आपत्ति पुनः प्राप्त होती ही; क्योंकि अब तो अपने स्तनादि सकल अवयव विशिष्ट गौ की स्थिति शृंगादि में मान ली। एवं प्रत्येक अवयव में सभी अवयवों की उपलब्धि भी होनी चाहिए। इस प्रकार वृत्ति-विकल्प में अपेक्षित व्याप्ति में जो स्वमत-सिद्धत्व और परमत-सिद्धत्व के विकल्प किये थे, वे भी नहीं उठते; क्योंकि आपके मत में प्रसिद्ध व्याप्ति के आधार पर ही उक्त विकल्पों का जन्म होता है।

यह जो दोष दिया था कि अवयवी के विषय में सभी अनिष्टापादक हेतु अवयवी की प्रमिति मानने पर बाधित और न मानने पर आश्रयासिद्ध होते हैं। वह भी सम्भव नहीं; क्योंकि हमारा

प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यात्सिद्धस्यैवाश्रयत्वतः ।
देहात्मतावन्नियमाल्लक्षणैश्च व्यवस्थितेः ॥३९॥

प्रसिद्धतामात्रेणाश्रयत्वोपपत्तौ प्रमाणविशेषणवैयर्थ्यात् । न चैवमवयविनः शशविषाणतुल्यता ; अपरोक्षप्रतीतिगोचरत्वेनार्थक्रियाकारितया च तद्वैलक्षण्यात् । न च कल्पनाकोशस्य निरङ्कुशप्रसरतयाऽतिप्रसङ्गः ; देहात्मभाववत्प्रतिनियमोपपत्तेः । न हि देहादावात्मभावः कल्पित इति घटादावपि कल्प्यते । न च कल्पितोऽपि सोऽर्थक्रियाकारीति भवति शुक्तिरजतादर्थक्रियाकारि । एवमनभ्युपगमे कथायामप्रवृत्तिरेव स्यात्, उभाभ्यां धर्मिणः प्रमाणसिद्ध-

---

वच्चानर्थक्रियाक्षमो वा किं न स्यादिति ? तत्राह—देहात्मतावन्नियमादिति । यथा देह एवात्मत्वं कल्प्यते, नतु घटादौ, तत्कस्य हेतोः ? अनुभवादेव । यथा च कल्पितत्वाविशेषेपि देहात्मत्वादेरेवार्थक्रियाक्षमत्वं न रजतादेरेवमत्रापीत्यर्थः । कथं तर्हि तत्त्वनिर्णयार्थं कथाप्रवृत्तिः ? नह्याभासवर्जनमनाभाससाधनदूषणस्वीकारं च विना कथाप्रवृत्तिः । इतरथा आभासप्रयोक्तुरिवानाभासप्रयोक्तुरपि पराजयः स्यादाभासप्रयोक्तुरपि चेतरवज्जयः स्यादिति, तत्राह—लक्षणैश्चेति । यद्यपि कल्पितत्वं समानम्, तथापि सत्तासत्ताभ्युपगमव्यतिरेकेणोभयसंप्रतिपन्नलक्षणस्वरूपमादायाभासानाभासव्यवस्थायां सिद्धाथमनाभासैर्व्यवहर्तव्यम्, आभासा वर्जनीयाः । एवं निर्वोढुर्विजयः, इतरस्य तु पराजय इति व्यवहारनियमबन्ध एव कथाङ्गम्, नतु धर्म्यादिसत्ता । इतरथाऽसद्वादिनां परस्परं जयपराजयाव्यवस्थापातात् । नचासत आभासानाभासद्वैविध्यं न घटत इति वचनीयम्, सत्त्वव्यतिरेकेणापि लक्षणवत्त्वतद्राहित्याभ्यामनाभासाभासव्यवस्थोपपत्तेः । तल्लक्षणरहितस्तद्वदवभासमानो हि तदाभासः । इतरथा सत्त्वाविशेषाद्भवतामप्याभासानाभासविवेकाभावापातादिति भावः । श्लोकं विवृणोति—प्रसिद्धतेति । देहात्मतावदित्येतद्विवृणोति—न च कल्पनाकोशस्येति । कोशो भाण्डागारम् । द्वितीयं नियमं विवृणोति—न च कल्पितोऽपीति । अथ किमित्यत्यन्तसत्त्वमेव नाश्रीयते इति ? तत्राह—एवमिति । अवश्यं तावत्सद्वादिना अनिर्वचनीयवादिनं प्रति सत एव कथाङ्गत्वमित्येतत्प्रसाधनायैवादासीनसदसत्त्वाभ्युपगमं किंचित्साधनमेकस्यां कथायामुररीकरणीयम् । इतरथा प्रथममेव मतिकर्दमे कथानारम्भप्रसङ्गात्, अनवतीर्णकथापथं प्रति च साधकबाधकप्रयोगायोगात् । तथा च कथान्तरेपि तादृश एव धर्म्यादित्वोपपत्तौ वृथा तदनुपयोगिसदसदादिकथेत्यर्थः । तदुक्तं श्रीहर्षकविभिः—

पूर्वसंबन्धनियमहेतुत्वे तुल्य एव नौ । हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥ इति ।

उत्तर यह है कि उक्त साधनों में केवल प्रतीति-सिद्ध अवयवी को आश्रय बनाया जाता है, इतने से ही आश्रयासिद्धि का वारण हो जाता है, उसमें प्रमितत्व मानना व्यर्थ है । देह में आत्मत्वारोप के समान सभी नियमों की उपपत्ति और लक्षणों के आधार पर सब व्यवस्था बन जाती है । अर्थात् अवयवी में प्रसिद्धतामात्र से काम चल जाता है, सिद्धि में प्रमाण विशेषण व्यर्थ है । 'प्रमाण-निरपेक्ष अवयवी तो शश-विषाण के तुल्य ही होगा'—यह नहीं कह सकते ; क्योंकि अपरोक्ष प्रतीति-विषयता और अर्थक्रिया-कारिता को लेकर शश-विषाण से विलक्षणता हो जाती है । यह जो कहा था कि कल्पना-कोश में क्या कमी है ? अवयवों से अन्यत्र ही अवयवी की कल्पना—जैसे अतिप्रसङ्ग होने लगेंगे । वह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि देह में आत्मभाव की कल्पना के समान ही व्यवस्था बन जायगी । यह तो नहीं होता कि देह में आत्मभाव कल्पित है, तो घटादि में भी कल्पना हो जाय । यह भी नहीं देखा जाता कि देह में कल्पित आत्मभाव, अर्थक्रिया-कारी (फल-साधक) है, तो शुक्ति-रजत भी अर्थक्रिया-सम्पादन करता हो । इस प्रकार की व्यवस्था न मानकर शास्त्रार्थ में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ; क्योंकि वादी और प्रतिवादी दोनों धर्मी को प्रमाण-सिद्ध नहीं माना करते ।

त्वेनानङ्गीकारात् । तवापि प्रतिपक्षस्य प्रमितावप्रमितौ च निषेधानुपपत्तेश्च । उभयवादिसंप्रतिपन्नलक्षणैरेव धर्मिहेतुदृष्टान्ततदाभासव्यवस्थोपपत्तौ सत्यत्वानङ्गीकारेऽप्यतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात् । एकस्यानेकवृत्तेरवयविनो निरासेनैव संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वसामान्यादयोऽपि परास्ता वेदितव्याः ।

संयोगादिस्वरूपानिरुक्तेश्च । तथा हि–(१) किमप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः ? (२) अनित्यः संबन्धो वा ? (३) जन्यत्वविशेषितो वा ? (४) अव्याप्यवृत्तित्वविशेषितो वा ? (५) द्रव्यासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयो वा ? सर्वथापि नोपपद्यते ।

अन्योऽन्यसंश्रयापत्तेरतिव्याप्तिप्रसङ्गतः ।
अव्याप्तेरजसंयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥४०॥

न तावदाद्यः ; अप्राप्तिशब्देन संयोगाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात् । संबन्धाभावविवक्षायां

आस्तां वायं वस्तुवृत्तविचारः । तेषु तेषु पूर्वपक्षेषु प्रतिषेधायानूद्यमानेष्वायुष्मतैव तावदेषा रीतिराश्रयणीया । नचारोपशस्त्रग्रहणम् ; अन्यत्राप्रमितस्य तवारोपेऽनारोहात् । अत्यन्तालीकस्य च नभोमलिनवदनुपादेयतयाऽपरोक्षप्रतिभासायोगादित्यभिप्रेत्याह—तवापि प्रतिपक्षस्येति । तुरीयं चरणं विवृणोति—उभयवादीति । अवयविन्युक्तन्यायं संयोगादिष्वप्यतिदिशति—एकस्येति । आदिशब्देन त्रित्वादि गृह्यते ।

अनवधिविधमप्यबोधविद्धैरणुधिषणैः अधिरोपिताणुभावम् ।
अनणुमतिनिरूपणं त्रिलोकीनिकरपरप्रकृतिं प्रणौमि विष्णुम् ।

इदानीं प्रसङ्गात्संयोगादिकमपि खण्डयति—संयोगादिति । न केवलमवयविवदनेकवृत्तित्वात्संयोगादेरनुपपत्तिः, स्वरूपानिरुक्तेश्चेति चार्थः । अत्र समवायनिवृत्तये चतुर्षु पक्षेष्वाद्यं विशेषणम्—द्रव्येति । द्रव्यं प्रत्यसमवायिकारणं यत् एतद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिः संयोगत्वाख्या तदधिकरणं वेत्यर्थः । रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिपरिहारायाद्यं विशेषणम् । सत्तामादाय द्रव्यकर्मणोरतिव्याप्तिपरिहाराय गुणत्वावान्तरजातीयग्रहणम् । तत्रैव वर्तमानावान्तरजातीय इत्येताभिधानेऽपि गुणत्वजातिमत्तया रूपादावेवातिव्याप्तिस्तद्व्यावृत्त्यर्थम् गुणत्वग्रहणम् । अनुपपत्तिहेतून् श्लोकेन संगृह्णाति—अन्योऽन्येति । अप्राप्तयोरित्यत्र किमप्राप्तशब्देन संयोगाभाववान् ? संबन्धाभाववान् वा विवक्ष्यते ? प्रथमे संयोगसिद्धौ लक्षणसिद्धिर्लक्षणसिद्धौ संयोगसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः, संयोगस्याद्याप्यसिद्धेरित्याह —अन्योऽन्येति । द्वितीये तन्तुपटादिसमवायेऽतिव्याप्तिः । उत्पत्तेः प्रागसंबद्धयोरेवावयवावयविनोः समवायसंबन्धेऽतिव्याप्तिः । समवायनित्यत्वेऽपि प्राक् तदीयत्वाभावेन तस्याप्राप्तयोः प्राप्तित्वादित्याह —अतिव्याप्तेति । प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थेषु च दूषणमाह—अव्याप्तेरजसंयोग इति । नह्यजसंयोगस्य विभुमात्रवर्तिनोऽनित्यत्वं जन्यत्वमव्याप्यवृत्तित्वं वा संभवति ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थः । पञ्चमे दूषणमाह—द्रव्यत्वादीति । संग्रहं विवृणोति—न तावदित्यादिना । आत्माश्रयग्रहणमन्योन्याश्रयस्याप्युपलक्षणम् । ननु माभूत्संबन्धिनः पटस्य

प्रतिपक्ष के प्रमित या अप्रमित होने पर आप भी उसका निषेध कैसे कर सकेंगे ? उभयवादी-सम्मत लक्षणों के आधार पर धर्मी, हेतु, दृष्टान्त और हेत्वाभासादि की व्यवस्था बन जाती है, सत्यत्व न मानने पर किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होता । एक अवयवी की अनेक में वृत्तिता का निराकरण कर देने से ही संयोग, विभाग, द्वित्व; द्विपृथक्त्व एवं सामान्यादि भी निराकृत हो जाते हैं ।

संयोगादि के स्वरूप का निरूपण भी नहीं हो सकता । यदि करें तो संयोग को क्या माना जाय ? (१) अप्राप्त द्रव्यों की प्राप्ति ? या (२) अनित्य सम्बन्ध ? या (३) जन्य सम्बन्ध ? या (४) अव्याप्यवृत्ति सम्बन्ध ? या (५) द्रव्यासमवायिकारण-वृत्ति गुणत्व की व्याप्य जाति का आश्रय ? सर्वथा अनुपपत्ति है ; क्योंकि अन्योन्याश्रय, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति—आदि दोष होते हैं और द्रव्यत्व का निरूपण भी नहीं हो सकता । प्रथम पक्ष में अप्राप्ति शब्द से संयोगाभाव की विवक्षा में आत्मा-

तन्तुपटयोः संबन्धेऽतिव्याप्तेः । न हि पटोत्पत्तेः प्राक्पटस्य तन्तुभिः संबन्धोऽस्ति, संबन्धिनः पटस्यैवाभावात् । समवायस्य नित्यत्वादसत्यपि संबन्धिनि स भवतीति चेत्; तर्हि पटस्य कारणेषु तन्तुषु सदा समवायात्प्रागपि सत्त्वप्रसङ्गः, तथा तन्त्वादीनामपि कारणानामिति न किंचित्कादाचित्कं स्यात् । अथापि कार्यविशेषितः प्राक् नास्तीति चेत् , तर्ह्यप्राप्तयोः प्राप्तिरिति सोऽपि संयोगः स्यात् । अप्राप्तयोः सतोरिति विशेषणादोष इति चेत् , न ; सदसतोः संबन्धासंभवेन सिद्धस्यैव पटस्य समवाय इत्यवश्याभ्युपेयत्वात् पूर्वदोषानतिवृत्तेः, अजसंयोगेऽव्याप्तेश्च । स एव नास्तीति चेत , न ; आकाशादिकमात्मना संयुज्यते संयोगित्वात् घटवदिति प्रमाणसिद्धत्वात् । न च मूर्तत्वादिरत्रोपाधिरस्ति ; व्यतिरेकासिद्धेः । यदमूर्तं तदात्मना न संयुज्यते यथा रूपमिति व्यतिरेकः, तत्र चासंयोगित्वस्यैवोपाधितया व्यतिरेकासिद्धेः । मूर्तत्वं चावच्छिन्नपरिमाणाधिकरणत्वम् , ततश्च परिमाणाधिकरणत्वेनैव व्याप्ति-

---

पूर्वम् भावः, तथापि तत्सम्बन्धस्य समवायस्य नित्यतया प्रागपि सत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—समवायस्येति । तत्र किं तन्तुपटविशेषित एव समवायः प्रागप्यस्ति ? किं वा स्वरूपेणैव ? नाद्यः ; कार्यसंसर्गस्य नित्यतापत्त्या कापिलमतानुमतिकलङ्कलेपापातादित्याह—तर्हीति । द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—अथापीत्यादिना । ननु तर्ह्यप्राप्तयोः प्राप्तिरित्येतावन्न लक्षणमपित्वप्राप्तयोः सतोः प्राप्तिरिति, तथाच किरणावलीकारः—'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' इति भाष्यं व्याचक्षाणः प्राह—'विद्यमानयोरप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः' इति । तथाच न पूर्वातिव्याप्तिः ; पटस्य विद्यमानत्वाभावादिति शङ्कित्वा पुनरपि तत्रैवातिव्याप्तिमापाद्याह—अप्राप्तयोरित्यादिना । एतेनैतदपि निरस्तं यथाहोदयनः—'समवायस्त्वप्राप्तयोर्न संभवत्येव जातेः संबन्धोऽस्येत्येककालतावगमात्' इति । अव्याप्तेरित्येतद्विवृणोति—अजसंयोग इति । अजसंयोगे समवायखण्डनावसरोक्तमेवानुमानं स्मारयति—आकाशादिकमात्मनेति । कृतोपपादनाश्च तत्रैवैते ग्रन्थाः । ननूक्तस्य पुनः कथनं वृथा, नाधिकार्थत्वात् । कस्तर्ह्यधिकोर्थः ? तमाह—मूर्तत्वं चेति ।

अय दोष और सम्बन्धाभाव की विवक्षा में तन्तु पट के सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होती है ; क्योंकि पट की उत्पत्ति से पूर्व पट के न होने से पट का तन्तुओं के साथ सम्बन्ध नहीं था । यदि कहें कि समवाय नित्य होने के कारण सम्बन्धी के न होने पर भी रहता है ; तब तो पट का अपने कारण तन्तुओं में सदा समवाय रहने के कारण, उत्पत्ति से पूर्व भी पट को वहाँ रहना चाहिए एवं तन्तु भी अपने कारण में सदा रहेंगे, अतः किसी कार्य में कादाचित्कत्व नहीं बनेगा । यदि कहें कि स्वरूपतः समवाय के रहने पर भी पटादि कार्य-विशेषित समवाय, पहले नहीं था ; तब तो अप्राप्तों की प्राप्ति बन जाने से संयोगरूप हो जायगा । यह जो उदयनाचार्य ने कहा है कि "विद्यमानयोरप्राप्तयोः संश्लेषः संयोगः" (किर० पृ० २२२) अर्थात् विद्यमान जो अप्राप्त द्रव्य, उनकी प्राप्ति का नाम संयोग है, अतः समवाय में अतिव्याप्ति नहीं होती । वह कहना भी उचित नहीं ; क्योंकि सत् और असत् का सम्बन्ध हो नहीं सकता, अतः विद्यमान पट का ही तन्तुओं में समवाय अवश्य मानना होगा, तब तो इस समवाय में संयोगत्वापत्ति दोष बना ही रहता है । नित्य संयोग में अव्याप्ति भी है । 'नित्य संयोग सिद्ध ही नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि "आकाशादि, आत्मा से संयुक्त होते हैं, संयोगी होने के कारण, जैसे—घट"—इस अनुमान प्रमाण से सिद्ध है (द्र० गत पृ० ३३४) । यहाँ मूर्तत्वादि उपाधि नहीं लगा सकते ; क्योंकि साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति न होने से साध्य-व्यापकता इसमें नहीं । अर्थात् "जो अमूर्त है, वह आत्म-संयोगी नहीं, जैसे रूप"—इस व्यतिरेक व्याप्ति में 'असंयोगित्व' उपाधि है (रूपादि दृष्टान्त में रहने से असंयोगित्व, आत्म-संयोगित्व के अभाव का व्यापक और आकाश में अमूर्तत्व के रहने पर भी असंयोगित्व नहीं अतः अमूर्तत्व का अव्यापक है) । अतः उक्त व्यतिरेक व्याप्ति सिद्ध नहीं । मूर्तत्व में पक्षेतरत्व रहने से उपाधित्व

सिद्धेरवच्छिन्नविशेषणस्य पक्षमात्रव्यावृत्तिप्रयोजनस्य पक्षेतरता । अत एव न द्वितीयतृतीयौ ; अजसंयोगाव्याप्तेः, क्रयादिजन्यस्वस्वामिसंबन्धादिष्वतिव्याप्तेश्च । तेषां जन्यत्वादनित्यत्वाच्च । नैते संबन्धाः, स्वत्वस्वामित्वादीनां द्विष्ठत्वाभावादिति चेत्, तत्किमिदानीं विशेषणविशेष्यभावोऽपि न संबन्धः ? तथा च सुव्याहृतं विशेषणविशेष्यभावसंबन्धादभावसमवाययोर्ग्रहणमिति । अपि चैवं समवायोऽपि संबन्धो न स्यात् ; घटः पटेन संयुक्तः पटश्च घटेनेतिवत्तन्तुषु पटः समवेतः पटे च तन्तवः समवेता इति तुल्यरूपव्यवहाराभावात् । तन्तुपटौ संबद्धावित्यस्त्येव व्यवहार इति चेत्, समं समाधानम् ; स्वस्वामिनौ संबद्धाविति व्यवहारात् । नापि चतुर्थः ; अजसंयोगाऽव्याप्तेः ; न हि निरवयवेषु नित्येषु सन्ति प्रदेशाः, यानव्याप्यायमेकदेशे वर्तेत । नापि पञ्चमः ; द्रव्यस्यासमवायिकारणानां जातेश्चानिरुक्तौ

अत्र हि परिमाणाधिकरणत्वमित्येतावतैव संयोगानर्हगुणादिव्यावृत्तेः पक्षीकृततत्तुल्यविभुद्रव्यमात्रव्यावर्तकावच्छिन्नविशेषणवत्त्वादयं पक्षेतर इत्यर्थः । अत एव एतस्य विवरणमजसंयोगेति । श्लोकोक्तामतिव्याप्तिं चाह—क्रयादीति । आदिशब्देन भृत्यस्वामिसंबन्धादयो गृह्यन्ते । तत्र लक्षणं च नयति—तेषामिति । समाना चेयं प्रथमेपि । स्वस्वाम्याधाराधेयादिषु विशेषणसंभवेपि संबन्धरूपविशेष्याभावादतिव्याप्तिपरिहारं शङ्कते—नैत इति । द्विष्ठत्वे चोभयत्राप्यविशिष्टबुद्ध्युत्पत्तिप्रसङ्गादिति भावः । तदिदमपसिद्धान्तेन दूषयति—तत्किमिति । किं चोभयत्र तुल्यबुद्ध्यजनकतयोभयनिष्ठत्वाभावेन स्वस्वाम्यादीनामसंबन्धत्वमभिमन्यमानस्य समावायोपि संबन्धो न स्यात्तस्यापि तदजनकत्वादित्याह—अपि चैवमिति । तुल्यरूपव्यवहारसद्भावं शङ्कते—तन्तुपटाविति । समाधानसाम्यमेवाह—स्वस्वामिनाविति । एतेन कार्यः संबन्धः संयोग इति लीलावत्यपि निरस्ता । अव्याप्यवृत्तिः संबन्ध इति चतुर्थपक्षमव्याप्त्या दूषयति—नापि चतुर्थ इत्यादिना । द्रव्यासमवायिकारणेत्यादिशिवादित्यमिश्रलक्षणं दूषयति—नापीति । द्रव्या-

भी नहीं बन सकता ; क्योंकि मूर्तत्व है—अवच्छिन्नपरिमाणाधिकरणत्व । साध्य के साथ उसकी व्याप्ति परिमाणाधिकरणत्वरूप से ही सम्भव है, परिमाण में ‘अवच्छिन्नत्व’ विशेषण केवल आकाशरूप पक्ष की व्यावृत्ति के लिए ही रखा गया है; अतः मूर्तत्व में पक्षेतरत्व अवश्य है । अत एव द्वितीय (अनित्यसम्बन्धः) और तृतीय (जन्यसम्बन्धः) लक्षण भी युक्त नहीं ; क्योंकि अजसंयोग में अव्याप्त हैं और भूमि-क्रयणादि से जन्य भूमि और देवदत्तादि के स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध में अतिव्याप्त भी हैं ; क्योंकि स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध अनित्य भी हैं और जन्य भी । यदि कहा जाय कि स्वत्व और स्वामित्व प्रत्येक में रहते हैं, द्विष्ठ नहीं, अतः सम्बन्ध ही नहीं बन सकते, इनमें अतिव्याप्ति क्यों होगी ? तो यह कहना उचित नहीं ; क्योंकि इस प्रकार तो आप विशेषण-विशेष्यभाव में भी सम्बन्धत्व का निराकरण कर देते हैं, अतः आपका सिद्धान्त ही भंग हो जायगा कि “विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध से अभाव और समवाय का ग्रहण होता है ।” दूसरी बात यह भी है कि इस प्रकार समवाय भी सम्बन्ध न रहेगा ; क्योंकि जैसे संयोग “घटः पटेन संयुक्तः, पटो घटेन संयुक्तः”—इस प्रकार समानरूप से संयुक्तत्व-प्रतीति का जनक होता है, वैसे समवाय नहीं ; कारण यह है कि “तन्तुषु पटः समवेतः”—इस प्रकार “पटे तन्तवः समवेताः”—यह व्यवहार नहीं होता । यदि कहा जाय कि “तन्तुपटौ सम्बद्धौ”—इस प्रकार व्यवहार तो होता है ; तब तो प्रकृत में भी “स्वस्वामिनौ सम्बद्धौ”—इस व्यवहार के बलपर स्वस्वामिभावादि भी सम्बन्ध सिद्ध होते हैं, उनमें से द्वितीय और तृतीय लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हटती । चतुर्थ (अव्याप्यवृत्तिसम्बन्धः) लक्षण नित्यजसंयोग में अव्याप्त है ; क्योंकि निरवयव आकाशादि में कोई प्रदेश तो हैं ही नहीं, कि जिन्हें व्याप्त न करके वह संयोग रह सके । पञ्चम (द्रव्यासमवायिकरणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयः) लक्षण भी असिद्ध है ; क्योंकि इसके घटक असमवायिकारण और जाति पदार्थों का निर्व-

तद्विशेषितलक्षणासिद्धेः। अपि च—

संयोगस्यापृथक्त्वेऽपि व्याहारव्यवहारयोः।
समवाय इवोत्थानाद्वृथा सामान्यकल्पना ॥४१॥

यथा तत्तत्संबन्धिनिरूपणाधीननिरूपणोऽपि समवायस्तत्र तत्रैको नित्यश्च, संयोगोऽपि तथा किं न स्यात्? तद्भेदव्याहारव्यवहारयोः समवायवदुपपत्तेः। तेन जातेरसंभवाद्गुणत्वावान्तरजातीय इतीदं लक्षणमेव न संभवति। नन्वन्यतरकर्मणोभयकर्मणा संयोगेन वा संयोगस्य जन्म, तथा च नित्यात्कारणत्रितयजन्यत्वं व्यावर्तमानं तस्य संयोगत्वमपि व्यावर्तयति तत्कथमजसंयोगसिद्धिरिति चेत्; हन्त! तर्हि कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महदिति महत्त्वस्य कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तावात्मादिषु तद् व्यावर्तमानं महत्त्वमपि व्याव-

---

निरुक्तेः प्रागेवोक्तत्वात्कर्मखण्डनसमये चाऽसमवायिकारणत्वस्य निरासात् गुणलक्षणखण्डनाज्जातिखण्डनाच्च तद्गर्भितमिदमपि लक्षणं खण्डितमित्यर्थः। इदानीं गुणत्वावान्तरजातिरित्यंशोऽप्यसिद्धस्तथाविधजातौ प्रमाणाभावादित्याह—अपि चेति। तत्र संयोगानेकत्वे सत्यनुगतव्यवहारान्यथानुपपत्तिः संयोगत्वसामान्यकल्पिका। अनेकत्वं च प्रत्यक्षाद्वा? घटसंयोगः पटसंयोग इति भिन्नशब्दप्रयोगाद्वा? बुद्धिभेदाद्वा? नाद्यः, तत्रासंप्रतिपत्तेः। द्वितीयतृतीययोः समवायवदेकत्वेऽप्युपाधिवशादन्यथासिद्धेरिति श्लोकेनाह—संयोगस्येति। श्लोकं व्याख्याय संयोगत्वखण्डनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयति—तेनेति। या त्वजसंयोगेऽव्याप्तिश्चतुर्थे पक्षेभूदीरिता, तत्र सिंहावलोकितेन परिहारं शङ्कते—नन्वन्यतरेत्यादिना। स्थिरेण चलस्य संयोगोऽन्यतरकर्मजः, यथा स्थाण्वादिना श्येनादेः, चलयोः संयोग उभयकर्मजन्यः, यथामल्लयोर्मेषयोर्वा, कारणाकारणसंयोगात्कार्याकार्यसंयोगः संयोगजः, तथा चोक्तकारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तं संयोगत्वं तद्व्यावृत्तौ व्यावर्तत इत्यजस्य संयोगत्वं व्याहतमित्यर्थः। संयोगविशेषस्य कारणत्रयजन्यत्वेन व्याप्तिर्न तु संयोगमात्रस्यातो न व्याहतिरिति प्रतिबन्दीग्रहणपूर्वकं परिहरति—हन्त तर्हीत्यादिना। क्वचित्कारणबहुत्वात्कार्ये महत्त्वमुत्पद्यते यथा त्र्यणुके, यथा वा समानपरिमाणप्रशिथिलावयवसंयोगवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्बहुतन्त्वारब्धे, क्वचित्कारणमहत्त्वात्। यथा त्र्यणुकादुपरितनेषु, यथा वा समानसंख्याकैरप्रचयवत्तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्स्थूलदीर्घतन्त्वारब्धे, तथा प्रशिथिलावयवसंयोगरूपप्रचयविशेषादपि क्वचि-

---

चन नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि गुणत्व-व्याप्य (संयोगत्व) जाति भी सिद्ध नहीं होती; क्योंकि संयोग को नाना न मानकर एक व्यक्ति मान लेने से भी समवाय के समान ही व्याहार (घट-संयोग, पट-संयोग—आदि भिन्न-भिन्न शब्द-प्रयोग) एवं व्यवहार (भिन्न-भिन्न प्रतीति) बन जायँगे, संयोग को अनेक मानकर उनमें संयोगत्व जाति की कल्पना व्यर्थ ही है। अर्थात् भिन्न भिन्न सम्बन्धियों से निरूपित समवाय जैसे एक तथा नित्य माना जाता है, उसी प्रकार संयोग भी क्यों न मान लिया जाय? भेद-व्यवहार समवाय के समान बन जायगा। इस प्रकार एक व्यक्ति मात्र-वृत्ति होने से संयोगत्व जाति सिद्ध नहीं होती, अतः गुणत्वावान्तर जाति-घटित लक्षण सम्भव नहीं। यदि कहें कि संयोग तीन प्रकार का ही होता है—अन्यतर कर्म-जन्य, उभय कर्म-जन्य और संयोग-जन्य। अर्थात् संयोगत्व व्याप्य है और कारणत्रितयजन्यत्व व्यापक है। नित्य संयोग में कारणत्रितय-जन्यत्वरूप व्यापक की निवृत्ति से संयोगत्वरूप व्याप्य की निवृत्ति होती है, फिर नित्य संयोग कैसे सिद्ध होगा? तब तो नित्य महत्त्व परिमाण भी सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि महत् परिमाण भी तीन कारणों से उत्पन्न होता है—द्व्यणुकादिगत बहुत्व संख्या से त्रसरेणु में, कपालादि कारणगत महत्त्व से घटादि में महत्त्व और प्रचय (शिथिल संयोग) से रूई—आदि में। इस प्रकार महत्त्वत्व व्याप्य और कारणत्रितय-जन्यत्व, व्यापक ठहरता है। नित्य महत्त्व में कारणत्रितय-जन्यत्व न

र्तयेत्! तथा संयोगे संबन्धत्वमनित्यत्वेन व्याप्तमिति समवायस्यापि संबन्धस्य नित्यता न स्यात्। ज्ञानस्य चास्मदादिषु शरीरेन्द्रियादिसाधनाधीनत्वादीश्वरे तद्विरहिणि तद् व्यावर्तेतेति भवतैव स्वसमयः सकलोऽपि व्याकुलीकृतः स्यात्। अथ कारणनिवृत्त्या कार्यस्य निवृत्तिर्न नित्यस्य अव्यापकनिवृत्तावव्याप्यनिवृत्तेरयोगादित्युच्येत ; तदितोऽपि दीयतां दृष्टिः। तस्मान्न संयोगः संभवी।

नापि विभागः। स हि प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिः ? किं वा संयोगविरोधी गुणः ? अथवा संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिदिग्वृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयः ? सर्वथापि न घटते।

न्महत्त्वमुत्पद्यते, यथा समपरिमाणैः समसंख्यैश्च तन्तुभिरारब्धयोः पटयोरन्यतरस्मिन्, तथा चैतेषु कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तमिति नित्येष्वात्मादिषु महत्त्वं न स्यादित्यर्थः। स्थलान्तरयोरपि प्रतिबन्दिद्वयं सुबोधेन ग्रन्थेन गृह्णाति—**तथेति**। विशेषमादर्शयन् प्रतिबन्दीमाभासयति पूर्ववादी—**अथेति**। कारणनिवृत्त्या या निवृत्तिः सा कार्यस्यैव, तस्य तेनैव व्याप्तेः, न नित्यस्य, तस्य तेनाव्याप्तेः। तथापि निवृत्तावतिप्रसङ्गादित्यर्थः। नायं विशेषः—अस्मत्पक्षेऽप्यस्य समानत्वादतो नाभासः प्रतिबन्दीति परिहरति—**तदितोपीति**। तर्हि इतोप्यत्रापीत्यर्थः।

संयोगत्वनिरासे तद्गर्भलक्षणभाषिणौ। वित्रासितौ सर्वदेववादिवागीश्वरावपि ॥

गुणत्वावान्तरजात्या द्रव्यासमवायिकारणजातीयः संयोग इति प्रमाणमञ्जरीकारः। घटजनकतदवयवनिष्ठगुणत्वावान्तरजातीयः संयोग इति च मानमनोहरकारः। अनित्यः संबन्ध इति च तदीयं लक्षणं पूर्वमेव दूषितम्।

यथाप्रतिज्ञं विभागं दुर्निरूपयति—**नापीति**। तत्र प्रशस्तपादसर्वदेवशिवादित्यमिश्रकक्षीकृतलक्षणान्युद्भावयति—**स हि प्राप्तिपूर्विकेत्यादिना**। विन्ध्यमेर्वोः संयोगाभावोऽप्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्तये प्राप्तिपूर्विकेति विशेषणम्। संयोगविरोधित्वं संयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरप्यस्तीति गुणग्रहणम्। बुद्ध्यादिव्यावृत्त्यै संयोगग्रहणम्। **संयोगावृत्तीति**। गुणत्वावान्तरजातीय इत्युक्ते रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिस्तदर्थं जातिरेव विशेषणद्वयेन विशेष्यते। दिग्वृत्तिर्यो गुणस्तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदधिकरणमित्यर्थः। तेन रूपादयो व्यावर्तिताः, रूपत्वादीनां तदभावात्। तथापि संख्यापरिमाणपृथक्त्वेष्वतिव्याप्तिस्तज्जातीनामपि तथात्वादत उक्तमनित्यमात्रवृत्तीति। नहि संख्यात्वादिजातिरनित्यमात्रे वर्तते, एकत्वैकपृथक्त्वयोर्नित्यवृत्तिनोः परममहत्त्वस्य च नित्यतया तज्जातेरपि नित्यवृत्तित्वात्। तथापि संयोगेऽतिव्याप्तिः, संयोगत्वजातेरेवंभूतत्वादत उक्तं संयोगावृत्तीति। संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिजातीय इत्युक्ते घटादावतिव्याप्तिस्तदर्थं गुणत्वावान्तरपदम्। गन्धत्वादिनिवृत्त्यै दिग्वृत्तिवृत्तीति पदम्। गुणत्वावान्तरत्वं च गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वम्,

---

रहने से महत्त्वत्व भी कैसे रहेगा ? इसी प्रकार संयोग में सम्बन्धत्व व्याप्य और अनित्यत्व व्यापक देखा गया है, फिर तो समवाय में सम्बन्धत्व के रहने पर अनित्यता ही रहेगी, नित्यत्व न रह सकेगा। एवं जीवों में ज्ञान सदैव शरीर इन्द्रियादि साधनों से जन्य देखा गया है, अतः ईश्वर में शरीरादि साधनों के न होने से ज्ञान भी न रह सकेगा। इस प्रकार तो आप अपने समस्त सिद्धान्त को ही अस्त-व्यस्त कर डालेंगे। यदि कहें कि कारण की निवृत्ति से सदैव कार्य की निवृत्ति होती है, नित्य की नहीं ; क्योंकि अव्यापक की निवृत्ति से अव्याप्य की निवृत्ति नहीं होती। तब इधर भी दृष्टिपात कीजिए कि कारणत्रितय-जन्यत्व, नित्य संयोग में न रहने से संयोगत्व का व्यापक ही नहीं, फिर उसकी निवृत्ति से संयोगत्व की क्यों निवृत्ति होगी ? अतः संयोग का लक्षण सम्भव नहीं।

विभाग का लक्षण भी सम्भव नहीं। उसे क्या कहा जाय ? प्राप्तिपूर्वक अप्राप्ति ? या संयोगविरोधी गुण ? या संयोगावृत्ति, अनित्यमात्र-वृत्ति, दिग्वृत्ति-वृत्ति, गुणत्वव्याप्यजाति का आश्रय? सर्वथा विभाग का लक्षण नहीं बनता ; क्योंकि आत्माश्रय, अतिव्याप्ति, अयोग, व्यभिचार, और विशेषणा-

आत्माश्रयादतिव्याप्तेरयोगाद् व्यभिचारतः ।
विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभागः प्रसिद्ध्यति ॥४२॥

तत्र न तावदाद्यः ; विकल्पासहत्वात् । अप्राप्तिशब्देन विभागोऽभिलप्यते ? किं वा संबन्धाभावः ? विभागाभिधाने त्वात्माश्रयत्वम्, उत्तरत्र संयोगप्रध्वंसेऽतिव्याप्तिः । न द्वितीयः ; विरोधशब्देन सहानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात्, वध्यघातकयोरेकाश्रयत्वस्य स्वेनैवाभ्युपगमात् । निवर्तकत्वविवक्षायां च तन्निवर्तकादृष्टेश्वरेच्छादावतिव्याप्तिः । समानाधिकरणो निवर्तको गुणो विवक्षित इति चेत्, न ; आत्ममनःसंयोगनिवर्तकादृष्टेऽतिव्याप्तेः । कर्मजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न ; तस्यापि तीर्थयात्रादिकर्मजन्यत्वात् । कर्मसमा-

---

तेन च द्वित्वत्वादिसामान्यानतिव्याप्तिः । दूषणानि संगृह्णाति—आत्माश्रयेत्यादिना श्लोकेन । प्राप्तिपूर्वकाऽप्राप्तिरित्यत्राप्राप्तिशब्देन विभागो वा संबन्धाभावो वा विवक्ष्यते, प्रथमे प्राह—आत्माश्रयादिति । उत्तरत्र संयोगप्रध्वंसेऽतिव्याप्तिरित्याह—अतिव्याप्तेरिति । द्वितीये दूषणमाह—अयोगाद्व्यभिचारत इति । अत्र हि विरोधशब्देन किं सहानवस्थानमभिमतम् ? निवर्त्यनिवर्तकत्वं वा ? आद्येऽसंभवः, वध्यघातकयोरेकाश्रितत्वाङ्गीकारात् । उत्तरत्र त्वदृष्टादावतिव्याप्तिरित्यर्थः । तृतीये दूषणमाह—विशेषणेति । संयोगस्य पूर्वमेव दूषितत्वाद्गुणजात्योरपि खण्डितत्वाच्च तद्विशिष्टलक्षणमप्यसंभवीत्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—तत्र न तावदित्यादिना । ननु न सहानवस्थानमत्र विरोधः, येनायोगोऽसंभवः स्यात्, किंतु वध्यघातकभावः । तथाच प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभाग इति भाष्यं व्याचक्षाणः किरणावलीकारः 'अप्राप्तिर्विरोधिगुण इत्यर्थः, अथ प्राप्तिः संयोगः, तेन सह किं देशकृतः कालकृतः स्वरूपकृतो वास्य विरोधः ? सर्वं चैतदनुपपन्नमित्यत उक्तं प्राप्तिपूर्विका' इत्येवं सहानवस्थानमेवापोढुं प्राह । तथाच प्राप्तेर्वध्यता विभागस्य घातकत्वं दर्शितम्, तेन संयोगघातको गुणो विभाग इति संक्षेप इति । तत्राह—निवर्तकत्वविवक्षायां चेति । व्याख्यानरीतिरेवेयं चतुरा, नतु रीतिमल्लक्षणमतिव्याप्तत्वादिति भावः । एतेन व्यभिचारतः इति पदं व्याख्यातम् । अत्र मानमनोहरकारः प्राह—'संयोगसमानाश्रयत्वे सति संयोगनाशको विभागः' इति । तदेतच्छङ्कते—समानाधिकरण इति । आत्ममनसोः संयोगस्य निवर्तकं यददृष्टं तच्च संयोगेन समानाश्रयमित्यतिव्याप्तिरित्याह—नात्मेति । अदृष्टेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तरं शङ्कते—कर्मसमानाधिकरण इति । अदृष्टस्य कर्मासामानाधिकरण्यं विभावात्मनि कर्माभावादित्यर्थः । कर्मणोप्यसिद्धेरित्युपलक्षणम्, अवयवविभागादुत्पद्यमानस्यावयविविभागस्य संयोगविरोधिनः कर्मसामानाधिकरण्याभावादव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथ किमिति संयोगाद्यधीनता कर्मनिरूपणस्य येन तदसिद्धावसिद्धिरस्येति ?

प्रसिद्धि दोष होते हैं। अर्थात् प्रथम (प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिः—वै० भा० पृ० ६७) लक्षण में 'अप्राप्ति' शब्द से विभाग विवक्षित है ? या सम्बन्धाभाव ? विभाग की विवक्षा में आत्माश्रय और सम्बन्धाभाव की विवक्षा करने पर संयोग-ध्वंस में अतिव्याप्ति होती है ; (क्योंकि संयोग-ध्वंस में भी संयोगरूप प्राप्तिपूर्वकत्व और सम्बन्धाभावत्व है)। द्वितीय (संयोगविरोधी गुणः–किर० पृ० २३३) लक्षण में 'विरोध' शब्द से सहानवस्थान की विवक्षा में लक्षण असम्भवी हो जाता है ; क्योंकि वध्य और घातक पदार्थों का सहावस्थान आप मानते हैं (इस प्रकार विभागरूप बाधक और संयोगरूप बध्य जब सहावस्थित होते हैं, तब उनमें सहानवस्थान सम्भव कैसे होगा ?)। 'विरोध' शब्द का निवर्तकत्व अर्थ मानने पर संयोग के निवर्तक अदृष्ट, ईश्वरेच्छादि में अतिव्याप्ति होती है । यदि कहें संयोगाधिकरण-वृत्ति निवर्तक गुण विवक्षित है ; तब भी आत्म-मनः संयोग के निवर्तक अदृष्ट में अतिव्याप्ति है । 'कर्म-जन्यत्व' विशेषण लगाने पर भी वही अतिव्याप्ति है ; क्योंकि अदृष्ट, तीर्थ-यात्रादि कर्म से जन्य होता है । 'कर्माधिकरण-वृत्ति संयोग-विरोधी गुण'—इतना लक्षण करने

नाधिकरणः संयोगविरोधी गुणो विभाग इति चेत्, न; संयोगविभागयोरसिद्धौ कर्मणोप्यसिद्धेः, संयोगविभागासमवायिकरणं कर्मेति कर्मलक्षणाङ्गीकारात्, संयोगस्य चासिद्धौ तद्विरोधित्वस्याप्यसिद्धेः, कर्मण एव च पूर्वसंयोगनाशकत्वोपपत्तौ विभागाभ्युपगमवैयर्थ्याच्च। कथं तज्जनकस्य तन्निवर्तकत्वमिति चेत्, मैवम्; प्राचीनकर्मजनितसंयोगस्योत्तरकर्मणा निवृत्तेः। नाङ्गुलिकर्मणस्तरुसंयोगनाशकत्वम्, व्यधिकरणस्य निवर्तकतायामतिप्रसङ्गादिति चेत्, न; स्वाश्रयाश्रितसंयोगस्यैव नाशकत्वेनातिप्रसङ्गाभावात्। विरोधिनः समानाधिकरणस्यैव नाशकत्वोपपत्तावसति बाधके यावत्संयोगवृत्तिसामानाधिकरण्यस्य सङ्कोचोऽनुपपन्न इति चेत्, न; उभयवादिसिद्धकर्मण एवान्वयव्यतिरेकवतस्तन्नाशकत्वोपपत्तौ गुणान्तरकल्पनागौरवस्यैव बाधकत्वात्।

तत्राह—**संयोगेति**। तथाच विभागसिद्धौ कर्मसिद्धिस्तत्सिद्धौ च विभागसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयतेति भावः। संयोगविरोधित्वप्रयुक्तयाप्यन्योन्याश्रयमाह—**संयोगस्य चेति**। यच्चेदं विभागस्य संयोगविरोधित्वं निवर्तकत्वरूपमभिमतं लक्षणावयवत्वेन तदेव तावदसिद्धम्, अन्यत एव संयोगनिवृत्तिसिद्धेरित्याह—**कर्मण एव चेति**। **प्राचीनेति**। येन हि कर्मणा संयोग उत्पन्नः, न तेन तस्य निवृत्तिरपितूत्तरकर्मणा। नच तदसिद्धिः, संयोगनाशकोत्तरप्रथमविभागजनककर्मणस्तवाप्यभिमतत्वादिति भावः। ननु न कर्मणः संयोगनाशकत्वसंभवः, तथा ह्यङ्गुलितरुसंयोगस्तावदङ्गुलितर्वोर्वर्तते, कर्म त्वङ्गुलिमात्रे तरुमात्रे वा वर्तते, तस्योभयावृत्तित्वात्तथा चैकत्र वर्तमानेन कथमुभयनिष्ठसंयोगनिवृत्तिः? व्यधिकरणत्वात्तथापि तथात्वेऽतिप्रसङ्गादेतदेव शङ्कते—**नाङ्गुलीति**। यद्यप्यन्यतरनिष्ठेन कर्मणोभयनिष्ठसंयोगस्य न सर्वात्मना सामानाधिकरण्यम्, तथाप्यन्यतराधिकरणमादायास्ति सामानाधिकरण्यम्। तथाच तदाश्रितसंयोगनिवर्तकत्वेऽप्युभयनिष्ठसंयोगोऽर्थान्निवर्तते। नाप्यतिप्रसक्तिरिति परिहति—**न स्वाश्रयेति**। तत्र सामानाधिकरण्यं चेदवश्यं मन्तव्यम्, तर्हि सर्वथा सामानाधिकरण्यमप्युत्सर्गप्राप्तं नासति बाधके शक्यत्यागम्। तथाचोभयनिष्ठो विभाग एव स्वीकर्तव्यः, न कर्म, अतादृशत्वादिति श्रीवल्लभस्तदुद्भावयति—**विरोधिन इति**। असति बाधक इत्यसिद्धिः, गौरवस्य बाधकत्वादिति परिहरति—**उभयेति**।

पर अन्योन्याश्रय दोष है; क्योंकि संयोग और विभाग की सिद्धि न होने पर संयोग विभाग के असमवायिकारणभूत कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती और संयोग की असिद्धि होने से संयोग-विरोधित्व भी असिद्ध होता है। एवं कर्म ही जब पूर्व संयोग का नाशक हो सकता है, तब विभाग गुण मानना व्यर्थ है (द्र० न्या० ली० पृ० ८५०)। 'संयोग-जनक कर्म ही संयोग का निवर्तक कैसे होगा'—यह सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि पूर्व कर्म से जनित संयोग की निवृत्ति उत्तरभावी कर्म से हो सकती है। यदि सन्देह हो कि अँगली की क्रिया से अँगली का संयोग तो नष्ट हो सकता है, किन्तु अँगली की क्रिया से तरु-संयोग का नाश कैसे होगा? कर्म अन्यत्र हो और उससे अन्यत्र संयोग-नाश हो—यह सम्भव नहीं। तो यह सन्देह उचित नहीं; क्योंकि कर्म को स्वाश्रय-वृत्ति संयोग का नाशक मानने पर किसी प्रकार का अतिप्रसंग नहीं होता। (अर्थात् यद्यपि निवर्त्य संयोग के अधिकरण अँगली और वृक्ष दोनों हैं और कर्म उभयत्र नहीं, तथापि अँगली में सामानाधिकरण्य हो जाने से ही उनमें निवर्त्यनिवर्तकभाव बन जायगा)। न्याय लीलावतीकार ने (न्या० ली० पृ० ८५० पर) यह जो कहा है कि हमारे मत में संयोग-विरोधी विभाग पूर्णतया समानाधिकरण है, किन्तु आपका कर्म ऐसा नहीं, वह केवल अँगली में है, अतः विभाग को ही संयोग-नाशक मानना चाहिए। वह कहना भी संगत नहीं; क्योंकि उभय-सम्मत कर्म में ही जब अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर संयोग-नाशकत्व बन जाता है, तब गुणान्तर-कल्पना का गौरव क्यों किया जाय?

न च विभक्तप्रत्ययादेव तत्सिद्धौ कल्पनैव नास्तीति वाच्यम्; हिमवद्विन्ध्ययोरिव संयोगाभावमात्रादेव विभक्तप्रत्ययोपपत्तेः। ननु स्फुटद्वेणुदलशब्दात्तदसमवायिकारणतया विभागोऽवगम्यते, स हि न वंशदलद्वयसंयोगनाशापेक्षवंशदलाकाशसंयोगजन्यः, संयोगजन्यस्य

ननु न कल्प्यते सः, येन गौरवं दोषाय, अपि तु विभक्त इति प्रत्यक्षादेव तत्सिद्धिरिति, तत्राह—न चेति। यथा हि—हिमवद्विन्ध्ययोः प्राप्तेरभावात्तत्पूर्विकाप्राप्तिरूपविभागाभावेऽपि संयोगाभावमात्रमादाय विभक्त इति प्रत्ययशब्दयोः प्रवृत्तिस्तद्वद्घटादावपि स्यादिति नेयं प्रतीतिस्तत्प्रत्यायिकेत्यर्थः। एतेन भाष्यकारोक्तं विभागे प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं मन्तव्यम्। मनोहरस्तु 'तादृशस्थले प्रतीतिरेव नास्तिः' शब्दप्रयोगस्तु गौणः इत्याह; तदसत्; एतादृशानुभवपरिहारपारिजातस्य प्रकृतेपि सुलभत्वात्। तात्पर्यटीकाकारकिरणावलीकारौ त्वङ्गुलिकर्मणोङ्गुलितरुसंयोगनाशकत्वमङ्गीकृत्यापि हस्ततरुसंयोगनाशानुपपत्त्या विभागं समर्थयामासतुः। तथा हि—हस्तादीनां निष्क्रियत्वान्न तद्गतकर्म तत्संयोगनाशकम्, नचाङ्गुलिगतं कर्मैव, तस्य हस्ततरुनिष्ठत्वाभावेनातिव्यधिकरणत्वात्। नचाङ्गुलितरुसंयोगनाशात्पाणितरुसंयोगनाशो भविष्यतीति वाच्यम्, कर्मजं करतरुसंयोगं प्रत्यङ्गुलितरुसंयोगस्याकारणत्वात्, अकारणनाशस्य विनाशकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। तस्मात्कर्मजनितविभागजविभागपरंपरया निष्क्रियकरशरीरतर्वादिसंयोगपरंपरा विनश्यतीत्यनिच्छन्नपि गलपादुकयाङ्गीकारयितव्य इति, तत्रापि स्वाश्रयेत्यादिग्रन्थेनैवोत्तरं देयम्। योजना तु स्वस्य कर्मणो य आश्रयोऽङ्गुल्यादिस्तदाश्रितश्च यो हस्तादिरवयवः तस्य यस्तर्वादिभिः संयोगस्तस्यैव नाशकत्वाश्रयणं वैयधिकरण्येऽप्यतिप्रसङ्गाभावादिति। अपि चात्रैतद्वक्तव्यम्—कथं हस्तादीनां निष्क्रियत्वावगम इति? हस्तस्याकम्पमानत्वादिति चेत्, नः; अङ्गुलिचलनमनु करचलनस्याप्यावश्यकत्वात्, तदितरावयवेषु चलनाभावादवयवी न चलतीति चेत्, किं समस्तावयवचलन एवावयविनि चलनोत्पत्तिः? ओमिति चेत्, हन्त समस्तावयवसंयोग एवावयविसंयोगोऽपीति न हस्तादेः संयोग एवास्ति कस्य विनाशाय विभागः कल्प्यते? तस्माद्यथावयवसंयोगानन्तरमवयविसंयोगनियमः एवं कर्मण्यपि। इयांस्तु विशेषः—तत्र संयोग एव संयोगान्तरोत्पादकः, अत्र तु तन्नास्ति, किंत्ववयवकर्मोत्पादकवदवयविन्यपि कर्मोत्पादकानि सन्ति। न ह्यस्ति संभववोऽवयवेषु गुरुत्वं द्रवत्वं संयोगो वा न पुनरवयविनीति, तस्मात्स्वकर्मणैव हस्तादिसंयोगोपि निवर्तते इति नानेन मिषेणापि विभागभिक्षुकस्य पादप्रसार इत्यलम्। ननु यद्यपि विभक्तप्रत्ययबलान्न विभागसिद्धिस्तथापि न कल्प्यत्वम्, शब्दलक्षणकार्येण तदनुमानात्। उक्तम् हि भाष्यकृता—'विभागः शब्दहेतुश्चेत्' इति। तत्र विभागस्यैवासंप्रतिपत्तेः यद्यपि न तेन कारणविभागानुमानं संभवति, तथापि शब्दात्तदनुमानं भवतीति लीलावतीकारः शङ्कते—नन्वित्यादिना। स्फुटतो वेणुकाण्डादुत्पद्यमानशब्दादित्यर्थः। तस्य विभागजत्वं परिशेषयति—स हीति। वंशदलद्वयस्य यः संयोगस्तन्नाशापेक्षो यो वंशदलस्याकाशस्य संयोगस्तज्जन्या न भवतीत्यर्थः। अत्र च निमित्ततयापि विभागाननुप्रवेशाय वंशदलद्वयसंयोगनाशापेक्षेत्युक्तम्। एष हि तेषामभ्युपगमः—वंशदलविभागान्निमित्तकारणाद्वंशदलाकाशविभागादसमवायिकारणान्महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथमः शब्द उत्पद्यते इति। तत्र वंशदलसंयोगनाश एव निमित्तकारणपि भवत्वित्यर्थः। कुतस्तेन न जन्यत इति? तत्राह—संयोगजन्येति। यः खलु संयोगासमवायिकारणकः शब्दः स संयोगनिमित्तकारणकोऽपि

यदि कहा जाय कि 'विभक्तः'—इस प्रकार की प्रतीति के आधार पर ही विभाग की सिद्धि है, उसकी कल्पना नहीं होती, जिससे कि गौरव दोष हो। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि हिमालय और विन्ध्याचल में विभाग न होने पर भी केवल संयोगाभाव के सहारे विभक्तत्व-प्रतीति हो जाती है, अतः उस प्रतीति से विभाग की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि शङ्का हो कि फटते हुए बाँस के शब्द से उसके असमवायिकारण का अनुमान हो जाता है। वह शब्द वंशदल और आकाश के संयोग से जन्य नहीं हो सकता, जो कि वंशदल-संयोग के नाश से उत्पन्न होता है; क्योंकि संयोग-

शब्दस्य संयोगनिमित्तकारणतोपलम्भात्, भेर्याकाशसंयोगजन्यस्य शब्दस्य भेरीदण्डसंयोगनिमित्तकतावदितिचेत्, न; वायुदलसंयोगनिमित्तकत्वोपपत्तेः। न च सर्वत्रातीन्द्रियवायुसंयोगकारणताप्रसङ्गः; भेरीदण्डसंयोगस्यान्वयव्यतिरेकवतः कारणतोपपत्तौ तत्कल्पनानुपपत्तेः। अन्यथा तवापि पलाशादौ शुकशुकशब्दो वेगवदनिलपलाशसंयोगनिमित्तो न स्यात्। कर्म संयोगातिरिक्तासमवायिकारणं संयोगातिरिक्तत्वे सत्यसमवायिकारणत्वाद्रूपवदिति मानमनोहरकारोक्तमनुमानमिति चेत्, न; कर्ममात्रपक्षीकारे वेगाख्यसंस्कारजनकतया सिद्धसाधनत्वात्। वेगाजनककर्मपक्षीकारे च सप्रतिसाधनता—कर्म संयोगातिरिक्तद्विष्ठगुणासमवायिकारणत्वात्यन्ताभावाधिकरणम्, संयोगासमवायिकारणत्वात् संयोगवदिति प्रतिप्रयोगात्। वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। विवर्तवादाश्रयणेन तैः कार्ये

दृष्टः। यथा भेर्याकाशसंयोगादसमवायिकारणादुत्पद्यमानशब्दस्य भेरीदण्डसंयोगो निमित्तम्, नचेह तथास्ति, तस्मान्नान्यथोपपत्तिरित्यर्थः। दूषयति—**न वायुदलेति**। अभ्युपगम्यते च वायुवंशदलयोः सयोगो निमित्तमित्यर्थः। नन्वेवं सति भेरीदण्डसंयोगस्यापि क्वचिन्निमित्तता न स्यात्, तत्रापि वायुदलसंयोगस्य सुवचत्वादिति, तत्राह—**न चेति**। तत्रान्वयव्यतिरेकौ स्तः, न चेह तथेति भावः। अथाप्यतीन्द्रियकल्पनैवातिप्रसञ्जिकेति ब्रूयात्तं प्रत्याह—**अन्यथेति**। पलाशः पत्रम्, शुकशुकेति शब्दानुकारः। एतेनैतन्निरस्तम्, यदाह श्रीवल्लभः—'तस्य स्पर्शादिगम्यतया तदनुलब्धेरभावावधारणात्' इति, शब्दोपलम्भस्यापि तथात्वात्। एवं भाष्यकाराद्यभिमतमनुमानं दूषयित्वा मनोहरीयमनुमानं दूषयितुमुद्भावयति—**कर्मेति**। संयोगेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै संयोगातिरिक्तेत्युक्तम्। संयोगजनकसंयोगेऽनैकान्तिकतानिवृत्त्यै हेतावपि विशेषणम्, द्रव्येऽतिव्याप्तिपरिहारायासमवायिकारणत्वादित्युक्तम्। यत्तत्संयोगातिरिक्तं स विभागः, अन्यस्याऽसंभवादित्यर्थः। अत्र किं कर्ममात्रं पक्षः? किं वा वेगाजनकं कर्म? आद्ये प्राह—**कर्ममात्रेति**। द्वितीये प्राह—**वेगेति**। प्रतिसाधनमेव दर्शयति—**कर्मेति**। संयोगजनकत्वेन बाधपरिहाराय संयोगातिरिक्तेत्युक्तम्। तथापि वेगजनकत्वाद्बाधः स्यात्तदर्थं द्विष्ठग्रहणम्। द्रव्यविशेषासमवायित्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै गुणग्रहणम्। स्वविषयज्ञानजनकतया बाधपरिहारार्थमसमवायिकारणेत्युक्तम्। विभागजनकत्वेनार्थान्तरतापरिहारार्थमत्यन्ताभावग्रहणम्। द्वित्वाद्यसमवायिकारणैकत्वादावनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ संयोगग्रहणम्। अथ कथं वेदान्तिनं प्रति साध्यविफलता? यावता तेनापि कार्ये रूपादि स्वीक्रियते एव, तत्राह—**विवर्तेति**। सत्यम्; अर्थघटादिकार्येऽपि रूपं स्वीक्रियते एव न तु तद्रूपान्तरम्, तस्य कारणविवर्ततया ततोन्यत्वेनाप्यनिर्वच-

जन्य शब्द का निमित्तकारण भी संयोग ही हुआ करता है, जैसे कि भेरी और आकाश के संयोग से जन्य शब्द का निमित्तकारण भेरी और दण्ड का संयोग होता है। तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि प्रकृत में भी वायु और वंशदल का संयोग निमित्तकारण बन सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि सर्वत्र अतीन्द्रिय वायु का संयोग ही कारण होगा, किन्तु जहाँ अन्वय-व्यतिरेक, भेरी-दण्ड-संयोगादि में गृहीत है, वहाँ वे ही कारण रहेंगे। अन्यथा (वायु-संयोग को कहीं भी कारण न मानने पर) आपके मत से भी पत्तों में होने वाले सूँ-सूँ शब्द का भी निमित्तकारण वायु और पत्ते का संयोग नहीं होगा। यह जो मानमनोहर का अनुमान-प्रयोग है—"कर्म संयोग से अतिरिक्त का भी असमवायिकारण है, संयोगातिरिक्त होकर असमवायिकारण होने से, 'जैसे—रूप।" इस अनुमान में कार्यमात्र को पक्ष बनाने पर वेगाख्य संस्कार की असमवायिकारणता लेकर सिद्ध-साधनता होती है। वेगाजनक कर्म को पक्ष बनाने पर सत्प्रतिपक्षितता होती है—"कर्म संयोग से अतिरिक्त द्विष्ठ गुण का असमवायिकारण नहीं होता, संयोग का असमवायिकारण होने से, जैसे—संयोग'। एवं वेदान्ती के पति दृष्टान्त में साध्यविकलता भी है; क्योंकि वेदान्ती विवर्तवादी हैं। उनके मत से कार्य

गुणान्तरमनभ्युपगच्छद्भिः कारणगुणानां कार्ये गुणासमवायिकारणत्वानङ्गीकारात्। नापि तृतीयः; विशेषणाप्रसिद्धेः।

संयोगस्य निरस्तत्वाद् गुणानामनिरूपणात्।
जातेश्च दुर्निरूपत्वात् स्यादसंभवि लक्षणम् ॥४३॥

नापि द्वित्वं संभवति। तत्किमिमौ द्वाविति प्रत्यक्षतः सिद्ध्येत्? उतानुमानतः? नोभयथापि—

प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः स्यादेकत्वसमुच्चये।
अनुमाप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्यदूषिता ॥४४॥

इमौ द्वाविति प्रत्यक्षं तावदेकैकसमुच्चयविषयतयाप्यन्यथोपपद्यमानं नापरं द्वित्वमवगमयितुमर्हति। ननु समुच्चयमात्रविषयमिदं प्रत्यक्षम्? तद्विशेषविषयं वा? नाद्यः; तस्यावैचित्र्ये द्वित्वत्रित्वादिव्यवहारवैचित्र्यविरोधात्। नापि द्वितीयः; विकल्पानुपपत्तेः। स हि समुच्चितैकत्वभेदाद्वा? तद्गतधर्मभेदाद्वा? न प्रथमः; एकतायाः सर्वत्र तुल्यत्वात्। न चरमः; आरोपितस्य वा, पारमार्थिकस्य वा द्वित्वत्रित्वादेरनङ्गीकरणे तद्गतधर्मभेदासिद्धेरिति चेत्,

---

नीयत्वादित्यर्थः। संयोगावृत्तीत्यादिलक्षणविशेषणाप्रसिद्धिमुक्त्वा श्लोकेन विवृणोति—**संयोगस्येत्यादिना**।

अथ प्रतिज्ञातं द्वित्वं दूषयति—**नापीति**। लक्षणं तस्य खण्डयिष्यते। प्रमाणं तावद् दूषयति—**तत्रैकादिव्यवहारहेतुः संख्येति**। भाष्ये व्यवहारशब्देन ज्ञानाभिधानात्, 'एकं द्वे त्रीणीत्यादिप्रत्यक्षविषयः संख्या' इत्युदयनादिभिरभ्यधायि। अपरैः 'द्व्यणुकपरिमाणमसमवायिकारणजन्यं भावकार्यत्वात्कटवत्' इत्यनुमानमगायीति। तदुभयमपि विकल्प्य दूषयति—**तत्किमित्यादिना**। एकत्वसमुच्चय एव विषये प्रवर्तमानतयेमौ द्वाविति प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिरनुमानमप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्याभ्यां दूषितं स्यादिति श्लोकं विवृणोति—**इमावित्यादिना**। तत्र लीलावतीकारेण द्वाविति प्रत्यक्षस्यैकत्वसमुच्चयाविषयत्वमुपपादितमुद्भावयति—**नन्विति**। **तस्यावैचित्र्य इति**। एकत्वसमुच्चयमात्रस्य द्वित्वादिव्यवहारस्थले विशेषाभावाद्व्यवहारविशेषो न स्यादित्यर्थः। समुच्चयविशेषविषयमिति द्वितीयपक्षेपि समुच्चेतव्यैकत्वस्वरूपकृतविशेषाद्वा? तदाश्रितद्वित्वत्रित्वादिधर्मविशेषाद्वा? नोभयमपीत्याह—**विकल्पेति**। प्रथमे खल्वसिद्धिः, नह्येकत्वस्वरूपे विशेषोस्ति तादृशो येन द्वित्वादिविलक्षणव्यवहारः स्यादित्याह—**एकताया इति**। द्वितीये त्विष्टसिद्धिः, तस्यैव विशेषस्य द्वित्वत्वेनेष्टेरित्याह—**न चरम इति**। **आरोपितस्येति**। एकत्वसंख्याया गुणत्वेन द्वित्वादेर्गुणस्य तत्र वृत्त्ययोगात्। **पारमार्थिकस्येति**। संख्यायाः पदार्थान्तरत्ववाद्यभिप्रायेण,

---

में गुणान्तर उत्पन्न न होने से कारणगत गुण कार्यगत गुणों के असमवायिकारण नहीं माने जाते। तृतीय (संयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिदिग्वृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयः) लक्षण में संयोगावृत्ति—आदि विशेषण अप्रसिद्ध है; क्योंकि संयोग का निरास हो चुका है, गुणों का तथा जाति का निरूपण नहीं हो सकता, अतः उक्त लक्षण असम्भव है।

द्वित्व की भी सत्ता संभव नहीं। द्वित्व क्या (१) प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है? या (२) अनुमान से? दोनों प्रकार से नहीं हो सकता; क्योंकि (१) 'इमौ द्वौ'—यह प्रत्यक्ष एकत्व के समुच्चय को विषय कर लेने से सिद्ध हो जाता है और अनुमान में आश्रयासिद्धि, साध्य-विकलतादि दोष हैं। अर्थात् "इमौ द्वौ"—यह प्रत्यक्ष यदि द्वित्व के बिना उत्पन्न न होता, तब उसका गमक हो सकता था। किन्तु वह एकत्व के समुच्चय से ही गतार्थ हो जाता है। यहाँ यह शङ्का होती है कि उक्त प्रत्यक्ष ज्ञान, समुच्चयमात्र को विषय करता है? या समुच्चयविशेष को? (द्र० न्या० ली० पृ० ३५३) प्रथम पक्ष मानने पर द्वित्व त्रित्वादि व्यवहारों में अन्तर नहीं होना चाहिए; क्योंकि एकत्व का समुच्चयमात्र तो सर्वत्र समान ही है। द्वितीय पक्ष मानने पर वह (द्वित्व त्रित्वादि-

मैवम्; द्वित्वत्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिविषयेऽपि विकल्पसाम्यात्। अपेक्षाबुद्धेरेकत्वगुणसमुच्चयमात्रविषयत्वे द्वित्वत्रित्वादिसंख्याभेदोत्पादकता न सिद्ध्येत्, समुच्चयस्य सर्वत्राविशेषात्। आरोपितद्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालम्बना बुद्धिर्द्वित्वादिजनिकेतिचेत्, न; तथाभूताया एव बुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात्। आरोपितस्यानारोपपूर्वकत्वनियमाद्द्वित्वादेः क्वचित्सत्यतापत्तिरितिचेन्, न; शुक्तिरजतादिसंसर्गवत्क्वचित्सत्यताऽभावेऽपि भ्रान्तिविषयत्वोपपत्तेः।

तमिममाक्षेपं प्रतिबन्द्या परिहरति—मैवमित्यादिना। एवं हि भवतां द्वित्वोत्पत्तिवर्णनम्—प्रथमं द्रव्यद्वयगतं यदेकत्वसंख्याद्वयं तद्विषयं ज्ञानमेकमेकमुत्पद्यते सापेक्षाबुद्धिर्नाम निमित्तकारणं तदपेक्षं चैकत्वसंख्याद्वयमसमवायिकरणं स्वाश्रयद्रव्यद्वयं समवायिकारणं द्वित्वमुत्पादयति, एवं त्रित्वादिष्वेकत्वत्रयादीति। तदत्र येयमपेक्षाबुद्धिस्तस्याः किमेकत्वसमुच्चयमात्रं विषयः? किं वा तद्विशेषः? नाद्यः; तादृशबुद्धेः सर्वत्र समानतया द्वित्वत्रित्वादिपारिप्लवापत्तेः। नापि द्वितीयः; समुच्चितैकत्वस्वरूपकृतविशेषाभावात्। धर्मान्तराभ्युपगमेऽप्यनारोपितम्? आरोपितं वा? नाद्यः; द्वित्वानवस्थाप्रसङ्गात्, उत्तरोत्तरद्वित्ववैयर्थ्याच्च। विषयवैचित्र्याभावेपि स्वभाववैचित्र्याद्विचित्रकार्यजनकत्वमिति चेत्, न; अतिप्रसङ्गापत्तेः। तस्मादारोपितद्वित्वमेव तस्या विषयः, तथाच तादृगेव घटादिष्वपि द्वित्वबुद्धेर्विषय इति वृथा तव द्वित्वकल्पनेति संकलितार्थः। इमामेवार्थस्थितिं पर्यनुयोगपरिहाराभ्यां परिद्रढयति—आरोपितेत्यादिना। न शुक्तीति। उक्तमेतद्यथाक्वचिदपि सत्त्वमन्तरेणानाद्यनिर्वचनीयाविद्यावशादेतद्विभ्रमोद्भव इति प्रथमपरिच्छेदेऽनिर्वचनीयख्यातौ। आस्तां तु मामकी रीतिः, आयुष्मतैव तावच्छुक्तिरजतसंसर्गेषु तत्तदत्यन्ताभावप्रतियोगिषु चात्यन्तमसत एव प्रतिभासोऽभ्युपगम्यत इति भावः। अथ तादृशबुद्धिर्ज्ञायमाना व्यवहारं प्रवर्तयेत्? स्वसत्तया वा? नान्त्योऽतिप्रसङ्गात्। नाद्यः; विषयनिरूपणे बुद्धेरेव तावदनिरूपणादिति चेत्; तदिदं बलीवर्दोल्लङ्घनमन्तरेण भारोल्लङ्घनम्, यतः स्वप्रकाशज्ञानवादिनास्मान्विहाय जडज्ञानवादिषु भवादृशेष्वेवंविधविकल्पः। कल्पितशुक्तिरजतादिष्वपि वा कथंकारमित्यात्मनैवात्मा पर्यनुयुज्यताम्। तत्र त्वाश्रितत्वाद्यथातथास्त्वितिचेत्, अत्रापि किमुक्तानि साधकानि लक्षणानि मन्यसे? गुणसमवायादिखण्डनानि वा विस्मरसि? तदेवं न प्रत्यक्ष द्वित्वे प्रमाणमित्युक्तम्।

विलक्षण व्यवहार) क्या समुच्चेतव्य एकत्व के भेद से माना जायगा ? या एकत्वगत धर्म के भेद से ? एकत्व तो सर्वत्र समान है, इसके आधार पर विलक्षण व्यवहार नहीं चल सकता। द्वितीय (एकत्व गत धर्म-भेद) पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि (दो एकत्व, द्वित्व-व्यवहार के और तीन एकत्व, त्रित्व-व्यवहार के हेतु हैं—इस प्रकार) एकत्व में द्वित्वत्व त्रित्वत्वादि, न तो आरोपित ही सिद्ध हो सकते हैं और न पारमार्थिक; क्योंकि एकत्व में द्वित्वत्व का आरोप तब हो सकता है, जब कि द्वित्व सिद्ध हो किन्तु द्वित्व अभी तक सिद्ध हुआ नहीं। किन्तु यह शङ्का युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि आप (वैशेषिक) के मत में भी द्वित्वादि की जनक अपेक्षाबुद्धि के विषय में भी इसी प्रकार के विकल्प किये जा सकते हैं। अर्थात् अपेक्षा बुद्धि का एकत्व-समुच्चयमात्र विषय मानने पर उसमें द्वित्व त्रित्वादि विलक्षण कार्य-जनकत्व सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि समुच्चय तो सर्वत्र समान ही है। आरोपित द्वित्वादि धर्म-विशेषित उक्त समुच्चय को अपेक्षाबुद्धि का विषय मानकर उसमें द्वित्वादि की जनकता माननी ही व्यर्थ है; क्योंकि ऐसी अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्वादि का व्यवहार सिद्ध हो जायगा। यदि कहा जाय कि आरोप, नियमतः सत्य पदार्थ की अपेक्षा करता है, अतः उक्त समुच्चय में द्वित्वादि का आरोप करने के लिए कहीं द्वित्वादि को सत्य भी मानना होगा। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि कहीं सत्य न होने पर भी शुक्ति-रजत-संसर्ग के ही समान द्वित्वादि में आरोप-विषयता बन जायगी।

नापि द्वितीयः; द्व्यणुकपरिमाणं जन्यासमवायिकारणजन्यं कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानस्याश्रय सिद्धत्वात्। द्व्यणुकतत्परिमाणयोरस्माभिरनङ्गीकारात्, पटस्यापि तन्तुसंयोगासमवायिकारणजन्यत्वासंप्रतिपत्तेर्दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च। "विवादाध्यासितो बुद्धिजन्यगुणयोराश्रयः द्रव्यत्वादात्मवद्"इति मानमनोहरोदीरितमनुमानं मानमितिचेत्, न; अर्थान्तरत्वात्, सर्वस्यापि घटपटादेरीश्वरबुद्धिजन्यरूपादिगुणाश्रयत्वात्। अनित्यबुद्धिजन्यत्वस्य विवक्षितत्वाददोष इतिचेत्, न; घटपटादिगतरूपादेरप्यस्मदादिज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्यत्वेन पूर्वदोषानतिवृत्तेः। परमाणूनामेव पक्षीकरणे तेषामस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वान् तेषु बुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वसाधने नार्थान्तरतेति चेत्, न; तेषामेवासंमतत्वेनाश्रयासिद्धत्वात्, चेतनत्वस्योपाधित्वाच्च। न चेश्वरे साध्याव्याप्तिः, तस्यापि त्वन्मते तद्बुद्धिजन्यसंयोगविभागाश्रयत्वात्।

अनुमानानि दूषयति—**नापीति**। परिमाणमात्रपक्षीकारेण परमाण्वादिषु बाधः स्यात्तदर्थं द्व्यणुकपरिमाणग्रहणम्। यत्तज्जन्य द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणं तद् द्वित्वम्। परमाणुद्वयगतद्वित्वाद्धि द्व्यणुकपरिमाणोत्पत्तिरिति भावः। आश्रयासिद्धिमेव विवृणोति—**द्व्यणुकेति**। साध्यवैकल्यं चाह—**पटस्यापीति**। अनैकान्तिकं चाप्यद्व्यणुकरूपादौ। अथ जन्यपदं विहायेदमनुमानम्, तदापि पारिमण्डल्यस्यैव तदसमवायिकारणत्वप्रसाधकतयार्थान्तरत्वम्। नच तस्य नित्यपरिमाणत्वात्परममहत्त्ववदनारम्भकतानुमानम्; परमाणुद्वित्वस्यापि वियदादिद्वित्ववदनारम्भकत्वप्रसङ्गात्। द्व्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यम्, बहुत्वप्रचयाजन्यत्वे सति कार्यपरिमाणत्वान्महत्त्ववदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। अनुमानान्तरमुद्भावयति—**विवादेति**। रूपादिभिरर्थान्तरतानिवृत्त्यै बुद्धिजन्यग्रहणम्। आत्मव्यतिरिक्तद्रव्यजातं च पक्षः। आत्मनश्च बुद्धिजन्येच्छाद्याधारतया सपक्षत्वम्, ततश्चापेक्षाबुद्धिजन्यतयानेकत्वसंख्यानेकपृथक्त्वकथासिद्धिरित्यर्थः। इतः आरभ्याश्रयासिद्धत्वादित्यन्तो ग्रन्थो निगदव्याख्यातः। ननु कथं चेतनत्वस्योपाधित्वम्, यावतेश्वरे नित्यज्ञानादिमति साध्यसमव्याप्तिर्नास्तितत्राह—**न चेश्वर इति**। साध्याव्याप्तिः साध्यसमव्याप्त्यभावः। यद्यपि न तस्मिन् ज्ञानदयो बुद्धिजन्यास्तथापि संयोगविभागौ ईश्वरबुद्धिजन्यौ कार्यत्वात्। तथाच साध्यसमव्याप्तिरिति भावः। नचानित्यबुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वविवक्षायां साध्यसमव्याप्तिर्नास्तीति वचनीयम्; ईश्वरस्याप्यनित्ययोगिबुद्धिजन्यद्वित्वाद्यधिकरणत्वात्। उक्तं चैतदधस्तात्। दूषणान्तरं चाह—**निर्गुणेति**। वेदान्तिमत बुद्धिधर्मा इच्छादयो नात्मनो गुणास्ततश्चात्मनि साध्यवैकल्यमिति भावः। एवमनु-

---

(२) द्वितीय (अनुमानतः) पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि "द्व्यणुक-परिमाण अन्य असमवायिकारण से जन्य होता है, कार्य होने से, पट के समान"—यह अनुमान आश्रयासिद्ध है; क्योंकि हमारे मत में द्व्यणुक और द्व्यणुक-परिमाण दोनों नहीं माने जाते एवं पट में भी तन्तु-संयोगरूप असमवायिकारण की जन्यता भी नहीं मानी जाती, अतः दृष्टान्त साध्य-रहित भी है। मानमनोहरकार ने जो अनुमान किया है कि "विवादास्पद (आत्मेतर द्रव्य) बुद्धि-जन्य गुणों का आश्रय है, द्रव्य होने से, जैसे—आत्मा।" वह भी अर्थान्तरता-ग्रस्त है; क्योंकि सभी घट पटादि, ईश्वरीय बुद्धि-जन्य रूपादि गुणों के आश्रय होते हैं। अनित्य बुद्धि-जन्यत्व की विवक्षा करने पर भी उक्त दोष निवृत्त नहीं होता; क्योंकि घटादि अपने कर्ता (कुलालादि) के ज्ञानादि से जन्य रूपादि गुणों के आश्रय होते हैं। यदि कहें कि परमाणुरूप द्रव्य को पक्ष बनाकर बुद्धि-जन्य गुणाश्रयत्व के साधन में उक्त दोष नहीं, इसका कारण यह है कि परमाणु, अस्मदादि-प्रत्यक्ष के विषय न होने से अस्मदादि बुद्धि-जन्य गुणों के आश्रय नहीं। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि परमाणु सर्वमत-सम्मत नहीं, अतः आश्रयासिद्धि दोष होता है। 'चेतनत्व' उपाधि भी है (चेतनत्व, आत्मरूप दृष्टान्त में साध्य-व्यापक है और आत्मेतर द्रव्यरूप पक्ष में न रहने से साधनाव्यापक है)। ईश्वर में न्याय-मत से 'जीव-ज्ञान-जन्य संयोग विभागादि गुणों की आश्रयता मानी जाती है, अतः वहाँ साध्याव्यापकता का

निर्गुणात्मवादिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। अपि चापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वे द्वित्वस्य कं दोषं पश्यसि, येन तज्जन्यतामङ्गीकुरुषे ? एकत्ववत् द्वित्वस्याप्यपेक्षाबुद्धेः प्रागेव सिद्धौ तत्प्रतीतिसमकालमेव द्वित्वप्रतीतिप्रसक्तिर्दोष इति चेत्, न; व्यञ्जकाभावादेव तदप्रतीत्युपपत्तेः। न च समानाश्रयसमानेन्द्रियग्राह्यसमानजातीयगुणानां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वानुपपत्तिः। महत्त्वदीर्घत्वयोरिव तदुपपत्तेः। नहि महत्त्वप्रतीतिर्दैर्घ्यप्रतीतिवद्ध्रस्वमपेक्ष्य जायते, तत्प्रतीतेरणुप्रतियोग्यपेक्षत्वात्ततो न द्वित्वस्यापेक्षाबुद्धिजन्यतापि।

न चैकत्वसंख्यासमुच्चयोऽपि द्वित्वम्; एकत्वस्यापि स्वरूपातिरेकेण दुर्निरूपत्वात्। न च स्वरूपाणां भिन्नत्वादेकमेकमित्यनुगतप्रत्ययानुपपत्तिः; एकत्वसंख्यास्वीकारेपि तस्याः प्रति-

---

मानतोपि न द्वित्वाधिगतिरित्युक्तम्। इदानीं यद्भाष्यकारप्रभृतिभिः परिकल्प्यते "तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः" इत्यादिनापेक्षाबुद्धिजन्यत्वं द्वित्वस्य, तदसङ्गतमित्याह—अपि चेति। नन्वयं दोषः यदेकत्ववद्द्वित्वस्यापि यावद्द्रव्यभावित्वेऽपेक्षाबुद्धेः प्रागपि तत्प्रतीतिप्रसक्तिरिति शङ्कते—एकत्ववदिति। नायं दोषः, यावद्द्रव्यभाविनोऽपि तद्व्यङ्ग्यतया तदनुविधानोपपत्तेरिति परिहरति—व्यञ्जकेति। यत्त्वत्रोदयनमानमनोहरकाराभ्यां बाधकमुक्तं तद् दूषयति—न चेति। समानाश्रयाणामपि गन्धरसादीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यतः समानेन्द्रियग्राह्याणामित्युक्तम्। समानाश्रयाणां समानेन्द्रियग्राह्याणामेकत्वमहत्त्वादीनां विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यत उक्तं समानजातीयानामिति। महत्त्वदीर्घत्वयोर्व्यभिचारमेव स्फोरयति—नहीति। यथा हि समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशसमानधर्मोपपन्नयोर्महत्त्वदीर्घत्वयोर्ह्रस्वाणुलक्षणप्रतियोगिप्रतीतिव्यङ्ग्यत्वमेवमत्रापि द्वित्र्यादिसंख्यानामित्यर्थः। अथ तत्र महत्त्वदीर्घत्वगतजातिवैलक्षण्यान्न समानजातित्वमिति मतम्, तर्हि अत्राप्येकत्वद्वित्वादिजातिभेदोऽस्तीति समं समाधानम्। ननु यदि न गुणान्तरं द्वित्वम्, तर्ह्येकत्वसमुच्चयरूपद्वित्वमेवमस्तु, नच द्वित्वादिसमानाकारापत्तिः, सैकमिदं सैकमिदं सैकैकमित्येकत्वसमुच्चयतारतम्येनापि तद्व्यवहारोपपत्तेरिति, तत्राह—न चैकत्वेति। अङ्गीकृत्य पूर्वमेकत्वसमुच्चयं तद्विषयतयाऽन्यथासिद्धिर्द्वित्वप्रत्ययस्योक्तेति न विरोधः।

एकत्वसंख्यैव दुर्निरूपा, कुतस्तत्समुच्चयरूपद्वित्वादिरित्येकत्वसंख्यां दूषयति—एकत्वस्यापीति। यदत्रोदयनश्रीवल्लभावूचतुस्तद् दूषयति—न च स्वरूपाणामिति। स्वीकृतायामप्येकत्वसंख्यायामयं दोषोऽपरिहार्यः, तस्या अपि प्रतिद्रव्यं विभिन्नत्वादित्यर्थः। ननु तास्वनुगतमेकत्वसंख्यावैशिष्ट्यमुपाधिमादा-

---

सन्देह नहीं हो सकता। एवं आत्मा को निर्गुण माननेवालों के प्रति आत्मरूप दृष्टान्त में साध्यविकलता भी है। यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि द्वित्व के अपेक्षाबुद्धि-व्यङ्ग्यत्व पक्ष में क्या दोष देखकर आपने द्वित्व में अपेक्षाबुद्धि-जन्यत्व माना है? 'अपेक्षाबुद्धि-जन्य न मानने पर अपेक्षाबुद्धि के पूर्व ही एकत्व के समान द्वित्व की प्रतीत्यापत्ति' का दोष नहीं दिखाया जा सकता; क्योंकि व्यञ्जक से पूर्व व्यंग्य की प्रतीति कैसे होगी? यदि कहें कि समान आश्रय में रहनेवाले, समान इन्द्रिय से ग्राह्य, समानजातिवाले (द्वित्व त्रित्वादि) गुणों में विचित्र व्यञ्जक-व्यंग्यत्व नहीं बन सकता (द्र० किर० पृ० १९६)। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि महत्त्व और दीर्घत्व के समान ही विचित्र व्यञ्जक-व्यंग्यत्व बन जायगा। (अर्थात् महत्त्व और दीर्घत्व दोनों एक ही आश्रय में रहते हैं, एक ही इन्द्रिय से ग्राह्य हैं और एक जातिवाले हैं; फिर भी महत्त्व की प्रतीति, अणु-प्रतीति से और दीर्घत्व की प्रतीति ह्रस्व-प्रतीति से व्यंग्य होती है)। महत्त्व की प्रतीति कभी भी दीर्घत्व-प्रतीति की व्यञ्जक ह्रस्व-प्रतीति से व्यंग्य नहीं होती, अपि तु अपनी विरोधी अणु-प्रतीति पर ही निर्भर है। इसलिए द्वित्व में अपेक्षाबुद्धि-जन्यत्व नहीं बनता।

एकत्व संख्या का समुच्चय भी द्वित्व नहीं हो सकता; क्योंकि स्वरूपातिरिक्त एकत्व का निरूपण नहीं हो सकता। यदि कहें कि घट पटादि के स्वरूप तो भिन्न-भिन्न हैं, अतः उन स्वरूपों से

द्रव्यं भिन्नतया द्रव्येष्वेकमेकमिति प्रत्ययानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् । एकत्वसंख्याविशिष्टतया चैकमिति प्रत्ययविषयत्वे रूपादौ संख्यायां चैकमिति मतेरभावप्रसङ्गाच्च। तत्र स्वरूपत एवैकत्वव्यवहारेऽन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात्। एकत्वसंख्याविशिष्टे चैकत्वसमवायस्यानवस्थादिदोषादयुक्ततया यादृक्स्वरूपे संख्यासमवायस्तादृशस्यैवैकव्यवहारविषयतोपपत्तौ संख्यास्वीकारवैयर्थ्यात्। न चैवं जात्यपलापानिष्टप्रसङ्गोऽद्वैतवादिनाम् ; इष्टत्वात्।

न च प्रमाणं संख्यायामप्येकत्वादिबुद्धयः।
गुणादिष्वपि तद्भावात् तद्बाधस्यानिरूपणात्॥४६॥

न च संख्यायामपि प्रमाणं पश्यामः। न चैकत्वादिबुद्धयः प्रमाणम् ; संख्याभावेऽपि चतुर्विंशतिर्गुणाः, पञ्च कर्माणि, द्विविधं सामान्यमित्यादिवदुपपत्तेः। न च तत्र गौणः प्रयोगः, मुख्ये बाधानिरूपणात्। न हि निपुणमतयोऽपि निरूपका न चतुर्विंशतिर्गुणाः, न पञ्च कर्माणीति बाधमध्यवस्यन्ति। तदेवं द्वित्वादिसंख्यायां प्रमाणाभावात्, द्व्यणुकपरिमाणासमवायि-

---

यानुगतिसमर्थनमिति, तत्राह—एकत्वसंख्येति। किंच यत्रेयमेकत्वसंख्या वर्तते तत्किमेकम्? अनेकं वा? नान्त्यः, विरोधात्। आद्ये तदप्येकत्वं किमेकत्वसंख्या? स्वस्वरूपं वा? आद्येऽनवस्था स्वाश्रयत्वं वा स्यात्। तस्माद्यादृक्स्वरूपे सा वर्तते तादृक्स्वरूपादेव सर्वत्रैकत्वव्यवहारोऽस्तु, मुधाधिकार्थस्वीकारः इत्याह—एव त्वेति। नन्वेवं गोत्वाश्वत्वादयोपि तत्तदाश्रयस्वरूपमादाय शक्योद्धाराः। यदाह लीलावतीकारः—'जातेरपि विप्लवापत्तेः' इति, तत्राह—नचैवमिति। यत्त्वेकत्वसंख्यायां मानमनोहरोक्तमनुमानं तद्भेदखण्डनसमय एवैकपृथक्त्वदूषणप्रसङ्गेनानूद्य दूषितम्। एवमेकत्वसंख्याऽनिरुक्तिमुक्त्वा संप्रति संख्यामात्र एव प्रमाणं नास्तीत्याह— न च प्रमाणमिति। एकादिव्यवहारहेतुः संख्येति हि तैरेकाद्यभिज्ञाव्यवहारस्य विषयतया हेतुरित्येकादिबुद्धयः प्रमाणमुच्यन्ते, ताश्चाप्येकत्वादिबुद्धयः संख्यायां न प्रमाणम्, तद्रहितेष्वपि गुणादिषु तादृशबुद्ध्युपपत्तेः। नच तत्र भ्रान्तत्वं गौणत्वं चेत्याह—तद्बाधस्येति। संग्रहं विवृणोति—न चेति। ननु तथापि तल्लक्षणेषु किं दूषणमिति प्रमाणाभावादसंभव इत्याह—तदेव-

---

भिन्न न मानने पर सर्वत्र एकत्वादि की अनुगत प्रतीति न हो सकेगी (द्र० किर० पृ० १९२ तथा न्या० ली० पृ० ३५२)। तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि स्वरूपातिरिक्त एकत्व संख्या स्वीकार-पक्ष में भी आश्रय के भेद से संख्या भिन्न-भिन्न मानी जाती है, अतः वहाँ भी 'एकम्-एकम्' इस प्रकार के अनुगत व्यवहार की अनुपपत्ति तुल्य ही है। एकत्व संख्या से विशिष्ट होने के कारण अनुगत प्रतीति की उपपत्ति करने पर संख्या-शून्य रूपादि गुणों में "एकम्"—यह बुद्धि न हो सकेगी। वहाँ स्वरूपमात्र के आधार पर एकत्व-व्यवहार मानने पर घटादि में भी वैसी ही प्रसक्ति होगी। एकत्व संख्या-विशिष्ट घटादि को अनवस्था भय से एकत्व संख्या का आश्रय माना नहीं जा सकता, अतः जिस प्रकार का स्वरूप, एकत्वादि का आश्रय होता है, उसी में एक-व्यवहार की विषयता बन जाती है, संख्या-स्वीकार करना व्यर्थ ही है। यहाँ न्यायलीलावतीकार ने जो आपत्ति दी है—"जातेरपि विलयापत्तेः" (न्या० ली० पृ० ३५२), अद्वैतवादी के लिए वह इष्ट ही है। 'एकत्वादि की प्रतीति, संख्या में प्रमाण नहीं हो सकती; क्योंकि गुणादि में संख्या के न रहने पर भी एकत्वादि की प्रतीति होती है। गुणादि में एकत्वादि-प्रतीति को भ्रम नहीं कह सकते; क्योंकि उसका बाध नहीं हो सकता। अर्थात् संख्या में कोई प्रमाण नहीं। संख्या-प्रतीति को इसलिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, कि वह संख्या-रहित पदार्थों में भी होती है, जैसे—"चतुर्विंशतिर्गुणाः", "पञ्च कर्माणि", "द्विविधं सामान्यम्"। 'ये सब गौण प्रयोग हैं'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि मुख्य प्रयोग में कोई बाधक नहीं, नितान्त निपुण विवेचक भी "न चतुर्विंशतिर्गुणाः" "न पञ्च कर्माणि"—इस प्रकार बाध का निश्चय नहीं कर सकता। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि द्वित्वादि

कारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीया संख्यां तादृग्वृत्तिसंख्यात्वावान्तरजातीयं द्वित्वमित्यादिलक्षणमसंभवित्वदोपेण परास्तम् ।

तथा जातिरपि— प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न जातिः सेद्धुमर्हति ।
व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेस्तद्वृत्तेश्चानिरूपणात् ॥४७॥

न तावद्गौर्गौरित्यभिन्नाकारग्राहिप्रत्यक्षं जातौ प्रमाणम्, विकल्पाहत्वात् । तत्किमेकव्यक्तिवद्व्यक्त्यन्तरे गौरित्यवभासः ? उत व्यक्तीनामेकगोस्वभावावभासः ? एकधर्मवत्तयावभासो वा ? नाद्यः; एकव्यक्तेर्गोस्वभाववद्व्यक्त्यन्तरस्यापि गोस्वभावत्वादेवान्तरेणापि सामान्यमनेकोदकभाजनेष्वयं चन्द्रोऽयं चन्द्र इतिवदवभासोपपत्तेः । ननु व्यक्तिमात्रं गौरितिमतिगोचरः ? गोव्यक्तिर्वा ? नाद्यः; तुरगादिव्यक्तावपि तत्प्रसङ्गात् । नेतरः; जातिस्वीकारापत्ते-

---

मित्यादिना । रूपादावतिव्याप्तिपरिहाराय द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्युक्तम् । द्व्यणुकस्य यत्परिमाणं तदसमवायिकारणं यत्परमाणुगतद्वित्वं तद्वर्तिनी या गुणत्वावान्तरजातिस्तदधिकरणमित्यर्थः । सत्तागुणत्वे समादाय द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिस्तद्वारणाय गुणत्वान्तरजातीयग्रहणम् । तादृग्वृत्तीति । द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्यर्थः । एतच्च त्रित्वादिव्यवच्छेदाय । एतेन द्विपृथक्त्वाद्यपि व्याख्यातम्, तत्राप्यपेक्षाबुद्धिमादाय अर्थप्रत्याख्यानस्य व्यञ्जकत्वसमर्थनस्य सुवचत्वात् । एकपृथक्त्वे चानुमानं भेदखण्डने एव दूषितम् ।

नच पृथक्त्वमात्रे पृथगिति बुद्धिः प्रमाणम्; रूपादिष्वपि समानत्वादिति । अवयविखण्डनन्यायेन संयोगविभागद्विपृथक्त्वसामान्यादीन्यपि दुर्निरूपाणीत्युक्तम् । तत्र सामान्यव्यतिरिक्तेषु दुर्निरूपतोपपादिता । संप्रति तत्रापि तामुपपादयति—तथा जातिरपीति । षट्पदार्थखण्डनसमये तु सामान्यलक्षणानि खण्डितानि अत्र तु प्रमाणं स्वरूपनिरुक्तिश्च खण्ड्यते इत्यपुनरुक्तिः । तद्वृत्तेश्चेति । तस्या जातेर्व्यक्तिषु वृत्तिप्रकारस्याप्यनिरूपणादित्यर्थः । श्लोकं विवृणोति—न तावदिति । कोऽयमभिन्नाकारग्रहः ? किमेकव्यक्तौ यथा गौरिति प्रतीतिस्तथा व्यक्त्यन्तरेऽपि गौरिति प्रतीतिमात्रम् ? किं वा सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वप्रतीतिः ? उत व्यक्तीनामेकगोत्वलक्षणधर्मवत्त्वप्रतीतिः ? इति विकल्पयति—विकल्पेति । प्रथमे तु न जातिसिद्धिः, व्यक्तीनां तन्मात्रवृत्तिगोस्वभावमात्रसमर्पकतयानुगतार्थासमर्पकत्वादित्याह—एकव्यक्तेरिति । तत्रैकव्यक्तावेव गौरिति बुद्ध्युदयबलाद् गोत्वजातिसिद्धिं पूर्ववादी समर्थयते—नन्वित्यादिना । न व्यक्तिमात्रं तद्बुद्धिविषयः, नापि गो-

---

संख्या में कोई प्रमाण न होने के कारण "द्व्यणुक परिमाण के असमवायिकारण में वृत्ति, गुणत्वव्याप्य जाति के आश्रय को संख्या एवं उसमें वृत्ति संख्यात्व की व्याप्य जाति के आश्रय को द्वित्व कहते हैं"— आदि लक्षण असम्भव दोष-ग्रस्त हैं ।

उसी प्रकार जाति की भी प्रत्यक्ष से या अनुमान से सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि जातिव्यञ्जक धर्मों से ही जाति का काम चल जाता है और व्यक्तियों में जाति की वृत्तिता का भी निरूपण नहीं हो सकता । अर्थात् "गौः गौः"—इस प्रकार अनुगताकार-विषयक प्रत्यक्ष, जाति में प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ अनुगताकार-प्रत्यक्ष से क्या विवक्षित है ? क्या एक व्यक्ति के समान ही व्यक्त्यन्तर में "गौः"—इस प्रकार की प्रतीति ? या सब व्यक्तियों में एक गोस्वरूपता की प्रतीति ? या सब व्यक्तियों में गोस्वरूप एकधर्मवत्ता की प्रतीति ? (द्र० न्या० ली० पृ० ६८५) । प्रथम पक्ष में जाति सिद्ध नहीं होती; क्योंकि एकव्यक्ति के समान ही व्यक्त्यन्तर का भी गोस्वभाव है, उसी से ही वैसे ही अनुगत प्रतीति हो जायगी, जैसे अनेक सजल पात्रों में "अयं चन्द्रः, अयं चन्द्रः"—यह प्रतीति होती है । यदि कहें कि सभी व्यक्तियाँ "गौः" इस बुद्धि की विषय हैं ? या केवल गो व्यक्ति ? प्रथम पक्ष मानने पर तो अश्वादि को भी गौ कहना पड़ेगा । द्वितीय पक्ष में जाति माननी होगी । तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि

रिति चेत्, न; सास्नादिमद्व्यक्तेस्तन्मतिगोचरत्वात्। अन्यथा व्यक्तिमात्रस्य गोत्वव्यञ्जकत्वं गोत्ववद्व्यक्तेर्वेति प्रत्यवस्थानस्य जातावपि तुल्यत्वात्। नापि द्वितीयः, सर्वत्र गोस्वभावस्यैकस्यानिरूपणात्, निरूपणे वा जातिस्वीकारवैयर्थ्यात्। नापि तृतीयः; दण्डी दण्डवानितिवद्गोत्वी गोत्ववानिति प्रत्ययाभावात्। सास्नादिमत्त्वधर्मस्यैकस्य सर्वत्र प्रतिभासोऽस्तीति चेत्, कृतं तर्हि जात्या, तत एवानुवृत्तव्यवहारोपपत्तेः। किंच जातिं स्वीकुर्वता तद्व्यञ्जकं किंचिद्वाच्यम्? तदपि कुत्र वर्तते? इति पर्यनुयोगे यत्र जातिस्तत्र वर्तत इत्युक्तावन्योन्याश्रयता। उभयोर्वा कुत्र वृत्तिरिति पर्यनुयोगे यदि व्यञ्जकान्तरमभ्युपगच्छेत्तदानवस्था। यदि न, तदोभयोरपि वस्तुमात्रवृत्तितया सर्वत्र सर्वा जातिर्वर्ततेति जातिसाङ्कर्यप्रसङ्गः। यत्र यत्प्रतीयते तत्र तद्वर्तत इति प्रतीतिचरणशरणत्वेऽपि व्यञ्जकाङ्गीकरणवैयर्थ्यम। प्रतीतिमात्राच्च

त्वविशिष्टव्यक्तिः, किंतु सास्नादिमती, ततो नोक्तदूषणमिति परिहरति—**न सास्नादीति**। भवतापि स्वीकर्तव्येयं रीतिरित्याह—**अन्यथेति**। **गोत्ववद्व्यक्तेरिति**। गोत्वविशिष्टव्यक्तेर्गोत्वव्यञ्जकत्वे स्वस्यैव स्वव्यञ्जकतयात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थः। सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वावभास इति द्वितीयपक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। नहि सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यते, जातिव्यक्त्योर्भेदाङ्गीकारात्। **निरूपणे वेति**। एकशब्दप्रयोगानुपपत्त्या चैकस्वभावाङ्गीकारे वा तादृशस्वरूपेणैवानुगतव्यवहारसिद्धेर्व्यावृत्तस्वरूपणामस्वरूपतयाऽद्वैतवादिनामेव विजयः स्यादित्यर्थः। एकधर्मवत्त्वावभास इति तृतीयं पक्षं दूषयति—**नापि तृतीय इति**। प्रतीतिरेवेयमसिद्धा। नहि गौरिति प्रतीतिव्यतिरेकेण गोत्वग्राही प्रत्ययोऽस्तीत्यर्थः। यद्यपि गोत्वस्य धर्मत्वग्राहिणी प्रतीतिर्नास्ति, तथापि सास्नादिमत्त्वं नामैकानुगतो धर्मः प्रतीयते, अतस्तद्व्यङ्ग्यजातिसिद्धिरिति शङ्कते—**सास्नादीति**। किंच सास्नादिमत्त्वलक्षणव्यञ्जकधर्मोऽपि दुर्निरूप इत्याह—**किंच जातिं स्वीकुर्वतेति**। **सर्वत्रेति**। यदि सास्नादिमत्त्वं गोत्वं चोभयं भाववस्तुमात्रे वर्तेत, तदा सर्वस्य सास्नादिमत्त्वं गोत्वं च स्यादिति विरोधविशेषोच्छेदः जातिसकरश्च कार्यकारणभावाव्यवस्थितिश्चेत्यादिदोषाः प्रादुःष्युरिति भावः। ननु प्रतीतिरेव तत्सत्त्वव्यवस्थितौ शरणम्, नच सा सर्वव्यक्तिषु गोत्वावग्राहिण्यस्ति, तत्कथमुक्तदोष इति, तत्राह—**यत्र यदिति**। जातीनां व्यञ्जकस्वीकारोऽपि वृथा, यत्र या प्रतीयते तत्र सास्तीति तत्रापि वक्तुं शक्यत्वादित्याह—**व्यञ्जकेति**। अथ मा भूत् व्यञ्जकाभ्युपगमः, किमेतावतेति? तर्हि वक्तव्यम्—प्रतीतिमात्रात्तदङ्गीकारः? उताबाधितप्रतीतेः, नाद्यः, अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, असिद्धेरित्याह—**प्रतीतिमात्रेत्यादिना**। किंच जातिवादिनोऽपि जातिष्वपीयं जातिरियं जातिरित्यनुवृत्त-

हम सास्नादि-युक्त व्यक्ति को "गौः"—इस बुद्धि की विषय मानते हैं। नहीं तो सभी व्यक्तियों को गोत्व-व्यञ्जक मानते हैं? या गोत्व-युक्त व्यक्ति को? इस आक्षेप का जातिवादी भी उत्तर न दे सकेंगे। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि सर्वत्र एक गोस्वभाव का निरूपण नहीं हो सकता; यदि हो जाय, तब जाति मानना व्यर्थ हो जाता है। तृतीय पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि जैसे—"दण्डी, दण्डवान्"—इस प्रकार एक दण्डरूप धर्मवत्त्व की प्रतीति होती है, वैसे "गोत्वी, गोत्ववान्"—(द्र० न्या० कं० पृ० ३१५) इस प्रकार गोत्वरूपधर्मवत्त्व की प्रतीति नहीं होती, अपि तु "गौः गौः"—यही प्रतीति होती है। यदि सास्नादिमत्त्वरूप एक धर्म का सर्वत्र भान माना जाय, तब उसीसे अनुगत-व्यवहार हो जायगा, जाति की क्या आवश्यकता? जातिवादी को जाति का कोई व्यञ्जक भी बताना होगा। वह कहाँ रहता है?—इस प्रश्न का "जहाँ जाति रहती है, वहाँ ही व्यञ्जक रहता है"—ऐसा उत्तर देने पर अन्योन्याश्रयता होती है। अथवा "दोनों (जाति और उसका व्यञ्जक) कहाँ रहते हैं"—इस शङ्का का समाधान करने के लिए व्यञ्जकान्तर मानने पर अनवस्था और न मानने पर दोनों, पदार्थमात्र में वृत्ति मानने से सभी जातियाँ सर्वत्र रह जायँगी, अतः जातिसाङ्कर्य होता है। एवं "जहाँ जो प्रतीत होता है, वहाँ वह रहता है"—इस प्रकार

तथात्वाङ्गीकारे , नभोनीलिमादेरपि तथात्वापातः। अबाधितप्रतीतेर्व्यवस्थापकत्वाङ्गीकारे वेहापि युक्तिबाधस्य सुवचत्वेन न तादृशप्रतीतेरपि व्यवस्थापकता। किंच जातिस्वीकारवादिनापीयं जातिरियं जातिरित्यनुवृत्तप्रत्ययसिद्धये कश्चिदुपाधिरेष्टव्यः, तथाच सार्वत्रिकः स एवानुवृत्तप्रत्ययकारणमस्तु तदलं जातिकल्पनादुर्व्यसनेन। तदेवं न प्रत्यक्षं जातौ क्रमते।

अस्तु तर्हि गन्धवन्तो गन्धवदगन्धावृत्तिगन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्तः। तथा शैत्यवन्तः शीतवदशीतावृत्तिशीतवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्तः प्रमेयत्वाज्ज्वलनादिवदित्यनुमानैः पृथिवीत्वजलत्वादीनां सिद्धिः। विवादाध्यासितानि द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवन्त्यनित्यत्वाद्गोवदित्य-

---

प्रतीतिनिर्वाहकः कश्चिदर्थोऽस्ति ? नवा ? अन्त्ये तद्वद् द्रव्यादिष्वपि प्रतीत्युपपत्तिः। आद्ये सा न जातिरनवस्थापातादपराद्धान्ताच्च, तस्मादुपाधिरेव स मन्तव्यः, यथा च तथाविधोपाधिभिरेव सर्वत्रानुगतिसिद्धेर्न जातिकल्पनोपयोग इत्याह—किंचेत्यादिना।

एवं प्रत्यक्षं जातौ प्रत्याख्याय कुलार्कपण्डितोन्नीतमनुमानमुद्भावयति दूषयितुम्—तर्हीति। गन्धवत्स्वगन्धवत्सु च ये वर्तन्ते धर्मास्तेषु गन्धवदगन्धवृत्तित्वं नाम धर्मः तदत्यन्ताभाववान्, तथा गन्धवत्सु वर्तमानाः सन्तस्तेषु न वर्तन्ते ये धर्मास्तेषु गन्धवद्वृत्त्यवृत्तित्वं नाम धर्मस्तदनधिकरणो यो धर्मस्तद्वन्त इति योजना। अत्र च गन्धवद्वृत्तिधर्मवन्त इत्युक्ते प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम्। गन्धवदगन्धावृत्तिधमवन्त इत्युक्ते घटत्वपटत्वादिभिरर्थान्तरता, तदर्थं गन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्येत्युक्तम्। घटत्वादीनां च गन्धवद्घटादिवृत्तित्वे सति गन्धवत्पटावृत्तित्वेन तद्राहित्याभावात्। गन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्त इत्युक्ते च प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम्। तावति चागन्धवत्सु साध्याननुगमादप्रसिद्धविशेषणता , अत उक्तं गन्धवदिति। गन्धवदगन्धावृत्तित्वं चावृत्तित्वाद्वा ? अगन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा ? गन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा ? प्रथमद्वितीयौ गन्धवत्सु व्याहतौ। तृतीयोऽपि कतिपयगन्धवद्वृत्तिर्वा ? समस्तगन्धवद्वृत्तिर्वा ? प्रथमो द्वितीयविशेषणेन व्याहतः। द्वितीयस्तु सिद्ध्यन्ननुगतजातिरूपः सिद्ध्यतीत्यभिमानः। अगन्धवन्मात्रवृत्तिभिश्चेतरत्र साध्यसिद्धिः। उदकत्वजातावपि समानामेव रीतिमाह—तथा शैत्यवन्त इति। व्याख्यानं तु पूर्ववत्। उभयत्र हेतूदाहरणे निर्दिशति—प्रमेयत्वादिति। एवमुष्णस्पर्शवन्तो नीरूपस्पर्शवन्तश्च पक्षीकृत्य तेजस्त्ववायुत्वे समर्थनीये। तथा सास्नादिमतः पक्षीकृत्य गोत्वादि समर्थनीयम्। सत्तायामनुमानमाह—विवादेति। कार्यवर्गश्चात्र पक्षः। तदितरेषु तु तद्द्वारा सिद्धिः। एकसामान्यवत्त्वं चात्र साध्यम्। तथा कर्म शावलेयवृत्तिजातिमत्कार्यत्वात् शावलेयवदित्याद्यपि द्रष्टव्यम्। एवमनुमानान्युपन्यस्य यथाक्रमं दूषयन् व्य-

---

प्रतीति को नियामक मानने पर व्यञ्जक मानना निरर्थक हो जाता है और प्रतीति मात्र के आधार पर आकाश-नीलिमा भी यथार्थ माननी होगी। अबाधित प्रतीति को व्यवस्थापक मानने पर प्रकृत में भी युक्ति-बाध सम्भव होने के कारण 'गौः'—यह प्रतीति भी व्यवस्थापिका न हो सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि जातिवादी को भी "इयं जातिः", "इयं जातिः"—इस प्रकार की अनुगत प्रतीति की सिद्धि के लिए कोई उपाधि माननी होगी, अतः उपाधि को ही सर्वत्र अनुगत-प्रतीति का नियामक मान लेना युक्ततर होगा, जाति-कल्पना का दुर्व्यसन छोड़ देना चाहिए। इसलिए जाति-साधन में प्रत्यक्ष की गति नहीं—यह सिद्ध हो गया।

यदि शङ्का करें कि (१) गन्धाश्रय, गन्ध-सहित और गन्ध-रहित-उभय में वृत्ति धर्मों से भिन्न एवं गन्धाश्रय में वृत्ति रहकर गन्धाश्रय में ही न रहनेवाले धर्मों से भिन्न धर्मवाले होते हैं, प्रमेय होने से, जैसे—अग्नि।" (२) "शीतस्पर्श के आश्रय, सशीत और अशीत दोनों में वृत्ति धर्मों से भिन्न एवं सशीत में वृत्ति होकर सशीत में ही अवृत्ति होनेवाले धर्मों से भिन्न धर्मों के आधार होते हैं, प्रमेय होने के कारण, जैसे—अग्नि"—इन दोनों अनुमानों से क्रमशः पृथिवीत्व और जलत्व जाति की सिद्धि होती है। (३) विवादास्पद (द्रव्य, गुण और कर्म) सामान्यवाले होते

नुमानेन सत्तायाश्च सिद्धिरिति चेत्, न; प्रथमप्रयोगेषु तत्तज्जातिव्यञ्जकगन्धवत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वादिधर्मैरेवार्थान्तरत्वात्। जात्यनङ्गीकारवादिनं प्रति गोवदिति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। किंच सर्वसर्वगता जातिः ? उत व्यक्तिसर्वगता ? नाद्यः; विकल्पासहत्वात्। किं सवसर्वगतत्वं नाम—सर्वत्र संयोगः ? तादात्म्यं वा ? समवायो वा ? संबन्धान्तरं वा ?

अद्रव्यत्वान्न संयोगः साङ्कर्यान्नेतरावपि।
पदार्थान्तरतापत्तेर्नान्यसंबन्धसंभवः ॥४८॥

न तावज्जातेः सर्वव्यक्तिसंयोगः; अद्रव्यत्वात्। न तादात्म्यसमवायौ; सर्वव्यक्तिषु सर्वजातीनां तादात्म्ये समवाये वा सर्वस्य सर्वात्मताप्रतीतिप्रसङ्गात्। व्यञ्जकाभावान्न तथेति चेत्, न; तादात्म्यसमवायस्वीकारे शावलेयादिव्यक्तिवदेव तद्व्यञ्जकताया अपि दुर्निवारत्वात्।

ञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति श्लोकभागं विवृणोति—**न प्रथमेति**। अस्ति हि गन्धवत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वादीनामप्युक्तरूपत्वं सर्वं तन्मात्रवृत्तित्वादित्यर्थान्तरमित्यर्थः। एतेन व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति विवृतम्। गन्धवत्पक्षीकारे कथं तस्य गन्धवत्त्वस्य संभवः ? आत्माश्रयादतो नार्थान्तरतेतिचेन्न; पाकजरूपवत्त्वादिनार्थान्तरत्वात्। अपिच कुत आगतोऽयं देवानां प्रियः ? यो ह्युपलक्षणन्यायेन गृहीतधर्म एव निबन्धं वधूमिलनगीतमाशास्ते, तत्किं पाकजरूपादिमन्त इत्यशक्यपक्षीकरणं ब्रवीति ? भवतु भवतो निर्बन्धस्तथापि नैतादृशेऽप्यात्माश्रये किंचिद्दुष्यति, उत्पत्तिज्ञप्त्योरप्रतिबन्धकत्वात् तस्य चादूषणत्वात्, इतरथा केवलान्वयिविलयप्रसङ्गात्। नच जातिपदप्रक्षेपाददोषः, आकाशादौ दुःखःसाध्यत्वात्। वर्तते तेषां पक्षतुल्यता सिद्धान्ते क्षेमार्था, तस्मात्साधूक्तमर्थान्तरत्वादिति। सत्तासाधकानुमाने दूषणमाह—**जातीति**। यस्य हि जातिमात्रमेव प्रामाणिकं न संप्रतिपन्नं तस्य कथं गोत्वसंप्रतिपत्तिः ? अतः साध्यवैकल्यमप्रसिद्धविशेषणत्वं चेत्यर्थः। तद्वृत्तेश्चानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**किंचेति**। सर्ववस्तुषु सर्वगतत्वं विकल्प्य दूषणानि संगृह्णाति—**अद्रव्यत्वादित्यादिना**। न सर्वत्र जातेः संयोगः सर्वगतत्वमद्रव्यत्वात् सर्ववस्तूनां द्रव्यत्वाभावात्। नेतरावपि; कुतः ? सांकर्यात्। यदि हि सर्वत्र गोत्वादितादात्म्यं समवायो वा स्यात्, तदा गवाश्वादिवस्तूनां तज्जातीनां च सङ्करः स्यादित्यर्थः। सुबोधमवशिष्टं श्लोकं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। ननु किमिति सर्वत्र तज्जातिप्रतीतिः ? यावता विद्यमानानामपि व्यञ्जकाभावादप्रतीतिसंभवेनासङ्करादिति शङ्कते—**व्यञ्जकेति**। यथा हि शावलेयादिव्यक्तयो गोत्वजातेर्व्यञ्जकास्तत्कस्य हेतोः ? तासु तस्यास्तादात्म्यं समवायो वास्तीति, तद्वदिह यदि सर्वव्यक्तिषु तस्यास्तयोरन्यतरदस्ति, तदा तासामेवाभिव्यञ्जकत्वादपरिहार्यैव सङ्करापत्तिरिति परिहरति—**न; तादात्म्येति**।

हैं, अनित्य होने से, जैसे—गौ''—इस अनुमान से सत्ता जाति की सिद्धि होती है। तो यह शङ्का भी नुचित नहीं; क्योंकि प्रथम के दो अनुमानों में पृथिवीत्व और जलत्व के व्यञ्जक गन्धवत्त्व और शीतस्पर्शवत्त्व रूप धर्मों को लेकर अर्थान्तरता होती है। तीसरे अनुमान में जाति न मानने वाले वादी के प्रति 'गोवत्'—यह दृष्टान्त साध्य-विकल है। यह भी जिज्ञासा होती है कि जाति क्या सर्व पदार्थों में सर्वगत (पर्याप्त) रहती है ? या व्यक्तियों में सर्वगत होती है ? प्रथम पक्ष में सर्व-सर्वगतत्व क्या है ? जाति का सर्वत्र संयोग ? या तादात्म्य ? या समवाय ! या सम्बन्धान्तर ? 'द्रव्य न होने से जाति का सर्वत्र संयोग नहीं बन सकता, साङ्कर्य के भय से तादात्म्य और समवाय भी सम्भव नहीं, पदार्थान्तरतापत्ति होने से सम्बन्धान्तर भी युक्त नहीं। अर्थात् जाति का सब व्यक्तियों से संयोग तभी हो सकता था, जब कि जाति भी द्रव्य होती और जाति के सभी आश्रय भी द्रव्य होते, किन्तु ऐसा नहीं। सब व्यक्तियों में सभी जातियों का तादात्म्य या समवाय मानने पर सब पदार्थ सर्वरूप हो जायँगे। 'यद्यपि गोत्व सर्वत्र है, किन्तु अश्वादि में गोत्व का व्यञ्जक न रहने से उसकी प्रतीति नहीं हो सकती'—यह नहीं कह सकते; क्योंकि जाति का सर्वत्र तादाम्य और समवाय मानने पर शाबलेयादि व्यक्तियों के समान ही सबमें व्यञ्जकता भी अनिवार्य होगी। 'स्वभाव विशेष

स्वभावभेदात्कस्यचिदेव व्यञ्जकत्वं न सर्वस्येति चेत् , न; सिद्धे प्रमाणतः सर्वत्र संबन्धे स्वभावभेदालम्बनम् , न तु स्वभाववादपादप्रसारिकयैव वस्तुसिद्धिः, अन्यथास्त्येव पवनादावपि रूपसंभेदः, स्वभावभेदादेवाप्रतीतिरित्यनर्गलगलगर्जनस्य कः प्रतीकारः स्यात् ? नापि संबन्धान्तरम्; षट्पदार्थातिरिक्तपदार्थस्वीकारप्रसङ्गात् । नापि पिण्डसर्वगता जातिः; प्रत्यग्रजायमानखण्डमुण्डादिपिण्डेषु पिण्डान्तरस्थिताया जातेः संबन्धाभावप्रसङ्गात् । न हि सा पिण्डान्तरादुत्प्लुत्यात्रानुप्रविशति, निष्क्रियत्वात् । तत्परित्यागे च पूर्वपिण्डे तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । न चांशाभ्यामुभयत्र वृत्तिः, अनंशत्वात् । स्वसामग्रीवशादुपजायमानः पिण्डस्तज्जात्यालिङ्गित एवोत्पद्यत इति चेत्, न; पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र तस्या अभावात् । भावे च सर्वसर्वगतत्वापत्तेः । तदुक्तं वाह्यैः—

"नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥" इति ।

न ; सिद्धे प्रमाणत इति । यदिहि प्रमाणतः सर्वत्र जातिसद्भावावगमः स्यात् , तदा विद्यमानायास्तस्या अप्रतीतौ स्वभावभेदो नियामकः स्यात् । स्वमूलप्रमाणं विनैव स्वभावभेदकल्पनमतिप्रसङ्गीत्यर्थः । उत्तरार्धं विवृणोति—नापीति । अस्तु तर्हि व्यक्तिसर्वगता जातिः , यथाहुः भाष्याकाराः—'व्यक्तिसर्वगतम्' इति । तत्राह—नापि पिण्डेति । यदि हि व्यक्तिसर्वगता, तदा सर्वत्र जाते पिण्डे गोत्वजातिः किं व्यक्त्यन्तरस्थोपसर्पति ? तत्रस्था वा ? नाद्य इत्याह—नहि सेति । भवतु वोत्पत्यागमनम् , तथापि किं सर्वात्मना व्यक्त्यन्तरादुत्पतति ?अंशतो वा ? नोभयथापीत्याह—तत्परित्यागे चेत्यादिना । न ; पिण्डोत्पत्तेरिति । नहि पिण्डवदेव साप्युत्पद्यते, नित्यत्वात् । न ततः प्रागपि च तत्रास्ति कथं, तदालिङ्गनमुत्पद्यमानव्यक्तेरित्यर्थः । अथ तत्राप्यस्ति, तर्हि सर्वसर्वगतत्वापत्तिरित्याह—भावे चेति । एतेन तत्रस्था वेति पक्षोऽपि निरस्तः । वाह्याः बौद्धाः । व्यक्त्युत्पत्तिसमये तावन्न व्यक्त्यन्तरादायाति, निष्क्रियत्वात् । नच तत्र व्यक्त्युत्पत्तिप्रदेशे व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वं सा जातिरासीत्, व्यञ्जकाभावात् । तथापि तथात्वे सर्वसर्वगतत्वापत्तेः ।

के कारण किसी व्यक्ति में ही व्यञ्जकता रहती है, सर्वत्र नहीं'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि किसी प्रमाण से जाति का सर्वत्र सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर क्काचित्क प्रतीति-निर्वाह के लिए स्वभाव विशेष को नियामक माना जा सकता है, स्वभावविशेष से ही किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्यथा जो कहता है कि "वायु में भी रूप है, किन्तु वहाँ स्वभावविशेष के कारण प्रतीति नहीं होती"—इस अनर्गल प्रलाप का क्या प्रतीकार होगा ? अन्तिम (सम्बन्धान्तर) पक्ष मानने पर छह भावपदार्थों से अतिरिक्त भाव पदार्थ मानना होगा। सब व्यक्तियों में जाति सर्वगत है—यह पक्ष भी संगत नहीं; क्योंकि नूतन उत्पन्न खण्ड-मुण्डादि पिण्डों में पिण्डान्तरस्थ जाति का सम्बन्ध नहीं हो सकता। पिण्डान्तर से कूद कर जाति नूतन पिण्डों में प्रविष्ट हो नहीं सकती; क्योंकि वह निष्क्रिय है। पिण्डान्तर का परित्याग कर देने पर उसमें गोत्व-व्यवहार न हो सकेगा। जाति कोई सांश वस्तु भी नहीं कि एक अंश से पूर्व पिण्ड में और दूसरे अंश से नूतन व्यक्तियों में रहती चली जाय। यदि कहा जाय कि अपनी सामग्री से उत्पन्न होती हुई व्यक्ति जाति से युक्त होकर ही उत्पन्न होती है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि व्यक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व वहाँ जाति थी ही नहीं, किससे युक्त होकर उत्पन्न हो जायगी ? यदि वहाँ भी जाति मानी जाय, तब पूर्वोक्त सर्व व्यक्तियों में सर्वगतत्व पक्ष आजायगा। बाह्य विद्वानों ने भी कहा है कि "जाति न तो पिण्डान्तर से आती है और न वहाँ थी, पश्चात् उत्पन्न भी नहीं होती और सांश भी नहीं, पूर्व आधार को छोड़ती भी नहीं। इस प्रकार जातिवाद, अनन्त दोष-सन्तति से परिपूर्ण है।" जब कि सभी व्यक्तियाँ

सर्वपिण्डप्रलये च घटत्वादिजातेरुच्छेदप्रसङ्गः। संबन्धिविगमेऽपि तस्याः स्वरूपेणावस्थानमिति चेत्, न; आधारविगमेऽप्यात्रैवावस्थाने रूपादेरपि तथावस्थितेर्नित्यत्वप्रसङ्गः। तदेवमणूनां तत्संयोगस्य तदनेकत्वस्य जातेश्चानिरूपणादनेकैः परमाणुभिः संयोगसचिवैः समानजातीयैर्द्व्यणुकादिक्रमेण सर्वं कार्यद्रव्यमारभ्यत इति मनोरथमात्रम्।

किंच—

परमाणुबहुत्वेन महत्त्वारम्भसंभवात्।
त्र्यणुके द्व्यणुकारम्भप्रक्रियापि न सिद्ध्यति ॥४९॥

द्व्यणुकादिप्रक्रमप्रक्रियापि न प्रमाणपथमवतरति, अणुभिरेव त्र्यणुकाद्युत्पत्तेरुपपत्तेः। नन्वेवं

नच पश्चादस्ति उत्पद्यते, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। यदा च व्यक्तान्तरादायातीतिपक्षस्तदापि नांशवत्, येन व्यक्त्यन्तरमपरित्यज्य व्यक्त्यन्तरमुपक्रमेत। नच पूर्वतनमाधारं जहाति येन निरंशं सदन्यव्यक्तौ वर्तेत, पूर्वतनाश्रये तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गादिति सामान्यवादिनां महाव्यसनसन्ततिः। अहो इत्यनुकम्पायामिति कीर्तिवार्तिकार्थः। किंच भवतु यथातथा जातेर्वृत्तिः, तथापि किमाश्रितैकस्वभावा? आश्रितानाश्रितस्वभावा वा? प्रथमे घटत्वादिजातीनां प्रलयसमये समस्तघटादिविघटनादाश्रयरहिततयोच्छेदप्रसङ्ग इत्युक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—**संबन्धिविगमेऽपीति**। एवंविधजातिस्तावन्न केनापि प्रमाणेनोपस्थापिता। यदि भवदनुभवमनुरुद्ध्याभ्युपगच्छेम, तदा रूपादेरपि केन विषमबुद्धिनोन्नीतनीत्या नित्यानित्यतासमर्थनमभ्युपेतव्यं प्रसह्येत्यर्थः। तदेवं परमाणुनिराकरणमारभ्य प्रसक्तानुप्रसक्त्या प्रदर्शितसंयोगाद्यनिरूपणत्वस्य ब्रह्मकारणत्ववादिवेदान्तविरोधनिरासोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना**। **संयोगसचिवैरिति**। समानजातीयानेकद्रव्याणि समवायिकारणानि द्रव्योत्पत्तौ तत्संयोगस्त्वसमवायिकारणमिति हि तेषां मतमित्यर्थः।

एवं परमाणूनामारम्भकत्वमेव नास्ति, तेषां तत्संयोगस्य चासंभवादित्युक्तम्। यद्यपि भवतु नाम तेषामारम्भकत्वम्, तथापि द्व्यणुकारम्भो वृथा, प्रमाणप्रयोजनयोरभावादितीदमिदानीमुपपाद्यते—**किंचेत्यादिना**। तत्र वैशेषिकाः प्राहुः—"परमाणवः साक्षान्न महद्द्रव्यारम्भकाः आरम्भकपरमाणुत्वात् घटोपगृहीतपरमाणुवत्। नच साध्यविकलो दृष्टान्तः, तत्रापि साक्षाद्घटारम्भकत्वे घटध्वंसानन्तरं न किंचिद्दृश्येत। तथा त्रसरेणुवदनुपलब्धरेखे परेषां घटे संस्थानविशेषानिष्पत्तिः, व्यञ्जकाभावात् घटत्वानुपलब्धिप्रसङ्गश्च, कपालादीनामनारब्धत्वात्, तस्मात्परमाणुभिरतीन्द्रियमेव किंचिद्व्यवधानेनारभ्यते। किंच महत्त्वरहितद्रव्यस्य न तावच्चाक्षुषत्वम्, परमाणुवत्। नच परमाण्वारब्धे महत्त्वसंभवः, कारणबहुत्वकारणमहत्त्वप्रचयविशेषैर्हि महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र न तावत्कारणबहुत्वम्, परमाणुद्वयेनारम्भात्, अणुत्वादेव न कारणमहत्त्वम्, निरवयवत्वादेव न प्रचयविशेषः, द्व्यणुकारब्धस्य तु त्रसरेणोर्महत्त्वादेव युक्तं चाक्षुषत्वम्, तस्य च न परमाणुद्वयवद्द्व्यणुकद्वयमारम्भकम्, तथा सति तदारब्धेऽपि महत्त्वासंभवसाम्यात्। तस्मात्कारणबहुत्वादेव त्रसरेणोर्महत्त्वम्, तथाच बहुभिरेव द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमारभ्यत इति त्र्यणुकमहत्त्वानुपपत्तिरपि द्व्यणुकसाधिका" इति। तदेव श्लोकेन दूषयति—**परमाण्विति**। तत्र तावत्परमाणूनां सहसा महदारम्भे बाधकं स्वयमेवाशङ्क्य दूषयिष्यति। तथा च द्व्यणुकमङ्गीकृत्यापि कारणबहुत्वादेव त्र्यणुके महत्त्वं प्रार्थनीयं तद्बहुभिः परमाणुभिरेवोपपाद्यं वृथान्तराले द्व्यणुककल्पनेति भावः। श्लोकं विवृणोति—**द्व्यणुकादीति**। ननु किमिति

प्रलीन हो जाती हैं, तब जाति का उच्छेद हो जाना चाहिए। 'सम्बन्धी की निवृत्ति हो जाने पर जाति स्वरूपतः उस देश में रह जाती है'—ऐसा मानने पर रूपादि भी अपने आश्रय के नाश से नष्ट न होकर नित्य ही हो जायँगे। इस प्रकार परमाणु, परमाणु-संयोग, संयोगगत अनेकत्व और जाति का निरूपण न हो सकने के कारण यह प्रक्रिया एक मनोरथमात्र है कि अनेक परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक और द्व्यणुक से त्रसरेणु और उससे क्रमशः महावयवी की उत्पत्ति होती है।

दूसरी बात यह भी है कि परमाणुगत बहुत्वसंख्या से ही महत्त्व का आरम्भ जब कि सम्भव है, तब द्व्यणुक को त्र्यणुकादि का आरम्भक मानना व्यर्थ ही है। यदि कहें कि परमाणुओं से ही आरम्भ

सति त्र्यणुके महत्त्वं न स्यात्। परमाणुपरिमाणस्य नित्यपरिमाणतयाऽनारम्भकत्वात्, प्रचयस्य निरवयवेष्वनाशङ्कनीयत्वादिति चेत्, न; कारणबहुत्वादेव त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेः। न च परमाणुगतानेकत्वसंख्या नारम्भिका, तद्गतद्वित्वस्यापि द्व्यणुकपरिमाणानारम्भकत्वप्रसङ्गात्। नन्ववयविनां परमाणूपादानकत्वे कपालशर्करादीनामनारब्धत्वात्परमाणूनां चादृश्यत्वादवयविनाशे न किंचिद् दृश्येतेति चेत्, न; द्व्यणुकारभ्यत्वेपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। त्र्यणुकचतुरणुकादिक्रमेणारम्भान्नायं प्रसङ्ग इति चेत्, न; चतुर्भिर्द्व्यणुकैश्चतुरणुकवत् द्व्यणुकसहस्रारब्धकार्यनाशेऽपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। तस्माद् द्व्यणुकसद्भावे न किंचिन्मानमस्ति। ननु त्र्यणुकं कार्यद्रव्योपादानकं महत्त्वे सति कार्यत्वात् घटवत्। तथारम्भक-

---

महत्त्वं न स्यात्परमाणुपरिमाणैरेयारम्भसंभवादिति, तत्राह—**परमाण्विति**। विप्रतिपन्नमनारम्भकं नित्यपरिमाणत्वात् परममहत्त्ववदित्यर्थः। **निरवयवेष्विति**। प्रशिथिलावयवसंयोगो हि प्रचयः, न स निरवयवेषु संभवतीत्यर्थः। **न च परमाणुगतेति**। अत्र किं नित्यगतसंख्यात्वादनारम्भकत्वम्? अनेकत्वसंख्यात्वाद्वा? नाद्यः, परमाणुषु द्वित्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, द्व्यणुकगतबहुत्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गादिति भावः। एतेनाचाक्षुषत्वं प्रत्युक्तम्, महत्त्वादेवोपपत्तेः। यत्तु स्वयमेवाशङ्क्य निराकरिष्यतीत्युक्तम्, तत्करोति—**नन्विति**। इयमनुपपत्तिरणुद्व्यणुकारम्भेऽपि समाना। यथा द्व्यणुकारब्धत्र्यणुकध्वंसे द्व्यणुकशेषतया न किंचिद्दृश्यते, तथावयविनोपि द्व्यणुकारभ्यत्वे न किंचिद्दृश्येतेति नेयं द्व्यणुकसाधिकेत्यर्थः। ननु नास्माभिर्द्व्यणुकैरेवाव्यवधानेन, पटाद्यारम्भोऽभ्युपगम्यते, येनायमनन्तरो दोषः स्यात्; किंतु त्र्यणुकादिक्रमेण। तथाचोत्तरोत्तरनाशेऽपि पूर्वपूर्वस्य प्रत्यक्षत्वं घटते, त्र्यणुकविनाशे त्वन्यस्यादर्शनमनुगुणमेवेति शङ्कते—**त्र्यणुकेति**। स्यादेवं यद्येवमेवेति भवतां नियमः, न त्वेतदस्ति, चतुर्भिर्द्व्यणुकैश्चतुरणुकारम्भवद्द्व्यणुकसहस्रेणाप्येककार्यारम्भोऽनुमन्यत एव भवता। तथाच तत्रैवोक्तानुपपत्तिः समानेत्याह—**न चतुर्भिरिति**। नच चतुरणुकमपि त्र्यणुकचतुष्टयारब्धम्, अणुशब्दार्थाभावात्, अण्वारब्धेष्वणुषु चाणुशब्दप्रयोगः, द्व्यणुकत्र्यणुकयोस्तथा, तद्दर्शनात् परमाणुव्यतिरिक्तयोः। ननु किमिति मानाभावः? यावता किरणावलीकारोक्तमस्त्यनुमानमिति शङ्कते—**ननु त्र्यणुकमिति**। आकाशादौ व्यभिचारवारणाय कार्यत्वादित्युक्तम्। इच्छादिनित्यद्रव्यगुणैः स्वाभिमतद्व्यणुकेन च व्यभिचारवारणाय महत्त्वे सतीत्युक्तम्।

मानने पर त्र्यणुक में महत्त्व नहीं आ सकेगा; क्योंकि परमाणु-परिमाण नित्य होने के कारण उसका आरम्भक नहीं हो सकता और निरवयव परमाणुओं में प्रचय (अवयवों का शिथिल संयोग) की तो आशङ्का भी नहीं कर सकते। तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि परमाणुगत बहुत्व संख्या से ही त्र्यणुक में महत्त्व उत्पन्न हो आयगा। 'परमाणुगत बहुत्वसंख्या आरम्भक नहीं'—यह मानने पर परमाणुगत द्वित्व संख्या में भी द्व्यणुक-परिमाण-आरम्भकत्व न रहेगा। यदि कहें कि परमाणुओं से ही आरम्भ मानने पर घटादि के नष्ट होने के बाद कपालादि का दर्शन नहीं होनी चाहिए; क्योंकि परमाणु अदृश्य होते हैं। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि अवयवी को द्व्यणुक से जन्य मानने पर भी तो यह आपत्ति बनी ही रहती है। यदि कहें कि द्व्यणुक से त्र्यणुक, त्र्यणुक से चतुरणुक—इस प्रकार आरम्भ मानने पर वह आपत्ति नहीं रहती। तब भी चार द्व्यणुकों से चतुरणुक के समान सहस्र द्व्यणुकों से आरब्ध कार्य का नाश हो जाने पर वह आपत्ति बनी ही है। अतः द्व्यणुक के सद्भाव में कोई भी प्रमाण नहीं। यह जो उदयनाचार्यादि ने कहा है—"महतः कार्यद्रव्यस्य कार्यद्रव्यारम्भत्वनियमाद् द्व्यणुकसिद्धिः" (किर० पृ० ६४) अर्थात् (१) 'त्र्यणुक किसी जन्य द्रव्यरूप समवायिकारण से उत्पन्न होता है, क्योंकि महत्त्व परिमाणवाला कार्य है, जैसे—घट" (जिस जन्य द्रव्य से त्र्यणुक उत्पन्न होता है, वही द्व्यणुक है)। एवं (२) "आरम्भक द्रव्यगत संख्या का अपकर्ष-तारतम्य, कहीं-न-कहीं विश्रान्त होता है, तारतम्य होने से, जैसे—परिमाण-तारतम्य" (जहाँ वह तारतम्य

द्रव्यसंख्यापकर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमभावत्वात्परिमाणतरतमभाववत् । न चैकत्वसंख्यायामेव विश्रान्तौ सिद्धसाधनता ; तथा सत्येकद्रव्यस्यैव द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात् । न चैकद्रव्यारब्धं द्रव्यम् ; कार्यद्रव्यस्यानाशप्रसङ्गात् । कारणविभागस्य कारणविनाशस्य च तन्नाशहेतोरभावात् । ततो द्व्यणुकसिद्धौ न परमाणूपादानकत्वं त्र्यणुकस्येति चेत्, न ; प्रथमप्रयोगे महदुपादानकत्वस्योपाधित्वात् । ननु परिमाणावान्तरसामान्यस्य महत्त्वाद्यवान्तरसामान्यव्यतिरिक्तस्य कार्याकार्यवृत्तित्वं महत्त्वे दृष्टमतोऽणुत्वस्यापि कार्याकार्यवृत्तित्वसिद्धौ

सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै प्रतिज्ञायां कार्यपदम् । **तथारम्भकेति** । तन्त्वारब्धपूर्वपूर्वारम्भकद्रव्येषु यदिदं संख्यापकर्षस्य तारतम्यं तत्क्वचिद्विश्रान्तम् । नचाश्रयासिद्धिः, यतोऽस्ति तावद्घटानुप्रविष्टपरमाणुसंख्यापेक्षया तदवयवकपालमनुप्रविष्टपरमाणुसंख्यापकर्षः, इतरथा घटकपालयोर्गुरुत्वादिसाम्यापातात् । नचायमपकर्षोऽनवधिः, एकत्वादपकृष्टसंख्याभावात् । नचैकत्वमेव तदवधिरित्यर्थान्तरता, तस्यारम्भकद्रव्यसंख्यात्वाभावात् । नह्येकद्रव्यमारम्भकम्, तथा सति संयोगलक्षणासमवायिकारणाभावात् विनाशहेत्वभावान्नित्यतापाताच्च । तस्मात्परमाणुगतद्वित्वं विश्रान्तिभूमिः । तथाच यत्परमाणुद्वयारब्धं कार्यं तद् द्व्यणुकमिति भावः । तदेतद् दूषयति—**न प्रथमेति** । घटादौ कार्योपादानकत्वे त्वदुक्तहेतुर्न प्रयोजकः, किंतु महदुपादानकत्वम्, आकाशादौ व्यतिरेकसिद्धेर्न पक्षेतरतेति भावः । वस्तुतो नायमुपाधिर्महत्पदवैयर्थ्यात् । दूषणं तु सप्रतिसाधनं वक्ष्यते । अपि च घटत्वमत्रोपाधिः । नच साध्याव्यापकता, त्र्यणुकघटान्यतरत्वे सति कार्यद्रव्योपादानकत्वे घटत्वस्योपाधित्वात्, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधिवत् । तथाच साध्यव्यावृत्तिसिद्धिः, तदन्यतरत्वाव्यावृत्तेरशक्यत्वात् । सर्वानुमानभङ्गप्रसङ्गश्चानिर्वचनीयवादिनो न वचनीयः । श्रीवल्लभस्तु 'अनुग्राहकतर्काभावात्साध्यव्याप्तिः पूर्वस्य नास्ति, प्रत्युत बाधकापत्तिश्चे'ति मन्वानो बाधकमुक्तवान्, तमनुवदति—**ननु परिमाणेति** । परममहत्त्वादिषु व्यभिचारनिरासायोक्तं महत्त्वाद्यवान्तरेति । प्रयोगशरीरं तु—अणुत्वसामान्यं कार्याकार्यवृत्ति परिमाणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वान्महत्त्ववदिति भावः । नच साध्यवि-

---

समाप्त होता है, वही द्व्यणुक है—द्र० न्या० ली० पृ० ८२३) । उक्त तारतम्य की विश्रान्ति एकत्व संख्या में मानकर सिद्ध-साधनता दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वैसा मानने पर एक द्रव्य को ही द्रव्यारम्भक मानना पड़ेगा । एक परमाणु से कोई द्रव्य उत्पन्न होता नहीं । यदि होगा तो उसका नाश नहीं होगा ; क्योंकि उसके नाश का कारण हो सकता है—अवयव-विभाग या अवयव-नाश, किन्तु वहाँ दोनों सम्भव नहीं (द्र० न्या० कं० पृ० ३२) । इस प्रकार द्व्यणुक की सिद्धि हो जाने से त्र्यणुक की उपादानता द्व्यणुक में ही माननी होगी, परमाणुओं में नहीं । यह उदयनाचार्यादि का कहना युक्त नहीं ; क्योंकि प्रथम प्रयोग में 'महदुपादानकत्व' उपाधि है (घटरूप दृष्टान्त में महदुपादानकत्व रहने से साध्य का व्यापक और त्र्यणुकरूप पक्ष में न रहने से साधन का अव्यापक है) । यह जो लीलावतीकार ने इस उपाधि का खण्डन करते हुए कहा है—"कार्यद्रव्योपादानत्वं प्रति महद्द्रव्योपादानकत्वस्योपाधित्वनिर्णयहेतोस्तर्कस्याभावात् । परिमाणत्वावान्तरसामान्यस्य महत्त्वाद्यवान्तरसामान्यव्यतिरिक्तस्य कार्याकार्यव्यक्तिवृत्तित्वस्योपलब्धेर्महत्त्ववत् तत्प्रतिबन्धकस्य च प्रतिकूलतर्काहतिबलेनैव उपाधेरपि निरासात्" (न्या० ली० पृ० ८२५) । अर्थात् उपाधित्व का निर्णायक होता है—अनुकूल तर्क । वह तो यहाँ है नहीं, प्रत्युत प्रतिकूल तर्क है कि महत्त्व-व्याप्य जाति से भिन्न, परिमाणत्व की साक्षात् व्याप्य जाति नियमतः कार्य और अकार्य, दोनों में वृत्ति होती है । महत्त्व जाति में यही नियम देखा गया है कि वह घटादि कार्य में भी रहती है और आकाशादि अकार्य (नित्य) में भी । अतः 'अणुत्व' जाति में भी कार्याकार्य-वृत्तित्व सिद्ध होता है । परमाणु में रहने से अणुत्व में अकार्य-वृत्तित्व निश्चित ही है, कार्य-वृत्तित्व घटाने के

कार्याणुपरिमाणाधिकरणद्व्यणुकसिद्धिरिति चेत्, न; ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरनैकान्त्यात्, तयोः कार्यैकवृत्तितयाऽकार्यवृत्तित्वानङ्गीकारात्। न च तद्व्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणान्नानैकान्तिकता; तथापि प्रतिसाधनसद्भावात्, तथा हि—अणुत्वं कार्याकार्यवृत्ति न भवति महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सति परिमाणावान्तरजातित्वाद्ध्रस्वत्वादिवत् भवन्मतमाश्रित्य प्रयोगसंभवात्, त्रसरेणुनित्यत्ववादिनं भाट्टं प्रति हेतोर्विशेष्यासिद्धेश्च द्वितीयप्रयोगे च सिद्धसाधनता, त्रसरेणुयुगलादौ संख्यापकर्षतारतम्यविश्रान्त्युपपत्तेः। तदेवं परमाणुभिरारब्धे त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेर्न द्व्यणुकादिप्रक्रमप्रक्रियासिद्धिः।

किंच— परिमाणस्य सिद्धत्वे तदारम्भविचारणा।
नाद्यापि सिद्धस्तद्भावोऽभावाल्लक्षणमानयोः ॥५०॥

परिमाणमेव न निरूपणपथमवतरति, कुतस्तदारम्भचिन्ता ? तल्लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणात्, तथा हि—किं (१) मानव्यवहारकारणं परिमाणम् ? (२) उत द्वित्वासमवायिकारणक-

---

कत्वता, महत्त्वस्याकाशादिषु घटादिषु च वर्तमानत्वात्। तथा च यत् कार्यमणुत्वाधिकरणं परिमाणं तदधिकरणम् द्व्यणुकम्, यच्च नित्यपरमाणुपरिमाणं तदधिकरणं परमाणुरित्यर्थः। अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—तयोरिति। अस्तु तर्हि ह्रस्वत्वदीर्घत्वव्यतिरिक्तत्वे सति इति विशेषणम्, तत्राह—न चेति। ननु यदिदमणुत्वं प्रतिसाधने पक्षीक्रियते तत्तावन्न वेदान्तिनः सिद्धम्, परमाणुद्व्यणुकयोरसिद्धौ तत्परिमाणतत्सामान्ययोरसिद्धतरत्वादिति, तत्राह—भवन्मतमिति। अथवा महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणं व्यर्थम्; आकाशादीनामपि कार्यत्वादात्मनश्च परिमाणानधिकरणतया महत्त्वस्यापि कार्यैकवृत्तित्वेनोक्तसाध्यवत्त्वादिति, तत्राह—भवन्मतमिति। यच्च प्रथमानुमाने महत्त्वे सति कार्यत्वादित्युक्तं तत्र विशेष्यासिद्धिमाह—त्रसरेण्विति। आरम्भकद्रव्यसंख्येत्यादिद्वितीयानुमानेऽपि दूषणमाह—द्वितीयेति। द्वित्वं ह्यारम्भकसंख्यापकर्षविश्रान्तिभूमिः, तच्च त्र्यणुकगतमपि संभवति, ततः परारम्भकस्याद्याप्यसिद्धिरित्यर्थान्तरमित्यर्थः। प्रपञ्चितं द्व्यणुकदूषणमुपसंहरति—तदेवमिति।

यस्य च महत्त्वस्योत्पत्त्यनुपपत्त्या द्व्यणुककल्पनं तदेवासिद्धम्, परिमाणमात्रस्य दुर्निरूपत्वे तद्विशेषमहत्त्वस्य दुर्निरूपत्वादित्याह—किंचेत्यादिना। अभावादिति च्छेदः। श्लोकं विवृणोति—परिमाणेति।

लिए द्व्यणुक की सत्ता माननी पड़ती है। तो यह लीलावतीकार का कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि उक्त नियम का ह्रस्वत्व और दीर्घत्व में व्यभिचार है, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व की कार्यमात्र में ही वृत्तिता मानी जाती है, अकार्य में नहीं। 'तद्भिन्नत्वे सति'—यह विशेषण लगाकर उक्त दोष दूर कर देने पर भी सत्प्रतिपक्ष दोष है—"अणुत्व कार्य और अकार्य में वृत्ति नहीं होता, महत्त्व से भिन्न, परिमाणत्व-व्याप्य जाति होने से, जैसे—ह्रस्वत्वादि।" आपके मत से यह प्रयोग सम्भव है। (त्रसरेणु-नित्यत्व-वादी भाट्ट के प्रति उक्त प्रथम प्रयोग के हेतु (महत्त्वे सति कार्यत्व) का विशेष्य (कार्यत्व) अंश उक्त त्र्यणुकरूप पक्ष में असिद्ध भी है। द्वितीय (आरम्भकद्रव्यसंख्यापकर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तरतमभावत्वात्) प्रयोग में सिद्ध-साधनता है; क्योंकि उक्त संख्या का अपकर्ष-तारतम्य द्वित्व में ही समाप्त माना जाता है, वह द्वित्व हम त्रसरेणुद्वय में मानते ही हैं। इस प्रकार जब कि परमाणुओं से ही आरब्ध त्र्यणुक में महत्त्व बन जाता है, तब द्व्यणुकादि-क्रम की प्रक्रिया सिद्ध नहीं होती।

दूसरी बात यह भी है कि 'परिमाण पदार्थ के सिद्ध होने पर ही उसके आरम्भ का विचार चल ही सकता है। किन्तु लक्षण और प्रमाण न होने से परिमाण ही सिद्ध नहीं होता। परिमाण का यदि को लक्षण है, तो क्या (१) मान-व्यवहार-कारणत्व ? या (२) द्वित्वासमवायिकारणक-वृत्ति गुणत्व-व्याप्य जाति-युक्तत्व ? या (३) असमवायिकरणता-रहित जो आकाश-वृत्ति नित्य गुण, उसमें वृत्ति गुणत्व-

वृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयम् ? (३) आहोस्विदसमवायिकारणत्वानधिकरणनित्याकाशवृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत् ? (४) परिमाणत्वजातिमद्वा ? नाद्यः; अदृष्टेश्वरादेरपि मानव्यवहारकारणस्य परिमाणत्वप्रसङ्गात्। विषयतयेति विशेषणाददोष इति चेत्, न; परिमाणत्वजातेरपि तथात्वापत्तेः। जातिमत्त्वे सतीतिचेत्, न; द्रव्येऽपि प्रसङ्गात्। परिमाणत्वजातिमत्त्वे सतीति चेत्, न; तावन्मात्रस्यैव लक्षणत्वोपपत्तौ व्यर्थविशेष्यत्वापातात्। नापि द्वितीयः; द्वित्वस्य तदसमवायिकारणत्वस्य चानन्तरमेव निरस्तत्वात्। किंच विशिष्टजातिमत्त्वं ज्ञाततया तद्व्यवहारकारणं वक्तव्यम्, तच्च किंचिदुपसंग्राहकपुरस्कारेणैव सर्वलक्ष्यव्यक्तिनिष्ठतयाधिगन्तव्यम्, अन्यथा व्यक्त्यन्तरे तथा प्रथाऽभावेन तद्व्यवहाराभावपसङ्गात्।

द्वित्वमसमवायिकारणं यस्य द्व्यणुकपरिमाणस्य तद्द्वित्वासमवायिकारणकं तद्वृत्तिर्गुणत्वावान्तरजातिस्तद्वदित्यर्थः। रूपादिव्यवच्छेदाय प्रथमं विशेषणम्। द्रव्यादिव्यवच्छेदाय द्वितीयम्। **असमवायिकारणेति**। असमवायिकारणत्वानधिकरणं नित्यश्च य आकाशवृत्तिर्गुणः तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदीयं चेत्यर्थः। अत्रापि रूपत्वादिकमादाय रूपादिष्वतिव्याप्तिनिरासार्थमाकाशवृत्तिवृत्तीत्युक्तम्। तथापि द्वित्वादिष्वतिव्यातिस्तदर्थे नित्यग्रहणम्। एतेन संयोगविभागशब्दा अपि व्यवच्छिन्नाः। तथाप्येकत्वपृथक्त्वयोरतिव्याप्तिस्तदर्थमसमवायिकारणत्वानधिकरणेत्युक्तम्। नहि परममहत्त्वस्य किंचित्प्रत्यसमवायिकारणत्वमस्ति। एकत्वादेश्च द्वित्वादेरसमवायिकारणत्वाधिकरणत्वान्निरासः। ननु यद्यपि सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणादृष्टेश्वरादेरस्ति मानव्यवहारकारणत्वं तथापि न विषयतया, तादृशकारणत्वं चात्र विवक्षितमिति सङ्कते—**विषयेति**। 'गुणत्वे सति मानव्यवहारकारणम्' इत्युदयनस्तदपि गुणत्वखण्डनेन निरसनीयम्। यद्यपि परिमाणत्वजातेः परिमाणविशेषणतया व्यवहारविषयत्वमस्ति, तथापि जातिमत्त्वे सतीति विवक्षितम्, नच जातौ जातिरस्तीति नातिव्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि तदाधारद्रव्येऽतिव्याप्तिरित्याह—**न द्रव्येऽपीति**। न जातिमत्त्वमात्र विवक्षितम्, किंतु परिमाणत्वजातिमत्त्वम्, तेन न द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिरिति शङ्कते—**परिमाणत्वेति**। परिमाणत्वजातियोगीत्येतावदेवास्त्वित्यर्थः। ओमिति च न वाच्यम्, अन्त्यपक्षत्वेन दूष्यमाणत्वादिति भावः। शिवादित्यमनोहरयोरभिमतलक्षणं दूषयति—**नापीति**। यानि च जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तानि लक्षणानि, तेषां साधारणदूषणमाह—**किंचेति**। व्यवहारोऽपि लक्षणप्रयोजनम्, स च ज्ञातात्, इतरथातिप्रसङ्गात्, असत्त्वप्रसङ्गाच्च, केवलव्यतिरेकित्वाल्लक्षणस्य, तथा चैवंविधजातिमत्त्वमपि लक्षणं ज्ञातमेव व्यावर्तकमित्यर्थः। ततः किमिति तत्राह—**तच्चेति**। एतादृशामेवंविधजातिमत्त्वं न त्वनीदृशामिति यदिदं ज्ञानं तद्यदि व्यक्तिपुरस्कारेण तदा

व्याप्य जाति का आश्रयत्व ? या (४) परिमाणत्वजातिमत्त्व ? प्रथम लक्षण मान-व्यवहार के साधारण कारण अदृष्ट ईश्वरेच्छा में अतिव्याप्त है। यदि कहा जाय मान-व्यवहार में जो विषय होकर कारण हो, उसे परिमाण कहते हैं—यह विवक्षित है; तब उक्त दोष न होने पर भी परिमाणत्व जाति में अतिव्याप्ति हो जाती है। 'जातिमत्त्व' विशेषण देने पर द्रव्य में भी अतिव्याप्ति होगी। 'परिमाणत्वजातिमत्त्व' का निवेश करने पर इतना ही लक्षण उपपन्न हो सकता है, शेष (मान-व्यवहार-कारणत्व) विशेष्य दल व्यर्थ हो जाता है। द्वितीय (द्वित्वासमवायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयत्वम्) लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि द्वित्व और द्वित्वासमवायिकारणत्व का खण्डन निकट पूर्व में हो चुका है। दूसरी बात यह भी है कि 'द्वित्वासमवायिकारणक-वृत्ति, गुणत्व-व्याप्य जाति-विशिष्टत्व' लक्षण को ज्ञात होकर ही मान-व्यवहार का जनक कहना होगा। यह लक्षण किन-किन व्यक्तियों में अनुगव है— इस विषय का ज्ञान करानेवाला, सर्व लक्ष्य व्यक्तियों का संग्राहक कोई एक रूप मानना होगा। अन्यथा (सर्व लक्ष्यानुगत रूप को संग्राहक न मान कर किसी एक व्यक्तित्व को नियामक मानने पर) दूसरी व्यक्तियों में एक व्यक्ति-पर्याप्त रूप न होने से वहाँ मान-व्यवहार न हो सकेगा। सर्वानुगत संग्राहक रूप जब मान लिया, तब उसी से ही सब व्यक्तियों में मान-व्यवहार भी सिद्ध

तथा च तेनैवानुगतव्यवहारोपपत्तौ कृतं विलक्षणलक्षणपरीक्षाप्रयासेन। नापि तृतीयः; उक्तदोषानुषङ्गात्। नापि तुरीयः; जातिव्यञ्जकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। शक्यत्वे वा पूर्वोक्तदोषानुषक्तेश्च। तदेवं न लक्षणनिरुक्तिः।

नापि प्रमाणम्। नहि मानव्यवहार एव तत्र प्रमाणम्? तस्यानिरुक्तेः, तथा हि—कोऽयं मानव्यवहारः? किं (१) हस्तवितस्त्यादिव्यवहारः? (२) किं वाणुमहदादिव्यवहारः? (३) असर्वंगतत्वव्यवहारो वा? (४) परिमितत्वव्यवहारो वा? सर्वथा नोपपद्यते, अव्याप्तेः। अणुत्वमहत्त्वाद्यसिद्धौ तद्विशेषितव्यवहारासिद्धेः, असर्वंगतत्वव्यवहारस्य विभुत्वेनापि संभवात्। परिमितत्वव्यवहारस्य दशपलपरिमितमित्यादौ गुरुत्वेनापि दर्शनात्, यादृगाश्रयेऽणुमहदादिपरिमाणसमवायः परेणाङ्गीक्रियते तादृगाश्रयविशेषादेव तद्व्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपरिमाणकल्पनायां कल्पनागौरवाच्च। अस्तु तर्ह्यनुमानं मान-

---

तद्रूपस्यान्यत्राभावेन तत्र तद्धेतुव्यवहारो न स्यात्, तथाच सर्वव्यक्तिनिष्ठमेकरूपसंग्राहकं पुरस्कृत्य स इति वक्तव्यमित्यर्थः। प्रथा प्रतीतिः। ततो वा किमित्यत्राह—तथा चेति। विलक्षणजातिविशिष्टं यल्लक्षणं तत्परीक्षणप्रयासेन कृतमलमित्यर्थः। असमवायिकारणेत्यादितृतीयलक्षणं दूषयति—नापीति। अशक्यत्वादिति। पूर्वोक्तलक्षणानां दूषितत्वादिति भावः।

ननु मानव्यवहारः किमिति न प्रमाणमिति, तत्राह—न हीति। अव्याप्तेरिति। हस्तवितस्त्यादीनामेकैकस्यैकैकस्मिन्भावात्परमाणौ परममहति वाऽभावादव्याप्तिरिति प्रथमपक्षे दूषणम्। द्वितीये दूषणमाह—अणुत्वेति। परिमाणमात्रासिद्धौ तद्विशेषोऽसिद्ध इति भावः। सकलपरिमाणाननुगतिश्च लक्षणस्य द्रष्टव्या। तृतीये दूषणमाह—असर्वेति। विभुत्वाभावमादायापि घटत इत्यर्थः। अत्रापि व्यापकपरिमाणेऽव्याप्तिर्द्रष्टव्या। चतुर्थं दूषयति—परिमितेति। कल्पनागौरवं च सर्वपक्षसाधारणदूषणमाह—यादृगिति। एवं प्रत्यक्षं निराकृत्यानुमानमुद्भाव्य निराकरोति—अस्तु तर्हीति। अद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्ते एकत्वैकपृथक्त्वाश्रयत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं द्विष्ठगुणानसमवायिकारणेत्युक्तम्। तथापि शब्देन ज्ञानादिगुणैश्चार्थान्तरता, तदर्थमनित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तेत्युक्तम्। द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तगुणाश्रयः

हो जाता है, इस जाति-घटित विलक्षण लक्षण के परीक्षण का श्रम व्यर्थ है। तृतीय (असमवायिकारणत्वानधिकरणनित्याकाशवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्) लक्षण में भी उक्त दोष है। चतुर्थ (परिमाणत्वजातिमान्) लक्षण में जाति-व्यञ्जक का निर्वचन नहीं हो सकता। यदि हो, तब भी अनन्तरोक्त दोष की निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि परिमाण-लक्षण का निर्वचन सम्भव नहीं।

प्रमाण भी कोई नहीं। परिमाण में मान-व्यवहार को प्रमाण नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसका निर्वचन सम्भव नहीं। यदि निर्वचन करें तो मान-व्यवहार का क्या अर्थ? (१) हस्त-वितस्ति आदि व्यवहार? या (२) अणु-महदादि-व्यवहार? या (३ असर्वगतत्व-व्यवहार? या (४) परिमितत्व-व्यवहार? सबकी अनुपपत्ति है। परमाणुओं में एवं विभु द्रव्य में हस्त-वितस्ति का (यह एक हाथ है, यह एक बालिश्त है—इस प्रकार) व्यवहार नहीं होता, अतः प्रथम लक्षण वहाँ अव्याप्त है। अणुत्व-महत्वादि परिमाणों की असिद्धि होने कारण अणुत्वादि घटित व्यवहार भी असिद्ध है। असर्वगतत्व-व्यवहार तो विभुत्वाभाव-निबन्धन भी हो सकता है। 'यह वस्तु दश पल परिमाण की है'—आदि स्थलों पर परिमितत्व-व्यवहार गुरुत्व—प्रयुक्त भी देखा जाता है। वस्तुतः जिस प्रकार के आश्रय विशेष में अणु, महान्—आदि व्यवहार सिद्धपरिमाणों का समवाय माना जाता है, उस आश्रय विशेष से ही वह व्यवहार निभ सकता है, उससे अतिरिक्त परिमाण की कल्पना में कल्पना-गौरव होगा। मानमनोहरकार ने जो यह अनुमान किया है—विवादास्पद, गुणों के असमवायिकारण से भिन्न, अनित्यविशेषगुणों से भिन्न जो अद्विष्ट गुण, उसका आश्रय होता है, द्रव्य होने

मनोहरकारोक्तम्–'विवादाध्यासितं द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठगुणाश्रयः द्रव्यत्वाज्जलाणुवत , अत्र च जीवाकाशौ पक्षीक्रियेते। तथेश्वरो नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तानसमवायिकारणाद्द्विष्ठगुणाश्रय आत्मत्वाज्जीववदिति चेत्, न;

आद्यस्योपाधिमत्त्वेन साध्याभावान्निदर्शने ।
द्वितीयस्योभयत्रापि प्रतिसाधनरोधनात् ॥५१॥

प्रथमानुमाने मूर्तत्वस्योपाधित्वात्। न च पार्थिवपरमाणौ साध्याव्याप्तिः; तत्रापि द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठगुणानां परत्वापरत्ववेगादीनां सद्भावात्। न चेश्वरे मूर्तत्वस्योपाधेः साध्याव्याप्तिः; तस्य वेदान्तिभिर्निर्गुणत्वाङ्गीकारात्। द्वितीयप्रयोगेऽपि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्। गुणानां नित्यत्वासिद्धावप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च। सप्र-

---

इत्युक्ते संयोगविभागाजनकौ यौ घटादिनिष्ठौ संयोगविभागौ तदाश्रयत्वेन सिद्धसाधनता, अत उक्तमद्विष्ठेति। द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्ते कार्यद्रव्येषु व्यभिचारस्तेषामनित्यगुणमात्राश्रयत्वेनानित्यव्यतिरिक्तगुणाश्रयत्वाभावादत उक्तं विशेषगुणेति। ईश्वरे व्यभिचारवारणायानित्यग्रहणम्। अत्र च विवादाध्यासितपदेन विवक्षितं दर्शयति–अत्र चेति। तथा चानित्यविशेषगुणानामेव तथाभूतानां सत्त्वेनोभयेषामपि पक्षत्वाद्दिक्कालयोर्विशेषगुणशून्यतया नित्यविशेषगुणपदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गेन पक्षत्वासंभवात् जीवाकाशयोरेव पक्षत्वं दिक्कालयोस्तु पक्षतुल्यतयावस्थानमिति भावः। अनुमानान्तरमपि तदीयमाह—**तथेति**। अत्राप्यद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्ते एकत्वादिनार्थान्तरता, तदर्थमनसमवायिकारणेत्युक्तम्। तथापि ज्ञानादिनार्थान्तरता, तदर्थं नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तेत्युक्तम्। द्वित्वादिभिरर्थान्तरतापरिहारायाद्विष्ठग्रहणम्। सामान्यादिभिरर्थान्तरतापरिहाराय गुणग्रहणम्। अनयोर्दूषणं संगृह्णाति—**आद्यस्येति**। द्वितीयस्य निदर्शने साध्याभावादित्यन्वयः। श्लोकं विवृणोति–**प्रथमेति**। यदत्र तेनैवोक्तम् 'नच स्पर्शवत्त्वमूर्तत्वे उपाधी, पवनपार्थिवपरमाणुव्यभिचारात्' इति, तद्दूषयति—**नचेति**। साध्याव्याप्तिः साध्येनोपाधेर्व्याप्त्यभावः, साध्याधिकवृत्तितेति यावत्। साध्याव्याप्तिरिति साध्यसमव्याप्त्यभावो विवक्षितः। ननु विश्वेश्वरे नित्यज्ञानादेरुक्तरूपत्वेन साध्यवत्त्वमस्ति, नचास्ति मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्याव्यापक इति, तत्राह—**नचेश्वरे इति**। तत्र साध्यमपि नास्तीत्यर्थः। किंचात्र द्विष्ठविशेषगुणपदयोरपार्थकता, अनसमवायिकारणपदेनानित्यव्यतिरिक्तपदेन वाऽनभीष्टव्यावृत्तिसिद्धेः। अर्थान्तरता च, शब्दज्ञाननित्यतामादायापि विश्रामात्। ईश्वरान्यामूर्तान्यत्वस्य समव्यापकस्योपाधित्वाच्च। **साध्यवैकल्यादिति**। निर्गुणात्मवादित्वाद्वेदान्तिन इत्यर्थः। नित्यविशेषगुणेत्ययमप्यंशो मां प्रत्यसिद्ध इत्याह— **गुणानामिति**। उभयत्रापीत्यादिकं

के कारण, जैसे जलीय अणु।" यहाँ जीव और आकाश को पक्ष बनाया गया है। एवं "ईश्वर नित्य विशेषगुणों से भिन्न, असमवायिकारण से भिन्न जो अद्विष्ठ गुण, उसका आश्रय होता है, आत्मा होने से, जैसे—जीव।" मानमनोहरकार के ये अनुमान भी निर्दुष्ट नहीं; क्योंकि प्रथम प्रयोग का हेतु सोपाधिक है, द्वितीय प्रयोग का दृष्टान्त साध्य-विकल है, तथा दोनों में सत्प्रतिपक्ष है। अर्थात् प्रथम प्रयोग के (द्रव्यत्व) हेतु में 'मूर्तत्व' उपाधि है। यदि कहा जाय कि पार्थिव परमाणुओं में साध्य के न रहने पर भी उपाधि रहती है, अतः साध्य के साथ उपाधि की समव्याप्ति नहीं। तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि पार्थिव परमाणुओं में भी उक्त साध्यस्वरूप परत्व, अपरत्व वेगादि रहते ही हैं। 'ईश्वर में साध्य रहने पर भी मूर्तत्व नहीं, अतः उपाधि में साध्य की व्यापकता नहीं'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि वेदान्त-मत में आत्मा निर्गुण है, अतः उसमें साध्य भी नहीं रहता। इसीलिए द्वितीय प्रयोग में दृष्टान्त, साध्य-विकल है। गुणों में नित्यता सिद्ध न होने के कारण अप्रसिद्धविशेषणता भी है। दोनों प्रयोग सप्रतिसाधन भी हैं—"विवादास्पद (आकाशादि) उक्त द्विष्ठानसमवायिकारणत्वादि विशेषण-विशेषित साधारण गुणों का आश्रय नहीं, अमूर्त होने के कारण,

तिसाधनं चेदं प्रयोगद्वयम् , विवदाध्यासितमुक्तविशेषणविशेषितसाधारणगुणाश्रयो न भवत्यमूर्तत्वाद्रूपादिवदिति प्रयोगोपपत्तेः । न चा द्रव्यत्वमुपाधिः; तद्व्यतिरेके पृथिव्यादिषु मूर्तत्वस्यैवोपाधित्वात् । तदेवं परिमाणस्यासिद्धेर्न तदारम्भविचारणाप्यवकाशं लभते ।

न च कारणगुणपूर्वकतानियमः रूपादीनाम् ; परिपक्के लौहित्यस्याकारणगुणपूर्वस्यापि दर्शनात् । ननु निवृत्तः श्यामो घटोऽन्य एव च लोहितस्तत्रोत्पन्नः, तथा हि–श्यामत्वमाश्रयविनाशादेव नश्यति कार्यगतरूपत्वात् नष्टपटरूपवत् । तथा लौहित्यमाश्रयोत्पत्त्यनन्तरमेवोत्पद्यते कार्यगतरूपत्वात्कार्यलोहितपटरूपवदित्यनुमानतस्तद्भेदसिद्धेः । न च विनाशे हेतोरभावः;

विवृणोति—सप्रतिसाधनमिति । जीवाकाशौ द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम् , तथेश्वरोप्युक्तविशेषणविशिष्टसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम् । उभयत्रामूर्तत्वादिति हेतुरवगन्तव्यः । तद्व्यतिरेक इति । एवं ह्युपाधेर्व्यतिरेका वक्तव्यः–विप्रतिपन्नमेवंविधगुणाश्रयः द्रव्यत्वात् पृथिवीवदिति । तत्र मूर्तत्वमुपाधिरतः साध्यव्याप्तिर्नास्तीत्यर्थः । किंच श्रोत्रमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन शक्यमाकाशे प्रकरणसमत्वं संपादयितुमात्मनि च मनोमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन, शब्दो वा ज्ञानादिकं वा दृष्टान्तः । परिमाणखण्डनस्य परिमाणकारणत्वनिराकरणोपयोगमाह—तदेवमिति ।

यच्च 'कारणगुणप्रक्रमेण कार्ये गुणारम्भः' इति वैशेषिकैः परिभाष्यते, तदप्ययुक्तम् , पाकजप्रक्रियायामेव नियमस्याशक्यसमर्थत्वादित्याह—नच कारणेति । योहि परिपक्वो घटस्तस्य पाकसमये रूपान्तरं तावदुत्पद्यते, नच तस्य कारणगुणपूर्वकत्वम्, पूर्वघटस्यानष्टत्वात् । स्थित एव तस्मिन्रूपान्तरस्याग्निसंयोगात्परमुत्पत्तेरित्यर्थः । ननु स्थित एव घट इत्यसिद्धं नष्टत्वादामघटस्येति शङ्कते—नन्विति । ननु स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञानात् घटैक्यावगमे कथं तस्य निवृत्तिरित्यत आह—तथा हीत्यादिना । नष्टघटरूपेणार्थान्तरतापरिहारायैवग्रहणम् । परमाणुगतरूपेऽनैकान्तिकतापरिहाराय कार्यग्रहणम् । कार्यगतसत्तादिव्यावृत्त्यै रूपग्रहणम् । एवमामघटध्वंसं प्रसाध्य कार्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनियमार्थम् लोहितघटस्योत्पत्तावप्यनुमानमाह—तथा लौहित्यमिति । लोहिततन्त्वारब्धः पटो लोहितपटः । पटग्रहणं चोपलक्षणार्थम् । एवं किरणावलीकारोदीरितानुमानविरोधाद् द्रव्यभेदाधिगतौ प्रत्यभिज्ञा ज्वालाप्रत्यभिज्ञावद् भ्रान्तेत्यर्थः । नन्वत्र मुशलप्रहारादिरसमवायिकारणसंयोगनाशहेतुः पाकावस्थायां नास्ति तत्कथं विनाशः ? अनुमानद्वयं तु शङ्कितोपाधिव्याधिव्याहतं भविष्यतीति, तत्राह—न च विनाश इति । स्पर्शवान्वेगवांश्च योऽनिलस्तस्य संचलनेन यो प्रज्वलज्ज्वलनस्तस्य यो ज्वालाकलापस्तस्येति विग्रहः । अयमभिसंधिः—घटादिपार्थिवावयविनां तेजःसंयोगे सत्यग्न्याद्याघातान्नोदनात् वा परंपरया तदारम्भकेषु परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते तेभ्यो विभागः विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशस्ततश्च द्व्यणुकमारभ्यान्त्यावयविपर्यन्तं द्रव्याणां

जैसे रूप ।” यहाँ 'अद्रव्यत्व' उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि जहाँ अद्रव्यत्व नहीं, वहाँ उक्त साध्य भी नहीं, जैसे पृथिवी—इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति में 'मूर्तत्व' उपाधि है । इस प्रकार परिमाण की सिद्धि न होने से उसके आरम्भ का विचार नहीं चल सकता ।

वैशेषिकों का “कार्यगत गुण, कारणगत गुणों से ही जन्य होते हैं”—यह सिद्धान्त भी युक्त नहीं ; क्योंकि परिपक्व घट में रक्तिमा, कारणगत गुण से जन्य नहीं होती । यदि शङ्का हो कि वहाँ श्याम घट नष्ट हो जाता है, उसके अनन्तर रक्त घट उत्पन्न होता है । “श्याम रूप अपने आश्रय के नाश से नष्ट हो जाता है, कार्यगत रूप होने के कारण, जैसे–नष्ट पट का रूप ।” एवं रक्त रूप अपने आश्रय की उत्पत्ति से उत्पन्न होता है, कार्यगत रूप होने से, जैसे–रक्ततन्तु-जन्य पट-रूप । इन अनुमानों के आधार पर श्याम घट से रक्त घट का भेद सिद्ध होता है, अतः रक्त रूप भी कारण-गुण-पूर्वक ही है । 'वहाँ घट के असमवायिकारण का कोई नाशक नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते ; क्योंकि सस्पर्श और सवेग पवन के चलने से प्रज्वलित अग्नि की ज्वालाओं का सम्पर्क, कपाल-संयोग का

स्पर्शवद्वेगवदनिलसंचलनबलेन प्रज्वलज्ज्वलनस्य ज्वालाकलापस्यैव घटावयवसङ्घातविघटनहेतुत्वात्। अन्यथानलावयवानामन्तरनुप्रवेशासंभवेन पिठरजठरसंचारिसलिलोल्ललनतण्डुलविक्लेदनयोरसंभवप्रसङ्गात्। मृदुकठिनतालक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गोपलब्धेश्च तद्भेदावगतौ कथं न कारणगुणपूर्वकता रूपादीनामिति चेत्, मैवम्;

तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात्तदाधेयानिपाततः।
संख्याप्रमाणयोरैक्यादन्यथा पाकसंभवात् ॥५२॥

स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्, उपरिस्थितशरावादीनामपातात्, तद्देशत्वतत्संख्यतातत्परिमाणतोपलब्धेश्च। अन्तःपाकस्यापि सच्छिद्रत्वादवयविनां स्फटिकान्तरिन्द्रियरश्मिप्रवेशवदुपपत्तेः। अन्यथा सलिलस्यन्दनबहिःशैत्योपलम्भयोरभावप्रसङ्गात्। मृदु-

---

विनाशः, तस्मिन् विनष्टे परमाणुष्वग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षाद्रूपरसगन्धस्पर्शानां विनाशः, पुनरन्यस्मादग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात्पाकजरूपादयो जायन्ते, तदनन्तरं च भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगादणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद् द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिरिति पीलुपाकवादिप्रक्रिया। तथाच स्पर्शवद्वेगवदग्निसंयोगो द्रव्यासमवायिकारणसंयोगनाशहेतुरिति। नन्वविनष्टे एव कार्यद्रव्ये रूपादिमात्रस्यैव निवृत्तिरपरस्य चोत्पत्तिः किं न स्यादिति, तत्राह—**अन्यथेति**। अथवा तादृशज्वालासंपर्को बहिष्ठावयवानाम्, न पुनर्घटान्तरावयवानाम्, तत्कथमान्तरावयवसंयोगनाश इति? तत्राह—**अन्यथेति**। उल्ललनम् ऊर्ध्वचलनम्। विरुद्धधर्मसंसर्गादपि द्रव्यान्तरमेवावसीयत इत्यभिप्रेत्याह—**मृद्विति**। तदेतद् दूषयति—**मैवमिति**। स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्तावदामपक्वावस्थयोरैक्यमवगम्यते, ततस्तद्विरुद्धतया कालात्ययापदिष्टमनुमानजातमित्यैक्यमेव युक्तम्। **तदाधेयानिपाततः**। यदि हि पाकसमये चुल्ल्यादीनां विनाशोत्पादौ स्याताम्, तदा तदन्तराकाले तदुपरिस्थितस्थाल्यादीनां निपातः स्यान्मुद्गरादिप्रहारे तथादर्शनात्। इतश्चैक्यमेव युक्तम्, संख्याप्रमाणयोरैक्यात्, यावन्तो यत्परिमाणाश्च घटा आमपाके निक्षिप्तास्तावन्तस्तत्परिमाणा एव च घटाः पक्वा अपि दृश्यन्ते। अपूर्वोत्पत्तौ हि कतिभिश्चित्परमाणुभिरधिका वा अधिकपरिमाणा वा किमिति नारभ्यन्ते? यत्तु पाकानुपपत्तिर्बाधिकोक्ता, तत्राह—**अन्यथेति**। द्रव्यविनाशव्यतिरेकेणापि सच्छिद्रत्वादवयविद्रव्याणां ज्वलनावयवानामान्तरेऽप्यनुप्रवेशसंभवेन पाकोपपत्तेरिति संग्रहश्लोकार्थः। तमिमं विवृणोति—**स एवेत्यादिना**। यथाहि सलिले विनष्टेषु बुद्बुदेषु बुद्बुदान्तराणां चोत्पत्तौ न तद्देशत्वादिनियमस्तथेहापि स्यात्, पूर्वस्य विनाशात्, न त्वेवमस्तीत्याह—**तद्देशत्वेति**। अथ किमिति सच्छिद्रतावयविनामिति, तत्राह—**अन्यथेति**। यथाहि सलि-

---

नाशक है। अन्यथा (कपाल-संयोग के नष्ट न होने पर) अग्नि के अवयव हाँडी के अन्दर प्रविष्ट न हो सकेंगे, तब हाँडी के अन्दर पानी में उबाल कैसे आयेगा? और कैसे चावल पकेंगे? कच्चा घड़ा मृदु था, पक्का कठिन हो गया, इस प्रकार विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से भी घट-भेद सिद्ध होने पर रूपादि में कारण-गुण-जन्यत्व मानना ही होगा। तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा से घट में अभेद ही सिद्ध होती है। अग्नि-संयोग से यदि घट नष्ट हो जाय, तब उसपर रखा प्याला या दूसरा घड़ा गिर जाना चाहिए, एवं संख्या और प्रमाण में अन्तर हो जाना चाहिए। किन्तु होता नहीं। अर्थात् कच्चे और पक्के घट का भेद मानने में "स एवायम्"—इस प्रत्यभिज्ञा का विरोध होता है। घट के ऊपर रखे शरावादि (प्याला वगैरह) गिरते नहीं एवं घट के देश, संख्या और परिमाण में किसी प्रकार का अन्तर भी नहीं पड़ता, अतः घट वही रहता है, बदलता नहीं। घट के फूटे बिना ही अग्नि-कण घटगत छिद्रों से अन्दर वैसे ही प्रविशिष्ट हो सकते हैं, जैसे स्फटिक के परदे को नेत्र की रश्मियाँ पार कर जाती है। अन्यथा (घट में सूक्ष्म छिद्रों के न होने पर) घटस्थ जल के बाहर

कठिनतालक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गस्याप्यन्तरेणावयविनाशं छायातपविनिहितपटवदुपपत्तेः । न च वेगवद्द्रव्याभिघातमात्रादवयविनाशः ; प्रबलपवनाभिमुखनिहितघटादेरपि विनाशापत्तेः । नियतहेतुभावकुलालादिव्यतिरेकेण घटजन्मासिद्धेश्च । अन्यथा शब्दसुखादयोऽप्याश्रयविनाशविनाश्याः, कार्यत्वे सति विशेषगुणत्वात् घटरूपादिवदित्यपि स्यात् । प्रत्यभिज्ञाविरोधस्तु प्रकृतेऽपि समानः । न चैवं पिठरकुहरसंचारितण्डुलानामनलसंपर्केऽप्यनाशप्रसङ्गः, परिमाणभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्विरोधिप्रत्यभिज्ञाभावाच्च । न च स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाविरोधः प्रदीपेऽपि तुल्यः ; न्यूनाधिकपरिमाणभेदस्य तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भात् , तैलवर्त्यग्निसंयोगानां च प्रतिक्षणं भेदेन सामग्रीभेदाच्च कार्यभेदोपपत्तेः, तत्र प्रत्यभिज्ञायाः सादृश्यविषयत-

---

लस्यन्दनादिमात्रान्न तद्घटनाशस्त्वयाङ्गीक्रियते, तथा दहनानुप्रवेशेऽपि सच्छिद्रेषु पाकोपपत्तेर्न द्रव्यनाशः इति भावः । विरुद्धधर्मसंसर्गं परिहरति—**मृदुकठिनेति** । यद्यपि छायातपविनिहितपटस्यापि पाको वैशेषिकैरङ्गीक्रियते, तथापि न विरुद्धसंस्पर्शवत्त्वेनावयविनो भेदोऽभिमतः, अवयविन एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानादिति भावः । यस्तु द्रव्यविनाशहेतुरुक्तः, सोऽप्यन्यथासिद्धत्वादसिद्ध इत्याह—**न चेति** । अथ तेजस एवायं स्वभावः यत्पूर्वव्यूहविनाशेन व्यूहान्तरोत्पादनम्, तथाहोदयनः—'ईदृशो हि तेजसो वेगातिशयः स्पर्शातिशयो वा' इत्यादि, तदसत् ; मुशलाभिघातेन तदभावप्रसङ्गात् । तेजस इत्येतदपि चानैकान्तम् ; नहि चाक्षुषं चान्द्रं वा तेजो घटादि पाचयतीत्यनुमन्यन्ते । तस्माद्यत्र प्रबलं विनाशप्रत्यायकमस्ति तत्र विनाशो नान्यत्रेत्ययमेव पन्थाः, न तु तेजस्त्वमिति युक्तमुत्पश्यामः । किंच घटाद्युत्पत्तौ कुलालादयश्चेतनविशेषाश्चक्रचीवरादयश्च हेतवो लोकप्रसिद्धास्तदभावे कथमामपाके कलशाद्युत्पत्तिः ? नियतहेतुव्यतिरेकेण च तदुत्पत्तावाकस्मिकतापातादित्याह—**नियतेति** । यदि चैवमबाधितप्रत्यभिज्ञापरिप्रापितेऽपि वस्तुतत्त्वेऽनुमानाभासदुर्मदेन कश्चिदनाश्वासो स्यात्तमतिप्रसङ्गाङ्कुशेन वशयति—**अन्यथेति** । आश्रयविनाशः आश्रयोत्पत्तेरप्युपलक्षणार्थः, तथाचाभाससमानयोगक्षेमं प्रथमानुमानमिति भावः । अथ तत्र प्रत्यभिज्ञाविरोधमेव पुरो निदध्यात्तत्राह—**प्रत्यभिज्ञेति** । स्वमते त्वतिप्रसक्तिं परिहरति—**न चैवमिति** । प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्येऽप्यतिप्रसक्तिं वारयति—**न चेति** । तत्र संप्रतिपन्नं द्रव्यान्यत्वम्, सामग्रीभेदश्च, अतस्तत्र युक्ता सादृश्यविषयतयान्यथासिद्धिः, इह तु न तथा बाधकमस्ति, प्रत्यभिज्ञात्वेन च बाधकानुमानमतिप्रसङ्गा-

---

स्वाव और शैत्य की उपलब्धि कैसे होगी ? मृदुता और कठिनतादि विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध भी घटनाश के बिना ही वैसे ही बन जायगा, जैसे कि छाया और धूप के सम्बन्ध से एक ही पट में कुछ अन्तर देखा जाता है । स्पर्श और वेगवाले द्रव्य के अभिघात से घटादि का नाश मानने पर सबल वायु के झोंकों के सामने रखे सब घट फूट जाने चाहिएँ । घट की हेतुता जिनमें नियत है, ऐसे कुलालादि के बिना घट की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । अन्यथा "शब्द, सुखादि अपने आश्रय के नष्ट होने से नष्ट होते हैं, जन्य विशेषगुण होने से, जैसे—घटगत रूप"—इस प्रकार के अनुमानों से आकाश आत्मादि का भी नाश सिद्ध हो जायगा। यदि वहाँ प्रत्यभिज्ञा का विरोध है, तो प्रकृत में भी वह है । "अग्नि-संयोग से यदि द्रव्य का नाश नहीं होता, तब हाँडी के अन्दर के चावल, अग्नि में पड़ कर क्यों जल जाते हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (अग्नि-संयोग से सभी द्रव्यों का नियमतः नाश या अनाश हम नहीं कहते, अपितु अनुभव के आधार पर जो सिद्ध हो, वही माना जायगा) चावलों में अग्नि-संयोग-जन्य विकार स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और विरोधी प्रत्यभिज्ञा भी नहीं होती, इसलिए चावलों का नाश मानते हैं । हाँ, प्रत्यभिज्ञा का विरोध रहने पर भी प्रदीपादि में स्थिरता नहीं मान सकते ; क्योंकि वहाँ न्यूनता या अधिकता प्रदीप-ज्वालाओं में स्पष्ट अनुभूत होती है । तैल, बत्ती और अग्नि के संयोग भी क्षण-क्षण में भिन्न होते हैं, अतः सामग्री के भेद से कार्य में भेद मानना अनिवार्य भी है । वैसे स्थलों पर "सेयं दीपज्वाला"—आदि प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमूलिका

यान्यथासिद्धेः। न चैकत्र प्रत्यभिज्ञाया अन्यथासिद्धौ सर्वत्र तथाभावः; बाधाबाधाभ्यां तद्व्यवस्थोपपत्तेः. अन्यथातिप्रसङ्गात्। तस्मात्कारणगुणप्रक्रमो न विदुषां परितोषायेति सिद्धम्।

कारणत्वानिरुक्तेश्च। तथा हि—किमिदं कारणत्वम्? किं (१) पूर्वकालभावित्वम्? किं वा (२) नियतप्राक्कालसत्त्वम? (३) सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा? (४) अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वं वा? (५) सामग्र्येकदेशत्वं वा? (६) व्यापारवत्त्वं वा? (७) यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तद्वा? नाद्यः; रासभस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः;

कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधितोऽन्योन्यसंश्रयात्।

पराद्धान्ताभ्यां ध्वस्तमित्यर्थः। एवमपि न्यायपदवीपरिप्रापितमश्रद्दधानः किरणावलीकारोऽनुमिमे—'घटादिद्रव्येष्वग्निसंयोगाः नियमेन द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकक्रियाहेतवः अग्निसंयोगत्वान्मूषाग्निसंयोगवत्' इति, तदसत्। उदकाकाशाद्यग्निसंयोगेऽनैकान्त्यात्, पार्थिवाग्निसंयोगत्वादिति विशेषणेपि विपक्षे बाधकाभावात् शङ्कितप्रयोजकता, प्रत्यभिज्ञाविरोधश्च निर्वहते। अन्यदपि तदीयमनुमानद्वयमाचार्येण प्रत्यभिज्ञाविरोधातिप्रसङ्गाभ्यां निरस्तमेवेत्यलम्। उपसंहरति—**तस्मादिति**।

किंच कारणत्वमेव यदा दुर्निरूपणम्, तदा कारणविशेषतया परमाण्वाद्यनुमानमसंभवि, नच जात्युत्तरता; ब्रह्मणः कारणत्वानङ्गीकारात्, वियदादिविवर्ताधिष्ठानमात्रत्वात्। नहि शुक्त्यादि रजतं प्रति कारणमिति प्रसिद्धिरस्ति। अधिष्ठानत्वमप्यनिर्वाच्यप्रतियोगिकत्वादनिर्वाच्यमेव, मृदादावपि निरूप्यमाणं कारणत्वमेवंविधाधिष्ठानत्वमेव। एतादृशाधिष्ठानत्वविवक्षया च "स कारणं करणाधिपाधिपः," "कारणत्वेन चाकाशादिषु" इत्यादिश्रुतिसूत्रभाष्यादौ ब्रह्मणि कारणशब्दप्रयोग इति हृदि निधाय कारणत्वं खण्डयति—**कारणत्वेति**। कारणत्वानिरुक्तेश्च न कारणगुणप्रक्रमो विदुषां परितोषायेत्यन्वयः। अङ्कुराजननलक्षणकार्याभाववत्त्वमतत्कारणस्याप्यस्तीत्युक्तम्—**सहकारीति**। जातीयपदं व्यक्तिसंग्रहार्थम्। **यदनभ्युपगम इति**। नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारकं चेत्यर्थः। यस्य मृदादेः कारणत्वेनाभिमतस्यानभ्युपगमे निर्हेतुकतया भावत्वे सति खादिवत् घटादेः सत्त्वम्, अभावत्वे सति शशविषाणादिवदसत्त्वं च प्रपद्यते तन्मृदादिकारणमिति भावः। **रासभस्यापीति**। अकारणस्यापि गर्दभादेर्धूमादिपूर्वभावित्वमस्तीति तस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिरित्यर्थः। नियतप्राक्कालसत्त्वमिति द्वितीयपक्षेऽपि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**कालस्येति**। नहि कालस्य कालभावित्वमस्ति, कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात्। अथौपाधिकः कालभेदोऽस्ति, तथाचोपाधिपौर्वापर्याभ्यामुपहितकालपौर्वापर्यमिति, तत्राह—**नाधित इति**। नाप्युपाधितः पौर्वापर्यम्, कुतः? अन्योन्यसंश्रयात्। उपाध्यन्तरेपि पौर्वापर्यं किमुपाध्यन्तरात्?

होती है। 'इसी प्रकार सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा अन्यथासिद्ध ही मानी जाय'—यह कोई नियम नहीं, जहाँ प्रत्यभिज्ञा का बाध है, वहाँ ही अन्यथासिद्ध और जहाँ बाध नहीं वहाँ मुख्य—यह व्यवस्था बन जाती है। अन्यथा सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा को अन्यथासिद्ध मानने पर आत्मादि में स्थिरता सिद्ध न हो सकेगी। इस लिए कारण-गुणों से कार्य-गुणों की उत्पत्ति-प्रक्रिया सन्तोष जनक नहीं यह सिद्ध हो गया।

कारणत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता। यदि करें तो क्या (१) पूर्वकाल-भावित्व करणत्व है? या (२) नियतप्राक्कालसत्त्व? या (३) सहकारि-विरह-प्रयुक्त कार्याजनकतावत्त्व? या (४) अन्वयव्यतिरेकशालिपदार्थ-वृत्ति जातिसत्त्व? या (५) सामग्री का एकदेशत्व? या (६) व्यापारवत्त्व? या (७) जिसको न मानने से कार्य की नित्य सत्ता या नित्य असत्ता प्राप्त हो, वह कारण माना जाय? (१) प्रथम पक्ष मानने पर रासभ में भी धूम की कारणता माननी होगी; क्योंकि वह भी धूम की उत्पत्ति के पूर्वकालभावी है। (२) द्वितीय (नियतप्राक्कालसत्त्वम्) पक्ष मानने पर काल में अहेतुत्व की आपत्ति होगी; क्योंकि काल एक ही है। यदि उपाधि से काल का भेद किया जाय,

स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वान्नियतत्वानिरुक्तितः ॥५३॥

कालाव्याप्तेः, कालस्य कालान्तराभावात्। न चौपाधिकं कालस्य पौर्वापर्यम्; इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्। कालपौर्वापर्ये उपाधिपौर्वापर्यम्, तत्पौर्वापर्ये कालस्य तथात्वमिति। उपाध्यन्तराधीनमुपाधेः पौर्वापर्यम्, न तु कालाधीनमिति चेत्, न; युगपदनन्तोपाध्यवस्थानप्रसङ्गात्। न चैवमस्त्विति वाच्यम्; प्रमाणाभावात्, व्यवहारस्य मायामयत्वेनोपपत्तेः, कल्पकाभावाच्च। अन्यथा तदुपाधेरेवातीतादिव्यवहारोपपत्तौ कालापलापप्रसङ्गात्। उपाधिभेदेऽपि किंचिदुपाधिविशिष्टस्य कालस्यान्योपाधिविशिष्टे काले न वृत्तिर्येन कालस्य पूर्वकाले भावित्वम्, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। न हि कुण्डलिनि देवदत्ते स एव दण्डविशिष्टो वर्तते। का चेयं नियतिः? किं (१) तस्मिन्सत्येव भावः? (२) अनन्यथासिद्धत्वं वा? (३) तत्त-

किंवा पूर्वापरकालसंबन्धात्? नाद्यः; अनवस्थानात्, तैरेव चार्थेषु पूर्वापरादिव्यवहारसिद्धेः, कालवैयर्थ्याच्च। द्वितीयेऽन्योन्याश्रयः। कालपौर्वापर्यादुपाधिपौर्वापर्यम्, उपाधिपौर्वापर्याच्च कालपौर्वापर्यमित्यर्थः। यदि च किंचिदुपाधिविशिष्टकालेनोपाध्यन्तरविशिष्टकालसंबन्धादस्ति कालपौर्वापर्यमिति मतिः; तदा विशेष्यांश आत्माश्रयत्वं स्यात्, तच्चायुक्तम्, लोके तथाऽदर्शनादित्याह—स्वात्मेति। तत्र नियतत्वानिरूपणाच्च न तद्विशिष्टलक्षणमित्याह—नियतत्वेति। श्लोकं विवृणोति—कालाव्याप्तेरित्यादिना। स्वात्मवृत्तेरित्येतद्विवृणोति—उपाधिभेदेऽपीति। स्वात्मवृत्तिविरोधमेवोपपादयति—नहि कुण्डलिनीति। अन्त्यदूषणं विवृणोति—का चेति। प्राक्कालसत्त्वमाकाशादेरप्यस्तीति कार्यानुगुणतयेत्युक्तम्। नच प्रथम-

तब अन्योन्याश्रयता होगी, काल स्वय अपने में रह नहीं सकता और नियतत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता। अर्थात् प्राक्काल में कालातिरिक्त पदार्थ ही वृत्ति होगा, काल नहीं; क्योंकि काल एक ही है। यदि उसे कार्य-काल माना जाय, तब वह प्राक्काल नहीं कहा जा सकेगा। पौर्वापर्य-क्रम सदैव विभिन्न पदार्थों में ही होता है, एक में नहीं। यदि उपाधि के भेद से काल का भेद मानकर पौर्वापर्य बनाया जाय, तब अन्योन्याश्रय दोष होता है; क्योंकि कालगत पौर्वापर्य से उपाधि में पौर्वापर्य और उपाधिगत पौर्वापर्य से काल में पौर्वापर्य होगा। यदि कहा जाय कि उपाधि में पौर्वापर्य, उपाध्यन्तर के अधीन मानेंगे, कालगत पौर्वापर्य के अधीन नहीं। तब तो अनन्त उपाधि-परम्परा माननी होगी, जो कि अनुभव में नहीं आती, बिना प्रमाण के उसे माना नहीं जा सकता। पौर्वापर्य-व्यवहार भी उसका कल्पक नहीं हो सकता; क्योंकि वह माया के आधार पर भी चल सकता है। अन्यथा काल की उपाधियों से ही अतीतादि-व्यवहार उपपन्न हो जायगा, काल मानना निरर्थक हो जाता है। [जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"कालश्च वैशेषिकाभिमत एको नाऽनागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हतीति। तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादिव्यवहारभेदं प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाधयोऽनागतादिव्यवहारहेतवः, कृतमन्तर्गडुना कालेनेति"—(सां० का० ३३)। शान्तरक्षित ने भी दिशा और काल दोनों का खण्डन करते हुए कहा है—

"निरंशैकस्वभावत्वात् पौर्वापर्याद्यसम्भवः।
तयोः सम्बन्धिभेदाच्चेदेवं तौ निष्फलौ ननु॥" (तत्त्वसं० ६३०)

अर्थात् अखण्ड एकरसस्वरूप दिशा और काल में पौर्वापर्य सम्भव नहीं, यदि सम्बन्धिभेद से कालादि का भेद किया जाय, तब कालादि व्यर्थ हो जाते हैं]। उपाधि-भेद मान लेने पर भी एक उपाधि से विशिष्ट काल में अन्य उपाधि-विशिष्ट काल वृत्ति नहीं हो सकता, जिससे कि उसमें प्राक्कालसत्त्व घट जाय; क्योंकि स्व में स्व वृत्ति नहीं होता, जैसे कि कुण्डल-विशिष्ट देवदत्त में दण्ड-विशिष्ट देवदत्त नहीं रहा करता। यह नियति पदार्थ भी क्या है? क्या (१) कारण के रहने पर ही कार्य का होना? या (२) अन्यथासिद्ध-भिन्नत्व? या (३) कार्य के अनुगुण होकर पूर्वकाल में रहना?

त्कार्यानुगुणतया प्राक्कालसत्त्वं वा ? (४) तस्मिन्सति भाव एव वा ? नाद्यः; रासभस्यापि धूमविशेषं प्रति नियतत्वापत्तेः, स्वसत्तायां सत्यामेव जायमानधूमविशेषं प्रति तस्यापि नियतत्वात्। न द्वितीयः; रासभाकाशादेरपि तथात्वापत्तेः। स्वकारणसत्त्वेन नित्यविभुतया च तेषां सन्निधिर्न त्वनन्यथासिद्ध इति चेत्; तत्किं स्वकारणसन्निधिप्रयुक्तसन्निधीनि वीजधरणीधामसलिलानीत्यकारणान्येवाङ्कुरोत्पत्तौ ? किं वा शब्दसुखाद्युत्पत्तौ ? नित्यविभुस्वभावा वियदात्मादयः ? नापि तृतीयः; प्राक्कालसत्त्वातिरिक्तानुगुणत्वस्याप्यनिरूपणात्। न चतुर्थः; बीजादेरकारणत्वप्रसङ्गात्। न हि तस्मिन्सति भाव एवाङ्कुरादेः। सहकारिमध्यमध्यासीने तस्मिन्सति भवत्येवेति चेत्, मैवम्; रासभस्यापि कदाचित्सहकारिमध्यमध्यासीनतासंभवात्।

चतुर्थयोः पौनरुक्त्यम्; धूमाग्न्योरन्ययोगव्यवच्छेदेऽप्ययोगव्यवच्छेदाभावात्। **रासभस्येति**। यद्यपि धूमजातीयस्य रासभे सत्येव भाव इति नास्ति, तथापि तदानीमुत्पन्नधूमविशेषस्यैवंभावोऽस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। एतदेव विशदयति—**स्वसत्तायामिति**। अनन्यथासिद्धत्वमिति पक्षेऽपीदमेव दूषणमाह—**न द्वितीयः इति**। नन्वनन्यथासिद्ध इति कोऽर्थः ? अन्यथासिद्धो न भवतीति, तथाच कारणत्वं नियतत्वं वा विना सिद्धो निष्पन्नो ज्ञातो वा न भवतीत्युक्तं भवति, नचैवं रासभ आकाशो वा, एकस्य स्वकारणप्रयुक्तसन्निधित्वादपरस्य च विभुतयाऽवर्जनीयसन्निधित्वम्, ततो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**स्वकारणसत्त्वेनेति**। तत्किं स्वकारणप्रयुक्तसन्निधिविभुत्वे एव वान्यथासिद्धिः ? किं वाभ्यामनुमीयमाना काचित् ? नोभयथापि, बीजादीनामङ्कुराद्युत्पत्तावाकाशादीनां च शब्दाद्युत्पत्तावुक्तरूपत्वभावेऽपि अनन्यथासिद्धत्वादिति दूषयति—**तत्किमित्यादिना**। धाम तेजः। तत्तत्कार्येत्यादि तृतीयपक्षं दूषयति—**नापीति**। **अनिरूपणादिति**। यथा काललक्षणकारणेऽपि संभवति, तथा निरुक्तेरशक्तेस्तन्निरूप्यमानुगुण्यमपि दुर्निरूपणमतोऽसिद्धिरित्यर्थः। प्राक्कालसत्त्वमात्रस्य रासभाकाशादावप्यविशिष्टत्वादित्यपि द्रष्टव्यम्। सति तस्मिन्भवत्येवेति चतुर्थपक्षेऽव्याप्तिमाह—**बीजादेरिति**। ननु यद्यपि वीजमात्रस्यैवंविधनियमो नास्ति, तथापि सहकारिसमेतस्यास्ति कदाचित्। अपि च तदन्वयो यत्र तत्र प्रतिनियतमुच्यते इति शङ्कते—**सहकारीति**। तत्र किं सहकारिमध्यनिवेश एवैवंविधनियमः ? अतिरिक्तो वा ? नान्त्यः, अनिरुक्तेः। आद्येऽतिव्याप्तेः; गर्दभादेरपि क्षित्यादिसहकारिमध्यनिवेश एवैवंविधनियममात्रेणाङ्कुरं प्रतिनियतत्वापातादिति दूषयति—**मैवमिति**।

या (४) कारण के रहने पर कार्य का अवश्य होना ? प्रथम पक्ष मानने पर गर्दभ को भी धूमविशेष के प्रति नियत कारण मानना पड़ेगा; क्योंकि गर्दभ के रहने पर ही जो धूम उत्पन्न होता है, उसके प्रति गर्दभ नियत है ही। द्वितीय पक्ष मानने पर भी गर्दभ और आकाशादि में अतिप्रसङ्ग बना रहता है। यदि कहा जाय कि गर्दभ की वहाँ सन्निधि अपने कारण की सत्ता से प्रयुक्त है और विभु होने के कारण आकाश की सन्निधि माननी पड़ती है, गर्दभ और आकाश—दोनों ही अन्यथासिद्ध हैं, अनन्यथासिद्ध नहीं। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि इस प्रकार तो जो अपनी कारण-सत्ता से प्रयुक्त सन्निहित होते हैं, ऐसे बीज, खेत, तेज, जलादि और नित्य विभु आकाशादि, अङ्कुर की उत्पत्ति में कारण न हो सकेंगे। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि प्राक्कालसत्त्व से अतिरिक्त अनुगुणत्व का निरूपण ही नहीं हो सकता। चतुर्थ पक्ष मानने पर बीजादि में अकारणता की आपत्ति होगी; क्योंकि बीज के रहने पर अङ्कुर का नियमतः होना नहीं देखा जाता। यदि कहा जाय कि सहकारी कारणों के मध्य में स्थित बीज के होने पर अङ्कुर होता ही है। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि सहकारी कारणों के मध्य में स्थिति तो गर्दभादि की भी हो सकती है।

Digitization by American Institute of Indic Studies. AAIS(USA)

सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं कारणत्वमिति तृतीयोऽपि न ;
हेतुसाकल्यरूपायां सामग्र्यां तदसंभवात् ।
कारणत्वनिरुक्तौ च सहकार्यनिरूपणात् ।।५४।।

सामग्र्या अकारणत्वप्रसङ्गात्, तस्याः सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वाभावात्, सहकारिसकलताया एव सामग्रीत्वात् । किंच सह करोतीति सहकारि कारणान्तरम्, तथा च कारणत्वस्यैवाद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः । नापि चतुर्थः ;

जातेरहेतुतापत्ते रासभेऽतिप्रसक्तितः ।
गगनादिषु चाव्याप्तेरन्वयादेरयोगतः ।।५५।।

जातेरकारणत्वप्रसङ्गात्, जातेर्जातिमत्त्वाभावात् । द्रव्यत्वादिना रासभादेरप्यन्वयव्यतिरेकवद्वह्न्यादिजातीयत्वेन धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । द्रव्यत्वावान्तरजातीयत्वं विवक्षितमिति चेत्, न; कालाकाशदिशामकारणत्वप्रसङ्गात्; तेषां द्रव्यत्वावान्तरजातिविधुरत्वात् । कौ चेमावन्वयव्यतिरेकौ ? किं कालतः ? उत देशतः ? उतोभाभ्याम् ? आद्ये, काले तदभा-

एवं नियतत्वखण्डेन द्वितीयं कारणलक्षणं दूषयित्वा तृतीयं दूषयति—सहकारीति । तत्रापि दूषणानि सगृह्णाति—हेत्विति । कारणपौष्कल्यरूपा या समग्री सापि तावद्बीजादिवत्कारणमेव । अथ च तत्र लक्षणं न संभवति, तस्यां सत्यां सहकारिवैकल्यस्यैवासंभवात् । किंच सह करोतीति सहकारी कारणविशेषः तथा केनेत्यपेक्षायां च कारणेनेति वचनीयं तथा चात्माश्रयत्वमित्यर्थः । विवृणोति—सामग्र्या इति । अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वमिति चतुर्थे पक्षे दूषणानि संगृह्णाति—जातेरित्यादिना । नहि जातेर्जातिरस्ति येन तज्जातीयतया कारणता तस्याः स्यादित्यव्याप्तिः । किंच सत्त्वादिकमादाय गर्दभादेरपि बीजादिजातीयतयाङ्कुरादिकारणतापातादतिव्याप्तिः । अथ द्रव्यत्वावान्तरजात्या साजात्यं विवक्ष्येत, तदाकाशादावभावादव्याप्तिः, व्यतिरेकाभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । तथान्वयव्यतिरेकयोरपि कालतो देशतो वा दुर्निरूपणादयुक्तमिदं लक्षणमित्यर्थः । संग्रहं विवृणोति विशदग्रन्थेन—जातेरिति । ननु न देशतः कालतो वान्वयव्यतिरेकावभिमतौ, किं तर्हि ? तस्मिन्सति भावोऽसत्यभाव एवेति यौ नियमौ ताविति शङ्कते—

(३) कारण का तृतीय (सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वम्—द्र० न्या० कु० स्त० १ पृ० १६३) लक्षण भी ठीक नहीं ; क्योंकि हेतु-साकल्यरूप सामग्री में यह लक्षण घटता नहीं एवं कारणत्व का निर्वचन न हो सकने के कारण सहकारी पदार्थ का भी निरूपण नहीं हो सकता । अर्थात् सहकारि-साकल्य का नाम ही सामग्री है । इसके रहने पर सहकारि-वैकल्य सम्भव नहीं, अतः सहकारि-वैकल्य-प्रयुक्त कार्याभाववत्ता उसमें नहीं रह सकती । दूसरी बात यह भी है कि "सहकरोति"—इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'सहकारी' शब्द का अर्थ होता है—कारणान्तर । कारणत्व का अभी तक निरूपण नहीं हो सका है, इसलिए कारणत्व के निरूपण में कारणत्व-निरूपण की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होता है । (४) चतुर्थ (अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वम्) लक्षण भी उचित नहीं ; क्योंकि जाति में अव्याप्ति, गर्दभ में अतिव्याप्ति, गगनादि में अव्याप्ति होती है तथा अन्वय-व्यतिरेक का भी निरूपण सम्भव नहीं । अर्थात् जाति में जातिमत्त्व न होने के कारण जाति में यह लक्षण नहीं घट सकता । अन्वय-व्यतिरेकशाली पदार्थ-वृत्ति जाति शब्द से द्रव्यत्वादि की विवक्षा करने पर गर्दभादि में भी धूम के अन्वय-व्यतिरेकशाली वह्नि पदार्थ-वृत्ति द्रव्यत्व जाति रहने से, धूम की कारणता माननी पड़ेगी । द्रव्यत्व-व्याप्य जातिमत्त्व की विवक्षा करने पर काल, आकाश और दिशा में कारणत्व का अभाव हो जायगा ; क्योंकि उनमें द्रव्यत्व-व्याप्य जाति नहीं रहती । उक्त अन्वय-व्यतिरेक भी कौन निर्वाच्य है ? कालिक ? या दैशिक ? या दोनों ? प्रथम पक्ष मानने पर कालिक अन्वय-व्यतिरेक

वादव्याप्तिः। द्वितीये तु देशे तदभावः। न तृतीयोऽपि ; उभयोरप्युभयाभावात्। सति भावोऽसत्यभाव एव तावितिं चेत्, न ; तदभावेऽपि तृणारणिमणीनां दहनहेतुत्वाङ्गीकारात्। तेषामेकैकाभावेऽपि दहनदर्शनात्। तत्रापि तज्जन्यदहनानामवान्तरजातिभेदान्न व्यभिचारः इति चेत्, न ; जातिभेदे प्रमाणाभावात्। न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, इन्द्रियसन्निकर्षमात्रेण सुनिपुणैरप्यनुपलभ्यमानत्वात्। ननु तृणारणिमणिप्रभवत्वज्ञानसंस्कृतेन्द्रियसंनिकर्षाधिगम्योऽयं जातिभेदः, विशिष्टमातृपितृप्रभवत्वज्ञानसंस्कारसचिवलोचनगोचर इव ब्राह्मणत्वमिति चेत्, न ; तेषां व्यभिचारादेव जनकत्वासिद्धेः। जातिभेदालिङ्गितव्यक्तिविशेषं प्रति न तस्य व्यभिचार इति चेत्, न ; सिद्धे जातिभेदे जनकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जातिभेदसि-

---

सतीति। तृणादिषु नियमाभावं विवृणोति—तेषामिति। नहि दहनस्तृणाभावे न जायते ; मणेरपि जायमानत्वात्। नापि मणेरभावेऽभावः ; अरणेरपि जायमानत्वात्। अथ च तेषामन्वयव्यतिरेकौ स्तः, कारणत्वप्रसिद्धेरतोऽव्याप्तिरित्यर्थः। अत्र कुसुमाञ्जलिकारेण तृणादिप्रभवाग्निष्वप्यवान्तरवैजात्यमभ्युपगम्य कारणवैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यं समर्थितम्, तथाच तत्तद्विशेषं प्रति तृणादीनामुक्तनियमोऽस्तीति शङ्कते—तत्रापीति। प्रत्यक्षतो वैजात्यमनुपलब्धिपराहतमित्याह—सुनिपुणैरिति। ननु यद्यपीन्द्रियसन्निकर्षमात्रान्न ज्ञायते तथाप्यभिव्यञ्जकान्तरसचिवप्रत्यक्षेण शक्यं ज्ञातुमिति दृष्टान्तदर्शनपूर्वकं शङ्कते—नन्विति। तत्र वक्तव्यं किं तृणादिप्रभवत्वमग्निमात्रदर्शनादवगम्यते ? किं वा जातिभेदाऽऽलिङ्गिताग्निदर्शनात् ? आद्येऽसिद्धिः। अग्निमात्रं प्रति तेषां परस्परव्यभिचारादित्याह—न; तेषामिति। द्वितीयं शङ्कते—जातिभेदेति। तर्ह्यन्योन्याश्रयः, प्रथमतोऽग्निषु जातिभेदे ज्ञाते तद्दर्शनात्तृणादिप्रभवत्वज्ञानम् तज्ज्ञानाच्च जातिभेदज्ञानमिति परिहरति—न; सिद्ध इति। ननु न प्रत्यक्षेण जातिभेदाधिगतिः, किंतु

न होने से काल में अव्याप्ति, द्वितीय पक्ष मानने पर दिशा में अव्याप्ति और तृतीय पक्ष मानने पर दोनों में अव्याप्ति होती है। यदि कहा जाय कि "कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न होने पर कार्य का न होना"—इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक विवक्षित है। तो यह भी कहना युक्त नहीं ; क्योंकि इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक न होने पर भी तृण, अरणि और मणि में अग्नि की हेतुता मानी जाती है, अर्थात् तृणादि में से एक-एक के न होने पर भी अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है। [आशय यह है कि तृण के न होने पर भी केवल अरणि या मणि से, अरणि के न होने पर भी तृण या मणि से तथा मणि के न होने पर भी तृण या अरणि से अग्नि की उत्पत्ति होती है, अतः तृणादि का व्यतिरेक-व्यभिचार अग्नि में हो जाने से तृणादि में उक्त अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अग्नि की कारणता का निश्चय न हो सकेगा]। तृणादि-जन्य वह्नियों में वह्नित्व-व्याप्य जाति-भेद मानकर भी उक्त व्यभिचार नहीं हटाया जा सकता ; क्योंकि उक्त जाति-भेद में कोई प्रमाण नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता ; क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्षमात्र से सुनिपुण व्यक्तियों को भी तृणादि-जन्य वह्नियों में अवान्तर जाति की उपलब्धि नहीं होती। यदि कहा जाय कि यद्यपि केवल इन्द्रिय-सन्निकर्ष से जाति-भेद अधिगत नहीं होता, किन्तु "यह बालक ब्राह्मण माता-पिता से जन्य है"—इस प्रकार के ज्ञान से जन्य संस्कारों की सहायता से इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा जैसे ब्राह्मणत्व का बोध होता है ; वैसे ही प्रकृत में "यह अग्नि तृणों से जन्य है", "यह अग्नि अरणि-मन्थन से जन्य है" और "यह अग्नि मणि से जन्य है"—इस प्रकार के अनुभवों से जन्य संस्कारों की सहायता से इन्द्रिय-सन्निकर्ष, वह्नि में भी जाति-भेद का ग्राहक हो जायगा। तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि उक्त व्यभिचार के कारण तृणादि में वह्नि-जनकत्व की सिद्धि ही नहीं होती। 'जातिविशेष-युक्त वह्नि के प्रति तृणादि का व्यभिचार नहीं'—ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रय होता है ; क्योंकि जाति-विशेष सिद्ध हो जाने पर (जातिविशेष-घटित अन्वय-व्यतिरेक से) तृणादि-जनकत्व की सिद्धि और

द्धिरितीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । ननु कार्यविशेषेण तृणादिकारणविशेषप्रभवाणां बहूनां वैजात्यानुमानमस्तु, तथा हि—"प्रदीप एव प्रसादोदरव्यापकं प्रभामण्डलमारभते, न तथा ज्वालाजटिलोऽपि वह्निर्नतरां च कारीषः" इति कुसुमाञ्जलिकार इति चेत्, न; एकजातीयत्वग्राहिप्रत्यक्षप्रतिहतस्यानुमानस्यानुत्थानात् । न च प्रत्यक्षायोग्यं वैजात्यम्; प्रत्यक्षव्यक्तिवृत्तिसामान्यस्याप्रत्यक्षत्वायोगात् । प्रसादोदरव्यापिप्रभामण्डलादिकार्यभेदस्य तत्तत्सहकारिभेदादन्यथोपपत्तेश्च, एकजातीयेऽपि मृदादौ तत्तत्सहकारिसाहित्येन तत्तद्विजातीयघटशरावादिकार्योपलब्धेः । एकजातीयादपि घटाद्भिन्नजातीयानां रूपादीनामुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च ।

नापि पञ्चमः; सामग्र्या दुर्निरूपत्वेन तदेकदेशस्यापि दुर्निरूपत्वात् । तथा हि—

अतिव्याप्तेः स्ववृत्तित्वाद्भेदेऽभेदेऽप्यसंभवात् ।
कार्यस्य हेतुभिः सिद्धेर्वृथा साकल्यकल्पना ॥५६॥

लिङ्गेनेति शङ्कते—नन्विति । कार्यविशेषमेव समर्थयते—तथा हीति । कारीषो गोमयेन्धनोद्भवः । प्रदीपप्रभामण्डलं कारीषादिकारणाद्विभिन्नजातीयकारणजन्यं तद्विभिन्नजातीयकार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाज्जातिभेदसिद्धिरित्यर्थः । नन्वतीन्द्रियजातिभेद एवानुमीयते तेन न प्रत्यक्षपराहतिस्तत्राह—न चेति । यदि हि प्रत्यक्षाश्रयापि जातिरप्रत्यक्षा, घटत्वादेः प्रत्यक्षत्वे कुत आश्वासः ? व्यञ्जकस्य च पूर्वमेवोन्मूलितत्वादिति भावः । विपक्षे बाधकविधुरत्वाच्छङ्कितोपाधिता च, कार्यभेदस्य प्रकारान्तरेणाप्युपपत्तेरित्याह—प्रासादेति । न केवलमुपपत्तिः, दृश्यते च तत्र तत्र एकजातीयात्सहकारिभेदयुताद्विलक्षणद्रव्यस्य विलक्षणगुणस्य चोत्पत्तिस्ततश्चानैकान्तिकतेत्याह—एकजातीयेत्यादिना ।

सामग्र्येकदेशत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि पञ्चम इति । तत्र सामग्रीदूषणानि संगृह्णाति—अतिव्याप्तेरित्यादिना । किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री ? किं वा कारणानाम् ? आद्ये अङ्कुराद्यजनकानामपि शिलाशकलादीनामपि साकल्यस्याङ्कुरादिसामग्रीत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिः । द्वितीये कारणज्ञानात्सामग्रीज्ञानं सामग्रीज्ञानाच्च कारणज्ञानमित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः । किंच तत्साकल्यं कारणेभ्यो भिन्नम् ? अभिन्नं वा ? भिन्नत्वे नित्यं चेत्सदा कार्यजन्मप्रसङ्गः । अनित्यत्वेऽपि व्यस्तेभ्यः ? समस्तेभ्यो वा तस्य नोत्पत्तिसंभवः ?

तृणादि-जनकत्व की सिद्धि हो जाने पर जातिविशेष की सिद्धि होगी । यदि कहें कि मन्द-तीव्र प्रकाशादिरूप कार्यविशेष से तृणादि-जन्य वह्नियों में जाति-भेद का अनुमान कर लेंगे, जैसा कि कुसुमाञ्जलिकार ने (न्या० कु० स्त० १ पृ० २६) कहा है कि "प्रदीप, अपने प्रभा-मण्डल से जिस प्रकार विशाल महल का कोना-कोना प्रकाशित करता है, उस प्रकार धू-धू करती हुई विकराल ज्वालाएँ भी नहीं कर सकतीं, फिर कहाँ करसी (गोहरी) की आग ?" तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि तृणादि-जन्य अग्नियों में एकजातीयत्व-ग्राहक प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण, जाति-भेद विषयक अनुमान का उदय ही नहीं हो सकता । प्रत्यक्षायोग्य (अतीन्द्रिय) जाति-भेद का भी अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष-विषयीभूत व्यक्ति में वृत्ति जाति, कभी अप्रत्यक्ष नहीं हो सकती । प्रासाद-उदर-व्यापी प्रभा-मण्डल रूप कार्य-भेद तो अन्यथा (जाति-भेद-कल्पना के बिना) भी अपने सहकारि-भेद से बन जाता है; क्योंकि एकजातीय मृत्तिकादि से ही घट, प्याला, सुराही आदि कार्य-भेद, अपने सहकारी कारण के सहयोग से बनते देखे जाते हैं, एवं एक जाति के घट से विभिन्न जाति के रूपादि की उत्पत्ति मानी जाती है ।

(५) करणता का पञ्चम (सामग्र्यैकदेशत्वम्) लक्षण भी सम्भव नहीं; क्योंकि सामग्री का निरूपण नहीं हो सकता, तब सामग्री के एकदेश का निरूपण कैसे होगा ? वस्तु-साकल्य को सामग्री मानने पर अतिव्याप्ति और कारण-साकल्य को सामग्री मानने पर स्ववृत्ति (आत्माश्रयता) दोष होता है, साकल्य पदार्थ को कारणों से भिन्न या अभिन्न मानना सम्भव नहीं तथा कार्य तो अपने कारणों

किं वस्तूनां साकल्यं सामग्री ? किं वा कारणानाम् ? नाद्यः ; अकारणसाकल्येऽपि प्रसङ्गात् । द्वितीये, कारणत्वस्याद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रयः । कारणसाकल्यं च कारणानां स्वरूपम् ? अतिरिक्तं वा ? आद्ये व्यस्तेभ्योऽपि कार्यमुत्पद्येत । द्वितीये, नित्यत्वे साकल्यस्य सदा कार्योत्पादः, अनित्यत्वेऽपि व्यस्तानामेव साकल्यकारणत्वे साकल्यस्यापि सदातनत्वेन कार्यस्यापि सदोत्पादः । समस्तानां हेतुत्वे चात्माश्रयः, अनवस्था वा । साकल्यजनकेभ्य एव च प्रधानकार्योत्पत्तेः, किमजागलस्तनायमानेन साकल्येन ? एतेन कारणानामन्योऽन्यवैशिष्ट्यं सामग्रीति प्रत्यादिष्टम् । न च कारणसन्निधिः सामग्री ; तदनिर्वचनात् । न तावदेककालत्वं सन्निधिः ; काले तदभावात् । नाप्येकदेशत्वम् , देशे तदभावात् । नोभयम् ; उक्तदोषानुषङ्गात् । नापि संयोगसमवायौ ; तयोरेवाकारणत्वप्रसङ्गात् । नाप्येककार्यकारणत्वं सन्निधिः ;

आद्ये, कार्यसामस्त्ययोः सदा जन्मप्रसङ्गः । द्वितीये, साकल्यात्साकल्योत्पत्तिरित्यात्माश्रयात् । अभिन्नत्वे तु प्रत्येककारणेभ्योपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात् , तावन्मात्रत्वात्साकल्यस्य, तथांच सदा कार्यजन्मप्रसङ्गः । किंचोत्पन्नायाः सामग्र्याः उत्पादकानि यानि कारणानि तैरेव कार्योत्पत्तिसिद्धेः, वृथा तेषां साकल्यकल्पनेति श्लोकार्थम् विवृणोति—**किं वस्तूनामित्यादिना** । **व्यस्तानामेवेति** । यदि व्यस्तान्येव कारणानि साकल्यमुत्पादयन्ति, तदा बीजादेरनित्यत्वेऽपीश्वरादेर्नित्यतया सदा साकल्योत्पादात्कार्यस्यापि सदातनता स्यादित्यर्थः । ननु न व्यस्ता, अपि तु सर्वे संभूय साकल्यं जनयन्तीति, तर्हि साकल्यात्साकल्यमुत्पद्यते इति वचनीयम् , तथा चाभेदे भेदे चात्माश्रयानवस्थे स्यातामित्याह—**समस्तानामिति** । समुदितानामित्यपि द्रष्टव्यम् । उत्तरार्धम् व्याचष्टे—**साकल्येति** । सामग्रीलक्षणान्तरेऽप्युक्तदूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । तत्रापि वैशिष्ट्यं भिन्नमभिन्नं वेत्यादिदोषाणां समानत्वादित्यर्थः । ननु कारणानां योऽयं सन्निधिः सैव सामग्री, नेत्याह—**न चेति** । **तयोरिति** । यदि हि कारणानां संयोगः सामग्री, तदा संयोगस्येतरकारणैः संयोगाभावात्सामग्र्यन्तःपातित्वाभावेनाकारणत्वं स्यादेवं समवायेपीत्यर्थः । ननु कारणानामपि कश्चि-

से सिद्ध हो जाता है, साकल्य की कल्पना ही व्यर्थ है । अर्थात् क्या वस्तुओं के साकल्य का नाम सामग्री है ? या कारणों के साकल्य का ? प्रथम पक्ष मानने पर अकारणीभूत पदार्थों के साकल्य में अतिव्याप्ति होगी । द्वितीय पक्ष में कारणत्व के निरूपण में कारणत्व की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होता है । यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि कारण-साकल्य, कारण का स्वरूप है ? या अतिरिक्त ? प्रथम पक्ष मानने पर असम्मिलित कारणों से भी कार्य उत्पन्न होना चाहिए । द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि वह साकल्य नित्य है ? या अनित्य ? यदि नित्य है, तब तो सदा कार्य का उत्पाद ही होता रहेगा । यदि अनित्य है, तब बताइये ! उस (साकल्य) की जनक व्यस्त सामग्री है ? या समस्त ? यदि व्यस्त जनक है, तब व्यस्त में ईश्वरादि नित्य हैं, अतः साकल्य का नित्य उत्पाद होने से कार्य की भी सदा उत्पत्ति होनी चाहिए । समस्त (मिलित या सकल) सामग्री को साकल्य का जनक मानने पर साकल्य में साकल्य की अपेक्षा होने से आत्माश्रय और प्रथम साकल्य में अपेक्षित द्वितीय साकल्य को भिन्न मानने पर अनवस्था दोष होगा । एवं साकल्य-जनक कारणों से ही प्रधान कार्य की उत्पत्ति हो जायगी, मध्य में साकल्य नाम की व्यर्थ वस्तु मानने की आवश्यकता क्या ? इसी से कारणों के परस्पर वैशिष्ट्य का नाम सामग्री है—यह मत भी खण्डित हो जाता है । कारण-सन्निधि को भी सामग्री नहीं कह सकते; क्योंकि सन्निधि का निर्वचन नहीं हो सकता । एककाल-वृत्तित्व को सन्निधि कहने पर काल में और एक देश-वृत्तित्व मानने पर देश में अव्याप्ति होगी । उभयरूप (एककालत्व और एकदेशत्व) मानने पर भी उक्त दोष बना रहता है । संयोग या समवाय को सन्निधि मानने पर संयोग और समवाय में ही अकारणत्व की आपत्ति होती है, (क्योंकि संयोग में संयोग और समवाय में समवाय नहीं रहता) । एककार्य-कारणत्व को सन्निधि मानने पर

कार्यकारणभावस्यैवाप्रसिद्धेरात्माश्रयात्। नापि कारणानां चरमो व्यापारः सामग्री ; व्यस्तानां समस्तानां वा तज्जनकत्वे पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्। अपि च व्यापारे जनयितव्ये कारकाणि व्यापारवन्ति ? निर्व्यापाराणि वा ? आद्येऽनवस्था। द्वितीये, कार्यमेव प्रधानं तथा कुर्वन्तु कृतमन्तरा व्यापारेण ! व्यापारस्य च सव्यापारस्य जनकत्वेऽनवस्था, निर्व्यापारत्वे च कारकाणामेव तथात्वमस्तु, किं व्यापारेण ? यदनन्तरं कार्यं भवत्येव सा सामग्रीति चेत्, न ; विभागानन्तरं पूर्वसंयोगनाशस्यावश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि तथा सामग्रीत्वप्रसङ्गात्, एवं कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसंयोगस्य च पटे तत्त्वप्रसङ्गाच्च।

नापि षष्ठः ; व्यापाराव्यापनादात्माश्रयत्वादनिरुक्तितः।
समवायेऽस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गतः ॥५७॥

चरमव्यापारस्य व्यापारान्तरविधुरस्याकारणत्वप्रसङ्गात्। तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति जनकत्वमन्तर्भाव्य व्यापारनिरुक्तेरात्माश्रयत्वाच्च। व्यापारवत्त्वं च व्यापारसमवायित्वम् ?

चरमो व्यापारो यदनन्तरं कार्यमुत्पद्यते सा सामग्रीति, तत्राह—**नापीति**। इमं पक्षं प्रकारान्तरेणापि दूषयति—**अपि चेत्यादिना**। यश्चायं चरमो व्यापारः कारणानां सोऽपि किं सव्यापारतया जनकः ? निर्व्यापारतया वा ? इति विकल्प्य दूषयति—**व्यापारस्येति**। सामग्र्याः लक्षणान्तरं शङ्कते—**यदनन्तरमिति**। कार्यं कारणे हि सत्येव भवतीति नियमः, न त्वसत्येवेति, ततो नातिव्याप्तिरिति भावः। तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**न; विभागानन्तरमित्यादिना**। **तत्त्वप्रसङ्गादिति**। सामग्रीत्वप्रसङ्गादित्यर्थः।

व्यापारवत्त्वमिति षष्ठे पक्षे दूषणानि संगृह्णाति—**व्यापारेत्यादिना**। व्यापारस्य व्यापारवत्त्वाभावादकारणत्वप्रसङ्गेनाव्याप्तिः। किंच जनकत्वमन्तरेण व्यापारस्य दुर्निरूपत्वादात्माश्रत्वं स्यात्। किंचास्य व्यापारवत्त्वानिरुक्तितश्चासिद्धिर्लक्षणस्य, तथाहि—व्यापारसमवायित्वम् ? व्यापारजनकत्वं वा व्यापारवत्त्वमिति मतुपोऽर्थः ? उभयत्र समवाये हेतुत्वे च पूर्वदोषानुषङ्गतः, अव्याप्तिरात्माश्रयत्वं च पूर्वदोषः। तथाहि—यागादेरपूर्वसमवायित्वाभावादव्यापारवत्त्वप्रसङ्गादव्याप्तिः। जनकत्वपक्षे च कारणत्वस्याद्याप्यसिद्धेरात्माश्रय इति श्लोकार्थः। विवृणोति—**चरमेत्यादिना**। अथ किमिति यागादेः स्वर्गाद्यकारणत्वम्,

---

कारणत्व में कारणत्व की अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय दोष होता है। कारणों के किसी अन्तिम व्यापार को सामग्री कहने पर, उस व्यापार के जनक समुदित कारण हैं ? या असमुदित ? इस प्रकार के विकल्पों के द्वारा कथित दोष आ जाते हैं। यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि उक्त व्यापार को पैदा करने में निखिल कारक, व्यापारवाले होते हैं ? या नहीं ? प्रथम पक्ष में अनवस्था होती है। द्वितीय पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वे कारक सीधे प्रधान कार्य को ही क्यों न करें ? मध्य में व्यापार बनाने की क्या आवश्यकता है ? व्यापार भी सव्यापार हो कर कार्य का जनक है ? या विर्व्यापार ? प्रथम पक्ष में अनवस्था और द्वितीय पक्ष में व्यापार-रहित कारकों में ही जनकता माननी उचित होगी। 'जिसके अनन्तर कार्य होता ही है, वह सामग्री है'—ऐसा लक्षण करने पर विभाग के अनन्तर अवश्य उत्पन्न होनेवाले पूर्वसंयोग-नाश के प्रति विभाग को, विभाग में कर्म को एवं पट के प्रति अन्तिम तन्तु-संयोग को सामग्री कहना पड़ेगा।

(६) कारणता का षष्ठ (व्यापारवत्त्वम्) लक्षण भी उचित नहीं ; क्योंकि व्यापार में अव्याप्ति होती है। व्यापारत्व का जनकत्व के बिना निरूपण न हो सकने के कारण आत्माश्रयता है। व्यापारवत्त्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता। व्यापारवत्त्व का समवाय-घटित या जनकत्व-घटित अर्थ करने पर भी उक्त दोष होते हैं। अर्थात् अन्तिम व्यापार में व्यापारान्तरवत्ता न होने से कारणत्व की अव्याप्ति होती है। व्यापार उसे ही कहते हैं—'जो करण से जन्य हो एवं करण से जन्य का जनक हो', अतः जनकत्व-गर्भित व्यापार का निर्वचन करने पर आत्माश्रय दोष होता है। व्यापारवत्त्व का क्या

उत तज्जनकत्वम ? नाद्यः ; यागादेः स्वर्गाद्यकरणत्वप्रसङ्गात्। ध्वस्तस्य यागादेरपूर्वादिव्यापारासमवायित्वात्। नेतरः ; आत्माश्रयत्वात्। नापि सप्तमः ;

असिद्धेः प्रतिबन्धस्य नृशृङ्गादावभावतः।
सत्त्वे सतीति चायुक्तं दृष्टान्तादेरसिद्धितः॥५८॥

निर्हेतुकस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रतिबन्धासिद्धौ नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गस्य दुर्वचत्वात्। अहेतुकत्वेऽपि प्रागभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभावात्, शशविषाणस्य नित्यसत्त्वाभावाच्च। ननु भावत्वे सत्यहेतुकत्वस्य सदातनत्वे व्याप्तिराकाशादौ सिद्धेति चेत्, न ; अस्या व्याप्तेः स्वभाववादिनं प्रत्यसिद्धेः, भूतचतुष्टयतत्त्ववादिना तेनात्माकाशादीनामनभ्युपगमात्, विपर्ययापर्यवसानाच्च प्रसङ्गस्य। नहि यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधिकरणं तत्सहेतुकमित्युपसंहारस्थलमस्ति, लोकायतिकं बौद्धं प्रति कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धेः। ननु

तत्राह—ध्वस्तस्येति। यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तत्त्वमिति सप्तमे पक्षे दूषणानि संगृह्णाति—असिद्धेरित्यादिना। यदि हि हेत्वभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याप्तिरवधार्यते ततस्तद्व्यञ्जकत्वं स्यान्न त्वेतदस्तीत्याह—असिद्धेः प्रतिबन्धस्येति। तस्यैवोपपादनम्-नृशृङ्गादावभावत इति। आदिशब्देन प्रागभावो गृह्यते। तथा हि निर्हेतुत्वं शशविषाणेऽस्त्यथ च नित्यसत्त्वं नास्ति, तथा प्रागभावे निर्हेतौ नास्ति नित्यसत्त्वं विनाशित्वादतो नास्ति व्याप्तिरित्यर्थः। ननु सत्त्वे सति निर्हेतुकत्वमाकाशादौ नित्यसत्त्वेन व्याप्तमिति, तत्राह–सत्त्वे सतीति चायुक्तमिति। तत्र हेतुर्दृष्टान्तादेररिति। स्वभाववादिनं प्रत्याकाशादेरसिद्धेर्व्याप्त्यसिद्धिरिति भावः। एतमेव श्लोकं व्याचष्टे—निर्हेतुकस्येत्यादिना। प्रतिबन्धासिद्धेरेव विवरणम्—अहेतुकत्वे इत्यादिना। उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—नन्विति। दृष्टान्तादेरित्यादिशब्दसंगृहीतं दूषणमाह—विपर्ययेति। यद्धि निर्हेतुकं तद्धि भावत्वे सति सदासत्त्वाधिकरणं स्यादिति तर्कः। तस्य चैवं विपर्ययः यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधिकरणम्, तत्सहेतुकमिति। नचैवं निर्हेतुकवादिनः संप्रतिपन्नस्थलमस्तीत्यर्थः। वेदान्तिनं प्रति व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयन्कारणत्वं समर्थयति–नन्विति। ममापि तावन्न तात्त्विकमस्ति हेतुत्वं प्रामाणिकमतस्तद्धर्मसाध्यमप्रसिद्धमित्यर्थः। प्रसङ्गात्कार-

---

अर्थ है ? व्यापार-समवायित्व ? या व्यापार-जनकत्व ? प्रथम पक्ष मानने पर यागादि में स्वर्गादि की करणता नहीं बनेगी ; क्योंकि ध्वस्त यागादि में अदृष्टरूप व्यापार का समवायित्व नहीं रहता। द्वितीय पक्ष मानने पर जनकत्व में जनकत्व की अपेक्षा होने से आत्माश्रय होता है। (७) कारणता का सप्तम (यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिः) लक्षण भी युक्त नहीं ; क्योंकि नरविषाणादि में व्यभिचार हो जाने से कारणानभ्युपगम और नित्यसत्व या नित्य असत्व का प्रतिबन्ध (व्याप्ति) सिद्ध नहीं होता। कारणानभ्युपगम का सत्त्व विशेषण लगाने पर दृष्टान्त की असिद्धि है। अर्थात् निर्हेतुकत्व की नित्य सत्त्वासत्त्व के साथ व्याप्ति सिद्ध न होने से नित्य सत्त्वासत्त्व में से अन्यतर का प्रसङ्ग नहीं दिया जा सकता ; क्योंकि प्रागभाव में अहेतुकत्व रहने पर भी नित्य सत्त्व या नित्य असत्त्व नहीं रहता एवं अहेतुक शश-विषाण में नित्य सत्त्व नहीं रहता। यदि कहा जाय कि केवल अहेतुकत्व की व्याप्ति न होने पर भी भावत्व-विशेषित अहेतुकत्व की व्याप्ति सदातनत्व (नित्य सत्त्व) के साथ आकाशादि में बन जाती है। तो यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि यह व्याप्ति भी स्वभाववादी (चार्वाक) की दृष्टि से नहीं बनती, वह केवल पृथिव्यादि चार ही भूत मानता है, उसके लिए आकाशादि रूप दृष्टान्त ही असिद्ध हैं। उक्त प्रसङ्ग की विपर्यय-पर्यवसायिता भी सम्भव नहीं ; क्योंकि जो भावत्व-सहित सदा सत्त्व का अनधिकरण है, वह अहेतुक नहीं (सहेतुक है)—इस व्याप्ति का उपसंहार-स्थल, चार्वाक और बौद्ध के प्रति उक्त कार्यकारणभाव सिद्ध न होने से सिद्ध नहीं। यदि कहा जाय कि "विवादास्पद पदार्थ सहेतुक है, प्रागभाववान्

विमतं सहेतुकं प्रागभाववत्त्वाद्यन्निर्हेतुकम् , न तत्प्रागभाववदात्मवदिति वेदान्तिनं प्रति प्रयोग: इति चेत्, न ; हेतुशब्दार्थानिरुक्तौ सहेतुकत्वस्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात् । कारणानिरुक्तौ च व्यापारवत्कारणं कारकमिति कारकलक्षणमप्यपास्तम् । तदेवं कारणलक्षणं दुर्भणम् ।

तथा कार्यलक्षणमपि—(१) तत्किं कारणाधीनस्वात्मलाभम् ? (२) प्रागभावोपलक्षितसत्तायोगि वा ? (३) प्रागभावप्रतियोगि वा ? (४) प्रागभाववद्वा ? (५) प्रागसत्त्वे सत्युत्तरकालसंबन्धि वा ? सर्वथा न निरूपणपथमवतरति—

अनिरुक्तेरतिव्याप्तेरव्याप्तेस्तदसंभवात् ।
अतिप्रसङ्गतोऽव्याप्तेर्मतुबर्थानिरूपणात् ॥५९॥

कलक्षणमपि दूषयति—**कारणानिरुक्ताविति** ।

कार्यकारणात्मको ह्ययं द्वैतवर्गस्तत्र कारणस्य दुर्निरूपत्वान्न तद्वर्गग्राहकप्रमाणैर्विरोधोऽद्वैतश्रुतीनामित्युक्तम्, इदानीं कार्यवर्गस्य दुर्निरूपतया तद्विषयप्रमाणैर्विरोधो नास्तीति दर्शयितुं कार्यत्वं खण्डयति—**तथा कार्येति** । स्वात्मलाभः सत्तायोगित्वम् , अभावप्रतियोगित्वमभाववत्त्वम् , उत्तरकालसत्त्वं चेत्येतत्सर्वं नित्यस्याप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं पञ्चस्वपि पक्षेषु प्रथमविशेषणानि । श्लोकेन दूषणानि संगृह्णाति—**अनिरुक्तेरित्यादिना** । प्रथमपक्षे कारणानिरुक्तौ तदधीनात्मलाभत्वमप्यनिरुक्तमित्यसिद्धिः । द्वितीये त्वात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गः । घटादिप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वादेकत्वात्सत्ताया इत्यतिव्याप्तिः । अथ स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वं विवक्षितम् , तत्राह—**अव्याप्तेरिति** । स्वशब्दार्थाननुगमादव्याप्तिरित्यर्थः । पूर्वोक्तातिव्याप्तितादवस्थ्यं च । तृतीये दोषमाह—**तदसंभवादिति** । तत्र हि प्रगभावप्रतियोगित्वं किं प्रागभावेनैकदेशानवस्थानम् ? किं वैककालानवस्थायित्वम् ? आद्येऽसंभवः, प्रागभावकार्ययोरेकस्मिन्कारणे वृत्तेः । द्वितीये प्राह—**अतिप्रसङ्गत इति** । अस्ति हि कालस्यापि प्रागभावेनैककालानवस्थानम् । काले वृत्त्यभावादित्यर्थः । तथा प्रागभावेत्यत्र यत्किंचित्प्रागभावः प्रागभावत्वेन विवक्षितः ? स्वप्रागभावो वा ? आद्ये प्राह—**अव्याप्तेरिति** । घटादेरपि यत्किंचित्प्रागभावेन सहावस्थानात्तेष्वव्याप्तिरित्यर्थः । द्वितीये त्वात्मादावतिप्रसङ्गं वक्ष्यति, स्वशब्दार्थाननुगमादव्याप्तेः । चतुर्थं प्राह—**मतुबर्थेति** । किं प्रागभावाधिकरणत्वं प्रागभाववत्त्वम् ? किं वा तत्प्रतियोगित्वम् ? आद्ये, सुखादिप्रागभावाधिकरणात्मादावतिव्याप्तिः । द्वितीये तु तृतीयपक्षोक्तदोष इति भावः । पञ्चमपक्षेऽव्याप्तिमनुपञ्जयिष्यति विशदग्रन्थेन ।

होने के कारण, जो निर्हेतुक होता है, वह प्रागभाववान् नहीं होता, जैसे आत्मा''—यह प्रयोग वेदान्ती के प्रति किया जाता है। तो वेदान्ती के प्रति भी तात्विक हेतुत्व की सिद्धि नहीं, अतः सहेतुकत्व की सिद्धि न होने से अप्रसिद्धविशेषणता दोष है। कारण का निर्वचन न हो सकने से ''व्यापारवत्कारणं कारकम्''—यह कारक का लक्षण भी निरस्त हो जाता है। इस प्रकार कारण का लक्षण सुवच नहीं—यह सिद्ध हो गया।

वैसे ही कार्य का लक्षण भी। कार्य क्या है ? (१) कारणाधीन जिसका स्वरूप सम्पन्न हो ? या (२) प्रागभावोपलक्षित सत्ता-योगी ? या (३) प्रागभाव-प्रतियोगी ? या (४) प्रागभाववाला ? या (५) पूर्वकाल में न रहकर उत्तरकाल में होनेवाला ? किसी प्रकार भी निरूपण नहीं हो सकता ; क्योंकि प्रथम लक्षण-घटक कारण का निर्वचन नहीं हो सकता, द्वितीय लक्षण में सामान्यतः प्रागभाव लेने पर आत्मादि में अतिव्याप्ति, स्वप्रागभाव लेने पर स्वत्व का अनुगम न होने से अव्याप्ति होती है। तृतीय लक्षण में प्रतियोगित्व का समानदेशावृत्तित्व अर्थ करने पर असम्भव, समानकालावृत्तित्व अर्थ करने पर काल में अतिप्रसङ्ग होगा। चतुर्थ और पञ्चम पक्ष में मतुप् प्रत्यय के अर्थ का निरूपण न हो सकने से अव्याप्ति होती है। अर्थात् कारण का निरूपण न हो सकने से कारणाधी-

न तावदाद्यः; कारणस्यानिरुक्तौ तदधीनस्वात्मलाभस्याप्यनिरुक्तेः। न द्वितीयः; आत्मादीनामपि कार्यत्वप्रसङ्गात्। घटादौ सत्ताया एव प्रागभावेनोपलक्षितत्वात्तस्याश्च तत्र भावात्। स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वमिति लक्षणविवक्षायामननुगम एव। सत्ताविरहिणः प्रध्वंसस्याकार्यत्वप्रसङ्गाच्च। न तृतीयः; प्रतियोगिशब्देनैकदेशानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासंभवित्वात्, कार्यतत्प्रागभावयोः कारणे वृत्तेः, एककालानवस्थाने तु कालस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, कालस्य कालान्तराभावेन प्रागभावेनैकस्मिन्कालेऽनवस्थानात्। घटादेरपि कार्यस्य यत्किंचित्प्रागभावेन सहावस्थानादसंभवदोषस्तदवस्थः। स्वप्रागभावेन सहानवस्थाने चात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गः; तेषां प्रागभावाभावेन तेन सहानवस्थानात्। न चतुर्थः; मतुबर्थस्याधिकरणार्थतायामात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गात्। तेषामपि सुखादिकार्यप्रागभावाधिकरणत्वात्। प्रतियोगिपरत्वे पूर्वदोषानुषङ्गात्। न पञ्चमः; उत्तरकालस्याकार्यत्वप्रसङ्गात्। तस्योत्तरकालसंबन्धित्वाभावात्। अथ नोत्तरकालः कार्यं नित्यत्वात्तस्येति चेत्, न; प्रागभावस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, तस्य प्रागसद्रूपत्वात्, किंचिच्चापेक्ष्योत्तरकालसंबन्धित्वाच्च। प्रागसत्त्वशब्देन प्रागभाववत्ता विवक्षितेति चेत्, न; मतुबर्थानिरूपणात्, कालसंबन्धपदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। एतेन नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्यमित्यपि परास्तम्; कारणानिक्तौ तदपेक्षया

संग्रहं विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—**स्वप्रागभावेनेति**। यच्चानुषञ्जयिष्यतीत्युक्तं तदाह—**उत्तरकालस्येति**। तस्मिन्नेव पक्षेऽतिप्रसङ्गान्तरमाह—**न प्रागभावस्येति**। **वैयर्थ्येति**। प्रागभाववत्त्वमित्युक्ते क्वातिव्याप्तिर्योत्तरकालसंबन्धपदेन व्यावर्त्येतत्यर्थः। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**कारणानिरुक्ताविति**। नहि किंचिदपेक्षया नियतत्वमपि विवक्षितमतिप्रसङ्गादितिभावः।

नात्मलाभरूप प्रथम लक्षण का निरूपण नहीं होता। द्वितीय लक्षण की आत्मादि में अतिव्याप्ति है; क्योंकि घटादि में जो प्रागभावोपलक्षित सत्ता है, वही आत्मादि में भी है। 'स्व-प्रागभावोपलक्षित सत्ता-योगित्व'—ऐसी विवक्षा करने पर अननुगम होता है। सत्ता-रहित ध्वंसादि कार्यों में इस लक्षण की अव्याप्ति भी है। तृतीय लक्षण में 'प्रतियोगी' शब्द से एकदेशानवस्थान का अभिधान माननें पर असम्भव होता है; क्योंकि कार्य और उसका प्रागभाव–दोनों एक ही कारणरूप देश में स्थित ही माने जाते हैं। एककालानवस्थान का अभिधान करने पर काल में भी कार्यत्व की प्राप्ति होती है; क्योंकि काल का कालान्तर न होने से काल अपने प्रागभाव के साथ किसी कालान्तर में अवस्थित नहीं। घटादि कार्य भी किसी-न-किसी के प्रभागभाव के साथ एक काल में स्थित ही रहते हैं; अतः असम्भव दोष भी है। स्व-प्रागभाव के साथ अनवस्थान की विवक्षा करने पर आत्मादि में भी कार्यत्व की प्रसक्ति होगी; क्योंकि आत्मादि नित्य पदार्थों का प्रागभाव होता ही नहीं, अतः उसके साथ उनकी स्थिति होती नहीं। चतुर्थ लक्षण (प्रागभाववत्) भी युक्त नहीं; क्योंकि यहाँ मतुप् (वत्) प्रत्यय का अधिकरण अर्थ करने पर आत्मादि में अतिव्याप्ति होती है; क्योंकि वे भी सुखादिरूप कार्य के प्रागभाव के अधिकरण ही हैं। प्रतियोगित्व अर्थ करने पर भी तृतीय लक्षण-कथित दोष है। पञ्चम (प्रागसत्त्वे सत्युत्तरकालसम्बन्धि) लक्षण की उत्तरकाल में अव्याप्ति होती है; क्योंकि वह अन्य उत्तर काल से सम्बन्धित नहीं। यदि कहा जाय कि उत्तरकाल नित्य होने से कार्य ही नहीं माना जाता। तब तो प्रागभाव को भी कार्य मानना होगा; क्योंकि वह पूर्वकाल में असत् और किसी-न-किसी की अपेक्षा उत्तर काल से सम्बन्धित भी है। 'प्रागसत्त्व' शब्द से प्रागभाववत्ता की विवक्षा करने पर मतुप् के अर्थ का अनिरूपण और 'कालसम्बन्ध' पद का वैयर्थ्य प्राप्त होता है। इससे "नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्यम्"—यह लक्षण भी परास्त हो जाता है; क्योंकि कारण

नियतोत्तरक्षणवर्तित्वस्यानिरूपणात् ।

कालानिरूपणाच्च न पूर्वोत्तरक्षणभावः कारणकार्यभावः । तथाहि—

प्रत्यक्षागोचरत्वेन परत्वादेरलिङ्गतः ।
स्वरूपतोऽनिमित्तत्वादुपाधौ निष्फलत्वतः ॥६०॥
दिवाकरपरिस्पन्दपिण्डसङ्गतिसंभवात् ।
व्यापिनश्चेतनादेव कथं कालः प्रसिद्ध्यति ॥६१॥

न तावत्काले प्रत्यक्षं प्रमाणम्; द्रव्यग्राहकयोश्चक्षुस्पर्शनयोस्तस्मिन् रूपविरहिणि स्पर्शविधुरे चाप्रवृत्तेः, मनसश्च वाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरप्रवृत्तेः, अननुभवाच्च । नाप्यनुमानम्; तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात् । परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययाः प्रत्येकं लिङ्गमिति चेत्, न; तेषां निरुपाधिककालनिबन्धनत्वे प्रत्ययवैलक्षण्यानुपपत्तिप्रसङ्गात् । तपनपरिस्पन्दभे-

---

तत्र काले प्रमाणं दूषयति श्लोकेन—प्रत्यक्षेति । न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, रूपादिरहितद्रव्यत्वेन वाह्यत्वेन च बहिरन्तःकरणागोचरत्वात् । नाप्यनुमानम्, परत्वादेस्तल्लिङ्गत्वाभावात् । ननु तज्जन्यत्वात्परत्वादेः किमिति न तल्लिङ्गत्वम् ? तत्राह—स्वरूपत इति । किं कालस्वरूपमात्रं परत्वादिनिमित्तम् ? किं वा तद्विशेषः ? नाद्यः, कालस्याविलक्षणत्वेन विलक्षणपरत्वादेस्ततोऽनुपपत्तेः । न द्वितीयः; स्वतो विशेषाभावात् । अथोपाधिकृस्तत्राह—उपाधौ निष्फलत्वत इति । तैरेवोपाधिभिः परत्वादिव्यवहारसिद्धेर्विफला कालकल्पनेत्यर्थः । ननु दिवाकरपरिस्पन्दभेदास्तावदुपाधयः, नच तेषां पिण्डैः साक्षात्संबन्धः, परिस्पन्दक्रियाया दिवाकरवर्तित्वात् । नचासंबद्धानां पिण्डेषु व्यवहारजनकत्वमतिप्रसङ्गात्, अतस्तत्संबन्धकतया कालकल्पनेति, तत्राह—दिवाकरेति । यः खलु विभुरात्मा परमेश्वरस्तत एव दिवाकरपरिस्पन्दानां पिण्डानां च संगतिसंभवान्न तत्सिद्ध्यर्थमपि कालः कल्प्य इति श्लोकयोरर्थः । यथाक्रमं विवृणोति—न तावदित्यादिना । परत्वादेरलिङ्गत इत्यस्य शङ्कामाह—परापरेति । तत्र परापरादिषट्कं किं कालगुणतया स्वसमवायित्वेन तं कल्पयति ? किं वा तदसमवायिकारणतया ? किं वा तन्निमित्तकतया ? नाद्यः; कालस्य विभुतया पञ्चमात्रगुणतया च तद्गुणकत्वाभावात् । नापि द्वितीयः; द्रव्यस्यासमवायिकारणत्वाभावात् । गुणकर्मणोरेव हि तत्त्वात् । नापि तृतीयः; अपेक्षाबुद्धेरेव निमित्तत्वोपपत्तेः । भवतु वां यथातथापि, किं कालमात्रं निमित्तम् ? तद्विशेषो वा ? नाद्य इत्याह—न; तेषामिति । द्वितीं-

---

का निर्वचन न हो सकने से, कारण की अपेक्षा नियतोत्तरक्षणवर्तित्व का भी निरूपण नहीं हो सकता ।

काल का निरूपण न हो सकने के कारण पूर्वोत्तरक्षणभाव और कार्यकारणभाव का निरूपण नहीं हो सकता । काल में कोई भी प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि रूप-रहित होने से प्रत्यक्ष का काल विषय नहीं । परत्वादि लिङ्ग से काल का अनुमान भी नहीं हो सकता । परत्वादि में काल स्वरूपतः निमित्त नहीं हो सकता, किसी उपाधि की कल्पना करने पर काल मानना ही निष्फल हो जाता है । सूर्य की गति का पिण्ड के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी काल की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह व्यापक चेतन के द्वारा ही सम्पन्न हो जाता है । अर्थात् द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् दो इन्द्रियों से हुआ करता है, किन्तु रूप-रहित है, अतः उसमें चक्षु और त्वक् की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति न होने से ही मन भी प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि बाह्य विषय के ग्रहण में मन बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा करता है । मनसे काल का ग्रहण अनुभवसिद्ध भी नहीं । काल-व्याप्त लिङ्ग न होने से काल का अनुमान भी नहीं हो सकता । (वै० भा० पृ० २६ पर कथित) परत्वापरत्व, यौगपद्यायौगपद्यत्व, चिर-क्षिप्रत्व की प्रतीतियों से भी काल का अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि उक्त परत्वादि छह धर्मों का उपाधि-रहित काल को निमित्त मानने पर सर्वत्र परत्वादि की एकरूप से प्रतीति होनी चाहिए, विलक्षण नहीं । सूर्य-परिस्पन्दादिरूप

दलक्षणोपाधिकवलितकालाधीनत्वे तूपाधिभिरेव तत्सिद्धेः, कृतं कालकल्पनया ? ननु 'तरणिपरिस्पन्दभेदानां युवस्थविरादिपिण्डैः स्वतः संवन्धासंभवेन दिवसमासादिविशिष्टप्रत्ययजनकत्वायोगात्पिण्डचण्डरोचिःपरिस्पन्दयोः परंपरासंबन्धसंपादकः कालः स्वीकर्तव्यः। स च संबन्धः संयुक्तसंयोगिसमवायात्मा। न च तत्र पृथिव्यादिचतुष्टयं हेतुः; तस्य तपनपिण्डाभ्यां नियमेन संसर्गाभावात्। न च दिनकरकरनिकरस्तथा; तदभावे गृहनिखातनिध्यादिषु मासाद्यवच्छेदप्रतीतेः। न चाकाशात्मानौ तथा; विशेषगुणवत्त्वात् पृथिव्यादिवत्। न चाव्यापकत्वमुपाधिः; एकस्य व्यापकस्य संबन्धोपनायकत्वे व्यापकान्तरस्य तदहेतुतया

येऽपि किं स्वतो विशेषः ? औपाधिको वा ? नाद्यः; अपराद्धान्तात्। द्वितीये प्राह—तपनेति। भेदो विशेषः। अत्र श्रीवल्लभोदीरितकालसमर्थनरीतिमुद्भावयति तन्निवर्तकतयोत्तरश्लोकमवतारयितुम्—नन्विति। तरणिः सूर्यः। अनुभूयते तावदन्वयव्यतिरेकाभ्यां तरगिपरिस्पन्दविशेषाणां युवस्थविरशरीरादिपिण्डेषु मासादिविचित्रबुद्धिजननद्वारेण तदुपहितेषु परत्वापरत्वादिबुद्धिजनकत्वम्, नच तैरसंबद्धानां तत्र बुद्धिजनकत्वम्, नच साक्षात्संबन्धो रविपरिस्पन्दानां पिण्डैरस्त्यतः तत्संबन्धकतया कश्चिदष्टद्रव्यविलक्षणो द्रव्यविशेषः स्वीकर्तव्यः, तस्य च काल इति संज्ञेति। ननु स्वीकृतेऽपि तस्मिन् किं तपनपरिस्पन्दाः पिण्डेषु समवयन्ति, तस्मात्कल्पितोऽप्यसत्कल्पः, इति तत्राह—**स च संबन्ध इति**। यद्यपि न साक्षात्संबन्धस्तथापि पिण्डसंयुक्तकालसयोगवर्ति तपने समवेतानां परिस्पन्दानां संयुक्तसयोगिसमवायोऽस्ति संबन्धः अतः स्वसंयुक्तवर्तिधर्माणां स्वसंयुक्तवस्त्वन्तरे संक्रामकः कश्चित्कालनामा स्वीक्रियते इत्यर्थः। ननु तथापि कथं तस्य नवमत्वम् ? यावता पृथिव्यादिभिरेवायमर्थः शक्यसंपादन इति, तत्राह—**नच तत्र पृथिव्यादीति**। तेषु तावन्नित्यवर्गस्य परमाणुतया अतिदूरवर्तितपनपिण्डयोर्न संबन्धकत्वम्, अनित्यवर्गस्याप्यनवस्थिततया सकलवस्त्वसंसर्गाच्च न नियमेन संबन्धकत्वमित्यर्थः। ननु सवितृकिरणैरेव सवितृपिण्डसम्बद्धैरयं संबन्धः संपाद्यतामिति, तत्राह—**न च दिनकरेति**। निखातवस्तुषु किरणसंबन्धाभावेऽपि मासादिवैशिष्ट्यप्रतीतेस्तत्रापि रविपरिस्पन्दसंवन्धसपादनक्षमः कश्चित्कल्प्य इत्यर्थः। ननु तर्ह्याकाश आत्मा वा संबन्धसंपादकौ भवतस्तयोः सर्वसंसर्गितया सर्वोपपत्तिस्तत्राह—**न चाकाशेति**। तथेति संबन्धापनायकौ। काले व्यभिचारवारणाय विशेषेत्युक्तम्। ननु पृथिव्यादिष्वेदंविधसंबन्धानापादकत्वं न विशेषगुणवत्त्वप्रयुक्तम्, किं तर्ह्यव्यापकत्वप्रयुक्तम्, ततस्तद्व्यावृत्तौ किमिति न संबन्धकत्वमनयोरिति, तत्राह—**न चाव्यापकत्व-**

उपाधियों से विशिष्ट काल को निमित्त मानने पर उन उपाधियों से ही परत्वादि का निर्वाह हो सकता है, अतः काल की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। लीलावतीकार ने जो (न्या० ली० पृ० २८३-२९२ पर) कहा है—"सूर्य-समवेत परिस्पन्द विशेष, युवक और वृद्ध-शरीरों के साथ साक्षात् सम्बद्ध न होने के कारण, दिवस-मासादि-विशिष्ट प्रतीति में जनक नहीं हो सकते, अतः शरीर और सूर्य-परिस्पन्द के परम्परा सम्बन्ध का सम्पादक काल मानना होगा। वह परम्परा सम्बन्ध है– संयुक्तसंयोगिसमवाय (किर० पृ० ११५)। (अर्थात् शरीर से संयुक्त है–काल, काल का संयोगी है–सूर्य और सूर्य में समवाय है–सूर्यगत परिस्पन्द का)। पृथिव्यादि-चतुष्टय उक्त सम्बन्ध के सम्पादक नहीं हो सकते; क्योंकि पृथिव्यादि का सूर्य और शरीर के साथ नियमतः सम्बन्ध नहीं, जैसा कि किरणावलीकार ने कहा है—"न च पृथिव्यादि तथा भवितुमर्हति, अप्राप्तेर्व्यभिचाराच्च" (किर० पृ० ११५)। सूर्य-किरणों के द्वारा भी उक्त सम्बन्ध नहीं बनता; क्योंकि किरणों की प्राप्ति न होने पर भी गर्भ-गृह, गर्त, निधि–आदि प्रदेशों में मासादि-वैशिष्ट्य का व्यवहार देखा जाता है। आकाश और आत्मा भी उक्त सम्बन्ध के सम्पादक नहीं हो सकते; क्योंकि विशेषगुणवाले हैं, जैसे–पृथिव्यादि। इस अनुमान में 'अव्यापकत्व' उपाधि नहीं लगा सकते; क्योंकि किसी एक ही व्यापक को उक्त सम्बन्ध का सम्पादक मान लेने से काम चल जाता है, दूसरे व्यापक पदार्थ को

व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वात्। ततः परिशेषात्पिण्डसंयुक्तः कालस्तपनेनापि संयुज्यमानस्तत्समवेतपरिस्पन्दानां परम्परया पिण्डसंबन्धहेतुः सिद्धः' इति लीलावतीकारः।

मैवम्; उभयवादिसंप्रतिपन्नात्मनैवं वस्तूनामुपाधिसंबन्धसिद्धेरतिरिक्तद्रव्यकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। न च विशेषगुणवत्त्वादात्मनः पृथिव्यादिवदुपाधिसंबन्धानुपनायकत्वम्; विशेषगुणवैधुर्येण मनोवदेव भवदभिमतकालेऽप्युपाध्यनुपनायकत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्। अव्यापकत्वोपाधेस्त्वयैव निवारितत्वात्। ननूपाधिसंबन्धोपनायकत्वेनैव कालसिद्धेस्तत्पक्षीकारेण तद्विपर्ययप्रसञ्जने धर्मिग्राहकप्रमाणबाधस्तदसिद्धावाश्रयासिद्धिरिति चेत्, न; प्रतिवादिप्रसिद्धतामात्रेणैवाश्रयतोपपत्तेरसकृदुपपादितत्वात्। विशेषगुणविधुरत्वं तरणि-

---

मिति। अयमर्थः—त्वयापि तावदाकाशात्मनोरन्यतरस्यैव हेतुत्वं मन्तव्यम्, लाघवादनुगतिलाभाच्च। तथा च व्यापकस्याप्येकस्यासंबन्धकत्वे यत्राव्यापकत्वं नास्ति, तत्रासंबन्धकत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तिरेकव्याप्तिरशक्यसमर्थनेति नायमुपाधिरिति, तदित्थम्—प्रसक्तप्रतिषेधमन्यत्राप्रसङ्गं चोक्त्वा शिष्यमाणे संप्रत्ययं दर्शयिष्यन्परिशेषमुपसंहरति—**तत इत्यादिना**। नच दिगेव साऽस्त्विति वचनीयम्। कालविप्रतिपत्तुर्दिश्यपि समानत्वात्, सिद्धत्वेपि तत्कृतपरत्वापरत्वव्यवहारादेस्तत्कृतस्य विलक्षणत्वादिति।

एतन्निरासपरतया द्वितीयश्लोकं योजयति—**मैवमित्यादिना**। पूर्ववाद्यनुशयमुन्मूलयति—**न च विशेषगुणेति**। न तावद्विशेषगुणवत्त्वानुपनायकत्वयोर्व्यभिचारे किंचिद् बाधकमस्ति, तस्मात्साधर्म्यसमेयम्। अथैवमपि न प्रतिबुध्यसे, तर्हि विशेषगुणराहित्यस्यानुपनायकत्वस्य चास्ति साहचर्यं मनसीति तावककालस्याप्यनुपनायकतापात इति व्याहतिभारं वहत्त्वयं वावदूकवादिगर्दभ इत्यभिसंधिराह—**विशेषगुणवैधुर्येणेति**। ननु न विशेषगुणविधुरत्वमनुपनायकत्वे प्रयोजकम्, किं तर्ह्यव्यापकत्वम्, कालस्तु तद्विपरीत इति, तत्राह—**अव्यापकत्वेति**। अत्रापि हि पूर्ववदव्यापकत्वनित्यनिवृत्तावनुपनायकत्वस्याकाशादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः। ननु यदिदमभिधीयते यदि विशेषगुणवतामेवेदमनुपनायकत्वं तर्हि विशेषगुणरहितत्वादेव कालस्यापि मनोवदनुपनायकत्वं स्यादिति प्रसञ्जनं प्रसाधनं वा कालमधिकृत्य, तदयुक्तम्, कालसिद्धावसिद्धौ च तदनुपपत्तेरिति शङ्कित्वा परिहरति—**न ; प्रतिवादीति**।

उक्त सम्बन्ध-सम्पादक मानने की आवश्यकता है, अतः उस दूसरे व्यापक में अव्यापकत्वरूप उपाधि का अभाव (व्यापकत्व) रहने पर भी उक्त सम्बन्धासम्पादकत्वरूप साध्य का अभाव नहीं, अतः (जहाँ अव्यापकत्व नहीं, वहाँ सम्बन्धासम्पादकत्व भी नहीं—इस प्रकार की) व्यतिरेकव्याप्ति के भंग हो जाने से अव्यापकत्व धर्म, प्रकृत साध्य का व्यापक न बन सका, फिर उपाधि कैसे बनेगा? इसलिए जब कोई और द्रव्य उक्त सम्बन्ध का सम्पादक नहीं हो सका, तब परिशेष से शरीर-संयुक्त काल ही सूर्य से संयुक्त होकर सूर्य-समवेत परिस्पन्द विशेष का शरीर के साथ परम्परा सम्बन्ध-सम्पादक सिद्ध होता है।"

लीलावतीकार का वह कहना उचित नहीं; क्योंकि उभय-मत-सिद्ध आत्मा के द्वारा ही शरीरादि वस्तु और सूर्य-परिस्पन्दरूप उपाधि का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है, अतिरिक्त द्रव्य (काल) की कल्पना में व्यर्थ का गौरव होगा। यह जो कहा था कि आत्मा में विशेषगुणत्व रहने के कारण पृथिव्यादि के समान ही उक्त सम्बन्ध-सम्पादकत्व नहीं रह सकता। तब आपके काल में भी विशेषगुणवत्त्व का अभाव रहने के कारण मन के ही समान उक्त सम्बन्ध-सम्पादकत्व न रह सकेगा। 'अव्यापकत्व' उपाधि का निवारण तो आप ही ने कर दिया है। यदि कहें कि सूर्य-परिस्पन्दरूप उपाधि-सम्बन्ध-सम्पादकत्व से ही काल की सिद्धि की जाती है, उस काल को पक्ष बनाकर उसमें सम्बन्ध-सम्पादकत्व का अभाव-साधन करने पर धर्मिग्राहक प्रमाण से बाध होता है और काल की सिद्धि न होने पर आश्रयासिद्धि होती है। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि प्रतिवादी के मत में

स्पन्दसंसर्गोपनायकवृत्ति न भवति विशेषगुणशून्यमात्रवृत्तित्वात् मनस्त्ववदिति कालवादिनं प्रति प्रकारान्तरेणापि निरुक्तिसंभवाच्च। न च परत्वापरत्वगुणासमवायिकारणसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिः; परत्वापरत्वयोरेवासिद्धेः। न च परापरत्वव्यवहारानुपपत्त्या तत्सिद्धिः; प्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वेनैव तत्सिद्धेः। अन्यथा परत्ववन्मध्यमत्वस्यापि गुणान्तरस्य स्वीकारः स्यादिति भूषणभाषितदूषणप्रसङ्गात्। न च तरणिपरि-

---

एतेनेदमपास्तं यदाह स एव—'यदि गगनमात्मा वाऽन्यधर्मेणान्यदवच्छिन्दयात्काश्मीरवर्तिना कुङ्कुमरागेण कर्णाटकचक्रवर्तिकरकमलमवच्छिन्द्यात्। नच कालेऽप्येष प्रसङ्गः; तस्यासिद्धावाश्रयासिद्धेः, सिद्धौ वा परापरनियतधर्मोपसंक्रामकत्वस्वभावेनैव सिद्धेरिति। देहात्मवादिवत्प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ दोषद्वयानास्कन्दनादिति। किंच कालमङ्गीकृत्यापि स्वभाव एव शरणम्, तदीश्वरस्यैवास्त्वयं स्वभावः वृथातिरिक्तकल्पना। किंचोभयसंप्रतिपन्नकिंचित्पक्षीकारेण कालपक्षीकारव्यतिरेकेणैव विशेषगुणशून्यस्यांक्तधर्मानुपनायकत्वस्य शक्यानुमानत्वात्क्षुद्रतरोऽयं दोष इत्याह—**विशेषगुणेति**। सत्तादौ व्यभिचारनिवारणाय मात्रग्रहणम्। असिद्धिपरिहाराय विशेषपदम्। ननु याविमौ परत्वापरत्वगुणावनुभूयेते एतयोस्तावदसमवायिकारणेन केनचिद्भवितव्यम्, भावकार्यत्वात्। तच्च गुणः कर्म वा स्यात्, तत्राप्यन्यगतत्वेन प्रत्यासत्त्यभावान्न रविपरिस्पन्दः। अव्यवस्थितत्वाच्च न रूपादिः। नाप्येकत्वादि द्वित्वादि, वैषम्यात्। नच कारणनिष्ठपरत्वादि, अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात्। तस्मात्कालविशेषपिण्डयोः संयोगादसमवायिकारणात् समवायिकारणेषु पिण्डेष्विमावुत्पद्येते, दिग्विशेषपिण्डसंयोगाच्च दिक्कृतौ। यथाहुर्भाष्यकृतः—"परेण कालप्रदेशेन संयोगात्परत्वमुत्पद्यते, अपरेण कालप्रदेशेन संयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति, तस्मादेतयोरसमवायिकारणभूतसंयोगाश्रयतया कालसिद्धिः," इति, तत्राह—**न च परत्वापरत्वेति**। ननु कथं परत्वापरत्वयोरसिद्धिः? यावता यद्विशिष्टे द्रव्ये परमपरमिति बुद्धी जायेते ते परत्वापरत्वे इति लक्षणप्रमाणयोर्भावात्, तत्राह—**नच परेति**।। यस्य हि यदपेक्षया भूयोभिस्तरणिपरिस्पन्दैरन्तरितं जन्म तत्तदपेक्षया परम्, यस्य च यदपेक्षया स्तोकतरणिपरिस्पन्दान्तरितं जन्म तत्तदपेक्षयाऽपरमिति व्यवह्रियते इत्युपाधितोऽप्युपपन्नत्वान्नातिरिक्तगुणकल्पिकेयमित्यर्थः। अत एव च पूर्वोत्पन्नत्वं परत्वं पश्चादुत्पन्नत्वमपरत्वमिति भासर्वज्ञमते लीलावतीकारेण यद् दूषणमुक्तम्—'पूर्वपश्चाद्भावस्य परापरातिरिक्तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वा'दिति, तदपि परिहृतम्; पूर्वापरयोरुपरोधनात्तरणिपरिस्पन्दप्राचुर्याल्पत्वमात्रेणैव समर्थनादिति। अतश्चैवमेवाश्रयणीयम्, इतरथा मध्यमोऽयमिति व्यवहारान्मध्यमत्वमपि कश्चिद् गुणः स्यात्। नहि तत्रोक्तरीतिमन्तरेण शरणमित्याह—**अन्यथेति**। लीलावतीकारस्तु संयोगाल्पत्वभूयस्त्वे विकल्प्य दूषयांबभूव, तद्रीतिमत्राप्युद्भाव्य दूषयति—**न च तरणीति**। अवश्यं तावद्युवानमवधिं कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते, स्थविरमवधिं कृत्वा यूनि

सिद्ध होने मात्र से काल को आश्रय बनाया जा सकता है—यह बात कई बार कही जा चुकी है। "विशेषगुण-रहितत्व, सूर्य-स्पन्द-सम्बन्ध-सम्पादक में वृत्ति नहीं होता, विशेषगुण-शून्य मात्र में वृत्ति होने से, जैसे मनस्त्व"—इस प्रकार काल-वादी के प्रति प्रकारान्तर से (काल को पक्ष न बनाकर) भी प्रयोग किया जा सकता है। अपरत्व और परत्व गुणों के असमवायिकारण संयोग की आश्रयता से भी काल की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि परत्व और अपरत्व की ही सिद्धि नहीं होती। परत्व-अपरत्व के (यह ज्येष्ठ है, यह कनिष्ठ है—इस प्रकार के) व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से उनकी सिद्धि नहीं की जा सकती; क्योंकि जिस व्यक्ति के जन्म की अपेक्षा जिसके जन्म में प्रचुर (अधिक) सूर्य-परिस्पन्द का व्यवधान हो गया है, उसे पर (ज्येष्ठ) और जिसके जन्म में अल्प (न्यून) सूर्य-परिस्पन्द का व्यवधान है, वह अपर (कनिष्ठ) कहलाता है, अतः परत्वादि-व्यवहार के लिए काल की कोई आवश्यकता नहीं। अन्यथा परत्व के ही समान 'मध्यमत्व' नाम के एक नये गुण को भी मानना पड़ेगा—यह भूषणकार-कथित दोष आ जायगा (द्र० न्या० लौ० पृ० २८३)। यदि कहें

स्पन्दानां प्राचुर्यमल्पत्वं च न संख्याभेदो, नापि परिमाणविशेषो ; निर्गुणे कर्मण्यसंभवादिति वाच्यम् ; भवन्मते परत्वापरत्वहेतुभूताया अपेक्षाबुद्धेर्यद्विषयनिबन्धनं वैचित्र्यं तस्यैवास्माभिः प्रचुराल्पतरशब्देनाभिलापात् । अपेक्षाबुद्धेः स्वभावभेदादेव वैचित्र्यव्यवहारहेतुत्वं न विषयभेदापेक्षयेति चेत्, मैवम् ; परापरबुद्ध्योरप्यन्तरेणैव विषयवैचित्र्यं स्वभावभेदादेव तथाविधव्यवहारहेतुत्वप्रसङ्गात् । तथा नीलपीतादिबुद्धीनामपीति तथागतानां त्वयैव दत्तः स्वहस्तः स्यात् । तदेवं न कालसद्भावसिद्धिः ।

इन्द्रियानधिगम्यत्वान्नाध्यक्षं नानुमा दिशि ।
वर्णैरर्थान्तरत्वेन साध्यासिद्धिर्निदर्शने ॥६२॥

च सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते इत्यपेक्षाबुद्धितः परत्वादिसंभवमभ्युपगच्छता परत्वापरत्वजनकबुद्ध्योः परस्परं विशेषो वक्तव्यः । स च विषयगतप्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मव्यतिरेकेण दुर्निरूपस्ततो यादृशं प्राचुर्याप्राचुर्यं तवाभिमतं तादृशमेव ममापीत्यर्थः । ननु न विषयविशेषकृतो बुद्ध्योर्विशेषः, किंतु स्वरूपसामर्थ्यनिबन्धनः, यथाह श्रीवल्लभः—'अपेक्षाबुद्धेर्विषयवैचित्र्यमन्तरेणापि विचित्रकार्यजननशीलत्वेन विलक्षणफलजनकत्वाविरोधा'दिति । तदेतदुद्भावयति—अपेक्षेति । एवंविधं स्वभाववैचित्र्यं परापरबुद्ध्योरेव कल्प्यताम्, लाघवादावश्यकत्वाच्च; वृथा तदतिरिक्तबुद्धिकल्पनापीत्याह—मैवमिति । अतिप्रसङ्गदर्शनपूर्वकमपराद्धान्तप्रसङ्गं चाह—तथा नीलेति । तथागताः बौद्धाः । भवेतां वा यथातथा परत्वापरत्वे, तथापि तदसमवायिकारणसंयोगाश्रयः परमेश्वर एव प्रागुपपादितरीत्या घटते इति वृथा कालकल्पना । नचातिप्रसङ्गः, कालवदेव पदार्थविशेष एव तत्प्रवर्तकत्वात् । किंच परम्परात्मकस्तावन्न संबन्धो भवन्नये, तस्मात् रविपरिस्पन्दपिण्डस्वाभाव्यतो ह्यसौ, स्वीकृतेऽपि काले न तत्संयोगमात्रात्परत्वादिगुणोत्पत्तिरविशेषात्, उपहितकालसंयोगाधीनत्वेऽप्युपाधिकालयोरुपाधिपिण्डयोर्वा न साक्षात्संबन्धः । नच संयुक्तसंयोगसमवायात्मकः कश्चित्संबन्धो भवन्नये भावाभावान्तर्गततया शक्यनिरूपणः । तस्माद्यथा समवायाभावयोः स्वभावादेव संबन्धव्यवहारजनकत्वमेवं तरणिपरिस्पन्दानामेव स्वभावविशेषवशात् पिण्डेषु परत्वापरत्वव्यवहारजनकत्वमस्तु, कृतमन्तरालेऽजागलस्तनायितकालकल्पनयेति । एतेन परत्वापरत्वासमवायिसंयोगाश्रयो विभुः कालः, परापरयौगपद्यायौगपद्यादिप्रत्ययलिङ्गः कालः, नित्यं परत्वापरत्वासमवायिकारणीभूतसंयोगाश्रयो, द्रव्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिजातिमत्त्वरहितः परत्वजनकसंयोगवान्कालः—इत्यादीनि श्रीवल्लभप्रशस्तपादशिवादित्यमिश्रादिकल्पितकाललक्षणान्यपि प्रतिक्षिप्तानि मन्तव्यानि, परत्वादिजनकसंयोगस्यात्मन्येवोपपादनेन विशेषणासिद्धेरिति ।

अनुमानानि तु समनन्तरमेव दिक्खण्डने पुरा निरस्यन्ते । इदानीं दिशो निराकुर्वंस्तत्र प्रमाणानि श्लोकेन दूषयति—इन्द्रियेत्यादिना । न तावदध्यक्षं तत्र मानम् ; पूर्ववदस्या अपीन्द्रियायोग्यत्वात् ।

कि निर्गुण कर्म (सूर्यपरिस्पन्द) में रहने के कारण प्रचुरत्व और अल्पत्व को न तो संख्याविशेष मान सकते हैं और न परिणामविशेष, अतः प्रचुरत्व और अल्पत्व का निरूपण नहीं हो सकता । तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि आप (वैशेषिक) के मत में परत्वापरत्व की जनक अपेक्षा बुद्धि में जिस विषय से प्रयुक्त वैचिञ्य माना जाता है, उसे ही हम प्रचुर और अल्प शब्दों से कहा करते हैं । 'अपेक्षा बुद्धि में स्वभाव से ही वैचिञ्य होता है, विषय-भेद से नहीं'—यह नहीं कह सकते ; क्योंकि उसी प्रकार परापर-बुद्धियों में भी विषय-वैचिञ्य के बिना ही स्वभावविशेष से ही परापर-व्यवहार की हेतुता माननी पड़ेगी । इतना ही नहीं, अपितु नील-पीतादि बुद्धियों में भी नील-पीतादि विषय के बिना ही स्वभावतः ही नीलादि-व्यवहार की हेतुता बन जायगी, इस प्रकार तो बौद्ध सिद्धान्त को आप प्रश्रय दे बैठेंगे । अतः काल-सद्भाव सिद्ध नहीं होता ।

दिशा भी इन्द्रिय-गम्य नहीं, अतः उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं और अनुमान भी नहीं ; क्योंकि वर्णों

एतेन दिगपि व्याख्याता ; तस्या अप्यनध्यक्षत्वादलिङ्गत्वाच्च । ननु पूर्वापरदक्षिणोत्तरादिदृशप्रत्ययाः सन्ति तत्कथं लिङ्गाभाव इति चेत्, न ; तेषां निरुपाधिदिगालम्बनत्वे सर्वत्र सर्वप्रत्ययप्रसङ्गात् । दिशां दशत्वप्रसङ्गे नवैव द्रव्याणीति व्याघाताच्च । न चात्मत्वेन संग्रहवद्दिशामपि दिक्त्वेन संग्रहाददोषः ; शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया तत्कारणाकाशस्याप्यानन्त्यप्रसङ्गात्, आकाशत्वेन संग्रहस्य तत्रापि तुल्यत्वात् । न च तथैवास्तु को दोष इति वाच्यम्, आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तास्ताः संज्ञा आकाशं कालो दिगिति भाष्यविरोधात् । सुरशिखरिशिखरपरिभ्रमन्मार्तण्डमण्डलप्रथमसंयोगाद्यु-

---

नाप्यनुमानादिभिस्तत्सिद्धिः ; तेषां सर्वगतवर्णसाधनेनाप्यर्थान्तरतापातात् । केषुचिद्दृष्टान्तेषु साध्यविकलता, एतच्च वक्ष्यमाणदूषणानामप्युपलक्षणम् । आदिग्रहणेनान्यथानुपपत्तिराप्तवचनं गृह्यते । सावतारं श्लोकं विवृणोति– **एतेनेत्यादिना** । ननु सन्ति पूर्वापरादिप्रत्ययाः प्रत्यात्मवेदनीयाः, नच तेषां मूर्तद्रव्यनिबन्धनत्वम्, तेषामसार्वत्रिकत्वादनुगतविचित्रव्यवहारानुपपादकत्वात्, पूर्वादिप्रतीत्यनुपपत्तेश्च । नच विभुद्रव्यान्तरनिबन्धनाः, तेषामविचित्रतया विचित्रव्यवहारानुपपत्तेः । ततस्तेभ्योऽतिरिक्तं किंचिदेषामालम्बनं दिगभिधानं कल्प्यमिति शङ्कते—**ननु पूर्वेति** । तत्र किं निरुपाधिका दिगेषामालम्बनम् ? किंवा तत्तदुपाध्युपहिता ? अनौपाधिकपक्षेऽप्येका ? अनेका वा ? आद्ये पूर्वादिदिशां व्यवस्था न स्यात्, अविचित्रविषयत्वादित्याह—**न तेषामिति** । अथ पूर्वादिप्रत्ययविषयासंकराय विभिन्ना दिशः कल्प्येरंस्तत्राह—**दिशामिति** । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—अनेकत्वेऽपि तत्क्रियोपनायकः कालः, संयोगोपनायिका दिक् । नच नवैवेति विरोधः, आत्मनामानन्त्येप्यात्मत्ववद्विरोधादिति । तत्र कालसंग्रहोपाधिः पुरस्तादेव निरस्तः । दिक्संग्रहोपाधिमपि पुरा निराकरोति । अत्राभ्युपगम्याप्युपाधिमेवं संग्रहेऽतिप्रसक्तिमाह—**नचात्मत्वेनेति** । यदि हि पूर्वादिप्रत्ययवैलक्षण्येन दिग्भेदकल्पनम्, तर्हि तारतरत्वादिरूपेण शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया गगनमपि किं विभिन्नं न स्वीक्रियते ? शक्यते हि तत्राप्युपाधिपुरोधानेन विधातुं नवत्वव्याकोपपरिहार इत्याह—**शब्दलिङ्गानामपीति** । गुडजिह्विकायामेव विश्वसन्तं डिम्भकं प्रत्याह—**न च तथैवेति** । भाष्यं प्रशस्तपादीयम् । तथा काललिङ्गाविशेषादेकत्व सिद्धम्, दिग्लिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपीति च तत्र तत्र भाष्यमुदाहरणीयम् ।

को लेकर अर्थान्तरता होती है । एवं दृष्टान्त में साध्य की असिद्धि भी है । अर्थात् काल के ही समान दिशा का भी निराकरण हो जाता है । उसमें भी प्रत्यक्ष और लिङ्ग का अभाव है । यदि कहा जाय कि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणादि दश प्रतीतियाँ ही लिङ्ग है, अतः दिशा में लिंगाभाव कैसे होगा ? तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि उक्त प्रतीतियों का उपाधि-रहित दिशा को विषय मानने पर सर्वत्र सर्व प्रतीति होने लगेगी, पूर्वादि की व्यवस्था नहीं रहेगी (द्र० न्या० ली० पृ० २९४) । यदि पूर्वादि की व्यवस्था के लिए दश दिशाएँ मानी जायं तब "नवैव द्रव्याणि"—यह आपका सिद्धान्त भंग हो जाता है । यदि कहें कि दिक्त्वरूप से दशों दिशाओं का एक द्रव्य के रूप वैसे ही संग्रह हो जाता है, जैसे अनन्त आत्माओं का आत्मत्वस्वरूप से । तब तो शब्दरूप लिङ्ग अनेक हैं, अतः आकाशरूप लिंगी को अनेक मानना पड़ेगा । आकाशस्वरूप से सभी आकाशों को संग्रह यहाँ भी समान ही है । 'ऐसा मान लेने में क्या दोष है ?'—इस प्रश्न का उत्तर है—"आकाशकालदिशामेकत्वाद्, अपरजात्यभावे पारिभाषिक्याः तिस्रः संज्ञा भवन्ति—आकाशः कालो दिगिति"—इस वैशेषिक भाष्य (वै० भा० पृ० २३) का विरोध । (अर्थात् भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि आकाश काल और दिशा ये तीनों एक-एक व्यक्ति होने के कारण इनमें वृत्ति आकाशत्वादि को व्याप्य जाति नहीं मान सकते, अतः आकाशादि नाम जातिनिमित्तक नहीं, अपितु पारिभाषिक हैं । अतः आकाशादि को अनेक मानने पर यह भाष्य असंगत हो जायगा) । पूर्वादि प्रतीतियों का विषय शुद्ध दिक् को न मानकर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा में निरत

पाध्युपधाने तेनैव पूर्वादिप्रत्ययानामन्यथासिद्धत्वात्। उपहितदिगालम्बनत्वे च परस्पराश्रयत्वात्—पूर्वादिप्रत्ययबलादुपाध्युपहितदिक्सिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदालम्बनपूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धिरिति। लिङ्गान्तरेण तत्सिद्धौ पूर्वापरादिप्रत्ययवैयर्थ्यात्। उपाधीनामादित्यादिगतत्वात् पूर्वापरप्रत्ययालम्बनवस्तुभिः स्वरूपतः प्रत्यासत्तिशून्यानां संबन्धापादकवस्त्वन्तरस्य स्वीकारे दिक्सिद्धिरिति चेत्, न; त्वदभिमतकालेनैव तदुपपत्तेः। न च कालकृतपरत्वा-

एवमनौपाधिकपक्षं दूषयित्वौपाधिकपक्षमाशङ्क्य तत्राप्युपाधेर्निष्फलत्वत इत्येतदतिदिशति—सुरशिखरीति। सुरशिखरी मेरुपर्वतः। तथाहि—"दिग्लिङ्गाविशेषात् दिश एकत्वेपि दिशः परमर्षिभिः श्रुतिस्मृतिलोकसंव्यवहारार्थं मेरुप्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवतः सवितुर्ये संयोगास्तेषां संयोगानां लोकपालपरिगृहीतदिक्प्रदेशानामन्वर्थाः प्राच्यादिभेदेन दशविधसंज्ञाः कृताः" इति भाष्यात्सन्ति दशोपाधयः प्रागञ्चनमवागञ्चनं प्रत्यगञ्चनमुदगञ्चनमिति मेर्वपेक्षया सन्ति चत्वार उपाधयः, तथा तदन्तरालाश्चत्वारः, तथा नक्षत्रलोकाद्यपेक्षयाभिमुख्यं पृथिव्यादेः, पृथिव्याद्यपेक्षयाभिमुख्यं नक्षत्रलोकादेरिति द्वावुपाधी। तदेतैर्दशभिर्दिशो दशत्वं न स्वभावत इति यद्यभिमतम्, तर्हि तैरेवोपाधिभिः पूर्वापरादिप्रत्ययाः पदार्थेषूत्पद्यन्तां कृतमन्तरा दिशेत्यर्थः। किंचौपाधिकत्वेऽप्येतेषां प्रत्ययानां किं दिङ्मात्रं विषयः? उपाधिमात्रं वा? उपहितदिग्वा? नाद्यः, विचित्रत्वात्। नोत्तरः, दिग्वैयर्थ्यात्। तृतीये दूषणमाह—उपहितेति। परस्पराश्रयं विवृणोति—पूर्वापरेति। अयमर्थः—तत्र किं पूर्वापरादिबुद्धय एव दिक्षु लिङ्गम्? अन्यद्वा? द्वितीये वक्ष्यति। प्रथमे तु ज्ञायमानतया तासां लिङ्गत्वम्; तत्रापि न रूपादिबुद्धिभिरिव चक्षुरादेरेताभिर्दिशामनुमानम्, तथा सति दिग्विषयत्वाभावप्रसङ्गात्। तथा च दिग्विषयाभिरेताभिरवगताभिर्दिशामनुमाने विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानात् दिगनुमितिः, दिग्ज्ञाने च विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानम्, नहि तद्विषयज्ञानव्यतिरेकेण तद्विशिष्टबुद्धिः शक्यज्ञानेतीतरेतराश्रयत्वमिति। दिग्ज्ञानाच्च दिग्ज्ञानमित्ये, तदपि कौतुकान्तरम्। यत्तु वक्ष्यतीत्युक्तम्, तदाह—लिङ्गान्तरेति। यत्तूपाधिमादायान्यथासिद्धिरुक्ता, तां परिहरति पूर्ववादी—उपाधीनामिति। तथाहि—पूर्वादिबुद्धयस्तावन्न दिङ्मात्रविषयाः, किं त्विदं पूर्वमिदमपरमिति घटादिवस्तुविषयाः, तत्रापि न तत्स्वरूपमात्रविषयाः, घटस्वरूपव्यतिरेकेऽप्यस्य पटादिष्वपि विद्यमानत्वात्, घटस्वरूप एव च पूर्वादिविचित्रव्यवहारानुपपत्तेश्च। तस्मात्पदार्थान्तरविशिष्टघटादिस्वरूपनिबन्धनाः। विशेषणानि च मेरुप्रदेशैः सहस्ररश्मिप्रथमसंयोगादयः। नच ते घटादिषु समवयन्ति, आदित्यमेरुनिष्ठत्वात्। ततस्तेषां घटादिषूपसंक्रामकः कश्चिदेष्टव्यः। स च न मूर्तवर्गः, तस्योभयत्राननुसन्तानत्वादाकाशात्मानौ त्वतिप्रसङ्गिनौ विशेषगुणवन्तौ च, तस्माद्व्यापकं सूर्यसुमेरुराजप्रदेशसंयोगभेदानां स्वसंयुक्तसमवेतानां स्वसंयुक्तवस्त्वन्तरे संक्रामकम्। तस्य च दिगिति संज्ञा, कालस्य क्रियासंक्रामकत्वात्, सा चेतरेभ्यो भिद्यते एवंविधसंयोगसंक्रामकत्वात् न यदेवं न तदेवं यथा पृथिव्यादीति तत्सिद्धिरित्यर्थः। दूषयति—न; त्वदभिमतेति। शक्यमत्रापि कालोन्मूलनवदाकाशमात्मानं वादायान्यथासिद्ध्या दिशोप्युन्मूलनं कर्तुम्, विशेषगुणत्त्वं च तत्रैव कृतसमाधानम्। अथापि भवतु नाम भवतः श्रद्धानुमारेण विशेषगुण

सविता के संयोग विशेषरूप उपाधियों से युक्त (वै० भा० पृ० २९ पर कथित) दिक् को विषय मानने पर उन्हीं उपाधियों से पूर्वादि-प्रतीतियों का निर्वाह हो जाता है। उपाधि-विशिष्ठ दिक् को विषय करने पर अन्योऽन्याश्रयता भी है; क्योंकि पूर्वादि-प्रतीति के आधार पर उपाधि-विशिष्ट दिक् की सिद्धि और उसकी सिद्धि हो जाने पर उसको विषय करके पूर्वादि प्रतीति की सिद्धि होगी। लिंगान्तर से उस दिक् की सिद्धि करने पर पूर्वादि-प्रतीतियों में वैयर्थ्य आ जाता है। 'सुमेरु और आदित्य के संयोगविशेषरूप उपाधियाँ आदित्यगत है, उनका पूर्वादि-प्रतीतियों के विषय वृक्षादि के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता नहीं, अतः परम्परा सम्बन्ध-सम्पादक दिक् वस्तु की सिद्धि होती है'—यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि यह परम्परा सम्बन्ध भी वैशेषिक-सम्मत काल के द्वारा सम्पन्न

परत्ववैलक्षण्यादस्य दिक्कृतत्वम्; दिक्कल्पनामन्तरेणैव व्यवहर्तुः स्वेन संयुक्तपृथिव्यादिभिर्हस्तदण्डादिसंयोगानामल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामेव विशिष्टपरापरव्यवहारोपपत्तेः। न चाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोः संख्यारूपगुणत्वे परिमाणविशेषत्वे च संयोगाख्यगुणाधिकरणत्वासंभवादनुपपत्तिः; भवदभिमतपरत्वापरत्वजनकसन्निकृष्टविप्रकृष्टलक्षणापेक्षाबुद्धिविषयसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोरपि तुल्यत्वात्।

यच्च दिक्कालयोः प्रसाधनाय प्रमाणमुक्तं लीलावतीकारेण—‘महत्परिमाणसामान्यं विशे-

---

रहितमेव व्यापकं किंचित्, तथापि त्वत्कल्पितकालत एव तत्सिद्धेर्न तद्विलक्षणकल्पनेत्यर्थः। ननु कालकृतपरापरत्वादिलक्षणे परत्वापरत्वे तावदनुभूयेते, अस्ति हि नित्येष्वपि परमाणुषु दिक्कृतपरत्वापरत्वव्यवहारः। अनित्येष्वपि, कालतस्त्वनित्येष्वेव, तथा कालतोऽपरेऽपि दिक्कृतपरत्वं कालतः परेच दिक्कृतमपरत्वमतस्तदसमवायिकारणसंयोगस्य विलक्षणस्याश्रयतया दिक्सिद्धिरिति शङ्कित्वा परिहरति—नच कालकृतेति। नायं व्यवहारः परत्वापरत्वकल्पकः, किं तर्हि यदर्थस्य यदपेक्षया प्रमातुः संयुक्तसंयोगबाहुल्यं तत्ततः परं यस्य तु यदपेक्षया प्रमातुः संयुक्तसंयोगाल्पत्वं तत्ततोऽपरमिति ताभ्यामेवान्यथासिद्धत्वादित्याह—दिक्कल्पनामिति। हस्तदण्डादीति। व्यवहर्तुर्देवदत्तस्य संयुक्तपृथिव्यादिनापि हस्तदण्डादिसंयोगाद्दशहस्तेन दण्डेन दशदण्डो निवर्तनमित्यादिशास्त्रोक्तपरिमाणज्ञापकास्तेषां संयुक्तपिण्डापेक्षया अल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामित्यर्थः। यत्तु किरणावलीकारेणैवमाशङ्क्योक्तम्—‘न तदपेक्षया, प्रमातर्यपि परापरप्रत्यक्षप्रसङ्गात्, संयोगबाहुल्यादेरविशेषात्, भवति हि यावत्यध्वनि मत्तो वाराणसी तावति वाराणस्या अहमपि, न तु सा किंचिदपेक्ष्य मत्तः परापरेतिवदहमपि तस्याः परोऽपरो वा” इति, तदसत्; परत्वापरत्वोत्पत्तावप्यस्य प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। तथाह—संयोगाल्पत्वबहुत्वे पिण्डवत्प्रमातर्यपि समाने इति किमिति तयोः प्रमातर्यनुत्पत्तिः? पिण्ड एव वा किमित्युत्पत्तिः? अथ ब्रूयात्कारणशक्तिनियमादेव नियमोपपत्तिः, भेर्याकाशसंयोगस्योभयाश्रयत्वाविशेषेऽपि नभस्येव शब्दो न भेर्यामितिवत् संयुक्तसंयोगाल्पत्वबहुत्वाविशेषेऽपि प्रमेय एव परत्वापरत्वे न प्रमातरीति सर्वमुपपन्नमिति, तदप्यसत्; यद्धि संयुक्तसंयोगाल्पत्वबहुत्वविशेषावच्छिन्नसंयोगाधिकरणत्वेन प्रतिसन्धीयते तत्र परापरत्वव्यवहारः, न प्रमातरि, तस्य तथाप्रतिसन्धीयमानत्वाभावात्, यदा तु सोऽपि तदधिकरणत्वेनानुसन्धीयते तदा भवत्येव तत्रापि तद्व्यवहारः वाराणसीतः परोऽहमिति। यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—‘किं पुनः संयोगस्य भूयस्त्वमल्पत्वं चेत्’ इत्यादि तदनूद्य निषेधति—नचाल्पीयस्त्वेति। भवतापि ह्यपेक्षाबुद्धिवैषम्यात्तज्जन्ययोरनयोर्वैषम्यमभ्युपेयते, बुद्धिवैषम्यं च संयुक्तसंयोगबहुत्वाल्पत्वलक्षणविषयवैषम्यात्। अत्रापि विप्रतिपत्तावुक्तमुत्तरं कालखण्डने, तस्मात्तद्विकल्पस्तन्निराकरणं च जात्युत्तरमित्यर्थः।

एवं चिरंतनप्रमाणं दूषितमिदानीमाधुनिकोन्नीतं दिक्कालसाधकानुमानजातमनूद्य निराकरोति—यच्चेति। अणुत्वे सिद्धसाधनतावारणाय महत्परिमाणसामान्यमित्युक्तम्। विशेषगुणशून्यं यद्द्रव्यं तदधि-

---

हो सकता है। कालिक परत्वापरत्व की अपेक्षा विलक्षण होने के कारण ये परत्वापरत्व दिक्-कृत हैं—यह भी कहना युक्त नहीं; क्योंकि दिक् की कल्पना के बिना ही व्यवहर्ता पुरुष से संयुक्त पृथिव्यादि के साथ हस्त, दण्ड (दशहस्त मान) आदि के संयोगों के अल्पीयस्त्व (न्यूनत्व) और भूयस्त्व (अधिकत्व) के कारण पर (दूरत्व) तथा अपर (समीपता) का व्यवहार सिद्ध हो जाता है। यदि कहें कि अल्पीयस्त्व और भूयस्त्व को संख्यारूप गुण या परिमाणविशेष मानने पर संयोगरूप गुण में उसकी अधिकरणता न बनेगी। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि वैशेषिक-सम्मत परत्वापरत्व की जनक समीप—दूररूप अपेक्षा बुद्धि के विषय संयोग में अल्पीयस्त्व-भूयस्त्व के समान ही अल्पीयस्त्वादि हम भी मानते हैं।

लीलावतीकार ने दिक और काल की सिद्धि के लिए जो प्रमाण कहे हैं—“महत्परिमाणगत

षगुणशून्यद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्ति परिमाणतारतम्यविश्रान्तिविषयनिष्ठजातित्वादणुत्ववत्। अस्ति हि विशेषगुणशून्यानेकमनोगतानेकाणुपरिमाणनिष्ठताणुत्वजातेः। तथा विवादाध्यासितानि मूर्तद्रव्याणि युगपद्विशेषगुणशून्यानेकद्रव्यसंसर्गीणि द्रव्यत्वादात्मवदिति, तदयुक्तम्; अन्तरेणापि दिक्कालौ व्यापकपञ्चाशद्वर्णद्रव्यप्रसाधनेनार्थान्तरत्वात्। वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च, मनसो विशेषगुणशून्यत्वे हि तद्गताणुत्वस्य विशेषगुणविधुरद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तित्वम्, आत्मनश्च युगपद्विशेषगुणशून्यद्रव्यसंसर्गित्वं च भवेत्तच्च वेदान्तिनं प्रत्यसिद्धम्, मनसोऽपि विशेषगुणवत्त्वात्। न च तत्र मानाभावाः मूर्तत्वस्यैव तत्त्वात्। न च विशेषगुणवत्त्वे द्रव्यारम्भकत्वमुपाधिः; घटादिष्वन्त्यावयविषु व्यभिचारात्। न च द्रव्यारम्भकवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमत्त्वमुपाधिः; आत्माकाशयोर्व्यं-

---

करणा याऽनेकव्यक्तिर्महत्परिमाणानि तद्वृत्तीत्यर्थः। द्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तीत्युक्ते गगनात्मघटादिवृत्त्यनेकमहत्परिमाणनिष्ठतासाधनेनार्थान्तरता स्यात्, तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम्। अनेकव्यक्तिग्रहणेन च तदधिकरणविशेषगुणशून्यद्रव्यानेकत्वसिद्धौ कालदिशोः सिद्धिः। परिमाणवृत्तित्वेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्याधिकरणपदम्। घटत्वादिनिवृत्त्यै विश्रान्त्यादिविशेषणम्। ज्ञानत्वादिनिवृत्त्यै परिमाणेति। दृष्टान्ते साध्यप्रसिद्धिं दर्शयति—**अस्ति हीति**। **विवादाध्यासितेति**। शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमूर्तद्रव्याणीत्यर्थः। द्रव्यसंसर्गीणि इत्युक्ते गगनसंसर्गितयार्थान्तरता तदर्थमनेकद्रव्येत्युक्तम्। तथापि घटादिसंसर्गितयार्थान्तरता, तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम्। तथापि क्रममुक्तसंसर्गितयार्थान्तरता तदर्थं युगपदित्युक्तम्। तेषां क्रमेणैवमुच्यमानानां युगपद्विशेषगुणशून्यताभावात्, युगपत्संसर्गीणीति वा साध्यम्। तदा लोकान्तरं प्रतिष्ठमानैर्मनोभिः क्रमेण संबध्यमानपृथिव्यादिना सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थम् युगपदिति पदम्। बाधपरिहारार्थं विशेषपदम्। मनोभिः संसर्गेण चात्मसु साध्यसिद्धिः। एतद्दूषणपरतया वर्णैरर्थान्तरत्वेनेत्येतदवतारयति—**तदयुक्तमित्यादिना**। अधिगतमिदमपौरुषेयवादे यद्वर्णानां नित्यत्वं विभुत्वं च। नच तेषां विशेषगुणाः सन्ति। नादानामन्यधर्मत्वादन्यस्य चाभावादतस्तद्वृत्तिवृत्तितासाधनेनापि विश्रान्तेरर्थान्तरता प्रथमे। द्वितीयेऽपि तत्संसर्गसाधनेनार्थान्तरतेत्यर्थः। उभयोरपि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाह—**वेदान्तिनं प्रतीति**। तदेव विवृणोति—**मनस इति**। **मूर्तत्वस्येति**। विप्रतिपन्नं विशेष गुणवन्मूर्तत्वात् घटवदित्यनुमानेन मनसो विशेषगुणसिद्धिरित्यर्थः। अत्रोपाधिमाशङ्क्य निरस्यति—**नचेति**। विशेषगुणवत्स्वप्यन्त्यावयविषु द्रव्यारम्भकत्वं नास्ति तत्त्वव्याघातादतः साध्याव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः। उपाध्यन्तरं निरस्यति—**नच द्रव्यारम्भकेति**। द्रव्यारम्भकेषु वर्तमाना या द्रव्यत्वावान्तरजातिस्तद्वत्त्वम्। नच

जाति, विशेषगुण-शून्य द्रव्य-वृत्ति अनेक व्यक्तियों में रहती है, परिमाण-तारतम्य की विश्रान्ति के विषय में वृत्ति जाति होने से, जैसे—अणुत्व।" विशेष गुण-शून्य अनेक मनोरूप द्रव्य-वृत्ति अनेक अणुपरिमाणों में अणुत्व रहता ही है, अतः दृष्टान्त में साध्य प्रसिद्ध है। उसी प्रकार "विवादास्पद मूर्त (शरीर और इन्द्रिय से भिन्न) द्रव्य, विशेष गुण-शून्य अनेक द्रव्यों के साथ युगपत् संसर्गवाले हैं, द्रव्य होने के कारण, जैसे—आत्मा।" वह लीलावतीकार का कहना अयुक्त है; क्योंकि दिक् और काल के बिना भी व्यापक अकारादि पचास वर्णों को लेकर अर्थान्तरता होती है। वेदान्ती के प्रति दृष्टान्त भी साध्य-विकल है; क्योंकि मन यदि विशेष गुणों से शून्य होता, तब मनगत अणुत्व विशेष गुण-शून्य द्रव्य-वृत्ति अनेक व्यक्तियों में वृत्ति होता और आत्मा में विशेषगुण-शून्य द्रव्यों की युगपत् संसर्गिता होती; किन्तु वेदान्ती के प्रति वह सिद्ध नहीं, वेदान्ती के मत से मन भी विशेषगुणवाला होता है। मन की विशेषगुणवत्ता में मूर्तत्व ही नियामक है—(मन विशेषण गुण वाला है, मूर्त होने से, जैसे—घटादि)। यहाँ 'द्रव्यारम्भकत्व' उपाधि नहीं लगा सकते; क्योंकि अन्त्यावयवी घटादि में मूर्तत्व रहने पर द्रव्यारम्भकत्व न होने से साध्य का व्यापक नहीं।

भिचारात्। न च बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्; भवदभिमतात्मनि व्यभिचारात्। न वा भूतात्मनोरन्यतरत्वमुपाधिः; वेदान्तिनं प्रति तमसि साध्याव्याप्तेः। 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिरित्येतत्सर्वं मन एवे'ति मनसो विशेषगुणवत्त्वश्रुतेश्च। न च कामादीनां निमित्तकारणत्वान्मनसस्तथात्वव्यपदेशः; मुख्ये बाधकाभावात्, निमित्तनैमित्तिकत्वमात्रेण समानाधिकरण्यश्रवणानुपपत्तेश्च। न हि भवति कुलालो घट इति सामानाधिकरण्यम्। एतेन मानमनोहरप्रयोगोऽप्यपास्तः—विवादाध्यासितं कार्यं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां जन्यते कार्यत्वादन्तःकरणद्वयसंयोगवदिति; तत्रापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्यैजन्यत इति बहुवचनप्रक्षेपेणापि प्रयोग-

---

मनोगतमनस्त्वजातिर्द्रव्यारम्भकवृत्तिजातिरतो न साधनव्याप्तिः, नाप्यन्त्यावयविषु साध्याव्याप्तिः। पृथिवीत्वस्योक्तरूपस्य तत्रापि भावादिति भावः। तथापि साध्याव्याप्तिः, आकाशे विशेषगुणवत्त्वेऽपि द्रव्यत्वावान्तरजातेरभावात्, आत्मनि तु विशेषगुणवति तत्सत्त्वेऽपि द्रव्यारम्भकवृत्तित्वाभावादित्याह—**आत्मेति**। उपाध्यन्तरं दूषयति—**नचेति**। अस्ति च तत् गगनेऽपीति भावः। तथापि भवन्मते विशेषगुणवत्त्वेन स्वीकृतात्मनि साध्याव्याप्तिः, तद्गुणानां मानसप्रत्यक्षत्वादित्याह—**भवदिति**। अस्तु तर्हि भूतात्मनोरन्यतरत्वं तथाचाकाशात्मनोरपि तदस्त्येवेति, तत्राह—**न वा भूतेति**। उपपादित खल्वेतत्तमोवादे यद्विशेषगुणवत्ता तमसोऽस्तीति, अतः साध्यवत्त्वेऽपि तस्मिन्न भूतात्मनोरन्यतरत्वमिति साध्याव्याप्तिरित्यर्थः। अत्र श्रुतिमपि प्रमाणयन् विशेषगुणानपि तदीयान्निष्टङ्कते—**काम इति**। ननु कामादि मन एवेत्यत्र न गुणगुणिभावेन शुक्लो घट इतिवत्सामानाधिकरण्यं विवक्षितम्, किं तर्ह्यात्मगुणानामेव सतां निमित्तकारणत्वात्तत्प्रयुक्तमिति, तत्राह—**नच कामादीनामिति**। न तावन्निमित्तकारणकार्ययोः कुलालो घट इति सामानाधिकरण्य दृष्टचरम्। अथापि तच्छ्रमादिना कल्प्येत, यदि मुख्ये बाधकं स्यान्नत्वेतदस्तीत्यर्थः।

एवं श्रीवल्लभानुमानं निरस्य मानमनोहरीयमनुमानं दूषयति—**एतेनेति**। अत्र घटादिः पक्षः, मृदादिद्रव्येनार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थम् विशेषगुणशून्यग्रहणम्। अदृष्टेश्वरेच्छादिभिरर्थान्तरताव्यावृत्त्यै द्रव्यग्रहणम्। एतेनेत्येतद्विवृणोति—**तत्रापीति**। किंचानयैव रीत्या विशेषगुणरहितं दशममपि शक्यसाधनमित्याभाससमानयोगक्षेममित्याह—**विवादेति**। ननु विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इत्यत्र नास्ति दृष्टान्तः, नहि बहु-

---

'द्रव्यारम्भक-वृत्ति द्रव्यत्व-व्याप्य जाति' को भी उपाधि नहीं कह सकते; क्योंकि आत्मा और आकाश में व्यभिचारी होने से साध्य-व्यापक नहीं। बाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य विशेषगुणवत्त्व भी उपाधि नहीं; क्योंकि आप (वैशेषिक) के सम्मत आत्मा में विशेषगुणवत्त्वरूप साध्य रहने पर भी बाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य। विशेषगुणवत्त्व न रहनेसे साध्य का व्यापक नहीं। 'भूत और आत्मा का अन्यतरत्व' भी वेदान्ती के मत से तम में नहीं, अतः साध्यव्यापक न होने से उपाधि नहीं वन सकता। "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिरित्येतत् सर्वं मन एव" (बृ० १।५।३) इस श्रुतिने नितान्त स्पष्ट कर दिया है कि इच्छादि विशेष गुणों की आश्रयता मन में है। "कामादि का निमित्तकारण मन है, अतः "कामो मनः"—इस रूप से गौण सामानाधिकरण्य-निर्देश किया गया है"—यह नहीं कह सकते क्योंकि मुख्य सामानाधिकरण्य का कोई बाधक नहीं और निमित्त-नैमित्तिक का सामानाधिकरण्य वन भी नहीं सकता, जैसे कि कुलाल निमित्त है और घट नैमित्तिक; इनका सामानाधिकरण्य-व्यवहार (कुलालो घटः) नहीं होता। इससे मानमनोहरकार का "विवादास्पद कार्य, विशेषगुण-रहित दो द्रव्यों से जन्य होता है, कार्य होने के कारण, जैसे—संयोग"—यह अनुमान भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि यहाँ भी दृष्टान्त, साध्य-विकल है और यह अनुमान, उस प्रयोगाभास के समान भी है, जो कि विशेषगुण-शून्य किसी अतिरिक्त (दशम) द्रव्य का साधन करने के लिए कहा जा सकता है—"विवादास्पद कार्य विशेषगुण-रहित बहुत द्रव्यों से जन्य होता है, कार्य होने से, जैसे—बहुत्व।"

संभवादतिरिक्तद्रव्यसाधकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च । न च दृष्टान्तासिद्धिः ; अनेकान्तःकरणाधिकरणापेक्षाबुद्धिजन्यबहुत्वस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तेः, विवादाध्यासितं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां न जन्यतेऽन्तःकरणाकार्यत्वादाकाशवदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । न चाकार्यत्वमुपाधिः ; वेदान्तवादिभिराकाशस्यापि कार्यताङ्गीकारात् । तदेवं कालानिरूपणान्न तत्कृतः पूर्वापरीभावः कार्यकारणभावः ।

भेदाभेदविकल्पानुपपत्तेश्च । तथा ह्यत्यन्तभिन्नयोरश्वमहिषयोरिव नोपादानोपादेयभावः । तथात्यन्ताभेदेऽपि, पूर्वसिद्धस्योपादानत्वादसिद्धस्य चोपादेयत्वात् , एकत्र युगपत्सिद्धत्वासि-

---

भिरन्तःकरणैरेकः संयोगो जन्यत इति वैषम्यमुक्तं तेनैवेति, तत्राह—न च दृष्टान्तेति । अनेकान्तःकरणाधिकरणमपेक्षाबुद्धिजन्यं च यद्बहुत्वं तस्य दृष्टान्ततोपपत्तेरित्यर्थः । नच निमित्तकारणेति विशेषणेन निस्तारः, तदनुमाने साध्यवैकल्यापातात् । सत्प्रतिपक्षतां चाह—विवादाध्यासितमिति । अत्रापि तेनोक्तमकार्यत्वमुपाधिरिति दूषयति—न चाकार्यत्वमिति । परत्वापरत्वखण्डनेन च परमाणुपरत्वजनकसंयोगाश्रयो दिगित्यादीनि तन्मुखेन शिवादित्यमिश्रोक्तानि दिग्लक्षणानि खण्डितान्येव । एवं कालखण्डनप्रस्तावेन दिक् खण्डिता, कालखण्डनस्य तु कारणखण्डनोपयोगमाह—तदेवमिति । अथ किमिति पृथिव्यादीनि न खण्डितानि ? न; खण्डितत्वात् । तथाहि—गन्धवती पृथिवीत्यादीनि गुणद्वारा यानि लक्षणानि, तानि गुणवद्द्रव्यमितिवदव्याप्त्या खण्डितप्रायाणि । पृथिवीत्वादिजातिखण्डनेन तत्प्रमाणदूषणेन च गन्धसामानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवी, स्नेहसमानाधिकरणद्रव्यत्वान्तरजातिमदुदकमित्यादीनि जातिपुरस्कारेण शिवादित्यमिश्रप्रभृतिभिरुत्प्रेक्षितान्यपि निरस्तानि । शब्दस्य च विभुत्वनित्यत्वसाधनात् , तदधिकरणतयाकाशानिरुक्तिः । सुखादीनां च साक्षिवेद्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुखादिग्राहकमिन्द्रियं मन इति मनोलक्षणासिद्धिः । ज्ञानरूपत्वसमर्थनात्सुखादीनामन्तःकरणगुणत्वात्प्रज्ञानाद्याधार आत्मेत्यात्मलक्षणानिरुक्तिरिति खण्डितान्येव नवापि द्रव्याणि ।

इदानीं कार्यकारणभावं प्रकारान्तरेण दूषयति—भेदाभेदेति । भिन्नयोरपि कलशकुलालयोः कार्यकारणभावोऽस्तीत्यत उक्तं—नोपादानेति । नचात्यन्तभिन्नयोरपि समवायवशादुपादानोपादेयभाव इति वाच्यम् ; समवायाभावयोरत्यन्तभेदे किमिति मृद्घटयोरेव तमापादयति नाश्वमहिषयोरित्यत्र निरुत्तरत्वात् । स्वभाववशादिति चेत् , प्रमाणमन्वेषणीयम् , अन्यथानुपपत्तिरिति चेदन्यथैवोपपत्तेः । अत्यन्ताभेदपक्षेऽपि विरुद्धधर्माध्यासादसंभवमाह—तथेति । उभयानुपपत्तिं समाधित्सुर्भेदाभेदवादी शङ्कते—

(इस प्रयोग के द्वारा दिक् और काल से अतिरिक्त भी किसी विशेषगुण-रहित द्रव्य की सिद्धि की जा सकती है, वह द्रव्य, परिगणित नव द्रव्यों से अतिरिक्त ही होगा) । 'इस प्रयोग में दृष्टान्तासिद्धि की शङ्का नहीं कर सकते ; क्योंकि अनेक अन्तःकरण-वृत्ति, अपेक्षाबुद्धि-जन्य बहुत्व ही दृष्टान्त बन सकता है, (क्योंकि वह विशेषगुण-रहित अनेक अन्तःकरणों से जन्य है) । इसी प्रकार विवादास्पद कार्य, विशेषगुण-रहित दो द्रव्यों से जन्य नहीं होता, अन्तःकरण का अकार्य होने से, जैसे—आकाश" यह सत्प्रतिपक्ष भी उक्त अनुमान में है । यहाँ 'अकार्यत्व'-उपाधि नहीं दे सकते ; क्योंकि वेदान्तवादी आकाश को भी कार्य ही मानते हैं । इस प्रकार काल का निरूपण नहीं हो सकता ; अतः कालकृत पूर्वापरीभाव, कार्यकारणभाव नहीं हो सकता ।

कारण के विषय में भेदाभेद-विकल्प भी असमाधेय हैं । अर्थात् अश्व और महिष के समान अत्यन्त भिन्न पदार्थों का उपादान-उपादेयभाव सिद्ध नहीं होता । उसी प्रकार अत्यन्त अभिन्न पदार्थों में भी उपादान-उपादेयभाव नहीं बन सकता ; क्योंकि पूर्व सिद्ध पदार्थ उपादान और असिद्ध पदार्थ उपादेय माना जाता है, वे दोनों (सिद्धत्व और असिद्धत्व) युगपत् एक (अभिन्न) पदार्थ

द्धत्वविरोधादेव तदनुपपत्तेः। अस्तु तर्हि भिन्नाभिन्नयोः कार्यकारणभावः, अत्यन्ताभेदे भेदे च तदनुपपत्तेर्दर्शितत्वात्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च। नहि भवति घटः पट इति सामानाधिकरण्यम, नापि घटो घट इति। दृश्यते च मृद्घटः, शुक्लः पटः, गौः शाबलेय इति समानाधिकरण्यं ततो भेदाभेदसिद्धिरिति चेत्, न;

भेदेऽप्ययुतसिद्धत्वादुपादानत्वसंभवात्।
तस्यापि दुर्निरूपत्वात्समवायाद्यसंगतेः ॥६३॥

अन्तरेणापि भेदाभेदौ जन्यजनकयोरयुतसिद्धतयैवोपादानोपादेयतोपपत्तेः, भेदाभेदवादिनाप्ययुतसिद्धतायास्तन्नियामकत्वेनावश्याभ्युपेयत्वात्। न हि यत्रैव कार्यकारणभावस्तत्रैव भेदाभेदाविति शक्यं कल्पयितुम्। अतश्चावश्याभ्युपेयैवायुतसिद्धिरिति तत एवार्थापत्तेरन्यथासिद्धिः। न चान्तरेण भेदाभेदावयुतसिद्धिरेव न सिद्ध्यतीति वाच्यम्; अत्यन्तभिन्नयोर-

---

अस्तु तर्हीति। इतश्च भेदाभेदः कार्यकारणानामित्याह–**सामानाधिकरण्येति**। नन्वत्यन्तभेदेऽपि किमिति समानाधिकरण्यानुपपत्तिस्तत्राह—**न हीति**। नच भेदेऽप्याधाराधेयभावादुपपद्यते इति वचनीयम्; कुण्डं दधीत्यपि प्रसङ्गात्। अभेददर्शनमाह—**नापि घटो घट इतीति**।

एवं भेदेऽभेदेप्यनुपपद्यमानसामानाधिकरण्यस्य कार्यकारणगुणगुणिजातिव्यक्तिस्थलेषु सद्भावं दर्शयंस्तदुपपादकभेदाभेदमानयति—**दृश्यते चेति**। उपलक्षणं चैतद्विशिष्टस्वरूपांशांशिस्थलयोरपि। अत्र किं कार्यकारणभावमात्रं भेदाभेदगमकम्? उपादानोपादेयभावो वा? नाद्यः; सलिलादेः कलशस्य तत्प्रसङ्गात्। तथात्वे वा व्यर्थविशेषणत्वात्। न द्वितीयः; अत्यन्तभेदेऽपि तत्संभवादिति दूषयति सिद्धान्ती–**भेदेऽपीति** श्लोकेन। अत्यन्तभेदेऽप्ययुतसिद्धत्वमादायोपादानोपादेयभावसंभवात्, उपादानत्वस्य च दुर्निरूपत्वात्तत्र हेतुः—**समवायाद्यसंगतेरिति**। आदिशब्देन वक्ष्यमाणविकल्पदूषणानि संगृह्यन्ते। समवायित्वे सति कारणत्वमित्यादिप्रकारं हि तत्। तच्च न संभवति, समवायाद्यसंगतेरिति श्लोकार्थः। विवृणोति—**अन्तरेणापीत्यादिना**। अयुतसिद्धत्वेऽपि जातिव्यक्त्यादेर्नोपादानोपादेयभाव इत्यत उक्तम्—**जन्यजनकयोरिति**। नन्वयुतसिद्धिरेवास्माकमसिद्धा, समवायानङ्गीकारात्स्वरूपेण दुर्निरूपत्वाच्चेति, तत्राह—**भेदाभेदेति**। दुर्निरूपत्वादिति तावदात्मानं विस्मृत्याभिहितम्, किं वा भवन्मते सुनिरूपम्, समवायस्तु यद्यपि नाङ्गीक्रियते, तथापि भेदाभेदनियामकतयाऽयुतसिद्धिराश्रयणीया, इतरथा अनयोरेव नान्ययोरिति नियमाभावापातादित्यर्थः। ननु कार्यकारणभाव एव नियामकोऽस्तु किमयुतसिद्ध्येति, तत्राह—**नहि यत्रैवेति**। नित्ययोरप्यात्मात्मत्वयोर्भेदाभेदाङ्गीकारादिति भावः। तत्रायुतसिद्धत्वसिद्ध्यर्थमेव भेदाभेदोऽस्तु, तत्राह—

में नहीं बन सकते। यदि कहें कि भिन्नाभिन्न पदार्थों में ही कार्यकारणभाव बन सकता है; क्योंकि अत्यन्त अभेद और अत्यन्त भेद में तो उसकी अनुपपत्ति दिखाई ही जा चुकी है और सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति भी है; क्योंकि अत्यन्त भिन्न घट–पट का एवं अत्यन्त अभिन्न घट–घट का सामानाधिकरण्य नहीं होता। किन्तु कार्य-कारण, गुण-गुणी और जाति-व्यक्ति में सामानाधिकरण्य देखा जाता है—'मृद् घटः', 'शुक्लः पटः', 'गौः शाबलेयः'। अतः भेदाभेद सिद्ध होता है। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थों में भी अयुतसिद्धत्व को लेकर उपादानोपादेयभाव हो सकता है। किन्तु समवायादि का निरूपण न हो सकने के कारण उपादानत्व का निरूपण नहीं हो सकता। अर्थात् भेदाभेद के बिना भी अयुतसिद्धत्व होने के कारण जन्य और जनक में उपादानोपादेयभाव बन जाता है। भेदाभेद-वादी को भी अयुतसिद्धत्व को ही उसका नियामक मानना होगा, कारण यह है कि जहाँ ही कार्यकारणभाव होता है, वहाँ ही भेदाभेद होते हैं—यह कल्पना तो कर नहीं सकते; अतः अवश्य स्वीकर्तव्य अयुतसिद्धि से ही उपादानोपादेयभाव सिद्ध होता है। 'भेदाभेद के बिना अयुतसिद्धि ही सिद्ध न होगी'—यह नहीं कह सकते; क्योंकि अत्यन्त भिन्न आत्मा

प्यात्माकाशयोर्भाट्टैरपीष्टत्वात्, उपादानोपादेयभावानिरूपणाच्च । तत्किं (१) समवायित्वे सति कारणत्वम् ? (२) उत कार्याधारत्वम् ? (३) जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वं वा ? (४) द्रव्यत्वविशेषितं वा ? (५) आहोस्वित्कार्याकारेण परिणतत्वम् ? (६) अथवा कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वम् ? नाद्यः ; समवायस्यानङ्गीकारणान्निराकृतत्वाच्च । न द्वितीयः ; कुण्डबदरयोराधाराधेयभावेऽपि तददर्शनात् । स्वजन्याधारत्वं तदिति चेत्, न ; स्वजन्यघटाद्याधारे कुलालादावतिव्याप्तेः, आधारानिरुक्तेश्च । न तावदिहेति प्रत्ययविषयत्वम्, तत्रेति प्रत्ययाव्याप्तेः । नापि समवायित्वम् ; शशे विषाणाभावः कुण्डे बदरमित्यादावव्याप्तेः । नापि संयोगित्वम् ; गुणादौ

नचेति । भाट्टैरिति । जातिव्यक्तिकार्यकारणगुणगुणिविशिष्टस्वरूपांशांशिरूपपञ्चसु स्थलेषु हि तैर्भेदाभेदोऽङ्गीक्रियते, न सर्वत्र । न ह्येतेषामन्यतमत्वमाकाशात्मनोरथ चायुतसिद्धिरस्ति, नित्यत्वेन स्वगतत्वेन च पृथगाश्रयाश्रितत्वपृथग्गतिमत्त्वलक्षणद्विविधयुतसिद्धेरभावादित्यर्थः । तस्यापि दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—उपादानेति । निमित्तकारणासमवायिनोर्व्यवच्छेदार्थं समवायित्वे सतीत्युक्तम् । आधारत्वं जात्यपेक्षयाप्यस्ति, नच तां प्रत्युपादानत्वमित्यत उक्तम्—कार्याधारत्वमिति । जन्येनेत्यस्यापीदमेव प्रयोजनम् । जन्येन घटेनायुतसिद्धत्वं घटादेरप्यस्ति, नच तदुपादानमित्यत उक्तम्—जनकत्वमिति । कुलालादिनिवृत्त्यै जन्यग्रहणम् । ज्ञानेच्छादीनामपि परस्परमिदमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय विशेषणं क्षिपति—द्रव्यत्वेति । सांख्यमतावलम्बनेन पञ्चमः । कार्यलक्षणो विभ्रमः तदधिष्ठानत्वं चेति वेदान्तिमतावलम्बनेन षष्ठः पक्षः । समवायस्येति । यः खलु कार्यकारणयोर्भेदाभेदवादी भाट्टस्तेन समवायो नाङ्गीक्रियतऽतस्तद्विशेषितलक्षणं तस्यासिद्धमित्यर्थः । नैयायिकं प्रत्याह—निराकृतत्वादिति । कार्याधारत्वमुपादानत्वमित्यतिव्यापकम्, बदरकार्यम् प्रत्याधारेऽपि कुण्डे तदुपादानत्वादर्शनादित्याह—कुण्डबदरयोरिति । ननु न कार्याधारत्वमात्रं लक्षणम्, किंतु स्वकार्यम् प्रत्याधारत्वम्, न बदराणां कुण्डकार्यत्वमित्यभिप्रेत्याशङ्कते—स्वजन्येति । तथाप्यतिव्याप्तिः, घृतोदकुम्भस्य स्वजन्यकुम्भाधारत्वेऽपि कुम्भोपादानत्वाभावादित्याह—न स्वजन्यघटेति । नन्विह गवि गोत्वमिह पटे शौक्ल्यमिह मृदि घट इत्यादौ समवायाश्रय एवाधारस्तद्रहितेषु तु गौणः आधारशब्दप्रयोग इति, तत्राह—नापि समवायित्वमिति । नच तत्र गौणतावैपरीत्यस्यापि संभवादिति भावः । अस्तु तर्हि संयोगित्वम्, तथाच कुण्डे बदरमित्यादिसंगृहीतमिति, तत्राह—नापि संयोगित्वमिति । न केवलमव्याप्तिरतिव्याप्तिश्चेत्याह—-संयोगिनोरिति । यदि हि

और आकाश में भी भाट्ट अयुतसिद्धि मानते हैं। उपादानोपादेयभाव का निरूपण भी नहीं हो सकता—उपादानोपादेयभाव क्या है ? (१) समवायित्व-विशिष्ट कारणत्व ? या (२) कार्याधारत्व ? या (३) जन्यायुतसिद्धत्व-विशिष्ट जनकत्व ? या (४) द्रव्यत्व-विशेषित उक्त रूप ? या (५) कार्य के आकार से परिणतत्व ? या (६) कार्य भ्रम का अधिष्ठानत्व ? प्रथम (समवायित्वे सति कारणत्वम्) पक्ष का निराकरण तो समवाय के अनंगीकार से ही हो जाता है। द्वितीय (कार्याधारत्वम्) पक्ष भी युक्त नहीं ; क्योंकि कुण्ड और बदर का आधाराधेयभाव होने पर भी उपादानोपादेयभाव नहीं देखा जाता । 'स्व (कारण) से जन्य का आधारत्व, उपादानोपादेयभाव है'—यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि स्व (कुलाल) से जन्य घट के आधार कुलालादि में अतिव्याप्ति होगी । आधारत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता ; क्योंकि 'इह' (यहाँ)—इस प्रकार के प्रतीति-विषयत्व को आधारत्व नहीं कह सकते ; क्योंकि सन्निकृष्ट आधार में 'इह'–प्रतीति होने पर भी विप्रकृष्ट आधार में 'इह'–प्रतीति नहीं होती, अपितु वहाँ 'तत्र'–यह प्रतीति होती है, अतः वहाँ इस लक्षण की अव्याप्ति होगी । 'समवायित्व' को भी आधारत्व नहीं कह सकते ; क्योंकि शशक में शृंगाभाव की और कुण्ड में बदर की अधिकरणता रहने पर भी समवायिता नहीं रहती, अतः वहाँ लक्षण अव्याप्त होता है । संयोगित्व को आधारत्व मानने पर गुणादि में अव्याप्ति होती है और संयोगित्व के दोनों (संयोग के

तदसंभवात्, संयोगिनोरुभयोरन्योन्याधारत्वप्रसङ्गाच्च। नापि पतनप्रतिबन्धकत्वम्; गुणादावव्याप्तेः। अत एव नाधेयापेक्षया महत्परिमाणवत्त्वमपि; करतलनिहितमहत्तरतूलपिण्डादावसंभवाच्च। नापि तृतीयः, ज्ञानेच्छादीनां परस्परोपादानत्वप्रसङ्गात्। अस्ति हि तत्र जनकस्य ज्ञानजन्येनेच्छादिनाऽयुतसिद्धत्वम्, आत्मैकाश्रयतया पृथगाश्रयित्वलक्षणयुतसिद्ध्यभावात्। नापि चतुर्थः; व्यर्थविशेष्यत्वापत्तेः। नहि द्रव्यमुपादानमित्यभिहितेऽस्ति क्वचिदतिप्रसङ्गः, येन जन्येनायुतसिद्धत्वमिति पदान्तरमुपादीयेत। नापि पञ्चमः; निरवयवेष्वात्माकाशादिष्वव्याप्तेः। नह्यात्माकाशं वा ज्ञानेच्छादिरूपेण शब्दरूपेण वा परिणमते; कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वात्। तन्त्वादीनामपि पटाद्याकारेण गुणकर्माद्याकारेण वा परि-

---

संयोगित्वमात्रमाधारार्थः, तदा तदुभयोरपि समानमिति घटे भूतलं बदरे कुण्डमित्यपि स्यात्, नचैवमस्तीत्यर्थः। श्रीवल्लभीयमाधारत्वं दूषयति—नापि पतनेति। नहि निर्गुणानां निष्क्रियाणां च गुणादीनां पतनमस्ति, येन तदाधारता द्रव्यस्य स्यात्। गुणादेश्च गुणत्वाद्याधारता च न स्यादिति भावः। अत एवेति। गुणादावसंभवादेव। यदि हि गुणस्य गुणत्वादेर्वा परिमाणवत्त्वं स्यात्, तर्ह्येव तदपेक्षया तदाधारद्रव्यादेर्महत्परिमाणवत्त्वं स्यात्, नत्वेतदस्तीत्यर्थः। अव्याप्त्यन्तरं चाह—करतलेति। एवं कार्याधारत्वमिति पक्षं दूषयित्वा जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि तृतीय इति। ज्ञानेच्छादौ लक्षणं वर्तयति—अस्ति हीति। द्रव्यत्वविशेषितं वेति पक्षं दूषयति—नापि चतुर्थ इति। कार्याकारेण/ परिणतत्वमिति पक्षं दूषयति—नापि पञ्चम इति। अथ किमित्यात्मा ज्ञानादिरूपेण, आकाशश्च शब्दरूपेण न परिणमत इति, तत्राह—कार्त्स्न्यैकदेशेति। अयमर्थः—किमाकाशः सर्वात्मना परिणमत ? एकदेशेन वा ? नाद्यः; आकाशविनाशेनानित्यतापातात्। न विनाशस्तस्यैव शब्दत्वादिति चेत्, किं कारणव्यापारवैयर्थ्यं समर्थयितुमध्यवसितोऽसि ? अभिव्यक्तौ सार्थक्यमिति चेत्, सत्यमस्तीयं किंवदन्ती कापिलानाम्, तत्र त्वदभिव्यक्तावपि किमुत्पादकतया कारणचक्रसार्थक्यम् ? अभिव्यञ्जकतया वा ? आद्ये घट्टकुटीप्रभातायितम्। द्वितीये त्वनवस्थेति न किंचिदेतत्। नचोत्पत्तिप्रतिबन्दी, अनङ्गीकारात्। एकदेशपरिणामे तु किमवयव एकदेशः ? किं वान्यत् किंचित् ? नाद्यः; निरवयवत्वात्। न

अनुयोगी तथा प्रतियोगी) में रहने के कारण दोनों में परस्पर एक-दूसरे की आधारता प्राप्त होती है। 'पतन-प्रतिबन्धकत्व को अधिकरणत्व मानने पर भी गुणादि की अधिकरणता द्रव्य में नहीं बन सकेगी; (क्योंकि गुणादि में पतन क्रिया रहती नहीं कि उसकी प्रतिबन्धकता द्रव्य में सम्भव हो एवं गुणादि में भी गुणत्वादि के पतन की प्रतिबन्धकता न रहने से आधारत्व की अनुपपत्ति होती है)। अतएव आधेय की अपेक्षा महत्परिमाणवत्त्व को आधारत्व नहीं मान सकते; क्योंकि गुणादि में असम्भव तो है ही, करतल पर रक्खे उससे महत्तर परिमाण के तूल-पिण्ड की अधिकरणता में भी अव्याप्ति होती है। तृतीय (जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वम्) लक्षण भी युक्त नहीं; क्योंकि इससे ज्ञान और इच्छादि में परस्पर की उपादानता प्राप्त होगी, कारण यह कि एक ही आत्मा के आश्रित होने के कारण पृथगाश्रयाश्रयत्वरूप युतसिद्ध न होने से जनक (ज्ञान) का, जन्य (इच्छादि) के साथ अयुतसिद्धत्व है। चतुर्थ (द्रव्यत्वविशेषितम्) पक्ष में विशेष्य भाग व्यर्थ है; क्योंकि "द्रव्यमुपादानम्"—ऐसा कहने से कहीं अतिव्याप्ति नहीं होती, जिसे हटाने के लिए "जन्येनायुतसिद्धत्वम्" इस विशेष्य भाग का उपादान सार्थक होता। पञ्चम (कार्याकारेण परिणतत्वम्) लक्षण की आत्मा एवं आकाशादि निरवयव पदार्थों में अव्याप्ति होती है; क्योंकि आत्मा ज्ञान तथा इच्छादि के रूप में एवं आकाशादि, शब्दादि के रूप में परिणत नहीं होते। परिणाम-पक्ष में, आत्मादि अपने पूरे रूप से परिणत होते हैं या एकदेश से—आदि विकल्पों का कोई उत्तर नहीं मिल सकता। इतना ही नहीं, अपितु तन्तु—आदि का भी अपने कार्य पट, गुण और कर्मादि के रूप में परिणाम नहीं देखा जाता—

णामादर्शनात्, नहि द्रव्यं गुणः कर्म वा भवति, तदाश्रयत्वात्। नापि षष्ठः; प्रपञ्चसत्यत्ववादिभिरनङ्गीकारात्। तदेवमुपादानोपादेयभावानिरूपणान्न तदन्यथानुपपत्त्या भेदाभेदसिद्धिः।

नापि सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किं शाब्दस्य सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तिः ? उतार्थिकस्य ? नोभयथापि—

युक्तेः शब्दनिमित्तानामेकाधिकरणत्वतः ।
शाब्दं न तावद्घटते भेदाभेदप्रसाधकम् ॥ ६४ ॥
धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तितः ।
अभेदानुभवाभावादार्थं नैवास्य साधकम् ॥ ६५ ॥

द्वितीयः, अप्रसिद्धत्वात्। भवतु वा यथातथा, तथापि किमेकदेश आकाशादभिन्नः ? भिन्नो वा ? नाद्यः, पूर्वदोषात्। न द्वितीयः, आकाशस्यापरिणामात्। भिन्नाभिन्नं तदिति चेत्, सत्यं यदि विरोधो न स्यात्, विरुद्धं तु तत्। अथाविरुद्धौ कौचन धर्मौ भेदाभेदाभिधानौ, रूपरसादिषु मध्ये कयोः कश्चिद्भेदाभेदनामाभिधीयते, तथापि पर्यनुयुक्तयोः पक्षयोः कः परिगृहीतः स्यात् ? नोभयमिति चेत्, तत्किमनिर्वचनीयम् ? हन्त ! शब्दाकारेणाकाशो विवर्तत इति निरवद्यं निर्वद, किमिति परिणामभाषया दुर्भगया भास्करगोत्राभिसारिकया ? एतेन परिणामपक्षं प्रत्याचक्षीत। तदेवं कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वादाकाशादीनां न परिणामः, अथ च कारणप्रसिद्धिरस्ति शब्दादिप्रतीत्यव्याप्तिरित्यर्थः। न केवलं निरवयवेषु परिणामानुपपत्तिः, सावयवेष्वपीत्याह—तन्त्वादीनामपीति। तत्रापि हि कार्त्स्न्यपक्षे तन्तुविनाशान्निरुपादानरूपः पटः स्यात्। स्यादेकदेशपक्षेऽपि भेदाभेदविकल्पकल्पान्तवातनिर्मूलोन्मूलनमिति भावः। आश्रयाश्रितप्रतीतिविरोधश्चेत्याह—नहि द्रव्यमिति। द्रव्यं यत्तन्त्वादि, तद्गुणः कर्म वा नहि भवतीत्यन्वयः। घटादिकार्यस्याप्युपलक्षणमिति, आश्रितत्वप्रतीतेस्तत्राप्यविशेषात्। कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वमिति षष्ठं पक्षं दूषयति—नापीति। यः खलु कार्यकारणभावनिर्वक्ता, नचासावनिर्वचनीयवादीति भावः।

द्वे ह्यनुपपत्ती भदाभेदसाधनाय कीर्तिते—एकोपादानोपादेयभावानुपपत्तिः, अपरा तु सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः। तत्र प्रथमे दूषणं प्रसारितमुपसंहृत्य द्वितीयं दूषयति—नापीति। तत्र भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिरूपशाब्दसामानाधिकरण्यस्यैकाधिकरणत्वलक्षणार्थिकसामानाधिकरण्यस्य वात्यन्तभेदेऽप्युपपत्तिं श्लोकद्वयेन दर्शयति—युक्तेः शब्दनिमित्तानामित्यादिना। शौक्ल्यपटत्वादीनामेकपटाधिकरणत्वादेव शाब्दसामाधिकरण्योपपत्तेर्न शाब्दसामानाधिकरण्यं गुणगुण्यादिभेदाभेदप्रसाधकमिति प्रथमश्लोकयोजना। तथाऽऽर्थमपि सामानाधिकरण्यमस्य न साधकम्, कुतः ? धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तितः। तथाहि—धर्मधर्मिणोस्तावत्सामानाधिकरण्यमेव नास्ति, अभेदानुभव इति सामानाधिकरण्यानुभवोऽत्र विवक्षितो, नह्यस्त्यनुभवो रूपं पट इति वा, चलनं पट इति वा। तथा धर्मयोरैकाधिकरण्यमेव सामानाधिकरण्यं नाम। तथाच धर्मधर्मिणोर्भेदेऽपि तत्संबन्धादेव तदधिकरणत्वोपपत्तेरिति

द्रव्य कभी गुण या कर्म नहीं होता, अपितु गुणादि का आश्रय होता है। षष्ठ (कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वम्) पक्ष तो प्रपञ्च-सत्यत्ववादी के मत से असम्भव है। इस प्रकार उपादानोपादेयभाव का निरूपण न होने से, उसकी अन्यथानुपपत्ति से भेदाभेद की सिद्धि नहीं होती।

सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति भी भेदाभेद-साधक नहीं। यदि है, तो क्या शाब्द सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति ? या आर्थिक सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति ? उभयथा भी सम्भव नहीं; क्योंकि शुक्ल शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त शुक्लत्व और पट शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त पटत्व का एक ही पट अधिकरण होने से "शुक्लः पटः"–यह सामानाधिकरण्य बन जाता है, अतः शाब्द सामानाधिकरण्यानुपपत्ति भेदाभेद की साधक नहीं। इसी प्रकार धर्मों का अधिकरण एक होने से ही आर्थिक सामानाधिकरण्य भी बन जाता है, अतः यहाँ धर्म धर्मी में अभेदानुभव नहीं होता, यह भी भेदाभेद का साधक नहीं

शुक्लः पट इत्यादौ शाब्दसामानाधिकरण्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तयोरेकाधिकरणसंबन्धादेवोपपत्तेः धर्मधर्मिभेदाभेदयोरौदासीन्यात्। आर्थिकस्यापि धर्मयोरेकाधिकरणतालक्षणस्यात एवोपपत्तेः। धर्मधर्मिणोरभेदानुभवस्यासंप्रतिपत्तेश्चासाधकत्वात्, गुणो द्रव्यम्, कर्म द्रव्यम्, जातिर्व्यक्तिरिति सामानाधिकरण्यानुभवाभावात्।

भिन्नाभिन्नमित्यत्र भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्याभिन्नशब्देन तदभावस्याभिधाने च भावाभावयोर्युगपदेकत्र परस्परविरोधेनासंभवात्। अभेदे च शुक्लः पट इत्यादिषु द्वितीयबुद्धिव्यपदेशयोः पौनरुक्त्यापत्तेः। न च भेदस्यापि भावात्सार्थकता, अभेदस्यापि भावे वैयर्थ्यस्यापि संप्रतिपन्नांश इव दुष्परिहरत्वात्। हेत्वभावे फलाभावादौत्सर्गिकाद्धेतुभावे फलभावस्य तदपवा-

---

द्वितीयश्लोकयोजना। तत्राद्यं विवृणोति—शुक्ल इत्यादिना। धर्मधर्मीति। धर्मधर्मिणोर्यौ भेदाभेदौ तयोरौदासीन्यादित्यर्थः। द्वितीयं विभजते—आर्थिकेति। अत एवेति। धर्मधर्मिसंबन्धादेवेत्यर्थः। अभेदानुभवाभावादित्यंशं विवृणोति-धर्मेति। अत्राप्यभेदानुभवः सामानाधिकरण्यानुभवः। असाधकत्वात्, भेदाभेदानुभवस्येति शेषः। अनुभवाभावमेव विवृणोति—गुण इति।

इदानीं भेदाभेद इत्यस्यैव तावदव्याहतः कश्चिदर्थो दुर्भणः, कुत्र प्रमाणचिन्तेत्यभिसंधिराह—भिन्नेत्यादिना। अत्र किं भिन्न इत्यनेन स्वरूपभेदो विवक्ष्यते, अभिन्न इत्यनेन तदभावः? किंवा भिन्न इत्यनेनान्योन्याभाववत्त्वमभिप्रेयते, अभिन्न इति च तदभावः? अथवा भिन्न इति स्वरूपभेदवत्त्वम्, अभिन्न इति चेतरेतराभावराहित्यमभिधीयते इति? नाद्य इत्याह—भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्येति। तदा हि स्वरूपत्वमस्वरूपत्वं च भेदाभेदशब्दार्थः स्यात्, तच्च विरुद्धम्, अविरुद्धत्वेऽपि धर्मिणोऽपि स्वापेक्षया तथात्वापातात्। पटश्चापटश्चेत्यव्यवस्थितिरेव पदार्थैरास्थिता स्यादितिभावः। किंच यदि शौक्ल्यपटयोः स्वरूपभेदो नास्ति तदा शुक्ल इति पदेन यावानर्थोऽभिहितः, तावानेन पट इत्यपीति पटबुद्धेस्तच्छब्दस्य च पौनरुक्त्यं स्यात्, बुद्धेश्च पौनरुक्त्यं वैयर्थ्यमेव, शब्दस्य च पौनरुक्त्ये सह प्रयोगानुपपत्तिः। नच व्याख्यायां मूढप्रबोधनार्थमयं सहप्रयोगः; नियमेन व्युत्पन्नान्प्रत्यपि प्रयोगात्। यदि च शुक्लपदस्य पट एवार्थः तदा शुक्लो घट इत्यत्र घटस्यापि तत्त्वेन पटघटाद्वैतापात एवं सर्वत्रेति जितमस्माभिः। ननु भेदोऽपि धर्मधर्मिणोरस्तीति कथं नैरर्थक्यमिति, तत्राह—नचेति। संप्रतिपन्नांश इवेति। पटः पट इत्यत्रेवेत्यर्थः। ननूभयहेतुसद्भावे कोऽयमाग्रहो वैयर्थ्ये स्यादिति, तत्र नैरर्थक्यमेवेति विनिगमनायां हेतुमाह—हेत्वभाव इति। औत्सर्गिकं खल्विदं यद्धेत्वभावे फलाभाव इति, इतरथा तयोः प्रागभावयोरनादिनोरनिवर्त्यतया नित्यमनुत्पत्तिरेव कार्यस्य स्यात्, तस्मात्तदुभयबाधको हेतुभावे फलभावोऽपवादः, तदिहापि गुणगुणिनां

होता। अर्थात् “शुक्लः पटः” आदि शाब्द सामानाधिकरण्य, प्रवृत्तिनिमित्तों के एकाधिकरण सम्बन्ध से ही उपपन्न हो जाता है, धर्म-धर्मी के भेदाभेद-साधन में उदासीन है। धर्मों की एकाधिकरणतारूप आर्थिक सामानाधिकरण्य भी अतएव (धर्म-धर्मी-सम्बन्ध से ही) बन जाता है। वहाँ “गुणो द्रव्यम्”, “जातिः व्यक्तिः”—इस प्रकार धर्म-धर्मी की सामानाधिकरण्य-प्रतीति ही नहीं होती, अभेदानुभव होना दूर रहा, अतः आर्थिक सामानाधिकरण्यानुपपत्ति भी भेदाभेद की साधक नहीं होती।

“भिन्नाभिन्नौ”—यहाँ पर ‘भिन्न’ शब्द से स्वरूप भेद और ‘अभिन्न’ शब्द से उसके अभाव का अभिधान, भावाभाव का युगपत् एकत्र विरोध होने से सम्भव नहीं। अभेद पक्ष में “शुक्लः पटः”—आदि स्थलों पर ‘शुक्ल’ शब्द से ही वह अर्थ उक्त हो गया, तब उस अर्थ को कहने के लिए ‘पट’ शब्द की पुनरुक्तिः और उसी अर्थ की पुनः प्रतीति भी होगी। ‘शुक्ल’ से पट का भेद भी है, अतः पट-प्रयोग सार्थक है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि इस प्रकार तो यह भी कह सकते हैं कि वहाँ अभेद भी है, अतः ज्ञात अंश में वैयर्थ्य भी दुष्परिहार्य है। हेतु के न होने पर फल का न होना औत्सर्गिक है, उसका अपवाद होता है—हेतु के होने पर फल का होना, अतः यह बलवत्तर

दतया बलीयस्त्वात् । अन्योन्याभावतदभावयोर्भिन्नाभिन्नशब्दाभ्यामभिधाने, विरोधपौनरुक्त्ये पूर्वोक्ते एव पुनरुपावर्तेते । ननु भेदशब्देन स्वरूपभेदस्याभेदशब्देनेतरेतराभावराहित्यस्य वाभिधानादविरोध इतिं चेत्, मैवम्; इतरेतराभावस्यैवोच्छेदप्रसङ्गात् । स्वरूपभेदे विद्यमानेऽपि तदविरोधितया यदि क्वचिदितरेतरभावः स्यात्, तर्हीतरेतरभावस्यैव निरंकुशप्रसरतयेतरेतराभावविरह एव जगति स्यादित्यद्वैतवाद एव भेदाभेदवादिना समर्थितः स्यात् । तदेवं भेदाभेदादिपक्षेषु कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्, स्वरूपतोऽपि विचारागोचरत्वात्, अनाद्यविद्यातद्विलसितः सकलोऽप्ययं प्रपञ्च इति तद्ग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाभावाद्वेदान्तवाक्यं निरपवादमेवाद्वितीये ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञानं जनयतीति निरवद्यम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुख
मुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां लक्षणभङ्गो नाम
द्वितीयः परिच्छेदः

भेदपक्षे गुणज्ञानहेतुसद्भावेऽपि गुणिज्ञानहेत्वभावात्तज्ज्ञानलक्षणफलाभावस्यौत्सर्गिकस्याभेदपक्षे गुणज्ञानहेतुरूपगुणिज्ञानहेतुभावाद् गुणिज्ञानलक्षणकार्यभावोऽपवादो बलीयानिति नैरर्थक्यमेव युक्तमित्यर्थः । द्वितीयपक्षे पूर्वमेव दूषणमाह—अन्योन्येति । समानो ह्यन्योन्याभावतदभावयोरप्येकोपाधौ विरोधः । अविरोधे गवाश्वत्वयोरश्वगोत्वयोश्च घटपटत्वयोः पटघटत्वयोश्चेत्येतादृशस्थलेष्वपि भेदाभेदापातात्, जगति विरोध एवोच्छिद्येत । नच तथा प्रमाणाभावादनुच्छेद इति वाच्यम्; अत्रापि तदसंप्रतिपत्तेः । किंच मद्वचनमेवात्र किमिति प्रमाणं न स्यात्? अथ विरुद्धार्थत्वादिदमप्रमाणम्, न; अप्रमाणप्रतीतेर्विरोधस्यैवाभावात् । एतेन विरुद्धमिति नः क्व संप्रत्ययो यत्प्रमाणपथमवतरतीत्यादि, तदपि प्रत्युक्तम् । माता मे वन्ध्येतिवद्भिन्नाभिन्नमित्यपि, व्याहतार्थत्वादिति । तथान्योन्याभावतद्राहित्ये पूर्ववत्पौनरुक्त्यं चेत्यर्थः । तृतीयं शङ्कते—नन्विति । तत्र तावत्स्वरूपभेदस्येतरेतरभावस्य च विरोधोऽस्ति? नवा? यद्यस्ति, तदा स्वरूपभेदे सतीतरेतरभावेन न भवितव्यम्, गत्यन्तराभावादित्यसंभव्येवायं पक्षः । अथ नास्ति विरोधस्तदा क्वचिदपीतरेतराभावो न स्यात्, स्वरूपभेदस्यातत्प्रयोजकत्वे प्रयोजकान्तरानिरूपणादित्यभिप्रेत्य परिहरति—मैवमिति । एतदेवोपपादयति—स्वरूपभेद इत्यादिना । वादार्थोपसंहारपूर्वकं परिच्छेदार्थमुपसंहरति—तदेवमित्यादिना । भेदपक्षे, अभेदपक्षे, भेदाभेदपक्षे च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्स्वरूपतश्च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्सकलोऽयं कार्यकारणरूपद्व्यणुकपरमाण्वात्मकतया भावाभावभेदैश्च प्रमाणप्रमेयभेदेन च द्रव्यगुणादिभेदैश्च नैयायिकवैशेषिकप्रभृतितार्किकैः परिकल्पितो द्वैतप्रपञ्चः शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयाविद्याविलसितः । अविद्येति च अविद्याधिष्ठानचैतन्यमप्युपलक्ष्यते । तद्विलसितस्तद्विवर्तः । इतिः हेतौ । यस्मादेवं अत इति योजना । अपरोक्षेति चोत्तरवादे बीजावापः ।

हैं । भिन्न और अभिन्न शब्दों से अन्योन्याभाव और उसके अभाव का अभिधान मानने पर भी पूर्वकथित विरोध तथा पौनरुक्त्य दोष होते हैं । यदि कहें कि 'भेद' शब्द से स्वरूप भेद और 'अभेद' शब्द से इतरेतराभाव-रहितत्व का अभिधान मानने पर कोई विरोध नहीं होता । तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि इस प्रकार तो इतरेतराभाव का ही उच्छेद हो जायगा । स्वरूपभेद के विद्यमान रहने पर भी उसका विरोधी न होने के कारण यदि इतरेतरभाव का रहना माना जाय, तब तो इतरेतरभाव का तो सब कहीं अबाध गति से प्रसर हो जायगा, इतरेतराभाव का विरह ही संसार में रहेगा । इस प्रकार तो भेदाभेद-वादी, अद्वैत का ही समर्थन कर बैठेगा । इस प्रकार भेद, अभेद और भेदाभेदपक्षों में कार्यकारणभाव का निरूपण नहीं हो सकता, और न स्वरूपतः कार्यकारणभाव का निरूपण हो सकता है । अतः यह सकल प्रपञ्च अनादि अविद्या का विलासमात्र है । इस प्रकार के प्रपञ्च के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध न रहने के कारण वेदान्त वाक्य अबाधित होकर अद्वि-

भेदो द्रव्यादिषट्कं क्षणनिधनमतं षट्प्रमाणान्यभावो
भावः पश्चात्पराणुर्ह्यवयविसहितश्चान्ययोगो वियोगः ।
द्वित्वादिर्जातिमानं द्व्यणुपरिमिता पाकजप्रक्रियाथो
हेतुत्वं कालकाष्ठे जनिमदपि भिदाऽभेदवादो निरस्तः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्स्वरूप-
भगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां
द्वितीयः परिच्छेदः ।

तीय ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करते हैं यह निर्दोष सिद्धान्त सिद्ध हो गया ।

मतमतान्तरबन्धनवन्दिनां,
करुणयाशु मुमोचयिषापरैः ।
सुशमितैरपि वेदविदांवरैः,
विविधवादविदारणमादृतम् ॥

द्वितीयः परिच्छेदः

तृतीयः परिच्छेदः ।

ननु कथमपरोक्षज्ञानजनकता शब्दस्य ? तथा सत्यपरोक्षप्रमितिकरणतया प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मप्रतिपादकवाक्येष्वदर्शनाच्च । न च दशमस्त्वमसीति वाक्यमुदाहरणम् ; तत्रापि केवलशब्दस्यापरोक्षज्ञानाजनकत्वादिन्द्रियसन्निकर्षस्यापि दशमशरीरगोचरस्य तत्र भावात् । न च सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे तस्यादावदर्शनात् पश्चाद्भाविशब्दजनिततैव तस्येति निश्चेतुं शक्यम ; रत्नतत्त्वाधिगमेऽपि तथात्वप्रसङ्गात् । तथाहि—सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे अनधिगतरत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्रः पुष्परागादिभेदं न प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, अधिगतशास्त्रार्थस्तु तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते । न चैतावता शास्त्रं तत्र प्रत्यक्षप्रमितिजनकमभ्युपेयते । यत्पुनरिह कैश्चिदुच्यते—विमतं शाब्दज्ञानमपरोक्षमपरोक्षविषयत्वात्सुखज्ञानवदिति । तत्र किमिदमपरोक्षत्वं शाब्द-

किं त्रैलोक्यसरोवरस्य नचिरादुन्निद्रमेकाम्बुजं किं वा योगिमनःसरोरुहवनप्रोद्बोधको भानुमान् ।
किं वा संसृतिसूरतप्तजनतामोदे सुधादीधितिर्देवोऽसौ विविधं विभावितवपुः श्रीसुन्दरः पातु वः ॥१॥

इति स्म निर्वैरकथं निरूपितं समस्तवेदान्तवचोभिरद्वयम् ।
अथ स्वतःसिद्धविमुक्तये नयैरुपायविज्ञानशरीरचिन्तनम् ॥ २ ॥

अनेन च हेतुहेतुमल्लक्षणः परिच्छेदयोः संबन्धोऽपि दर्शितः । अविरुद्धतया साध्येऽवधृते हि साधनान्वेषणावकाश इति । अपरोक्षज्ञानं जनयतीत्युक्तममृष्यमाणा वैशेषिकादयो मीमांसकाश्च केचिन्मण्डनमिश्रप्रभृतयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—ननु कथमिति । न केवलं शब्दत्वहान्या प्रत्यक्षत्वापत्तिर्बाधिका, अनुपलब्धिपराहतिश्चेत्याह—धर्माधर्मेति । ननु यद्यपि ज्योतिष्टोमादिवाक्येष्वदृष्टम्, तथापि विषयविशेषप्रयुक्तया तत्र तथात्वं किं न स्यात् ? यथा दशमस्त्वमसीत्यत्र । स च भ्रान्तिविभ्रान्तचेताः परित्यक्तमात्मानं दशमतया वाक्यादेव साक्षात्करोति कश्चिदित्यत्राह—न च दशम इति । यथाहि रत्नतत्त्वादावुपदेशसहितं प्रत्यक्षमेव साक्षात्कारहेतुर्न केवलः शब्दस्तथेहापीत्यर्थः । प्राप्ताप्राप्तविवेकेन शब्दस्यैव करणतामाशङ्क्य रत्नतत्त्वप्रतिवन्द्या परिहरति—नचेत्यादिना । तत्रापि प्राप्ताप्राप्तविवेकसाम्यमाह—तथा हीति । अनधिगतं रत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्रं येन पुंसा स तथोक्तः । पुष्परागो रत्नविशेषः । न्यायरत्नदीपावलीकृतामनुमानमुद्भावयति—विमतमिति । ज्योतिष्टोमादिवाक्ये बाधासिद्ध्योः परिहाराय विमतमित्युक्तम् । तत्त्वमस्यादि-

अचिद्दुःखं समुच्छेत्तुं सञ्चेतुं चित्सुखं चिरम् ।
साधनाध्वविधातारः तारांधारा जयन्ति नः ॥

शङ्का—वेदान्त-वाक्यरूप शब्द में अपरोक्ष ज्ञान की जनकता कैसे रहेगी ? यदि मानी जाय, तब अपरोक्ष प्रमा का करण होने के कारण शब्द का प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव मानना पड़ेगा । धर्माधर्म के प्रतिपादक वाक्यों में अपरोक्ष प्रमा-जनकता देखी भी नहीं जाती । "दशमस्त्वमसि"—यह वाक्य भी उदाहरण नहीं बन सकता ; क्योंकि वहाँ भी केवल शब्द में अपरोक्ष ज्ञान की जनकता नहीं होती, अपितु दशम शरीर के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी होता है । यदि कहें कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष रहने पर भी उसका आरम्भ में दर्शन नहीं होता, अतः पश्चाद्भावी शब्द की जन्यता ही वहाँ दशम के अपरोक्ष ज्ञान में होती है—यह निश्चय किया जा सकता है । तब तो रत्न-तत्त्व-ज्ञान में भी वैसा ही मानना पड़ेगा ; क्योंकि वहाँ रत्न के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष रहने पर भी, रत्न-तत्त्व-परीक्षा-शास्त्र का जिसने अध्ययन नहीं किया, वह व्यक्ति कदापि 'पुष्पराग'—आदि रत्नभेदों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, उस शास्त्र का ज्ञाता पुरुष उनका प्रत्यक्ष कर लेता है । एतावता यहाँ रत्न-तत्त्व-परीक्षा-शास्त्र में अपरोक्ष प्रमा की जनकता नहीं मानी जाती । यह जो कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि "विवादास्पद शाब्दज्ञान, अपरोक्ष है, अपरोक्ष-विषयक होने से,' जैसे—सुखज्ञान ।"

ज्ञानस्य ? किं साक्षात्कारत्वजातिमत्त्वम् ? अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वं वा ? नाद्यः; अयं घट इति शब्देऽनैकान्त्यात्। प्रतिपत्तिव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमपरोक्षविषयत्वमिति चेत्, न; अयं पर्वतोऽग्निमानिति परोक्षापरोक्षविषयानुमानिकज्ञाने व्यभिचारात्। अपरोक्षमात्रविषयत्वं विवक्षितमिति चेत्, न; सुखेच्छायां व्यभिचारात्। तज्जनकज्ञानस्य तद्विषयत्वादिच्छायास्तद्विषयत्वमुपचर्यते इति चेत्, मैवम्; तथाप्यविद्यायां व्यभिचारात्, स्वतोऽपरोक्ष आत्मैवाविद्याया आश्रयो विषयश्चेति भवद्भिरभ्युपगमात्। नापि द्वितीयः; अविद्यायामेव व्यभिचारात्, तस्या अपरोक्षात्मविषयत्वेऽपि तद्विपरीतव्यवहारहेतुतया तद्व्यवहारहेतुत्वाभावात्। अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमेव हेतुरिति चेत्; न; साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात्। प्रतिप्रयोगसंभवाच्च—विवादाध्यासितः शब्दः, अपरोक्षज्ञानजनको न भवति, शब्दत्वात्,

---

शब्दजनितज्ञानमित्यर्थः। प्रत्यक्षेणार्थान्तरतानिवृत्त्यै शाब्दग्रहणम्। अयं घट इतीति। अस्ति ह्ययं घट इति शब्दस्य पुरोवर्त्यपरोक्षघटविषयत्वम्। अथ च न साक्षात्कारत्वजातिः, ज्ञानवृत्तित्वात्तस्या इत्यर्थः। नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यज्ज्ञानव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमिति। नच शब्दस्य तथात्वमस्ति। तद्विषयज्ञानजननद्वारा हि शब्दादीनामर्थविषयत्वम्। नच ज्ञानस्य ज्ञानजननद्वारा अर्थविषयत्वम्। तत्कुतोऽनैकान्तिकतेति शङ्कते—**प्रतिपत्तीति**। तथाप्यनैकान्तिकमित्याह—**अयमिति**। अग्निमत्त्वांशः परोक्षः, पर्वतांशोऽपरोक्षः, नह्यानुमानिकज्ञाने साक्षात्त्वजातिरिति भावः। ननु परोक्षाविषयत्वे सत्यपरोक्षविषयत्वं हेतुः, नचानुमानिकज्ञानमेवमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**अपरोक्षमात्रेति**। तथापि सुखेच्छायां व्यभिचारः; तस्या अपरोक्षसुखविषयत्वेऽपि साक्षात्त्वानधिकरणत्वादित्याह—**न; सुखेच्छायामिति**। इच्छायाः सविषयत्वमौपचारिकम्, मुख्यं च विवक्षितमिति शङ्कते—**तज्जनकेति**। ननु कथमपरोक्षविषयत्वमविद्याया येनानैकान्तिकतेति, तत्राह—**स्व इति**। **भवद्भिरिति**। एकजीववादिभिरित्यर्थः। अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमपरोक्षत्वमिति द्वितीये पक्षेऽप्यविद्यायां व्यभिचारस्तत्र हेतुसद्भावेऽपि साध्याभावादित्याह—**नापि द्वितीय इत्यादिना**। नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थः—यदपरोक्षव्यवहारहेतुत्वादिति, तथा च नाविद्यायां विपरीतव्यवहारजनिकायामनैकान्त्यमिति शङ्कते—**अपरोक्षेति**। परिहरति—**न; साध्येति**। सत्प्रतिपक्षं चेदमनुमानमित्याह—**प्रतिप्रयोगेति**। ज्योतिष्टोमादिवाक्येषु सिद्धसाधन-

---

वहाँ शाब्दज्ञान में यह अपरोक्षत्व क्या है ? क्या साक्षात्कारत्व जातिमत्त्व ? या अपरोक्ष-व्यवहार-हेतुत्व ? प्रथम पक्ष मानने पर "अयं घटः"—इस शब्द में व्यभिचार है; (क्योंकि इस शब्द में अपरोक्षत्वजातिरूप साध्य न रहने पर भी अपरोक्ष घट-विषयकत्व हेतु रहता है)। यदि कहें कि इस शब्द में अपरोक्ष घट-विषयक ज्ञान-जनन-द्वारा ही अपरोक्ष-विषयत्व है, साक्षात् नहीं; किन्तु प्रकृत में ज्ञान-जनन-व्यवधान के बिना साक्षात् अपरोक्ष-विषयत्व विवक्षित है। तो भी "अयं पर्वतोऽग्निमान्"—इस परोक्ष-अपरोक्ष-उभयविषयक अनुमान ज्ञान में व्यभिचार होता है; (क्योंकि उस ज्ञान में अपरोक्षत्व जाति न रहने पर भी साक्षात् अपरोक्ष-विषयकत्व रहता है)। अपरोक्षमात्र-विषयकत्व की विवक्षा करने पर भी सुखविषयिणी इच्छा में व्यभिचार होता है। यदि इच्छा में (उसके जनक ज्ञान में सुख-विषयकत्व रहने से) सुख-विषयकत्व का उपचारमात्र माना जाय, तब भी अविद्या में व्यभिचार होता है; क्योंकि स्वतः अपरोक्ष आत्मा ही अविद्या का आश्रय और विषय आप (एकजीववादी) मानते हैं। द्वितीय (अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वम्) पक्ष मानने पर भी अविद्या में व्यभिचार होता है; क्योंकि वह अपरोक्ष आत्म-विषयक होने पर भी उससे विपरीत (परोक्ष) व्यवहार का हेतु होने से आत्मा के अपरोक्ष व्यवहार का हेतु नहीं। उक्त अनुमान में अपरोक्षविषयकत्व के स्थान पर 'अपरोक्ष-व्यवहार-हेतुत्व' को हेतु बनाने पर साध्याविशिष्टत्व दोष होता है। उक्त अनुमान का प्रतिप्रयोग भी सम्भव है—"विवादास्पद शब्द, अपरोक्ष ज्ञान का जनक

ज्योतिष्टोमादिवाक्यवदिति ।

अत्रोच्यते— साक्षात्करणहेतोरप्यप्रत्यक्षत्वसंभवात् ।
दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेव तदुद्भवात् ॥१॥

यत्तावदुक्तमपरोक्षप्रमितिकरणत्वे प्रत्यक्षान्तर्भावः स्यादिति । तत्र ब्रूमः—अभ्युपगम्यते हि परेणापि योगिमनसो बाह्यविषयापरोक्षप्रमितिकरणता, तथापि न बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावस्तस्याभ्युपेयते, एवं शब्दस्यापरोक्षप्रमितिजनकत्वेऽपि प्रत्यक्षान्तर्भावो मा भूत् । अथ तत्र बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावे चक्षुरादीनामन्यतमत्वं योगिमनोऽन्यत्वे सति बाह्यप्रत्यक्षप्रमितिकरणत्वं वा प्रयोजकम्, हन्तेहापि तर्हि स्वतोपरोऽक्षब्रह्मात्मविषयशब्दान्यत्वे सत्यपरोक्षप्रमितिकरणत्वं प्रत्यक्षान्तर्भावे प्रयोजकमस्तु। सिद्धे शब्दस्यापरोक्षप्रमितिकरणत्वे तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणं युक्तं तदेव तु कथमिति चेत्; दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्येषु दर्शनादिति ब्रूमः। ननु तत्रापीन्द्रियसहितस्यैव तद्धेतुत्वं न केवलस्येत्युक्तमिति चेत्, अत्रापि तर्हि मनःसहायस्यैव शब्दस्यापरो-

---

तापरिहाराय विवादेति विशेषणम् । बाधसाध्यवैकल्ययोः परिहारायापरोक्षेति विशेषणम् ।

साक्षादिति । अत्र किं बाधकवशाच्छब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं नेष्यते ? अदर्शनाद्वा ? नाद्यः, तदसिद्धेः । न तावत्प्रत्यक्षान्तर्भावो बाधकः, नहि साक्षात्कारिज्ञानहेतुतामात्रेण प्रत्यक्षत्वं संभवति ; शब्दव्यतिरिक्तत्वे सति तादृशस्य तत्प्रयोजकत्वात् । ननु दृष्टे शब्दस्य तद्धेतुत्वे प्रयोजकसंकोचो युक्तस्तदेव कथमिति, तत्राह—दशम इति । ननु तत्रापीन्द्रियमेव करणमित्युक्तम्, तत्राह—शब्दादेवेति । श्लोकं विवृणोति—यत्तावदित्यादिना । अत्र प्रत्यक्षविशेषप्रयोजके प्रतिबन्दीं गृह्णाति—अभ्युपगम्यते हीति । विशेषणं दर्शयन्नाभासतां प्रतिबन्द्या शङ्कते—अथ तत्रेति । अनीश्वरप्रत्यक्षेषु चेदं प्रयोजकगवेषणमिति द्रष्टव्यम् । नायं विशेषः, प्रकृतेऽप्येवं शब्दसंकोचत्वादिति परिहरति—हन्तेति । उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—सिद्ध इति । एतत्परिहारहेतुत्वेन तृतीयपादमवतारयति—दशम इति । चतुर्थपादस्य शङ्कां दर्शयति—ननु तत्रापीति । तत्र किं शब्दः करणमिन्द्रियं तु सहकारीत्यभिधीयते ? किं वा गुडजिह्विकयेन्द्रियस्यैव करणत्वं शब्दः सहकारीत्यभिधित्सितम् ? आद्ये प्रकृतेऽप्यस्त्येवेन्द्रियं सहायमित्याह—अत्रापीति । तथाच शब्दस्य करणत्वं न व्याहतमिति भावः । द्वितीये शङ्कते—ननु तत्रेति । तदेतद-

---

नहीं होता, शब्द होने के कारण, जैसे—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्—आदि वाक्य ।"

समाधान—प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न पदार्थ भी साक्षात्कार का हेतु हो सकता है, क्योंकि "दशमस्त्वमसि"—आदि स्थलों पर शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है । अर्थात् यह जो आप ने कहा कि शब्द को अपरोक्ष प्रमा का करण मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानना होगा । उसपर हमारा कहना यह है कि जैसे आपके मत में योगी का मन, बाह्य वस्तु के अपरोक्ष ज्ञान का करण होने पर भी बाह्य प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं होता, वैसे ही अपरोक्ष प्रमा का जनक भी शब्द, प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं होगा । यदि कहा जाय कि वहाँ बाह्य प्रत्यक्ष के अन्तर्गत वही होता है, जो या तो चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों में से अन्यतम हो, या योगी के मन से भिन्न बाह्य प्रत्यक्ष प्रमा का करण हो । तब तो यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि स्वतः अपरोक्ष ब्रह्म में आत्मत्व-बोधक शब्द से अन्य, अपरोक्ष प्रमा का करण ही प्रत्यक्ष के अन्तर्गत होता है । यदि कहें कि शब्द में अपरोक्ष प्रमा की करणता सिद्ध हो जाने पर, उस (शब्द) की व्यावृत्ति करने के लिए शब्दान्यत्व विशेषण युक्त होगा, किन्तु वह (शब्द में अपरोक्ष प्रमा का करणत्व) ही सिद्ध नहीं । तो यह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि "दशमस्त्वमसि"—आदि वाक्यों में अपरोक्ष प्रमा की करणता देखी जाती है । यदि कहें कि वहाँ इन्द्रिय-सहित शब्द ही अपरोक्ष प्रमा का हेतु होता है, केवल नहीं । तो यहाँ भी मन-सहकृत शब्द में ही अपरोक्ष-प्रमा की हेतुता मान लेनी चाहिए । यदि कहें

क्षप्रतीतिहेतुताऽस्तु। ननु तत्रेन्द्रियस्यैव करणत्वं शब्दस्य तु सहकारितामात्रमिति चेत्, न; शब्द एव करणमिन्द्रियं सहकारीति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यात्? अन्वयव्यतिरेकयोस्तूभयत्राविशिष्टत्वात्। तथापि विनिगमनायां को हेतुरिति चेत्, क्वचिद्बहुलतमे तमसि क्वचिच्च लोचनविरहिणोऽपि वाक्याद्दशमोऽस्मीत्यपरोक्षप्रमितिदर्शनमेवेति वदामः। भवत्वेवम्, तथापि ब्रह्मसाक्षात्कारे करणं मन एव 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतेः। 'यन्मनसा न मनुते' 'अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिश्रुतेश्चानधिकृतमनोविषयत्वादिति चेत्, मैवम्;

तद्धेत्यादिश्रुतेः क्वापि मनसस्तदयोगतः।
शब्दत्वानुमितेर्बाधाद्व्यभिचारादनुत्थितेः ॥२॥

'तद्धास्य विजिज्ञौ' 'तमसः पारं दर्शयति' इति चोपदेशमात्रादेवापरोक्षप्रमित्युपपत्तिप्रतिपा-

विनिगमनेन दूषयति—न शब्द एवेति। विनिगमनायां शब्द एव करणमिति निर्णय इत्यर्थः। हेतुं दर्शयति—क्वचिदिति। लोचनविरहिणः सलोचनस्यापि गाढान्धकारनिरुद्धतया अव्यापृतलोचनस्य शब्दादेवापरोक्षज्ञानदर्शनमेव नियामकमित्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्स्पर्शनव्यापाराभावस्यापि। भवत्वेवं दशमस्त्वमसीत्यादौ, प्रकृते तु न युक्तं श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—भवत्वेवमिति। आदिशब्देन 'हृदा मनीषया मनसाभिक्लृप्तः, दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्ये'त्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते। ननु 'यन्मनसा न मनुत'इत्यादिषु मनसा पुरुषो यद्ब्रह्म न मनुते' तथा वाचो मनसा सहाप्राप्य यतो निवर्तन्त इति मनोगम्यत्वमपि निषिद्धं तत्कथं मन एव करणमिति, तत्राह—यन्मनसेति। अनधिकृतमनः असंस्कृतमनः। सिद्धान्ती परिहरति—मैवमिति। 'तद्धास्य विजिज्ञौ' इत्यादिश्रुतेस्तावदुपदेशमात्रादपरोक्षज्ञानजन्मावसीयते, नचैताः श्रुतयो मनः प्रति सहायतामुपदेशस्य दर्शयन्ति, न तु करणतामिति युक्तम्; मनसः क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वायोगात्। यत्तु शब्दत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तत्राह—शब्दत्वेति। उक्तश्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाद्दशमस्त्वमसीत्यादौ व्यभिचाराच्च शब्दत्वादित्यनुमितेरनुत्थितेरित्यर्थः। श्लोकं विवृणोति—तद्धास्येति। अस्याचार्यस्योपदेशेन तदुपदिश्यमानं ब्रह्म विजिज्ञौ विशेषेण विज्ञातवान् शिष्य इत्यर्थः। तमसः शोकादिकारणाज्ञानस्य पारम् अन्तम्। निरवद्यं ब्रह्म दर्शयति—अदर्शयदित्यर्थः। मनननिदि-

कि वहाँ अपरोक्ष प्रमा का करण इन्द्रिय ही है, शब्द तो केवल उसका सहायकमात्र है। तो वहाँ शब्द ही करण है और इन्द्रिय सहकारी मात्र है—ऐसा विपरीत पक्ष क्यों न माना जा सकेगा? क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक तो दोनों पक्षों में समान ही हैं। 'फिर भी विनिगमना (किसी एक पक्ष की औचिती) में क्या हेतु है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना है—कहीं-कहीं गाढ़े अन्धकार में भी सनेत्र को और कहीं-कहीं प्रकाश में नेत्र-हीन को भी "दशमस्त्वमसि"—इस वाक्य के सुनने से मैं दशम पुरुष हूँ—इस प्रकार की अपरोक्ष प्रमा का उत्पन्न होना ही विनिगमक हेतु है। यदि शङ्का करें कि फिर भी ब्रह्म-साक्षात्कार का करण मन ही होता है, ऐसा ही श्रुति कहती है—"मनसैवेदमाप्तव्यम्" (मन से ही यह प्राप्तव्य है—क. उ. ४।११)। "यन्मनसा न मनुते" (जिसे मन से नहीं जान सकते—केन० १।६), "अप्राप्य मनसा सह" (मन के सहित वाक् जिसे जाने बिना निवृत्त हो जाती है—तै. उ. २।४।१)—आदि श्रुतियाँ तो असंस्कृत मन में ही ज्ञान-करणत्व का अभाव बताती हैं। तो यह शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि "तद्धाऽस्य"—आदिश्रुतियों से यह प्रमाणित होता है कि उपदेशमात्र से ही अपरोक्ष प्रमा होती है। मन में कहीं पर भी साक्षात्कार की करणता बन नहीं सकती। उक्त शब्दत्वहेतुक अनुमान का, बाध और व्यभिचार दोष के कारण उदय ही नहीं होता। अर्थात् "तद् हास्य विजिज्ञौ" (उस ब्रह्म को इस आचार्य के उपदेशमात्र से शिष्य ने विशेषरूप से जान लिया—छां. उ ६।१५।३) "तमसः पारं दर्शयति" (अज्ञान के अन्त स्वरूप ब्रह्म को आचार्य के उपदेश ने दिखाया—छां०उ० ७।२६।२) इत्यादि श्रुतियाँ, उपदेशमात्र से अपरोक्ष प्रमा की उत्पपत्ति

दनात्। नन्वेतानि वचनान्यागमाचार्योपदेशयोर्न साक्षात्कारहेतुतां प्रतिपादयन्ति, साक्षात्कारहेतोर्मनसः सहायताप्रतिपादनपरत्वेनाप्युपपत्तेः। अन्यथा श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधानानर्थक्यात्, श्रवणेनैव साक्षात्कारोत्पत्तेः, श्रुतवेदान्तानामपि पूर्ववत्संसारानुवृत्तिदर्शनाच्चेति चेत्, मैवम्; असंभावनाविपरीतभावनाख्यस्य चित्तविक्षेपलक्षणस्य च प्रतिबन्धस्य निरासद्वारेण मनननिदिध्यासनयोः फलोपकार्यङ्गतयापि श्रवणं प्रति विधानोपपत्तेः। पूर्ववत्संसारित्वोपलब्धेश्च प्रतिबद्धविज्ञानपुरुषविषयत्वात्। मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादिश्रुतेश्चित्तैकाग्र्यस्याङ्गताप्रतिपादनपरत्वात्। मनसश्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मसाक्षात्कारहेतुत्वस्यादृष्टचरतया तत्र शब्दस्य सहकारित्वकल्पनानुपपत्तेः। तथात्वे श्रवणादीनामेव वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। सुखादीनां साक्षिवेद्यत्वादात्मनश्च स्वयंप्रकाशत्वात् मनसः क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तेः। भावनासहायस्य तु मनसो गरुडादिसाक्षात्कारप्रमित्यनुत्पादकत्वात्; तदपरोक्षस्य च विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारवद्विभ्रमत्वात्।

ध्यासनविधानसत्त्वेन श्रवणं न साक्षात्कारहेतुरित्याह—**अन्यथेति**। इतोऽपि न श्रवणरूपोपदेशमात्रात्साक्षात्कारोत्पत्तिरित्याह—**श्रुत इति**। तत्र तावच्छ्रवणं प्रति फलोपकार्यङ्गतयोपयोगं मनननिदिध्यासनयोर्दर्शयति सिद्धान्ती—**मैवमित्यादिना**। यद्यपि चित्तगतमललक्षणप्रतिबन्धो यज्ञादिभिः शुद्ध्याधायकैर्निवारितः, तथापि दृष्टस्य विक्षेपलक्षणप्रतिबन्धस्य ताभ्यां निरासः, अनुयाजादिवच्च फलोपकार्यङ्गतयोत्तरकालत्वमपि न विरुध्यत इति भावः। अनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—**पूर्ववदिति**। नहि प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादकत्वं कारणतां विहन्ति। उक्तं च सूत्रकृता—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनादिति' इति भावः। या तु श्रुतिर्मनसः साक्षात्कारकरणत्वे प्रमाणमुक्ता तामन्यथयति—**मनसैवेति**। यत्तु तद्धेत्यादिश्रुतीनामुपदेशस्य मनःसहायताप्रतिपादकतयाप्युपपत्तेरिति, तत्राह—**मनसश्चेति**। **अदृष्टचरतयेति**। श्रुत्यादिष्विति शेषः। बाधकान्तरं चाह—**तथात्व इति**। इदानीं 'क्वापि मनसस्तदयोगतः' इत्येतद्विवृणोति—**सुखादीनामिति**। एतेन साक्षात्कारहेतुतया क्लृप्तस्य मनसः संभवे शब्दस्य तत्कल्पनानुपपत्तेरिति वाचस्पतिमिश्रैरुदीरितमपोदितं मन्तव्यम्। ननु कथं साक्षात्कारहेतुत्वासंप्रतिपत्तिर्यावता भावनापरिपाकसहकृतमनसो दृष्टं गरुडादिसाक्षात्कारहेतुत्वमिति तत्राह—**भावनेति**। किं तर्हि तदित्यत आह—**तदपरोक्षेति**। पूर्वं साक्षात्कारहेतुत्वमङ्गीकृत्य प्रमितिहेतुत्वं नास्ति इत्युक्तमिदानीं तदपि न

बताती हैं। यदि कहें कि ये वचन, आगम और आचार्य के उपदेश में साक्षात्कार की हेतुता नहीं बताते, अपि तु साक्षात्कार के हेतुभूत मन की सहकारिता का प्रतिपादन करते हैं। अन्यथा यदि श्रवण मात्र से ही साक्षात्कार उत्पन्न हो जाय, तब तो श्रवण के उत्तर मनन और निदिध्यासन का विधान व्यर्थ ही हो जायगा। जिन्होंने वेदान्त-श्रवण कर लिया है, उन्हें भी यह संसार पूर्ववत् प्रतीत होता है—इस लिए भी यह जाना जाता है कि श्रवणमात्र से ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता। तो यह भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि असम्भावना और विपरीत भावनारूप चित्तगत विक्षेप (प्रतिबन्ध) की निवृत्ति के द्वारा मनन और निदिध्यासन, फलोपकारी अङ्ग होने के कारण भी श्रवण के उद्देश्य से विहित हो सकते हैं। यह जो कही पूर्ववत् संसार-प्रतीति, वह उसी पुरुष को होती है, जिसके ज्ञान में प्रतिबन्धक आ गया है। "मनसैवेदमाप्तव्यम्"—आदि श्रुतियाँ केवल चित्त की एकाग्रता में अङ्गत्व-प्रतिपादन करती हैं, मन में करणता नहीं। मन में नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार की हेतुता अननुभूत होने के कारण शब्द में मन की सहकारिता की उक्त कल्पना नहीं बन सकती। वैसी कल्पना में श्रवणादि व्यर्थ हो जाते हैं। सुखादि, साक्षिवेद्य हैं, आत्मा स्वयं प्रकाश है; अतः मन में किसी के भी साक्षात्कार की हेतुता सिद्ध नहीं। भावना-सहकृत मन भी गरुड़ादि की साक्षात्कार प्रमा का उत्पादक नहीं होता; क्योंकि गरुड़ादि-साक्षात्कार

अप्रमारूपसाक्षात्कारस्यापि साक्षिरूपतया मानसत्वाभावात्। इह च "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः," "तमसः पारं दर्शयति," "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः," "तरति शोकमात्मवित्," "योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि," "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" तरत्यविद्यां वितता" मित्यादिश्रुतिस्मृतिषु ब्रह्मविद्याया एवाविद्यानिवर्तकत्वश्रवणात् पारिशेष्यात्तत्कारणं वेदान्तवाक्यमिति निश्चीयते। श्रूयते च—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्," "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि," "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इति। अत्र हि वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य विज्ञानमिति विशेषणेन विशेषविषयत्वप्रतिपादनात्, निश्चयहेतुत्वे सिद्धेऽपि सुशब्दविशेषणेनापरोक्षनिश्चयहेतुत्वप्रतिपादनाच्चायमर्थो निश्चीयते।

यत्पुनः शब्दत्वादित्यनुमानम्, तच्छ्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टम्, दशमस्त्वमसीत्या-

---

मनोजन्यमित्याह—**अप्रमेति**। एतेनाप्रमारूपसाक्षात्कारहेतोर्मनसः क्वचित्प्रमाहेतुत्वेनापि भवितव्यं नयनादिवदिति पर्यनुयोगोऽपि परास्तः। प्रस्तुतस्थले च प्रमारूपसाक्षात्कार एवाविद्यानिवृत्तिक्षमः श्रुतिभिरवगम्यते, तत्र च मनसः करणत्वनिषेधात्करणान्तरानिरूपणाच्च वेदान्तवाक्यमेव करणमित्याह—**इह चेत्यादिना**। अथवात्रापि साक्षिरूप एव साक्षात्कारोऽविद्यानिवर्तकः, अतस्तत्करणत्वेन शब्दकल्पनमपि मनोवदेवायुक्तमिति, तत्राह—**इह चेति**। 'मामेव', 'तरत्यविद्या'मिति स्मृती। शोककारणाविद्यामित्यर्थः। वेदादेव परमेश्वरज्ञानमित्यत्र साक्षादेव श्रुतिरस्तीत्याह—**श्रूयते चेति**। तं बृहन्तम् अपरिच्छिन्नं परमेश्वरं अवेदवित् अवेदज्ञः पुरुषो न मनुते, अपितु वेदज्ञ एव जानातीत्यर्थः। अत्र च वेदशब्देन तदेकदेशा वेदान्ता विवक्ष्यन्ते। अथवा सप्रपञ्चनिष्प्रपञ्चप्रतिपादकतया सर्वे एव विवक्षिताः। उपनिषत्स्वेव वेद्यत इत्यौपनिषदः। वेदान्तजनितं विज्ञानं वेदान्तविज्ञानम्। नन्वत्र साक्षात्कारः कथं लभ्यते? नापि विज्ञानमित्युपसर्गबलात्, तस्य विशेषेण ज्ञानमिति निश्चयमात्रपर्यवसितत्वादिति, तत्राह—**अत्रेति**। चकारस्तूपपत्त्येदमुपसर्गसामर्थ्यं समुच्चिनोति। तां चोपपत्तिं वक्ष्यति।

उत्तरार्धं विवृणोति—**यत्पुनरिति**। दूषणान्तरं चानुमानस्य श्लोकेनाह—**प्रतिप्रयोगेति**। अपरोक्ष-

---

तो विरही पुरुष से चिन्तित कामिनी के साक्षात्कार के ही समान भ्रममात्र होता है। अप्रमारूप साक्षात्कार भी साक्षिरूप होता है, मानस नहीं। यहाँ तो "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (हृदयगत चिज्जड़-ग्रन्थी खुल जाती है और सभी संशय मिट जाते हैं–मुं० उ० २।२।८) "तमसः पारं दर्शयति" (अज्ञान के अन्तस्वरूप ब्रह्म को दिखाता है–छां०उ०७।२६।२) "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (पुनः देह-पात होने पर समस्त अविद्या निवृत्त हो जाती है—श्वे० १।१०) "तरति शोकमात्मवित्" (छां० ७।१।३) "योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि" (प्रश्नो० ६।८) "मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते" (मुझे ही जो प्राप्त करते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं—गी० ७।१४) "तरत्यविद्यां विततम्"—आदि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ ब्रह्म-विद्या में ही अविद्यानिवर्तकता का प्रतिपादन करती हैं, अतः परिशेषतः ब्रह्म-ज्ञान का कारण वेदान्त-वाक्य ही है—यह निश्चित होता है। श्रुतियाँ स्पष्ट कहती हैं कि—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (उस बृहत् परमेश्वर को अवेदज्ञ नहीं जान सकता, अपितु वेदज्ञ ही–शाट्या० उ० ४), "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ० ३।९।२६) "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मुं० उ० ३।२।६)–इन श्रुतियों में वेदान्त वाक्यजन्य ज्ञान को 'विज्ञान' शब्द से कहा गया है, अतः वेदान्त-वाक्य में निश्चय-हेतुता का लाभ हो जाता है। फिर भी 'सु' विशेषण लगाया, उससे अपरोक्ष निश्चय-हेतुता का प्रतिपादन होने से (ब्रह्म-विद्या की हेतुता वेदान्त-वाक्य में ही है) यह अर्थ निश्चित होता है।

यह जो (विवादाध्यासितः शब्दः अपरोक्षज्ञानजनको न भवति, शब्दत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्) अनुमान किया था, वह श्रुति विरुद्ध होने से बाधित है और "दशमस्त्वमसि"—इस वाक्य

दिवाक्येऽनैकान्त्यं च ।

प्रतिप्रयोगयोगाच्च विपक्षे बाधसंभवात् ।
तस्याभाससमानत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ॥३॥

प्रतिप्रयोगश्च—अपरोक्षत्वं तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववत् । न च परोक्षत्वं तद्वृत्ति परोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वादिति सप्रतिसाधनता; सिद्धसाधनत्वात् । इष्यते हि तस्यासंभावनाविपरीतभावनाप्रतिबद्धान्तःकरणे पुरुषे परोक्षज्ञानजनकत्वम् । 'तद्धास्य विजिज्ञौ' इति श्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । न चापरोक्षत्वमग्निहोत्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववदित्याभाससमानयोगक्षेमता; विपक्षे बाधकतर्काभावेन तस्याप्रयोजकत्वात् । किं वाक्यप्रमाण्यानुपपत्तिर्बाधिका? उतानुष्ठानानुपपत्तिः? स्वर्गादिफलासिद्धिर्वा? नाद्यः; अनुमानादिवत्प्रमाण्योपपत्तेः । न द्वितीयः, परोक्षनिश्चयादप्यनुष्ठानसिद्धेः । न तृतीयः, अनुष्ठानादेव फलसिद्धेः । इह त्वात्मविज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वश्रुत्य-

---

त्वमित्यादिप्रतिप्रयोगसंभवात् । नन्वपरोक्षत्वस्याग्निहोत्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्तित्वमप्येवं शक्यानुमानमित्याभाससमानतेति, तत्राह—तस्याभाससमानत्वादिति । तत्र हेतुः विपक्षे बाधसंभवादिति । श्लोकं विवृणोति—प्रतिप्रयोगश्चेति । ज्ञानवृत्तीत्युक्ते प्रत्यक्षवृत्तितया अर्थान्तरता, तदर्थं वाक्यजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि विवक्षितासिद्धिः, वाक्यान्तरमादायाप्युपपत्तेरित्यत उक्तम्—तत्त्वमस्यादीति । असिद्धिनिवृत्त्यर्थं हेतावपरोक्षग्रहणम् । सविकल्पकत्वादिना वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानानिष्ठेन व्यभिचारनिरासार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । द्वितीयेऽपि शाब्दावृत्त्यनुमितित्वादिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । असिद्धिनिवृत्त्यर्थं च परोक्षग्रहणम् । सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—इष्यते हीति । अथ ब्रूयाद्भवदभिमतज्ञानवृत्तित्वमनुमेयमिति, तत्राह—तद्धास्येति । तस्याभाससमानत्वादित्यस्याशङ्कां पठति—न चापरोक्षत्वमिति । विपक्षे बाधकमेव विकल्पयति—किं वाक्येत्यादिना । यदि ह्यपरोक्षज्ञानजनकं न भवेत् तर्ह्यप्रमाणं स्यादिति तावन्न बाधकम्, अनुमाने व्यभिचारादित्याह—अनुमानेति । विपक्षे बाधसंभवादित्येतद्विवृणोति—

में व्यभिचारी भी है । एवं 'उक्त अनुमान का प्रतिप्रयोग भी हो सकता है । विवक्षित अनुमानाभास, विपक्ष-बाधक तर्क-रहित है, अतः उसकी समानता भी इस अनुमान में नहीं, इसलिए शब्द से ही अपरोक्ष बुद्धि सिद्ध होती है ।' प्रतिप्रयोग यह है—"अपरोक्षत्व, "तत्त्वमसि"–आदि वाक्यों से जन्य ज्ञान में वृत्ति है, अपरोक्ष ज्ञाननिष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, जैसे–ज्ञानत्व ।" यदि इस अनुमान का प्रतिसाधन-प्रयोग करें—"परोक्षत्व, "तत्त्वमसि"—आदि वाक्यों से जन्य ज्ञान में वृत्ति है, परोक्ष ज्ञाननिष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, जैसे–ज्ञानत्व ।" तो यह प्रतिप्रयोग युक्त नहीं; क्योंकि सिद्ध-साधनता है–यह माना ही जाता है कि असम्भावना और विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धक से युक्त पुरुष में "तत्त्वमसि"–आदि वाक्य परोक्षज्ञान के ही जनक होते हैं । एवं उक्त प्रतिप्रयोग "तद्धास्य विजिज्ञौ"–इस श्रुति से विरुद्ध होने के कारण बाधित भी है । "अपरोक्षत्व, "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः"–आदि वाक्यों से जन्य ज्ञान में वृत्ति है, अपरोक्ष ज्ञाननिष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, जैसे–ज्ञानत्व"—इस अनुमानाभास की समानता भी हमारे अनुमान में नहीं; क्योंकि इस अनुमानाभास में विपक्ष-बाधक तर्क नहीं, अतः यह अपने साध्य का साधक ही नहीं । यदि विपक्ष बाधक मानें, तो क्या वाक्य-प्रामाण्य की अनुपपत्ति बाधक है? या स्वर्गादि फल की असिद्धि? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के बिना भी अग्निहोत्रादि वाक्य वैसे ही प्रमाण बन जायँगे, जैसे अनुमानादि । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि अनुष्ठान भी परोक्ष निश्चय से ही सिद्ध हो जाता है । तृतीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि कर्म के

न्यथानुपपत्तिरेव बाधिका । तथाहि—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्'—इति वेदान्तवाक्यजनितात्मविज्ञानान्मोक्षः श्रूयते । स च सविलासाज्ञाननिवृत्तिलक्षणः । संसारस्य दुर्निरूपत्वेनाविद्यारूपत्वात्, तस्य चाहं कर्ता भोक्तेत्याद्यपरोक्षविभ्रमलक्षणस्य परोक्षज्ञानान्निवृत्त्यनुपपत्तेः । ब्रह्मणि च सकलकरणागोचरे प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षज्ञानानुत्पत्तेर्वाक्याच्चापरोक्षज्ञानानुत्पत्तावनिर्मोक्षः स्यादिति विपक्षे बाधकतर्कसंभवान्नाभाससमानतानुमानस्य, तस्माच्छब्दादेवापरोक्षज्ञानात् कैवल्यमिति सकलमनाविलम् ।

ननु कथं ज्ञानात्कैवल्यं तस्य स्वर्गादिफलकर्मशेषतया स्वतन्त्रफलसाधनत्वाभावात् । देहव्यतिरिक्तात्मतत्त्वविज्ञानव्यतिरेकेण पारलौकिककर्मणि प्रवृत्त्ययोगात्, फलश्रुतेश्चापाप-

---

इह त्विति । श्रूयतां नाम ततः किमिति, तत्राह—स चेति । यथा चाज्ञाननिवृत्तिर्मोक्षः तथा चतुर्थपरिच्छेदे वक्ष्यते । ननु संसारनिवृत्तिर्मोक्षः, किमिदमुच्यते अविद्यानिवृत्तिरिति, तत्राह—**संसारस्येति** । तथापि वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं विना किमनुपपन्नम् ? तत्राह—**तस्य चेति** । दिङ्मोहादौ तथा दर्शनादिति भावः । एतेन योऽपपत्तिर्वक्ष्यतीत्युक्ता, सापि प्रदर्शिता । नन्वपरोक्षज्ञानमपि मनसैवोत्पद्यतामिति, तत्राह-**ब्रह्मणीति** । प्रत्यक्षेत्यपरोक्षज्ञानं विवक्षितम् । वादार्थमुपसंहरंश्चतुर्थम् पादं व्याचष्टे-**तस्मादिति**।

ज्ञानात्कैवल्यमित्युक्तमसहमानः कर्ममीमांसकः आक्षिपति—**ननु कथमिति** । ननु कथमात्मज्ञानस्य कर्मशेषता ? तद्बोधकप्रमाणाभावात्, नह्यात्मज्ञानेन कर्म कुर्यादिति काचिच्छ्रुतिरस्ति विनियोक्त्री, नापि लिङ्गमसमर्थत्वात्, नापि वाक्यम्, पदद्वयसमभिव्याहाराभावात्, नापि प्रकरणम्, साकाङ्क्षविधिसन्निध्यभावात्, नापि स्थानम्, कर्मसन्निधावपठ्यमानत्वात्, नापि समाख्या, संज्ञासाम्याभावात्, ततः कथं कर्मशेषत्वमिति, तत्राह-**देहव्यतिरिक्तेति**। यद्यपि श्रुत्यादीनि न सन्ति, तथापि सामर्थ्यलक्षणमस्ति लिङ्गं विनियोजकम्, भस्मीभूयमानदेहस्य पारलौकिकफलोपभोगासंभवादिति भावः । ननु मोक्षाख्यं फलमात्मज्ञानस्य श्रूयते, ततः श्रुताधिकारस्य कथमन्यशेषत्वमिति, तत्राह-**फलश्रुतेरिति**। यथाहि-'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति', 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति छन्दसामेव रसेनावद्यती'त्यादौ पर्णमयीत्वाद्याश्रित्य

अनुष्ठान से ही फल सिद्ध हो जाता है । अतः उक्त अनुमानाभास में विपक्ष-बाधक तर्क नहीं ; किन्तु हमारे अनुमान में विपक्ष-बाधक है—आत्म-विज्ञान में मोक्ष-साधनता की अन्यथानुपपत्ति । अर्थात् "ब्रह्मविदाप्नोति परम्", (तै० उ० २।१।१), "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३।२।९), "तरति शोकमात्मवित्" (छां० ७।१।३) आदि श्रुतियों में 'वेदान्त वाक्य-जन्य आत्म-विज्ञान से मोक्ष' प्रतिपादित है । मोक्ष है—कार्य-सहित अज्ञान की निवृत्तिस्वरूप । संसार अनिर्वचनीय होने से अविद्यारूप है, उसकी निवृत्ति "अहं कर्त्ता भोक्ता"—आदि अपरोक्ष भ्रमरूप परोक्ष ज्ञान से बन नहीं सकती । सकल इन्द्रियातीत ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान शब्द से भिन्न और किसी प्रमाण से उत्पन्न नहीं हो सकता । अब यदि वाक्य से भी अपरोक्ष ज्ञान न हो, तब मोक्ष कैसे होगा ? इस प्रकार विपक्ष-बाधक तर्क सम्भव होने के कारण हमारे अनुमान में आभास की समानता नहीं । इसलिए शब्द से अपरोक्ष ज्ञान और उससे मोक्ष होगा—यह नितान्त निर्दुष्ट सरणी है ।

शङ्का—मोक्ष की प्राप्ति आत्म-ज्ञान से कैसे होगी ? क्योंकि वह (आत्म-ज्ञान) स्वर्गादि फल के जनक कर्म का शेष (अङ्ग) होने से स्वतन्त्र किसी फल का साधन नहीं होता । शरीरादि से भिन्न आत्मा का जब तक ज्ञान न हो, तब तक स्वर्गादि पारलौकिक फल के जनक कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, (अतः आत्म-ज्ञान उक्त कर्मों का अंग ही है, मोक्षादि फल का साधन नहीं) । आत्म-ज्ञान में मोक्षरूप फल की साधनता का जो श्रवण बताया गया है, वह सब वैसे ही अर्थवाद है, जैसे-"यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳ श्लोकꣳ शृणोति" (जिस यजमान का जुहू नामक पात्र पलाश की काष्ठ से निर्मित होता है, वह अपनी अपकीर्ति कभी नहीं सुनता)—इस

श्लोकश्रवणवदर्थवादत्वात्। तथाचाहुः—

'आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम् आत्मज्ञानस्य लक्ष्यते॥
विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये याऽपि नाम फलश्रुतिः।
सार्थवादो भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तरम्॥'इति। (श्लो० वा० संबन्ध० १०३,१०४)

देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्य कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वेऽप्यशनायाद्यतीतब्रह्मविज्ञानस्य न तच्छेषत्वमनुपयोगादधिकारविरोधाच्चेति चेत्, मैवम्; आज्यावेक्षणव्रीहिप्रोक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपपत्तेः। न चाधिकारविरोधः; तथाभूतब्रह्मविदामपि यमनियमादौ प्रवृत्तिवत्कर्मप्रवृत्त्यविरोधात्। जनकोद्दालकप्रभृतीनां तथाभूतानामपि कर्मणि प्रवृत्तिदर्शनाच्चेति चेत्;

श्रूयमाणापापश्लोकादिश्रवणमर्थवादः, तत्कस्य हेतोः? परार्थत्वात्। नह्यत्र साक्षात्फलश्रवणमस्ति कामशिरस्कत्वाभावात्। कीर्तनमात्रं ह्येतत्। तथा च न रात्रिसत्रवद्विपरिणेतव्यम्। नच स्वशेषिफलेनैव निराकाङ्क्षपर्णमयीतायाः फलान्तरापेक्षास्ति, यदर्थम् विपरिणेतव्यम्। नच वाक्यं क्रतुसंबन्धबोधनपरमपि भवति, तस्मादर्थवाद एवैतत् प्रतिबद्धफलश्रवणम्, तथेहापि स्वशेषिकर्मफलेनैव निराकाङ्क्षस्यात्मज्ञानस्य न ब्रह्मैव भवतीत्यादिवर्तमानोपदेशविपरिणामापेक्षेत्यर्थः। तथाह परमर्षिः—'द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्या'दिति। अत्र वार्तिककारसंमतिमप्याह—**तथा चाहुरिति**। अचोदितत्वे हेतुः—**कर्मेति**। फलान्तरश्रवणस्य गतिमाह—**विज्ञात इति**। **न स्वर्गादेरिति**। स्वर्गादेः सकाशात्फलान्तरमपि नास्तीत्यर्थः। स्यादेतत्—द्विविधं ह्यात्मज्ञानम्, एकं स्थूलदेहमात्रव्यतिरिक्ततया, अपरं सूक्ष्मदेहतत्कारणाविद्यातिरिक्ततया। तत्र प्रथमं कर्माङ्गम् भवति, इतरत्तु न तथा; अनुपयोगात्, प्रत्युताधिकारविरोध एव। नाहं भोक्तेत्यभिमन्यमानः कथं भोक्ता स्यात्? नाहं कर्तेत्यभिमन्यमानो वा कथं कर्ता स्यात्? इति शङ्कते—**देहव्यतिरिक्तेति**। अशनायादीत्यादिशब्देन ब्राह्मण्यादिजातिराहित्यं गृह्यते, तेन चाधिकारान्वयः प्रतिषिध्यते। तत्रानुपयोगं परिहरति—**आज्यावेक्षणेति**। दृष्टोपयोगाभावेऽप्यदृष्टोपयोगोऽस्ति, शास्त्रैकगम्यत्वादस्येत्यर्थः। अधिकारविरोधं परिहरति—**न चाधिकारेति**। यथाहि तथाविधाभिमानेऽपि यमादौ प्रवृत्तिर्विहितत्वात्तथा कर्मण्यपि विहितत्वादेव प्रवर्तितव्यम्, शास्त्रेण च तथाविधाभिमाने विद्यमानेऽपि प्रवृत्तिरुपदिश्येत, को विरोधः? प्रत्युत प्रत्यवाय एव तदकरणे स्यादिति भावः। अस्ति चात्र लिङ्गं यदात्मज्ञाने विद्यमानेऽपि कर्मप्रवृत्तिर्न विरुध्यते इत्याह—**जनकेति**।

श्रुति में पाप श्लोक का अश्रवण अर्थवादमात्र है। कुमारिल भट्ट ने भी ऐसा ही कहा है—"आत्मा ज्ञातव्य है—यह आत्म-ज्ञान का विधान मोक्ष के लिए नहीं; अपितु कर्म-प्रवृत्ति की हेतुता आत्म-ज्ञान में लक्षित होती है। इस (आत्म-ज्ञान) में पारार्थ्य (स्वर्गादि-जनक कर्माङ्गत्व) का निश्चय हो जाने पर (यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आत्म-ज्ञान के विषय में) जो फलश्रुति (मोक्षरूप फल की साधनता का श्रवण) है, वह अर्थवाद मात्र है, स्वर्गादि से भिन्न कोई आत्म-ज्ञान का फल नहीं।" यदि कहें कि देहादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान, कर्म-प्रवृत्ति का अंग होने पर भी क्षुधा, पिपासा, ब्राह्मणत्वादि धर्म-शून्य ब्रह्म-ज्ञान, कर्माङ्ग नहीं बन सकता; क्योंकि इस प्रकार का ब्रह्म-ज्ञान, कर्म में अनुपयुक्त ही नहीं, अपितु कर्माधिकार का विरोधी भी है। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसा ज्ञान भी अदृष्ट-जनन के द्वारा वैसे ही कर्म का अंग हो सकता है, जैसे कि आज्यावेक्षण (घृत-निरीक्षण) और व्रीहिप्रोक्षण (व्रीहि पर जल-प्रोक्षण) दृष्टोपकार-जनक न होने पर भी अदृष्टोपकार के जनक होते हैं। यह जो कहा कि ऐसा ब्रह्म-ज्ञान अधिकार-विरोधी है, वह भी नहीं कह सकते; क्योंकि उस प्रकार का ब्रह्म-ज्ञान रखनेवाले भी यम-नियमादि में जैसे प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही कर्म में भी प्रवृत्त हो जायँगे। जनक, उद्दालकादि—जैसे महापुरुष उस प्रकार के तत्त्ववेत्ता कर्म में प्रवृत्त हो चुके हैं।

अत्रोच्यते— अभावाच्छ्रुतिलिङ्गादेरुपयोगानिरूपणात् ।
अधिकारविरोधाच्च कर्माङ्गं नात्मतत्त्वधीः ॥४॥

न तावद् 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इतिवदात्मविज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे श्रुतिरस्ति । न च 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इति श्रुतिः ; तस्याः प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वात् । श्रद्धादिवत्सार्वत्रिकं किन्न स्यादिति चेत् ; तथाप्युपासनानुष्ठानस्यैव तदङ्गताऽस्तु, उपासनाप्रकरणे पाठात् । नापि 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इतिवच्छ्रुतिसामर्थ्यलक्षणं लिङ्ग-

---

सिद्धान्ती समाधत्ते—अत्रेति । आद्यपादं विवृणोति—न तावदित्यादिना । यथा हि 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यैन्द्याः "कदाचन स्तरीरसि" इत्यृचो गार्हपत्यमिति गार्हपत्योपस्थाने तृतीयया विनियोगः, किंचित्प्रति हि शेषत्वं तृतीययावगम्यते, तच्च किंचित्किमित्यपेक्षायां गार्हपत्यमिति विशेषसमर्पणम्, गार्हपत्यमिति च द्वितीयया किंचित्प्रति शेषित्वं गार्हपत्यस्य प्रतीयते, ऐन्द्रीपदेन च शेषविशेषः समर्प्यते, अत एव च न वाक्यगम्यत्वशङ्कापि, न तथेहात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वबोधिका काचन विनियोजिका श्रुतिरस्तीत्यर्थः । ननु 'यदेव विद्यया करोति' श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या उपनिषदा रहस्यविज्ञानेन च करोतीति विद्यायाः कर्मण्यस्ति विनियोग इति, तत्राह—न चेति । अत्र तावत्सर्वविद्यानां सर्वकर्मसु विनियोगो न यथाश्रुति प्रतिपिपादयिषितः, अशक्यत्वात् । तस्माद्योग्यविषये संकुचन्ती श्रुतिः प्रकरणमनुरुध्योद्गीथविद्याविषयतया च तिष्ठते, तेन नात्मविद्यामास्कन्दत इत्यर्थः । एतदेवाक्षेपसमाधानाभ्यां दर्शयति—श्रद्धादिवदित्यादिना । यथा स्वविशेषितश्रद्धामात्रस्य सर्वकर्माङ्गत्वमेवं विद्यामात्रस्यापि कर्ममात्रशेषता किं न स्यादित्यर्थः । तदङ्गतेति । सा विद्या अङ्गं यस्योपासनानुष्ठानस्य तत्तदङ्गं तद्भावस्तदङ्गता । अत्रापि हि न श्रद्धामात्रमुपयोगि, नहि कारीरीश्रद्धा ज्योतिष्टोमोपयोगिनी; तस्माद्योग्यतावशेन विनियोक्तव्यम् । तथाच पूर्वोक्तप्रकरणपीडने कारणाभावाद्विद्यात्वाविशेषेणात्मविद्याग्रहेऽपि तत्तत्प्रकृतोपासनायामेव शेषत्वम्, तत्रापि 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादिविद्यानां दहराद्युपासनानुष्ठानशेषत्वम्, निर्गुणविद्यापि परोक्षा भावनोपयोगिनी, अपरोक्षा तु न किंचित्प्रति, ततः परमनुष्ठानाभावादिति विवेक्तव्यम् । उक्तश्चायमर्थो व्याकरणाधिकरणे भट्टपादैः—

'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते । पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणा ॥' इति ।

नापीति । यथाहि 'बर्हिर्देवसदनम्' देवानां सदनभूतं बर्हिर्दर्भमुष्टिविशेषं दामि खण्डयामिति बर्हिर्लवनप्रकाशनसमर्थमन्त्रस्य सामर्थ्यलक्षणलिङ्गेन बर्हिर्लवने विनियोगः, न तथेह किंचिच्छ्रुतिसामर्थ्यमस्ती-

---

समाधान—'आत्म-तत्त्व-ज्ञान में कर्म की अंगता कदापि नहीं बन सकती ; क्योंकि वहाँ अंगत्वनिरूपक श्रुति, लिङ्गादि प्रमाणों का अभाव है, इस ज्ञान का उपयोग कर्म में कैसे होगा—यह भी नहीं कहा जा सकता एवं इस प्रकार का ज्ञान अधिकार-विरोधी भी है ।' अर्थात् जैसे "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" ("कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र !"—इस ऐन्द्री = इन्द्र-प्रकाशक ऋचा से गार्हपत्यसंज्ञक अग्नि का उपस्थान करना चाहिए) यहाँ तृतीया (ऐन्द्रया) और द्वितीया (गार्हपत्यम्) विभक्ति श्रुति, ऐन्द्री ऋचा और गार्हपत्य का अंगांगीभाव बताती है । वैसे आत्म-विज्ञान में कर्माङ्गत्व-बोधक कोई श्रुति नहीं । यदि कहें कि "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छां० उ० १।१।१०)—यह श्रुति, विद्या में कर्माङ्गत्व-बोधक है । तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि यह श्रुति 'विद्या' पद से प्रकृत 'उद्गीथ-उपासना' का ग्रहण करती है, आत्म-ज्ञान का नहीं । यदि कहें श्रद्धात्वरूप से सामान्य श्रद्धा के समान 'विद्या' पद से सामान्य विद्या का ग्रहण क्यों न हो ? तो भी उस विद्या में उपासनानुष्ठान की ही अंगता सिद्ध होगी, सामान्य कर्माङ्गता नहीं ; क्योंकि उपासना के प्रकरण में ही उसका पाठ है । जैसे "बर्हिर्देवसदनं दामि" (देवोपसदन-योग्य बर्हिः काटता हूँ—मै० सं० १।१।२) इस बर्हि-लवन-प्रकाशक शब्द-सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण से इस मन्त्र

मस्ति। न चोद्दालकादीनां कर्मणा सहात्मविज्ञानसद्भावो लिङ्गम् ; 'किं प्रजया करिष्यामः' 'किमर्थं वयमध्येष्यामहे,' इति च वैपरीत्यस्यापि दर्शनात्। न च 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' इतिवद्वाक्याद्विनियोगः ; पर्णमयीत्वादिवदात्मनोऽव्यभिचरितक्रतुसंबन्धाभावात्, तस्य लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्। न चात्मज्ञानं कर्मप्रकरणे श्रुतम्, येन प्रयाजादिवत्कर्माङ्गतामश्नुवीत। नापि स्थानम्, कर्मसंनिधावपठ्यमानत्वात्। नापि समाख्या ; संज्ञासाम्याभावात्। न चात्मज्ञानस्य कर्मण्युपकारप्रकारो निरूप्येत। देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्योपयोगेऽप्यशनायाद्यतीतात्मविज्ञानस्य तत्रानुपकारित्वात्। न चाज्यावेक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपयोगः ; स्वप्रकरणपठितसंसारनिवृत्तिलक्षणदृष्टफलनिराकाङ्क्षस्यादृष्टफलकल्पनानुपपत्तेः। न च क्रियाकारकफलशून्यमद्वैतमात्मानं विजानतः कर्मणि प्रवृत्तिरुपपद्यते। न च यमनियमादिप्रवृत्तिवदविरोधः ;

त्यर्थः। श्रुतिसामर्थ्यलक्षणलिङ्गाभावेऽपि लिङ्गान्तरमस्तीत्याशङ्क्य विपरीतलिङ्गस्यापि भावादिदमनिर्णायकमित्याह— न चोद्दालकेति। स्यादेतत्—आत्मा तावदव्यभिचरितक्रतुसंबद्धः, तत्संबन्धि चेदमात्मज्ञानम्, तदिह मा भूतां लिङ्गश्रुती, वाक्यमेवास्ति कर्मणि विनियोजकम्, यथाहि—पर्णमयीतायाः सिद्धरूपतया फलजननाय क्रियासबन्धसाकाङ्क्षाया 'जुह्वा जुहोती'ति नियतप्रकृतिद्रव्यसाकाङ्क्षाव्यभिचरितक्रतुसंबद्धजुहूद्वारा वाक्येन कर्मसु विनियोगः तद्वदिति, तत्राह—न च यस्येति। व्यभिचारमेवाह—तस्येति। नच देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं वैदिककर्माव्यभिचारीति वाच्यम् ; कारीर्यादावभावेन तस्यापि व्यभिचारसाम्यादिति भावः। प्रकरणाद्विनियोगं निराचष्टे—न चात्मज्ञानमिति। सन्निधिपठितैर्ह्याकाङ्क्षा भावनायाः पूर्यत इत्युसर्गः। यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितसमिदादिभिः कल्पनागौरवेण फलवत्संनिधावित्यादिन्यायेनेतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षप्रधानभावनाभिलाषपोषणम्। नच पूषाद्यनुमन्त्रणवदात्मज्ञानस्य स्वप्रकरणसमवायः कर्मप्रकरणसमवायो वा, येनासंनिहितमपि तत्रोपयुज्येत, न च स्वप्रकरणपठितैरङ्गजातैर्निराकाङ्क्षस्य कर्मणः क्वचिदप्यपेक्षास्तीति भावः। स्थानसमाख्ययोस्तु संभव एव नास्तीत्युपेक्षा कृता। उपयोगानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—न चात्मज्ञानस्येति। यस्त्वदृष्टद्वारेणोपयोग उक्तस्तत्राह—न चाज्यावेक्षणेति। उत्तरार्धं विवृणोति—न च क्रियाकारकेत्यादिना। उत्पन्नात्मापरोक्षस्यापि स्वभाववशात्र-

में बर्हि-लवन की अंगता सिद्ध होती है, वैसे प्रकृत में कोई लिंग प्रमाण भी नहीं। यदि कहा जाय कि शब्द-सामर्थ्यरूप लिंग न होने पर भी अर्थ-सामर्थ्यरूप लिंग है, क्योंकि उद्दालक, जनकादि में कर्म के साथ-साथ आत्म-विज्ञान का सद्भाव भी था। तो यह युक्त नहीं ; क्योंकि "किं प्रजया करिष्यामः", "किमर्थं वयमध्येष्यामहे" आदि श्रुतियों में विपरीत सामर्थ्य भी देखा जाता है। जैसे "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति" (तै० सं० ३।५।७) यहाँ समभिव्याहाररूप वाक्य प्रमाण से पर्णता में जुहू की अंगता सिद्ध होती है, वैसे प्रकृत में कोई वाक्य प्रमाण भी नहीं ; क्योंकि पर्णमयी जुहू के समान आत्म-ज्ञान में अव्यभिचरित क्रतु-सम्बन्ध नहीं, वह (आत्म-ज्ञान) तो लौकिक और वैदिक कर्म में साधारण है। आत्म-ज्ञान, कर्म के प्रकरण में भी पठित नहीं, जिससे कि प्रयाजादि के समान कर्म का अंग बन जाता। प्रकृत में स्थान प्रमाण भी नहीं ; क्योंकि कर्म की सन्निधि में आत्म-ज्ञान का पाठ नहीं। समाख्या प्रमाण भी नहीं ; क्योंकि कर्म और आत्म-ज्ञान की समान समाख्या नहीं। आत्म-ज्ञान से कर्म में कैसे उपकार होगा—यह भी नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि देहादि-व्यतिरिक्त आत्म-ज्ञान का कर्म में उपयोग होने पर भी क्षुधादि निखिल धर्म-शून्य ब्रह्म के ज्ञान का उपयोग कर्म में नहीं हो सकता। यह जो कहा था कि आज्यावेक्षण के समान अदृष्ट-द्वारा उपयोग होता है। वह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान के प्रकृत संसार-निवृत्तिरूप दृष्ट फल को छोड़कर अदृष्ट फल की कल्पना उचित नहीं। क्रिया, कारक, फल—शून्य अद्वितीय आत्मतत्त्व के ज्ञानी की कर्म में प्रवृत्ति भी नहीं बन सकती। यम-नियमादि का जो दृष्टान्त दिया था, वह भी

यमनियमादावप्यपरोक्षात्मविज्ञानवतो विधितः प्रवृत्त्यनङ्गीकारात्। 'तस्य कार्यं न विद्यते',

'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्।' (जा० द० उ० १।२३)

इति स्मरणात्। भिक्षाटनादावपि व्युत्थानदशायां यदृच्छयैव प्रवृत्तेः। न चैवं कर्मणि प्रवृत्तिः, नियतदेशकालतया तस्य विधानात्।

एतेन ज्ञानकर्मणोः समुच्चयोऽपि निराकृतो वेदितव्यः, विरोधादेव। उक्तं हि—

"यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते।
तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद् गुणो यतः॥" इति। (बृह० वा० ३।३।६८)

मादीनामनुवृत्तिर्घटते नैवं कर्मणामिति भावः। ज्ञानिनो विधेयव्यापाराभावे स्मृतीराह—**तस्येति**। स्यादेतत्—भवतु निवृत्तिरूपाणां विधिव्यतिरेकेणाप्यनुवृत्तिः, भिक्षाटनादौ प्रवृत्तिरूपे का वार्ता? नहि तदौदासीन्यात्मकमिति, तत्राह—**भिक्षेति**। यथा ह्यनियतदेशकालक्षुधाधीनतयाऽनियतवृत्तिर्भिक्षाहरणादिः, नैवं कर्म, तस्य 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत', 'सायंप्रातरग्निहोत्रं जुहोती'त्यादिनियतदेशकालतया विधानादित्यर्थः। एतेन 'भ्रान्त्या चेल्लौकिकं कर्म वैदिकं च तथा वदे'तिभास्करदुरुद्गारोऽपि चिकित्सितः। भ्रान्त्यविशेषेऽप्यवान्तरविशेषस्य दर्शितत्वादिति।

एवं तावद्विद्यायाः कर्मशेषतानिरासेन कैवल्यफलता प्रसाधिता, इदानीं भवतु विद्यायाः कैवल्यसाधनता। तथापि कर्मसमुच्चिताया एव न केवलाया इति समुच्चयवादिनो मतं निराकुर्वन् ज्ञानिनः कर्मणि प्रवृत्त्यनुपपत्तिमुक्तां तत्राप्यतिदिशति—**एतेनेति**। अतिदिश्यमानं विशदयति—**विरोधादेवेति**। द्वेधा हि समुच्चयः संभवति—समप्राधान्येन वा षड्यागवत्, गुणप्राधान्येन वा प्रयाजदर्शपूर्णमासवत्। तत्रापि ज्ञानं गुणः कर्म प्रधानमिति वा? विपरीतं वा? तत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावावगमात्, न समसमुच्चयो, गुणप्रधानपक्षेऽपि परंपरया ज्ञानं प्रति कर्मणां गुणभावोऽभ्युपगत एव। यत्तु कर्म प्रधानं ज्ञानं गुण इति तन्न, स्वरूपविराधादिति भावः। अत्रैव सुरेश्वराचार्यसंमतिमाह—**उक्तं हीति**। **न प्रधानादिति**। प्रधानमत्तीति प्रधानात् प्रधानविघातकः स तस्य गुणो न भवति यत इत्यर्थः। यत्कर्मप्रवृत्तिविघातकं ज्ञानम्, तन्न कर्म प्रति गुणो भवतीति भावः। विभिन्नविरुद्धफलत्वाच्च न गुण-

---

संगत नहीं; क्योंकि यम-नियमादि में भी अपरोक्ष आत्मतत्त्व के ज्ञानी की विधि वाक्य से प्रवृत्ति नहीं मानी जाती। जो कि अकाट्य प्रमाणों से प्रमाणित है—"तस्य कार्यं न विद्यते" (गी० ३।१७) अर्थात् ज्ञानी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। जाबाल दर्शनोपनिषत् में भी कहा है कि "ज्ञानरूपी अमृत से परितृप्त, कृतकृत्य तत्त्ववेत्ता के लिए कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, यदि किसी के लिए कर्त्तव्य शेष है, तब वह तत्त्ववेत्ता नहीं।" भिक्षा लाने—आदि में भी योगी की व्युत्थान अवस्था में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार कर्म में प्रवृत्ति बन नहीं सकती; क्योंकि भिक्षादि में तो किसी प्रकार देशादि का नियम नहीं, किन्तु कर्मों में देश-कालादि के अनन्त नियम विहित हैं।

इससे ज्ञान कर्म का समुच्चय-वाद भी निराकृत हो जाता है; क्योंकि ज्ञान का कर्म से विरोध है, वार्तिककार ने कहा है—जो पदार्थ, जिसका अविरोधी होकर स्वभावानुकूल होता है, वही पदार्थ उस प्रधान का अंग बना करता है, प्रधान-विरोधी कभी अंग नहीं हो सकता।' ज्ञान तो कर्म का विरोधी है, अतः उन दोनों का प्रधान गुण-भाव से समुच्चय कैसे होगा? [और भी किसी प्रकार से समुच्चय नहीं हो सकता; वार्तिककारचरण कहते हैं—

हेतुस्वरूपकार्याणां प्रकाशतमसोरिव।
मिथो विरोधतो नातः संगतिर्ज्ञानकर्मणोः॥ (बृ० वा० ३।३।७०)

अर्थात् ज्ञान के हेतु (वैराग्यादि), स्वरूप (वस्तु-प्रकाशकत्व) और कार्य (संसार-विनाश)

अपि च उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतयः कर्मणः फलम् , विद्यायाः पुनरविद्यास्तमयस्तत्कथमनयोः साहित्यम् ? नहि शुक्तिकाशकलं सकलमाकलयतः कलधौतविभ्रमनिवृत्तिः स्नानाऽऽचमनादिकर्मापेक्षया विलम्बते । तदेवं लौकिकेन न्यायेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव तदविद्यानिवृत्तिहेतुरित्यास्थेयम् । श्रुतिस्मृतिषु कर्मणो निर्वाणकारणतानिराकरणाच्चैतदवसेयम् । श्रूयते हि—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'न कर्मणा न प्रजया धनेन', 'नास्त्यकृतः कृतेन', 'एतावदरे खल्वमृतत्व'मित्यादि । स्मर्यते च—

'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते ।
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥' इति ।

नन्वेतानि वचनानि केवलानामेव कर्मणां कैवल्यसाधनत्वनिराकरणपराणि समुच्चितानां

गुणिभाव इत्याह—**अपि चेति** । नह्यविद्यास्तमयात्मकस्य नित्यप्रत्यग्भूताविकार्यनाधेयातिशयनिर्दोषात्ममात्रस्य मोक्षस्य ज्ञानोत्पाद्यत्वं संभवति भवनेनेव पिण्डस्य, नाप्याप्यत्वं दोहनेनेव पयसः, नापि विकार्यत्वमभिषवेणेव सोमस्य, नापि संस्कार्यत्वं प्रोक्षणेनेव व्रीहीणाम्—एतावदेव च कर्मफलमतः कर्मफलविलक्षणमेव ज्ञानफलमित्यर्थः । इदानीमुत्पन्नस्य ज्ञानस्याविद्यानिवर्तने कर्मापेक्षैव नास्ति, ततो ज्ञानं प्रधानं कर्म गुण इति प्रयाजदर्शपूर्णमासवत्समुच्चय इति पक्षोऽपि न संभवतीति लौकिकन्यायेन दर्शयति—**नहि शुक्तिकेति** । कलधौतं रजतम् । निर्वाणो मोक्षः । **एतदिति** । ज्ञानकर्मणोरेकफलता नास्तीति । 'तमेव' तं विदित्वैवेत्यपि योज्यम् । **अतिमृत्युमेति** । मृत्युं जन्ममरणात्मकसंसारमत्येतीत्यर्थः । **अयनं** मार्गः । तेन च गन्तव्यमुपलक्ष्यते । क्षेमप्राप्तये ज्ञानव्यतिरेकेणान्यो मार्गो नास्तीत्यर्थः । **अकृतो** नित्यो लोकः, **कृतेन** कर्मणा **नास्ति** न लभ्यते इत्यर्थः । **अमृतत्वम**मृतत्वसाधनम् , **एतावत्** यन्मयोक्तमात्मज्ञानं नातः परमस्तीत्यर्थः । **पारदर्शिनः** संसारावसानरूपात्मतत्त्ववेदिन इत्यर्थः ।

अत्र च समुच्चयवादी प्रदर्शितवचनानामन्यथासिद्धिमाह—**नन्वित्यादिना** । नन्वविशेषेण प्रवृत्त-

का कर्म के हेतु (रागादि), स्वरूप (अप्रकाशकत्व) और कार्य (संसारोत्पाद) से नितान्त विरोध होने के कारण ज्ञान और कर्म का कथमपि समुच्चय सम्भव नहीं]। दूसरी बात यह भी है कि कर्म के फल हैं—उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति और ज्ञान का फल है—अविद्या का नितान्त उच्छेद ; अतः उन दोनों का समुच्चय कैसे होगा ? यह कभी नहीं देखा गया है कि जिस व्यक्ति ने शुक्तिका के नील पृष्ठत्वादि विशेषरूप का दर्शन कर लिया है, उसके रजत-भ्रम की निवृत्ति, उक्त दर्शनमात्र से उत्पन्न न होकर स्नान, आचमनादि कर्मों की प्रतीक्षा करती हो । इस लौकिक निदर्शन के आधार पर यह मान लेना चाहिए कि ब्रह्म-दर्शन ही अविद्या-निवृत्ति का एकमात्र हेतु है । श्रुतियों और स्मृतियों में कर्म की मोक्ष-कारणता का निराकरण देख कर वह निश्चय और दृढ़ हो जाता है । श्रुतियाँ कहती हैं—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (उस पर ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु का उल्लङ्घन किया जा सकता है, ब्रह्म ज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष का और कोई मार्ग नहीं—श्वे० ३।८) "न कर्मणा न प्रजया धनेन" (कर्म से, सन्तानोत्पादन से और धन से मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता—महाना० ८।१४) "नास्त्यकृतः कृतेन" (नित्य मोक्षरूप फल कर्मों से नहीं मिलता—मुण्ड० १।२।१२) "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" (अरे ! मैत्रेयि ! यह ज्ञान ही मोक्ष का साधन होता है—बृ० ४।५।१५) स्मृति में भी कहा है—'ज्ञान से ही कैवल्य का लाभ होता है, जिससे जीव मुक्त होता है । कर्म से जीव बन्धन में पड़ता और ज्ञान से मुक्त होता है । इस लिए पारदर्शी यतिगण कर्म नहीं करते ।

समुच्चयवाद—यदि कहें कि ये सभी वचन केवल (ज्ञान-रहित कर्मों में ही कैवल्य-साधनता

तूपपद्यते तत्साधनभावः, तथा च 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥' इत्येकैकनिन्दापुरःसरं 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥' इति ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोर्मोक्षसाधनत्वप्रतिपादनात् । तथा हि—संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च मुक्तिः । तत्र विद्येतरत्वेनाविद्यामूलत्वेन वा अविद्याशब्दवाच्यानां कर्मणां मृत्युपदवेदनीयकर्मक्षयद्वारेण संसारनिवृत्तावुपयोगः । ब्रह्म त्वात्मरूपतया नित्यप्राप्तमविद्यामात्रतिरोहितं कण्ठगतचामीकरवत् , न तत्राविद्यानिवृत्तेरधिकं कार्यमस्तीति, अविद्यानिवृत्तौ विद्याया: उपयोगः । तदिदमुक्तम्—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति । यत्पुनः परेषां व्याख्यानं 'देवताज्ञानमिह विद्याशब्देन विवक्षितम् , तस्य कर्मणा समुच्चयोऽनेन वाक्येन कथ्यते' इति । तदयुक्तम् ; प्रक्रमाननुगुणत्वात् , ईशावास्ये परमा-

---

निषेधस्य केवलधर्मपरतया संकोचः किंनिबन्धन इति, समुच्चयश्रुतिबलादित्याह—**तथा चेति** । नन्वत्र मृत्युतरणेऽविद्याया उपयोगः, अमृतप्राप्तौ च विद्यायाः, तत्कथमनयोरेकफलतया समुच्चयोऽत्र प्रतीयते इति, तत्राह—**तथा हीति** । नहि ब्रह्मप्राप्तिमात्रमपवर्गः, तस्य पूर्वमपि विद्यमानत्वेन साधनानुष्ठानवैयर्थ्यात् । नाप्यविद्यानिवृत्तिमात्रम् , अभावरूपस्यापुरुषार्थत्वात् । तस्मादविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्मप्राप्तिरपवर्गः, तत्रचोभयमपि साधनमित्यर्थः । अस्त्वेवम् , तथापि कर्मणः किमायातं समुच्चये ? अविद्यया मृत्युतरणं प्रतीयत इति, तत्राह—**तत्र विद्येतरत्वेति** । अन्यत्वं नञोर्थः, कारणवाची वा कार्ये लक्षणया प्रवर्तत इत्यर्थः । तथापि कथं कर्मणः संसारनिवर्तकत्वम् ? यावता मृत्युतरणमेव तेन प्रतीयते, तत्राह—**मृत्युपदेति** । कर्मभिस्तु कर्मक्षयस्तद्द्वारा च मोक्षोपयोगः, ज्ञानेन तु साक्षादविद्यानिवृत्तिरिति ज्ञानोपयोगमाह—**ब्रह्मत्विति** । 'अमृतमश्नुते' इति प्रतिबन्धकाविद्यानिवृत्तिर्विवक्ष्यत इत्यर्थः । अत्र सिद्धान्त्यन्ययोजनामुद्भावयति पूर्ववादी—**यत्पुनरिति** । प्रक्रममेव दर्शयंस्तदननुगुणतां दर्शयति—**ईशावास्य इति** । अत्र हीष्ट इतीट् परमेश्वरः तेन परमेश्वरेणेशा वास्यमाच्छादनीयं व्याप्यम् । वस निवास इत्यस्माद्धातोर्ण्यति वास्यमिति रूपम् । कारणं हि कार्यं स्वस्मिन् वर्तयति । इदं सर्वमिति परमात्मैवोपक्रान्तस्तद्विरुद्धं च मध्ये

का निषेध करते हैं, अतः ज्ञानसमुच्चित कर्मों में मोक्षा—साधनता अनुपपन्न नहीं । इसी लिए श्रुतियों में केवल कर्म और केवल ज्ञान की निन्दा तथा समुच्चय का विधान मिलता है—"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ (वे लोग संसार के गाढ़ान्धकार में निमग्न हो जाते हैं, जो केवल कर्मरूप अविद्या की उपासना करते हैं । उन से अधिक घोर अन्धाकार में वे पड़ते हैं, जो केवल ज्ञान में रत हैं—ईशा० ९) इस प्रकार एक-एक की निन्दा की जाती और "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्ययामृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (कर्म और ज्ञान—दोनों का जो साथ साथ सम्पादन करता है, वह कर्म से मृत्यु को पार कर ज्ञान से अमृत की प्राप्ति कर लेता है— ईशा० ११)—इस श्रुति में समुच्चय का विधान किया गया है । आशय यह है कि मुक्ति नाम है—'संसार-निवृत्ति और ब्रह्मप्राप्ति' का उक्त श्रुतियों में विद्या से भिन्न होने या अविद्या-मूलक होने के कारण 'अविद्या' शब्द से कर्म विवक्षित है । कर्मों का मृत्यु (कर्म) के क्षय के द्वारा संसार-निवृत्ति में उपयोग है । ब्रह्म तो आत्म-स्वरूप है, नित्य प्राप्त है, कण्ठ के हार जैसा अविद्या से तिरोहित है । वहाँ अविद्या-निवृत्ति से अधिक और कुछ कर्त्तव्य नहीं होता, अतः अविद्या की निवृत्ति में विद्या का उपयोग है । यही बात उक्त श्रुति में कही है—"विद्ययाऽमृतमश्नुते" । यह जो भाष्यकार ने (ईशा० शां० भा० ९ में) व्याख्या की है—"देवता-ज्ञान यहाँ 'विद्या' शब्द से विवक्षित है, उसका कर्म के साथ समुच्चय उक्त श्रुति-वाक्य से किया जाता है ।" वह व्याख्या युक्त नहीं ; क्योंकि प्रकरण के अनुसार नहीं । ईशावास्य में परमात्मा का प्रकरण है । श्रुति नितान्त स्पष्टरूप

त्मनः प्रक्रान्तत्वात् । तथा च श्रुतिः—'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च', 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'इति स्पष्टमेव समुच्चयं प्रतिपादयति । स्मृतिरपि—

"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (मनु० १२।१०४)
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने ।"
"यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ।
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् ॥" इत्यादिकाः ।

तेन च वाचनिकसमुच्चयानुसारेण कर्मनिन्दापराणां वाक्यानां केवलकर्मविषयतैवेति निश्चीयते । न च मोक्षस्य साक्षाज्ज्ञानं साधनं कर्माणि तु पापाऽपाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानीति वचनानां व्यवस्था, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय'इत्यादेस्तु लाङ्गलेन वयं जीवामह इतिवत्पारंपर्येणापि तत्साधनपरत्वोपपत्तेरिति युक्तम्; साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन प्राप्तस्य कर्मणः

देवताविज्ञानाश्रयणमित्यर्थः । तेनैतीति । यस्तैजसो योगी ब्रह्मवित्पुण्यकृच्च भवति, असौ तेनोत्तरमार्गेणैति गच्छतीति ब्रह्मवित्त्वपुण्यकृत्त्वयोरेकपुरुषसंबन्धकीर्तनात्, ज्ञानकर्मणोः समुच्चयोऽवसीयत इत्यर्थः । सत्यतपोब्रह्मचर्याणां च सम्यग्ज्ञानेन समुच्चयोऽपि क्वचित्प्रतिपाद्यत इत्याह—**सत्येनेति** । पराशरदक्षस्मृतिपर्यालोचनयाप्येवमेवावगम्यत इत्याह—**स्मृतिरपीति** । एवं निन्दावचनानां केवलकर्मविषयतायामुपपादितं हेतुमुपसंहरति—**तेनेति** । स्यादेतत्—ज्ञानमेव साक्षान्मोक्षसाधनम्, कर्माणि तु पापलक्षणप्रतिबन्धापाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानि, 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुतेः । तद्द्वारा च मोक्षसाधनमतः साक्षादभावपराणि निन्दावचनानि समुच्चयवचनानि तु साधनतया पारंपर्येण समुच्चयपराणि इत्यस्तु व्यवस्थेति, तत्राह—**न च मोक्षस्येति** । ननु 'कर्मणैव हि संसिद्धिमि' त्यादीनि कर्मणामपि साक्षान्मोक्षसाधनतां दर्शयन्तीति, तत्राह—**कर्मणैवेति** । यथाहि साक्षात् जीवनसाधनौदनादिसाधने लाङ्गलादौ लाङ्गलेन वयं जीवामह इति जीवनसाधनत्वव्यपदेशस्तद्वदित्यर्थः । नच युक्तमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**साक्षादिति** । वचनतस्तावत्साक्षात्साधनत्वं प्राप्तम्, तस्य बाधोऽयुक्तः, रागतः प्राप्तं हि बाध्यते, न शास्त्रतः प्राप्तम् । 'तुल्यं हि

से समुच्चयवाद का प्रतिपादन करती है—"तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च" (ब्रह्म-ज्ञान एवं पुण्यकर्म—दोनों का उपार्जन करने वाला योगी ही उस देवयान से जाता है—बृह० उ० ४।४।९) एवं "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्" (यह आत्मा, सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के समुच्चितानुष्ठान से प्राप्तव्य है—मुण्ड० ३।१।५) स्मृतियाँ भी यही कहती हैं, श्री पराशर ने (द्र० न्या० म० पृ० ३४०) कहा है—"तप से पाप की निवृत्ति और विद्या से अमृत की प्राप्ति होती है । हे महामुने ! उस आत्मा की प्राप्ति के हेतु ज्ञान तथा कर्म—दोनों कहे गये हैं" । दक्ष ने भी कहा है—"जैसे कि अन्न, मधु से और मधु, अन्न से संयुक्त होकर पुष्टिप्रद होता है, वैसे ही तप और विद्या—दोनों समुच्चित होकर एक महान् औषध का काम करते हैं ।" इन वचनों से प्रतिपाद्य समुच्चयवाद के अनुसार कर्म-निन्दा-प्रतिपादक वाक्यों का तात्पर्य केवल कर्म की निन्दा में ही मानना पड़ता है, ज्ञान-समुच्चित कर्म की निन्दा में नहीं । यदि कहें कि मोक्ष का साक्षात् साधन ज्ञान ही है, कर्म तो पाप-नाश के द्वारा ज्ञान के साधन हैं एवं "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (गी० ३।२०) आदि वाक्य वैसे ही कर्म में परम्परा से फल की साधनता बताते हैं, जैसे "लांगलेन वयं जीवामः" (हल के सहारे हम जी रहे हैं) आदि वाक्य हल में जीवन-साधनता बताते हैं । तो यह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि इस प्रकार तो कर्म में प्राप्त साक्षात् मोक्ष-साधनता के अन्वय का बाध हो जायगा । "नान्यः पन्था"—आदि निषेध वाक्यों

साधनसाधनत्वग्रहणे प्राप्तान्वयबाधप्रसङ्गात्। 'नान्यः पन्था'इत्यादेस्तु निषेधस्य केवलकर्मविषयतयान्तरेणापि प्राप्तान्वयबाधसंकोचेनाप्युपपत्तेः। न च वाच्यमन्वयबाध एवात्र युक्तः "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन," "धर्मात्सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते," "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये," "कपाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तत" इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यैः कर्मणां मोक्षसाधनसाधनत्वेन विनियोगादिति ; ज्ञानस्यैव कैवल्यसाधनत्वे 'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता'इति केवलविद्यानिन्दानुपपत्तेः। न च समुच्चयपक्षे 'नान्यः पन्था विद्यते, न कर्मणा, नास्त्यकृतः कृतेने'ति कर्मनिषेधानुपपत्तिः ; तद्वचनानां षड्यागवत्साक्षात्समप्रधानतया साधनतानिषेधपरत्वात्। अभ्युपगम्यते हि व्यव-

---

सांप्रदायिकम्।' इतरथा षोडशिग्रहणादावपि विकल्पानवकाशप्रसङ्गात्, निषेधस्य निषेध्यसापेक्षतया दुर्बलत्वाच्चेति भावः। ननु 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिवचनान्यपि ज्ञानव्यतिरिक्तं मोक्षसाधनं वारयन्ति, तथा च कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वे तेषु प्राप्तान्वयबाधः समान एवेति, तत्राह—**नान्यः पन्था इति**। यदिदं ज्ञानव्यतिरिक्तसमस्तनिवारकवचनस्य तदेकदेशे केवलकर्मविषये व्यवस्थापनम्, नायं बाधोऽपि तु संकोचः, श्रुतार्थस्य सर्वथा परित्यागाभावादित्यर्थः। अत्र यदानन्दबोधाचार्यैरुक्तम्, तदनूद्य दूषयति—**न च वाच्यमित्यादिना**। अन्वयबाधे हेतुमाह—**तमेतमित्यादिना**। अत्र हि वेदानुवचनोपलक्षितब्रह्मचर्याश्रमकर्मणां यज्ञदानोपलक्षितगार्हस्थ्याश्रमकर्मणां तपउपलक्षितवानप्रस्थाश्रमकर्मणां च विविदिषन्तीति वेदनेच्छायां वेदने वा विनियोगः प्रतीयते, तत्रापि वेदन इति तत्त्वम्। इच्छाया विषयसौन्दर्यज्ञानाधीनत्वात्, तथा धर्माज्ज्ञानमिति चात्मनोऽन्तःकरणस्य शुद्धये कर्म कुर्वन्तीति च 'कर्मभिः कषाये पक्के' इति च ज्ञानं प्रति चित्तशुद्ध्यादिद्वारेण विनियोगाच्छास्त्रेणैव व्यवस्थाया दर्शितत्वात्प्राप्तान्वयबाध एव युक्त इति भावः। नच वाच्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**ज्ञानस्यैवेति**। यदि हि केवलविद्यैव विधित्सिता ततस्तन्निन्दा नोपपद्येतेत्यर्थः। पूर्वं कर्मनिषेधवचनानां केवलकर्मविषयतया गतिरुक्ता, संप्रति गत्यन्तरमप्याह—**न च समुच्चयेति**। ननु यदि न समुच्चयस्तर्ह्यभ्युपगतहानिरिति तत्राह—**अभ्युपगम्यत इति**। नन्वस्माभिरपि साधनसाधनतया व्यवधानमेवाङ्गीक्रियते, तत्किमधिक-

---

का प्राप्त अन्वय के बाध के बिना ही केवल कर्म के निषेध-प्रतिपादन में संकोच कर देने से भी सामञ्जस्य हो जाता है। यह जो आनन्दबोधाचार्य ने (न्या० म० पृ० ३४२ पर) कहा है कि यहाँ अन्वय-बाध ही युक्त है ; क्योंकि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" (उस परमात्मा को ब्राह्मण गण वेदानुवचन, यज्ञ और दान के द्वारा जानना चाहते हैं–बृ.उ.४।४।२२) "धर्मात् सुखं च ज्ञानं च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते" (धर्म से सुख एवं ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष मिलता है), "योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये" (योगिगण आसक्ति का त्याग करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं—गी० ५।११), "कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" (कर्मानुष्ठान से चित्त-मलों के पक जाने पर ज्ञान का उदय होता है)—इस प्रकार के श्रौत-स्मार्त वाक्यों से कर्म में मोक्ष-साधन-साधनता का विधान किया जाता है। (वह आनन्दबोधाचार्य का कहना संगत नहीं ; क्योंकि) केवल ज्ञान यदि मोक्ष का साधन माना जाय, तब "ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" (ईश० ९)—इस प्रकार केवल ज्ञान की निन्दा उपपन्न कैसे होगी ? यह जो कहा जाता है कि समुच्चय पक्ष में "नान्यः पन्था विद्यते", "न कर्मणा", नास्त्यकृतः कृतेन"—आदि वाक्यों से कर्म का निषेध उपपन्न नहीं होगा। वह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि उक्त वाक्य, कर्मों में उस प्रकार की समप्रधानता का निराकरण करते हैं, जो समप्रधानता आग्नेयादि छह कर्मों में पाई जाती है। कर्मों में व्यवधान से मोक्ष-साधनता मानी ही

धानेन कर्मणां मोक्षसाधनत्वम् । व्यवधानत्वं च करणोपकारो, न तदुत्पादकत्वम् । न चैवमपि कर्मसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वदोषः 'तद्यथेहे'त्यादिश्रुतेः यत्कृतकं तदनित्यमिति न्यायाच्चेति युक्तम्; बन्धप्रध्वंसे कर्मणामुपयोगात्, बन्धप्रध्वंसस्य कृतकत्वेऽपि नित्यत्वात्, अन्यथा नष्टानिष्टप्रसङ्गात् । 'वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'इत्यत्र सन्वाच्येच्छायाः करणसंबन्धानुपपत्तावश्वेन जिगमिषतीत्यादाविवोभयवादिसंप्रतिपन्नेष्यमाणवेदनोत्पत्तावेव कर्मणां करणत्वावगमात्, न कर्मणां करणोपकारकत्वम्; करणे मुख्यार्थायास्तृतीयाश्रुतेः करणोपकारकत्वे भङ्गप्रसङ्गादिति न वाच्यम्; 'यज्ञेन विविदिषन्ती'त्यत्रापूर्वत्वाद्विधिपरवाक्ये विध्य-

---

माचरितमायुष्यतेति, तत्राह—व्यवधानत्वं चेति । प्रयाजादिवदेषामङ्गत्वम्, नतु प्रोक्षणादिवदित्यर्थः ।

ननु यद्यपि समप्रधानतया मोक्षसाधनत्वं नास्ति, तथापि करणोपकारकत्वे करणेतिकर्तव्यतयोरेकविषयतया कर्मसाध्यत्वं मोक्षस्य स्यात् । नच तद्युक्तम् 'यत्कृतकं तदनित्य'मिति न्यायानुगृहीततया 'तद्यथेह कर्मचितो लोक, इत्यादिश्रुत्यवगतानित्यत्वापातेनापुनरावृत्तित्वव्याघातादिति, तत्राह—न चैवमपीति । हेतुमाह— बन्धेति । ततः किमिति, तत्राह—बन्धप्रध्वंसस्येति । ननु कारणोपकारकत्वकल्पनमप्ययुक्तम्, 'तमेत'मिति श्रुतौ साधकतमार्थतया तृतीयया करणत्वप्रतिपादनादित्यानन्दबोधाचार्योक्तमुद्भाव्य दूषयति—वेदानुवचनेनेति । करणसंबन्धानुपपत्ताविति । उपसर्जनं ह्येषा या सन्वाच्येच्छा । नचायं लिङाद्यर्थवद्वाच्यार्थः, येन प्रत्ययार्थप्राधान्यं स्यात् 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः सनोऽन्यत्रे'ति च न्यायः । तदुपसर्जनमेषा । नचोपसर्जनेनान्वयो युक्तः, नोपसर्जनं पदं पदान्तरेण संबध्यते'इति न्यायात् । तस्मात्प्रधानवेदनेनैव संबध्यत इत्यर्थः । अश्वेनेति । यथा ह्यश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वस्य गमनं प्रत्येव साधनता, नतु गमनेच्छां प्रतीत्यर्थः । अथ करणोपकारकत्वेऽपि साधनत्वात्तृतीया किं न स्यादित्यत्राह—करण इति । नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुं दर्शयन्करणोपकारकपरतया वाक्यं योजयति—यज्ञेनेति । नन्वत्र विविदिषन्तीति वर्तमानोपदेशाद्विधायकमेवेदं न भवति, तत्राह—अपूर्वत्वादिति । यथा हि 'आश्विनं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाती' त्यादौ 'वचनान्यपूर्वत्वा'दिति न्यायेन विधिपरतया विधिविभक्तित्वेन परिणामः कृतः, यथा च 'समिधो यजती'त्यादावपूर्वत्वादेव लिङ्परिग्रहः कृतः, एवमत्रापीति भावः विध्यवच्छिन्नेति । प्रधानेन हि गुणानामन्वयः, भावना च प्रधानमिति तयैवेतरेषामन्वयः, पश्चाचारुणाधिकरणन्यायेन तमेवान्वयं निर्वोढुं योग्यतावशेन परस्परं पार्ष्ठिकोऽन्वय इत्यर्थः । अस्तु प्रकृते

जाती है (द्र० न्या० म० पृ० ३४३)। व्यवधान का अर्थ है—ज्ञान रूप करण के उपकार के द्वारा, न कि करणोत्पादन के द्वारा । यदि कहें कि मोक्ष को कर्म-साध्य मानने पर अनित्य भी मानना पड़ेगा, जैसा कि "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते"—यह श्रुति कहती है और "जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है"—यह न्याय भी है । तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि बन्ध के ध्वंस में कर्मों का उपयोग होता है और बन्ध-ध्वंस, कृतक होने पर भी नित्य होता है । अन्यथा नष्ट हुए बन्धरूप अनिष्ट की फिर प्राप्ति हो जायगी । यह जो आनन्दबोधाचार्य ने (न्या० म० पृ० ३४५ पर) कहा है कि "वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति"—यहाँ सन् प्रत्यय-वाच्य इच्छा में तृतीया-प्रतिपाद्य करणत्व के अन्वय की योग्यता न होने से "अश्वेन जिगमिषति", "काष्ठेन पिपक्षति", "दात्रेण लुलूषति"–आदि के समान ही "विविदिषन्ति"—यहाँ भी उभय-सम्मत इच्छा-विषयीभूत वेदन (ज्ञान) की उत्पत्ति की करणता ही कर्मों में माननी चाहिए, न कि कर्मों में करणोपकारकत्व । तृतीया का उपकारकत्व अर्थ मानने पर करणत्वरूप मुख्य अर्थ का बाध हो जायगा । वह आनन्द बोधाचार्य का कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि "यज्ञेन विविदिषन्ति"—यह अज्ञात-ज्ञापक होने से विधि वाक्य है, विधि वाक्य के सभी पदार्थों का भावनारूप वाक्यार्थ में प्रथम अन्वय हुआ करता है और उसके द्वारा पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है । उस भावना का यहाँ भाव्य (साध्य)

वच्छिन्नभावनारूपवाक्यार्थानुप्रवेशेनैव पदार्थानां परस्परसंबन्धात्, तस्याश्च भावनाया मोक्षभाव्यावच्छिन्नत्वात्, धात्वर्थस्य च स्वतोऽसमीहिततया भाव्यत्वानुपपत्तेः। ततश्चान्यार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वलक्षणकरणभाव एव धात्वर्थस्य। तथा च लब्धश्रौतधात्वर्थकरणायां भावनायां यज्ञादीनां करणत्वेनानुप्रवेशानुपपत्तेस्तदपेक्षितकरणोपकारद्वारेण तेषां संबन्धः, ततश्च यज्ञादिभिरुपकृत्येति वाक्यार्थः संपद्यते। न च शमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात् भावनाया यज्ञादीनां विधेयधात्वर्थकरणत्वेनैवान्वय इति वाच्यम्; उभयोरपि प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यत्वेनैवान्वयोपपत्तेः। तदेवं बाधकाभावात्साधकसद्भावाच्च कर्मसमुच्चितमेव ज्ञानं मोक्षसाधनमिति।

किमायातमिति, तत्राह—तस्याश्चेति। विविदिषन्तीत्यत्राख्यातविशेषलिङा शाब्दभावनाभिधीयते, आख्यातविशेषेण च पुरुषप्रयत्नरूपार्थभावनाप्यभिधीयते। सा च किं भावयेत ? केन भावयेत ? केनोपकृत्येति ? भाव्यकरणेतिकर्तव्यतालक्षणांशत्रयवती प्रतीयते, एतदाकाङ्क्षात्रयपूरकतयैव चेतरेषामन्वयः। तत्र च रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकमोक्षो भाव्यत्वेनान्वेतीत्यर्थः। ननु कथं मोक्षस्य भाव्यत्वम् ? यावता समानपदोपात्ततया श्रौतस्य धात्वर्थस्य भिन्नपदोपात्ततया वाक्यप्राप्तात् प्राकरणिकाद्वा मोक्षाद्बलीयस्त्वेन तस्यैव भाव्यत्वमिति, तत्राह—धात्वर्थस्य चेति। अयमर्थः—चेतनसमीहास्पदं हि फलम्, तत्साधनविधायिना चानेन वाक्येन भवितव्यम्, उपदेशत्वात्। तथा च भवतु नाम समानपदोपात्तो धात्वर्थः, तथापि दुःखात्मकत्वेनासमीहास्पदत्वान्न तस्य भाव्यत्वम्। अपि च न फलस्य वाक्यार्थत्वम्। इष्टसाधनरूपभावना हि लिङादिनाभिधीयते, तथा चेष्टमपि भाव्यमंभिहितमेव, तेन पदान्तरेण तु परं तस्यैव विशेषसमर्पणम्। अत एव 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यादौ तृतीयायोगश्च, तस्मात्समानपदोपात्ताद्धात्वर्थात्समानप्रत्ययोपात्तमोक्ष एव बलीयान्। यथाहुः—'समानप्रत्ययश्रुत्या बलीयस्या हि बाध्यते' इति। तस्मान्मोक्षस्यैव भाव्यत्वं न धात्वर्थस्येति, कथं तर्हि धात्वर्थस्यान्वय इत्याशङ्क्य करणतयेत्याह—ततश्चेति। अन्यार्थं स्वर्गमोक्षोद्देशेन प्रवृत्ता या भावना तया चान्तराले भाव्यत्वलक्षणो यः करणभावः स एव धात्वर्थस्य भवति, अत्र च फलव्यवच्छेदार्थमन्यार्थपदम्। कुठारादेरपि द्वैधीभावाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषप्रयत्नभाव्यत्वमेव हि करणत्वं तदत्रापि समानमित्यर्थः। तथापि यज्ञादेरितिकर्तव्यत्वे किमायातमिति, तत्राह—तथा चेति। लब्धं श्रौतं समानपदश्रुतिसिद्धं धात्वर्थलक्षणं करणं यया भावनया सा तथोक्ता। अत्रोपपत्तिर्भिन्नपदोपात्तस्य समानपदोपात्ताद् दुर्बलत्वादिति भावः। अन्वयप्रकारमेवाभिनयति—ततश्चेति। अत्र 'शान्तो दान्तः' इत्यादिवाक्यपरिप्राप्तशमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात्तद्द्वारेणाप्यनुप्रवेशो न युक्तः, तथाच तृतीयानुसारेण कारणकरणतयैवैषामन्वय इत्यानन्दबोधाचार्याः, तन्निषेधति—न चेति। भावनया हि साक्षाद-

---

है—मोक्ष, धात्वर्थ स्वयं कष्टरूप होने से साध्य नहीं बन सकता। अतः स्वर्गापवर्गादि के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष की भावना (कृति) का विषयत्व जो यागादि धात्वर्थ में है, वही करणत्व है। समानपद श्रुति से धात्वर्थ में जिसकी करणता प्राप्त है, उस भावना में करणत्वरूप से यज्ञादि का अन्वय न हो सकने के कारण भावनापेक्षित करण (ज्ञान) में उपकार-सम्पादन के द्वारा (इतिकर्त्तव्यत्व सम्बन्ध से) ही "यज्ञेन विविदिषन्ति—यहाँ यज्ञादि का अन्वय होता है। इस प्रकार "यज्ञादिभिरुपकृत्य ज्ञानेन मोक्षं भावयेत्"—यह वाक्यार्थ सम्पन्न होता है। यदि कहें कि "शान्तो दान्तः"—आदि वाक्य-प्रतिपाद्य शमादिरूप इतिकर्तव्य को पाकर ही भावना की इतिकर्तव्याकांक्षा शान्त हो जाती है, अतः यज्ञादि का इतिकर्तव्यरूप से अन्वय न होकर विधेय धात्वर्थ में करणत्वरूप से ही अन्वय होगा। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि यज्ञादि और शमादि में कोई विशेषता न होने के कारण दोनों का प्रयाजानुयाजादि के समान इतिकर्तव्यत्व सम्बन्ध से ही अन्वय हो जाता है। इस प्रकार बाधक के न होने और साधक के होने से कर्म-समुच्चित ज्ञान ही मोक्ष का साधन सिद्ध होता है।

तदिदमसुन्दरम् ; यज्ञादेः करणत्वेन श्रुत्यैव प्रतिपादनात् ।
शेषत्वाधिगतावेव प्रक्रमस्याप्युपक्षयात् ॥५॥

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेति तृतीयाश्रुत्या विधेयविज्ञानकरणत्वेन यज्ञादेः प्रतिपादनात्, तेषां फलोपकार्यङ्गत्वकल्पने श्रुतिबाधकप्रसङ्गात् । न च प्रकरणप्रमाणेन प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यतात्वमेव यज्ञादीनां शमादिवदिति वाच्यम्; प्रकरणस्य सामान्यतः शेषत्वबोधनेनैव चरितार्थत्वात्तद्विशेषं प्रति श्रुत्यादीनामेव प्रमाणत्वात् । तस्माद्-

---

न्वयः श्रेयान्, तथा च प्रकरणेन शमादिवदेव यज्ञादीनामपीतिकर्तव्यतयैवान्वय इत्यभिमानः ।

पूर्वपक्षिणा एवमुपपादितं समुच्चयं दूषयति सिद्धान्ती—तदिदमिति । यज्ञादेस्तृतीययैव तावद्विधेयभावनां प्रति करणत्वं प्रतीयते, यद्यदि साक्षान्न संभवति, तर्हि परंपरयापि करणत्वमेव श्रेयः, श्रुतिलोभात् । इतरथा प्रकरणलोभेन श्रुतिबाधः स्यात्, नच तद्युक्तम्, श्रुत्यपेक्षया द्व्यन्तरितत्वात्तस्य । नच प्रकरणस्य श्रुतिविरोधशङ्काप्यस्तीत्याह—शेषत्वेति । सामान्यसंबन्धबोधकं हि प्रकरणम्, विशेषस्तु श्रुत्यादिभिरेव प्रार्थनीयः । क्वचित्तु श्रुतिलिङ्गवाक्यानामप्रवृत्तौ प्रकरणेन विशेषविनियोगः । यथाहुः—'असंयुक्तं प्रकरणाद्' इति । श्रुत्यादिनाऽसंयुक्तं प्रकरणाद्विनियुज्यत इत्यर्थः । तस्मात्सामान्यसंबन्धबोधिनः प्रकरणस्य न करणतया विशेषसंबन्धबोधकश्रुत्या विरोधः । अत एव नागृह्यमाणविशेषता, यज्ञादेस्तृतीयाश्रुत्या करणत्वप्रतिपादनात्, शमादेश्च तदभावादिति भावः । श्लोकं विवृणोति—विविदिषन्तीत्यादिना । उत्तरार्धं व्याचष्टे—न च प्रकरणेति । प्रयाजानुयाजादिवदित्यगृह्यमाणविशेषतायां दृष्टान्तः । शमादिवदिति चेतिकर्तव्यतायाम् । श्रुत्यादीनामेवेति । प्रकरणेनैव शेषगतकर्मत्वकरणत्वादिलक्षणविशेषसिद्धौ तद्विशेषबोधकश्रुत्यादिवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति भावः । स्यादेतत्—यदि विधेयधात्वर्थकरणतया यज्ञादयो विधीयन्ते तर्हि भावनां प्रति धात्वर्थः, तं प्रति यज्ञादय इति वैरूप्याद्वाक्यभेद इति चेत्, न; विशिष्टविधानत्वेन दोषाभावादित्यभिप्रेत्याह–तस्माद्व्रीहिभिरिति । यथाहि व्रीहिभिरित्यत्र यागलक्षणकरणशरीरनिर्वर्तकतया भावनान्वयस्तथेहापीत्यर्थः । इदं तु चिन्त्यं कथमुदाहरणसाङ्गत्यमिति ? नहि व्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र यागो विधीयते येन विशिष्टविधानं स्यात्किंत्वधिकारवाक्यसिद्धयागानुवादेन व्रीहय एव विधीयन्ते, तस्मात्करणकरणतामात्र एवेदमुदाहरणम् । उदाहरणं तु 'सोमेन यजेत' इत्यादि । तथा चैकभावनावरोधान्न वाक्यभेदप्रसङ्गः । अत एव च यज्ञाद्यनेकगुणा अपि शक्यन्ते विधातुम्, प्राप्ते हि कर्मण्यनेकगुणविधानानुपपत्तिः । यथाहुः—

'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः ।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ॥' इति । (तं० वा० २।२।६।)

तस्मात् 'सोमेन यजेते'तिवत् 'यज्ञेन विविदिषन्ती'ति विशिष्टविधानम् । अपरे तु 'प्रज्ञां कुर्वीते'ति हि विज्ञानानुवादेन यज्ञादिगुणो विधीयत इति वदन्ति, तत्पक्षे वाक्यभेदो दुष्परिहरः । एतच्च ज्ञानविधिमङ्गीकृत्योक्तम्, वस्तुतस्तु ज्ञाने नास्त्येव विधिः, पुरुषेच्छानधीनत्वात् । यथा च ज्ञानविधानं न घटते तथा कार्यवादे एव प्रपञ्चितम् । तस्मादपरोक्षज्ञानं परमसुखसाक्षात्कारतया फलमनूद्य चित्तशुद्धिद्वारा तत्साधनत्वेन यज्ञादयो

समुच्चयवाद-खण्डन—समुच्चयवाद युक्त नहीं ; क्योंकि यज्ञादि में करणता का प्रतिपादन तृतीया श्रुति ने ही कर दिया है । प्रकरण भी श्रुति से अविरुद्ध शेषत्व (अङ्गत्व) का ही बोधक है । अर्थात् "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन"—यहाँ तृतीया श्रुति यज्ञादिनिष्ठ, विधेय ज्ञान की कारणता का ही प्रतिपादन करती है । यज्ञादि में फलोपकारित्वरूप अङ्गत्व की कल्पना करने पर उक्त श्रुति का बाध हो जायगा । यह जो कहा कि प्रकरण प्रमाण से प्रयाजानुयाज के समान ही यज्ञादि और शमादि में अविशेष रूप से इतिकर्तव्यता ही होती है । वह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि प्रकरण प्रमाण तो सामान्यरूप से शेषत्व का ज्ञान कराकर ही चरितार्थ हो जाता है, शेषत्व-विशेष का प्रतिपादन करना श्रुति-आदि का ही काम है । अतः "व्रीहिभिर्यजेत"—आदि के समान ही करण-

'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादाविव करणशरीरनिर्वर्तकतया च यज्ञादीनां करणत्वं यज्ञेनेतितृतीयाश्रुत्या निश्चीयते। यज्ञादिभिरुपकृत्येति व्याख्याने साध्याहारयोजनाप्रसङ्गात्। न च यज्ञादीनां श्रवणादिवत्साक्षाद्विज्ञानसाधनत्वाभावात् करणत्वानुपपत्तिः; परम्परासाधनेष्वपि लोके वेदेऽपि करणत्वाभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते हि ज्वालाव्यवधानेनैव काष्ठानां पाके करणत्वम्, अपूर्वव्यवधानेनैव स्वर्गे यागस्य। तथेहापि परिपन्थिदुरितशोधनव्यवधानेन यज्ञादेर्विज्ञानकरणतायां न कश्चिद्विरोधः। तदेवं तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेर्विज्ञानकरणत्वाधिगतौ सर्वाण्यपि समुच्चयवचनानि परम्परासमुच्चयप्रतिपादनपराणीत्यभ्युपेयम।

न च केवलविद्यानिन्दानुपपत्तिः;

निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेऽपि संभवात्।
प्रक्रमस्यापि बाध्यत्वाद् बलीयस्या तृतीयया ॥६॥

निन्दाया देवताविज्ञानविषयत्वेनाप्युपपत्तेः। न च परमात्मोपक्रमविरोधः; 'यज्ञेन'इति तृतीया-

---

विधीयन्ते, नच वाक्यभेदो दोषाय, गत्यन्तराभावात्। नच भावनाया वाक्यार्थता, तत्र संगत्यग्रहात्। सिद्धार्थनिष्ठवाक्यानां कार्यवाद एव समर्थनात्, प्रवर्तकवाक्यानामपीष्टसाधनत्वमात्र एव विश्रान्तत्वात्, प्रवृत्तेस्स्वर्थसिद्धत्वात्। यथा चेष्टसाधनमेव लिङर्थस्तथा दर्शितं कार्यवादे। शब्दभावना तु दूरोत्सारिता, प्रमाणाभावात्। नहि शब्दस्य सङ्गतिग्रहणं तत्संस्कारोद्बोधं चान्तरेण शब्दभावना नाम कश्चिद्व्यापारः संभवतीति। किंच त्वत्पक्षे यज्ञादिभिरुपकृत्य वेदनेन मोक्षं भावयेदिति योजनीयम्। तथाचाश्रुतमध्याहरणीयम्, उपकृत्येत्यश्रुतत्वात्, मत्पक्षे तु न किंचिदध्याहार्यम्, तृतीयया करणतायाः श्रुतत्वादित्याह—यज्ञेति। ननु यद्यपि तृतीयया करणत्वं यज्ञादीनां ज्ञानं प्रति श्रूयते, तथापि तन्न संभवति, प्रमाणाधीनस्य ज्ञानस्य यज्ञाद्यजन्यत्वात्। नहि प्रत्यक्षादिमध्ये यज्ञादयः किंचित्प्रमाणम्, अतो यथाश्रुतार्थासंभवादध्याहृत्यापि योजनं श्रेय इति, तत्राह—न च यज्ञादीनामिति। यद्यपि साक्षाज्ज्ञानं प्रति न साधनम्, श्रवणादीनामेव तत्त्वात्, तथापि यज्ञादेः परंपरया संभवति, तदप्यभ्यर्हितमेव, इतरथा श्रुतिबाधप्रसङ्गात्। नच निर्देशायुक्तिः, लोकवेदयोर्दृष्टचरत्वादिति भावः। परिपन्थीति। परिपन्थिभूतं यद्दुरितं तत्प्रतिशोधनेन यद्व्यवधानं तेनेति योजना। एवं श्रुत्यैव साधनसाधनताया दर्शितत्वात्साधारणसमुच्चयवचनान्येतदानुगुण्येन परंपरया समुच्चये व्यवस्थापनीयानीत्याह—तदेवमिति। दुर्बलं हि वाक्यं श्रुतेरिति भावः।

यत्केवलविद्यायाः साधनत्वे 'ततो भूय' इति तन्निन्दा नोपपद्यते, विधित्सितस्य निन्दायोगादिति, तच्च श्लोकेन परिहरति—निन्दाया इति। यत्त्वीशावास्ये परमात्मोपक्रमविरोधान्न देवताविज्ञानस्य निन्दा वा समुच्चयो वोपपद्यत इति, तत्राह—प्रक्रमस्येति। विवृणोति—निन्देति। एवमुपासनाविषयत्वेन

स्वरूप-सम्पादकता होने के कारण यज्ञादि में करणता, तृतीया श्रुति से निश्चित होती है। "यज्ञादिभिरुपकृत्य"—ऐसा व्याख्यान करने पर कुछ अध्याहार (अश्रुताक्षेप) करके ही अन्वय करना होगा, किन्तु हमारे पक्ष में यह दोष नहीं। 'यज्ञादि में श्रवणादि के समान साक्षात् ज्ञान-साधनता न होने से करणत्व नहीं बनता'—यह कहना उचित नहीं; क्योंकि परम्परा के (व्यवहित) साधन भी लोक और वेद में करण माने जाते हैं। जैसे कि ज्वाला के व्यवधान से काष्ठों में पाक की करणता, अदृष्ट के व्यवधान से याग में स्वर्ग की करणता मानी जाती है। वैसे ही प्रकृत में भी विरोधी पाप के शोधन के द्वारा यज्ञादि में ज्ञान की करणता मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं। इस प्रकार तृतीया श्रुति से यज्ञादि में विज्ञान की करणता का निश्चय हो जाने पर समुच्चय-प्रतिपादक वचनों का परम्परा-समुच्चय में तात्पर्य मानना होगा।

केवल विद्या की निन्दा भी अनुपपन्न नहीं; क्योंकि वह निन्दा, देवता-ज्ञान-विषयणी भी सम्भव हो सकती है। प्रकरण प्रमाण का बाध, प्रबल तृतीया श्रुति से हो जाता है। अर्थात् केवल

श्रुतेः प्रक्रमाद् बलीयस्त्वेन तद्बाधेऽप्यविरोधात् । क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाप्युपपत्तेश्च , 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति पौर्वापर्याभिधनात् । 'सह वेद'इति च वेदन एव सहभावश्रवणात् । प्रक्रमानुरोधेनात्मविद्याविषयत्वेऽप्यपरिपक्वात्मज्ञानविषयतयाप्युपपन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—विद्यापरिपाकात्प्रागेव ये यथास्वं विहितं नित्यादिकर्म त्यजन्ति, तेषामुपात्तदुरितक्षयाभावाद्विहिताकरणनिमित्तप्रत्यवायस्याहरहरुपचीयमानत्वेनाशुद्धान्तःकरणतया परिपक्वात्मविद्यानुदयात् , न कैवल्यम् । शुभकर्मपरित्यागाच्च नाभ्युदय इत्यात्यन्तिक एवाधःपातः स्यादिति । तत्रैषाक्षरयोजना—विद्यां परिपक्वात्मज्ञानलक्षणाम् , अविद्यां च कर्मलक्षणां यः सह उपायोपेयभावेन वेद । सोऽधिकृतः पुरुषोऽविद्यया कर्मलक्षणया विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं मृत्युपदवेदनीयं पापं तीर्त्वा विद्यया परिपक्वसाक्षात्कारलक्षणयाऽमृतं निर्वाणम् अश्नुत इति ।

परिहारोऽभिहितः, इदानीमस्तु परमात्मविद्यैवोपक्रमानुसारेण, तथापि न विरोधः, उपायोपेयभावेन क्रमसमुच्चयपरतयाप्युपपत्तेरित्याह—क्रमेति । न केवलमुपपद्यत इत्येतावन्मात्रम् , अपि त्वेवमेवोपपद्यते, इतरथा क्रमश्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गादित्याह—अविद्ययेति । ननु परम्परापक्षे सह वेदेति फलं प्रति साहित्यमनुपपन्नमिति, तत्राह—सहेति । उपायत्वज्ञान एव सहभावो, नतु फलं प्रतीति भावः । नन्वस्मिन्पक्षे कथं निन्दोपपत्तिः ? नहि प्रक्रमानुसारेण परमात्मविद्याकर्मणोः परंपरया समुच्चयस्वीकारे साक्षात्साधनभूतकेवलविद्यानिन्दोपपद्यत इति, तत्राह—प्रक्रमेति । उपपन्नत्वान्निन्दाया इति शेषः । अयमर्थः—नास्मिन्पक्षेऽविद्यानिवर्तनसमर्थकेवलात्मविद्याविषया निन्दा, किं तर्ह्यपरिपक्वात्मविद्याविषया । तथा च—यावत्परिपक्वब्रह्मविद्योदयमाश्रमादिविहितकर्माण्यनुष्ठेयानीति फलिष्यतीति । उक्तार्थे 'ततो भूय' इति वाक्यं योजयति—एतदुक्तमिति । अन्तःकरणशुद्धेः प्रागेवापाततज्ञानोदयमात्र एव कृतार्थमन्याः सन्तो ये यथाविहितानि चित्तशोधकानि कर्माणि त्यजन्ति उभयभ्रष्टाः समुपचितदुरितनिचयाश्चात्यन्तमधः पतन्तीत्यर्थः । एवं निन्दावाक्यं योजयित्वा 'विद्यां चाविद्यां च'त्ये तदपि क्रमसमुच्चयपरतया योजयति—तत्रैषेति ।

ज्ञान की जो निन्दा श्रुति में पाई जाती है, वह देवता-ज्ञान की है, न कि ब्रह्म-ज्ञान की । यह जो कहा था कि श्रुतिस्थ 'विद्या' पद का देवता-ज्ञान अर्थ करने पर प्रकरण का विरोध होगा । वह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि "यज्ञेन"—यह तृतीया श्रुति प्रकरण से प्रबल है, अतः इससे प्रकरण का बाध होने में विरोध क्या ? प्रकरण का बाध न करके भी समुच्चय-प्रतिपादक वाक्यों का क्रम-समुच्चय में तात्पर्य मानकर सामञ्जस्य किया जा सकता हैं ; क्योंकि "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"—यह श्रुति दोनों में पौर्वापर्य का अभिधान कर रही है । "सह वेद"—इस प्रकार वेदन में ही सहभाव श्रुत है, फल में नहीं । प्रकरण के अनुसार 'विद्या' शब्द का आत्म-विद्या अर्थ करके भी अपरिपक्व आत्म-ज्ञान की निन्दा मानी जा सकती है । आशय यह है कि विद्या की परिपक्वता से पूर्व ही ज़ो लोग अपने वर्णाश्रमानुरूप विहित नित्यादि कर्मों का परित्याग कर देते हैं, उनके सञ्चित पाप का क्षय न होने से विहिताकरण-जन्य पाप दिन-दिन बढ़ते रहते हैं, अन्तःकरण अशुद्ध होने से परिपक्व आत्म-ज्ञान का उदय नहीं होता, अतः उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती । शुभ कर्मों का परित्याग हो जाने से अभ्युदय की प्राप्ति भी नहीं होती । वे उभय-भ्रष्ट होकर नितान्त पतित हो जाते हैं । इस अर्थ में उक्त श्रुति की अक्षर-योजना इस प्रकार है—जो विद्या (परिपक्व आत्म-ज्ञान) और अविद्या (कर्म) को उपाय-उपेयभाव से समुच्चित जानता है, वह अधिकारी पुरुष उक्त अविद्या (कर्म) से ज्ञानोत्पत्ति-प्रतिबन्धक मृत्यु (पाप) को हटाकर विद्या (परिपक्व आत्म-साक्षात्कार) से मोक्ष रूप अमर पद की प्राप्ति करता है ।

इदमत्राकूतम्—आविद्यापरिपाकाद्यथास्वं कर्मानुष्ठेयम्, विद्या तु परिपक्का कर्मनिरपेक्षैव मोक्षं साधयिष्यतीति। समुच्चयवादिनोऽपि न तावत्काम्यकर्मणां समुच्चयः, तस्य मुमुक्षुणा परित्यागात्। नापि नित्यनैमित्तिकैः, तत्तदाश्रमविहितानां तेषामुत्कर्षापकर्षवत्त्वात्कर्मभूयस्त्वात्फलभूयस्त्वन्यायेन कैवल्यफले तावभ्युपेयाविति स्वर्गवदपवर्गस्यापि सातिशयत्वेनानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। तस्माज्ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमित्यभ्युपेयम्। 'सत्येन लभ्यस्तपसा' इत्यत्रापि सत्यादीनां ज्ञानसाधनत्वम्, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमित्यभ्युपेयम्; विविदिषावाक्ये यज्ञादीनां विज्ञानसाधनत्वस्यावधृतत्वात्। 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्' इति ब्रह्मवि-

---

फलितं संकलय्य दर्शयति—इदमिति। अथवा स्वाश्रमविहितं कर्मानुष्ठेयम्, विद्या तु केवला मोक्षसाधनमिति विरोध इति, तत्राह—इदमिति। चित्तशुद्धिपर्यन्तं यज्ञाद्याश्रमकर्माण्यनुष्ठेयानि, शुद्धे तु चित्ते सर्वकर्मसंन्यासलक्षणं पारिव्राज्यमास्थितेन साधनचतुष्टयसम्पन्नेन श्रवणाद्यावर्तनीयम्। ततश्च मनननिदिध्यासनशमदमाद्यनेकविधेतिकर्तव्यतोपेतपरिनिष्पन्नश्रवणस्यासति प्रतिबन्धे वर्तमानशरीर एवापरोक्षज्ञानं जायते, उत्पन्नं त्वपरोक्षज्ञानमन्यानपेक्षमेवाविद्यां निवर्तयतीति भावः। एतेन शिखायज्ञोपवीतत्यागोपलक्षितपारमहंस्यसन्यासोऽपि समर्थितः। कर्माङ्गभूतानां शिखादीनां शेषिकर्मपरित्यागे सुतरां परित्यागात्, श्रुतिस्मृतिशतेन च ज्ञानाङ्गत्वेन तत्त्यागस्य विधानात्। विचीर्णे चात्रापरिमितमतिभिस्तैस्तैराचार्यैरिति नास्माभिः पराक्रम्यते। किंचेदं समुच्चयवादी प्रष्टव्यः—किं काम्यकर्मभिः समुच्चयः ? नित्यनैमित्तिकैर्वा ? नाद्य इत्याह—समुच्चयेति। इहामुत्रार्थभोगविरक्तो हि मुमुक्षुरिति भावः। द्वितीयं दूषयति—नापीति। नहि सर्वेष्वाश्रमेषु समानानि कर्माणि। नहि गृहिणो यावन्ति तावन्तीतरेषाम्। उक्तं हि 'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः' इति। तस्मात्तदुत्कर्षापकर्षाभ्यां साध्यमोक्षेऽपि तौ स्याताम्, इतरथाधिकानुष्ठानस्य व्यर्थत्वेन निर्विकारतयानुष्ठानस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अत एव ह्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिफलस्वर्गेऽपि वैषम्यं कल्प्यते। यथाहुरर्थवादाधिकरणे वार्तिककृतः—

'कर्मणामल्पमहतां फलानां च स्वगोचरः। विभागः स्थानसामान्यादविभागोऽपि चोदितः' ॥ इति ॥

तस्मादुच्चावचतयाऽनित्यत्वादिदोषो मोक्षस्य स्यात्, नित्यनिरतिशयानन्दात्मकश्च मोक्षः श्रुत्यादिषु प्रसिद्ध इति भावः। या चापरा समुच्चये श्रुतिः प्रमाणिता; तामपि पारंपर्यपरतया योजयति—सत्येनेति। ननु सत्येन सम्यग्ज्ञानं न ब्रह्मचर्येणैष आत्मा लभ्यत इत्यात्मलाभे समशिष्टानां सत्यादीनां मध्ये कस्यचित्पारंपर्येण कस्यचित्साक्षादिति कल्पने वैरूप्यं स्यादिति तत्राह—विविदिषेति। अनन्यथासिद्धश्रुतिबलादेव वैरूप्यमपि न दोषायेत्यर्थः। श्रुत्यन्तरेऽप्यन्यथासिद्धिमाह—तेनेति। नेयं श्रुतिः परब्रह्मविषया, तेनैति गच्छति इति मार्गे समुच्चयश्रवणात्, परब्रह्मणि च गत्यानर्थक्यादसंभवाच्च। अविद्यामात्रव्यवहितं तत्, अविद्या चेहैव ब्रह्मतत्त्वविद्यया प्रविलीना। नच विगलितनिखिलस्थूलसूक्ष्मोपाधिजालस्य

फलितार्थ यह है कि जब तक विद्या का परिपाक न हो, तब तक अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए। विद्या परिपक्व होकर कर्म-निरपेक्ष ही मोक्ष की सिद्धि कर देगी। समुच्चयवादी के मत में भी काम्य कर्मों का समुच्चय तो हो नहीं सकता; क्योंकि मुमुक्षु ने उनका परित्याग कर दिया है। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का भी ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं हो सकता; क्योंकि विभिन्न आश्रमानुगुण विहित कर्मों में उत्कर्षापकर्ष पाया जाता है। ऐसे कर्मों से जन्य मोक्ष में भी उत्कर्षापकर्ष मानना होगा; क्योंकि यह नियम है कि कर्म के उत्कर्ष से फल में उत्कर्ष और अपकर्ष से अपकर्ष आया करता है। इस प्रकार स्वर्ग के समान मोक्ष में भी सातिशयत्व और अनित्यत्वादि दोष प्राप्त होते हैं। अतः ज्ञान ही मोक्ष का साधन है—यह मानना होगा। "सत्येन लभ्यस्तपसा"—यहाँ सत्यादि से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष—यही अर्थ करना होगा; क्योंकि विविदिषा—वाक्य से यज्ञादि में ज्ञान-साधनता का निश्चय हो गया है। "तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्"—

त्पुण्यकृतोर्मार्गे समुच्चयः, मार्गश्च कार्यब्रह्मगोचरः, 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' इत्यत्र राद्धान्तितत्वात् । एवं चोदाहृताः स्मृतयोऽपि क्रमसमुच्चयपरतया श्रुत्यनुसारेण योजनीयाः । तस्माज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य–
श्रीचित्सुखाचार्यविरचिततत्त्वप्रदीपिकायां
तृतीयः परिच्छेदः ।

व्योमवत्सर्वगतचैतन्यैकरसस्य गमनमुपपद्यते । सूत्रकारोऽपि 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वा'दिति पूर्वपक्षय्य 'कार्यं ब्रह्म गन्तव्यं बादरिराचार्यो मेने, कुतः ? अस्य हि ब्रह्मणो गतिरुपपद्यते, प्रदेशावच्छिन्नतयोपासनात्, तत्फलस्यापि तादृशत्वादवधृतोपाधित्वाच्चे'ति सिद्धान्तयांबभूव, तथा गतेरर्थवत्त्वमुभयथा, अन्यथा हि विरोध इति निर्गुणविद्यासु गत्युपसंहारं वारयति । तस्मान्न परब्रह्मविषयेयमित्यर्थः । एवं श्रुतीरन्यथयित्वा स्मृतिष्वप्यतिदिशति—**एवं चेति** । तदेवं तृतीयाश्रुत्येति ग्रन्थे साधारण्येनोपसंहारः, इह तु विशेषतः स्मृतीनामित्यजामिता । वादार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** ।

शब्दः साक्षात्कारहेतुर्विद्या मुक्तिफलप्रदा । विद्यैव न तु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्स्वरूप-
भागवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां
तृतीयः परिच्छेदः ।

यहाँ ब्रह्मवेत्ता और पुण्यकर्त्ता के मार्ग का समुच्चय बताया गया है, वह मार्ग कार्य ब्रह्म का है, पर ब्रह्म का नहीं । ऐसा ही "कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः" (वे०सू० ४।३।७) इस सूत्र में सिद्धान्त किया गया है । इसी प्रकार उदाहृत स्मृति वाक्यों की भी श्रुति के अनुसार ही क्रमसमुच्चयपरक व्याख्या करनी होगी । इस प्रकार ज्ञान में ही मोक्ष-साधनता सिद्ध हो गई ।

यद्भासनक्षीणपराक्रमत्वा-
ज्जिह्वेति रात्रौ जगदेकचक्षुः ।
तद्भासकं शब्दमहो निधत्ते
नैयायिकः खेऽर्कनिपातशङ्की ॥

तृतीयः परिच्छेदः

चतुर्थः परिच्छेदः ।

कः पुनरयं मोक्षः ? न तावद्विषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमः ; तज्ज्ञानसंतानस्यात्मरूपतया तदुच्छेदस्यापुरुषार्थत्वात्, न हि सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छेदाय वाञ्छा कस्यचिदुपजायते, बन्धविमोकपर्यायस्य मुक्तिशब्दस्यातंदर्थत्वाच्च । न हि बद्धनाशो मोक्षपदवाच्यः, किं तु सत एव तस्य बन्धविश्लेषः । नापि विधूतविषयाकारोपप्लवविशुद्धविज्ञानसन्तानोदयः, विकल्पासहत्वात् । तथा हि—किमयं सन्तानिनां पुरुषार्थः ? किं वा सन्तानस्य ? नाद्यः ; तेषां स्वरसपरिनिर्वाणात् । नोत्तरः ; तथाविधसन्तानोदयेऽपि मुमुक्षोरु-

---

तृतीये त्रिविधोपायः परिच्छेदे परीक्षितः । तुरीयं तु तुरीयेऽस्मिन्मुक्तितत्त्वं परीक्ष्यते ॥ १ ॥

साधनविचारानन्तरं फलविचाराद्धेतुहेतुमल्लक्षणः संबन्धः परिच्छेदयोरतिस्फुटः, तावच्छून्यवादकक्षाकृतमोक्षं निराचष्टे—**न तावदित्यादिना** । विषयाकारैर्नीलपीताद्याकारैरुपप्लुतो दूषितो यो विज्ञानसन्तानः तस्योपरमो विनाशो मोक्षः । उक्तं हि—'प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य तायिन' इति, एवं न संभवतीत्यर्थः । हेतुमाह—**तज्ज्ञानेति** । नहि क्षणिकविज्ञानसन्ततिव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा भवद्भिरुपगम्यते, तेन सन्तत्युच्छेदो नाम स्वरूपोच्छेद एव, नचैवंविधे प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः संभवति, अफलत्वात् । फलिनोऽभावे हि कस्य तत्फलं स्यादिति भावः । किंच मुक्तिशब्दार्थपराहतश्चायं मोक्षः । नहि बद्धस्य नाशो मोक्षः, मुच्लृ मोक्षणे इति मुचेर्विश्लेषकर्मणो मुक्तिशब्दव्युत्पत्तेः, तस्मात्स्वतः सकाशाद्बन्धस्य विश्लेषो मोक्षशब्दार्थः, न पुनः स्वरूपनाशः, नच्चैवं भवन्मोक्ष इत्याह— **बन्धेति** । एवं माध्यमिकमुक्तिं दूषयित्वा योगाचारमुक्तिं दूषयति —**नापीति** । चतुर्विधभावनापरिपाकावसाने यो विषयाकारैरुपप्लवरहितो नाम स एव विशुद्धानां विज्ञानानां सन्तानोदयस्तद्रूपो मोक्ष इत्यपि नेत्यर्थः । **परिनिर्वाणं** नाशः । स्वरसभङ्गुरविज्ञानलक्षणसन्तानिनां चिरध्वस्ततया पश्चाद्भाविसन्तानान्तरोदयस्तेषां न पुरुषार्थः, फलिनोऽभावे फलाभावादित्यर्थः । **मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानस्येति** समानाधिकरणषष्ठ्यौ । अत्रापि पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तिः, उपप्लुतसन्तानरूपमुमुक्षोर्नष्टत्वादित्यर्थः । किंच यस्य बन्धस्तस्य मोक्ष इत्येतदपि न तव मते स्यात्, उपप्लुतानुपप्लुतसन्तानयोर्भे-

---

तुरीयेऽस्मिन् परिच्छेदे परिच्छेदविवर्जितम् ।
परिच्छिनत्ति संच्छेत्ता तुरीयं धाम मामकम् ॥

पूर्वपक्ष—यह मोक्ष क्या है ? (द्र० न्या० म० पृ० २६९) विषय के आकारों से दूषित विज्ञान-सन्तान का माध्यमिक-सम्मत नाश, मोक्ष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह ज्ञान-सन्तान आत्मस्वरूप है, अतः उसका उच्छेद पुरुषार्थ नहीं हो सकता; क्योंकि सबसे प्रिय आत्मा के समुच्छेद की इच्छा किसी की नहीं होती । बन्ध-विमोचन का पर्याय मोक्ष शब्द सन्तान-विनाश का वाचक भी नहीं हो सकता । बद्ध पुरुष का नाश कभी मोक्ष शब्द का अर्थ नहीं होता, अपितु उस पुरुष के रहने पर ही उसके बन्धन का नाश मोक्ष पद-वाच्य होता है । योगाचार–सम्मत, विषयाकार-रहित, शुद्ध विज्ञान-सन्तान के उदय को भी मोक्ष नहीं कह सकते; क्योंकि यहाँ जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार का विशुद्ध सन्तानोदय किसका पुरुषार्थ है ? सन्तानगत क्षणों का ? या सन्तान का ? प्रथम पक्ष उचित नहीं; क्योंकि वे विज्ञानक्षण स्वाभावतः क्षणभङ्गुर हैं, चिरातीत विज्ञानक्षणों का पश्चाद्भावी शुद्ध सन्तानोदय मोक्ष कैसे बनेगा ? द्वितीय पक्ष में भी वही दोष है; क्योंकि वैसा सन्तानोदय

पप्लुतसन्तानरूपस्योपरमात् । बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापाताच्च । उभयान्वयिनः सन्तानिनः सन्तानस्य वैकस्याभावात्, कारणाभावाच्च । भावनाप्रकर्षो हि तस्य कारणमिष्यते, तस्य स्थिरैकाधिकरणाभावे विशेषानाधायकत्वात् । सन्तानस्यावस्तुत्वात् सन्तानिनां च प्रतिक्षणमपूर्ववदुपजायमानत्वेनानासादितभावनाप्रकर्षतया विशुद्धविज्ञानजननासामर्थ्यात् ।

दात्, तथा च कः प्रवर्तेत ? इत्याह—**बन्धेति**। अथोभयसंतानान्वयी कश्चिदस्ति, तथा च सामानाधिकरण्यं बन्धमोक्षयोरिति, तत्राह—**उभयेति** । सन्तानिनस्तावत्क्षणिकत्वादेवाऽननुवृत्तिः, सन्तानस्य सन्तानाभावादेकसन्तानापाताच्च सन्तानाननुवृत्तिरित्यर्थः । किंच स्वपक्षे उपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमे विशुद्धविज्ञानसन्तानोदये च कारणमपि दुर्निरूपमित्याह—**कारणेति** । नन्वस्ति चतुर्विधभावनाप्रकर्षपर्यन्तजनितसाक्षात्कार उपाय इति, तत्राह—**भावनेति** । ततः किमिति, तत्राह—**तस्येति** । नह्यन्यत्रानुभवोऽन्यत्र संस्कारोऽन्यत्र च तत्फलं स्मृतिरिति संभवति, नहि जातु यज्ञदत्तोऽनुभवति विष्णुमित्रश्च तत्संस्कारवान्, देवदत्तश्च तस्य स्मर्तेति दृष्टचरम् । तदिहानपायिनः कस्यचिदभावे क्व संस्कारः ? क्व वा तत्प्रकर्षः क्व च तत्फलं मुक्तिः ? स्थिरत्वेऽपि भिन्नाधिकरणत्वे न संभवति, किमु वक्तव्यमेकस्याप्यभाव इत्यर्थः । ननु सन्तानिषु सन्तान एवानुगतो विशेष आधीयतां उक्तं हि—

'यस्मिन्नेव हि संतान आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा' इति ।

तत्राह—**संतानस्येति** ।

अब हुआ है, अनन्तवासना-दूषित सन्तानरूप मुमुक्षु पहले ही मर चुका है । एवं बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य भी हो जाता है; (क्योंकि आपके मत में सब कुछ क्षणिक है, अतः बन्धन और मोक्ष—उभय का आश्रय न तो एक सन्तानी होता है और न एक सन्तान, फिर तो बन्धन किसी दूसरे में तथा मोक्ष होगा दूसरे में—यही मानना होगा) । विशुद्ध सन्तानोदय का कोई कारण भी-प्रतीत नहीं होता ; क्योंकि भावना-प्रकर्ष ही उसका कारण आप मानते हैं, वह (भावना-प्रकर्ष) सदैव स्थिर एक आधार में बन सकता है, किन्तु आपके यहाँ कोई स्थिर है नहीं; अतः विशुद्धता का आधान कहाँ होगा ? सन्तान नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं, रहे सन्तानी (विज्ञानक्षण), वे बेचारे प्रत्येक क्षण में नूतन-नूतन पैदा होते रहते हैं, वे कभी भी भावना-प्रकर्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते, अतः उनमें विशुद्ध विज्ञानजनन का सामर्थ्य ही नहीं आ सकता । [शान्त रक्षित ने भी इन आक्षेपों का उल्लेख (तत्त्व सं० ४९९ में) किया है—

"रागादिनिगडैर्बद्धः क्षणोऽन्यो भववारके ।
अबद्धो मुच्यते चान्य इतीदं नावबुध्यते ॥
मोक्षो नैव हि बद्धस्य कदाचिदपि सम्भवी ।
एकान्तनाशतस्तेन व्यर्थो मुक्त्यर्थिनां क्षणः ॥
मोक्षमासाधयन् दृष्टो बद्धः स निगडादिभिः ।
अबद्धो मुक्तिमेतीति दृष्टग्राहतमीदृशम् ॥
एकाधिकरणावेतौ बन्धमोक्षौ तथा स्थितेः ।
लौकिकाविव तौ तेन सर्वं चारुतरं स्थितम् ॥

इन आक्षेपों का समाधान करते हुए शान्तरक्षित (तत्त्वसं० ५४४, ५४५ में) कहते हैं—

कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मताः ।
बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निर्मलता धियः ॥
एकाधिकरणौ सिद्धौ नैवैतौ लौकिकावपि ।
बन्धमोक्षौ प्रसिद्धं हि क्षणिकं सर्वमेव तत् ॥

नाप्यात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः; अतीतस्य तस्य स्वत एवात्यन्तं निवृत्तत्वेनासाध्यत्वात्, वर्तमानस्य विरोधिगुणप्रादुर्भावनिवर्त्यत्वात्, अनागतस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात्। निवृत्तेरात्यन्तिकत्वशब्देन निवृत्तजातीयस्य दुःखस्य तस्मिन्नात्मनि पुनरनुत्पादो विवक्षित इति चेत्, न; अनुत्पादस्यापि प्रागभावतयानुत्पाद्यत्वात्। ननु दुःखात्यन्ताभावो मोक्षः। न च तस्य नित्यत्वादसाध्यत्वम्; तत्संबन्धस्य स्वात्मनि साध्यत्वात्। अशेषक्लेशहेतुनाशस्य दुःखा-

---

अत्र तार्किकाः प्राहुः—'योगपरिभावनाभुवः परमेश्वरसाक्षात्कारान्नवानामात्मविशेषगुणानामात्यन्तिकी निवृत्तिरपवर्ग इति, तद्दूषयति—**नापीति**। दुःखशब्देन चैकविंशतिप्रकारमपि दुःखं विवक्ष्यते, इन्द्रियषट्कम्, विषयषट्कम्, बुद्धिषट्कम्, शरीरम्, सुखम्, दुःखम् चेत्येकविंशतिप्रकारं हि दुःखम्, तत्र किमतीतवर्तमाने निवर्तेते? अनागतं वा दुःखम्? यथाह पतञ्जलिः—'हेयं दुःखमनागतम्' इति। त्रिधापि न संभवतीत्याह—**अतीतस्येत्यादिना**। **अशक्यत्वादिति**। विद्यमानस्य हि प्रध्वंस इत्यर्थः। पक्षत्रयप्रयुक्तदोषपरिहाराय तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनोदीरितामात्यन्तिकत्वनिरुक्तिमुद्भावयति—**निवृत्तेरिति**। चेतनान्तरे तथाविधोत्पत्तिसंभवेनासंभवनिवृत्त्यर्थं तस्मिन्नात्मनीति विशेषणम्, निवृत्तस्यानुत्पादः संसारदशायामप्यस्तीति तज्जातीयस्येत्युक्तम्, तथाप्युपायानुष्ठानं व्यर्थमित्याह—**अनुत्पादस्यापीति**। अत्र लीलावतीकारमतमुद्भावयति—**ननु दुःखात्यन्ताभाव इत्यादिना**। नन्वत्यन्ताभावपक्षे सुतरामानर्थक्यमुपायानुष्ठानस्य, नित्यत्वेनासाध्वत्वादिति, तत्राह—**न च तस्येति**। ननु भावाभावयोर्न मुख्यः संबन्धः संभवी, संयोगसमवाययोरभावात्, अथ विशेषणविशेष्यभावः तथापि तस्य स्वभावानतिरिक्ततया न साध्यत्वमिति, तत्राह—**अशेषेति**। य एतेऽविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा दुःखहेतवः पञ्च क्लेशास्तेषामशे-

---

अर्थात् हमारे मत में किसी एक पुरुष में रहनेवाले बन्धमोक्ष प्रसिद्ध ही नहीं हैं। केवल अविद्यादि संस्कार जरा-मरण-पर्यन्त दुःखोत्पाद के हेतु होने से बन्ध कहलाते हैं, जैसा कि स्वयं बुद्ध ने (महावग्ग के आरम्भ में ही) कहा है–"एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होती" अर्थात् अविद्यादि बारह पदार्थों का यह केवल दुःखस्कन्ध होता है। उन (अविद्यादि) का तत्त्वज्ञान से विलय हो जाने पर ज्ञान में जो निर्मलता आती है, वही मुक्ति है। जो लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है कि 'जो बन्धन में पड़ता है, वही मुक्त होता है'—वह हमारे मत से असिद्ध है, क्योंकि हम तो कोई वस्तु भी स्थिर नहीं मानते, बन्धन में पड़नेवाला चोर भी क्षणिक ही है, अतः बन्धन में पड़नेवाला दूसरा चोर है और मुक्त होनेवाला दूसरा, इस प्रकार विज्ञानक्षणों में भी वैयधिकरण्य ही इष्ट है।" किन्तु यह सब संघर्ष आत्मवाद और आत्मा की स्थिरता-अस्थिरता पर केन्द्रित हो जाता है। आत्मा और उसकी स्थिरता वैदिक दर्शनों ने अकाट्यप्रमाणों से सिद्ध कर दी है, अतः वही स्थिर आत्मा, बन्धन और मोक्ष—दोनों का एक अधिकरण प्रसिद्ध हो जाता है]।

यह जो तार्किक कहा करते हैं कि "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्या० सू० १।१।२२) अर्थात् दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम मोक्ष है। वह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि अतीत दुःख तो स्वतः अत्यन्त निवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति पुरुष-साध्य नहीं, वर्तमान दुःख भी विरोधी गुणों के प्रादुर्भाव से निवर्तनीय है, भावी दुःख अभी है ही नहीं, अतः उसकी निवृत्ति भी साध्य नहीं। निवृत्ति के विशेषण 'आत्यन्तिकत्व' शब्द से निवृत्त दुःख-जातीय दुःख का जो अनुत्पाद कहा जाता है; वह अनुत्पाद भी प्रागभावरूप है, वह अनादि होता है, अतः उसकी उत्पत्ति के लिए भी उपायानुष्ठान व्यर्थ है। न्यायलीलावतीकार ने (न्या० ली० पृ० ५८० पर) कहा है कि दुःखों के अत्यन्ताभाव का नाम मोक्ष है। 'अत्यन्ताभाव नित्य होने से साध्य नहीं'—यह सन्देह नहीं कर सकते; क्योंकि वह साध्य न होने पर उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध अवश्य साध्य है। दुःखात्यन्ताभाव और आत्मा के सम्बन्ध का स्वरूप है—अशेष क्लेश-हेतु का नाश; क्योंकि दुःख-नाश की उत्पत्ति

त्यन्ताभावात्मनोः संबन्धरूपत्वात्, तदुत्पत्तौ दुःखात्यन्ताभावस्य तदीयत्वेन व्यवहारात्। तदीयतया व्यवहारहेतुत्वेन च विषयविषयिभावादिवदस्यापि संबन्धव्यवहारगोचरत्वात्। तस्य च कृतकत्वेऽपि ध्वंसत्वादेवाविनाशित्वात्। न चात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी दुर्निरूपः; मुमुक्षुसमवेततया संभावनोपनीतस्य दुःखस्य प्रतियोगित्वात्, असति योगाभ्यासे दुरितप्रवाहस्यानागतसमयवर्तिदुःखोत्पादकत्वात्। सर्वत्र चात्यन्ताभावनिरूपणे सामान्यतोऽवगतस्य विशेषतः समारोपविज्ञानविषयस्यैव प्रतियोगित्वात्, विशेषतस्तु प्रतियोगिसद्भावनिश्चयापेक्षायामत्यन्ताभावनिरूपणव्याघातात्, शशे विषाणं तदीयमन्यदीयं वा नास्तीति पर्यनुयोगस्य सुवचत्वात्। न चास्य समव्ययफलत्वेनापुरुषार्थत्वम्; योगप्रभावात् कायव्यू-

---

षाणां निवृत्तिरेव दुःखात्यन्ताभावस्यात्मना संबन्धः, स च साध्य इत्यर्थः। नन्वयं संयोगाद्यनन्तर्भूतः कथं संबन्धः स्यादप्रसिद्धत्वादिति, तत्राह—**तदुत्पत्ताविति**। नहि संबन्धबुद्धिजनकत्वमन्तरेण सकलसंबन्धेष्वनपायि संबन्धत्वं नाम किंचिच्छक्यनिरूपणम्, तदिह यथा ज्ञानार्थयोस्तदीयबुद्धिजनकतया विषयविषयिभावसंबन्धः तद्वद्दुःखात्यन्ताभावस्यात्मीयत्वव्यवहारहेतुरसावपि संबन्ध इत्यर्थः। **तस्य चेति**। अशेषक्लेशहेतुनाशस्येत्यर्थः। ननु कस्य दुःखस्यायमत्यन्ताभावो मोक्षत्वेनाश्रीयते ? न तावदतीतवर्तमानयोः, एतस्मिन्नुत्पन्नत्वेन तदत्यन्ताभावस्य तस्मिन्नसंभवात्। नापि भविष्यतः, अन्यदोयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावस्य संसारदशायामप्येतस्मिन्विद्यमानत्वेऽप्येतन्मुक्तेरभावात्। एतदोयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावोऽस्य मुक्तिरिति चेत्; तर्ह्येतदीयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतं प्रमितम् ? न वा ? आद्ये तदत्यन्ताभावोऽस्मिन्न संभवत्येव, प्रतियोगिसद्भावस्यात्र प्रमितत्वात्। द्वितीये त्वप्रतीतप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावरूपमोक्षस्याप्यप्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—**न चात्यन्तेति**। प्रामाणिकत्वाभावेऽपि संभावनोपनीतस्य संभवति प्रतियोगित्वमित्यर्थः। संभावनामेवोपपादयति—**असतीति**। नन्वप्रामाणिकत्वे कथं तन्निरूप्याभावस्य प्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—**सवत्र चेति**। अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तस्थल एवायं नियमः, यत्प्रतियोगिनो विशेषतोऽपि प्रामाणिकतयाऽभावप्रामाणिकता इत्यर्थः। एतदेव विपक्षे बाधकेन द्रढयति—**विशेषतस्त्विति**। यत्र हि शशविषाणं नास्तीत्यादावत्यन्ताभावप्रमितिस्तत्रापि किमन्यदीयविषाणस्य संसर्गो निषिध्यते ? किं वा एतदीयस्य ? नाद्यः; अन्यदीयविषाणस्य शशमस्तकेऽपि निधातुं शक्यतया तत्संसर्गात्यन्ताभावस्यासंभवात्, शशमस्तकोत्पन्नविषाणानिषेधप्रसङ्गाच्च। द्वितीये, तत्प्रमितत्वप्रमित्योरुक्तदूषणापात इत्यर्थः। स्यादेतत्—अशेषदुःखनिवृत्तिवदशेषसुखनिवृत्तिरपि भवद्भिरङ्गीक्रियते मुक्तौ, सुखस्यापि दुःखानुरक्ततया दुःखान्तर्भावाभ्युपगमात्। तथा च समव्ययफलत्वान्न कोऽपि पुरुषार्थ इत्यप्रवृत्तिरेवात्र प्रेक्षावताम्। यथाहुः—

"व्यसनानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च। अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः॥" इति।

हो जाने पर दुःखात्यन्ताभाव में आत्म-सम्बन्धित्व का व्यवहार देखा जाता है। आत्म-सम्बन्धित्व के व्यवहार का हेतु होने से ही क्लेश-हेतु-नाश भी विषयविषयीभावादि के समान ही सम्बन्ध कहा जा सकता है। वह (क्लेश-हेतु-नाश) कृतक होने पर भी ध्वंसरूप होने से अविनाशी होता है। 'अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी दुर्निरूप्य है'—यह बात भी नहीं; क्योंकि मुमुक्षु-समवेत, संभावना-प्राप्त दुःख ही उसका प्रतियोगी है। संभावना का स्वरूप यह है कि 'योगाभ्यास न होने पर दुरित-प्रवाह, भावी दुःख का उत्पादक होगा।' सर्वत्र अत्यन्ताभाव के निरूपण में प्रतियोगी सदैव सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः संभावना-ज्ञान का ही विषय हुआ करता है; क्योंकि विशेषतः प्रतियोगी के सद्भाव का निश्चय, अपेक्षित होने पर अत्यन्ताभाव का निरूपण ही व्याहत हो जायगा, कारण यह है कि "शशविषाणं नास्ति"—यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यहाँ शशीय विषाण का निषेध किया जा रहा है ? या अन्यदीय विषाण का ? इसका उत्तर आरोपित प्रतियोगिक निषेध के अतिरिक्त और नहीं हो सकता। 'दुःखात्यन्ताभाव में हानि-लाभ समान (द्र० न्या० म० पृ० २७५) होने

हनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायां सकलसुखोपभोगाङ्गीकारात्। ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे’, ‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा’इति श्रुतिस्मृतिशतेभ्यः सर्वकर्मणां ज्ञानेन विलयावगमात् सुखोपभोगो न युक्त इति न वाच्यम्; तद्वचनानामचिरविनश्वरतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा सर्वकर्मणां विनाशाद्विदुषः सद्य एव शरीरपाते जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गात्। प्रारब्धकार्येतरकर्मणां ज्ञानादेव प्रक्षयो विवक्षित इति चेत्, मैवम्; अकृतप्रायश्चित्तानां कर्मणां देहारम्भककर्मवद्भोगैकनाश्यत्वनियमात् ‘नाभुक्तं क्षीयते कर्म’इति स्मृतेः। न चानन्त्यात्कर्मणां भोगेन प्रक्षयानुपपत्तिः; योगप्रभावादनन्ततदुपभोगसाधनकायव्यूहनिर्माणेन तदुपपत्तेः। न चानियतकालविपाकतया कर्मणां युगपदुपभोगविरोधः; उप-

तत्राह—**न चास्येति**। अत्र तावत्संसारदशायां सुखस्याल्पत्वाद् दुःखस्य च बहुलत्वात्तन्निवृत्तिः सुखादप्यधिकः पुरुषार्थ इति, ननु समव्ययफलता तथाऽत्यन्तसुखस्यापि विद्यमानत्वाल्लाभबाहुल्यमेव कुतो व्ययशङ्का? कुतस्तरां च समव्ययफलता? इत्याह—**योगप्रभावादिति**। जीवन्मुक्तिसहितायाः परममुक्तेः पुरुषार्थत्वादिति भावः। ननु ज्ञानेन सुखोपभोगो न घटते, कर्मनिमित्तत्वात्सुखोपभोगस्य, कर्मणां च ज्ञानेन प्रदाहादिति, तत्राह—**क्षीयन्त इति**। **परावर इति**। **परम**विद्यातीतम्। **अवरं** कारणतत्त्वम्। तदुभयात्मक इत्यर्थः। कुतो न वाच्यमित्यत आह—**तद्वचनानामिति**। क्षीयन्त इति कोऽर्थः? न चिरात्क्षीयन्त इति, न पुनस्तत्क्षणमेव, भस्मसात्करणं च विनश्वरत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः। सद्यः शरीरपातं वेदान्ती परिहरति—**प्रारब्धेति**। तथा च प्रारब्धभोगैः कर्मभिः शरीरस्थितिर्घटत इत्यर्थः। नैतद्युक्तम्; अप्रारब्धफलकर्मणामपि भोगव्यतिरेकेण ज्ञानमात्रादनिवृत्तेरिति परिहरति पूर्ववादी—**मैवमिति**। तर्कि तत्र तत्र प्रायश्चित्ताम्नानं वृथेत्यत उक्तम्—**अकृतप्रायश्चित्तानामिति**। भोगो वा प्रायश्चित्तं वा निवृत्तिहेतुरित्यर्थः। विमतानि कर्माणि भोगैकविनाश्यानि अकृतप्रायश्चित्तत्वे सति कर्मत्वात्प्रारब्धफलकर्मवदित्यनुमानविरोधादिति भावः। स्मृतिविरोधमपि दर्शयति—**नाभुक्तमिति**। ननु भोगेन क्षयवादिनोऽनिर्मोक्ष एव, अनन्तभवपरम्परोपार्जितकर्मणामानन्त्येन भोगावसानाभावात्, न शुभकर्मविषयमस्ति प्रायश्चित्तम्, तस्मान्मोक्षमिच्छतानिच्छतापि ज्ञानमेव कर्मक्षयहेतुरेष्टव्यमिति, तत्राह—**न चानन्त्यात्कर्मणामिति**। अत्र किमेकस्यानेकविग्रहग्रहणानुपपत्तिर्बाधिका? अनियतविपाकत्वं वा? नाद्यः। सौभर्यादिवद्योगप्रभावादुपपत्तेरित्याह—**योगेति**। नोत्तरः, अनियतविपाकत्वं हि कर्मणां सहकारिसंपत्त्यनियमप्रयुक्तम्, सा च सहकारिसंपत्तिरस्य योगप्रभावात्संपत्स्यते अगस्त्यादेरिव पयोनिधिपानादाविति भवत्येव युगपदुपभोग इत्याह—**न चानियतेति**। उक्तं हि पतञ्जलिना ‘योगप्रभावादृते नागस्त्य इव समुद्रं पास्यती’ति।

से पुरुषार्थता नहीं आती’—यह नहीं कह सकते; क्योंकि योग-प्रभाव से काय-व्यूह-निर्माण के द्वारा जीवन्मुक्ति-अवस्था में सकल सुखोपभोग माना जाता है। यदि कहें कि “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि” (मुण्ड० २।२।८) “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा (गी० ४।३७) आदि अनन्त श्रुतियाँ और स्मृतियाँ कहती हैं कि ज्ञान से सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब सुखोपभोग सम्भव कैसे होगा? तो यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उक्त वचनों का तात्पर्य कर्मों की अचिरविनश्वरता में है। नहीं तो सर्व कर्मों का क्षय हो जाने पर विद्वान् का तुरन्त शरीर-पात हो जाना चाहिए, फिर जीवन्मुक्ति न बन सकेगी। ‘प्रारब्ध से भिन्न सभी कर्मों का ज्ञान से प्रक्षय होता है’—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि जिनका प्रायश्चित्त नहीं किया गया है, ऐसे कर्मों का भी देह-प्रारम्भक कर्मों के ही समान भोगमात्र से नाश्यत्व माना जाता है, स्मृति स्पष्ट कह रही हैं—“नाभुक्तं क्षीयते कर्म” (ब्रह्म वै० श्रीकृष्णजन्मख० ८१।५५)। ‘कर्म अनन्त हैं, उनका भोग से प्रक्षय सम्भव नहीं’—यह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि योग-प्रभाव से उपभोग-योग्य अनन्त शरीरों के निर्माण के द्वारा अनन्त कर्मों का उपभोग किया जाता है। ‘अनियत देश-काल में फल देनेवाले कर्मों का युगपत् उपभोग नहीं हो

भोगानुकूलसहकारिसाकल्यादेव समानविपाकसमयतोपपत्तेः। अतः आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तावपि मुक्तौ न समव्ययफलता। न चाननुभूयमानतया दुःखनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वम्; विकल्पासहत्वात्। किमनुभूयमानतामात्रं पुरुषार्थत्वोपयोगि? यावद् दुःखनिवृत्तिसत्त्वं वा? नाद्यः; चरमे जन्मनि योगप्रभावादनागताया अपि दुःखनिवृत्तेरनुभूयमानत्वसंभवात्। वर्तमानाया अप्यचिरमनुभवोपपत्तेः। तथाहि—योगिनश्चरमज्ञानेन सकलविषयेण दुःखतदभावौ युगपत्साक्षात्कृतौ तेनैव विरोधिगुणप्रादुर्भावेण निवृत्ते दुःखे विनश्यदवस्थज्ञानेन वर्तमानापि दुःखनिवृत्तिरनुभूतेति। नापि द्वितीयः; प्रसक्तकण्टकादिदुःखनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गात्, यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वात्। तथात्वे विषयान्तरावेदनप्रसङ्गात्। न च दुःखाभावस्य सुखशेषतया पुरुषार्थत्वम्; सुखस्यापि दुःखाभावशेषतया पुरुषार्थत्वमिति वैपरीत्यस्यापि वक्तुं सुकरत्वात्। कामनायाश्चोभयत्रापि समानोदयतयोभयोरपि पुरुषार्थ-

---

उपपादितमसमव्ययफलत्वमुपसहरति—अत इति। ननु दुःखाभावस्य न पुरुषार्थत्वम्, अननुभूयमानत्वात्, अनुभवे च नाशेषविशेषगुणोच्छेदः, ज्ञानस्यानुच्छिन्नत्वादिति, तत्र तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनोक्तं परिहारमाह—न चाननुभूयमानेति। अत्र किं दुःखनिवृत्तेरनुभूयमानत्वमात्रं पुरुषार्थत्वोपयोगि? किं वा यावद्दुःखनिवृत्तेः सत्त्वं तावन्तं कालमनुभूयमानत्वम्? इति विकल्प्याद्य आपादकासिद्धिमाह—चरमे जन्मनीति। योगप्रभावादिति। भूतभविष्यद्वर्तमानवेदनादित्यर्थः। ननु कथं वर्तमानायाः सकलदुःखनिवृत्तेरनुभवसंभवः? येन हि चरमज्ञानेन दुःखनिवृत्तिरनुभूयते, तदपि तावदेकं दुःखम्, नच तत्समये तस्य निवृत्तिरस्ति, नापि तन्निवृत्तिसमये तदनुभवान्तरमस्ति, चरमत्वभङ्गादिति, तत्राह—वर्तमानाया अपीति। तस्यैवोपपादनम्—तथा हीति। विनश्यदवस्थेत्यत्र हृदयम्। नित्यद्रव्येष्वाश्रयविनाशाभावेन विरोधिगुणप्रादुर्भावेण पूर्वगुणनाशादुक्तम्—विरोधिगुणप्रादुर्भावेणेति। प्रसक्तेति। यद्यपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिस्त्विदानीमनुभूयते, तथापि न यावत्सत्त्वमनुभवः; विषयान्तरसंचाराद्यभावप्रसङ्गादतः प्रशिथिलमूलतेति भावः। ननु दुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वमेव नास्ति, या तु तत्र प्रार्थना सा तस्य सुखशेषतया, तत्राह—न चेति। हेतुमाह—सुखस्यापीति। ननु काम्यमानत्वात्सुखस्यैव पुरुषार्थत्वमिति, तत्राह—

सकता'—यह सन्देह भी नहीं कर सकते; क्योंकि उपभोगानुकूल सहकारी सामग्री के कारण एक काल की उपभोग-योग्यता कर्मों में आ जाती है। अतः आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिरूप मुक्ति में भी समान आय-व्यय नहीं। 'दुःख-निवृत्ति अनुभूयमान न होने से पुरुषार्थ कैसे होगी'—यह सन्देह भी युक्त नहीं; क्योंकि क्या दुःख-निवृत्ति की अनुभूयमानतामात्र पुरुषार्थत्व का उपयोगी है? या जब तक दुःख-निवृत्ति रहे, तब तक की अनुभूयमानता? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि अन्तिम जन्म में योग-प्रभाव से भविष्य में होनेवाली दुःख-निवृत्ति का भी अनुभव हो जाता है। वर्तमान दुःख-निवृत्ति भी तत्काल में अनुभूत हो सकती है। भाव यह है कि योगी सकल-विषयक अन्तिम ज्ञान से दुःख और दुःखाभाव—दोनों का युगपत् साक्षात्कार कर लेता है। उस साक्षात्काररूप विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से उत्पन्न दुःख-निवृत्ति भी उसी विनश्यदवस्थ ज्ञान से तत्काल अनुभूत हो जाती है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि यावत् दुःख-निवृत्ति की सत्ता का अनुभव अपेक्षित होने से प्रसक्त कण्टकादि दुःखों की निवृत्ति भी पुरुषार्थ न बन सकेगी; क्योंकि उसका यावत्सत्त्व अनुभव नहीं होता। यदि माना जाय, तब उस निवृत्ति को छोड़कर और किसी विषय का अनुभव ही नहीं होगा। 'दुःखाभाव स्वयं पुरुषार्थ नहीं, अपितु सुख का शेष (अङ्ग) होने से पुरुषार्थ है'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उसके विपरीत सुख ही दुःखाभाव का शेष होकर पुरुषार्थ है—यह भी कहा जा सकता है। वस्तु स्थिति यह है कि दोनों (सुख और दुःखाभाव) में समान

त्वोपपत्तेः। प्रयोगश्च—आत्मा कदाचिद् ध्वस्ताशेषविशेषगुणः, नित्यत्वे सत्यनित्यविशेषगुणाश्रयत्वात्, महाप्रलयावस्थायामाकाशवदिति लीलावतीकारः।

वक्रमतानुसारिणः पुनरेवं मोक्षलक्षणमाचक्षते—'एतज्जीवनिष्ठदुःखसमानकालीनदुःखध्वंसातिरिक्तैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य मुक्तिः' इति। प्रयोगश्च—देवदत्तोऽयमेवंविधदुःखध्वंसवान् दुःखित्वाच्चैत्रवत्। एतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनैतन्निष्ठदुःखध्वंसोऽस्य मोक्ष इत्यपरे। एवंविधसाध्येऽपि दुःखित्वादिति प्रयोगः पूर्ववदेव। अन्ये तु ज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयो दुःखध्वंसो मोक्ष इति मन्यन्ते। तत्र साक्षात्कारविषयो दुःखध्वंस इत्येतावति लक्षणे सांसारिकदुःखध्वंसेऽतिव्याप्तिर्मा भूदिति ज्ञानाजनकेत्यादिना विशेषणेन

कामनाया इति। **आत्मेति**। इदानीमुपलभ्यमानविशेषगुणकतया बाधपरिहारार्थं कदाचिदित्युक्तम्। पर्यायेण विशेषगुणध्वंसस्य संसारदशायां सिद्धत्वेनार्थान्तरत्वनिवृत्त्यर्थमशेषग्रहणम्। युगपदिति चात्र विवक्षितम्। संख्यापरिमाणादीनां मोक्षदशायामपि विद्यमानत्वेन बाधपरिहारार्थं विशेषग्रहणम्। पीलुपाकपक्षे घटादिषु विशेषगुणैः सहैव ध्वस्यमानेषु व्यभिचारनिवृत्त्यै नित्यत्वे सतीत्युक्तम्। ईश्वराप्यपरमाण्वादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनित्यविशेषगुणाश्रयत्वादित्युक्तम्। नित्यगुणादिष्वनैकान्तिकत्वपरिहाराय विशेषगुणग्रहणम्। दृष्टान्ते च शब्दव्यक्तिभेदापेक्षयाऽशेषपदसार्थक्यम्।

तदेवं दुखात्यन्ताभावात्मनोः संबन्धरूपोऽशेषक्लेशहेतुनाशो मोक्ष इति श्रीवल्लभमतं दर्शयित्वाऽधुनिकरीतिं दर्शयति—**वक्रेति**। एतज्जीवनिष्ठं यद्दुःखं तेन समानकालीनो यो दुःखध्वंसः, ततोतिरिक्तः तत्त्वानधिकरणं य एतन्निष्ठो दुःखध्वंसः स एतज्जीवस्य मुक्तिरिति योजना। एतन्निष्ठदुःखध्वंस एतत्संसारदशायामप्यस्तीत्यतिव्याप्तिरिहारायातिरिक्तेत्यन्तं विशेषणम्। जीवान्तरसंसारसमयदुःखध्वंसे तादृश्यतिव्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदुःखध्वंस इत्युक्तम्। असंभवपरिहारायैतज्जीवनिष्ठेत्युक्तम्। घटादिध्वंसव्यवच्छेदार्थं दुःखध्वंसेत्युक्तम्। **प्रयोगश्चेति**। अयं देवदत्त एतद्देवदत्तनिष्ठदुःखसमानकालीनदुःखध्वंसातिरिक्तदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् चैत्रवदित्यनुमातव्यमित्यर्थः। लक्षणान्तरमाह—**एतन्निष्ठेति**। एतद्देवदत्तनिष्ठा यो दुःखप्रागभावस्तेनासमानकालीनो य एतन्निष्ठदुःखध्वंसः स एतन्मुक्तिरित्यर्थः। अत्रापि सांसारिकैतद्दुःखध्वंसेऽतिव्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनेत्युक्तम्, संसारदशायां ह्युत्पत्स्यमानदुःखप्रागभावसमानकालीनो हि दुःध्वंसः। अत्रापि प्रयोगं दर्शयति—**एवं विधेति**। अयं देवदत्त एतान्नष्ठदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् पुरुषान्तरवदिति प्रयोग इत्यर्थः। **ज्ञानाजनकेति**। ज्ञानाजनको यः संस्कारस्तज्जनको जन्यश्च यः साक्षात्कारस्तेन विषयीकृतो यो दुःखध्वंसः स मोक्ष इति

रूप से कामना होने के कारण दोनों ही पुरुषार्थ हैं। इस प्रकार की मुक्ति में अनुमान प्रमाण भी है—"आत्मा किसी समय में समस्त विशेषगुणों के ध्वंसवाला होता है, नित्य होकर अनित्य विशेषगुणों का आश्रय होने से, जैसे—महाप्रलय अवस्था में आकाश।" (द्र० न्या० ली० पृ० ५९७)।

नवीन तार्किक मोक्ष का यह लक्षण करते हैं कि इस जीव में वृत्ति दुःख के समानकाल में होनेवाले दुःख-ध्वंस से भिन्न दुःख-ध्वंस, इस जीव की मुक्ति है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—"यह देवदत्त, इस प्रकार के दुःख-ध्वंस वाला है, दुःखी होने से, जैसे—चैत्र" 'इस जीव में वृत्ति दुःख-प्रागभाव का असमानकालीन दुःख-ध्वंस, इस जीव की मुक्ति है—ऐसा दूसरे लोग मानते हैं। इस प्रकार के साध्य में भी दुःखित्व हेतुक प्रयोग पूर्ववत् ही क्रिया जाता है। अन्य विद्वान् ज्ञानाजनक संस्कार के जनक, जन्य साक्षात्कार के विषयीभूत दुःख-ध्वंस को मोक्ष मानते हैं। यहाँ 'साक्षात्कार-विषय दुःख-ध्वंस'—इतना ही लक्षण रखने पर सांसारिक दुःख-ध्वंस में अतिव्याप्ति होती, अतः साक्षात्कार का विशेषण दिया ज्ञानाजनक-आदि। 'जन्य' पद से ईश्वर-साक्षात्कार की

साक्षात्कारो विशेष्यते। तत्र जन्यपदेनेश्वरसाक्षात्कारो व्यावर्त्यते, तस्यापि सकलजनकतया ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वात्। अस्ति च ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वं चरमसाक्षात्कारस्य दुःखध्वंसविषयस्य, तदनन्तरं मुक्तौ ज्ञानान्तरानुदयात्। दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यत्र च "शरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इत्यादयो वेदान्ताः प्रमाणम्। प्रियशब्दाभिधेयस्य सुखस्यापि निराकरणात्। "यो वै भूमा तत्सुखम्" "एष एव परमानन्दः" इत्येवमाद्यास्तु श्रुतयो दुःखाभावविषयतयोपचरितार्थां विषयाजन्यसुखस्यादृष्टचरत्वात्। न च सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरामर्शदर्शनाददृष्टचरत्वमसिद्धमिति वाच्यम्; पित्ताद्युपहतेन्द्रियस्य दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शात्, दुःखस्यापि नित्यताप्रसक्तेः। न च परमप्रेमास्पदत्वादात्मनः सुखरूपतानुमेया, दुःखाभावे व्यभिचारात्। आत्मनः सुखरूपत्वे च मुक्ति-

---

योजना। स्वयमेव विशेषणानां कृत्यमाह-तत्रेत्यादिना। ननु भावनासंस्कारस्यायं स्वभावः यत्स्मृतिजनकत्वम्, तत्कथं ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वम्? अतोऽसिद्धिर्लक्षणस्येति तत्राह—अस्ति चेति। प्रयोगस्तु—अयं देवदत्त एतद्देवदत्तनिष्ठज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात्संप्रतिपन्नवदिति। तदेवं दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यनुमानैरुपपादितं संप्रति श्रुतिमपि तत्र प्रमाणयति—दुःखेति। वावेत्यवधारणे। अशरीरं च सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत एवेति दुःखवत्सुखस्यापि प्रतिषेधात्, दुःखनिवृत्तिमात्रमेव मुक्तिः, न पुनः सुखसंपत्तिरपीत्यवसीयत इत्यर्थः। स्यादेतत्—सन्ति मुक्तौ सुखप्रतिपादिका अपि श्रुतयस्ताः किं प्रमत्तगीता इति, इत्राह—यो वै भूमेति। यो नामादिभ्यः प्राणान्तेभ्यः परत्वेन प्रतिपादितः सत्याख्यो भूमा तत्सुखम्। भूमशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वेऽपि विधेयसुखापेक्षया तदिति निर्देशः। वै इत्यवधारणे। एवं छान्दोग्यश्रुतिमुक्त्वा वाजसनेयकश्रुतिमप्याह—एष इति। यः सुषुप्त्यादावपरिच्छिन्न आनन्दः प्रतिभासते एषोऽस्यात्मनः परम उत्कृष्ट आनन्द इत्यर्थः। ननु किमिति मुख्यार्थः परित्यज्यते असंभवदर्थत्वादित्याह—विषयेति। नन्वदृष्टचरत्वमसिद्धं सुप्तोत्थितेन परामृश्यमानत्वादिति तत्राह—न च सुप्तेति। ननु माभूदर्थापत्तिरनुमानं तु भविष्यति। तथाहि—आत्मा सुखं परमप्रेमास्पदत्वात्संप्रतिपन्नसुखवत्, व्यतिरेकेण दुःखवदिति वा तत्राह—न च परमप्रेमेति। अस्ति हि दुःखाभावस्यापि परमप्रेमास्पदत्वम्, नच तत्र सुखशेषतयेति वाच्यम्, वैपरीत्यस्य सुवचत्वात्, नच सुखरूपत्वमित्यनैकान्त्यमित्यर्थः। तर्कबाधितत्वं चाह—आत्मन इति। ननु स्वरूपभूतमपि सुखं संसारदशायां न प्रकाशते

व्यावृत्ति की जाती है; क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार सकल कार्य का जनक होने से ज्ञानाजनक संस्कार का भी जनक होता है। ज्ञानाजनक संस्कारों की जनकता, दुःख-ध्वंस विषयक अन्तिम साक्षात्कार में है ही; क्योंकि उसके अनन्तर मुक्ति में ज्ञानान्तर का उदय नहीं होता। दुःख-निवृत्ति ही मुक्ति है—सुख-प्राप्ति नहीं, इसमें "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (शरीराभिमान-शून्य विद्वान् को सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते—छां०उ० ८।१२।१) आदि वेदान्त वाक्य प्रमाण हैं। वहाँ प्रिय शब्द-वाच्य सुख का भी निराकरण किया गया है। "यो वै भूमा तत्सुखम्" (छां०उ० ७।२३।१) "एष एव परमानन्दः" (बृह०उ०४।३।३३) इस प्रकार की श्रुतियों में दुःखाभाव में सुख का औपचारिक प्रयोग है; क्योंकि विषयाजन्य नित्य सुख-के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं। सुषुप्ति से उठे व्यक्ति के "सुखमहमस्वाप्सम्—" इस प्रकार के स्मरण से नित्य सुखानुभव का अनुमान करने पर पित्तादि दोषों से दूषित इन्द्रियवाले व्यक्ति के "दुःखमहमस्वाप्सम्"—इस प्रकार के स्मरण से नित्य दुःख भी सिद्ध हो जायगा। परपप्रेमास्पदत्व हेतु से भी आत्मा में सुखरूपता का (आत्मा सुखरूपः परमप्रेमास्पदत्वात् सुखवत्—इस प्रकार का) अनुमान नहीं कर सकते; क्योंकि दुःखाभाव में सुखरूपता न होने पर भी उक्त हेतु रहता है, अतः व्यभिचारी है। यदि आत्मा सुखरूप है, तो मुक्ति और संसार में कोई विशेषता ही न रहेगी; क्योंकि स्वयंप्रकाश, निरतिशय सुख-

संसारयोरविशेषप्रसङ्गात् ; स्वयंप्रकाशस्य निरतिशयसुखरूपतया सदावभाससंभवात्। सुखं मे स्यादिति च प्रेमालोके, न सुखमहं स्यामिति, तथा चात्मनः सुखरूपत्वे प्रेमास्पदत्वमेव न स्यादिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधस्तत्र कुतस्ततः सुखरूपतानुमानम् ? तस्मात् दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति।

अत्रोच्यते—प्रतियोगिहेतुनाशो न तदत्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजकः ;

लीनशब्दनिदानेऽपि व्योम्नि तस्यानवस्थितेः।
रूपाभावव्यवहृतेस्तदभावेऽपि चात्मनि ॥१॥

प्रलयदशायामशेषशब्दनिदाननाशेऽपि आकाशे न शब्दात्यन्ताभावः, पुनः सर्गे तत्रैव शब्दोत्पत्तेः। प्रतियोगिहेतुनाशाभावेऽप्यात्मनि रूपात्यन्ताभावव्यवहारात्। न चाभावत्वेऽपि विषयविषयिभावादिवत् ध्वंसस्य संबन्धरूपता, विषयविषयिभावादेरप्यभावत्वे संबन्धरू-

---

मुक्तौ तु प्रकाशतेऽतोऽस्ति विशेष इति तत्राह—स्वयंप्रकाशेति। प्रतिज्ञाविरोधलक्षणं निग्रहस्थानमप्याह—सुखमिति। पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति।

सिद्धान्तमुपक्रमते—अत्रेति। दुःखात्यन्ताभावस्य स्वरूपतो नित्यत्वेऽपि तत्संबन्ध आत्मनि साध्यः, संबन्धश्च दुःखहेतूनामशेषक्लेशानां नाशस्तस्मिन्सति तदीयत्वव्यवहारादिति हि श्रीवल्लभेनोक्तम्, तत्र दुःखहेतुनाशो दुःखात्यन्ताभावस्यात्मीयतया व्यवहारे न प्रयोजको व्यभिचारादित्याह—प्रतियोगीति। प्रतियोगिनो दुःखादेर्हेतुभूतक्लेशनाशो, न दुःखात्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजक इति योजना। हेतुं श्लोकेनाह—लीनेति। प्रलयावस्थायां ह्याकाशेऽधिकरणे शब्दहेतवोऽसमवायिकारणसमवायिकारणनिमित्तकारणानि च कानिचित्प्रलीनानि, अथापि शब्दात्यन्ताभावस्य नाकाशसंबन्धः; नहि पूर्वोत्पन्नशब्दध्वंसानुत्पद्यमानशब्दप्रागभावावन्तरेण तत्र शब्दात्यन्ताभावोऽस्ति। नच शब्दोपादानाकाशस्य निमित्तभूतेश्वरादेश्च विद्यमानत्वात्, प्रलये कथं शब्दकारणाभाव इति वचनीयम्; दुःखेऽप्यात्मादीनां सत्त्वेन हेतुनाशरूपसंबन्धाभावस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वात्। तदेवमन्वयो नास्तीत्युक्तम् व्यतिरेकोऽपि नास्तीत्याह—रूपेति। रूपहेत्वभावस्यात्मन्यविद्यमानत्वेऽपि रूपात्यन्ताभावव्यवहाराच्चेति श्लोकयोजना। विवृणोति—प्रलयेति। उत्तरार्द्धं विवृणोति—प्रतियोगीति। क्लेशहेतुध्वंसाभावेऽपि परमेश्वरे दुःखात्यन्ताभावव्यवहाराच्च। नच तदत्यन्ताभावविवक्षा, जीवेष्वभावात्। नच संसर्गाभावमात्रविवक्षा, गगने व्यभिचारोदीरणादिति। किंच भावविशेषस्यैव संबन्धत्वप्रसिद्धेः प्रतियोगिहेतुध्वंसस्य संबन्धत्वमेव नास्ति। नच विषयविषयिभावादिदृष्टान्तस्तस्याप्युक्तरूपत्वे विप्रतिपत्तेरित्याह—न चाभावत्वेऽपीति।

स्वरूप आत्मा का सदा अवभास हो सकता है। 'मुझे सुख मिले'—इसी प्रकार का प्रेम देखा जाता है, न कि 'कि मैं सुख हो जाऊँ'—इस प्रकार का यदि आत्मा सुखरूप होगा, तब उसमें प्रेमास्पदत्व ही न रहेगा। अतः उक्त अनुमान में प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध हो गया, फिर उस हेतु से आत्मा में सुखरूपता का अनुमान कैसे होगा ? इस लिए दुःख-निवृत्ति ही मुक्ति माननी चाहिए।

सिद्धान्त—यह जो न्यायलीलावतीकार ने कहा कि दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति में दुःखरूप प्रतियोगी के हेतु का नाश, तत्सम्बन्धित्व का प्रयोजक है। वह कहना संगत नहीं; क्योंकि प्रलयसमय आकाश में शब्द के कारणों का प्रलय हो जाने पर भी शब्दात्यन्ताभाव से आकाश का सम्बन्ध नहीं होता। एवं आत्मा में रूप-कारण-नाशरूप प्रयोजक के न होने पर भी रूपात्यन्ताभाव का व्यवहार होता है। अर्थात् प्रलयावस्था में शब्द के सभी हेतुओं का नाश होने पर भी आकाश में शब्दात्यन्ताभाव नहीं माना जा सकता, नहीं तो पुनः सृष्टि काल में वहाँ शब्द कैसे उत्पन्न होगा ? इसी प्रकार रूपात्मक प्रतियोगी के हेतुओं का नाश न होने पर भी आत्मा में रूपात्यन्ताभाव का व्यवहार होता है। प्रतियोगी के हेतु का नाश, अभावरूप होने से सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। विषयविषयिभाव का जो दृष्टान्त दिया था, वह भी युक्त नहीं; क्योंकि विषयविषयिभाव की अभावरूपता

पत्वे चासंप्रतिपत्तेः ।

न च विनाशस्याप्यविनाशिता, कृतकत्वात् । न च ध्वस्ताध्वस्तिप्रसङ्गः, पुरस्तादेव परास्तत्वात् । न च समारोपितप्रतियोगिकत्वे दुःखात्यन्ताभावस्य पारमार्थिकता, स्वप्नसमारोपितद्विरदध्वंसवदस्यापि पारमार्थिकत्वानुपपत्तेः । न च शशविषाणनिषेधप्रतिबन्दीग्रहः, तस्याप्यविचारितरमणीयत्वात् । न च कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायामशेषसुखोपभोगाङ्गीकारात् समव्ययफलत्वदोषपरिहारः, विदेहकैवल्ये दुःखाननुभववत्सुखानुभवस्याप्यभावात् । न च सर्वकर्मफलोपभोगसंभवः प्रारब्धकर्मेतरकर्मणां ज्ञानान्निवृत्तिश्रवणात् । न चाकृतप्रायश्चित्तानां कर्मणां भोगैकनाश्यत्वनियमः, "क्षीराक्तैराम्रपत्रैस्तु ज्वरं सद्यो निवा-

---

यत्तु ध्वंसस्य कृतकत्वेऽपि नित्यत्वसमर्थनं तद्दूषयति—**न च विनाशस्येति** । **पुरस्तादेवेति** । उत्तरोत्तरध्वंसमालाया अन्यस्मिन्नपि ध्वस्तपदार्थे विरोधित्वादिति प्रागभावखण्डने कृतसमाधानत्वादित्यर्थः । यत्तु दुःखात्यन्ताभावस्य संभावनोपनीततया विशेषतः समारोपसिद्धदुःखप्रतियोगिकत्वमुक्तं तद्दूषयति—**न च समारोपितेति** । ननु समारोपितद्विरदध्वंसस्यानत्यन्ताभावत्वादप्रामाणिकत्वम्, अत्यन्ताभावस्य त्वयं विशेषः यत्प्रतियोग्यप्रामाणिकतयापि प्रामाणिकत्वम्, इतरथा शशविषाणनिषेधासंभवादिति तत्राह—**न च शशेति** । समव्ययफलतामपि समर्थयते—**न च कायेति** । यद्यपि जीवन्मुक्तिदशायामेतच्छक्यपरिहारम्, तथापि विदेहकैवल्यावस्थायां दुष्परिहरमेतदित्याह—**विदेहेति** । एतेनैतदप्यपास्तम्, यदाह मानमनोहरः—'योगर्द्धिसमासादितचिरकालोपभोग्यसुखविशेषपरत्वेऽप्युपपत्ते'रिति तादृशसुखस्य मुक्तावभावात् । नच जीवन्मुक्तिदशायामपि सर्वकर्मणां फलोपभोगसंभवः येनाधिकसुखोपभोगः स्यादित्याह—**न च सर्वेति** । येन कर्मणा फलं प्रारब्धं तत्कर्म प्रारब्धं कर्म । यदि हि भोगैकविनाश्यानि कर्माणि तदा ज्ञानान्निवृत्तिर्न श्रूयेत, श्रूयते चातो न सर्वकर्मफलोपभोगस्तदेत्यर्थः । यत्तु ज्ञानान्निवृत्तिर्न घटत इत्यप्युक्तम्, तत्परिहरति—**न चाकृतेति** । तत्र हेतोरनैकान्तिकतामाह—**क्षीरेति** । अत्र हि यः क्षीराभ्यक्ताम्रपत्रैर्होमः नासौ प्रायश्चित्तम्, नापि भोगः, अथापि निवर्त्यते ज्वरहेतुकर्म, ततो नायं नियम इत्यर्थः । नच तत्र ज्वरस्यैव कार्यस्य नाशः कर्मणस्तु प्रतिबन्धमात्रमेवेति वाच्यम् ; तत्कार्यस्यात्यन्तानुत्पत्तौ कर्मसद्भावे प्रमाणाभावात् ।

और सम्बन्धरूपता में विवाद है, दृष्टान्त सदैव उभय मत-सम्मत होता है ।

यह जो कहा कि विनाश अविनाशी है, वह भी युक्त नहीं ; क्योंकि कृतक है । ध्वंस का ध्वंस मानने पर ध्वस्त घटादि का पुनः उन्मज्जन होगा'—इस शङ्का का समाधान पहले हो कर दिया गया है कि घटादि का विरोधी जैसे उसका ध्वंस है, वैसे ही ध्वंसध्वंसादि भी विरोधी हैं, अतः उसका उन्मज्जन नहीं हो सकता । 'दुःखात्यन्ताभाव का प्रतियोगी आरोपित है, अतः दुःखात्यन्ताभाव पारमार्थिक हो जायगा'—यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि स्वप्न-समारोपित गजप्रतियोगिक ध्वंस के समान पारमार्थिकत्व अनुपपन्न ही रहेगा । 'दुःखात्यन्ताभाव को प्रामाणिक न मानने पर शशविषाण-निषेध भी प्रामाणिक न होगा'—यह प्रतिबन्दी नहीं दे सकते ; क्योंकि शशविषाण-निषेध की भी प्रामाणिकता नहीं मानी जाती । काय-व्यूह-निर्माण के द्वारा जीवन्मुक्ति दशा में अशेष सुखोपभोग मानकर समव्ययफलता (आय-व्यय-समानता) का दोष भी हटाया नहीं जा सकता ; क्योंकि विदेह कैवल्य में दुःखाननुभव के समान सुखानुभव का भी अभाव मानना होगा । सर्व कर्मफलोपभोग भी सम्भव नहीं, प्रारब्ध-भिन्न कर्मों की ज्ञान से निवृत्ति श्रुति-प्रतिपादित है । जिनका प्रायश्चित्त नहीं किया गया, ऐसे कर्मों का भोग से ही नाश होगा—यह भी नियम नहीं ; क्योंकि "क्षीराक्तैराम्रपत्रैस्तु ज्वरं सद्यो निवारयेत्" (दूध में भीगे आम्रपत्रों के होम से ज्वर हटाना चाहिए)—इस स्मृति वाक्य से अकृतप्रायश्चित्तक ज्वर-हेतु कर्मों का भी नाश बिना उपभोग के ही बताया गया है ।

रयेत्"इत्यादिना अकृतप्रायश्चित्तानामपि ज्वरादिहेतुकर्मणां निवृत्तिस्मरणात् । न चाकृतप्रायश्चित्तत्वम्, 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, एवम् 'एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इत्यादिवाक्यशेषे श्रूयमाणपापक्षयस्य रात्रिसत्रन्यायेन ज्ञानफलत्वकल्पनया सगुणासु विद्यासु दुरितक्षयकामो ब्रह्मोपासनं कुर्यादिति प्रायश्चित्तविधित्वोपपत्तेः ।

'उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च ।
प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचारेत् ॥' इति स्मरणाच्च ।
सत्येनापि शपेद्यस्तु देवाग्निगुरुसंनिधौ ।
तस्य वैवस्वतो राजा धर्मस्यार्द्धं निकृन्तति ॥'

इत्यादिस्मरणात्, सुकृतस्यापि भोगैकनाश्यत्वनियमानुपपत्तेः । 'नाऽभुक्तं क्षीयते' इत्यादेरौत्सर्गिकत्वादपवादं परिहृत्यैव चोत्सर्गस्थितेः । निर्गुणब्रह्मविद्यायाश्च सर्वकर्महेतुभूताऽविद्यानिरासिकाया अदृष्टद्वारेणैव तत्कार्यपुण्यापुण्यनिवर्तकत्वोपपत्तेः । न च कायव्यूहनिर्माणेन

अभ्युपगम्य वेदमुक्तम्, वस्तुतस्तु कृतप्रायश्चित्तत्वमपि शक्यसंपादमित्यर्थसिद्धिमाह—न चाकृतप्रायश्चित्तत्वमिति । ननु पापक्षयोद्देशेनाविहितस्य कथं प्रायश्चित्तत्वावधारणं तत्राह—एवं हास्येति । ननु वाक्यशेषे श्रूयमाणमपापश्लोकश्रवणवदर्थवाद इति तत्राह—रात्रीति । यथा हि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यत्र विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्कामपदविपरिणामेन प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्रं कुर्यादिति कल्पितं तद्वदित्यर्थः । ज्ञानफलत्वेति । ज्ञानं प्रति फलत्वेन कल्पनयेत्यर्थः । साक्षादेव च पापक्षयोद्देशेने ध्यानविधायिका स्मृतिरप्यस्तीत्याह—उपपातकेष्विति । रजनीपादः रजन्याश्चतुर्थभागः । नन्वस्तु दुरिते न नियमः सुकृते तु भोगैकविनाश्यत्वनियमोऽस्त्येवेति तत्राह—सत्येनापीति । ननु तर्हि भोगैकविनाश्यत्वप्रतिपादकवचनस्य का गतिरिति तत्राह—नाभुक्तमिति । ननु तथापि निर्गुणज्ञानस्य कथं कर्मनिवर्तकत्वम् ? नहि तदुद्देशेने ध्यानं विधातुमुचितमिति तत्राह—निर्गुणेति । नायं शास्त्रैकगम्योऽर्थः, वस्तुवृत्तेनैव तत्सिद्धेः, नहि रज्जुतत्त्वज्ञानस्य भयकम्पादिनिवर्तकत्वं शास्त्रमन्तरेण न बुद्धयत इति भावः । तदेवं ज्ञाननिवर्त्यत्वान्न जीवन्मुक्तिदशायां सर्वकर्मफलोपभोग इत्युक्तम् । इदानीमशक्यत्वादपि न सर्वकर्मफलोपभोगसंभव इत्याह—न च कायेति । देहदेशादिवत्कालोऽपि सहकारी, सहस्रसंवत्सरादिपरिमितभोग्यस्य तत्र तत्र फलत्वेन श्रवणात्, सच न योगीच्छामनुवर्तते, युगपदेव च तस्योपसंहारे तादृशफलप्रति-

---

ज्ञानी के कर्मों का प्रायश्चित्त नहीं किया गया—यह बात भी नहीं, अपि तु "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः
प्रदूयन्ते" (इस प्रकार ज्ञानी के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं—छां० उ० ५।२४।३) "एवंविदि
पापं कर्म न श्लिष्यते" (इस प्रकार के ज्ञानी में पाप कर्मों का सम्बन्ध नहीं रहता—छां० ४।१४।३)
आदि वाक्यशेष में श्रुत पाप-क्षय को ज्ञान का वैसे ही फल माना जा सकता है, जैसे "प्रतितिष्ठन्ति
ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति" (उन की प्रतिष्ठा होती है, जो इन रात्रिसंज्ञक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं)
इस वाक्यशेष में श्रुत प्रतिष्ठा-लाभ रात्रिसत्र का फल माना जाता है। इस प्रकार सगुण
उपासनाओं में "दुरितक्षयकामो ब्रह्मोपासनं कुर्यात्"—इस प्रकार प्रायश्चित्त-विधि की कल्पना हो
सकती है। स्मृति ने स्पष्ट कहा है कि "सभी महान् पातकों और उपपातकों में रात्रि के प्रथम याम
में ब्रह्म-ध्यान करे।" एवं "जो सत्य शब्दोच्चारण करके देव, अग्नि और गुरु की सन्निधि में शपथ
खाता है, उसका आधा धर्म, वैवस्वत राजा काट लेता है"—इस स्मृति के आधार पर पुण्य में भोग
मात्र से नाश्यत्व नहीं बनता। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म"—आदि पुराण-वचन तो औत्सर्गिक हैं, औत्स-
र्गिक वचनों की प्रवृत्ति अपवाद स्थलों को छोड़कर ही हुआ करती है। सर्व कर्म-हेतुभूत अविद्या की
निवर्तक होने से निर्गुण ब्रह्म-विद्या, अदृष्ट-द्वारा अविद्या के कार्य पुण्य और अपुण्य की निवर्तिका बन
जायगी। काय-व्यूह-निर्माण के द्वारा युगपत् सब कर्म-फलों का उपभोग सम्भव भी नहीं; क्योंकि

युगपत्सर्वकर्मफलोपभोगसंभवः; तत्तत्कल्पमन्वन्तरादिनियतकालोपभोग्यानां युगपदुपभोगे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न च प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणामेव मुक्तिः, येन कायव्यूहनिर्माणेन युगपदशेषकर्मफलोपभोगः स्यात् ; न त्वेवम् । भगवता पतञ्जलिना नियमाभावाभिधानात्—'यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राकारं दग्धक्लेशबीजं भवति, तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति, एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा'इति । जनकजडभरतविदुरधर्मव्याधपिङ्गलादीनामप्राप्तैश्वर्याणामपि मुक्तिस्मरणाच्च ।

न च युगपद्भोगे सहकारिसाकल्यम, भविष्यत्तत्तत्कल्पमन्वन्तरादीनां सहकारिणामिदानीमाहर्तुमशक्यत्वात् । न च प्रसक्तकण्टकादिदुःखनिर्वृत्तिवन्मुक्तौ दुखःनिवृत्तेर्वर्तमान-

---

पादकशास्त्रार्थपरित्यागादप्रामाण्यप्रसङ्गस्तस्येत्यर्थः । किंचाव्यापिका चेयं कल्पना यत्कायव्यूहानिर्माणेन सर्वकर्मफलान्युपभुक्तवतो मोक्ष इति, अप्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां कायव्यूहनिर्माणप्रवीणानामपि योगशास्त्रकृतवचनबलात्तत्तदितिहासपुराणादिगतलिङ्गावगमाच्च मुक्तिविज्ञानात्, त्वत्पक्षे च तेषाममुक्तिरेव स्यात् । नच बद्धैकस्वभावाः केचन जीवा इति वचनीयम्, तथा सति तत्त्वशङ्कया सर्वेषामप्रवृत्त्यापातात् । नच शमदमविषयवैतृष्ण्याद्युपलम्भाच्छङ्कोच्छेदेन विस्रब्धप्रवृत्तिरिति वचनीयम्, शमदमादेरपि निर्निमित्तमनुत्पत्तेः सनिमित्तत्वे च तन्निमित्तानुष्ठानदशायामेवैषा शङ्का निरङ्कुशा स्यात्तदेतदखिलं हृद्यालिख्याह—न च प्राप्तेत्यादिना । यदा निर्धूतेति । सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति विभूतिपादावसानसूत्रं व्याचक्षाणः परमर्षिराह— यदेत्यादिः । रजस्तमोलक्षणे मले निर्धूते यस्मिन् बुद्ध्याकारपरिणते सत्त्वगुणे तत्सत्त्वं तथोक्तम्, अत एव पुरुषबुद्ध्योरन्यतैकाकारप्रत्ययमात्रेण परिणतम्, तथा क्लेशानविद्यादीन् प्रति दग्धो बीजभावो यस्य न पुनरकृतार्थचित्तवत्प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारक्लेशः कृतभोगविवेकख्यातिलक्षणपुरुषार्थद्वयत्वात्, तत्तथोक्तम्, एवं यदा भवति चित्तसत्त्वं तदा पुरुषशुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति पुरुषशुद्धिसदृशशुद्धिमुद्भावयति । यथाहि पुरुषश्चिन्मात्रतया स्वच्छः तथा सत्त्वमपि तन्मात्राकारत्वाद्भवति निर्मलतया सरूपम्, अथ कैवल्यं भवति कस्य ईश्वरस्य पूर्वोक्तसंयमविशेषैर्ज्ञानक्रियाशक्तिमतः, अनीश्वरस्य वा चक्षुरन्तःकरणयोः संत्र-धर्संयमाद्विवेकजज्ञानमित्यनन्तरोक्तसंयमाद्विवेकजज्ञानवतः ? इतरस्य वा उत्पन्नविवेकख्यातेरिति तदिहाप्राप्तैश्वर्यस्यापि इतरवदेव मुक्तिं शास्तीत्यर्थः ।

यत्तु युगपदुपभोगे सहकारीसाहित्यात्समानविपाकतेति तत्राह—न च युगपदिति । यत्तु यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वेऽपि कण्टकादिदुःखनिवृत्तिवदशेषदुःखनिवृत्तेरप्यनुभवमात्रात्पुरुषार्थत्वं संभवनि योगर्धिसामर्थ्याच्च सकलदुःखाभावानुभवसंभव इति तदप्युक्तन्यायेन परिहरति—न च प्रसक्तेति । नन्व-

---

विभिन्न कल्प-मन्वन्तरादि नियतकाल में उपभोग-योग्य कर्मों का युगपत् उपभोग मानने पर उसके व्यवस्थापक शास्त्र में अप्रामाण्य आ जायगा । दूसरी बात यह भी है कि अणिमादि ऐश्वर्य-सम्पन्न योगियों की ही मुक्ति होगी—यह कोई नियम नहीं, कि जिससे काय-व्यूह-निर्माण के द्वारा अशेष कर्म-फलों का उपभोग हो जाय । भगवान् व्यास ने उक्त नियम का अभाव कहा है—"जब कि बुद्धिरूप सत्त्वगुण के रजोगुण तथा तमोगुण रूप मल धुल जाते हैं, वह (बुद्धिसत्त्व) प्रकृति–पुरुष के विवेकज्ञानमात्र का आकार धारण कर दग्ध क्लेश-बीजवाला हो जाता है, तब पुरुष-जैसी स्वच्छता से सम्पन्न होता है । उस अवस्था में कैवल्य-लाभ होता है, भले ही वह अणिमादि ऐश्वयं से सम्पन्न हो, या न हो ।" (यो० भा० ३।५५)। जनक, जड भरत, विदुर, धर्मव्याध और पिङ्गलादि—जैसे ऐश्वर्यासम्पन्न पुरुषों की मुक्ति का उल्लेख शास्त्रों में किया गया है ।

यह जो कहा था कि युगपत् उपभोग में सहकारि-साकल्य का लाभ हो जाता है । वह भी संगत नहीं ; क्योंकि भावी विभिन्न कल्प-मन्वन्तरादि सहकारी तत्त्वों का इसी समय लाभ सम्भव नहीं । 'प्राप्त

तया साक्षात्कारसंभवः; अप्राप्तैश्वर्यस्यापि मुक्तिप्रतिपादनेन तदसंभवस्योपपादितत्वात्। न च दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः, सुखाभिव्यक्तिशेषत्वात्। न च विपरिवृत्तिप्रसङ्गः, विकल्पासहत्वात्। किं सुखं दुःखाभावस्योत्पादकम्? उताभिव्यञ्जकम्? नोभयथापि; आत्मनि समस्तदुःखाभावमनुभवतोऽप्यकस्मादुपनतविपञ्चीस्वरश्रवणादौ सुखोत्पत्तेः। न च संतापवतः शीतह्रदे निमग्नार्धकायस्य सत्येव दुःखे सुखोपलम्भात्, न दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषतेति वाच्यम्; सुखस्य दुःखाभावैकाभिव्यङ्ग्यत्वनियमानभ्युपगमात्, अनुभूयमानो दुःखाभावः सुखमभिव्यनक्त्येवेति नियमात्। ननु वैषयिकसुखस्य कण्टकादिनिवृत्तावननुभवात्, आत्मनश्च सुखरूपत्वासंप्रतिपत्तेर्न दुःखाभावस्य सुखाभिव्यक्तिशेषतेति चेत्, न; आत्मनः सुखरूपत्वस्यानन्तरमेव निवेदयिष्यमाणत्वात्। प्रयोगश्चासमीचीनः, वेदान्तिनः प्रति हेतोरसिद्धत्वात्, दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनविकलत्वात्, आकाशस्यापि प्रलये

त्राप्युक्तं वैपरीत्यं किं न स्यादिति तत्राह—न च विपरिवृत्तीति। यदिदं दुःखाभावशेषत्वं सुखस्य तत्किं तदुत्पादकतया? तदभिव्यञ्जकतया वा? इति विकल्प्योभयथापि व्यभिचारमाह—आत्मनीति। विपञ्ची वीणा। नहि विद्यमान एव दुःखाभावो वीणापणवादिनिनादैरुत्पाद्यते अनुभूयमान एव वाभिव्यज्यत इत्यर्थः। ननु दुःखाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषताप्युक्ता दुःखानुभवसमयेऽपि सुखानुभवदर्शनादिति तत्राह—न च संतापवत इति। मूर्च्छादौ सुखानुभवप्रसङ्गवारणायोक्तम्—अनुभूयमान इति। स्यादेतत्—यदिदं दुःखाभावेनाभिव्यङ्ग्यतयाभिमतं सुखम्, तत् किं वैषयिकम्? उत स्वाभाविकम्? नाद्यः, कण्टकादिदुःखनिवृत्तिसमये चन्दनवनितादिसंवादाभावेन तत्सुखस्य तदानीमभावात्। न द्वितीयः, तत्र प्रमाणाभावादिति शङ्कते—नन्विति। यत्तु लीलावतीकारानुमानं तद्दूषयति—प्रयोग इति। निर्गु-

---

कण्टकादिदुःख-निवृत्ति के समान मुक्ति में दुःख-निवृत्ति, वर्तमान होने से साक्षात्कार की विषय हो जायगी'—यह भी सम्भव नहीं; क्योंकि जिसने ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं की है, उसे भी मुक्ति-प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है, अतः उस (योग-बल से दुःखाभाव के साक्षात्कार) का असम्भव कहा जा चुका है। सुखाभिव्यक्ति का शेष (अङ्ग) होने से दुःखाभाव स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं बन सकता। यह जो कहा था कि विपरीत (सुख अङ्ग और दुःखाभाव अङ्गी) क्यों न हो जाय? वहाँ जिज्ञासा होती है कि सुख, दुःखाभाव का उत्पादक होकर अङ्ग होगा? या अभिव्यञ्जक होकर? दोनों प्रकार सम्भव नहीं; क्योंकि जिस व्यक्ति में दुःखाभाव पहले से ही विद्यमान है और उसका वह व्यक्ति अनुभव भी कर रहा है, उसे भी वीणा-स्वर सुनते ही एक महान् सुख प्राप्त होता है (वह सुखविशेष अपने पूर्व विद्यमान और अनुभूत दुःखाभाव का न तो उत्पादक हो सकता है और न व्यञ्जक)। यदि कहें कि (द्र० ब्र० सि० पृ० १) जो व्यक्ति शीत तड़ाक के कटिपर्यन्त जल में खड़ा है, ऊपर से प्रचण्ड मार्तण्ड की प्रखर किरणें उसका शिर तपा रही हैं; वह व्यक्ति दुःख के रहने पर भी सुख का अनुभव करता है, अतः दुःखाभाव, सुखाभिव्यक्ति का शेष कैसे हो सकता है? तो यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि एक मात्र दुःखाभाव से ही सुख की अभिव्यक्ति नहीं मानी जाती, हाँ अनुभूयमान दुःखाभाव सुख कीं अभिव्यक्ति करता ही है—यह नियम माना जाता है। यदि कहा जाय कि कण्टकादि की निवृत्ति के समय वैषयिक सुख अनुभव में नहीं आता और स्वाभाविक (आत्मस्वरूप) सुख में कोई प्रमाण नहीं; अतः दुःखाभाव, सुखाभिव्यक्ति का अङ्ग नहीं बन सकता। तो यह कहना संगत नहीं; क्योंकि आत्मा की सुखरूपता में प्रमाण आगे चलकर कहनेवाले हैं। यह जो न्यायलीलावतीकार ने अनुमान किया था (आत्मा कदाचिद् ध्वस्ताशेषविशेषगुणः, नित्यत्वे सत्यनित्यविशेषगुणाश्रयत्वात्, महाप्रलयावस्थायामाकाशवत्)। वह समीचीन नहीं; क्योंकि वेदान्तियों के प्रति हेतु ही असिद्ध है और दृष्टान्त भी साध्य-विकल है; क्योंकि आकाश का भी

लयाभ्युपगमात्। अस्तु तर्हि 'दुःखसंततिरत्यन्तमुच्छिद्यते संततित्वात् प्रदीपसंततिवत्' इति किरणावलीकारप्रयोग इति चेत्, न; पार्थिवपरमाणुरूपादिसंताने त्वन्मते व्यभिचारात्। ननु सर्वमुक्तौ सापि संततिः उच्छिद्यते, धर्माधर्माख्यनिमित्तस्य सुखदुःखोपभोगलक्षणप्रयोजनस्य चाभावादिति चेत्, मैवम्; सर्वमुक्त्यनङ्गीकारवादिनं प्रति एवं पर्यनुयोगायोगात्, कन्दलीकारलीलावतीकारप्रभृतिभिः कैश्चिद्वैशेषिकविशेषैः सर्वमुक्तेरनङ्गीकारात्, केषांचिदात्मनां संसार्येकस्वभावताङ्गीकारात्। न चैवं सति सर्वेषां तथात्वशङ्कया मोक्षसाधनाननुष्ठानप्रसङ्गः; शमदमोपरमतितिक्षादिना मुमुक्षुचिह्नेन श्रुतिसिद्धेन तथात्वशङ्कानिवृत्तेः।

वक्रानुमानं पुनः सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम्, न हि मुक्तस्य दुःखनिवृत्तौ कश्चिद्विप्रतिपद्यते। तृतीयमपि मोक्षलक्षणमसंभवित्वदोषेण निरसनीयम्; योगप्रभावनियमनिराकरणात्, अनागतदुःखध्वंसस्य साक्षात्कर्तुमशक्यत्वात्, चरमदुःखध्वंसदशायां विज्ञानस्यापि

णात्मवादिनो वेदान्तिनो हेतुरसिद्ध इत्यर्थः। साधनवैकल्यं सुबोधम्। आश्रयहीनश्च दृष्टान्तः। अत्यन्तमुच्छिद्यत इति। दुःखप्रागभावासमानकालीनध्वंसप्रतियोगिनीत्यर्थः। प्रलयावस्थायां दुःखसन्ततेरुच्छेदस्वीकारात्सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमत्यन्तग्रहणम्। **पार्थिवेति**। तत्र हि सन्ततित्वमस्ति, नचात्यन्तोच्छित्तिः सर्गान्तरेषु रूपाद्युत्पत्तेरित्यर्थः। अत्र तदीयमेव परिहारं समुद्भावयति—**नन्विति**। यदा हि सर्वेषां मुक्तिरिति पक्षः तदा क्रमेण सर्वेषु मुक्तेषु सत्सु निमित्तप्रयोजनयोरभावात्साप्यत्यन्तमुच्छिद्यत इत्यर्थः। स्यादेवं यद्येवमेव सर्वतार्किकाणां संमतिः, सैव तु नास्तीत्याह—**मैवं सर्वेति**। ननु तर्हि कस्यापि मुक्त्यर्था प्रवृत्तिर्न स्यात्सर्वेषामात्मानि बद्धैकस्वभावत्वशङ्कयेति तत्र श्रीवल्लभीयं परिहारमाह—**न चैवमिति**।

सिद्धसाधनतामेव विशदयति—**न हीति**। ज्ञानाजनकसंस्कारेत्यादिपक्षं दूषयति—**तृतीयमपीति**। चरमदुःखध्वंसः किमनागतः साक्षात्क्रियते ? किंवा वर्तमानः ? नाद्यः, योगप्रभावनियमनिरासेनानागतसाक्षात्कारनियमनिराकरणादित्याह—**योगेति**। द्वितीये प्राह—**चरमेति**। ततः साक्षात्कारविषयो दुःखध्वंस इत्यंशोऽसंभवीत्यर्थः। या तु दुःखनिवृत्तिमात्रमेव मोक्ष इत्यत्र श्रुतिरुदाहृता, तामन्यथयति—

प्रलय में लय माना जाता है। "दुःख-सन्तति, अत्यन्त उच्छिन्न हो जाती है, सन्तति होने से, जैसे—प्रदीप-सन्तति" (किर० पृ० ९)—यह किरणावलीकार का प्रयोग भी युक्त नहीं; क्योंकि पार्थिव परमाणुगत रूप की सन्तति में न्याय-मत से ही व्यभिचार है। यदि कहें कि जब सब जीवों की मुक्ति हो जाती है, तब उक्त रूपादि-सन्तति का निमित्त (जीवों के धर्माधर्मादि) और प्रयोजन (सुख-दुःख का उपभोग) के न रहने से वह सन्तति भी उच्छिन्न ही हो जाती है, अतः वहाँ सन्ततित्व भी है और उच्छेद भी, अतः व्यभिचार नहीं। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि जो सर्व जीवों की मुक्ति नहीं मानते, उनके प्रति यह समाधान सम्भव नहीं। कन्दलीकार और लीलावतीकार आदि कुछ वैशेषिकगण सर्व जीवों की मुक्ति नहीं मानते। कुछ आत्माओं में एकमात्र संसारी-स्वभावता ही मानते हैं, यदि कहें कि इस प्रकार की संसारी-स्वभावता का सन्देह हो जाने से मोक्ष-साधनों के अनुष्ठान में किसी की प्रवृत्ति ही न होगी। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि श्रुति-सिद्ध शम दम, उपरति और तितिक्षादि साधनों में अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखकर सदा-बद्धत्व की सम्भावना निवृत्त हो जाती है (द्र० न्या० ली० पृ० ५९८ तथा न्या० कं० पृ० २८२)।

ऊपर जो वक्ररीति का अनुमान किया गया था (देवदत्तोऽयमेवंविधदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् चैत्रवत्)। वह सिद्ध-साधन होने से उपेक्षणीय है; क्योंकि मुक्तिगत दुःख-निवृत्ति में किसी का विवाद नहीं। मोक्ष का तृतीय (ज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयो दुःखध्वंसः) लक्षण में असम्भवित्व दोष है, क्योंकि योग-प्रभाव-नियम का निराकरण किया गया है, अनागत-दुःख-ध्वंस का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता, और अन्तिम दुःख-ध्वंस-दशामें विशेषगुणरूप विज्ञान का

विशेषगुणस्योच्छेदस्याङ्गीकारात्। प्रियस्पर्शनिषेधश्रुतिस्तु वैषयिकसुखनिषेधपरा, अन्यथा 'एषोऽस्य परमानन्दः', 'यो वै भूमा तत्सुखम्'इति सुखरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्। न चासामुपचरितार्थत्वम्; मुख्यार्थे बाधकाभावात्। न च नित्यसुखस्यानुपलब्धिर्बाधिका; नित्यज्ञानवदुपपत्तेः। सुखस्य विषयेन्द्रियादिजन्यत्वव्याप्तेश्च ज्ञानेच्छादेर्जन्यत्वव्याप्तिवदेव निरसनीयत्वात, श्रुत्यवष्टम्भेन नित्यत्वाङ्गीकारस्योभयत्रापि तुल्यत्वाद्विषयाद्यभावेऽपि सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरार्शदर्शनाच्च। न च दुःखपरामशस्यापि सत्त्वान्नित्यदुःखरूपत्वमपि तुल्यमिति वाच्यम्; नित्यदुःखरूपतायामात्मनः परमप्रेमास्पदत्वव्याकोपात्। न च दुःखाभावे व्यभिचारादिदमसाधनमिति वाच्यम्; तस्य सुखशेषतया परमप्रेमास्पदत्वाभावात्।

प्रियस्पर्शेति। मुक्तिदशायामानन्दप्रतिपादकश्रुतिराशेर्मुख्यार्थप्रच्यवनेनोपचरितार्थत्वकल्पनाद्वरं प्रियस्पर्शनिषेधस्य वैषयिकप्रियस्पर्शतया संकोचमात्रत्वमिति भावः। नित्यज्ञानेति। यथाहि जीवज्ञानेच्छाप्रयत्नानामनित्यत्वेऽप्यैश्वरज्ञानादेर्नित्यत्वमिन्द्रियादेर्हेतुजातस्य च न ज्ञानादिमात्रं प्रति व्याप्तिः, किंतु तद्विशेषं प्रतीति भवद्भिः कल्प्यते, तत्कस्य हेतोः? योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावात्, अनन्यथासिद्धश्रुतिसमर्पितत्वाच्च, तथात्रापि स्वरूपभूतसुखस्य नित्यत्वेऽप्यविद्यावृततया ससारदशायामुपलब्धुमयोग्यत्वाच्छ्रुतिबलाच्च नापलापसभव इति खण्डलकार्थः। अपि चोपलभ्यत एव संसारदशायामपि नित्यमुखमित्याह—विषयाद्यभावेऽपीति। या त्वत्रातिप्रसक्तिरुक्ता, तां परिहरति—न चेति। परप्रेमास्पदत्वमेव दुःखरूपतायां न घटत इत्यर्थः। अत्र यदुक्तम्—दुःखाभावेऽपि परप्रेम्णो दशनान्न सुखरूपतासाधकं परप्रेमास्पदत्वमिति, तत्राह—न च दुःखेति। निरुपाधिकत्वं हि प्रेम्णः परत्वं नाम, तथाच सुखशेषदुःखाभावे कथं परत्वमित्यर्थः! एवं परामर्शान्यथानुपपत्त्या सुखरूपत्वमुक्तम्, संप्रति परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—परप्रेमेति।

भी उच्छेद माना जाता है। प्रिय-स्पर्श-निषेध का बोध करानेवाली श्रुति, वैषयिक सुख-निषेध-परक है। अन्यथा "एषोऽस्य परमानन्दः", "यो वै भूमा तत्सुखम्"—आदि सुखरूपता की प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध होगा। ये श्रुतियाँ गौणार्थक हैं—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि मुख्यार्थ में कोई बाधक नहीं। नित्य सुख की अनुपलब्धि बाधक है—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि इन्द्रियों से अनुपलब्ध होने पर भी जैसे ईश्वर का नित्य ज्ञान माना जाता है, वैसे ही इन्द्रिय से अनुपलब्ध नित्य सुख भी क्यों न माना जा सकेगा? सुख में इन्द्रियादि-जन्यत्व की व्याप्ति का निराकरण, ज्ञान तथा इच्छादि में जन्यत्व की व्याप्ति के समान ही कर लेना चाहिए (अर्थात् 'जो भी ज्ञान होता है, वह जन्य होता है'—यह व्याप्ति जैसे ईश्वर में नित्यज्ञान माननेवाले नहीं मान सकते, वैसे ही 'जो भी सुख होता है,वह विषय-इन्द्रिय से जन्य होता है'—यह व्याप्ति हमारे मत में नहीं मानी जाती)। श्रुति के आधार पर तो ज्ञान और सुख—दोनों में नित्यत्व-साधन समान ही है। वस्तुतः हमारे नित्य सुख की अनुपलब्धि भी नहीं, क्योंकि विषयादि के न रहने पर भी सुषुप्ति से उठे व्यक्तिको "सुखमहमस्वाप्सम्"—इस प्रकार सुख का परामर्श देखा जाता है। 'इसी के समान दुःख का परामर्श भी देखा जाता है, अतः आत्मा को नित्य दुःखरूप भी मानना होगा'—यह कहना उचित नहीं; क्योंकि आत्मामें नित्य दुःखरूपता मानने पर परमप्रेमास्पदता का विरोध होगा। 'परमप्रेमास्पदत्व हेतु, दुःखाभाव में व्यभिचरित होने से सुखरूपता का साधक नहीं'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि दुःखाभाव, सुखका शेष माना जाता है, अतः उसमें परमप्रेमास्पदत्व ही नहीं माना जाता।

परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मनः सुखरूपत्वे प्रमाणम् । आत्मनः प्रेमास्पदतायां न कस्यचिद्विवादः, मा न भूवं भूयासमित्यात्मन्याशिषो लौकिकपरीक्षकसंमतत्वात् । न चेयमाशीः शरीरोपघातजन्मनो दुःखाद्बिभ्यतो न पुनरात्मानमानन्दं मन्यमानस्येति युक्तम्; शरीरोपघातजन्मनो भयस्याप्यात्मनः प्रेमास्पदत्वमन्तरानुपपत्तेः, न हि दुःखं दुःखतया भयहेतुरन्यगतस्यापि तथाभावप्रसङ्गात् । 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्'इति प्रेमास्पदत्वश्रुतेश्च । न च दुःखाभावतयात्मनः प्रेमास्पदत्वम्, भावरूपत्वात् । नापि तदाश्रयतया, दुःखदशायामप्यात्मनि प्रेमोपलम्भात् । नापि तत्साधनतया, साधने प्रेम्णो निरुपाधिकत्वासंभवात् । अत एव न सुखसाधनतयापि सुखस्याप्यात्मार्थतया प्रेमास्पदत्वात् । अतः सकललौकिकवैदिकसुखगोचरप्रेम्णोऽतिशयो स्वात्मनि प्रेमा, निरतिशयसुखगोचरप्रेमसमान एवात्मन्यवकल्पत इत्यर्थापत्त्याऽऽत्मनो निरतिशयसुखस्वभावत्वसिद्धिः । प्रयोगश्च—

कुम्भः कुम्भेतराचित्कासुखान्यान्यः प्रसाध्यताम् ।
कुम्भत्वेन यदित्थं तत्तथा कुम्भान्तरं यथा ॥२॥

इदानीं परप्रेमास्पदत्वस्यैव कल्पकं साधयति—आत्मन इत्यादिना । शरीरेति । शरीरस्य य उपघातः हिंसा तज्जन्यं यद्दुःखं तद्भयादेवेयं प्रार्थनेत्यर्थः । ननु दुःखस्वभावादेव भयजन्मेति तत्राह—नहि दुःखमिति । परप्रेमास्पदत्वे श्रुतिमप्याह—तदेतदिति । तदेतदात्मतत्त्वं पुत्रादपि प्रियतममित्यादि बृहदारण्यकश्रुतेरर्थः । भवतु तर्हि दुःखाभावत्वादिति तत्राह—न च दुःखेति । अस्तु तर्हि दुःखाभावाश्रयतयेति नेत्याह—दुःखेति । तत्साधनतयेति दुःखाभावसाधनतयेत्यर्थः । अत एव निरुपाधिकत्वादित्यर्थः । सुखस्यापीति । तथापि कथं निरतिशयत्वमित्यत आह—अत इति । अप्रकाशमानस्य पुरुषार्थत्वं न संभवतीत्यत उक्तम्—समान इति । आत्मस्वरूपसुखसद्भावे अनुमानमप्याह—कुम्भ इति । अत्र कुम्भविशेषः पक्षः । श्लोकं विवृणोति—कुम्भोऽयमिति । अयं कुम्भ एतत्कुम्भेतरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणादन्यः कुम्भत्वात्कुम्भान्तरवदित्यर्थः । अत्र च सुखत्वानधिकरणादन्य इत्युक्ते सुखादन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थमनात्मासुखान्यान्य इत्युक्तम्, तथा चाप्रसिद्धविशेषणता, अनात्मत्वासुख-

आत्मा की सुखरूपतामें परमप्रेमास्पदत्व की अनुपपत्ति भी प्रमाण है । आत्मा की प्रेमास्पदता में किसे विवाद होगा ? जब कि "मा न भूवम्", "भूयासम्"—इस प्रकार की कामना प्रत्येक लौकिक और परीक्षक व्यक्ति में पाई जाती है । यदि कहें कि उक्त कामना, शरीर-पात-जन्य दुख के भय से होती है, न कि आत्मा को सुखरूप जानकर । तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि शरीर-पात-जन्यभय भी आत्मा में प्रेमास्पदत्व के विना बनता नहीं । दुःख, दुःख है—एतावता भय-हेतु होगा—यह बात नहीं; क्योंकि दुःख को स्वाभाविक भय-हेतु मानने पर परपुरुषगत दुख भी भय का हेतु होना चाहिए । "तदेतत् प्रेयः पुत्रात्" (बृह० उ० १।४।८)—इस प्रकार श्रुति ने आत्मामें प्रेमास्पदत्व का स्पष्ट प्रतिपादन किया है । 'दुःखाभावरूप होने से आत्मामें प्रेमास्पदत्व है'—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आत्मा भावरूप है, अभाव नहीं । दुःखाभाव का आश्रय होने से भी आत्मा प्रेमास्पद नहीं हो सकता; क्योंकि दुःख के रहने पर भी आत्मा में प्रेम की उपलब्धि होती है । 'दुःखाभावकी साधनता होने से आत्मा में प्रेम है'—यह नहीं कह सकते; क्योंकि साधन में निरुपाधिक (स्वाभाविक) प्रेम नहीं होता । अत एव आत्मा में सुख-साधनत्व भी प्रेम का प्रयोजक नहीं; क्योंकि-उलटे सुख में आत्मार्थत्व ही प्रेम का प्रयोजक माना जाता है । अतः समस्त लौकिक-वैदिक सुखविषयक प्रेम का अतिशायी (निरतिशय) परमप्रेम, निरतिशय सुखविषयक प्रेम-समान आत्मामें ही बन सकता है—इस प्रकार अर्थापत्ति के आधार पर आत्मामें नितिशयसुखस्वरूपत्व सिद्ध होता है । इसी अर्थ का साधक अनुमान प्रयोग भी है—"यह घट, स्वेतर अनात्मासुख-भिन्न से भिन्न है,

कुम्भोऽयमेतदितरानात्मासुखान्यान्यः कुम्भत्वात्संप्रतिपन्नकुम्भवत्। न च कुम्भोऽयमेतदितरानात्मादुःखान्यान्यः कुम्भत्वात्संप्रतिपन्नकुम्भवदित्याभाससमानयोगक्षेमता, तस्यागमार्थापत्तिबाधितविषयतयानुत्थानात्। किं च सुखप्रेम्णोः संबन्ध आत्मनिष्ठः सुखनिष्ठत्वात्संप्रतिपन्नलक्ष्यत्वादिवत् । न च सुखनिष्ठोत्कर्षापकर्षादिधर्मैरनेकान्तता; तेषां वेदान्तिभिः सुखनिष्ठतानङ्गीकारात् तत्प्रतीतेरौपाधिकत्वाभ्युपगमात्। न चेदृशसंबन्धोऽनात्मनिष्ठः प्रेमनिष्ठत्वात्सत्तादिवदिति सप्रतिसाधनता; प्रेमनिष्ठतयैव सिद्धसाधनत्वादनात्मनिष्ठ एवेति तु साधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। सत्तादेरात्मानात्मनिष्ठत्वस्य परैरङ्गीकारात्। न च नित्यसुखरूपत्वे मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गः, तस्याविद्यातिमिरतिरोधानातिरोधानाभ्यां

त्वानधिकरणस्यैकस्यासंप्रतिपत्तेर्नह्यात्मरूपं किंचित्संप्रतिपन्नमस्ति सुख प्रतिवादिनः। तस्मादप्रसिद्धविशेषणतापरिहारार्थमेतदितरेत्युक्तम्। एतत्कुम्भेतरत्वेन कुम्भान्तरे साध्यप्रसिद्धिः। अस्य हि कुम्भस्यानात्मत्वासुखत्वाधिकरणत्वेऽन्येतदितरत्वे सति तदधिकरणत्वं नास्त्येव, एतस्यैवैतदितरत्वाभावात्। पक्षे त्वेतदितरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वम्, एतदितरत्वानधिकरणत्वाद्वा ? अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वाद्वा ? प्रथमे व्याहतिः, नह्येतस्मादस्यान्यत्वं संभवति। द्वितीये त्वेतदतिरिक्तमनात्मत्वासुखत्वानधिकरणं किंचिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यात्मरूपसुखसिद्धिः।

नन्वाभाससमानयोगक्षेमोऽयमात्मस्वरूपभूतदुःखस्यापि कस्यचिदेवं शक्यसाधनत्वादिति तत्राह—न चेति। आगम आनन्दरूपताप्रतिपादकस्तदतत्प्रेय इति। अर्थापत्तिश्च परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिः, स्वापोत्थितपरामर्शान्यथानुपपत्तिर्वा। सुखरूपतायामनुमानान्तरमप्याह—किंचेति। इदं हि सुखरूपतां प्रेमरूपतां चात्मनः साधयति। तत्रापि प्रेमरूपतोभयवादिविप्रतिषिद्धेति सुखरूपतासिद्धिः। ननु 'ते ये शत'मिति श्रुतौ मानुषानन्दमारभ्योत्तरोत्तरोत्कर्षः श्रूयते, प्रतीयते च प्रत्यात्ममनुभवेन सुखस्य तारतम्यमिति, तत्राह—तत्प्रतीतेरिति। शुभकर्मोपस्थापितविषयविशेषसंपर्कात्सत्त्वप्रधाना येऽन्तःकरणपरिणामास्ते हि संसारदशायां स्वाभाविकानन्दाभिव्यञ्जकाः, तदवच्छेदाद्विषयतारतम्याच्चेदमानन्दे तारतम्यमध्यस्यत इत्यर्थः। ननु नानात्मनिष्ठत्वमात्रमत्र साध्यं येन प्रेमलक्षणानात्मानमादायार्थान्तरता, किंत्वनात्मनिष्ठ एवेति तथाच तदाधारसुखस्याप्यनात्मत्वं सिद्ध्यतीति तत्राह—अनात्मेति। पूर्वपक्ष्यनुशयं परिहरति—न चेति। नच स्वप्रकाशस्य तिरोधानमेव न संभवतीति वाच्यम्; मतद्वयेऽपि व्याप्त्यसिद्धेः। यत्तु प्रेमास्पदत्वमेव सुखरूपत्वेन स्यात् सुखैकस्याप्रार्थनीयत्वादिच्छाया आत्मरूपस्योभयानभिमतत्वादित्युक्तम्, तत्प-

घट होने से, जैसे घटान्तर।" यदि कहें कि "यह घट, स्वेतर अनात्मादुःख-भिन्न से भिन्न है, घट होने से, जैसे-घटान्तर"—इस अनुमानाभास की समानता उक्त अनुमान में है। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि यह अनुमानाभास आगम और अर्थापित्ति से बाधित है और हमारा अनुमान बाधित नहीं, अतः उस की समानता इसमें नहीं। आत्मा की सुखरूपता में दूसरा भी प्रयोग है—"सुख और प्रेम का सम्बन्ध, आत्मानिष्ठ है, सुखनिष्ठ होने से, जैसे—सम्मत लक्ष्यत्वादि।" इस अनुमान में सुखनिष्ठ उत्कर्ष-अपकर्षादि धर्मों को लेकर अनैकान्तिकता दोष नहीं दे सकते; क्योंकि उक्त उत्कर्ष-अपकर्षादि धर्मों को वेदान्ती सुख-वृत्ति नहीं मानते, अपि तु उनकी औपाधिक प्रतीति सुख में मानी जाती है। उक्त अनुमान में—"ईदृश सम्बन्ध, अनात्मनिष्ठ है, मेयनिष्ठ होने से, जैसे-सत्तादि"—यह सत्प्रतिपक्ष नहीं दे सकते; क्योंकि यहाँ अनात्मनिष्ठत्व' साध्य रखने पर प्रेमनिष्ठता को लेकर सिद्धसाधनता और 'अनात्ममात्रनिष्ठत्व' साध्य रखने पर दृष्टान्त में साध्य-विकलता होती है, क्योंकि सत्तादि में अनात्ममात्रनिष्ठत्व नहीं, अपि तु आत्मा और अनात्मा-दोनों में सत्ता तार्किक मानते हैं। 'आत्मा को नित्यसुखस्वरूप मानने पर मुक्ति और संसार में कोई अन्तर ही न रहेगा'—यह कहना नितान्त असंगत है; क्योंकि संसारावस्था में वह अविद्यारूप तिमिर से तिरोहित और मुक्ति अवस्था

विशेषोपपत्तेः । न चात्मनः सुखरूपत्वे सुखं मे स्यादिति प्रेमानुपपत्तिः, संबन्धव्यपदेशस्यान्यनिष्ठताव्यावृत्तिपरत्वात् । अन्यासंबन्धिसुखसाक्षात्कारे सत्यपि संबन्धाभावापराधेनापुरुषार्थत्वानुपलब्धेः । संबन्धस्य केवलव्यतिरेकाभावात् । सुखसम्बन्धमात्रस्य पुरुषार्थत्वे परकीयसुखसंबन्धस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । संबन्धे न संबन्धान्तरमभ्युपेयं तथा चानवस्था । तस्मादात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्ययुक्तम् ।

एतेन प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात्पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्यपि परास्तम् ।

आत्मनोऽसुखरूपत्वाद्बन्धस्यान्यगतत्वतः ।
उपचारस्य वायोगात्संबन्धस्यानिरूपणात् ॥३॥

सुखसाक्षात्कारस्यैव पुरुषार्थत्वोपपादनादात्मनश्च सुखत्वानभ्युपगमात् न पुरुषस्य स्वरूप-

---

रिहरति—न चात्मन इति । नन्वन्यनिष्ठताव्यावृत्तिवत्स्वनिष्ठत्वमपि पुरुषार्थोपयोगि तथा व्यपदेशस्यापि मुख्यत्वमिति तत्राह—अन्यासंबन्धीति । योगिनः परसुखसाक्षात्कारेऽपि पुरुषार्थता नास्तीत्यन्यासंबन्धीत्युक्तम् । नच सुखस्य संबन्धित्वे विद्यमानेऽप्यन्यासंबन्धित्वाभावापराधेनापुरुषार्थत्वादर्शनात्तदप्यप्रयोजकम् । सुखात्मनोरभेदवादे संबन्धस्यासंमतत्वादुभयसंमतान्यासंबन्धित्वस्यैव प्रयोजकत्वे लाघवान्मम स्वरूपमितिवन्मम सुखमिति व्यवहारस्यान्यासंबन्धित्वेनैवोपपत्तेः । किं सुखसंबन्धमात्रं पुरुषार्थः ? किंवा स्वस्य सुखसंबन्धः ? नाद्य इत्याह—सुखसंबन्धेति । द्वितीये प्राह—संबन्धेति । वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।

इदानीं सांख्यसंमतमोक्षं निराचष्टे—एतेनेति । महदादिविकृत्यन्ताकारपरिणामिनी त्रिगुणात्मिका जडा प्रकृतिः प्रधानापरपर्याया, स हि प्रकृतिरेव न पुनर्महदादिसप्तकवत् प्रकृतिविकृत्यात्मिका, नापि पृथिव्यादिषोडशवत् विकृत्येकरूपिणी । पुरुषस्त्वसङ्गोऽनाधेयातिशयः परमोदासीनश्चिच्छक्तिः । तयोर्विवेकाग्रहणात्संसारः । विवेकदर्शनात्त्वविवेकख्यातिनिवृत्तावुदासीनरूपावस्थानं मोक्ष इति यत्सांख्यैः समाख्यायते, तदप्येतेन दुःखनिवृत्तिमात्रलक्षणमोक्षप्रतिक्षेपेण प्रतिक्षिप्तं मन्तव्यम् ; तत्राप्यानन्दानवाप्तेः समानत्वादित्यर्थः । एतस्य चान्यान्यपि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—आत्मन इति । आद्यपादं विवृणोति—सुखेति । द्वितीयपादं विवृणोति—अपि चेत्यादिना । अनाधेयातिशयोदासीनैकरसः स्वच्छः पुरुषः,

---

में सर्वथा अनावृत माना जाता है । 'आत्मा यदि सुखरूप है, तब "सुखं मे स्यात्"—यह कामना कैसे बनेगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे 'मम स्वरूपम्'—इस प्रकार के सम्बन्ध-व्यवहार का तात्पर्य अन्यनिष्ठता की व्यावृत्तिमात्र में होता है, न कि स्व-सम्बन्ध-साधन में; उसीप्रकार "सुखं मे स्यात्"—इस व्यवहार से भी सुख में अन्यनिष्ठता की व्यावृत्ति ही विवक्षित है । अन्यासम्बन्धी सुख का साक्षात्कार होने पर भी सुख में सम्बन्धोभावमात्र के कारण पुरुषार्थत्व का अभाव नहीं हो सकता, सम्बन्ध के साथ ('सम्बन्ध न होने पर पुरूषार्थत्व नहीं होता'—इस प्रकार का) केवल व्यतिरेक नहीं देखा जाता । सुख-सम्बन्ध को पुरुषार्थता का प्रयोजक मानने पर सुख-सम्बन्धमात्र को प्रयोजक माना जाय ? या सुखमें स्व-सन्बन्धी सम्बन्ध को ? सम्बन्धमात्र को प्रयोजक माननेपर परकीय सुख-सम्बन्ध में भी उसकी आपत्ति होगी और स्व-सम्बन्धी सम्बन्ध को प्रयोजक माननेपर सम्बन्धमें सम्बन्धान्तर की अपेक्षा होने से अनवस्था होगी । इसलिए आत्यन्तिकी दुःखनिवृति ही मुक्ति है—यह मत सर्वथा अयुक्त है ।

इसी प्रकार "प्रकृति और पुरुष के विवेक-दर्शन से पुरुष का अपने शुद्धस्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है"—यह सांख्य-मत भी खण्डित हो जाता है; क्योंकि सांख्य-मत में आत्मा सुखरूप नहीं, बन्ध भी उससे भिन्न बुद्धि में माना जाता है, आत्मामें बन्धका उपचार भी सम्भव नहीं; क्योंकि कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता । अर्थात् सुख-साक्षात्कार ही पुरुषार्थ माना जाता है; सांख्याचार्य आत्मा को सुखरूप मानते नहीं, अतः पुरुषका अपने स्वरूपमात्र में अवस्थान पुरुषार्थ नहीं बनता

मात्रावस्थानं पुरुषार्थः। अपि च यस्य बन्धस्तस्यैव मुक्तिः। न च पुरुषस्य बन्धः; बन्धस्य बुद्धिगतत्वाङ्गीकारात्। न चोपचाराद् बुद्धिगतावेव बन्धमोक्षौ पुरुषे व्यपदिश्येते; निमित्ताभावादुपचारानुपपत्तेः। न च स्वस्वामिभावो निमित्तम्; सर्वथोदासीनस्य स्वामिभावे दृष्टान्ताप्रसिद्धेः। न च बुद्धेः स्वत्वमपि; अनाधेयातिशयपुरुषेऽनुपकारकत्वात्। न च द्रष्टृदृश्ययोर्योग्यतालक्षणः संबन्धः, मुक्तावपि प्रसङ्गात्, तस्यास्तदाप्यनपायात्। न च पुरु-

---

नच तस्य सुखदुःखोपभोगलक्षणः संसारस्तत्प्रयोजकपुण्यापुण्यावेशो वा संभवति, भोक्तृत्वे कर्तृत्वस्यापि तन्मार्गस्याशक्यवारणत्वात्। कर्तृत्वे च परिणामितया तद्ध्यासजाड्यस्याप्यवर्जनीयतया चिच्छक्तिव्याघातेन जगत एव घोरान्धकारकूपे निपातः स्यात्। तस्माद्येयं बुद्धिः सत्त्वरजस्तमोमयी तत्रैव बन्ध इति वक्तव्यम्, तथाच बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यमित्यर्थः। स्यादेतत्–मोक्षोऽपि बन्धवद् बुद्धिगत एव, नह्यपूर्वः कश्चिदतिशयो मोक्षाख्यः पुरुषे आधायते, विद्यमानो वा कश्चिदाकारो निवर्त्यते असङ्गत्वात्। कथं तर्हि चेतने बन्धमोक्षप्रसिद्धिर्बुद्धिगतयोरपि तत्रोपचारात् स्फटिकमणाविवारुणिम्नः प्रसूनवर्तिनः, योद्धृगतस्येव विजयस्य राजनि।

उक्तं हि— "रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥" इति। (सां० का० ६३)

तथा पतञ्जलिनापि—"एवं बन्धमोक्षौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तत्फलस्य भोक्ता" इति। तत्राह—**न चोपचारादिति**। एतेन तृतीयः पादो विवृतः। असाधारणसंबन्धं निमित्तीकृत्य ह्युपचारः प्रवर्तते, यथा क्रौर्यशौर्यादिगुणगणशालिनि बलवर्मणि सिंहशब्दः। नचात्यन्तविलक्षणयोश्चैतयोरस्ति तादृशगुणयोग इत्याह—**निमित्तेति**। एतेन तुरीयचरणो विवृतः। धनदानादिना ह्युपकुर्वतां वसुधापतिप्रभृतीनां स्वामित्वं दृष्टं युद्धादिनोपकुर्वतां च भृत्यादीनां स्वत्वम्, नचेह द्वयमित्याह—**न च स्वस्वामीत्यादिना**। ननु चिच्छक्तेः पुरुषस्य द्रष्टृयोग्यताऽस्ति जडबुद्धेर्दृश्ययोग्यता, अतो योग्यतालक्षण एवानयोः संबन्धोऽस्त्वलमितरैः। युक्तं चैतत्, इतरथोभयोर्वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति, तत्राह—**न च द्रष्टृदृश्ययोरिति**। एषा योग्यता मुक्तावप्यस्तीत्यनिर्मोक्ष एव स्यादित्यर्थः। अथ संसारावस्थायामेव योग्यता न मुक्ताविति ब्रूयात्तत्राह—**तस्या इति**। स्वरूपातिरेकिणी न योग्यता नामास्तीति भावः। यदि मुक्तौ सत्यामयोग्यैव प्रकृतिस्तर्ह्येकत्वात्तस्या न किंचिदपि तत्र योग्यतेत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिः स्यात्। अथैकापि प्रकृतिर्मुक्तम् प्रत्येवायोग्या नेतरं प्रति, यथोक्तम्—"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" इति तत्राह—**न च पुरुषेति**। तत्र वक्तव्यं किमिमावपायानपायौ मुक्तामुक्तत्वलक्षणपुरुषविशेषप्रयुक्तौ ? किं वा

(द्र० न्या० म० पृ० २८२) दूसरी बात यह भी है कि जिसे बन्धन होता है, उसे ही मुक्ति मिलती है। पुरुष में बन्धन है नहीं, बन्धन बुद्धि में आप मानते हैं। बुद्धिगत बन्ध और मोक्ष का उपचार से भी आत्मा में व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि किसी प्रकार का निमित्त न होने से उपचार नहीं बन सकता। यदि कहें कि स्वस्वामिभाव के निमित्तसे (जैसे सैनिकों के जय-पराजय का व्यवहार राजा में होता है, वैसे ही) बुद्धिगत बन्ध-मोक्ष का व्यवहार आत्मा में हो जायगा (द्र० सां० तत्त्व० ६२)। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि सर्वथा उदासीन पुरुष के स्वामित्व में कोई दृष्टान्त नहीं (न्या० म० पृ० २८४)। वैसे ही बुद्धि में स्वत्व नहीं बन सकता; क्योंकि राजा के उपकारक सैनिकों में जैसे स्वत्व रहता है, वैसे अनाधेयातिशय पुरुषकी उपकारकता बुद्धि में नहीं। 'पुरुषमें द्रष्टृयोग्यता है और बुद्धिमें दृश्य-योग्यता, अतः इनका द्रष्टृदृश्ययोग्यतारूप सम्बन्ध है'—यह मानने पर मोक्ष अवस्थामें भी उक्त योग्यतारूप सम्बन्ध के रहने से वहाँ भी अनिर्मोक्षता की आपत्ति होती है। 'मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति अयोग्य और बद्ध पुरुष के लिए योग्य'—इस प्रकार पुरुष-भेद से भी प्रकृतिगत योग्यता के सत्त्वासत्त्व की व्यवस्था नहीं की जा सकती; क्योंकि

षभेदेन प्रकृतिगतयोग्यताया अपायानपायौ ; अनाधेयातिशयतया पुरुषं प्रति प्रकृतिविशेषाभावे तद्व्यवस्थानुपपत्तेः। तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्धः विद्यानिमित्तस्तदस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम्।

ननु कस्याविद्या ? किं ब्रह्मणो ? जीवानां वा ? नाद्यः, सर्वज्ञस्य तदनुपपत्तेः। न द्वितीयः, तेषां परमार्थतः परस्माद्भेदेऽद्वैतव्याघातात्। अभेदे च पूर्वदोषानुषङ्गात्, अविद्याकल्पितभेदत्वे चेतरेतराश्रयापातात्—अविद्याधीनो जीवविभागो, जीवाश्रया चाविद्येति। अनुपपत्तिरविद्याया न दूषणमिति चेत्, अनुपपत्त्यभावे मुक्तानां ब्रह्मणश्च सा किं न स्यात् ? ननु न सा मुक्तानां ब्रह्मणश्च भाति, नापि कल्प्या ; कल्पकाभावात्। मुक्तसर्वज्ञयोरविद्याश्रयत्वव्या-

---

प्रकृतिरेवैवं जानाना तिरोदधाति कंचित्प्रत्यात्मानमिति ? तत्र नाद्य इत्याह—**अनाधेयेति**। उत्तरस्तु जडत्वात्प्रकृतेरपास्यः। एवं पराभिमतं मोक्षं निरस्य स्वसिद्धान्तसिद्धमोक्षमुपसंहारव्याजेन दर्शयति—**तस्मादिति**।

अविद्यया तिरोधानं बन्धो, विद्यया चाविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इत्युक्तम्, तदेतद् द्वयमुपपादनीयम्। तत्राविद्यातिरोधान निरूपयिष्यन्नविद्याश्रयविषयावाक्षिप्य समादधात्युत्तरवादेन—**ननु कस्येत्यादिना**। **सर्वज्ञस्येति**। यः खल्वविद्याश्रयोऽसावज्ञो भ्रान्तो वा दृष्टः, सर्वज्ञस्य च ब्रह्मणो द्वयमपि विप्रतिषिद्धमित्यर्थः। ननु यद्यपि वस्तुतोऽभिन्ना ब्रह्मणो जीवाः तथाप्यविद्याविकल्पितभेदा ह्येते। तेषामज्ञत्वेऽपि न ब्रह्मणस्तत्त्वमिति तत्राह—**अविद्येति**। जीवविभागे सिद्धे तदाश्रिताऽविद्यासिद्धिः, सिद्धायां च तस्यां जीवविभागसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वमित्यर्थः। मण्डनमिश्रोक्तिमनुवदति—**अनुपपत्तिरिति**। ननु तस्या मुक्तानां ब्रह्मणो वा अनुपपत्तिरस्तीति नास्माभिः परिकल्प्यते, किं तर्हि तन्निष्ठतयाननुभवात्कल्पकाभावाच्चेति शङ्कते—**नन्विति**। ननु कल्पकाभावो जीवेऽपि समानः। सत्यम्, कल्पनायामयं दोषः। अनुभूयते तु जीवे इत्याशय-

---

आप का पुरुष ऐसा है कि जिसमें प्रकृति, किसी प्रकार का अतिशय (विशेषता) उत्पन्न ही नहीं कर सकती, अतः किसी पुरुष विशेष के लिए प्रकृति में योग्यताभाव और किसी के लिए योग्यता—यह व्यवस्था कैसे होगी ? इसलिए निरतिशय आनन्दस्वरूप आत्मा का अविद्या से तिरोधान ही बन्धन और विद्या से अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है—यह सिद्ध हो गया (द्र० न्या० म० पृ० २८८)।

पूर्व पक्ष—यह अविद्या किस की विवक्षित है ? ब्रह्म की ? या जीव की ? (द्र० ब्र० सि० पृ० १०) सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या बन ही नहीं सकती। एवं जीव का ब्रह्म से भेद मानने पर अद्वैत-क्षति और अभेद मानने पर पूर्वोक्त (विद्यास्वभाव जीव में अविद्या का असम्भव) दोष होता है। आचार्य आनन्दवोध भट्टारक ने भी कहा है—

> "कस्याविद्या यदुच्छित्तिर्मुक्तिरिष्टा परात्मनः।
> विद्यास्वभावतोऽयुक्ता साऽतो जीवो न भिद्यते ॥" (न्या० म० पृ० ३०९)

जीवों का ब्रह्म से अविद्या-कल्पित भेद मानने पर अन्योन्याश्रयता होती है—अविद्या के अधीन जीव-भेद और जीव के आश्रित अविद्या। यह जो मण्डन मिश्र ने कहा है कि "न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः, अनुपपद्यमानार्थैव हि माया। उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न माया स्यात्" (ब्र० सि० पृ० १०) अर्थात् माया के लिए अनुपपत्ति (ब्रह्म या जीव के आश्रित न बनना) कोई दोष नहीं ; क्योंकि अनुपपन्न (अनिर्वचनीय) अर्थ का ही नाम माया है। यदि उसकी उपपत्ति हो जाय, तब तो वह माया ही न रहेगी। वह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि यदि अविद्या की अनुपपत्ति नहीं, तब मुक्त पुरुषों और ब्रह्म में भी वह क्यों न रहेगी ? (द्र० इष्ट० पृ० ३२५)। यदि कहें कि मुक्त पुरुषों और ब्रह्म में अविद्या न तो अनुभूयमान है और न कल्प्य ही ; क्योंकि वहाँ कोई कल्पक नहीं एवं मुक्त और सर्वज्ञ को अविद्या का आश्रय मानने में व्याघात है। जीवों में कल्पना करनी ही

घाताच्च । जीवानां तु न सा कल्प्या, अहमज्ञ इत्यनुभवसिद्धत्वादिति चेत् , न ; अविद्याकल्पितोऽहमज्ञ इत्यनुभवाभावात् । नन्वहमिति प्रतीतिः कल्पिततामविद्याश्रयस्य बोधयति ; अहंकृतेः कल्पनामयत्वात् । सुषुप्ततुरीयादौ च सत्यपि चिदात्मनि तदभावात् । अहं ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यस्य योऽयं स्थाणुरसौ पुमानितिवद्बाधपरत्वात् । अहंशब्दस्य तत्र लक्षणया शोधितत्वंपदार्थविषयत्वाभ्युपगमाच्च अतः कल्पिताश्रयमज्ञानं प्रतीतित एव सिद्धमितिचेत् , न ; प्रविलीनाहंकारेऽप्यात्मनि सुषुप्तादावज्ञानस्य सद्भावाभ्युपगमादन्यथा सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तिप्रसङ्गात् । तस्मादविद्याधीनो जीवविभागस्तदधीना वाऽविद्येति दुर्वारा परस्पराश्रयता । न च बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव जीवाविद्ययोरनादित्वेन तत्परिहारः ; दृष्टान्तवैषम्यात् । तत्र हि बीजाङ्कुरव्यक्तीनामन्योन्यकार्यकारणभावात् , तत्सन्तानयोः परस्पराधीनत्वव्यपदेशः, इह तु जीवाविद्याव्यक्तयोरेकत्वात् कार्यकारणभावाभावाच्च कथं तथा व्यपदेशः स्यात् ?

वानाह—जीवानामिति । ननु यद्यप्यहमज्ञ इत्यत्राविद्याकल्पिताऽऽश्रयत्वं न केनाप्युल्लिख्यते तथाप्यज्ञ इति प्रतीतिबलादज्ञानाश्रयस्याविद्याकल्पिततास्तीति शङ्कते—नन्वहमित्यादिना । अहंकृतेरिति । अहमिति कृतिः करणमहमाकारेण परिणामो यस्मिन् यस्याहंकारस्य वेत्यर्थः । अयावदात्मभावित्वाच्च कल्पित इत्याह—सुषुप्तेति । तुरीयं मोक्षावस्था । नन्वहं ब्रह्मास्मीति वाक्येन ब्रह्मसामानाधिकरण्यमहंकारस्योच्यते नच कल्पितस्य वस्तुभूतेनैक्यं संभवतीति कथं कल्पितत्वमहंकारस्येति तत्राह—अहमिति । अन्यतरबाधायामपि भ्रान्तिस्थलेषु सामानाधिकरण्यं दृश्यत इत्यर्थः । ननु न तावदिदं वाक्यं बाधमात्रपरम् ; ऐक्योपदेशपरत्वात् ऐक्यसाक्षात्कारेण ह्यविद्यानिवृत्तिरिति । सत्यम् , शोधितत्वंपदार्थस्य ब्रह्मैक्योपदेशपरं नत्वहंकारस्य । कथं तर्ह्यहंशब्दस्य तत्र प्रवृत्तिस्तत्राह—अहंशब्दस्येति । स्यादेवं यद्यहंकारविशिष्टाश्रितमज्ञानमिति ते मतं स्यात् । नत्वेवं सुषुप्तिप्रलययोरप्यस्ति दण्डायमानमज्ञानमिति हि ते मतम् , नच तदाहंकारोऽस्ति । विकारस्य तदा प्रविलयात्तदभावे कथं कल्पिताश्रयत्वमज्ञानस्येति दूषयति पूर्ववादी—न प्रविलीनेति । मण्डनवाचस्पतिमिश्राभिमतपरिहारं दूषयति—न चेति । वैषम्यमेवाह—तत्र हीति ।

नहीं, क्योंकि वहाँ "अहमज्ञः"—इस प्रकार के अनुभव से ही सिद्ध है । तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि "मैं अविद्या से कल्पित अज्ञ हूँ"—यह अनुभव नहीं होता । यदि शङ्का हो कि "अहम्"—यह प्रतीति बताती है कि अविद्या का आश्रय कल्पित है, क्योंकि अहङ्कार कल्पनामय ही माना जाता है । सुषुप्ति और तुरीय (मोक्ष) अवस्था में चेतन के रहने पर भी "अहम्" यह प्रतीति नहीं होती । "अहं ब्रह्मास्मि"—इस प्रकार सामानाधिकरण्य प्रतीति से अहङ्कार में अकल्पितत्व सिद्ध नहीं होता, अपि तु "योऽयं स्थाणुरसौ पुमान्"—इस प्रकार अन्यतर के बाध में भी सामानाधिकरण्य का व्यवहार हो जाता है । वहाँ 'अहं' शब्द की प्रवृत्ति. लक्षणा के द्वारा शोधित त्वंपदार्थ में मानी जाती है । अतः 'अहम्'—इस प्रतीति से यही सिद्ध होता है कि कल्पित आश्रय में अज्ञान है । तो यह शङ्का उचित नहीं ; क्योंकि सुषुप्ति आदि में अहङ्कार के प्रलीन हो जाने पर भी अज्ञान का सद्भाव माना जाता है, अन्यथा सुषुप्ति और प्रलय भी मुक्तिरूप हो जायँगे । इस लिए अविद्या की अपेक्षा से जीव-विभाग और जीव के आश्रित अविद्या—यह अन्योन्याश्रय दोष दुर्वार है । यह जो मण्डन मिश्र ने बीजाङ्कुर-परम्परा का दृष्टान्त देकर किसी के मत से अन्योन्याश्रय दोष का परिहार किया है—"अन्ये तु अनादित्वादुभयोरविद्याजीवविभागयोर्बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव नेतरेतराश्रयत्वम्" (ब्र० सि० पृ० १०)। वह भी युक्त नहीं ; क्योंकि दृष्टान्त-दार्ष्टान्त का वैषम्य है (द्र० न्या० म० पृ० ३१२)। अर्थात् दृष्टान्त में बीज और अङ्कुर व्यक्तियों का परस्पर कार्य-कारणभाव होने के कारण उनकी सन्ततियों में परस्पराधीनता का व्यवहार हो सकता है ; किन्तु प्रकृत में. जीव और अविद्या व्यक्तियों में अभेद होने से कार्य-कारणभाव नहीं है, तब उनमें परस्पराधीनता का व्यवहार कैसे होगा ? यदि

नन्वात्मनि गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरिवानादित्वेऽपि प्रयोज्यप्रयोजकभावो जीवाविद्ययोः किं न स्यादिति चेत् ; तर्ह्यविद्यावत्त्वजीवत्वयोश्चिन्मात्रं किमधिकरणम् ? उताविद्याविशिष्टम् ? आद्ये ब्रह्मण्येवाविद्येति प्राचीनदोषानुषङ्गः । द्वितीये पुनरविद्यावत्येवाविद्येत्यात्माश्रयः । ब्रह्मवज्जीवस्यानादित्वे च न ब्रह्मप्रतिबिम्बता ।

अथ ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया च विमुच्यत इत्युच्येत, तदा तस्यैकत्वान्न विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थाः स्युः । तथा हि—यदि नोत्पन्ना विद्या कस्तदा गुरुरात्मान्तराभावाद् । यद्युत्पन्ना कस्तदा शिष्यः ? सर्वभेदप्रविलयात् । मायाविनिर्मितौ गुरुशिष्यौ त्त एवेति चेत्, न; उत्पन्नविद्यस्य मायानुपपत्तेः । शिष्याविद्याविनिर्मितो गुरुरिति चेत, न; अविद्यानिर्मितस्य जडत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्तेः । दृश्यत एवाविद्यानिर्मितस्य गुरुत्वं स्वप्न इति चेत्, तर्हि शिष्याविद्याविनिर्मितस्य गुरुत्वे तस्य तस्यापि शिष्यस्य स्वीय-

नहि साक्षात्सन्तानयोरन्योन्यस्मादुत्पत्तिः, अनादित्वात् । ततो व्यक्तिद्वारा व्यक्तीनामप्यनेकतया नान्योन्यमुत्पत्तिः । नहि यतो बीजाद्योऽङ्कुरो जायते तदेव बीजं तस्मादङ्कुरात्, अपित्वङ्कुरान्तरात् ; नचेह तथा । नहि प्रतिदिनमन्येऽन्ये जीवाः नाप्यविद्या, तस्मादस्त्येव वैषम्यमित्यर्थः । यद्यप्यनादित्वादेकत्वाच्च नान्योन्यमुत्पत्तिर्जीवाविद्ययोर्नाप्यन्योन्यज्ञप्तिः, एकस्य स्वप्रकाशत्वात्, अपरस्य साक्षिवेद्यत्वात् । तथाप्यन्योन्यनियम्यत्वं घटत इति दृष्टान्तमवष्टभ्य शङ्कते—**नन्वात्मनीति** । तर्हि यथा गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरेक आत्माधिकरणम्, तथाऽत्राप्येकमधिकरणं वक्तव्यं तत्किं चिन्मात्रम् ? किं वा अविद्याविशिष्टम् ? इति विकल्प्य दूषयति—**तर्हीत्यादिना** । दूषणान्तरं चाह—**ब्रह्मवदिति** ।

इष्टसिद्धिकारमतमुद्भावयति—**अथेति** । गुर्वादिविभागाभावमेव प्रपञ्चयति—**तथा हीत्यादिना** । यद्यप्युत्पन्नविद्यतया गुरोर्माया नास्ति तथापि शिष्यस्याविद्यास्ति, अनुत्पन्नविद्यत्वात्तदविद्याविजृम्भित एव तद्गुरुः । नच कल्पितस्योपदेष्टृत्वानुपपत्तिः, स्वाप्नवदुपपत्तेरिति शङ्कते—**शिष्याविद्येति** । एवं शिष्या-

कहा जाय कि अनादि होनेपर भी जीव और अविद्या में गुणवत्त्व और द्रव्यत्व के समान ही प्रयोज्यप्रयोजकभाव क्यों न बनेगा ? तो वहाँ जिज्ञासा होती है कि अविद्यावत्त्व और जीवत्व का आश्रय क्या चेतनमात्र है ? या अविद्या-विशिष्ट चेतन ? प्रथम पक्ष में तो ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय मानना होगा, जो कि पूर्वोक्त असम्भव दोष से युक्त है । द्वितीय पक्ष में अविद्य-विशिष्ट ही अविद्या का आश्रय मानने से आत्माश्रय दोष होता है । जीव के अनादि होने से केवल अन्योन्याश्रयता ही नहीं, अपि तु ब्रह्म के समान ही जीव में भी प्रतिबिम्बता नहीं बनेगी (द्र० न्या० म० पृ० ३१२) ।

इष्ट सिद्धिकार ने (इष्ट० ६।१, ३ में) कहा है—

"ब्रह्मैवाविद्ययैकं चेद्बध्यते मुच्यते धिया ।
एकमुक्तौ जगन्मुक्तिर्न मुक्तान्यव्यवस्थितिः ॥
तेषां भेदाच्च मूढान्यबद्धमुक्तव्यवस्थितिः ।
गुरुशिष्यौ च ते न स्तां न ज्ञौ नाज्ञौ च तौ यतः ॥"

अर्थात् यदि एक ही ब्रह्म, अपनी अविद्या से बद्ध और अपनी विद्या से मुक्त होता है, तब विद्वान्-अविद्वान्, गुरु-शिष्य तथा बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती । आशय यह है कि यदि विद्या उत्पन्न नहीं हुई, तब गुरु कौन होगा ? क्योंकि आत्मान्तर है ही नहीं । यदि विद्या उत्पन्न हो गई है, तब शिष्य कौन रहेगा ? जब कि सर्व भेद ही समाप्त हो गया है । 'माया-निर्मित गुरु-शिष्य होंगे'—यह नहीं कह सकते ; क्योंकि जिसमें विद्या उत्पन्न हो गई है, उसमें माया कैसे रहेगी ? 'शिष्य की अविद्या से निर्मित गुरु मानेंगे'—यह भी नहीं कह सकते ; क्योंकि अविद्यानिर्मित जड होने के कारण विद्यावान् नहीं बन सकता । 'स्वप्न में शिष्य की अविद्या से निर्मित गुरु

स्वीयशिष्यं प्रति गुरुत्वेन तत्तदविद्याविनिर्मितत्वान्न कोऽपि परमार्थः परमात्मतया निरूपितः स्यात्। यच्चाहुः—स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्तीति, तच्चायुक्तम् ; तस्य स्वात्मनो मुक्तिं निश्चिन्वतः स्वव्यतिरेकेण तेषामभावं च पश्यतस्तदुपदेशार्थं प्रवृत्त्ययोगात्। प्रवृत्तौ च 'मन्मुक्त्यैवासि मुक्तस्त्वं मा यत्नं कुरु मुक्तये' (इष्ट० ७।७) इत्येवोपदेशप्रसङ्गात्। किंचानादौ संसारे कस्यचिन्मुक्तिरासीत् ? न वा ? आद्ये नेदानीं संसारोपलम्भः स्यादात्मान्तराभावात्। द्वितीयेऽपि कथं भविष्यतीति प्रत्याशा ? न च विद्याभावात्पूर्वममुक्तिः। शुकवामदेवप्रभृतीनामविद्यमाना विद्याऽन्यस्य भविष्यतीति प्रत्याशाऽसंभवात्, गुरुसंप्रदायाभावाच्च। तस्मादेकात्मवादे बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः पारमार्थिक एवात्मभेदः समाश्रयणीयः।

विद्याविनिर्मितो गुरुरिति पक्षं दूषयित्वा गुर्वविद्याविनिर्मितः शिष्य इति पक्षं दूषयति—**यच्चाहुरिति**। तस्याप्यविद्यावस्थायामियं कल्पनेति वक्तव्यम्, सा चोत्पन्नविद्यया ध्वस्तेति शिष्यकल्पनैव नास्ति कथमनुशिष्यात्? भवतु तथाप्यधिगतपरमार्थत्वाच्छिष्यादितत्त्वं जानन्न पृथक्तमुपदिशेदित्याह—**तच्चायुक्तमित्यादिना**। एवं गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिमुक्त्वा बद्धमुक्तव्यवस्थानुपपत्तिमप्याह—**किंचेत्यादिना**। ननु पूर्वं विद्यैव नोत्पन्ना तेनोपपन्नः संसारः, शुकादीनां तु विद्योत्पत्तिशास्त्रमर्थवादमात्रमिति, तत्राह—**न च विद्येति**। किंच पूर्वं कस्यचिदपि चेद्विद्या नोत्पन्ना, तर्हि गुरुसंप्रदायाभावादद्यापि विद्या नोत्पद्येतेति निर्णयस्यैव संभवादनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याह—**गुरुसंप्रदायेति**। तदेवमविद्याश्रयानिरूपणादविद्याधीनो जीवब्रह्मणोर्जीवानां च भेद इत्यसंबद्धम्। अतः पारमार्थिक एवात्मभेद इत्याह—**तस्मादिति**। घटान्योन्याभावत्वेन सिद्धसाधनतापरिहाराय **आत्मप्रतियोगिकेत्युक्तम्**। आत्मनो भिद्यत इत्यर्थः। भेदमात्रसत्यत्वेऽप्य

देखा जाता है'—ऐसा मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि वह शिष्य भी अपने शिष्य का गुरु होने से उसकी अविद्या से निर्मित है। इसी प्रकार समस्त गुरु-परम्परा, शिष्य-परम्परा की अविद्या से निर्मित है, फिर तो कोई पारमार्थिक आत्मा सिद्ध ही न होगा। यह जो कहा जाता है कि गुरु अपने आत्मा में ही भेद की कल्पना के द्वारा शिष्य बनाकर उसे उपदेश देता है (द्र० न्या० म० पृ० ३१६)। वह कहना भी अयुक्त है ; क्योंकि गुरु ने अपने को मुक्त समझ लिया है, अपने से समस्त शिष्यादि वर्ग का अभाव निश्चय कर बैठा है, अतः उन्हें उपदेश करने के लिए गुरु की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। यदि किसी प्रकार प्रवृत्ति होगी, तब भी उसे यही उपदेश देना चाहिए कि "शिष्यो ! तुम सब मेरी मुक्ति से ही मुक्त हो चुके हो, अब मुक्ति के लिए तुम्हें यत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं। और भी एक जिज्ञासा होती है कि इस अनादि संसार में किसी की मुक्ति हुई है ? या नहीं ? यदि किसी की मुक्ति हो चुकी है, तब इस समय यह संसार-दर्शन नहीं होना चाहिए ; क्योंकि दूसरा आत्मा तो है नहीं, जो अविद्या से संसार देखे। यदि अभी तक किसी की मुक्ति नहीं हुई, तब भविष्य में उसके होने की भी आशा नहीं हो सकती। गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय भी समाप्त हो जायगा। इसलिए एकात्मवाद में बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था नहीं बन सकती, अतः पारमार्थिक आत्मभेद मानना चाहिए। (इष्टसिद्धि में भी द्वैतवादी की ओर से यही कहा गया है—

"कस्य चिन्मुक्तिरासीच्चेदैकात्म्ये कस्य संसृतिः।
न चेन्मुक्तौ भविष्यन्त्यां मतौ कस्य निश्चयः॥
तस्मादयुक्तमैकात्म्यं ज्ञानाज्ञानाव्यवस्थितेः।
गुरुशिष्याव्यवस्थानान्मुक्तामुक्ताव्यवस्थितेः॥
अतः पुंभेद एष्टव्यो द्वैतं च परमार्थसत्।
तद्भावे गुरुशिष्यादिव्यवस्था युज्यते यतः॥" इष्ट० ७।१०, ११)

प्रयोगश्च—आत्मा,आत्मप्रतियोगिकान्योन्या भववान्, आत्मनिष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदवान्, वा लक्ष्यत्वाद्घटवत् । न च 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्याद्यागमविरोधः ; तस्येश्वरैकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । न च तत्र सर्वभूतान्तरात्मत्वविरोधः ; तस्यैव नियामकतया सर्वभूतान्तरावस्थानात् । तथा च श्रुतिः—'य आत्मनि तिष्ठन्य आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत' इति ।

'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।'

इतिस्मृतेरपीश्वरपरत्वात्तस्य कायव्यूहनिर्माणेन बहुधा भावस्याप्युपपत्तेः । तत्त्वमसीत्याद्यैकात्म्योपदेशस्य चोपासनापरत्वात् । न चोपासनाविध्यश्रवणादतत्परत्वं शङ्कनीयम् ; अपूर्वत्वेन 'पूषा प्रपिष्टभाग' इत्यादाविव विधेः कल्प्यमानत्वात् । 'नेह नानास्ति किंचने' त्यादेश्चेश्वरभेदाभावपरत्वात् । 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्यस्य भेददर्शननिन्दया अभेदोपासनाविधिपर-

---

नुमानमाह—**आत्मनिष्ठेति** । अतिरिक्तत्वमनधिकरणत्वम्, सिद्धसाधनतापरिहारार्थं मिथ्याभेदातिरिक्तेत्युक्तम् । अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यर्थमात्मनिष्ठपदम् । 'नन्वेको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मे'ति सर्वभूतानामन्तरात्मत्वमप्यस्य कीर्त्यते, स च क्षेत्रज्ञ एवेति कथमस्येश्वरविषयता ? इत्याशङ्क्यान्तर्यामितया तस्यापि तत्संभवतीत्याह—**न च तत्रेति** । नन्वेक एव तु भूतात्मेति प्रतिभूतभेदेन प्रतिभासमानजीवात्मनामेवैक्यप्रतिपादिका स्मृतिरस्तीति, तत्राह—**एक एवेति** । नन्वीश्वरस्यैकत्वात्कथं तत्र बहुधा दृश्यत इति निर्देशोपपत्तिस्तत्राह—**तस्येति** । ननु तत्त्वमसीति प्रकृतिविलक्षणेश्वरात्मतां श्वेतकेतूपलक्षितजीवस्य प्रतिपादयति तत्कथं जीवभेदस्तत्राह—**तत्त्वमसीति** । भिन्नेऽपि परमेश्वरे अभेददृष्टिः कर्तव्या योषितीवाग्निदृष्टिरित्यर्थः । **पूषेति** । यथाहि—"तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि सः" इतिवाक्येऽपूर्वत्वात्पूषोद्देशेन पिष्टभागविधिः कल्पितः एवमत्रापीत्यर्थः । आदिशब्देनोपरिधारणादि गृह्यते । श्रुत्यन्तरविरोधं परिहरति—**नेहेति** । यद्यप्येते श्रुती कृतसमाधाने तथाप्यभ्युच्चयत्वेनात्रोपन्यस्येते । न

आत्म-भेद की सत्यता में अनुमान प्रमाण भी है—"आत्मा, आत्मप्रतियोगिक भेदवाला है, या आत्मनिष्ठ मिथ्या भेद से अतिरिक्त भेदवाला है, लक्ष्य होने के कारण, जैसे—घट ।" इस अनुमान में "एको देवः सर्वभूतेपु गूढः"(श्वेता० ६।११)—इस श्रुति का विरोध नहीं; क्योंकि वह श्रुति ईश्वरगत एकत्व का प्रतिपादन करती है । उक्त श्रुति में "सर्वभूतान्तरात्मा" शब्द से भी ईश्वरगत सर्वभूतों में नियामक रूपसे अवस्थान ही विवक्षित है । जैसा कि श्रुति कहती है—"आत्मनि तिष्ठन् य आत्मनोऽन्तरो, यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष आत्मान्तर्याम्यमृतः" (जो ईश्वर सभी जीवों में विराजमान है, जो जीव के अन्दर निवास करता है, किन्तु जिसे जीव नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्माके अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वही यह आत्मा अन्तर्यामी और अमृत कहलाता है—श० प० १४।५।३) । "एक एव तु भूतात्मा"—यह स्मृति भी ईश्वर का प्रतिपादन करती हुई, ईश्वर की काय-व्यूह-निर्माण के द्वारा बहुरूपता बताती है । "तत्त्वमसि"—आदि श्रुतियों में एकात्मता का उपदेश उपासना के लिए है । 'उपासना-विधि का श्रवण न होने से उक्त वाक्य उपासना-परक नहीं हो सकता'—यह शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जैसे "पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि सः" (पूषा नाम के देवता के लिए पिष्ट हवि तैयार करनी चाहिए ; क्योंकि वह विना दाँत का है)—इस अर्थवाद वाक्य में पूषा देवता के उद्देश्य से पिष्टभाग रूप अज्ञात पदार्थ का प्रतिपादन देख उसकी विधि की कल्पना होती है, वैसे प्रकृत में भी उपासना-विधि की कल्पना कर लेनी चाहिए । "नेह नानास्ति किंचन"—आदि वाक्य ईश्वर-भेदाभाव के बोधक हैं । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"—यह श्रुति भेद-

त्वात्। 'द्वासुपर्णा' 'अजामेकाम्' इत्यादिना च जीवेश्वरयोर्जीवानां च परस्परभेदस्य साक्षादेव प्रतिपादनात्। न च तत्र लोकसिद्धभेदानुवाद इति वाच्यम्; ईश्वरस्यालौकिकत्वादेव तद्भेदस्य लोकतोऽधिगमासंभवात्। जीवभेदस्य च लोकसिद्धत्वे प्रत्यक्षादिव्यतिरेकेण लोकशब्दार्थानिरूपणात्, प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेन जीवभेदस्य प्रामाणिकत्वसिद्धिः।

सुखदुःखव्यवस्थानुपपत्तिरपि जीवभेदं साधयति। अन्यथैकस्मिन्कस्मिंश्चित्सुखिनि सुखिन एव सर्वे स्युर्दुःखिनि वा दुःखिन इति व्यवस्था न स्यात्। न च पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमितिवदुपाधिनिबन्धना व्यवस्था, तद्वदेव शरीरभेदेऽपि भोगानुसंधानप्रसङ्गात्। न च सुखादीनां साक्ष्यत्वेन साक्षिधर्मत्वाभावात् तद्भेदव्यवस्थापकत्वासिद्धिः। प्रमातृव्यतिरिक्तसाक्षिणो दुर्निरूपत्वात्। तथा हि—तस्य द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावादद्रष्टृत्वे सुखादिसा-

---

केवलं श्रुत्यविरोधः, श्रुतिसिद्धश्चात्मभेद इत्याह—द्वा सुपर्णेति। अत्र हि द्वाविति जीवेश्वरौ द्वित्वेन निर्दिष्टौ तथा तयोरन्य इत्यनश्नन्नन्य इति च भोक्त्रभोक्तृतया परस्परमन्यत्वेन च निर्दिष्टौ। तथा अजामेकामित्यत्रापि तेजोऽबन्नलक्षणामविद्यामेको जहाति, अन्यश्च जुषमाणः प्रीयमाणोऽनुशेते इत्यजशब्दोपात्तजीवभेदः प्रतीयते बद्धाबद्धत्वलक्षणधर्मभेदश्चेत्यर्थः। यद्यपि जीवस्य लौकिकतया तद्भेदः शक्यानुवादः तथापि परमेश्वरस्यालौकिकत्वान्न तद्भेदः संभवदनुवाद इति तत्प्रतिपादनपरमिदं वाक्यमित्याह—ईश्वरेति। तत्किं जीवभेदप्रतिपादकत्वमुपेक्षितमस्य तथा चाप्रामाणिकभेदत्वाद् द्वैतसिद्धिरिति तत्राह—जीवेति। अस्यानुवादकत्वेऽपि यत्सिद्धमिदमनुवदति तदेव तत्र प्रमाणमित्यर्थः।

एवमनुमानागमाभ्यामात्मभेदं साधयित्वार्थापत्तिमप्याह सुखदुःखेति। ननु यथैकस्मिन्देहे पादशिरःप्रदेशनिष्ठतया सुखदुःखव्यवस्थायामपि न भेदः, तत्कस्य हेतोः? औपाधिकभेदमादाय; तथा सर्वदेहेष्वप्येक एवात्मा तत्तद्देहोपाधिभेदाच्च शीतादिव्यवस्थेति किं न स्यात्तत्राह—न च पाद इति। तर्हि यथा सकलावयवेष्वेकस्य तत्रानुसंधानं तथा सकलक्षेत्रेष्वप्येकोऽनुसंदधीत नचैतदस्तीत्यर्थः। ननु व्यधिकरणमिदमभिधीयते यत्सुखादिव्यवस्थयात्मभेद इति। अन्तःकरणधर्मा हि सुखादयः साक्ष्यत्वात्। नच साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वं तथा सति स्वधर्मग्राहकत्वे स्वग्राहकतया स्ववृत्तिविरोधप्रसङ्गादिति तत्राह—न च सुखादीनामिति। साक्षी द्रष्टा? न वा? इति विकल्प्याद्यं दूषयति—द्रष्टृत्व इति। नहि प्रमात्र-

---

दर्शन-निन्दा के द्वारा अभेदोपासना-विधि-परक है। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (मुण्ड० ३।१।१) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेता० ४।५) आदि श्रुतियों में जीवों का ईश्वर से और जीवों का परस्पर भेद साक्षात् ही प्रतिपादित है। 'इन श्रुतियों में लोक-सिद्ध भेद का अनुवाद मात्र है'—यह नहीं कह सकते; क्योंकि ईश्वर, अलौकिक है, अतः उसका भेद लोक-सिद्ध हो ही नहीं सकता। जीव-भेद अवश्य लोक-सिद्ध है, किन्तु यहाँ 'लोक' शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष से भिन्न और कुछ नहीं हो सकता, अतः लोक-सिद्ध का अर्थ हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित। तब तो जीव-भेद प्रमाणिक हो जाता है, उसका अपलाप ही कैसे होगा?

सुख-दुःख की व्यवस्थानुपपत्ति भी जीव-भेद का साधक है। अन्यथा एक ही आत्माके होने पर यदि वह सुखी होगा, तब सभी सुखी ही होंगे और उसके दुःखी होने पर सब दुःखी ही होंगे, कोई सुखी तथा कोई दुःखी—यह व्यवस्था नहीं रहेगी। 'जैसे एक ही व्यक्ति अपने पैर में वेदना और शिरमें सुख का अनुभव करता है, वैसे ही उपाधि के भेद से एक ही आत्मामें सुख दुःख-भेद की व्यवस्था क्यों न बनेगी?'—यह सन्देह युक्त नहीं; क्योंकि सब शरीरों में एक ही आत्मा के होने पर विभिन्न शरीरों के भोगों का स्मरण सभी को होना चाहिए। 'सुखादि, साक्षी के धर्म नहीं, अपि तु साक्ष्य (साक्षिगम्य) हैं, अतः वे भेद-व्यवस्थापक नहीं हो सकते'—यह कहना भी असंगत है; क्योंकि प्रमाता से भिन्न साक्षी का निरूपण नहीं हो सकता। क्योंकि उसे द्रष्टा मानें तो

धकत्वासिद्धेर्ब्रह्मरूपत्वे च संसारदशायामनाविर्भावात्, साक्षिप्रत्यक्षं नाम व्यवहाराङ्गं न सिध्येत्। प्रमाणाभावाच्च। न तावत्प्रत्यक्षमत्र प्रमाणम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे प्रमात्रन्तर्भावप्रसङ्गात्। इच्छादय एतद्ग्राहकानित्यज्ञानातिरिक्तप्रत्यक्षवेद्याः, अर्थापरोक्षत्वात् रूपादिवदित्यनुमानं प्रमाणमिति चेत्, न; ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनत्वात्। अनीश्वरवादिनां चेच्छादय एतद्ग्राहकानित्यानुमानातिरिक्तानुमानवेद्याः वेद्यत्वादिति साधनादाभाससमानयोगक्षेमत्वात्। अनित्यप्रत्यक्षवेद्यत्वे बाधकाभावाच्च। सुखादिविशिष्टस्यात्मनः स्वाश्रितज्ञानवेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधप्रसङ्गो बाधक इति चेत्, मैवम्; स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टस्वरूपेण कर्मत्वेऽप्यविरोधात्। अन्यथा त्वन्मतेऽपि कर्तृत्वकरणत्वयोरेकत्र समावेशो न स्यात्। अभ्युपगम्यते हि केवलाया बुद्धेः करणत्वमात्मविशिष्टरूपेण च कर्तृत्वम्, अविद्या-

तिरिक्तः कश्चिदस्ति संप्रतिपन्नो द्रष्टेति भावः। ननु द्विविधं द्रष्टृत्वं ज्ञानाकारेण परिणामित्वम्, अलुप्तचिद्रूपत्वं चेति। तत्र पूर्वममुख्यम्, अयःपिण्डस्येव संक्रान्ताग्नेर्दग्धृत्वम्। उत्तरं तु मुख्यं वह्नेरिव, तत्र मुख्यो द्रष्टा साक्षी तेन न प्रमाता, नापि सुखादिसाधक इति। तर्हि मुक्तिदशायामेवैतादृशमभिव्यज्यत इति व्यवहारनिर्वाहकत्वव्याहतिरित्याह—**ब्रह्मरूपत्व इति**। नच प्रमात्रतिरिक्ते साक्षिणि किंचित्प्रमाणमस्तीत्याह—**प्रमाणेति**। प्रत्यक्षपक्षे हि न तावद्बाह्यमग्राह्यत्वात्, आन्तरत्वेऽपि नित्यम्? अनित्यं वा? अनित्यत्वे मानसमेव तदिति तद्वेद्यः प्रमातैव नित्यं च प्रत्यक्षं न जीवेऽस्तीति भावः। अस्तु तर्ह्यनुमानं साक्षिप्रत्यक्षे प्रमाणमिति शङ्कते—**इच्छादय इति**। प्रत्यक्षवेद्या इत्युक्ते मानसप्रत्यक्षमादायार्थान्तरता तदर्थमनित्यज्ञानातिरिक्तेत्युक्तम्। तथा चानीश्वरवादिनं प्रत्यप्रसिद्धविशेषणता तदर्थमेतद्ग्राहकेत्युक्तम्। अनेनैतद्ग्राहकानित्यप्रत्यक्षमादाय च साध्यप्रसिद्धिः पक्षे चैतद्ग्राहकानित्यज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतद्ग्राहकत्वानधिकरणत्वान्न संभवति, तद्वेद्यत्वेन व्याघातात्, तस्मादनित्यज्ञानत्वानधिकरणं किंचिन्नित्यप्रत्यक्षमादाय तद्ग्राह्यत्वमिच्छादीनां सिध्यतीति नित्यसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धिरित्यर्थः। अत्र तार्किकः प्राह—**ईश्वरेति**। अनीश्वरवादी त्वाभाससममानयोगक्षेमतामाह—**अनीश्वरेति**। शक्यते हि नित्यमपि किंचिदनुमानमेवं साधयितुमित्यर्थः। विपक्षे बाधकाभावाच्च शङ्कितप्रयोजकतामाह—**अनित्येति**। न केवलमस्मन्मत एवेयं गतिः यत्स्वरूपेण ग्राहकत्वं सुखादिविशिष्टाकारेण ग्राह्यत्वमित्यनुपहितोपहितभेदाश्रयणम्, भवतोऽप्येवंविधभेदाश्रयणमेव क्वचिच्छरणमित्याह—**अन्यथेति**। आत्मैक्याध्यस्तबुद्धिर्हि प्रमाता कर्तेति बोध्यत इत्यर्थः। उदाहरणान्तरमाह—**अविद्येति**। निर्विकल्पचैतन्यस्य सर्वसाक्षित्वादिविकल्पाभावादविद्या-

वह प्रमाता के अन्तर्गत हो जाता है, अद्रष्टा मानें तो सुखादि का साधक नहीं हो सकता और यदि ब्रह्मरूप मानें, तब संसारावस्था में वह अभिव्यक्त न होगा, ऐसे साक्षी का प्रत्यक्ष, व्यवहार का अंग सिद्ध न होगा। प्रमाता से अतिरिक्त साक्षी के होने में कोई प्रमाण भी नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण मानने पर बाह्य प्रत्यक्ष तो सम्भव नहीं, मानस प्रत्यक्ष ही मानना होगा, तब तो प्रमाता में ही अन्तर्भाव होगा। "इच्छादि, अपने ग्राहक अनित्यज्ञान से अतिरिक्त प्रत्यक्ष से वेद्य हैं, अर्थापरोक्ष होने के कारण, जैसे—रूपादि"—यह अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि इच्छादि में ईश्वर की प्रत्यक्षवेद्यता लेकर सिद्ध-साधनता होती है। अनीश्वरवादियों के प्रति "इच्छादि अपने ग्राहक अनित्य अनुमान से अतिरिक्त अनुमान से वेद्य हैं, वेद्य होने से"—इस साधनाभास की समानता है। इच्छादि में अनित्यप्रत्यक्ष-वेद्यता में कोई बाधक भी नहीं। सुखादि-विशिष्ट आत्मा से स्वाश्रित ज्ञान को वेद्य मानने में कर्मत्व और कर्तृत्वरूप दो विरोधी धर्मों की एकत्र प्रसक्ति ही बाधक है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि आत्मा के स्वरूपतः कर्त्ता और सुखादि विशिष्टरूप से कर्म होने में कोई विरोध नहीं। अन्यथा आपके मत में भी कर्तृत्व और करणत्व का एकत्र समावेश न हो सकेगा; क्योंकि आप केवल बुद्धि में करणत्व और आत्म-विशिष्टरूप से कर्तृत्व

विशिष्टस्य साक्षित्वं केवलाविद्यायाश्च साक्ष्यत्वमिति च स्वीकारात्। "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी"ति चात्मन एव वेद्यवेदकभावश्रवणात्। प्रमाणवत्त्वेन विरुद्धस्याप्यभ्युपगमे प्रकृतेऽप्यहं सुखीत्यनुभवसद्भावात्, नासौ दण्डवारितः। एतेन–सुखादिप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिरपि साक्षिसिद्धौ प्रामाणमिति परास्तम्; अन्यथाप्युपपत्तेः। न च व्यभिचारिकरणजन्यज्ञानानां चैतन्यरूपमनुगतमनुसंधातारमन्तरेण प्रतिसंधानानुपपत्तिः साक्षिणि प्रमाणम्; ज्ञानानां स्वयंप्रकाशत्वात् तदाश्रयतया सिद्धस्य स्थिरस्यात्मनः पूर्वोत्तरकालीनज्ञानानुसंधानोपपत्तेः। एतेन प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरपि परास्ता; त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे घटमहं जानामीति त्रितयप्रतिभासोपपत्तेः। नापि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'इत्यागमः प्रमाणम्; साक्षादीक्षत इतीश्वरस्य सर्वापरोक्षदर्शिनः प्रतिपादनात्। तदेवं न साक्षिणः सिद्धिः। सिद्धावपि न साक्ष्याणां धर्मत्वक्षतिः; "आनन्दो विषयानुभवो

विशिष्टस्य साक्षित्वमित्यर्थः। श्रुतिरप्यात्मनो ग्राह्यग्राहकतां दर्शयतीत्याह—**ब्रह्मेति**। ननु तत्र तत्र श्रुत्यादय एव तथात्वे प्रमाणमिति न विरोधः, तर्ह्यत्रापि समानमिति परिहरति—**प्रमाणेति**। एवं प्रत्यक्षानुमाने साक्षिणि दूषयित्वा अर्थापत्तिं दूषयति—**एतेनेति**। **अन्यथापीति**। मानसवेद्यत्वेऽपि विरोधाभावस्योक्तत्वादित्यर्थः। ननु चक्षुरादिपरस्परव्यभिचारिकरणैर्जन्यानि यानि ज्ञानानि तेषु जानामि जानामीत्यनुगतः कश्चिदनुसंधाता तावत्प्रमीयते। सच स्फुरन्नेवानुसंधातुमर्हति, इतरथा जानामिति व्यवहारानिष्पत्तेः। नच तस्य ज्ञानान्तरतःस्फुरणम्, अनवस्थाभयात्। तस्माद्यः स्वप्रकाशः सकलस्वान्तवृत्त्यनुसधाता साक्षी सोऽर्थापत्तिसिद्धः। अथवा यदिदं व्यावृत्तज्ञानेष्वनुसंधानरूपमद्राक्षमित्यादि तत्स्फुरणमन्तरेण न घटतेऽनुव्यवसायश्च नोत्पन्नस्तत्सत्त्वं च विप्रतिपन्नम्, अतस्तत्तद्वृत्तिसाधकसाक्ष्यर्थापत्तिसिद्ध इति तत्राह—**न च व्यभिचारीति**। अत्र स्फुरतानुसंधात्रा हि भवितव्यं तच्च संविदाश्रयत्वेनापि संभवति। नचानवस्था, तस्याः स्वप्रकाशत्वादिति प्रभाकरः परिहरति—**ज्ञानानामिति**। तार्किकपक्षे तु पूर्वोक्तरीत्या वृत्तिविरोपरिहारेण मानसप्रत्यक्षमादाय परिहर्तव्यम्। आगमं साक्षिणि निषेधयति—**नापि साक्षीति**। चेता चेतन इत्यर्थः। तटस्थेश्वरमादायाप्युपपत्तेरिति भावः। किंच साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वं न घटत इति वक्तुमेव न शक्यते, पञ्चपादीविरोधादित्याह–**सिद्धावपीति**। साक्षीरूपस्यात्मनो विशेषगुणधर्मवत्त्वेऽप्यनुमान-

मानते हैं। एवं अविद्या-विशिष्ट में साक्षित्व और केवल अविद्या में साक्ष्यत्व मानते हैं। "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेदाहं ब्रह्मास्मि"—इस श्रुति से आत्मा में ही वेद्यत्व और वेदकत्व–दोनों प्रतिपादित हैं। प्रमाण के बल पर विरुद्ध धर्मों को मानने पर प्रकृत में भी "अहं सुखी"—आदि अनुभवों के आधार पर विरुद्ध धर्म क्यों न माने जा सकेंगे? इससे—'सुखादि-प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति भी साक्षि-सिद्धि में प्रमाण है'–यह कहना भी निरस्त हो जाता है; क्योंकि सुखादि-प्रतीति, अन्यथा (मन से) भी उपपन्न हो जाती है। यदि कहें कि व्यभिचारी करणों से जन्य ज्ञानों का जब तक एक अनुभविता न हो, तब तक उनका अनुसन्धान या प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं, अतः वह एक अनुभविता स्वयंप्रकाश साक्षी, अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि स्वयंप्रकाश ज्ञान का आश्रय होने से ही यही आत्मा (जीव) पूर्वोत्तर काल के ज्ञानों का अनुसन्धान कर सकता है, इससे अतिरिक्त साक्षी मानने की क्या आवश्यकता? इसी लिए प्रमाता-प्रमाण-प्रमिति के ज्ञान की अन्याथानुपपत्ति भी निराकृत हो जाती है; क्योंकि त्रिपुटी-प्रत्यक्ष-वाद (प्रभाकर-मत) से "घटमहं जानामि"—यहाँ प्रमाता-प्रमाण-प्रमिति–तीनों का भान माना जाता है। "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"—आदि आगम भी साक्षी में प्रमाण नहीं हो सकते; क्योंकि वहाँ "साक्षाद् ईक्षते"—इस व्युत्पत्ति के आधार पर सर्वापरोक्ष-दर्शी ईश्वर का प्रतिपादन है। इस प्रकार साक्षी की सिद्धि नहीं होती। सिद्धि होने पर भी साक्ष्य धर्मों में साक्षिवृत्तित्व की

नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा'' इति साक्ष्याणामपि तद्धर्मत्वस्वीकारात्। किं चाकाशो विशेषगुणवद्व्यापद्रव्यान्यः द्रव्यत्वाद्घटवदित्यनुमानादपि आत्मनां सुखादिविशेषगुणवत्त्वसिद्धिः। तथा च तद्व्यवस्थातस्तेषां नानात्वसिद्धिः।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वज्ञत्वाद् ब्रह्मणो नाविद्येति, तदयुक्तम्; यतः—

स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम्।
तच्चोभयं विना विद्यासंबन्धं नैव सिध्यति ॥ ४ ॥

स्वरूपप्रज्ञया चेत्सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते, तदा असङ्गस्य ब्रह्मणो नाविद्यामन्तरेणाशेषार्थसंगतिरिति सर्वज्ञत्वोपपत्त्यर्थमेव साभ्युपगमनीया। प्रमाणतः सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसंबन्धस्य चाविचारितरमणीयानाद्यविद्यासंबन्धमन्तरेणासिद्धेः सर्वज्ञत्वमाविद्या-

---

माह—किंचेति। द्रव्यान्य इत्युक्ते घटाद्यन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं व्यापकद्रव्यान्य इत्युक्तम्। तथापि कालदिगन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं विशेषगुणवदित्युक्तम्। यस्माच्च विशेषगुणवतो द्रव्यादाकाशोऽन्यः स आत्मा आकाशस्य पक्षत्वेन तदन्यत्वासंभावात्, घटे त्वाकाशान्यत्वेन साध्यसिद्धिः। फलितमाह—तथा चेति।

सिद्धान्ती समाधातुमुपक्रमते—अत्रेति। तत्राविद्याया जडनिष्ठत्वं तावन्न संभवति। अविद्येतरजडस्य तज्जृम्भणतया कारणस्य कार्याश्रितत्वायोगादप्रतीतिप्रसङ्गाच्च। नहि सा स्वप्रकाशा, तस्या आश्रयोऽपि चेज्जडः, केनैषा प्रकाश्येत? तस्मात्तन्निष्ठत्वं वक्तव्यं यत्प्रकाशादेषापि प्रकाशत इति चैतन्यनिष्ठत्वमायाति। तत्रापि न जीवाश्रया, पूर्वोक्तदोषात्। यथा वक्ष्यते—'अनङ्गीकारपरास्ता' इति। नच ब्रह्मपक्षेऽपि दोषसाम्यम्, तदसिद्धेरित्यभिप्रेत्य ब्रह्माश्रितत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहरति—यत्तावादित्यादिना। स्वरूपत इति। द्वेधा हि सर्वज्ञत्वं संभवति स्वभावभूतप्रज्ञया वा यथा तावदीश्वरस्य, प्रमाणजनितप्रज्ञया वा यथा वा तावद्योगिनामुभयथाप्यविद्यासम्बन्धमन्तरेण नोपपद्यते इति श्लोकार्थः। विवृणोति—स्वरूपेत्यादिना। यथा दृग्दृश्ययोराध्यासिक एव संबन्धो नान्यस्तथोपपादितं प्रथमपरिच्छेदे मिथ्यात्ववादे। प्रमातृत्वस्येति। प्रमाणजनितज्ञानाकारपरिणामी प्रमाता नाम। नच निर्विकल्पकचिन्मात्रात्मनः परिणामसंभवः, नापि केवलजडबुद्धेरनध्यस्तायाः प्रकाशाभासपरिणामः। तस्मादविद्यात्मनोरितरेतराध्यासविलसितः प्रमाता, स चेन्द्रियाद्यधिष्ठाता, इतरथा तेषां करणत्वमस्य कर्तृत्वं च नोपपद्येत इति। नच तेष्वहंममाभिमानहीनस्य तदधिष्ठातृत्वमस्ति, परकरणेष्वदर्शनात्। नचासङ्गस्याविद्याध्यासमन्तरेण तादृगभिमानसंभवः। प्रमाणप्रमेययोः संबन्धस्य चाध्यासिकत्वमधस्तादेवोपपादितं तत्प्रमाणजनितमपि सर्वज्ञत्वमविद्यावत्त्वकल्पकमेवेत्यर्थः। एवमविद्याश्रयत्वं सर्वज्ञत्वमनुरुणद्धि नतु विरुणद्धीत्युक्तम्, स्वरूपविरोधमा-

---

क्षति नहीं होती; क्योंकि "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः"—इस प्रकार पञ्चपादिकाकार ने साक्ष्य पदार्थों को साक्षी का धर्म बताया है। "आकाश विशेषगुणवाले व्यापक द्रव्यों से अन्य है, द्रव्य होने से, जैसे—घट"—इस अनुमान से भी आत्मा में सुखादिरूप विशेषगुणवत्ता सिद्ध होती है। अतः सुख-दुःखादि की व्यवस्था से आत्मा में नानात्व सिद्ध होता है।

उत्तर पक्ष—यह जो कहा था कि सर्वज्ञ होने के कारण ब्रह्म, अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता। वह कहना अयुक्त है; क्योंकि सर्वज्ञत्व दो प्रकार का होता है—एक स्वरूपतः और दूसरा प्रमाणों के द्वारा। वह दोनों प्रकार का समंज्ञत्व विभु आत्मा में तब तक नहीं बन सकता, जब तक उसमें अविद्या का सम्बन्ध न हो। स्वरूपभूत बुद्धि के द्वारा यदि ब्रह्म में सर्वज्ञत्व मानते हैं, तब असङ्ग ब्रह्म का अविद्या के बिना सर्व अर्थों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः सर्वज्ञत्व की उपपत्ति के लिए ब्रह्म में अविद्या माननी ही पड़ेगी। प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञत्व में भी प्रमातृत्व तथा प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध की अनाद्यविद्या-सम्बन्ध के बिना सिद्धि नहीं हो सकती, अतः सर्वज्ञत्व, अविद्यावत्ता

वत्तामाक्षिपति, न तु प्रतिपक्षिपतीति कुतो विप्रतिषेधः ? ननु प्रकाशरूपस्य कथमप्रकाशरूपाविद्याश्रयत्वं परस्परविरोधिनोस्तमःप्रकाशयोरिवाधाराधेयभावानुपपत्तेरिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। किमप्रकाशशब्देन प्रकाशाभावः ? उत प्रकाशादन्यत् ? तद्विरुद्धं वा विवक्षितम् ? नाद्यः, अविद्याया भावाभावविलक्षणत्वेनाभावत्वानभ्युपगमात्। द्वितीये तु दृष्टान्ताभावः; किं खलु चित्प्रकाशादन्यत्तदाश्रयं न भवतीति मां प्रत्युदाह्रियेत ? सवस्य जडस्य चित्प्रकाशाश्रयत्वाभ्युपगमात्। तदेकाश्रयस्य तेन सह विरोधासंभवान्न तृतीयोऽपि। न चाविरुद्धत्वादनिवृत्तिः; वेदान्तवाक्यजनितेन ब्रह्मैकाकारेण विज्ञानेन तदवच्छिन्नेन वाचित्प्रसाशेन तन्निवृत्त्युपपत्तेः। न च विज्ञानस्य निवतकान्तराभावदनिवृत्तिः, भावे वा तन्निवर्तकान्तरस्याभ्युपगन्तव्यत्वादनवस्थेति वाच्यम्; कारणनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेरप्यत्र सिद्धत्वात्। न च कार्येण कारणस्यानिवृत्तिः। संस्कारेण तज्जनकस्य ज्ञानस्य स्मरणेन तज्जनकसंस्कारस्यान्त्यशब्देनोपान्तशब्दस्य च परीक्षकैर्नाशाभ्युपगमात्। लौकिके चारणिप्रभववेनाशुशुक्ष-

---

शङ्क्य परिहरति –ननु प्रकाशेत्यादिना। विद्यायाः प्रकाशत्वमभिप्रेत्य नञः कोऽर्थोऽभिप्रेत इति विकल्प्य प्रथमेऽसिद्धिमाह—नाद्य इति। द्वितीये व्याप्त्यसिद्धिमाह—द्वितीय इति। नाविद्या चैतन्याश्रया चैतन्यान्यत्वादिति हि तदा साधनीयम्। नचैवं क्वचिदपि व्याप्तिर्मां प्रति संप्रतिपन्नास्ति, प्रत्युत विरुद्धश्च, विद्यातिरिक्तस्य चिदेकायतनत्वेन व्याप्तेरित्यर्थः। चिदेकाश्रयतां मत्वा तस्य मम विरोधपक्षो दूरधृत इत्याह—तदेकेति। ननु यदि नाविद्याया विज्ञानेन विरोधस्तर्हि तेन न विनिवर्त्येतेत्यनिर्मोक्षो ब्रह्माश्रयवादिनामिति तत्राह—न चाविरुद्धेति। यद्यपि स्वरूपचैतन्यं न निवर्तकमविद्यायास्तदाश्रयत्वात्तत्प्रकाशकत्वात् नित्यनिवृत्तिप्रसङ्गाच्च, तथापि वाक्यजनितब्रह्माकारचित्तवृत्तिफलकारूढचैतन्यं तच्छायोपेता वा चित्तवृत्तिरविद्यानिवर्तिका, 'बुद्धीद्धो बोधो बोधेद्धा बुद्धिर्वा अविद्यानिवृत्तिहेतुः' इति हि वृद्धा इति भावः। विज्ञानस्येति। अन्तःकरणपरिणामस्येत्यर्थः। नन्वविद्याकार्येणान्तःकरणपरिणामेन कथं कारणाविद्यानिवृत्तिरविरोधात्। नहि जातु घटेन मृन्निवर्तमाना दृष्टचरीति तत्र लौकिकपरीक्षकाणां बहुशः संमतत्वादित्याह—न च कार्येणेत्यादिना। ननु निमित्तनिवर्तकत्वेऽप्यसमवायिनिवर्तकत्वं न दृष्टमिति

का आक्षेपक है, न कि निवारक, फिर ब्रह्म में अविद्या का प्रतिषेध कैसे होगा ? 'प्रकाशरूप ब्रह्म, अप्रकाशरूप अविद्या का आश्रय कैसे होगा ?' परस्पर विरोधी अन्धकार और प्रकाश का आधाराधेयभाव नहीं बन सकता'—यह सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि यहाँ 'अप्रकाश' शब्द से क्या प्रकाशाभाव विवक्षित है ? या प्रकाश से भिन्न ? या प्रकाश-विरोधी ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि भावाभाव से विलक्षण होने के कारण अविद्या अभावरूप नहीं बन सकती। द्वितीय पक्ष में दृष्टान्त का अभाव है; क्योंकि चित्प्रकाश से अन्य का चित्प्रकाश आश्रय नहीं होता, ऐसा हमारे लिए कोई उदाहरण आप नहीं उपस्थित कर सकते, इसका कारण यह कि चित्प्रकाशान्य समस्त जड़ का चित्प्रकाश को आश्रय हम मानते हैं। चिन्मात्र के आश्रय का उसके साथ विरोध सम्भव न होने से तृतीय पक्ष भी संगत नहीं। 'यदि अविद्याकी आश्रयता विरुद्ध नहीं, तब तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए'—यह शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि वेदान्तवाक्य-जन्य ब्रह्माकार विज्ञान से या उस विज्ञानसे अवच्छिन्न चित्प्रकाश से उसकी निवृत्ति बन सकती है। यदि कहें विज्ञान का कोई और निवर्तक न होने से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, यदि और निवर्तक माना जाय, तब अनवस्था होगी। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि कारण की निवृत्ति से ही विज्ञान की निवृत्ति भी हो जाती है। 'कार्य (ज्ञान) से कारण (अविद्या) की निवृत्ति नहीं हो सकती'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि संस्कारसे उसके जनक ज्ञानका, स्मरणसे उसके जनक संस्कार का और अन्तिम शब्दसे उसके जनक पूर्व शब्द का नाश, शास्त्रकार मानते हैं, लोक में भी अरणि-जन्य अग्नि से अरणि का एवं

णिनाऽरेणेः कदलीफलोद्गमेन वा कदलीकाण्डादेः प्रक्षयदर्शनाच्च ।

ननु भवत्वेवं ब्रह्माश्रया अविद्या, तस्याश्च को विषयः ? किं स्वयमेव ब्रह्म ? उत द्वैतम् ? उभयं वा ? सर्वथाप्यनुपपन्नम्, सर्वज्ञस्य तत्तद्विषयज्ञाने सति तत्र तत्राज्ञानासंभवादिति चेत्, मैवम् ; मां न जानामि त्वदुक्तमर्थं न जानामीति चावभासमानेऽपि विषये तस्याः स्वानुभवसिद्धत्वात् । जडस्याविद्यानिर्मितत्वेन तद्विषयविद्यानुपपत्तौ तन्निवर्त्याविद्यायास्तत्रासंभवाच्च । जीवाश्रयाविद्यापक्षोद्भावितास्तु दोषास्तदनङ्गीकारादेव परास्ताः । यत्तु ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वे विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षव्यवस्था न स्यादिति, तदसत् ; यावदविद्यं सर्वव्यवस्थानां स्वप्नवदुपपत्तेः । निवृत्तायां तस्यां न काचिदपि व्यवस्था । न चाविद्यानिर्मितस्य गुरोः कल्पितत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्तिः; स्वप्न इव विद्यावत्तयैव कल्पनोपपत्तेः । न च गुरोः शिष्याविद्याकल्पितत्वे शिष्याणामपि स्वीयस्वीयशिष्याविद्याकल्पितत्वान्न कोऽपि परमार्थः

तत्राह—अन्त्यशब्देनेति । अथोपादाननिवर्तकत्वं न दृष्टचरमिति ब्रूयात्तं प्रत्याह—कदलीति ।

एवमविद्याश्रयं निरूप्य तद्विषयं निरूपयति—ननु भवत्वेवमित्यादिना । ज्ञायमाने विषये अविद्या न संभवतीत्युक्तं पूर्वपक्षिणा, तदसिद्धमित्याह—मां न जानामीति । यथाच ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नविषयताऽसंभवः तथोपपादितं भावरूपाज्ञानवादे । किंच विद्याविद्ययोस्तावत्समानविषयत्वं वक्तव्यमितरथातिप्रसङ्गात् । नच जगद्विषयिणी विद्या संभवतीति विषयचैतन्यमेवाविद्याया अपि विषय इत्याह—जडस्येति । एवं ब्रह्माश्रयत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहृत्य जीवाश्रयत्वपक्षोक्तदोषाननङ्गीकारेण परिहरति—जीवेति । दूषणान्तरमनूद्य दूषयति—यत्त्वित्यादिना । तत्र किमनिवृत्तायामविद्यायां व्यवस्थाभावः ? निवृत्तायां वा ? आद्ये प्राह—यावदिति । द्वितीये प्राह—निवृत्तायामिति । ननु भवतु स्वप्नवद्विद्यावतां गुरोः कल्पितत्वं नापि कल्पितस्यार्थक्रियानुपपत्तिस्तथापि परमार्थः कोऽपि न निरूपितः स्यात्, तत्तच्छिष्याणामपि स्वस्वशिष्यगुरुतया कल्पितत्वादित्युक्तदोषोऽपरिहार्य इति, तत्राह—न च गुरोरिति । शिष्याविद्याकल्पितो गुरुरिति वदतामस्माकं शिष्यशब्देन किमवच्छिन्नचैतन्यमभिप्रेतमित्यबुध्यत भवान् ? अनवच्छिन्नं वा ? आद्येऽनधिगतपराभिसंधिरायुष्मान् ; नह्यस्माभिरविद्याकल्पितस्य चिदवच्छेदस्याविद्याश्रयत्वमभ्युपेयते । कस्तर्हि शिष्यशब्दार्थः ? अज्ञातमात्रमनवच्छिन्नं चैतन्यमित्यवगच्छतु भवान् । द्वितीये

केले में फलोत्पत्ति से केले का नाश देखा जाता है ।

यदि कहें कि मान लेते हैं—ब्रह्माश्रित अविद्या । किन्तु अविद्या का विषय क्या हैं ? क्या स्वयं ब्रह्म ? या द्वैत जगत् ? या उभय ? सर्वथा अनुपपन्न है; क्योंकि सर्वज्ञ को तत्तत् विषय का ज्ञान होनेसे तत्तत् विषयका अज्ञान हो नहीं सकता । तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि "मां न जानामि", "त्वदुक्तमर्थं न जानामि"—इस प्रकार प्रतीयमान विषय का अज्ञान, अनुभव-सिद्ध है । जड-वर्ग, अविद्या-निर्मित है, अतः उसमें स्वविषयक ज्ञान न होने से ज्ञान-निवर्त्य अविद्या वहाँ सम्भव नहीं । जीवाश्रित अविद्या मानते ही नहीं, अत एव जीवाश्रित अविद्या-पक्ष के दोष निरस्त हो जाते हैं । यह जो कहा था कि ब्रह्म को अविद्या का आश्रय मानने पर विद्वान्-अविद्वान्, गुरु-शिष्य, बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था न रहेगी । वह कहना भी अयुक्त है; क्योंकि अविद्या-काल में सभी व्यवस्थाएँ स्वप्न के समान ही बन जाती हैं । और अविद्या के निवृत्त हो जाने पर किसी प्रकार की व्यवस्था मानने की आवश्यकता ही नहीं । अविद्या-निर्मित गुरु, कल्पित हीने से विद्यावान् कैसे होगा ? इस शङ्का का भी-यही समाधान है कि स्वप्न के समान विद्यावत्ता की कल्पना से सब उपपत्ति हो जाती है । यह जो कहा था कि गुरु यदि शिष्य की अविद्या से कल्पित है, तब तो सभी शिष्य अपने-अपने शिष्यों से कल्पित होंगे, फिर तो कोई आत्मा पारमार्थिक होगा ही नहीं । वह कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि

स्यादिति वाच्यम्; विकल्पासहत्वात्। गुरुशिष्यादिशब्दैः किं केनचित्परिच्छेदेन कवलीकृतं चैतन्यमभिधीयते ? किं वा निरस्तसमस्तभेदम् ? नाद्यः; परिच्छिन्नस्य परिकल्पितत्वादेवाविद्याश्रयत्वानुपपत्तेः। द्वितीये तु सिद्धसाधनम्, यस्मादस्माभिरप्येतदेवाभिधीयते—विध्वस्तसमस्तविकल्पं चिन्मात्रमेव ब्रह्म स्वाविद्यापरिकल्पितांस्तत्तद्विकल्पान्पश्यत् संसरतीति। तादृशमेव चाकारमभिप्रेत्य गुरुरिति शिष्य इति चाभिलप्यते, न तु परिच्छिन्नं कंचनाकारम्। न चेत्परिच्छिन्नानामविद्या कथं तर्हि मदविद्यानिर्मितस्त्वं मदविद्यानिर्मितस्त्वमिति वादिप्रतिवादिनोरन्येषां च कोलाहल इति चेत्, मैवम्; विनैव तत्तत्परिच्छेदेष्वविद्यां स्वप्ने इव परस्मिन्नेव ब्रह्मणि गुरुरिति शिष्य इति चायमिति चाहमिति चैकस्मिन्नेव नानाप्रतिभासः स्वप्नदृशीव चिदात्मनीत्युक्तत्वादित्यलं मतिकर्दमेन। एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्तीत्यत्राभिहितोपालम्भः परास्तः; परमार्थत उत्पन्नविद्यो मुक्तश्च कश्चिच्छास्तीत्यनङ्गीकारात्। अविद्यानिर्मिते च गुरौ स्वाप्न इव कस्मादित्थं कुरुते कस्मान्नेति पर्यनुयोगायोगात्। यत्पुनरनादौ संसारे न कश्चिदपि मुक्तश्चेद्भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशा न संभवति, विद्यो-

---

त्विष्टप्रसक्तिस्तदेतदभिप्रेत्याह—विकल्पासहत्वादित्यादिना। अनुभवविरोधं शङ्कते—न चेत् परिच्छिन्नानामिति। यथाहि—स्वप्नदृश्यपुरुषाणामज्ञानितया शिष्यगुर्वादिभेदेन प्रतीयमानानामपि नाज्ञानित्वम्. किंतु यस्तान्सर्वानवच्छेदान्कल्पयन्पश्यति तन्निष्ठैवाविद्या तन्निवर्तकविद्या च। एवमिहापि सकलकल्पनासाक्षिभूतचैतन्यस्थाविद्ययैव तथाविधकल्पनोपपत्तेर्नायं व्यवहारोऽवच्छेदेष्वविद्याकल्पक इति परिहरति—मैवम्; विनेति। एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेदं गुरुः शास्तीत्येतदपि समर्थितम्। गुरुशब्देनावच्छिन्नानभिलापादित्याह—एतेनेति। यत्तु न पृथगुपदिशेद् उपदिशन्वा मन्मुक्त्यैव मुक्तस्त्वमित्युपदिशेदित्युक्तम्, तत्राह— अविद्यानिर्मिते इति। शास्त्रप्रामाण्यादेवेति। अत्र वामदेवादिमुक्तिप्रतीतेस्तावन्न विरोधः, स्वप्न इव मुक्तामुक्तकल्पनायाः संभवात्। नच तत्तच्छास्त्रप्रतिपादिततया स्वप्नवैलक्षण्यमपि मन्तव्यम्, तत्तच्छास्त्राणामतत्परत्वात्। नच देवताधिकरणन्यायः, अद्वितीयासङ्गचैतन्यब्रह्मविद्यासंबन्धप्रतिपादकश्रुतितदुद्भवयुक्तिजातविरोधे तन्न्यायानवतारात्। अखिलकल्पनानिवृत्तिस्तु चैतन्ये शास्त्रप्रामाण्यादेव

गुरु-शिष्यादिशब्दों से क्या किसी उपाधि से विशिष्ट चेतन विवक्षित है ? या समस्त भेद-रहित
चेतन ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि विशिष्ट परिकल्पित होने के कारण ही अविद्या का आश्रय नहीं
बन सकता। द्वितीय पक्ष में सिद्ध-साधनता है; क्योंकि हमारा भी यही मत है कि समस्त विकल्पं-
रहित चिन्मात्र ब्रह्म अपनी अविद्या से कल्पित विभिन्न विकल्पों को देखता हुआ संसरण करता है।
उसी आकार के अभिप्राय से गुरु-शिष्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं, न कि किसी परिच्छिन्न आकार के
अभिप्राय से। यदि परिच्छिन्न चेतन के आश्रित अविद्या नहीं, तब "मेरी अविद्या से निर्मित आप हैं"
"आप मेरी अविद्या से निर्मित हैं"—इस प्रकार वादी-प्रतिवाकी में परस्पर कहा-सुनी क्यों होती है ?
इसका उत्तर यह है कि तत्तत् परिच्छेदों में अविद्या माने विना ही स्वप्न के समान एक पर ब्रह्म
में 'गुरु-शिष्य', 'अहम्-त्वम्'—इस प्रकार की नाना प्रतीतियाँ हो जाती हैं। इस से 'गुरु' अपने
आत्मा को कल्पित कल्पित भेद से शिष्य समझकर उपदेश देता है'—इस सिद्धान्त पर किये गये
आक्षेपों का निराकरण हो जाता है; क्योंकि परमार्थ दृष्टिसे यह नहीं माना जाता कि कोई तत्त्ववेत्ता
मुक्त पुरुष किसी को उपदेश देता है। अविद्या-निर्मित गुरु के लिए ऐसा आक्षेप कभी नहीं हो
सकता कि वह "तत्त्वमसि"—यह उपदेश क्यों करता है ? और "मन्मुक्त्यैव मुक्तस्त्वम्"-यह उपदेश
क्यों नहीं करता ? यह जो आक्षेप किया था कि अनादि संसार में यदि अभी तक कोई भी मुक्त नहीं
हुआ, तब भविष्य में क्या आशा ? गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय के न होने से विद्या की उत्पत्ति
भी अनुपपन्न है। वह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है; क्योंकि शास्त्र-प्रामाण्य से ही भविष्य में

त्पत्तिरप्यनुपपन्ना गुरुसंप्रदायाभावादिति, तदपि प्रत्युक्तम्; शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशोपपत्तेः। न च गुरुसंप्रदायाभावः, विद्वत्तया परिकल्पितगुरोस्तदुपपत्तेरुक्तत्वात्। प्रथमप्रयोगे च पारमार्थिकान्योन्याभाववत्त्वसाधने साध्यविकलो दृष्टान्तः, अद्वैतवादिभिः घटस्यापि वास्तवान्योन्याभावानभ्युपगमात्। व्यावहारिकसाधने च सिद्धसाधनत्वात्। द्वितीयप्रयोगे च कालात्ययापदिष्टता, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इति श्रुत्या बाधात्। न चैषा श्रुतिरीश्वरपरा, अप्रसक्तनिषेधप्रसङ्गात्। नहीश्वरस्य प्रतिभूतं भेदो लोकतो वेदतः परीक्षकसंमत्या वा प्रसक्तः। न च तस्यापि नियन्तृतया सर्वभूतान्तरवस्थानं 'य आत्मनि तिष्ठन्'इति श्रुतेरिति वाच्यम्; आत्मेश्वरभेदाभावस्य तत्र तत्र श्रुतिषु बहुशः प्रतिपादनात्। अन्तर्यामिब्राह्मणे च 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता'इत्यात्मभेदनिराकरणात्, 'य आत्मनि तिष्ठन्'इति चौपाधिकस्यात्मनो घटाकाशस्य महाकाशाधीनत्ववत्स्वानुगतात्माधीनत्वप्रतिपादनपरम्, अत एव चानुपपन्नमिति।

भविष्यति। नच तदन्यतत्परम्, मुक्तौ तात्पर्यलिङ्गावगमात् भवदङ्गीकाराच्च। यथात्र सर्वमुक्तिवादिनामद्वैतिनामितः पूर्वमसंजातापि मुक्तिः सर्वजीवानां शास्त्रप्रमाण्यादेव भविष्यतीत्यध्यवसीयते। अथानुमानात्तत्राध्यवसायस्तदत्रापि तुल्यम्। शक्यते हि यो यत्साधनमनुतिष्ठतीति व्याप्तिर्ग्रहीतुम्, विभ्रमत्वादिति वाऽविशेषत इति भावः। यत्त्वात्मभेदे प्रमाणमुक्तम्—आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववानिति, तत्र पारमार्थिकतद्वत्त्वं साध्यते? व्यावहारिकं वा? उभयथापि दूषणमाह—प्रथमप्रयोग इत्यादिना। द्वितीयानुमाने दूषणमाह—द्वितीयेति। तत्र तावदात्मनां परस्परभेदो न सिध्यति, आत्मनि भेदमात्रसाधनात्, तस्य च दृश्यप्रतियोगिकतयाप्युपपत्तेः, तस्याप्यवस्थितिं वदतो भेदखण्डनोक्तदोषा आवर्तनीयाः। भवतु चात्मभेदपरता तथापि कालात्ययापदेश इत्यर्थः। सत्प्रतिपक्षत्वं चास्य मिथ्यात्ववादेऽस्माभिरुपदर्शितम्। ईश्वरेऽप्रसङ्गमेवाह—न हीश्वरस्येति। किंच सर्वभूतान्तरात्मत्वव्यपदेशादपि प्रत्यगात्मन एवायमेकत्वव्यपदेशः, न तटस्थेश्वरस्य। यात्वन्तर्यामितया तटस्थेश्वरपक्षेऽप्यन्यथासिद्धिरुक्ता, तामनूद्य निराचष्टे—न च तस्यापीति। नच वाच्यमित्यन्वयः। न केवलं श्रुत्यन्तरे, अन्तर्यामिब्राह्मण एवात्मभेदो निराकृत इत्याह—अन्तर्यामीति। ननु तर्हि 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यात्मेश्वरयोराधाराधेयभावस्य का गतिरित्यत्राह—य आत्मनीति। यथाहि घटाकाशे महाकाशो वर्तत इति व्यपदिश्यते, तत्स्वरूपतया तत्रानुगतत्वात्, अत एव च महाकाशाधीनो घटाकाश इति व्यवहारः, तद्वदत्राप्यौपाधिकजीवात्मनः स्वरूप-

मुक्ति की आशा बन सकती है। गुरु-सम्प्रदाय का भी अभाव नहीं; क्योंकि विद्यावत्त्वरूप से कल्पित गुरु की उपपत्ति की जा चुकी है। आत्म-भेद-साधक प्रथम (आत्मा, आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववान्, लक्ष्यत्वाद् घटवत्) प्रयोग में पारमार्थिक अन्योन्याभाववत्ता का साधन करने पर दृष्टान्त साध्य-विकल है; क्योंकि अद्वैतवादी घट में भी पारमार्थिक अन्योन्याभाववत्ता नहीं मानते। व्यावहारिक अन्योन्याभाववत्ता का साधन करने पर सिद्ध-साधनता है। द्वितीय (आत्मा, आत्मनिष्ठमिथ्योभेदातिरिक्तभेदवान् लक्ष्यत्वाद् घटवत्) प्रयोग, "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० ६।११) आदि श्रुतियों से बाधित है। इस श्रुति को ईश्वरपरक मानने पर अप्राप्त-प्रतिषेध प्राप्त होगा; क्योंकि प्रत्येक भूत के भेद से ईश्वर में भेद न लोकतः प्राप्त है, न वेद से और न शास्त्रकारों की सम्मति से, कि जिससे उस भेद का प्रतिषेध करने के लिए "एको देवः" में एकत्व का विधान किया जाता। "य आत्मनि तिष्ठन्"—(श० प० १४।५।३०) इस श्रुति के आधार पर यह भी नहीं कह सकते कि ईश्वर सभी आत्माओं में अन्तर्यामीरूप से स्थित है; क्योंकि आत्मा और ईश्वर का अभेद बहुत श्रुतियों में प्रतिपादित है। अन्तर्यामिब्राह्मण में "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता" (बृह. उ. ३।७।२३) इस श्रुति ने स्पष्टरूप से आत्मभेद का निराकरण किया है। "य आत्मनि तिष्ठन्"—यह श्रुति घटाकाश की महाकाशाधीनता के समान औपाधिक आत्मा में अपने अनुगत आत्मा की

तामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा नित्यद्रव्याणां स्वतन्त्रया परस्पराधाराधेयभावानुपपत्तेरनङ्गीकाराच्च श्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गात्।

न च तत्त्वमसीत्याद्युपासनापरम्, तथात्वे प्रामाणाभावात्। तथाहि किं प्रमाणान्तरविरोधादुपासनापरम ? उत स्वार्थे तात्पर्यावगमोपायाभावात् ? नाद्यः; जीवब्रह्मणोः प्रमाणान्तरागोचरतया तद्भेदस्यापि प्रमाणान्तरागोचरत्वात्। बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव भेदावभासोपपत्तेश्च। नापि द्वितीयः। "तत्त्वमसि" इति नवकृत्वोऽभ्यासाद्, "अनेन जीवेन" इति चार्थवादोपादानाद्, "अथ ये अन्यथाऽतो विदुः" इति भेददर्शननिन्दनाद्, "अथ संपत्स्यते" इति फलश्रवणाद् "एकमेवाद्वितीयमैतदात्म्य" इति चोपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्याद्, अपूर्वत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्चोपपादनात्। अन्यत्रापि "अहं ब्रह्मास्मि" "स एष इह प्रविष्टः", "यं ऽन्यां देवतामुपास्ते", "स इदं सर्वं भवति" इत्यादिश्रवणादेकत्वे तात्पर्यावगमात्। "तद्धास्य विजज्ञौ" इति "तरति शोकमात्मवित्"

त्वात्परमात्मा तत्र तिष्ठन्निति तन्नियमयतीति च परमेश्वराधीनताप्रतिपादनार्थोऽयं व्यपदेश इत्यर्थः। किंच त्वत्पक्षेऽपि न मुख्योऽर्थः संभवति, नित्यद्रव्ययोः परापरात्मनोः परस्पराधाराधेयभावानुपपत्तेः, व्यापित्वाच्च न कुण्डबदरन्यायः, तस्मादनिच्छताऽपि नैरर्थक्यपरिहारायोक्तपरिहारः स्वीकर्तव्य इत्याह—**अन्यथेति**।

श्रुत्यन्तरस्योक्तान्यथासिद्धिं परिहरति—**न च तत्त्वमसीति**। यदि जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रमाणान्तरगोचरस्तर्ह्येकत्वग्राहिप्रमाणैरैक्योपदेशो विरुध्येत, न तदस्तीत्याह—**जीवब्रह्मणोरिति**। ननु परमेश्वरविरुद्धधर्मवत्तया तावत्कर्ता भोक्ता दुःख्यहमिति भेदप्रतितिरस्ति ततस्तद्विरुद्धोऽयमागम इति, तत्राह—**बिम्बेति**। अथवा यदि जीवब्रह्मभेदः प्रामाणान्तरागोचरः, कथं तर्हि तत्प्रतिभास इति, तत्राह—**बिम्बेति**। न वास्तवभेदसाधिकेयमित्यर्थः। तात्पर्यावगमोपायाभावादिति द्वितीयपक्षेऽसिद्धिं दर्शयन्नुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तिलक्षणषड्विधतात्पर्यलिङ्गानि दर्शयति—**नापि द्वितीय इत्यादिना**। **अथ य इति**। 'अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' इत्यत्र ये अतः उक्तात् ऐक्यज्ञानात् व्यतिरेकेणान्यथा मत्तो भिन्नः परमेश्वरः अहं च तस्माद्भिन्नः संसारीति भेदेन परमेश्वरं विदुः तेऽन्यराजानः सन्तस्तदधीनतया स्वाराज्याभावात् क्षय्यलोकाः भवन्ति अपुनरावृत्तिलक्षणमुक्तिं न प्रतिपद्यन्ते, मृत्युरूपं संसारं च प्रतिपद्यन्त इति भेदनिन्दाश्रवणादित्यर्थः। एवं छान्दोग्यश्रुतौ लिङ्गादि दर्शयित्वा बृहदारण्यकेऽपि दर्शयति—**अन्यत्रापीति**। अतोऽप्युपासनापरत्वमस्य नास्तीत्याह—

आधीनतामात्र का प्रतिपादन करती है। अन्यथा नित्य द्रव्यों में स्वतन्त्रता के कारण परस्पर आधाराधेयभाव नहीं बन सकता और न माना ही जाता है, उसका प्रतिपादन करने में श्रुति ही व्यर्थ हो जायगी।

यह जो कहा था कि "तत्त्वमसि"—यह श्रुति उपासनापरक है, 'वहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या प्रमाणान्तर का मुख्य अर्थ में विरोध होने के कारण उसे उपासनापरक माना जाता है ? या स्वार्थ में तात्पर्य-बोधन का कोई उपाय न होने से ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि प्रामाणान्तर के अगोचर होने के कारण जीव-ब्रह्म का भेद प्रामाणान्तर का विषय नहीं हो सकता। बिम्ब-प्रतिबिम्ब के समान भेद की प्रतीति हो भी सकती है। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं; क्योंकि अभेद में तात्पर्यग्रह के उपायभूत छह लिङ्गों की वहाँ उपलब्धि है—"तत्त्वमसि"—इस प्रकार नौ वार उपदेशरूप अभ्यास का, "अनेन जीवेन"—इस श्रुति से अर्थवाद का, "अथ येऽन्यथातो विदुः"—इस श्रुति से भेद-दर्शन-निन्दा का, "अथ सम्पत्स्यते"—वाक्य से फल का, "एकमेवाद्वितीयम्", "ऐतदात्म्यमिदम्"—इन वाक्यों से उपक्रम और उपसंहार की एकवाक्यता का, विषय की अपूर्वता का एवं मृत्तिका-दृष्टान्त से उपपादन का सद्भाव स्पष्टतः परिलक्षित है। छान्दोग्य के ही समान बृहदारण्यक उपनिषत् में भी "अहं ब्रह्मास्मि", "य एष इह प्रविष्टः", "योऽन्यां देवतामुपास्ते", "स इदं सर्वं भवति"—आदि लिङ्गों से अभेद में तात्पर्य का निश्चय होता है। "तद्धास्य विजज्ञौ" (छां.उ. ६।१६।३)

"तमसः पारं दर्शयति", "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"इति विद्याया अविद्यानिवृत्तिब्रह्मात्मभावफलकत्वश्रवणात् , उपासनाविज्ञानस्याप्रमाणत्वादविद्यानिवर्तकत्वायोगात् । परमार्थतो भिन्नस्यात्मनो ब्रह्मात्मत्वासंभवात्स्थितस्य नष्टस्य वान्यस्यान्यात्मत्वायोगात् , उपासनपरत्वस्य वक्तुमयुक्तत्वात् । 'वेद भवति, विद्वान् न बिभेति, पश्यन् प्रतिपेदे, को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' इत्यादिना विद्यातत्फलयोः समकालीनत्वप्रतिपादनात् , विधेयज्ञनापूर्वजन्यत्वे च तदयोगात् । 'नेह नानास्ती'त्यत्र च त्वप्रत्ययाश्रवणेन नानात्वस्यानिषेधात् , अप्रसक्तप्रतिषेधप्रसङ्गस्य च पूर्वमेव दर्शितत्वात् । नानाभूतस्य कार्यस्य प्रतिषेधे च कारणादन्यत्र कार्यस्याभावेन वाक्यस्य तन्मिथ्यात्वे पर्यवसानात् । उपासनाविधिपरत्वस्य निषेधादेव भेददर्शननिन्दायास्तत्परत्वायोगात् ।

द्वासुपर्णेत्यादेश्च लोकसिद्धभेदानुवादकत्वात् लोकसिद्धत्वेऽपि भेदस्य देहात्मभाववत्

तद्धास्येत्यादिना । ननूपासनापि विद्यैव, अतः सापि किमित्यविद्यानिवर्तिका न भवेत्, तत्राह—**उपासनेति** । नह्युपासनाविधिर्विषयतात्विकत्वमप्यपेक्षते, योषिदग्न्यादावदर्शनात् । क्रियैव चैषोपासना विधेयत्वान्न प्रमितिः, नहि प्रमितिः पुरुषाधीनात्मलाभा, वस्त्वधीनत्वात् , तस्मादुपासना नाविद्यानिवर्तिकेत्यर्थः । इतोऽप्युपासनापरत्वमयुक्तमित्याह—**परमार्थत इति** । किमभिन्नस्यैव सतो जीवस्य ब्रह्मणैक्यमुपासनयोत्पाद्यते ? भिन्नस्य वा ? नाद्यः, अभेदस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् , भेदस्य च तत्र भ्रान्तिमात्रतया विद्यैकनिवर्त्यत्वात् । द्वितीये तु स्थित एव जीवे ब्रह्मैक्यम् ?नष्टे वा ? नोभयथापि , एकत्र विरुद्धत्वादपरत्र स्वरूपनाशेनापुरुषार्थत्वादित्यर्थः । इतोऽप्युपासनापरत्वं न घटते, यतो विद्योदयसमसमयमेव मोक्षः श्रूयते श्रुतिषु, उपासनापरत्वे ह्यपूर्वव्यवधानात्तदनुपपत्तेरित्याह—**वेद भवतीत्यादिना** । 'नेह नानास्ति किंचने'त्यस्यापि समस्तद्वैतनिषेधपरत्वमुपपादयति—**नेहेति** । व्याख्यातश्चायं मिथ्यात्ववादे ग्रन्थः। भवतु ब्रह्मणि नानाभूतवस्तुनिषेधस्तथापि कथं मिथ्यात्वसिद्धिर्यावतान्यत्रापि सत्त्वं संभाव्येतेह निषिद्धघटवदिति, तत्राह—**कारणादन्यत्रेति** । यत्तु भेददर्शननिन्दाऽभेदोपसनाविधिपरा न त्वतत्परेत्युक्तम् , तत्राह—**उपासनेति** ।

यास्त्वात्मभेदे श्रुतयः पूर्वपक्षिणोदाहृतास्तासां कल्पितभेदविषयतयान्यथासिद्धिमाह—**द्वासुपर्णेत्यादेश्चेति** । ननु लोकोऽपि प्रत्यक्षाद्यन्यतमो निर्धारितविशेष इति तत्सिद्धत्वेऽपि प्रामाणिकत्वमेवापतति—इत्युक्तम् ,

---

"तरति शोकमात्मवित्" (छां० ३।१।३) "तमसः पारं दर्शयति" (छां.उ.७।२६।२) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" (मुण्ड० २।२।८) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० ३।२।९) आदि श्रुतियों में विद्या का फल, अविद्या-निवृत्ति और ब्रह्म-आत्मभाव की प्राप्ति प्रतिपादित है । उपासना-विज्ञान न तो प्रामाणिक है और न अविद्या का निवर्तक ही है । परमार्थतः भिन्न आत्मा में ब्रह्मभाव सम्भव नहीं अर्थात् विद्यमान या अविद्यमान अन्य वस्तु में अन्यरूपता कभी हो ही नहीं सकती, अतः उक्त श्रुतियों को उपासनापरक नहीं कहा जा सकता । श्रुतियों में "वेद भवति," "विद्वान् न बिभेति," पश्यन् प्रतिपेदे," "को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"—इस रूप से विद्या और उसके फल मोक्ष की समानकालीनता श्रुत है, उपासना-पक्ष में उसकी उपपत्ति नहीं होती ; क्योंकि उपास्य ज्ञान के अनन्तर अपूर्व से मोक्ष उत्पन्न होगा । "नेह नानास्ति"—यह श्रुति भी समस्त द्वैत का निषेध करती है, नानात्व का नहीं ; क्योंकि वहाँ, नाना" शब्द के उत्तर 'त्व' प्रत्यय का श्रवण नहीं, नानात्व-निषेध-पक्ष में अप्रसक्त-प्रतिषेध की आपत्ति पूर्व (पृ० ८८) ही दिखाई जा चुकी है । जब नानारूप कार्य का निषेध करते हैं, तब कारण से अन्यत्र कार्य के न होने से उक्त वाक्य का कार्य के मिथ्यात्व में तात्पर्य निश्चित हो जाता है । उपासना-विधि-परत्व का निषेध हो जाने से भेद-दर्शन-निन्दा, अभेदोपासनापरक नहीं हो सकती ।

"द्वा सुपर्णा"—आदि श्रुतियाँ लोक-सिद्ध भेद का अनुवादमात्र करती हैं । लोक-सिद्ध होने पर

सवितृप्रादेशिकत्वादिवच्च प्रामाणिकत्वाप्रसङ्गात्। व्यवस्थानुपपत्तेश्च दुर्निरूपतया भेदासाधकत्वात्। व्यवस्थाशब्देन धर्मभेदमात्राभिधाने दाहापाकादेरिव धर्मिभेदासाधकत्वात्। भिन्नाधिकरणधर्मभेदाभिधाने चान्योन्याश्रयत्वात्। परस्परविरुद्धधर्मोक्तौ च विरोधस्य विचारासहत्वात्, सहानवस्थानस्यासिद्धेः, एकस्मिन्नप्यात्मनि पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति युगपत् सुखदुःखयोरनुभवात्। अणुपरिमाणस्य मनसो युगपत्प्रदेशद्वयेन सन्निकर्षाभावेऽपि त्वगिन्द्रियेण व्यापकेन युगपत्संनिकर्षात्। तत्तत्प्रदेशावच्छिन्नात्ममनःसंनिकर्षस्य च सुखदुःखनिदानत्वाङ्गीकारे सुखदुःखयोरणुमात्रतयोपलम्भप्रसङ्गात्, सकलदेहव्यापितया च तयोरनुत्पादप्रसङ्गात्। विनश्यदविनश्यतोश्च सुखदुःखयो सहावस्थानस्य स्वयमेवाङ्गीकारात्।

तदसत्, देहात्मभावादौ व्यभिचारादित्याह—**लोकसिद्धत्वेऽपीति**। या तु सुखादिव्यवस्थान्यथानुपपत्तिरुक्ता, तां परिहरति—**व्यवस्थेति**। दुर्निरूपतामेव दर्शयति—**व्यवस्थाशब्देनेति**। अत्र किं भिन्नधर्माणां युगपदेकत्रावस्थानानुपपत्तिरधिकरणभेदसाधिका ? उत भिन्नाधिकरणधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिः ? उत विरुद्धधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिरिति ? अत्राद्यं दूषयित्वा द्वितीयं दूषयति—**भिन्नाधिकरणेति**। तृतीये प्राह—**परस्परेति**। कोऽयं विरोधः सुखादीनाम्, किं सहानवस्थानम् ? किं वा वध्यघातकभावः ? उत भावाभावरूपत्वम् ? आद्ये प्राह—**सहानवस्थेति**। ननु कथमणुपरिमाणस्य मनसः शिरःपादप्रदेशाभ्यां युगपत्संबन्धः ? येन तत्तत्प्रदेशवर्तिसुखदुःखयोर्युगपदुत्पत्तिः स्यादतः समानाधिकरणक्रमेणोत्पन्नसुखदुःखयोर्भ्रान्तिरेव यौगपद्यप्रतीतिरिति, तत्राह—**अणुपरिमाणस्येति**। त्वगिन्द्रियं हि निखिलशरीरव्यापकत्वाद्युगपच्छीतोष्णाभ्यां सन्निकृष्यते, तच्चैकेन मनसाधिष्ठीयते, ततश्चोभयविषयज्ञानोत्पौ युगपत्सुखदुःखयोरुत्पादो न विरुध्यते। त्वग्द्वारा च युगपत्संनिकर्षाधिष्ठानादुभयविषयमेकं ज्ञानं सामग्रीसंपत्त्या समुत्पद्यत इत्यर्थः। ननु भवतु युगपज्ज्ञानम्, तथापि नैकत्र द्वयोरवस्थानम्, नहि यावदात्मसुखदुःखोत्पत्तिः, अनुपलम्भात्, किं तर्हि येन शरीरप्रदेशेन कण्टकादिसंयोगः समजनि तदवच्छिन्नात्मप्रदेशेन मनःसंयोगात्तत्रैव दुःखादय उत्पद्यन्ते। ततश्च सुखदुःखयोर्भिन्नप्रदेशावस्थितत्वादस्त्येव सहानवस्थानमिति, तत्राह—**तत्तत्प्रदेशेति**। अथवाऽसमवायिकारणमनःसंयोगक्रमात् सुखदुःखयोः क्रमोत्पादः किं न स्यादिति, तत्राह—**तत्तत्प्रदेशेति**। **अण्विति**। पादादिव्यापितया नोपलभ्येतेत्यर्थः दूषणान्तरं चाह—**सकलेति**। मनःसंयुक्तप्रदेशस्याणुपरिमाणतया तत्र सुखस्य निखिलशरीरव्यापिता नोपलभ्येते-

भी भेद, देह में आत्मभाव या सूर्य में प्रादेशिकत्वादि के समान ही प्रामाणिक नहीं हो सकता। सुख-दुःखादि की व्यवस्थानुपपत्ति, स्वयं दुर्निरूपित होने से भेद-साधक नहीं हो सकती; क्योंकि 'व्यवस्था' शब्द से धर्म-भेदमात्र का अभिधान करने पर दाह-पाकादि के समान ही वह धर्मिभेदका-साधक नहीं हो सकता (अर्थात् जैसे एक ही अग्नि में जलाना और पकानादि विभिन्न धर्म रहते हैं, वैसे ही न्यूनाधिक सुख-दु:खादि भी एक ही धर्मी में क्यों न रह जायँगे ?)। 'व्यवस्था' शब्द से भिन्नाधिकरण-वृत्ति धर्म का अभिधान मानने पर अन्योन्याश्रयता है और परस्पर विरुद्ध धर्मों की विवक्षा करने पर विरोध का निर्वचन सम्भव नहीं; क्योंकि सहानवस्थानरूप विरोध तो यहाँ सिद्ध ही नहीं हो सकता; क्योंकि एक ही आत्मा में "पादे मे वेदाना, शिरसि मे सुखम्"—इस प्रकार सहावस्थित सुख-दुःख का अनुभव होता है। अणुपरिमाण होने के कारण मन का तो युगपत् दोनों प्रदेशों से सम्बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु शरीर-व्याप्त त्वगिन्द्रिय का युगपत् सन्निकर्ष हो जाता है। पादादि प्रदेशावच्छिन्न आत्मा के साथ मनःसन्निकर्ष को सुख-दुःख का जनक मानकर (पादावच्छिन्न आत्मा में दुःख और शिरोऽवच्छिन्न आत्मा में सुख—इस प्रकार सहानवस्थान बनाने पर) मन के अणु होने से अणुप्रदेश में ही सुखादि का भान होना चाहिए, सकल शरीर में व्याप्त सुख-दुःख का उदय नहीं हो सकेगा। विनाशाविनाश अवस्थावाले सुख-दुःखों का सहावस्थान

वध्यघातकभावस्य च 'नाजात एकोऽन्यं हन्ति नाप्यन्याधारम्, इति न्यायेन सहावस्थानाक्षेपकत्वात्। व्यवस्थायाश्च कल्पितभेदाश्रयत्वेनाप्युपपत्तेः। अननुसंधानस्य च शरीरभेदादेवातीतशरीरेष्विव संभवात्। वर्तमानशरीरेष्वपि निदर्शनाभावादेव योगिनमनङ्गीकुर्वद्भिः अनुसंधानस्य प्रसञ्जयितुमशक्यत्वात्, योगिसद्भावाभ्युपगमेऽपि नयनावच्छिन्नस्यात्मनः शब्दाद्यननुसंधानवदेकशरीरविशिष्टस्य शरीरान्तरेऽननुसंधानोपपत्तेः। उपलक्षितस्य परमात्मनः सर्वज्ञस्य सर्वत्रानुसंधानेऽपि दोषाभावात्। अनुसंधानेऽपि तस्याभोक्तृत्वादेव योगिवदीश्वरवच्च तस्य तत्तच्छरीरदुःखपरिहाराय प्रवृत्तेरप्रसङ्गात्।

सुखादीनां च साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावेन तद्भेदासाधकत्वात् साक्षिणश्च प्रभाकरणा-

त्यर्थः। अलं वा विवादेन, विनश्यदविनश्यतोर्भवतैव सहानवस्थानमङ्गीक्रियत इत्याह—विनश्यदिति। द्वितीपक्षं प्रतिक्षिपति—वध्यघातकेति। नन्वस्त्वेवं युक्तिपरिनिष्पन्नः पन्थाः, अनुभवस्य तु का गतिः? नह्येकस्मिन्सुखिनि सर्वे सुखिनो दुःखिनि वा दुःखिन उपलभ्यन्त इति, तत्राह—व्यवस्थायाश्चेति। अङ्गीकृत्य सहानवस्थानमयं काल्पनिकभेदमादाय परिहारः। एतेन भावाभावपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तः, एकस्मिन्नप्यात्मनि सुखादेस्तदभावस्य च भवद्भिरेवाङ्गीकारेणाव्यवस्थापकत्वात्। नच भावाभावत्वमपि शङ्कामधिरोहति, उभयोरपि गुणत्वेनाङ्गीकारात्। यत्तु पादाद्यवयवेष्विव निखिलशरीरेष्वेकस्यैवानुसंधानं स्यादिति, तत्राह—अननुसंधानस्येति। नन्वतीतत्वमेव तत्रोपाधिः, नतु शरीरभेदः; इतरथा वर्तमानानेकशरीराधिष्ठातृयोगव्याघ्रस्य तेष्वननुसंधानप्रसङ्गादिति, तत्राह—वर्तमानेति। मीमांसकानां तावदयं न युक्तः प्रसङ्ग इत्यर्थः। तार्किकान्प्रत्यप्याह—योगीति। ननु यद्यपि चक्षुरवच्छिन्नस्य शब्दाद्यनुसंधानं नास्ति तथाप्यस्त्येवैकस्तदुपलक्षितोऽनुसन्धाता, इतरथा य एवाहं रूपमद्राक्षं स एव शृणोमीति प्रतिसंधानाभावप्रसङ्गादिति, तत्राह—उपलक्षितस्येति। परमात्मानुसंदधात्येवेत्यर्थः। ननु कथं दोषाभावः? यावता चरणतललग्नकण्टकोद्धरणाय पाणितलव्यापारवच्चैत्रगात्रवेदनापरिहाराय मैत्रगात्रव्यापारप्रसङ्गस्य दोषत्वादिति, तत्राह—अनुसंधानेऽपीति। यथाहि भवतां सर्वज्ञस्येश्वरस्य योगिनो वा सर्वत्रानुसंधानेऽप्यप्रवृत्तिः, तत्कस्य हेतोः? अभोक्तृत्वात्, एवमस्मन्मतेऽपीत्यर्थः।

यच्च साक्ष्यतया सुखादेः साक्षिधर्मत्वाभावाद् व्यधिकरणतयाऽव्यवस्थापकत्वं पूर्वपक्षिणाशङ्क्य दूषितं

आप स्वयं ही मानते हैं। 'विरोध' शब्द का बध्यघातकभाव अर्थ करने पर दोनों में सहावस्थान की अनिवार्यता माननी होगी; क्योंकि यह नियम है कि एक (घातक) न तो बिना उत्पन्न हुए, दूसरे का घात कर सकता है और भिन्न आधार में रहकर ही। कोई सुखी है तो कोई दुःखी—इस प्रकार की व्यवस्था तो कल्पित भेद को लेकर भी बन सकती है। यह जो कहा था कि सर्वत्र एक ही आत्मा केहाने पर दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के अनुभवों का अनुसन्धान क्यों नहीं होता? उसका उत्तर यह है कि शरीर के भेद से ही अननुसन्धान वैसे ही बन जाता है, जैसे एक ही आत्मा को अपने पूर्व शरीरों के अनुभवों का अनुसन्धान नहीं होता। 'वर्तमान अपने अनेक शरारों के अनुभवों का अनुसन्धान योगी करता है'—यह आपादन वह व्यक्ति नहीं कर सकता, जो योगी नहीं मानता; क्योंकि उसके लिए और कोई दृष्टान्त नहीं। हाँ, योगी माननेवाला वादी अवश्य यह कह सकता है; किन्तु उसे यह कह देना पर्याप्त है कि जैसे नेत्रावच्छिन्न आत्मा, शब्दानुसन्धान नहीं करता, वैसे ही एक शरीर-विशिष्ट आत्मा के अनुभव का अनुसन्धान शरीरान्तर में नहीं होता। यदि कहा जाय कि नेत्राद्युपलक्षित आत्मा तो शब्दादि का अनुसन्धान करता ही है, तो इसमें इष्टापत्ति है; क्योंकि सर्वज्ञ परमात्मा तो सबका अनुसन्धान करता ही है। अनुसन्धान होने पर भी बह उसका भोक्ता नहीं; अतः योगी या ईश्वर के ही समान उन-उन शरीरों के दुःखों का परिहार करने के लिए उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

सुखादिरूप साक्ष्य पदार्थ साक्षी के धर्म न होने से साक्षी के भेद के साधक नहीं हो सकते।

संनिधानेऽपि सुषुप्तावज्ञानसाधकस्य प्रमात्रन्तर्भावानुपपत्तेः। तस्य च जीवात्मान्तर्भावात्साक्षिप्रत्यक्षस्य लौकिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्तेः। न च साक्षिणि प्रमाणाभावः, यतः—

'चैत्ररागः स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा।
तदध्यक्षेण संवीक्ष्यः प्रत्यक्षत्वात्पटादिवत्' ॥ ५ ॥

विवादाध्यासिताः चैत्रेच्छादय एतद्ग्राहकाऽनित्यज्ञानातिरिक्तैतत्प्रत्यक्षग्राह्याः एतत्प्रत्यक्षत्वादेतत्प्रत्यक्षपटादिवत्। न चाभाससमानयोगक्षेमत्वम्; अनुमानस्य नित्यत्वप्रसाधने लक्षणव्याघातात्। व्याप्याद्व्यापके बुद्धिरनुमानम्, साधनधर्मदर्शनात् साध्यधर्मविशिष्टे बुद्धिरनुमानम्, लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैङ्गिकमनुमानम्, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृगित्यादिलक्षणैरनित्यस्यैव ज्ञानस्यानुमानत्वेन लक्ष्यमाणत्वात्, विपक्षे बाधकाभावाच्च। मानसप्रत्यक्ष-

---

तदपि समर्थयते—सुखादीनां चेति। यत्तु साक्षिणोऽपि द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावः, इतरथा व्यवहारानङ्गत्वमित्युक्तम्, तत्र द्रष्टृत्वेऽपि प्रमात्रन्तर्भावं परिहरति—साक्षिणश्चेति। प्रमाणैर्यः प्रमिणोति स प्रमाताऽतो नैवमसावित्यर्थः। ननु तर्हि जाग्रदादौ ज्ञानादिसाधकत्वं तस्य न स्यात्, अनुपरतप्रमाणव्यापारत्वात् तदानीम्, अतो व्यवहारानङ्गत्वं तदवस्थमिति, तत्राह—तस्य चेति। अन्तर्भावात्स्वरूपतयेत्यर्थः। साक्षिणि तार्किकं प्रत्यनुमानमाह—चैत्रेति। तदध्यक्षेण चैत्रप्रत्यक्षेणेत्यर्थः। इदं च विशेषणं पूर्वोक्तेश्वरप्रत्यक्षेणार्थान्तरतापरिहारार्थम्, नहीश्वरप्रत्यक्षं चैत्रप्रत्यक्षमिति भवतामङ्गीकारः। श्लोकं विवृणोति—विवादेति। अत्राप्यनित्यज्ञानातिरिक्तेति अनित्यज्ञानत्वानधिकरणमित्यर्थः। ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतयार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थमेतत्प्रत्यक्षपदम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमेतद्ग्राहकेति पदम्, तथाचेच्छादिग्राहकनित्यापरोक्षसाक्षिसिद्धिः; परोक्षादिष्वेतत्प्रत्यक्षाविषयेषु व्यभिचारनिवृत्त्यै हेतावेतत्पदम्, अतीन्द्रियेष्वव्यभिचाराय प्रत्यक्षपदम्। यत्तु नित्यानुमानस्यापि साधकतयाभाससमानयोगत्वमुक्तम्, तत्राह—न चाभासेति। जन्यत्वगर्भमनुमानलक्षणमित्यत्र तार्किकसंमतिमाह—व्याप्यादित्यादिना। नच नित्यप्रत्यक्षाभ्युपगमेऽपि प्रत्यक्षलक्षणव्याघातः, साक्षात्कारिज्ञानत्वस्य तल्लक्षणत्वादीश्वरप्रत्यक्षस्य तार्किकैरङ्गीकारात्। मोक्षदशायां भाट्टैरविनाशिनोऽपरोक्षसुखज्ञानस्याङ्गीकारात्। गुरुमतेऽपि साक्षात्कारिज्ञानत्वस्यैव तल्लक्षणत्वाद्यथाह भाट्टः—'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्' इति। स्वानुमानस्य च विपक्षे बाधकतर्कमाह—मानसप्रत्यक्षेति। तत्र तदुक्तं साधनं दूषयति—न च स्वरूपेणेति। नायमविरोधनियामकः, एतस्मि-

---

प्रमा-करण-सन्निधान के बिना ही सुषुप्ति के अज्ञान का साधक होने से साक्षी, प्रमाता के अन्तर्गत नहीं हो सकता। साक्षी, जीव के अन्तर्गत है, अतः साक्षिप्रत्यक्ष लौकिक व्यवहार का अङ्ग बन जाता है। साक्षी में प्रमाणाभाव भी नहीं; क्योंकि अनुमान प्रमाण है—"चैत्र के इच्छादि, स्वविषयक अनित्य ज्ञान से अतिरिक्त, चैत्र के प्रत्यक्ष से ग्राह्य हैं, प्रत्यक्ष होने के कारण, जैसे—पटादि।" इस अनुमान में जो ("इच्छादय एतद्ग्राहकानित्यानुमानातिरिक्तानुमानवेद्याः वेद्यत्वात्"—इस) अनुमानाभास की समानता का दोष दिया था। वहाँ अनुमान में नित्यत्व सिद्ध करने पर अनुमान-लक्षण से ही विरोध हो जाता है; क्योंकि "व्याप्याद् व्यापके बुद्धिरनुमानम्" (व्याप्य से जन्य व्यापक की बुद्धि को अनुमान कहते हैं), "साधनधर्मदर्शनात् साध्यधर्मविशिष्टे बुद्धिरनुमानम्" (साधनरूप धर्म के दर्शन से साध्यरूप धर्म से विशिष्ट धर्मी का ज्ञान, अनुमान है), "लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैङ्गिकज्ञानानुमानम्" (लिङ्ग-दर्शन से उत्पन्न होनेवाले लिङ्गी के ज्ञान का नाम अनुमान है), "त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्" (पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व और विपक्षासत्त्वरूप तीनरूपों से युक्त लिङ्ग से जन्य साध्यविषयक ज्ञान को अनुमान कहा जाता है)—आदि लक्षणों से अनित्य ज्ञान को ही अनुमान सिद्ध किया गया है। एवं अनुमानाभास में विपक्ष-बाधक कोई तर्क भी नहीं। किन्तु हमारे अनुमान में विपक्ष-बाधक तर्क यह है कि इच्छादि में मानस प्रत्यक्ष की वेद्यता मानने पर कर्मकर्तृ-

वेद्यत्वे इच्छादेः कर्मकर्तृभावस्यैव बाधकत्वात्। न च स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टरूपेण ग्राह्यत्वेऽप्यविरोधः। केवलस्य देवदत्तस्य गन्तृत्वं कुण्डलविशिष्टस्य तु गन्तव्यत्वमिति तत्रापि विरोधाभावप्रसङ्गात्। दृश्यते च कर्तुरप्यन्यत्र करणता 'योधै राजा युध्यते', 'चारेण परसैन्यं कलयति' इत्यादिषु।

न चाविद्याविशिष्टः साक्षी, येन कर्तृकोटिनिविष्टाया अविद्यायाः कर्तृत्वं स्यात्, चिद्रूपस्यैवात्मनः साक्ष्यसंबन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात्; 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति' इत्यादिश्रुतेः। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'तदात्मानमेवावेद्'इत्यादिना नात्मनः कर्मकर्तृभावो विवक्ष्यते, किं तर्हि—वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्तःकरणवृत्तिरूपया विद्यया स्वतःसिद्धस्यैवात्मनोऽब्रह्मत्वभ्रमकारणाविद्यानिवृत्तिः, तथा चान्तःकरणविशिष्टस्यैव प्रमातृत्वं विशुद्धस्य

न्विद्यमानेऽपि कर्तृकर्मत्वयोरेकत्र देवदत्तादौ विरोधदर्शनादित्यर्थः। यत्तु कर्तृकरणत्वयोरपि बुद्धौ विरोधस्तवापि समान इत्युक्तम्, तदसत्, लोके तयोर्बहुलमविरोधदर्शनादित्याह—दृश्यत इति। अन्यत्र, लोक इत्यर्थः। अत्र हि भटा युद्धकर्तारः, अथ च करणतया निर्दिश्यन्त इत्यर्थः।

या त्वविद्यायां कर्तृत्वकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता, तां परिहरति—न चाविद्येति। नाविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वम्, नाप्युपलक्षितस्य, किंतु तदुपाधिकस्य। अथ कोऽयं विशेषणोपलक्षणोपाधीनां भेदः? शृणु—

कार्यान्वयित्वेन तु भेदकं यद्विशेषणं नैल्यमिवोत्पलस्य।
अनन्वयित्वेन तु भेदकानामुपाधितालक्षणता प्रसिद्धा॥

तयोरपि—यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता। कादाचित्कतया भेदधी हेतुरुपलक्षणम्॥

तेन नाविद्यायाः कर्तृभाव इत्यर्थः। यद्वै तदिति। इयं हि साक्षाद् द्वैताभावनिबन्धनमदर्शनं स्वरूपतश्च दर्शनं वदतीत्युक्तिः। स्वाभाविकमेव सकलावभासकचैतन्यं तस्य तत्तद्विषयानुषङ्गवशाच्च तत्तद्विषयानुभवत्वं विकल्प्य निदर्शयतीत्यर्थः। या तु तदात्मानमेवावेदिति ब्रह्मणि कर्तृकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता, तां परिहरति—ब्रह्म वा इति। ननु तथापि कर्मकर्तृत्वाभावे किमायातं यावतैकस्यैव वेद्यत्ववेदितृत्वाङ्गीकारादिति, तत्राह—तथा चेति। नन्वेवं घट्टकुटीप्रभातायितम्, अन्तःकरणविशिष्टस्य प्रमातृत्वं स्वरूपेण च कर्मत्वमिति वदतैकस्यैव कर्मकर्तृत्वमौपाधिकश्च विरोधपरिहार इत्यङ्गीकारादिति, न; तदुभयस्याप्यसिद्धेः। न तावदन्तःकरणविशिष्टतयास्य कर्तृत्वम्, आरोपात्। अन्तःकरणगतं हि कर्तृत्वं धर्म्यध्यासद्वारा चैतन्ये परमारोप्यते, नहि दण्डदेवदत्तयोरिव विशेषणविशेष्यभावः। तस्मादारोपितत्वान्न कर्तृत्वम्, नापि कर्मत्वम्, तज्जन्यातिशताभावात्। अस्तु वा कर्म वृत्तिव्याप्यातामात्रेण, तथापि कर्तृत्वाभावादेव वैषम्य-

---

भावापत्ति ही बाधक है। यह जो कहा था कि स्वरूपतः ग्राहक को विशिष्टरूप से ग्रह-कर्म मानने में कोई विरोध नहीं। वह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि केवल देवदत्त में गमन-कर्तृत्व और कुण्डल-विशिष्ट में गमन-कर्मत्व की प्राप्तिरूप विरोध वहाँ भी है। हाँ, कर्तृत्व और करणत्व का किसी प्रकार का विरोध नहीं; क्योंकि लोक में बहुधा कर्त्ता में करणत्व-व्यवहार देखा जाता है, जैसे—"योधैर्युध्यते राजा", "चारेण परसैन्यं कलयति"। यहाँ युद्ध के कर्त्ता योद्धाओं में करणता का व्यवहार स्पष्ट है।

अविद्या-विशिष्ट को साक्षी नहीं माना जाता, जिससे कि कर्त्ता की कोटि में प्रविष्ट अविद्या में कर्तृत्व मानना पड़े।। चिद्रूप आत्मा ही साक्ष्यपदार्थों के सम्बन्ध से साक्षी कहलाता है; क्योंकि "यद्वै तन्न पश्यति"—आदि श्रुतियों से यही स्पष्ट होता है। "ब्रह्म वा इदमग्रे आसीत्, तदात्मानमेवावेद"—आदि श्रुतियों का तात्पर्य आत्मगत कर्मकर्तृभाव के बोधन में नहीं, अपि तु वेदान्त वाक्य-जन्य, ब्रह्माकार, अन्तःकरण-वृत्तिरूप विद्या के द्वारा स्वतःसिद्ध आत्मा में अब्रह्मत्व-भ्रम की कारण अविद्या की निवृत्ति। अतः अन्तःकरण-विशिष्ट में ही प्रमातृत्व और विशुद्ध ब्रह्म में वृत्ति-व्या-

ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वमिति कुतस्तत्रैकस्य कर्मकर्तृभावः ? न च नित्यबोधमन्तरेण पूर्वापरबुद्धीनामनुसंधानसिद्धिः ; ग्राहकतया सिद्धेर्निराकृतत्वात् । न च 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'ति वाक्यमीश्वरपरत्वादात्मनः साक्षित्वे न प्रमाणमिति युक्तम् ; मायाविशिष्टरूपे तस्मिन् केवलो निर्गुण इति विशेषणानुपपत्तेः । तस्मात्सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्मात्र जीवाभेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यते । न चानन्दादीनां साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वम् , आनन्दानुभवयोरात्मरूपत्वात् । न च नित्यत्वं धर्मः, विनाशराहित्येनोपलक्षितस्वरूपस्य तथा व्यपदेशात् । विशेषगुणवद्व्यापकान्यत्वसाधनं च प्रतिकल्पं जायमानाकाशभेदैरेव सिद्धसाधनम् , अर्थान्तरञ्चेश्वरवादिनामीश्वरेण, अनित्यपदप्रक्षेपे च पूर्वोक्त एव दोषः । तथा च सुखादीनामात्मगुणत्वाभावान्न तद्व्यवस्थातस्तद्भेदसिद्धिः । तदेवं स्वाविद्या ब्रह्मैव संसरति स्वविद्यया च मुच्यत इति एकाविद्यापक्षे न कश्चिद्दोषः, तथा नानाविद्यापक्षेऽपि ।

मिति, अनुसंधानान्यथानुपपत्तिमपि साक्षिणि प्रमाणं समर्थयते—न च नित्येति । निराकृतत्वात्स्वप्रकाशवाद इति शेषः । आगममपि समर्थयते—न च साक्षीति । किमिति न युक्तम् ? तत्राह—मायाविशिष्टेति । नहि निर्विकारचैतन्यस्य मायानिवेशमन्तरेण वियदाद्याकारविवर्तः संभवतीति भावः । तदेवं न साक्षात्सुखादेः साक्षिधर्मत्वमित्युक्तम् , यत्तु पञ्चपादीवचनमुदाहृतम्, तत्परिहरति—न चानन्दादीनामिति । यच्चाकाशं पक्षीकृत्य विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यान्यत्वसाधनेनात्मनो भेदसाधनम्, तत्परिहरति—विशेषगुणेति । यस्य हि वेदान्तिनो वियदधिकरणन्यायेनाकाशोऽप्युत्पद्यते प्रलीयते चेति मतम् , तन्मते कल्पान्तरीयाद्विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यादाकाशादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरमित्यर्थः । ईश्वरादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरतामाह—अर्थान्तरं चेति । नन्वनित्यविशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यादन्यत्वं सिषाधयिषितम् , नचेश्वरस्तथेति, तत्राह—अनित्येति । पूर्वोक्त इति । आकाशेनाऽर्थान्तरतेत्यर्थः । साक्ष्याणां साक्षिधर्मत्वाभावप्रतिपादनमुपसंहरति—तथा चेति । समर्थितमेकजीववादमुपसंहरति—तदेवमिति । एकाविद्यापक्षे इति । अत्र चाविद्याशब्देन तदधीनो जीवो लक्ष्यते । एकजीवपक्षे इत्यर्थः—नानाविद्यापक्षेऽपीति । नानाजीवपक्षे इत्यर्थः । एवं हि किमेकाविद्या किं नानाविद्येत्युत्तरग्रन्थसामञ्जस्यम् ।

प्यता ही उक्त श्रुति से विवक्षित है । इस लिए कहाँ एक में कर्मकर्तृभाव प्रसक्त होता है ? साक्षीरूप नित्य बोध के बिना पूर्वोत्तर के अनुभवों का अनुसन्धान नहीं हो सकता । यह जो कहा था कि स्वयंप्रकाश ज्ञान की आश्रयता होने से ही अनुसन्धान बन जायगा, उसका निराकरण स्वप्रकाशवाद में ही किया जा चुका है । "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"—यह वाक्य ईश्वरपरक होने से साक्षी में प्रमाण नहीं—यह कहना भी युक्त नहीं ; क्योंकि माया-विशिष्टरूप ईश्वर के लिए "केवलो निर्गुणश्च"—इन विशेषणों का सामञ्जस्य नहीं होता । इस लिए सबका प्रत्यग्भूत विशुद्ध ब्रह्म ही यहाँ जीव-तादात्म्यापन्न साक्षीरूप से कहा गया है । आनन्दादि साक्ष्यपदार्थ, साक्षी के धर्म नहीं, अपि तु आनन्द और उसका अनुभव—दोनों आत्मरूप होते हैं । नित्यत्व भी उसका धर्म नहीं ; क्योंकि विनाशाभाव से उपलक्षित आत्मरूपता का ही नाम नित्यत्व है । यह जो (आकाशो विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यान्यः, द्रव्यत्वाद्, घटवत्—इस अनुमान से) आत्मा में विशेषगुणवाले व्यापक द्रव्य का भेद सिद्ध किया था ; वहाँ प्रत्येक कल्प में पैदा होनेवाले आकाश-भेदों को लेकर सिद्धसाधनता होती है । ईश्वरवादियों के मत से ईश्वर को लेकर अर्थान्तरता भी है । अनित्य पद जोड़ने पर पूर्वोक्त अर्थान्तरता दोष है । फलतः सुखादि, आत्मा के गुण नहीं, अतः उनकी व्यवस्था से आत्म-भेद सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार एक ब्रह्म ही अपनी अविद्या से बन्धन में पड़ता और अपनी वद्या से मुक्त होता है । अतः एक अविद्यापक्ष में कोई दोष नहीं, वैसे ही नाना अविद्या पक्ष में भी ।

ननु नानाजीवानां किमेकाविद्या कल्पिका ? उत प्रतिजीवं भिन्ना ? नाद्यः; एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गतादवस्थ्येन नानाजीवकल्पनायामपि व्यवस्थानुपपत्तेः। न द्वितीयः ; कल्पनागौरवात्। ननु व्यवस्थानुपपत्तौ कल्पिकायां न कल्पनागौरवं दोषः 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपी'ति न्यायादिति चेत्, मैवम् ; व्यवस्थायाः पारमार्थिकत्वे सत्यविद्याकार्यत्वानुपपत्तेस्तत्कल्पनावैयर्थ्यात्। अपारमार्थिकत्वे पुनरेकयैव तस्याः सिद्धेरविद्याभेदकल्पना व्यर्था। अन्यथैकस्याप्यनन्तभेदभानायानन्ताविद्याः कल्प्याः स्युः। सन्तु को दोष इति चेत्, तर्हि ताभिरेव सर्वकल्पनासिद्धेरात्मान्तरस्य न ताः कल्प्याः। न च तेषामप्यज्ञतया भानात् ताः कल्प्या इति वाच्यम् ; अद्वैतवादिनस्तद्भेदभानस्य प्रामाणिकत्वाभावादप्रामाणिकस्य चैकाविद्याभिरेव सिद्धेर्नान्यस्याविद्याः कल्पनीयाः। किं च यथान्तरेणैवार्थान्तरमविद्यान्तरं च स्वप्ने चराचरं जगत् त्वदविद्ययैव ते भाति, तथा जाग्रत्यपि किं न भायात् ? अपि चोत्पन्नविद्यस्यात्मान्तरमोहस्तत्कार्याणि भान्ति ? न वा ? आद्ये निवृत्ताविद्यस्यापि

एवं ब्रह्मस्वभावाविद्यासंबन्धाद्यनुरोधेन विशदमतीन्प्रत्येकजीवपक्षः समर्थितः, ये तु मन्दमतयो निबिडद्वैतवासनास्कन्दनजडतमशेमुषयो बद्धमुक्तादिव्यवस्थास्थेमनि बद्धास्था नानाजीवपक्षमेव रोचयन्ते तान्प्रति नानाजीवपक्षमप्याक्षेपसमाधानाभ्यामभिदर्शयति—**नन्वित्यादिना**। कल्पकसद्भावात्कल्पनागौरवं न दोषायेति शङ्कते—**ननु व्यवस्थेति**। किमियं पारमार्थिकी व्यवस्था याऽनेकाऽविद्यां विना नोपपद्यते ? किं वा काल्पनिकी ? पारमार्थिकीव्यवस्थायां नानाविद्यामभ्यर्थयमानः श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमान्। द्वितीये त्वेकाविद्ययापि तत्सिद्धिः। अथ कल्प्यगुर्वादीनामनेकत्वात्कल्पिकाविद्याया अपि नानात्वम्, तर्ह्येकस्याप्यनेकघटपटादिप्रतीत्यर्थमनन्ताविद्याः कल्प्येरन्, तथाप्येकजीवगताऽविद्याभिरेव तत्सिद्धेरनेकजीवकल्पनावैयर्थ्यादित्याह—**मैवम् ; व्यवस्थाया इत्यादिना**। **अद्वैतवादिन इति**। ये ते अज्ञाः प्रतीयन्ते तद्भेदस्याप्याविद्यत्वात्सकलकल्पनाकल्पिकाविद्यानामेकचैतन्यगतानामेव कल्पनात् स्थितिरित्यर्थः। किंच नाविद्यावत्तया व्यवहारमात्रादविद्याभेदक्लृप्तिः, नापि दृश्यभेदादविद्याभेदः, स्वप्ने व्यभिचारादित्याह—**किंचेति**। किंचानेकजीवकल्पनायामपि गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्तिः समानेत्याह—**अपि**

शङ्का—नाना जीवों की एक ही अविद्या कल्पक है ? या अनेक ? प्रथम पक्ष में तो एक ही मुक्ति हो जाने पर सबकी मुक्ति का प्रसङ्ग बना है, अतः नानाजीवों की कल्पना में भी व्यवस्था अनुपपन्न ही रही। द्वितीय पक्ष में कल्पना-गौरव है। यदि कहें कि व्यवस्था की अनुपपत्ति होने पर कल्पना का गौरव, दोषावह नहीं होता, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—प्रामाणिक अनन्त अदृष्टों की भी कल्पना सम्भव है। तो यह कहना सम्भव नहीं ; क्योंकि उक्त व्यवस्था को पारमार्थिक मानने पर अविद्या-कार्यत्व सम्भव न होने से नाना अविद्या की कल्पना ही व्यर्थ है। उक्त व्यवस्था के अपारमार्थिक होने पर भी एक ही अविद्या से सब व्यवस्था बन जाती है, नाना अविद्या की कल्पना व्यर्थ ही है। नहीं तो एक आत्मा की अविद्या में भी अनन्त भेदों का भान बनाने के लिए अनन्त अविद्याएँ माननी होंगी। इसे इष्टापत्ति कहने पर उन्हीं से सर्व कल्पना की सिद्धि हो जाने से दूसरे आत्मा में अनन्त अविद्याओं की कल्पना अनावश्यक होगी। यदि कहें कि दूसरे आत्माओं में भी अज्ञता की प्रतीति होने से उनकी कल्पना आवश्यक है। तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि अद्वैतवादियों के मत से अज्ञ-भेद-भान प्रामाणिक नहीं, अप्रामाणिक भेद-भान तो एक जीव की ही अविद्याओं से बन सकता है, अन्य जीवों में अविद्या-भेद कल्पना निरर्थक है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे बिना ही गजादि पदार्थों के और बिना ही अविद्यान्तर के स्वप्न में समस्त चराचर जगत् आपकी अविद्या से ही आप को प्रतीत होता है, वैसे जाग्रत में भी क्यों न होगा ? यह भी यहाँ जिज्ञासा होती है कि जिस जीव में विद्या उत्पन्न हो गई है, उसका मोह और मोह के कार्य प्रतीत

भेदभाने न भूमलक्षणब्रह्मप्राप्तिः। द्वितीये तु शिष्याद्यभानात् गुरोरुपदेशादिक्रिया न भवेत्। किं चैकस्य मोहो मोहान्तराणां तत्कार्याणां च भानहेतुः ? उत कल्पकः ? नाद्यः ; मोहस्य प्रकाशरूपत्वाभावात्। न द्वितीयः ; त्वन्मोहकल्पितस्य संप्रतिपन्नत्वन्मोहकल्पितवत्, अन्यमोहत्वतत्कार्यत्वानुपपत्तेः। न चान्यमोहकल्प्यत्वम्, क्लृप्तत्वात्। न च त्वत्कल्पितस्यान्यमोहस्यान्यमोहकल्पकत्वम्, कल्पितत्वात् रजतादिवत्। मोहान्तरतत्कार्याणां च स्वात्मदृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत् तन्मोहत्वं तत्कार्यत्वं च स्यात्। अन्यमोहतत्कार्याणां चान्यदृश्यत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात्, स्वमोहतत्कार्याणां च स्वदृश्यत्वस्योभयवादिसिद्धत्वात्। न चेन्द्रजालादेर्बहुमोहकल्पितस्य बहुद्रष्टृकस्यैकस्य प्रसिद्धत्वात् दृष्टान्तसिद्धिः ; तत्तन्मोहकल्पितस्य तत्तद्दृष्टस्य च भिन्नत्वात्। तदेव मया दृष्टं मयादृष्टमिति संवादस्य चैकरूपभ्रमोत्पादात् तन्निमित्तहर्षशोकादिकार्याणामेकरूपत्वाच्चोपपत्तेः, एकदृष्टौत्पातिकसवितृसुष्याऽदावन्येषां विसंवादादेकमो-

---

चेति। किंचानेकजीववादिनापि त्वया त्वद्व्यतिरिक्तजीवतदज्ञानादिप्रतिभासस्तेषां पारमार्थिको नेष्यते, तथाच त्वदविद्यानिर्मितत्वं वक्तव्यम्, त्वद्दृश्यत्वात् तत्राप्यप्रकाशकत्वात्कल्पकत्वमेव त्वदविद्याया वक्तव्यम्, तथा चान्यमोहादित्वहानिः त्वन्मोहादित्वसिद्धिश्चेत्याह—किंचैकस्येत्यादिना। नन्वन्यमोहेनापि कल्प्यत्वादन्यमोहजन्यत्वमप्यस्ति, तत्राह—न चान्येति। क्लृप्तत्वात्, त्वन्मोहेनेति शेषः। इतरथानवस्थानात्। किंच त्वन्मोहकल्पितस्य मोहान्तरस्य स्वातन्त्र्येणान्यकल्पकत्वमपि नास्तीत्याह—न च त्वत्कल्पितस्येति ; दूषणान्तरमाह—मोहान्तरेत्यादिना। विमतमोहतत्कार्याणि देवदत्तीयानि दृश्यत्वात्संप्रतिपन्नवदित्यर्थः। अथान्यदृश्यत्वाद्वैपरीत्यमपि शक्यानुमानम्, न, हेतुदृष्टान्तयोरसिद्धेरित्याह—अन्यमोहेत्यादिना। स्वपक्षे दृष्टान्तसिद्धिमाह—स्वमोहेति। ननु मायाविप्रदर्शितप्रासादादिनिगरणादेर्मोहविकल्पितस्यापि बहुदृश्यत्ववदत्राप्यन्यमोहादेरन्यदृश्यत्वं किं न स्यात् ? तत्राह—न चेन्द्रजालेति। तत्रापि प्रतिपुरुषं भिन्नमेव दृश्यमित्यर्थः। तर्हि संवादः किंनिबन्धनः ? तत्राह—तदेवेति। अथ केन बलेन प्रत्यभिज्ञा बाध्यत इति, अन्यत्र मोहकल्पितस्यासाधारण्यदर्शनादित्याह—एकदृष्टेति। एकमोह-

---

होते हैं ? या नहीं ? प्रथम पक्ष में अविद्या-रहित जीव को भी भेद-भान होने पर भूमा ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होगी। द्वितीय पक्ष में शिष्यादि का भान न होने से गुरु की उपदेशादि क्रिया न बन सकेगी। नाना जीव-वाद में एक जीव का मोह, दूसरे जीवों के मोह तथा मोह-कार्यों का भासक माना जाता है ? या कल्पक ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं ; क्योंकि मोह, प्रकाशरूप न होनें से किसी का भासक कैसे होगा ? द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं ; क्योंकि एक जीव के मोह से कल्पित पदार्थ में अन्य-मोहत्व और अन्य मोह-कार्यत्व वैसे ही नहीं बन सकता, जैसे एक जीव के मोह एवं मोह-कार्य कल्पित सर्पादि में न अन्य-मोहत्व होता है और न अन्य मोह-कार्यत्व। एक जीव के मोह से कल्पित पदार्थ में अन्य मोह-कल्पितत्व भी नहीं बन सकता ; क्योंकि वह एक जीव के मोह से प्रथम ही क्लृप्त है— "एक जीव के मोह से कल्पित, अन्य का मोह, अन्यमोह का कल्पक नहीं होता, कल्पित होने से, जैसे—रजतादि।" एक जीव का दृश्य हो जाने से अन्य के मोह तथा मोह के कार्य को उस द्रष्टा-व्यक्ति का ही मोह तथा मोह-कार्य कहना पड़ेगा ; क्योंकि अन्य का मोह तथा मोह-कार्य, दूसरे जीव का कभी दृश्य होता नहीं देखा जाता, अपितु उसी जीव का मोह तथा मोह-कार्य उसका दृश्य होता है—यह उभय-सम्मत है। यदि कहें कि ऐन्द्रजालिक-प्रदर्शित पदार्थ, अन्य के मोह से कल्पित होने पर भी अन्य के दृश्य होते हैं। तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति के मोह से कल्पित दृश्य, भिन्न-भिन्न होता है। सभी दर्शकों का पारस्परिक (वही वस्तु मैंने देखी—वही मैंने देखी—इस प्रकार का) संवाद, समानरूप भ्रम के कारण बन जाता है और तन्निमित्तक हर्ष-शोकादि की एकरूपता भी निभ जाती है। एक व्यक्ति से देखे गये अशुभ-सूचक सूर्य छिद्र

हकल्पितत्वस्य सिद्धेः, एकस्यैव प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वे चैकस्य धिया तन्नाशे सर्वमुक्तिरनाशेऽप्येकस्याप्यमुक्तिः, न चैकमेव पुरुषभेदेन नष्टमनष्टं चेति युक्तम्; विरोधात्। अविरोधे वा तमेव प्रति युगपदेकमेव नष्टमनष्टं च स्यात्। द्विचन्द्रादेश्च युगपन्नष्टानष्टत्वस्यासंप्रतिपन्नत्वात्। भ्रान्तपुरुषभेदेन तस्यापि भेदात्। तस्मान्नाविद्याभेदो नापि तद्भेदाज्जीवभेदसिद्धिरिति स्थितम्।

अत्रोच्यते—यस्तावदेकैवाविद्येति पक्षे दोषः, सोऽनभ्युपगमादेव परास्तः; ब्रह्मण एवैकस्य तत्तदनाद्यनन्ताविद्यावच्छेदेनानन्तजीवनिर्भासास्पदत्वाभ्युपगात्। सति च कल्पके कल्पनागौरवस्यादोषत्वात्, एकस्यापि च जीवस्यानेकाविद्यासद्भावाभ्युपगमात्। इष्टसिद्धिकारैरपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यनेकाविद्यास्वीकारात् नन्वपारमार्थिकत्वे भेदभानस्यैकाविद्ययैव तत्सिद्धेरविद्यान्तरकल्पना व्यर्था। न व्यर्था; विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धेरेव प्रयोजनत्वात्। एकाविद्यापक्षेऽपि स्वप्न इव व्यवस्था सिद्ध्यत्येवेति चेत्, तत्किं स्वप्नकल्पिकैवाविद्या जाग्रद्व्यवहारकल्पिका? उतान्या? आद्ये प्रबोधे स्वप्नकल्प-

---

कल्पितस्य दृष्टान्तस्य सिद्धिर्वाऽनेन समर्थ्यते। दूषणान्तरमाह—एकस्यैवेति। स्यादेतद्यस्य मोहो नष्टस्तं प्रति प्रपञ्चोऽपि नष्ट एव इतरं प्रति चानष्ट इत्यस्तु, नच विरोधलेशगन्धोऽपि, कल्पितस्याचिन्त्यस्वभावत्वादिति, तत्राह—न चैकमेवेति। ननु बहुदृष्टद्विचन्द्रादावप्येवंभाव इति, नेत्याह—द्विचन्द्रेति। अनेकजीवदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति।

समाधातुमुपक्रमते—अत्रेति। ननु तर्हि कल्पनागौरवमुक्तम्, तत्राह—सति चेति। तर्ह्येकस्याप्यनेकाविद्याः कल्प्येरन् तत्कार्यभ्रमाणां विभिन्नत्वादिति, ओमित्याह—एकस्यापीति। एकजीववादिभिरप्ययमर्थोऽङ्गीक्रियत इत्याह—इष्टसिद्धीति। पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—नन्वित्यादिना। नन्वियमपि व्यवस्थैकाविद्यया शक्यसंपादेत्याशङ्क्य स्वप्नजाग्रत्प्रतिबन्द्या परिहरति—तत्किं स्वप्नेत्यादिना। ननु

(सूर्य के काले धब्बे) आदि में दूसरे व्यक्तियों को संवाद नहीं होता, अतः एक के ही मोह की कल्पना सिद्ध नहीं होती। एक ही प्रपञ्च को बहुतों के मोह की कल्पना मानने पर एक के ज्ञान से उसका नाश हो जाने पर सबकी मुक्ति और न नाश होने पर किसी की मुक्ति नहीं होगी। एक ही प्रपञ्च पुरुष के भेद से किसी के प्रति नष्ट और किसी के प्रति अनष्ट हो—यह सम्भव नहीं; क्योंकि एक ही वस्तु के युगपत् नाशानाश नितान्त विरुद्ध हैं। विरोध न मानने पर उसी पुरुष के प्रति एक ही वस्तु एक ही समय में नष्ट और अनष्ट होनी चाहिए; किन्तु बहुदृष्ट द्विचन्द्रादि में युगपत् नाशानाश देखा नहीं जाता। भ्रान्त पुरुषों के भेद से द्विचन्द्रादि भ्रमों का भी भेद माना जाता है। अतः न तो अविद्या का भेद सिद्ध होता है और न उसके भेद से जीव-भेद—यह वस्तु स्थिति है।

समाधान—एक अविद्या-पक्ष में जो दोष दिया गया, वह एक अविद्या के न मानने से निरस्त हो जाता है; क्योंकि एक ही ब्रह्म विभिन्न अनादि-अनन्त अविद्या-परिच्छेद से अनन्त जीवों के रूप में निर्भासित होता माना जाता है। कल्पक के रहने पर कल्पना-गौरव दोष नहीं। एक जीव में भी अनेक अविद्याओं का सद्भाव माना ही जाता है। इष्टसिद्धिकारने भी जितने ज्ञान, उतने ही अज्ञान मानकर अनेक.विद्या-पक्ष का ही समर्थन किया है। यह जो कहा था कि अपारमार्थिक भेद-भान के एक ही अविद्या से सिद्ध हो जाने पर अविद्यान्तर की कल्पना व्यर्थ है। वहाँ हमारा कहना है कि वह व्यर्थ नहीं; क्योंकि विद्वान्-अविद्वान्, गुरु-शिष्य, बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था सिद्ध करने के लिए अनेक अविद्या मानना आवश्यक है। यह जो कहा जाता है कि एक अविद्या-पक्ष में भी स्वप्न के समान सब व्यवस्था सिद्ध हो जाती है। वहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या (१) स्वप्न-कल्पक अविद्या ही जाग्रत व्यवहार की कल्पक है? या (२) अन्य? (१) प्रथम पक्ष में

काविद्यानिवृत्तौ जाग्रद्व्यवहारोऽपि सर्वो निवर्तेतेति विनैव ब्रह्मविद्यां मुक्तिः स्यात्। अनिवृत्तौ वाऽविद्यायास्तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ दृष्टान्ताभावाद् ब्रह्मज्ञानादज्ञाननिवृत्तिर्न सिध्येत्। ननु तत्त्वावभासविरोधिनोरग्रहणमिथ्याज्ञानयोः शुक्त्यादितत्त्वज्ञानान्निवृत्तेर्दृष्टत्वाद्ब्रह्मतत्त्वावभासविरोधिनोऽज्ञानस्य ब्रह्मतत्त्वज्ञानान्निवृत्तिवरगन्तुं शक्यत इति चेत्; किमिदमनुमानम्? आहोस्विदर्थापत्तिः? अथवा दृष्टान्तदर्शनात्संभावनामात्रम? आद्ये तेनैवाज्ञानेनानैकान्तता, प्रबोधेऽपि तस्य निवृत्त्यनभ्युपगमात्। न द्वितीयः; ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेणैव तत्त्वावभासविरोधित्वस्य स्वप्नाविद्यावदुपपत्तेः। न तृतीयः; स्वप्नाविद्यावद्वैपरीत्यस्यापि संभवात्। अथ श्रुतिप्रामाण्यात् ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्यध्यवसायः, तर्हि 'भूयश्चान्ते विश्वमाया' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यादनेकान्यज्ञानानि तन्निवृत्तयश्च क्रमेणेति स्वीक्रियताम्। द्वितीये तु तवाप्यनेकाविद्याकल्पनादोषस्तदवस्थः। कार्यभेददर्शनस्य तत्कल्पकस्य भावाददोष इति चेत्, तत्किं भेददर्शनं

निवर्ततां नाम स्वाप्नव्यवहारनिवर्तकप्रबोधेन जाग्रद्व्यवहारोऽपि किं नश्छिन्नमिति, तत्राह—**विनैवेति**। यद्यपि जागरावस्थायां तद्विरोधिबाधकोदयेऽपि तस्य न निवृत्तिः, तथापि तत्त्वज्ञानादज्ञाननिवृत्तावस्ति दृष्टान्तान्तरमिति शङ्कते—**ननु तत्त्वेति**। **तेनैवेति**। स्वप्नाज्ञानेनेत्यर्थः। तस्यैव विवरणं **प्रबोधेऽपीति**। विमतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यं तत्त्वावभासविरोधित्वात् संप्रतिपन्नवदिति ह्यनुमानम्, तच्चेदमनैकान्तिकं स्वप्नाज्ञाने इत्यर्थः। अर्थापत्तिपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। तत्त्वावभासविरोधित्वं हि तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वकल्पकम्। एतच्चानिवर्त्यत्वेऽप्युपपन्नं जागरप्रपञ्चवदित्यर्थः। **स्वप्नाविद्यावदिति** स्वप्नजागरकल्पकाविद्यावदिति विवक्षितम्। संभावनापक्षं दूषयति—**न तृतीय इति**। वैपरीत्येऽपि दृष्टान्तोऽस्तीत्यर्थः। न वयं युक्तिबलात्कल्पयामः येनैते दोषाः प्रादुःष्युः किंतु; 'तरति शोकमात्मवि'दित्यादिश्रुतिबलात्तत्त्वज्ञानमज्ञाननिवर्तकमित्यवगच्छाम इति शङ्कते—**अथेति**। परिहरति—**तर्हीति**। अत्र हि विश्वशब्दान्मायाबाहुल्यं पुनःशब्दपर्यायभूयःशब्दात् क्रमान्निवृत्तिश्च प्रतीयत इत्यर्थः। तदेवं स्वप्नकल्पकाविद्याव्यतिरिक्ता-

---

तो बिना ही ब्रह्मविद्या के मुक्ति सिद्ध हो जायगी; क्योंकि जागने पर स्वप्न-कल्पक अविद्या का नाश हो जाने से समस्त जाग्रत व्यवहार भी निवृत्त हो जायगा। यदि जाग्रत के ज्ञान से स्वप्न-कल्पक अविद्या का नाश न माना जाय, तब तो अविद्या के तत्त्वज्ञान से नष्ट होने में कोई दृष्टान्त ही न रहेगा, किस दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति सिद्ध होगी? यदि कहें कि तत्त्वावभास के विरोधी अग्रहण और मिथ्या ज्ञान की शुक्त्यादि-तत्त्वज्ञान से निवृत्ति देखी जाती है, अतः ब्रह्मतत्त्वावभास के विरोधी अज्ञान की ब्रह्मतत्त्व-ज्ञान से निवृत्ति सिद्ध हो जायगी। तो यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह अनुमान है? या अर्थापत्ति? या दृष्टान्त-दर्शन से संभावनामात्र? प्रथम पक्ष ("विमतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यम्, तत्त्वावभासविरोधित्वात्. शुक्त्यज्ञानवत्" यह अनुमान) मानने पर स्वप्न-कल्पक अविद्या में ही व्यभिचार है; क्योंकि प्रबोधकाल में भी उसकी निवृत्ति नहीं मानी जाती। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि ज्ञान-निवर्त्यत्व के बिना ही तत्त्वावभासविरोधित्व स्वप्नाज्ञान में उपपन्न देखा जाता है। तृतीय पक्ष भी संगत नहीं; क्योंकि स्वप्नाज्ञान के ही समान विपरीत (तत्त्वज्ञान से अनिवर्त्यत्व) की भी संभावना की जा सकती है। श्रुति प्रमाण के बल पर ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति मानने पर "भूयश्चान्ते विश्वमाया"—इस श्रुति प्रमाण से अनेक अज्ञान एवं उनकी क्रमशः निवृत्ति भी माननी पड़ेगी। (२) द्वितीय (स्वप्न-कल्पक अविद्या से भिन्न अविद्या जाग्रत की कल्पक है) पक्ष मानने पर आपके मत में भी अनेक अविद्या-कल्पना का दोष आ जाता है। यदि कहें कि कार्य-भेदरूप कल्पक के रहने पर उक्त दोष नहीं। तो वहाँ प्रश्न उठता है कि वह भेद-दर्शन क्या पारमार्थिक है? या नहीं? पारमार्थिक मानने पर विरोध होता है, अतः

पारमार्थिकम ? उत न ? आद्ये विरोधान्न कल्पनासिद्धिः। द्वितीये त्वेकयैव तत्सिद्धेर्व्यर्थौनेकाविद्याकल्पनेति त्वदुक्ता दोषास्त्वामेवोपहन्युः। कल्पितत्वाविशेषेऽपि किंचिद्व्यावहारिकं यद्देहाद्यात्मभावादिनिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्तमनुवर्तते, किंचित्प्रातिभासिकं यत्प्रमातृत्वादिव्यवहारे सत्येव निवर्तत इत्यवान्तरभेदसिद्धये अविद्याभेदः कल्पनीय इति चेत्, तर्हि—

अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत्स्वप्नविभेदिनी।
यथा तथैव कल्प्यन्तामनन्ताः सति कल्पके ॥ ६ ॥

ममापि मुक्तामुक्तादिरूपेण व्यावहारिकानन्तजीवानां शुकवामदेवपराशरप्रभृतीनां प्रतिभासनात्तदुपपत्तये तत्तद्धेतुभूतानेकाविद्याभ्युपगमेऽपि न दोषः। न चाद्वैतवादिनो मानतस्तेषामभानात्, भ्रान्तिसिद्धानां चैकयैवाविद्यया सिद्धेर्नानन्ताविद्याकल्पना युक्तेति वाच्यम्; विकल्पासहत्वात्। तत्किं तत्त्वावेदकमानस्यागम्यत्वम् ? उत व्यावहारिकस्य ? न प्रथमः; जाग्रत्स्वप्नव्यवहारभेदस्यापि तथात्वेन तवाप्यविद्याभेदस्यासिद्धेः। न चरमः; जीवभेदानामनुमानादिव्यावहारिकमानसिद्धत्वस्येष्टत्वात्। एतेन स्वप्ननिदर्शनेनैकाविद्ययैवालमिति प्रत्यवस्थानं परास्तम्। यश्चोत्पन्नविद्यस्याविद्यान्तरतत्कार्याणां भानाभानयोर्दोष उद्भावितः, स परस्यापि तुल्यः, त्वन्मते विदुषां द्वैतभाने भूमलक्षणब्रह्मप्राप्त्याभावप्रसङ्गात्। अभाने च

विद्याकल्प्यत्वं जागरस्येति द्वितीयः पक्षः परिशेषितः। संप्रति तस्मिन् स्वसाम्यमाह—द्वितीये त्विति। उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ। ननु स्वप्नजागरयोः कल्पितत्वाविशेषेऽप्यवान्तरवैलक्षण्याद्विलक्षणाविद्यापरिकल्पितत्वमिति शङ्कयित्वापि साम्यं श्लोकेनाह—अविद्येति। तर्हीति च श्लोकस्योपकारः। सति कल्पक इत्येतद्विवरणपूर्वकमुत्तरार्धं विवृणोति—ममापीति। कृतसमाधानमप्याक्षेपमनूद्य भङ्ग्यन्तरेण समादधाति—न चाद्वैतेत्यादिना। जाग्रत्स्वप्नेति। यत्तत्त्वावेदकमानागम्यं तदेकाविद्याकल्पितमिति नापि ते व्याप्तिः, जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यभिचारादित्यर्थः। व्यावहारिकप्रमाणागम्यत्वमसिद्धमित्याह—न चरम इति।

कल्पना सिद्ध नहीं होती। भेद-दर्शन को पारमार्थिक न मानने पर एक ही अविद्या से वह सिद्ध हो जाता है, अनेक अविद्या-कल्पना व्यर्थ है—यह आपके ही लगाये दोष आपपर लागू हो जाते हैं। यदि कहें कि सभी के कल्पित होने पर भी कुछ पदार्थ व्यावहारिक होते हैं, जो कि देहात्मभावनिवर्तक आत्म-साक्षात्कार होने तक अनुवृत्त (बने) रहते हैं और कुछ पदार्थ प्रातिभासिक होते हैं, जो कि प्रमातृत्वादि-व्यवहार के रहने पर ही निवृत्त हो जाते हैं—इस प्रकार अवान्तर भेद की सिद्धि के लिए अविद्या के भेद मानने चाहिएँ। तब तो जैसे जाग्रत तथा स्वप्न का भेद करनेवाली अनेक अविद्याएँ मानी जाती हैं, वैसे ही कल्पक के रहने पर अनन्त अविद्याओं की कल्पना कर लेनी चाहिए। अर्थात् हमारे मत में भी मुक्तामुक्तादि रूप से अनन्त व्यावहारिक शुक वामदेवादि जीवों की प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति के लिए उसकी हेतुभूत अनेक अविद्याओं को मानने पर भी कोई दोष नहीं। यह जो कहा था कि अद्वैत-वादियों के लिए प्रमाण से तो जीव-भेदों का भान होता नहीं और भ्रान्ति-सिद्ध जीव-भेद की तो एक ही अविद्या से सिद्धि हो जाती है, अतः अनन्त अविद्या-कल्पना युक्त नहीं। वह कहना युक्त नहीं; क्योंकि जीव-भेद, तत्त्वावेदक प्रमाण के अविषय हैं ? या व्यावहारिक प्रमाण के ? प्रथम पक्ष में तो जाग्रत-स्वप्न व्यवहार-भेद भी वैसा ही है, अतः आपके मत में भी अविद्या-भेद सिद्ध नहीं होता। अन्तिम पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि जीव-भेद अनुमानादि व्यावहारिक प्रमाण के विषय ही माने जाते हैं। इसी कारण से 'स्वप्न-दृष्टान्त के बल पर एक ही अविद्या पर्याप्त है'—यह आक्षेप भी खण्डित हो जाता है। यह जो ज्ञानवान् को दूसरे के अज्ञान और अज्ञान-कार्य के भानाभान-पक्षों में दोषोद्भावन किया, वह वादी के मत में भी

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्, भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ संपद्यत' इति सूत्रविरोधात्, अविद्यालेशस्वीकारवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। न चाविद्यान्तराणां तत्कार्याणां च तदविद्यात्वं तत्कल्पितत्वं चान्तरेणैव तस्य भानानुपपत्तिः; त्वदभ्युपगताविद्यान्तरतत्कार्ययोरपि पर्यनुयोगसाम्यात्स्वप्नाविद्यातत्कार्याणां जाग्रदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं चान्तरेण भानाभ्युपगमात्।

यच्चाविद्यान्तरतत्कार्याणामन्यदृश्यत्वे संप्रतिपन्नवत्तदविद्यात्वं तत्कार्यत्वं च स्यादिति, तदपि जाग्रत्स्वप्नकल्पकाविद्याभेदेनैव व्याख्यातम्, एकपुरुषसंबन्धित्वेऽपि परस्परं भेदात्, अस्माभिरप्यविद्यानामेव ब्रह्मसंबन्धित्वाभ्युपगमाच्च। इन्द्रजालादिनिदर्शनं च पूर्वोक्तन्यायेन परास्तम्; परकल्पितस्य परं प्रत्यपरोक्षत्वाभावेऽपि परोक्षतावभाससंभवस्योक्तत्वात्। एतेन सवितृसुषिरनिदर्शनमपि परास्तम्। तत्रापि तद्वचनात्परोक्षत्वोपपत्तेः। तथापि गुरुशिष्ययोः

एतेनेति। व्यावहारिकप्रमाणगम्यत्वेनेत्यर्थः। दूषणान्तरमप्यनूद्य साम्येन परिहरति—यावदधिकारमिति। आधिकारिकाणामधिकारनिर्वर्तकानां सहस्राक्षसहस्ररश्मिव्यासवसिष्ठप्रभृतीनां यावदधिकारमेवावस्थितिः। अधिकारे तु परिसमाप्ते इहैव कैवल्यं प्राप्नुवन्ति, तेषां जीवन्मुक्तिसाधनद्वारा ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकफलत्वनिरासफलमधिकरणं भोगेनेति, इतरे प्रारब्धफले पुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा संपद्यते विदेहकैवल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। यदि च प्रतिबुद्धतत्त्वस्य द्वैतभानमेव न स्यात् तदाऽविद्यालेशस्वीकारोऽपि वृथैकजीववादिनामित्याह—अविद्येति। पूर्वपक्षाशयं दूषयति—न चाविद्यान्तराणामिति। एवं वदतोऽव्यवस्थैव स्यात् त्वन्मोहादीनामप्यन्यमोहादित्वस्यैव शक्यसाधनत्वादित्यर्थः। पर्यनुयोगसाम्यमेव दर्शयति—स्वप्नेति। शक्यते हि वक्तुम् जागरेऽपि स्वप्नत्वं दृश्यत्वात्स्वप्नवदिति। अथापि यथा तयोरसंकरस्तद्वदत्रापीत्यर्थः।

यच्चान्यदृश्यत्वे बाधकमुक्तम् तदप्यनूद्य दूषयति—यच्चेति। अतिदेशमेव विशदयति—एकपुरुषेति। ननु तथापि तयोरेकदृश्यत्वादेकपुरुषसंबन्धित्वमस्त्येव, तद्वद्विश्वाविद्यातत्कार्याणामपि स्यादिति तत्राह—अस्माभिरपीति। एकसंबन्धित्वमस्माकमपि सिद्धमित्यर्थः। यत्त्विन्द्रजालादावप्यसाधारण्यमुक्तं तत्परिहरति—इन्द्रेति। पूर्वोक्तन्यायमेवाह—परेति। यश्चेन्द्रजालादेरसाधारण्ये दृष्टान्त उक्तस्तमपि

समान है; क्योंकि आपके मत में विद्वानों को द्वैत का भान मानने पर भूमरूप ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होगी और द्वैत का भान न मानने पर "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (इन्द्रादि आधिकारिक पुरुषों की लोक में स्थिति, अधिकारावधि-पर्यन्त होती है—ब्र० सू० ३।३।३२), "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते" (प्रारब्धकर्मरूप पुण्य-पापों को भोग से समाप्त करके विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है—ब्र० सू० ४।१।१९)—इन सूत्रों से विरोध होता है तथा अविद्या-लेश का मानना भी आपके मत में व्यर्थ हो जाता है। 'किसी पुरुष की अविद्या तथा अविद्या के कार्य में तत्पुरुषीयत्व तथा तत्पुरुषीयाविद्याकल्पितत्व के बिना उसके भान की अनुपपत्ति होगी'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि आपकी स्वीकृत अविद्या तथा उसके कार्य में वही पयनुयोग हो सकता है, स्वप्नाविद्या और उसके कार्य में जाग्रदविद्यात्व तत्कार्यत्व के बिना ही उसका भान माना जाता है।

यह जो कहा था कि अन्य पुरुष की अविद्या तथा उसके कार्य में अन्यपुरुष की दृश्यता मानने पर उसी (दर्शक) पुरुष की ही वह अविद्या माननी होगी। वह कहना भी संगत नहीं; क्योंकि जाग्रत-स्वप्न-कल्पक अविद्या-भेद के समान ही उसका भी समाधान है, अर्थात् एक पुरुष का सम्बन्ध होने पर भी अविद्याओं का परस्पर अवान्तर भेद होता है। हम भी अनन्त अविद्याओं में एक ब्रह्म का सम्बन्ध मानते हैं। इन्द्रजालादि के दृष्टान्त भी पूर्वोक्त रीति से ही परास्त हो जाते हैं; क्योंकि अन्य-कल्पित वस्तु, अन्यपुरुष की अपरोक्ष न होने पर भी उसमें परोक्षतावभास सम्भव है—यह कहा जा चुका है। इससे सूर्य के छिद्र-दर्शन का भी समाधान हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी उसके वचन

परस्परमपरोक्षत्वाभावे कथमुपदेशः क्रियत इति चेत्, मैवम्; भूतभौतिकप्रपञ्चस्य कृत्स्नस्येश्वरमायाविनिर्मितत्वेऽपि सर्वापरोक्षत्वोपपत्तेः। 'यतो वा इमानि भूतानी'ति, 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः, जन्माद्यस्य यत' इति श्रुतिस्मृतिसूत्रभाष्यादिभिरस्यार्थस्य प्रतिपादितत्वात्। अन्यथा शुक्तिरजतादिवज्जीवाविद्यामात्रनिर्मितत्वे जगतो जीवादिकर्तृकत्वनिरासप्रयासवैयर्थ्यात्। जीवाविद्याकल्पितत्वे चेश्वरस्य जीवानामीश्वरो नियन्तेत्यादिश्रुतिस्मृतीनामप्रामाण्यप्रसङ्गात्। एकस्य प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वानङ्गीकारादेव तत्रोक्तदोषाणां दूरपरास्तत्वात्। स्वीयस्वीयविद्यया च स्वस्वाविद्यानिर्मितकर्तृत्वभोक्तृत्वादेर्बन्धस्य सकारणस्य निरासेन नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाख्यब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तेरप्युपपत्तेः। ननु स्वस्वाविद्येति कथं जीवनिष्ठत्वेनाविद्या व्यपदिश्यते ? ब्रह्माश्रयत्वादविद्यानामिति चेत्, सत्यम्, ब्रह्मसंबन्धित्वेऽपि तासामवच्छिन्नजीवरूपपक्षपातितया प्रतिभानात्। दृष्टं हि लोके—मुखमात्रसंबन्धिनोऽपि दर्पणस्य प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, दृश्यते च घटस्याकाशमात्रसंबन्धिनोऽप्यवच्छिन्नाकाशपक्षपाति-

---

दूषयति—एतेनेति। कल्पितस्यैव प्रपञ्चस्यानेकसाधारणत्वगमकश्रुत्याद्याह—यत इत्यादिना। नन्वेतेभ्यः कथं साधारण्यं प्रतीयत इति, तत्राह—जीवाविद्येति। यदिहि कल्पितस्य साधारण्यं न स्यात्तदाऽतत्साधारणाभिर्जैवीभिरविद्याभिः परिकल्पितं स्यात्, तथाच सकलनियन्तृसाधारणपरमेश्वरकर्तृकत्वं न भवेत्, तथाच तत्प्रतिपादकश्रुत्यादिविरोधः। यश्च सूत्रकारभाष्यकाराभ्यां जीवकर्तृकत्वनिरासप्रयासः कृतः सोऽपि वृथेत्यर्थः। दूषणान्तरं चाह—जीवाविद्येति। यस्तु बहुमोहकल्पितत्वे सत्येकमुक्तौ सर्वमुक्तिदोष उक्तस्तमनङ्गीकारेण परिहरति—एकस्येति। ब्रह्माश्रितसकलसाधारणैकमायाविजृम्भितः प्रपञ्च इत्यभिमानः। ननु प्रपञ्चस्य जीवाविद्याऽविजृम्भितत्वे जीवगततत्त्वज्ञानादनिवृत्तेरनिर्मोक्षापात इति, तत्राह—स्वीयस्वीयेति। असाधारणप्रपञ्चनिवृत्त्यैव मोक्षः, नतु साधारणनिवृत्त्या। विद्यमानोऽपि मुक्तं प्रति न भाति प्रविलीननिखिलकरणत्वादन्धं प्रतीव रूपादिरित्यर्थः। स्वस्वाविद्येति। निर्देशमाक्षिप्य समादधाति—ननु स्वस्वेत्यादिना। अहमज्ञ इति हि प्रतीतिः, नतु ब्रह्माज्ञमिति भावः। ननु चिन्मात्रसंबन्ध्यविद्यायाः कथं जीवपक्षपातित्वं न ब्रह्मपक्षपातित्वमिति शक्यं वक्तुम्, संबन्धाविशेषादिति, तत्राह—दृष्टं हीति। द्वेधा हि संप्रदायः—अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यं जीव इति वाऽविद्यावच्छिन्नमिति वा, तत्राद्यपक्ष उदा-

---

से परोक्ष ज्ञान सम्भव है। 'फिर भी गुरु-शिष्य की कल्पना का परस्पर अपरोक्ष न होने पर उपदेश कैसे किया जायगा ?'—यह सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि समस्त भूत-भौतिक प्रपञ्च, ईश्वर की माया से निर्मित होने पर भी सभी की अपरोक्षता उसमें रह जाती है। यह बात "यतो वा इमानि भूतानि" (तै० उ० ३।१), "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः' (गी० ७।६), "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२)—आदि श्रुति, स्मृति, सूत्र तथा भाष्य में स्पष्ट कही गई है। अन्यथा शुक्ति-रजत के समान जीव की अविद्या से निर्मिति मानने पर जगत् में जीवादि-कर्तृत्व का निरास व्यर्थ हो जायगा। एवं ईश्वरं को जीवाविद्या-कल्पित मानने पर जीवों का ईश्वर नियन्ता है—इस तथ्य की प्रतिपादक श्रुतियों और स्मृतियों में अप्रामाण्य आ जायगा। एक प्रपञ्च, बहुत पुरुषों के मोह से कल्पित नहीं माना जाता, अतः उस पक्ष में दिये गये दोष स्वयं दूर हो जाते हैं। अपनी-अपनी विद्या से अपनी-अपनी अविद्या-निर्मित कर्तृत्वादि बन्ध का समूल उच्छेद हो जाने पर नित्य शुद्ध, मुक्त स्वभाव ब्रह्मकी प्राप्तिरूप मुक्ति भी बन जाती है। 'स्वस्वाविद्या'—ऐसा कहकर अविद्या में जीवनिष्ठता का व्यवहार कैसे होगा ? क्योंकि अविद्याएँ तो ब्रह्म के आश्रित हैं'—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्माश्रित रहने पर भी अविद्याएँ स्वावच्छिन्न जीवरूप की पक्षपाती होकर प्रतीत होती हैं। लोक में यह देखा जाता है—केवल मुख का सम्बन्धी होने पर भी दर्पण, प्रतिबिम्ब का पक्षपाती

त्वम्, तस्मान्न किंचिदवद्यमिति।

अपिच—सूत्रभाष्यादिवाक्यानां श्रुतिस्मृतिगिरामपि।
मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्थैवाभ्युपेयताम् ॥ ७ ॥

एवं च सति "नेतरोऽनुपपत्तेः", "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः", "कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च", "परात्तु तच्छ्रुतेः", "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः", "यावदधिकारमवस्थितिः", "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ", "प्रकाशादिवन्नैवं परः", "असन्ततेश्चाव्यतिकरः" इत्येवमादीनि सूत्राणि तद्व्याख्यानपराणि भाष्याणि च सामञ्जस्येनोपपन्नार्थानि भवन्ति। "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्प-

---

हरणमुक्तम्, अवच्छेद उदाहरणमाह—दृश्यते चेति।

इदानीं तु जीवातिरिक्तेश्वरमीश्वराधीनतां च जीवानां तदेकतां च सूत्रभाष्यश्रुतिभिः क्रमेण साधयति—अपि चेति। श्लोकं विवृणोति—एवं च सतीति। इतरः शारीरः। 'कर्मकर्तृव्यपदेशा'दिति 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मी'तिप्राप्तृप्राप्तव्यतया जीवपरमेश्वरयोः कर्तृकर्मभावनिर्देशान्न कर्मीभूतो मनोमयत्वादिगुणकः शाण्डिल्यविद्याप्रतिपाद्यः शारीर इत्यर्थः। बद्धाबद्धव्यवस्थायामपि श्रौतलिङ्गमाह—तद्यो य इति। देवानां मध्ये यो यो वीप्सया चाधिकारसंपत्तौ सर्वेषामपि मुक्तिः, नतु तार्किकाणामिव बद्धैक-

---

होता है एवं आकाशमात्र का सम्बन्धी होने पर भी घट, स्वावच्छिन्न आकाश का पक्षपाती होता है। अतः इस नाना अविद्या पक्ष में कोई दोष नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि सूत्र, भाष्य, श्रुति तथा स्मृति वाक्यों में मुख्यार्थत्व की उपपत्ति के लिए यही व्यवस्था माननी होगी। इस प्रकार—"नेतरानुपपत्तेः" (ब्रह्मेतर जीव, आनन्दमय नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने में प्रकरण की अनुपपत्ति होती है—ब्र० सू० १।१।१६), "अनुपपत्तेस्तु शारीरः" (जीव में श्रुति-कथित गुणों की उपपत्ति न होने से शारीर आत्मा उपास्य नहीं—ब्र० सू० १।२।३), "कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च" (प्रकृत में उपास्य को प्राप्ति क्रिया का कर्म और जीव को कर्त्ता बताया गया है, इसलिए भी जीवात्मा, उपास्य नहीं हो सकता—ब्र०सू० १।२।४) "परात्तु तच्छ्रुतेः" (जीवात्मा में कर्तृत्वशक्ति, परमेश्वर की देन है—ऐसा ही श्रुति से प्रमाणित होता है—ब्र० सू० २।३।४१), "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैर्थ्यादिभ्यः" (पूर्वकृत कर्मों के अनुसार जीव को ईश्वर शुभाशुभ कर्मों में प्रेरित करता है—इसलिए तथा विधि-निषेध की सार्थकता के लिए भी ईश्वर को सर्वथा निर्दोष मानना पड़ता है—ब्र० सू० २।३।४२), "यावदधिकारमवस्थितिः" (इन्द्रादि अधिकारारूढ़ पुरुषों की संसार में अविस्थिति अधिकार की अवधि तक रहती है—ब्र० सू० ३।३।३२), "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" (परमेश्वर के अभिध्यान से जीव के छिपे गुण प्रकट होते हैं; क्योंकि परमेश्वर के अधीन ही जीव के बन्ध मोक्ष हैं—ब्र० सू० ३।२।५), "प्रकाशादिवन्नैवं परः" (सूर्यादि के समान ही परमेश्वर भी जीवात्मा के दोषों से सम्बद्ध नहीं होता—ब्र० सू० २।३।४३), "असन्ततेश्चाव्यतिकरः" (शरीररूप परिच्छेदों के कारण अन्य शरीरों में एक जीव की व्यापकता नहीं होती, अतः जीव के कर्मों का व्यतिकर = साङ्कर्य नहीं होता—ब्र० सू० २।३।४९)—आदि सूत्रों तथा उनके भाष्यों का समुचित सामञ्जस्य हो जाता है। "तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत् तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणाम्। तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" (देवों में जो-जो ब्रह्म को जानता गया, वह-वह तद्रूप होता गया, वैसे ही ऋषियों और मनुष्यों में। उस गर्भ में ही ऋषि वामदेव को दिव्य ज्ञान हो गया कि मैं ही मनु हुआ और मैं ही कई जन्मों में सूर्य बना—बृ० उ० १।४।१०)

श्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च", तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारंदर्शयति भगवान् सनत्कुमारः; "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि", "एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज", "तद्धास्य विजज्ञौ", "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास", भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार", "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इत्येवमादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवाक्यानि च मुख्यार्थे प्रामाण्यमश्नुवीरन्। तस्मादेकमपि ब्रह्मानेकोपाधिभिरवच्छिन्नं लब्धनानाजीवभावं तत्र बद्धमिव, यत्र विद्यया अविद्योपाधिनिवृत्तिस्तत्र मुक्तमिव भवतीति नानाजीववादेऽपि बन्धमुक्तिव्यवस्थोपपद्यत इति केचिदाचार्याः प्रतिपेदिरे।

का पुनरविद्यानिवृत्तिः। न तावत्सती, आत्मव्यतिरिक्तत्वे तस्याः सद्द्वैततापत्तेः। अन्य-

---

स्वभावाः केचिदिति दर्शितम्। तद्ब्रह्म प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्धवान् स एव तदभवत्, नतु स्वर्गादिष्विव भेदेन भोगमात्रम्। एवं मनुष्यादिष्वपि। एकशतमिति। मघवानिन्द्रः। प्रजापतौ प्रजापतिसकाशे। एकोत्तरशतं वर्षाणि ब्रह्मविद्यार्थं ब्रह्मचर्यमुवास उषितवान्। स ब्रह्मविद्यामिति। स ब्रह्मा ज्येष्ठपुत्रायाथर्वाय। अथर्वशब्दोऽयमकारान्तः। सर्वविद्याप्रतिष्ठां ब्रह्मविद्यां प्राह। स्मृतीतिहासादि बहिरेव द्रष्टव्यम्। अनेकजीववादमुपसंहरति—तस्मादिति। उपाधयोऽविद्याः। इवद्वयेन बन्धमोक्षयोरेकानेकपक्षद्वयेऽपि दुर्निरूपत्वं प्रदर्श्यते, उक्तं हि संप्रदायविद्भिः—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥" इति।

केचिदाचार्या मण्डनमिश्रवाचस्पतिमिश्रमतावलम्बिनः।

सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसब्रह्मात्मनोऽविद्यया तिरोधानं बन्धः, विद्यया तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इत्युक्तम्; तत्र ब्रह्मण्यविद्याश्रयत्वविषयत्वोपपादनेन जीवापेक्षाविद्यातिरोधानरूपबन्धविधा निरूपिता। तिरोधानेन हि तत्पूर्वविपर्यासो विवक्ष्यते संप्रत्यविद्यानिवृत्तिलक्षणमोक्षतत्त्वं निरूपयत्याक्षेपसमाधानाभ्याम्—का पुनरित्यादिना। तत्र किं सद्रूपिण्यविद्यानिवृत्तिः? असद्रूपिणी वा? सदसद्रूपिणी वा अनिर्वचनीया वा? पञ्चमप्रकारा वा? आत्ममात्रं वा? सत्त्व पक्षेऽपि किमात्मातिरिक्ता? अनतिरिक्ता वा। प्रथमे चाह—आत्मेति। द्वितीये प्राह—

"तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" (उस मल-रहित अन्तःकरणवाले महर्षि को तम से परे ब्रह्म का दर्शन भगवान् सनत्कुमार ने करा दिया—छां० उ० ७।२६।२), "अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि" (बृ० उ० ४।२।४), "एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज" ('अरे मैत्रेयि! इतना ही अमृतत्व है'—ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य प्रव्रजित हो गया—बृ० उ० ४।५।१५), "तद्धास्य विजज्ञौ" (छां० उ० ६।१६।३), "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" (इन्द्र ने प्रजापति के पास एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्म-विद्या के लिए ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया—छां० उ० ८।११।३), "भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार (तै० उ० ३।१), "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" (ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को सर्व विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया—मुं० उ० १।१।१)—आदि श्रुतिवाक्य और ऐसे ही स्मृति, इतिहास पुराणादि के वाक्य भी उक्त व्यवस्था का आश्रय लेने से ही अपने मुख्यार्थ में प्रमाण होंगे। इसलिए एक ही ब्रह्म अनेक उपाधियों से परिच्छिन्न होकर नाना बद्ध जीव रूपों को धारण करता है और जहाँ विद्या के द्वारा अविद्यारूप उपाधि निवृत्त हो जाती है, वहाँ मुक्त जैसा हो जाता है। अतः नाना जीववाद में भी बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था बन जाती है—ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

पूर्वपक्ष—अविद्या-निवृत्ति क्या है? उसे सत् नहीं कह सकते; क्योंकि आत्मा से भिन्न मानने पर द्वैतापत्ति होगी (द्र० न्या० म० पृ० ३५२)। आत्मा से भिन्न न मानने पर जिज्ञासा होती है कि निवृत्ति, आत्मरूप है? या आत्मा, निवृत्तिरूप है? निवृत्ति को आत्मरूप मानने पर सदा निवृत्ति

तिरिक्तत्वे चात्ममात्रत्वे सदानिवृत्तेः संसारानुपलब्धिप्रसङ्गात्। तन्मात्रत्वे चात्मनस्तस्या ज्ञानजन्यतया पूर्वमभावात्, अज्ञानस्य स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्। नाप्यसति, तुच्छत्वे शशविषाणादिवत् ज्ञानाधीनत्वासंभवात्। अभावत्वे च तस्य निर्वाच्यत्वे द्वैतापातात्, अनिर्वाच्यत्वे च तत्कारणाविद्यावस्थनादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। भावस्याभावो निवृत्तिरभावस्य च भावः भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्य कथमभावो निवृत्तिः स्यात्? नाप्यनिर्वचनीया; अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वापातात्। न चाविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वे निवृत्तिमत्त्वमुपाधिः; अनिर्वचनीयत्वेन निवृत्तिमत्त्वस्यापि साधनात्। न च निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वेऽनवस्था; निवृत्तिमत्प्रध्वंसपक्षे प्रध्वंसमालावदुपपत्तेः। प्रध्वंसप्रध्वंस इव प्रतियोगिनो बन्धस्यानुन्मज्जनादेवापुनरावृत्तिश्रुतेरप्यव्या-

---

अव्यतिरिक्तत्वे चेति। तत्रापि वक्तव्यं किमविद्यानिवृत्तेरात्ममात्रत्वम्? आत्मनो वा निवृत्तिमात्रत्वम्? आद्ये प्राह—**आत्ममात्रत्व इति**। आत्मनः सदातनत्वादित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति—**तन्मात्रेति**। अविद्यानिवृत्तेस्तात्कालिकतया तन्मात्रात्मनोऽपि तात्कालिकत्वेन पूर्वमभावादज्ञानस्य सांख्यप्रकृतिवत्स्वातन्त्र्यं स्यादाश्रयाभावात्, आत्मनित्यत्वादयश्च बहवः कुप्येरन्निति भावः। असत्त्वपक्षं दूषयति—**नापीति**। तत्रापि किं निरुपाख्यमसत्त्वेनाभिप्रेयते यथा शशविषाणादि? किंवा सोपाख्यं यथा घटाभावादि? आद्ये प्राह—**तुच्छत्व इति**। नह्युत्पत्तिस्तस्य संभवतीत्यर्थ। द्वितीये प्राह—**अभावत्वेति**। तत्रापि किं निर्वाच्यमिति पक्षः यथा तार्किकप्रभृतीनाम्? उतानिर्वाच्यमिति यथा भवन्नये शुक्तिरजतादि? उभयत्रापि क्रमेण दूषणमाह—**तस्य निर्वाच्यत्व इत्यादिना**। **तत्कारणेति**। अविद्याकल्पिते ह्यनिर्वाच्यं नाम तथाच कार्यानिर्वाच्यस्थितौ तदुपादानेनापि स्थातव्यमित्यर्थः। नच भावाभावविलक्षणाविद्याया निवृत्तिरभाव इत्यपि युक्तिसहमित्याह—**भावस्येति**। भावनिवृत्तेरेवाभावत्वमभावनिवृत्तेस्तु भावत्वं प्रसिद्धं तदुभयविलक्षणाविद्यानिवृत्तिः कथमभावः स्यात्? एतच्च भावत्वेऽपि तुल्यम्। एतेन सदसद्रूपपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तः; अविद्यायाः सदसद्रूपत्वे हि तन्निवृत्तेः सदसद्रूपता स्यात्। अनिर्वचनीयपक्षं दूषयति—**नापीति**। ननु नानिर्वचनीयत्वस्याविद्यातत्कार्यत्वेन प्रतिबन्धः, निवृत्तिमत्त्वस्य तत्प्रयोजकत्वात्। नच निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वमस्ति, अनवस्थानादपुनरावृत्तित्वव्याकोपाच्च। अतोनिवृत्तिमत्त्वं व्यावर्तमानमविद्यातत्कार्यान्यतरत्वमप्यतो व्यावर्तयतीत्यानन्दबोधाचार्योक्तं दूषयति—**न चाविद्येति**। साधनव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थः। तत्र च बाधकं परिहरति—**न च निवृत्तेरिति**। यथाहि प्रध्वंसध्वंसवादिनामनवस्था न दोत्र एवमित्यर्थः। अपुनरावृत्तित्वविरोधं परिहरति—**प्रध्वंसप्रध्वंस इति**। यथाह्युत्तरोत्तरध्वंसानामपि

ही रहेगी संसार की उपलब्धि कभी न होगी। आत्मा को निवृत्तिस्वरूप यदि मानें, तब तो ज्ञान-जन्य
निवृत्ति की सत्ता पूर्व में न होने कारण तद्रूप आत्मा भी ज्ञान से पूर्व न रहेगा, अतः अज्ञान, आश्रय
रहित स्वतन्त्र हो जायगा। अविद्या-निवृत्ति को असत् भी नहीं मान सकते; क्योंकि असत् पक्ष में
शश-शृङ्ग के समान तुच्छ मानने पर वह ज्ञान के अधीन न रहेगी। अभावरूप मानने पर भी
उसे निर्वाच्य कहेंगे? या अनिर्वाच्य? निर्वाच्य कहने पर द्वैतापत्ति और अनिर्वाच्य कहें, तब अनि-
र्वाच्य के रहने से अनिर्वाच्य की कारणभूत अविद्या की स्थिति भी माननी होगी, फिर अनिर्मोक्षता-
पत्ति होगी। दूसरी बात यह भी है कि भाव पदार्थ की निवृत्ति को अभाव और अभाव की निवृत्ति
को भाव कहा जाता है, भावाभाव-विलक्षण अज्ञान की निवृत्ति को अभाव क्यों कर कहा जा
सकेगा? अविद्या निवृत्ति को अनिर्वचनीय भी नहीं कह सकते; क्योंकि अनिर्वचनीय कहने पर उसे
या तो अविद्यारूप मानना होगा, या अविद्या का कार्य। 'अविद्या या अविद्या का कार्य वही होता
है, जो निवृत्तिमान् हो'—ऐसा कहने पर अनिर्वचनीयत्व हेतु से निवृत्ति में निवृत्तिमत्त्व की भी
सिद्धि हो जायगी। निवृत्ति की निवृत्ति मानने पर अनवस्थापत्ति को वैसे इष्टापत्ति माना जा सकता
है, जैसे ध्वंस-ध्वंस-माला को। जैसे ध्वंस-ध्वंस के रहने पर प्रतियोगी का पुनरुज्जीवन नहीं होता,

कोपात् । तस्मादनिर्वचनीयत्वे अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं प्रसज्यत एव । नापि पञ्चमप्रकारा, सदसद्विलक्षणतया तस्या अप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गात् ; सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमिति लक्षणाङ्गीकारात् । ननु नेदं लक्षणं किंतु ज्ञाननिवर्त्यमनिर्वचनीयम्, न चाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञाननिवर्त्या, ज्ञानजन्यत्वात् । ज्ञानानिवर्त्यापि च सा बाधगोचराऽतो न प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनं सव्यभिचारम् 'नेह नानास्ति किंचने'ति प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्मबाधोऽज्ञाननिवृत्तेरपि तुल्य इति चेत्, मैवम् ; अज्ञाननिवृत्तेर्ब्रह्मज्ञानरूपतया तज्जन्यत्वाभावात्, 'ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वाऽज्ञानहानि'रितीष्टसिद्धिकारैरभिधानात्, विद्यैव वाऽद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते' इति ब्रह्मसिद्धिकारैरप्युक्तत्वात्, ज्ञानजन्यसंस्कारे च ज्ञाननिवर्त्ये व्यभिचारात् । ननु तत्र ज्ञानान्तरेण ज्ञानान्तरजन्यसंस्कारो निवर्तते नतु तेनैवेति वैषम्यमिति चेत्,

---

प्रथमपदार्थविरोधितया तथाऽनुन्मज्जनं तथाऽविद्यानिवृत्तिमालायाश्चापि प्राचीनाविद्याविरोधित्वादेव तदनुन्मज्जनादपुनरावृत्त्यविरोध इत्यर्थः । पञ्चमपक्षं दूषयति—**नापीति** । अथ सदसद्विलक्षणत्वेपि किमित्यनिर्वाच्यता ? तत्राह—**सदसदिति** । तत्र यदुक्तं न्यायरत्नावलीकारैस्तदुद्भावयति दूषियितुम्—**ननु नेद**मित्यादिना । नन्वियमपि ज्ञाननिवर्त्यैव, तत्राह—**नचेति** । स्यादेतत्—एवंविधाप्यविद्यानिवृत्तिर्दृश्या तावदभ्युपेयते आत्मव्यतिरिक्तत्वात्तथाच यदि नेयं ज्ञाननिवर्त्या तर्हि, दृश्यत्वहेतुरत्रैवानैकान्तिकमिति, तत्राह—**ज्ञानानिवर्त्यापीति** । ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्यत् ज्ञानबाध्यत्वं चान्यदित्यभिमानः । अथ कथं बाध्यत्वमस्या इति, तत्राह—**नेह नानेति** । तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । नहि विरोध्युदयमन्तरेण विरोधिनिवृत्तिर्नामान्या दृश्यते युज्यते वेत्यर्थः । अत्राचार्यसंमतिमप्याह—**ज्ञातोऽर्थ इति** । मण्डनमिश्रसंमतिमप्याह—**विद्यैवेति** । तदस्तमयः अविद्यास्तमयः । किंच किं जात्युपाधावियं व्याप्तिः यज्ज्ञानजातीयजन्यं तत्तज्जातीयेन न निवर्त्यत इति ? किंवा व्यक्तौ ? आद्ये व्यभिचारमाह—**ज्ञानजन्येति** । द्वितीय-

---

वैसे ही निवृत्ति की निवृत्ति के रहने पर भी प्रतियोगीभूत बन्ध का उन्मज्जन न होने से अपुनरावृत्ति-श्रुति से भी विरोध नहीं होता । अतः निवृत्ति को अनिर्वचनीय मानने पर अविद्या और उसके कार्य में अन्यतररूप उसे मानना ही पड़ेगा । अविद्या-निवृत्ति को सत्, असत्, उभय और अनिर्वचनीय—इन चारों से भिन्न पञ्चम प्रकार भी नहीं माना जा सकता ; क्योंकि उक्त चारों से भिन्न मानने पर सत् और असत् से भिन्न मानना ही होगा, तब तो वही अनिर्वचनीय पक्ष आ जायगा ; क्योंकि "सदसद्विलक्षणम्"—यही तो अनिर्वचनीय का लक्षण माना जाता है । यदि शङ्का करें कि अनिर्वचनीय का यह लक्षण नहीं, अपितु "ज्ञाननिवर्त्यम्"—यह लक्षण करेंगे । ज्ञान से जन्य होने के कारण अज्ञान-निवृत्ति, ज्ञान-निवर्त्य नहीं हो सकती । ज्ञान से निवर्त्य न होने पर भी वह (अज्ञान-निवृत्ति) बाध-गोचर मानी जाती है ; अतः प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधन (दृश्यत्व हेतु) वहाँ व्यभिचारी नहीं होता । हाँ, "नेह नानास्ति किञ्चन"—इस प्रतिपन्नोपाधि में निषेध रूप ज्ञान की विषयता अज्ञान-निवृत्ति में भी रहने से बाध्यता बन जाती है । तो यह शङ्का युक्त नहीं ; क्योंकि अज्ञान-निवृत्ति, ब्रह्मज्ञानरूप होने के कारण ज्ञान-जन्य नहीं मानी जा सकती । इष्टसिद्धिकार ने भी यही सिद्धान्त किया है—"ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वा तदज्ञानहानिः" (इष्ट० पृ० ३६९) अर्थात् ज्ञात वस्तु या वस्तु का ज्ञान ही अज्ञान-निवृत्ति है । आचार्य मण्डन मिश्र का भी यही कहना है—

अविद्यास्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृता ।
विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते ॥ (ब्र० सि० ३।१०६)

अर्थात् अविद्या-निवृत्ति मोक्ष और अविद्या संसार है । अद्वय शान्तस्वरूप विद्या ही अविद्या-निवृत्ति है । 'जो ज्ञान-जन्य होता है, वह ज्ञान-निवर्त्य नहीं होता'—यह व्याप्ति भी ज्ञान-जन्य संस्कार में व्यभिचरित है ; क्योंकि वह अपने कारणभूत ज्ञान से जन्य और अपने कार्यभूत ज्ञान से

मैवम्; ईश्वरज्ञानजन्यस्य जगतस्तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यत्वाङ्गीकारात्, उत्पाद्य घटं नाशयिष्यामि इत्यभिसंधानस्थले कुलालज्ञानजन्यघटस्य तेनैव ज्ञानेन निवर्त्यत्वदर्शनाच्च। अज्ञाननिवृत्तेश्च ज्ञानानिवर्त्यत्वे प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनस्य तत्र व्यभिचारात्। ज्ञानानिवर्त्यत्वेऽपि बाध्यत्वात् न व्यभिचार इतिचेत्, न; ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेण बाध्यत्वस्यानिरूपणात्। सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाध इत्यङ्गीकरणात्। नाप्यात्मैवाज्ञाननिवृत्तिः; आत्मनः सदातनत्वेनाज्ञाननिवृत्तेरपि तथात्वे संसाराभावप्रसङ्गात्, आत्मनस्तत्त्वज्ञानसाध्यत्वप्रसङ्गाच्च। ज्ञात आत्मा अज्ञाननिवृत्तिर्न स्वरूपेणैवेति चेत्, न; ज्ञानस्य विशेषणत्वे नित्यत्वे च मोक्षदशायामपि अन्तःकरणादेरवस्थानप्रसङ्गात्। अनित्यत्वे चाज्ञाननिवृत्तिरूपाया मुक्तेरप्यनित्यत्वापातात्। न च ज्ञानोपलक्षित एवात्माज्ञाननिवृत्तिः; उपलक्षितत्वस्य नित्यत्वानित्वयोः प्राचीनदोषानुषङ्गात्। तस्मान्नाज्ञाननिवृत्तिरुपपन्नेति।

मुद्रावयति—**ननु तत्रेति**। अत्रापि व्यभिचारमाह—**मैवमीश्वरेति**। जगत्संहारेऽपि सृष्टिवदीश्वरज्ञानं निमित्तमेवेति भावः। अथाप्यनीश्वरज्ञान एवेयं नियतिरिति ब्रूयात्, तर्हि तत्रापि व्यभिचारमाह—**उत्पाद्य घटमिति**। एकं हीदं ज्ञानं यदुत्पाद्य नाशयिष्यामीति भावः। यच्च ज्ञाननिवर्त्यत्वज्ञानबाधयोर्भेदमादाय दृश्यत्वहेतोरनैकान्तिकतावारणम्, तदप्यसत्, ज्ञाननिवर्त्यत्वातिरिक्तस्य ज्ञानबाध्यत्वस्यानिरूपणादित्याह—**अज्ञानेत्यादिना**। अपसिद्धान्तश्चेत्याह—**सविलासेति**। षष्ठं पक्षं दूषयति—**नाप्यात्मैवेति**। आत्मनित्यत्वव्याहतिश्चेत्याह—**आत्मन इति**। **ज्ञानस्य विशेषणत्व इति**। ज्ञात आत्मेत्यत्र वृत्तिरूपं तावज्ज्ञानं वक्तव्यम्, स्वरूपज्ञानं प्रति कर्मत्वाभावात्ततश्च तद्यदि विशेषणं नित्यं च तदा जन्यस्य कथं नित्यत्वमित्यास्तां तावत्। सन्तानरूपेण चेन्नित्यत्वं तथापि तत्कारणान्तःकरणादेरवस्थानान्न संसारतो विशेषः स्यादित्यर्थः। अथैतद्दोषभयादनित्यमेवाङ्गीक्रियते तर्ह्यपुनरावृत्तित्वव्याकोप इत्याह—**अनित्यत्वे चेति**। ननु ज्ञानोपलक्षितात्मरूपमविद्यानिवृत्तिस्तेन विशेषणपक्षप्रयुक्तदोषद्वयनिवृत्तिरिति, तत्राह—**न च ज्ञानेति** अत्राप्युपलक्षितत्वधर्ममादाय दूषणद्वयं सुवचमित्यर्थः। पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

निवर्त्य होता है। यदि कहा जाय कि उक्त व्याप्ति का स्वरूप है—'जो जिस ज्ञान व्यक्ति से जन्य होता है, वह उस ज्ञान व्यक्ति से निवर्त्य नहीं होता।' संस्कार भी अपने जनक ज्ञान से निवर्त्य नहीं, अपितु ज्ञानान्तर से निवर्त्य होता है। तो यह भी कहना उचित नहीं; क्योंकि ईश्वर-ज्ञान-जन्य जगत्, ईश्वर-ज्ञान से निवर्त्य माना जाता है एवं जहाँ कुलाल 'घट को उत्पन्न करके नष्ट करूँगा'—ऐसा सङ्कल्प करके घट को बनाता और फोड़ता है, वहाँ कुलाल-ज्ञान-जन्य घट, उसी ज्ञान से निवर्त्य भी देखा जाता है। अज्ञान-निवृत्ति को ज्ञान-निवर्त्य न मानने पर प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधन का वहाँ व्यभिचार भी होगा। यह जो कहा कि ज्ञान-निवर्त्य न होने पर ज्ञान-बाध्य होने से व्यभिचार नहीं। वह कहना नितान्त असंगत है; क्योंकि ज्ञान-निवर्त्यत्व ही तो बाध्यत्व है, उससे अतिरिक्त बाध्यत्व का निरूपण ही नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य-सहित अज्ञान की निवृत्ति को ही बाध माना जाता है। अज्ञान-निवृत्ति को आत्म-स्वरूप भी नहीं कह सकते; क्योंकि आत्मा तो सदातन है, अज्ञान-निवृत्ति को आत्मरूप मानने पर संसार का अभाव हो जायगा एवं आत्मा में तत्त्वज्ञान-जन्यत्व की भी आपत्ति होगी। यदि कहें कि ज्ञात आत्मा ही अज्ञान-निवृत्तिरूप होता है, स्वरूपतः नहीं। तो वहाँ ज्ञान को विशेषण मानते हैं? या उपलक्षण? विशेषण पक्ष में नित्य मानने पर मोक्ष दशा में भी वृत्तिरूप ज्ञान के उपादान अन्तःकरणादि की स्थिति माननी होगी और अनित्य मानने पर अज्ञान-निवृत्तिरूप मुक्ति को भी अनित्य मानना पड़ेगा। ज्ञान को उपलक्षण मानने पर भी नित्यत्वानित्यत्व-विकल्प के कथित दोष बने ही रहते हैं। अतः अज्ञान-निवृत्ति उपपन्न नहीं होती।

अत्रोच्यते—निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः ।
उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तः पाचकादिवत् ॥ ८ ॥

यथा लोके सकारणस्य कलधौतविभ्रमस्य ज्ञाता शुक्तिरेव निवृत्तिः । न च तत्रापि नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानं तन्निवर्तकमिति युक्तम । अपरिज्ञाते शुक्तिशकले धर्मिप्रतियोगिसव्यपेक्षस्य तस्यैवासंभवात् । परिज्ञाते तु तेनैव तदुपपत्तावितरस्य कृतकरस्य वैयर्थ्यात् । इदमाकारपरिज्ञानस्य च भ्रान्तौ विद्यमानस्य तदविरोधात् । यथेहाप्यनृतजडदुःखानात्मद्वैतविरोधिसत्यज्ञानानन्दानन्ताद्वयलक्षणं ब्रह्मैव वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्तःकरणपरिणामदर्पणप्रतिबिम्बितं सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति युक्तमभ्युपगन्तुम् । न च ज्ञाततालक्षणोपलक्षणनाशे तेन घटितस्य मुक्तस्याभावप्रसङ्गः ; पाचकादिवदवस्थानोपपत्तेः, न हि लोके पचनलवनादिक्रियायामतिवृत्तायां देवदत्तः पाचको लावको न भवति, न वा तथा व्यवह्रियते । एते-

---

आत्मैवाज्ञानहानिरिति पक्षं परिगृह्णन्नुपपादयात—**उपलक्षणेति** । यथाहि लोके पचनलवनादिक्रियानिवृत्तावपि देवदत्तः पाचको लावक इति प्रतीयते व्यवह्रियते, तथेहाप्युपलक्षणज्ञातत्वनाशेऽपि मुक्तिः स्यादिति । श्लोकार्थं विवृणोति—**यथा लोक इति** । कलधौतं रजतम् । ननु न शुक्तिज्ञानं रजतविभ्रमनिवर्तकं येन ज्ञातशुक्तिरेव तन्निवृत्तिः स्यादपितु नेदं रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानम्, तथाच ज्ञातान्योन्याभाव एवान्यद्वा तन्निवृत्तिरिति कथमधिष्ठानमात्रत्वं तन्निवृत्तेरिति, तत्राह—**न च तत्रापीति** । कुतो न युक्तमित्यत आह—**अपरिज्ञात इति** । धर्मितया प्रतियोगितया वा अधिष्ठानस्य पूर्वभावित्वात्तेनैव च तदारोपनिवृत्तेः संसर्गमात्रारोपस्य चाधस्तादेव निरस्तत्वादन्योन्याभावज्ञानमर्थसिद्धानुवाद इत्यर्थः । नन्विदमाकारं ज्ञानमेवान्योन्याभावज्ञानजनक न शुक्तिज्ञानम्, अतो न कृतकरत्वमिति, तत्राह—**इदमिति** । **तदविरोधात्** भ्रान्त्यविरोधात्तज्जनकत्वं न संभवतीति शेषः । इममेव न्यायं प्रकृतस्थलेऽपि योजयति—**तथेहापीति** । **अनन्तेति** चानात्मत्वविरुद्धाकारनिर्देशः । अप्रत्यग्भूतं हि वस्तुतः परिच्छिन्नं भवेदिति । उत्तरार्धं विवृणोति—**न च ज्ञातेति** । ये त्विमं पक्षं दोषबहुलतया मलीमसं मन्यमानः प्राहुः—अत्र केचित्परिहारकातरतया परिहारमाचक्षते आत्मैवाज्ञानहानिरिति; तेषामनुशयमुन्मूलयति—**एतेनेति** ।

उत्तर पक्ष—ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा ही मोहनिवृत्तिरूप माना जाता है, उपलक्षण का नाश हो जाने पर भी पाचकादि के समान मुक्त पुरुष बना ही रहेगा । अर्थात् लोक में समूल रजत-भ्रम की निवृत्ति, ज्ञात शुक्ति रूप ही देखी जाती है । यहाँ शुक्ति-ज्ञान को रजत-भ्रम का निवर्तक न मानकर "नेदं रजतम्"—इस प्रकार के अन्योन्याभाव को निवर्तक मानना युक्त नहीं क्योंकि शुक्ति का ज्ञान न होने पर अनुयोगी-प्रतियोगी से सापेक्ष आन्योन्याभाव का ज्ञान ही सम्भव नहीं और शुक्ति का ज्ञान हो जाने पर उसी ज्ञान से उस भ्रम की निवृत्ति उपपन्न हो जाती है, फिर अन्योन्याभाव-ज्ञान से पिष्ट-पेषण करने से क्या लाभ ? शुक्ति-ज्ञान से भिन्न केवल इदमाकार-ज्ञान, उक्त अन्योन्याभाव-ज्ञान का जनक नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह स्वयं भ्रममें विद्यमान होने से उस भ्रम का विरोधी नहीं । वैसे (रजत-भ्रम-निवृत्ति के ज्ञात शुक्ति रूप होने के समान) ही प्रकृत में भी अनृत, जड़, दुःख, अनात्म और अद्वैत का विरोधी सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त और अहम् रूप ब्रह्म ही वेदान्त वाक्य-जनित ब्रह्माकार अन्तःकरण के परिणामरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर ही कार्य-सहित अज्ञान की निवृत्ति है—यह मानना ही सर्वथा युक्त है । ज्ञातत्वरूप उपलक्षण के नष्ट हो जाने पर उससे घटित मुक्त का अभाव नहीं हो सकता; क्योंकि पाचकादि के समान ही उसका अवस्थान सम्भव है । लोक में पचन, लवनादि क्रिया के निवृत्त हो जाने से "देवदत्तः पाचको वा लावको वा न भवति"—यह व्यवहार नहीं देखा जाता । इससे ही अज्ञान

नाज्ञाननिवृत्तेरनित्यत्वे पुनरज्ञानस्य संसारस्य चोन्मज्जनापत्तिरित्यादयो दोषाः प्रत्युदस्ताः; शुक्तिशकलादौ ज्ञाननाशेन ज्ञातत्वोपलक्षणनाशेऽपि निवृत्तस्याज्ञानस्य तद्विलासस्य वा पुनरुन्मज्जनादर्शनात्। पुनरुद्भवतो रजतादिविभ्रमस्याज्ञानान्तराधीनत्वात्, यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति तन्निवर्त्यान्यज्ञानानीत्यभ्युपगमात्। इह च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति श्रुतेरशेषाज्ञाननिरासात् पुनः संसारशङ्कातङ्कानवकाशात्।

तस्मात्—विगीताज्ञानहानिः स्यात् ज्ञाताधिष्ठानमात्रकम्।
तत्त्वाद्यदित्थं तत्तादृग्यथा शुक्त्यादिकं मितम् ॥ ९ ॥

एवं सति 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्याद्याः श्रुतयः सर्वस्य द्वैतजातस्यात्ममात्रतया प्रविलयमुपपादयन्त्यो मुख्यार्थतामश्नुवीरन्। इतरथाऽनिर्वचनीयस्य पञ्चमप्रकारस्य वा अज्ञाननिवृत्तिरूपस्याङ्गीकारे संसारदशायामिव केवलात्ममात्ररूपेणावस्थानासंभवादुदाहृताः श्रुतय उपचरितार्थाः कदर्थिताः स्युः। तस्मादुत्पन्ना-

---

एतेनेत्येतद्विशदयति—शुक्तीति। ज्ञातत्वविशिष्टपक्षपरित्यागादेव तत्प्रयुक्तदोषशान्तेः पञ्चमप्रकारे च प्रमाणाभावात्परिशेषस्य चैतेनैवोपपत्तेरनुत्थानादिति भावः। ननु पुनरपि तत्रैव विभ्रमदर्शनादुन्मज्जनमस्त्येवेति, तत्राह—पुनरुद्भवत इति। नन्वेकमेवाज्ञानमिति, तत्राह—यावन्तीति। अंशा वा प्रदेशा वा अवयवा वस्तुतन्त्राश्चाङ्गीक्रियन्त इति न तस्यैवोन्मज्जनमिति भावः। नन्वत्रापि संसारान्तरस्याज्ञानान्तरस्य च पुनरुद्भवोऽस्त्विति, तत्राह—इह चेति। आतङ्को भयम्। ननु भवत्वेवं संभावना किं पुनरत्र प्रमाणमिति, तदाह श्लोकेन—विगीतेति। लौकिकविभ्रमनिवृत्त्यार्थान्तरतापरिहाराय विगीतग्रहणम्। तत्त्वात् अज्ञानहानित्वात्। यथा शुक्त्यादिकमिति तदज्ञाननिवृत्तेरुपलक्षणम्, शुक्त्यादिमात्राज्ञाननिवृत्तिर्यथेत्यर्थः। एवमनुग्राहकतर्कस्थलीयमनुमानमुक्त्वानुग्राह्यभागमप्याह—एवं सतीति। विजानतः पुंसो यस्यामवस्थायां सर्वाणि भूतानि, भवन्तीति भूतानि कार्यमात्रम्, आत्मैवाभूत्तत्र तस्यामवस्थायां को मोहः कः शोक इति श्रुत्यर्थः। यदि हि पञ्चमप्रकारः स्यात्, तदा कथमात्मैवात्मव्यतिरिक्तं समस्तं वस्त्वभूदिति निर्दिश्येत ? अथ तस्याप्यारोपितत्वाद्वास्तववृत्तेर्नात्ममात्रत्वम्, तत्किमनिर्वचनीया अथ च पञ्चमप्रकारेतिव्याहतं वक्तुमारब्धम्, एवं यत्रत्वस्ये त्यादावपि, कदर्थिता उद्वेजिताः पीडिता इति यावत्।

निवृत्ति के अनित्य होने पर अज्ञान तथा संसार के पुनरुद्भव-प्रसङ्गादि दोषों का निराकरण हो जाता है; क्योंकि शुक्ति-शकलादि में ज्ञानका नाश हो जाने पर ज्ञातत्वरूप उपलक्षण का नाश हो जानेसे भी निवृत्त अज्ञान और उसका काय पुनः उत्पन्न होते नहीं देखा जाता। दुबारा जो रजत-भ्रम वहाँ देखा जाता है, वह दूसरे अज्ञान का कार्य माना जाता है, पहले अज्ञान का नहीं; क्योंकि जितने ज्ञान होते हैं, उतने ही उनसे निवर्त्य अज्ञान माने जाते हैं। किन्तु प्रकृत में "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"—यह श्रुति अशेष अज्ञानकी निवृत्ति, ब्रह्म-ज्ञान से बताती है, अतः यहाँ पुनः संसारोद्भव की शङ्का के भय को अवकाश ही नहीं मिलता। इस लिए "विवादास्पद अज्ञान-निवृत्ति, ज्ञात अधिष्ठानमात्र होती है, अज्ञान-निवृत्ति होने के कारण, जैसे—रजत-भ्रम-निवृत्ति, ज्ञात शुक्ति स्वरूप होती है"—इस प्रकार के अनुमान प्रमाण के प्रवृत्त हो जाने पर "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः" (ईशा० ७) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० ४।५।१५) आदि श्रुतियाँ समस्त द्वैत जगत् का आत्ममात्र में प्रविलय बताती हुई मुख्यार्थक हो जाती हैं। अन्यथा अज्ञान-निवृत्ति को अनिर्वचनीय या पञ्चम प्रकार मानने पर संसार दशा के समान ही केवल आत्मरूप से उक्त निवृत्ति की अवस्थिति सम्भव न होने से उक्त श्रुतियाँ गौणार्थक, बाधितप्राय ही हो जायँगी। इस लिए आत्म-विज्ञान-सम्पन्न पुरुष के सकार्य अज्ञान की निवृत्ति

त्मविज्ञानस्य ज्ञात आत्मैव सविलासाज्ञाननिवृत्तिरितिस्थितम् ।

ननु ज्ञात आत्मैव चेत्सविलासाज्ञाननिवृत्तिस्तदोत्पन्नविज्ञानस्य शरीरादिप्रतिभासानुवृत्तिर्न स्यात् । न चाविद्यालेशात् तदनुवृत्तिः, निवर्तकतत्त्वज्ञानोदये तल्लेशस्यापि निवृत्तेः । प्रारब्धकर्मणा प्रतिबद्धं तत्त्वज्ञानं शरीरादिप्रतिभासहेतुमविद्यालेशं न निवर्तयतीति चेत्, मैवम्; कर्मणोऽप्यविद्याकार्यतया तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः, अनिवृत्तौ च कर्मणस्तत्कार्यस्य च शरीरादेः सत्यत्वप्रसङ्गात् । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'त्यविशेषेणाशेषकर्मणां ज्ञानात् प्रक्षयश्रवणाच्च । न च 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य' इति विदुषो देहपातावधिश्रवणात्,

---

वादार्थमुपसंहरति—तस्मादिति ।

तदेवमविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिरित्ययमर्थ उपपादितः, इदानीं तत्रैव जीवन्मुक्तिलक्षणावान्तरविशेषमुपपादयति मुक्तिसिद्धये । तथाहि—ज्ञानं ह्यविद्यानिवर्तकम्, तच्च तदुदयसमसमयमेव भवितुमर्हति, अविधिलक्षणत्वेन कालान्तरफलत्वाभावात्, शुक्त्यादितत्त्वज्ञानेषु समसमयतादर्शनाच्च । तदिह यदि जीवति ज्ञानमुत्पन्नमप्यविद्यां न निवर्तयेत्, का वार्ता कालान्तरे तन्निवर्तने ? जीवत एव च ज्ञानोत्पत्तिः, इतरथा तदुत्पादककरणाभावेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तद्यदि मुक्तिरस्ति अस्त्येव जीवन्मुक्तिः । अथ यदि न जीवन्मुक्तिः नास्त्येव मुक्तिरिति मुक्तिसिद्ध्यर्थमेवायं विचारः विद्यासंप्रदायसिद्ध्यर्थम्, इतरथा हि तत्त्वविदः सद्यः शरीरपाते शिष्याद्यप्रतिभासादसाक्षात्कृततत्त्वस्य चानुपदेष्टृत्वाद्विहीनसंप्रदायतयाऽनिर्मोक्ष एव पर्यवस्येत् । तदुक्तमाचार्यैर्जीवन्मुक्तिप्रकरणे—'जीवेन्मुक्तोऽस्ति मुक्तिर्यदी'त्यादिना । तत्र तावज्जीवन्मुक्तिमाक्षिपति—नन्वित्यादिना । अयमर्थः—यद्यात्मातिरिक्ता स्यादविद्यानिवृत्तिस्तदा देहपातानन्तरमपि शक्यसंभावनया स्याद्विदुषः शरीरादिप्रतिभासः, यदा तु ज्ञानोपलक्षितात्मैवेति समर्थयते तदाऽपलक्षितात्मनः सदातनत्वादुपलक्षणतत्संबन्धयोः सतोरुपलक्षणतानिष्पत्तेर्निवृत्तैवाविद्येति वचनीयम्, तथाच तदा क्रोडितस्थूलसूक्ष्मकलेवरयुगलविलयाच्छिष्यादिप्रतिभासाभाव इति भावः । नन्वविद्यायाः कश्चिदेकदेशोऽस्ति ज्ञानेनाप्यनिवर्त्यः तन्निबन्धनोऽय शरीरादिप्रतिभास इति, तत्राह—न चेति । नहि समस्ताविद्याविनोदिविज्ञानमेकदेशेऽसमर्थमिति संभवतीत्यर्थः । समर्थस्यापि प्रतिबन्धं शङ्कते—प्रारब्धेति । यदि हि प्रारब्धकर्मणः स्थितिरेव स्यात्स्यात्तदा कारणवंशपरिरक्षणम्, तदेव तु नास्तीति परिहरति—मैवं कर्मण इति । सत्यत्वप्रसङ्गादिति । ज्ञानबाध्यत्वं हि मिथ्यात्वमिति भावः । ननु कर्माणि क्षीयन्ते इति सामान्यवचनमिदम् । अस्ति चापरा श्रुतिस्तस्य तावदेव चिरमिति विदुषोऽपि शरीरपातावधिं दर्शयन्ती तथा चैतदनुसारेण प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषये सा व्यवस्थापनीयेति, तत्राह—न च तस्य तावदेवेति । नेयं श्रुतिरपरो-

---

आत्मस्वरूप ही होती है—यह स्थिर हुआ ।

शङ्का—यदि ज्ञात आत्मा ही सकार्य अज्ञान की निवृत्ति है, तब विद्वान् को शरीरादि की प्रतीति नहीं रहेगी । लेशाविद्या से शरीरादि-प्रतीति की अनुवृत्ति नहीं कह सकते ; क्योंकि निवर्तक तत्त्वज्ञान के उदय होने से ही अविद्या-लेश भी निवृत्त हो जाता है । 'प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक के रहने से तत्त्वज्ञान, शरीरादि-प्रतीति के हेतुभूत अविद्या-लेश की निवृत्ति नहीं कर सकता'—यह शङ्का नहीं कर सकते ; क्योंकि प्रारब्ध कर्म भी अविद्या का कार्य है, अतः उसकी निवृत्ति से निवृत्त हो जाता है । निवृत्ति न मानने पर कर्म और उसका कार्य शरीरादि को सत्य मानना पड़ेगा । "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि"—इस श्रुति में अविशेषरूप से अशेष कर्मों का ज्ञान से प्रक्षय कहा गया है । यदि कहें कि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छां० उ० ६।१४।२) इस श्रुति में विद्वान् के देह-पात की अवधि का कीर्तन होने से "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि"—इस श्रुति का अर्थ करना होगा—प्रारब्ध कर्म से भिन्न सभी कर्म, विद्वान् के नष्ट हो जाते हैं । तो यह नहीं कह सकते ; क्योंकि "तस्य तावदेव चिरम्"—यह श्रुति परोक्ष ज्ञानवाले पुरुष के ही शरीर-पात की

प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषयैषा श्रुतिरिति वाच्यम्; तस्याः परोक्षज्ञानिविषयत्वात्। ननु 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इत्यपरोक्षज्ञानिन एवोपदेष्टृत्वं दर्शयन्नीश्वरस्तत्त्वदर्शिनामपि शरीरादेस्तद्धेतूनां च कर्मणामवस्थानं सूचयतीति चेत्, मैवम्; ज्ञानिन इति परोक्षनिश्चयवतस्तत्त्वदर्शिन इति च तत्त्वदर्शनाभ्यासशीलस्य तत्र प्रतिपादितत्वात्। न चापरोक्षे परोक्षज्ञानविभ्रमः; स्वात्मनि स्वसुखादौ च परकीयानुमानादिज्ञानस्याविभ्रमत्वात्।

कश्चायमविद्यालेशः, किमविद्याया एकदेशः? किंवा तदाकारान्तरम्? नाद्यः, अविद्यायाः घटादिवत्सावयवत्वानङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः स्वाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानानुपपत्तेः। अस्तु तर्हि संस्कारादेव द्वैतप्रतिभासानुवृत्तिः, विनिवृत्तसर्पविभ्रमस्यापि संस्काराद्भयकम्पाद्यनुवृत्तिदर्शनात्, 'तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीर' इति च तन्त्रान्तरेऽप्य-

---

क्षज्ञानिविषया येन तदेकदेशविषयतया तां संकोचयेदपि तु परोक्षज्ञानिविषयेति विरोधशङ्कैव नास्तीत्याह—तस्या इति। स्मृतिबलाज्जीवन्मुक्तिं शङ्कयित्वा दूषयति—नन्वित्यादिना। स्यादेतत्—भवतु परोक्षज्ञानिविषयो ज्ञानिन इति निर्देशः तत्त्वदर्शिन इति कथं तेषु सङ्गतः स्यात्? साक्षात्कारो हि दर्शनं नाम तस्मादेतदेव तत्त्वसाक्षात्कारिणां शरीरादिप्रतिभासे प्रमाणमिति, तत्राह—तत्त्वदर्शिन इति चेति। अत्र हि तत्त्वं द्रष्टुं शीलमेषामिति ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययविधानात्तत्त्वदर्शनाभ्यासशीलाः प्रतीयन्ते। नचापरोक्षज्ञानोदयेऽभ्यासावसरः, तदर्थत्वादभ्यासस्य। तस्मात्परोक्षज्ञानाभ्यासशीलिन इह विवक्षिताः। अत एव तत्समभिव्याहृतज्ञानशब्दोऽपि परोक्षज्ञानविषय इत्यर्थः। ननु परोक्षज्ञानशीलिनां तत्त्वदर्शित्वमनुपपन्नम्, अपरोक्षे परोक्षज्ञानस्यायथार्थतया विभ्रमत्वादित्यत्राह—न चापरोक्ष इति। स्वात्मा स्वसुखादि च स्वस्य तावदपरोक्षे इतरेषां च तत्रानुमानाच्छब्दाद्वा परोक्षज्ञानमुत्पद्यते, नच तद्भ्रान्तम्; अवितथार्थत्वाद् इतरथा प्रतिपाद्याप्रमित्या कथाऽप्रवृत्त्याद्यापात इति भावः।

एवमविद्यालेशस्थितिरनुपपन्नेत्युक्तम्, इदानीं लेश एवाविद्याया दुर्निरूप इत्याह—कश्चायमिति। अनङ्गीकारादिति। न निरवयवं न सावयवमित्यङ्गीकारात्, अद्रव्यत्वादनादितयावयवानारब्धत्वाच्चेत्यर्थः। मण्डनमिश्रमतमुद्भावयति—अस्तु तर्हीति। दृष्टचरं चैतदित्याह—विनिवृत्तेति। सांख्यसमति-

---

अवधि बताती है, अपरोक्ष ज्ञानवाले के शरीर की नहीं। यदि कहें कि "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"—इस (गी० ४।३४) श्लोक में भगवान् स्पष्टरूप से अपरोक्ष ज्ञानी को उपदेष्टा बताते हुए उसके शरीर तथा उसके हेतु प्रारब्ध कर्म की स्थिति सूचित कर रहे हैं। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि उक्त श्लोक में 'ज्ञानी' पद का अर्थ है—परोक्ष निश्चयवाला और 'तत्त्वदर्शी' का अर्थ है—तत्त्वदर्शनाभ्यासी। यदि कहें कि परोक्ष ज्ञानवाला तत्त्व-दर्शी नहीं हो सकता; क्योंकि उसे अपरोक्ष तत्त्व में परोक्ष ज्ञान का विभ्रम होता है। तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि अपरोक्ष वस्तु में परोक्ष ज्ञान को सर्वत्र विभ्रम नहीं कह सकते, कारण यह है कि एक व्यक्ति के अपरोक्ष आत्मा और सुखादि का जो परोक्ष (अनुमान) ज्ञान दूसरे को होता है, उसे भ्रम नहीं कहा जाता।

यह अविद्या-लेश भी क्या वस्तु है? क्या अविद्या का एकदेश? या अविद्या का आकारान्तर? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि घटादि के समान अविद्या को सावयव पदार्थ नहीं माना जाता। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं; क्योंकि अपने आकारी के निवृत्त हो जाने से उसका आकार विशेष स्थिर नहीं रह सकता। यदि कहें कि संस्कार के बल पर द्वैत-प्रतीति की अनुवृत्ति बन सकती है, निवृत्त सर्प-भ्रम के संस्कार से भय-कम्पादि की अनुवृत्ति देखी ही जाती है। सांख्याचार्यों ने भी कहा है—"ज्ञानी का शरीर संस्कार से वैसे ही स्थित रहता है, जैसे कि कुम्हार का चाक कुछ देर बिना घुमाए घूमता रहता है" (सां० का० ६७)। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह संस्कार भी

भिधानादिति चेत्, मैवम् ; तस्याप्यविद्याकार्यत्वात्तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तेः । अतथात्वे वा सत्त्वे द्वैतसत्यत्वापत्तेः, मिथ्यात्वे च भावरूपकार्यस्योपादानमन्तरेणानुपपत्तेः, निराश्रयत्वानुपपत्तेश्च । न चात्मैवाश्रयः, निरविद्यासंगस्य स्वतः कार्याश्रयत्वानुपपत्तेः । न च स्थितप्रज्ञगुणातीतलक्षणानां जीवन्मुक्तविषयत्वम् , साधकस्यैवावस्थाविशेषं प्राप्तस्य तत्राभिधानात् अतो न जीवन्मुक्तिर्युक्तिमतीति ।

अत्र वदामः— अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः ।
ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभिः ॥ १० ॥
लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मादेरनुवृत्तितः ।
उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिध्यति ॥ ११ ॥

एवं हि न्यायसुधायामाराध्यपादैरुपपादितम् , संसारमूलकारणभूताविद्या यद्यप्येकैव, तथापि तस्याः सन्त्येव बहवः आकारास्तत्रैकः प्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वभ्रमहेतुः, द्वितीयोऽर्थक्रियास-

---

मप्याह—तिष्ठतीति । तदेव दूषयति—मैवमिति । अतथात्व इति । अविद्यानधीनतया अनिवृत्तावित्यर्थः । नन्वविद्याजन्यत्वाभावेऽपि मिथ्यात्वान्नाद्वैतव्याघात इति, तत्राह—मिथ्यात्व इति । भावरूपेत्यभावविलक्षणेत्यर्थः । इदं च प्रध्वंसनिवृत्त्यर्थम् । दूषणान्तरमाह—निराश्रयत्वेति । ननु किमिति निराश्रयता ? यावता अविद्यासंस्कारस्याप्यविद्याश्रयभूतात्मैवाश्रयः, संस्काराधायकसंस्कारयोरेकाश्रयत्वनियमादिति, तत्राह—न चात्मैवेति । यथा निरवयवस्यैवाविद्याश्रयत्वं तद्वत्संस्काराश्रयत्वं किं न स्यादित्यत आह—कार्येति । अपरिणामित्वादितिभावः । ननु स्थितप्रज्ञलक्षणपरासु गीतासु 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' इत्यादिना तत्त्वसाक्षात्कारिणोऽपि दुःखाद्यनुद्वेगं दर्शयति । इतरथा कानुद्वेगं कुर्यात् ? तथा चतुर्दशाध्यायेऽपि गुणातीतलक्षणेषु—

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव । न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

तुल्यप्रियाप्रिय'इत्यादिना प्रीत्यादिप्रतिभासोऽवसीयते इति, तत्राह—न च स्थितेति । तत्र तावदनुष्ठापकत्वाद्वचनस्यैतेषां संपादनपरं शास्त्रं तथाच साधक एवैवंगुणको भवेदित्युच्यते ? अथवा अपरोक्षज्ञानादर्वागेव कांचिदुत्कृष्टामवस्थां प्राप्तोऽत्र विवक्ष्यते ? सर्वथापि न जीवन्मुक्तलिङ्गत्वमित्यर्थः ।

समाधत्ते—अत्रेति । राद्धान्तहृदयं श्लोकाभ्यां संगृह्णाति सुखप्रतिपत्त्यर्थम्—अविद्येति । पूर्वार्धेनाविद्यालेशं विशदयति, तस्य च ज्ञानोदयेऽपि स्थितिमुत्तरार्धेन समर्थयते, उत्तरश्लोकेन च फलितमाह—लेशेति । अपसिद्धान्तशङ्कानिवृत्त्यै गुरुसंप्रदायप्रदर्शनपूर्वकमविद्याया आकारानाकारिनिवृत्तावाकारस्थितिं च दर्शयन् प्रथमार्धं विवृणोति—एवं हीत्यादिना । आराध्यपादाः स्वगुरवः ज्ञानसिद्धिकाराः ।

अविद्या का कार्य है, अविद्या की निवृत्ति से निवृत्त हो जायगा । यदि निवृत्त नहीं होता, तब सत्य है ? या मिथ्या ? सत्य मानने पर द्वैत-सत्यत्वापत्ति और मिथ्या मानने पर भावरूप कार्य अपने उपादान के विना नहीं रहता, अतः उसमें निराश्रमता नहीं बन सकती । आत्मा को उसका आश्रय नहीं कह सकते; क्योंकि अविद्या-रहित, असंग आत्मा स्वतः किसी कार्य का आश्रय नहीं बना करता । भगवद्गीता में जो स्थितप्रज्ञ गुणातीत के लक्षण, किए गये हैं वे जीवन्मुक्त पुरुष के नहीं; अपि तु अवस्था विशेष पर पहुंचे साधक का ही वहाँ अभिधान है, अतः जीवन्मुक्ति का मानना युक्तियुक्त नहीं ।

समाधान—'अविद्या-लेश' शब्दसे मोहके आकारान्तर का ग्रहण किया जाता है' प्रबल प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध ज्ञान अविद्या-लेश का निवर्तक नहीं होता । लेशाविद्या की अनुवृत्ति से उससे जन्य कर्मादि की अनुवृत्ति होती हैं,अतः आत्मवेत्ता की जीवन्मुक्ति सिद्ध हो जाती ।' न्यायसुधा में गुरुवर(ज्ञानोत्तमाचार्य)ने इस प्रकार उपपादन किया है-संसार-मूल-कारणभूत अविद्या यद्यपि एक ही है । तथापि उसके विभिन्न आकार हैं । उनमें एक आकार, प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व-भ्रम का हेतु होता है, दूसरा आकार अर्थक्रिया-

मर्थवस्तुकल्पकः, तृतीयस्त्वपरोक्षप्रतिभासविषयाकारकल्पकः । तत्राद्वैतसत्यत्वाध्यवसायेन समस्तद्वैतसत्यत्वकल्पकाकारो निवर्तते । अर्थक्रियासमर्थप्रपञ्चोपादानमायाकारस्तत्त्वसाक्षात्कारेण विलीयते । अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाभासजनकस्तु मायालेशो जीवन्मुक्तस्यानिवृत्तः समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा देहाभासजगदाभासहेतुतयानुवर्तते । प्रारब्धकर्मफलोपभोगावसाने तु निवर्तते । श्रुतिरपि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत'इत्याद्या मायां विविधाकारां दर्शयति । न च लेशस्यापि विरोधितत्त्वज्ञानोदयान्निवृत्तिः किं नस्यादिति वाच्यम् ; प्रबलैः प्रारब्धकर्मभिर्ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वात् । तथाहि—विद्यार्थानि कर्माणि कर्मान्तरारब्धशरीरे फलं जनयन्ति । अन्यथा ज्ञानार्थानामपि कर्मणां भोगार्थत्वप्रसङ्गात् । तथा च शरीरारम्भककर्माण्युपजीव्य ज्ञानार्थानि कर्माणि तदविरोधेन स्वफलं प्रयच्छन्तीति युक्तम् । तथा च तैः प्रतिबद्धशक्तित्वात्तत्त्वज्ञानमविद्यालेशं न निवर्तयति । न च कर्मणामप्यविद्याकार्यतया तन्निवृत्तौ

पादशब्दश्च पूजार्थस्तत्प्रणीतं च वेदान्तप्रकरणं न्यायसुधा । अपरोक्षेति । अपरोक्षप्रतिभासविषयभूता य आकारः पारमार्थिकत्वार्थक्रियासामर्थ्यरहिततया ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतादिवत्तत्समर्थकस्तृतीय आकार इत्यर्थः । एतेषां च क्रमेण निवर्तकज्ञानशरीराणि दर्शयति—तत्रेत्यादिना । तत्त्वसाक्षात्कारेणेति । अद्वैतात्मवस्तुसाक्षात्कारेणेत्यर्थः । ननु यदि साक्षात्कारे जातेऽपि जीवन्मुक्तस्य समाध्यवस्थायां तिरोहितोऽन्यदा चोद्बुद्धो वर्तेत कश्चिदाकारः, केन तर्हि तस्य निवृत्तिस्तत्राह—प्रारब्धेति । उक्तार्थे श्रुतिमपि प्रमाणयति—श्रुतिरपीति । इन्द्रः परमेश्वरः । इदि परमैश्वर्ये इति भैमसेनिस्मृतेः । आदिशब्देन 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्याद्या गृह्यन्ते । 'मायां तु प्रकृति'मित्यादावेकत्वेन प्रतिपादितमायाया मायाभिरित्यादिबहुत्वाभिधानमाकारभेद एव घटत इतिभावः । उत्तरार्धं व्याचष्टे—न च लेशस्यापीत्यादिना । इदानीं प्रारब्धकर्मणां ज्ञानापेक्षया प्राबल्यमुपजीव्यतयोपपादयति—तथा हीत्यादिना । नन्वन्यैरेव कतिभिश्चित्कर्मभिर्ज्ञानार्थमेव देहमुत्पाद्य तत्त्वज्ञानमुत्पाद्यतां किमिति कर्मान्तरारब्धशरीरोपजीवनं ज्ञानोत्पादकानाम्, तथाच ज्ञानोत्पत्तौ देहनिवृत्तेर्न जीवन्मुक्तिरिति, तत्राह–अन्यथेति । भवतु कर्मान्तरारब्धशरीरे फलजनकत्वमेषां ततः किमिति, तत्राह—तथा चेति । ननु भवतु ज्ञानोत्पादककर्मणां प्रारब्धकर्मापेक्षया दौर्बल्यम्, ज्ञानस्य तु किमायातं येनोत्पन्नं ज्ञानं तानि न निवर्तयतीति, तत्राह–तथा च तैरिति । उत्पद्यमानमेव तावत्यंशे प्रतिबद्धशक्तिकं कारणवशादुत्पद्यतामिति भावः । यत्तु प्रारब्धकर्मणां निरुपादानतया स्थितिरेव नोत्पद्यते, कुतः प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम्, तत् परिहरति–न च कर्मणामिति ।

समर्थवस्तु का कल्पक है, तीसरा आकार अपरोक्ष प्रतीति के विषयाकार का कल्पक माना जाता है । उनमें अद्वैत-सत्यत्व का निश्चय हो जाने पर पहला समस्त द्वैतगत सत्यत्व का कल्पक आकार निवृत्त हो जाता है । दूसरा अर्थक्रिया-समर्थ प्रपञ्च का उपादानभूत मायाकार, तत्त्व-साक्षात्कार से विलीन हो जाता है । तीसरा अपरोक्ष-प्रतीति-योग्य अर्थाकार (माया-लेश) जीवन्मुक्त का निवृत्त नहीं होता । हाँ, समाधि अवस्था में वह तिरोहित होता और अन्य काल में देह और जगद् के आभास का हेतु होकर अनुवृत्त रहता है । प्रारब्ध कर्म का फलोपभोग पूरा हो जाने पर निवृत्त हो जाता है । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (ऋ० सं० ६।४७।१८) आदि श्रुतियाँ भी माया के विविध आकार दिखाती हैं । विरोधी तत्त्वज्ञान के उदय हो जाने से भी अविद्या-लेश निवृत्त नहीं होता—इसका कारण है—प्रबल प्रारब्ध कर्मों से ज्ञान का प्रतिबद्ध होना । आशय यह है कि ज्ञान-जनक कर्म, कर्मान्तर से आरब्ध शरीर में अपना फल उत्पन्न करते हैं । अन्यथा ज्ञान-जनक कर्म भी भोगार्थक हो जायँगे । अतः शरीर-आरम्भक कर्मों का आश्रय लेकर ज्ञान-जनक कर्म प्रारब्ध कर्म का विरोध न करते हुए ही अपना फल देते हैं । इसलिए उन प्रारब्ध कर्मों से प्रतिबद्धशक्तिक होने के कारण तत्त्वज्ञान अविद्या-लेश का नाशक नहीं होता । 'समस्त कर्म अपनी जनक अविद्या की निवृत्ति से

निवृत्तिः, तज्जनकाविद्यालेशस्यानिवृत्तेः। नन्वेवं सतीतरेतराश्रयत्वम्—तत्त्वज्ञानशक्तिप्रतिबन्धककर्मणामवस्थानादविद्यालेशानुवृत्तिः, तदनुवृत्तौ च कर्मणामनुवृत्तिरिति, मैवम्; ‘भूयश्चान्ते विश्वमायानिर्वृत्ति’रित्यत्र भूयोनिवृत्तिरिति विशेषणादुभयविधमायाकारनिवृत्तेराकारान्तरानुवृत्तेश्च मानान्तरेणाधिगमात्, प्रतीतावितरेतराश्रयत्वाभावात्। ‘अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः’ इति च श्रवणात्, प्रारब्धफलकर्मलक्षणस्य विद्याशक्तिप्रतिबन्धकस्य फलोपभोगेन निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावे तत्त्वज्ञानान्निःशेषाविद्यानिवृत्तिरिति प्रतीतेश्च। अत एव ‘क्षीयन्ते चास्ये’ति सामान्यश्रुतेः प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मनिवृत्तिपरत्वोपपत्तिः, ‘तस्य तावदेव चिर’मिति विदुषः प्रारब्धकर्मतत्कार्ययोरवस्थानाधिगमाच्च, ‘तद्धास्य विजज्ञा’विति विस्पष्टज्ञानोपजननस्याश्चर्यवत्प्रतिपादनात् परोक्षज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः। अन्यथा श्रुतवाक्यस्य परोक्षज्ञानस्यावश्यंभावितया तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात्। न च ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः’

निरुपादानकत्वमसिद्धमित्यर्थः। ज्ञप्तावितरेतराश्रयं शङ्कते—**नन्वेवमिति**। नात्र प्रारब्धकर्मभिरेवाविद्यालेशावगतिः श्रुतिवशादपि शक्याधिगमत्वादिति परिहरति—**मैवम्; भूयश्चेति**। ‘तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति’रिति श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते। अत्र च भूयोनिवृत्तिर्विश्वमायानिवृत्तिरिति प्रतीयते, तत्र विश्वग्रहणेनानेकमायाकारप्रतीतिस्तेषां च क्रमेण निवृत्तिर्भूयोनिवृत्तिरिति पौनःपुन्यापरपर्यायक्रियासमभिहाराभिधायिना भूयःशब्देनावगम्यते। अन्ते निवृत्तिरित्यनेन विदेहकैवल्यावस्थायां विलीयमानः कश्चिदाकारः प्रतीयते। **अन्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति** च पूर्वमशेषमायाऽनिवृत्तिरिति च प्रतीयते। तदेवं प्रारब्धकर्मणां प्रमाणमागण विदेहनिर्वाणावस्थानाधिगमात्, ‘क्षीयन्त’इति सामान्यश्रुतिः संकोचमर्हतीत्याह—**अत एवेति**। ननु ‘तस्य तावदेवे’ति श्रुतिः परोक्षज्ञानविषयतया प्रत्याख्यातेति, तत्राह—**तद्धास्येति**। तेन ह्याश्चर्यं द्योत्यत इत्यर्थः। ननु परोक्षज्ञानोत्पत्ताविदमाश्चर्यमस्तु श्रुतेः, भवति हि मूर्खेष्वनुत्पद्यमानं परोक्षज्ञानमपि बुद्धिमत्सूत्पद्यमानमाश्चर्यहेतुरिति, तत्राह—**अन्यथेति**। अधीतवेदो विदितपदतदर्थसंगतिकः श्रवणेऽधिक्रियते, नच तस्य परोक्षज्ञानसाधनोत्पत्तिराश्चर्यहेतुः प्रत्युतानुत्पत्तौ गर्हैव स्यादिति भावः। स्मृतेरन्यथासिद्धिं परिहरति—**न च ज्ञानिन इति**। किंचा-

---

निवृत्त हो जाते हैं’—यह कहना संगत नहीं; क्योंकि प्रारब्ध कर्म के जनक अविद्या-लेश का नाश नहीं होता। यदि कहें कि इस प्रकार तो अन्योन्याश्रय होता है—तत्त्वज्ञान-शक्ति-प्रतिबन्धक कर्मों की अनुवृत्ति के ज्ञान से अविद्या-लेश की अनुवृत्ति का ज्ञान और अविद्या-लेश की अनुवृत्ति के ज्ञान से उन कर्मों की अनुवृत्ति का ज्ञान होता है। तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि यहाँ प्रारब्ध कर्मों के ज्ञान से अविद्या-लेश का ज्ञान नहीं किया जाता, अपि तु “भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः”—यहाँ ‘भूयो निवृत्तिः’ विशेषणों से पूर्वोक्त द्विविध माया-आकारों की निवृत्ति और तीसरे आकार की अनुवृत्ति का ज्ञान होता है, अतः ज्ञानों में अन्योन्याश्रयता नहीं। “अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः”—इस वाक्य के आधार पर ज्ञान-शक्ति-प्रतिबन्धकरूप प्रारब्ध कर्म की फलोपभोग से निवृत्ति होने पर प्रतिबन्धक-शून्य तत्त्वज्ञान से निःशेष अविद्या की निवृत्ति होती है—यह सिद्ध होता है। अत एव “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि”—इस सामान्य श्रुति का प्रारब्ध कर्म से इतर कर्म का ही तत्त्वज्ञान से सद्यः प्रक्षय-बोधन में तात्पर्य मानना उचित है; क्योंकि “तस्य तावदेव चिरम्”—इस श्रुति से विद्वान् के प्रारब्ध कर्म और उसके कार्य का अवस्थान निश्चित होता है। “तद्धास्य विजज्ञौ”—यह श्रुति विस्पष्ट ज्ञानोपजनन में आश्चर्यवत्ता का प्रतिपादन करती है, अतः परोक्षज्ञान-विषयक “तस्य तावदेव चिरम्”—यह श्रुति नहीं हो सकती। अन्यथा वाक्य के श्रोता को परोक्ष ज्ञान का होना तो अवश्यम्भावी है, उसका प्रतिपादन ही व्यर्थ होगा। “ज्ञानिनस्तत्त्व-

इति स्मृतिः परोक्षनिश्चयवतस्तदभ्यसनशीलस्य प्रतिपादिका, दर्शनशब्देन साक्षात्कारस्यैव रूपादिदर्शनस्येवाभिधानात् । स्वात्मनि चापरोक्षे परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वात् । न च सुखादिविषयपरकीयानुमानादिज्ञाने व्यभिचारः । स्वापरोक्षस्य स्वपरोक्षज्ञानविषयत्वे विभ्रमत्वाङ्गीकारात् ।

न चाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानासंभवः, सामान्यविशेषघटितस्यापि वस्तुनो विशेषनिवृत्तौ सामान्याकारावस्थानस्य परीक्षकैरभ्युपगमात् । न च साधक एवावस्थाविशेषं प्राप्तः स्थितप्रज्ञो गुणातीतश्च ; 'प्रजहाति यदा कामा'नित्याद्यभिहितविशेषणानां तत्रानुपपत्तेः । नहि सर्वकामानां विमोकः परमात्मसाक्षात्कारमन्तरेणोपपन्नः । 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इति स्मरणात्, 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः, अथ मर्त्योऽमृतो

परोक्षे परोक्षज्ञानं विभ्रान्तमेव । नच परस्य परात्मानुमाने व्यभिचारः । स्वापरोक्षे स्वपरोक्षविज्ञानस्य विभ्रमत्वाव्यभिचारादित्याह—**स्वात्मनि चेति** । यत्त्वाकार्यविद्यानिवृत्तावाकारावस्थितिर्न संभवतीत्युक्तम्, तत्परिहरति—**न चाकारीति** । अनुवृत्तव्यावृत्तात्मकं हि समस्तं वस्तु भाट्टैरभिप्रेयते । यथाहुः—

'कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना । हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा'इति ।

तत्र यथा कटककेयूराद्याकारनाशेनाकारिनिवृत्तावप्याकारान्तरस्यानुवृत्तस्यानिवृत्तिस्तथेत्यर्थः ।

यदि चात्र तार्किको विप्रतिपद्येत तं प्रति सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदस्य समवायस्य च चिरातीतखण्डनस्मारणेन संमतिरानेतव्या । नचाकारादतिरिक्ताकार्यपि निरूपणसहिष्णुः यन्निवृत्त्याऽस्यापि निवृत्तिरापाद्येत । ननु तथाप्यविद्यायाः कोऽयमाकारः ? किमवयवः ? किं वा तद्धर्मः ? नोभयथापि । किं तर्हि अविद्यैवावस्थान्तरमापन्ना । विचित्रशक्तिर्ह्यविद्याऽतः प्रारब्धभोगकर्मतत्कारणमात्ररूपेण तिष्ठतीत्यभ्युपेयम् । किंच स्थितप्रज्ञत्वेन च गुणातीतत्वेन च जीवन्मुक्तमेव भगवद्गीता प्रतिपादयति, न साधकं शमादिसम्पन्नमपि, तस्यात्मसाक्षात्काराभावेन तत्प्रयुक्तसकलकामप्रहाणाभावादित्याह—**न चेत्यादिना** । साधकः फलायोपात्तशमादिसाधनः । अवस्थाविशेषम् उपसर्जनीभूतमनोनाशवासनाक्षयाभ्यासशालित्वरूपम् । अन्तःकरणधर्माणां कामानां निवृत्तिं प्रति विविक्तात्मसाक्षात्कार एव हेतुरित्येतदपि तत्रैव दर्शितमित्याह—**रसेति** । रसः कामः, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य । एतदेव श्रुतिरारण्यकी प्रकाशयतीत्याह—**यदेति** ।

दर्शिनः''—यह स्मृति भी परोक्ष निश्चयवाले तत्त्वाभ्यसनशील का प्रतिपादन नहीं करती ; क्योंकि 'दर्शन' शब्द से 'रूपादि-दर्शन' के समान साक्षात्कार का ही अभिधान है । अपने अपरोक्ष आत्मा में परोक्ष ज्ञान विभ्रम ही है । सुखादि विषयक परकीय अनुमानादि ज्ञान में जो व्यभिचार दिखाया था । वह युक्त नहीं ; क्योंकि स्वापरोक्ष में स्वपरोक्षज्ञान-विषयता होने पर ही विभ्रम माना जाता है । यह जो कहा था कि आकारी के निवृत्त हो जाने पर आकार का स्थित रहना सम्भव नहीं । वह कहना युक्त नहीं ; क्योंकि सामान्य-विशेष घटित वस्तु के विशेषाकार की निवृत्ति हो जाने पर सामान्याकार की स्थिति परीक्षक मानते हैं । यह जो कहा था कि साधक ही अवस्था विशेष में पहुंचकर स्थितप्रज्ञ, गुणातीत लक्षणों का लक्ष्य होता है । वह कहना भी अयुक्त ही है; क्योंकि उसमें "प्रजहाति यदा कामान्''—आदि कथित विशेषण घट नहीं सकते, सर्व काम-निवृत्ति, परमात्म-साक्षात्कार के विना कभी उपपन्न ही नहीं हो सकती ; क्योंकि स्मृति कहती है—"रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" (विषय के लिए हृदयगत सूक्ष्म औत्सुक्य भी परब्रह्म-दर्शन से निवृत्त हो जाता है गी० २।४९) श्रुति भी कहती है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥" (बृ० उ० ४।४।७)

अर्थात् जब कि हृदय की सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, तब यह जीव अमर हो जाता है,

भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत'इतिश्रुतेश्च । तदेवं श्रुतिस्मृतिपुराणादिष्वाघुष्यमाणा जीवन्मुक्तिः प्रद्वेषमात्रेण नापलपितुं शक्यत इति सिद्धम् ॥

इति श्रीगौडेश्वराचार्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीचित्सुखमुनि
विरचितायां तत्त्वप्रदीपिकायां
चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

* * *

फलितमाह—तदेवमिति ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्स्वरूप
भगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां
चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

* * *

इसी जन्म में ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है । इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि में प्रतिपादित जीवन्मुक्ति का केवल द्वेष से अपलाप नहीं किया जा सकता—यह सिद्ध हो गया ॥

प्रत्यक्तत्त्वप्रकाशा श्रुतिरवरुचिरा हंसपीठावतंसा,
स्वच्छच्छेदैश्चतुर्भिः कलितभुजलता तालपर्णादिवासा ।
मायामायां क्षिपन्ती मृदुतरहसितैः चित्सुधांशूपरागं,
वाग्देवी चित्सुखीयं भवतु सुखवहा चारु निःश्रेयसे नः ॥
दिशां नग्नताऽपाकृता कीर्तिवस्त्रैः,
यदीयैः सुनिष्णातकैः स्नातकैस्तैः ।
तमेतं कथं न स्मरामो महान्तम्,
उदासीनविद्यालयं काशिकेयम् ॥
परोपकारैकपरायणा ये,
गीर्वाणवाणीशरणार्पका मे ।
औदास्यदीक्षागुरवो मदीयाः,
जयन्ति पूज्या ऋषिरामपादाः ॥

इति श्रीमत्परमहंपरिव्राजकाचार्यस्वामि-
ऋषिरामशिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्द-
कृततत्त्वप्रदीपिकानुवादे
चतुर्थः परिच्छेदः
॥ सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः ॥

परिशिष्टम्

(१)

तत्त्वप्रदीपिकास्थपूर्वोत्तरपक्षसंग्राहकश्लोकावलिः

प्रथमः परिच्छेदः

स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो,
यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मतः ।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाणं हरिः,
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः ॥१॥
ज्योतिर्यद् दक्षिणामूर्तिव्यासशंकरशब्दितम् ।
ज्ञानोत्तमाख्यं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥२॥
विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्तध्वंसप्रगल्भवाचाला ।
क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका विदुषा ॥३॥
प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये ।
नमस्कुर्मो नृसिंहाय स्वप्रकाशचिदात्मने ॥४॥
अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य नः ।
संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासंभवः कुतः ॥१॥
सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे ।
कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ॥२॥
चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः ।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः ॥३॥
संबन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानासमवायिनः ।
इन्द्रियत्वाविघाताच्च मनः प्रत्यक्षमात्मवत् ॥४॥
तमालश्यामलज्ञाने निर्वाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥५॥
चक्षुः प्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम् ।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥६॥
सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥७॥
अंशिनः स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिनः ।
अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥८॥
अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते ।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते ॥९॥
देवदत्तप्रमा तत्स्थप्रमाभावातिरेकिणः ।
अनादेर्ध्वंसिनी मात्वादविगीतप्रमा यथा ॥१०॥
स्वीकारे विभ्रमाणां स्यात् स्वीयसिद्धान्तवाधना ।
अनभ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥११॥

नयनं नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिणः ।
ज्ञानस्य कारणं तत्त्वाद्यथैव नयनान्तरम् ॥१२॥
प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥१३॥
एकालम्बनसंसर्गनिषेधे सदसत्त्वयोः ।
धर्मत्वाद्रूपरसवत् सिद्धानिर्वचनीयता ॥१४॥
दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा ।
वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः ॥१५॥
विवादाध्यासितः सिद्धः शब्दव्युत्पत्तिगोचरः ।
मेयत्वान्न्यायगम्यत्वात्तवाभिमतकार्य्यवत् ॥१६॥
कार्य्यस्यावगतेर्हेतु र्यादृशं हितसाधनम् ।
प्रवृत्तेस्तादृशं हेतुर्व्यभिचारस्ततः कुतः ॥१७॥
विवादाध्यासिताः शब्दाः क्रियाकार्य्याभिधायिनः ।
कार्य्यप्रत्ययहेतुत्वाद् आनयेत्यादिशब्दवत् ॥१८॥
संसर्गासंगिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥१९॥
सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि ।
अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादि प्रमाणवत् ॥२०॥
आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे. सत्यजन्यता ।
तदन्यतःप्रमायास्तत्स्वतस्त्वमिति तद्विदः ॥२१॥
प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतः ।
जायते व्यतिरिक्तत्वाद् अप्रमातः पटादिवत् ॥२२॥
परास्य शक्तिर्विविधा सर्गाद्या भावशक्तयः ।
इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्तिः केन निवार्य्यते ॥२३॥
स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्ठसंश्रयः ।
दहनो गुणयोगित्वाद् गुरुत्वाश्रयकुम्भवत् ॥२४॥
विनाभिधेयस्मरणम् अन्वयाप्रतिपत्तिः ।
तत्तत्पदार्थस्मृतयः तेषामन्वयबोधिकाः ॥२५॥
शब्दास्तात्पर्य्यविषयव्यतिषङ्गस्य लक्षकाः ।
तत्तात्पर्य्याभिधानत्वात् क्ष्वेलं भुङ्क्ष्वेतिशब्दवत् ॥२६॥
श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवलं श्रुतिषु श्रुतम् ।
मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना तु न मीयते ॥२७॥

द्वितीयः परिच्छेदः

सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसंगतः ।
एकाभावादसंदेहात् न रूपं वस्तुनो भिदा ॥ १ ॥
युगपद्ग्रहणायोगाद् अनवस्थाप्रसंगतः ।
परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधीः ॥ २ ॥

नान्योन्याभावरूपोऽयं द्वैताभावप्रसंगतः ।
तादात्म्यस्याप्यमानत्वात् प्रतियोग्यनिरूपणात् ॥ ३ ॥
अव्याप्तेरतिव्याप्तेर्द्रव्यं नैव गुणाश्रयः ।
आद्ये क्षणे गुणाभावाद् गुणादावपि वीक्षणात् ॥ ४ ॥
द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि नो द्रव्यलक्षणम् ।
तज्जातिव्यञ्जकाभावात् तन्मानस्यानिरूपणात् ॥ ५ ॥
सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् ।
अन्योन्याश्रयतापत्तेः गुंणस्याद्याप्यसिद्धितः ॥ ६ ॥
गुणत्वजातियोगोऽपि न भवेद् गुणलक्षणम् ।
अन्योन्याश्रयदुष्टत्वात् जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च ॥ ७ ॥
यथा श्रुतेऽसंभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तितः ।
नानपेक्षतया हेतुः कर्मंयोगविभागयोः ॥ ८ ॥
मैवं व्याप्तेरसिद्धत्वात् अनध्यवसितत्वतः ।
यौगपद्यप्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम् ॥ ९ ॥
अतिव्याप्त्या निराकुर्य्यादाद्यं पक्षचतुष्टयम् ।
अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्त्यं प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥
जातेरव्याप्यसिद्धेश्च सत्तादेरप्यसिद्धितः ।
तदनाश्रयताऽन्यत्वलक्षणेऽन्योऽन्यसंश्रयः ॥११॥
नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वम् अयोगपरिहारतः ।
न लक्षणमतिव्याप्तेः तवात्मत्वमनस्त्वयोः ॥१२॥
आश्रयासिद्धिदुष्टत्वाद् अप्रसिद्धविशेषणात् ।
प्रमाणतामश्नुवीत न प्राभाकरभाट्टयोः ॥१३॥
न स्यादयुतसिद्धत्वादि समवायस्य लक्षणम् ।
विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धे व्यभिचारतः ॥१४॥
घटस्तद्वृत्त्यनित्यान्यभावसम्बन्धवानयम् ।
संबन्धित्वादिति स्याच्चेन्नाभावे व्यभिचारतः ॥१५॥
सिद्धे भेदे विरोधे च धर्मयोर्धर्मिभेदधीः ।
तयोर्नाद्यापि संसिद्धिर्धर्मिभेदस्तदा कुतः ॥१६॥
अन्यत्र लिंगेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयोः ।
दृष्टं सम्भूयकारित्वं विशिष्टानुमितिं प्रति ॥१७॥
मानाधीना मेयसिद्धि र्मानसिद्धिश्च लक्षणात् ।
तच्चाध्यक्षादि मानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम् ॥१८॥
अनिरुक्तेरवधृतेरतिव्याप्तेर्द्वयोरपि ।
अव्याप्तेर्विभ्रमाभेदाज्जातिसाङ्कर्य्यशक्तितः ॥१९॥
आद्यकल्पेष्वतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चान्त्ययोर्द्वयोः ।
न मिथ्याध्यवसायत्वं विपर्य्यासस्य लक्षणम् ॥२०॥
आद्ये कल्पेऽधिकव्याप्तेर्द्वयोश्चासंभवित्वतः ।
तुर्य्येऽतिव्याप्तितश्चान्त्येऽभावाद् व्यञ्जकमानयोः ॥२१॥

प्रमितेर्दुर्निरूपत्वाद् व्यञ्जकस्यानिरूपणात् ।
साक्षात्त्वं जातिसांकर्य्यान्न प्रत्यक्षस्य लक्षणम् ॥२२॥
किं व्यक्त्योरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयोः ।
व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनत्त्वयोः ॥२३॥
सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसंभवात् ।
न तद्वतोरुक्तदोषात् न च चतुर्थोऽनिरूपणात् ॥२४॥
न प्रत्यक्षमशक्यत्वात् नानुमाऽप्यनवस्थितेः ।
नागमस्तद्दते भावान्नोपमाऽतत्प्रमेयतः ॥२५॥
नार्थापत्तिरनन्यत्वादनुमाफललोपनात् ।
नाभावो दुर्निरूप्यत्वान्न तर्कस्तर्कबाधनात् ॥२६॥
पूर्वोदितेन न्यायेन पक्षस्यैवानिरूपणे ।
कथं तद्वचनं वाच्यं प्रतिज्ञेतिविपश्चिता ॥२७॥
अनुमानांगयोः सिद्धेर्व्याप्तिपक्षगतत्वयोः ।
उदाहृतेरुपनयात् पञ्चावयवता मुधा ॥२८॥
भूयोऽवयवसामान्यं सादृश्यं यच्च गोगतम् ।
विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यतः ॥२९॥
वाचको गवयस्यायं तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति ।
वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वाद् गोत्वे गौरितिगीरिव ॥३०॥
शब्दो मानं विवक्षायां ज्ञानेऽर्थ वा भवन्भवेत् ।
नाद्यौ तद्व्यभिचारित्वात् नान्त्यः संगत्योगतः ॥३१॥
आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु ।
व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तितः ॥३२॥
आगमस्य बर्हिदेशविषयत्वस्य कल्पनात् ।
प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा ॥३३॥
आद्येऽनुमानं तेनैव निष्प्रत्यूहं प्रवर्तताम् ।
द्वितीये कल्पकाभावाद् अर्थापत्त्युदयः कुतः ॥३४॥
तदसिद्धिरतिव्याप्तिः सक्तिः सप्रतिसाधने ।
असंभवोऽतर्कता च दोषाः तेषां क्रमादमी ॥३५॥
केवलानुपलम्भस्य. व्यभिचारनिवारिणी ।
योग्यता चेत्कुतो न स्यादनुमानमभावधीः ॥३६॥
सर्वस्य प्रतियोगित्वाद् दुर्लभा तदनिष्ठता ।
द्विधाप्यात्माश्रयत्वाच्च न स्वशब्दो विशेषणम् ॥३७॥
अर्थान्तरत्वादाद्यस्य परस्योपाधिमत्त्वतः ।
अन्त्यस्याभासतुल्यत्वात् प्रतिसाधनरोधनात् ॥३८॥
प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यात् सिद्धस्यैवाश्रयत्वतः ।
देहात्मतावन्नियमाल्लक्षणैश्च व्यवस्थितः ॥३९॥
अन्योऽन्यसंश्रयापत्तेरतिव्याप्तिप्रसंगतः ।
अव्याप्तेरजसंयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥४०॥

संयोगस्यापृथक्त्वेऽपि व्याहारव्यवहारयोः ।
समवाय इवोत्थानाद् वृथासामान्यकल्पना ॥४१॥
आत्माश्रयादतिव्याप्तेरयोगाद्व्यभिचारतः ।
विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभागः प्रसिद्ध्यति ॥४२॥
संयोगस्य निरस्तत्वाद् गुणानामनिरूपणात् ।
जातेश्च दुर्निरूपत्वात् स्यादसंभवि लक्षणम् ॥४३॥
प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः स्यादेकत्वसमुच्चये ।
अनुमाऽप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्यदूषिता ॥४४॥
न च प्रमाणं संख्यायामप्येकत्वादिबुद्धयः ।
गुणादिष्वपि तद्भावात् तद्बाधस्यानिरूपणात् ॥४५॥
प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न जातिः सेद्धुमर्हति ।
व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेः तद्वृत्तेश्चानिरूपणात् ॥४६॥
अद्रव्यवान्न संयोगः साङ्कर्य्यान्नेतरावपि ।
पदार्थान्तरतापत्तेर्नान्यसंवन्धसंभवः ॥४७॥
परमाणुबहुत्वेन महत्वारम्भसंभवात् ।
त्र्यणुके द्व्यणुकारम्भप्रक्रियाऽपि न सिद्ध्यति ॥४८॥
परिमाणस्यसिद्धत्वे तदारम्भविचारणा ।
नाद्याऽपि सिद्धस्तदभावोऽभावाल्लक्षणमानयोः ॥४९॥
आद्यस्योपाधिमत्त्वेन साध्याभावान्निदर्शने ।
द्वितीयस्योभयत्रापि प्रतिसाधनरोधनात् ॥५०॥
तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात् तदाधेयानिपाततः ।
संख्याप्रमाणयोरैक्यादन्यथापाकसंभवात् ॥५१॥
कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधितोऽन्योन्यसंश्रयात् ।
स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वात् नियतत्वानिरुक्तितः ॥५२॥
हेतुसाकल्यरूपायां सामग्र्यां तदसम्भवात् ।
कारणत्वानिरुक्तौ च सहकार्य्यनिरूपणात् ॥५३॥
जातेरहेतुतापत्तेः रासभेऽतिप्रसक्तितः ।
गगनादिषु चाव्याप्तेरन्वयादेरयोगतः ॥५४॥
अतिव्याप्तेः स्ववृत्तित्वाद्भेदेऽभेदेऽप्यसंभवात् ।
कार्य्यस्य हेतुभिः सिद्धेर्वृथा साकल्यकल्पना ॥५५॥
व्यापाराव्यापानादात्माश्रयत्वादनिरुक्तितः ।
समवायेऽस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गतः ॥५६॥
असिद्धेः प्रतिबन्धस्य नृशृङ्गादावभावतः ।
सत्त्वे सतीति चायुक्तं दृष्टान्तादेरसिद्धितः ॥५७॥
अनिरुक्तेरतिव्याप्तेरव्याप्तेः तदसंभवात् ।
अतिप्रसंगतोऽव्याप्तेः मतुबर्थानिरूपणात् ॥५८॥
प्रत्यक्षागोचरत्वेन परत्वादेरलिंगतः ।
स्वरूपतोऽनिमितत्त्वाद् उपाधौ निष्फलत्वतः ॥५९॥

दिवाकरपरिस्पन्द—पिण्डसंगतिसंभवात् ।
व्यापिनश्चेतनादेव कथं कालः प्रसिद्ध्यति ॥६०॥
इन्द्रियानधिगम्यत्वात् नाध्यक्षं नानुमा दिशि ।
वर्णैरर्थान्तरत्वेन साध्यासिद्धिर्निदर्शने ॥६१॥
भेदेऽप्ययुतसिद्धत्वाद् उपादानत्वसम्भवात् ।
तस्यापि दुर्निरूपत्वात् समवायाद्यसंगतेः ॥६२॥
युक्तेः शब्दनिमित्तानामेकाधिकरणत्वतः ।
शाब्दं न तावद् घटते भेदाभेदप्रसाधकम् ॥६३॥
धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तितः ।
अभेदानुभवाभावादार्थं नैवास्य साधकम् ॥६४॥

तृतीयः परिच्छेदः

साक्षात्करणहेतोरप्यप्रत्यक्षत्वसम्भवात् ।
दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेव तदुद्भवात् ॥१॥
तद्धेत्यादिश्रुतेः क्वापि मनसस्तदयोगतः ।
शब्दत्वानुमितेर्बाधाद् व्यभिचारादनुत्थितेः ॥२॥
प्रतिप्रयोगयोगाच्च विपक्षे बाधसम्भवात् ।
तस्याभाससमानत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ॥३॥
अभावाच्छ्रुतिलिङ्गादेरुपयोगानिरूपणात् ।
अधिकारविरोधाच्च कर्माङ्गं नात्मतत्त्वधीः ॥४॥
यज्ञादेः करणत्वेन श्रुत्यैव प्रतिपादनात् ।
शेषत्वाधिगतावेव प्रक्रमस्याप्युपक्षयात् ॥५॥
निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेऽपि सम्भवात् ।
प्रक्रमस्यापि बाध्यत्वाद् बलीयस्या तृतीयया ॥६॥

चतुर्थः परिच्छेदः

लीनशब्दनिदानेऽपि व्योम्नि तस्यानवस्थितेः । रूपाभावव्यवहृतेस्तदभावेऽपि चात्मनि ॥१॥
कुम्भः कुम्भेतराचित्कासुखान्यान्यः प्रसाध्यताम् । कुम्भत्वेन यदित्थं तत्तथा कुम्भान्तरं यथा ॥२॥
आत्मनोऽसुखरूपत्वाद्बन्धस्यान्यगतत्वतः । उपचारस्य चायोगात् सम्बन्धस्यानिरूपणात् ॥३॥
स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् । तच्चोभयं विना विद्यासम्बधं नैव सिद्ध्यति ॥४॥
चैत्ररागः स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा । तदध्यक्षेण संवीक्ष्यः प्रत्यक्षत्वात् पटादिवत् ॥५॥
अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत्स्वप्नविभेदिनी । यथा तथैव कल्प्यन्तामनन्ताः सति कल्पके ॥६॥
सूत्रभाष्यादिवाक्यानां श्रुतिस्मृतिगिरामपि । मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्थैवाभ्युपेयताम् ॥७॥
निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः । उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तः पाचकादिवत् ॥८॥
विगीताज्ञानहानिः स्याज्ज्ञाताधिष्ठानमात्रकं । तत्त्वाद् यदित्थं तत्तादृग्यथा शुक्त्यादिकं मितम्॥९॥
अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः । ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभिः ॥१०॥
लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मादेरनुवृत्तितः । उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिद्ध्यति ॥११॥

परिशिष्टम्

(२)

तत्त्वप्रदीपिकोपात्तशासनशासकोत्कर:

१. अक्षपादसूत्रम् ४१३
२. आधुनिक: १२४
(न्यायकल्पतरुकार:)
३. उदयन: ४१०, ४१८
४. उद्योतकार: १२६, ३६९, ४१४
५. उम्बेक: ४२८
६. कन्दलीकार: ३०६; ३३२; ५६४
७. किरणावलीकार: ३०७, ५६४
८. कुसुमाञ्जलिकार: ५०४
९. खण्डनकारा: २९७
१०. गुरु: ८, १७७
११. तात्पर्यटीका ३५८
१२. तौतान्तिक: ४०६
१३. न्यायकुसुमाञ्जलि: २११
१४. न्यायसुधा ६०६
१५. पञ्चपादिकाचार्या: १७
१६. पतञ्जलि: ५६२
१७. प्रशस्तपाद: २४७, ३००
१८. ब्रह्माण्डपुराणम् ४५४
१९. भट्टपादा: २१७, २१९, २४३, ३७७, ४१८
२०. भट्टाचार्या: ७२, ११६, १८२
२१. भट्टा: ३३
२२. भाट्ट: २११, २४७
२३. भूषण: ३०७, ५१३
२४. भूषणकार: ३६८
२५. मानमनोहरकार: ४०, ३१६, ४८१, ५१९, ५५५
२६. लीलावतीकार: २३६, २५०, ३०३, ३०६, ३२८, ३३७, ३८९, ४४३
५१७, ५६४
२७. वाचस्पति: २००, २२०, ३५१
२८. वार्तिककारा: ४१४
(कुमारिलभट्टा:)
२९. शालिकनाथ: १७०
३०. सुरेश्वराचार्या: १७, १९७
३१. सौगतवार्तिकम् ३५९
(प्रमाणवार्तिकम्)

परिशिष्टम्

(३)

एते नयनमोदिन्यां ग्रन्थग्रन्थकृतो धृताः

अर्कबन्धुः २१९
आनन्दबोधाचार्याः १९१, ५४५
इष्टसिद्धिकारः १४५, ५७१
उदयनः } २२, २५, २८, ५५, ५४, १३७, २०५, २१४, २२१, २२७, २२९,
आत्मतत्त्वविवेककृत } २३९, २४२, २४४, ३००, ३१४, ३१४, ३२५, ३३१, ३४७, ३७८,
किरणावलीकारः } ३९०, ४१२, ४६६, ४७१, ४७५, ४७७, ४७९, ४८२, ४९०, ४९३,
कुसुमाञ्जलिकारः } ४९६, ४९८, ५०३, ५१७
उरुवेकः ३८४, ४२८
किरणावली ३०६, ३१८, ३३५.
कुलार्कपण्डितः ४८६
कुसुमाञ्जलिः } ७६, २०७, २२७, ४१०, ४३३
न्यायकुसुमाञ्जलिः }
गंगापुरीभट्टारकः १३
गुरुः ८६
जीवन्मुक्तिविवेकप्रकरणम् ६०४
जैमिनिसूत्रम् ३७६
ज्ञानसिद्धिकाराः ६०६
तत्त्वकौमुदी ४१३, ४२१
तत्त्वसारटीका ३२८
तथागतः ३४७
तात्पर्यटीकाकारः } २१२, २१४, ३६८, ४०१ ४४१
वाचस्पतिः } ४९७, ५३२, ५७१, ५९८
तात्पर्यपरिशुद्धिः २८, ९४
तौतातिकः } ३३, ३६, ५३, ५५, ४२९, ४३०, ४३१, ४४२, ५८७
भाट्टः }
दिङ्नागः ३५६
धर्मकीर्तिः १२२, ३५४, ४१४, ४८९
धातुसमीक्षा १०२
न्यायकल्पतरुः १२४
न्यायबिन्दुः १२२, ३५४
न्यायभूषणकारः २७९, ३६५, ३६९, ३७६, ३९९
न्यायरत्नदीपावली १०, १४१, १५०, १९०, २०५, २०७, २११, २१२, २२५, २२९, २३१, ५२८
न्यासः ९५
पञ्चपादिकाकृत् १७

पञ्चपादी ५७७
पतञ्जलिः ५, ३२८, ५५३, ५५५, ५६९
परमर्षिः (जैमिनिः) २५८, ५३६
पाणिनिः ४
पार्थसारथिमिश्रः १७८
प्रकरणपञ्चिका ७८, १०६
प्रशस्तपादः ३००, ३११, ३२१, ३२५, ३९६, ४७४, ५१४
प्राभाकरः ८, ४४, ५०, ८१, ८४, २५९, ३३०, ५८७
बलवर्मा ३३३, ४१२
भट्टपादाः
भट्टाचार्याः } २९६, २९७, ३९७, ४२५, ४३६,
वार्तिककाराः ४३७, ५४९
भट्टशम्भुः १२१
भट्टोक्तिः } १९, २१८
भट्टवार्तिकम्
भर्तृहरिः १०२
भवनाथः १५३, १७२, १७५, १७९
भवभूतिः ४२८
भासर्वज्ञः ५१३
भास्करः ५२४
भैमसेनिस्मृतिः ६०७
मण्डनमिश्रः ५२८, ५७०, ५७१, ५९८, ६००, ६०५
मानमनोहरकारः } ३४, ३७, ३९, ४३, ५३, ५५, ८७, २७९, ३०६, ३३९, ४६५, ४७५,
मनोहर ४७७, ४८२, ४८३, ४९३, ५६०
वादिवागीश्वरः ३७, २०२, ३३३, ४७४
वादीन्द्रः ३०९, ३१०, ३४१, ३६३, ३८३ ३९५
विष्णुपुराणम् ४४३
विवरणकारः १३९
वृत्तिकारः ३७६
शबरस्वामी ३७६, ३९६
शाब्दनिर्णयः २५५
शालिकनाथः ५०, ९०, १०३, १४८, १४९, १६२, २५१, २५५, २५६, ३७२, ३७६, ४०७
श्रीवल्लभः } २२, २५०, २९९, ३०३, ३०६, ३०८, ३११, ३१७, ३२५, ३३३,
लीलावतीकारः ३३७, ३६६, ३६९, ३७६, ३८१, ३८२, ३८७, ४०१, ४०३, ४४३, ४४७,
लीलावतीपतिः ४६७, ४७८, ४८३, ४९१, ५११, ५१३, ५१४, ५१५, ५१७, ५१९, ५५७,
५५९, ५६३
श्रीहर्षकविः २९७, ४३४, ४६९
सम्प्रदायविदः (गौड़पादाः) ५९८
सर्वदेवः ३०७, ३०८, ३३३, ४७४

परिशिष्टम्

(४)

तत्त्वप्रदीपिकोद्धारवाक्यजातं निरीक्ष्यताम्

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अक्षमा भवतः केयम्	१७	बृ० वा० १।४।१२१९
अग्निषोमीयम्पशुम्	६३	तै० सं० ६।१।११
अजामेकाम्	५७५	श्वेता० उ० ४।५
अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः	३६९	न्या० वा०
अत्रायम्पुरुषः स्वयंज्योतिः	४५	बृ० उ० २।३९
अतिदूरात्सामीप्यात्	२८४	सां० का० ७
अतिरात्रे षोडशिनम्	६३	प्र० पं० पृ० १८७
अतो मानान्तरापूर्वम्	१६८	प्र० प०
अथ यत्र सुप्तो न कंचन कामम्	४२	बृ० उ०
अथ येऽन्यथाऽतो विदुः	५८३	बृ० उ० १।४।१०
अथ सम्पत्स्यते	५८३	बृ० उ०
अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु	८९	बृ० उ० ४।४।२४
अन्धन्तमः प्रविशन्ति	५४१	ईशा० ९
अन्योऽन्यपरिहारेण	३६०	
अन्वितस्याभिधानार्थम्	४२२	प्र० पं० पृ० १८७
अनादिनिधना नित्या	२६९,२७४	म० भा० शां०प० २३१।५६
अनुदिते जुहोति	६३	
अनुपपत्तेस्तु शारीरः	५९७	ब्र० सू० १।२।३
अनुमानस्य तु परितः	२२१	न्या० वा० तात्पर्यटीका
अनुमेयेन सम्बद्धम्	३९६	वै० भा०
अनेन जीवेन	५८३	छां० उ० ६।३।२
अप्राप्य मनसा सह	५३१	तै० उ० २।४।१
अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि	५९८	बृ० उ० ४।२।४
अयं वै हरयः	८८	बृ० उ० २।५।१९
अयुतसिद्धानाम्	३३०	वै० भा०
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा	५४८	ईशा० ९
अविनाशी वाऽरेऽयम्	४१,४२	बृ० उ०
अशरीरं वाव सन्तम्	५५८	छां० उ० ८।१२।१
असन्ततेश्चाव्यतिकरः	५९७	ब्र० सू० २३।४९
असन्निकृष्टवाचा च	४१५	श्लो० वा० अनु० ५५।५६
असम्भवद्विरुद्धधर्म०	४४३	न्या० ली०
अहं कृत्स्नस्य जगतः	५९६	भ० गी० ७।६

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अहं ब्रह्मास्मि	५८३	बृ० उ० १।४।१०
आकाशकालदिशः स्वेतरजातिमत्यः	३०३	न्या० ली०
आग्नेयोऽष्टाकपालः	१७३	मै० सं० १।१०।१
आत्मा कदाचित्	५५७	न्या० ली०
आत्मा ज्ञातव्यः इत्येतत्	५३६	श्लो० वा० सम्बन्ध० १०।३४
आनन्दो विषयानुभवः	१७,५७८	पञ्चपादिका
आयुर्होपासते	८९	बृ० उ० ४।४।१६
इदं सर्वमसृजत	२६८	तै० उ० ११।६
इन्द्रो मायाभिः	६२	ऋ. मं. ६अ.४ सू.४७मन्त्र१८
इहात्मनि	१२५	न्या० द० सू० २
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी	२६९	क० उ० १।३।१६
उदिते जुहोति	६३	
उपपातकेषु सर्वेषु	५६१	
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्	६०५	भ० गी० ४।३४
ऋग्वेद एवाग्नेरजायत	२७४	
एकधैवानुद्रष्टव्यम्	१९८	बृ० उ० ४।४।२०
एकमेवद्वितीयम्	६१,१९८,५८३	छां० उ० ६।२।१
एकशतं ह वै वर्षाणि	५९८	छां० उ० ८।११।३
एकसाध्याविनाभावे	२९५	
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः	५७४,५८२	श्वेता० उ० ६।११
एतावदरे ! खल्वमृतत्वम्	५४०,५९८	बृ० उ० ४।५।१५
एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते	५६१	छां० उ० ४।१४।३
एवं हास्य सर्वे पाप्मानः	५६१	छां० उ० ५।१४।३
एष एव परमानन्दः	५५८,५६५	छां० उ० ४।३।३२
ऐन्द्रया गार्हपत्यम्	५३७	तै० सं० १।५।८।३
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च	५९७	ब्र० सू० १।२।४
कर्मणैव हि संसिद्धिम्	५४२	भ० गी० ३।२०
कषाये कर्मभिः पक्वे	५४३	
कामः संकल्पो विचिकित्सा	५१९	बृ० उ० १।५।३
कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः	५५०	ब्र० सू० ४।३।७
किन्तु स्वयं क्लेशरूपम्	१६२	प्रकरणपञ्चिका
किं प्रजया करिष्यामः	५३८	बृ० उ० ४।४।२२
किमर्थं वयमध्येष्यामहे	५३८	ऐ० उ० २।३।६
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु	५९७	ब्र० सू० २।३।४२
कृतितत्साध्यमध्यस्थः	१७२	नयविवेकः
कृष्णद्वैपायनं व्यासम्	२७०	
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि	६०४, ६०८	मुं० उ० २।२।८

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
कः पुनर्विपर्य्ययः	१२६	उद्योतकरवार्तिकम्
गुरुत्वधर्माधर्मभावनाः	२४७	वै० भा०
जन्माद्यस्य यतः	५९६	ब्र० सू० १।१।२
जात्यादिगोचरो विशिष्टव्यवहारः	३३७	न्या० ली० पृ० ७०८
जालान्तर्गते भानौ	४५४	ब्र० पुराणम्
ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वा	६००	इष्टसिद्धि० पृ० ३६९
ततो भूय इव ते	५४३	ईशा० ९
तदात्मानमेवावेद	५८८	वाजसनेयिब्रा०उ०१।४।१०
तदेतत्प्रेयः पुत्रात्	५६६	बृ० उ० १।४।८
तद्धास्य विजज्ञौ	५३१	छां० उ० ६।१६।३
तद्यो यो देवानाम्	५९७	बृ० उ० १।४।१०
तपो विद्या च विप्रस्य	५४२	मनु० १२।१०४
तम आसीत्	९६	ऋ० ८।७।१७
तमसः पारं दर्शयति	५३१, ५३५, ५८४	छां० उ० ७।२६।२
तमेव धीरो विज्ञाय	८९	बृ० उ० ४।४।२१
तमेव विदित्वा	५४०	श्वे० उ० ३।८
तमेतं वेदानुवचनेन	५४३	बृ० उ० ४।४।२२
तरणिपरिस्पन्दभेदानाम्	५११	न्या० ली० पृ० २८३
तरत्यविद्याम्	१०१, ५३३	त्रि० पुरा० ५।१७।१४
तरति शोकमात्मवित्	५३३, ५८३	छां० उ० ७।१।३
तस्माद्वरो भूषणः	३०७	किर० पृ० १६०
तस्माद् गुणेभ्यः	२१७	श्लो० वा० २६६
तस्माद्बोधात्मकत्वेन	२१०	श्लो० वा० २५३
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः	२६८,२७४	ऋ० ८।४।१८
तस्य तावदेव चिरम्	६०४,६०८	छां० उ० ६।१४।२
तिष्ठति संस्कारवशात्	६०५	सां० का० ६७
ते ध्यानयोगानुगताः	२३६	श्वे० उ० १।३
तैलाद् घृतं विलीनञ्च	४४०	श्लो० वा० वन २७
तं त्वौपनिषदं पुरुषम्	५३३	बृ० उ० ३।९।६
त्रयो वेदा अजायन्त	२६८	
दर्शपूर्णमासाभ्याम्	१७३	
देवताज्ञानमिह	५४१	ई० उ० शां० भा० ९
द्वा सुपर्णा सयुजा	५७५	मुं० उ० ३।१।१
धर्मात्सुखं च ज्ञानञ्च	५४३	
धात्वर्थभेदे सर्वत्र	३१५	तन्त्रवा० २।२।१
न कर्मणा न प्रजया	५४०	महाना० १०।५

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
न च तद्गतानाम्	२६७	वे० सू १।१।४
न तस्य कार्यम्	२३६	श्वे० उ० ६।०
न दृष्टेर्द्रष्टारम्	४१	बृ० उ० ३।४।२
न ब्राह्मणो हन्तव्यः	६३	
न वाऽरे पत्युः कामाय	४१	बृ० उ० २।४।५
नाचिकेतमुपाख्यानम्	२६८	कठोप० १।३।१६
नातिरात्रे षोडशिनम्	८६३	
नान्यतोऽस्ति	५८२	बृ० उ० ३।७।२३
नावेदविन्मनुते	५३३	तै० ब्रा० ३।१२।९।७
नासदासीत्	९६	ऋ० ८।७।१७
नास्त्यकृतः कृतेन	५४०	मुं० उ० १।२।१२
नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव	३२४	न्यायकन्दली
नियम्यत्वनियन्तृत्वे	२४३	श्लो० वा० ५।१२१
नियोगार्थसिद्धेः	१७७	प्रभाकरः
नियोज्यः स च कार्यं यः	१६३	प्र० पं० पृ० १८२
नेतरानुपपत्तेः	५९७	ब्र० सू० १।१।१६
नेह नानास्ति किञ्चन	६२,८७,५८४,	बृ० उ० ४।४।१९
पदार्थान्तरतुल्यत्वात्	२६७	ब्र. सि. पृ० ११२
पश्यन् श्वेतिमारूपम्	२५६	श्लो. वा. वाक्य० ३५८
पश्यन् प्रतिपेदे	५८८	बृ० १।४।१०
परात्तु तच्छ्रुतेः	५९७	ब्र. सू. २।३।४१
प्रजहाति यदा कामान्	६०९	भ. गी. २।५५
पराभिध्यानात्तु	५९७	ब्र. सू. ३।२।५
प्रकाशादिवन्नैवं परः	५९७	ब्र. सू. २।३।४६
प्रणिधानाभ्यासलिङ्ग०	२५३	न्या. सू. ३।२।४३
प्रतिपद्य पदार्थम्	१९७	तै० वार्ति०
प्रतिबन्धो विसामग्री	२२८	न्या० कुसु० १।१००
प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा	२६९	
प्रमाणपञ्चकं यत्र	४३१	श्लो० वा० अ० १
प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या	१७०	प्र० पं० अनु० १
प्रमाणावन्त्यदृष्टानि	२००	तं० वा० २।१।२
प्राग्लोपाविनियम्यत्व०	२९७	खण्डन० पृ० २०७
प्राणाः वै सत्यम्	६४	बृ० उ० २।१।२०
पृथक्त्वस्य पृथक्त्वान्तरसादृश्य०	३२९	न्या० ली० पृ० २०७
बर्हिर्देवसदनं दामि	५३७	मै. सं. १।१।२
ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत	६३	
ब्रह्म वा इदमग्रे	५७७	बृह० २०१।४।१

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति	५८४	मुं० उ० ३।२।९
भिद्यते हृदयग्रन्थिः	५८४	मुं० उ० २।२।८
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः	१०१, ६०३, ६०८	श्वे० उ० १।१०
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा	५९९	ब्र० सू० ४।१।१९
भृगुर्वै वारुणिः	५९८	तै० उ० ३।१
मणिप्रदीपप्रभयोः	३५९	प्रमा० वा० ३।५७
महत्परिमाणसमान्यम्	५१७	न्याय लीलावती
मही घटत्वम्	४४३	वि० पु०
मायामेतां तरन्ति ते	१०१	भ० गी० ७।१४
मामेव ये प्रपद्यन्ते	५३३	भ० गी० ७।१४
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	९६, १०१	श्वे० उ० ४।१०
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति	६३	कठ० ४।१०
मूलक्षयकारीं प्राहुः	२८३	
य आत्मनि तिष्ठन्	५७४	श० प० १४।५।३
य एकोऽवर्णो बहुधा	२३६	श्वे० उ० ४।१
यतो वा इमानि भूतानि	५९६	तै० उ० ३।१
यत्र त्वस्य सर्वम्	६०३	बृ० उ० ४।५।१५
यत्राप्यतिशयो दृष्टः	१९	श्लो० वा० २।११४
यद्धि यस्यानुरोधेन	५३९	बृ० उ० ३।३।६८
यदा स्वतःप्रमाणत्वम्	२२०	श्लो० वा० २।५२
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	६०९	बृ० उ० ४।४।७
यदा निर्धूतरजः	५६२	यो० भा० ३।५५
यदेव विद्यया करोति	५३७	छां० उ० १।१।१०
यन्मनसा न मनुते	५३१	केन० १।६
यस्मिन् सर्वाणि कर्माणि	६०३	ईशा० ७
यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः	८९	बृ० उ० ४।४।१७
यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति	५३८	तै० सं० ३।५।७
यो वै भूमा ततः	५६८,५६५	छां० उ० ७।२३।१
योगिनः कर्म कुर्वन्ति	५४३	भ० गी० ५।११
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति	२६९	श्वेता० ६।१८
योऽनधीत्य द्विजो वेदम्	८६	मनु० २।१६८
रसवर्जं रसोऽप्यस्य	६०९	भ० गी० २।४९
वध्यतां वध्यताम्	१२६	भा० पु०
व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः	१६०	न्या० द० २।२।६५
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम्	२२३	किर० पृ० ३३
वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे	२६१	प्र० पं० वा० परि०
वाचा विरूप नित्यया	२६८,२७४	तै० सं० २।६।११

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत	८९	बृ० उ० ४।४।२१
विद्ययाऽमृतमश्नुते	५४१	ईशा० ११
विद्याञ्चाविद्याञ्च	५४१	ईशा० १४
विद्वान् न बिभेति	५८४	तै० उ० २।९।१
विपर्ययाभावस्तु युक्तः	२४३	ब्र० सि० पृ० १४६
विमतं ज्ञानम्	२२०	न्या० वा० तात्पर्यटीका
विवादाध्यासितम्	२३६	न्या० ली० पृ० ६२
विवादाध्यासितम्	५१९	मानमनोहर०
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि	२६४	ब्र० सि० पृ० १११
विशेषणं विशेष्यं च	२८८	न्या० ली० पृ० ७०
वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः	५४४	बृ० उ० ४।४।२२
शक्तयः सर्वभावानाम्	२३७	वि० पु०
शास्त्रं शब्दविज्ञानात्	२०२, ४२७	शा० भा० १।१।५
षण्णां तु कर्मणाम्	८५	मनु० १०।७६
स इदं सर्वं भवति	५८३	
स एष इह प्रविष्टः	५८३	बृ उ० १।४।७
सच्च त्यच्चाभवत्	६४	तै० उ० २।६
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	६२	तै० उ० २।१।१
सत्येनापि शपेद्यस्तु	५६१	
सत्ता सामान्यसमवाय०	३२८	न्या० ली० पृ० ७०२
सत्येन लभ्यस्तपसा	५४२	मुण्ड० उ० ३।१।५
स ब्रह्मविद्याम्	५९८	मुं० उ० १।१।१
समवायिनः श्वैत्यात्	२८९	वै० सू० ८।१।९
समानजातिगुणकर्म०	३२८	न्या० लीला०
सम्यगर्थे च संशब्दः	३७७	श्लो० वा० ४।३८
सर्वं वस्तु ज्ञाततया	१०१	
सर्वस्य वशी सर्वस्य	८९	बृ० उ० ४।४।२२
सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः	२३७	शिवपु० विद्येश्वर० १६।१२
सर्वादृष्टेश्च संदेहात्	३८९	न्या० ली० पृ० २५२
सादृश्यस्य च वस्तुत्वम्	४०६	श्लो० वा० उप० १८
साधर्म्यमिव वैधर्म्यम्	४१०	न्या० कु० ३।९
सामान्यवानचलनात्मकः	३०६	न्या० ली०
सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानम्	४१८	
सुवर्णपुष्पाम्	२६३	
संयोगाजन्यसंयोगासमवायि०	३०९	लक्षणावली
संस्थानेन घटत्वादि	४४०	श्लो० वा० वन० २९
संवृतेर्न तु सत्यत्वम्	७२	श्लो० वा० ५।६।७

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
स्वबुद्ध्या रज्यते येन	४१८	
स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्य	१६५	प्र० पं० पृ० १९०
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि	५५५	मुं० उ० २।२।८
ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिः	६००	इष्ट० पृ० ३६९
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	५५५	भ० गी० ४।३७
ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः	६०८	भ० गी० ४।३४

परिशिष्टम्

(५)

श्रीनयनप्रसादिन्यां वाक्यवृन्दं समुद्धृतम्

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अकर्तव्यो दुःखफलः	१६२	
अत्यन्तं बुभुत्सित०	४०१	न्या० ली०
अथैष ज्योतिः	६६	
अन्धस्येवान्धलग्नस्य	३५	आभाणकः
अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र	३	काव्यादर्शः १
अन्यस्य चान्यथाभानम्	१०३	प्र० पं० नय० २५
अन्यथासंविदानोऽपि	४२३	श्लो० वा० १।१६०
अनित्यः शब्दः	२७९	मानमनोहरः
अनित्यं शब्दम्	४०१	न्या० वा० ता०
अनियम्यस्य नायुक्तिः	४३३	न्या० कु० ३।१९
अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रमः	५०	प्र० पं०
अभिधेयाविनाभूते	१४९	तन्त्रवा० १।४।१२
अमावास्यायामपराह्णे	८२	
अयथार्थत्वपक्षे च	१०४	प्र० पं० नय० ७२
अयथार्थस्य बोधस्य	१०४	प्र० पं० नय० ७३
अर्थविप्रकर्षात्	२५८	जै० सू० ३।३।१४
अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्	२७४	जै० सू० १।४।२५
अर्थेऽनुपलब्धे	४०	जै० सू० १।१।४
अर्हे कृत्यतृचश्च	१५९	पा० सू० ३।३।१६९
अल्पस्य हेतोर्बहु	१०४	रघु० २।४७
अव्ययादाप्सुपः	४२१	पा० सू० ३।३।१६९
अविज्ञातं चाज्ञानम्	११७	न्या० सू० ५।२।१७
अस्य महतः	८०	बृ० उ० २।४।१०

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अत्र ब्रूमो य एवार्थः	७८,१०३	प्र० पं०
आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः	३२१	छां० ३।१४।३
आगमेनानुमानेन	३९३	खण्डन०
आलजाटचौ बहुभाषिणी	४	पा० सू० ५।२।१२५
आत्मा वाऽरे	४०	बृह० उ० २।४।६
आनन्दो विषयानुभवः	१७	पञ्चपादिका
आश्रयग्राहकैरिन्द्रियैः	४६७	
इदं सर्वं यदयमात्मा	४०	बृह० उ० २।४।६
इति सर्वभेदप्रत्ययस्य	३२८	तत्त्ववैशारदी
ईदृशो हि तेजसः	४९८	
उतरसंयोगानुत्पत्तौ	३११	वै० भा०
उपनीय तु यः शिष्यम्	८३	मनु० २।१४०
एकत्वसंख्यामाचष्टे	८७	मानमनोहरः
एकदेशदर्शनं खलु	११९	भामती
एकद्वित्रिचतुष्पञ्च	२५८	तं० वा० ३।३।७
एकमेवाद्वितीयम्	६२	छां० उ० ६।२।१
एकस्यैवं पुनः श्रुतिः	६५	जै० सू० २।२।२
एको देवः सर्वभूतेषु	५७४	श्वेता० ६।११
एकं द्वे त्रीणि	४७९	न्या० कु०
एवमितः प्रेत्य	५९७	छां० उ० ३।१४।४
एवं सति ध्वंसोऽपि	४४३	न्या० ली०
ऐहिकमप्यप्रस्तुत०	५३२	वे० सू० ३।४।५१
ऐन्द्रया गार्हपत्यम्	५३७	ते० सं० १।५।८।३
क्त्वातोसुन्कसुनः	४२१	पा० सू० १।१।४०
कथं तर्हि पदप्रयोगः	५०	प्र० पं०
कदाचनस्तरीरसि	५३७	तै० सं० १।४।२२।१
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च	५९७	ब्र० सू० १।२४
कर्मणा पितृलोकः	१७७	बृह० उ० १।५।१६
कर्मणामल्पमहताम्	५४९	
कर्मणैव हि संसिद्धिम्	५३८	भ० गी० ३।२९
कल्पनापोढमभ्रान्तम्	३४७	प्रमाणसमुच्चयः
कषाये कर्मभिः पक्के	५३९	
क्रमेणावगतानर्थान्	२५५	शब्दनिर्णयः
कार्यकारणभावाद्वा	१२२	प्रमा० वा० ३।३०
कार्यरूपेण नानात्वम्	६०९	
कार्यं यत्र समवैति	३०६	
कार्यत्वेन नियोज्यं यः	१७६	प्र० पं० पृ० १८८

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
कार्यविपर्ययाद्भवितव्यम्	३१५	किर०
कार्यान्वयो हि	१४९	प्र० पं०
किन्तु तेषां न दृष्टैषा	२५६	प्र० पं०
किम्पुनः संयोगस्य	५१७	न्या० ली०
क्रियावद् गुणवत्	३०१	वै० सू०
कृतार्थं प्रति नष्टम्	५६९	यो० सू० २।२२
कृतिसाध्यं प्रधानम्	१६४	प्र० पं० वाक्य०
कृन्मेजन्तः	४२१	पा० सू० १।१।३९
केनचित्संप्रयोगो हि	३७६	
को ब्रूते सती सा वित्तिः	२८	
गुणश्चापूर्वसंयोगे	६६	जै० सू० २।२।२३
गौण्यपि गुणलक्षण०	२६२	
घटादि द्रव्येषु अग्निसंयोगाः	४९९	किर०
चेतश्चित्तं क्रतुर्माया	६२	
चोदनायां फलाश्रुतेः	८२	जै० सू० ४।३।१०
जन्माद्यस्य यतः	१०२	ब्र० सू० १।१।२
जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्याम्	१९१	
जातिसमवायस्य	३०३	न्या० ली०
जातेरपि विप्लवापत्तेः	४८३	न्या० ली०
झटिति प्रवृत्तिर्हि	२२५	न्या० कु०
तात्सिद्धिजातिसारूप्य०	२६३	जै० सू० १।४।१२
ततो भूय इव	५४६	ईशा० ९
तदसत्, कार्यान्वयोपाधि०	१५९	
तदुत्सर्गे कर्मणीत्य०	१५८	जै० सू० ४।१।३
तरत्यविद्याम्	५३३	
तस्मात् पूषा	५७४	तै० सं० २।६।८।५
तस्माद्युतसिद्धिरेव	४६६	किर०
तस्माद्वा एतस्मात्	१०२	तै० उ० २।५
तस्य लिप्सार्थलक्षण०	१५९	जै० सू० ४।१।२
तत्र क्रियावत्त्वस्य	३३४	मानमनोहरः
तत्रापि देशलक्षणभेदः	३२८	यो० भा० विभूति० ५३
तानि द्वैधम्	२४९	जै० सू० २।१।६
तिस्रः आहुतीर्जुहोति	६६	
तुल्यं हि साम्प्रदायिकम्	४०	जै० सू० १।२।५
तेन यत्प्रार्थ्यते जातेः	२७९	श्लो० वा० स्फो०
तं देवाः ज्योतिषाम्	८६	बृह० उ० ४।४।१६
दिग्लिङ्गविशेषात्	५१६	वै० भा०

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
द्वित्वे तात्पर्यम्	३११	न्या० ली०
द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु	५३६	जै० सू० ४।३।१
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः	६०६	भ० गी० २।२६
देवता वा प्रयोजयेत्	१७३	जै० सू० ९।१।४
धर्मिसन्निकर्षो निदानम्	२४२	
धर्मेण पापमपनुदति	५३८	तै० आ० १०।१०८
न क्षणिकां क्रियाम्	१७५	नयवि०
न च पृथक्त्वादिकमेव	३२८	तत्त्ववैशारदी
न च प्रतिबन्धासंवेदनम्	३८२	न्या० ली०
न च भेदानवस्था	२९०	मानमनोहरः
न च स्वाधिगत०	१५३	नयविवेकः
न चाम्नायप्रतीत०	४०	
न तदपेक्षया,	५१७	किरणावली
न निरोधो न चोत्पत्तिः	५९८	गौड़का० २।३२
न विधौ परः शब्दः	२५०	शाबर०
न स्वर्गकामः	१७९	नयविवेकः
न हि कारणसद्भावे	२४३	
न हि तत्र स्वर्गकामस्य	१७८	पार्थसारथिः
नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः	३९	बृ० उ० ४।०।२३
नाजः संयोगोऽस्ति	३३४	वै० भा०
नान्तरीयकताभावात्	४१४	धर्मकीर्तिः
नान्यः पन्था विद्यते	५३९	श्वेता० ६।१५
नित्यमेकमनेकसमवेतम्	३१९	श्रीवल्लभः
निश्चितौ हि वादं कुरुतः	१०, २१२	
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्	१५९	मनु० ४।४७
नेदमिदं नेदमिह	४६७	न्या० ली०
नेह नानास्ति किञ्चन	६२	बृ० उ० ४।४।१९
नो खल्वभावाभावो नाम कश्चिदन्यः	४४१	तात्पर्यटीका
परस्परविरोधे हि	५८	न्या० कु० ३।८
परेण कालप्रदेशेन	५१३	वै० भा०
परं हि तद्गोचरं वा	२१४	वाचस्पतिः
पादा इति च नामान्ते	३७७	
प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थम्	५४४	
प्रतिज्ञादोषमेवाहुः	४०३	श्लो० वा० निरा० ३०
प्रथमस्य तथाभावे	५८	श्लो० वा० चोदना० ७६
प्रदीपस्येव निर्वाणम्	५५१	
प्रमाता ज्ञातसम्बन्धः	३९७	श्लो० वा० अनु० २

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
प्रमाणवन्त्यदृष्टानि	११२	तन्त्रवा० २।१।२
प्रमाणेन निश्चितस्य	४३१	सां० त० कौ०
प्रागभावनिवृत्तिनिवृत्तौ	४४३	न्या० ली०
प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०	२५५	पा० सू० २।३।४६
प्राप्ते कर्मणि नानेकः	५४६	तन्त्र० वा० २।२।६
पूर्वपश्चाद्भावस्य	५१३	न्या० ली०
पूर्वसम्बन्धनियमहेतुत्वे	४६९	खण्डन०
पूर्वापरावस्थयोः	९४	ता० परि०
पौर्वापर्यायोगात्	११८	न्या० द० ५।२।१०
फल्मत उपपत्तेः	१७३	ब्र० सू० ३।२।३८
बाधेन चोपाधिरुन्नीयते	४०३	
बुद्धीद्धो बोधो बोधेद्धा बुद्धिर्वा	५७९	
भस्मकादिषु कार्यस्य	१०४	प्र० पं० नय० ७८
भवेत् सर्वत्र सत्ता-च	७६	
भावो यथा तथाऽभाव	२०५, २२९	न्या० कु० २।१०
भिन्नकालं कथं ग्राह्यम्	७९	प्रमाणवा० ३।२४८
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः	६०७	श्वेता० १।१०
भूतभाव्युपयोगं हि	१५२	तन्त्रवा० १।४।१२
मा भूज्जातिः	२४४	न्या० कु०
मामेव ये प्रपद्यन्ते	५३३	भ० गी० ७।१४
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	६०७	श्वेता० ४।१०
मृत्योः स मृत्युम्	६२	कठ० ४।१०
यतो ऽन्यत्वं तदसिद्धेः	४३४	खण्डन०
यत्कर्म द्रव्यानारम्भक०	३१४	किर०
यथा कुण्डदध्नोः	३३८	वै० भा०
यथा द्रव्यगुणकर्मणाम्	३३९	वै० भा०
यथा मुद्गस्तम्बस्तथा	४१४	वै० भा०
यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे	१८५	श्लो० वा० २।२०३
यदा पार्थिवाप्ययोः	४६५	वै० भा०
यदि स्वार्थं परित्यज्य	१०३	प्र० पं०
यन्मनसा न मनुते	५३१	केनो० १।६
यस्य खादिरः स्रुवः	५३५	
यस्य पर्णमयी जुहूः	५३५	तै० सं० ३।५।७।२
यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य	८३	जै० सू० ४।१।२
यावच्च व्यतिरेकत्वम्	३४२	
ये तु प्रतिपाद्यन्ति	२३९	न्या० कु०
येनाश्रुतं श्रुतं भवति	७४	छां० उ० ६।१।३

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
यो हि शब्दो यत्र	४१३	सां० त० को०
लिङादिस्तत्र कार्यम्	१६४	प्र० पं०
वचनान्यपूर्वात्	५४४	
वर्तमानं परिच्छिन्ददवर्तमान०	३४७	
वाक्यान्वयात्	४१	ब्र० सू० १।४।१९
विद्यमानोपलम्भात्	२५०	जै० सू० १।१।४
विद्यमानयोरप्राप्तयोः	४७१	किर०
विधिरात्माऽस्य भावस्य	३४७	आत्मत० वि० प० १
विपरीतमतो यत् स्यात्	३९६	वै० भा० पृ० १००
विभागकुर्वद्रूपत्वापर०	३१०	वादीन्द्रः
विवादाध्यासितं	३३९	मानमनोहरः
विशेषणं विशेष्यञ्च	३२१	न्या० ली०
विश्वजिता यजेत	८२	शतपथ० १०।२।५।१६
वैश्वदेव्यामिक्षा	६६	
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम्	२५	किर० पृ० ३३
व्यावर्त्याभाववत्तैव	२३९	न्या० कु० ३।२.
व्यापारः करणानान्तु	३७६	श्लो० वा० ४।५४
व्युत्पत्तिरपि कार्यार्थे	१६२	प्र० पं०
शक्तेरपि शक्त्यन्तरा०	२३४	न्या० ली०
शङ्का चेदनुमास्त्येव	३९०	न्या० कु०
शब्दज्ञानानुपाती वस्तु०	५	यो० सू० १।९
शब्दान्तरे कर्मभेदः	६५	जै० सू० २।२।१
शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तः	५३	मानमनोहरः
श्रूयमाणं पदं सर्वम्	२५५	प्र० पं०
श्लेषः प्रसादः समता	२	काव्यादर्शः
शुक्त्यवस्थात्ममोहोत्था	१४५	इ० सि०
शुद्धतत्त्वं प्रपञ्चस्य	१०२	धातुसमीक्षा
स एव चोभयात्माऽयम्	३९७	श्लो० वा० अनु० २४
स एव परमो न्यायः	४०१	
स कारणं करणाधिपा०	४९९	श्वेता० ६ । ९ .
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	६२	तै० उ० २।१।१
सति पुष्कलकारणे	२३९	न्या० कु०
सदसद्भ्यामनिर्वाच्याः	१०२	
सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तते	२१३	न्यायभाष्यम् १।१।१
सन्निहितरजतशकले	१०६	प्र० पं०
सम्बन्धस्य परिच्छेदम्	४१३	न्या० कु० ३।१२
सम्माननोत्सञ्जनाचार्य०	८२	पा० सू० १।३।३६

उद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
समवायस्त्वप्राप्तयोः	४७१	न्या० कु०
समानजातीयगुणाः	३००	किर०
समासमाविनाभावौ	२९६	
समानप्रत्ययश्रुत्या	५४५	
सर्वं ज्ञानं धर्मिणि अभ्रान्तम्	१४७	
सर्वत्रैव हि विज्ञानम	५३७	तं० वा० १।३।८
सर्वोपसंहारप्रवृत्त०	४०३	न्या० ली०
सलिल एकः	४०	बृह० उ० ४।३।३२
साङ्केतिकः शब्दार्थयोः सम्बन्धः	४२७	
सादृश्यस्यानिमित्तत्वात्	४१३	न्या० कु०
साध्यकृत्स्नसहचारिणः	३८७	न्या० ली०
साधर्म्यग्रहणञ्च	४१३	ता० टी०
सामान्यादीनां त्रयाणाम्	३२१	वै० भा०
साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्	३७६	प्र० पं०
सिंहो मृगेन्द्रः पंचास्यः	२	अमरकोषः
संयोगसमानाश्रयत्वे	४७५	मानमनोहरः
संस्कारः पुंस एवेष्टः	२३५	न्या० कु० १।११
स्याज्जल्पाकस्तु	४	अमरको०
स्युः पुमांसः पञ्चजनाः	४	,,
स्वकाले यदकुर्वन् हि	२०५	नयविवेकः
स्वपुत्राद्यनुमानम् यत्	४१५	
स्वभावनियमाभावात्	७४	न्या० कु० ४।२
स्वरितञितः	८२	पा० सू० १।३।७२
स्वरूपपररूपाभ्याम्	१२९	श्लो० वा० अभाव० १२
स्वसत्तामात्रभाविनि	१२२	न्या० बिन्दुः
स्वाध्यायोऽध्येतव्यः	८१	तै० आ० २।१५
स्वार्थानाहुः पदानीति	२५१	प्र० पं०
स्वौजसमौट	४२०	पा० सू० ४।१।२
हृदा मनीषा	५३१	कठो० ६।९
हेयं दुःखमनागतम्	५५३	यो० सू० १।१६
ज्ञानशब्दश्च ज्ञायते	४३	मानमनोहरः
ज्ञानम्प्रत्यक्षवेद्यम्	३४	मानमनोहरः
ज्ञापककोटिनिविष्टा	१६२	
ज्ञेयाभिव्यक्तितो यस्मात	२२६	

/ मानवधर्म में हिन्दू — पृ० २२८।
/ धर्मनीति को उद्धृत किया गया है — २५८ — संन्यासी क्रम की [illegible]

प्रथम बार प्रकाशित प्राचीन न्याय का दुर्लभ ग्रन्थ

न्यायभूषण

सं० स्वामी योगीन्द्रानन्द

दसवीं शताब्दी के उद्भट नैयायिक श्रीभासर्वज्ञाचार्य-द्वारा प्रणीत "न्यायसार" की विस्तृत स्वोपज्ञ व्याख्या 'न्यायभूषण है। दिङ्नाग, नागार्जुन, धर्मकीर्ति आदि धुरन्धर बौद्ध विद्वानों का प्रचण्ड खण्डन इसमें है। इसका निराकरण करने के लिए ज्ञानश्री, रत्नकीर्ति आदि ने विशालकाय निबन्धावलियों की रचना की। इतना ही नहीं, उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य और श्री व[illegible]ाचार्य—जैसे महान् आचार्यों एवं देवसूरि आदि जैन दार्शनिकों ने भी पूरी शक्ति लगाकर इसका खण्डन किया। किन्तु उस संघर्ष निकषग्रावा की रगड़ से न्यायभूषण की आभा और निखरती गई। हारकर प्रतिद्वन्दियों ने इसे लुप्त-सा कर दिया था।

कई सौ वर्षों के पश्चात् यह ग्रन्थ प्रथम बार प्रकाश में आया है। इसके बिना न्याय का विशाल साहित्य अधूरा था। गवेषणोपयोगी सूचियों तथा विस्तृत भूमिका से सुसज्जित डिमाई के ७२० पृष्ठ, ग्लेज कागज, सुन्दर छपाई, पक्की जिल्द, मूल्य बीस रुपये मात्र।

प्रकाशक—षड्दर्शनप्रकाशन, उदासीन संस्कृत विद्यालय, ढुंढिराज, वाराणसी

प्रथम बार प्रकाशित वैशेषिक दर्शन का अलभ्य ग्रन्थ

मानमनोहर

सं० स्वामी योगीन्द्रानन्द

बारहवीं शताब्दी के धुरन्धर वैशेषिक विद्वान् श्री वादिवागीश्वराचार्य-कृत मानमनोहर वैशेषिक दर्शन का मौलिक ग्रन्थ है। इसके तीक्ष्ण तर्क-प्रहारों से अद्वैत जगत् एक बार हिल उठा था। अतएव वेदान्त के मूर्धन्य विद्वान् श्री आनन्दानुभव (१२ शतक) ने 'न्यायरत्नदीपावलि' में, श्री चित्सुखाचार्य (१३ शतक) ने तत्त्वप्रदीपिका' में, श्री वेदान्तदेशिक वेङ्कटनाथ (१३ श.) ने न्यायपरिशुद्धि' में, श्री प्रत्यग्रूप भगवान् (१४ श.) ने चित्सुखी व्याख्या' नयनप्रसादिनी' में श्री आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१४ श.) ने न्यायचन्द्रिका' में, श्री माधवाचार्य (१४ श.) ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में तथा श्री आनन्दज्ञान ने तर्कसंग्रह' में मानमनोहर का प्रचण्ड खण्डन किया है। इसी से इसका वर्चस्व प्रस्फुटित हो रहा है।

विशुद्ध हिन्दी व्यखाया-द्वारा मानमनोहर के दुर्भेद्य अनुमान-प्रयासों को अत्यन्त सुगम बना दिया गया है। अनुसन्धानोपयोगी सूचियों एवं परिशिष्टों से ग्रन्थ सुसज्जित है। दार्शनिक विद्वानों एवं छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी और संग्राह्य है। मूल्य बारह रुपये।

प्रकाशक—षड्दर्शन प्रका०, उदासीन संस्कृत विद्यालय सी० के० ३६।१[illegible] वाराणसी

स्वामी योगीन्द्रानन्दः